श्रीः

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी महाभाग–के मान्य सचिव द्वारा-प्राप्त
'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसस्थान' मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर) का
'प्रधानसंरक्षतानुगत–प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत होरहा है



भारत के राष्ट्रपति

डा॰ राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थान-वैदिक तत्त्वशोध सस्थान जयपुर

का

प्रधान संरक्षक

बनने की स्वीकृति प्रदान करते हैं

मिलिटरी सेक्रेटरी ऑफिस   भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार

(यदुनाथ सिंह) मेजर जनरल
मिलिटरी सेक्रेटरी टू दि प्रेसिडेण्ट

प्राप्तिस्थान—
व्यवस्थापक–'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान जयपुर'
दुर्गापुरा (जयपुर–राजस्थान)

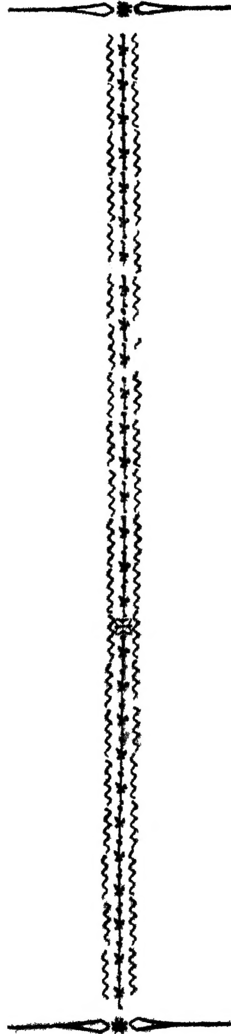
*–राष्ट्रपतिभवन के टेपरेकार्डों के आधार पर प्रकाशित, एवं महामहिम श्रीराष्ट्रपति महाभाग के प्रास्ताविक से समन्वित ।

शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्य–प्रथमकाण्डानुगत–

द्वितीयखण्ड के सम्बन्ध में

युगधर्म्मनिबन्धन-किञ्चिदिव-आवेदन

(शतपथभाष्य–द्वितीयखण्ड की प्रस्तावना)



मोतीलालशर्म्मोपाह्वोऽय कश्चिदपि मुकरकशर्म्मा
आङ्गिरसो भारद्वाज , वेदवीथी–पथिकः
मानवोक्थवैराजिककौदन–भोक्ता

श्री

शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्य–प्रथमकाण्डानुगत

द्वितीयखण्ड के सम्बन्ध मे

किंचिद्-आवेदन

* * *

विक्रम सं० २०१५ की आश्विनशुक्ल–दशमी (विजयदशमी) बुधवासर (तदनुसार ता० अगस्त) की पावनतिथि में 'शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्यान्तर्गत प्रथमकाण्डानुगत प्रथमखण्ड'' सस्थान की ओर से प्रकाशित हुआ था, जिसमें 'प्रथमकाण्ड' के आरम्भ के केवल एक ही (प्रथम १) अध्याय का 'विज्ञानभाष्य' समाविष्ट था। प्रथमकाण्डानुगत प्रथम-अध्यायात्मक-तत् प्रथमखण्ड में जिन प्रमुख–याज्ञिक कर्म्मों का पद्धति पुरस्सर सोपपत्तिक समावेश हुआ है, सन्दर्भसङ्गति की दृष्टि से सिंहावलोकनन्यायेन 'द्वितीय-खण्ड की प्रस्तुत प्रस्तावना में भी उनका सस्मरण कर लेना अप्रासङ्गिक न माना जायगा।

प्रथमकाण्डानुगत–प्रथमाध्यायात्मक–प्रथमखण्ड में प्रतिपादित प्रमुख–कर्म्मों की, तथा स्मारक–विषयों की सिंहावलोकनन्यायानुगता स्मृति

* * *

	प्रधान कर्म्माणि	क्रमानुगता पृष्ठसंख्या	स्मारकविषयसंख्या
१	व्रतोपायनकर्म्म	११७	२१३
२	[illegible]कर्म्म	१५५	१३७
३	अपाम्प्रणयनकर्म्म	१७०	२८५
४	परिस्तरण, तथा पात्रासादनकर्म्म	२०१	२६३
५	वाक्संयमनकर्म्म	२४३	४०
६	पात्रप्रतपनकर्म्म	२४६	११२३
७	शकट से हविर्ग्रहण, एव तत्सादनकर्म्म	३५४	८६३
८	प्रोक्षणकर्म्म	[illegible]	३१८
९	रो[illegible]सम्पादनात्मककर्म्म	४५२	[illegible]
	प्रधानकर्म्मसंख्या–९–(नव)–	भाष्यपृष्ठसंख्या–संकलन ६१०	स्मारकविषयसंख्या–संकलन ४५२१

निर्दिष्ट-तालिका के अनुपात से 'प्रथमकाण्डीय-प्रथमखण्ड' में नव (९) प्रमुख-कर्म्मों की इति
कर्तव्यता के साथ साथ पारिभाषिक-दृष्टिकोण से अनुमानत पाँचसहस्र-पारिभाषिक तथ्यों का स्पष्टीकरण प्रयास
हुआ है। 'विज्ञानभाष्य' से पूर्व उसी प्रथमखण्ड में —'पारिभाषिकसूचनाएँ' नाम का एक स्वतन्त्र
पारिभाषिक प्रकरण भी समाविष्ट हुआ है, जिसमें 'शतपथब्राह्मण' से सम्बन्ध रखने वाली सभी शास्त्र-दृष्टियों,
तथा अन्तरङ्गदृष्टियों का यथासम्भव सन्निवेश कर देने का प्रयास हुआ है। ११६ (एकसौ सोलह) पृष्ठात्मक
इस 'पारिभाषिकसूचनाप्रकरण' में १२३ (एकसौ तेइस) तथ्यों की ओर ही वेदप्रेमियों का ध्यान आकर्षित
किया गया है।

उक्त पारिभाषिक सूचना प्रकरण' के अतिरिक्त १६४ (एकसौ चौसठ) पृष्ठात्मक 'दिग्देश
कालानुबन्धी किञ्चिदिव-आत्मनिवेदन (प्रस्तावना) भी प्रथमखण्ड का एक महत्त्वपूर्ण ही अङ्ग
प्रमाणित होरहा है। वर्त्तमानयुग का प्रमुख-उद्घोष है 'समय के अनुसार काम करो, समय के अनु
सार चलो' जिस इस सामयिक-उद्घोष का फलितार्थ निकलता है 'दिग्देशकालानुबन्धिनी-तात्कालिकी
उपयोगिता'। इत्थंभूत सामयिक-उद्घोष से एकहेलया प्रभाविता भारतीया-आस्तिक प्रजा भी युगधर्म्मानुगमन-
जनिता निरतिशया भावुकता से भावितान्तःकरणा प्रमाणित होती हुई अपनी प्राच्य वैदिक-मूल निधि की ओर
से सर्वात्मना तटस्थप्राया ही बनी हुई है। सामयिक उपयोगितावाद के इत्थंभूत महान् अम्ब, भयावह यद्य के
वास्तविक-स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए ही प्रथमखण्डानुगता-प्रस्तावना में 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो
वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' रूप प्रसिद्ध आदेशात्मवाक्य को आधार बना कर ही प्राच्य वैदिक साहित्य की
उपयोगिता' के सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन करने की धृष्टता होरही है, जिसे दृष्टिपथानुगामी बनाने के
अनन्तर हमारे उन भावुक-बन्धुओं की उपयोगितावाद-व्यामोहनात्मिका युगधर्म्म निबन्धना उस भयावहा
सर्वनाशकारिणी-कलिवात्याहिता-कात्यालीकृता भावुकता का सर्वथैव निराकरण होजाता है, जिस मलीमसा
भावुकता के दारुणात्मक पाशबन्धन से आबद्ध भारतीय-बन्धु अपने सर्वस्वभूत, ज्ञानविज्ञानपरिभाषाओं के
महान् कोश प्राच्य वैदिक-साहित्य से आज सर्वात्मना ही तटस्थ बने हुए हैं। हम साञ्जलिबन्ध उन आत्मबन्धुओं
से आवेदन करेंगे कि, अपनी उपयोगितावादात्मिका भ्रान्ति के समन्वय के लिए एकबार अवश्यमेव वे
'तत्प्रास्ताविक' पर दृक्पात का अनुग्रह करलें। हमारी ऐसी आत्मनिष्ठा है कि–दोषदृष्टि से भी अवलोकिता
तत्-प्रस्तावना आत्मबन्धुओं की कारणतामूला जिज्ञासा का यथावत्-समाधान कर देगी।

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यादि सनातन-आर्ष-सिद्धान्तानुसार वेदशास्त्र ज्ञातव्यवेद,
कर्त्तव्यवेद, भेद से दो प्रमुख भागों में विभक्त होरहा है। ज्ञातव्यवेदभाग ही 'मन्त्रवेद' कहलाया है, एवं
कर्त्तव्यवेदभाग ही 'ब्राह्मणवेद' कहलाया है। 'विज्ञान-स्तुति-इतिहास, ये तीन प्रमुख 'ज्ञातव्य-विषय'
हैं, जिनका मानव की आचारपद्धति से सम्बन्ध न होकर सर्वात्मना [illegible]-विचारपद्धति से ही
प्रधान सम्बन्ध माना गया है। अतएव इस 'ज्ञातव्या-त्रयी' को हम 'तत्त्वमीमांसा' से ही समन्वित मान
रहे हैं। 'ज्ञान-कर्म्म-उपासना', ये तीन प्रमुख 'कर्त्तव्य-विषय' हैं, जिनका तत्त्वानुशीलन से विशेष
सम्बन्ध न होकर आचरणात्मिका-कर्म्मनिष्ठा से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। अतएव इस 'कर्त्तव्यात्रयी'
को हम 'आचारमीमांसा' से ही अनुगत मान रहे हैं। तत्त्वमीमांसा की पूरिका जहाँ आचारमीमांसा है, वहाँ
आचारमीमांसा की मूलप्रतिष्ठा तत्त्वमीमांसा बनी हुई है। वह 'अनुशीलन' व्यर्थ है, जिसका तदुत्तररूपात्मक

आचरण से सम्पर्क न हो। एवमेव वह 'आचरण' भी कालान्तर में सर्वथा यातयाम ही प्रमाणित होजाता है, जिसकी आधारभूमि अनुशीलनात्मक नैष्ठिक विचार नही होता। निष्कर्षत ज्ञातव्यवेद, और कर्त्तव्यवेद, दोनों की परिपूर्णता, सार्थकता उभय समन्वय पर ही निर्भर है, जैसाकि ज्ञात्त्वा कर्म्माणि कुर्वीत * इत्यादि सुप्रसिद्धा सूक्ति से प्रसिद्ध है।

लोकप्रसिद्ध–'जानना ही 'ज्ञातव्यभाव है, एव 'करना ही 'कर्त्तभाव है। 'जानना' 'ज्ञान शब्द से अनुप्राणित है, तो 'करना' 'कर्म्म' शब्द से समन्वित है। 'ज्ञात्त्वा रूप 'जानने से अनुप्राणित 'ज्ञान' निरपेक्षज्ञान, सापेक्षज्ञान, भेद से दो महिमा–विवर्त्तों में विभक्त माना गया है। आचारात्मक भूत भौतिक विश्वानुबन्धी–कर्म्मविजृम्भणों से यत्किञ्चित् भी सम्पर्क न–रखने वाला, विशुद्ध–अनुशीलनात्मक, समान–प्रत्ययप्रवाह-निबन्धन, सर्वनिरपेक्ष, अतएव प्रत्यस्ताशेषभेदात्मक–सत्तामात्र–अगोचर, अतएव च वाङ्मनस पथातीत, आत्मसवेद्य, सविद्भावापन्न लोकातीत–ज्ञान ही 'निरपेक्षज्ञान × है, जिसे 'निरपेक्षब्रह्म की उपाधि से समलङ्कृत किया है तज्ज्ञानानुशीलन–पथानुवर्त्मा लोकातीत आप्तपुरुषोने। अद्वयभावापन्न–निरपेक्ष, अतएव निरपेक्ष–एकत्व से समन्वित इत्थभूत लोकातीत ज्ञान से अनुप्राणिता निरपेक्षज्ञानात्मिका सुसूक्ष्मा विद्या ही उपनिषदों में–'पराविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिस का आचारात्मक-कर्त्तव्यरूप–भूतानुबन्धी–अनुष्ठानों से क्योंकि कोई सम्बन्ध नही है। अतएव तथाविध लोकातीत 'निरपेक्षज्ञान' के परा–विद्यानिबन्धन इतिवृत्त के सम्बन्ध में–'नेति नेतीत्युपनिषत् सिद्धान्त ही एकमात्र शरणीकरणीयता के क्षेत्र में शेष रह जाता है ÷।

शेषभूत 'सापेक्षज्ञान' नामक द्वितीय–महिमा–विवर्त्त ही शब्दशास्त्र का प्रतिपाद्य विवर्त्त माना गया है, जिस शब्द–प्रतिपाद्य–सापेक्ष ज्ञान को ही उपनिषदोने 'अपराविद्या' कहा है, जिस के कर्म्मसापेक्ष अनेक-विवर्त्त शास्त्रों में श्रुतोपश्रुत हैं। अमृत भावनिबन्धन रसतत्त्व अपने सहजसिद्ध दिक्कालाद्यन–वच्छिन्न–अद्वय भाव से जहाँ तथाविध अद्वयभावापन्न निरपेक्षज्ञान का स्वरूप प्रमाणित होरहा है, वहाँ

---

* ज्ञात्त्वा कर्म्माणि कुर्वीत नाज्ञात्त्वा कर्म्म आचरेत्।
अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलन स्यात् पदे पदे॥

×–प्रत्यस्ताशेषभेद यत्, सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्य तज्ज्ञान 'ब्रह्म' सञ्ज्ञितम्॥
—पञ्चदशी

÷—संविदन्ति न यं वेदाः, विष्णुर्वेद न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह॥
यस्यामतं-तस्य मत, यस्य–न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम्॥
—उपनिषदि

मृत्युभावनिबन्धन 'बलतत्त्व' अपने सहजसिद्ध दिक्कालाद्यवच्छिन्न नानाभाव से तथाविध–नानाभावापन्न सापेक्ष–ज्ञान का स्वरूप सम्राहक बन रहा है। रस बल निबन्धना इस सहज स्वरूप स्थिति के आधार पर यह कह दिया जासकता, एवं मान लिया जासकता है निर्भ्रान्तरूपेणैव कि, अद्वयभावापन्न एकत्वानुगत निरपेक्षज्ञान अपने 'एकं ज्ञानम्, निरपेक्षं ज्ञानम्' निर्वचन से जहां निष्कैवल्य एकत्वनिबन्धन 'ज्ञान' शब्द से समन्वित है, वहां नानाभावापन्न–अनेकत्वानुगत–सापेक्षज्ञान–'विविधं ज्ञानं सापेक्षं ज्ञानम्' निर्वचन से–'विज्ञान' अभिधा का अधिकारी बना हुआ है। और यों एक ही ज्ञानतत्त्व मूलभूत रस, तथा बल नामक 'आभू'–और 'अभ्व' नामक विभिन्न दो अनुबन्धों से क्रमशः अमृत मर्त्य–भावों में विभक्त होता हुआ 'ज्ञान', और 'विज्ञान' इन दो महिमामय स्वरूपों में परिणत होरहा है जिन इन दोनों विभिन्न विवर्त्तों के आधार–पर ही उपनिषदुपवर्णिता सुप्रसिद्धा 'परा अपरा' नाम की अक्षर क्षर निबन्धना रसविद्या बलविद्या–द्वयी समन्वित हुई है। यही निरपेक्षज्ञानात्मक ज्ञान, एवं सापेक्षज्ञानात्मक विज्ञान, इन दो पारिभाषिक शब्दों का मौलिक, एवं सङ्क्षिप्ततम चिरन्तन–इतिवृत्त है जिस का विशद यशोवर्णन पूर्वप्रकाशित–शतपथभाष्य–प्रथमखण्ड के 'पारिभाषिक–प्रकरण' में किया जाचुका है। 'विज्ञान' शब्द के प्रति विशेषरूप से आकर्षित–मना बने रहने वाले वर्त्तमानयुग के भूतविज्ञानवादी भारतीय–बन्धुओं को "भारतीय–पारिभाषिक–विज्ञान" के तात्त्विक–यशोवर्णनात्मक समन्वय के लिए प्रथमखण्डानुगत तत्पारिभाषिक प्रकरण पर ही दृक्पात का अनुग्रह करना चाहिए।

प्रकृत में इस प्रासङ्गिकी–चर्चा से केवल यही निवेदनीय है कि, निरपेक्ष–ज्ञानात्मक एकत्व धर्मावच्छिन्न–ज्ञान से अपना सर्वथा विभिन्न स्वरूप–रखने वाली लोकात्मिका विश्व–विद्या ही नानाभावापन्ना–'विज्ञानविद्या' है, और इसी का नाम है–उपनिषत् के शब्दों में–'अपराविद्या', एवं यही लोक में प्रसिद्ध है–'वेदविद्या' नाम से, जिस की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है ज्ञानात्मिका–पराविद्या। निरपेक्षज्ञानानुबन्धिनी–एकत्वानुयोगिनी अनेकत्वप्रतियोगिनी–विश्वातीत–ब्रह्म विद्यात्मिका–'पराविद्या' ही 'अक्षरविद्या' है। एवं सापेक्षज्ञानानुबन्धिनी अनेकत्वानुयोगिनी एकत्वप्रतियोगिनी –विश्वात्मक–लोक –विद्यात्मिका –'अपराविद्या' ही 'क्षरविद्या' है। उभयविद्या के परिज्ञान के अनन्तर मानव के बुद्ध्यनुगत प्रज्ञाकोश के लिए अन्य कुछ भी तो 'ज्ञातव्य' रूपेण शेष नहीं रह जाता*। निम्नलिखिता उपनिषच्छ्रुति निरपेक्ष–सापेक्ष ज्ञान विज्ञान निबन्धना इन्हीं दोनों विद्याओं का सङ्क्षेप से नामस्मरण करा रही है—

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ–'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' ? इति। तस्मै स होवाच–"द्वे विद्ये वेदितव्ये"–इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति 'परा'–चैव 'अपरा च'। तत्र–अपरा–ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः, अथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो–ज्योतिषम्" इति।

---

* ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
—गीतायाम्

अथा परा-यथा तदक्षरमधिगम्यते, यत्-यत् अद्रेश्यम् अग्राह्यम् अगोत्रम् अवर्णम् अचक्षुश्रोत्रम् तत् अपाणिपादम् नित्यम् विभुम्-सर्व्वगतम्-सुसूक्ष्मम् तदव्ययम् तद्भूत योनिम्-परिपश्यन्ति-धीरा'।

—मुण्डकोपनिषत् १।१।३ ४ ५ ६ कं०।

एक प्रासङ्गिक विशेष-तथ्य की ओर प्रज्ञाशील पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही हमने उक्त मुण्डक-वचन-अत्र उद्धृत करना आवश्यक माना है। विदितवेदितव्य-काम-तप-श्रम-मूर्त्ति आप्त महर्षियोंने 'मानव के अभ्युदय, तथा निःश्रेयस्-ससाधन के लिए ही **पराविद्या अपराविद्या** नाम की उन दो महत्त्वपूर्णा विद्याओं का अन्वेषण किया है, जिन के द्वारा 'मानव अपने चतुष्पर्वा **मानवस्वरूप**' को अभ्युदय, तथा निःश्रेयस्-रूपा सिद्धि, और ससिद्धि, से सर्वात्मना समन्वित कर लेने में समर्थ-सफल-प्रमाणित होता आरहा था **सुख, एवं शान्ति पूर्वक** आज से तीन सहस्र-वर्ष पूर्व की आर्षनिष्ठानुगता कालसीमा के पावन-प्राङ्गण में।

'मानव सुखी रहे', और 'मानव शान्त रहे' इन दो विभिन्नार्थक वाक्यों के गर्भ में ही मानव के सुख, तथा शान्ति का सम्पूर्ण चिरन्तर इतिवृत्त सुगुप्त-रूपेण सञ्छन्दक प्रमाणित होरहा है। मानव का अर्द्ध-अङ्ग केवल सुख की ही **'इच्छा'** करता रहता है प्रतिक्षण, तो मानव का अर्द्ध-अङ्ग केवल शान्ति की ही **'कामना' किया करता है** अजस्ररूपेण। यद्यपि इन अर्द्ध-अर्द्ध-अङ्ग-भावों से सहसा दाम्पत्यमूला स्त्री-पुम्भावना की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित होजाता है, जो कि आकर्षण प्रकृतिसिद्ध ही माना जायगा। तथापि **वस्तुतत्त्व के** स्वरूप-समन्वय के लिए हमें यहाँ दाम्पत्यपथानुबन्धी-विभिन्न दो अर्द्ध-अर्द्ध-अङ्गों को यत्किञ्चित्-समय के लिए निरपेक्ष मानकर केवल एक ही मानव, और ही मानवी के अनुबन्ध से अर्द्धाङ्गद्वयी की मीमांसा में प्रवृत्त होना पड़ेगा।

मानव हो, अथवा मानवी अर्थात् पुरुष हो, अथवा स्त्री दोनों के प्रकृतिसिद्ध स्वरूप में (प्रत्येक में) दो दो विभिन्न अर्द्ध-अर्द्ध अङ्ग-भाव-समन्वित हैं। अर्थात् दो विभिन्न अर्द्ध-अर्द्ध-अङ्गों के समन्वितरूप का ही नाम तो 'मानव' है, एवं तथाविध उभयात्मकरूप का ही नाम 'मानवी' है। प्रथम-अर्द्ध-अङ्ग का पारिभाषिक-साङ्केतिक-नाम है-**'पुरुष**, एवं द्वितीय-अर्द्ध अङ्ग का साङ्केतिक नाम है **'प्रकृति'**। पुरुष, और प्रकृति के द्वन्द्वात्मक मौतिकरूप का ही नाम है 'पुरुष', अर्थात् 'मानव'। एवं प्रकृति, तथा पुरुषात्मक-द्वन्द्वभाव का ही का ही नाम है-'स्त्री', अर्थात्-'मानवी'। और इस समानधर्म्मानुबन्धी समतुलित साम्य के आधार पर ही मानव, तथा मानवी के सम्बन्ध में **'सह धर्म्मं चरताम्'** लक्षण सुप्रसिद्ध साप्तपदीन-सख्यभाव (मैत्री-भाव) का समन्वय हुआ है, जिस-मैत्री-धर्म्म का स्वरूप समानशीलव्यसननिबन्ध ही माना गया है *। इस समतुलित साम्य के आधार पर ही हमें यह भी स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि,

---

*-समानशीलव्यसनेषु मैत्री
—सुप्रसिद्धा सूक्ति

प्राजापत्य सर्ग की मानव तथा मानव–रूपा दोनों विभूतियां का स्थान सर्वात्मना समधरातल पर ही व्यवस्थित है। और इसी साम्य के आधार पर यदि यह भी कह दिया जाय, तो अत्युक्ति न होगी कि, प्रकृति–पुरुष–समन्वयात्मक साम्य की दृष्टि से सर्ग की ये दोनों हीं विभूतियाँ **समानाधिकार** उदाधि से समन्वित भी मानी जासकती हैं, किंवा मानी जानी चाहिएँ।

समानाधिकार के तथाभूत–व्यामोहन से व्यामुग्ध भावुक मानव इस दिशा में आज कुछ ऐसी ही कल्पनाओं में मनोविभोर बनते हुए '**स्त्रीसमानाधिकार** के उद्घोष मे पार्थिव आकाश को विकम्पित करने लग पड़े हैं, और व्यक्त होने लगी है उन की भावुक–भाषा के द्वारा इत्थम्भूता गेखरीवाक कि, "यदि मानवी को भी शिक्षा–वातावरण–आदि के सम्बन्ध में मानव के अनुरूप ही सुविधाएँ दी जासकेंगी, तो निश्चयेन मानवी किसी भी क्षेत्र के उत्तरदायित्व में मानव से पराङ्मुख, किंवा ही पराभूत प्रमाणित नहीं होगी। अपितु उभय–स्पर्द्धा में मानवी ही मानव की योग्यता के क्षेत्र का अतिक्रमण कर लेगी, अतएव "
इत्यादि इत्यादि।

बलप्रयोग–पूर्वक नारी–सुलभ सौम्य–भावों का अभिभव कर मानवी के शरीर, और–बुद्धि–क्षेत्रों को भी कर्कश बनाया जासकता है, जैसे कि अमुक प्रयोगों के कारण मानवसुलभ आग्नेय भाव भी मानव के अभिभूत होजाते हैं उस का सुदृढ–पौरुष–वर्म्म भी कोमलता में परिणत होजाया करता है। और यों प्रकृतिसिद्ध–चिरन्तन–अभ्यास से मानव को मानवी–कोट पर, एवं मानवी को मानव–कोटि पर ला खड़ा किया जासकता है। किन्तु इत्थम्भूत बलप्रयोग मानव, और मानवी, दोनों के ही प्रकृतिसिद्ध स्वरूपों के विपरीत जाता हुआ अन्ततोगत्वा उस भावी 'प्रजननधर्म्म को ही दोषाक्रान्त प्रमाणित कर देता है, जिस प्रकृतिसिद्ध–अग्नि–सोम–निबन्धन–यज्ञात्मक–वैज्ञानिक–प्रजनन के आधार पर राष्ट्रीय ही मानव, और मानवी–वर्ग प्रकृत्या पुष्पित–पल्लवित होते रहते हैं। अतएव आवश्यक है कि, बलपूर्विका दुराग्रहात्मिका समानाधिकार–व्यामोहनमूला–युगधर्म्मानुगता–भावुकता से आत्मपरित्राण करते हुए ही, भारतीय–आर्षदृष्टि के माध्यम से ही '**सह धर्म्मं चरताम्**' मूला समानाधिकार–व्यवस्था का अनुगमन करें, और इसी दृष्टि के माध्यम से आज के काल्पनिक–समाधिकाररूप उस विघातक व्यामोहन के प्रति राष्ट्रीय–प्रजा को जागरूक करें, जिस व्यामोहन के कारण हमारा राष्ट्रीय–प्रजजन विगत तीन सहस्र–वर्षों से उत्तरोत्तर पतनोन्मुख ही प्रमाणित होता आरहा है।

अवश्य ही अर्द्ध–अङ्गात्मक पुरुष–भाव, और अर्द्ध–अङ्गात्मक–ही प्रकृति–भाव के सहसमन्वय से कृतरूप मानव, और मानवी के स्वरूप में सर्वथैव साम्य है। जो पर्वचतुष्टयीरूपा अङ्गद्वयी मानव में है, वही पर्वचतुष्टयी–रूपा अङ्गद्वयी मानवी में भी है। और इसी साम्य के आधार पर दोनों की आधिकारिकी समता–भ्रान्ति भी सम्भावित है। किन्तु जब सूक्ष्मदृष्टि से वस्तुतत्त्व का अन्वेषण किया जाता है, तो इस साम्य की सीमा में ही हमें उस '**वैषम्य**' का भी साक्षात्कार होजाता है, जिसने इन दोनों सम–भावों को भी विषमभाव में परिणत कर रक्खा है। एवं निश्चयेन समत्वानुगत, किंवा साम्य के आधार पर प्रतिष्ठित यह वैषम्य ही उस 'प्रजातन्तुवितान की मूल–प्रतिष्ठा बना हुआ है, जिस तन्तुवितान–परम्परा के द्वारा ही (मानव–मानवी के दाम्पत्य से) सम्पूर्ण द्वन्द्वात्मक–भौतिक–विश्व का स्वरूप '**धाता यथापूर्वमकल्पयत्**' का स्वरूप–रक्षक बना हुआ है।

तथाविध वैषम्य का मूलाधार है-'न्यूनत्व । मानव, और मानवी, दोनो में ही यद्यपि साम्यमूलक पुरुष-प्रकृति-भाव समानरूपेण समन्वित है । किन्तु ये दोनो ही साम्य दोनो ही सस्थाओं में एकाशतः 'न्यून' ही बने हुए हैं । मानव का पुरुषभाव पूर्ण है, तो प्रकृतिभाव अपूर्ण, किंवा न्यून है । एवमेव मानवी का प्रकृतिभाव पूर्ण है, तो पुरुषभाव अपूर्ण, किंवा न्यून है । पूर्णता जहा समत्वानुयोगिनी-विषमत्वप्रतियोगिनी है, वहा अपूर्णता विषमत्वानुयोगिनी-समत्वप्रतियोगिनी है । पुरुषतत्त्व रसानुबन्ध से पूर्ण बनता हुआ जहा 'समभावापन्न' है वहा प्रकृतितत्त्व बलानुबन्ध से अपूर्ण बनता हुआ 'विषमभावापन्न है । समत्वानुयोगिक पुरुष यदि आधार, और प्रकृति-यदि आधेया है, तो विषमा प्रकृति के साम्राज्यस्थान विश्व में, एव-तत्-प्रजा में भी समत्वमूला शान्ति प्रवाहित रहती है । ठीक इस के विपरीत यदि विषमत्वानुयोगिनी प्रकृति आधार, और पुरुष आधेय बन जाता है, तो समत्वमूला शान्ति का सर्वथैव उच्छेद होजाता है । और सम्भवत क्यो निश्चयेन इसी आधार पर महाभाग यक्ष के अमुक महत्त्वपूर्ण प्रश्न के समाधान में समुपस्थित 'स्त्रीपुवच्च' तद्धि गेहं विनष्टम् इस प्रकृतिसिद्ध समाधान को पुराणपुरुष भगवान् बादरायण ने अपने ऐतिह्यग्रन्थ में प्रश्रय प्रदान किया है ।

पुरुष, और प्रकृति से अनुप्राणित रस-बल-निबन्धन साम्य-वैषम्य का यह चिरन्तन इतिवृत्त तो स्वतन्त्र-निबन्ध-सापेक्ष ही माना जायगा * । प्रकृत मे लक्ष्यीभूत वक्तव्य से अनुप्राणित सन्दर्भ की सङ्गति के लिए यही स्पष्टीकरण पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि, मानव का पुरुषभाग जहाँ पूर्ण है, वहाँ प्रकृतिभाग अपूर्ण है । अतएव मानव प्रकृतित -अपूर्ण-अकृत्स्न, किन्तु पुरुषत पूर्ण कृत्स्न है । ठीक इस के विपरीत मानवी का प्रकृतिभाग जहा पूर्ण है, वहा पुरुषभाग अपूर्ण है । अतएव मानवी पुरुषत अपूर्णा-अकृत्स्ना, किन्तु प्रकृतितः पूर्णा-कृत्स्ना है । मानव अपनी प्रकृतिनिबन्धना अपूर्णता की पूर्त्ति के लिए ही उस 'मानवी' के साथ भ्रान्तपदीन की सहज इच्छा रखता है, जो अपनी पूर्णा प्रकृति के समर्पण से प्रकृत्या अपूर्ण बने हुए इस मानव के विस्रस्त-प्राकृत-भाव को परिपूर्ण कर दे । एवमेव मानवी भी अपनी पुरुष-निबन्धना अपूर्णता की पूर्त्ति के लिए ही उस 'मानव' के प्रति समर्पित होजाना चाहती है, जो अपने पूर्ण पुरुषभाव के प्रत्यर्पण से पुरुषत्वेन अपूर्ण बनी हुई इस मानवी के विस्रस्त-पौरुष-भाव को परिपूर्ण करदे । और यो दोनो दोनों की न्यूनता के क्षति-पूरकात्मक सम्बल प्रमाणित होते हुए उस एकत्वनिबन्धना परिपूर्णता को अन्वर्थ बनाते हुए इत्थभूत दाम्पत्य से प्रजातन्तुवितानात्मिका विश्वस्वरूप-पर्य्यादा की महती थाती को ही अक्षुण्ण बनाए रहें । 'न्यूनाद्धि प्रजा प्रजायन्ते'-'सोऽयमाकाश पत्न्यापूर्य्यते इत्यादि श्रुति-वचन इसी तथा-कथिता रहस्यपूर्णा याज्ञिकी स्थिति का स्पष्टीकरण कर रहे हैं, जिस याज्ञिकी स्थिति के स्वरूप-प्रसङ्ग से ही तत्स्तम्भरूप-प्रकृति-पुरुष-समन्वयात्मक-अध्यात्मयज्ञ (मानव-मानवी के दाम्पत्यरूप यज्ञ) के अर्द्ध-अर्द्ध अङ्गभावो का सस्मरण होपड़ा है ।

मानव का पुरुषभाव 'आत्मा' है, तो प्रकृतिभाव इस का 'शरीर' है, जिस का निष्कर्ष यही है कि, आत्मा, और शरीर, इन दोनों की समन्वितावस्था का ही नाम तो मानव है, एव तदात्मक ही मानवी का

---

* खण्डचतुष्टयात्मक-सामयिक-उद्बोधनात्मक-निबन्धान्तगत क्रमप्राप्त तृतीयखण्डरूप 'प्रकृतिपुरुष-स्वरूपमीमासा' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में इस तत्त्व का विशदरूपेण स्पष्टीकरण प्रयास हुआ है ।

मौलिक स्वरूप है । आत्मा 'लोकातीत' किंतु 'लोकी' तत्व है, एवं शरीर 'लोक' है । पार्थिव जगत् की प्रकृति माता धरित्री ही मानी गई है । अतएव प्रकृति रूप लोकात्मक शरीर को हम 'पार्थिव' ही कहेंगे, जिस में आलोमभ्य आनखाग्रेभ्य अपार्थिव अलौकिक आत्मा प्रतिष्ठित माना गया है । आत्मा ही वह 'पुरुष' भाव है, जो प्रकृतिरूप लोकात्मक शरीर का सर्वस्व माना गया है । आत्मा, और पार्थिव शरीर, इन दोनों के मध्य में दोनों के क्रमिक सहयोगी माने गए हैं विज्ञानभाव, और प्रज्ञानभाव जो दोनों भाव दर्शन–जगत् में क्रमशः बुद्धि, और मन नाम से प्रसिद्ध हैं । वैदिक विज्ञान की सामान्य परिभाषाओं से भी परिचित वेद–प्रेमी जानते ही हैं कि, मानवीय मन का उपादान सोममय वह चन्द्रमा है, जिसे पृथिवी का उपग्रह माना गया है । अतएव चान्द्र मन का पार्थिव शरीर के प्रति सहज आकर्षण प्रकृत्यैव ससिद्ध होरहा है । एवमेव चिदात्मा की गर्भभूमिरूप पारमेष्ठ्य महद् ब्रह्म का उपग्रह माना गया है वह सूर्य्य, जो बुद्धि का प्रभव है । अतएव महद्ब्रह्मावच्छिन्न आत्मा के प्रति सौरी बुद्धि का सहज आकर्षण स्वतः ही प्रमाणित होरहा है । और यों सूर्य्यात्मिका बुद्धि मानव के आत्मरूप पुरुषपर्व की, किंवा अर्द्ध–अङ्ग की सहचारिणी बनी हुई है, तो चन्द्ररूप मन पार्थिवशरीररूप प्रकृतिपर्व का, किंवा अर्द्ध अङ्ग का सहचारी बना हुआ है । इस साहचर्य्य का निष्कर्षार्थ यही निकलता है कि–मानवीय पुरुषभागरूप अर्द्धाङ्ग की व्याप्ति आत्मा, और बुद्धि नामक दो अवान्तर पर्वों से अनुप्राणिता है एवं मानवीय प्रकृतिभागरूप अर्द्धाङ्ग की व्याप्ति मन, और शरीर नामक दो अवान्तर पर्वों से समन्विता है । फलतः अर्द्ध अङ्ग द्वयात्मक किंवा पुरुष–प्रकृति समन्वयात्मक द्विपर्वा मानव का आत्मा, बुद्धि मन, शरीर भेदों से पर्वचतुष्ट्यात्मकत्व प्रमाणित होजाता है, एवं ठीक यही पर्वचतुष्टयात्मिका स्थिति मानवी की है । दोनों के समन्वितरूप दाम्पत्य * से निदानभावानुबन्धेन अष्टाक्षर–गायत्रीछन्द की संख्या–सम्पत् की सहजरूपेणैव गतार्थता प्रमाणित होरही है, एवं इस दृष्टिकोण से भी–गायत्री वा इदं सर्वम् इस अनुगम वचन की अन्वर्थता ससिद्ध होरही है ।

मानव और मानवी सुखी, और शान्त रहें, इसी प्रसङ्ग से अत्र मानव, और मानवी की तथाकथिता स्वरूप मीमांसा प्रक्रान्त होपड़ी है, जिस के माध्यम से अत्र हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, पुरुष और प्रकृति–भाव-समन्वयात्मक मानव का पुरुषरूप अर्द्धाङ्ग भी आत्म–बुद्धि भेदेन द्विपर्वा है, एवं मानव का प्रकृतिरूप अर्द्धाङ्ग भी मन –शरीर भेदेन द्विपर्वा है । तथैव मानवी के दोनों अर्द्ध–अर्द्ध–अङ्ग भी इसी पर्वव्यवस्था से समतुलित है । यों दोनों के आठों पर्वों के समन्वय से अनुगता दाम्पत्य व्यवस्था अष्टाक्षर गायत्री छन्द से समतुलिता प्रमाणित होरही है । और यों अङ्गदृष्ट्या, तथा पर्वदृष्ट्या यद्यपि मानव, और मानवी के स्वरूपों में पारस्परिकी कोई विभिन्नता प्रतीत नहीं होरही । तदपि मानवसंस्थानुगत पुरुषाङ्ग के प्राधान्य से, एवं मानवी संस्थानुगत प्रकृत्यङ्ग के प्राधान्य से अनुप्राणित सुसूक्ष्म भेद दोनों के समस्वरूपों का आत्यन्तिकरूपेण विभाजक बना हुआ है, जिस विभाजन का निष्कर्षार्थ यही है कि, मानव के चारों पर्वों में आत्म बुद्धि रूप 'पुरुष' भाग अभिव्यक्त है पूर्णरूपेण, एवं मन शरीर रूप–'प्रकृति' भाग 'अपूर्ण' है । एवमेव मानवी के चारों पर्वों में मन –शरीर -रूप–प्रकृतिभाग अभिव्यक्त है पूर्णरूपेण, एवं आत्म–

*–देखिए–प्रस्तुत द्वितीयखण्ड का 'पत्नीसन्नहनकर्म्मोपपत्ति' नामक प्रकरण (पृष्ठ सं० ९७६ से पृष्ठ स० १०२९ पर्य्यन्त) ।

बुद्धि रूप 'पुरुष' भाग अपूर्ण है । और यो दोनों ही अ योऽ याश्रय यायानुब धेन एक दूसरे के सम्बल की अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षा रख रहे हैं। बिना इस उभयात्मक आश्रय आश्रयी भाव के न तो मानव ही सुख शान्ति का अनुगाही बन सकता, एव न मानवी ही सुख शान्ति की अनुगामिनी बन सकती ।

मानव से मानवी चाहती है शान्ति, और मानव मानवी से चाहता है सुख। शान्ति अविकम्पित स्थिर–आन द से सम्बद्धा मानी गई है एव सुख निकम्पित–अस्थिर–आन द से सम्बद्ध माना गया है। शान्ति का क्षेत्र है आत्मानुगता बुद्धि, एव सुख का क्षेत्र है मनोऽनुगत शरीर। मानव प्रधानरूपेण आत्मबुद्धि–समष्टिरूप पुरुषभाव का प्रातिस्विकरूपेण दायाद–भोक्ता है, तो मानवी प्रधानरूपेण मन शरीर–समष्टिरूप प्रकृतिभाव की प्रातिस्विकरूपेण दायादभोक्त्री है। मानव की आ मबुद्धयनुगता शान्ति से उपकृत होती है मानवी, एव मानवी के मन शरीरानुगत सुख से उपकृत होता है मानव। **बिना शान्ति के सुख का कोई मूल्य नहीं, तो बिना सुख के शान्ति का मार्ग सवथा अवरुद्ध।** अतएव समिद्ध है कि–मानव, और मानवी की सुख–शान्ति दोनो के दाम्पत्यमूलक— **गृहस्थधम्म** पर ही अवलम्बित है, और इसी प्रकृतिसिद्ध तथ्य के आधार पर भारतीय–यज्ञकाण्ड के सम्ब ध में हमें दो श द अपने वेदप्रेमी पाठको के समक्ष उपस्थित करने है।

समृद्धानन्द, शान्तानन्द–भेद से आन द के महिमामय दो विवर्त्त सुप्रसिद्ध है। जिस आन द में सहज–स्थिति का विकम्पन है, वही समृद्धानन्द है, एव यह इत्थभूत पराश्रय से ही सम्बद्ध माना गया है। एक शान्त–सरोवर में बलपूवक–प्रक्षिप्त लोष्ठ पाषाण कुछ समय के लिए जैसे वीची तरङ्ग रूप विकम्पन उत्पन्न कर देते हैं, तथैव लोक वैभवरूप लोष्ठ पाषाणादि के आगमन से मानस प्रज्ञा का अमुक अवधि के लिए विकम्पन होपड़ता है एव इसी विकम्पनावस्था का नाम है–समृद्धान द, जिसका भौतिक विश्वानुब धी-बाह्य परिग्रहों के सस्कारात्मक आगमन से ही सम्ब ध माना गया है। यही है—विश्वसुख, लोकसुख, जिसका प्रधान सम्ब ध माना गया है मानव मानवी के प्रकृतिपर्वों के साथ अर्थात् मन शरीर पर्वों के साथ। अर्थात् मानसिक शारीरिक-लोकानन्द का ही नाम है–समृद्धानन्द, एव इसी की पारिभाषिकी अभिधा है–'सुख'। क्योंकि मानवी में सहजरूपेणैव मन शरीररूप प्राकृतपर्व ही अभि यक्त रहते हैं, अतएव मानवी स्वभावत समृद्धानन्दात्मक मन शरीर निब ध-लोकसुख की ही सतत इच्छा किया करती है।

दूसरा विवर्त्त है शान्तान द का। यह स्वाश्रित आन द माना गया है। एव सहजरूपेण स्व की स्वरूपस्थिति ही इस शान्तान द की परिभाषा है, जिसे बुद्धयनुगत आत्मान द, किंवा आत्मनिब धन-बौद्धिक आनन्द भी कहा जासकता है। मनोऽनुगत–शारीरिक सुख को कहा जायगा पुष्टि, शरीरानुगत मानसिक सुख को कहा जायगा तुष्टि। एव दोनों की समन्वितावस्था को माना जायगा **समृद्धान दात्मक-सुख**। एवमेव आत्मानुगत बौद्धिक आन द को कहा जायगा तृप्ति, एव बुद्धयनुगत आत्मान द को कहा जायगा शान्ति, तथा दोनों की समान्वितावस्था को माना जायगा 'शा तानन्दात्मिका' 'शान्ति। यो दो आनन्द विवर्त्तों के पर्व चतुष्टयी के अनुब ध से **शान्ति-तृप्ति–तुष्टि पुष्टि** रूपेण चार अवा तर महिमा विवर्त्त सम्पन्न होजायँगे, जिन इन चारों में से शान्ति-तृप्ति रूप शान्तानन्द की पारिभाषिकी सज्ञा है—**'निःश्रेयस'**, एव तुष्टि पुष्टि रूप समृद्धान द की सज्ञा है **'अभ्युदय'**। नि श्रेयस् के क्षेत्र है आत्मबुद्धिपर्व, एव अभ्युदय के क्षेत्र है मन शरीर

पर्व । नि श्रेयस्–रूप शा तान द ही 'पारलौकिक शान्तानन्द' है, एव अभ्युदयरूप–समृद्धान द ही–ऐह लौकिक–समृद्धानन्द है । और यो दोनो दोनो के पूरक ही प्रमाणित होरहे है ।

इसी आधार पर उस वर्णाश्रमधर्म्म की अभिव्यक्ति हुई है, जिसे भारतीय दार्शनिकोंने—'यतोऽभ्युदय नि श्रेयस-सिद्धि –स धर्म्म' इत्यादिरूपेण उभयससाधक माना है । इत्थभूत उभयससाधक महान मानवधर्म्म (वर्णाश्रमधर्म्म) का आधारस्तम्भ माना गया है वह—'गृहस्थाश्रम', जिसकी आधारभित्ति है चतुष्पर्वा मानव, और तथाविधैव–मानवी का दाम्पत्ययज्ञ । इसी यज्ञ के आधार पर मानव का वह गृहस्थाश्रम प्रतिष्ठित है, जिसके माध्यम से ही अभ्युदय का अर्जन करते हुए मानव–मानवी अग्रभावी वानप्रस्थादि इतर आश्रमो से नि श्रेयस साधन में भी सर्वात्मना सफल होजाते हैं । इसी प्रकृतिसिद्ध तथ्य के आधार पर अब हम अपने पाठको का ध्यान उन दोनो विद्याओं की ओर पुन आकर्षित कर रहे हैं जिनका पराविद्या–अपराविद्या रूपेण मुण्डकश्रुति के द्वारा पूर्व में सस्मरण किया जाचुका है ।

शब्दशास्त्रने ब्रह्म के दो प्रमुख महिमा विवर्त्त माने है, जिनका भी प्रसङ्ग वश यहां सस्मरण कर लेना यातयाम नही माना जायगा । वे दोनों विवर्त्त क्रमश लोकातीतब्रह्म, एव लोकब्रह्म नामों से अनुगत माने जासकते हैं, जो दर्शनभाषा में जहाँ क्रमश निर्गुणब्रह्म सगुणब्रह्म नामों से, एव विज्ञानभाषा में परात्पर, पुरुष नामों से व्यवहृत हुए हैं । दिक् देश, और काल की परिधियों से अतीत, विश्वातीत निर्द्धर्म्मक ब्रह्मविवर्त्त ही लोकातीत परात्पर ब्रह्म है । एव दिक् देश कालात्मक सर्वात्मक सर्वधर्म्मोपपन्न-ब्रह्मविवर्त्त ही पुरुषब्रह्म है । दिक्कालाद्यनवच्छिन्न लोकातीत ब्रह्म ही * शान्तानन्द की प्रतिष्ठाभूमि है, एव दिक्कालाद्यवच्छिन्न लोकात्मक ब्रह्म ही समृद्धानन्द की प्रतिष्ठाभूमि है । इसका तात्पर्य्य यही हुआ कि शान्तानन्दात्मक निश्रेयस् का आधार है लोकातीतब्रह्मविवर्त्त, एव समृद्धानन्दात्मक अभ्युदय का आधार है लोकात्मक ब्रह्म-विवर्त्त ।

लोकातीत ब्रह्मविवर्त्त की लोकनिबन्धना उपनिषत् मानी गई है—'अहं ब्रह्मास्मि' यह, जिसका अर्थ होता है—'विशुद्ध–निष्कैवल्य–आत्मा', एव जिसे माना गया है–दिक्–देश–काल–त्रयी से अतीत । सैषा स्थिति । स्थितस्य गतिश्चिन्तीया । निवेदन किया गया है कि–मानव, और मानवी, दोनों में प्रत्येक में आत्मादि–शरीरान्त चार चार पर्व हैं । इनमें प्रथम–सर्वाधारमत अपर्वात्मक-आत्मपर्व के साथ बुद्धिपर्व को भी अनुगत मान लिया है एक कारणविशेष के आधार पर, जिसका नवखण्डात्मिका-गीताभूमिका के 'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक अष्टमखण्ड में विस्तारसे स्वरूपोपबृहण किया गया है । प्रकृत में यही वक्तव्य है कि, 'बुद्धि' नामक पर्व वस्तुत दिग्देश-कालानुगत लोकब्रह्म की सीमासे ही प्रधानरूपेण सम्बन्ध रखता है । और इस दृष्टि से आत्मा-बुद्धि, तथा मन शरीर-रूपेण चारों पर्वों का विभाजन न कर आत्मा को स्वतन्त्र विभागानुगामी माना जायगा, एव शेष तीनों बुद्धि मन शरीर नामक पर्वों का एक लोकात्मक स्वतन्त्र विभाग माना जायगा ।

---

* - दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्त्तये ।
स्वानुभूत्येक-मानाय नमः 'शान्ताय' तेजसे ।
—भर्तृहरि

इस नवीन दृष्टिकोणानुबन्ध से अब आत्मपर्व के साथ तो लोकातीत ब्रह्म से अनुप्राणित निःश्रेयस का, और तद्रूप शान्तानन्द का सम्बन्ध माना जायगा, एवं शेषभूता बुद्धि मन शरीर पर्वत्रयी के साथ लोकब्रह्म से अनुप्राणित अभ्युदय का, और तद्रूप समृद्धानन्द का सम्बन्ध माना जायगा, एवं तदाधारेणैव अब यह्नातत यह मान लिया जायगा कि, मानव-मानवी का आत्मपर्व दिग्देशकालातीत बनता हुआ निःश्रेयस्-पथानुगामी है, तो शेषभूता बुद्धि-मन शरीर पर्वत्रयी दिग्देशकालात्मिका प्रमाणित होती हुई अभ्युदय पथानुगामिनी है।

तथाकथित नवीन दृष्टिकोण का आधार है प्राकृतिकी-लोकस्थिति जिसका भी दो शब्दों में सस्मरण कर ही लेना चाहिए। लोकब्रह्मात्मक-समृद्धानन्दघन विश्वात्मा से अभिन्न भूत-भौतिक-विश्व की अभिव्यक्ति के तीन ही प्रमुख पर्व माने गए है, जो क्रमश 'सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी' रूपेण सर्वसाधारण के लिए भी श्रद्धातम है। कालसाक्षी सूर्य्य काल से अभिन्न है और यही अवलोकन साधन-भूत लोक' है। अतएव यह 'लोकसाक्षी' नाम से भी उपश्रुत है। दूसरा चन्द्रपर्व ही दिक् का साक्षी बनता हुआ दिग्भाव से अभिन्न है। एव तीसरा पृथिवीपर्व ही देश का साक्षी बनता हुआ देशभाव से अभिन्न है। तदित्थं सौरमण्डलावच्छिन्न लोकब्रह्म की सीमा में सूर्य्यात्मक-कालभाव, चन्द्रमात्मक दिग्भाव, एवं पृथिव्यात्मक देशभाव, रूपेण तीन अवान्तर-विवर्त्त प्रतिष्ठित है। इस त्रयी से ही तदभिन्न लोकब्रह्म को हमने 'दिग्देश-कालावच्छिन्नब्रह्म' कहा है, जिसका फलितार्थ निकलता है—'चन्द्रमा पृथिवी-सूर्यावच्छिन्न-व्यक्त-विश्वब्रह्म।

शेष रह जाता है लोकातीत, अतएव दिग्देशकालातीत अर्थात् पृथिवी चन्द्रमा सूर्यात्मक यक्त विश्व से अतीत परात्परब्रह्म, जिसे दिग्देशकालातीतत्त्वेनैव 'अविज्ञेयब्रह्म भी कहा गया है।

मानव-मानवी में समानरूपेण अभिव्याप्त लोकातीत ब्रह्मभाव ही 'आत्मा' है, जो दिग्देशकालातीत है। कालात्मक सूर्य्य का प्रवर्ग्यरूप ही मानव-मानवी में कालात्मक-बुद्धिपर्व है। दिगात्मक चन्द्रमा का प्रवर्ग्यरूप ही दिगात्मक-मन पर्व है। एव देशात्मिका पृथिवी का प्रवर्ग्यरूप ही देशात्मक शरीरपर्व है। इन तीनों पर्वों की समन्वितावस्था ही मानव मानवी का दिगदेशकालात्मक-लोकानुबन्धी-परिच्छिन्न-स्वरूप है। और यही है उस 'अपराविद्यात्मिका 'वेदविद्या का स्वरूप-निष्कर्ष, जिसकी काण्डत्रयी के प्रथम-पर्वरूप-'ब्राह्मणभाग' की व्याख्या ही 'शतपथब्राह्मणभाष्य' के रूप से क्रमश (खण्डश) प्रस्तुत होरही है गतवर्ष स।

आर्ष * भारतराष्ट्र में किस मन्दभाग्यपूर्ण क्षण से इत्थभता भयावहा सर्वनाशकारिणी भ्रान्ति उपक्रान्त होपड़ी कि,-"मानव का एकमात्र लक्ष्य आत्मानुबन्धी निःश्रेयस्-साधन ही है। दिग्देशकालानुबन्धी-व्यक्त विश्व सर्वथैव मिथ्या है। इस का परित्याग कर मानव को केवल निःश्रेयस्-पथानुवर्त्मा ही बना रहना चाहिए", के-कालानुबन्धी काल्वालीकृत इतिवृत्त के स्वरूप-विश्लेषण का यहाँ अवसर नहीं है। यहाँ तो इसी ऐतिहासिक तथ्य की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, विगत तीन सहस्र-वर्षों से भारतराष्ट्र ज्ञात-अज्ञात-अनेक बन्धन-पाशों की दृढतमा-बन्धन-परम्पराओं से आलोमभ्य -

* ऋषिप्रदिष्ट ज्ञान विज्ञानात्मक-पथ का अनुगामी।

आनत्यात्प्रेम्य आबद्ध बना रहता हुआ प्रकृतिसिद्ध शरीर मनो बुद्धि सम्मत देश–दिक् कालानुबन्धी लोक समृद्धिभावों की ओर से न केवल तटस्थ निरपेक्ष ही, अपितु काल्पनिक आत्माभिनिवेश से आविष्ट होता हुआ विद्रोही ही बनता चला आरहा है इन लोक–समृद्धिपरम्पराओं के प्रति।

विश्वातीत–निर्द्धर्म्मक–लोकातीत–परात्परब्रह्मरूप निर्विशेष 'आत्मभाव' का तो वस्तुगत्या मानव के निःश्रेयस से भी सम्पर्क नहीं है। अपितु चतुष्पर्वा मानव–मानवी का प्रथम–पर्वरूप आत्मभाव ही इन दोनों के लिए निःश्रेयस् का प्रवर्त्तक माना गया है, जो आत्मभाव विश्वसीमानुगत बनता हुआ 'विश्वात्मा नाम से ही प्रसिद्ध है। अतएव जगन्मिथ्यात्ववादी–निर्विशेष वादियों का तो निःश्रेयस से भी कोई सम्पर्क नहीं रह जाता। अपितु निर्विशेष की उपलब्धि के मिथ्यादम्भ से इनकी स्थिति तो 'इतो भ्रष्टस्ततोऽपि भ्रष्ट' न्याय को ही चरितार्थ करने वाली प्रमाणित होरही है, और वैसा सा ही क्या, निश्चयेन वैसा ही प्रमाणित होरहा है विगत तीन सहस्र वर्षों की अवधि से निर्विशेषाभिनिविष्टा जगन्मिथ्यात्ववादिनी भारतीय प्रजा के सम्बन्ध में।

जगन्मिथ्यात्ववादभ्रान्तिमूला निर्विशेषात्माभिनिवेशाविष्टा तथाकथिता आत्मधारणाने ही इस ओर की लोकसमृद्धि–परम्पराओं से जहाँ भारतीय–मानव को पराङ्मुख प्रमाणित किया वहाँ काल्पनिक आत्माभिनिवेश ने इसे निःश्रेयस् पथ से भी सर्वात्मना वञ्चित ही प्रमाणित कर दिया तथोक्ता भुक्ता प्रक्रान्ता अवधि में। यों निःश्रेयस्साधक आत्मोपयिक ज्ञानपथ के साथ साथ अभ्युदयससाधक (बुद्धि मन शरीरोपयिक) विज्ञानपथ से भी भारतीय मानव सर्वात्मना परा परावृत ही प्रमाणित होगया। पारिशेष्यात् रह गया इसके प्रज्ञाकोश में काल्पनिक शून्यवादात्मक–क्षणवादात्मक–स्वलक्षणनिबन्धन–दुःख–दुःख–मात्र, जिस इत्थम्भूता सर्वनाश कारिणी मतवादात्मिका भावुकता को ही आज पुनः बड़े अभिनिवेश के साथ हमारा आज का सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र भारत काल्पनिक–मानवता के व्यामोहन से व्यामुग्ध होता हुआ अपना रहा है, जिससे बड़ा सांस्कृतिक अधः–पतन इसका और कुछ भी तो नहीं हो सकता।

लोकसमृद्ध्यनुगता–दिग्देशकालानुबन्धिनी–अभ्युदयपथससाधिका विज्ञानधारा की विलुप्ति ही तथोक्त सांस्कृतिक अधःपतन का एकमात्र प्रमुख कारण है, जिस पतनगर्त्त को निःशेष प्रमाणित करने के लिए अविलम्ब अपराविद्या के तत्त्वान्वेषण के आधार पर भारतीय मनीषि वर्ग का उस आर्षविज्ञानपरम्परा की पुनः अभिव्यक्ति करनी ही पड़ेगी, जिस अभ्युदयसाधक विज्ञानकाण्ड की आधारभूमि निःश्रेयस्–संसाधक–ज्ञानकाण्ड बना हुआ है। और इस पावन–उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए राष्ट्र के मनीषिवर्ग को सर्वप्रथम–अपराविद्या के प्रधान, एवं प्रथम–अङ्गभूत 'विधि' नामक 'ब्राह्मण' भाग की वैज्ञानिकी–परिभाषाओं के पारिभाषिक–तत्त्वान्वेषण में हीं प्रवृत्त होना पड़ेगा, जिन परिभाषाओं के स्वरूप–समन्वय के बिना केवल प्रकृति–प्रत्यय–धातु–उपसर्ग निपातादि के बल पर कदापि विलुप्तप्राया विस्मृतप्राया विज्ञानधारा की पुनः अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है।

मुण्डकोपनिषत् ने पराविद्या, अपराविद्या नाम की जिन दो विद्याओं का सङ्केत किया है, उनमें लोकातीता पराविद्या का न तो मानव के अभ्युदय से ही सम्बन्ध है, एवं न निःश्रेयस् से ही। क्योंकि दिग्देशकालातीता पराविद्या का न तो ज्ञान से ही सम्बन्ध है, न कर्म्म से ही सम्बन्ध है। शब्दातीता उस विद्या का मानव के लोकजीवन की सापेक्षा ज्ञानधारा, तथा सापेक्षा कर्म्मधारा से किसी भी प्रकार का व्यक्त

सम्ब ध नही है, जबकि दुर्भा यवश उमी लोकातीता पराविद्या को, एव तन्निबन्धन लोकातीत निरपेक्ष–निर्विशेष ब्रह्म को विश्वसमृद्धि के अ यतमशत्रु साम्प्रदायिकोने मानव के लिए एकमात्र परमपुरुषाथ घोषित करते हुए उसे ही नि श्रेयस्–ससाधक मान रक्खा है। एव इसी भावुकतापूर्णा म यता से आवेशाविश बनी हुइ भारतीय प्रजा विगत तीन सहस्र वर्षों से विश्वातीत–निर्विशेषब्रह्म की घोषणामात्र से आत्मविस्मृता बनती हुई वस्तुस्थिति से अनुप्राणित नि श्रेयस् (आत्मानुगता शा त, और बुद्ध्यनुगता तृप्ति), तथा अभ्युदय (मनोऽनुगता तुष्टि और शरीरानुगता पुष्टि), दोनो ही पुरुषार्थों से सवथा ही वञ्चित ही होती चली आरही है।

तथाविधा आत्मवञ्चना का ही यह घोरघोरतम दुष्परिणाम हुआ है कि, सगुण विश्वेश्वरब्रह्म के ज्ञान विज्ञानात्मक रहस्यो का प्रतिपादक **उपनिच्छास्त्र** तद याख्याभूत **व्याससूत्र**, एव तत्पारिभाषिकी सूची रूप **गीताशास्त्र**, इन तीनो शास्त्रो की समष्टिरूपा सुप्रसिद्धा– **प्रस्थानत्रयी'** भी तदावेशाविष्टो की महती कृपा से अपनी पारिभाषिकी ज्ञानविज्ञानात्मिका समन्वय–पद्धति से पराङ मुख ही प्रमाणित होगई है विगत अवधि से। फलत प्रस्थानत्रयी आज केवल साम्प्रदायिक ग्र थमात्ररूपेणैव अवशिष्टा रह गई है। तभी तो तथोक्ता अवधि में अपने अपने वैय्यक्तिक–मनोऽनुगत–मा यतानुब धी–मतवादो–सम्प्रदायवादों के समथन प्रमाणन के लिए सभी मतवाद–प्रवर्त्तकोनें 'प्रस्थानत्रयी' का आश्रय ग्रहण करते हुए इसे उसप्रकार स्व–स्व–मतवादो की पोषाणिमिर्का ही प्रमाणित करने का जघ यतम–प्रयत्न किया है, मानो ज्ञानविज्ञानात्मिका यह प्रस्थानत्रयी केवल काल्पनिक–मतवादों के पोषण के लिए ही प्रवृत्त हुइ हो।

उक्त निदर्शन से वक्त याश केवल यही है कि, **'उपनिषत्** जैसा वैज्ञानिक–शास्त्र सर्वधर्म्मोपपन्न ब्रह्म के वैज्ञानिक–स्वरूप का विश्लेषक **'वेदान्तसूत्र** जैसा सूत्रग्र थ, एव समस्त उपनिषदो की रहस्यपूर्ण ज्ञानविज्ञानात्मिका विद्याओं की, परिभाषाओ की महत्त्वपूर्ण 'सूची रूप **श्रीमद्भगवद्गीता** जैसा लोकोत्तरशास्त्र, ये सभी ज्ञान–विज्ञान–निधिया भी आज तथाविधा मतवादाभिनिवेशपरम्पराओ की प्रतिच्छाया से अपनी मौलिकता से सर्वथा ही अ तम्मुख प्रमाणित होचुकी है। यही कारण है कि उपनिषत्, और गीता जैसे तत्त्वप्रधान, एव आचारप्रधान शास्त्रों के विद्यमान रहते भी भारतराष्ट्र विगत तीन सहस्रवर्षो की अवधि से उत्तरोत्तर निश्रेयस्, तथा अभ्युदय–पथों से वञ्चित रहता हुआ आततायी गं के द्वारा पराभूत ही होता आरहा है, जिस इत्थभूता पराभूति से अद्यावधि भी भारतराष्ट्र का परित्राण नही होसका है। सचमुच ही जिज्ञासात्मक इत्थभूत महान् प्रश्न प्रत्येक आस्तिक भारतीय मानव के लिए अनतिप्रश्नात्मक एक **'असमाधेय–प्रश्न'** ही प्रमाणित होरहा है कि, जिस नैष्ठक–राष्ट्र (भारतराष्ट्र) के प्रज्ञाकोश में **मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र** जैसा रहस्यपूर्ण शास्त्र विद्यमान हो, जिस राष्ट्र के मानस प्राङ्गण में **औपनिषद् ज्ञानप्रवाह** प्रवाहित हो, एव सर्वोपरि जिस राष्ट्र की आस्था–श्रद्धा–समन्विता बुद्धि में **गीताशास्त्र** जैसा **आचारशास्त्र** प्रतिष्ठित हो, वह राष्ट्र कैसे, और क्यों परतन्त्र बन गया ?, इन लोकोत्तरा ज्ञान–विज्ञान–विभूतियों की विद्यमानता में भी कैसे और क्यों यह राष्ट्र आत्मदृष्ट्या अशा त, बुद्धिदृष्ट्या अतृप्त, मनोदृष्ट्या असन्तुष्ट, तथा शरीरदृष्ट्या अपुष्ट बना रह गया ?, और कैसे, तथा क्यों यह भारतराष्ट्र अपने दायादसिद्ध नि श्रेयस्– तथा अभ्युदय नामक दोनों ही पुरुषार्थों से वञ्चित होता आरहा है ?।

हम समझते हैं, पूर्व निर्दिष्ट मतवादात्मक–सम्प्रदायवाद से अनुप्राणिता ज्ञानविज्ञानात्मिका–परिभाषाओं की विलुप्ति, ज्ञानविज्ञानात्मक आचारधर्म्म का परित्याग, एव तत्स्थाने च काल्पनिकी मतवादा–

भिनिविष्टा–मा यताओं का अ धानुकरण ही तथोक्त अनतिप्रश्नात्मक–प्रश्न का प्रमुख कारण मान लिया जायगा, जिस इस एक प्रमुग्व कारण के सहयोगी अ या य कारणों का अत्र स्पष्टीकरणावसर नहीं है । इसी सम्ब ध में एक विशेष तथ्यात्मक कारण का सस्मरण कर लेना भी अप्रासङ्गिक नहीं माना जायगा ।

'ज्ञान' श दानुप्राणिता परिभाषा से असस्पृष्ट साम्प्रदायिक मस्तिष्क ने उपनिषदों के **'ज्ञान'** शब्द का इत्थभूत सम वय कर डाला कि,–"उपनिषद्ग्रन्थ उस निरपेक्ष–निर्विशेष–निधर्म्मक–लोकातीत–दिग्देश कालातीत ब्रह्मज्ञान की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं, जो निरपेक्ष–निर्विशेष–ब्रह्मज्ञानात्मक–'ज्ञान ही अमृतत्त्वरूप–नि श्रेयस् की प्राप्ति का अ यतम साधन है । ज्ञानश द–निब धना इसी महती भ्रान्ति ने लोकातीत ब्रह्मज्ञान का वह महान् व्यामोहन उत्पन्न कर डाला, जिससे व्यामुग्धा भारतीय–आस्तिक प्रजा आचारात्मक–कर्त्तव्यधर्म्म से सवथा पराङ्मुख बन गई, जिस पराङ्–मुखता के आधार पर ही– कलौ वेदान्तिन सर्वे यह आभाणक प्रक्रान्त होपडा है ।

ज्ञानाभिनिवेश का इससे बडा और क्या प्रमाण होगा कि, निर्विशेष–ब्रह्मात्मवादी–जगन्मिथ्यात्वा–भिमानी याख्याताओं की दृष्टि में म त्रब्राह्मणात्मक सम्पूर्ण वेदशास्त्र का सर्वा त का केवल 'उपनिषद्' भाग ही प्रधान बना रहा, और उसी पर उन व्याख्याताओं की व्याख्या–टीका–टिप्पणी–आदि परम्पराएँ उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित होती रहीं । शेषभूत ऋक्–यजु –साम–अथर्व–भेदभिन्ना सहिताचतुष्टयी, कर्म्म–प्रधान विधिभाग तो प्राय असस्पृष्ट ही प्रमाणित होते रहे, जब कि बिना इन पूर्व–वेदभागों के पारिभाषिक–ज्ञान–विज्ञानात्मक–सम वय के उपनिषत् के एकाक्षर का भी वास्तविक (ज्ञानविज्ञानात्मक) सम वय असम्भव है, जैसा कि खण्डत्रयानुगता उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका, एव ईशोपनिषद्विज्ञानादि–भाष्यों में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है । तथ्यात्मक कारण के सस्मरण प्रसङ्ग से ही हमें प्रकृत में इत्थभूत अप्रिय सत्य की शरणानुगति करनी पड़ रही है ।

मन्त्रब्राह्मणात्मक–वेदशास्त्र का 'विधि' भागरूप 'ब्राह्मणभाग' ही तथ्यात्मक उस सस्मरणीय कारण का मूलाधार है, जिसकी ओर विशेषरूप से हमें अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है । मन्त्रा–त्मक सहितावेद ज्ञातव्यवेद है, जिसकी विश्रामभूमि तत्त्वमीमासा से ही अनुप्राणिता है । दूसरा ब्राह्मणात्मक भाग कर्त्तव्यवेद है, जिसका प्रमुखरूपेण आचारनिष्ठा से ही सम्बन्ध है । कर्म्म, उपासना, ज्ञान, तीनों ही कर्त्तव्याथ हैं मानव के अभ्युदय निश्रेयस् ससाधन के लिए, जिनका क्रमश गृहस्थानुबन्धी–कर्त्तव्य, वान–प्रस्थानुब धी–कर्त्तव्य–एव स यासानुबन्धी–कर्त्तव्य, रूपेण त्रिधा वर्गीकरण हुआ है । ज्ञान–विज्ञाना–त्मक–शिक्षणकाल से अनुप्राणिता प्रथमा पञ्चविंशति से अनुप्राणित प्रथम–ब्रह्मचर्य्याश्रम के अन तर प्रकृतिसिद्धा द्वितीया पञ्चविंशति में मानव का गृहस्थानुब धी–'कर्म्म' नामक प्रथम कर्त्तव्य प्रधानरूपेण अनुष्ठित होता है, और नराधारभूत–दाम्पत्यमूलक–यही वह 'कर्म्माश्रम' है, जिसका प्रधानरूपेण ब्राह्मण के 'विधि' भाग से ही सम्बन्ध माना गया है । बिना इस प्रथम कर्त्तव्य की ससिद्धि के मानव के उत्तराङ्गभूत दोनों कर्त्तव्य (उपासना, और ज्ञान) कथमपि समन्वित नहीं होसकते । अतएव गृहस्थधर्म्म की उपेक्षा कर युवावस्था में, किंवा बालावस्था में ही काल्पनिक वैराग्य की घोषणा कर कपड़े रँग लेना, और अपने आपको 'वीतराग–ब्रह्मनिष्ठ–परहस–परिव्राजकाचार्य्य–सन्यासी'–घोषित कर देना कुछ भी तो अर्थ नहीं रखता । सचमुच इत्थभूत सन्यास से बड़ी आत्मप्रतारणा मानव के लिए और कुछ भी तो नहीं है । ऐसे

स यास ने, एव ऐसे स यास के कर्णधार सन्यासियोंने ही तथ्यात्मक उस महान् कारण को ज म दिया है, जिस सस्मरणीय कारणानुब ध से ही भारतराष्ट्र का गृहस्थाश्रमानुब धी–विधिभागात्मक ब्राह्मणग्र थनिब धन समस्त कर्म्मसो दय्य, एव तद्रूपा आचारनिष्ठा सर्वथैव अभिभूत होगई है, जिस आचाराभिभूति से ही भारतराष्ट्र का सास्कृतिक गौरव स्मृतिगभ में विलीन हुआ है।

आचारात्मक–जीबनीय रसानुब धी–सृष्टिसौ दर्य्य का वैज्ञानिक–स्वरूप विश्लेषक विधिरूप ब्राह्मण भाग, एव ब्राह्मणभागोक्त वैज्ञानिक–पारिभाषिक–तथ्यो का इतिहास–पुरस्सर उपबृ हण करने वाला आख्य सवस्वरूप–'पुराणशास्त्र', ये दो ही विभाग भारतीय विज्ञानकाण्ड के तत्त्वात्मक, एव आचारानुगत ऐतिहासिक प्रक्रमो के प्रमुख आधारस्तम्भ थे, जिनका तथोक्त कल्पितस यास ने, तदनुप्राणिता केवला उपनिषद्भक्ति ने, एव तन्निब धना ज्ञानैककल्पना ने विगत तीन सहस्रवर्षों से सर्वात्मना अभिभव ही कर लिया, जिस अभिभव क कारण ही सामा य प्रजा की कौन कहे भारतीय विद्वान् भी ब्राह्मणग्रन्थों, एव पुराणो के प्रति सर्वथा उदासीन ही बन गए।

और नि स देह यही वह घोरघोरतमा भया न्हा भ्रा ति है, जिस ने वेद के ज्ञानविज्ञान–सम्मत पारिभाषिक–अ तस्तल का सस्पश होन ही नही दिया। सचमुच ब्राह्मणग्र थो की ज्ञानविज्ञानात्मिका–परिभाषाओ के विस्पष्टतम स्वरूप पर दृक्पात–मात्र–करने से ही सहसा हमें वेदाथ के सम्ब ध में सहजरूपेणैव वैसी दृष्टि उपलब्ध होजाती है, जो क्रमसिद्ध–आनुपूर्वी से अनुप्राणित अध्ययन से सभी प्रकार की भ्रा तियो का आमूल चूड़ उत्पाटन ही कर डालती है। इस में तो कोई स देह नही कि, ब्राह्मणग्र थो की रहस्यात्मिका परिभाषाएँ स्वय में ही एक जटिल–समस्या है। और कोइ भी बुद्धिवादी प्रकृति–प्रत्यय–धातूपसर्ग–निपातादि मात्र के बल पर स्वप्न में भी इन परिभाषाओ के सन्निकट नही पहुँच सकता। यही नही, पारिभाषिक–तथ्यो से शू य रह जाने वाले व्यक्ति के लिए तो 'ब्राह्मणसाहित्य' उसी प्रकार केवल असदाख्यान (कल्पित–कथानक) मात्र ही बने रह जाते हैं, जैसा कि 'पुराणशास्त्र' के अष्टविध आख्यानो में एक विभाग–'निदानभावानुबन्धी–असदाख्यान' का माना गया है। वस्तुस्थिति वास्तव में ऐसी ही कुछ है।

"यज्ञ देवताओं से रूठ कर पृथिवी पर आगया। देवताओं के डर से वह काला हरिण बन गया। देवताओंने उस का चर्म्म उखाड़ लिया, जो कि चर्म्म तीनों वेद थे"—"इन्द्र ने वृत्रासुर पर वज्र का प्रहार किया–वह पानी में छुप गया–उस से दर्भ उत्पन्न हुए"–"देवता और असुरों में युद्ध होपड़ा भूपिण्ड पर स्वत्त्वाधिकार स्थापित करने के लिए। दोनों लडते हुओं के मध्य में में गायत्री खड़ी होगई। गायत्री पृथिवी ही तो थी। इय हैव तदन्तरा तस्थौ" इत्यादि रूपेण उपवर्णित वेदशास्त्र के इत्थंभूत आख्यान एकबार तो मानवप्रज्ञा का सर्वात्मना निर्जाड़ित ही बना देते हैं। जबतक इन्द्र वृत्र–मृग–यज्ञ–त्रयीवेद–दर्भ गायत्री पृथिवी आदि शब्दो के पारिभाषिक वैज्ञानिक–अर्थों के साथ हमारी–प्रज्ञा समन्वित नही होजाती, तबतक हम ब्राह्मणों की इस आख्यान भाषामात्र के माध्यम से एकाक्षर का भी समन्वय नही कर सकते, नही ही कर सकते। अपितु बिना पारिभाषिक बोध के तो हम स्वल्पकाल में ही थक कर ब्राह्मणग्र थों के स्वाध्याय से विरत ही होपड़ते हैं। पुराणशास्त्र के स्वाध्याय की उपरति का भी यही कारण है, जिस से कि विद्वानोंने ब्राह्मणग्र थों के स्वाध्याय से विराम ग्रहण कर लिया है। और यो पारिभाषिक तथ्यों से पराङ्मुख बने रह जाने के कारण ही विगत अनेक शताब्दियों से सर्वसामान्य की कौन

कहे, भारतीय मेधावी विद्वान् भी 'ब्राह्मण', और 'पुराण' साहित्य के अध्ययनाध्यापन से पराङ् मुख ही बनते चले आरहे हैं।

ब्राह्मण, और पुराण दोनो की निरूपणीया-शैली में अद्भुत साम्य का अनुगमन प्रतीत होरहा है। दोनो की निरूपणीया शैली 'आख्यानोपाख्यानान्विता इतिवृत्तशैली''-(इतिहासशैली)'' से समन्विता है, जैसाकि 'एतद्ध सौपर्णमाख्यानमाख्यानविद आचक्षते (शतपथब्राह्मणे) इत्यादि से स्पष्ट तमरूपेण प्रमाणित है। एव पुराणशास्त्र की आख्यानशैली से अनुगतता तो सुप्रसिद्धा ही है, जैसाकि निम्न लिखित सुप्रसिद्ध पुराणवचन से ही स्पष्ट है—

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभि कल्पशुद्धिभि ।
पुराणसहिता चक्रे भगवान् बादरायणः ॥
—पुराणेषु

'पुराणसहिता चक्रे वाक्य से अनुगत 'सहिता' श द एक विशेष तथ्य की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है सुप्रसिद्ध है कि, भगवान् वेदव्यासनने सुप्रसिद्ध बदरिकाश्रम में सत्रपूर्वक समाधिस्थ बनते हुए ऋक् यजु साम-अथर्व-नाम की चार तो 'वेदसहिताओं' का सकलन किया, एव पाँचवी-पुराणसहिता' का सकलन किया, जिस के आधार पर तच्छिष्य महाभाग सूत-के द्वारा अष्टादश-पुराणों, एव अष्टादश उपपुराणो का सकलन हुआ, जो पुराणसाहित्य बादरायण की मलदृष्टि से अनुप्राणित होते हुए 'व्यासकृति' रूपेणैव प्रसिद्ध हुए उसी प्रकार जैसे कि भगवान् बादरायण की शब्दरचना से अनुप्राणित भी महाभारतान्तर्गत 'गीताशास्त्र' भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण की मूलदृष्टि से अनुगत होता हुआ 'भगवद्-गीता' नाम से ही प्रसिद्ध होरहा है।

'वेदसहिताओं के सकलन से जहाँ सत्यवती सूनु-'वेदव्यास' नाम से प्रसिद्ध हुए, वहाँ 'पुराण सहिता के सकलन से ये ही भगवान् बादरायण 'पुराणपुरुष' नाम से भी लोक में प्रसिद्ध हुए ।

'सकलन' क्या अर्थ ?, प्रश्न का समाधान भी सर्वथा ऋजुभावापन्न है। तत्त्वात्मक-अपौरुषेय मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के द्रष्टा महर्षियों के द्वारा बुद्धिपूर्विका वाक्य रचना-पूर्वक-सम्पन्न शब्दात्मक म त्र-ब्राह्मणभाग शाखाभेद से तत् तत्-ऋषिवश परम्पराओं में प्रकीर्णकरूपेण विभक्त होरहा था। एवमेव पुराणगाथाएँ भी भिन्न भिन्न ऋषिवशों में विभक्त होरही थीं। भगवान् बादरायणने अपनी लोकोत्तरा प्रतिभा के बल पर प्रचण्ड तपश्चर्य्या के द्वारा उस शब्दात्मिका वेदराशि का, एवं पुराणगाथाराशि का सकलन किया। एव इस 'सकलन' से ही शाखायुक्त-वेदमन्त्रों का सकलितरूप 'वेदसंहिता' नाम से, एव पौराणिक-तथ्यों का शब्दगाथात्मक सकलन 'पुराणसहिता' नाम से लोक में प्रसिद्ध हुआ । और यों-आज से पाँच सहस्र वर्षपूर्व भगवान् बादरायण ने भारतीय सस्कृति की अखण्डा ज्ञानज्योति को इस संकलनरूप तैला-हुति से पुन प्रज्ज्वलित किया, जिस के लिए भारतीय प्रजा यावच्चन्द्रदिवाकरौ इस महापुरुष के प्रति श्रद्धा-ञ्जलियाँ ही अर्पित करतीं रहेगी।

एक प्रासङ्गिक, किन्तु महत्त्व पूर्ण प्रश्न । भगवान् बादरायण ने पहिले-पुराणसंहिता का संकलन किया, अथवा तो पहिले वेदसंहिताओं का ?, इस महत्त्व पूर्ण प्रश्न का जो उत्तर पुराणरहस्य-

वित्, पुराणकथाप्रतिपादक महाभाग सूत ने दिया है वह भी एक अत्य त ही महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है, जिस उत्तर का अविकलरूप है—

पुराण सर्वशास्त्राणां प्रथम ब्रह्मणा स्मृतम्
अनन्तर च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गता ॥
—पुराणेषु

वचनाक्षरार्थ-यही है कि भगवान् चतुर्म्मुख ब्रह्माने सम्पूर्ण शास्त्रों से पहिले 'पुराण-शास्त्र का ही स्मरण किया है। अर्थात् उनके मुखपङ्कज से सर्वप्रथम पुराणशास्त्र ही अभिव्यक्त हुआ है। पुराणशास्त्र की प्राथमिकी अभिव्यक्ति के अनन्तर ही ब्रह्मा की मुखचतुष्टयी से वेदशास्त्र का विनिर्गमन हुआ है।"

वेद, और पुराण के स्रष्टा चतुर्म्मुख ब्रह्मा माने गए है,–पुराणशास्त्र की मा यता के अनुसार, जो कि मा यता वैदिक-तत्त्ववाद से सर्वथा अभिन्ना बनी हुई है। "ब्रह्माने पहिले पुराण बनाए, अनन्तर वेद' यही उक्त पुराणवचन का फलितार्थ है, जिस पर सम्भवत कोइ भी वेदभक्त विद्वान् सहसा इस लिए आस्था नही करेगा कि उस वेदभक्त की मा यता में 'वेद ही ब्रह्मा की प्रथमा कृति है, एव वेदशास्त्र पुराणो से कही प्राचीनतम शास्त्र है। वेदभक्तो की इत्थभूता मा यता का भी समादर ही किया जायगा महाभाग सूत के द्वारा उपनिबद्ध अष्टादश-पुराणों, तथा अष्टादश-उपपुराणो की दृष्टि से भी, एव पुराणपुरुष भगवान् यासदेव के द्वारा सकलिता 'पुराणसहिता' की अपेक्षा से भी, जो कि व्यासदेव के द्वारा सकलिता 'पुराणसहिता' अन्या य वेदशाखा-सहिताओ की भाँति भारतीय-आर्षप्रजा के दुर्भाग्य से आज अनुपलब्धा है। क्योकि सकलिता-पुराणसहिता, एवं तदाधारेण उपनिबद्ध अष्टादशपुराणोपपुराणो का सक्लन, तथा निर्म्माण अवश्य ही शब्दात्मक वेदशास्त्र के अनन्तर ही हुआ है। और इसी स्थूलदृष्टि से वेदो का पूर्वभावित्व, तथा पुराणों का उत्तर भावित्व भी मान्य मान लिया जासकता है। किन्तु ? ।

'किन्तु' का प्रयोग इसलिए करना पड़ रहा है कि, पुराणशास्त्र ने जिस 'पुराण' का भगवन् ब्रह्मा के मुख से वेदों से भी पहिले उद्गम बतलाया है, उस 'पुराण' का सृष्टिरहस्य के प्रतिपादक, सङ्केतभाषामय-परम्परासिद्ध-ज्ञानविज्ञानात्मक उन चिरन्तत-आख्यानोपाख्यानों के साथ ही सम्बन्ध है, जिन का स्वय वेद-शास्त्र 'एतद्ध सौपर्णमाख्यानमाख्यानविद आचक्षते इत्यादिरूप से बड़े गौरव से सस्मरण कहता आरहा है। आख्यानविदों की परम्परा में अनादिकाल से चले आने वाले इन सृष्टीतिवृत्तों-आख्यानोपाख्यानों-को मूलसूत्र मानकर ही शब्दात्मक-वेदशास्त्र का आविर्भाव हुआ है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा। इसी वस्तुतथ्य के आधार पर असदिग्धरूपेण यह मान लिया जासकता है कि-'पुरा नव भवति-इति-पुराणम्' (जो आरम्भ में नवीन था, वही 'पुरा-नव' रूपेण-'पुराणम्' कहलाया) इत्यादि नि चिन से अनुप्राणित परम्परया आख्यानोपाख्यानरूपेण श्रुतोपश्रुतित, वेदशास्त्र, एवं पुराणसहिता, तथा अष्टादशपुराणों का मूलाधार-स्तम्भरूप "पुराण" सचमुच ही तो वेदशास्त्र से भी पूर्व ही विनिर्गत है भगवान् ब्रह्मा के मुखपङ्कज से।

इदमत्रावधेय विशेषरूपेण। लोकप्रवृत्तियों में हम देखते हैं कि, जो भी लोकविद्वान् अपने चिरन्तन-अध्यवसाय-श्रम-परिश्रम से जिस विषय में जो भी नवीन अन्वेषण, किंवा नवीन आविष्कार करता है, उस के

उस अ वेषण किंवा आविष्कार की लोकसाधारण में स्वत ही एक 'कहानी' बन जाया करती है, जिस का सुसंस्कृतरूप है– कथा । लोकसंस्कृत में जो 'कथा' कहलाइ है, छ दोऽभ्यस्ता नाम की वेदभाषा में वही 'गाथा नाम से प्रसिद्ध है। वैदिकी गाथा, लौकिकी कथा, एव सामा यजनानुबन्धिनी 'कहानी' तीनों अभिन्नार्थक मान लिए जासकते हैं, क्योंकि तीनो का आविर्भावात्मक मूलधरातल अधिकांश में समतुलित ही है। राजस्थान का अमुक नगविशेष अमुक–विशेष तारों से समन्वित– सारङ्गी' समतुलित–वाद्ययन्त्र के आधार पर राजस्थान के लोकेतिवृत्तो के द्वारा ग्रामीण जनता का मनोऽनुरञ्जन किया करता है, जो आज के स्वत त्र भारत के स्वत त्र–सत्ताधीशो की दृष्टि में भारत की 'लोकसंस्कृति का आसन ग्रहण किए हुए हैं। तथाकथित वादकवृन्द ध्रुव–प्रल्हाद–मीरा–आदि के ऐतिहासिक चरित्रो का–सत्यवचनसंरक्षक–महाभाग तेजाजी के पावनचरित्र का, अपने उदारदान से असमर्था के प्रति–आत्मसमर्पण में सुप्रसिद्ध सर्वश्री डूँगजी–जवाँहरजी, एवमेव अ यान भी लोकप्रसिद्ध चरित्रो का तद्वाद्यय त्र के द्वारा श्रोतृवर्ग का अनुरञ्जन करते रहते हैं। गा गा कर सुनाए जाने वाले इत्थभूत ऐतिहासिक चरित्र भी एकप्रकार की–'लौकिकी गाथाएँ' ही मानी जायँगी। स्वय–वैदिकयुग में भी सुप्रसिद्ध–शास्त्रीय वाद्ययन्त्र– वीणा' के माध्यम से अमुक यज्ञ–कर्म–विशेषों में इसप्रकार की सृष्टिचरित्रात्मिका इतिवृत्तरूपा यशोगाथाओ के गान का समावेश था, जैसाकि– वीणागाथिनो गायन्ति इत्यादि से स्पष्ट है। सुप्रसिद्ध 'राजसूय' यज्ञ में तो राजसूययज्ञानुष्ठानकर्त्ता के राजमन्दिर में प्रतिष्ठित दो श्रेष्ठतम वीणावादक ब्राह्मणों के द्वारा एकवर्ष पर्य्य त तथाविधा यशोगाथाओं का विधान हुआ है। निवेदन–निष्कर्ष यही है कि, गाथारूप–कथा–कहानी की परम्परा अनादि है, और इन गाथा कथा कहानीरूप अनादि उन चरित्रों आख्यानोपाख्यानों का नाम ही है 'पुराण, जिनके आधार पर ही शास्त्रीय, एव लौकिक, सभी प्रकार के तथ्य समय समय पर आविर्भूत तिरोभूत होते रहते हैं। अतएव इत्थभूत चिरन्तन पुराण' को अवश्यमेव 'प्रथमशास्त्र' माना जासकता है। और एकमात्र इसी सहज तथ्य के आधार पर 'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्' इत्यादि पूर्वोक्त वचन समन्वित हुआ है। जिसप्रकार भगवन् बादरायण ने तत्तद् ऋषिवंशों में प्रतिष्ठित प्रकीर्णभावापन्न वेदों के सकलन से 'वेदसंहिता' का स्वरूप–समन्वित किया था, तथैव लोकप्रसिद्ध–वेदशास्त्रमूलक–परम्परया श्रुतोपश्रुत 'गाथा'–'कथा' रूप सृष्टीतिवृत्तात्मक मूलसूत्रो का भी सकलन किया, और वही सकलन 'पुराणसंहिता नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिस के आधार पर महाभाग सूतने अष्टादश–पुराणोपपुराणों का विस्तार किया।

'पुराण प्रसङ्गत वेद, और पुराण से अनुप्राणित पौर्वापर्य्य का दिग्दर्शन कराना पड़ा, जिससे प्रकृत में यही निवेदनीय है कि, आख्यानोपाख्यानरूपा गाथा कथाओं के रूप में परम्परया व्यवस्थित सृष्टिविज्ञानेतिवृत्तात्मक–वेदतोऽपि पूर्वभावी जिस पुराण के आधार पर ऋषिप्रज्ञा के द्वारा वेदमन्त्र उपनिबद्ध हुए हैं, उन वेदमन्त्रों के व्याख्याभूत 'विधि' नामक वेद के ब्राह्मणभाग में (शतपथ ऐतरय-तैत्तिरीय-गोपथ जैमिनी शाङ्खायन आदि सुप्रसिद्ध ब्राह्मणग्रन्थों मे) वेदपूर्वभावी गाथाकथात्मक पुराण की आख्यानोपाख्यानप्रधाना पारिभाषिकी शैली का ही अनुगमन हुआ है। अर्थात् म त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के ब्राह्मणगत 'विधि भाग में प्रमुखरूपेण ऋषियोंने वेदाधारभूत पुराण की आख्यानोपाख्यानशैली को ही प्रधानता दी है। और आगे चलकर व्यासकृता वेदोत्तरभाविनी व्यासकृता पुराणसंहिता में, तथा तदनुगत पुराणोप पुराणों में भी इसी आख्यानोपाख्यानशैली का विस्तार से उपबृंहण हुआ है। इस साम्य का यही

निष्कर्ष है कि, ब्राह्मणग्रन्थो के पारिभाषिक आख्यानोपाख्यानो, तथा पुराणो के आख्यानोपाख्यानो का तत्त्वात्मक–पारिभाषिक–समन्वयबोध जबतक नही प्राप्त कर लिया जाता, तबतक न तो मूलसंहिताओ के मन्त्रो से अनुप्राणित **विज्ञान–स्तुति–इतिहास** रूपा ज्ञातृत्रयी का ही समन्वय सम्भव, एव न **विधि–आरण्यक–उपनिषत्**–द्वारा प्रतिपादिता **कर्म्म–उपास्ति–ज्ञान**–त्रयी–रूपा कर्तृत्रयी का ही स्वरूप–समन्वय सम्भव। तात्पर्य्य–**ब्राह्मणग्रन्थो** के, और पुराणशास्त्र के पारिभाषिक रहस्यात्मक नैगमिक समन्वय के बिना शेषभूत ज्ञातव्य कर्त्तव्य भावापन्न वेदशास्त्र का, एव तदनु स्वय ब्राह्मणग्रन्थो, एव पुराणो का भी एकाक्षर भी तो गतार्थ नही बन सकता, कदापि नही बन सकता।

ब्राह्मणग्रन्थो की रहस्यपूर्णा परिभाषाओ के स्वरूपविश्लेषक *गाथा* '**निगद कुम्ब्या निवित्** आदि नामक अवश्य ही स्वतन्त्र पारिभाषिक-ग्रन्थ रहे होगे, जिनके कि मूल ब्राह्मणग्रन्थो में यत्र तत्र उपलब्ध हो रहे है। एवमेव भगवान् व्यासदेव के द्वारा सकलिता–'**पुराणसंहिता**' मे पुराणशास्त्र के **सृष्टि–प्रतिसृष्टि–वंश–वंशानुचरित–गाथा–कल्पशुद्धि–सिद्धान्त–संहिता–डामर जामल तन्त्र ज्योतिष्चक्र (खगोल) भुवनकोश (भूगोल) दुर्गार्गल आख्यान उपाख्यान आयती आयतन** नामक सुप्रसिद्ध पुराणोक्त अठारह तात्त्विक विषयो की परिभाषाओ का भी अवश्यमेव स्पष्टीकरण हुआ होगा। किन्तु दुर्भाग्यवश वैदिकी परिभाषाओ के विश्लेषक **गाथा कुम्ब्या निगद्**–आदि–ग्रन्थो की भांति पुराणपरिभाषाओ का विश्लेषक '**पुराणसंहिता**' नामक ग्रन्थ भी आज अनुपलब्ध है। अतएव **ब्राह्मणसाहित्य,** और **पुराणसाहित्य,** दोनो ही महत्त्वपूर्ण साहित्य अनेक शताब्दियो से अपने अत्यन्त–रहस्यपूर्ण–पारिभाषिक वैज्ञानिक परम्परासिद्ध तात्त्विक अर्थसमन्वय से पराङ्मुख ही प्रमाणित होते आरहे है, जिस इस पराङ्मुखता का ही यह भीषण परिणाम है कि—भारतीय–विद्वत्समाज अनेक शताब्दियो से ब्राह्मणो एव पुराणो के तात्त्विक–अध्ययनाध्यापन से अधिकांश में तटस्थ बनता हुआ साम्प्रदायिक मनोऽनुगता काल्पनिक व्याख्याग्रन्थों को ही '**प्रमुख शास्त्र**' मान बैठने की महती भ्रान्ति करता हुआ अपने वेद पुराण सिद्ध गरिमामहिमामय सांस्कृतिक महान् कोश की तत्त्वमीमांसा से, तथा तदनुगता आचारनिष्ठा से विगत तीन सहस्राब्दियो से वञ्चित ही होता आरहा है और यही भारतराष्ट्र के आत्मिक बौद्धिक मानसिक तथा शारीरिक पारतन्त्र्य का प्रमुख कारण है, जो भयावह घोरघोरतम कारण दुर्भाग्यवश आज तो काल्पनिकी '**धर्म्मनिरपेक्षता**' के द्वारा और भी अधिक भयावह प्रमाणित होगया है।

सैषा स्थिति। साम्प्रत स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया। प्रत्यक्ष में पारिभाषिक–तत्त्वबोध का कोई ऋजुसूत्र हमें उपलब्ध नही होरहा। ऐसी विषमा–अवस्था में ब्राह्मण, और पुराणों के आख्यानोपाख्यानों से सम्बन्ध रखने वाली रहस्यपूर्णा–ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं के स्वरूपबोध का क्या उपाय ?, जब यह महान् प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, तो वेदग्रन्थिविमन्थनपटु–परिभाषातत्त्वाविष्कारक आचार्य्यचरण श्रद्धेय पूज्य श्रीओझाजी महामहाराज का यही '**उद्बोधनसूत्र**' दृष्टि के सम्मुख अभिव्यक्त होपड़ता है कि, "**वेद की पारिभाषिकी गहनाटवी में प्रवेश करने के लिए हमें–'आर्य्यसर्वस्व' रूप महान् आलोक को ही माध्यम बनाना पड़ेगा**" *। आर्य्यजाति का सांस्कृतिक महान् गौरव जिस पुराणशास्त्र में बोधगम्या

---

* विगत तीन सहस्राब्दियों के अनन्तर अपनी आयु के चालीस वर्षों के गुहानिहित अजस्र-तपोमय महान् सत्र से विलुप्तप्राया वैज्ञानिकी परिभाषाओं के आविष्कारक वेदसमुद्र पूज्यचरण आचार्य्यप्रवर (पू० श्रद्धेय श्रीमधुसूदनजी महाराज मैथिल) ने पुराणो को—'**आर्य्यसर्वस्व**' अभिधा से ही समन्वित किया है।

प्राञ्जलभाषा में सकलित हुआ है, वह पुराणशास्त्र पूज्य आचार्य्यचरण की दृष्टि में "आर्य्यों का सर्वस्व' ही बना हुआ है। एव अध्यापनकाल में पुन पुन आप पुराणस्वाध्याय पर ही विशेष बल देते रहते थे।

'उद्बोधनसूत्र कोई नवीनतम सूत्र नही है। स्वय मा य विद्वान् भी शास्त्रचर्चा-प्रसङ्गावसरों पर साभिमान अनुदिन-"इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपबृ हयेत्' की तुमुल घोषणा करते सुने गए हैं। कि तु जहातक 'पुराणशास्त्र के अध्ययनाध्यापन का सम्ब ध है, वहातक तो विद्वानों की यह तुमल-घोषणा सर्वथा-यातयामा ही बनी हुई है। विगत शताब्दियों मे तत् तत् सत्तात त्र विशेषों के अनुरञ्जन के लिए विनिर्मित का य नाटक चम्पु प्रशस्ति कविता आदि से काल्पालीकृत मनोऽनुगत काल्पनिक साम्राज्य में विचरण करते रहने को ही विद्वत्ता की चरम सीमा मान बैठने वाले हमारे देश के तथाकथित मूर्द्ध य विद्वानों की दृष्टि में 'पुराणशास्त्र' तो एक सवथा उपेक्षणीय शास्त्र ही बना हुआ है। यही नही, पुराणकथानुगति से अनुप्राणित — पुराणपाठक तो इनके लिए सवथा आलप्यालम्। अलमति पल्लवितेन-आपातरमणीय प्रवाद-प्रसङ्गेन।

हमारी तो अपनी ऐसी आत्मनिष्ठा है कि, पुराणशास्त्र के पारिभाषिक स्वाध्याय के बिना ब्राह्मणसाहित्य का पारिभाषिक-तत्त्वार्थबोध सर्वथा ही असम्भव है, एव ब्राह्मणभाग की परिभाषाओं के बिना उस ओर की म त्रसंहिताओ का तथा इस ओर के आरण्यकोपनिषद् भाग का तत्त्वात्मक पारिभाषिक-सम वय भी असम्भव ही है। यों परम्परया वेदार्थसम वय में प्रथम पुराणशास्त्र, तदनन्तर वेद का ही ब्राह्मणभाग, ये दो ही प्रमुख आधारस्तम्भ बने हुए हैं, जिन दोनो को ही अपनी स्वाध्याय परम्परा से पराङ्मुख कर देने वाले देश के मूर्द्ध य विद्वान् भी राष्ट्र के मौलिक साहित्य-वेदशास्त्र के ज्ञानविज्ञानात्मक-अभ्युदय-नि श्रेयस्-संसाधक-महतोमहीयान उदर्क से एका तत वञ्चित ही बने रह गए है।

क्या पुराणोक्त आख्यान उपाख्यानों से सम्ब ध रखने वाले विचित्रतम प्रत्यक्षदृष्ट्या असम्भवतम प्रतीत होने वाले कथोपकथनों से अनुप्राणित परिभाषाओं का पुराणवाचनमात्र से सम वय होजायगा ?, यही वह जटिलतम प्रश्न है, जिसे हमने उपयोगितापादानुत्र भी बुद्धिवादात्मक महान् बुद्धिव्यामोहन से आज उस सीमापर्य्यन्त भयानक प्रश्न बना लिया है, जिसका ढूँढे से भी कोई समाधान हमें उपलब्ध नहीं होरहा।

इसी तथाकथिक प्रश्न से सम्ब ध रखने वाली एक रहस्यपूर्ण समाधान परम्परा का भगवान् वेदपुरुष के स्वयं के मुख से ही निम्नलिखित सस्मरण कर लेना प्रासङ्गिक मान रहे हैं कि—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच, उतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्व विसस्रे जायेव पत्ये-उशती सुवासा ॥

—ऋकसंहिता १०।७१।४।

म त्राक्षरार्थ स्पष्टतम है, जिसका निष्कर्ष यही है कि, कुछ एक अध्ययनशील महाभाग तो इस श्रेणि को समलङ्कृत कर रहे है कि, म त्रार्थ पर दृष्टि रखते हुए भी वो इस दृष्टि से वञ्चित ही बने रह जाते हैं।

—शास्त्रैर्विहीनाश्च-पुराणपाठका

कितने एक महानुभाव सुनते हुए भी वाग्देवी के स्वरूप–श्रवण से पराङ्मुख ही प्रमाणित होते रहते है। और कुछ एक वैसे भी आत्मनिष्ठ सहज आर्षमानव श्रेष्ठ है, जिनके लिए स्वय वाग्देवी अपने बाह्य–आभ्य तर–सम्पूर्ण–स्वरूप को स्वत ही उसी प्रकार अभि यक्त कर देती है, जैसे कि पतिपरायणा सहधर्म्म–चारिणी गृहिणी अपने पति के लिए सवथा अभि यक्ता बनी रहती है।

परिभाषाओ का स्वरूपबोध क्या देखने–सुनने–मात्र से सम्भव है ?, प्रश्न का तथाकथित श्रौत समाधान से अतिरिक्त और क्या समाधान होगा ?। अहर्निश वेद–पुराण–के अक्षरो पर दृष्टिपात किए रहने मात्र से, किंवा अहर्निश पुण्यपाठ–श्रवणमात्र से कदापि तबतक इस शब्दब्रह्म के पारिभाषिक–तथ्यो की अभि यक्ति सम्भव ही नही है जबतक कि हम अपने वैय्यक्तिक–बुद्धिवाद के माध्यम से, सहजभाषा में बुद्धि प्रतिभा–मेधा लगन के बलातिमान से इस ओर प्रवृत्त रहते है। अवश्य ही बुद्धिवादात्मिका मेधा हमें वाचाल बना देगी, तकपटु प्रमाणित कर देगी, लोकसमाज में हमे धुर धर विद्वान् भी प्रमाणित करा देगी। कि तु इन सब आडम्बरो के सफल होजाने पर भी बुद्धिवादात्मक दावानल से सर्वात्मना झुलस जाने वाला श्रद्धारस सर्वथैव अभिभूत होजायगा, जिसके बिना स्वय की परितृप्ति–तुष्टि कदापि सम्भव नही है। श्रद्धाविहीन ऐसे शुष्कतम–बुद्धिवादात्मक–पाण्डित्य–का ही नाम है–'व्यक्तित्वविमोहन जिसका प्रमुख आधारस्तम्भ मानी गई है—'**दिग्देशकाल निबन्धना लौकैषणा, लोकख्याति**, जिसका सीधासा अथ यही है कि, "**हम अपने आप में भले ही करुण चीत्कार ही करते रहे अपनी रिक्तता के कारण, किन्तु लोक समाज में हमारा अमुक स्थान प्रतिष्ठित होजाय**'।

वित्तैषणागर्भिता इत्थभूता सर्वनाशकारिणी लोकैषणा से ही हमारे बौद्धिक क्षेत्र में अतिमानात्मक वह बुद्धिवाद अभि यक्त होपडता है, जिसके कारण हमारी बुद्धि दिग्देशकालातीत–अन त–आत्मा से अनुप्राणित स्वात्मबोध से पृथक रहती हुइ दिग्देशकालनिबन्धन–सामयिक–तात्कालिक–उन्नतिमूलक–'**उपयोगितावाद** की घोरघोरतमा म त्रणा से पीडित होजाती है जिस उपयोगितावादात्मक–कारणतावाद से ही हमारी बुद्धि स्वस्वरूप से विमुग्धा बनती हुइ '**उतो त्वस्मै त न विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासा** रूप महान् अनुग्रह से सर्वथैव वञ्चित रह जाती है।

और हम अब पूव के अमुक तथ्यो को गौण–मानते हुए इसी तथ्य पर आते हैं कि, अमुक सीमा–पर्य्यन्त पुराणसाहित्य, तथा ब्राह्मणसाहित्य की परिभाषाओ से अपरिचित रह जाने का प्रमुख कारण दिग्देश–कालानुब धी–कारणतावाद के आकषण से अनुप्राणित बुद्धिवादात्मक स्वस्वरूप का व्यामोहनात्मक वह अतिमान ही है, जिसके कारण राष्ट्र की प्रचण्ड–मेधाएँ भी वेदशास्त्र की ज्ञान–विज्ञानात्मिका परिभाषाओ के सम्पर्क से पराङ्मुख बनी रह गई। '**वय वेदज्ञाः**'–'**वय पुराणाचार्य्याः**'–'**वय शास्त्रमर्म्मज्ञाः**' रूप व्यक्तित्वविमोहन ने ही राष्ट्र की मूर्द्धन्या भी प्रज्ञाओ को तत्त्वाथ के सम्पर्क में नही आने दिया। क्योंकि सभी की अपनी अपनी स्वतन्त्र–व्यक्तित्वमूला मा यताएँ हैं। अपनी मा यता बना कर उसके आधार पर मा य विद्वान् वेदार्थ समन्वय में प्रवृत्त होते है। सहजभाषानुसार हमने वेदाक्षरों के ऋजुभावापन्न समन्वय की उपेक्षा कर उसके द्वारा अपनी मा यताओं का समर्था वेषण आरम्भ कर दिया। और यों सहज ऋषि की ऋजुप्रज्ञा से सहजरूपेणैव स्वत एव विनिर्गता वेदवाणी को हमने बुद्धिवादात्मक दिग्देशकाल के उस पलडे पर तौल डाला, जिस लौकिकी तराजू में बुद्धिवाद के द्वारा लोकानुबन्धी–भूत–भौतिक–दिग्देशकालात्मक–पदार्थों

का ही तुलन हुआ करता है। इसी महती भ्रान्ति से वेद का ऋजुभावापन्न पारिभाषिक-अर्थ हम से उत्तरोत्तर विदूर ही होता गया। और इसी भ्रान्तिपरम्परा के कारण उस दूरत्व ने कालान्तर में इस महान् शास्त्र को 'दिग्देशकालानुबन्धिनी उपयोगिता कारणता के माध्यम-से सर्वथा उपेक्षणीय ही प्रमाणित कर दिया, जैसाकि कुछ ही समय पूर्व राजस्थान के ही एक उच्चपद पर समासीन (स्वयं किसी युग के प्राच्य-संस्कृतिभक्त) एक महानुभाव ने प्रस्तुत वैदिक-साहित्य के-परोरजा-स्वयम्भू-इन्द्र-वरुण-आदि पारिभाषिक-तथ्यों को कर्णाकर्णिपरम्परया सुन कर अपने इत्थंभूत महान् ? उद्गार प्रकट किए थे, कि "आज के युग में इन तथ्यों का क्या उपयोग ?, वर्त्तमान के जनजीवन में इनकी क्या उपयोगिता'।

बुद्धिवादात्मक तथाकथित व्यक्तित्वविमोहन ही एकमात्र वह महान् प्रतिबन्धक है, जिसके अनुबन्ध में हम वेदाक्षरों को देखते हुए भी नहीं देखते, सुनते हुए भी नहीं सुनते। अपितु सबकुछ देख सुन कर भी हम तद्वस्तुतथ्य से पराङ्मुख ही बने रह जाते हैं जब कि बुद्धिवादात्मक अतिमानात्मक-विमोहन में असंस्पृष्ट रहने वाले ऋजुप्रज्ञ सहज मानवों के लिए वे ही वेदाक्षर स्वयं ही अपना पारिभाषिक-तथ्य अभिव्यक्त कर दिया करते हैं, एवं 'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्' इत्यादि पूर्वमन्त्र के द्वारा इसी तथ्य का स्पष्टीकरण हुआ है।

लौकैषणानुगत-यशोनामख्याति लालसा से समाप्लुत-दिग्देशकालानुबन्धी-उन्नतिमूलक-कारणतावाद के प्रति प्रतिक्षण आकर्षित-बुद्धिवादात्मक व्यक्तित्व विमोहन का परित्याग ही वेद पुराणादि आर्षशास्त्रों के गुहानिहित रहस्यात्मक पारिभाषिक ज्ञानविज्ञानभावों के बोध का एकमात्र कारण है, जिसका निष्कर्षार्थ यही है-'निष्कारणबुद्ध्या शास्त्र-स्वाध्यायानुगति'। क्या तथ्य, किंवा क्या तात्पर्य्य है इस निष्कारणता का, जिसे हम अत्र स्वाध्यायनिष्ठा में अन्यतम कारण मान रहे हैं ?, प्रश्न का शतपथब्राह्मण के पूर्व प्रकाशित प्रथम-खण्ड-की भूमिका में-'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदो ध्येयो ज्ञेयश्च' रूप महान् सूत्र की मीमांसा करते हुए विशद समाधान किया जाचुका है। अतएव अत्र तत्पिष्टपेषण अनावश्यक है। सन्दर्भसङ्गतिमात्र के लिए अत्र इस सम्बन्ध में यही स्पष्टीकरण पर्य्याप्त होगा कि—

मानव का बुद्धिसहकृत प्रज्ञान मन जब दिग्देशकालानुबन्धी किसी व्यक्त कारण की चर्व्वणा में तल्लीन होजाता है, तो बुद्धि, और मन की चिन्तन-मनन-शक्तियाँ विकीर्ण होजाती हैं। सहजभाषा में बुद्धि का चिन्तनधर्म्म, एवं मन का मननधर्म्म, दोनों स्वाध्याय में अनन्य न रह कर कारणरूप फल के प्रति विभक्त होजाते हैं। एकतानता का उच्छेद होजाता है, एवं लक्ष्यीभूत स्वाध्याय से अनुगत वह पारिभाषिक तथ्य परोक्ष ही बना रह जाता है चिन्तन-मनन की एकतानता के अभाव में। निष्कारणबुद्धि से ही मानव में ऐकान्तिकी गुहानिहितवृत्ति का उदय होता है। और इत्थंभूता गुहानिहितवृत्ति क्योंकि समाज-लोक-बाह्य भावों में सहजरूपेणैव उदासीनवत् बने रहने वाले आत्मयाजी नैष्ठिक-ब्राह्मण से ही समन्वित मानी गई है। अतएव सर्वथैव निष्कारणभावानुगत ब्राह्मण, एवं सर्वश्री राजन्यबन्धु (क्षत्रिय), तथा भलन्दनवंशज वैश्यमहाभाग, वेदस्वाध्यायाधिकारी इन तीनों त्रैवर्णिकों में से तथाभूता निष्कारणता में सर्वात्मना सफल 'गुहानिहित' ब्राह्मण ही बन सकता है। क्योंकि क्षत्रिय अपने 'सौर्य्यमारुतिकधर्म्म' से, तथा वैश्यबन्धु अपने 'जातातपिकधर्म्म' से दिग्देशकालानुबन्धी-कारणता समन्वित-लोकबाह्य जीवन से सर्वथैव निष्कारण

प्रमाणित नहीं होसकता। अतएव ऋषिप्रज्ञाने एकमात्र गुहानिहित ब्राह्मण के लिए ही निष्कारणतानुबन्धी प्रचण्डतम आदेश विहित माना है, जैसाकि **ब्राह्मणेन निष्कारण षडङ्ग०** इत्यादि पूर्वोक्त आदेशवचन से स्पष्ट है।

क्योंकि 'ब्राह्मणमानव ही **मनोऽनुग 'काम** एवं **शरीरानुगत 'अर्थ** इन दोनों प्राकृत-दिग्देश-कालानुबन्धी-बाह्य-पर्वों से सम्बन्ध रखने वाली लोक-समाजानुगता कारणताओं के प्रति (अपने आत्मबुद्धि-निबन्धन आभ्यन्तरधर्म्म से) तटस्थ-निरपेक्ष बना रहता हुआ मानसिक तथा शारीरिक-उत्पीडनरूपा-ऐहलौकिकी क्लेशपरम्परा का अभिनन्दन समादर करता हुआ गुहानिहितवृत्त्या स्वाध्यायनिष्ठा में निष्कारण-बुद्धया सत्यरूपेण प्रतिष्ठित बना रह सकता है, और यही ब्राह्मण की स्वरूप-परिभाषा मानी है पुराणपुरुष भगवान् बादरायण ने *। जो ब्राह्मण मन शरीरानुबन्धी लोकानुगत समाज-सापेक्ष-लौकैषणाप्रवद्धक-अपने 'बाह्य व्यक्तित्व' को विस्मृत कर दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म की अनन्तनिष्ठा के माध्यम से गुहनिहितवृत्त्या जरामर्य्यसत्त्रवत् स्वाध्यायनिष्ठ नहीं बना रहसकता, कदापि वह 'ब्राह्मणत्त्व' को अन्वर्थ नहीं बना सकता। एवं ऐसे ब्राह्मणब्रुवरूप ब्राह्मणबन्धु से कदापि निष्कारणबुद्धया स्वाध्याय-प्रक्रान्ति सुरक्षित नहीं रह सकती। अपितु ऐसा लोक समाज लिप्त ब्राह्मण तो राजबन्धु वैश्यबन्धु महानुभावों की श्रेणि में आता हुआ बुद्धिवादात्मक उस व्यक्तित्वविमोहन का ही मत्पात्र बना रह जाता है, जिस बुद्धिवादात्मक-विमोहन की प्रत्येक मान्यता 'कारणता' को गर्भ में प्रतिष्ठित करके ही प्रवृत्त हुआ करती है, और जो कारणता लक्ष्य से परा परावता प्रमाणित होती हुई कारणता' पर ही परिसमाप्त होती रहती है मानव के दिग्देशकालानुबन्धी मन शरीरानुगत-कामार्थप्रधान-प्राकृत-जीवन की क्षणिक-मृत्यु के साथ साथ ही।

निरतिशय परिताप के साथ हमें इस नग्न सत्य का आज स्पष्टीकरण करना ही पड रहा है कि, विगत भुक्त प्रक्रान्त-अनेक शताब्दियों से भारतराष्ट्र की ब्राह्मणप्रज्ञा भी इतर वर्णों की भांति दिग्देशकालानुगता-कारणता की, तन्निबन्धना 'उपयोगिता' की, एवं तदनुप्राणिता सामयिकी 'उन्नति' की चर्वणा से चर्व्वितान्त करणा-बनी रहती हुई बुद्धिवादात्मक-मन शरीरानुगत कामार्थमय-उस व्यक्तित्वविमोहन की अनुगामिनी ही प्रमाणित होती आरही है, जिस विमोहन ने ही उन शताब्दियों में इस 'भूसुरश्रेष्ठ' को वेद पुराणादि आर्ष ज्ञानविज्ञानात्मक-गुहानिहित पारिभाषिक तथ्य के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध नहीं स्थापित करने दिया। अपितु ठीक इस के विरीत विगत शताब्दियों में इस विद्वान् भी, मेधावी भी, शब्दशास्त्रपारङ्गत भी ब्राह्मण ने-दिग् देशकालानुबन्धी-सत्ता समाज-लोक सापेक्ष तात्कालिक-लाभों के आकर्षणों से आकर्षितमना बनते हुए उसी प्रकर उन परभावों के तात्कालिक समर्थन अनुरञ्जन-प्रचार-प्रसार-आदि बाह्यभावों में ही अपने को समर्पित कर दिया, जैसे कि आज भी राष्ट्र के तथाकथित कतिपय सास्कृतिक-विद्वान् वर्त्तमान सत्तातन्त्र-समाजतन्त्र के तात्कालिक अनुरञ्जन के लिए शब्दानुकरण सादृश्यमात्र से अपने प्रचण्ड तर्क से समन्वित बुद्धिवाद के बल पर आज की यातयामा तात्कालिकी मान्यताओं को भी वेदादि शास्त्रों के द्वारा प्रमाणित करते

***-ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न कामार्थाय जायते।**
इह क्लेशाय, तपसे, प्रेत्यत्वनुपम सुखम् ॥
—महाभारते शान्तिपर्वणि ३२१ अध्याये

हुए अपनी लोकख्याति मला 'उन्नति के पथ में सोल्लास समारुढ है, इति नु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! महती विडम्बना !!!

उक्त अप्रासङ्गिक, नहि नहि सर्वथैव न केवल प्रासङ्गिक ही, अपितु वेदस्वाध्याय धरातले अनिवार्य्य रूपेण आवश्यकतम ही तथोक्त स दभ के आधार पर राष्ट्र के श्रद्धेय भूसुरवृ द से प्रणतिपुरस्सर हमें दो शब्दों मे यही नम्र आवेदन कर देना है कि वही वेदशास्त्र है, वही पुराणशास्त्र है, और ऋषिप्रज्ञानुप्राणिता वही है आप की प्रज्ञा। केवल व्यक्तित्वविमोहनरूप महान् प्रतिबन्धक के कारण ही ब्राह्मणप्रज्ञा वेद पुराण के ज्ञान विज्ञानात्मक पारिभाषिक सम वय से परा परावृता प्रमाणित होरही है। जबतक विद्वान् ब्राह्मणो का कारणता नुब धी उपयोगितावादात्मक मन शरीरनिब धन तथाभूत बुद्धिवादात्मक व्यक्तित्वविमोहन स्मृतिगर्भ में विलीन नही होजाता, जबतक लोक समाजानुब धी बाह्य भावो से सर्वात्मना अपने आप को उदासीनवदासीन वत् बनाते हुए ऐकान्तिकी गुहानिहितवृत्या से अपनी जीवनपद्धति को समन्वित नही कर लिया जाता, तबतक अन्यान्य प्रयत्न सहस्रो से भी वेदपुराणशास्त्र की ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओ की अभिव्यक्ति का तो अनुग्रह कदापि प्राप्त नही होसकता। और वैसी अवस्था, किंवा दुरवस्था मे न तो ब्राह्मणप्रज्ञा तत्त्वानुगता ही बन सकती, न आर्षनिष्ठानुगत आचार से ही समन्वित। रही बात लोकख्याति की सो तो लोकप्रवृत्तियों का वैसा सहज उत्कर्ष है, जो मानवेतर पशु पक्षी आदि प्राकृत प्राणी भी अमुक कौशलों से उपलब्ध कर ही लिया करते है।

हम समझ रहे हैं कि, तथाविध स्पष्टीकरण विद्वान्-ब्राह्मणो के लिए न केवल कर्णकटु ही बन रहा होगा, अपितु वे अपने मनोराज्य में हम पर अग्निश्च वायुश्च ही बन रहे होंगे। किन्तु व्यक्तित्वविमोहनरूप अतिमान के स्वरूप-विश्लेषण का सम वय बिना तथाविध स्पष्टीकरण के सम्भव ही नही है। बुद्धिवादात्मक व्यक्तित्वविमोहनरूप काल्पनिक व्यक्तित्व को जबतक निष्ठापूर्वक जलाञ्जलि समर्पित नहीं कर दी जाती, तबतक ब्राह्मणप्रज्ञा में समब्रह्ममला उस ऋजुता की अभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं है, जिस ऋजुता' के बिना मानस धरातल पर वेद का तत्त्वार्थ सहजरूपेणैव स्वत ही अभिव्यक्त नहीं होसकता। स्वय वेदमहर्षि ने वेदार्थ-समन्वय की योग्यता के स्वरूप विश्लेषण के लिए एक ऐसे ही 'उद्बोधनसूत्र' का स्पष्टीकरण किया है, जिसे भ अत्र समुद्धृत कर देना अप्रासङ्गिक नही माना जायगा।

विज्ञान-परम्पराओं की रहस्यभेदिका, निरतिशयरूपेण दुरधिगम्या सुप्रसिद्धतमा ऋग्वेदसंहिता का 'अस्यवामीय' नामक 'सूक्त विद्वत्जगत् में सुप्रसिद्धतम है। जिस केवल ५२ (बावन) मन्त्रात्मक स्वल्पकाय सूक्त में ब्रह्माग्निरूपा वामपलितविद्या सप्ताहोरात्ररूपा सम्वत्सरचक्रविद्या, सप्ततन्तु वितानात्मिका प्रजातन्तुवितानविद्या, रसगर्भानुगता गोतत्त्वविद्या, रोदसी-क्रन्दसी-सयती-रूपा त्रैलोक्य-त्रैलोकीविद्या, सप्तप्रत्णात्मिका सप्तर्षिविद्या, सुपर्णविद्या, यज्ञविद्या, वाग्विद्या, वृष्टिविद्या, आदि आदि भेदेन अनेक रहस्यपूर्ण उन सृष्टिविद्याओं का सूत्ररूपेण सकलन हुआ है, जिन में से एक एक ही विद्या में बड़े से बडे प्रज्ञाशील मेधावी विद्वान् के भी शिरोविकम्पन की क्षमता विद्यमान है। अत्यन्त रहस्यपूर्णा एवंविधा जटिलतमा अनेक सृष्टिविद्याओं को अपनी सूत्रमयी सङ्क्षिप्ततमा आर्षवाणी में केवल ५२ मन्त्रों के माध्यम से स्पष्टीकरण कर देने वाले, मन्त्रसमष्टिरूप अस्यवामीयसूक्त के द्रष्टा महामहर्षि दीर्घतमा महाभाग का व्यक्तित्व कैसा, और कितना महतोमहीयान् रहा होगा ?, प्रश्न के संस्मरण का भी साहस अकिञ्चन को नहि

कार नहीं है। सवरहस्यवित् तथाविध दीघतमा नामक वैसे महामहर्षि अपने व्यक्तित्व की स्वरूप मीमासा के लिए जब प्रवृत्त होते है, तो हमारी स्वल्पप्रज्ञा सर्वथैव विमूढा बनी रह जाती है। उन्ही के मुखपङ्कज से विनि सृता परमोद्बोधनप्रदात्री निम्नलिखिता आषवाणी को सुन कर सचमुच ही हम तो अपना सभी कुछ भूल जाते है कि—

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मन, न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजासि, अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥

—ऋक्सहिता १।१६३।६। (अस्यवामीयसूक्ते)

मन्त्रव्याख्यान का अत्र अवसर नही है। केवल मन्त्र के पूर्वार्द्ध की ओर ही हमें अपना ध्यान आकर्षित कर लेना है, जिसका ऋजुभावापन्न यही अक्षरार्थ है कि—"मै स्वय **इस तथ्य के सम्बन्ध मे मीमासा करने मे क्योकि असमर्थ हूँ—अज्ञ हूँ, अतएव समर्थ सुविज्ञेय क्रान्तदर्शी विद्वानों से ही इस सम्बन्ध मे केवल अपने बोध के लिए मै यह पूँछ रहा हूँ, क्योकि मै स्वय नहीं जानता उस तथ्य को कि—किसने उन ६ रजोरूप लोको को अपने ऊपर स्थापित कर रक्खा है, समतुलित कर रक्खा है"** ।

जो महर्षि दीर्घतमा आगे चलकर स्वय इसी अपने अस्यवामीयसूक्त में—**'तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति'** (ऋक्स० १।१६४।१०) इत्यादि मन्त्र के द्वारा **'रोदसी-क्रन्दसी सयती-रूपा त्रैलोक्यत्रिलोकीविद्या'** का स्वरूपोद्घाटन करते हुए **'ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति'** रूपेण **'अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्** इस असमाधेय प्रश्न का स्वय ही समाधान कर रहे हैं, उन्होने क्यो, और किस लिए—**'अचिकित्वान् न विद्वान्** कह दिया ?, यह महान् प्रश्न है, जिसके गभ में ही महर्षि का वह उद्बोधनसूत्र पिनद्ध है, जिसका पूव मे यशोगान किया जाचुका है।

प्रधान-लक्ष्य-रूप महान् सृष्टिविज्ञान के स्वरूप-विश्लेषण-प्रसङ्ग से उसी के द्वारा सङ्केतविधि से ऋषिवाणी अन्यान्य प्रासङ्गिक उद्बोधन भी प्रदान करती रहती है, और यही गभीरार्थगर्भिता अनेकलक्ष्य-सवाहिका ऋषिवाणी की गरिमा-महिमामयी-महती विशेषता मानी गई है लोक-सामान्या वाणी के समतुलन में। महर्षि दीघतमा इसी सहजशैली के आधार पर सप्तलोकविज्ञान प्रसङ्ग के साथ ही **'अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र'** इत्यादि रूप से वेदानुगत-सृष्टिविज्ञान से अनुगता सफलता के महान् आधारस्तम्भ, व्यक्तित्वविमोहनापहरणात्मक-महतोमहीयान् उद्बोधन तथ्य का भी स्पष्टीकरण कर रहे हैं, जिसका सहजरूपेण यही निष्कर्षार्थ है कि, वेदपुराणादि आषशास्त्र के स्वाध्याय में प्रविष्ट व्यक्ति को अपने मन शरीरनिबन्धन प्रकृत्यनुगत लोक-समाजानुबन्धी बाह्य-व्यक्तित्व को एकान्तत विस्मृत ही कर देना चाहिए। दूसरे शब्दों में इस सनातनसाहित्य के पारिभाषिक तथ्यों के साथ आत्मसाक्षात् करने के लिए अपने व्यक्तित्व-दम्भ को सवथैव विस्मृत कर देना चाहिए।

व्यक्तित्वविमोहनात्मक व्यक्तित्व की विस्मृति को क्यो आवश्यक समझा ऋषि ने ?, प्रश्न का उत्तर पूव के सन्दभ से ही यद्यपि गतार्थ है। तथापि स्पष्टीकरणदृष्ट्या लोकभाषा में भी तत्सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन कर दिया जाता है। **वास्तविक-व्यक्तित्व एव व्यक्तित्वविमोहनात्मक-व्यक्तित्व-भेद** से व्यक्तित्व

को हम समझने के लिए दो भागों मे विभक्त मान सकते हैं। मानवीय आत्मा उस परमात्मा से अभिन्न माना गया है जिसे दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म कहा गया है। वही मानवीय आत्मा का आत्मा विधा स्वस्वरूप है, और आत्मानव बन दिगदेशकालातीत सनातन-शाश्वत-ऐसा अलौकिक व्यक्तित्व ही मानव का वास्तविक व्यक्तित्त्व है, जिसका लोकसमाजानुबन्धी-पाण्डित्य-वीरता, किंवा सत्तानिष्ठा-उच्चपद आदि आदि के साथ यत्किञ्चित् भी सम्पर्क नहीं है। अपितु समदर्शनाधारभूत, आत्मसाम्यमूलक ऐसा महान व्यक्तित्व ही मानव का वह व्यापक व्यक्तित्त्व है, जिस व्यक्तित्व पर प्रतिष्ठित रहता हुआ मानव व्यक्ति-समाज-राष्ट्र आदि आदि परिच्छिन्नभावों से निकल कर सर्वभूतहितरति का ही अनुगामी बन जाता है, और ऐसा मानवश्रेष्ठ ही 'अलौकिक-मानव' माना गया है, एवं इसी को 'ऋषिमानव' कहा गया है, जिसका वास्तविक महान् व्यक्तित्त्व महतोमहीयान् दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म से समतुलित होता हुआ एक प्रकार से 'व्यक्तित्व' की परिधि से सर्वथैव असंस्पृष्ट है।

दूसरा व्यक्तित्त्व है-दिग्देशकालानुबन्धी-सोपाधिक-पराश्रित-व्यक्तित्व। जबतक मानव आत्मसाम्य के आधार पर प्रतिष्ठित होता हुआ विषमवर्त्तनात्मक सोपाधिक-लोक-समाज-सन्तान आदि से अनुप्राणित पराश्रित व्यक्तित्त्व का उत्तरदायित्व की दृष्टि से तटस्थरूपेण निर्वाहमात्र करता रहता है तबतक तो यह आगन्तुक व्यक्तित्व भी मानव के लिए इष्टजनक लौकिक समादरणीय व्यक्तित्त्व ही बनता रहता है। किन्तु आत्मसाम्यरूप समदर्शनात्मक-निरुपाधिक-वास्तविक-व्यक्तित्त्व की उपेक्षा कर यही मानव जब केवल दिगदेशकाल का ही ग्रास बन जाता है, तो यही आगन्तुक व्यक्तित्व इष्ट नामक समादरणीय लौकिक व्यक्तित्त्व के स्थान में-'अनिष्टपरम्पराम्उर्जक-समाज-राष्ट्र स्वरूपविध्वंसक' ही बन जाता है, और इसी दूसरे दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक व्यक्तित्व का नाम है 'व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक-व्यक्तित्त्व'

कालसाक्षी सूर्य मानव के बुद्धितन्त्र का प्रवर्त्तक है, दिक्साक्षी चन्द्रमा मानव के मनस्तन्त्र का प्रभु है, एवं देशसाक्षी भूपिण्ड मानव के पाञ्चभौतिक शरीर का आरम्भण (उपादानकारण) है। यों कालात्मक सूर्य, दिगात्मक चन्द्रमा, एवं देशात्मक भूपिण्ड, इन तीनों प्राकृतिक पर्वों से ही मानव के बुद्धि-मन-शरीर-रूप तीनों प्राकृत-पर्वों का स्वरूप निर्माण हुआ है। और यही है मानव के दिग्देशकालानुबन्धी-लौकिक-प्रकृतिसिद्ध-व्यक्तित्त्व के चिरन्तन इतिवृत्त का संक्षिप्ततम इतिवृत्त।

यदि दिगदेशकालानुबन्धी बुद्धिमन शरीरात्मक लौकिक-व्यक्तित्व दिग्देशकालातीत आत्मनिबन्धन वास्तविक-व्यक्तित्त्व को आधार बनाए रहता है, तो पूर्वकथनानुसार इत्थंभूत आत्मनिष्ठ मानव को दिग्देशकालानुबन्धी-तात्कालिक-लोकैषणानुगत-सामयिक-प्रलोभन प्रभावित नहीं कर पाते। और ऐसी अवस्था में आत्मनिष्ठ मानव का यह लौकिक व्यक्तित्त्व भी कदापि इसके स्वरूपविमोहन का कारण नहीं बन सकता। अतएव ऐसा अलौकिक मानव लोकव्यक्तित्त्व का भी सर्वात्मना सत्यनिष्ठा से ही निर्वाह कर लेजाता है दिग्देशकालानुबन्धी-उत्पीड़नों की उपेक्षा ही करता हुआ।

ठीक इसके विपरीत वही मानव दुर्भाग्यवश यदि अपने दिग्देशकालातीत आत्मनिबन्धन-समब्रह्म से अभिन्न-वास्तविक-व्यक्तित्त्व को विस्मृत कर अपने मानवीय-स्वरूप को दिग्देशकालिक-आत्माभिव्यक्तित्वशून्य-

मानवेतर पशु–पक्षी–आदि की भांति केवल बुद्धि–मन–शरीर–त्रतत्रयी पर ही परिसमाप्त मान बैठने की भयावह भूल कर बैठता है क्षणिकवादयों की भांति, तो निश्चयेन थोड़े ही समय में इस का समस्त्व उच्छिन्न होजाता है। और केवल बुद्धिवादात्मक–मनोराज्य के बल पर काल्पनिक शारीरिक–भूतसाम्य की अहर्निश घोषणा करता हुआ भी यह प्राकृत मानव उत्तरोत्तर–प्रकृत्यनुबन्धिनी उस भयावहा विषमता का ही पथिक बनता जाता है जिस की पर्य्यवसानभूमि– समुलस्तु विनश्यति' ही मानी गई है। बौद्धिक दम्भ से अहोरात्र अतिमानाक्रान्त मानसिक मन से सतत कालुषीकृत, एवं शारीरिक मद से निरन्तर अशु–चिभावाभन्न ऐसा दिग्देशकालविमूढ मानव ही कालान्तर में अपने दिग्देशकालनुबन्धी–लौकिक–व्यक्तित्त्व से भी पराङ्मुख बन जाया करता है। ऐसी अवस्था, किंवा मानवस्वरूपविघातिनी ऐसी घोरघोरतमा दुर्दशा–वस्था से समलङ्कृत ये मानवमहाभाग ही व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक उस काल्पनिक–व्यक्तित्त्व के महापात्र माने गए हैं, जिस का यह पदप्रतिप्रतिष्ठात्मक काल्पनिक व्यक्तित्व किसी भी क्षण गन्धवनगरलेखावत् देखते ही देखते सदा के लिए सस्मृति के गर्भ में विलीन होजाया करता है, और तब इन के बुद्धिवादात्मक दम्भ के क्षेत्र में क्षणिक–दुःख शून्य–भावनिबन्धन–अनात्मवादात्मक जडवाद के अतिरिक्त और कुछ भी तो शेष नहीं रह जाता।

प्रसङ्गत निर्दिष्ट वास्तविक–व्यक्तित्त्व, एवं व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक–व्यक्तित्त्व भेदेन द्विधा–विभक्त व्यक्तित्व में से भारतीय–ऋषिदृष्टि में आत्मसाम्यमूलक–वास्तविक–व्यक्तित्व ही मानव का वह व्यक्तित्त्व' है, जिस के गर्भ में उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व गर्भीभूत है, जैसे कि दिग्देशकालातीत समब्रह्म के महिमामण्डल में सम्पूर्ण चराचर विश्वप्रपञ्च गर्भीभूत है। ऐसे अलौकिक व्यक्तित्त्व के मुख से ही तो– 'मा कश्चित्–दुःखभागभवेत्–'सर्वे सन्तु निरामया–कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम् जैसे आत्मसाम्यसूत्र विनिगत होसकते हैं। और यही है भारतीय व्यक्तिमूलक वह आत्मसाम्य, जिस के स्वरूपबोध से वञ्चित आज के समाजवादी भारतीय–समाज–व्यवस्था पर व्यक्तित्वातिमान का घृणित आरोप लगाते हुए लज्जा से यत्किञ्चित् भी तो अवनत नहीं होजाते।

जिस सम–भावापन्न–समानाधिकारमूलक साम्य का, किंवा समाजवाद का आज के बुद्धिवादी यशोगान करते नहीं अघाते, वह तो वास्तव में व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक–काल्पनिक–व्यक्तित्त्व से सम्बन्ध रखने वाला प्रकृतिनिबन्धन वैसा घोरघोरतम विषमवाद, किंवा वैषम्य है, जिस के क्षेत्र में विश्व–राष्ट्र–समाज की कथा तो दूर रही, अपने परिवार के कुलवृद्धो का भी समादार सम्भव नहीं है—केवल स्वकामार्थ–भोगवृत्ति से अनुप्राणित तत्सहायक–स्वार्थसाधक कतिपय तथाविध ही व्यक्तिविशेषों के अतिरिक्त। स्वयं, स्वापत्य, और तत्कामार्थभोगससाधक–चाटुकार–गतानुगतिक–परिगणित–व्यक्तिविशेष, अलमतिपल्लवितेन। यही उन समाजनिष्ठों का सम्पूर्ण समाज, किंवा राष्ट्र, किंवा सम्पूर्ण विश्व है, जिस के दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक–स्वार्थ–ससाधन के लिए ही ये पुरुषपुङ्गव परिवारकुलवृद्ध–समाज–राष्ट्र–आदि आदि सभी के साथ क्षणमात्र में प्रचण्डतम विश्वासघात करते हुए भी विलम्ब नहीं करते।

और अत्यन्त ही कारुणिक हृदय से आज हमें इस नग्न सत्य का अनुगमन करना पड रहा है कि, आज का स्वतन्त्र भारत आत्मसाम्यमूला ब्रह्मसविद्रूपा धर्म्मनिष्ठा से अपने आपको पराङ्मुख प्रमाणित करता हुआ दिग्देशकालानुबन्धी–व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक–उस व्यक्तित्त्व की ओर ही अन्धरूपेण अनुधावन

करता जारहा है, जिस अनुधावन से आज भारतराष्ट्र का आत्ममूलक-वास्तविक-व्यक्तित्वनिबन्धन-अभ्युदय-निःश्रेयस्-सवथैव पराङ्मुख बन गए है । व्यक्तिवाद की इत्थभूता अनर्थकारिणी प्रवृत्ति तो उन प्रतीच्यदेशों में भी नही है, जिन में कभी भी दिग्देशकालातीत-आत्मब्रह्म के व्यवस्थित समन्वय का प्रयास नही हुआ । उन का व्यक्तित्त्व भी 'स्वराष्ट्र' के प्रति तो अधिकाश में मनोबुद्धिशरीरार्पण की भावना से ही समलङ्कृत सुना गया है, जबकि आत्मासाम्य के जनमदाता इस पावन भारतराष्ट्र की मानवप्रजा आज अधिकाश में जघन्यतम व्यक्तित्वविमोहनात्मक- व्यक्तित्व से अनुप्राणित वैयक्तिक-कामार्थभोग के समतुलन में राष्ट्र की कामार्थसमस्था के साथ विश्वासघात कर डालने में भी लज्जा का अनुभव नही कर रही, इससे अधिक भारतराष्ट्र का नैतिक, तथा सास्कृतिक अध पतन और क्या होगा ? ।

दिगदेशकालानुबन्धिनी सीमा में प्रतिष्ठित मानव का व्यक्तित्त्व ही विमुग्धभावापन्न बना करता है, और ऐसा विमुग्ध व्यक्तित्त्व ही दिग्देशकालानुबन्धिनी उस सामयिकी कारणता के प्रति तल्लीन बना रहता है, जिसके माध्यम से ही युगधर्म्मनिबन्धन स्वार्थों की पूर्त्ति सम्भव मानी गई है । यही वैय्यक्तिक-स्वार्थ भारतीय उस वेदपुराणशास्त्र की सीमा में भी गत अनेक शताब्दियों से प्रविष्ट होता आरहा है, जिसके आकर्षण से ही शास्त्रीय सिद्धान्त भी दिग्देशकालानुबन्धी सत्तातन्त्रों की परिवर्त्तनशीला तात्कालिकी मान्यताओं के अनुपात से तद्युग के कारणवादी-दिग्देशकालविमूढ-बुद्धिवादी विद्वानों के द्वारा यथेच्छ परिवर्तित होते आरहे है, जिस युगधर्म्मनिबन्धना परिवर्त्तनपरम्परा से ही सम्प्रदायवाद-परम्पराओं से एकान्ततः असस्पृष्ट भी, विशुद्ध-ज्ञान विज्ञानात्मक की वेदशास्त्र आज इतर साम्प्रदायिक-मतवादात्मक-मानसिक-शब्दजाल की भाँति केवल 'साम्प्रदायिकग्रन्थ' ही प्रमाणित होगया है । और यों दिग्देशकालानुबन्धी-व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक-काल्पनिक-व्यक्तित्त्व के कारणतानुबन्धी आकर्षण के दुष्परिणाम-स्वरूप ही भारतीय विद्वत् प्रज्ञा विगत अनेक शताब्दियों से वेदपुराण-शास्त्र ही, तत्रापि-ब्राह्मण, तथा पुराण के आख्यानों की ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं की तत्त्वमूला सवित् से वञ्चित ही बनती चली आरही है ।

महर्षि दीर्घतमा के उद्बोधक-सूत्रानुसार आज भी भारतीय ब्राह्मणप्रज्ञा यदि अपने आपको-व्यक्तित्व विमोहनात्मक काल्पनिक-व्यक्तित्त्व का परित्याकर दिग्देशकालातीत अनन्त-समब्रह्ममूलक-वास्तविक-व्यक्तित्व के माध्यम से गुहानिहितत्तया एकान्तनिष्ठा से वेदपुराणस्वाध्याय में अपने आपको प्रवृत्त करदेती है, तो निश्चयेन स्वत ही इस के ऋजुभावापन्न निष्कारणात्मक बीज धरातल पर वेदार्थ का पारिभाषिक बोध स्वत ही आविर्भूत होसकता है, और इस पथ के अतिरिक्त वेदपुराणशास्त्र के पारिभाषिक-तथ्य-समन्वय के लिए-"नान्यः-पन्था विद्यते अयनाय" । यही उस प्रक्रान्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न का प्रासङ्गिक-समन्वय निष्कर्ष है, जिस प्रश्न के द्वारा वेद-पुराणानुगत आख्यानोपाख्यानों की परिभाषाएँ आज विद्वानों के लिए भी जटिलतमा समस्या प्रमाणित होरहीं हैं इत्यलमतिविस्तरेण-वेदपुराणनिबन्धन-पारिभाषिक-बोधानुगत प्रासङ्गिक-महत्त्वपूर्ण-प्रश्न-समाधान-प्रसङ्गेन ।

उक्त सन्दर्भ के माध्यम से अत्र निवेदनीय प्रमुख लक्ष्य यही है कि, मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के-'विधि' नामक ब्राह्मणभाग की आख्यानोपाख्यानानुगता पारिभाषिकी शब्दावली के तत्त्वार्थ-समन्वय के बिना, एव पुराणशास्त्र की तथाविधा परिभाषाओं के समन्वय के बिना वेदशास्त्र का ज्ञानविज्ञानात्मक तात्त्विक समन्वय भी असम्भव है, एवं आचारात्मिका कर्मव्यवस्था का भी समन्वय असम्भव है । अतएव ब्राह्मण,

और पुराण, दोनो का पारिभाषिक-स्वाध्याय उस प्रत्येक द्विजाति के लिए अनिवार्य ही माना जायगा, जो निगमागमपुराणसम्मता भारतीय-प्राच्यसस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक अभ्युदय नि श्रेयस् ससाधक उदक से अपने राष्ट्र को समन्वित करने की कामना रखता है। इन दोनो महान् स्तम्भो के पारिभाषिक-सम वय के बिना भारतीय-आर्ष-सस्कृति का मौलिक स्वरूप कदापि समन्वित नही होसकता ।

जैसाकि प्रथमखण्डानुगता प्रस्तावना में निवेदन किया जाचुका है, ब्राह्मणग्रन्थों में 'शतपथब्राह्मण' नामक ब्राह्मणग्रन्थ का अनेक कारणो से प्रमुख स्थान है। अन्या य ब्राह्मणग्रन्थो की अपेक्षा इस ब्राह्मणग्रन्थ की भाषा भी 'भारती नाम से प्रसिद्धा प्रचलिता सस्कृतभाषा से अधिकाश में समतुलिता है, अतएव विशेष-रूपेण बोधगम्या है। एतदतिरिक्त अपने युग के दुर्द्धर्ष वैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य के महान् मेधावी शिष्य मधुश्रवा के द्वारा सकलित किंवा स्वय याज्ञवल्क्य के द्वारा ही दृष्ट यह शतपथब्राह्मण वैज्ञानिकी-सव-परिभाषाओं का सम वयात्मक-वैसा अपूर्व, एव पूर्ण ब्राह्मणग्रन्थ है, जिसमें शतपथेतर ब्राह्मणो से अनुगता वैज्ञानिकी परिभाषाओं का भी भगवान् याज्ञवल्क्य ने सूत्ररूप से सग्रह कर लिया है। इ ही सब कारणों से यह ब्राह्मणग्रन्थ सौ (१००) अध्यायों के विस्तारपथ का अनुवर्त्मा बनता हुआ 'शतपथ' नाम से प्रसिद्ध होरहा है। स्वय भगवान् बादरायण ने भगवान् याज्ञवल्क्य के मुख से 'शतपथब्राह्मण' की तथोक्ता अपूर्वता का निम्न लिखित शब्दों में यशोगान किया है—

याज्ञवल्क्य-उवाच—अव्यक्तस्थ पर यत्तत् पृष्टस्तेऽह नराधिप ! ॥
पर गुह्यमिम प्रश्न शृणुष्वावहितो नृप ! ॥१॥
यथार्षेणेह विधिना चरताऽवनतेनह ॥
मयाऽऽदित्यादवाप्तानि यजूंषि मिथिलाधिप ! ॥२॥
महता तमसा देवस्तपिष्णु सेवितो मया ॥
प्रीतेन चाह विभुना सूर्य्येणोक्तस्तदानघ ! ॥३॥
वर वृणीष्व विप्रर्षे ! यदिष्ट ते सुदुर्लभम् ॥
तत्ते दास्यामि प्रीतात्मा मत्प्रसादो हि दुर्लभ ॥४॥
ततः प्रणम्य शिरसा मयोक्तस्तपतां वरः ॥
यजूंषि नोपयुक्तानि क्षिप्रमिच्छामि वेदितुम् ॥५॥
ततो मां भगवानाह वितरिष्यामि ते द्विज ! ॥
सरस्वती' ह 'वाग्' भूत्वा शरीर ते प्रवेक्ष्यति ॥६॥
ततो मामाह भगवानास्य स्व विवृत कुरु ! ॥
विवृत च ततो मेऽस्य प्रविष्टा च सरस्वती ॥७॥
ततो विदह्यमानोऽह प्रविष्टोऽम्भस्तदानघ ! ॥
अविज्ञातादमर्षाच्च भास्करस्य महात्मनः ॥८॥

ततो विदह्यमान मामुवाच भगवान् रवि. ॥
मुहूर्त्त सह्यता दाहस्तत' शीती भविष्यति ॥९॥
शीतीभूत च मा दृष्ट्वा भगवानाह भास्कर ॥
प्रतिष्ठास्यति ते वेदः सखिल सोत्तरो द्विज ! ॥१०॥
"कृत्स्न शतपथ चैव प्रणेश्यसि द्विजर्षभ ! ॥
तस्यान्ते चापुनर्भावे बुद्धिस्तव भविष्यति ॥११॥
प्राप्स्यसे च यदिष्ट तत्सांख्ययोगेप्सित पदम् ॥"
एतावदुक्त्वा भगवानस्तमेवाभ्यवर्त्तत ॥१२॥
ततोऽनुव्याहृत श्रुत्वा गते देवे विभावसौ ॥
गृहयागत्य सहृष्टोऽचिन्तयन्-वै सरस्वतीम् ॥१३॥
तत प्रवृत्तातिशुभा स्वरव्यञ्जनभूषिता ॥
ओङ्कारमादित. कृत्वा मम देवी सरस्वती ॥१४॥
ततोऽहमर्घ्यं विधिवत् सरस्वत्यै न्यवेदय- ॥
तपतां च वरिष्ठाय निषण्णस्तत्परायण ॥१५॥
"ततः शतपथ कृत्स्नं सरहस्य ससग्रहम् ॥
चक्रे सपरिशेष च हर्षेण परमेण ह ॥१६॥"
बीजमेतत्पुरस्कृत्य देवीं चैव सरस्वतीम् ॥
सूर्य्यस्य चानुभावेन प्रवृत्तोऽह नराधिप ! ॥१७॥
कर्त्तु शतपथ चेदमपूर्वं च कृत मया ॥
यथाभिलषितं मार्गं तथा तच्चोपपादितम् ॥१८॥

—महाभारत, शा० मो० ३१८ अ० ।

अपनी तथाविधा कृत्स्ना-विशेषताओं के अनुबन्ध से ही हमने शतपथब्राह्मण के ही पारिभाषिक-समन्वय को प्रमुखता प्रदान की है इतर ब्राह्मणग्रन्थों के समतुलन में । मौलिक-परिभाषाओं के चिरन्तनेतिवृत्त समन्वय के बिना ब्राह्मणग्रन्थोक्त क्रत्वर्थ, तथा पुरुषार्थ-रूप किसी भी गौण-प्रधान-कर्म्म की सृष्टिरहस्य-समवयात्मिका व्यवस्था व्यवस्थित नहीं होसकती। और तत्त्वसमन्वयव्यवस्थात्मिका ज्ञानविज्ञानात्मिका वे परिभाषाएँ व्याख्यातावाद के वारुणपाशात्मक निग्रह से शताब्दियों से अभिभूतप्राया ही बनती चली आरही हैं। यही वह महती जटिलता है, जिसके समन्वय के लिए हमें प्रत्येक पारिभाषिक-शब्द के पारिभाषिक-ज्ञानविज्ञान सम्मत चिरन्तन-इतिवृत्त का अनिवार्य्यरूपेण उपबृंहण करना ही पड़ता है, एव उससे सम्बन्ध रखने वाली पारिभाषिकी पुररुक्ति, तथा इतिवृत्त-विश्लेषणात्मक विस्तार, दोनों वैसे माध्यमों का भी अनुगमन करना

ही पडता है जिसके अनुब ध से ही 'शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्य का पृष्ठात्मक–लिपिरूप–कलेवर अनुमानत बीससहस्रपृष्ठो में सम्पन्न हुआ है। परिभाषाओ के प्राथमिक–स्पष्टीकरणानुब ध से चतुर्द शकाण्डा त्मक–शतपथ के केवल प्रथमकाण्ड का ही भाष्य अनुमानत तीन सहस्रपृष्ठो में लिपिबद्ध हुआ है, जबकि–आगे के काण्ड यथासम्भव सहस्र–सहस्र–पृष्ठानुगति के ही अनुगामी बने हुए हैं। आज से बीस वष पूव लिपिबद्ध किया हुआ यह विस्तृत शतपथभाष्य प्रकाशनावसरो पर पुन सशोधन–की तो अनिवाय्यरूपेण अपेक्षा रख ही रहा है। और इसी दृष्टि से प्रकाशनवेला से पूर्व पुन प्रकाशन–लक्षीभूत भाग का आद्य त पुन प्रतिलिपिकरण अनिवार्य्य बन जाता है। इत्थभूत महत्त्वपूण–पारिभाषिक आषग्र थ को दिग्देशकाला नुबन्धिनी तात्कालिकी कण्डूपशान्तिमात्र के लिए झटिति एकहेलया यथेच्छरूपेण प्रकाशित कर देना तो आत्महनन ही माना जायगा। बहुत सम्भव है, हम अपनी शारीरिक–जज्जरितावस्था के अनुब ध से इस भौतिक जीवन में सम्पूर्ण शतपथ का प्रकाशन यथाविधि न कर सके। कि तु जितना अश प्रकाशित होगा उसकी परिभाषाओ के माध्यम से यह तो आस्थापूवक उद्घोष किया ही जासकेगा कि, भविष्य में इस साहित्य के पारिभाषिक–म थन के लिए सज्जीभूत महानुभावो के लिए यह प्रकाशितभाग अवश्यमेव अ शत तो सहयोगी ही प्रमाणित होगा। एकमात्र इसी तुष्टि के आधार पर यथाशक्ति शतपथब्राह्मणभाष्य का प्रकाशन खण्डश प्रक्रा त हुआ है गतवर्ष से–'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसस्थानजयपुर के द्वारा। गतवर्ष प्रथमकाण्डानुगत जो प्रथमखण्ड प्रकाशित हुआ था, उसके प्रमुख विषयो का प्रास्ताविक के उपक्रम से ही सिहावलोकनन्यायेन सस्मरण किया जा चुका है (देखिए पृ० स ७)। ठीक एक वष के अन तर प्रकाशित होने वाले प्रथम काण्डानुगत–द्वितीयखण्ड के प्रस्तुत प्रकाशन से अनुप्राणित प्रमुख विषयो का भी अत्र सन्दर्भसङ्गति के लिए नामस्मरण कर लिया जाता है।

प्रथमकाण्डानुगत–प्रस्तुत–द्वितीय–खण्ड में (प्रथमकाण्डानुगत–पूर्वप्रकाशित–प्रथमखण्ड के विषयों से आगे क्रमप्राप्त) जिन–प्रमुख याज्ञिक–विषयो का पारिभाषिक–समन्वय हुआ है, उनका निम्नलिखितरूपेण क्रमविभाजन हुआ है।

प्रथमकाण्डानुगत–द्वितीय–तृतीय–चतुर्थ–पञ्चमाध्यायात्मक– द्वितीयखण्ड मे प्रतिपादित प्रमुख–कर्म्मों की तथा–स्मारकविषयो की तालिका

* * *

	प्रधानकर्म्माणि	क्रमानुगता पृष्ठसख्या	स्मारकविषयसख्या
१०	उपवेषसम्पादनम्, अग्नौ कपालोप धानेन हवि परिपाकश्च	६११	६२२
११	पिष्टेनोदकमिश्रितेन–पुरोडाशसम्पादनम्	६६१	५१९
१२	पात्रीनिर्णेजनम्–पुरोडाशमीमासया–समन्वितम्	७०४	९३१
१३	वेदिकाकरणम् स्तम्बयजुर्हरण, भूविशोधनश्च	७६८	६६९
१४	वेदिपरिग्रह	८४४	१०८६
१५	द्रव्यसस्कारा	९५९	७७९
१६	आज्यग्रहणम्	१०३७	२८९
१७	इध्मानुगत कर्म्मसग्रह	१०७७	३३९
१८	सामिधेन्यनुवचनम्	११३५	१७६९
१९	पूर्वाघारेतिकर्त्तव्यता	१३१७	४०१
२०	उत्तराघारेतिकर्त्तव्यता	१३५७	
२१	प्रवरणकर्म्मेतिकर्त्तव्यता	१३६७	२९२
२२	स्रुगादापनम्–आश्रावण–प्रत्याश्रावणश्च	१४०५	८००
२३	प्रयाजब्राह्मणम्	१४७५	३
	प्रधानकर्म्मसख्या–१४	भाष्यपृष्ठसख्या–११३२	स्मारकविषयसंख्यासङ्कलन–८५११

प्रथमकाण्डानुगत पूर्वप्रकाशित प्रथमखण्ड, तथा प्रस्तुत द्वितीयखण्ड के सकलनात्मक अठारहसौ पृष्ठात्मक विज्ञानभाष्य में आरम्भ के 'व्रतोपायनकर्म्म' से आरम्भ कर प्रस्तुत खण्ड के अन्तिम २३ वें 'प्रयाजब्राह्मण' पर्य्यन्त जिन स्मारक-विषयों का परिभाषारूपेण समावेश हुआ है, उन के आधार पर ही स्थालीपुलाकन्यायेन शतपथविज्ञानभाष्य की पारिभाषिकी उपयोगिकता का मूल्याङ्कन सम्भव बन सकता है। प्रथमखण्ड में अनुमानतः ४६०० परिभाषाओं का तथा प्रस्तुत द्वितीयखण्ड में अनुमानत ८५०० परिभाषाओं का, सम्भूय १३००० (तेरहसहस्र) पारिभाषिक तथ्यों का सस्मरण कराने वाले प्रथमकाण्डानुगत प्रकाशित दोनो खण्डो की तथाकथिता परिभाषाओं के सस्मरणाधार पर निश्चयेन उन अनेक ज्ञानविज्ञानात्मक-सृष्टिविद्यानिबन्धन तथ्यों का सर्वात्मना नही, तो अशत तो दिग्दर्शन हो ही जाता है, जिस पारिभाषिक दिग्दर्शन के बिना रहस्यपूर्ण ब्राह्मणग्रन्थों के रहस्यात्मक-पारिभाषिक-सृष्टीतिवृत्त सर्वथा परोक्ष ही बने रहते हैं।

जैसाकि-प्रास्ताविक के उपक्रम में ही निवेदन किया जाचुका है वर्त्तमानयुग के मानवो की प्रज्ञा दिग्देशकालानुबन्धिनी तात्कालिकी उपयोगिता, एव तन्निबन्धना कारणता के आधार पर ही किसी लक्ष्य की ओर प्रवृत्त हुआ करती है, जिस कारणता का 'ब्राह्मणेन निष्कारण षडङ्गो वेदेऽध्येयो ज्ञेयश्च' रूपेण यद्यपि सर्वथा निराकरण किया जाचुका है। तथापि तथाविधा सामयिकी उपयोगिता के पक्षपाती अमुक श्रेणिविशेष के अनुगामी पाठको की तुष्टि के लिए 'युगानुगता उस उपयोगिता' का भी दिग्दर्शन आवश्यक होजाता है, जिस के बिना इत्थभूत शास्त्रावलोकन स्वाध्याय-चिन्तन-मनन-आचरणादि में तथाविध विशेष वर्ग की प्रवृत्ति नही हुआ करती। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही 'प्रथमकाण्ड के प्रास्तविक' में स्वय-वेदाक्षरों के आधार पर ही वेदशास्त्र की दृष्टफलजनकतानुबन्धिनी सामयिकी उपयोगिता का भी स्पष्टीकरण कर दिया गया है। यह सब कुछ होने पर भी आज के युग का महान् तर्क-'समय नहीं है' रूपेण दिग्-देशकालाक्रान्त मानव-विशेषों को सतत उत्पीड़ित ही करता रहता है। और 'आज के अर्थप्रधानयुग मे किसे इतना समय है, जो ऐसे बड़े बड़े ग्रन्थों को पढ सके आदि आदि'' इत्थभूत काल्पनिक-नितान्त भावुकतापूर्ण तर्क के माध्यम से जो महानुभाव इस दिशा में 'बहुविस्तृत' की घोषणा कर क्रमिक-स्वाध्याय से तटस्थ बन जाते हैं, उन के परितोष के लिए प्रतिपादित प्रमुख कर्म्मों से अनुप्राणिता कुछ एक पारिभाषाओं का स्थालीपुलाकन्याय-समतुलनदृष्ट्या अत्र प्रास्तविक में भी दिग्दर्शन करा देना प्रासङ्गिक ही बन जाता है।

प्रस्तुत 'द्वितीयखण्ड' में क्रमप्राप्त 'उपवेषसम्पादनम्, अग्नौ कपालोपधानेन हवि-परिपाकम्' नामक ११ वें कर्म्म से आरम्भ कर 'प्रयाजब्राह्मण' नामक २३ वें कर्म्म-पर्य्यन्त कुल १४ विषयो का स्वरूप-दिग्दर्शन-प्रयास हुआ है, जिन में से अत्र उदाहरणविधि से कुछ एक पारिभाषिक-तथ्यो का ही दिग्दर्शन पर्य्याप्त मान लिया जायगा। वही विषय-क्रमानुगति के अनुबन्ध से क्रमश अत्यन्त सक्षेप से पाठकों के अत्र समक्ष उपस्थित होरहा है।

—— * ——

शतपथभाष्य–द्वितीयखण्डानुगत–१४ प्रमुख–कर्म्मों के प्रसङ्ग से अनुप्राणित–कतिपय

"पारिभाषिक-उदाहरण"

—*—

(१०)–उपवेषसम्पादन–हविःपारापाकात्मक–कर्म्म–प्रसङ्गतः– समन्विता–प्रासङ्गिकी

'तपः'-शब्द-निबन्धना-परिभाषा

१

—*—

त्याग, तपस्या, बलिदान, रूपेण तीनों शब्द कुछ समय से लोकसामान्य में प्रसिद्धि–पथ के अनुगामी बने हुए हैं, जिन इन तीनों लोकप्रसिद्ध शब्दों में से मध्य के–'तपस्या' शब्द से अनुप्राणित–'तपः' शब्द का ही–भृगूणामङ्गिरसा तपसा तप्यध्वम्' इस श्रुतिवचन के पारिभाषिक–समन्वय के आधार पर स्वरूप-विश्लेषण–प्रयास हुआ है पृष्ठसंख्या ६४५ से ६५८ पर्य्यन्त। 'त्याग–तपस्या–बलिदानत्रयी' से अनुप्राणित 'तप' का अर्थ माना जारहा है-'शारीरिक–श्रममात्र', और इसी भौतिक–श्रम पर 'तप' शब्द का उपराम कर दिया जाता है । उधर दार्शनिक दृष्टि के अनुसार 'तप' उस अलौकिक लोकोत्तर औपासनिक–ध्यनादि से अनुगत गुह्यतम प्राणव्यापार मात्र है, जिस के अनुगामी को 'तपस्वी' कहा जाता है, एवं जिस की तपश्चर्य्या में मानसिक क्लेश के साथ साथ पञ्चाग्नितपनमूलक शारीरिक-उत्पीडनादि भी समन्वित है। यों उस ओर की दार्शनिकी तपश्चर्य्या ने, तथा इस ओर की देशातिमानानुगता तपस्या ने तपः शब्द के उस पारिभाषिक तथ्य को सर्वथैव अभिभूत कर लिया है, जिस अभिभूति से न तो उस तपश्चर्य्या' का ही कोई वास्तविक तथ्य-समन्वय सम्भव, एव नैव आज की 'तपस्या का ही कोई अर्थ। प्रथमकर्म्म (१०)-प्रसङ्गत तप शब्द के उसी पारिभाषिक तथ्य का दिग्दर्शन कराते हुए प्रकृतिसिद्ध उन तीन महान् तपोभावों की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया गया है, जो तपस्त्रयी क्रमश ब्राह्मतप–वैष्णवतप–रौद्रतप, नाम से प्रसिद्ध है।

पञ्चमहाभूतात्मक महतोमहीयान् ब्रह्माण्ड की स्वरूपसंस्थिति जिन प्राकृतिक–नित्याक्षरदेवदेवताओं के आधार पर अवलम्बित है, वे क्रमश ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र (महादेव) नामों से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों देवताओं की त्याग–बलिदानानुगता तपश्चर्य्या के सह समन्वय से ही पञ्चपुण्डीरा–प्राजापत्या-वल्शा से कृतरूप

पञ्चावयव विश्व की, एवं तद्गर्भीभूता प्रजा की स्वरूप व्यवस्थिति आनुपूर्व्वी से व्यवस्थित है। तीनों ही तपस्वी है, किन्तु तीनों के तपोभावों का स्वरूप सर्वथा पृथक् पृथक् है। ब्रह्मा का तप 'सन्तापात्मक' है, विष्णु का तप 'ऐश्वर्य्यात्मक' है, एवं रुद्र का तप दाहात्मक है। सन्तापात्मक ब्राह्मतप ज्ञानप्रधान है, ऐश्वर्य्यात्मक तप श्रेष्ठतम-कर्म्मरूप * यज्ञप्रधान है, एवं रुद्र का तप भूतप्रधान, किंवा अर्थ प्रधान है। ज्ञान क्रिया-अर्थ-नाम से सुप्रसिद्धा शक्तित्रयी की अधिष्ठात्री ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-नाम की सुप्रसिद्धा देवतात्रयी से अनुगता तपस्त्रयी का नाम ही 'तपश्चर्य्या' है, और तन्निबन्धन तपोभाव ही 'तप' शब्द का वह चिरन्तन-इतिवृत्त है, जिस के गर्भ में ही इन तीनों तपोभावों का 'वसुधानकोश' रूपेण समन्वय होरहा है।

बड़े डिब्बे में छोटा डिब्बा, छोटे डिब्बे में इस से भी छोटा डिब्बा इसी दहरोत्तर-सम्बन्ध का पारिभाषिक नाम है 'वसुधानकोशसम्बन्ध'। ज्ञानशक्ति-प्रधान ब्राह्म-तप सर्वाधार-सर्वप्रतिष्ठारूप वह महतो-महीयान् तप है, जिस के आधार पर ही आगे के वैष्णव, तथा रौद्रतप स्वस्वरूपेण प्रतिष्ठित रहा करते हैं। 'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'-'यस्य ज्ञानमयं तपः' इत्यादि श्रुतिवचन इसी ज्ञानमय-ब्राह्मतप का यशोगान कर रहे हैं, जिस के तपन-सन्तपन-रूप सन्ताप-धर्म्म से ही सृष्टिस्वरूप की अभिव्यक्ति मानी है गोपथब्राह्मण ने अपने उपक्रम में ही-'तस्य तप्तस्य-सन्तप्तस्य ललाटे स्वेदोऽजायत' इत्यादि रूपेण। लोक में आज रूढिवाददृष्ट्या 'सन्ताप' शब्द का अर्थ 'शोक परिताप' आदि होपड़ा है। किन्तु तत्त्वपरिभाषादृष्ट्या 'सन्ताप' शब्द का अर्थ है-वैसा आत्यन्तिक प्रचण्ड संघर्ष जिस का उत्तर परिणाम अवश्य ही शान्ति है। इसी सन्तपनात्मक प्रचण्ड संघर्ष का-'सङ्क्लिश्य असून् प्राविध्यत्' इत्यादिरूपेण अभिनय किया जाता है। सुसूक्ष्म-प्रचण्डतम ज्ञानात्मक आभ्यन्तर संघर्ष का ही ज्ञानात्मक, अतएव सुसूक्ष्मतम आभ्यन्तर प्रचण्ड संघर्ष का ही नाम 'सन्ताप' है, जिस इस स्वायम्भुव ज्ञानात्मक सन्तापधर्म्मा प्रथम-तपोभाव का उत्तर-परिणाम है शान्तिरूप आपोमय पारमेष्ठ्य मण्डल का आविर्भाव, जिस इस स्वेदरूपा शान्तिजलधारा-अम्भोधारा-से स्वयम्भू ब्रह्मा पुलकित आनन्दित होपड़ते हैं, और आनन्दमयी यही सन्तापात्मिका तपोमयी वारिधारा आगे चलकर सम्पूर्ण सत्सृष्टिरूपा-सृष्टि की जननी बनती है। यही ज्ञानात्मक सन्तापधर्म्मा सर्वप्रतिष्ठारूप वह 'तप' है, जिस को आधार बनाए बिना आगे के दोनों तप सर्वथा यातयाम ही बन जाया करते हैं।

स्वयम्भू ब्रह्मा के ज्ञान सन्तपनात्मक परिपक्वज्ञानात्मक आदितप से जो वारिधारा सर्वत्र ऋतरूपेण व्याप्त आप्त परिव्याप्त होगई, वही इस आप्तिरूप व्याप्तिधर्म्म से 'आपोलोक' कहलाया जो 'परमेष्ठी' नाम से प्रसिद्ध है, एवं जिस का अधिष्ठाता-देव विष्णु कहलाया है। सन्तापधर्म्मा ज्ञानीय तप से समुद्भूत वैष्णव-परमेष्ठी-लोक का ऋतधर्म्मा वारि' रूप 'आप' तत्त्व अपने स्नेह, तथा तेजोगुण से उभयधर्म्मात्मक बन रहा है। स्नेहगुणक वही अप्तत्त्व 'भृगु', कहलाया है, एवं तेजोगुणक वही अपतत्त्व 'अङ्गिरा' कहलाया है। यों सन्तापात्मक स्वायम्भुव ज्ञानीय तप से आविर्भूत वैष्णव आप-तत्त्व का भृग्वङ्गिरोमयत्त्व प्रमाणित हो-जाता है +। स्नेहगुणक भार्गवतत्त्व ही दाह्यगुणक-सोमतत्त्व है, एवं तेजोगुणक आङ्गिरसतत्त्व ही दाहकगुणक अग्नितत्त्व है।

---

*-यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म (शतपथे)।

+-आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगाः॥
—गोपथब्राह्मणे

भार्गव सोम, तथा आङ्गिरस अग्नि, इन दोनों दाह्य-दाहक-तत्त्वों के रासायनिक-सम्मिश्रण से आविर्भूत उभयात्मक-अपूर्वभावात्मक तत्त्व का नाम ही सिद्धकर्म्मात्मक 'यज्ञ', है, जैसाकि 'अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः' लक्षण से स्पष्ट है।

पारमेष्ठ्य-विष्णु-अक्षर से अनुगत, स्वायम्भुव ब्राह्म-तप के आधार पर प्रतिष्ठित-भार्गवाङ्गिरस् अग्नीषोमात्मक प्रकृतिसिद्ध इत्थंभूत प्रथमयज्ञ से ही उस ऐश्वर्य की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है, जिसका सौर-ब्रह्माण्ड में व्यक्त विश्वरूप से आज हम साक्षात्कार कर रहे है। विश्वात्मक-व्यक्त-ऐश्वर्य पारमेष्ठ्य उस विष्णुदेवता के तप का ही महत्त्व है, जो वैष्णव-आपोमय-तप भृगु, और अङ्गिरा के सम्मिश्रणात्मक-अग्नीषोमात्मक-भाव से अनुप्राणित है। इसी मध्यस्थ-वैष्णव-याज्ञिक तप का ब्राह्मणश्रुति ने-'भृगूणा-मङ्गिरसा तपसा तप्यध्वम्' रूपेण संस्मरण किया है। यही यज्ञकर्म्मात्मक-'कर्म्मशक्तिप्रधान' वह पारमेष्ठ्य तप है, जिसके द्वारा ही समस्त ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्तिरूप व्यक्त-'ऐश्वर्य्य का वितान हुआ है। अतएव इस 'कर्म्मशक्ति' घन-भार्गवाङ्गिरस-पारमेष्ठ्य-वैष्णवतप को अवश्य ही-'ऐश्वर्यार्थक तप' मान लिया जासकता है, माना ही गया है।

स्वायम्भुव-ज्ञानमय सन्तापात्मक ब्राह्मतप के आधार पर आपोमय पारमेष्ठ्य ऐश्वर्य्यात्मक वैष्णव-तप की अभिव्यक्ति हुई। तदनन्तर क्या हुआ ?, प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। आपोमय परमेष्ठी-विष्णु के ऐश्वर्य्यात्मक तप से तद्गर्भ में बीजरूप से जिस हिरण्मयाण्ड का स्वरूप निर्म्माण हुआ अग्नि की चिति सञ्चिति के द्वारा, वही हिरण्मयाण्ड सौरसम्वत्सरब्रह्माण्ड की वेला कहलाई, एवं तत् केन्द्रवर्त्ती ताप प्रकाश युक्त (अग्नि इन्द्र समन्वित) उस प्रचण्डतम भास्वत् पिण्ड की अभिव्यक्ति होपडी, जोकि ज्योतिर्म्मय पिण्डाण्ड आज अस्मदादि सर्व साधारण की भाषा में 'त्रयीमय त्रिगुणमूर्त्ति भगवान् सूर्य्यनारायण' नाम से प्रसिद्ध है, जिस इस क्षात्रतेजोमय (प्रचण्डतेजोमय) सूर्य्य का ही व्यक्त विश्व में एकाकी असपत्न साम्राज्य है। यही महर्षि श्वेताश्वतर की भाषा में क्षत्रमूर्त्ति एकाकी वे रुद्र भगवान् हैं, जिन्हें उपासकवर्ग उभयतो नमस्कार से तुष्ट-शान्त करते रहते हैं। 'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु' से उपवर्णित यह सौर क्षत्ररुद्र अपने प्रचण्डतम आदानभाग से आदित्य नाम से, रुद्रभावों को द्रुत करने के कारण 'रुद्र' नाम से प्रसिद्ध होते हुए रोदसीब्रह्माण्ड के भाग्यविधाता ही बने हुए हैं। ऐसे प्रचण्डाग्निमूर्ति इस सौररुद्र को पारमेष्ठ्यदेवता अजस्र-सोमाहुति से उपशान्त करते हुए इन्हें-'शिव' स्वरूप में परिणत करते रहते हैं-निश्वैश्वर्य्यसंरक्षणकामयैव। विशुद्ध आग्नेयात्मक, अतएव-दाहक-यही रूप-घोरघोरतम 'रुद्र' है, एवं सोमात्मक यही शान्ततमरूप अघोररूप 'शिव' है। यों रुद्र ही रुद्र, और शिव, नामक द्विविध-महिमा भावों में परिणत होरहे हैं, एवं यहीं बात कुछ समझने जैसी है।

सौर-क्षत्र-रुद्र-का स्वरूप-निर्वचन-करते हुए श्रुति ने कहा है-'सोऽरोदीत, तद्रुद्रस्य रुद्र-त्वम्', जिस निर्वचन का निष्कर्षार्थ यही है कि, रुद्र का प्रातिस्विकधर्मा-वह प्रचण्ड 'दाह' ही है, जिसका उदर्क-रोदनकर्म्म ही माना गया है। रोदनधर्म्मात्मक-रुद्र की दाहकता ही विश्वैश्वर्य्य की अन्यतमा विघातिनी मानी गई है। अर्थात् जहाँ, जिस क्षेत्र में विशुद्ध-निष्कैवल्य-दाहकधर्म्मा-रुद्र का ही प्राधान्य होजाता है, वहां रोदन-शोक-परिताप-ऐश्वर्य्य-विनाश के अतिरिक्त और कुछ भी तो शेष नहीं बचता। रुद्र किस अवस्था में रोदनरूप नाशधर्म्म के प्रवर्त्तक बनते हैं ?, प्रश्न का उत्तर है-वैष्णव-भार्गवाङ्गिरस-एश्वर्यार्थक-पारमेष्ठ्य तपोभाव से पृथक् रहने वाले निष्कैवल्य-रुद्र। यदि रुद्र के साथ पारमेष्ठ्य-ऐश्वर्य्यप्रवर्त्तक-यज्ञात्मक-कर्म्म समन्वित होजाता है, तो वे ही रुद्र अपनी दाहकता का परित्याग करते हुए 'शिवस्वरूप' में परिणत होजाते

हैं, और वैष्णवतपोयुक्त सौर रुद्र यों रुद्रत्व से शिवत्व में परिणत होते हुए ऐश्वर्य्यविनाश-विरोध-के स्थान में ऐश्वर्य्य-संग्रह-संरक्षण-में ही प्रवृत्त होजाते हैं। और यही सौररुद्रानुगत-तपोभाव का दाहाथक वह चिरन्तन इतिवृत्त है, जिसके प्रसङ्ग से ही यहां शिवस्वरूप का प्रसङ्ग भी समुपस्थित होपडा है।

उक्त स दर्भ के आधार पर हमें अब इस निष्कर्ष पर पहुँचना पडा कि, संयती नाम की ब्राह्मी-त्रिलोकी के अधिष्ठाता अ यक्तमूर्त्ति-ज्ञानप्रधान-स्वयम्भू ब्रह्मा, क्रन्दसी नामकी वैष्णवी-त्रिलोकी के अधिष्ठाता यक्ता यक्तमूर्ति कर्म्मप्रधान-परमेष्ठी-विष्णु, एव रोदसी नाम की सौरी-(ऐन्द्री)-त्रिलोकी के अधिष्ठाता व्यक्तमूर्त्ति-अर्थप्रधान-भूतप्रधान-रुद्र, इन तीनों अक्षरदेवताओं की क्रमानुगता **ज्ञान-क्रिया-अर्थ**-नाम की तीनों शक्तियों से अनुगत, **स ताप-ऐश्वर्य्य-दाह**-भावनिब धन-त्रिविध-तपोभाव ही- **तप** शब्द का सकलनात्मक-वह-चिर तर-इतिवृत्त है, जिस का अथवसंहिता मे क्रमश विस्तार से स्वरूप-स्पष्टीकरण हुआ है *। स तापार्थक तप ब्राह्मतप है एव यह ज्ञानप्रधान तप है। ऐश्वर्य्यार्थक तप वैष्णवतप है एव यह कर्म्मप्रधान तप है। तथा दाहाथक तप सौर-रौद्र-तप है, एव यह अथप्रधान तप है। इस प्रकार तपोभाव सवथा विभिन्न तीन सृष्टिधाराओं मे विभक्तरूपेण व्यवस्थित होरहा है।

ज्ञानात्मक-ब्राह्म तप को आधार बनाए बिना कर्म्मात्मक वैष्णवतप सवथा निरथक है, एव वैष्णवतप को आधार बनाए बिना अर्थात्मक रौद्रतप सर्वथा व्यर्थ है। इसी तथ्य के आधार पर पर हमें इस निष्कष पर भी स्वत ही पहुँच जाना पडता है कि **ज्ञानात्मक तप के आधार पर प्रतिष्ठित कर्म्मात्मक तप ही अर्थात्मक तप की स्वरूप-प्रतिष्ठा है**। ज्ञानशक्ति से समन्वित स तापाथक स्वायम्भुव-ब्राह्मतप का सग्राहक 'तप ' शब्द क्रियाशक्ति से समन्वित ऐश्वर्य्याथक पारमेष्ठ्य वैष्णवतप का संग्राहक 'तप शब्द, एव अथशक्ति से समन्वित-दाहथक-सौर-रौद्रतप का संग्राहक 'तप शब्द, तीनों स्वरूपत -आकारत -अभिन्न-प्रतीत-होते हुए भी अपने धातु-प्रकृति-प्रत्ययानुब ध से सवथा विभिन्न है और इस विभिन्नता का श्रेय है शब्दशास्त्र के द्रष्टा शब्दविज्ञानसाक्षात्कर्त्ता भगवान्-पाणिनि की एतदनुबन्धिनी सुप्रसिद्धा उस धातुत्रयी को, जिस में- **'सन्ताप -'ऐश्वर्य्य'-'दाह** अर्थों के संग्राहक विभिन्न तीन धातुओं का ही संग्रह हुआ है **'तप सन्तापे'-'तप ऐश्वर्य्ये - तप दाहे'** रूपेण। स तापाथक तप से अनुगत तप शब्द स्वायम्भुव-ज्ञानप्रधान ब्राह्म तप का ही संग्राहक है, तो ऐश्वर्य्याथक तप धातु से समन्वित 'तप ' शब्द पारमेष्ठ्य-क्रियाप्रधान-वैष्णवतप का ही संग्राहक है एव दाहाथक तपधातु से निष्पन्न 'तप ' शब्द सौर-अर्थप्रधान-रौद्रतप का ही अनुग्राहक है, और यही 'तप श ब्द की वह सक्षिप्ततमा पारिभाषिकी विभक्ता रूपरेखा है, जिस के समन्वय के बिना केवलभावेन गृहीत 'तप' 'तपस्या' 'तपश्चर्य्या', आदि लोकानुब धों से अर्थ के स्थान में उसीप्रकार अनर्थ ही सम्भावित बन जाता है, जैसेकि ब्राह्मतप, एव-वैष्णवतप से आत्यन्तिकरूपेण पराङ्मुख, निरपेक्ष आजका 'तपस्यानुगत' तप शब्द अर्थ के स्थान में अनर्थ का ही जनक बनता आरहा है।

कथमिति चेत् ?, श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् ! ! तथोक्त त्रिविध देवानुगत-त्रिविध-तपोभाव **'त्रि सत्या वै देवा '** इत्यादि पारिभाषिक-अनुगम सिद्धान्त के अनुसार **आधिदैविक-अध्यात्म-अधिभूत**

***-देखिए 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा नामक निबन्धान्तर्गत आथर्वण कालसूत्र का समन्वय प्रकरण।**

भेदेन तीन संस्थाओं के साथ समन्वित होरहे हैं, जिन में से प्रकृत में मानवसंस्थानुप्राणिता अध्यात्मसंस्था की दृष्टि से ही तत्प्रासङ्गिक प्रश्न का समाधान–प्रयास–समीचीन होगा। मानव के अध्यात्म में आत्मसमन्विता, अतएव समभावापन्ना–समत्व–योगान्विता–'सत्त्वबुद्धि' स्वायम्भु–ब्राह्मतप की अभिव्यक्ति का क्षेत्र माना गया है। इत्थंभूता बुद्धि से समन्वित, बुद्धि से नियन्त्रित, अतएव–सहजरूपेणैव सत्वगुणान्वित 'सर्वेन्द्रिय नामक 'प्रज्ञानमन ही पारमेष्ठ्य–वैष्णव–तप का अभिव्यक्ति–क्षेत्र माना गया है। और एसे प्रज्ञानमन से अनुगता 'सुरुचि' से समन्वित 'शरीर' ही सौर–रौद्र–तप की अभिव्यक्ति का क्षेत्र माना गया है, जो रौद्र–दाहात्मक शारीरक तप पूर्वकथनानुसार पारमेष्ठ्य–ऐश्वर्य्यात्मक तपोभाव से समन्वित होता हुआ 'शिवरूप' में ही परिणत रहता है।

तदित्थं बुद्धितन्त्रानुवर्ती सत्तापात्मक ज्ञानशक्ति से समन्वित ब्राह्मतप, मनस्तन्त्रानुवर्ती–ऐश्वर्य्यात्मक–क्रियाशक्ति से समन्वित–वैष्णवतप, एवं शरीरतन्त्रानुवर्ती शिवभावात्मक अर्थशक्ति से समन्वित शैवतप, इन तीनों तपों की 'एकत्र' समन्वयमूर्त्ति मानवश्रेष्ठ के इस समन्वयात्मक तपोऽनुष्ठान से निश्चयेन ऐहिक, तथा आमुष्मिक सभी पुरुषार्थ अन्वर्थ प्रमाणित होते रहते हैं क्या होते रहते थे उन पुरातन–आर्षयुगों में, जिनमें ज्ञानात्मक ब्राह्मतप ही सर्वप्रधान था, तदाधार पर कर्म्मात्मक वैष्णवतप प्रतिष्ठित था, और तदाधार पर प्रतिष्ठित दाहात्मक तप को भी शिवभाव में ही परिणत होजाना पड़ता था। और आज ?

और आज ?, इस प्रासङ्गिक प्रश्न का भी समन्वय कर लीजिए। ब्राह्मतपोरूपा ज्ञानचर्य्या आज सर्वथैव अभिभूता प्रमाणित होचुकी है किंवा बलपूर्वक ज्ञानोपासना का 'उपेक्षा' की कोटि में ला खड़ा किया है। मनोऽनुगता यज्ञात्मिका–कर्म्मपद्धति का स्थान भी दिग्देशकालानुगत–सामयिक–यथेच्छ–काल्पनिक–कर्म्मोंने आत्यन्तिकरूपेण अपहृत कर लिया है, और शेष रह गया है शरीरानुबन्धी वह दाहात्मक तप, जिसे आज की भाषा में—'श्रम' कहा जासकता है। अवश्य ही उस 'श्रम' का 'पाणि' रूपेण भगवान् वेदव्यास ने मुक्तकण्ठ से यशोगान ही किया है, जिस श्रमरूप–पाणिसमन्वित–शारीरिक–तप को मनोबुद्धि–निबन्धन परिश्रमाश्रमभाव शिवभाव में परिणत किए रहते हैं। किन्तु ज्ञानरूप आश्रम, एवं यज्ञरूप मानसिक परिश्रम से वञ्चित केवल शरीरतपोरूप श्रम तो विशुद्धा वैसी रुद्रविभूति ही मानी गई है, जिसका परिणाम–'सोऽरोदीत' के अतिरिक्त और कुछ भी तो नही है। भगवान् करे ! भारतीय मानव अपनी इस केवल श्रमात्मिका–तपोवृत्ति के तथाविध भीषण–परिणाम को लक्ष्य बनावे, एवं तत्परित्राण के लिए श्रुति–स्मृति–पुराणादि आर्षशास्त्रसिद्ध यज्ञात्मक–ऐश्वर्य्यसंसाधक मानसिक–परिश्रमानुबन्धी पारमेष्ठ्य तप को, एवं तत्प्रतिष्ठारूप–बुद्ध्यनुगत–आश्रमानुबन्धी–स्वायम्भुव तप को अपने शारिरिक–श्रमरूप तप की प्रतिष्ठा बनाता हुआ अभ्युदय निःश्रेयस का भोक्ता प्रमाणित हो, इसी मङ्गलकामना के साथ 'दसवें–कर्म्म' (१०) से सम्बद्ध 'तप' शब्द का संक्षिप्त–चिरन्तन–इतिवृत्त–उपरत होरहा है।

१० (१)

* * * * *

श्री

(११)-पिष्टेनोदकमिश्रेतन पुरोडाशसम्पादनात्मक-कर्म्मप्रसङ्गतः-समन्विता-प्रासङ्गिकी

'वषट्कार'-शब्द-निबन्धना-परिभाषा

२

वैदिक सृष्टिविज्ञान के गरिमा-महिमामय-प्राङ्गण में 'वौक्-षट -'वौषट्'-'वाक षट्' आदि विभिन्न-भावो से अनुप्राणित सुप्रसिद्ध-'वषट्कार' शब्द का भी एक विशेष ही महत्त्व सुप्रतिष्ठित है। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि- वषट्कारात्मिका वाक्साहस्री विद्या के आधार पर ही वैदिक विज्ञान का गणित सिद्धान्तात्मक-ज्योतिष्चक्र निबन्धन (खगोलीय) समन्वय सुव्यवस्थित, एवं प्रतिष्ठित है। जिसप्रकार वर्त्तमान भौतिक-विज्ञान के क्षेत्र में गणितानुगत-भावो का मील नामक परिमाण-विशेष के आधार पर समन्वय किया जाता है तथैव भारतीय-वैदिक-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले सापेक्ष-दूरत्व-आदि का व्यवस्थापनसूत्र वषट्कारात्मक वह साहस्री-भाव ही है, जिसके पारिभाषिक सहस्र-प्राणात्मक-गौतत्व-के माध्यम से ही तद्व्यवस्थाओ का नियमन हुआ है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा। अतएव मानना पडेगा कि, वषट्कारानुगता, किंवा वषट्कारात्मिका वाक्-साहस्री-विद्या के पारिभाषिक-समन्वय के बिना वेदानुगत किसी भी सृष्टि-विज्ञान का यत्किञ्चित् भी समन्वय सम्भव नही है। प्रस्तुत ११ वे कर्म्म में प्रसङ्गत वाकसाहस्री विद्या से अनुगत उस महत्त्वपूर्ण 'वषट्कार' शब्द के ही पारिभाषिक-तथ्य का स्पष्टीकरण-प्रयास हुआ है, जिसका अत्र दो शब्दो में सस्मरणमात्र कर लिया जाता है उदाहरणधियैव।

स्पृश्य-पिण्डात्मक प्रत्येक भौतिक-वस्तुपिण्ड पञ्चमहाभूतात्मक है। अर्थात् गुण अणु रेणु भूत नामक पूर्वस्थ इन चार वर्गों के क्रमिक-पञ्चीकरण से अनन्तत स्थूलरूप में परिणत, अतएव महाभूत' इस पारिभाषिक नाम से समन्वित आकाश-वायु तेज जल मृत् इन पञ्च पञ्चीकृत भावो के अन्तर्य्यामात्मक एकत्र समन्वय से ही प्रत्येक वस्तुपिण्ड का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। पाचो ही पञ्चीकृत हैं। अतएव पञ्चीकृत पाचो से क्रमश पाँच जातियों के ही वस्तुपिण्डों की अभिव्यक्ति हुइ है इस पाञ्चभौतिक-महा-विश्व में, जिसकी प्रकृति इस पञ्चभावानुबन्ध से ही 'पञ्चपर्वा' नाम से प्रसिद्ध हुइ है, जैसाकि-'पञ्चपर्वामधीम' इत्यादि श्वेताश्वतरवचन से प्रमाणित है।

पञ्चमहाभूतात्मक पञ्चीकृत पाचों भौतिक-पिण्डो में एक एक महाभूत तो प्रधान है एव शेष चार चार महाभूत गौण हैं। अतएव-'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वाद' के अनुसार पञ्चात्मक भी प्रत्येक भूतपिण्ड प्रसिद्ध होता है उस प्रधानभूत-विशेष भूत के नाम से ही, जो तत्संस्था की पञ्चीकरणप्रक्रिया की आधारभूमि बना रहता है। एव इस दृष्टि से आकाशपिण्ड वायुपिण्ड तेज पिण्ड-जलपिण्ड मृत्पिण्ड प्रधानत्वेन

पाँच महाभूतात्मक वस्तुपिण्ड अभिव्यक्त होरहे हैं इस पाङ्क्त (पञ्चावयव) विश्व में, जो पाँचों पिण्ड क्रमशः स्वयम्भूपिण्ड (आकाशात्मा), परमेष्ठीपिण्ड (वाय्वात्मा), सूर्य्यपिण्ड (तेजोमय), चन्द्रपिण्ड (जलीयपिण्ड(१)), एवं भूपिण्ड (मृत्पिण्ड), इन नामों से वैदिक-सृष्टिविज्ञान में सुप्रसिद्ध है। पाँचों ही पिण्ड (प्रत्येक) पञ्चीकरण के सम्बन्ध से यद्यपि पञ्चात्मक हैं। तथापि प्रधानत्वेन पाँचों आकाशादि प्रधान अभिधाओं से ही समन्वित होरहे हैं।

उक्त पाँचों महाभूतों में सर्वादिभूत आकाशभूत ही वह मौलिक भूत है, जिसके बलानुगत ग्रन्थिबन्धन से ही शेष वाय्वादि चारों महाभूत अभिव्यक्त हुए हैं। आकाशभूत का उत्तर परिणाम वायुभूत है, तदुत्तर परिणाम तेजोभूत है, तदुत्तर उदक जलभूत है, और सर्वान्त का परिणाम मृद्भूत है। अतएव मानना पड़ेगा कि-पाँचों ही भूत आकाशभूत से अभिन्न बनते हुए आकाशात्मा ही हैं, अवकाशमय ही हैं। और यह आकाशतत्त्व अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण है वैदिक-सृष्टिविज्ञान का, जिसके स्वरूप-समन्वय के आधार पर ही वैदिक-भूतभौतिक-विज्ञान सुसमन्वित है (२)।

तत्त्वात्मक नित्यकूटस्थ-जिस अपौरुषेयवेद का पूर्वप्रकाशित शतपथ-प्रथमखण्ड के कृष्णमृगचर्मप्रकरण में विस्तार से स्वरूप विश्लेषण-किया गया है (देखिए प्रथमकाण्डानुगत प्रथमखण्ड-पृष्ठ सं० ४६५ से ५३६ पर्य्यन्त), उस सृष्टिमूलभूता तत्त्वात्मिका त्रयीविद्या का सुप्रसिद्ध 'यज्जू' वेदात्मक-'यजुर्वेद' ही आकाश का स्वरूप-परिचायक है। गतिप्रकृतिक प्राणभाव ही 'यत्' है, एवं स्थितिप्रकृतिक वाग्भाव ही 'जू' है, और इत्थंभूत-गति-स्थिति-रूप प्राण-वाग्-भावों की समन्वितावस्था ही 'यज्जू' है, जिसे परोक्षप्रिय महर्षि-'यजु' कहा करते हैं, जो कि वयोरूप यजु ऋक्सामरूप वयोनाध से छन्दित रहता हुआ 'छन्दोवेद' नाम से प्रसिद्ध है

स्पष्ट है कि, प्राणानुगत वाग्भाव ही 'जू' है, और इसीका लोकव्यावहारिक नाम है-'आकाश'। (३) वाग्रूप आकाश में कम्पन उत्पन्न कर देने वाला प्राणरूप यद् भाग ही 'श्वा' नामक मघवेन्द्र है। अतएव जूरूपा आकाशात्मिका 'वाक्' को श्रुति ने इन्द्रपत्नी माना है (४)। इन्द्रात्मक-यत्-प्राण से अनु-

---

(१)-तरणिकिरणसङ्गात्-एष पानीय-पिण्डः।
दिनकरदिशि चञ्चच्चन्द्रिकाभिश्चकास्ते ॥
—सिद्धान्ततत्त्वविवेक

(२) यह स्मरणीय है कि, वर्त्तमान भूतविज्ञान की दृष्टि में आकाश नामक कोई तत्त्व नहीं है। प्रकाशित निबन्धों में यत्र तत्र इस भ्रान्ति का निराकरण कर दिया गया है।

(३) जूराकाशे सरस्वत्यां पिशाच्यां यवने स्त्रियाम् (कोशवचन)

—वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
—तैत्तिरीयब्राह्मण

ग्रहीता इन्द्र पत्नीरूपा 'जू' रूपा वाक ही वह आकाशतत्त्व है, जिसकी मत्यबलानुगता चिति-सचिति से ही उत्तर की भूतचतुष्टयी अभिव्यक्त हुई है, जैसाकि तैत्तिरीयोनिषत् की सृष्टिविद्या में विस्तार से निरूपित है। वहा बतलाया गया है कि, आत्मा से आकाश सम्भूत है, इससे वायु वायु से तेज तेज से जल, एव जल से मृत् नामक अतिम महाभूत अभिव्यक्त हुआ है *। प्रश्न यही है कि, तैत्तिरीयश्रुति का **आत्मा** कौन है ?। प्रश्न का समाधान है–सृष्टिसाक्षी वह मन प्राण प्रधान सृष्ट्युन्मुख विश्वात्मा, जिसकी अधिष्ठानभूमि मुक्ति-साक्षी आनन्द विज्ञान प्रधान मुक्त्युन्मुख वह विश्वातीतात्मा ही बना हुआ है, जिसका उपनिषदोंने–नेति नेति रूपेण यशोगान किया है। आनन्दघन विज्ञानमनोरूप मुक्तिसाक्षी अव्ययात्मा की साक्षी में प्रतिष्ठित मनोऽनुगत प्राण तत्त्व ही वह विश्वात्मा है, जिसका तैत्तिरीय उपनिषत् में—**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूत** इत्यादिरूपेण सस्मरण हुआ है। आनन्द–विज्ञान–गर्भित–मन से अनुगत यत्–रूप गतिप्रकृतिक–'एकर्षि' नामक अप्राणात्मक **'अव्ययप्राण'** ही तैत्तिरीय का वह पारिभाषिक आत्मा है, जिससे जूरूप आकाश नामक 'वाग्' भाव ही सर्वप्रथम अभिव्यक्त होता है। और यों अब 'वाक्' रूप आकाश के समन्वय से आनन्दविज्ञानगर्भित मनोऽनुगत प्राणरूप आत्मा की स्वरूप याप्ति वागाकाश पर्यन्त होजाती है। अतएव बृहदारण्यकश्रुतिने सृष्टिसाक्षी आत्मा का अनन्तरोक्त्वा–**'स वा एष आत्मा वाङ्मय प्राणमयो मनोमय'** यही लक्षण मान लिया है, जिसका अर्थ है–'आनन्दघन विज्ञानगर्भित मन प्राण वाङ्मय सृष्टिसाक्षी तत्त्वविशेष'', जिसका स्वय तैत्तिरीयने भी **'पञ्चकोशविद्या'** के माध्यम से विस्तार से यशोगान किया है।

तथोक्ता प्रासङ्गिकी पञ्चभूतसृष्टि के माध्यम से अब हमें स्वत एव इस तथ्य पर पहुँच जाना पडा कि, पञ्चमहाभूतात्मक विश्व का मूलभूत–'आकाश नामक वह महाभूत ही है, जो–'जू' रूप–स्थितिप्रकृतिक, 'वाक्' तत्त्व ही है। वाग्रूप यह आकाश ही क्योंकि बलग्रन्थि के उत्तरोत्तरभावी क्रमिक सघात से शेष चारो भूतों में परिणत हुआ है, अतएव पाचो ही भूतो को, किंवा पूर्वोक्त स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्र–भू–नामक पाचो ही भूतभौतिक–सृष्ट्यपिण्डो को **'वाङ्मयपिण्ड'** मान लिया जासकता है। यही आकाशात्मिका मन–प्राणगर्भिता–वाक की सर्वभूत याप्ति का सक्षिप्ततम निदर्शन है, जिस के आधार पर ही **'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता–अथो वागेवेद सर्वम्** इत्यादि निगम यवस्थित हुए हैं। यही आकात्मिका विश्वव्याप्ता सर्वरूपिणी सर्वात्मिका वाग्देवी उस प्रस्तुत **'वषट्कार'** शब्द के चिरन्तन–इतिवृत्त की आधारभूमि बनी हुई है जिस के माध्यम से ही हमे अब तन्निबन्धना वाकसहस्री का दो शब्दों में स्मरणमात्र कर लेना है।

'वाक्' शब्द का रहस्यात्मक अर्थ है **'मन प्राण गर्भित तत्त्वविशेष'**। अर्थात् उस तत्त्व का ही नाम 'वाक्' है, जिस के गर्भ में मन, और प्राण प्रतिष्ठित हैं। तभी तो बृहदारण्यकोक्त मन प्राणवाङ्मय–लक्षण **अन्वर्थ** प्रमाणित होता है। किस आधार पर कैसे वाक् का अर्थ 'मन प्राणगर्भिततत्त्व होगया ?, प्रश्न का समाधान वैदिक विज्ञानानुगता अक्षरवर्णनिबन्धना अत्यन्त रहस्यपूर्णा उस **'सकेतविद्या**

***–तस्माद्वा–एतस्मादात्मन आकाश सम्भूत, आकाशाद्वायु:, वायोरग्नि:, अग्नेराप:, अद्भ्य: पृथिवी (मृत्)।**

—तैत्तिरीयोपनिषदि

Ck

पर ही अवलम्बित है, जिस के समन्वयाधार पर ही वैदिक-पारिभाषिक-शब्दों का तत्त्वार्थ समन्वित होता है। तद्विद्यानुसार **मन** का सङ्केतात्मक नाम है- **अ कार**, और **प्राण** का साङ्केतिक नाम है 'उ कार। वास्तविक सहज स्थिति है-**मन प्राण वाक्** यह। किन्तु सृष्टिधारा में मध्यस्थ गतिशील प्राण ही प्रथम स्थान ग्रहण कर लेता है। प्राण के गमन से ही तदाधारभूत मन को भी सृष्टिकर्म्म में समन्वित होना पडता है, जैसाकि दैनिक अनुभवों से स्पष्ट है। हमारा सालस मन कर्म्म की ओर प्रवृत्त नही होना चाहता। किन्तु सवितृप्राण की प्रबल प्रेरणा से जब हमारा '**प्राण** बलपूर्वक अनिच्छन्नपि कर्म्म में प्रवृत्त होपडता है, तो हमारा अनिच्छाभावानुबन्धी मन भी न न करता हुआ भी अ ततोगत्त्वा तत्कर्म्म में प्रवृत्त हो ही पडता है। इसी आधार ऋषिप्रज्ञाने- **चरैवेति-चरैवेति**" रूपेण प्राण व्यापार के प्राथम्य को ही कर्म्मसिद्धि का प्रमुख द्वार माना है।

अतएव स्पष्ट है कि-'**मन -प्राण-वाक्** रूप सहज भी क्रम सृष्टिकर्म्मानुगति में प्राण को प्रथम स्थान देता हुआ -'**प्राण-मन-वाक्**' इस रूप में परिणत होजाता है, जिसका सङ्केताक्षरनिबन्धन यही निष्कर्ष निकलता है कि- **अ (मन)-उ-(प्राण)-वाक्** के स्थान में '**उ-(प्राण) 'अ (मन) वाक्** यह क्रम सम्पन्न होजाता है। उकार को 'व्' कार यणादेश होजाता है। 'उ-अ-अच्' के स्थान में व्-अ-अच् स्थिति होजाती है और दीर्घत्वेन वाच् रूपेण- वाक् शब्द निष्पन्न होजाता है, जिस का स्पष्टतम यही रहस्यार्थ निकलता है कि जो तत्त्वविशेष स्वस्वरूपाभिव्याप्ति-प्रसार-के लिए उ, और अ-रूप प्राण, तथा मन की सतत याञ्चा करता है, अपेक्षा करता है, प्राणमनोगर्भित वैसा तत्त्वविशेष ही 'उ-अ-अच् इस सङ्केताक्षरविधा से 'वाक् रूप में परिणत होरहा है। ऐसा है यह-'वाकतत्त्व, और इत्थभूत मन प्राणगर्भित पाञ्चभौतिक -वाक्तत्त्व से कृतरूप पाञ्चभौतिक -पञ्च -स्पृश्यपिण्डो का ही है यह वाङ्मय-चिरन्तन-इतिवृत्त-निष्कर्ष, जिसे आधार बना कर ही अब 'वाक् निबन्धन "**वषट्कार**' शब्द का समन्वय अन्वेष्टव्य है।

पञ्चमहाभूतात्मक-पञ्चपर्वा-महाविश्व के पाचो ही विश्वपर्व वाङ्मय हैं, यह पूर्व-निवेदन से स्पष्ट होजाता है। वस्तुपिण्ड का साङ्केतिक नाम है-'स्पृश्यपिण्ड', जिस वाङ्मय-धामच्छद-भूतभौतिक पिण्ड का केवल स्पर्श ही सम्भव है। अतएव भूतपिण्ड का हम स्पर्शमात्र ही कर सकते हैं, देख नहीं सकते उसे। तो फिर किसे देखते हैं?, इस रहस्यपूर्ण प्रश्न का उत्तरप्रदान करने वाली दुरधिगम्या विद्या का ही नाम है- '**वाक्साहस्रीविद्या**, जिस का अत्यन्त पारिभाषिकी भाषा में ही ऋषिने निम्नलिखित मन्त्र से सस्मरण किया है—

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत् ।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद्ब्रह्मविष्ठितं तावती वाक् ॥

—ऋक्स०

वाक् को हमने प्राण, तथा मन से समन्वित बतलाया है। मनस्तत्त्व वाङ्मय पिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता है, एवं तदनुगत गतिशील-अधामच्छद प्राणतत्त्व वस्तुकेन्द्र में उक्थरूप से अपनी मूलप्रतिष्ठा सुरक्षित रखता हुआ अकरूप से पहिले तो वाङ्मय-स्पृश्यभावनिर्बन्धन वस्तुपिण्ड में व्याप्त होता है। अनन्तर इस वस्तुपिण्ड (स्पृश्यपिण्ड) को केन्द्र बनाता हुआ यहीं अर्कात्मक प्राण बडी दूर पर्य्यन्त अपना एक स्वतन्त्र-मण्डल-बनता है, जो मण्डल सख्यानुगति से एकसहस्र सख्यात्मक मान लिए गए हैं।

यही बहिर्मण्डल प्राणप्रधान मनोवाग्गर्भित वह साहस्री मण्डल है, जिस का हम मण्डलो के तारतम्य से साक्षात् कार तो कर सकते है, कि तु जिस का अधामच्छुदत्वेन हस्तादि से सस्पर्श कदापि सम्भव नही है। यही स्पृश्य, और दृश्य का वह आत्यन्तिक-पार्थक्य है, जिसका स्वरूपबोध वाङ्मय-वषट्कारविज्ञान के स्वरूप समन्वय पर ही अवलम्बित है।

स्पृश्यपिण्ड भी मन प्राणवाङ्मय है, एव दृश्यमण्डल भी मन प्राण-वाङ्मय ही है। अन्तर दोनो में केवल यही है कि स्पृश्यपिण्ड जहा प्राण-मनो-गर्भिता वाक् को प्रधान बना रहा है वहा दृश्यमण्डल मनो वाक्-गर्भित प्राण को प्रमुखता प्रदान कर रहा है। वाक्प्रधान वस्तुपिण्ड पिण्ड है, एव प्राणप्रधान वस्तुमण्डल 'मण्डल है। स्पर्श पिण्ड का ही सम्भव है, तो दर्शन मण्डल का ही होता है।

मण्डलानुगत-अर्कात्मक प्राण की अवयवात्मिका व्याप्ति की पारिभाषिकी सज्ञा है- स्तोम' (राशि-स्तूप-ढेर-समूह)। मनोवाग्गर्भित-प्राणतत्त्व ही स्वाभाविक-गतिधम्म से 'गौ' है, जो अर्करूप मनोवाक्प्राणमय-गौतत्त्व अभिप्लव-पृष्ठ्य-रूपेण दो स्तोमभागो में परिणत रहता है। रश्मिभावात्मिका प्राणसमष्टि ही अभिप्लवस्तोम है, एव मण्डलभावात्मिका प्राणसमष्टि ही पृष्ठ्यस्तोम है, जिन दोनो रहस्यपूर्ण-प्राणविध-स्तोमो का तत्प्रकरण-भाष्य में विस्तार से स्पष्टीकरण कर दिया गया है। केन्द्र से बहि परिधि पर्य्यन्त वस्तुपिण्डाकारत्त्वेन उत्तरोत्तर बृहन्मण्डलो में परिणत होने वाले प्राणमण्डल ही 'पृष्ठ्यस्तोम' कहलाए हैं, एव केन्द्र से बहि परिधि पर्य्यन्त रश्मिरूपेण-सूच्यग्रमुग्र-वितायमान प्राणसमूह ही अभिप्लवस्तोम नाम से व्यवहृत हुए हैं, जिन इन दोनो के स्वरूप समन्वय के बिना वैदिकी-सृष्टिविद्या का समन्वय स्वप्न में भी सम्भव नही है।

हाँ, तो मनोवाक्गर्भित-प्राण रूप गौतत्त्व मण्डलसाहस्री के अनुबन्ध से सहस्र सख्या में विभक्त रहता है, जिन इन सहस्र-वाङ्मय-प्राणो की त्रिंशत्-त्रिंशत् (३०-३) प्राणराशि से जो एक स्वरूप अभिव्यक्त होता है—उसीका पारिभाषिक नाम है-'अहर्गण। फलत १००० प्राणात्मक गौतत्त्वों के ३० ३०-के अनुपात से (६०९० गौतत्त्वो के) ३३ (तैंतीस) अहगण होजाते हैं, शेष रह जाते हैं—दस गौप्राण, यही चतु स्त्रिश प्रजापति रूप चौतीसवा- सर्वप्रजापति नामक पारिभाषिक वाङ्मय प्रजापतिदेवता है। ३३ अह गणो में से आरम्भ के तीन अहगण वस्तुपिण्ड में भुक्त हैं। अतएव वस्तुमण्डल में ३० ही अहगण शेष रह जाते है जिनका अयुग्मरूपेण जो तत्त्वात्मक समन्वय होता है, उसीका नाम है-'वषट्कार'। वस्तुपिण्डभुक्त तीन अहगणो में वस्तुमण्डलयुक्त ३० अहगणो में से ६ अहर्गणो के समावेश से जो वाक् प्राणमय एक स्वतन्त्र स्तोम का स्वरूप सम्पन्न होता है, उसी का नाम है—'त्रिवृत्स्तोम (अर्थात् ९ अहर्गणों की समष्टिरूप स्तोम)। इसमें अयुग्मरूपेणैव आगे के ६ अहगणो के समावेश से—'पञ्चदशस्तोम का, और ६ के समावेश से-'त्रिणवस्तोम का, एव और शेषभूत अन्त के ६ अहगणों के समावेश से-'त्रयस्त्रिंशस्तोम का स्वरूप-सम्पन्न होता है। इन ३३ सों अहगणों का केन्द्रभूत एक सप्तदशम-अहर्गण-पृथक और मान लिया गया है, जो 'उद्गीथप्रजापति' का स्वरूप समर्पक बनता है। इसप्रकार त्रिवृत्-(९)-पञ्चदश (१५)-सप्तदश (१७)-एकविंश (२१)-त्रिणव-(२७)-त्रयस्त्रिंश (३३)-रूपेण वाङ्मय प्राण के किंवा प्राणमयी-महिमा-रूपा सुसूक्ष्मा वाक् के ६ (छह) विभिन्न स्तोम होजाते हैं। एक ही मूलवाक्तत्त्व का स्तोमानुबन्धी यह षड्धा-विभाजन है। यही वाक् का षट्कार है, और यही वाक्षट्काररूप 'वषट्कार' शब्द का सक्षिप्ततम-चिरन्तनेतिवृत्त है।

वाक् के षट्काररूप वषट्कार का ही नाम है वाकसाहस्री मण्डल जिसके गर्भ में वेदसाहस्री लोकसाहस्री-वाक्साहस्री-नाम की तीन यष्टिरूपा अवा तर-साहस्त्रिया प्रतिष्ठित मानी गई है, जिस इस साहस्री-त्रयी की आधारभूमि है हृद्याक्षरत्रयी'। वस्तुपिण्ड के केन्द्र में मनोगर्भित जिस प्राण' तत्त्व की उक्थ रूपेण पूर्व में प्रतिष्ठा बतलाइ गइ है, वह हृदयस्थ प्राण हृदय में प्रतिष्ठित रहता हुआ स्वय भी 'हृ-द-यम्' रूपेण त्र्यक्षरात्मक-अक्षरप्राण ही है जिसका हृ नामक एकाक्षर आहरणधर्म्मा विष्णु है, यही आगति धर्म्मा प्राण है। द् नामक एकाक्षर खण्डनधर्म्मा- इन्द्र' है यही गतिधर्म्मा प्राण है। एव 'यम्' नामक एकाक्षर नियमनधर्म्मा ब्रह्मा है, और यही गतिसमुच्चयधर्म्मा स्थितिरूप प्रतिष्ठाप्राण है। इसप्रकार तीन अक्षरो की समन्वितावस्थारूप त्र्यक्षरमूर्त्ति-हृदयस्थ प्राण के आधार पर ही मनोवाग्गर्भिता वाक्साहस्री के तीन महिमा विवर्त्त निष्पन्न होजाते है मन-प्राण-वाक् की गौण प्रधानवृत्ति के कारण, जिसका निष्कर्ष यही है कि—

मनोवाग्गर्भिता प्राणप्रधाना साहस्री का ही नाम वैष्णवीसाहस्री है, यही लोकसाहस्री है, जिसका 'हृ' अक्षरात्मक विष्णु नामक अक्षर से ही प्रधान सम्ब ध है। मन प्राणगर्भिता वाकप्रधाना साहस्री का ही नाम 'ऐन्द्रीसाहस्री है यही वाक्साहस्री है, जिसका 'द क्षरात्मक 'इन्द्र' नामक अक्षर के साथ ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। एव 'प्राण-वाग-गर्भिता-मन-प्रधाना साहस्री का नाम ही ब्राह्मी साहस्री है, यही 'वेदसाहस्री है, जिसका 'यम् अक्षरात्मक ब्रह्मा' नामक अक्षर के साथ ही प्रधान सम्ब ध माना गया है। इसप्रकार ब्रह्माक्षररूप प्रतिष्ठातत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित इन्द्र-विष्णु-की गत्यागति-धर्म्मावच्छिन्न अब्मूला पारस्परिकी प्रतिस्पर्द्धा से होने वाले ब्राह्म-वैष्णव-ऐन्द्र-प्राणों के वीरणरूप-अर्कात्मक ऊर्ध्ववितान से एक ही वाक्साहस्री के उक्त गौण प्रधान क्रम से तीन साहास्रयाँ अभिव्यक्त होजातीं हैं, जिन इन तीन साहस्रियो के अवारपारीण-ऊर्ध्व-अध-तिर्य्यक्-सर्वतोभावी वितान से एकविधापि साहस्री आरम्भ में त्रिसाहस्रीरूप में परिणत होती हुई 'सहस्रधा महिमान सहस्रम् रूपेण असख्य अगणित साहस्री विनानभावों में विभक्त होजाती है, जिनकी प्रधानभूता साहस्री त्रयी का ऋषि ने निम्नलिखितरूपेणैव सस्मरण किया है—

उभा जिग्यथुर्नपराजयेथे, न पराजिग्ये कतरश्च नैनो ।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथा त्रेधा सहस्र वि तदैरयेथाम् ॥ (ऋक्सहितायाम्)

किं तत् सहस्रमिति ?

इमे लोका (लोकसाहस्री वैष्णवी)
इमे-वेदा (वेदसाहस्री-ब्राह्मी)
अथो-वाक्-इति ब्रूयात् (वाक्साहस्री ऐन्द्री)

—ऐतरेय-आरण्यके

पर ही मण्डलात्मक 'वैश्वरूप्य' का वितान हुआ है, जिस वैश्वरूप्य के माध्यम से ही पाचो विश्वपुरों में परस्पर वसुधानकोशात्मक–वह सुप्रसिद्ध दहरोत्तरसम्बन्ध प्रतिष्ठित है, जिसके आधार पर ही पाचो पुरो में पञ्चपुर-स्वरूप सगर्त्तिका वह यज्ञप्रक्रिया प्रक्रान्ता है, जिसका 'प्रहिता सयोग' 'प्रयुता सयोग' इस परिभाषाद्वयी के माध्यम से ही ऋषि ने स्वरूप–विश्लेषण किया है।

विश्वस्वरूपसस्थान के माध्यम से वस्तुस्थिति का समन्वय कीजिए। आकाशभूत–प्रधान–स्वयम्भू नामक प्रथमपिण्ड पहिला स्पृश्यपिण्डात्मक पहिला वाङ्मय पिण्ड है। इसीके अनुरूप स्वरूप रखने वाले क्रमश वायु तेज जल, मृत् नामक भूतप्रधान चारो स्पृश्यपिण्डात्मक वाङ्मयपिण्ड क्रमश परमेष्ठी सूर्य्य चन्द्रमा भूपिण्ड, नामक चार वाङ्मय पिण्ड है। यह अविस्मरणीय है कि यह क्रम दृष्टिमूला-सृष्टिविद्या से ही सम्बन्ध रखता है। यदि सृष्टिमूला सृष्टिविद्या के क्रम से विचार किया जायगा, तो–'चन्द्रमा सर्वान्त में प्रतिष्ठित माना जायगा। क्योकि ग्रहोपग्रहभावनिबन्धना दर्शपूर्णमासयज्ञानुबन्धिनी सुप्रसिद्धा 'प्रतिपदनुचरविद्या' से अनुगता क्रमसिद्धा व्यवस्था के अनुसार स्वयम्भू का उपग्रह सूर्य्य है, सूर्य्य का उपग्रह भूपिण्ड है, एव भूपिण्ड का उपग्रह अत्रिप्राणनिबन्धन चन्द्रमा है। सर्वान्तभावात्मिका इस अवसानात्मिका स्थिति के कारण ही चान्द्रसाम 'निधनसाम' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

उक्त क्रमसिद्ध आकाशात्मा–स्वयम्भू–पिण्ड, वाय्वात्मा परमेष्ठी–पिण्ड, तेजोमयात्मा सूर्य्य–पिण्ड, मृन्मय भूपिण्ड, एव जलीय चन्द्रपिण्ड, इन पाचो–वाङ्मय–महाभूतात्मक–विश्वपिण्डो के साथ (प्रत्येक के साथ) उस वाङ्मय–वषट्कारमण्डल का सम्बन्ध है, जो 'वैश्वरूप्य' नाम से प्रसिद्ध है। पाचो के अपने अपने महिमामण्डलात्मक–पाच–वैश्वरूप्य हैं, एव प्रत्येक मे तथाकथिता साहस्री त्रयी का स्व–स्व–पिण्डपुर–अवस्थानानुपात से ही उपभोग होरहा है। इन वाङ्मय–महिमामण्डलो के अनुपात से ही पाचो विश्वपुरों का वसुधानकोशात्मक–दहरोत्तरसम्बन्ध माना गया है जिसका निष्कर्षार्थ यही है कि, स्वयम्भू नामक आकाशात्मा–प्रथम–वाङ्मय पिण्ड के महिमामण्डलात्मक–वाक्साहस्रीमण्डलरूप वैश्वरूप्य के गर्भ में समहिममण्डल शेष चारों विश्वपर्व बुद्बुद्वत् प्रतिष्ठित हैं। एवमेव परमेष्ठी के महिमा–मण्डल में शेष तीनो, सूर्य्य के महिमा–मण्डल में शेष दोनो, एव भूपिण्ड के महिमा–मण्डल में समहिम–चन्द्रमा गर्भीभूत है। और यही वषट्कारशब्द–निबन्धना उस पारिभाषिकी वाक्साहस्री–विद्या–का सस्मरण–निष्कर्ष है, जिस से अनुप्राणित त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश–आदि स्तोमों के परिमाण–माध्यम से ही विश्वपर्वों के गणितसिद्ध–सामीप्य–और विदूरत्व का वैज्ञानिक व्यवस्थापन हुआ है।

उदाहरणार्थ–'सूर्य्य पृथिवी से कितनी दूर है ?, प्रश्न का उत्तर जहा आज का भूतविज्ञान अमुक करोड़ मीलों में देता है वहाँ वैदिक–सृष्टिविज्ञान में इस प्रश्न का उत्तर होगा–'एकविंशो वा इत–आदित्यः'। अर्थात् 'भूपिण्ड से सूर्य्य पार्थिव–वषट्कारमण्डल के २१वे अहर्गण पर बृहतीछन्द के केन्द्र में प्रतिष्ठित है", इत्यलमति–विस्तरेण 'वषटकारशब्द' निबन्धन–पारिभाषिक–प्रासङ्गिक–निदर्शनेन।

११ (२)

* * * *

श्री

१२–पुरोडाशमीमांसानुगत-पात्रीनिर्णेजन-कर्म्म प्रसङ्गतः "प्रासङ्गिकी-विविध-वैज्ञानिकी–चर्चाएँ"

एव

'तन्निबन्धना–विविध–परिभाषाएँ'

३

—*—

पात्रीनिर्णेजनात्मक–क्रमप्राप्त १२ वें कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता के प्रसङ्ग मे भगवान्–याज्ञवल्क्य के द्वारा जिन प्रासङ्गिक-पारिभाषिक–वैज्ञानिक-तथ्यो का स्पष्टीकरण हुआ है, उन मे से चतुर्विध–अग्निस्वरूप-विज्ञान, आप्त्यात्रयी-स्वरूप-विज्ञान, पश्वालम्भनविज्ञान, पञ्चप्राणात्मक-पशुस्वरूपविज्ञान, अहिंसा-हिसा स्वरूपविज्ञान, आदि कतिपय विषय विशेष महत्त्व रख रहे हैं, जिनमें पश्वालम्भन, पञ्चपशु, हिंसा–अहिंसा-नुगता विषयत्रयी तो आज के दिग्देशकालानुब ध से निश्चयेन विशेषतम ही स्थान रखने वाली मानी जायगी। अत्र उदाहरणरूपेण अत्य त सक्षेप से ही इन प्रमुख विषयो का उदाहरण–स्मरण करलेना पर्य्याप्त होगा।

(क)–अग्निविज्ञान निबन्धन-पारिभाषिक स्वरूप दिग्दर्शन—

अपने पारिभाषिक अनुगम अर्थ से अनुप्राणित -'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास' इत्यादि श्रुतिवचन से अनुप्राणित चतुर्द्धा विभक्त 'अग्नि के चतुर्विध महिमामय-विवर्त्तों का वेदशास्त्र में अनेकधा स्पष्टीकरण हुआ है। वस्तुस्थिति तो इस दशा में कुछ ऐसी है कि 'अग्निविद्या का विस्तारात्मक उपबृ हण ही सम्पूर्ण वेदशास्त्र का निष्कर्षार्थ है। जिस अपौरुषेय तत्त्वात्मक-स्वायम्भुव–ब्रह्मनि श्वसित वेद को विश्व का कारण माना जाता है वह वेदतत्त्व भी 'ब्रह्माग्नि नामक अग्निविशेष ही है, जोकि ऋक्सहितान्तर्गत सुप्रसिद्ध अस्यवामीय–सूक्त में 'वामपलित नामसे उपवर्णित है। ब्रह्माग्निरूप स्वायम्भुव–वामपलित-नामक ब्रह्माग्नि के आधार पर ही, इसी के आरम्भणधर्म्म से (उपादानधर्म्म से) जो ऋताग्नि - अभिव्यक्त होता है, उसी का नाम सुप्रसिद्ध वह–'आप्त्याग्नि' है जिस का महाभारत में एक आख्यानविशेष के द्वारा 'अग्निभ्रातर' रूप से समन्वय हुआ है। 'अग्निभ्रातर रूप इस द्वितीय 'आप्त्याग्नि' नामक 'ऋताग्नि का नाम ही आपोमय परमेष्ठी लोक है, जोकि विश्व का क्रमप्राप्त द्वितीय पर्व माना गया है।

आगे चलकर इस ऋताग्निरूप आप्त्याग्नि के गर्भ में पुन एक अपूर्व सत्याग्नि का केन्द्ररूपेण चयन होता है, जिसके लिए क स्विद्गर्भं दध्र आप' कहा गया है, एव जिसका 'तासु बीजमवासृजत् रूपेण मनु भगवान्ने स्मरण किया है। इस तृतीय–सत्याग्नि की चिति के अतिम परिणामरूप सञ्चितिधर्म्म से जिस

अग्निमय नवीन ब्रह्माण्ड की स्वरूपाभिव्यक्ति होती है, उसी का नाम है–'सौरब्रह्माण्ड', जिसे हम–रोदसी–त्रिलोकी' कहा करते है। यही क्रमप्राप्त तृतीय विश्वसंस्थान है, जिसका अग्निमयत्त्व भी स्फुट है ही।

और आगे चलिए। सौरब्रह्माण्डाग्नि ही कालान्तर में अपने संवत्सरधर्म्म से सम्वत्सररूप में परिणत होजाता है। और यही सम्वत्सरप्रजापति अपने ब्रह्मौदनात्मक प्रातिस्विक वित्त से जहां स्वस्वरूप का संरक्षण करता है, वहां विस्रंसनधर्म्मा प्रवर्ग्यभाग से अपने स्वरूप से पृथक् होता हुआ स्वानुगत पृथिव्यादि उपग्रहों का स्वरूप निर्म्माता बनता है। यही प्रजापति का सहज विस्रंसनधर्म्म है। सौर-देवमण्डल से प्रवर्ग्यरूपेण अपक्रान्त इसी चतुर्थ अग्नि से भूपिण्ड का स्वरूप निर्म्माण होता है। यही पारिभाषिक पार्थिव वह मृग्याग्नि है, ज्योतिर्भावाभिभूति से ही जो 'कृष्णमृग' नामक पारिभाषिक नाम से व्यवहृत हुआ है। और यों विश्व के क्रमप्राप्त चतुर्थ भूपिण्ड का भी अग्निमयत्त्व ही प्रमाणित होजाता है। शेष रह जाता है पञ्चम पर्वात्मक आपोमय सौम्य चन्द्रमा, जिसका आपोमय परमेष्ठीवत् ऋताग्नि में ही अन्तर्भाव है।

इसप्रकार द्विविध-भावापन्न पारमेष्ठ्य चान्द्ररूप ऋतधर्म्मा सुब्रह्मण्याग्नि, स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि, सौर सावित्राग्नि, पार्थिव गायत्राग्नि (मृगाग्नि) रूपेणापि अग्नि के चातुर्विध्य का समन्वय किया जासकता है, एवं यही चातुर्विध्य की एकविधा है। ऐसे अगणित चातुर्विध्य है अग्निमहिमा के, जिनमें से तत्कर्म्म में कतिपय परिगणित अग्निमहिमा विवर्त्तों का ही स्पष्टीकरण प्रयास हुआ है, जिन अनेकों विवर्त्तों में से यज्ञानुबन्ध से प्रमुखरूपेण जिन चार अग्नि भावों का तदग्निविज्ञान–प्रसङ्गत दिग्दर्शन कराया गया है, वे चारों पारिभाषिक अग्नि क्रमशः १–रसाग्नि, २ आर्त्तवाग्नि ३-छन्दस्याग्नि, ४–सावित्राग्नि इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

दधि घृत मधु रस त्रयात्मक-सौम्य त्रैलोक्य में व्याप्त रसतम नामक अग्निविशेष ही 'रसाग्नि' है, जिस के माध्यम से ही पार्थिव गायत्र सम्पत्ति का संग्रह हुआ करता है। उत्तरदिक्स्थ–वायव्य ऋताग्नि–विशेष ही दूसरा आर्त्तवाग्नि है, जिससे ऋतुओं का स्वरूप निर्म्माण हुआ करता है। वस्तुस्वरूप को आकारभाव प्रदान करने वाला वयोनाधात्मक आयतनरूप अग्निविशेष ही क्रमप्राप्त तीसरा–छन्दस्याग्नि' है। एवं सृष्टि का तृतीय पर्वात्मक सौर ब्रह्माण्ड-स्वरूप संरक्षक ब्रह्मौदनात्मक–अग्निविशेष ही क्रमप्राप्त चतुर्थ 'सावित्राग्नि' है। यज्ञकर्म्म निबन्धन (सृष्टिस्वरूप सम्पादक–कर्म्मनिबन्धन) इन चारों अग्नियों के पारिभाषिक समन्वय के द्वारा ही यज्ञसंग का तात्त्विक–समन्वय सम्भव है और यही अग्निविज्ञान निबन्धना प्रासङ्गिकी उदाहरणविधि का संक्षिप्त स्वरूप दिग्दर्शन है।

— –*— —

ख)—आप्त्यात्रयी-स्वरूप-विज्ञान—

आप्त्या–त्रयी से सम्बन्ध रखने वाले रहस्यपूर्ण विज्ञान का उस सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक–आख्यान से ही सम्बन्ध है, जिस में त्वष्टा के पुत्र अतएव 'त्वाष्ट्र' इस उपनाम से प्रसिद्ध तीन मस्तक वाले, एवं ६ आंखों वाले 'विश्वरूप' नामक प्रचण्ड असुर के वध का स्वरूपोपबृंहण हुआ है। आप्त्या के सहयोग से ही देवेन्द्र इस अद्भुत असुर को मारने में समर्थ होते हैं। पुराणशास्त्र में तो ऐसे ऐसे अद्भुत अद्भुत चरित्र पदे पदे समाविष्ट है ही, जिन का पारिभाषिक समन्वय न करने के कारण ही हम पुराण जैसे आप्यसर्वस्वशास्त्र' को

निरी गप्य मानते हुए- अशक्तास्तत्पद् गन्तु ततो निन्दा प्रकुर्वते को अक्षरश चरितार्थ करते ही रहते हैं। कि तु उस समय सहसा हमारी प्रज्ञा स्त ध होजाती है, जब कि स्वय वेदशास्त्र मे भी हम यत्रतत्र ऐसे ही विलक्षण आख्यानो को समन्वित देखते है।

"एकता–द्विता त्रिता नामके आप्त्या ब्राह्मणो के साथ क्षत्रियश्रेष्ठ इन्द्र इतस्तत उसी प्रकार विचरने लगे जैसेकि ब्राह्मणपुरोधा मूर्द्धाभिषिक्त राजा के साथ उसे सामयिक परामर्श देते हुए विचरते रहते ह। आगे चल कर आप्त्या-ब्राह्मणो के सहयोग से ही इन्द्र ने त्रिशीष षडक्ष विश्वरूप असुर को मारडाला' इस आख्यान का आप्त्याग्नि कौन है? षडक्ष त्रिशीष विश्वरूप असुर कौन है?, 'आप्त्याग्निज्ञान के द्वारा इन्ही प्रश्नो का विस्तार से वैज्ञानिक समन्वय हुआ है चतुर्विद्ध अग्निविज्ञान के अनन्तर।

पार्थिव सम्वत्सर यज्ञ से अनुगत, पार्थिव–स्तौम्यत्रैलोक्यानुबन्धी सुप्रसिद्ध त्रिवृत्–पञ्चदश एकविंश नामक (९ १५ २१ नामक) तीन स्तोमो के भेद से तीन पार्थिव लोक यवस्थित माने गए है, जिन की समष्टि ही 'पार्थिवी स्तौम्या त्रिलोकी' कहलाई है। इस पार्थिवी त्रिलोकी के पृथिवीरूप त्रिवृत्स्तोम में 'भूपति' नामक पार्थिव ध्रुवाग्निरूप (घनाग्निरूप) अग्नि प्रतिष्ठित है, यही प्रात सवनाधिष्ठाता अष्टविध वसुगणोपेत शवसोनपात् 'एकता नामक आप्त्याग्नि है। पार्थिवी त्रिलोकी के अन्तरिक्षरूप पञ्चदशस्तोम मे 'भुवनपति' नामक आन्तरिक्ष्य धर्त्राग्निरूप (तरलाग्निरूप) वायु प्रतिष्ठित है यही माध्यन्दिनसवनाधिष्ठाता–एकादशविध–रुद्रगणोपेत शवसोनपात्–'द्विता नामक आप्त्याग्नि है। पार्थिवी त्रिलोकी के ही द्युलोकरूप एकविंशस्तोम में 'भूतानापति नामक दिव्य–धरुणाग्निरूप (विरलाग्निरूप) आदित्य प्रतिष्ठित है। यही सायसवनाधिष्ठाता द्वादश–आदित्यगणोपेत-शवसोपानत्–'त्रिता नामक–आप्त्याग्नि है। इसप्रकार भूकेन्द्र से पृथिवी के २१ वे अहर्गण पर्य्यन्त अपनी–ध्रुव–धत्र–धरुण-(घन–तरल–विरल, किंवा बाष्प) नामकी सुप्रसिद्धा तीन अवस्थाओ से उत्तरोत्तर सूक्ष्मभाव में परिणत होकर त्रिवृत् पञ्चदश–एकविंश रूपेण अपने तीन स्वतन्त्र–लोकसस्थान बनाने वाला पार्थिव–त्रिविध अग्नि ही पार्थिव–आपोमय–अर्णवसमुद्र से सर्वत परिव्याप्त रहता हुआ* 'एकता–द्विता–त्रिता नामक 'आप्त्याग्नि' नाम से प्रसिद्ध होरहा है, और यही 'अग्निभ्रातर' रूपा आप्त्याग्नि त्रयी का सक्षिप्त–स्वरूप–दिग्दर्शन है, जिन इन तीनों आप्त्या–अग्नियो का ही अन्यत्र एक अन्य दृष्टिकोण के भेद से–"त्रय केशिन रूप से उपवर्णन हुआ है।

उक्त तीनो आप्त्याग्नियों के सहयोग से ही रोदसी त्रैलोक्यानुगत द्युलोक के अधिष्ठाता–'मघवा' नामक देवेन्द्र के द्वारा त्रिशीर्ष–षडक्ष–त्वाष्ट्र–विश्वरूप–का दमन होता है। 'अद्भिर्वा इद सर्वमाप्तम्'– 'अहमिद सर्व धारयिष्यामि, सर्व जनयिष्यामि, सर्वमाप्स्यामि–यदिद किञ्च इत्यादि वचनों के अनुसार अप्तत्त्व ही याज्ञिकी–योषावृषात्मिका–रयिप्राणमूला–दाम्पत्यसृष्टि का मूलाधार माना गया है, जैसाकि– 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति इत्यादिमूला छान्दोग्योपनिषदुपवर्णिता सुप्रसिद्धा पञ्चाग्निविद्या से भी प्रमाणित है। सृष्टि के उपादानकारणात्मक पारमेष्ठ्य इस आप्यतत्त्व का ही नाम है वह–'सुब्रह्म', जिस के गभ में 'ब्रह्म (तत्त्वात्मक त्रयीवेद) प्रतिष्ठित माना गया है। ब्रह्म, और सुब्रह्म के समन्वय से ही विश्व, एव विश्वप्रजा की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है। इस एक भी, एकाकार भी–ब्रह्मगर्भित–सुब्रह्मरूप अप्तत्त्व से विभिन्नाकारान्वित पदार्थ कैसे उत्पन्न होजाते हैं?, प्रश्न की समाधानभूमि है वह–'त्वष्टा' नामक प्राणविशेष, जिस के समन्वय से ब्रह्म–गर्भित–सुब्रह्मरूप–आपोमय शुक्र हस्तपाद–चक्षु–उर,–कण्ठ–अङ्गुलि–आदि

*– 'समुद्रमभित पिन्वमानम्"–(यजु सहितायाम्)।

आदि रूपेण विभिन्न आकारभावो में परिणत होजाता है, जैसाकि- त्वष्टा वै रेत सिक्त विकिरोति श्रुति से स्पष्ट है।

जिसप्रकार हरित–नील–पीत–रक्त–धूम्र–नीललोहित–आदि सप्तविध–वर्णात्मक रूपो के प्रवर्त्तक–सौर–मघवा–नामक–देवेन्द्र है +, एवमेव–त्रिकोण षट्कोण–अष्टकोण–सम–विषम–तिर्य्यक् आदि आदि भेदभिन्न आकारात्मक रूपो का प्रवर्त्तक त्वष्टाप्राण ही माना गया है –। शुक्र सहचारी–आप्यभावानुगत इस त्वष्टाप्राण को ही 'त्वष्टा नामक असुर माना गया है। क्योकि आग्नेय–ज्योतिर्म्मय प्राण जैसे 'देवदेवता नाम से प्रसिद्ध है एवमेव आप्यप्राण ही 'असुर' नाम से व्यवहृत हुआ है। आकाररूपाधिष्ठता आपोमय–आप्यप्राणधान–आपोमय शुक्ररूप–सुब्रह्म–तत्त्वसे साश्लिष्ट–यह 'त्वष्टा' नामक असुरप्राण ही सुब्रह्मरूपेण–आप्यतत्व- से अभिन्न बनता हुआ तद्रूप ही बन रहा है और यही त्वाष्ट्र–विश्वरूप नामक वह असुर है जिसके कारण ही तमोगुणप्रधाना–धामच्छद–भावनिबन्धना भूतभौतिकी–मर्त्या–भूतसृष्टि का उद्गम हुआ है, जिस मूर्त्तसृष्टि से ही मूर्त्त व्यक्त–विश्व का स्वरूप अभि यक्त हुआ है। और यही आप्य त्वाष्ट्र–असुर की–'विश्वरूपता का सङ्क्षिप्त स्वरूप निदशन है।

विश्वरूप आपोमय प्राणात्मक त्वाष्ट्र–असुर–मूर्त्त–विश्व का प्रभव बनता हुआ–'विश्वरूप है तभी तो-'सर्वमापोमय जगत् सिद्धान्त अन्वथ बनता है। इस विश्वरूप आप्यप्राणात्मक त्वाष्ट्र–असुर का जो 'मूल होगा, वही इसका 'मस्तक माना जायगा। क्योकि–'शिरोमूला सृष्टिविद्या की अपेक्षा उत्पत्ति में शिरो भाग को ही मूल माना गया है। आपोमय सुब्रह्म का मूलप्रवर्त्तक है वह 'वाक् तत्त्व, जिसे हमने 'यत् नामक 'प्राण' से समन्वित 'जू रूप आकाश कहा है पूर्व के निदशनों में (देखिए प्रस्तावना पृष्ठसं० ४६)। ऋक्सामावच्छिन्ना-यजुर्वाक् ही आपोरूप में परिणत हुइ हैं, जैसाकि 'सोऽपोऽसृजत-वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत इत्यादि शातपथी श्रुति से स्पष्ट प्रमाणित है। वह–अनादिनिधना स्वायम्भुवी–'जू रूपा तत्त्वात्मिका वाक् ही, (जिस की कि गौलिक–उपनिषत्-स्वरूप याख्या 'अग्नि-ब्रह्माग्नि ही मानी गई है *) आपोमय उस पारमेष्ठ्य–मण्डलरूप में परिणत हुई है, जिस सुब्रह्ममूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी के त्वाष्ट्र विश्वरूप प्राण से ही मैथुनीसृष्टि का आकार विभाजन हुआ है।

विश्वरूप–त्वाष्ट्र–(आपोमय शुक्ररूप–सुब्रह्म) की मूलभूता वाक् ही तो इसका शीष भाग माना जायगा। यह शीष निश्चयेन त्रिपर्वा है, किंवा तीन-शीष–भावो को मिलाकर एक शीष भाव है, जैसाकि वाक् शब्द के निर्वचन प्रसङ्ग में पूव के निदशन में स्पष्ट किया जाचुका है (देखिए पृ० सख्या ४८)। मन प्राण–से अविनाभूता वाक् सचमुच ही तो त्रिवृद्भावापन्ना है। और ये ही उस त्वाष्ट्र–विश्वरूप के तीन मस्तक हैं। विश्वप्रजा षड्भावविकारो से समन्वित होकर ही स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होती है। ये ही

+ रूपं रूपं मघवा बोभवीति।

– त्वष्टा रूपाणि पिंशति।

* "तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्"

—शतपथब्राह्मणे

षड्भावविकार **अस्ति जायते विपरिणमते वर्द्धते अपक्षीयते नश्यति** नामों से सुप्रसिद्ध हैं। त्रिशीर्ष–त्वाष्ट्र–विश्वरूप–की भूतभौतिकी–वैकारिकी–धामच्छदा मर्त्यभाव निबन्धना विश्वसृष्टि को विश्वस्वरूप निर्म्माता त्वाष्ट्र **इन ६ दृष्टियों से ही** देखता है, किंवा ६ विभागों में विभक्त होकर ही भूतभौतिक–सर्ग–देखा जाता है। **इसी नैदानिक**–भाव के आधार पर त्वाष्ट्र को–'षडक्ष (६ आखों वाला) मान लिया गया है।

एकता–आप्त्याग्नि से मानव के भूतात्मा के **वैश्वानर** भाग का निर्म्माण होता है, द्विता आप्त्याग्नि के सहयोग से मानव के भूतात्मा के **तैजस** भाग की स्वरूपाभिव्यक्ति होती है, एवं त्रिता–आप्त्याग्नि से मानवीय भूतात्मा के–'**प्राज्ञ** भाग की अभिव्यक्ति होती है। निष्कर्षतः पार्थिवी भौतिकी स्तौम्या त्रिलोकी के अधिष्ठाता शवसोनपात्–त्रिषवणीय–**ध्रुव धर्त्र धरुण** भावापन्न **अर्थ क्रिया–ज्ञान** प्रधान **अग्नि वायु आदित्य**–नामक **भूपति भुवनपति भूतानापति** नाम्ना उपवर्णित **एकता द्विता त्रिता**–नामक आप्त्याग्नियों से ही मानवीय–त्र्यात्मक–भूतात्मा के **अर्थ क्रिया ज्ञान प्रधान वैश्वानर तैजस प्राज्ञ** नामक तीन पर्वों का स्वरूप–सम्पादन होता है। त्र्यात्मक इत्थंभूत–भूतात्मा के ऊपर–**प्रज्ञानमन** का स्थान है, जो कि '**विज्ञानात्मा** (बुद्धि) नामक सौर-इन्द्र-मघवेन्द्र से नित्य–सम्परिष्वक्त माना गया है, जैसाकि–'**स वा एष प्रज्ञानात्मा (मन) विज्ञानात्मना सम्परिष्वक्तः** इत्यादि वचन से स्पष्ट है। मानव का कामार्थभोगसाधनरूप शरीर आपोमय त्वाष्ट्र–असुरमात्र है, जिस कामार्थभोगासक्ति में समाप्लुत मानवीय भूतात्मा वारुणपाश से आबद्ध बना रहता है। आसक्तिरूप–इस पाशबन्धन का विमोक ही त्रिशीर्ष–षडक्ष–विश्वरूप–असुर का पराभव है, जो कि प्रज्ञानसम्परिष्वक्त–विज्ञानेन्द्र के द्वारा ही सम्भव है। कब सम्भव है ?, प्रश्न का उत्तर स्वयं भूतात्मा का ज्ञान–क्रिया–अर्थ–मय–पौरुष ही माना जायगा। बिना इस पौरुषरूप–अध्यवसाय के केवल–प्रज्ञानविज्ञानेन्द्र (मनोबुद्धि) बल कदापि इस आसुरबल को अभिभूत नहीं कर सकते। अलमतिपल्लवितेन। प्रस्तुत आख्यान के द्वारा इसी तथ्य का अत्यन्त–पारिभाषिक–शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए ही श्रुति ने कहा है कि–'**एकता द्विता त्रिता नामके आप्त्याओं के सहयोग से ही इन्द्र ने त्रिशीर्ष षडक्ष-त्वाष्ट्र विश्वरूप का दमन कर दिया**। अध्यात्मवत्–इस आख्यान का अधिदैवत–तथा अधिभूत–के साथ भी यथानुरूप–समन्वय द्रष्टव्य है, और यही प्रासङ्गिक– **आप्त्यविज्ञान** –अनुबन्धी सङ्क्षिप्ततम-स्वरूप दिग्दर्शन है।

———*———

(ग)-पश्वालम्भनविज्ञान–निबन्धन–पारिभाषिक–स्वरूप–दिग्दर्शन—

प्रकृतिसिद्ध–अग्नीषोमीय–आधिदैविक–नित्ययज्ञ की स्वरूपसिद्धि का अन्यतम–साधनद्रव्य माना गया है–पशु। बिना पशु के प्रकृतिजगत् का कोई भी यज्ञ सुसम्पन्न–ससिद्ध–नहीं होसकता। यज्ञकर्म्म की इत्थंभूता स्वरूपसिद्धि के लिए ही सौरसम्वत्सर–प्रजापति से अभिन्न–पार्थिव स्तौम्यत्रैलोक्य में व्याप्त–द्यावापृथिव्य–यज्ञिय प्रजापति के द्वारा द्यावापृथिव्य पञ्चविध–पशुओं का स्वरूप–निर्म्माण हुआ है, जैसाकि '**यज्ञार्थं पशवः सृष्टा** इत्यादि मनुवचन से भी स्पष्ट है। प्रकृत में **दर्शपूर्णमासेष्टि नामक** यज्ञकर्म्म की इतिकर्तव्यता प्रक्रान्ता है, जिसमें आहुतिद्रव्य माना गया है तण्डुलों का–पिष्टद्रव्य, जिसकी पारिभाषिकी संज्ञा है–'**पुरोडाश**'। इसी सम्बन्ध में श्रुति ने यह प्रश्न उठाया है कि, जबकि बिना पशु के कोई सा भी यज्ञकर्म्म सम्भव नहीं, और दर्शपूर्णमास में केवल पुरोडाशद्रव्य ही आहुति के लिए नियत है, तो फिर इस इष्टि को यज्ञ कैसे मान

लिया गया ? । इस प्रश्न के समाधान के लिए ही श्रुति ने प्रासङ्गिक उस–'पश्वालम्भन–विज्ञान का स्वरूप–विश्लेषण किया है, जिसका तत्वदृष्ट्या निरतिशय ही महत्त्व माना जायगा इसलिए कि—

वर्त्तमानयुग के कतिपय–भेदभक्तो की युगधर्म्मनिबन्धना दिग्देशकालानुबन्धिनी परानुरञ्जनानुगता निरतिशया 'उदारदृष्टि' ? मे पश्वालम्भन का अर्थ भी केवल 'पशुस्पर्श' ही है, एव पशुवधात्मक पशुमेध का अर्थ भी अध्यात्मवादमात्र–विमोहनात्मक–काल्पनिक प्राणविशेषमात्र ही है। प्रकृत श्रौत पश्वालम्भन विज्ञान से अनुगत निम्नलिखित श्रौतसन्दर्भ से सर्वात्मना यह प्रमाणित होजाता है कि पश्वालम्भन का किसी काल्पनिक स्पर्श–काल्पनिक प्राण–आदि से सम्बन्ध न होकर विशुद्ध 'पशुवध' से ही सम्बन्ध है एव तत्–प्राप्त्यर्थ वैधयज्ञ की स्वरूप–सिद्धि के लिए पशु का अमुक–प्रक्रिया–विशेष से प्राणवियोग ही किया जाता है—

"यदा पिष्टानि अथ लोमानि भवन्ति । यदाप आनयति त्वग्भवति । यदा सयौति अथ मास भवति । सन्तत इव हि स तर्हि भवति । सन्ततमिव हि मांसम् । यदा शृत –अथ अस्थि भवति । दारुण इव हि स तर्हि भवति । दारुणमित्यस्थि । अथ यदुद्वासयिष्यन् अभिघारयति, त मज्जान–दधाति । एषा उ सा सम्पत् -(पुरोडाशानुगता पशुसम्पत्), यदाहु –पाङ्क्त–पशु –इति" ।

—शतपथे १।२।३।८।

सुप्रसिद्ध चयनयज्ञ मे जिन इष्टकाओं (ईटों) का निर्म्माण होता है, उनमें एकवर्ष पूर्व ही (उखासम्भरणात्मक यज्ञकर्म्म विशेष के साथ ही) पञ्चपशुओं का आलम्बन कर उन्हें भूमिसात् कर दिया जाता है। एक सम्वत्सर के अनन्तर उस मिट्टी से ईटे बनाई जाती है–ऋत्विजो के द्वारा। तदनुबन्धी पश्वालम्भन के सम्बन्ध में वर्त्तमान–युगानुबन्धिनी काल्पनिकी–करुणा के प्रतिनिधि किसी ने काल्पनिक तर्क के माध्यम से अपना यह पक्ष उठाया कि "हिरण्य (सुवर्ण) भी तो अमृतप्राणात्मक (सौर-प्राणात्मक) है। यदि पञ्चपशुओं के आलम्भन से वह अमृतप्राण ही यज्ञ में अभीष्ट है तो फिर निरपराध पशुओं को छोडते हुए हिरण्मय-पशु (सोने के पशु) ही क्यों नही यज्ञ में ले लिए जाते' । इस सुधारवाद का आमूलचूड उत्पाटन करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य को आक्रोश की भाषा में यही उत्तर देना पड़ा कि– 'जो व्यक्ति (अपने दिग्देशकालविमोहन से) यज्ञकर्म्मों की तथ्यपूर्णा विज्ञानसम्मता चिरन्तन–पद्धतियों से एकान्तत अपरिचित है, साथ ही जो प्रकृतिसिद्ध नित्ययज्ञकर्म्मों के ब्राह्मण (मौलिक विज्ञान) से असस्पृष्ट है उस पद्धतिज्ञानशून्य विज्ञानवञ्चित–प्राकृत मानव की दृष्टि में ही हिरण्मयी–इष्टकाएँ अमृतमयी अमृतप्राणात्मिका होसकतीं हैं। किन्तु जो पद्धतिरहस्य के परिज्ञाता हैं, यज्ञविज्ञान के वेत्ता हैं, उनसे तो यही आशा की जायगी कि, वे चयनयज्ञ में पाँचों पशुओं का ही आलम्भन करेंगे ' *।

---

*—हिरण्मयानि–उ–ह–एके कुर्वन्ति 'अमृतेष्टका' इति वदन्त । ता ह ता 'अनृतेष्टका' । न हि तानि पशुशीर्षाणि । मृण्मयानि–उ–हैके कुर्वन्ति–'उत्सन्ना

आगे चलकर ऐतिहासिक-तथ्य का स्मरण कराते हुए याज्ञवल्क्य कहते है कि "भौम मानवप्रजापति से आरम्भ कर सायकायन श्यापर्ण-नामक सुप्रसिद्ध याज्ञिक पर्य्यन्त तो पाचो पशुओं का ही नियमत आलम्भन होता रहा चयनयज्ञ में। आगे चलकर हमारे समय मे (आज से पाँच सहस्र-वर्ष पूर्व कलियुगारम्भत किञ्चिदिव प्राग् याज्ञवल्क्य के समय में) केवल प्राजापत्य तथा वायव्य, नामक दो अज-पशुओं का ही आलम्भन शेष रह गया जिसकी अगले ब्राह्मणों मे वैज्ञानिकी उपपत्ति बतलाई जारही है- 'प्राजापत्य चरका आलभन्ते -इत्यादिरूपेण' । स्वय-प्रक्रान्त कर्म्मानुगत ब्राह्मणसन्दर्भ की समाप्ति से अनुगत यह स्पष्टीकरण भी 'पश्वालम्भन के उक्त तथ्यार्थ का ही समर्थन कर रहा है कि "पुरुष अश्व गौ अवि अज नामक-पाचो के मेध्यरूप पवित्र भाग की उत्क्रान्ति से ही क्यो कि किंपुरुष गो-गौर गवय-उष्ट्र नामक पाच उत्क्रान्तमेधा मेधशून्य-पशुओं की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है। अतएव कदापि इनको अशनपथानुगामी नही बनाना चाहिए- "तस्मादेतेषा पशूना नाशितव्यम् । अपक्रान्तमेधा हैते पशव ।

पश्वालम्भन प्रयुक्त हिंसादोष से क्या यज्ञकर्म्म हिंसामय नही बन जाता ?, जबकि इस यज्ञकर्म्म का पारिभाषिक एक नाम माना गया है-'अध्वर, जिसका अर्थ है- अहिंसक कर्म्म ? । और फिर पशु भी तो विश्व के वैसे प्राणी है जिनको स्वस्वार्थसिद्धि के लिए मारना क्या मानवधर्म्म कहा जासकता है ?, इसप्रकार के आपातरमणीय-नितान्त भावुकतापूर्ण प्रश्नो के समाधान के लिए ही हमें प्रक्रान्त कर्म्म में-पश्वालम्भनविज्ञान' का स्वरूप-विश्लेषण-प्रयास करना पडा है, जिसके द्वारा आस्थापूर्वक यह कहा जासकता है कि, तद्विज्ञान-समन्वय के अनन्तर काल्पनिक-करुणावरुणालय-अध्यात्मवादियो की आपातरमणीया सभी कल्पनाएँ समाहित होजायँगी, इसी निवेदन के साथ यह कणकटु निदर्शन अत्रैव उपरत किया जारहा है।

(घ)-पञ्चप्राणात्मक-पशुस्वरूपविज्ञान-निबन्धन-परिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन-

बुद्धिवादाभिनिविष्ट- विशुद्ध- अध्यात्मवादी- कारुणिक- मानव अपनी आध्यात्मिकी प्राणकल्पना के आवेश में यह भूल जाता है कि, 'प्राण' की स्वरूपाभिव्यक्तितत्त्व के क्षेत्र का ही नाम 'प्राणी' है। और यो प्राण, तथा प्राणी में कोई अन्तर नही है। वस्तुस्थिति तो वास्तव में ऐसी है कि, विना प्राणी को

वाऽएते पशव ; यद्ध किञ्च-उत्सन्नमिव तस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा। तदत्रैते पशवो गतास्तत सम्भराम ' इति । न तथा कुर्यात् । यो वाऽएतेषामावृत (पद्धतिं), ब्राह्मण (विज्ञान) च न विद्यात्, तस्यैतऽउत्सन्नाः स्युः । स एतानेव पञ्चपशूनालभेत-यावदस्य वश स्यात् । तान् हैतान् प्रजापतिः प्रथम आलेभे, श्यापर्णः सायकानोऽन्तिम । अथ ह स्मैतानैवान्तरेण आलभन्ते । अथैतर्हीमौ द्वावेवालभ्येते प्राजापत्यश्च, वायव्यश्च । तयोरतो ब्राह्मण (विज्ञान) उद्यते ।

—शतपथब्राह्मणे ६।२।४।३८ ३८-३९ ।

मध्यस्थ बनाए केवल प्राण की स्वरूप व्याख्या ही सम्भव नहीं है। क्योंकि प्राणी रूपा मूलाभिव्यक्ति से असस्पृष्ट विशुद्ध प्राण तो रूप रस–गन्ध-स्पर्श शब्द तन्मात्राओं से अतीत बनता हुआ अपने अधामच्छद धम्म से भौतिक विश्व की सीमा से सर्वथा ही बहिर्भूत तत्त्व है, जिसका कि–'असदेवेदमग्र आसीत्–किंतदसदासीत्? ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। के ते ऋषय?, प्राणा वा ऋषय (शतपथे ६।१।११) इत्यादिरूपेण यशोगान हुआ है। निष्कर्षत –भूतानुगति के बिना केवल प्राण–प्राण का उद्घोष न केवल निरर्थक ही है, अपितु भूतशून्या (यज्ञकम्मशून्या) केवल प्राणकल्पना से तो मानव का आध्यात्मिक प्राण कालान्तर में सवथा रिक्त ही बन जाता है, और उस अवस्था में तो सत्तासिद्ध भी भौतिक–यज्ञकम्म इस कल्पनावादी के लिए असत् ही (अभावात्मक ही) बना रह जाता है *। तभी तो ऋषिने–'प्राणो–यज्ञेन कल्पताम्' इस तात्त्विक आदेश के द्वारा अध्यात्मिक प्राण के साथ आधिभौतिक यज्ञकम्म का अनुगमन अनिवार्य्य माना है।

मानते है–मेध–किंवा मेद्–प्राण की भी सज्ञा है। किंवा प्रमुखरूपेण प्राण की ही सज्ञा है। तत किम्?। प्राण किस का नाम नही?। जितने भी नाम सुने जाते ह, सभी पहिले 'प्राण' ही तो है। अग्नि वायु–विद्युत् वृष्टि–स्तनयित्नु–आदि–आदि सब शब्द प्राणो के ही स्वरूप सग्राहक है तो क्या एतदरूप भूत भौतिक तथ्यो का अभाव प्रमाणित होगया एतावता ही?। पुरुष–अश्व–गौ–अवि–अज–नामक सुप्रसिद्ध नामपञ्चक भी प्राणपञ्चक से ही अनुप्राणित है। द्यावापृथिव्य वैश्वानरप्राण का ही नाम–'पुरुषप्राण' है, मनोवाग्गर्भित–ज्योतिर्म्मय–प्राण का ही नाम 'गौप्राण' है, प्रतिफलित–सौरप्राण का ही नाम 'अश्वप्राण' है, हरितवर्ण–प्रवर्त्तक–आन्तरिक्ष्य–प्राण का ही नाम 'अवि प्राण' है एव पार्थिवकपालानुगत गायत्रप्राण ही 'अजप्राण' है। तो क्या एतन्नामक–प्राणियो का अभाव मान लिया जायगा?। नेति होवाच।

जिस प्राण की जिस प्राणी में प्रधानरूपेण अभिव्यक्ति रहती है, वह प्राणी तत्–प्राण के नाम से ही व्यवहृत होने लगा है। और यो पञ्चविध द्यावापृथिव्य–पुरुष–अश्वादि पाँचो प्राणो से प्रमुखरूपेण कृतात्मा प्राणी भी पुरुष अश्वादि नामों से ही व्यवहृत होपडे हैं। 'कूर्म्म' शब्द को ही लीजिए। आदित्यप्राण विशेष का ही नाम 'कूर्म्म' (कछुआ) है। क्योंकि अमुक जलीय प्राणी-विशेष में इस कूर्म्मप्राण की ही प्रधानरूपेण अभिव्यक्ति रहती है। अतएव यह प्राणी भी 'कूर्म्म' नाम से न केवल प्रसिद्ध ही होगया है, अपितु चयनयज्ञानुगता प्राणचितियो के क्रम में अपेक्षित प्राणात्मक कूर्म्म की चिति के लिए 'अथ कूर्म्ममुपदधाति' रूपेण कूर्म्मप्राणी (कछुए) का ही ग्रहण किया जाता है। केवल नीरूप–अग्राह्य–कूर्म्म–प्राण मात्र के नामोद्घोष से तबतक यज्ञकर्म्म की ससिद्धि कदापि सम्भव नही है, जबतक कि भूतशरीरी कूर्म्म का सग्रह नही कर लिया जाता।

---

*–असन्नेव स भवति–असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेन ततो विदु॥
—उपनिषदि

क्योंकि प्राणी ही प्राण का स्वरूप सम्राहक बना करता है किंवा भूत ही प्राण के अन्तर्य्यामात्मक सम्बन्धानुग्रह का कारण बनता है जिस इस तथ्य को विस्मृत कर विगत शताब्दियों से हमारे विद्वत्समाज ने काल्पनिक–अध्यात्मवाद के व्यामोहनरूप महान् ग्रह से ग्रस्त होते हुए भूतानुगत यज्ञ–कर्म्मनिबन्धन उस सम्पूर्ण लौकिक–अभ्युदय से अपने आपको, और अपने साथ साथ ही सम्पूर्ण राष्ट्र को उस सीमापर्य्यन्त पराङ् मुख ही प्रमाणित कर लिया है जिससे भूतानुबन्धी समस्त आचारात्मक कर्म्मसौन्दर्य्य तो होगया है विलुप्त, एवं तत्सम्बन्ध में शेष रह गई हैं आचारशून्या–कल्पनाप्रसूता वैसी शून्य–शून्य कल्पनाएँ मात्र, जिनसे कालान्तर में मानवीय मन सर्वथा रिक्त ही बन जाया करता है, और दुर्भाग्यवश कर्म्मशून्या इत्थंभूता रिक्तता ही इन काल्पनिकों की दृष्टि में उसी प्रकार शान्ति बन बैठती है जैसेकि एक मेधावी–प्रज्ञाशील–प्रत्युत्पन्नमति–भी बालक अयोग्य–अभिभावकों के निःसीम ताडन से अपने स्नायवीय–तन्तुओं से सर्वथा शिथिल बनता हुआ जब तूष्णीरूप जडभाव में आजाता है, तो तदभिभावक ऐसे विजड़ित–बालक को 'योग्य'–'सयाना' कहने, मान बैठने की भयावहा भ्रान्ति करने लग पडते है।

अलमतिपल्लवितेन। प्रस्तुत विज्ञान प्रसङ्ग में–प्राण, और प्राणी के रहस्यात्मक उस वैज्ञानिक स्वरूप का ही स्वरूप–विश्लेषण–प्रयास हुआ है, जिस विश्लेषण की प्रमुख–आधारभूमि पाङ्क्त (पञ्चावयव) यज्ञ से अनुगत द्यावापृथिव्य पाँच प्राणपशुओं का स्वरूप समन्वय ही माना गया है, एवं इन्हीं पञ्चविध प्राणपशुओं के माध्यम से पञ्चविध प्राणी पशुओं का स्वरूप समन्वय प्रयास हुआ है, और यही प्रक्रान्त परिच्छेद का पारिभाषिक-सङ्क्षिप्त निदर्शन है।

——*——

(ड)–अहिंसा–हिंसा स्वरूप–विज्ञान–निबन्धन–पारिभाषिक–स्वरूप दिग्दर्शन–

जिसप्रकार आज के प्रावाहिक युगने शब्दार्थनिर्वचनानुगता पारिभाषिकी नियतार्थ मर्य्यादा का उल्लङ्घन करते हुए त्याग–तपस्या–बलिदान–नैतिकता–समानता–मानवता–मानवधर्म्म–आदि आदि शब्दों का दिग्देशकालधर्म्माकर्षण से आकर्षितमना बनते हुए यथेच्छ काल्पनिक अर्थ मान लिया है, तथैव उसी काल्पनिकता से आज 'हिंसा–अहिंसा' शब्द भी समन्वित होरहे हैं। यही कारण है कि, जिन्हें शास्त्रपरिभाषा में 'धर्म्मलक्षण (धर्म्म के परिचयात्मक बाह्य चिन्ह) कहा गया है वे आज स्वयं ही 'धर्म्म' का स्थान ग्रहण कर बैठे हैं जिसके आधार पर ही 'अहिंसा परमो धर्म्मः' आदि वाक्यों पर ही आज धर्म्मस्वरूप का पर्य्यवसान समझा जाने लगा है, जबकि तत्त्वत वस्तुस्थिति कुछ और ही है।

धर्म्म को जब प्राकृत प्रकृतिसिद्ध–मान लिया जाता है, तभी इसप्रकार की भ्रान्तियों को प्रवेशावसर मिला करता है। आज के प्रकृतिवादी मानव का ऐसा ही कुछ महान व्यामोहन है कि, 'मानव को प्रकृति के अनुसार ही चलना चाहिए'। बात सुनने में भी प्रिय है, और बुद्धिवाददृष्ट्या मान्य भी। किन्तु मानव का स्वरूप केवल 'प्रकृति' ही होता, तबतो उक्त 'बात' का सर्वाङ्गीण समादर सम्भव था–मानवेतर उन पशु–पक्षी आदि इतर प्राकृतिक प्राणियों की भांति जिनका अथ से इति पर्य्यन्त का (जन्मत मृत्युपर्य्यन्त का) समस्त जीवनवृत्त सर्वात्मना प्रकृतिपरवश ही बना रहता है। अतएव च जिन्हें प्रकृत्या परिपूर्ण माना गया है जबकि मानव केवल प्रकृति की दृष्टि से अपूर्ण ही माना गया है। अतएव प्रकृत्यनुगता पूर्णता के सम्पादन के लिए तो मानव के लिए स्वतन्त्ररूप से 'शिक्षाव्यवस्था' ही करनी पड़ती है, जबकि मानवेतर

प्राकृत प्राणी स्वत ही स्व स्व प्राकृतिक क्षेत्रो में शिक्षापटु बन जाते हैं। प्रकृति के अतिरिक्त मानव में **'और भी कुछ'** अभिव्यक्त है, जो मानवेतरो में अभिव्यक्त नही है। वह 'और कुछ' ही **'पुरुष'** कहलाया है। **इसी पुरुष का नाम है** 'अध्यात्मरूप-प्रकृत्यतीत-अतएव दिग्देशकालातीत-वह शाश्वत-सनातन धर्म्म' *, जिसने मानव को इतर प्राणिसर्ग से पृथक् कर रखा है, और इसी आधार पर मानव को इतर प्राणियो के समतुलन में **'विशेष'** माना गया है ×।

विशेषभावापन्न-शाश्वतधर्म्मरूप-दिग्देशकालातीत-आत्मपुरुष और सामान्य-भावापन्ना-परिवर्त्तनशीला दिग्देशकालानुगता 'शरीरप्रकृति' इन दोनो के समन्वितरूप का ही नाम **मानव है।** और ऐसा मानव अपने दिग्देशकालातीत-आत्मपुरुषरूप-शाश्वतधर्म्म से ही दिग्देशकालात्मिका प्रकृति को नियन्त्रित रखता है। इस नियन्त्रण से नियन्त्रिता विश्वप्रकृति कदापि उच्छृङ्खला नही बन पाती। यदि मानव अपने पुरुषार्थरूप आत्मपुरुषात्मक-शाश्वतधर्म्म के प्रति निरपेक्ष बनता हुआ केवल प्रकृतिवादी, किंवा दूसरे शब्दो मे दिग्देशकालानुगत-केवल-वर्त्तमानवादी-प्राकृत-मानव ही बना रहा जाता है, तो उस अवस्था, किंवा आत्यन्तिक-पतन-रूपा दुरवस्था मे धर्म्म के परिचायक-लक्षण ही शाश्वतधर्म्म का स्थान अपहृत कर बैठते है, जैसेकि धर्म्म का परिचायक प्रतीकरूप बाह्य- **अहिंसा** भाव भी आज भ्रान्तिवश धर्म्म ही नही, अपितु **परमधर्म्म** बन बैठा है। और दुर्भाग्य तो यह है कि, बडे बडे सांस्कृतिक-विद्वान् भी इसी 'परमधर्म्म' के यशोगान में आत्मलीन बनते हुए 'गतानुगतिक न्याय' को ही अक्षरश चरितार्थ करते जारहे हैं। आज का सम्पूर्ण भारतराष्ट्र इसी प्रतीकधर्म्म के प्रवाह में सर्वात्मनैव स्वरूप-विस्मृत होता जारहा है, किंवा होगया है, जिससे बड़ा सांस्कृतिक पतन इसका और क्या होगा ?।

प्रतीकात्मक धर्म्म के स्वरूप-व्याख्याता धर्म्मशास्त्र ने (स्मृतिशास्त्र ने +) प्रतीकधर्म्म को लक्षणात्मक धर्म्म ही माना है, जैसाकि आगे के-वचनो से स्पष्ट है—

---

*- ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
"शाश्वतस्य च धर्म्मस्य"-सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
—गीतायाम्

×-आहार-निद्रा-भय-मैथुनाभि-सामान्यमेतत्-पशुभिर्नराणाम्।
धर्म्मो हि तेषामधिको विशेष, धर्म्मेण हीना पशुभि समाना ॥
—नीतिसूक्ति

+-श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेय, धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृति।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये, ताभ्यां धर्म्मो हि निर्बभौ।
—मनु २।१०।

धृति -क्षमा-दमो-ऽस्तेय-शौच-मिन्द्रियनिग्रह ।
धी र्विद्या-सत्य-मक्रोधो दशक धर्म्मलक्षणम् ॥
—मनु ६।६२।

अहिंसा-सत्यमस्तेय-शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
एत सामासिक धर्म्म चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु ॥
—मनु १०।६ ।

धृति क्षमा दम अस्तेय-शौच इन्द्रियनिग्रह धी विद्या-सत्य-अक्रोध, इस दशक को राजर्षि ने धर्म्म का लक्षण, अर्थात् 'प्रतीक' माना है जिसका तात्पर्य्य यही निकलता है कि, जो मानवश्रेष्ठ अव्ययपुरुषनिब धन शाश्वतधम्म पर निष्ठा-पूवक आरूढ रहता है, ऐसे धम्मशील मानवश्रेष्ठ के धम्मरूप आत्मपुरुष के अनुग्रह से अनुगत प्रकृतिरूप बुद्धि मन इद्रिय शरीर आदि वग धृति-क्षमा आाद लक्षणो से स्वत ही समन्वित रहते हैं। बडे से बडे सासारिक कष्ट को सह जाना ही धृतिगुण है। शक्ति की विद्यमानता में भी अपराधी को दण्ड न देना ही क्षमागुण है। प्राणात्मक-वीर्य्य की अभिव्यक्ति में भी मनस्तन्त्र का सयम कर लेना दमोगुण है। परद्रव्य के प्रति सदैव तटस्थता रखना 'अस्तेयगुण है। स्नान-शुद्धि-आदि का अनुगमन ही शौचगुण है। ऐन्द्रियक विषयों के पुरोऽवस्थित रहने पर भी उनके प्रति तटस्थ बने रहना 'इन्द्रयनिग्रहगुण है। तात्कालिक सवित्-भाव ही धीगुण' है। सच्छास्त्रानुशीलन जनित-सस्कार ही 'विद्यागुण है। चक्षु पूत विषयो का स्पष्टीकरण ही स यगुण है। एव क्रोधनिमित्तोपस्थिति पर भी क्रोध न करना 'अक्रोधगुण है। आगे चल कर राजर्षिने सामासिकधम्मरूपेण 'अहिंसा का भी धर्म्म-लक्षणों में समावेश कर लिया है। एवमेव-दया-करुणा-आदि आदि अन्या य भी कतिपय वैसे मानवीय-सद्गुण है, जिनका धर्म्मलक्षण-गणना में सग्रह कर लिया जासकता है।

'दशक धर्म्मलक्षणम् वाक्य ही स्पष्टरूपेण यह प्रमाणित कर रहा है कि-धृति-क्षमा-दम-दया-करुणा-अहिंसा-शौच-आदि स्वय धर्म्म नहीं हैं, अपितु ये तो धर्म्म के लक्षण है अर्थात् धर्म्म के प्रतीकमात्र है जिन के पूरक इन्ही के विरुद्ध भाव बने रहते हैं। और देशकाल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धा-आदि परिस्थिति जनित-साधन-परिग्रहो के तारतम्य से अनुप्राणिना अपेक्षा के अनुबन्ध से धर्म्मलक्षण तो परिणत होजाते हैं-अधर्म्मरूप में, एव धम्मलक्षणों के प्रतिद्वन्द्वी भाव परिणत होजाते हैं धर्म्मरूप में, जिन का सोदा हरण शास्त्रो में विस्तार से उपबृहण हुआ है। अमुक परिस्थिति में में जो अहिंसा धर्म्म (धर्म्मलक्षण) है, वही अमुक परिस्थिति में सवथा अधम्म बन जाती है। दया का धम्मत्त्व परिस्थिति विशेष में सर्वथैव अधम्मरूप में परिणत होजाता है। अतएव परमवैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य को प्रतीकात्मक लक्षणात्मक परिवर्त्तनशील-प्राकृतधम्म का यही स्वरूप-लक्षण करना पड़ा कि—

देशे काल उपायेन द्रव्यं श्रद्धा-समन्वितम् ।
प्राप्ते प्रदीयते यत् तत्सकल धर्म्मलक्षणम् ॥
—याज्ञवल्क्यस्मृति १।६।

दूसरी दृष्टि से इन तथाकथित प्रतीक-धर्म्मों का समन्वय की कीजिए। "दया धर्म्म का अङ्ग अवश्य बन सकती है, किन्तु दया स्वय कभी अङ्गीरूपेण धर्म्म का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती'।

एवमेव 'अहिंसा' को धर्म्म का अङ्ग माना जासकता है, किन्तु कदापि 'अहिंसा' को 'अङ्गी'-रूप 'परमधर्म्म' नहीं माना जासकता। दूसरे शब्दों में धर्म्म अवश्य ही सत्य दया अहिंसा-नामों से अभिनीत होसकता है, किन्तु कदापि सत्य दया अहिंसा आदि को ही 'धर्म्म' नहीं कहा जासकता। क्योंकि विशेष परिस्थितियों में मिथ्याभाषण दण्डप्रहार-हिंसा-आदि भी धर्म्म के प्रतीक बनते देखे गए हैं। सत्य, और अनृत का, दया और दण्ड का, अहिंसा-और हिंसा का स्वरूप-विपर्य्यय ही धर्म्माधर्म्म का निर्णायक बना करता है। अतएव लक्षणात्मक-धर्म्म को शास्त्र ने 'सापेक्षधर्म्म' ही माना है, जिस में देश काल पात्र द्रव्यादि के तारतम्य से परिवर्त्तन होता रहता है। धर्म्मलक्षणात्मक इत्थंभूत-प्राकृत धर्म्म का नियन्ता है धर्म्मरूप-अप्राकृत वह शाश्वतधर्म्म, जिस की सनातनता अक्षुण्णा मानी गई है, और जो दुर्भाग्यवश प्रकृतिव्यामोहनानव धन अनात्मवादात्मक प्रकृतिवादरूप बुद्धिवाद से आज मानवीय प्रज्ञातन्त्र से सर्वथैव निरपेक्ष बन गया है। अतएव प्राकृतधर्म्मने, किंवा धर्म्म के लक्षणोंने ही आज भ्रान्तिवश 'धर्म्म' का स्वर्णसिंहासन अपहृत कर लिया है। एवं आत्मधर्म्मरूप अव्ययपुरुषधर्म्म से पराङ्मुख, प्रकृतिधर्म्मवादी-ऐसे ही मानवता प्रेमी इत्थंभूत लाक्षणिक तात्कालिक धर्म्म को ही 'नैतिकता' 'मानवता' 'मानवधर्म्म' आदि विविध उपाधियों से समलङ्कृत करते हुए इतस्ततः दद्रम्यप्राण हैं। इत्थंभूत काल्पनिक धर्म्म में अर्थात् मतवाद में आसक्त व्यासक्त बने रहने वालों की भावुकता पूर्णा दृष्टि में ही 'अहिंसा' का काल्पनिक घोष प्रधान बना हुआ है, जिस अहिंसा का शास्त्रीया पारिभाषिकी उस-'अहिंसा' से यत्किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है, जिस शास्त्रीया 'अहिंसा' की पूरिका हिंसा* ही मानी गई है। कथमिति चेत्?, प्रश्न के वैज्ञानिक समाधान के लिए ही तो प्रक्रान्त-कर्म्मानुगत हिंसा अहिंसा का वैज्ञानिक-स्पष्टीकरण प्रयास हुआ है, और यही प्रक्रान्त कर्म्म के अन्तिम विज्ञानोदाहरण का संक्षिप्त-स्वरूप- दिग्दर्शन है।

१२—(३)

* * * * *

---

*-या वेदनिहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे।
'अहिंसा'-मेव तां विद्याद्वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ ॥
—मनु ५।४४

श्री

(१३)–वेदिकाकरणानुगत–स्तम्बयजुर्हरणकर्म्म–प्रसङ्गतः

'निदान'-शब्द-निबन्धना--परिभाषा

४

क्रमप्राप्त तथानामान्वित तेरहवे कर्म्मप्रकरण में अनेक पारिभाषिक तथ्यो के अतिरिक्त **'निदान'** शब्दानुबन्धी–जिस तथ्य का स्वरूप विश्लेषण हुआ है, उसका भी ब्राह्मणोक्त तथा पुराणोक्त पारिभाषिक आख्यानोपाख्यानों के तत्त्वार्थ समन्वय में अन्यतम ही स्थान माना जायगा। यही नही, निदानानुगत विज्ञान के सम्बन्ध में यह कह देना भी अतिशयोक्ति नही मानी जायगी कि, निदानविद्यानुगत प्रतीकात्मक सङ्केतों के समन्वय के बिना न तो वेदशास्त्र की आख्यानभाषा का ही समन्वय सम्भव, एव न आगम, तथा पुराण–शास्त्र के रहस्य का ही समन्वय सम्भव। उसी महत्त्वपूर्णा निदानविद्या के सम्बन्ध में अत्र प्रस्तावनाया उदाहरणरूपेण किञ्चिदिव निवेदन कर दिया जाता है।

'अतत् को तत् समझ लेना' ही निदानशब्द का निष्कर्षार्थ है, जिसे सस्कृतभाषा में–**'आरोप'** कहा गया है। जो अमुक वस्तु नही है, किन्तु उसमें अमुक वस्तु का आरोप कर दिया जाता है, इस आरोप–विधि का नाम ही निदानविधि है, एव लोकव्यवहार में प्रायः सर्वथैव लौकिक–निदानभावों के द्वारा व्यवहार की व्यवस्था देखी सुनी जारही है। उदाहरण के लिए–सहोदर भ्राता में दक्षिणभुजा का आरोप लोकप्रसिद्ध है। दक्षिणहस्तानुगत–कर्म्मकौशलरूप सादृश्य ही इस निदानारोप का आधार है। शोक का नैदानिक आरोप कृष्णवस्त्र में इसलिए कर लिया जाता है कि, शोक सविग्न मानव का मन ज्ञानज्योति से अभिभूत ही हो–जाता है, जिस अभिभूति का स्वरूप अनिरुक्त कृष्ण–भाव से अनुगत माना गया है *। कीर्त्ति का नैदानिकरूप श्वेतच्छत्र माना गया है। शान्ति–समृद्धि का निदान हरित दूर्वा माना गया है। क्रान्तिरूपा अशान्ति का निदान–'रक्तवस्त्र माना गया है। स्टेशनो की हरि झण्डी का शान्ति सूचकत्व, एव लालझण्डी का विघ्न–सूचकत्व प्रसिद्ध ही है।

निगम (वेद), आगम, तथा **पुराणशास्त्र**–त्रयी के यच्चयावत् **"असदाख्यान"** (कल्पित कथानक) उसी निदानभाव के आधार पर प्रतिष्ठित हैं, जिसका साङ्केतिक-रहस्यात्मक पारिभाषिक समन्वय न कर सकने के कारण ही आज भारतीय सस्कृति का गौरवपूर्ण आख्यानप्रकरण सर्वसाधारण की कौन कहे, बड़े बड़े

---

* विश्वातीत-अज्ञात तत्त्व **अनुपाख्यतम है,** रात्रिगत, एव आँख मीचने से प्रतीयमान-अन्धकार **अनिरुक्ततम है,** एव कृष्णवर्ण (काला रँग) **निरुक्ततम है**। इसप्रकार तमोभाव तीनै विवर्त्तभावों में परिणत माना गया है।

विद्वानो के लिए भी मतिविभ्रम का ही कारण बना हुआ है। एवमेव भारतीय वह समस्त उपासनाकाण्ड भी इसी **निदानविद्या** के अभिभव से आज भावुक मानवो की दृष्टि में आपातरमणीया भ्रान्त आलोचना का ही क्षेत्र बना हुआ है, जिसके परिणाम-स्वरूप ही **कर्म्म उपासना ज्ञान** त्रयी से अनुगता मध्यस्था उपासना आज सर्वथैव अपने पारिभाषिक तत्त्व से स्मृतिगर्भ में विलीन होगई है—। यो एकप्रकार से सम्पूर्ण आर्षशास्त्र निदानविद्यात्मिका सङ्केतविद्या की विस्मृति से आज के युग के लिए विशेषत प्रतीच्य मतविज्ञान सम्पर्क-जनिता भारतीया नवशिक्षिता प्रज्ञा के लिए 'उपहास' की ही क्रीडास्थली बना रह गया है।

जैसाकि, पूर्व के बारहवें संस्मरण प्रसङ्ग में निवेदन किया गया है, प्राण और प्राणी, दोनो शब्द भारतीय-विज्ञानकाण्ड में अभिन्नार्थ के ही सग्राहक बने हुए हैं—(देखिए पृष्ठ स० ५८ से ६० पर्य्यन्त), जिस अभिन्नार्थकता का निष्कर्ष यही निकलता है कि वस्तुस्वरूप की स्थिति-परिस्थिति-के अनुपात-तारतम्य से कहीं अमुक शब्द 'प्राण' का सग्राहक बन जाता है, तो वही शब्द 'प्राणी' का अनुग्राहक बन जाता है। इस विपर्य्यय का आधारभूत तथ्य ही 'आरोप' लक्षण वह निदानभाव है जिसका एक लौकिक उदाहरण '**दक्षिणभुजा** से अनुगत **सहोदरभ्राता** भी बना हुआ है। जिस आरोपात्मक-सम्बन्ध-विशेष से लोक-व्यवहार मे दो सहोदर भ्राता परस्पर एक दूसरे की दक्षिणभुजा कहलाते है, वह सम्बन्ध-विशेष ही-'**निदानभाव**' है। पञ्चाङ्गुलि से युक्त पाणि भाव से समन्वित दक्षिणहस्तानुगत अध्यवसायात्मक कर्म्मकौशल रूप महान् श्रम ही मानव के लोकजीवन की सफलता का प्रमुख आधारस्तम्भ माना गया है। सहोदर भ्राता परस्पर एक दूसरे के उसी प्रकार कर्म्मसहयोगी बने रहते है, जैसेकि उनकी दक्षिणभुजा एव दक्षिणहस्त। इसी सादृश्य से सहोदर भ्राताओं में आहार्य्यारोपविधा से दक्षिणभुजा, किंवा दक्षिणहस्त का आरोप होगया है, और यही 'निदान' का एक लौकिक उदाहरण बना हुआ है।

"कही प्राणी से तदभिन्न, तदाधारभूत प्राण का ग्रहण होजाता है इसी निदान के माध्यम से, जिसके उदाहरण भगवान् गणपति के वाहन मूषकराज बने हुए हैं। मूषक' पार्थिव-ध्रुव-प्रतिष्ठा-प्राण का नाम है, जिसकी पारिभाषिकी सज्ञा ब्राह्मणग्रन्थोने 'रस' मानी है। पार्थिव-घनतम-रसात्मक-प्रतिष्ठाप्राण ही वह '**मूषकप्राण**' है, जो भूपिण्ड से अनुगत एकोनपञ्चाशत् (४९) मरुद्गणो के मूलप्रवर्त्तक, अतएव-'**गणपति**' नाम से प्रसिद्ध पार्थिव-प्राण की भी प्रतिष्ठा बना हुआ है। इसप्रकार समस्ता पार्थिवी विभूति ही प्रतिष्ठारूप-पार्थिव-गणपतिप्राण की भी प्रतिष्ठा क्योकि भूकेन्द्राभिमुख-अन्तर्गर्भित-घनतम-रसात्मक-मूषकप्राण ही बना हुआ है। अतएव इस रसात्मक-मूषकप्राण को अवश्य ही पार्थिव-गणपतिप्राण का '**वाहन**' मान लिया जासकता है। सुप्रसिद्ध मूषक नामक प्राणी (चूहे) में क्योकि पार्थिव-रसात्मक-मूषकप्राण विशेषरूप से प्रधानरूप से अभिव्यक्त रहता है, अतएव यह प्राणी भी तत्प्राण के नाम से (मूषक नाम से) ही प्रसिद्ध होगया है, जैसे कि कूर्म्मप्राणप्रधान अमुक प्राणी (कछुवा) भी 'कूर्म्म' नाम से लोक में प्रसिद्ध है, जिससे अनुप्राणिता याज्ञिकी चिति का पूर्व में संस्मरण किया ही जाचुका है (देखिए पृ० स० ५९)। दृष्टि **मूषकप्राणी** पर है, एव मनोयोग तत्प्रतिष्ठात्मक-**मूषकप्राण** पर है। यही औपासनिक-निदानभाव है जिसे सर्वथा तत्त्वानुगत ही माना जायगा।

— उपासना निबन्धन निदानभाव का खण्डद्वयात्मक '**भक्तियोगपरीक्षा**' नामक बृहन्निबन्ध में ही सविस्तर प्रतिपादन देखना चाहिए।

प्राण, और प्राणी से अनुगता आरोपमूला तत्त्वात्मिका तथाभूता निदानविधा के आधार ही यज्ञकर्म में प्राकृतिक-प्राणों से कृतरूप भूत-भौतिक-प्राणवान्-पार्थिव-सम्भारों-पदार्थों-परिग्रहों का सम्भार करते हुए 'आखुकरीष (चूहे के बिल की मिट्टी) का संग्रह भी अनिवार्य माना गया है, जिसका सुनिश्चित वैज्ञानिक-समन्वय तत्प्रकरण में हीं द्रष्टव्य है। श्रुति * के अनुसार मूषक ही पार्थिवरस के परिज्ञाता हैं, तो क्या मानव पार्थिवरस का परिज्ञाता नहीं है?, इस प्रश्न का समाधान रसात्मक वह मूषक प्राण ही है जिसका सजातीयाकर्षण-सिद्धान्तानुसार मूषकप्राण के साथ ही प्रधान सम्बन्ध अभिव्यक्त होरहा है। वह रसात्मक मूषकप्राण तत्प्राणकृतात्मा मूषकप्राणी के द्वारा संकलित मृद्भाग में ही क्योंकि उपलब्ध होता है। अतएव ऋषि ने यज्ञकर्म्म में उसका संग्रह अनिवार्य्य माना है।

पार्थिव गणपतिप्राण के विचलन से ही पार्थिवप्रजा विकम्पित होती है। यो विघ्नहर्त्ता गणपतिदेव विघ्नकर्त्ता भी बन जाया करते है। इनके इस विकम्पनात्मक विचलनधर्म्म का सर्वप्रथम तद्वाहनरूप पार्थिव रसात्मक मूषकप्राण पर ही प्रभाव होता है। अतएव सर्वप्रथम तत्प्राणकृतात्मा मूषक (चूहे) ही मरने लगते हैं और यही 'महामारी' 'जनपदविध्वंसिनी (प्लेग आदि साङ्क्रामिकी व्याधियो) की उपक्रमभूमि मानी गई है। इसप्रकार मूषकप्राणी अनेक दृष्टिकोणों से गणपति के वाहनरूप मूषकगण का नैदानिक माध्यम बना हुआ है जिस इस अत्यन्त रहस्यपूर्ण-सृष्टिविज्ञाननिबन्धन प्राणात्मक तथ्य के समन्वय न करने के कारण ही हमारी बालप्रज्ञा भारतीय-उपासनाकाण्ड के महत्त्वपूर्ण अङ्गो का आज उपहास करने लग पड़ती है, और कहने लग पड़ती है कि, 'गणेशजी इतने मोटे और उनका वाहन छोटासा चूहा -इति नु अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यमेव !!

यह सर्वथा अविस्मरणीय है कि, 'निदान' के माध्यम से अनुप्राणित आख्यानोपाख्यानों का केवल एक ही विभाग है, जबकि तदतिरिक्त सात प्रकार के आख्यानोपाख्यान सर्वात्मना तत् के तद्भाव से ही समन्वित हुए है। आठ प्रकार के आख्यानों में से आठवाँ 'असदाख्यान' नामक एक विभाग ही आरोपात्मक निदानभाव से समन्वित है, जिसके अमुक महान् लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही ऋषिप्रज्ञा की ओर से नक्षत्रमण्डल-पर्वतश्रेणियाँ-नदनदी-रूपेण त्रिधा वर्गीकरण हुआ है। अर्थात् कुछ एक आख्यान तो निदानविधि से नक्षत्रो के आधार पर उपकल्पित है कुछ एक पर्वतों के माध्यम से, एवं कुछ एक नद-नदियां के माध्यम से समन्वित हुए है, जिन इन सभी नैदानिक-रहस्यो का यत्र तत्र प्रसङ्गदृष्ट्या समन्वय प्रयास-हुआ है।

'असदाख्यान' का लौकिक अर्थ-निष्कर्ष है—'मिथ्या कथाएँ', अर्थात्-'गढी हुई कहानियाँ', जिन इन कथा-गाथा-रूपा 'कहानिया' के माध्यम से ही ऋषिप्रज्ञा ने सर्वथैव अव्जमा अनेक तात्त्विक-रहस्यो से भारतीय-प्रजा को सुपरिचित करा दिया है। आज की सभ्या-भाषा (इंगलिश) में सम्भवत जिसे—

*-आखुकरीषं सम्भरति। आखवो ह वा अस्यै पृथिव्यै रसं विदुः। तस्मात्तेऽधोऽध इमां पृथिवीं चरन्तः पीविष्ठाः। अस्यै हि रसं विदुः॥ तत-अस्याऽएवैनमेतत् रसेन समर्द्धयति। तस्मादाखुकरीषं सम्भरति।

—शतपथब्रा० २।१।१।७।

माइथालॉजी कहा जाता है, वही तात्पर्य्य 'असदाख्यान' का है। यदि **'माइथा** को अनुकरण–सादृश्य से– **मिथ्या** मान लिया जाता है, तो–ज्ञानार्थक 'लॉजी के सम्बन्ध से 'माइथालॉजी का निष्कर्षार्थ भी 'मिथ्याज्ञान –'झूँठी कहानिया ही प्रमाणित होजाना है जिसका बालोपलालनात्मक शिक्षणक्रम की दृष्टि से अत्य त ही उपयोग माना गया है, जिस इत्थंभूता उपयोगिता का क्षेत्र केवल एक प्रकार का ही आख्यान विभाग है, जबकि एतदतिरिक्त सात–विभाग तो सवथा तद्भावापन्न–वास्तविकी–ही आख्यान माने गए हैं। अतएव जो महानुभाव वैदिक पौराणिक समस्त आख्यानोपाख्यानों को एकहेलया 'माइथालॉजी मान बैठते हैं उनकी तथाभूता मान्यता प्रौढिवादमात्र के अतिरिक्त और कुछ भी तो महत्त्व नही रखती, इत्यलमतिपल्लवितेन प्रासङ्गिक-नैदानिक भावानुबन्धेन।

अमूर्त्त के साथ मूर्त्त के द्वारा अमूर्त्त का सम्बन्ध स्थापन ही औपासनिक निदानभाव का निष्कर्षार्थ है *। गणपति का अमुक विचित्र आकार क्यो?, गणपति ऐसे विशाल, और उनका वाहन मूषक नामक एक स्वल्पकाय प्राणी कैसे?, भगवान् विष्णु के हाथ में शङ्ख चक्र-गदा पद्म क्यो?, महाकाली के हाथ में सुरापात्र–कर्त्री खडग आदि क्यो?, इत्यादि अगणित कुतूहलपूर्ण इस क्यो? और कैसे?, की परम्परा को उपशान्त करने वाली निदानविद्या के तात्त्विक-स्वरूप का ही उदाहरण विधि से उपबृंहण हुआ है, और यहा निदानानुगत प्रासङ्गिक तथ्य का संक्षिप्ततम स्वरूप दिग्दर्शन है, जिस इस निदानभावानुबन्धी शिक्षण-कौशलात्मक तथ्य का ही भगवान् भर्तृहरि के द्वारा निम्न लिखित शब्दा में सस्मरण हुआ है —

उपाया शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत सत्य समीहते ॥

(१३)–४

* * * *

***--अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।**
उपासकानां सिद्धयर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

श्री

(१४)-वेदपरिगृहकर्म्म—प्रसङ्गत'-
आख्यानोपाख्यानादि--निबन्धना
विविधा-वैज्ञानिकी-पारिभाषाएँ

५

——*——

(क)-देवासुरदायविभागानुबन्धी-आख्यान का सस्मरण —

वेदसंहितानुगता अत्यन्त रहस्यपूर्णा **विज्ञानभाषा स्तुतिभाषा** एव **इतिहासभाषा** रूपेण त्रिधा विभक्ता पारिभाषिकी भाषाओं से अनुप्राणित **विज्ञान-स्तुति-इतिहास**-नामक सुप्रसिद्ध त्रिविध ज्ञातव्य विषयों में से सर्वान्त के इतिहासभाषानुगत 'ऐतिहासिक तथ्य के सम्बन्ध में भारतवर्ष की सभी श्रेणियों के पुरातन-नूतन-वेदभक्त (सनातनधर्म्मावलम्बी विद्वान्, एवं आर्य्यसमाजी महाशय) सर्वथैव गजनिमीलिका पथानुवर्त्मा ही देखे सुने जारहे हैं, जिस इस गजनिमीलिका का एकमात्र हेतु है-वेदों का अपौरुषेयत्व-निबन्धन ईश्वरकर्तृत्व। ईश्वरकृत अपौरुषेय वेदशास्त्र के सम्बन्ध में मानवचरित्रात्मक ऐतिहासिक तथ्यों का समन्वय कैसे 'सम्भव है', इस तर्काभास को अग्रणी बनाकर, '**बबरप्रावाहणिरकामयत**' इत्यादि कतिपय स्थलों के बबरप्रावाहण शब्दों को वायु के अनुकरण से अनुगत मानते हुए सनातनधर्म्मावलम्बी विद्वान् भी अपनी काल्पनिकी अपौरुषेयता की भ्रान्ति में मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य विषयों में से उस अन्त के- **इतिहास** नामक ज्ञातव्य विषय की ओर से एकान्ततः उदासीन ही बनते आरहे हैं विगत तीन सहस्र-वर्षों से, जिस उदासीनता के दुष्परिणाम स्वरूप ही भारतवर्ष की सनातन सस्कृति के आधार पर सुप्रतिष्ठिता-दिग्देशकालनुबन्धनी सर्वमूर्द्ध या भारतीय सभ्यता की मौलिकता का चिरन्तन वह इतिवृत्त सर्वथा ही स्मृतिगर्भ में विलीन होगया है, जिस के विस्मरण से सभ्यतानुबन्धी गौरव के साथ साथ ही भारतराष्ट्र सांस्कृतिक गौरव के यथार्थ समन्वय से सर्वथैव पराङ्मुख बन गया है।

अवश्य ही वर्त्तमान युग के मनीषी प्रतीच्य-विद्वानोंनें वेदशास्त्र मे उपवर्णित इतिवृत्त-सम्बन्धी अन्वेषण की ओर दृक्पात करते हुए वेद-युगानुगता 'सभ्यता के सम्बन्ध में अपनी अमुक ऐतिहासिकी धारणाएँ अभिव्यक्त की है। त्रिसहस्रवर्षावधि से सुप्ता भारतीय-प्रज्ञा के उद्बोधन की दृष्टि से पश्चिमी-जगत् का तथाभूत प्रयत्न अभिनन्दनीय भी माना जासकता है। किन्तु प्रतीच्य विद्वानों के इत्थभूत प्रयास से एक ओर जहाँ भारतीय-अर्वाचीन-विद्वत्-प्रज्ञा को अशतः उद्बोधन मिला है, वहाँ साथ साथ ही वैसी-भ्रान्तिपरम्पराएँ भी इसी उद्बोधन के साथ मिल गई है, जिन के कारण मन्त्रब्राह्मणात्मक-वेदशास्त्र

के ज्ञानविज्ञानात्मक-सृष्टिविज्ञान निबन्धन वह महत्त्वपूर्ण गौरव सवथैव अभिभूत होगया है जिस अभिभूति के कारण ही आज की नवशिक्षिता भारतीय-प्रज्ञा के लिए वेदशास्त्र उस पुरातन सभ्यता का सूचक एक वैसा **ग्रामीणभाषामय शास्त्र** ही बना रह गया है, जिस युग के सभ्य मानव को इन नवीन भारतीय-वेदज्ञ-बन्धुओं के दीक्षागुरु किंवा सवस्वगुरु पाश्चमी-विद्वानो के द्वारा ठोक-पीट कर यही सिखला दिया गया है कि --

' उस युग मे क्यो क लिखने पढने के साधन नहीं थे, अतएव केवल सुन सुना कर ही मानव अपने वाक्यो को कण्ठस्थ कर लिया करते थे। अग्निताप से जब उन्हे शान्ति मिली, तो वे अग्नि की स्तुति करने लग पडे। इसी प्रकार-ज्यो ज्यो उन्हे प्रकृति के अग्नि-वायु-प्रकाश-जल आदि की उपयोगिता का आभास होने लगा, त्यो त्यो हीं वे अपनी उस युग की भाषा म उन उन उपयोगी-पदार्थों का स्तुत्यात्मक-चाटुकारिता पूर्ण वर्णन-करने लग पडे और वह वर्णनसग्रह ही उनका वेद कहलाया जो सचमुच उस युग की सभ्यता का ही परिचायक ग्रन्थ है ।

आज के सवतन्त्र स्वतन्त्र भारत में प्रकाशित होने वाली अमुक पत्र पत्रिकाओ में भी वदशास्त्र के सम्ब ध में पश्चिमी-विद्वानो की ओर से दायादरूपेण मिलने वाली तथाविधा भ्रा त धारणाओ को हा उपन्यास के रूप में निकलते जब हम सुनते हैं, तो क्षणमात्र के लिए के लिए हमें स्तब्ध अवाक् ही बने रह जाना पडता है *। कि तु इस मे न तो पत्र-पत्रिकाओ को ही दोष दिया जासकता, नैव तदनुगामिनी आज की उन नवीन प्रज्ञाओं को ही कुछ कहा सुना जासकता जिन्हे अपने समस्त जीवन में भारतीय-मूलसस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक-परिचयसूत्र कभी किसी की ओर से भी उपलब्ध हुए ही नही। ठीक इसके विपरीत जि हे अपने शिक्षणकाल में प्रतीच्य विद्वानो की तथाकथिता ध रणाएँ ही दायादरूपेण (विरासत में) उपल ब हु जिन का नग्नचित्रण पूर्व में किया ही जा चुका है। इधर प्राच्यविचारानुगामी-भारतीय विद्वान् अपनी अपौरुषेयता की भ्रान्ति से ऐतिहासिक-तथ्यो से शून्य रहते हुए जहा इस दिशा में तटस्थ बने रहे विगत तीन सहस्र-वर्षों से वहा पारिभाषिक शब्दो की परम्परा से असस्पृष्ट रह जाने के कारण इन भारतीय विद्वानो की ओर से वेदशास्त्रानुबन्धी ज्ञानविज्ञानात्मक उन-सृष्टिरहस्यो के सम्बन्ध में भी किञ्चिदिव प्रकाश नही डाला गया तदवधि में, जिन वैदिक-वैज्ञानिक-तथ्यो के सम्मुख सभी युगो की प्रज्ञाओ का हठात्-प्रणतभावेन अवनतशिरस्क बन ही जाना पड़ता है।

यों एकमात्र भारतीय-विद्वानो की साम्प्रदायिक-मनोवृत्ति से अनुगता मतवादाभिनिवेशवृत्ति के कारण आविर्भूत होपडने वाले वेदापौरुषेयत्व की भ्रान्ति से ही वेदशास्त्र के **विज्ञान-स्तुति इतिहास-नामक तीनो ज्ञातव्य स्तम्भ**, एव **कर्म्म-उपासना-ज्ञान-नामक तीनो कर्त्तव्यस्तम्भ**, दोनो ही विभूति स्तम्भ अपने ज्ञानविज्ञानात्मक-पारिभाषिक-तथ्यो से सवथैव उस सीमा पर्य्यन्त-परा परावत ही (अत्यन्त ही विदूर) बन गए,

---

***-स्वतन्त्र भारत की राजधानी देहली से प्रकाशित होने वाली, सुधारक-जगत् के लिए महान् आकर्षण का विषय 'सरिता' में वेदशास्त्र के सम्बन्ध मे ऐसी ही धारणाएँ प्रकाशित होतीं रहतीं हैं।**

जिस विदूरत्व से ही आज प्रतीच्य-जगत् भी अपनी-कल्पना के आधार पर वैदिक-इतिवृत्तों के साथ यथेच्छ क्रीडाकौतुक करता हुआ नहीं अघा रहा, तो तच्चरणरज पथ के अनुवर्त्मा, प्रत्यक्ष-प्रभावमूला स्वस्वरूप-विमोहिनी-भवनाशकारिणी भावुकता के अग्रणीदूत आज के नवशिक्षित-भारतीय वेदभक्त भी प्रतीच्या विचारधारा का ही अहर्निश यशोगान करते हुए 'कुतस्तत्र प्रतीकारो रक्षको यत्र भक्षक' को ही अक्षरश चरितार्थ करते हुए इतस्तत द्रम्यमाण हैं-सर्वत त्र स्वत त्ररूपेणैवेति महद् खास्पदम्।

इधर कुछ समय से अमुक परिगणित वेदभक्त अवश्य ही वेदशास्त्र की तथाकथिता प्रवञ्चना से दु खी हुए हैं, जिस दु ख की निवृत्ति के लिए ही कुछने तो शब्दानुकरण के माध्यम से वर्त्तमान-प्रतीच्य भौतिक विज्ञानो, तथा आविष्कारो के साथ वैदिक सिद्धा तो का अस्तव्यस्त सम वय करना आरम्भ कर दिया है वेदशास्त्र के गौरव स्थापन के व्यामोहन से। तो एक दूसरा वग वैसा भी है, जो वैदिक तथ्यो की विशुद्धा 'अध्यात्मपरक व्याख्या में ही तल्लीन रहता हुआ किसी वैसे अज्ञात अध्यात्म प्राण की कल्पना में ही विभोर बना हुआ है, जिस का लोक-समाज-नित्र धना-भूतभौतिकी बाह्य-जगदनुबन्धिनी-अभ्युदय-प्रवृत्ति से कुछ भी तो सम्ब ध नही माना जासकता। इसप्रकार एक वग वेदशास्त्र को विशुद्ध भौतिक-विज्ञानशास्त्र प्रमाणित करने के लिए आतुर है शब्दानुकरण माध्यम से जोड तोड बैठाता हुआ, तो दूसरा वर्ग 'प्राण' व्यामोहन नित्र धन काल्पनिक अध्यात्मजगत् में विचरण करता हुआ वेदशास्त्र के सम्पूर्ण विज्ञान-स्तुति-इतिहास-कर्म्म-उपास्ति-ज्ञान वैभवो को एकमात्र लोकातीत अध्यात्म पर ही परिश्रा त कर देने के लिए आकुल-व्याकुल बनता हुआ आर्षनिष्ठा-सम्मत उस समस्त आचारसौ दय्य को एका तत निष्प्राण ही प्रमाणित कर देना चाहता है जिस आचारसौन्दर्य्य को भारतवर्ष आज तीन सहस्रवर्षों से उत्तरोत्तर विस्मृत ही करता आरहा है।

कहना न होगा कि-वर्त्तमान-भूतविज्ञान के साथ वेदशास्त्र का समतुलनात्मक व्यामोहन प्रयास जैसे वेदशास्त्र के पारिभाषिक-ज्ञानविज्ञानात्मक-प्रातिस्विक-समन्वय साम्राज्य के गौरव को अभिभूत ही कर रहा है, तथैव 'अध्यात्मप्राण'-विमोहनानुगत केवल आध्यात्मिक-समन्वय भी वेदशास्त्र के वास्तविक-सम वय-से असस्पृष्ट ही प्रमाणित होरहा है। और यों दोनों उन तथाकथित-वेदभक्तों के तथाभूत दोनों ही वेदार्थ-समन्वयात्मक-प्रकार वेदशास्त्र के नि श्रेयसानुगत- अभ्युदय साधक महान् उद्देश्य से सर्वथैव विपरीत पथों का ही अनुसरण करते हुए वेद के महतो महीयान् वास्तविक-गौरव के विरोधी ही प्रमाणित होरहे हैं।

तथाविधा भ्रान्ति परम्पराओ का एकमात्र प्रमुख कारण है-आधिदैविक-ईश्वरीय-विश्व की आत्य न्तिक-विस्मृति, जिस आधिदैविक-ईश्वरीय विवर्त्त के आधार पर ही ज्ञानविज्ञानात्मिका-सृष्टिविद्या का प्रमुख सम्ब ध माना गया है। एक वग अधिभूत में आसक्त होता हुआ आधिदैविक से विमुख होरहा है, तो दूसरा वर्ग अध्यात्म में आसक्त होता हुआ अधिदैवत से पराङ्मुख बना हुआ है, जबकि वस्तुस्थिति की पूर्णता अधि-दैवत अध्यात्म अधिभूत, इन तीनों के समन्वय पर ही अवलम्बित है।

भूतवादी का सबसे बड़ा व्यामोहन है-"प्रत्यक्षदृष्ट भूत-भौतिक-पार्थिव-पदार्थों को ही मानव के लिए सर्वस्व मान बैठना"। इस की दृष्टि में अधिदैवत (ईश्वरीय-प्राकृतिक-जगत्), एव जीवात्मा-नुबन्धी-अध्यात्मजगत्, सबकुछ भौतिक ही भौतिक हैं। अर्थात् सब कुछ इन भूत-भौतिक-पिण्डों में ही हैं। इन से अतिरिक्त न कोई अधिदैवत है, एव न कोई अध्यातम। इसी भूतदृष्टि के आधार पर भूतो-न्नतिपरक भूतविज्ञान उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित होता जारहा है, जिस की प्रवृद्धतमा जड़ता के आवरणपुटों-सम्पुटों से

सम्पुटित मानव अपने स्वरूपानुगत–आत्मचैतन्य से उत्तरोत्तर निजडित होता हुआ स्वयमपि एक जड भूतपिण्ड रूप में परिणत होजाने के लिए ही मानो कटिबद्ध बनता जारहा है ।

अध्यात्मवादी का सबसे बडा व्यामोहन है–"स्वशरीर के किसी केन्द्रात्मक–शून्य प्रदेश विशेष मे ही उपकल्पित इन्द्रियातीत–अलौकिक–काल्पनिक–मनोराज्य मे ही ईश्वरीय–आधिदैविक–जगत् के तत्त्वों–पदार्थो को अपनी कल्पना से ही आध्यात्मिक–प्राण का रूप दे दे कर सबकुछ अपने इस काल्पनिक अध्यात्मप्राण मे ही परिसमाप्त मानने रहना । ऐसे अध्यात्मवादी ही अपने शून्यजगत् मे ही सूर्य्य–चन्द्रमा–अग्नि–पवन–गङ्गा–यमुना–आदि की कल्पना में आत्मविभोर नहीं, अपितु मनोविभोर बने रहते हैं–' मन लड्डू तो फीके क्यों' को अक्षरश चरितार्थ करते हुए । इन्ही की भाषा है–'मन चङ्गा तो खटोटी मे गङ्गा । इन की दृष्टि में न तो आधिभौतिक–प्रत्यक्षदृष्ट–अभ्युदयसाधक–विश्वसौन्दर्य्य का ही कोइ महत्त्व, एव न इस भौतिक जगत् के प्रवर्त्तक नित्यसिद्ध–आधिदैविक ईश्वरीय जगत् का ही कोई महत्त्व । अपितु सबकुछ ये अपने काल्पनिक–अध्यात्म में ही, कल्पना के ही द्वारा काल्पनिक–भावों को ही ढूँढ ढूँढ कर अपनी कल्पना मे ही तुष्ट होते रहते है ।

इत्थभूत–काल्पनिक– अद्वैतवादात्मक–अध्यात्मवादने ही विशेषरूपेण मानव का सर्वप्रथम अधिदैवत से विच्छेद कराया है, तत्सहैव अधिभूत निबन्धना आचारनिष्ठा से भी । काल्पनिकी अध्यात्मभावना के रसिक मानव उस महतोमहीयान्–ईश्वरीय–आधिदैवत–विश्व का अपने अणोरणीयान्–अध्यात्म में निमज्जन मानते हुए–'न त्वह तेषु ते मयि इस तथ्य को सर्वथा ही तो भूल जाते हैं । वह (आधिदैविक) अशी बनता हुआ जहाँ व्यापक है, निरवच्छिन्न है वहा यह (अध्यात्म, और अधिभूत) अशो नानात्वात् * (व्याससूत्र) के अनुसार तदश बनता हुआ व्याप्य है सावच्छिन्न है । उस–व्यापक–अधिदैवित–ईश्वरीय–जगत् के यत्किञ्चिदशरूप एकाश में ही जो व्याप्यधर्म्मा अध्यात्म–और अधिभूत–प्रतिष्ठित–है, भला उन्ही के गर्भ में वह व्यापक कैसे सर्वात्मना प्रविष्ट होजायगा ? । "वे मुझ मे है–किन्तु मैं उन मे नहीं हूँ का यही तो स्वारस्य है । सचमुच इस से बडी आत्मवञ्चना इत्थभूत अध्यात्मविमूढ इस मानव की और क्या होगी कि, वह आधिदैवकी–पारमेष्ठ्य–गाङ्गेयावातरभूता पुण्य–सलिला–माता भगवती भागीरथी की सर्वव्याप्त सलिलधारा में व्याप्यभावान्वित–अपने स्वल्पतम–भौतिक शरीर को निमज्जित कर देने जैसे महत्–पुण्यकर्म्म से वञ्चित रहता हुआ उस व्यापक तत्त्व को अपने शरीररूप काल्पनिक अध्यात्म में मान बैठने की महती भ्रान्ति करने लग पड़ता है । और यों इस प्रत्यक्ष देवानुग्रह से यह आत्मविमूढ उसीप्रकार वञ्चित ही तो बना रह जाता है, जैसे कि विशुद्ध भूतवादी–ऑक्सिजन–हाइड्रोजन की मान्यतामात्र से अनुप्राणित कीटाणुओं की चर्वणा से ही चर्विवता त करण बना रहता हुआ गङ्गा के उस आधिदैविक–अभिमानी–दिव्य–स्वरूप के अनुग्रह से विहीन ही रह जाता है, जो अनुग्रह एक श्रद्धालु मादृश–ग्रामीण भी श्रद्धामात्र के अनुग्रह से अनायासेनैव प्राप्त कर अपना जीवन धन्य-कृतकृत्य प्रमाणित कर लिया करता है ।

निवेदन–निष्कर्ष यही है कि केवल अध्यात्मवाद के व्यामोहनने, तथा केवल भूतासक्तिने ही भारतीय–मानव को दैवत–आत्मिक–भौतिक–समन्वयात्मक –'तत्तु समन्वयात् –सिद्धान्तमूलक –ज्ञान विज्ञानात्मक-पारिभाषिक उस तथ्य से वञ्चित ही कर दिया है, जिसके दुष्परिणाम स्वरूप ही वेदार्थ के सम्बन्ध में तथाकथितरूपेण नाना वैसे प्रवाद उपक्रान्त होपडे हैं, जिन से वेदपुरुष का गौरव उत्तरोत्तर अभिभूत ही

बनता जारहा है जिस इस सवनाशकारिणी अभिभूति के निरोध का एकमात्र उपाय है **अधिदैवत को इस अध्यात्म, और अधिभूत के साथ समन्वित कर देना'** ।

तात्पर्य्य तदुपाय का यही है कि, वैदिक अमुक–आख्यानोपाख्यानो का ज्ञानविज्ञानात्मक–सर्वाङ्गीण–समन्वय न तो केवल अधिदैवत से ही सम्बन्ध रखता, न केवल अध्यात्म से ही, एव न केवल अधिभूत से ही । उदाहरण के लिए प्रस्तुत कर्म्म से अनुप्राणित **'स्तम्बयजुर्हरणकर्म्म'** निबन्धन उस **'देवासुरदायविभागाख्यान'** को ही लीजिए, जिसके द्वारा देवता, और असुरो का प्रजापति के द्वारा दायविभाग (बँटवारा) बतलाया गया है ।

आख्यानानुगत देवता, और असुर कौन है ?, किस वस्तु का किसने दायविभाग किया ?, इसका नैदानिकरूप स्तम्बयजु (कुशमुष्टि) कैसे, एव किस आधार पर मान लिया गया ?, इस सब प्रश्नो का समाधान केवल दैवत–अध्यात्म–भूत की दृष्टि से कदापि सम्भव नही है । अपितु तीनो ही प्रक्रमो के साथ इस ऐतिहासिक आख्यान का समन्वय होरहा है । इन्द्र–अग्नि वायु आदि देवदेवता तथा वृत्र–नमुचि–किलात आकुली आदि असुर प्रकृति में भी है । अर्थात् अधिदैवतजगत् में भी है, अध्यात्म में (मानवीय–संस्था में) भी हैं, एव अधिभूतात्मक मानवेतिहास मे भी मानवरूप देवता और असुरो की जातिया पूर्वयुगो में विद्यमान थी । प्रकृतिवत् यहा भी त्रैलोक्य व्यवस्था थी, एव देव यवस्था थी । महाभारत युगपर्य्यन्त वह देवव्यवस्था प्रक्रान्त रही । अर्जुन के साथ मानव–भौम–इन्द्र का ही सख्य था । युधिष्ठिर सदेह जिस स्वर्ग की ओर अभिमुख हुए थे, वह भौमस्वर्ग ही था । इन्ही सब तथ्यों के स्वरूप–समन्वय के आधार पर प्रस्तुत **'देवासुर दायविभागाख्यान'** प्रतिष्ठित हुआ है, जिसके क्रमसिद्ध–अधिदैवत–अध्यात्म अधिभूत–नामक तीनों संस्थानो के दायविभागों का रहस्यात्मक–स्वरूप–विश्लेषण ही प्रकृत–प्रकरण का निष्कार्षार्थ है, जिसके द्वारा इतिहास निबन्धना उन अनेक काल्पनिक भ्रान्तियों का सर्वात्मना निराकरण होजाता है, जिस निराकरण के बिना भारतीया–परिभाषिकी परम्परा से असस्पृष्ट पश्चिमी विद्वान् केवल कल्पना के बल पर वैदिक–इतिहास के सम्बन्ध में वैसी धारणाएँ व्यक्त कर बैठे हैं, जिनके अनुकरण को ही–'स्वधर्म्म' मान बैठने वाले तत्पथानुवर्त्ती हमारे भावुक भारतीय–बन्धु भी अपने सवस्वभूत वेदशास्त्र के आख्यानो पाख्यानों के प्रति उपहास–व्यक्त करते हुए अपने आप को प्रायश्चित्त का ही भागी बनाते जारहे हैं ।

वाग्जालचतुर, लोकनिष्ठ, राजनितिकुशल–प्रतीच्य जगत् की कामार्थमयी महती–बुभुक्षा ने ही उनका 'भारत जैसे सवसमृद्ध देश की ओर ध्यान आकर्षित कराया । अत्रागमन पर तन्नैष्ठिकोंने अपने अन्तर्जगत् में ही यह निश्चय कर लिया कि, "जबतक भारतराष्ट्र के प्रज्ञाकोश में सांस्कृतिक-बलमात्रा शेष रहेग, तबतक प्रयत्न सहस्रो से भी भारत पर एकच्छत्र प्रभुत्त्व स्थापित नही किया जासकेगा" । नि सन्देह उस युग का भारत तत्पूर्व की अनेक शताब्दियो से बाह्य आक्रमण परम्पराओं के कारण अधिकांश में शक्तिहीन ही प्रमाणित होचुका था । उधर साम्प्रदायिक मतवाद कलहो से इसका ज्ञानविज्ञानात्मक–नैष्ठिक–सांस्कृतिक–बल भी अधिकाश में क्षीण ही होचुका था । तभी तो प्रतीच्य अतिथिवर्ग ने ? यहाँ एकाधिपत्य के सम्भावनो का दर्शन आरम्भ कर दिया । यह सब कुछ होने पर भी प्रतीच्य–अतिथियों के आगमन से पहले पहले तक भारतीय–प्रजावर्ग में अपनी सस्कृति, सभ्यता, धर्म्म, उपासना, ज्ञान, आदि आदि विस्मृतप्राया भी विमल–विभूतियों के प्रति पूर्ण श्रद्धा अवश्य प्रतिष्ठित थी, जिस श्रद्धा की विद्यमानता भी आगत अति–

थियों के मूलोत्पाटन में उसी समय पर्य्याप्त बन सकती थी-यदि उसी युग में किसी महापुरुष के द्वारा ज्ञान-विज्ञानात्मिका-परिभाषाओं के स्वरूप विश्लेषण के द्वारा तत्-श्रद्धा को अभिव्यक्त कर दिया जाता, तो। किन्तु दुर्भाग्यवश स्थिति उस समय ठीक विपरीत दिशा का ही अनुगमन करती गई तत्कालीन वर्गभेदों से अनुप्राणिता पारस्परिकी उस अहमहमिका के द्वारा जिसके द्वारा सभी वर्ग उन तथाकथित सुसभ्य ? उदार ? अतिथियों ? के सहयोग से अपना अधिक से अधिक स्वार्थसाधन करने का ही इच्छुक बन चले थे।

तथाविध उपर्युक्त वातावरण मे ही उस प्रतीच्य-शिक्षा का सूत्रपात हुआ, जिस के पाठ्यग्रन्थों के द्वारा भारतीय पुरातनशास्त्रों की, मान्यताओं की, सभ्यता की तथा आदर्शों की वैसी आलोचना ही की गई, जिसका निष्कर्ष पूर्व की पङ्क्तियों में व्यक्त किया जाचुका है। उन सब अनर्गल आलोचनाओं में से प्रकृत में हम एक आलोचना की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे एक विशेष तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए, और उस आलोचना का सम्बन्ध माना जायगा—'**भारतदेश के मौलिक स्वरूप के सम्बन्ध मे**।

प्रतीच्यशिक्षा के अंशतः भी सम्पर्क में आजाने वाले भारतराष्ट्र के बडे से भी बडे राष्ट्रभक्त-देशभक्त-अद्यतन-भारतीय-मानव से जब भी यह प्रश्न किया जायगा कि, "**क्या भारतवर्ष आर्य्यों का आदिदेश है ?** , तो तत्काल क्षणमात्र विलम्ब किए वह यही उत्तर देगा कि,- '**नहीं भारत तो अनार्य्यों का आदिदेश है। वे ही यहाँ के आदिवासी, किंवा मूलनिवासी है। आर्य्य तो मध्यएशिया से शनैः शनैः बढते बढते इस देश मे आपहुँचे, और अनार्य्यों को युद्ध मे परास्त कर वे यहाँ के अधिपति बन बैठे***"। दूसरों की कौन कहे, सुप्रसिद्ध देशभक्त और भारतीय धर्म्म के अनन्यसेवी×स्वर्गीय

---

*-प्रतीच्य-विद्वानों की अभिनिवेशमूला इत्थम्भूता धारणा उनके द्वारा निर्द्धारित भारतीय-पाठ्य-ग्रन्थों में इस रूप से अभिव्यक्त हुई है कि-"**आर्य्यों का मूलनिवास, किंवा आदिनिवास मध्यएशिया ही था। मध्यएशिया से ही आर्य्यलोग भारत मे आए थे। अतएव उन्हें समुद्र का भी स्वरूप बोध नही था उस युग मे। क्योंकि मध्यएशिया मे कोई समुद्र नहीं है। हाँ, नदियाँ बहुत सी हैं। एवं नदियों के लिए आर्य्यों के उस पुरातन ऋग्वेदग्रन्थ मे 'सिन्धु शब्द प्रयुक्त हुआ है जो वैदिक वाङ्मय अधिक से अधिक २५००-३००० सहस्र वर्षों से अधिक (पुराना नहीं माना जासकता** इत्यादि।

×-सर्वथैव प्रौढवादात्मिका उक्त धारणा के विपरीत भारतराष्ट्र की स्वतन्त्रता के महान् द्रष्टा स्वर्गीय श्री बालगङ्गाधर तिलक महाभाग ने अपने सुप्रसिद्ध '**ओरियन**, तथा '**दआर्कटिक होम इन् द वेदाज**' नामक लोकप्रसिद्ध निबन्धों के माध्यम से एक अन्य ही तथ्य उपस्थित किया, जिस तथ्य का श्रीतिलक के मतानुसार उत्तरध्रुवानुगत अमुक-भूप्रदेश से ही सम्बन्ध था, जिसे '**पामीर**' कहा जासकता है। श्रीतिलक की धारणा के अनुसार आर्य्यों का आदिदेश वही उत्तर प्रदेश था, न कि प्रतीच्य-विद्वानों की मान्यता से अनुप्राणित-मध्य-एशियाप्रान्त। '**उत्तरप्रदेशात्मक पामीर से ही आर्य्य भारत मे आए**'-सर्वश्री तिलक महाभाग के इस मान्य तथ्य का हम 'मान्यता' के अनुबन्ध से ही समादर करेंगे। क्योंकि आस्था पूर्णा निष्ठा की दृष्टि से तो श्रीतिलक की मान्यता भी प्रतीच्या भावना से सर्वथैव विमुक्त नही मानी जासकती, जबकि तिलक भी आर्य्यों का बाहिर से भारत में आगमन तो मान ही बैठे। वस्तुस्थिति वास्तव में कुछ और ही है, जिसके मर्मत्रय से असंस्पृष्ट रह जाने के कारण ही इसप्रकार की मान्यताएँ मानवीय-मन को अभिभूत कर लिया करती हैं, जैसाकि पाठक तद्भाष्य-सन्दर्भ में देखेंगे।

श्रद्धेय श्री बालगङ्गाधर तिलक जैसे महापुरुष ने भी वेदनिर्म्माण-कालगणना-प्रसङ्गत-एक अ या मा यता के अनुब ध से उक्त तथ्य को ही प्रश्रय देडाला, जबकि उक्थ 'तथ्य भी 'तथ्य' न होकर उन प्रतीच्य वाग्गा-रचतुरो की कुटिला नीति की प्रतिच्छाया- मात्र पर ही विश्रान्त है ।

'यदि हम आर्य्य अपनी सभ्यता के बलपर यहाँ के मूलनिवासी अनार्य्यों का दमन कर यहाँ के शासक बन सकते है, बन गए हैं, तो उन प्रतीच्य सुसभ्य अतिथियों को भी सहज-रूपेणैव यह अधिकार प्राप्त है कि, वे हमे सुसभ्य बनाने के लिए, हमारी अवैज्ञानिकता हटाने के लिए हम पर एकाधिपत्य स्थापित करले । क्योंकि हमारा इस देश पर कोई पैत्रिक-स्वत्त्वाधिकार नहीं है" ।

उक्त काल्पनिक जो तथ्य, दूसरे श दों में अनार्य्य-आर्य्य विद्रोहात्मक जो सस्कार तच्छिक्षा-पथानुवर्त्मी भावुक भारतीयो की कोमलप्रज्ञा में दृढसस्कार के रूप में उनके द्वारा शिक्षणकाल में ही खचित कर दिए गए थे, उन कुसस्कारो से आजतक भी तो हमारा परित्राण नही होसका है । और हमारे वे सभी मान्य शिक्षित भारतीय उसी काल्पनिक मा यता को मानो अपनी शिक्षा धुरीणता के रूप में ही अभि यक्त करते रहते हैं, जबकि वस्तु स्थिति स्वय वेद पुराण शास्त्र के इतिवृत्तात्मक-भुवनकोशानुगत (भूगोलानुगत) निर्भ्रा त-सिद्धान्तो के अनुसार प्रतीच्या तथाविद्या मा यता के सर्वथैव विपरीत है । किन्तु अपनी काल्पनिकी अपौरुषेयता की भ्रान्ति में न तो प्राच्य-भारतीय-विद्वानोंने वेदशास्त्र के भुवनकोशानुगत-इतिवृत्त का स्वाध्याय किया, एव नैव पुराण-शास्त्रोपवर्णित-ऐतिहासिक-सीमाप्रसङ्गो से सम्ब ध रखने वाले आख्यानोपाख्यानो का ही विद्वानो के द्वारा सफल समाधान होसका । अतएव भारतीया कोमलप्रज्ञा सहजरूपेणैव प्रतीच्य-काल्पनिक-सिद्धा तो पर ही उत्तरोत्तर आस्था करती ही गई, और साथ ही स्वराष्ट्रीय-वेदपुराणशास्त्रों के प्रति उपेक्षा ।

तभी तो भारतवर्ष की प्राच्यसस्कृति-शिक्षा के महान् के द्ररूपेण सुप्रसिद्ध वाराणसीक्षेत्र (काशी) के पावन वक्षस्थल पर स्थापित होने वाले प्रतीच्यशिक्षणकेन्द्र (कॉलेज) में जब किसी प्राच्यभक्त की ओर से पौराणिक-भूगोल-के भी शिक्षा के पाठ्यक्रम में समावेश का आग्रहात्मक-प्रस्ताव उप स्थत हुआ, तो प्रतीच्य-शिक्षाके द्र के प्रतीच्यशिक्षाभक्त अमुक को इसप्रकार के अनर्गल उद्गार अभिव्यक्त कर देने का साहस, किंवा दुस्साहस होगडा था कि 'जो भारतीय पुराणशास्त्र पृथिवी का काच के समान चपटा मानता है *, जिस पुराण का द्वीपोपद्वीपों का परिमाण कोटि-कोटि-लक्ष लक्ष-क्रोश-मित सुना जाता है जो पुराण पृथिवी पर दुग्ध-मधु-आदि के सात सात समुद्र मानता है, ऐसे विशुद्ध काल्पनिक-मन प्ररोचनात्मक-पुराण के भूगोल से भारतीय-नवीन प्रज्ञा में क्या उत्कर्ष होगा ?", तो प्रस्तावक-पुराणपक्षपाती महोदय तूष्णी ही बने रह गए थे ।

यदि उन्हें अ शत भी 'पृथिवी' शब्द के पारिभाषिक अर्थ के साथ आत्मसाक्षात्कार होता, तो तत्काल ही वे पुराण के भौगोलिक तथ्यों के प्रति अनर्गलरूपेण गलशोषण करने वाले अमुक प्रतीच्य महानुभाव को यह बतला सकते थे कि, श्रीमन् ! आप स्वय अभी भ्रान्ति में हैं । आपका पुराण की परिभाषाओं के साथ यत्किञ्चित्

---

*-आदर्शोदरसन्निभा भगवती

भी तो सम्यक् नही है। भूमि, और पृथिवी, दोनो शब्द विभिन्न ही अर्थों के वाचक है। जिस मृण्मय-धातुमय-ओषधि-वनस्पतिमय पिण्ड पर आप विराजमान हैं, वह पृथिवी नही, अपितु भूमि है, जिसे केन्द्र बना कर ही उस भौमप्राण का बडी दूर तक प्रथन-फैलाव होता है, जिस प्राणमण्डल का ही 'यदप्रथयन्' रूपेण 'पृथिवी' नाम रक्खा जाता है जिसका अर्द्धाण्डकटाह सचमुच ही आदर्शवत् सम ही है, और जिस पार्थिवप्राण के महिमा मण्डल की व्याप्ति सूर्य्य से भी कुछ ऊपर पर्य्यन्त मानी गई है वैदिक-विज्ञान के अनुसार। इसी पार्थिवक्षेत्र में सप्तद्वीप-सप्तवायुस्तर-सूक्ष्मरसात्मक सप्तसमुद्र-आदि अनेक तत्त्वात्मक सप्तक-प्रतिष्ठित हैं, जिनका पौराणिक-अतिशय-रहस्यपूर्ण- पाद्मभुवनकोश में विस्तार से स्वरूपोपबृंहण हुआ है, जिसके स्वरूप संस्पर्श से भी आज का भारतीय मानव अपरिचित ही बना हुआ है। प्रक्रान्त "देवासुरदायविभाख्यान प्रसङ्गत" तत्क्रम में हमने संक्षेप से इस पाद्मभुवनकोश का भी दिग्दर्शन-प्रयास किया है।

देवासुरदायविभाग प्रसङ्ग से ही तत्प्रकरण में भारतवर्ष के उस मौलिक प्रकृतिसिद्ध भौगोलिक स्वरूप का समन्वय प्रयास हुआ है, जिसका-'अस्मिन् ह वै लोके-उभये देव मनुष्या आसु' (शाङ्खायन ब्राह्मण १।१) यह श्रुतिवचन सर्वात्मना समर्थक बना हुआ है। भारतराष्ट्र आरम्भ से ही इसी आर्य्यजाति की प्रातिस्विक जन्मभूमि रहा है, जिसका विस्तार पाद्मभुवनकोशानुबन्ध से ६० अंशात्मक ही माना गया है। एवं जिस भारतीय भुवनकोश के आधार पर निरुक्तवृत्तानुगत लङ्काद्वीप इसकी दक्षिणसीमा है, जो लङ्काद्वीप आज समुद्रगर्भ में विलीन होचुका है, और भारतीय उपद्वीप गणना के प्रसङ्ग में लङ्काद्वीप से सर्वथैव पृथग् रूपेण निर्दिष्ट सुप्रसिद्ध सिंहलद्वीप (सीलोन) को ही आज भ्रान्तिवश लङ्काद्वीप माना, और मनवाया जारहा है।

जहा से सुप्रसिद्ध 'रावी' नदी का विनिर्गम है, तदनुगत सुप्रसिद्ध शिवालक ही भारत की उत्तर-सीमा है। 'महीसागर' नाम से प्रसिद्ध पश्चिमसमुद्र (जहा भारतीयो के सुप्रसिद्ध शर्वतीर्थ का उपवर्णन उपलब्ध होता है) भारत की पश्चिमसीमा है और पूर्वानुगत चीनदेशानुबन्धी पीतसमुद्र ही भारत की पूर्वसीमा मानी गई है। यही ६० अंशात्मक प्रकृतिसिद्ध भारतवर्ष है जिसके आधार पर ही कुरुवर्ष, केतुमालवर्ष, किंपुरुषवर्ष हरिवर्ष, इलावृतवर्ष, भद्राश्ववर्ष आदि भेदेन नववर्षात्मक वर्षभुवनकोश की व्यवस्था हुई है। देवस्वर्ग भारत से भिन्न है जिसका उत्तरप्राङ्मेरु से सम्बन्ध है, जिस प्राङ्मेरु का अपभ्रंशात्मकरूप ही 'पामीर' है।

जिस देवयुगात्मक वैदिकयुग में इसी भूपिण्ड पर भौमदेवानुबन्धिनी त्रैलोक्य-व्यवस्था व्यवस्थित थी, उस युग में प्राङ्मेरुस्थ भौमस्वर्गीय-इन्द्र-अग्नि-आदि मानुषदेवता स्वशासित भारत में अवसर विशेषों पर आया करते थे, तो भारतीय मान्धाता-हरिश्चन्द्र-दशरथ दिलीप-रघु-आदि आदि प्रमुख मानव भी देवस्वर्ग में गमन किया करते थे। यों देवत्रिलोकी के देव-मानव-तिर्य्यक् नामभेदभिन्न मानव परस्पर गमनागमन से समन्वित थे, जिस इस पारिभाषिक-तथ्य का यथावत् समन्वय न करने के कारण ही आर्य्यों का अत्र प्राङ्मेरु (पामीर) से अपूर्व आगमन मान लिया गया है, जबकि अस्मिन ह वै लोके उभये देव-मनुष्या' से विस्पष्टरूपेण दोनों ही मानववर्गों का अत्रापि समानरूपेणैव आवास निवास अभिव्यक्त है।

भौमस्वर्ग निवासी मानवदेवताओं में सुप्रसिद्ध 'भारत' नामक ब्राह्मणवर्णात्मक अग्निदेव इस मानवलोकात्मक पृथिवी-लोक के शत्रसोनपात् देवदेवता थे। अतएव कर्म्मभूमिरूपा यह मानवभूमि भारतवर्ष नाम से प्रसिद्ध हुई, जिसकी महती सीमा का अनेक पारिभाषिक दृष्टिकोणो के माध्यम से तत्

प्रकरण में सम वय–प्रयास हुआ है। भारत अग्नि ही इस राष्ट्र की भारत अभिधा के मलकारण हैं जिस इस मलकारण का ही आगे चलकर यश ख्यापन–मात्र से दो यक्ति भारत के साथ भी सम्ब ध मान लिया है पुराण–शास्त्रने । आगे जाकर अमुक अर्वाचीन मतवादने सत्रश्री ऋषभदेव को भी स उपाधि से समा वत करने का प्रयास किया है जिस प्रयास का युगव मानुगात से समादर करते हुए भी त त्वष्ट्या तो भारत नामका प्रमुखरूपेण भारताग्नि पर ही विश्राम मानना पडेगा जिस इस तथ्य के स्पष्टीकरण के साथ साथ प्रकृत आख्यान में भारत की प्रकृतिसिद्धा ६६ अशा मका वास्तविक–उस अखण्डता का भी स्वरूप–सम वय हुआ है जो त वमूला प्रकृतिसिद्धा अखण्डता निगत अमुक शताब्दियों से प्रक्रा ता भ्रा त भारतीयो की निरतिशया भावुकता के कारण आततायीवग के द्वारा–उस–सीमापन्य त खण्ड खण्ड रूप में ही परिणत कर दी गई है जिस खण्ड–खण्डात्मिका देशसीमा के द्वारा आज भारत अपने प्राकृतिक गौरव को सवथव विस्मृत कर बैठा है।

इसी प्रसङ्ग में पुराणानुगत अत्य त–पारिभाषिक उस पाद्मभुवनकोश के स्वरूप–सम वय की भी चेष्टा हुई है जिस के साथ मेरुमूला देवत्रिलोकी तथा असुरत्रिलोकी इन दोनों का स ब ध माना गया है । स गोचभाव का स्वरूप सग्राहक– मेरु ही वह मेरुदण्ड है जिस के आधार पर ही भगवान् आदि मानव–प्रजापति ने भूपिण्ड को निदानविधि से पद्म मानकर इस के पत्रा मक ६ विभाग किए थे एव इस भूपद्म के कारण ही यह भुवनकोश (भूगोल) पाद्मभुवनकोश नाम से प्रसिद्ध हुआ था जिसकी रहस्यात्मिका द्वीपादि–परिमाण–गणना के पारिभाषिक तथ्यों से विदूर होजाने के कारण ही इन पौराणिक तथ्यो पर उसी प्रकार बुद्धिवादियो के निरथक ऊहापोह प्रक्रा त होपडे हैं जैसेकि वैदिक–आख्यानोपाख्यानो के रहस्याथ का सम वय करने में असमथ बन जाने के कारण भारतीय विद्वत्प्रज्ञा अपने सर्वस्वभूत भी वेदशास्त्र के ज्ञानविज्ञाना मक–पारम्परिक अ ययना यापन को जलाञ्जलि समर्पित करती हुई क्वाचित्करूपेण केवल पारायणपाठ को ही सर्वसर्वा मान बठी है अमुक शताब्दियो स जत्रकि त वार्थसम वय से शून्य पारायण पाठ को तो स्वय शास्त्र ने ही आ यन्तिकरूपेण निरथक ही माना है * सौरभ त व ज्ञानवञ्चित केवल चन्दन भारवाही रासभवत् ही – ।

तदित्थ–वदिक आख्यानोपाख्यानो की सहज शैली से अनुप्राणित प्रस्तुत देवासुर दायविभागाख्या न का भी तत्प्रकरण में आधिदैविक–प्रकृतिसिद्ध–नि यदायविभाग आ या मक–प्रकृतिसिद्ध–मानवीय दायविभाग एव देवयुग में विघटित मानवदेव तथा मानव असुरों की प्रतिस्पर्द्धा से समन्वित आधिभौतिक दायविभाग रूपेण तीनों ही स्थानों से समन्वित आख्यान का पारिभाषिक सम वय करता हुआ ही तत्प्रकरण विशेष उपरत हुआ है एव–प्रस्तुत सस्मरणा मक–पारिभाषिक दिग्दशन का यही सङ्क्षिप्ततम स्वरूप दिग्दर्शन है।

* * * * *

---

* स्थाणुरयं भारहार किलाभूत्–अधीत्य–वेद न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ –स इत् सकल भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥
– यथा खरो चन्दनभारवाही, भारस्य वेत्ता न तु सौरभस्य

ख–प्रतिमा जनकर्म्मानुगत–चन्द्रचिह्न स्वरूप मस्मरण—

वेदिपरिग्र ामक–वादस पादनक मांङ्गभूत सुप्रसि प्रतिमा जनकम्म नामक क वथ कम्म के वज्ञानिक स्वरूप–सम वय–प्रसङ्गत सप्रसिद्द उस चन्द्रचिह्न की अ य त ही रह यपूर्णा निरुक्ति हुई है जो चिह्नविशेष लोक–समान–यहार में चन्द्रकलङ्क नाम से प्रसिद्ध है एव जिस के प्रसङ्ग से ही पुराणशास्त्र का सुप्रसिद्ध ताराहरणापाख्यान नामक एक स्वत त्र आख्यान ही उपनिषद्ध होगया है। स्फ्य नामक काष्ठनिर्म्मित यज्ञायुध–विशेष स वदि–नि मांणाथ–उ पाटित मृद्भाग के बहि प्रक्षेप स स ब ध रखने वाला क म ही प्रतिमा ननकम्म क लाया है और तदु पात्तप्रसङ्ग में ही व भगवान् ने च द्रस्थ कृ णभाव के वैज्ञानिक स्वरूप का विश्लेषण किया है जिसके आधार पर भावुक भारत य कविगण विचित्र प्रकार की क पनाएँ करते रहते हैं *।

पुराणशास्त्र की आख्यानानुगता क पना तो प्रसिद्ध ही है कि दवगुरु की धम्मप नी तारा के अपहरण से ही सोमरद्धक ग वव च द्रमा को कलङ्क का अनुगामी बनता पडा था जिस इस पौराणिक–रहस्य का तो तत्रव स्वतन्त्र नित्र धन में विस्तार से विश्लेषण किया गया है। अत्र तु देवयजन–प्रसङ्ग से ही इस कलङ्क के ताविक स्वरूप का विवेचन हुआ है जिस इस देवयजना मक–पारिभाषिक त व की आधारभूमि है पुरा क्रूरस्य विसृप इ यादि पारिभाषिक वह यजु म त्र जिसका अथराथ हुआ है यही है कि—

हे विष्णो! विविध योद्धाओं की इधर–उधर–की भागदौड के कारण विसृप नाम से प्रसिद्ध क्र रकर्म्मा अतएव क्रूर अभिधा से लोक मे ख्यातिप्राप्त भयानक देवासुरसग्राम से पहिले देवदेवताओंन पृथिवी के यज्ञानुब धी जीवनीय रसा मक जिस देवयजन भाग को धरोहर के रूप मे च द्रमा मे प्रतिष्ठित कर दिया था उसी जीवदानु भाग को लक्ष्य बनाकर धीर याज्ञिक यज्ञकम्म का अनुगमन कर रहे है ।

देवासुरसग्राम से पूव ही पार्थिव देवदेवताओंन यज्ञकर्म्म के ससाधक जिस दवयजना मक–त व को च द्रमा में धरोहर के रूप में सुरक्षित कर दिया है उसी का उक्त मन्त्राक्षराथ के द्वारा पारिभाषिक–स्वरूप–विश्लेषण हुआ है। प्रासङ्गिक ग्रहोपग्रहविज्ञान के ताविक सम वय के द्वारा उक्त यजुम्म त्र के रहस्याथ का पारिभाषिक स्पष्टीकरण ही तद्विज्ञान का नि कषाथ है जो कि म त्रानुगत रहस्यपूर्ण विज्ञान का अ य त ही चम कारपूर्ण उदा रण ही माना जायगा बैदिक विज्ञान के क्षेत्र में। प्रतिमा जनकम्मानुब धी वैज्ञानिक इस त य के माध्यम से वैदिक–तिवृत्तो से अनुप्राणिता उस महती भ्रान्ति का–स्थालीपुलाकन्यायेन निश्चय ही

---

* अङ्क केऽपि शशङ्किरे जलनिधे, पङ्क परे मेनिरे।
सारङ्ग कतिचिच्च सञ्जगदिरे, भूच्छायमैच्छन् परे॥
इन्दौ यद्दलितेन्द्रनीलशकल श्याम दरीदृश्यते।
तत्–सान्द्र निशि पीतम घतम कुक्षिस्थमाचक्ष्महे॥

निराकरण सम्भव है जिस भ्रान्ति के कारण पुरा क्रूरस्य इत्यादि विशुद्ध-विज्ञानेतिवृत्तात्मक मन्त्रों के तत्वार्थ समन्वय प्रसङ्ग में मानवप्रज्ञा संशयशीला बन जाया करती है इसी निवेदन के साथ उदाहरणात्मक यह द्वितीय संस्मरण उपरत होरहा है।

* * * * *

(ग)-व्यवहारजगत् और शास्त्रीय-जगत् मे अनुप्राणिता पारिभाषिकी-प्रणामविधि का संस्मरण, और आज के लोकव्यापक नमस्ते" के सम्बन्ध मे किञ्चिदिव आवेदन—

यज्ञविद्या प्रकृतिसिद्धा वह प्राणविद्या है जिसका मानवीय कल्पना सामयिकी मान्यता आदि से संस्पर्श भी नही माना जासकता। मानवकृत वैध यज्ञों के बडे छोटे यच्चयावत् यज्ञिय कर्म्मों का स्वरूप प्रकृति-सिद्ध ईश्वरीय आधिदैविक- नित्ययज्ञ के नियमित-पारिभाषिक -ईश्वरीय-नियमोपनियमों पर ही प्रतिष्ठित-व्यवस्थित हुए हैं। देवानुविधा वै मनुष्या -यद्दै देवा अकुर्वस्तत्करवाणि प्रकृति-वद्विकृति कर्त्तव्या इत्यादि श्रौत आदेश इसी तथ्य का समर्थन कर रहे हैं। जबकि अध्यात्म-धार्मिक क्षेत्रों में आज मानवप्रज्ञा दिग्देशकालानुगता युगधर्म्म-निबन्धना अपनी भावुकता से यथेच्छ परिवर्तन कर रही और बलपूर्वक करा रही है एवमेव विज्ञानभित्ति पर प्रतिष्ठित यज्ञकर्म्म जैसे वैज्ञानिक कर्म्म के सम्बन्ध में भी तन्निबन्धन यज्ञानुगत वैदिक शब्दों के व्यवहार के सम्बन्ध में भी अर्वाचीन वेदभक्तविशेषों के द्वारा आपातरमणीया वैसी अनर्गला कल्पनाए उपक्रान्त होपडी हैं जिनका प्रकृतिसिद्ध-यज्ञानुगत पारम्परिक-श्रौत-पद्धतियों से अंशत भी तो सम्पर्क नही है। श्रुतिपद्धति के विरुद्ध केवल-कल्पना से प्रसूत द्रव्यभूत-काल्पनिक-यज्ञकर्म्मों के जो भीषण परिणाम हुए हैं श्रुतिने- अनवश के माध्यम से उसी का स्वरूप-विश्लेषण किया है जोकि आज के नवीन उन वेदभक्तों के उद्बोधन के लिए पर्य्याप्त मान लिया जायगा जो अपने कल्पना के साम्राज्य में ही यज्ञ जैसे प्राणप्रधान-दिव्यकर्म्म को हवाफिल्टर के युगानुगत महान् लौकिक व्यामोहन से समन्वित करते हुए उसमें अपनी कल्पना से ही केशर-कपूर चन्दनादि यथेच्छ सुगन्धि-द्रव्यों का समावेश कर रहे हैं जिनका पारम्परिकी किसी भी श्रौत-स्मार्त्त-पद्धति में संस्मरण भी नहीं हुआ है।

महद्दुर्भाग्य तो आज यह माना जायगा कि जो सनातनधर्म्मावलम्बी-जगत् अबतक यज्ञकर्म्म के सम्बन्ध में अमुक सीमापर्य्यन्त अमुक-श्रौती स्मार्त्ती-परम्परा का ही सर्वात्मना नहीं तो भी अंशांश -अनुगमन करता आरहा था उसके अमुक नेता महानुभावों के भी मानस-सरोसरवर में यज्ञ के नाम से आज विचित्र-विचित्र-वैसे यज्ञकर्म्मों की बाढ सी आरही है जिनका प्रकृतिसिद्ध-आधिदैविक-यज्ञ के साथ यत्-किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नही माना जासकता। विश्वशान्ति के व्याज से आज भारत में सर्वत्र धार्मिक-नेताओं के द्वारा जपयज्ञ - नामसङ्कीर्तनयज्ञ चण्डीयज्ञ आदि आदि रूपेण यज्ञप्रवाह प्रक्रान्त है जिस इस प्रवाह का अन्तिम उदर्क क्या होगा? इसका उत्तर भी श्रुति के तथोक्त-प्रासङ्गिक-अनवशात्मक-उस कर्म्मविशेष से अवश्य ही उपलब्ध होजाना चाहिए उन प्रवाहवादियों को जो यज्ञव्याज से आज इन भारतीय-विभूतियों (यज्ञादि कर्म्मों) के प्रति शेषभूता भी श्रद्धा को सदा सदा के लिए स्मृतिगर्भ में विलीन

करने के लिए ही मानो आतुर बने हुए हैं। कथानक आज से अनेक सहस्रों वर्ष पूर्व का होता हुआ भी वत्तमानयुगानुबन्धिनी अमुक-मनोवृत्ति से सर्वात्मना समतुलित है। तदेव श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यव-धार्यताम्!!

पुरा देवयुगे भारतीय द्विजाति मानवों की श्रुतिसिद्ध यज्ञकर्मों के प्रति सर्वथा अश्रद्धा होगई। फलत इन्होंने यज्ञकर्म का परित्याग कर दिया। इस घटना का समाचार जब देवेन्द्र के समीप पहुँचा तो उन्होंने देवगुरु आङ्गिरस-बृहस्पति को स्वर्ग से पृथिवीलोक (प्राचीसरस्वती के सन्निकट विद्यमान भौम-देवस्वर्ग प्रदेश से-पृथिवी नामक-भारतवर्ष) में भेजा तत्कारण-परिज्ञान के लिए। बृहस्पति यहा आए और प्रश्न किया कि- **कथा न यजध्वम्** (हे मनुष्यो! तुम यज्ञानुष्ठान क्यों नही करते?)। (मानवोंने उस समय जो उत्तर दिया था वह आज के धर्म्मभीरु मानव के सम्बन्ध में भी अक्षरश चरितार्थ होरहा है)। मानव कहने लगे कि बृहस्पते! हम देख सुन रहे हैं कि जो यज्ञ कर रहे है वे दिन दिन दु खी होते जारहे हैं और जो यजन नही करते वे लोकसमृद्धि से समन्वित होते जारहे हैं **य उ यजन्ते त उ पापी-यासो भवन्ति य उ न यजन्ते-ते श्रेयास किंकाम्या यजेमहि** फिर भला हम क्यों किस कामना के लिए यज्ञ करें! आज भी तो धर्म्म के सम्बन्ध में अमुक भावुक-वर्ग की यही धारणा सुनी जारही है कि— **धर्म्मिष्ठ व्यक्ति आज के युग मे दु खी हैं एव धर्म्मनिरपेक्ष मानव और धर्म्मद्वेषी मानव लोकसमृद्धि से समन्वित देखे-सुने जारहे हैं**। कहना न होगा कि देवयुगानुगता तत्पूर्वधारणा की ही भाँति आज धर्म-क्षेत्र के सम्बन्ध में भी भावुकवर्ग इसी हेत्वाभास के द्वारा अश्रद्धालु बनता जारहा है।

बृहस्पति समझ गए कि अवश्य ही मनुष्योंने यज्ञकर्म्म में किसी मानवीया कल्पना का समावेश कर दिया है एव उसी से इष्टसाधक भी यज्ञ अनिष्टजनक बनाया है। यही निर्णय कर बृहस्पति ने आदेश दिया कि हे मनुष्यो! तुम एक बार हमारे सम्मुख यज्ञ का अनुगमन करो। मनुष्योंनें वैसा ही किया कर्म्म-आस्तरण से पूर्व ही जब वे वेदि का स्पर्श करने लगे तो तत्काल बृहस्पति ने उनका नियन्त्रण करते हुए यही उद्बोधन प्रदान दिया कि इस पद्धति विरुद्ध स्पर्शदोष से ही इष्टजनक भी यज्ञने तुह्मारा अनिष्ट कर डाला। अतएव तुह्म भविष्य में वेदिका स्पर्श किए बिना ही यजन करना चाहिए। **आकियत इति?** अर्थात् कबतक वेदिका स्पर्श न करें? प्रश्न करने पर उत्तर मिला कि- **आ बर्हिःपस्तरणात्** अर्थात् जबतक वेदिपर कुशाएँ न बिछादी जायँ। दर्भ में ऐसा क्या अतिशय है जिसके आस्तरण के अनन्तर वेदिस्पर्श से अनिष्ट नही होता? इत्यादि प्रश्नों की वैज्ञानिकी मीमांसा करने वाले इस **अनवमृश** कर्म से निवेदनीय यही है कि यज्ञकर्मों में अपनी मानुष-कल्पनाओं के यत्किञ्चित् भी समावेश से तन्मूलभूत आधिदैविक यज्ञ की अविच्छिन्ना छन्दोबद्धा प्राणधारा का सम्बन्ध नही होपाता। उस अवस्था में यज्ञकर्म्म यातयाम (व्यर्थ) बन जाता है और कभी कभी तो प्राणधारा का यदि विपरीत भी सम्बन्ध होजाता है तो वही यज्ञ इष्ट के स्थान में उसी प्रकार अनिष्ट का ही कारण बन जाता है जैसे कि इन्द्रनाशार्थ कृत यज्ञ से **इन्द्रशत्रुर्वर्द्धस्व** से अनुगत स्वरदोष के कारण वृत्रासुर ने अपना ही सर्वनाश करा लिया था *।

---

* दुष्ट शब्द स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात्॥

उक्त ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर ही तो हमें यह निवेदन करना पड़ा कि आधिदैविक प्राणजगत् से अनुप्राणिता यज्ञविद्या और तदनुबन्धी पारिभाषिक याज्ञिक शब्द लोकधरातल से लोक समाजानुगत सामान्य लौकिक व्यावहारिक क्षेत्र से सर्वथा असंस्पृष्ट ही हैं जिनकी इतिकर्त्तव्यता में एवं जिन शब्दों के उच्चारण में मानवीया लोककल्पनाओं का प्रवेश सर्वथा ही निषिद्ध माना गया है। अर्वाचीन वेदभक्तों की यज्ञकर्म्मानु-बन्धिनी केशर कर्पूर-चन्दननादि प्रवेश की कल्पना की ऐसी दशा में क्या स्वरूप-स्थिति है? एवं सनातन धर्मावलम्बी-परम्पराभक्त-उन महानुभावों के तथोक्त आडम्बरपूर्ण कल्पनाप्रधान आज के नामयज्ञ-भूदानयज्ञ अमुकतमुक यज्ञ आदि आदि यज्ञविज़म्भणों के कारण अदृष्ट में कितने और कैसे भीषण परिणाम घटित विघटित होते होंगे उनकी कल्पनिकी विश्वशान्ति के समतुलन में! इन अवध प्रश्नों का उत्तर तो उन्हीं से प्राप्त करना चाहिए।

ठीक यही स्थिति-शब्द व्यवहार के सम्बन्ध में घटित होरही है। प्राणप्रधान वैदिक-शब्दों को लोकधरातल पर ला खड़ा करना भी वैसा ही अपराध है जैसाकि प्राणप्रधान यज्ञकर्म्मों में लौकिक मान्यताओं का समावेश अपराध माना गया है। अधिक विस्तार में न जाकर आज हम अर्वाचीन उन वेदभक्तों का ध्यान अभिवादन-पद्धति से अनुगत उनके सर्वप्रिय उस **नमस्ते** नामक वैदिक शब्द के पारिभाषिक-तथ्य की ओर ही आकर्षित कर देना चाहते हैं उदाहरणरूपेण जिसका वे खाते-पीते उठते-सोते जागते अपने समस्त व्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक व्यवहारों में उद्घोषपूर्वक— **नमस्ते महाशय! नमस्ते देवीजी!** आदि रूपेण यशोगान ही करते रहते हैं।

मानते हैं नमस्ते वैदिक शब्द है और इसीलिए लौकिक जगत् के अभिवादनीय शब्दों की अपेक्षा अभिवादन के लिए सर्वश्रेष्ठ शब्द भी। किन्तु ततः किम्!। **स्वाहा - स्वधा - वौषट्**-आदि सभी वैदिक शब्दों का फलितार्थ है-अन्नरूप आहुतिद्रव्य से प्राणदेवताओं को तृप्त करना। क्या प्राणात्मक देवजगत् में सभी प्राणदेवों के लिए स्वाहादि शब्द काम में ले लिए जाएंगे?। कदापि नहीं। ऐसा करना तो वह महान् जामि दोष माना गया है जिससे कर्म्म का स्वरूप ही विकृत होजाता है। फलतः **स्वाहा** शब्द अग्नि प्रमुख देवताओं के लिए ही नियत है। **स्वधा** शब्द का पितृदेवताओं से ही सम्बन्ध है तो केवल इन्द्र के लिए ही **इन्द्राय वौ ३ षट** रूपेण वौषट शब्द नियत है। और यों स्वयं प्राणजगत् में भी प्राणात्मक वैदिक-शब्द जब प्राणवर्गभेद से विभिन्न स्थानों में विभाजित हैं तो उन प्राणव्यवहार प्रधान वैदिक शब्दों का लोकधरातल में तो उपयोग अभिमत ही कैसे होसकता है वेदशास्त्र को जो भूत प्रधान लोकव्यवहार से अपना क्षेत्र सर्वथैव एक विशेष अतिशय से समन्वित रखता है। इसी आधार पर हम अर्वाचीन वेदभक्तों के **नमस्ते** नामक प्राणप्रधान-वैदिक शब्द के उस आज के लौकिक व्यवहार को इष्ट के स्थान में सर्वथा अनिष्ट का ही जनक मानेंगे जो **नमस्ते** शब्द एक साङ्क्रामिक रोग की भाँति आज भारत के प्रायः सभी क्षेत्रों में व्याप्त होता जारहा है अपनी लोकानुगता परम्परा से अनुप्राणित **जय माता जी की जय गोविन्दजी की जय रघुनाथजी की जयराम जी की जय श्रीकृष्ण की जय विश्वनाथ जय गङ्गे** आदि इष्ट जनक परम माङ्गलिक सनातन शब्द व्यवहारों की आत्यन्तिक उपेक्षा ही करता हुआ। जिससे अधिक पर प्रत्ययनेयता आज के भावुक माहश भारतीय मानव की और क्या होगी?।

अपने बचपन में अमुक दो वेदभक्तों में ही प्रचलित प्रचण्ड शास्त्रार्थों की चर्चा में हम जब **नमस्ते** शब्दमूलक कलह सुनते थे तो हमें स्वतः ही यह कुतूहल होता था कि जो नमस्ते शब्द **नमस्ते रुद्र**

म-यवे इ यादि रूपेण भगवान् शङ्कर के सम्मुख होने वाले रुद्रपाठों में लोकप्रसिद्ध है सनातनधर्म्मावलम्बी जगत् क्यों यथ में ही अर्वाचीन वदभक्तों से इस दिशा में वाकक्लह कर रहा है ?। इस कुतूहल के उपशमन के लिए जब हमने उस युग के प्रचण्ड-शास्त्रार्थियों की नमस्ते मीमासा देखी तो सहसा मन ग्लानि से ही भर गया उसके का पनिक तर्कों को देख कर। क्या इसी का नाम सनातनधम्मनि ठा है ? प्रश्न दृढ मूल बन गया वसे मीमासा-निब धों को देख कर। आगे चल कर वदपुरुषानुग्रह से शतपथ ब्राह्मण का क्रमबद्ध स्वा याय-युग उपस्थित हुआ और उसी के परिणाम-स्वरूप शतपथ के नवमकाण्डीय-अमुक-स दभ के स्वा याय से नमस्ते श दानुबन्धिनी उस विप्रतिपत्ति का यथाथ समाधान उपल ध हुआ जिसका अनवशाक मप्रसङ्गत हमने प्रक्रा त क्रमप्राप्त १४ व कम्म में दिगदशन करा दिया है तत् श्रौत सन्दभ के पारिभाषिक अथ-सम वय के साथ। सम वय का पारिभाषिक त य अवश्य ही अर्वाचीन वदभक्तों को भी उनके नमस्ते यवहार के प्रति उद्ध जागरूक करेगा और तदनुव र्मा गतानुगतिक अ य वग भी इस दिशा में अवश्यमेव तथ्य का ही अनुगमन करगे इसी मङ्गलकामना के साथ प्रकृत में केवल वह श्रौतसन्दभ ही हम उद्ध त कर रहे हैं सस्मरण के रूप में जिसका पारिभाषिक-सम वय तत्प्रकर ण में ही द्रष्टव्य है इसी निवेदन के साथ यह सस्मरणत्रयी-विश्रामपथानुगामिनी बन रही है जिसका वदिपरिग्रहा मक-१४ व कम्म से ही स ब ध है—

चतुर्दशैतानि यजूंषि भवन्ति। त्रयोदश मासा सम्वत्सर प्रजापतिश्चतुर्दश। प्रजापतिरग्नि। यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा, तावतैवैनमतदन्नेन प्रीणाति-नमो नम इति। यज्ञो वै नम। यज्ञेनैवैनमेतन्नमस्कारेण नमस्यति। तस्मादु ह नायज्ञिय ब्रूयात् 'नमस्ते इति। यथा हैन ब्रूयात् यज्ञस्ते इति, तादृक तत्"।

—शतपथब्राह्मण ६ का १।१।१६ क ।

(१४)-५

* * * * *

श्री

(१५)-द्रव्यसंस्कारकर्म्म-प्रसङ्गत स्त्री-स्वातन्त्र्यादि-कतिपय-"तथ्यपूर्ण-प्रसङगो का पारिभाषिक-संस्मरण"

६

क) पत्नी-सन्नहनात्मक-कर्म्मानुगत-संस्मरण—

यज्ञकर्म्म उस प्रकृतिसिद्ध आधिदैविक सौर पार्थिव (द्यावापृथिव्य) सम्वत्सरयज्ञ की प्रतिकृति है जिसका स्वरूप ज्योतिश्चक्रात्मक (खगोलात्मक) पूर्ण सौर-मण्डल माना गया है। स पूर्ण सम्वत्सर मण्डल सूर्य्या-चन्द्रमसौ रूपेण दृश्य-अदृश्य-रूपेण-दो अण्डकटाहो में विभक्त माने गए हैं जो क्रमशः-सौर-अर्द्धा-काश चान्द्र-अर्द्ध-आकाश-कहलाए हैं। अहःकालानुगत-दृश्य-अग्निप्रधान-सौर-अर्द्ध अण्डकटाह के द्वारा पुरुषसृष्टि हुई है एवं रात्रिकालानुगत-अदृश्य-सोमप्रधान-चान्द्र-अर्द्ध-अण्डकटाह के द्वारा-स्त्रीसृष्टि हुई है। यों एक ही आधिदैविक-सम्वत्सर-यज्ञेश्वर विभागात्मक-अपने दोनों आकाशों से क्रमशः पुरुष और स्त्री के स्वरूप प्रवर्त्तक बने हुए हैं। यों दोनों अपने अपने रूपों से अर्द्ध-अर्द्ध-ही यज्ञ हैं। पूर्णयज्ञेश्वर के साथ पुरुष तभी अन्तर्य्याम-सम्बन्ध-स्थापित कर सकता है जब कि वह अपने अर्द्ध-रिक्त-चान्द्र आकाश को परिपूर्ण करले। वह आकाश पूर्ण बनता है पत्नी के द्वारा ही जैसाकि सोऽयमाकाशः पत्न्यापूर्य्यते से स्पष्ट है। पत्युर्नो यज्ञसंयोगे रूपेण भगवान् पाणिनि भी पत्नी शब्द के द्वारा दाम्प-त्यमूलक-इसी यज्ञसम्बन्ध का समर्थन कर रहे हैं। ससिद्ध है कि बिना पत्नी के पतिदेव कदापि यज्ञकर्म्म में अधिकृत नहीं होसकते। यों अनिवार्यरूपेण यज्ञकर्म्म में यजमान के साथ यजमानपत्नी का भी समन्वय प्रमाणित होजाता है। यज्ञकर्म्म में समाविष्ट यजमानपत्नी के अधोवस्त्र पर कटिप्रदेश में मूँज का योक्त्र नामक रज्जुबन्धनसूत्र बाँधना अनिवार्य्य माना है यज्ञकर्म्मरहस्यवेत्ताओं ने। यही योक्त्रबन्धनकर्म्म कहलाया है और तन्निबन्धन पारिभाषिक कर्म्म ही-पत्नीसन्नहनकर्म्म है जिसका स्पष्ट अर्थ है—पत्नी का सूत्रबन्धन से पारतन्त्र्य जिस इस तथ्य के आधार पर ही स्मृतिशास्त्र का-न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति यह वैज्ञानिक सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है।

विकृतिभावनिबन्धन प्रत्यक्षदृष्ट-केवल पार्थिव-शरीरों के आधार पर ही मानवस्वरूप का पर्य्यवसान मान बैठने की भयावहा भ्रान्ति करने वाले आज के भूतसाम्यवादियों की दृष्टि में समानाधिकाररूप वह महान् व्यामोहन जागरूक होपड़ा है भूतसाम्यानुगामी प्रतीच्य जगत् के संसर्गजनित दोष के कारण जिस महान् व्यामोहन से व्यामुग्ध तदनुगामी मानव स्त्री के साथ परतन्त्र शब्द का स्वाप्निक सम्बन्ध भी मानने के लिए

सन्नद्ध नहीं है। अतएव यज्ञकर्म्मानुबन्धी परतन्त्रताप्रवर्तक पत्नीसन्नहनकर्म्म आज के युग के लिए एक अमानवीय विधान ही बन सकता है किंवा मान लिया जासकता है। इसी प्रसङ्ग से तत्कर्मानुबन्धेन स्त्री स्वातन्त्र्य पारतन्त्र्य से सम्बन्ध रखने वाली उस समस्या का निराकरण प्रयास हुआ है जिसके द्वारा ही आज के समानाधिकार पक्षपातियों का सन्तोष कराया जासकता है।

मानव के मन शरीर का मानवी के साथ आकस्मिक–सान्निध्य ही मानव को सहकामचारी और मानवी को सहकामचारिणी बना देता है जिस इत्थंभूत अमर्यादित–स्वैराचार को ही आज की भाषा में स्त्रीस्वातन्त्र्य और पुरुष–स्वातन्त्र्य–अभिधा प्राप्त होरही है जिस का मानव–मानवी के वास्तविक तन्त्र रूप–स्वरूप आत्मबुद्धिक्षेत्र के दाम्पत्य का यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है। मन शरीर माध्यमेन मानव के साथ होने वाला मानवी का आत्मबुद्धिनिबन्धन–श्रद्धादमूलक–सहज दाम्पत्यभाव ही वास्तविक सम्बन्ध है जिस सम्बन्ध से अनुप्राणिता पत्नी ही– सहधर्म्मचारिणी कहलाई है जिस का– सह धर्म्म चरताम् से संस्मरण किया गया है। धर्म्माचरणानुगत प्रकृतिसिद्ध इस सहज दाम्पत्य में स्त्री और पुरुष दोनों ही अमुक मर्यादासूत्रों से आबद्ध रहते हैं जिस मर्य्यादासूत्र–बन्धन से ही दोनों के– स्व – स्व तन्त्र स्वस्वरूपत सुरक्षित रहते है। यही परतन्त्रतात्मक मर्य्यादासूत्र का निष्कर्षार्थ है जिसके तथ्य से अपरिचित प्रत्यक्ष–प्रभावमूला भावुकता से उत्तेजित मानव आज एकमात्र मन शरीरभावों पर ही मानव और मानवी का स्वरूप–पर्य्यवसान–मानता हुआ उस उच्छृङ्खल–अमर्य्यादित पशुसमतुलित–स्वैराचार को ही स्त्रीस्वातन्त्र्य – और पुरुषस्वातन्त्र्य की संज्ञा दे बैठा है जिस अर्थकाममूला इत्थंभूता काल्पनिकी स्वतन्त्रता से ही मानव–मानवी–का सहजसिद्ध निःश्रेयसानुगत अभ्युदय सर्वथा ही पलायित होगया है। शेष क्या रह गया है? प्रश्न के दुःखपूर्ण इतिवृत्त का संस्मरण भी कथापि स्वलु पापानामलमश्रेयसे यत वाक्य का स्मरण कर रहा है।

पुरुष और स्त्री के प्रकृतिसिद्ध स्वानुगत स्वतन्त्र तन्त्र के स्वरूप समन्वय के बिना स्वतन्त्र–परतन्त्र–शब्दों का पारिभाषिक समन्वयार्थ क्योंकि–सम्भव नहीं है। अतएव त प्रकरण में सर्वप्रथम वैदिक–पारिभाषिक–निगमों के आधार पर इन दोनों के स्वरूप का ही स्पष्टीकरण हुआ है। तदाधार पर ही स्त्री–स्वातन्त्र्य पारतन्त्र्य के सृष्टिविद्या सम्मत श्रौत–तथ्यों का अग्नि सोम विद्या के माध्यम से समन्वय प्रयास करते हुए ही ऋतधर्म्मप्रधाना स्त्री के बाह्य–ऋतस्वरूप के संरक्षक–मर्य्यादासूत्रानुगत पारतन्त्र्य–का स्पष्टीकरण हुआ है जो पारतन्त्र्य वस्तुगत्या स्त्री के बाह्य ऋतधर्म्म का स्वरूपरक्षक बनता हुआ स्त्रीस्वातन्त्र्य का ही संरक्षक है। और प्रस्तुत–पत्नीसन्नहनकर्म्मानुगत योक्त्रबन्धन से सम्बन्ध रखने वाले प्रासङ्गिक–तथ्य का यही संक्षिप्ततम–संस्मरण है।

* * * * *

(ख)–'नीरक्षीरविवेकन्याया'नुगत संस्मरण—

संस्कृतसाहित्य में नीरक्षीरविवेकन्याय नामक एक न्याय सुप्रसिद्ध है जिस का उपयोग सदसद्विवेकशालिनी–प्रज्ञा के अतिशय के सम्बन्ध में ही देखा सुना जाता है। इस लोकप्रसिद्ध न्याय की आधारभूमि वैदिक–वह आन्यदर्शन कर्म्म ही माना गया है जिस का पत्नीसन्नहनकर्म्म से ही सम्बन्ध है। यज्ञ में

समाविष्टा यजमानपत्नी आज्यदर्शन करती है जिस के सृष्टिनिबन्धन-वैज्ञानिक-पारिभाषिक-तथ्य के आधार पर ही- नीरक्षीरन्याय अभिव्यक्त हुआ है। तत्प्रकरण में इस न्याय के वैज्ञानिक रहस्य का ही स्पष्टीकरण प्रयास हुआ है।

संस्मरणात्मक-तत्-न्याय का निष्कर्ष यही है कि यद्यपि मानव और मानवी दोनों के ही पाञ्चभौतिक शरीरसंस्थानों की स्वरूपाभिव्यक्ति का मौलिक आरम्भणद्रव्य (उपादानद्रव्य) पारमेष्ठ्य नीर (सलिल-रूप ऋतभावपन्न-अप्तत्त्व) ही है जैसाकि- आपः पुरुषवचसो भवन्ति - सर्वमापोमयं जगत् इत्यादि श्रुतिस्मृति वचनों से प्रमाणित है। तथापि यह आश्चर्य है कि मानव का उपादानभूत नीर जहाँ क्षीर के आधान से वञ्चित रहता है वहाँ एकमात्र मानवी के उपादानभूत-नीरभूत आपोद्रव्य में ही प्रकृति की ओर से सहजरूपेणैव उस क्षीर का आधान होजाता है जिस का उत्तररूप- आज्यद्रव्य (घृत) माना गया है। नीर में आहित क्षीर ही मानवी को मातृपद जननी पद-आरूढ करता है जो कि सृष्टिकर्म्म का अन्यतम महत्त्वपूर्ण अङ्ग माना गया है। इसी क्षीराधान के अतिशय से माता का स्थान पिता की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठतम मान लिया गया है।

क्षीरमय दुग्ध-सोमतत्त्व है और इसी पारमेष्ठ्य-सोमतत्त्व का नाम है वह वीध्र-महद्ब्रह्म जिस के आधार पर ही चिदात्मा अंशरूपेण गर्भीभूत बना करता है। यों चिदात्मा की गर्भात्मिका अभिव्यक्ति का आधार भी सोममय महद्ब्रह्माभिन्न-क्षीरतत्त्व ही प्रमाणित होरहा है। सोमात्मक-क्षीर का वह पारमेष्ठ्य समुद्र ही क्षीरशायी पारमेष्ठ्य विष्णु की आवासभूमि माना गया है पुराणशास्त्र में। तदप्सु पयो हितम् रूप तत्प्रकरण का श्रुतिवचन ही मातृभावानुगत-अप्-रूप नीर में पयोरूप क्षीर के आधान का समर्थक बनता हुआ नीरक्षीरविवेकन्याय का परम्परया समर्थक प्रमाणित होरहा है और यही इन अत्यन्त रहस्यपूर्ण-तत्त्वात्मक न्याय के वैज्ञानिक-स्पष्टीकरण का संक्षिप्ततम-संस्मरण है।

(१५)—६

* * * * *

श्री

(१६)–आज्यगृहणकर्म्म–प्रसङ्गत
'त्रिविध–यज्ञविज्ञान का स्वरूप–सस्मरण'
७

क्रमप्रा त– आज्यग्रहण नामक १६ व क म में त क मैतिकत यता के सम वय के अतिरिक्त उस त्रिविध–यज्ञविज्ञान के पारिभाषिक–स्वरूप का ही स्पष्टीकरण–प्रयास हुआ है जिस के बिना विधि भाग नाम से प्रसिद्ध ब्राह्मणग्र था में प्रतिपादित याज्ञिक–क मकाण्ड नवशिक्षित मानव की दृष्टि में सवथा ही अकिञ्चि कर प्रमाणित होगए हैं। आज का युग अहर्निश जिस सायस का उद्घोष कर रहा है उस का अथ याद विज्ञान मान लिया जाता है तो * इस भारतीय–पारिभाषिक– विज्ञान श द के मा यम से सहसा उस आज की भौतिक–विज्ञान निब धना भ्रा ति की अभि यक्ति स भव बन जाती है जिस का अधिदैवतानुगता ईश्वरीय-सस्था से एव अ यामसस्था से कोइ भी सम्ब ध नही है। भारतीय–विज्ञान श द भारतीय श द है जिस के गभ में ही त द्दार्थ का पारिभा षक–समवय निरूढ है एव यही भारतीय सस्कृत–वदिक श दों की वह रहस्यपूर्ण वज्ञानिकता है जिस का साम्य इतर भाषानुब धी यदृच्छा मक–लौकिक–श दों से कदापि स भव नही है। प्रत्येक श द का वैज्ञानिक–चिर तन पारिभाषिक–इतिवृत्त तत्–श द के निर्वचना मक समवय से ही अनुप्राणित है। उदाहरण के लिए हृदयम् श द को ही लीजिए जिस का स्वरूप निर्म्माण– हृ–द–यम् रूप तीन अक्षरो से हुआ है जिन का क्रमश आगति–गति–स्थिति नामक तीन धर्मों से क्रमिक स ब ध है। यों धर्म्मत्रयावच्छिन्न–त्र्यक्षरा मक हृदयम् श द केन्द्रा–नुगत उस शक्तित्रयी की ओर ही हमारा यान आकर्षित कर रहा है जिस केन्द्रा मिका आगति गति स्थिति लक्षणा शक्तित्रयी के सहसम वया मक केन्द्रबल पर ही वस्तुपिण्ड एव वस्तुमण्डल की स्वरूप स्थिति सुरक्षित रहा करती है।

ठीक यही स्थिति विज्ञान श द के साथ समन्वित माननी पडेगी और इस दृष्टि से कदापि भूत विज्ञाननिब धन आज के प्रत्यक्षदृष्ट केवल सायस पर ही इस पारिभाषिक विज्ञान श द का विश्राम नहीं माना जासकेगा। भारतीय– विज्ञान श द के तथाभूत पारिभाषिक त य का शतपथ–प्रथमखण्ड की

---

* जिसप्रकार पारिभाषिक सस्कृति–सभ्यता–आदि भारतीय मौलिक–शब्द अन्धानुकर यायेन कल्चर – सिविलाइजेशन आदि प्रतीच्य–शब्दों के आज पर्य्याय मान लिए गए हैं एवमेव विज्ञान श द जैसे पारिभाषिक शब्द को भी आज सायस श द का पर्य्याय माना जारहा है जो कि पर्य्यायता सवथा आपातरमणीया ही माना जायगी।

प्रस्तावना में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाचुका है *। प्रकृत में तत्परिभाषा से उपनिबद्ध- त्रिविध-ज्ञान विज्ञानम् रूप विज्ञान शब्द से अनुप्राणित- वि उपसर्ग के विविधम् का- त्रिसन्या वै देवा इस अनुगमवचन के अनुसार त्रिविधम् अर्थ मानते हुए प्रस्तुत आग्रयणब्राह्मण में दैवत-आत्मिक-भौतिक-नामक त्रिविध-विज्ञानभावों का ही स्वरूप-समन्वय हुआ है जिसके समन्वयात्मक-पारिभाषिक-तत्त्वार्थबोध के अनन्तर यज्ञकर्मनिबन्धना उन सभी आपातरमणीया भ्रान्तियों का आत्यन्तिकरूपेण निराकरण होजाता है जिस निराकरण के बिना आज हमारी मानसी श्रद्धा ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित अभ्युदयससाधक यज्ञकर्मों की ओर से सर्वथैव तटस्था बनती चली जारही है।

विज्ञान शब्द के उक्त समन्वयार्थ का कदापि यह तात्पर्य्य नहीं है कि भारत के वैज्ञानिक-महर्षि भौतिक विज्ञानात्मक-पदार्थविज्ञान के एवं तन्निबन्धन भौतिक-आविष्कारों के शत्रु थे किंवा आविष्कारों को निरर्थक मानते थे। यदि ऐसा होता तो कदापि सुप्रसिद्ध भौतिक विज्ञानाविष्कारक-ऋभु विभ्वा वाज आदि वैज्ञानिकों के द्वारा आविष्कृत विभिन्न भौतिक आविष्कारों का स्वयं ऋक्संहिता में यशोगान उपलब्ध ही नहीं होता। एतदतिरिक्त- दिवि च भुवि चाप्याहतगति रूप विमानविशेष आकाश में सञ्चरण करते हुए ही एकत्र स्थितिभाव में परिणत होजाने वाले अद्भुत विमान हयशिव-सौभ-आदि अन्यान्य आविष्कार भी इसके प्रत्यक्षतम दृढतम-प्रमाण हैं कि भारतीय-ऋषिप्रज्ञा केवल अधिदैवत तथा अध्यात्म के सुसूक्ष्म-क्षेत्रों पर ही विश्रान्त नही थी। अपितु इसका आधिभौतिक-अभ्युदय पर भी समानाधिकार था। ज्ञानकाण्ड प्रधान-अध्यात्मपरीक्षाप्रधान स्वयं उपनिषच्छास्त्र ने भी अध्यात्मविद्या के साथ साथ ही अधिभूत की भी महती उपयोगिता स्वीकार की है और अधिभूत को ही मानव के अभ्युदयानुगत-निःश्रेयस-का अन्यतम माध्यम उद्घोषित किया है जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्टतमरूपेण प्रमाणित है—

इह चेदवेदीत् अथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीत्-महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

—केनोपनिषदि—

यह सब कुछ मानते हुए भी हम भारतीय विज्ञानकाण्ड को निराधाररूपेण केवल इस भूतजगत् पर ही परिसमाप्त इसलिए नहीं कर देते कि केवल भूत ही मानव के लिए सर्वस्व नही है। यही नही दैवतानुगत-अध्यात्म की मूलप्रतिष्ठा से वञ्चित विशुद्ध भूतवाद तो मानव को तात्कालिकरूपेण तुष्ट-पुष्ट-करता हुआ भी अन्ततोगत्वा इसके सर्वनाश का कारण ही बन जाया करता है। केवल भूतानुगता-लोक-वित्तैषणा सक्तिनिबन्धना इत्थंभूता परिणामवृत्ति के कारण ही ऋषिप्रज्ञा ने इस भूतविज्ञान को अधिदैवतानुगत-अध्यात्म विज्ञान से नियन्त्रित कर देना अनिवार्य्य समझा है और दैवत तथा आत्म-विज्ञानद्वयी से नियन्त्रित मर्य्यादित सच्छन्दस्क उस भूतविज्ञान का ही पारिभाषिक नाम है- यज्ञविज्ञान जिसे श्रुतिने- श्रेष्ठतमाय

---

* इस विषय का स्वतन्त्र-विवेचन- भारतीय-दृष्टिकोण से विज्ञान शब्द का समन्वय नामक एक स्वतन्त्र लघुपुस्तिका के रूप में भी संस्थान के द्वारा प्रकाशित होचुका है।

— विशद वैज्ञानिक-समन्वय के लिए देखिए केनोपनिषद्विज्ञानभाष्य।

कर्म्मणे (यजु स०) मन्त्रभाग का अर्थ करते हुए— यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म्म (शतपथब्राह्मण) रूपेण श्रेष्ठतमकर्म्म सज्ञा से समन्वित किया है।

प्रज्वलित भूताग्नि में आज्य (घृत) तिल–यव–तण्डुल पुरोडाश पशुवपा–आदि–आदि द्रव्य विशेषों की आहुति–प्रदान से अनुप्राणित लोकप्रसिद्ध यज्ञकर्म्म पर ही यज्ञ का वैज्ञानिक–पारिभाषिक–स्वरूप उपरत नही है जसाकि केवल भूतदृष्टि–परायण अमुक प्रतीच्य वदव्याख्याताओंने तथा तद् धानुकरणकर्त्ता अर्वाचीन नवशिक्षित भारतीयोंने मान रक्खा है। अपितु यज्ञविज्ञानानुगत यज्ञकर्म्म तो इस पञ्चमहाभौतिक विश्व का प्रकृतिसिद्ध वह अटल–विधान है जिस प्राकृतिक यज्ञरूप आधिदैविक ईश्वरीय यज्ञ से ही अध्यात्म यज्ञ की अभिव्यक्ति हुई है एव उसी के आधार पर ठीक उसी के नियमोपनियमों के अनुरूप भारतीय–द्विजातिवग के द्वारा अनुष्ठीयमान आधिभौतिकयज्ञ का स्वरूप–वितान हुआ है जैसाकि चौदहव सस्मरण–प्रसङ्ग में भी स्पष्ट किया जाचुका है।

मौलिकतत्त्व की पारिभाषिकी–सज्ञा है— ब्रह्म एव योगिकतत्त्व की पारिभाषिकी–सज्ञा है— यज्ञ। तस्मात्सर्वगत ब्रह्म नित्य यज्ञे प्रतिष्ठितम् (गीता) इत्यादि भगवद्वचन के द्वारा अत्यन्त रहस्यपूर्ण इन्हीं ब्रह्म और यज्ञ भावों की ओर सङ्केत हुआ है। अनेक मौलिक तत्त्वों के अन्तर्य्यामात्मक–(रासायनिक–) सम्मिश्रण से अभिव्यक्त अपूर्वभाव ही यज्ञ का सक्षिप्ततम स्वरूप–परिचय है। सम्पूर्ण विश्व विश्व के चर अचर यच्चयावत् पदार्थ जिस प्रकृतिसिद्धा बलग्रन्थिनिबन्धना प्रक्रिया के आधार पर अभिव्यक्त हुए हैं उस प्रक्रियाविशेष का नाम ही यज्ञ है जिसके वज्ञानिकोंने दृष्टिकोणभेद से अनेक लक्षण किए हैं *।

प्रत्यक्षदृष्ट–आध्यात्मिक–प्राणिशरीरों में अमुक प्रकार के अवयवसस्थान क्यों–और कैसे बन जाते हैं? अमुक बीजों के वपन से वृक्षात्मक स्वरूप की अभिव्यक्ति कसे होजाती है? तरलद्रव्याहुति से घनभावापन्ना प्रजा कसे उत्पन्न होती है? इत्यादि सृष्टिविषयक–यच्चयावत् प्रश्नों का प्रकृतिसिद्ध–जिस रहस्यपूर्ण विज्ञान से सम्बन्ध है उसी सृष्टिविज्ञान का नाम है यज्ञविज्ञान जिसे अपनी काल्पनिकी अध्यात्मभावना में आसक्त होने वाले भारतवष ने अमुक शताब्दियों से काल्पनिक ही जगन्मिथ्यात्व के व्यामोहन से व्यामुग्ध होते हुए सवथैव विस्मृत कर अपना सवनाश ही करा लिया है। और आज अपने लोकप्रदर्शनात्मक लोकानुरञ्जक मात्र प्रदर्शनविशेषों को ही अमुक मामथिक प्रदर्शनों की भाँति यज्ञ कहते हुए ही भारतवष अपनी रहस्यपूर्णा यज्ञविद्या का मानो स्वय ही उपहास कर रहा है।

यज्ञविद्या कैसी रहस्यपूर्णा है? प्रश्न के समाधान के सम्बन्ध में उदाहरणमात्र के लिए सुप्रसिद्ध यज्ञविज्ञानवेत्ता महर्षि स्वैदायन के उस पावन प्रसङ्ग की ओर ही हम अपने वेदप्रेमी पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देना चाहते हैं जिनके प्रसङ्ग में तद्युग के सुप्रसिद्ध महर्षि गोतम के सम्मुख महर्षि स्वैदायन के द्वारा आत्मिक यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक वैसे प्रश्न उपस्थित होपडे हैं सम्भवत आज के प्रबुद्धतम भी भूतविज्ञान के लिए भी वे प्रश्न असमाधेय ही बने रह सकते हैं।

---

*–(१) अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञ
(२)–वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यज्ञ
(३)–अनेकप्राणानामन्यो न्यपरिग्रहो यज्ञ
—इत्यादि

उदाहरणोपस्थिति इसलिए आवश्यक समझी गई है कि आज हमारे स्वतन्त्र–भारत के स्कूल–कॉलेजो में भी प्रतीच्य शिक्षापद्धति के अन्धानुकरणानुग्रह से भूगोल–इतिहास–आदि के जो भी पाठ्यग्रन्थ नियत है उनमें वेद यज्ञ आर्य्य अनार्य्य आदि शब्दों के माध्यम से उन्ही धारणाओं का यशोगान होरहा है तच्चरणरजोऽनुवर्त्ती भारतीय अर्वाचीन विद्वानों के द्वारा जिनका कि विशुद्ध राजनैतिक स्वार्थ–साधन के लिए ही उन चाणाक्षचतुर प्रतीच्य–विद्वानों के द्वारा शिक्षायन्त्र में बलपूर्वक समावेश हुआ था।

आर्य्य लोग वेद को पवित्र ग्रन्थ मानते हैं अग्नि-वायु मेघ–आदि प्रकृति के पदार्थों से प्रभावित होकर इनकी स्तुति करते है आग में अमुक पदार्थ डाल कर इन देवताओं को प्रसन्न करते है। इन्हीं प्राकृत पदार्थों की स्तुति पूजन के द्वारा आगे जाकर बहुत पीछे उपनिषत्काल मे आर्य्यों को एकेश्वरवाद का बोध हुआ इत्यादि रूपेण सवथैव भ्रान्तिपूर्ण वैसे कुसंस्कार भारतीय–भावुक प्रज्ञा में जन्मत ही उस सीमापर्य्यन्त दृढमूल कर दिए जाते है जिसके दुष्परिणाम–स्वरूप वह सदा–सदा के लिए स्वसंस्कृति–साहित्य सभ्यता–आदि को शून्यवत् मानता हुआ उस ओर से न केवल तटस्थ ही बनकर विश्राम ग्रहण कर लेता अपितु प्रतीच्य जगत् की तत्कालाकर्षणमूला चाकचिक्ययुक्ता प्रदर्शनपद्धति से निरतिशयरूपेण प्रभावित होता हुआ अपने पुरातन सनातन –अतएव शाश्वतीभ्य –समाभ्य –नवीन–नवीनतम भी ज्ञानविज्ञानात्मक–गौरव के प्रति प्रतिक्रियावादी ही बन जाता है। इसी प्रतिक्रियावाद का यह भीषण परिणाम है कि आज के स्वतन्त्र–स्वतन्त्र भारत की प्रभुसत्तासमर्था भी प्रजा अपनी तथोक्ता प्राच्या ज्ञान विज्ञाननिधि की पुनरभिव्यक्ति के प्रयास के स्थान में— पुराना सब सडा गला है हमे सब कुछ नवीन ही निर्म्माण करना है इसप्रकार के अनर्गल–मत्त प्रलापो की ही अनुगामिनी बनी हुई है जिससे बड़ा सांस्कृतिक अधःपतन इसका और क्या होगा ?।

हां तो उस पुराने–सड़ गले ? यज्ञविज्ञानानुबन्धी–एक यज्ञिय–उदाहरण की ओर ही आज के तरोताजा–वादियों की युगधर्म्म निबन्धना उस महती ? प्रज्ञा का ध्यान हम आकर्षित करना चाहेंगे जिन नवीनतावादियों की स्वतन्त्रा निराला अच्छन्दस्का दृष्टि में भारत के प्रज्ञाकोश में केवल रूढिवाद के अतिरिक्त तात्विक ? विज्ञान ? से अनुप्राणित कुछ भी तो दायाद शेष नही है आज के सवसमृद्ध ? भूतविज्ञान के समतुलन में।

सुप्रसिद्ध पश्चिमोत्तरदेश पञ्चनद (पञ्जाब) में एकवार उस युग के सुप्रसिद्ध यज्ञकर्म्मनिष्ठ अरुणपुत्र अतएव आरुणि इस उपनाम से लोक में प्रसिद्ध भगवान् उद्दालक (जो कि अपनी प्रचण्डा दुर्द्धर्षा विद्वत्ता के कारण स्वतन्त्र परिषत् का सञ्चालन करने के कारण ब्रह्मा उपाधि से समलङ्कृत थे) यज्ञ के ब्रह्मा पद के लिए सङ्कल्पित होकर पधारे। वहाँ उस प्रान्त में महर्षि स्वैदायन नामक अध्यात्मयज्ञरहस्यवेत्ता विद्वान् से उनकी प्राथमिक भेंट हुई और स्वैदायन प्रश्न करने लग पडे तत्काल ही इस रूप से कि– श्रीमान् ! उसे विदेश में ब्रह्मा रूप से वृत होकर आने का साहस करना चाहिए जो निम्नलिखित प्रश्नों का वैज्ञानिक समाधान करने की क्षमता रखता हो कि—

(१)–बतलाइए ! दर्शपूर्णमास में आठ पुरस्तात् आज्यभाग पाँच मध्यत षट्–प्राजापत्यभाग उपरिष्टात्–आठ आज्यभाग इस क्रमसंख्या–विपर्य्य का क्या तात्त्विक रहस्य है ?।

(२) उत्पन्न शिशु के दाँत क्यों नही उत्पन्न होते ? उत्पन्न होने के अनन्तर अमुक अवधि में दाँत क्यों उत्पन्न होजाते हैं ? पुनः बालावस्था में क्यों टूट जाते हैं ? पुनः क्यों उत्पन्न होजाते हैं ? और वार्द्धक्य में टूट कर पुनः क्यो नहीं उत्पन्न होते ? ।

(३)–उत्पन्न शिशु के बाल भूरे पुनः काले और पुनः सफेद क्यों होजाते है ? ।

(४)–उत्पन्न बालक में रेतोद्रव्य क्यों उत्पन्न नही होता ? पुनः कैसे उत्पन्न होजाता है ? और वार्द्धक्य में यह उत्पादन क्यो अवरुद्ध होजाता है ? ।

(५) क्या आप ज्योतिर्म्मयी उस गायत्री का स्वरूप जानते हैं जो यज्ञकर्त्ता यजमान की स्वर्गगति का कारण बन जाती है ? ।

तथोक्त प्रश्नपरम्परा का उत्तर देने में अपने आपको असमर्थ अनुभूत करने वाले ऋजुप्रज्ञ महाभाग आरुणि तत्काल समिध लेकर शिष्यबुद्धि से प्रणतिपुरस्सर महर्षि स्वदायन के सम्मुख उपस्थित होजाते हैं और श्रद्धा पद के लिए उपलब्ध अमुक सुवर्णराशि को प्रदान करते हुए यही आवदन करने लग पड़ते हैं कि–

'अनूचान स्वैदायनासि ! सुवर्णं याव सुवर्णावदे ददतीति । तस्मै ह निष्क प्रददौ" ।

—शथपथब्राह्मण ११।४।१।

महर्षि स्वैदायन प्रकृतिसिद्ध नित्य-यज्ञ के तत्त्वानुगत–सम्मिश्रणों के तारतम्य से अनुप्राणित यज्ञ–रहस्य के आधार पर ही उक्त प्रश्नों का जो पारिभाषिक स्वरूप अभिव्यक्त करते हैं वह भी आज हमारी भावुक प्रज्ञा के लिए एक समस्या ही प्रमाणित होरहा है इसलिए कि दुर्भाग्यवश आज हम उन याज्ञिकी पारिभाषाओं के ज्ञानविज्ञानात्मक–अर्थबोध से सर्वथा ही विदूर चले गए हैं। यही कारण है कि महर्षि–स्वदायन के तत्समाधानवचनों से भी हम अमुक वास्तविक तथ्य पर नही पहुच पाते । और परिभाषाज्ञान से वञ्चित होजाने के कारण वेदशास्त्र के इत्थभूत उत्तरात्मक सन्दर्भ भी हमारे लिए समस्या ही बने रह जाते हैं। क्योंकि अन्न वैध मनुष्यकृत – यज्ञात्मक–कर्मों के भौतिक– पदार्थों के आधारभूत अधिदैवत के प्राणात्मक सूक्ष्म–तत्त्वों से अनेक शताब्दियों से अस्मदादि सामान्य जनों की कौन कहे विद्वत्प्रज्ञा भी वञ्चित ही होती आरही है जिस प्रवञ्चना का एक अन्य प्रामङ्गिक उदाहरण से स्पष्टीकरण किया जा सकता है ।

मनुष्यकृत वैध-यज्ञ में अग्नि में अमुक देवता के लिए दी जाने वाली आज्याहुति (घृताहुति) के सम्बन्ध में तत्र समवेत याज्ञिकों में प्रसङ्गवश वैज्ञानिकी चर्चा उपक्रान्त होपड़ती है और एक याज्ञिक से अमुक अन्य याज्ञिक प्रश्न कर बैठता है कि आहुति तो दी जाती है अनस्थिमत्-तरलद्रव्य की और उत्पन्न होता है अस्थिमान्

प्राणी। ऐसा क्यो और कसे सम्भव हुआ?। उत्तर मिलता है यज्ञविज्ञान–रहस्यवेत्ता याज्ञिक के द्वारा यही कि आ यद्रव्य यद्यपि तरल वेन अवश्य ही अनस्थिमद्द्र य (बिना हड्डी वाला घनताशून्य) है। तथापि क यांकि इस आज्य में— हिरण्यशकल निधाय जुहोति अर्थात् घनभावापन्न–अस्थिमद्द्र यरूप सुवर्णखण्ड रग कर तत्सहित आ य की आहुति दी जाती है अतएव आज्य जैसे तरलपदाथ से भी उ पन्ना प्रजा में अस्थि-रूपा घनता की भी स्वरूप नि पत्ति होजाती है ।

क्या समझे उक्त उत्तर से हमारी पारिभाषिक–बोधशून्या भावुकप्रज्ञा?। याज्ञिकों का प्रश्नोत्तरस दभ अधिभूतदृष्ट्या भी समन्वित है एव अधिदैवतदृ ट्या भी। यज्ञिय द्र याहुति से अपूर्व दैवा मप्रजा की अभि यक्ति होती है यह एक रहस्य पूर्ण याज्ञिक-विषय है जिसका प्रस्तुत शतपथभा य में पाठक यत्र तत्र सक्षेप और विस्तार से स्वरूप विश्लेषण देखगे। दृष्टि आ य पर है लक्ष्यीभूत है—तरलधर्म्मा–आपोमय–वह रेतो द्रव्य (शुक्रद्रव्य) जो रजोभाग के साथ रासायनिक–सम्मिश्रणावस्था में आता हुआ प्रजो पत्ति का कारण बनता है। शुक्र–पार्थिव तरलद्र य अवश्य है कि तु इसमें घनतासम्पादक–सौर सावित्रा निरूप वह तेज भी समाविष्ट रहता है जिसके समावेश से ही तरल भी शुक्र स्वगर्भाभूत सौर हिरण्यतेज से घनता (अस्थि) का प्रव र्तक बन जाता है। मनुष्यकृत वधयज्ञ में तरल शुक्रद्र य का प्रतिनिधि तरलभावापन्न आ यद्र य है तो तत्रस्थ हिरण्यशकल (सुवर्णखण्ड) घनभावापन्न द्रव्य का प्रतिनिधि है। यों प्रश्नोत्तर प्रसङ्ग का सवथा सम वय होजाता है।

यदि हम आ य का केवल भौतिक आ य पर ही तथा हिरण्यशकल का केवल भौतिक–सुवर्ण खण्ड पर ही विश्राम मानते रहें तो शवज मों में भी इस समस्या का निराकरण सम्भव न हो। क्या इ यभूता मान्यता का मानवीया क पना से स ब ध है? नही कदापि नही। स्वय वेदशास्त्रने ही प्रकीर्णकरूपेण **रेतो वै आ यम् – हिरण्मयेन सविता रथेनादेव** इ यादि अनुगम निगम–वचनों के द्वारा पारिभाषिक उन तथ्यों का स्पष्टीकरण कर दिया है जसके बोध से हम आज वञ्चित इसलिए होगए हैं कि हमारा वेदशास्त्रानुगत अध्ययनपथ वै क श दों के माध्यम से अ ययनपथ न रह कर साम्प्रदायिक पथ ही बन गया है। पहिले हम अमुक सम्प्रदायविशेष के आवेश में आविष्ट होकर तदनुरूप अपनी मान्यताएँ स्थिर कर लेते हैं। तदन तर इस मान्यता के रङ्ग से रञ्जित चक्षु से ही हम वेदशास्त्रावलोकन में प्रवृत्त होने का मानो निःसीम अनुग्रह ही करते हैं सो भी चञ्चुप्रवेश यायेनैव। क्रमबद्ध–पारम्परिक एकतानतारूप अतिमानवर्जित स्वाध्याय का गुहानिहितत्वृ या आत्य तिक अभाव एव साम्प्रदायिक–आवेशपूर्ण मा यता में पूर्ण अभिनिवेश और तन्नि ब धन बुद्धिवाद आदि आदि कारण ही हमें विद्यमान भी पारिभाषिक त व–सन्दभ से आज पराःपरावत ही बनाए हुए हैं जसाकि उत त्वः पश्यन्न ददश वाचम् इत्यादि मन्त्रमाध्यम से आवेदन के सन्दर्भ में भी निवेदन किया जाचुका है इ यलमतिपल्लवितेन–याज्ञिक उदाहरण–निदर्शनेन।

प्रकृत में निवेदनीय यही है कि वैध–यज्ञकर्म्म भारतीय–विज्ञानकाण्ड का आचारनिष्ठात्मक–वह महान् स्तम्भ है जिसे केवल पूजन हवन–पाठ–पारायणादि -बाह्य–प्रतीकों पर ही परिसमाप्त नहीं कर दिया जासकता। जो ऐसा करते हैं वे यज्ञकर्म के अध्यात्म–अधिदैवत–निबन्धन प्रतिष्ठासूत्रों से सर्वथैव अपरिचित माने जायँगे और वैसे केवल भूतवादी–बहिरङ्गलक्षणवादी–याज्ञिकों की कृपा से ही यज्ञकर्म्म जैसा वैज्ञानिक कर्म्म भी आज इतर–लौकिक–प्रदर्शनों की भाति प्रदर्शनमात्र ही बना रह गया है। इसी कारणवालीकृता भ्रान्तिपूर्णा धारणा के निराकरण के लिए आज्यग्रहणकर्म्म प्रसङ्ग भगवान् याज्ञवल्क्य ने यज्ञविज्ञाननिबन्धन आधिदैविक–आध्यात्मिक आधिभौतिक भेदेन त्रिधा विभक्त यज्ञविज्ञानों का स्वरूप–विश्लेषण किया है जिसके माध्यम से यज्ञकर्म्मानुगता उन सभी का पनिकी भ्रान्तियों का सर्वथा ही विलयन होजाता है जिन कापनिकी भ्रान्तियों से ही यज्ञकर्म्म जैसा प्रजासर्ग का मूलभूत–इष्टकामधुक–(सर्वलौकिक–कामनापूरक (न तु इच्छापूरक) * महतोमहीयान् भी कर्म्म आज उपहास का ही माध्यम प्रमाणित किया जारहा है इत्यल– त्रिविध यज्ञानुगत सस्मरण प्रसङ्गेन।

१६—(७)

*   *   *   *

*–सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक ॥
—गीता

श्री

(१७)-इध्म-परिध्यनुगत-कर्म्म-प्रसङ्गत 'प्रस्तरग्रहणकर्म्मानुगत शिखाधारणात्मक-सस्मरण'

८

---*---

क्रमप्राप्त तथोक्त नामक १७ व कर्म्म में अनेक अवान्तर कर्म्मों का स्वरूप-समन्वय हुआ है जिनमें एक कर्म्मविशेष का नाम है प्रस्तरग्रहणकर्म्म । इसी कर्म्म के प्रसङ्ग से भगवान् याज्ञवल्क्य ने भारतीय आर्षमानव की यज्ञकर्म्मनिबन्धना-सनातनसस्कृतिमूला उस शिखा के प्रतीकात्मक आधिदैविक-विज्ञान का भी स्पष्टीकरणानुग्रह किया है महतोमहीयान् जो शिखात्मक सास्कृतिक प्रतीक आज अन्यान्य सास्कृतिक परिचय चिह्नों के विस्मरण की भाति भारतीय प्रजा के लिए विशेषत प्रतीच्यशिक्षाग्रहग्रस्त नवशिक्षितो के लिए तो सर्वथैव उपेक्षणीय ही प्रमाणित होचुका है—केशसनिवेश गुच्छरूप कबरी भाव * के स्त्रैणभावानुबन्धी महतो महीयान् वारुणपाशबन्धन के अनुग्रह से ही ।

सचमुच यह अत्यन्त ही आश्चर्य्य का विषय है कि आज का भारतीय-मानव विशेषत नवशिक्षाया दीक्षित मानवश्रेष्ठ जहाँ पश्चिम की सभ्यता से सम्बन्ध रखने वाले बाह्य-प्रतीकात्मक यच्चयावत् सभ्यता-सूचक परिचयचिह्नों के साथ अत्यन्त श्रद्धापूर्वक (तमोबहुला अन्धश्रद्धा से ही समन्वित) समालिङ्गन करते रहने में अपना भौतिक-तन-मन-धन्य-कृतकृत्य ही अनुभूत करता रहता है प्रतिक्षण उसी मानवश्रेष्ठ की दृष्टि में भारतराष्ट्र की सस्कृति तथा सभ्यता से अनुप्राणित वे सभी-प्रतीकात्मक-परिचायक-चिह्न केवल उपहास के ही क्षेत्र बने हुए हैं जिन भारतीय प्रतीकात्मक चिह्नों के साथ प्रतीच्य-जगत् के सभ्यता परिचायक प्रतीक चिह्नो की भाँति केवल बाह्यदृष्टि का ही सम्बन्ध नही है अपितु निदानविद्यानुगत जिन भारतीय-बाह्य-प्रतीकों के साथ विज्ञानसिद्ध आभ्यन्तर-प्राणभावों का भी निकटतम सम्बन्ध बना हुआ है धर्म्मलक्षणवत् ।

अपनी ग्रीवा में अमुक प्रकार के मृत्युपाशबन्धनात्मक-बाह्य-प्रतीक को (टाई को) अहर्निश अपना गलग्रह बनाए रखने वाले आज के सुसभ्य भारतीय मानव ने स्वप्न में भी यह तर्क नहीं उठाया होगा कि

इस गलपाशबन्धन मे ऐसा कौनसा परम वैज्ञानिक लाभ है जिसके कारण यह हमारा आराध्य बन बैठा है ? ।

उसी सुसभ्य भारतीय की वैज्ञानिकी ! दृष्टि में आज उन भारतीय सभी प्रतीकात्मक-नैदानिक-परिचय चिह्नों के सम्बन्ध में इत्थंभूत तर्कप्रवाह प्रचण्डरूपेण जागरूक होपडा है कि – **मस्तक क्यों नहीं उघाडा**

---

* कबरी भाव अर्थात् लोकमाषानुसार– बबरीबाल ।

ही रक्खें ? शिखा रखने का क्या अर्थ ? तिलक लगाने का क्या प्रयोजन ? । उदाहरणमात्र है । भारतीय संस्कृति-सभ्यता से अनुप्राणित सभी विधि-विधानों के प्रतीकात्मक नैदानिक-लक्षणों-परिचायक चिन्हों के सम्बन्ध में आज वह स्वयं भारतीय ही वैसा महान् तर्कवादी बन गया है जिसे पश्चिम के प्राणाधार शून्य-केवल बाह्य भूतप्रधान-परिचायक चिह्नों के सम्बन्ध में कदापि क्यों ? कैसे ? आदिरूप तर्कों का स्मरण भी तो नहीं होपाता । इससे बड़ी आत्मप्रतारणा अपनी वञ्चना सम्भवतः भारतीय मानव के अतिरिक्त अन्य किसी भी राष्ट्र का स्वराष्ट्राभिमानी नैष्ठिक मानव नहीं ही करता होगा ।

तथाविध भारतीय-सांस्कृति-परिचय-चिह्नोंन शिखाधारण का कैसा और क्या अन्त (प्राणात्मक) बाह्य (भूतात्मक)-नैदानिक-महत्त्व है ? प्रस्तरग्रहणात्मक कुशमुष्टिग्रहणरूप कर्म्मविशेष के प्रसङ्ग में स्वयं वेदपुरुषने- यज्ञो वै विष्णुः । तस्य-इयमेव-शिखा -इत्यादि रूपेण-भारतीय सभ्यता के सर्वमूर्द्धन्य उस- शिखा (चोटी) रूप महतोमहीयान् प्रतीक का ही स्वरूप-समन्वय किया है जिस परम सांस्कृतिक इस शिखा रूप चिह्न के नामस्मरण को भी आज का नवीन-प्रज्ञ भारतीय-मानव व्यर्थतम-निर्मूल-तर्काभासों को अग्रणी बनाता हुआ उद्वेगकर ही मान रहा है । तदुद्बोधनायैव तत्प्रकरण में हमनें प्रस्तर रूप नैदानिक शिखाभाव के पारिभाषिक-उस प्राणनिबन्धन कारण के स्वरूप स्पष्टीकरण का प्रयास किया है जिस के माध्यम से अवश्यमेव हम भारतीय अपने प्रतीकचिह्नों की निन्दा करने से तो उपरत हो ही सकते हैं इसी उदाहरण-संस्मरण के साथ प्रक्रान्त निदर्शन उपरत होरहा है ।

[१७]—८

* * * * *

श्री

[१८]-सामिधेन्यनुवचनकर्म्म-प्रसङ्गत 'संगीतानुगत-विशेष-उदाहरण' का-संस्मरण

६

—*—

सामिधेन्यनुवचनकर्म्म नामक महतोमहीयान् याज्ञिक कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता का स्वरूप विश्लेषण शतपथ के चार-ब्राह्मणों में हुआ है जिस में प्रधानकर्म्मप्रसङ्गत अनेक-रहस्यपूर्ण-वैज्ञानिक-विषयों का स्वरूप समन्वय प्रयास हुआ है। प्रस्तावनानुगत इस किञ्चिदिव आवेदन का कलेवर क्योंकि विस्तार पथानुगामी बनता जारहा है। अतएव ब्राह्मण-चतुष्टयात्मक सामिधेन्यनुवचनकर्म्म से अनुप्राणित अनेक-पारिभाषिक-तत्त्वों में से सङ्गीतानुगत-एक विशेष उदाहरण का स्वरूप-संस्मरण ही इस क्रम व्यवस्था में पर्य्याप्त मान लिया गया है।

सङ्गीतोदाहरण के साथ विशेष शब्द का समन्वय हमने अपनी ओर से ही किया है युगधर्म्मानुबन्ध से जबकि श्रुति के तो सभी प्रासङ्गिक तथ्य अपने अपने विभिन्न-दृष्टिकोणों से विशेष ही प्रमाणित होरहे हैं। युगधर्म्म-निबन्धना वह ऐसी कौनसी विशेषता है जिसके अनुबन्धन से हमनें सङ्गीतोदाहरण को अपनी ओर से विशेष-उपाधि दे डाली ? प्रश्न का समाधान- सांस्कृतिक ! आयोजन नाम्ना सुविख्याता युगधर्म्मनिबन्धना आज की उस सांस्कृतिकी ? प्रवृत्ति से ही सम्बद्ध है जिसमें नृत्य गीत वाद्यात्मक सङ्गीत ही प्रमुख बना हुआ है और आज के सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भारत की प्रभुसत्ता समर्था स्वतन्त्रतमा प्रज्ञा की दृष्टि में इत्थंभूत सङ्गीत ही प्रमुखरूपेण भारतीय-संस्कृति का विशेष मापदण्ड बना हुआ है। इसी वर्त्तमानाभिनन्दन की दृष्टि से हमने श्रुति के सङ्गीतात्मक उदाहरण को विशेष उपाधि से समलङ्कृत कर दिया है इस संस्मरण प्रसङ्ग में।

नृत्य गीत वाद्य-समन्वयात्मक सङ्गीत से अनुप्राणिता वर्त्तमानयुगानुबन्धिनी महती सांस्कृतिक ! प्रवृत्ति का समस्त उत्तरदायित्व केवल वर्त्तमाना सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रा-प्रज्ञा से ही अनुप्राणित मान बैठना तो अन्याय ही होगा। क्योंकि विगत अमुक-कतिपय-शताब्दियों से भारतराष्ट्र के प्राच्य-संस्कृतिनिष्ठ ! अमुक श्रेणि के विद्वान् भी परानुरञ्जन को ही अपने चरम पाण्डित्य की निरतिशया-सफलता मानते हुए सङ्गीत को एवं तत्सहयोगी कल्पनाप्रधान शृङ्गाररसादि-समाप्लुत साहित्य को एवं मनोविनोद-परिशिष्ट-स्थानीय-कला को इन तीनों को ही मानव की मानवता का महतो महीयान् वैसा मापदण्ड मानते आरहे हैं बड़े ही गौरव के साथ जिस तथाकथित साहित्य सङ्गीत-कला त्रयी के विना उन विद्वानों

की दृष्टि में मानव' मानव न होकर पुच्छ–विषाण–हीन (बिना पूँछ सींग) का एकप्रकार का पशुविशेष ही है *। इन परम सांस्कृतिक ? विद्वानों की मानवता ? पूर्णा–विशाला ? दृष्टि में तो साहित्य सङ्गीत–कला–त्रयी से शून्य मानवों का बिना घास फूस के जीवित रहना पशुओं की भाग्यशालिता का ही परिचायक है।

अर्थात् इस त्रयी से शून्य मानव और पशु में विद्वानों की दृष्टि में यही एकमात्र भेद शेष रह जाता है कि पशु घास चारा खाकर जीवित रहते है। और ऐसे त्रयी शून्य (साहित्य–सङ्गीत–कला–शून्य) मानव बिना घास–फूँस के ही जीवित रह जाते हैं जिस में भी पशुओं के भाग्यवाद का ही महत्त्व माना जायगा। यों भारतीय प्राच्य विद्वानों की दृष्टि में भी सङ्गीत एक विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त करता हुआ प्रतीत होरहा है अपने महान् सम्बन्धी साहित्य तथा-कला परिग्रहों को स्व क्रोड में प्रतिष्ठित रखता हुआ। वही विद्वत्प्रवृत्ति आज के सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भारत में स्वतन्त्र सत्ताधीशों के महतो महीयान् अनुग्रह से ही सङ्गीत–कला और अंशतः साहित्य–रूपेण–सर्वाङ्गीण–रूपेण अभिव्यक्त होपड़ी है जिसे आधार बनाकर ही उदाहरणरूपेण हमें तत्सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन कर देना है एक विशेष ही तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए जिस विशेष–तथ्य का साहित्य सङ्गीत कला रूपा त्रयी से सर्वात्मना–ऐकान्तिकी–प्रतिद्वन्द्विता रखने वाली उस त्रयीविद्या से ही सम्बन्ध है जिस के नैष्ठिक उपासक भारतीय ब्राह्मण के लिए तो साहित्य–सङ्गीत–कलात्मिका–त्रयी सर्वथा न केवल निरपेक्षा ही अपितु आग्ला एवं माल्व्य नामक घोरघोरतम मानसिक–शारीरिक भयानक दोषों की प्रवृत्ति की दृष्टि से उपेक्षणीया अतएव निषिद्धा ही उद्घोषित हुई है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा।

क्या ऋषिप्रज्ञा साहित्य–सङ्गीत कला–रूपा लोकप्रसिद्धा त्रयी से शत्रुता रखती है ? इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के समाधान का अत्र अवसर नहीं है। इसी प्रश्न की स्वरूप–मीमांसा के लिए हमें एक स्वतन्त्र–निबन्ध उपनिबद्ध करना पड़ा है। अतः तद्द्वारा ही तत्प्रश्न के नीरक्षीरविवेक से सान्निध्य प्राप्त करना चाहिए—साहित्य–सङ्गीत–कला–पर ही भारतीय संस्कृति की इतिश्री मान बैठने वाले महानुभावों को—। प्रकृत उदाहरणात्मक–संस्मरण–प्रकरण में तो केवल– सङ्गीत के सम्बन्ध में ही हमें दो शब्द निवेदन कर देने हैं।

सामिधेनीकर्म्म में जिन सामिधेनी ऋचाओं का अनुगमन होता है होता नामक ऋत्विक् के द्वारा उन ऋङ्मन्त्रों के साथ हिङ्कार का सम्बन्ध अनिवार्य्य माना गया है जो कि हिङ्कार सामगान का मूलाधार ही माना गया है जैसाकि नासामा हिङ्क्रियते इत्यादि वचन से स्पष्ट है। सामिधेन्यनुवचन कर्म्मानुगत सामगानाधारभूत इस हिङ्कार के पारिभाषिक–स्वरूप–समन्वय के लिए ही हमें तत्सन्दर्भ में नाद–श्रुति–

---

* साहित्य–सङ्गीत कला विहीन साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीन ।
तृणन्न खादन्नपि जीवमानस्तद् भागधेयं परमं पशूनाम् ॥

— संस्कृति और सभ्यता-शब्दों का चिरन्तन इतिवृत्त एवं भारतीय–सांस्कृतिक आयोजनों की रूपरेखा नामक सहस्र–पृष्ठात्मक स्वतन्त्र निबन्ध जो संस्था के द्वारा प्रकाशित हो–चुका है।

स्वर भावानुबन्धी उस शास्त्रीय–सङ्गीत का स्वरूप–दिग्दर्शन कराना पड़ा है जिस दिगदर्शन के बिना हिङ्कार का समन्वय सर्वथा असम्भव था।

नाद–श्रुति स्वर–जैसे अलौकिक भावों से सम्पन्न भी सङ्गीत प्रकृति के अमुक महान्–गौणभावों के कारण मानवीय मन और शरीर को माल्व्य और आग्ला नामक वैसे भयानक दोषों से अभिभूत कर लेता है जिन दोषों के आगमन के अनन्तर मानवीय आत्मा और बुद्धि के स्वभाव सवथव अभिभूत होजाते हैं जिस आत्मानुगता स्वभावनिबन्धना बुद्धिनिष्ठा के बल पर ही वेदशास्त्रानुगता त्रयीविद्या का स्वरूप–समन्वय अवलम्बित है। इसी प्रकृतिसिद्धा स्थिति को लक्ष्य में रख कर ऋषिने वेदतन्त्रचिंतक नैष्ठिक ब्राह्मण के सम्बन्ध में— तस्माद् ब्राह्मणो न नृत्येत न गायेत यह आदेश अनिवार्य माना है।

उक्त आदेश का तात्पर्यार्थ स्पष्टतम है। मानव का स्वरूप आत्मा बुद्धि मन शरीर न चार पर्वों के सहसमन्वय से ही अनुप्राणित है। इनमें आत्मा और बुद्धि नामक दोनो पर्वो का एक स्वतन्त्र विभाग है एव मन और शरीर का एक स्वतन्त्र विभाग है। बुद्धि से समन्वित आत्मा ही मानव का पुरुषभाव है एव शरीरसे समन्वित मन ही मानव का– प्रकृतिभाव है। इस दृष्टि से आत्मना बुद्ध्या च वही मानव जहाँ पुरुषभाव में प्रतिष्ठित माना गया है वहा वही मानव मनसा शरीरेण च स्त्रीभाव में प्रतिष्ठित माना गया है। आत्मबुद्धिप्रधान वही मानव नैष्ठिकमानव कहलाया है एव मनःशरीरप्रधान वही मानव भावुकमानव कहलाया है। आत्म–बुद्धि–समन्वित वही मानव— स्वतन्त्र–पुरुषार्थी–मानव कहलाया है एव मनः–शरीर–समन्वित–वही मानव— परतन्त्र पराश्रित मानव माना गया है। इसप्रकार अनेक दृष्टियों से मानव के इन तथाकथित–चार–पर्वों के समन्वय-तारतम्य से अनेक स्वरूप–विभाजन होरहे हैं।

आत्मबुद्धिनिष्ठ नैष्ठिक मानव ही अन्तर्मुख मानव माना गया है एव मन शरीर–भावुक–मानव ही बहिर्मुख मानव माना गया है। इसी पुरुष–प्रकृति सिद्ध–तथ्य के आधार पर ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–भेदभिन्न चतुर्विध–वर्णमानवों की स्वरूप व्यवस्था हुई है जिसका फलितार्थ निम्नलिखिता सङ्क्षिप्ता तालिका से सर्वात्मना गतार्थ मान लिया जासकता है—

(१)–शरीर मनो–बुद्धि गर्भित आत्मप्रधानो मानव एव–"ब्राह्मणः"।

(२)–शरीर मन –आत्म गर्भित बुद्धिप्रधानो मानव एव–"क्षत्रिय"।

(३)–शरीर बुद्धि–आत्म गर्भित मन प्रधानो मानव एव–'वैश्य"।

(४)–आत्म बुद्धि मनो गर्भित –शरीरप्रधानो मानव एव– शूद्र'।

प्रकृतिविशिष्ट एव संस्कारो से सुसंस्कृत तथोक्त चातुर्वर्ण्य से अनुप्राणित चतुर्विध–मानववर्ग के चारों अवान्तर वर्गभेदों के माध्यम से ही वर्णनिबन्धना–क्षमता–योग्यता–आदि की व्यवस्थाएँ व्यवस्थित हुई हैं व्यवस्थापकों के द्वारा जिस सुप्रसिद्धा–आत्मसाम्यमूला (नतु काल्पनिक–भूतसाम्यमूला) भारतीय–समाजव्य

वस्था का ही नाम है वह वैज्ञानिकी-वर्णव्यवस्था जिसकी यवस्था के सजक जहाँ भारतीय ऋषि हैं वहा यवस्था के आधारभत चारो वर्ण प्रकृतिसिद्ध ही हैं इश्वरीय ही हैं * ।

उक्त चतुर्विध वर्णमानवो में आ मनि ठ ब्राह्मणमानव को ऋषिने- गुहानिहित माना है बुद्धिनि ठ क्षत्रिय मानव को सौम्यमारुतिक माना है एव मन -शरीर-भावुक वैश्य-शद्र मानव को- वातातपिक माना है। गुहानिहित-आ मनिष्ठ ब्राह्मणमानव अरतिजनसंसदि रूपेण-लोक-समाज-सम्पक से तटस्थप्राय ही बना रहता है। तभी इसकी आ मचि तनमला-ज्ञानविज्ञानत वा वषणा मिका दुरधिगम्या-अ यनपर परा सुरक्षित बनी रह सकती है। ऐसा गुहानिहित ब्राह्मण मन शरीरनिब धन ग्रामङ्गो स निष्ठा-पूवक आ मपरित्राण करता हुआ ही त वचिन्तन अ वषणादि क र्मो में सफलता प्राप्त कर सकता है। अतएव ऋषिने वदत्रयी के अन योपासक आ मनिष्ठ ब्राह्मण के लिए मन शरीर निब धन साहि य सङ्गीत-कला त्रयी को निरपेक्ष ही मान लिया है।

अमुक बिगत-शता दियों में भारतीय-सत्तातन्त्र के सञ्चालक-क्षत्रिय राजाओने ब्राह्मणपुरोधा के सास्कृतिक-अनुशासन की उपेक्षा कर अपने प्रति ठा मक बुद्धित त्र को जलाञ्जलि समर्पित कर केवल मन -शरीर-निब धना कामाथभोग-पर पराओं को ही अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य बना लिया था। राजसत्ता की तथाभता परम्परा का ही दुर्भा यवश अमुक आ मनिष्ठ-वगविशेष भी स्वाथलि सावश समथक बन गया और उसी ने सत्तात ो की चाटुकारिता के लिए त मन शरीरानुरञ्जक प्रधान- शृङ्गारादि-समन्वित साहि-यादि का सज न कर डाला। और यों स्व नैष्ठिक-लक्ष्य-म युत राष्ट्र की ब्राह्मणप्रजा ने ही सवप्रथम अपनी गुहानिहिता त वचि तनवृत्ति को जलाञ्जलि समर्पित करदी जिस शिरोभाग के प्राथमिक सास्कृतिक पतन से ही भारत की आ मब्रह्ममला ज्ञानविज्ञानप्रधाना मौलिक-सस्कृति आगे जाकर-साहि य-सङ्गीत-कला आद मन शरीर निब धन उपलालनों पर ही विश्रा त होगइ जिसका सविस्तर यशोवर्णन ? (ऐतिहासिक स्वरूप विश्लेषण) हमने— श्वेतक्रान्ति का महान् स देश नामक स्वत त्र निब ध में ही किया है। यो लोकैषणा-वित्तैषणा के युगधर्म्मानुब धी पङ्क में निम ना ब्राह्मण-विद्वानो की का वालीकृता प्रज्ञा के कारण ही भारतराष्ट्र की ज्ञानविज्ञाना मिका त्रयीमूला निगम आगम पुराण-शास्त्रसम्मता-वास्तविक-सस्कृति और तदनुगता वास्तविक स भ्यता तो होती गइ उत्तरोत्तर स्मृतिगर्भ में विलीन एव तृत्स्थाने च कामाथभोगपरायण रा यतन्त्रो के मनोऽनुरञ्जन से अनुप्राणित सामयिक प्ररोचना मक साहि य सङ्गीत-कला मक मन शरीरप्रधान यासङ्ग ही बनते गए प्रधान और ये ही बन गए काला तर में महान्-सास्कृतिक आयोजन। आ मबुद्धिसम्मत नि ठक तत्त्वचि तन की मूलप्रति ठा से वञ्चित इ थमूत जिन इन आयोजनो का भारतीय पारिभाषिक सस्कृति सभ्यता शब्दो के चिर त न वैज्ञानिक इतिवृत्त से स्वाप्नक सम्पर्क भी तो नही है।

तदि थ आ मबुद्धिप्रधाना अपनी ज्ञानविज्ञानामिका-निगमागमपुराणस मता मौलिक सस्कृति तथा सभ्यता को अनेक-शता दियो से पूव ही सत्तात त्रानुरञ्जनाकषणधिया जलाञ्जलि समर्पित कर बैठने वाले परानुरञ्जनपूर्वक-स्वाथससाधन में अपने स्वरूप को विस्मृत किए रहने वाले एतद् शीय विद्वान् ब्राह्मणों की

*-प्रकृतिविशिष्ट चातुर्वर्ण्य सस्कारविशेषाच्च ।
—वसिष्ठ

महती प्रज्ञा से विनिगत–साहित्य–सङ्गीत कलाद यासङ्गों ने ही सस्कृति का आसन अपहृत कर लिया जिस उम विगता–भुक्ता–प्रक्रा ता–दायादभित्ति के आधार पर ही आज का स्वत त्र–स्वत त्र–भारत औ उसके प्रभुसत्तासमथ–सत्ताधीश नाच–गान वाद्य–हास परिहास–नाटक अकादमी–आदि आदि बालो–पलालनात्मक–निता त–भावुकतापूर्ण एव आ ला तथा माल्य नामक भयानक दोषा से का त्रालीकृत–ताक–धिनाधिन–त न–र रीम् सामयिक–कवितामाधुर्य–प्ररोचना मक विविध–कला मक वि यास आदि पर ही भारतीय सस्कृति का प यवसान मानते हुए तत्प्रचाराथ अपने देश के कुशल गायक अभिनेता अभिनेत्री आदि कलाकारो के समूहा मक महतोमहीयान् सास्कृतिक शिष्टमण्डल ? के मा यम से भारतीय–सस्कृति के गौरव १ को पुन स्थापित करने के लिए प्रतिक्षण ही आकुल याकुल ही बन रहे हो तो इसमें उनका यत्किञ्चित् भी अपराध इसलिए नही माना जासकता कि आज के स्वत त्र ातात त्र को भारतराष्ट्र के वत्तमान तथा अतीत के तथाकथित सास्कृतिक विद्वानों के द्वारा अमुक शताब्दि मे परम्परया सास्कृतिक के नाम पर यही तो सब कुछ उपल ध हुआ है। माल्य तथा आ ला–दोष से समन्वित नाद–स्वर श्रुति विश्लेषण के प्रसङ्ग से ही त कम्म में विस्तार से हिङ्कारमूलक सङ्गीत के नाद श्रुति–स्वर–भावों की स्वरूप मीमासा हुई है जिसकी पूर्वोक्ता–युगवम्म–निब धना विशेषता के कारण ही हमने इस उदाहरण को विशेष उपाधि से सुविभूषित कर देना अ वर्थ मान लिया है इ यलमति–पल्लवितेन– सङ्गीतानुगत–विशेष–उदाहरण सस्मरणान ।

[१८]—६

*   *   *   *   *

श्री

(१६–२०)–पूर्वोत्तराघारकर्म्म–प्रसङ्गत

"कतिपय--वैज्ञानिक-तथ्यो का सस्मरण"

१०--११

———*———

द्विब्राह्मणा मक– आघारब्राह्मण नामक ब्राह्मणस दभ में पूर्वाघारकम्म उत्तराघारकम्म नामक १६ २ व इन दो क र्मों का सोपपत्तिक स्वरूप–विश्लेषण हुआ है जिसके प्रसङ्ग से अनेक प्रासङ्गिक परिभाषिक–त यो का भी श्रुति ने स न्वय किया है। द्वी में से एक दो तथ्यो का उदाहरणरूपेण दो श दो में अत्र सस्मरण कर लिया जाता है।

(क)–मनोवाग्भावों के पारिभाषिक स्वरूप का सस्मरण—

पूर्वाघारकम्म का श्रुतिने मन से सम्ब ध माना है और वह तूष्णी किया जाता है। एव उत्तरा–घा कम्म का वाक् से स न्ध माना गया है और वह म त्रोच्चारणपूवक किया जाता है *। मनु यकृत अग्नीषोमा मक इस वैध–यज्ञ के द्वारा उसीप्रकार यज्ञकर्त्ता यजमान के लिए स्वगप्रापक एक अपूव–यशा तिशयरूप–प्राणप्रधान अतएव परोक्षभावापन्न–सुसूक्ष्म दैवात्मा अभिव्यक्त किंवा सम्पन्न किया जाता है जो उ पन्न अभि यक्त होकर त्रिणाचिकेत नामक सप्तदशस्थ स्वगस्थान में प्रतिष्ठित होजाता है यजमान के भूता मा के साथ प्राणसूत्रमाध्यम से ग्रथि ब धन–करता हुआ। जब यजमान मानवीय आयुर्भोगकाल प यन्त इस लोक में यथाकर्म्म भोग भोग लेता है तो आयु सूत्रोपराम के अन तर उसी दवा माकषण से यज्ञकर्त्ता यजमान का भूता मा स्वगस्थान में प्रतिष्ठित होजाता है अमुक अवधि के लिए जैसाकि **दशपूर्ण मासाभ्या स्वर्गकामो यजेत** इ यादि फलश्रुतियों से स्पष्ट है।

आ मा का स्वरूप ज्ञान क्रिया अथ-शक्तिमय इसलिए माना गया है कि **ज्ञानशक्तिमय मन क्रियाशक्तिमय प्राण और अथशक्तिमयी वाक** इन तीनों के सहसम वय से ही मानवीय **आ मा** के स्वरूप

———————

* 'स यदु पाशु क्रियते त मनो देवेभ्यो यज्ञ वहति। अथ यद्वाचा निरुक्त क्रियते तद्वा देवेभ्यो यज्ञ वहति। तूष्णी तमाघरयति य मनसे आघारयति। मन्त्रेण तमाघारयति य वाचे आ ारयति"

—इ यादि स दभ

की अभिव्यक्ति होती है फिर वह पार्थिव—यथाजात— भूतात्मा हो अथवा तो अपार्थिव प्राणप्रधान दैवात्मा हो। यज्ञकर्म से प्राणप्रधान देवभाव का सम्पादन होता है जो कि प्राणगत न गतिधर्म से क्रियाप्रधान बना हुआ है। यों प्रधानदेवता से अनुगत आवापकर्म्म नामक यज्ञकर्म से प्राणतन्त्रानुबन्धेन यज्ञिय संस्कारात्मक दैवात्मा के प्राणभाग की तो स्वरूप निष्पत्ति होजाती है। किन्तु अभी मन और वाग्भाग शेष ही रह जाते हैं जिनके बिना यात्मक त्रिपर्वा आत्मा का स्वरूप सर्वात्मना सम्पन्न नहीं होसकता *। इसीलिए पूर्वाघार और उत्तरघार नामक दो गौणकर्म किए जाते हैं जिनसे क्रमश प्राणात्मक दैवात्मा में इस ओर मन का तथा उस ओर वाक का आधान भी होजाता है। और यों दैवात्मा मन प्राण वाक् रूपेण सर्वात्मना सुसम्पन्न बन जाता है। इनके सम्बन्ध में ही श्रुतिने यह व्यवस्था की है कि मनका स्वरूप सम्पादक पूर्वाघार तो उपांशु अर्थात् चुपचाप होता है एवं वाक का स्वरूप सम्पादक उत्तराघार उच्चारणपूर्वक होताहै। ऐसा क्यों ? इसी प्रश्न का आख्यानभाषा में समाधान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कह रहे हैं कि—

एक बार मन और वाक (वाणी) में परस्पर अहंभद्रत्त्व के लिए घोर संघर्ष उपक्रान्त हो पड़ा। दोनों ही परस्पर एक दूसरे के समतुलन में अपने अपने ही अहंभद्रत्व (श्रेष्ठत्व) की घोषणा में निमग्न थे स्व—स्व तक परम्परा के माध्यम से। वाक् की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता स्थापित करते हुए मनोदेव ने यह तक उपस्थित किया कि मेरे ज्ञानीय संकल्प को आधार बनाए बिना तुम कदापि किसी भी तथ्य की अभिव्यक्ति नहीं कर सकती। ठीक इसके विपरीत मन की अपेक्षा अपना श्रेष्ठत्व स्थापित करते हुए वाग्देवी ने यह तक उपस्थित किया कि— तुम अपने संकल्पात्मक-मानस—सूक्ष्म आभ्यन्तर जगत् मे जो भी ज्ञानीय कल्पना करते रहते हो मैं हीं उसे बहिर्जगत् मे अभिव्यक्त कर सकती हू करती रहती हू। यदि मेरा सहयोग तुम्हें न मिले तो तुम्हारे संकल्प केवल संकल्परूप में हीं निरर्थक ही प्रमाणित होते रहें। दोनों के द्वारा दोनों का समाधान जब सम्भव न बन सका तो दोनों सर्वाधारभूत प्रजापति की शरण में पहुचे इस समस्या के निर्णयात्मक समाधान के लिए। प्रजापति ने मन के पक्ष में ही अहंभद्रत्व का निर्णय व्यक्त करते हुए वाक् के सम्मुख यही स्पष्टीकरण रख दिया कि वाग्देवी ! तुम मन की कृतानुकरा हो अनुवर्त्तिनी हो। बिना मन के तुम्हारा कुछ भी तो मूल्य नहीं है। प्रजापति के इस निर्णय से वाक का अतिमानात्मक गर्व चूर चूर होगया। इस अपमान से अपमानिता वाग्देवी प्रजापति के प्रति सवथा अग्निश्च—वायुश्च (क्रुद्ध) ही बन गई और तत्परिणाम—स्वरूप वाक् के मुख से ये ही उद्गार अभिव्यक्त होपडे प्रजापति के प्रति कि— हे प्रजापते ! आपने क्योंकि मुझे मन की अपेक्षा अवरश्रेणि की तथा मन को श्रेष्ठ प्रमाणित किया है अतएव मैं कदापि आपके लिए हविद्रव्य का वहन नहीं करूँगी।

---

*—स वा एष आत्मा वाङ्मय, प्राणमय, मनोमय (बृ० आ उप०)
त्रय सदेकमयमात्मा, आत्मा उ एक सन्नेतत्-त्रयम् (शत० ब्रा)

उक्त आख्यान के द्वारा प्रस्तुत–प्रक्रान्त यज्ञकर्म के सम्बन्ध में एक विशेष प्रश्न का समाधान करती हुई आगे जाकर शतपथी श्रुति कहती है कि— क्योंकि वाक् ने–प्रजापति से तटस्थता ग्रहण करली थी। अतएव यज्ञानुष्ठानो में साक्षात्–प्रजापति के लिए आहुतिद्रव्य प्रदानादि जो भी कर्म किए जाते हैं व उपांशु अर्थात्–तूष्णी–भाव से ही अनुप्राणित रहते हैं। क्योंकि **अद्द्यगाढ्ढि वाक् प्रजापतये आसीत्** ।

उक्त आख्यान के माध्यम से ऋषि मानवीय उन कर्म्मों के सम्बन्ध में एक विशेष–शिक्षा प्रदान कर रहे हैं जिन कर्म्मविशेषो का आत्यन्तिक मानसी–आत्मनिष्ठा से सम्बन्ध–माना गया है। लोक–सामान्य से अनुप्राणित लौकिक सामान्यकर्म्म **प्राकृतिककर्म्म** कहलाएँ है जिनसे तात्कालिक–लोक व्यवहारों का स्वरूप समन्वय होता रहता है एवं ऐसे सामान्य कर्मों में ही वाणी का समन्वय रहा करता है जिस वाक्–समन्वय का अर्थ है—वाग् व्यवहार घोषणा और आज के शब्दों में–**प्रदर्शन** (जिसका रूप माना जारहा है **पब्लिसीटी**) जो कि आज के सत्तातन्त्र की प्राणप्रतिष्ठा ही बना हुआ है। वाणी के द्वारा प्रदर्शन वसे बाह्य कर्मों का ही हुआ करता है जिनके आधार में प्राजापत्या आत्मप्रतिष्ठा प्रतिष्ठित नहीं रहती नैव जिनका आत्मानुगत–दृढतम–मानस–सङ्कल्पो से ही कोई साक्षात् सम्बन्ध रहता। अपितु प्रवाहिकी जलधारा की भांति प्रतिक्षण–बदलते रहने वाले तात्कालिक–बाह्य–स्वार्थों बाह्य–कर्मों के स्वरूपानुपात से वाङ्मय तथाभूत प्रदर्शन भी क्षण क्षण में ही बदलते रहते हैं।

ठीक इसके विपरीत आत्मप्रतिष्ठात्मक अतएव **प्राजापत्य** नाम से प्रसिद्ध–आभ्यन्तर–मानसकर्मात्मक कर्म सदैव तूष्णी–भाव के ही अनुगामी बने रहते हैं। अर्थात् आत्मबलोपेत–नैष्ठिक मानस सङ्कल्प एवं तन्निबन्धन–तथ्यपूर्ण कर्म दोनों ही वाणी के उद्घोष एवं प्रदर्शन से सर्वथा असस्पृष्ट ही बने रहते हैं। इत्थभूत सङ्कल्पों के तथा कर्म्मों के कर्ता नैष्ठिक आर्ष–मानवश्रेष्ठों की रहस्यानुगता तपोमयी सङ्कल्पनिष्ठा एवं कर्मनिष्ठा को बाह्यजगत् कदापि नहीं जान सकता। बाह्यजगत् तथाविध कर्मों के महान् फलो से ही समन्वित होता है। इसी आधार पर पुराणपुरुष भगवान् बादरायण ने कहा है कि— **महापुरुषों के आत्मानुगत सत्यसङ्कल्प को एवं तन्नुगत आत्मनिष्ठा-समन्वित कर्म्माध्यवसाय को कोई भी नहीं जानता जान सकता। अपितु उनके कर्म्म के महान् सुपरिमाणों से ही सर्वसाधारण–तद्भोगानुगति से परिचित हुआ करते है (महाभारत)।**

उक्त तथ्य के आधार पर ही **परोक्षप्रिया इव हि देवा–प्रत्यक्षद्विषः** –इस सुप्रसिद्ध निगमवचन का आविर्भाव हुआ है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा। अव्यक्तप्राणप्रधान–मनोवाग्गर्भित आधिदैविक देवताओं के प्राणनिबन्धन कर्म्मकलाप जैसे सूक्ष्मजगत् में सूक्ष्मरूपेणैव प्रक्रान्त रहते हैं वे प्राणदेवता जैसे अव्यक्तभावापन्न प्राणधर्म्म के अनुबन्ध से व्यक्त भौतिक मर्त्य जगत् से परोक्ष बने रहते हुए प्रत्यक्ष के लिए शत्रुवत् ही प्रमाणित होते रहते हैं ठीक वही स्थिति–देवोपम उन भूदेव–विद्वान् ब्राह्मणों की है जो लोक–जन–समाज के कलकलनिनाद से यथासम्भव आत्मपरित्राण करते हुए युगधर्म्म निबन्धना लोकसामान्य की दिग्देशकालानुबन्धिनी प्रत्यक्षप्रभावमूला–भावुकतापूर्णा–प्रदर्शनप्रवृत्ति से तन्निबन्धना लोकख्याति से अपने आपको सर्वथैव असस्पृष्ट बनाए रखते हुए गुहानिहितत्वानुबन्धिनी ऐकान्तिकी निष्ठा से परोक्षरूपेणैव अपने तत्त्वचिन्तनाचार में प्रवृत्त रहते हैं एवं प्रत्यक्ष से शत्रुता ही रखते हैं। ऐसे प्रणम्य एकान्तनिष्ठ आर्ष–भूदेवों की इत्थभूता नैष्ठिकी

प्रज्ञा ^ विनि सृता कृतियों से ही बाह्य–समाज अशत परिचित हुआ करता है। देवता परोक्षप्रिय होते हैं एव प्रत्यक्ष के शत्रु एतदक्षरार्थात्मक पूर्ववचन का यो आधिदैविक देवदेवताओं के साथ एव आधिभौतिक भूदेवों के साथ दोनो के साथ सम्बन्ध होरहा है।

प्रदर्शन की प्रवृत्ति ही मानवके द्रस्था आत्मनिष्ठा के सहज आत्मबल की शत्रु है यही उक्त स दर्भ का निष्कर्षार्थ है जिस का भगवान याज्ञवल्क्यने– मन और वाक के अहमहमस्त्वमूलक पूर्वाख्यान के माध्यम से ही स्पष्टीकरण किया है। वैयक्तिक–पारिवारिक सामाजिक अथवा तो राष्ट्रीय भेदभिन्न यच्चयावत् कर्म्मकलापो की पूर्ण–सफलता का यही प्राथमिक–मौलिक–रहस्य है कि कदापि तत्तत्कर्म्मानुबन्धी न तो मानव-सकल्पों की घोषणा की जाय एव न तत्तत् सकल्पानुगत–तत्तत् कर्मोंके अनुष्ठानकाल में उन की वाणी के द्वारा ही घोषणा (प्रदर्शन–पब्लिसीटी) की जाय। अपितु सत्यसकल्प और तदनुगत अध्यवसायात्मक नैष्ठिककर्म्म दोनों ही प्रक्रम सवथा तूष्णी ही स्वस्वरूपानुगतिपूर्वक स्वरूपसम्पादनाभिमुख बनते रहें। यही सफलता का प्रमुख द्वार है। जो व्यक्ति जो परिवार जो समाज अथवा तो जो राष्ट्र दिग्देशकालानुबन्धी–प्रत्यक्षभावों से भावुकतावश प्रभावित होता हुआ अपने मानस–सकल्पों की वाणी के द्वारा उच्चघोषणा आरम्भ कर देता है ऐसे निर्बल सकल्प से अनुगत निर्बल ही कर्म्माभास की भी सिद्धि से पूर्व ही घोषणाएँ आरम्भ कर देता है ऐसे व्यक्ति–परिवार–समाज एव राष्ट्र के सत्यसकल्प भी मिथ्या होजाया करते हैं एव कर्म्म भी सिद्धि सफलता से वञ्चित ही बने रह जाते है।

और दुर्भाग्यवश हमारे आज के भारतीय व्यक्तित्व परिवारत्व समाजत्व और राष्ट्रत्व नामक चारों ही व भाव (स्वरूपधर्म्म) अपने प्रत्येक सकल्प तथा सकल्पानुगत प्रत्येक कर्म की अभिव्यक्ति–स्वरूप–सिद्धि से पूर्व ही सर्वत्र–दिगदिगन्त में— हमारे ऐसे सकल्प हैं हमनें अबतक यह कर लिया है आगामी अमुक वर्षों की अवधि में हम अमुक समस्या का समाधान कर लेंगे अमुक योजना के द्वारा हमारे अमुक स्वप्न पूर्ण होजायगे इसप्रकार की तुमुल घोषणाएँ एव स्वाप्निक–सकल्पों के काल्पनिक प्रदर्शन परिव्याप्त कर देते हैं जबकि अन्य नैष्ठिक राष्ट्रों के प्रचार-सकल्प तथा कर्म्माध्यवसाय तत्सिद्धि के अनन्तर ही बोधगम्य बना करते हैं सो भी क्वाचित्करूपेणैव। सहजभावानुसार-सकल्प और कर्म्म से भी पूर्व उच्चघोषणाओं की आतुरता प्रदर्शनपरम्पराओं के प्रचार–प्रसार की व्यग्रता के दुष्परिणाम स्वरूप ही तो आज भारतराष्ट्र का वह अनिरुक्त–आत्मप्रजापति पराङमुख बन गया है इस के सकल्पों तथा कर्म्मों से जो अनिरुक्त प्रजापति अपने आत्मानुबन्धी प्राजापत्यबल का योगदान तभी करता है सकल्प तथा तदनुगत कर्म्म के प्रति जबकि मानव अपने सकल्प तथा कर्म्म को अनिरुक्तभावानुगत ही बनाए रहता है। क्योंकि प्राजापत्यकर्म्म की स्वरूप सम्पत्ति का एकमात्र प्रमुख द्वार वाक से असस्पृष्टा अनिरुक्तता ही उपांशुरूपता ही तूष्णीभाव ही माना गया है जैसाकि आख्यानोपसहार में स्पष्ट किया जाचुका है। यही प्रस्तुत मनो वागभावों के पारिभाषिक स्वरूप का सक्षिप्ततम सस्मरण विराम है।

* * * * *

(ख) प्रजापति से पराभूता आत्रयी वाक की अस्पृश्यता का सस्मरण—

मनोवाक की अहमहमूला प्रतिद्वन्द्विता में प्रजापति के द्वारा अवमानिता वाग्देवी के गर्भ का पतन होगया यह पूर्व सस्मरण में निवेदन किया जाचुका है। इसी प्रसङ्ग के माध्यम से आगे चल

कर श्र ति वाक के उस आत्रेय स्वरूप का भी स मरण करा रन्ी है जिसके सम्ब ध से श्रा मप्रजापति से बञ्चिता परि यक्ता वाक अत्रिरूप में परिणत होजाती है। परिणाम इस अत्रि का यही होता है कि श्रा म धम्म से (अनिरुक्त--प्राजाप य धम्म से) बहि कृता आत्रेयी वाक् श्रा मध मानुगत अभि यक्त--क्षेत्रों के लिए अस्पृश्या ही बन जाती है।

श्र तिने ऋतुमती स्त्री के उदाहरण के मा यम मे ही त वमूला उस अस्पृश्यता के वैज्ञानिक स्वरूप का विश्लेषण किया है जिस त वमूला अस्पृश्यता को भावुकतावश आज के मानव ने घृणामूला मान लिया है। एव न्स भ्रातिपूर्णा मा यता के कारण ही स्पृश्यता और अ पृश्यता को लेकर आज राष्ट्र की उ च-- प्रज्ञाओं में भी वैसा आपातरमणीय सघष प्रका त होपडा है जिसके परिणामस्वरूप त वमूला अस्पृश्यता के स्थान में घृणामूला अस्पृश्यता ही परोक्षरूपेण अनु न प्रवृद्धा होती जारही है। मानवप्रना ता विकी प्रकृतिसिद्धा स्थितियो के साथ युगध र्मानुब धी प्रवाह में प्रवाहित होती हुइ प्रतिद्व द्विता कर बैठती है तो प्रकृतिसिद्ध त थ प्रतिक्रिया के रूप में प्रचण्डवेग से प्रतिद्व द्वी को ल य युत ही बना दिया करते हैं। अवश्य ही कुछ समय मे त वमूला अस्पृश्यता ने घृणामूला अस्पृश्यता का स्थान ग्रहण कर लिया है जो कि घृणामूला अस्पृश्यता भारतीय--मानवध म के क्षेत्र से तदनुब धिनी मानवता के श्रा मानुब धी विशाल प्राङ्गण मे सव त्र बहि कृता ही मानी गइ है। एतावता ही त वमूला अस्पृश्यता को कदापि उपेक्षणीय नही माना जासकता। आज का भूतविज्ञानवादी भी अमुक--अशुच भावापन्न भावों पदार्थों मानवों के सस्पश को त वदृष्टया न सही कीटाणुदृष्टय तो अवश्य ही साक्रामिक मान रहा है और घृणामि श्रिता अस्पृश्यता से अनुगत भी। जबकि भारतीय मानवध म के क्षेत्र में-- **यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य** (गीता) के अनुसार तो घृणा -- उद्वेग आदि श दों का पवश भी निषिद्ध ही माना गया है।

ऋतुमती के उदाहरण से श्र तिने हमें त वमूला प्रकृतिसिद्धा उस अस्पृश्यता के मौलिक रहस्य से ही परिचित कराया है जिस का देवसमीकरणभाव के मा यम से ही त नाथ सम वय हुआ है। श्रा मरूप ज्ञानीय--स वगुण की प्रधानता सत्सृष्टिमूला--तमोगुणप्रधाना भूतभौतिकी धाम छदा-सृष्टि की प्रतिब धिका ही मानी गई है वदिक--विज्ञान के क्षेत्र में। श्रा मानुगत स वगुण की अभिभूति का अथ है श्रा मस व के साक्षात्--अनुग्रह से वञ्चित वाक तत्त्व। श्रा मभाव ही तो वाक का गभ (के द्र मह व) है। जब वह पूर्वाख्यान के अनुसार गिर जाता है अर्थात् श्रा मस व के साक्षात्--अनुग्रह से आकाशभूता मिका वाक वञ्चित होजाती है तभी स में तमोगुणा वित सत्सृष्टिलक्षण--सृष्टिध र्मानुगत प्रजननधम्म अभिव्यक्त होजाता है। वाङ मय धाम छ प्राण अपने ही तमोगुण से पारदशकता का प्रतिब धक बनता हुआ वाक को आत्रेयी बनाता हुआ इसे सृष्टिकम्म में प्रवृत्त करता है। ऋतुमती स्त्री के शोणित में प्रतिष्ठित तमो-- गुण बहुल वागत्रिरूप मलीमस भाव ही अभि क्त रहता है और यही काल प्रजजनकर्म्मानुगत गर्भाधान की पूवभूमिका माना गया है। क्योंकि वाङ मय धामच्छ मलीमस अत्रिप्राण श्रा मविरोधी है अतएव एकनुप्राणाभि यक्तिकालरूपा दिनचतुष्टयी पय्य त आत्रेयी योषित् **अस्पृश्या** मानी गई है जिस के स्पश से श्रुतिने पापवासना की अभि यक्ति मानी है। त वमूला अस्पृश्यता का यही वह ज्ज्वल त उदाहरण है जिसके

वैज्ञानिक समन्वय के अनन्तर किसी भी चिन्त्वितुट् प्रज्ञाशील को तो कोइ भी स देह नही रह जाता एव जिस इस वज्ञानिक उदाहरण का तस्मादपि आत्रेय्या योषिता एनस्वी इ यादि श्रुतिसन्दर्भ से स्पष्टीकरण न्यास हुआ है।

* * * * *

(ग) उच्छ्रितभावानुबन्धी तथ्य का प्रासङ्गिक सस्मरण—

वेदशास्त्रानुगता अमुक–शब्दावली की बहिरङ्ग अनुशीलनवृत्ति के आधार पर अपनी कल्पना–मात्र के माध्यम से वदिकयुगानुगता वैदिकी सभ्यता का उटपटाङ्ग (उटपटाँग) चित्रण करते रहने में परमकुशल प्रतीच्य विद्वानों की मान्यता को ही वेदवाक्य मान बैठने वाले गतानुगतिक भारतीय भी वेद के सम्बन्ध मे विचित्र विचित्र–प्रकार की कल्पनाओं को प्रश्रय देते देखे एव सुने गए हैं जिस का निष्कर्ष यही है कि वैदिकयुग तो एक वैसा ग्रामीणयुग था जिसमें सभ्यतायुगानुगत आज के वैज्ञानिक नियमोपनियमों का तो सस्मरण भी नही था। अग्नि में घृत पिष्टतण्डुल आदि डालकर अग्नि को प्रसन्न करना ही उन का यज्ञकर्म था तन्निमित्त–पशुबलि–जसे नृशसकर्म्म ही उन के उदरपोषण का प्रधान साधन था – इत्यादिरूपेण ऐसी ऐसी विचित्र विचित्र कल्पनाएँ वदशास्त्र के सम्बन्ध में एव तत्सिद्ध सृष्टिविज्ञान स्वरूप–विश्लेषणक यज्ञकर्म के सम्बन्ध सुनी जारही हैं जिन के आधार पर यही मान लेना पडता है कि सचमुच ही हम भारतीय आततायी–वर्गों की आक्रमणपरम्परा से अपना स्वरूप–बोध एकान्तत ही विस्मृत कर बैठे हैं। स्वय अपने घर की मौलिकता देखने की दृष्टि ही हम से छिन गई है। अतएव अ धबधिररूपेण सुदीर्घ समय से हमारी आखें और हमारे कान प्रतीच्य–जगत् के वे राजनीतिकुशल विद्वान् ही बनते आरहे हैं जो बल पूर्वक यहाँ के सवस्व को ही अवज्ञानिक असभ्यता परिपूर्ण एव वहा के सवस्व को ही सवथैव वैज्ञानिक एव सभ्यता पूर्ण घोषित करते रहते हैं।

पूर्वाघारोत्तराघारकर्म्म नामक यज्ञियकर्म प्रधानभूत यज्ञकर्म्म का एक सामान्य सा अङ्गकर्म्म है। इसके प्रसङ्ग से भी यज्ञकर्म्म स्वरूप विश्लेषक ऋषि ने बैठने उठने जसे सामान्य से कर्म्म के अनुबन्ध से भी जो तात्त्विकी शिक्षा हमें प्रदान की है उसे देखते हुए तो यही कहना पडेगा कि सचमुच हमने अपनी दृष्टि और श्रुति को परायत्त बना कर अपनी मौलिकता को सर्वथा ही विस्मृत कर लिया है।

पूर्वाघार जहा बठे बैठे किया जाता है वहाँ उत्तराघार खडे होकर किया जाता है। ऐसा क्यों? शरीरयष्टि निबन्धन प्राण की स्वरूप स्थिति के माध्यम से ऋषि ने इस प्रश्न की जो स्वरूप मीमासा की है उसे देख-सुन कर क्षणमात्र के लिए हमारी दासानुदास प्रज्ञा सहसा स्तब्ध ही होजाती है। क्या यज्ञकर्म्म ऐसा महत्त्वपूर्ण कर्म है? क्या वेदशास्त्र के महार्णव में वैज्ञानिक तथ्यों के द्वारा हमारे व्यक्तिक पारिवारिक सामाजिक तथा राष्ट्रीय उत्कर्षों के इत्थभूत प्रासङ्गिक सूत्रों का भी स्वरूपबोध हमें प्राप्त होता रहता है?। आश्चर्य्य! महान् आश्चय्य !!

आज के सुसभ्ययुग में जब किसी सैनिक के शरीर को हम सीधा-तना हुआ खड़ा देखते हैं तो अन्त जगत् में प्रश्न खडा होजाता है कि क्या उस वैदिकयुग में भी हमारे भारतराष्ट्र के कर्मठ सैनिक आदि इसी प्रकार सीधे तन कर-सशक्त-मुद्रा में सदैव सन्नीभूत रहते थे?। प्रस्तुत उत्तराघारकर्म्म इसी प्रश्न का अहित रूप में हमारे सामने समाधान प्रस्तुत कर रहा है जिसका प्रमुख सूत्र है— उच्छ्रितमिव हि वीर्य्यम्।

उदाहरण भी सेना के अनुबन्ध से ही सम्बन्ध रख रहा है। दक्षिण की ओर से असुर और राक्षस जब आक्रमण करते थे तो अपनी सुप्रसिद्धा मारुति सेना के साथ देवेन्द्र हरिवाहन ही सन्नीभूत होकर उनको पराभूत करते रहते थे। दक्षिणदिगनुगत उत्तराघारक मे उसी का नैदानिक स्वरूप है। सेना से युक्त इन्द्र सर्वथा तन कर सन्नीभूत होकर प्राणवती मुद्रा से ही दुष्टबुद्धि असुरों का संमुख्य करते रहते थे अतएव इस यज्ञकर्म्म में भी उस प्राणवती मुद्रा में तन कर खडे होते हुए ही उत्तराघारक म सम्पन्न होता है।

सीधे तन कर खडे होने से मानव के शरीर में वीर्य की अभिव्यक्ति कैसे और क्यों होजाती है? इस प्रश्न का विशद समन्वय तो तद्भाष्य में ही देखना चाहिए। प्रकृत म सन्दर्भ--सङ्केतमात्र के लिए यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि मानव के चित्याग्निरूप पाञ्चभौतिक शरीर का स्वरूप निर्माण जिस मौलिक प्राण के छन्दोमय धरातल पर होता है वह मौलिक प्राण— **सप्तर्षिप्राण** नाम से प्रसिद्ध है जिसके ४ २ १ ये तीन संस्था विभाग माने गए है जो क्रमश **चत्वार आत्मा द्वौ पक्षौ पुच्छं प्रतिष्ठा** नाम से प्रसिद्ध है। न केवल मानव ही अपितु प्राणिमात्र किंवा चर अचर-यच्चयावत् भूतभौतिक चित्य पदार्था का मूलाधार भूत सप्तप्राणमूर्त्ति यही वह छन्दोमय सूक्ष्म आकार है जिसमें भूतचिति होजाने से ही तत्स्वरूप की भूतरूप में अभिव्यक्ति होजाती है।

चत्वार आत्मा रूपा प्राणचतुष्टयी से मानव का मध्याङ्ग बनता है जिसे धड कहा जाता है। वाम हस्त वाम चरण दोनों का युग्म एक पक्षप्राण से एव दक्षिणहस्त चरणरूप युग्म एक पक्षप्राण से सम्पन्न होता है। शेषभूत पुच्छप्रतिष्ठाप्राण से त्रिकास्थिमूल की स्वरूपाभिव्यक्ति होती है। त्रिकास्थिगत पुच्छप्रतिष्ठा प्राण ही मानव के किंवा प्राणिमात्र के उस मेरुदण्ड की मूलप्रतिष्ठा है जिस मेरुदण्ड का स्वरूप खगोलीय विषुवद्वृत्त से ही सम्पन्न हुआ करता है। वस्तुस्थिति तो वास्तव में यह है कि द्यावापृथिव्य-सौर पार्थिव सम्वत्सर त्रयी की समष्टिरूप महान् संवत्सर ही वह महान् सुपर्ण है जिसके चत्वार आत्मा आदि सप्तावयव हैं। महासुपर्णरूप उस आधिदैविक सौर संवत्सर से ही पार्थिव प्रजा का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। उसका विषुवद्वृत्त ही प्राणियों का मध्यस्थ मेरुदण्ड बनता है जिसे लोकभाषा में— **रीढ की हड्डी** कहा गया है। यह अस्थि त्रिकास्थि से उपक्रान्त होकर अर्वाग्बिल ऊर्ध्वचमस नामक पारिभाषिक शिर कपाल--पर्यन्त अभिव्याप्त है। इस मेरुदण्ड का सन्तनन ही शरीर को सीधा तना हुआ रखता है जोकि सन्तनन मेरुदण्डोपसंहारात्मक त्रिकास्थिप्राण से ही अनुप्राणित है। प्रकृतिसिद्ध वार्द्धक्य ही त्रिकास्थिगत पुच्छप्रतिष्ठाप्राण को मूर्च्छित कर दिया करता है जिसके कारण ही वार्द्धक्य में मेरुदण्ड वक्रित होजाता है। तदतिरिक्त पक्षाघातादि रोगविशेषों के कारण एव प्रचण्डतम शारीरिक-मानसिक बौद्धिक श्रम परिश्रमानुगत सत्र के कारण भी तत्प्राण असमय में भी मूर्च्छित होजाता है फलत शरीरयष्टि अवनता होजाती है। इसी प्रतिष्ठाप्राण के कारण क्योंकि शरीर यष्टि ऋजुभावेन सन्तता रहती है अतएव प्राणात्मक इस सन्तननधर्म्म को श्रुतिने **उच्छ्रितमिव हि वीर्य्यम् भवति** रूपेण– **वीर्य्यम्** उपाधि से समन्वित माना है।

श्रुति का **वीर्य्य** शब्द भी अपना एक विशेष महत्त्व रख रहा है। वैज्ञानिकी परिभाषाओं से अनुप्राणित शब्दों के पारिभाषिक चिरन्तन इतिवृत्तों की बोधपरम्परा के विलुप्तप्राय होजाने से आज सभी शब्द **सभी धान पसेरी** न्याय को चरितार्थ कर रहे हैं। और इसीलिए आज **उत्साह पराक्रम बल-वीर्य्य साहस** आदि शब्द समानार्थक ही मान लिए जारहे हैं जबकि विज्ञानदृष्ट्या ये सभी शब्द विभिन्न विभिन्न अर्थों के ही स्वरूप सग्राहक बने हुए है। उदाहरण के लिए **बल वीर्य्य पराक्रम** इन तीन शब्दों को ही लक्ष्य बनाइए। अवश्य ही मानवीय भूतात्मा की दृष्टि से इन तीनों ही शब्दों को आत्मानुबन्धी माना जासकता है एवं इस

आत्मसाम्यदृष्टया तीनों को परस्पर पर्य्याय भी मान लिया जासकता है एक दूसरे का। किन्तु आ मानुगत कलाभेद की दृष्टि से तो तीनों को सवथा विभिन्नाथक ही माना जायगा। स वा एष आ मा वाङ्मय प्राणमय मनोमय इ यादि बृहदारण्यक श्रुति के अनुसार मानव का भूता मा मन प्राण वाङ्मय बना रहता हुआ ज्ञान क्रिया अथ शक्तित्रयी की समष्टिरूप है। ज्ञानशक्ति युक्त मन के साथ ही पराक्रम का सम्बन्ध है क्रियाशक्ति-युक्त प्राण के साथ ही वीय्य का सम्बन्ध है एव अर्थशक्ति युक्ता वाक् के साथ ही बल का सम्बन्ध है

क्या तात्पर्य्य ? । तात्पर्य्यार्थ सम वय के लिए हमें तीन विभिन्न उदाहरणों का ही अनुगमन करना पड़ेगा। तभी स्थिति का पारिभाषिक सम वय सम्भव बन सकेगा। मानव सिंह और गज इन तीनों को लक्ष्य बनाइए। तीनों में ही यद्यपि मन प्राणवाङ्मय भूता मा प्रतिष्ठित है। किन्तु तीनों में क्रमश मन प्राण वाक् रूपा ज्ञान क्रिया अर्थ शक्तियों की क्रमश प्रधानता है। अर्थात् त्र्यात्मक भी मानव मन प्रधान बनता हुआ ज्ञानशक्ति प्रधान है। त्र्या मक भी सिंह प्राण प्रधान बनता हुआ क्रियाशक्ति प्रधान है। एव त्र्यात्मक भी मत्तगजराज वाक्प्रधान बनता हुआ अथशक्ति प्रधान है। मन प्रधान मानव आ म प्रधान है प्राणप्रधान सिंह प्राणप्रधान है एव वाकप्रधान गजराज शरीरप्रधान है। पर के आक्रमण से सम्बन्ध रखने वाला आ म निब धन ज्ञानबल ही पराक्रम है जो कि मानव में विशेषरूपेण अभि यक्त है। प्राणनिबन्धन क्रियाबल ही वीय्य है जो कि सिंह में विशेषरूपेण प्रस्फुटित है। एव वाग्निब धन अथबल ही बल है जो कि गजराज में विशेषरूपेण चीयमान है यों मानव सिंह गज तीनों में क्रमश पराक्रम वीय्य बल तीन बल विभक्त देखे जासकते हैं।

शारीरिक बल ही बल है जिसका उदाहरण शरीरधर्म्मा वह गजराज ही बना हुआ है जो यदि सिंह पर अपना भार रखदे तो सिंह सवथैव पि दावस्था में परिणत होजाय। किन्तु शारीरिकबलरूप बल की अपेक्षा क्योंकि प्राणबलरूप वी य विशेषरूपेण अतिशय रखता है। अतएव शरीरत बलवान् भी गजराज को वीय्यशाली सिंह परास्त कर दिया करता है। और मानव ? । वह तो सिंह के गज नश्रवण मात्र से ही विकम्पित होपड़ता है। किन्तु परानुगत आक्रमण धर्म्मा मक पराक्रमरूप मनोबल के द्वारा ऐसा विकम्पित भी मानव कौशलपूवक वीर्य्यशाली सिंह को भी पञ्जरबद्ध कर देता है एव बलशाली गजराज को भी अपना वाहन बना लेता है। और यही आ मबलाभि यक्ति व निब धना वह श्र ष्ठता है जिसके आधार पर अ य प्राणियों के समतुलन में भगवान यास को कहना पड़ा कि— न हि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित् ।

निवेदन निष्कर्ष यही है कि त्रिकास्थिगत पुच्छप्रतिष्ठा मक धर्म्म क्योंकि— प्राणप्रधान है प्राण के साथ ही क्योंकि वीर्य्य नामक बलविशेष का सम्ब ध है यह प्राणनिब धन वीर्य्य ही मानव की शरीरयष्टि को ऋजुभावेन क्योंकि उच्छ्रितभाव में परिणत रखता है और यह स तननधर्म्म ही अ यवसायनिष्ठ मानव की कर्म्मसफलता का क्योंकि अन्यतम आधार है इन्हीं स पूण त यों को अपने पारिभाषि क गभीरतम अथ से अभि व्यक्त करता हुआ श्रुतिका उच्छ्रितमिव हि वीय्यम् यह वचन वैदिकसाहि य के अ य त उपादेय स्वयुगानुब धी-मह व की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है इसी सस्मरण के साथ १६ २ कर्म्मानुब धी यह प्रक्रा त निदशना मक सस्मरण उपरत होरहा है।

(१६–२०)–१०–११–

* * * * *

श्री

[२१]—'प्रवरणकर्म्म'-प्रसङ्गत युगधर्म्मनिबन्धन 'अधिकार' शब्दानुगत किञ्चिदिव-सस्मरण

१२

———*———

पूर्वोत्तराघारकम्मद्वयी के अनन्तर क्रमप्राप्त उस प्रवरणकम्म का स्थान आता है जिसमें आर्षेयप्रवरण दिव्याग्निवरण आषयवरण अग्नि-ब्राह्मणानुग्रहप्राप्ति मानुषहोतृवरण स्वस्त्ययनजप भेदेन अनेक आवान्तर क्र वथ कर्म्मों की वैज्ञानिकी उपपत्ति का पारिभाषिक समन्वय-प्रयास हुआ है। उनमें से विस्तारभिया अत्र सस्मरणरूपेण अधिकार शब्द माध्यमेन किञ्चिदिव निवदन कर दिया जाता है।

प्रवरणकम्म का फलितार्थ है वह यज्ञाधिकार-समर्पण जिस अधिकार शब्द को लेकर आज के समाजवादी मानवश्रेष्ठ ने भारतीय विभक्त-अधिकारभाव के विरुद्ध सर्वथैव प्रतिद्वन्द्विता स्थापित कर रक्खी है। प्रवरणकर्मानुबन्ध से उस अधिकार शब्द के माध्यम से ही हमें सर्वप्रथम दो शब्द निवेदन कर देने है। अधिकार शब्द जब मानव के कामार्थभोगप्रधान मन शरीररूप प्राकृतभाग से ही अनुगत बना रहता है तब तो यही अधिकार व्यक्तित्वविमोहन का कारण बनता हुआ लोक वित्तादि एषणाओं की लिप्सा लालसा के माध्यम से मानव के सर्वनाश का ही कारण बन जाता है। एवं ठीक इसके विपरीत यही अधिकार शब्द जब मानव के मोक्षधर्म्मप्रधान आत्मबुद्धिरूप पौरुषभाग से अनुगत बन जाता है तो उस दशा में यह अधिकार अधिकार न रह कर महान् उत्तरदायित्त्व के रूप में ही परिणत होजाता है। और उत्तरदायित्वपूर्ण आत्मबुद्धिनिबन्धन पुरुषभावानुबन्धी ऐसा अधिकार व्यक्ति त्वविमोहन से असंस्पृष्ट रहता हुआ अतएव तदनुगत मानवश्रेष्ठ को लोकैषणा वित्तैषणादि वञ्चनाओं से परापरावृत रखता हुआ मानव के आत्मस्वरूपाभिव्यक्ति स्वरूप उस महान् नैष्ठिक व्यक्तित्व का ही पोषक बन जाता है आत्मबुद्धि-निबन्धन जो मानवीय महान् व्यक्तित्व आत्मसाम्य से अनुगत रहता हुआ विश्वमानवीय-व्यापक व्यक्तित्व से सर्वथैव अभिन्न प्रमाणित होजाता है।

आत्म बुद्धि के नियन्त्रण से नियन्त्रित मन शरीरात्मक प्राकृतभाव से समन्वित भारतीय मानव की प्रकृतिसिद्धा प्रकृतिभेदभिन्ना अधिकार व्यवस्था का मूलाधार लोकैषणा वित्तैषणानुगत मन -शरीरनिबन्धन-व्यक्ति त्वविमोहरूप अधिकार न हो कर सर्वैषणाविनिर्मुक्त आत्मबुद्धिनिबन्धन आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्वरूप वह महान् उत्तरदायित्त्व ही है जिस उत्तरदायित्वपूर्ण इत्थंभूत आत्मबुद्धिनिबन्धन-अधिकारभेद के आधार पर ही ऋषिप्रज्ञा के द्वारा प्रकृतिसिद्ध-विभक्त-वर्णभेद के माध्यम से तत्तत् विभक्त ज्ञान-कर्म्म-अर्थ-भावों का विभाजन हुआ है जिस इसप्रकार के उत्तरदायित्वपूर्ण प्रकृतिसिद्ध विभक्त अधिकारभेद को सर्वथैव सदा ही विज्ञानसम्मतत्त्वेन शाश्वतीभ्य समाभ्य अर्थात् सदा सदा के लिए ही उपयोगी ही माना जायगा।

अवश्य ही अज्ञानतावश अमुक समय से भारतीय वर्णमानवोंने अधिकार शब्द की उत्तरदायित्वपूर्णा तथाविधा विज्ञानसिद्धा यत्नता की उपेक्षा कर लोक विषयासक्ति के द्वारा मन शरीरानुगत व्यक्तिवविमोहनरूप प्राकृतिक उस अधिकार को ही अपना लक्ष्य बना लिया है जिस उत्तरदायित्वशून्य अतएव सर्वविनाशक ऐसे अधिकार के कारण ही अमुक समय से अधिकार शब्द को लेकर सभी भारतीयों में परस्पर आक्रोशात्मिका अनर्थकारिणी अहमहमिका ही उपक्रान्त होपड़ी है। व्यक्तिवविमोहनात्मक ऐसी अधिकारलिप्सा से सर्वप्रथम पतन हुआ ब्राह्मण का तदनन्तर क्षत्रिय का आगे चलकर वैश्य का एवं आज शूद्र महाभाग ही विशेषरूपेण इसी विमोहनात्मिका कामासम्प्रधाना मन शरीर निबन्धना अधिकारलिप्सा के उस भीषण दुस्तर पङ्क में निमग्न होते जारहे हैं जिस पङ्क में पतित वैश्य क्षत्रिय ब्राह्मण नाम की पूर्वपरम्परा त्रयी सर्वथैव निमज्जित होती हुई एक प्रकार से अपना बाह्य परिचयात्मक वर्णस्वरूप ही विस्मृत कर बैठी है,

यही अवस्था किंवा दुरवस्था भावुकतानुगत उस नारीसमाज की है जो आज अधिकारलिप्सु तथाविध व्यक्तित्व विमोहनानुगत मानवमहाभागों की सर्वनाशकारिणी प्रेरणा से काल्पनिकी अधिकार घोषणा में निमग्न रहता हुआ अपने सहज सौम्य वात्सल्यपूर्ण मातृत्व जैसे महतोमहीयान् सर्वाराध्य पद को ही विकम्पित करता जारहा है। भारतीय वर्णप्रजा में ही यह संघर्ष हो यह बात नहीं है। अपितु साङ्क्रामिकी जनपदविध्वंसिनी महामारी (प्लेग) की भांति यह **अधिकारलिप्सा** व्यक्तिवविमोहनात्मक अधिकारलिप्सु छोटे बड़े आबाल वृद्ध-वनिता आदि सभी वर्गों में उसप्रकार वैसा सङ्क्रमण कर बैठी है जिसके कारण ही सभी अहर्निश **हमारा अधिकार हमारा अधिकार** का चीत्कार करते हुए स्वोत्तरदायित्वपूर्णा कर्त्तव्यनिष्ठा से सर्वथैव पराङ् मुख प्रमाणित होते हुए अधिकारलिप्सानुगत कामार्थभोगों की ओर ही अन्धवधिर रूपेण अनुधावन करते जारहे हैं।

घोषणाएं प्रतिक्षण होरही हैं **मानवता मानवधर्म्म समानता विश्वबन्धुत्त्व** आदि आदि लोकोत्तर आकर्षक शब्दों की। किन्तु प्रत्येक घोषणा के मूल में दृढतमरूपेण पुष्पित पल्लवित होती जारही है व्यक्तित्व विमोहनमूला वैय्यक्तिकी--अधिकारवासना। कैसा है यह आज का भारतीय--जनजीवनप्रवाह जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी ज्ञान कर्म्म निष्ठा से एकान्तत पराङ् मुख बना रहता हुआ केवल अधिकार अधिकार का ही चीत्कार करता जारहा है जिस इस अकर्मण्य भावानुबन्धी ज्ञानसम्पत्ति-वञ्चित आधिकारिक चीत्कार का कहां अवसान होगा? प्रश्न सचमुच ही उत्तरोत्तर असमाधेय ही प्रमाणित होता जारहा है।

उक्त-- **अधिकारचीत्कार** को लेकर ही आज वेदशास्त्र के अध्ययनाध्यापन तथा यज्ञकर्म्मानुगति के सम्बन्ध में भी अनेक प्रकार के विसंवाद अभिव्यक्त होपड़े हैं तथाविध अधिकारलिप्सु वर्ग की ओर से ही जिस तथाभूत आक्रोश का आधारसूत्र है स्त्री शूद्रो नाधीयाताम् यह सुप्रसिद्ध शास्त्रीय पूर्ण-परीक्षित--वैज्ञानिक-सिद्धान्त। ईश्वरीय सृष्टि में जब सभी समान हैं तो यह पक्षपात क्यों? एकमात्र इसी तर्क के आधार पर अधिकारवादियों का तथाभूत आक्रोश उपजीवित है जिस इस तर्काभासरूप तर्क का इसलिए इस प्राकृत जगत् में यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है कि विषमवर्त्तिनानुगता प्रकृति से सञ्चालित द्वन्द्वात्मक भौतिक--विश्व की जीवनधारा त्रिगुणभावापन्ना बनी रहती हुई सर्वथा विभिन्न वर्त्तन परम्पराओं से ही सञ्चालित रहती है जिस इस महान् वैज्ञानिक प्राकृतिक--तत्त्व के विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं है।

अधिकार किसी को न तो दिया ही जासकता न किसी का अधिकार अपहृत ही किया जासकता। हा जो जिसमें प्रकृ यत्र अनधिकृत है वह यदि बलपूर्वक उस ओर प्रवृत्त होना चाहत है तो उसके सहजसिद्ध प्राकृत-स्वरूप के सरक्षण की माङ्गलिक कामना से ही उसे अनधिकृत तथ्यों से रोक दिया जाता है। यदि वह नही रुकता तो अनधिकृत में तो उसे सफलता नही ही मिलती। प्रत्र्यनुगत अधिकृत स्वरूप वह और खो बैठता है। एव एकमात्र इसी आधार पर भारतीया अधिकारमर्य्यादा किंवा उत्तरदायि व यवस्था यवस्थित हुई है जिसकी प्राकृतिक-का पानक- साम्य के आवश में आकर आज हम सवथव उपेक्षा करते जारहे हैं। स्त्री और शूद्रवत् वसे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य बन्धु भी तो शास्त्र के द्वारा वेदस्वा याय में सवथा अनधिकृत ही घोषत हुए हैं जो कभी वदशास्त्र के अ ययन सम्पक में आए ही नही अपितु जो ज म से ही अ यान्य लौकिक अनुब धों में ही आसक्त यासक्त बने रहते है। सस्कारशून्य ऐसे द्विजाति को ही शास्त्रने द्विज न कह कर नि दा के रूप से द्विजब धु उपाधि से समलङ्कृत किया है। एव सस्कारशू य ऐसा त्रवर्णिक भी जब वदस्वा याय एव यज्ञादि कम्म में अयोग्यतावश अनाधकृत है * तो स्त्री शूद्र से अनुगता अनधिकृतता के सम्ब ध में तो इसलिए प्रश्न ही नही उठता कि इनका प्रकृतिसिद्ध मूलप्राण अत्रि और पूषा नामक उस पार्थिव प्राणद्वयी से ही अनुप्राणित है जिसके तमोगुणबहुल सृष्टयनुब धी स्वरूप के विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं हैं एव जिसके लिए तो स्वत त्र-अ ययन ही अपेक्षित माना जायगा।

स्त्री शूद्र द्विजब धु नामक वग भी वेदसिद्ध महान् फल से वञ्चित न रह जायें इसीलिए तो परम कारुणिक भगवान् बादराय। के द्वारा पुराणशास्त्र का आविर्भाव हुआ है जिसके रहस्यपूर्ण आख्यानो पाख्यानों की गभीराथता का किञ्चिदिव सस्मरण आवदन के आर भ में ही किया जाचुका है। वेद और वेदसिद्ध जटिलतम विज्ञान-स्तुति इतिवृत्त ज्ञान-कम्म उपास्ति जसे अ य त दुरधिग य-ज्ञातव्य कत्त या मक विषय षट्क से सुविभूषित वेदशास्त्र जैसे ग भीर शा त्र के अधिकार की बात तो जाने दीजिए। हम तो समझते है आज तो पुराणशास्त्र के त वसम वय की भी क्षमता स्त्री शूद्र द्विजब धुवग में तो क्या विद्या का गव रखने वाले विद्वानो को भी एक बार तो शङ्कातङ्कितमानस ही प्रमाणित कर देगी। ऐसा है ज्ञान शैथि य का आज का युग और उस युग का वसा है वह अधिकारघोषणापत्र जिसकी यातयामता में कुछ भी तो स देह नही किया जासकता। जिसप्रकार केवल आ दोलनों के लिए प्रतिक्षण विलक्षण विलक्षण साजस जाओं प्रदशनो घोषणाओं से समलङ्कृत सुविभूषित आविर्भू त होते रहने वाले आज के भावुकतापूर्ण आन्दोलन आ दोलन मात्र पर ही अपनी जीवनलीला समाप्त करते रहते हैं। ठीक वही अवस्था उत्तरदायि वशू य अतएव निता त भावुकतापूर्ण उस अधिकारघोषणा की होरही है जो अधिकारघोषणा कालान्तर में अधिकारघोषणा मात्र पर ही विश्राम ग्रहण करती जाती है साङ्क्रामिकी या ि की भाति आगे की घोषणा मात्र को ज म देती हुई ही। और यों अधिकारलि सु मानव का एव मानवी का समस्त जीवन केवल इस घोषणाओं के आविर्भाव तिरोभाव में ही परिसमाप्त होजाता है उत्तरदायि वपूर्णा अधिकारभेदभिन्ना नियता ज्ञान-कर्म्मानुगति से परा परावत ही बना रहता हुआ।

*-स्त्री शूद्र-द्विजब धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।

प्रस्तुत प्रवरणब्राह्मण आ॑यप्र रग के मा यम से ऋषिवंश परम्परा का स्पष्टीकरण करता हुआ यज्ञाधिकार निब धन उस महान् उत्तरदायि व का ही वैज्ञानिक स्पष्टीकरण कर रहा है जिस का **गोत्रभाव** से ही स ब ध माना गया है एव जिस गोत्रभाव का परिचायक नैदानिक चिह्न ही **प्रवर** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। त सम्ब ध से ही तद्ब्राह्मण **प्रवरब्राह्मण** कहलाया है।

म त्रब्राह्मणा मक वेदशास्त्र के अध्ययनाध्यापन में तथा विधिसिद्ध–दि यभावापन्न यज्ञक र्मों में उत्तरदायि वपूर्ण अधिकार की दृष्टि से अधिकृत द्विजाति यजमान ही तो यज्ञकर्म्म के लिए दीक्षा ग्रहण कर सकता है एव तथाविध अधिकारी द्विजाति ही दक्षिणा द्र यमा यमेन–यज्ञकम्म का **होता अध्वर्यु उद्गाता ब्रह्मा**–आदि भेदभिन्न आर्वि यक र्म में अधिकार ग्रहण कर सकता है। अमुक यजमान के अमुक यज्ञकम्म के लिए अमुक ब्राह्मण अपनी ऋषिगोत्र–मर्य्यादानुबन्धिनी–वंशमर्य्यादा से अधिकृत है इस त य के सम वय से सम्ब ध रखने वाला कम्मविशेष ही आश्रावण कर्म्म है।

मानव की अध्या मसंस्था में हमनें **आ मा बुद्धि मन शरीर** ये चार पर्व बतलाए हैं। इन में तुरीय–आ मा तो दिग्देशकालातीत तत्त्व है। अतएव वह गोत्र वर्ण-जाति आदि भावों से अतीत है जैसाकि – **अगोत्रमवर्णम्** इ यादि औपनिषद स दर्भ से स्पष्ट है। शेष रह जाते हैं **बुद्धि मन शरीर** नामक तीन पर्व जिनका क्रमश प्रकृति के **सूर्य्य च द्रमा पृथिवी** नामक उन सुप्रसिद्ध तीन पर्वों के साथ ही क्रमिक–सम्ब ध है जो तीनो प्राकृत पव क्रमश **काल दिक्–देश** भावों से अनुप्राणित है जैसाकि पूर्व में भी यत्र तत्र स्पष्ट किया जाचुका है।

काला मक कालसाक्षी सूर्य्य ही बुद्धि का प्रवर्त्तक है दिगा मक–दिक्साक्षी च द्रमा ही मन का आरम्भक है एव देशा मक–देशसाक्षी भूपिण्ड (पृथिवी) ही शरीर का उपादान है। यों मानव के बुद्धि मन शरीर रूप तीनों विभिन्न धर्म्मा प्राकृतपव काल दिक देश धर्म्मानुगत सूर्य्य च द्र–भू पिण्ड से ही अनुप्राणित हैं। अतएव आ मदृष्टया जहा मानव अप्राकृत **दिग्देशकालातीत लोकातीत–मानव** है वहाँ बुद्धि मन–शरीर दृष्टि से वही लोकानुगत प्राकृत मानव **दिग्देशकालानुगामी–लोकमानव** है। प्राकृतिक मानव के प्रकृतिसिद्ध ये तीनों बुद्ध्यादि पव जिस महती प्रकृति से अनुगृहीत हैं उसे ही– **महत्प्रकृति** कहा गया है जिस के कि सुप्रसिद्ध षड्विवर्त्तों की ओर ही एक विशेष दृष्टिकोण के सम वय के लिए उदाहरण–प्र मियो का यान आकर्षित किया जारहा है।

महत्प्रकृति के आधार पर ही क्योंकि आ मपुरुष नामक चिदा मा गर्भ धारण करते हैं अतएव इस महत्प्रकृतिरूप इस महान् को चिदा मा की योनि (गर्भभूमि) कहा गया है जिसके माध्यम से ही आप्य–वाय य–सौम्य–रूपा–त्रिविधा–जीवसृष्टि की अभि यक्ति हुई है। महत्प्रकृतिरूप **महान्** वह पारमेष्ठ्य आपोमय–त व है जो आप त व **घन तरल विरल** भेद से **आप वायु सोम** इन तीन रूपों में विभक्त रहता है। क्योंकि पारमेष्ठ्य महान् का भागव आग्यरूप त्रिभावापन्न है अतएव जीवसर्ग **आप्यजीव, वाय यजीव सौम्यजीव** भेद से तीन ही प्रमुख श्र णियों में विभक्त रहता है।

जीवत्रयी का अभि यञ्जक चिदा मा को स्वगर्भ म प्रतिष्ठित रखनेवाला **महान्** **महत्प्रकृतितत्त्व** वह महतोमहीयान् ग्रह है जिसके चारों ओर सूर्य्य–च द्रमा भूपिण्ड स्व स्व **अयन वृत्त–क्रान्ति–नामक** वृत्तों पर परिक्रमा लगाया करते हैं। जिसप्रकार च द्रमा अपने दक्षवृत्त के आधार पर भूपिण्ड के चारों ओर परिभ्रममाण है स्वाक्ष पर परिभ्रमणशील भूपिण्ड अपने क्रान्तिवृत्त के आधारपर सूर्य्य के चारों ओर परिक्रममाण

है एवमेव सूर्य्य अपने अयनवृत्त के आधारपर आपोमय पारमेष्ठय महान् के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। चान्द्री परिक्रमा जसे मासात्मिका है पार्थिवी परिक्रमा जसे वर्षात्मिका है एवमव सौरी परिक्रमा पञ्चविंशति–सहस्रवर्षात्मिका मानी गई है। इस परिक्रमात्रयी का नाम ही है **दशपूर्णमास** नामकी सुप्रसिद्धा नित्यसिद्धा वह यज्ञप्रक्रिया जिसके आधारपर ही मानवकृत वध उस दशपूर्णमासयज्ञ की इतिकर्त्तव्यता का **शतपथ के प्रथमकाण्ड** में सोपपत्तिक निरूपण हुआ है जिस के प्रवराश्रावणकर्म्म के प्रसङ्ग से ही यह परिभ्रमण चर्चा उपक्रान्त होपड़ी है एक विशेष तथ्य के समन्वय के लिए ही।

सूर्य्य–चन्द्र भू के परिभ्रमणरूप दशपूर्णमास से ही पारमेष्ठय महान् में किंवा तद्रूपा महत्–प्रकृति में क्रमश **अहंकृति प्रकृति आकृति** नाम की प्रथमा **प्रकृतित्रयी** एव **सत्त्व–रज–स्तमो** नाम की द्वितीया **गुणत्रयी** रूपेण षट् विवर्त्त अभिव्यक्त होजाते हैं। ज्ञानशक्तियुक्त कालात्मक सूर्य्य के परिभ्रमण से महान् में **अहङ्कृति** नामक प्रकृतिभाव एव **सत्त्वगुण** नामक गुणभाव अभिव्यक्त होता है। क्रियाशक्तियुक्त दिगात्मक चन्द्रमा के परिभ्रमण से महान् में **प्रकृति** नामक प्रकृतिभाव एव **रजोगुण** नामक गुणभाव प्रस्फुटित होता है। एव अर्थशक्तियुक्त देशात्मक भूपिण्ड के भ्रमण से **आकृति** नामक प्रकृतिभाव एव **तमोगुण** नामक गुणभाव प्रकट होता है। यो परिक्रमा–त्रयीरूपा दशपूर्णमासात्मिका यज्ञप्रक्रिया से महत्प्रकृति–षड्भावापन्ना बन जाती है। और यही मानव के महत्प्रकृतिमूलक समस्त स्वरूप का संक्षिप्ततम वह चिरन्तन इतिवृत्त है जिसे आत्यन्तिकरूपेण विस्मृत कर दने के दुष्परिणामस्वरूप ही आज के दिग्देश–कालविमुग्ध मानव के लिए भारतीया तत्त्वमूला **गोत्र वर्ण–जाति**–व्यवस्था सवथव मीमांस्या ही प्रमाणित होरही है।

भारतीय प्राकृतिक विज्ञान मानव को जन्मत ही जिन तीन ऋणो से अधमर्ण (ऋणी–कर्जदार) मानता आरहा है वे ही तीनो ऋण क्रमश **ऋषिऋण पितृऋण देवऋण** इन नामो से सुप्रसिद्ध हैं जिन का सुविशद वैज्ञानिक–विवेचन स्वय शतपथभाष्य में ही द्वितीयकाण्ड में **त्रिभिर्वा ऋणवाञ्जायते** इत्यादि रूपेण स्वतन्त्ररूप से होने वाला है। प्रकृत में यही वक्तव्य है कि तीनों ऋण क्रमश ज्ञान–क्रिया अर्थ–प्रधान **ऋषिप्राण देवप्राण पितृप्राण** इन त्रिविध प्राणो से ही अनुप्राणित हैं जिस अनुप्राणन के वैज्ञानिक स्वरूप विश्लेषण का अत्र अवसर नही है। **ज्ञ नात्मिका सौरी बुद्धि का ज्ञानप्रधान ऋषिप्राण से प्रधान सम्बन्ध है क्रियात्मक चान्द्र मन का क्रियाप्रधान देवप्राण से प्रधान सम्बन्ध है** एव **अर्थात्मक–भू पिण्ड का अर्थप्रधान पितृप्राण से** प्रमुख **सम्बन्ध है**।

निष्कर्ष यही है कि **ऋषिप्राण अहङ्कृतिभाव सत्त्वगुण ज्ञानशक्ति कालात्मक सूर्य्य सौरीबुद्धि** ये सब विवर्त्त एक (प्रथम) धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। **देवप्राण प्रकृतिभाव रजोगुण क्रियाशक्ति दिगात्मक चन्द्रमा** और **चान्द्र मन** ये सब विवर्त्त एक (द्वितीय) धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। एवमेव **पितृप्राण आकृतिभाव तमोगुण अर्थशक्ति देशात्मक भूपिण्ड** और **भौम–पार्थिव–शरीर** ये सब विवर्त्त एक (तृतीय) धरातल पर प्रतिष्ठित हैं।

सौरी–बुद्धि से अनुप्राणित प्रथम धरातल का ज्ञानानुगत ऋषिप्राण ही मानव के **बुद्धि निबन्धन गोत्रभाव** की प्रतिष्ठाभूमि माना गया है। चान्द्र–मन से अनुप्राणित द्वितीय–धरातल का क्रियानुगत देवप्राण ही मानव के **मनो–निबन्धन–वर्णभाव** का आलम्बन माना गया है। एव पार्थिव–भौम शरीर से अनुगत तृतीय धरातल का अर्थानुगत पितृप्राण ही मानव के **शरीर निबन्धन–जातिभाव** का अनुग्राहक माना गया

है। यो मानव की पारमेष्ठया मह प्रकृति से अनुगत अहकृति प्रकृति आकृति भाव ही क्रमश ऋषि देव पितृ—प्राणत्रयी से अनुगत होते हुए गोत्र—वर्ण—जाति त्रयी की मूलप्रति ठाभूमि प्रमाणित होरहे है। यहाँ हम एक सग्रहात्मिका तालिका उद्धृत कर रहे हैं जिसके माध्यम से त्रिगुणात्मिका त्रिप्रकृतिभावसन्विता अतएव षडभावनिबन्धना—पारमेष्ठया—महत्—प्रकृति से अनुगत ऋषि देव पितृ प्राण—निबन्धन प्राकृतिक—विस्तार का सर्वात्मना नही तो अशत तो अवश्य ही अनुमान लगाया जासकता है जिस के यथावत् पारिभाषिक—समन्वय बोध से परा परावृत बने रह जाने के कारण ही आज बडे बडे प्रज्ञाशील—राष्ट्रीय मानश्र ेष्ठ भी भारतीय गोत्र—वर्ण जाति भेद—निबन्धना प्रकृतिसिद्धा वास्तविक—स्थिति से विमुख ही बनते जारहे हैं जिस वैमुख्य के कारण ही भारतीय मानव का उत्तरदायित्वपूर्ण पूर्वनिर्दिष्ट आत्मबुद्धिस्वरूपाभिव्यक्ति वमूलक वास्तविक व्यक्ति व स्मृतिगर्भ में ही विलीन होगया है।

दिगदेशकालातीत —सर्वातीत —सर्वव्यापक चिदात्मा 'आत्मा'' (मानवीय)		
१ १—कालात्मक सूर्य	२ १—दिगात्मक चन्द्रमा	३ १ देशात्मक भूपिण्ड
२—अहङ्कृतिभाव	२—प्रकृतिभाव	आकृतिभाव
३ सत्वगुण	३—रजोगुण	३ तमोगुण
४—ऋषिप्राण	४—देवप्राण	४ पितृप्राण
५—ज्ञानशक्ति	५ क्रियाशक्ति	५—अर्थशक्ति
६—गोत्रसृष्टि	६—वर्णसृष्टि	६ जातिसृष्टि
७— मानवीया-बुद्धि कालानुगता १	मानवीय—मन दिगनुगतम् २	७— मानवीय शरीरम् देशानुगतम् ३

वर्ण व्यवस्थामूलक चातुर्वर्ण्य तथा जाति व्यवस्था दोनो के सम्बन्ध में ही आज का नवीन भारत निरतिशयरूपेण आकृष्ट ही बना हुआ है पूर्वोक्त उत्तरदायित्व शून्य-मन शरीरनिबन्धन-व्यक्तित्व-विमोहनात्मक उस अधिकार शब्द मूलक सनर्ष के कारण ही जो सर्वथा विगत अनेक शताब्दियों से प्रक्रान्त है। अधिकारव्यामोहन के कारण ही भारतीय-वर्णव्यवस्था के प्रति आज का मानव प्रचण्ड-विद्रोही बन गया है जिस विद्रोह का प्रायश्चित्तरूपेण समादर ही किया जायगा। किन्तु एतावता ही वर्णों को काल्पनिक तो कदापि नहीं माना जासकता नैव जातियों को ही मानवीय-कल्पनामात्र पर विश्रान्त किया जासकता जैसाकि आजकल माना और बलपूर्वक मनवाया जारहा है।

एक सब से बडी भ्रान्त तो यही है कि आज वर्ण और जाति दोनों शब्दों को पर्य्याय मान लिया गया है। एव यही भ्रान्ति प्रमुखरूपेण वर्ण और जाति के प्रति आक्रोशोत्पत्ति का कारण बनी हुई है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-ये जातिया नही हैं अपितु ये तो वर्ण हैं जोकि प्रकृत्या जन्मना चार ही भागों में विभक्त हैं एव जिन इन प्रकृतिसिद्ध ईश्वरकृत चारों वर्णों का केवल मानवसर्ग में ही समावेश नही है। अपितु विश्व के चर-अचर-जड-चेतन यच्चयावत् प्राणियो-पदार्थों-ओषधि-वनस्पतियों-लता-गुल्मों-धातूपधातुओं आदि आदि में सर्वत्र चातुर्वर्ण्य विद्यमान है जिसका सुविशद-वैज्ञानिक समन्वय-गीताभूमिका कर्मयोग-परीक्षानुगत वर्णाश्रमव्यवस्थाविज्ञान नामक स्वतन्त्र निबन्ध में किया जा चुका है।

वर्ण जहाँ चार ही हैं वहा जातिया चतुरशीतिलक्ष (८४ लाख) मानी गई हैं-प्रकृति के पितृ-प्राणनिबन्धन महिमामय विस्तार के कारण जोकि भारतीय आबालवृद्धप्रज्ञा में चौरासीलाख योनिया नाम से प्रसिद्ध हैं। इन चौरासीलाख में मानवयोनिरूपा मानवजाति एक ही जाती है जिस योनिम्मूला-जाति का पूर्वोक्ता महत्प्रकृति के सर्गान्त के पार्थिव-निबन्धन-स्थूलशरीर-से ही प्रमुख-सम्बन्ध माना गया है जैसाकि- आकृतिग्रहणा जाति इत्यादिरूपेण सुप्रसिद्ध है। सचमुच ही तो शरीराकृतिमूला मानव-योनिर्निबन्धना मानवजाति तो सम्पूर्ण विश्व में एक ही तो है। कौन इसमें भेद मान रहा है ?। शरीरानुबन्धेन आहारनिद्रादि-शारीरिक धर्म्मों से सभी मानव एक धरातल पर ही तो प्रतिष्ठित हैं। इस तथ्य से पराङ्मुख होकर जो महानुभाव-चातुर्वर्ण्य के सम्बन्ध में यह तर्काभास उठाते हैं- ब्राह्मण और क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रादि की आकृति जब समान है तो फिर जाति भेद कैसा उनके इस तर्काभास का सर्वथा ही तो मूलोच्छेद हो जाता है उस समय जब कि पदार्थमात्र में व्याप्त प्रकृतिसिद्ध ब्राह्मण-क्षत्रिय-आदि भेदनिबन्धन चातुर्वर्ण्य का एव आकृतिमूलक-मानवसामान्य में एक रूपेण-व्याप्त- जातिर्जात च सामान्यम् निबन्धन -जातिभाव का मानवजाति रूपेण पार्थक्य समझ लिया जाता है।

भारतीय-ऋषिने कदापि जाति को कोई प्रमुख प्रश्रय नहीं दिया है। अपितु अमुक-सीमापर्य्यन्त प्रकृतिनिबन्धन चातुर्वर्ण्य का ही समादर किया है जिसका अन्ततोगत्वा विश्राम हुआ है ऋषि के द्वारा ऋषिप्राणनिबन्धन-अहङ्कृतिमूलक-उस गोत्रभाव पर ही जिसके सम्बन्ध में गोत्र नोऽभिवद्धन्ताम् यह मङ्गलाशी प्रसिद्धा है। वंशानुगतिनिबन्धना गोत्रमूला परम्परा का उत्कृष्टत्व ही वह वास्तविकी अधिकार-मर्य्यादा है जिस का प्रमुखरूपेण भारतीय-शास्त्रीय व्यवहार तथा लौकिक व्यवहार में समादर हुआ है। एव प्रस्तुत प्रवरणब्राह्मण के द्वारा इसी तथ्य का अनेक-दृष्टियों से स्वरूप-समन्वय हुआ है इत्यल-प्रासङ्गिकेन प्रवरानुगत-अधिकार-शब्द-निबन्धन-सस्मरणेन।

(२१)-१२

* * * * *

श्री

[२२]-स्रुगादापनानुगत आश्रावण प्रत्याश्रावण कर्म्म प्रसङ्गत कतिपय आमुष्मिक, ऐहिक फलानुबन्धी "वैज्ञानिक-सन्दर्भों का सस्मरण"

१३

—*—

स्रुगादापनानुगत- आश्रावण प्रत्याश्रावण-नामक क्रमप्राप्त बाईसव (२२) प्रमुख कर्म्म की इतिकत्तव्यता के प्रसङ्ग से भी अनेक वैज्ञानिक तथ्यों का प्रासङ्गिक स्वरूप समन्वय प्रयास हुआ है जिनमें से अत्र उदाहरणरूपेण एक दो वैज्ञानिक-तथ्यो का सस्मरण ही पर्य्याप्त होगा। आमुष्मिक परोक्षफल के अनुगामी अदृष्ट-प्रेमियों के अनुरञ्जन के लिए एव ऐहिक प्रत्यक्षफल के अनुवर्त्ती भूतवादियों की तुष्टि के लिए वे ही उदाहरण अत्र क्रमश उपस्थित होरहे है।

(क)-स्रुगादापनकर्म्म निबन्धन-प्राणानुगत अदृष्ट-भाव का सस्मरण-

स्वस्त्ययनजपकर्म्म के अनन्तर होता नामक ऋत्विक् के द्वारा होने वाला अमुक-निगद मन्त्रात्मक पाठ ही स्रुगादापनकर्म्म कहलाया है जिसकी अन्यान्या उपपत्तियों में से प्रधान उपपत्ति है-मानुषभावनिबन्धन प्रज्ञापराध का उपशम। प्राणप्रधान देवदेवताओं के यजनात्मक सङ्गमन से सम्बन्ध रखने वाला दिव्यप्राणात्मक यज्ञकर्म्म अपने आधारभूत अदृष्ट प्राण के अनुबन्ध से प्रधानरूपेण अदृष्टभाव प्रधान ही कर्म्म है। आकाश-वायु तेज जल मृत् नामक पञ्चपञ्चीकृत अतएव महाभूत नाम से प्रसिद्ध अतएव च प्रत्यक्षदृष्ट भूतों से अनुगता शब्द स्पर्श रूप-रस-गन्ध-नाम की पञ्चतन्मात्राओं से सर्वथैव असस्पृष्ट अतएव अधामच्छद-सुसूक्ष्मतम पञ्चमहाभूताधार तत्त्वविशेष ही प्राण है। प्रज्ञानमन से समन्वित पञ्चेन्द्रियवर्ग उन्ही भूतभौतिक विषयों का प्रत्यक्षानुभव कर सकता है जिनका शब्द स्पर्शादि पञ्चतन्मात्राओं से सम्बन्ध रहता है। प्राण तत्त्व क्योंकि पञ्चतन्मात्राओं से असस्पृष्ट अतीत है। अतएव प्रज्ञानमन सम्परिष्वक्त कोई भी इन्द्रिय उसका साक्षात्कार नही कर सकती। इस इन्द्रियातीततत्त्व धर्म्म के कारण ही प्राण को अदृष्ट परोक्ष इन्द्रियातीत आदि अभिधाओं से समन्वित माना गया है। क्योंकि 'यज्ञ' शब्द प्राणरूप देवदेवताओं के यजन—सङ्गतिकरण—दानात्मक—भावों से ही अनुप्राणित है * अतएव प्राणदेवप्रधान यज्ञकर्म्म को अवश्यमेव प्रमुखरूपेण अदृष्टफलजनक ही माना जायगा।

---

*—'यज'-देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु (पाणिनीय-धातुपाठे)।

प्राणनिबन्धना अदृष्टता ही वह परोक्षता है जिसके आधार पर ही— **परोक्षप्रिया इव हि देवा प्रत्यक्षद्विष** (अर्थात् प्राणदेवता परोक्ष से ही अनुगत रहते हैं एव प्रत्यक्ष से शत्रुता ही रखते हैं) यह श्रौत निगमवचन व्यवस्थित हुआ है। आत्मानुगत प्राण जहाँ शाश्वततत्त्व है अमृततत्त्व है अजरभाव है वहा विश्वानुगत वाङ्मय भूत परिवर्त्तनशील है मर्त्यभाव है जीर्णभावानुगत है। प्राण ही भूत की प्रतिष्ठा है। प्राण ही वह अक्षरात्मक कूटस्थ अविच्छिन्न सूत्र है जिसके आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाले क्षरकूटस्थ भूतभौतिक परमाणु सघातभाव में परिणत होते हुए अमुक अवधि पर्य्यन्त स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होते रहते हैं। जबतक कूटस्थ अक्षरप्राण क्षरकूट की प्रतिष्ठा बना रहता है तभीतक भूतभौतिक पदार्थों की स्वरूपाभिव्यक्ति है। प्राणसम्बन्ध के विच्छिन्न होते ही तदाधार पर प्रतिष्ठित भूतपिण्ड विशकलित होजाते हैं बिखर जाते हैं। यही इनका अव्यक्तभाव है जिसे स्थूलभाषा में विनाश कहा गया है। स्वस्वरूपेण अपने क्षरण धर्म्म से भूतभाव अव्यक्तभावानुगत ही बना रहता है जो प्राणाधारदशा में जहा व्यक्तभावापन्न है वहाँ प्राणवियोगदशा में वही पुन अव्यक्तभावापन्न है। यो **आरम्भक्षणे अव्यक्त मध्यक्षणे-व्यक्त पुन तृतीयक्षणे अव्यक्त** यही मर्त्य भूतों का सम्पूर्ण जीवनेतिवृत्त स्वारस्य–बना हुआ है।

भूतभौतिक पदार्थों में सापेक्षभाव निबन्धना जो बलवत्ता प्रतीत होरही है वह वस्तुत प्राणशक्ति की ही महिमा है। प्राणबल ही भूत का वास्तविक बल है। जिस दिन धारावाहिकबलान्वित प्राणबन्धन शिथिल होजाता है उसी दिन भूतबल विलीन होजाता है। प्राण क्योंकि पूर्व कथनानुसार परोक्षधर्म्मा है। इसलिए भी भारतीय आदर्शपद्धति में प्रत्यक्षापेक्षया परोक्षभावो को ही प्रधानता दी गई है। इसी दृष्टि से भारतीय समस्त विधि विधान वाङ्मयी घोषणा से तदनुप्राणिता प्रदर्शन प्रचार परम्पराओं से तत्स्थवत् बने रह कर ही प्रवृत्त हुए हैं होने चाहिए जैसाकि पूर्व के सस्मरण में भी आत्रेयी वाक के अनुबन्ध से स्पष्ट किया जाचुका है (देखिए पृ स १ १)। भारतीय आर्ष मानव प्रत्यक्ष दृष्ट-की अपेक्षा परोक्ष अदृष्ट को ही क्यों प्रमुखता प्रदान करता है ? प्रश्न का भी प्राणनिबन्धन यही प्रासङ्गिक समाधान है जिस इत्थभूता प्राणानुगता परोक्षता से अनुगत यज्ञकर्म भी परोक्ष अदृष्ट भावों से ही समन्वित होरहा है। इत्थभूत अदृष्टभावापन्न यज्ञकर्म्म में दृष्टभावप्रधान लोकाभिमुख सेन्द्रिय मानव के द्वारा अज्ञातरूपेणैव त्रुटि होजाना स्वाभाविक ही है। और अनृतसहित मानव के द्वारा होने वाली त्रुटि से दिव्यप्राणातिशयरूप–यज्ञकर्म्म का दोषपूर्ण बन जाना भी स्वत सिद्ध ही है जोक दोषपूर्ण यज्ञ यज्ञकर्त्ता यजमान के लिए इष्टसाधकता के स्थान में अनिष्ट का ही जनक बन जाता है। इसप्रकार के प्रचण्ड दोष की निवृत्ति के लिए दूसरे शब्दों में यजमान-ऋत्विग्गण आदि मानवों के द्वारा अज्ञातरूपेणैव होपड़ने वाले अदृष्टदोषात्मक प्रतिबन्धक के उपशम के लिए जो वैज्ञानिक कर्म्म व्यवस्थित हुआ है उसीका नाम है— **स्रुगादापनकर्म्म** जिसके इत्थभूत प्राणात्मक परोक्ष अतिशय का ही तत्-कर्म्म प्रसङ्गत विस्तार से स्वरूप विश्लेषण हुआ है।

प्रज्ञापराधजनित दोष के परिमार्जन से अनुप्राणित स्रुगादापननिगदपाठात्मक-स्रुगादापन कर्म्म के द्वारा एक अन्य यज्ञानुबन्धी आवश्यक तथ्य का भी सग्रह होरहा है और वही इस कर्म्म का दूसरा वैज्ञानिक

***—अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत ! ।**
अव्यक्तनिधनान्येव, तत्र का परिदेवना ॥
—गीतायाम्

समन्वय है जिसका यज्ञातिशयरूप अदृष्टभावापन्न दैवात्मा से ही सम्बन्ध माना गया है। जिसप्रकार प्रकृति सिद्ध सौर सम्वत्सर रूप अग्नीषोमात्मक नित्ययज्ञ से अनुप्राणित दाम्पत्य भावानुबन्धी आग्नेय-रजोभाव तथा सौम्य शुक्रभाव के-रासायनिक-सम्मिश्रण से गर्भानुगत अपूर्व भूतात्मा (देहाभिमानी जीवात्मा) की अभिव्यक्ति होती है ठीक उसी प्रकार इस मनुष्य यजमान के अग्नीषोमात्मक-वैध-यज्ञ से यजमान के भूतात्मा के साथ ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध करता हुआ एक अपूर्व नवीन यज्ञातिशयरूप यज्ञात्मा अभिव्यक्त होपड़ता है एवं इसी का पारिभाषिक नाम रक्खा गया है— दैवात्मा जो श्रद्धासूत्र के द्वारा यजमान के भूतात्मा से अकमात्मयेन सम्बन्ध रखता हुआ सप्तदशस्थानीय त्रिणाचिकेत नामक स्वर्ग में प्रतिष्ठित होजाता है। जब यज्ञकर्त्ता यजमान का भूतात्मानुगत ऐहिक आयु काल सर्वात्मना भुक्त होजाता है तो तदनन्तर दैवात्माकर्षण से यह भूतात्मा तत्स्वर्गप्रदेश में हीं चला जाता है। अवश्य ही अदृष्टभावापन्न प्राणात्मक यज्ञ से अभिव्यक्त दैवात्मा भी हमारी भूतदृष्टि से अदृष्ट है एवं सप्तदशस्थानरूप स्वर्ग भी प्राणप्रधान बनता हुआ अदृष्ट ही है। किन्तु विज्ञानदृष्ट्या यह सभी कुछ दृष्ट ही बना हुआ है।

मानवीय-वैध-यज्ञ उस प्रकृतिसिद्ध इश्वरीय यज्ञ की ही प्रतिकृति किंवा प्रतिरूप अथवा तो **प्रतिमान है**। अतएव ईश्वरीय प्रजासर्ग में जो जो भाव अङ्ग प्रत्यङ्ग-समाविष्ट रहते हैं इस मानवीय-वैध यज्ञ में भी उन उन सभी भाव-अङ्गादि का समावेश अनिवार्य्य बन जाता है। स्रुगादापनकर्म्म के द्वारा यज्ञातिशयरूप दैवात्मा के दिव्यशरीर में अवान्तर नवविध आध्यात्मिक प्राणों का ही आधान किया जाता है सख्यासम्पदनुगत निदानभाव के माध्यम से ही जिस इस नवप्राणाधानकर्म्म का भी अदृष्ट-प्राणनिबन्धनेन परोक्षभाव से ही सम्बन्ध माना जायगा।

सख्यासम्पदनुगत निदानभाव के स्वरूप विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं है। सन्दर्भ-सङ्गति के लिए इस सम्बन्ध में यही निवेदन पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि-वैदिक विज्ञान के प्राय-सभी अनुबन्ध संख्यानुगत-निदानभावों के माध्यम से ही व्यवस्थित हुए हैं छन्दोभावानुबन्धेन। वस्तुओं का बहिःसीमात्मक-बाह्य मण्डल ही तद्वस्तु का छन्द माना गया है जिसका अक्षरानुगता सख्याओं से ही प्रधान-सम्बन्ध रहता है। अमुक-अक्षरान्वित अमुक छन्द से अनुगता अमुक वस्तुसम्पत्ति के सग्रह के लिए तत्-छन्दोऽनुगत सख्याभाव को भी ऋषि ने प्रमुखता प्रदान की है। स्रुगादापनकर्म्मानुगत निगदमन्त्र में क्योंकि ९ (नव) व्याहृतियां हैं * अतएव इस निगदपाठ को नवभावात्मक ही माना गया है।

---

* स्रुगादापनकर्म्मनिबन्धना ९-व्याहृतियाँ निम्नलिखितरूपेण सुप्रसिद्ध हैं—

१-अग्निर्होता	५-घृतवतीमध्वर्य्यो ! स्रुचमास्यस्व
२-वेत्त्वग्नेर्होत्रम्	६- वयुव विश्ववाराम्
३-वेत्तु प्रावित्रम्	७-ईडामहै देवाँ३।। ईडेन्यान्
४-साधु ते यजमान ! देवता	८-नमस्याम नमस्यान्

९-यजाम यज्ञियान्

इति-स्रुगादापननिगदपाठ -नव (९) व्याहृत्यात्मकः)

एक से आर भ कर सहस्र -लक्ष अयुत--परमपरार्ध्यादि सख्या विस्तार क्रम पर्य्यन्त ऋषि ने सख्या सम्पदनुगता यज्ञसम्पत्तियों का पदे पदे स्वरूप विश्लेषण--किया है जोकि सख्यासम्पदनुबन्धी नैदानिक रहस्य स्वत त्र अ ययन का ही विषय माना जायगा। कही एक -दो चार छ आठ--आदि युग्मसख्याओं के माध्यम से * यज्ञस पत्ति परम्पराओ का समतुलन हुआ है तो कही एक तीन--पाच सात नव आदि अयुग्म सख्याओं से सख्यासम्पत् का सग्रह किया गया है —। प्रकृत में निवदनीय यही है कि स्रु गादापन--निगदम त्र में क्योकि ६ याहुतिया है। अतएव इनसे सख्यास पत् के माध्यम से नवविध -उन अङ्गप्राणों का भी निदानभावेन ग्रहण होजाता है जोकि नवविध अङ्गप्राण सप्त शीर्षण्यप्राण द्विविध अवाङ्प्राणरूप से नौ सख्याओं से सम वित माने गए हैं। इसप्रकार स्रु गादापनकर्म्म के द्वारा अहष्ट प्राणसग्रह तथा नवविध अङ्गप्राणाधान रूप दो महान् लक्ष्य सम्पन्न होजाते हैं एव प्रस्तुत प्रथम वैज्ञानिक--प्रसङ्ग का यही सक्षिप्ततम स्वरूप सस्मरण है।

* * * * *

(ख)--आश्रावण--प्रत्याश्रावण--निब धन--परोक्ष--दि यभाव का सस्मरण—

स्रु गादापनकर्म्म के अन तर तद्ब्राह्मण (स्रु गादापनब्राह्मण) में ही आगे चलकर-- आश्रावण प्र याश्रावणकर्म्म की इतिकर्त यता का स्वरूप सम वय हुआ है जिसते अनुप्राणित दिव्यप्राणनिब धन अतएव परोक्षभावा मक ही वज्ञानिक त य के सम्ब ध में भी किञ्चिदिव सस्मरण कर लेना अप्रासङ्गिक नही माना जायगा। इस सम्ब ध में एक आधिदैविक वैज्ञानिक आख्यान का अनुगमन करती हुइ श्रुति कहती है कि—

एकबार यज्ञ देवमण्डल से अपक्रान्त होगया विदूर होगया। बिना यज्ञ के क्योंकि देव देवताओं की स्वरूप रक्षा असम्भव थी अतएव देवदेवताओंन अपक्रा त यज्ञ का उपलालन-भाषा में इसप्रकार आम त्रण किया कि— हे य न ! आप हमारी सुनिए ! एव हमारी ओर पुन अनुगत होजाइए !। यज्ञदेवता देवदेवताओं के तथाभूत आमन्त्रण पर देवदेवताओं की ओर परावर्त्तित होगए। पुनरागत इस यज्ञ से देवदेवताओने अपना यजनकर्म्म सम्पन्न किया। इसी यज्ञात्मक यजन के प्रभाव से वे देवदेवता रूपेण सुरक्षित बने रह गए ।

---

*--एक वा इद वि बभूव सर्वम्
द्व द्व पात्राण्युदाहरति
चतुष्टयं वा इदं सर्वम्
षड् वा ऋतवः सम्वत्सरस्य
अष्टाक्षरा वै गायत्री
—इत्यादि-युग्मसख्योदाहरण

— एका च मे, तिस्रश्च मे, पञ्च च मे,
सप्त च मे नव च मे,
—इ यादि अयुग्मसख्योदाहरण

उक्त आधिदैविक–आख्यान का निष्कर्षार्थ यही है कि सौरसम्वत्सर यज्ञमण्डल से यज्ञाग्नि प्रवृक्त होकर कृष्णमृगरूप में परिणत होकर भूपिण्ड की वस्तु बन जाया करता है जिस इस रहस्य–पूर्ण यज्ञापक्रमण का पूर्वप्रकाशित प्रथमखण्ड में— **हविष्पेषणकर्म्म** प्रसङ्गगत कृष्णमृगचर्म्म के वैज्ञानिक–तथ्य का समन्वय करते हुए विस्तार से निरूपण किया जाचुका है–(देखिए प्रथमकाण्डानुगत प्रथमखण्ड की पृष्ठ सं० ६५ से ५२२ पृष्ठ पर्य्यन्त)। सौरसम्वत्सरमण्डलात्मक दिव्ययज्ञ में अग्नि होता हैं वायु अध्वर्यु हैं आदित्य उद्गाता हैं चन्द्रमा ब्रह्मा हैं एवं स्वयं सम्वत्सरप्रजापति यज्ञकर्त्ता यजमान है। इन चारों ऋत्विजों के **शस्त्र स्तोत्र ग्रह ब्राह्म** नामक चारों कर्मों के संविदानात्मक ऐकमत्य से एकीभाव से एकतानतानुगता अविच्छिन्ना कर्म्मधारा से ही पार्थिव कृष्णमृगरूप–यज्ञ पुनः–स्व लोकात्मक–सौर–देवमण्डल में चित–सञ्चित होजाता है। यों प्राकृतिक–प्राणदेवताओं के **आमन्त्रणरूप संविदानकर्म्म** से ही अपक्रान्त यज्ञ पुनः देवमण्डलानुगत बन जाता है। और इसी संविदानात्मक आमन्त्रणकर्म्म की याज्ञिकी अभिधा है— **आश्रावण–प्रत्याश्रावणकर्म्म**।

यज्ञकर्त्ता मनुष्य–यजमान का वह आधिदैविक सौरसम्वत्सरानुगत–सप्तदश स्तोमस्थ–दिव्ययज्ञ इसके पार्थिव–भौतिक–जन्मानुबन्ध से ही मानो पलायित है जिस दिव्यभाव पलायन से ही इसके भूतात्मा को यहाँ जन्म लेना पड़ा है। आज यज्ञ के द्वारा यह उसी दिव्यभाव का अपने भूतात्मा में पुनः सन्धान करना चाहता है। अतएव इसे भी अपने ऋत्विजों के सहयोग से संविदानरूपा उसी एकतानता का अनुगमन करना पड़ेगा जैसी कि एकतानता दिव्यदेवताओं से अनुगत रहती है। एवं आश्रावण–प्रत्याश्रावण–कर्म्म का यही प्रमुख लक्ष्य है। अपक्रान्ता–वह यज्ञसम्पत्ति जिसका प्रधान क्षेत्र त्रिणाचिकेतरूप–सप्तदशस्तोम–माना गया है–यज्ञकर्त्ता की ओर अनुगत होजाय यही इस कर्म्म का फलितार्थ है।

प्रस्तुत कर्म्म में– **ओ श्रावय अस्तु श्रौषट् यज ये यजामहे यज वौषट्**–ये पाँच व्याहृतियाँ हैं एवं अक्षर हैं सत्रह। पाँच (५) और सत्रह (१७) न द्विधा विभिक्ता–सख्याओं का भी इस कर्म्म के माध्यम से एक विशेष अतिशय माना गया है। सर्वप्रथम अध्वर्यु होता के प्रति– **ओ श्रावय** इस व्याहृति का उच्चारण करता है जिसका यही स्वारस्य है कि हे होतः! **आप इस यज्ञकर्त्ता यजमान को एवं इसके इस भूतयज्ञ को दिव्यदेवताओं के लिए सुनादें**। इस प्रथमा व्याहृति के अनन्तर होता **अस्तु श्रौषट्** इस द्वितीया व्याहृति का उच्चारण करता है जिसका तात्पर्य्यार्थ यही है कि — **देवदेवताओंने यज्ञ को सुन लिया है**–अर्थात् **देवदेवता यज्ञ के अभिमुख होगए हैं**। इसीप्रकार संविदानभाव से ही **यज (आगत देवताओं का यजन करो) ये यजामहे (समागत देवदेवताओं का यजन किया जारहा है)**–इन तृतीया–चतुर्थी–व्याहृतियों के अनन्तर **वौषट्** रूपा पञ्चमी व्याहृति के साथ ही आहुति दे दी जाती है एवं पञ्चव्याहृत्यात्मक–इसी कर्म्मविशेष का नाम है– **आश्रावण–प्रत्याश्रावण** कर्म्म जिसके द्वारा वैध–यज्ञ में अदृष्ट–दिव्य पाङ्क्तयज्ञ की **पाङ्क्तसम्पत्ति (पञ्चावयवसम्पत्ति)** का आधान होजाता है पाँच व्याहृतियों के द्वारा एवं अदृष्टा परोक्षभावापन्ना–स्वर्गसम्पत्तिरूपा–सप्तदश–स्तोमसम्पत्ति का आधान होजाता है पञ्चव्याहृतियों के सत्रह अक्षरों के द्वारा। यों आश्रावण–प्रत्याश्रावण–कर्म्म भी स्रुगादापनकर्म्मवत् इस वैध यज्ञ में परोक्ष–दिव्यभावों का ही आधानकर्त्ता प्रमाणित होरहा है।

विश्वस्वरूप–सम्पादक प्राकृतिक यज्ञ पाङ्क्त (पञ्चावयव) ही कहलाया है जिस पाङ्क्तता का विशद वैज्ञानिक स्वरूप प्रथम–खण्ड में किया जाचुका है। अनुगमभावनिबन्धना इस पाङ्क्तता का उस सर्वहुत

यज्ञ से भी सम्बन्ध माना गया है जिसका पञ्चपर्वा प्रकृति के साथ तादात्म्य प्रसिद्ध है। एवं प्रकृति के पञ्चविध–प्राकृत–प्राणों के पञ्चीकरणात्मक सर्वाहुतिरूप–समन्वय से ही जिस– सर्वहुतयज्ञ की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है। स्वायम्भुव पारमेष्ठ्य सौर चान्द्र–पार्थिव–भेदभिन्न पञ्चविध–पञ्चावयव–विश्वात्मक महान् यज्ञ ही वह सर्वहुतयज्ञ है जिसके आधार पर ही अन्यान्य यष्टियज्ञ आविर्भूत हैं। ओ श्रावयादि पाचों व्याहृतियों से सर्वहुतयज्ञनिबन्धना–इस पाङ्क्त–यज्ञसम्पत्ति का अवश्यमेव सग्रह गतार्थ बन जाता है।

पार्थिव सप्तदशस्तोम ही वह आहवनीयकुण्ड है जिसमें स्वर्ग्याग्नि प्रतिष्ठित माना गया है एवं जिसके सम्बन्ध में महाभाग नचिकेता ने महान्देव यमराज से प्रश्न किया है। पञ्च्याहृति के अक्षर सत्रह होजाते हैं। अतएव इस सख्यासम्पत्ति से स्वर्गसम्पति का भी इस वैधयज्ञ में आधान गतार्थ बन जाता है। इसी आधार पर यज्ञात्मरूप प्रजापति– सप्तदशो वै प्रजापति रूपेण उपस्तुत है। इसी तथ्य के माध्यम से याज्ञिक–सम्प्रदाय में यह सूक्ति प्रचलित है कि—

चतुर्भिश्च–चतुर्भिश्च–द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै यज्ञात्मने नम ॥

(१) "ओ(१)—श्रा(२)—व(३)—य(४)"—चतुर्भिश्च

(२)–"अ(१)—स्तु(२)—श्रौ(३)—षट्(४)"—चतुर्भिश्च

(३)–'य(१)—ज(२)"—द्वाभ्याम्

(४)–'ये(१)—य(२)—जा(३)—म(४)—हे(५)'—पञ्चभिरेव च

(५)–"वौ(१)—षट्(२)'——हूयते च पुनर्द्वाभ्याम्

तस्मै–यज्ञात्मने–सप्तदशप्रजापतये–नम "

—*—

* * *

(ग)–आश्रावण–प्रत्याश्रावण–कर्म्मानुगत–प्रत्यक्षभावापन्न–दृष्टफल का सस्मरण—

मन्त्रब्राह्मणात्मक–वेदशास्त्र के यज्ञकर्म्म–प्रधान विधि रूप ब्राह्मण भाग से अनुप्राणिता ज्ञान–विज्ञानात्मिका–सृष्टिविद्यानिबन्धना–जिन अमुक परिभाषाओं का पूर्व के सन्दर्भो– के माध्यम से अबतक सस्मरण किया गया है वे सभी सस्मरण प्राण–प्रधान बनते हुए प्राणनिबन्धना परोक्षभावात्मिका उस

अदृष्टा स्थिति के किंवा उस परोक्ष अदृष्ट–फल के ही समर्थक प्रमाणित होरहे हैं जिन इत्थंभूत–अदृष्ट परोक्ष–संस्मरणों के द्वारा उस भूतवादी–प्रत्यक्षफलवादी–दिग्देशकालोपयोगितावादी–वर्त्तमानवादी का कदापि अनुरञ्जन सम्भव नहीं है जिसने अपने मानवीय–स्वरूप का सम्पूर्ण निवृत्त प्रकृतिनिबन्धन वर्त्तमान पर ही परिसमाप्त मान रक्खा है।

इसी स्थिति का और भी अधिक स्पष्टीकरण अपेक्षित हो तो आज के प्रावाहिक–युग में विशेषरूप से प्रचलित यथार्थ शब्द को लक्ष्यारूढ बना लेना ही पर्य्याप्त होगा। भावुक मानवों की दृष्टि में आदर्श और यथार्थ दोनों जहां विभिन्नधर्मा हैं वहां नैष्ठिक–आर्ष–मानवश्रेष्ठों की निष्ठादृष्टि में जो आदर्श है वही यथार्थ है। एवं आदर्श की सीमा से बहिष्कृता–मनोऽनुगता–मान्यता से उपकल्पित काल्पनिक यथार्थ तो सर्वथैव अयथार्थ ही बना रह जाता है। भूतभौतिक प्रपञ्च को यदि यथार्थ मान लिया जाता है तो तदाधारभूत मौलिक–प्राणपञ्चक को ही आदर्श का स्थान दिया जासकेगा। प्राणपञ्चकरूप आदर्श की मनोऽनुगता कल्पना के आधार पर ही क्योंकि बलचिति के द्वारा भूतात्मक व्यक्त–यज्ञ–भावों का चयन होता है। अतएव कहा जासकता है कि— अव्यक्तावस्थापन्न–प्राणात्मक–आदर्श का व्यक्तावस्थापन्न भौतिकरूप ही यथार्थ की स्वरूप परिभाषा है। यों आदर्श ही यथार्थ रूप में परिणत होरहा है।

स्वयं उपनिषदीन भी यथार्थ रूप याथातथ्य की यही स्वरूप–परिभाषा की है। स्वायम्भुव–त्रयी–रूप–ब्रह्मप्राण तथा पारमेष्ठ्य–अथर्वरूप सुब्रह्मप्राण इन दोनों मौलिक प्राणों की प्रश्नोपनिषत् ने क्रमशः प्राण और रयि यह संज्ञा रक्खी है एवं दोनों के रासायनिक–सम्मिश्रणात्मक–दाम्पत्य से ही तदुपनिषत् ने सम्पूर्ण भूत–भौतिक प्रपञ्च की यथार्था स्वरूपाभिव्यक्ति मानी है। ब्रह्मप्राणरूप ब्रह्माग्नि में सुब्रह्मरयिरूप सुब्रह्मसोम की आहुति होने से प्राणमूला–भूततूला–सृष्टि अभिव्यक्त हुई है और यही आदर्शमूला यथार्थभावनिबन्धना ब्रह्म–सुब्रह्मात्मिका–शुक्रभावानुगता सृष्टि का यथार्थ स्वरूप दिग्दर्शन है जिसका निम्नलिखित ईशोपनिषद्वचन से स्पष्टीकरण हुआ है—

> **स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।**
> **कविर्म्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः–याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्**
> **शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।**
> **—ईशोपनिषद्**

स्वयम्भूः–याथातथ्यतः अर्थान् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः वाक्यसन्दर्भ का ऋजुतम यही अक्षरार्थ है कि–अव्यक्त–प्राणमूर्त्ति अतएव मूलप्रतिष्ठात्मक– मूल आदर्श रूप स्वयम्भू प्रजापति ही यथार्थरूप से अर्थात्मक–भूत भौतिक–प्रपञ्चात्मक विश्व का सदा के लिए निर्म्माता बना हुआ है। यों आदर्श ही यथार्थ बना हुआ है जिस इस औपनिषद–अर्थ को सर्वात्मना समर्थन प्राप्त है ऋक्संहिता के कर्व्वान्त के उस सुप्रसिद्ध मन्त्रभागानुगत अमुक वाक्य–विशेष को जिस अमुक वाक्य के– धाता यथापूर्वमकल्पयत् स्वरूप से सभी वेदवित् सुपरिचित हैं। धाता स्वयम्भू–ब्रह्म हैं जो आदर्शमूर्त्ति हैं एवं यथापूर्व–व्यवस्थित–विश्व ही यथार्थ है जिसकी आधारभूमि आदर्शरूप–स्वयम्भू ही बने हुए हैं। प्राणो यज्ञेन कल्पताम्

वचन भी आदर्शात्मक प्राण की अभिव्यक्ति को ही यज्ञरूप-यथार्थ का आसन प्रदान कर रहा है। और यों भारतीय आर्षदृष्टि से तो आदर्श एवं यथार्थ में कुछ भी तो अन्तर नहीं है। इसी आधार पर तो ब्रह्मैवेदं सर्वम् - सर्वं खल्विदं ब्रह्म - यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह इह चेदवेदीत् अथ सत्यमस्ति — इह चेन्नावेदीत् महती विनाष्टिः इत्यादि श्रौत सिद्धान्त अभिव्यक्त हुए हैं। अतएव आदर्शात्मक-अव्यक्त प्राण से अनुप्राणित अदृष्टभावनिबन्धन-इन्द्रियातीत-परोक्ष फलमात्र से ही अपने श्रद्धानजगत् में सर्वात्मना तुष्ट बन जाने वाले शास्त्रैकशरण-भारतीय-मानव की दृष्टि में तो अन्य किसी भी दृष्टफल की कोई भी आकांक्षा शेष नहीं रह जाती।

तो क्या शास्त्रैकशरण श्रद्धालु मानव दृष्टफल को उपेक्षणीय मानता है? कदापि नहीं सर्वथा नहीं। किन्तु इसे यह विदित है और आस्थापूर्वक विदित है कि-प्राणप्रधान जो यज्ञकर्म्म परोक्ष-अदृष्ट जैसे इन्द्रियातीत फलों का सग्राहक है उसी के द्वारा यज्ञकर्त्ता के ऐहिक-दृष्ट प्रत्यक्षफल तो स्वतः ही ससिद्ध है ही। तभी तो यज्ञकर्म्म को यज्ञरहस्यवेत्ता यज्ञेश्वर भगवान्ने इष्टकामधुक उपाधि से समलङ्कृत किया है। यथेच्छफलप्रदाता यज्ञकर्म स्वतः ही अदृष्ट के साथ साथ ही दृष्टफलों का भी सग्राहक-बन जाता है। और यों वेदशास्त्र सिद्ध ज्ञान कर्म-उपासना-नाम की कर्त्तव्य-त्रयी दृष्ट-अदृष्ट उभयविध-फल-ससाधिका बनती हुई अभ्युदय-निःश्रेयस्-ससाधिका ही प्रमाणित होरही है।

मानव के दिग्देशकालानुगत बुद्धि-मन-शरीर-निबन्धन-यथार्थभावानुबन्धी दृष्टफलों का क्या स्वरूप है? भारतीय-शास्त्र ने इन दृष्ट-फलों का कैसा और क्या वर्गीकरण किया है? वर्त्तमान-युग में अनुप्राणित यथार्थ-का समादर करने वाले दृष्टफल कौन कौन से हैं? एवं स्वयं शास्त्र ने उनका कैसा चमत्कारपूर्ण समन्वय किया है? दृष्टफलानुगत-इन सभी-उपयोगी-भावों का विस्तार से **शतपथ प्रथम खण्डानुगत आत्मनिवेदन** में स्पष्टीकरण किया जाचुका है। अतः इस दृष्टफल-स्वरूप-जिज्ञासुवर्ग को तत् आवेदन पर ही विशेषतः उसके १ ६ से ११८ व पृष्ठ पर्यन्त के सन्दर्भ पर ही दृकपातानुग्रह करना चाहिए। प्रकृत में तो एक अन्य-प्रसङ्ग के माध्यम से स्वयं ब्राह्मणश्रुति के मुखपङ्कज से ही यथार्थवादियों की दिग्देशकालानुबन्धिनी वर्त्तमान-जीवनानुबन्धिनी-तात्कालिकी-उपयोगिता से अनुप्राणित- दृष्टफल का सक्षेप से सस्मरण-मात्र ही कर लिया जाता है।

स्रुगादापन-कर्म्म के अनन्तर होने वाले पञ्चयाज्यात्मक तथा सप्तदश अक्षरनिबन्धन- आश्रावण प्रत्याश्रावण-कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले प्राणसम्पत्ति के सग्रहात्मक तथा-पाङ्क्तयज्ञसम्पत्ति और सप्तदश सख्यानुगता-प्राजापत्या सम्पत्ति रूप-अदृष्ट फलों का पूर्व में सस्मरण किया जाचुका है। इसी आश्रावणप्र कर्म्म का श्रुति के द्वारा एक दृष्टफल भी हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ है जिसका श्रुति के शब्दों में हीं इस रूप से यशोगान हुआ है कि—

वर्षति हैव तत्र-यत्रैवमृत्विज -सविदाना-यज्ञेन चरन्ति"

—शत० १।५।२।१६।

दृष्टफलों में महतोमहीयान् दृष्टफल माना जायगा वह- **वर्षा** जिसके आधार पर ही सम्वत्सर की स्वरूप प्रतिष्ठा मानी गई है। षडऋतुविज्ञानवेत्ताओं को यह सुविदित ही है कि जब पार्थिव-आन्तरिक्ष्य-अग्नि विकास की चरम-सीमा पर पहुच जाता है तो- **अग्नेरापः** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वही

अग्नि द्रतावस्था में परिणत होजाता है और इसी का नाम है ग्रीष्मत्तु रूपा-आग्नेयी-ऋतु से उत्तरभाविनी वर्षाऋतु। वर्ष यह सम्पूर्ण-संवत्सर का एक नामविशेष है। सम्पूर्ण संवत्सर का संग्राहक वर्ष शब्द वर्षा रूपेण एक ऋतुविशेष में ही क्यों और कैसे समन्वित होगया? इस प्रश्न का समाधान करते हुए श्रुतिने कहा है कि वर्षा वेव सर्वऋतवः। अर्थात् वसन्त-ग्रीष्म वर्षा-शरत्-हेमन्त शिशिर इन छ ओं साम्वत्सरिक-ऋतुओं का एक वर्षाऋतु में भी क्योंकि भोग होजाता है अतएव वर्षा को सर्व ऋतु कहा जाता है। और इसीलिए सर्वऋतु के समष्टिरूप सम्वत्सर का संग्राहक- वर्ष शब्द सर्वत्तु रूपा पावसऋतु से भी समन्वित होगया है।

दूसरा कारण श्रुतिने बतलाया है— वर्षा ऋतु के आधार पर ही। वर्षाजल के आधार पर ही ओषधि वनस्पतियों का उत्पादन सम्भव है। एवं तदाधार पर ही सम्पूर्ण वर्ष का स्वरूप सुरक्षित रह सकता है। वर्षा ऋतु ही इसप्रकार परम्परया क्योंकि वर्ष की स्वरूप प्रतिष्ठा का कारण प्रमाणित होरही है इस लिए भी सम्वत्सर वाचक भी वर्ष शब्द का इस एक वर्षाऋतु के साथ सम्बन्ध होगया है। निम्नलिखित श्रुतिवचन इसी कारणद्वयी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं—

'स वै वर्षास्वादधीत। वर्षा वै सर्वऽऋतवः। वर्षा हि वै सर्वऽऋतवः। अथ-अदो वर्षमकुर्म्म अदो वर्षमकुर्म्म, इति सम्वत्सरान् सम्पश्यन्ति। वर्षा ह त्वेव सर्वेषां-ऋतूनां-रूपम्। उत हि तद्वर्षासु भवति-यदाहु-ग्रीष्म-इव वा अद्य इति। उत-उ-तद्वर्षासु भवति यदाह-'शिशिर इव वाऽअद्य' इति। वर्षादिद् वर्षा। अथैतदेव-परोक्ष रूप-यदेव पुरस्ताद्वाति-तद्वस तस्य रूपम्। यत्-स्तनयति-तद्ग्रीष्मस्य, यद्वर्षति तद्वर्षाणाम्, यद्विद्योतते-तत्-शरद यत्-वृष्ट वा-उद्गृह्णाति-तद्धेमन्तस्य, वर्षा सर्व-ऽऋतवः"।

—शतपथ २।२।३।७-८ क *

निकामे-निकामे-नः पर्जन्यो वर्षतु-फलवत्यो नः ओषधयः पच्यन्ताम् इत्यादिरूपेण स्वयं मन्त्रवेद भी पर्ज्जन्यात्मक वृष्टितत्त्व की महती उस उपयोगिता का राष्ट्रीया-कामना का ही स्वरूप-संस्मरण करा रहा है जिससे बड़ी इष्ट प्रत्यक्ष फल कामना और कोई भी तो नहीं हो सकती। और पञ्चव्याहृत्यात्मक-आश्रावण प्रत्याश्रावण कर्म से सर्वाधिक महत्त्वशालिनी यह वृष्टिकामना भी सफल बनाई जासकती है एक प्रक्रिया विशेष के द्वारा जिस प्रक्रियाविशेष का ही श्रुति ने सविदाना रूप से संस्मरण किया है। सविदाना रूपा इसी प्रक्रिया विशेष का प्राणदेवानुबन्धी परोक्ष तथ्य का आख्यानभाषा में संस्मरण कराते हुए श्रुति ने कहा है कि—

ओ श्रावय इस प्रथमा व्याहृति से देवदेवताओंने पुरोवात उत्पन्न किया। अस्तु श्रौषट्' इस द्वितीया व्याहृति से आकाश को अभ्रखण्डों से समाप्लुत कर दिया। 'यज इस तृतीया व्याहृति से

*—इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन तद्भाष्य-सन्दर्भ में ही देखना चाहिए।

विद्युत् को अभिव्यक्त कर दिया। ये यजामहे इस चतुर्थी व्याहृति से स्तनयित्नु (गर्ज्जन तर्ज्जन) उत्पन्न किया, एवं सर्वान्त की वौषट् स पञ्चमी व्याहृति से ही आकाशस्थ जल को वर्षण के द्वारा भूमिसात् कर दिया। और यों पञ्चव्याहृत्यात्मक आश्रावण प्रत्याश्रावण कर्मानुगता संविदानवृत्ति से ही देवदेवताओंने वृष्टिकर्म्म सम्पन्न कर लिया- वषट्कारेणैव-प्रावर्षयन् ।

ओश्रावय -इस प्रथमा- व्याहृति से आरम्भ कर वौषट् इस अन्तिम पाचवी-व्याहृति पर्य्यन्त जिन पाँचों व्याहृतियों का अध्वर्यु होता-आग्नीध्र-आदि ऋत्विक्-अनुगमन करते हैं उन ऋत्विजों का वागनुगत-अविच्छिन्न-प्राणनिबन्धन-सन्तानधाराक्रमसिद्ध-ऐकम्त्य ही वह पारिभाषिक संविदानभाव है जिस एकतानतारूप-इत्थंभूत संविदानधर्म से ऋत्विजों के वागनुगत मनोमय-प्राण अविच्छिन्नरूपेण परस्पर-ग्रन्थिबन्धन से एक ही केन्द्रबिन्दु में सह समन्वित होजाते हैं और इस सहसमन्वय से प्रबल-वीर्य्यात्मक बने हुए मनोभाव के संयसङ्कल्प के द्वारा ही इस आश्रावण प्रत्याश्रावण कर्म्म के माध्यम से कामनानुगत वृष्टिफल उपलब्ध होजाता है, जिस इस महतोमहीयान् दृष्टफल का ही निम्नलिखितरूपेण यशोगान हुआ है कि—

'यत्र हैवमृत्विज संविदाना यज्ञेन चरन्ति सर्वमेव तत्र कल्पते न मुह्यति। तस्मादेवमत्र यज्ञो भर्त्तव्य'।

—शत० १।५।२।१५।

तदित्थ-ब्राह्मणग्रन्थानुबन्धी-यज्ञकर्म्म न केवल प्राणप्रधान अव्यक्तभावापन्न-परोक्ष-अदृष्ट फलों के ही स्वरूपानुग्राहक हैं, अपितु इन के द्वारा तो मानव के लोकानुबन्धी वे सम्पूर्ण-प्रत्यक्ष-दृष्टफल भी संसिद्ध होजाते हैं, जिन लोकफलों के लिए आज का मानव इतस्ततः द्रम्यमाण है। अतएव भारतीय-यज्ञकर्म्म को जो महानुभाव केवल परोक्षभावानुगत ही मान बैठते हैं, अतएव जिनकी आस्था इत्थंभूत यज्ञकर्म्मों से अनुदिन विमुख होती जारही है, उन्हें अपनी एतादृशी भ्रान्ति का आश्रावणकर्म्मनिबन्धन विशुद्ध ऐहलौकिक वृष्टिफल के माध्यम से ही निराकरण कर लेना चाहिए।

दृष्टफलानुगता जिस वृष्टि का यत्किञ्चिद्विशेषात्मक आश्रावणकर्म्म के माध्यम से श्रुति ने स्पष्टीकरण किया है, उस वृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले वृष्टिविज्ञान के पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय-के बिना क्योंकि उस दृष्ट फल के प्रति आलोचकवर्गका सहसा श्रद्धान-सम्भव नहीं है। एकमात्र इसी दृष्टि से हमने आश्रावण-प्रत्याश्रावण कर्मानुगत काम्यवृष्टिफल के प्रसङ्ग से तत्प्रकरण में ही सौदामिनी भावानुबन्धिनी कादम्बिनी नामकी सुप्रसिद्धा उस ऋग्वेदीया- वृष्टिविद्या के वैज्ञानिक-समन्वय का ही प्रयास किया है, जिसके मूल-सूत्र-निम्न-लिखित ऋङ्मन्त्र ही बने हुए हैं—

(१)-सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्म्मणि।
ते धीतिभिर्म्मनसा ते विपश्चित परिभुव परि भवन्ति विश्वत ॥
(२)-कृष्णं नियानं हरय सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्र त्सदनादृतस्यादित्-घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥
(३)-समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभि ।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति, दिवं जिन्वन्त्यग्नय ॥

—ऋक्संहिता-अस्यवामीयसूक्त १।१६४।३६।४७।५१वां मन्त्र

जैसाकि पूर्वोदाहरण प्रसङ्गों में यत्र तत्र अनेकधा निवेदन किया जाचुका है—ज्ञानविज्ञानात्मिका रहस्यमयी शब्द–परिभाषाओं के समन्वय के बिना वेदार्थ का समन्वय कठिन ही नहीं अपितु सर्वथा असम्भव ही है। वही पारिभाषिकी समस्या उक्त मन्त्रत्रयी के उन अन्यतम ही पारिभाषिक–शब्दों के सम्बन्ध में विज्ञ्ति है जिन– भुवनस्य – विष्णो – विधर्म्मणि – धीतिभि – मनसा – विपश्चित इत्य – सुपर्णा – वृत्रसदनात् – घृतेन – अहमि इन शब्दों के रहस्यात्मक–पारिभाषिक–विश्लेषण से ही तत्कर्म्मानुगत–प्रासङ्गिक–वृष्टिविज्ञान विस्तारपथानुगामी–बन गया है।

वृष्टिविद्या–प्रतिपादिका उक्त मन्त्रत्रयी के तथोक्त पारिभाषिक–शब्दों के माध्यम से अस्यवामीयसूक्त के द्रष्टा महामहर्षि दीर्घतमा ने जिन वैज्ञानिक–तथ्यों का सूत्ररूप से स्वरूप–विश्लेषण किया है उसके अनुमानमात्र से ही मादृश भावुक की प्रज्ञा तो सहसा विकम्पित ही होपड़ती है। क्या सचमुच ही उस वेदशास्त्र में लोकाभ्युदयजननी इन लोकविद्याओं का भी ऐसा अद्भुत और अश्रुतपूर्व–वैज्ञानिक–समन्वय विद्यमान है? जिस वेदशास्त्र के सम्बन्ध में आज की युगधर्मनिबन्धना लोकप्रज्ञाएँ अनुवादन–ऐसा आक्षेप करती सुनाई देरही हैं कि वेद तो पुराने युग का केवल अध्यात्मग्रन्थ है। अतएव आज के भौतिक विज्ञानयुग में आत्मचर्चा प्रधान उन पुराने पोथों का क्या उपयोग।

वेदशास्त्र की सर्वयुगानुबन्धिनी–सार्वकालिकी–त्रैकालिकी महती उपयोगिता के स्वरूप दिग्दर्शन के लिए ही हमने वृष्टिविज्ञान–निबन्धन–अमुक–तथ्यों का तत्प्रकरण में समावेश–कर लिया है जिनके आधार पर असन्दिग्धरूपेण यह मान ही लेना पड़ेगा कि वेदशास्त्र के सम्बन्ध में भगवान् मनु का– सर्वं वेदात्–प्रसिद्ध्यति कथन प्ररोचनात्मक उपलालन नहीं है अपितु अक्षरश यथार्थ ही है। आश्रावणकर्म्म–निबन्धना–प्रयत्न–फलान्विता उदाहरणात्मिका तथाभूता पारिभाषिकी वृष्टिविद्या के सम्बन्ध में ही दो शब्द–निवेदन कर इस प्रक्रान्त उदाहरण–प्रसङ्ग को उपरत किया जारहा है।

* * * *

(घ)–आश्रावण–प्रत्याश्रावण–कर्म्मनिबन्धन–वृष्टिविज्ञान का प्रासङ्गिक–सम्स्मरण–

परोक्षफलाकर्षणापेक्षया प्रयत्न–फलकामुक माननीय–भौतिक शरीरानुगत सेन्द्रिय मनस्तन्त्र की तथाविधा फलकामुकता से अनुप्राणित दृष्टफलात्मक वृष्टिकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले पारिभाषिक– वृष्टिविज्ञान के सम्बन्ध में उदाहरणरूपेण अत्र तीन वृष्ट्यनुबन्धों का संस्मरण ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा जो कि वृष्ट्यनुबन्धत्रयी क्रमश गर्भाधान दोहद – प्रसव न नामों से प्रसिद्ध हैं। पार्थिव–प्रजोत्पादन कर्म्म में सृष्टिधारानुबन्धी जो गर्भाधानादि नियमोपनियम प्रसिद्ध हैं वे ही नियम वृष्टिजलोत्पत्ति रूप उत्पत्तिकर्म्म के साथ समन्वित माने गए हैं। सब से पहिले गर्भाधान का ही समन्वय कीजिए।

जिसप्रकार आकाशप्रदेश से भूप्रदेश पर वृष्टि होती है ठीक इसी प्रकार भूप्रदेश से आकाशप्रदेश में भी वृष्टि होती रहती है। यों दोनों ही स्थानों–प्रदेशों में समानरूपेण जलवर्षण होता रहता है जिस तथ्य के लिए ही पूर्वोक्ता मन्त्रत्रयी का अन्तिम 'समानमेतदुदकम्०' इत्यादि तृतीय–मन्त्र उद्धृत हुआ है। जिसका तात्पर्यार्थ यही है कि– पार्थिवसम्वत्सर से अनुगत अहर्गणों के द्वारा द्युलोकोपलक्षित आकाशप्रदेश में तो पार्थिव–अग्नि के माध्यम से जलवर्षण होता रहता है। एवं सौरसम्वत्सरानुगत अहर्गणों के द्वारा पृथिवी–लोकोपलक्षित–भूप्रदेश में आन्तरिक्ष्य पर्जन्य वायु के द्वारा जलवर्षण होता रहता है जैसाकि भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नय इत्यादि मन्त्रोपसंहारवचन से स्पष्ट है।

अभी विचार हमें उस जलमात्रा के गर्भाधान का ही करलेना है जो पृथिवी पर वर्षाऋतु में बरसा करती है। पार्थिव–अग्नि अपनी घन तरल–अवस्थाओं के अन तर–होने वाली क्रमप्रा ता बा पावस्था–धूमावस्था–सुस मावस्था में परिणत होकर भूलोक से निर तर द्य लोका मक आकाशप्रदेश की ओर गमन करता रहता है। बा पावस्थापन्न पार्थिव इस आङ्गिरस अ नि के तथाभूत ऊर्ध्वगमन से अनुप्राणित–**अग्निगतिविज्ञान** का ही नि नलिखित पारिभाषिक म त्र से स्पष्टीकर हुआ है—

इत एत उदारुहन्, दिवस्पृष्ठा यारुहन्।
प्रभूर्जयो यथापथा द्यामङ्गिरसो ययु ॥

—श्रुति

अपने रथ तरसामा मक सुनिश्चित–यथाथ–नियत पथ से निर तर द्यु लोक की ओर गमन करने वाले पार्थिव–अङ्गिरोऽग्नि के द्वारा ही पार्थिवी जलमात्राएँ भी बा परूप में परिणत हो आकाशप्रदेश की ओर गमन करती रहती हैं। सहजभाषा के अनुसार–पृथिवी की जलमात्राएँ पार्थिव–अग्नि के द्वारा अ तरिक्ष–रूप–आकाशप्रदेश में जाती रहती हैं। आकाशप्रदेश में या त **मरुत्** नामक वायुविशेष के धरातल में ही इन जलमात्राओं का सञ्चय होता रहता है और इसी सञ्चय का नाम है **गर्भाधान** जो काला तर में पुन भूप्रदेश पर बरस पड़ता है। पार्थिव अग्नि के द्वारा प्रक्षि ता वह जलमात्रा कबतक मरुद्धरातल में गर्भीभूत बनी रहती है? प्रश्न का अ य त रहस्य पूर्ण समाधान करता हुआ ही **सप्ताद्ध गर्भा भुवनस्य रेत** इ यादि वह मन्त्र हमारे सम्मुख उपस्थित होपडता है जिसका **गकारपरिच्छेद** में सस्मरण किया जाचुका है।

सम्व सर के बारह मासों में से ४ ४–४–के अनुपात से ही जलमात्रा–निबन्धन गर्भाधानादि–तीनों क्रम व्यवस्थित हुए हैं जिसका नि कर्षार्थ यही है कि मासचतुष्टया मक शीतकाल तो जलमात्रा का **गर्भाधान काल** है मासचतुष्टया मक–ग्री मकाल–**दोहदकाल** है एव मासचतुष्टया मक वर्षाकाल ही–**प्रसवकाल** है। अर्थात् मार्गशीष से आरम्भ कर फाल्गुन–प य त तो पार्थिवी–जलमात्रा का द्य लोक में गर्भाधान होता है। चैत्र से आर भ कर आषाढ–पर्य्यन्त गर्भीभूता जलमात्रा का पोषण होता है जिसे कि दोहद कहा गया है। एव श्रावण से आरम्भ कर कार्त्तिक प य त जलमात्रा की प्रसूति होती है। नक्षत्रानुपात से ये ठ–नक्षत्रानुगता मार्गशीष की अमावस्या ही गर्भकाल का उपक्रम मानी गई है।

एक अ य दृष्टिकोण के अनुसार सूर्य्यदक्षिणानुगत पात गभ का एव सूर्य्योत्तरायणानुगत पात प्रसव का उपक्रम माना गया है। **मूल–पूर्वाषाढ़ उत्तराषाढ–अभिजित् श्रवण–धनिष्ठा शतभिषक् पूर्वभाद्रपद उत्तरभाद्रपद रेवती अश्विनी भरणी**–ये सुप्रसिद्ध द्वादश (१२) नक्षत्र चा द्रसोम के सहयोगी प्रमाणित होते हुए जहाँ गर्भ के उत्त जक हैं वहाँ—**आर्द्रा पुनर्वसु पुष्य अश्लेषा–मघा–पूर्वफल्गुनी–उत्तर–फल्गुनी हस्त चित्रा स्वाती विशाखा** नामक एकादश (११) नक्षत्र सौर अग्नि के समुत्तेजक बनते हुए प्रसव के निमित्त मान लिए गए हैं। स्नेहगुणक सकोचधर्म्मा चा द्र–सोम जहाँ पार्थिवी–जलमात्रा का संवरण कर उसे स्थितिभाव प्रदान करता है वहाँ तेजोगुणक–विकासधर्म्मा सौर अग्नि जलमात्रा को अपने सहजसिद्ध रुद्रद्रवणा मक रुद्रधर्म्म से जलमात्रा को द्रु तभाव में ही परिणत कर देता है। चा द्रसोमानुगत–गर्भाधान का जहाँ चान्द्रचार से सम्ब ध है वहाँ सौर अ न्यनुगत प्रसव का सू र्यचार से ही सम्ब ध माना गया है, जैसाकि वृष्टिविद्या के रहस्यवित् आचार्य्योंने कहा है—

पौषे मूल भरण्य त च द्रचारेण गर्भति ।
आर्द्रादितो विशाखा त सूय्यचारण वर्षात ॥

नियत नाक्षत्रिक काल में भूप्रदेश से जिस दिन पार्थिवी जलमात्रा सूर्य रश्मि वायु तथा अग्नि इन तीनों के सयोग से बा परूपेण द्यु लोक की ओर उत्क्रा त होती है उस दिन से आर भ कर ठीक ६ मास १५ दिवस पर्य्य त (अर्थात् १९५ एकसौ प यानवे दिन पर्य्य त) वह जलमात्रा द्यु लोकानुगत वायु धरातल में प्रतिष्ठित गर्भीभूत रहती है । ठीक १९६ व दिन उसका प्रसन होपड़ता है अर्थात् वह गर्भीभूता जलमात्रा भूप्रदेश पर बरस पडती है । सातव मास का आधा अर्थात् १५ दिन और पूरे ६ मास कुल १९६ दिन ही सप्ताद्ध गर्भा का पारिभाषिक सम वय है ।

मनसा श द च द्रचारेण का ही सूचक है क्यो क मन च द्रमा से अभिन्न माना गया है मनश्चन्द्रे ण लीयते च द्रमा मनसो जात यादि श्र ति सिद्धा तो के अनुसार धीतिभि श द–सूय्यचारेण का ही समथक बना हुआ है । क्योकि धी रूपा-बुद्धि सूय्य से ही अभिन्ना मानी गइ है जैसा कि— धियो यो न प्रचोदयात् इ यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है । विधम्मणि श के द्वारा सी पारिभाषिकी-रहस्यामिका स्थिति का स्पष्टीकरण हुआ है कि—जिस दिन गर्भाधान होता है उस ि न यदि पूर्वदिशा में गर्भाधान है तो १९६ वे दिन पश्चिमदिशा से ही मेघ वृष्टि करते हैं । यदि पश्चिम में गर्भाधान होगा तो उत्तर से वृष्टि होगी उत्तर में गर्भाधान है—तो दक्षिण से वृष्टि होगी । यदि दिन में गर्भाधान है तो रात्रि में वृष्टि होगी । और यदि रात्रि में गर्भाधान है तो दिन में वष्टि होगी । यही विधम्मणि का रहस्या मक समन्वय माना जायगा । तत्तिरीयश्र तिने निम्नलिखित एक ही पारिभाषिक-सूत्र के मा यम से तथोक्ता वष्टि विद्या का निष्कर्षाथ अभिव्यक्त कर दिया है कि—

अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति मरुत सृष्टां नय ति ।
यदा खलु-वा-असावादित्यो यङ् रश्मिभि पर्य्यावत्त ते-अथ वर्षति ॥
—तै स ४।१ ।१।

उक्त सस्मरण के द्वारा वृष्टिविज्ञान की उस रूपरेखा का उदाहरणा मक दिग्दर्शन अवश्यमेव वेद भक्तों की प्रज्ञा को तो वेदस्वाध्याय की ओर आकर्षित करेगा ही । साथ ही उन तटस्थ महानुभावों से भी इ थभूत दिगदर्शना मक-सस्मरणों के माध्यम से यह आशा तो की ही जासकती है कि वैदिक पारिभाषिक ज्ञानविज्ञा ना मक समन्वय से अपने प्रज्ञा को पु करपलाशवन्निर्लि ता रखने की लोककला में अग्रणी तथाभूत महानुभाव भी अवश्यमेव भारत की इस सवयुगानुबन्धिनी वेदविभूति की वैसी आपातरमणीया आलोचना से तो अपने आप को तटस्थ कर ही लगे जो आए दिन अपने राष्ट्र की इस मूल विभूति के प्रति निरपेक्षता ही अभिव्यक्त करते रहते हैं इसी मङ्गलाशसा के साथ प्रस्तुत सस्मरणा मक स दर्भ उपरत होरहा है ।

(२२)—१३

*

इति—द्वितीयखण्डानुगत-कर्म्मप्रसङ्गत —
सस्मरणात्मक -सन्दर्भ -उपरत

* * * *

द्वितीय खण्डानुगत- किञ्चिदिव आवेदन' का उपराम—

किञ्चिदिव आवेदन से अनुगत उदाहरणात्मक सस्मरण स दभ के अन तर यही निवेदन शेष रह जाता है कि सवथैव एकाकीरूपेण बहु श्रम सा या प्रकाशन यवस्था आदि में अहोरात्र यस्त रहने के कारण हीं गत शीतऋ से हमारा शरीर साघातिक रक्तचाप रोग स आक्र त होगया है जिसका कि युग धम्म निब धना साहि यसेवा के महान् पुरस्काररूप से हमने सुस्वागत ही कर लिया है। हमारी कामना थी और आज भी है कि सस्थान के द्वारा एक वसा विद्यापीठ स्थापित हो जिसमें सम्प्रदावादनिरपेक्ष दृष्टिकोण से प्रा य साहि य की ज्ञानविज्ञानात्मिका उन परिभाषाओ के अ ययनाध्यापन त वान्वेषण की ही प्रमुखरूपेण यवस्था हो जो परिभाषाएँ सहस्रा दयो से विस्मृतिपथानुगामिनी हीं बनती चली आरही हैं। एव जिस इ थभूत सास्कृतिक पारिभाषिक तथ्य के विस्मृत होजाने से ही भारत की मूलसस्कृति के सम्ब ध में युगध र्म निब धन वैसे अनेक प्रवाद चल पडे है जिनसे भारत का सास्कृतिक गौरव त वदृष्ट्या तथा आचारदृ ट्या उभय व का वालीकृत ही प्रमाणित होता चला आरहा है विगत तीन सहस्रवर्षों से।

हमें अपने इस गुरुतम अपराध की स्वीकृति में भी यत्किञ्चित् भी सकोच नही होरहा है कि जिस **प्रचार** की सफलता से वत्त मानयुग में लक्ष्यों को सफलता मिला करता है उस प्रचार की दृष्टि से **सस्थान** अपने विगत त्रैवार्षिक कार्य्यकाल में सवथा शू य ही प्रमाणित होता चला आरहा है। और युगध म निब धन इस प्रचारानुब धी शैथि य से ही सस्थान के सकल्पित का यों को जनत त्र का अद्यावधि भी कोइ सहयोग नही मिल सका है।

जसाकि इस साहि य के अनुग्राहकों को विदित ही होगा कि अपनी निरतिशया-अस्वस्थता के कारण जब हम एकाकीरूपेण ग्र थनिर्म्माण-काय्य के साथ साथ ही तत्प्रकाशन-प्रचार-अथव्यवस्थापन-आदि आदि बहिरङ्ग-लोकधर्म्मों में एका तत असमथ बन गए तो इस स पूर्ण-स्थिति से अपने अमुक परिगणित मित्रो को अवगत करा देना आवश्यक समझा गया जिस के फलस्वरूप ही सुप्रसिद्ध पुरात त्ववेता सुहृद्वर मा डॉ **श्रीवासुदेवशरणजी** अग्रवाल महोदय की प्र रणा से एव बम्बई के कतिपय-सा विक-मित्रो के प्राथमिक आर्थिक-सहयोग से सन् ५५ (पचपन) में **राजस्थान वदिक-तत्त्वशोध सस्थान-जयपुर** नामक सस्थान ने ज म लिया जिस के त वावधान में ही विगत तीन वर्षों से **ग्र थप्रकाशन** मात्र ही प्रमुखरूपेण प्रक्रा त रहा है जिसके सुपरिणाम स्वरूप ही ३ ४ वर्षों की अवधि में सस्थान के द्वारा प द्रह सहस्र-पृष्ठा मक साहि य प्रकाशित हुआ है।

सस्थान-स्थापन से पूव प्रचार की दृष्टि स वर्ष में एक दो बार यथासुविधा जहाँ प्रवास मात्राएँ स भव बनती रहती थी सस्थान-स्थापन के अन तर तो वह सामा य-प्रचारप्रवृत्ति-परम्परम्परा भी इस लिए एका तत ही अवरुद्ध ही बन गइ कि—सस्थान को मिलने वाले सत्तात त्रीय-सहयोग की तत् वर्षावधि में प्रकाशन —के द्वारा पूर्त्ति अनिवार्य्य बनती रही एव वह सम्पूर्ण-उत्तरदायि व अनिच्छन्नपि हमें स्वय ही वहन करना पड़ा और आजतक करना ही ही पड रहा है अ द सुविधाओ की अप्राप्ति में। सस्थान को जा सीमित-तम-आर्थिक सहयोग अबतक उपल ध होता रहा है उस से तो अभीप्सित प्रकाशन काय्य का ही सुचारुरूपेण व्यवस्थापन सम्भव नही है। ऐसी स्थिति में वत्त मान युग जैसे महर्घता के युग में पर्य्याप्त-अथ के मा यम स ही प्राप्तव्य सहयोगियो का सहयोग भी प्रा त करना असम्भवप्राय ही बनता रहा।

हाँ सस्थान के मान्य म त्री **श्रीवासुदेवशरणजी** अग्रवाल महोदय अवश्यमेव आरम्भ स ह अद्यावधि प्रचार दृष्ट्या प्रय नशील बने हुए है । और आप के भागीरथ-प्रय नों से ही प्रा तीय-सतातन्त्रों का यान इस ओर अवश्य आकर्षित भी हुआ है । कि तु जहाँतक **जनत त्रीय प्रचार** का प्रश्न है वह तो सभी ओर से आजतक असस्पृष्ट ही बनता चला आरहा है । जहाँतक हमारा अनुमान है आजतक न तो भारत के किसी भी दैनिक- साप्ताहिक मासिक- अथवा तो त्रैमासिक में ही सस्थान की प्रकाशनप्रवृत्ति की कोइ चर्चा हुइ है नव विद्वानों तक इस काय्य की सूचना का ही को प्रय न हुआ है ।

सस्थान ने अपने विगत त्रैवार्षिक-का यकाल में जो पारिभाषिक-पञ्च शतसहस्रपृष्ठा मक-साहि य- प्रकाशित किया है यदि उस के किसी एक भी पारिभाषिक निब ध की रूपरेखा-मात्र से भी भारतीय जनत त्र को प्रचार-मा यम से सस्थान परिचित करा देने में सफलता प्रा त कर लेता तो निश्चयेन प्रजाशी त जनत त्र सस्थान की सभी प्रवृत्तियों को अ व्य बनाने के लिए सोत्साह प्रवृत्त होजाता । कि तु सस्थान की ओर से एकमात्र हमारी-असमर्थता के ही कारण तथा सस्थान के मन्त्री महोदय को **बहुजनहिताय-बहुजनसुखाय-मूला विविध राष्ट्रीया सास्कृतिक प्रवृत्तियों** में अहोरात्र व्यस्त रहने के कारण प्रचार दृष्ट्या कुछ भी तो सम्भव नही होसका है । प्रचार सम्बन्धिनी इसी शिथिलता के निराकरण के लिए **श्रीवासुदेव-शरणजी** के त वावधान में वाराणसी से ही **इ गलिश हि दी मा यम** से अब एक समाचार-पत्र की यवस्था होरही है जिस से निश्चयेन निकट-भविष्य में ही प्रचार दृष्ट्या भी सस्थान अवश्यमेव सफलता प्राप्त कर लेगा । और तद्द्वारा अवश्यमेव जनतन्त्र का भी सस्थान को वैसा पूर्ण सहयोग मिलेगा ही जिसके द्वारा सस्थान के सभी सास्कृतिक-स्वप्न कभी न कभी तो साकाररूप में परिणत हो ही जायँगे ।

स्वय हम रक्तचापानुबन्धिनी अपनी अस्वस्थता के अनुब ध से अब इस दिशा में इस से अधिक प्रचार दृष्ट्या कुछ भी तो करने की क्षमता नही रख रहे हैं कि यथासम्भव प्रकाशनकार्य्य का अनुगमन करते रहें और गच्छत -स्खलन रूपेण प्रकाशित साहि य की रूपरेखा से समय समय पर जनतन्त्र को परिचित कराते रहें । इसी उद्दे श्य से प्रस्तुत **शतपथब्राह्मण द्वितीय खण्ड की विषयसूची** तथा प्रक्रान्त **किञ्चिदिव-आवेदन** नाम की प्रस्तावना जनतन्त्र की सेवा में स्वतन्त्ररूपेण प्रे षित होरही है यथासम्भव अन्य भी कतिपय सूचना पत्रो के साथ । शतपथ के प्रे षित- किञ्चिदिव-आवेदन में संस्मृत-उदाहरण स न्दर्भों पर यदि दोषदृष्टि से भी जनत त्र ने यान देने का अनुग्रह किया तो निश्चयेन उस का संस्थान की ज्ञानविज्ञानपरिभाषा मिका-सास्कृतिक प्रवृत्तियों की ओर उदारता पूर्वक ही ध्यान आकर्षित होगा इसी मङ्गल-कामना के साथ द्वितीय खण्डानुगत-यह **किञ्चिदिव आवेदन** उपरत होरहा है ।

विधेय —

य कश्चिदपि मुक्तकशर्म्मा

आश्विनशुक्ला-विजयदशमी वि स २ १६ **मानवाश्रम-दुर्गापुरा** (जयपुर-राजस्थान)	मोतीलालशर्म्मोपाह्वो य कश्चिदपि मुक्तकशर्म्मा आङ्गिरसो भारद्वाज वैदवीथी-पथिक मानवोक्थवैराजिकब्रह्मौदन-भोक्ता जयपत्तनाभिजनः

श्री

इति-शतपथब्राह्मणप्रथमकाण्डानुगत-

—द्वितीय-खण्डस्य—

"किञ्चिदिव-आवेदनम्"

उपरतम्



श्री

शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्य–प्रथमकाण्डानुगत

(२)–'द्वितीयखण्ड'

की

संक्षिप्ता–विषयस्मारकसूची

श्री

शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्यान्तर्गत–प्रथमकाण्डानुगत प्रस्तुत–'द्वितीयखण्ड' (२)–मे समाविष्ट प्रमुख–याज्ञिक–कर्म्मों की सूची

इति–द्वितीयखण्डानुगता–प्रधानकर्म्मविषयसूची
हविर्यज्ञानुगता–उपरता



श्री

अथ-शतपथब्राह्मण हिन्दी-विज्ञानभाष्ये द्वितीयोऽध्याय

२

अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये-प्रथम ब्राह्मणम् प्रथमप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्

१०-"उपवेषसम्पादन, अग्नौ कपालोपधानेन हवि परिपाकञ्च"

नामक

क्रमप्राप्त १० वे कर्म्म के विज्ञानभाष्य की 'विषयस्मारकसूची'

(पृष्ठस-६१० से ६६० पर्य्यन्त)

तप –स्वरूपदिग्दर्शनम्

(पृ स ६४५ से ६५८ पर्य्यन्त)

इति 'तप' स्वरूप दिग्दर्शनम्



इति–प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्
इति–प्रथमप्रपाठके–पञ्चम ब्राह्मणम्
इति- उपवेषम्पादन, अग्नौ कपालोपधानेन हवि परिपाकच

१०

श्री

अथ-शतपथब्राह्मण हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये-द्वितीय ब्राह्मणम् प्रथमप्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम्

११-"पिष्टेनोदकामीश्रितेन-पुरोडाशसम्पादनम्"

नामक

क्रमप्राप्त ११ वे कर्म्म के विज्ञानभाष्य की 'विषयस्मारकसूची'

(पृष्ठसं० ६६१ से ७०३ पर्य्यन्त)

❀अभिप्लव स्वरूप दिग्दर्शन❀

❀ पृष्ठस्वरूप-दिग्दर्शन ❀

इदि–प्रथमकाण्डे–द्वितीयाध्याये–द्वितीय ब्राह्मणम्
इति–प्रथमप्रपाठके–षष्ठ–ब्राह्मणम्
प्रथमप्रपाठकश्चात्रोपरत
इति--पिष्टेनोदकमिश्रितेन--पुरोडाशसम्पादनम्

११



श्री

अथ-शतपथब्राह्मण-हिंदी-प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये-तृतीय ब्राह्मणम्

(द्वितीय-प्रपाठकश्चोपक्रान्त)

२

द्वितीय-प्रपाठके च प्रथम ब्राह्मणम्

"पात्रीनिर्णेजनम्-पुरोडाशमीमासया-समन्वितम"

नामक

क्रमप्राप्त १२ वे कर्म्म के विज्ञानभाष्य की विषयस्मारकसूची

(पृष्ठ स० ७०४ से ७६७)

* *

रसाग्निस्वरूपदिग्दर्शनम्

१

* * *

आर्त्तवाग्निस्वरूपदिग्दर्शनम्

२

* * *

छन्दस्याग्निस्वरूपदिग्दर्शनम्

३

* * *

सावित्राग्निस्वरूपदिग्दर्शनम्

४

* * *

***–अधिभूतसम्ब धी आप्याविज्ञान**

एतिसासिक आप्त्यादेवता—

इति–आप्त्याविज्ञानमुपरतम्

* * * *

❀ अथ पश्वालम्भनविज्ञानम् ❀

(पृष्ठस० ७३६ से ७४७)

❀ [१] पुरुपपशु ❀

इति पुरुषपशुस्वरूपदिग्दर्शनम्

१

*

❀ [२] अश्वपशु ❀

इति अश्वपशुस्वरूपदिग्दशनम्

२

—*—

❀ [३]-गोपशु ❀

इति गोपशुस्वरूपनिदर्शनम्

३

—— ※ ——

❀ (४)–अविपशु

इति अविपशुस्वरूपदिग्दर्शनम्

४

——※——

❀ (५) अजपशु

इति–अजपशुस्वरूपदिग्दर्शनम्

५

———*———

इति—प्रथमकाण्डे—द्वितीयाध्याये—तृतीय ब्राह्मणम्

द्वितीय—प्रपाठके च प्रथम ब्राह्मणम्

इति-पात्रीनिर्णेजनम्-पुरोडाशमीमासया-समन्वितम

१२

इति-हविर्ब्राह्मणाध्यायः प्रथमः

१

* * * * *

श्री

अथ-वेदिब्राह्मणाध्याय

अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे

द्वितीयाध्याये-चतुर्थं ब्राह्मणम्

द्वितीयप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मणम्

* १३-वेदिकाकरणम्-वेदिस्वरूपसम्पादनञ्च

तत्रादौ स्तम्बयजुर्हरण,

'भू'-विशोधनञ्च

नामक

क्रमप्राप्त १३ वे कर्म्म के विज्ञानभाष्य की 'विषयस्मारकसूची'

(पृष्ठ स० ७६८ से ८४२)

---

* भूल से ग्रन्थ में १३ वी क्रमसख्या के स्थान में १२ वी सख्या लगगई है। पाठक सशोधन कर लगे।

इति स्तम्बयजुर्हरणोपाख्यान रहस्यम्

* * *

इति–शतपथब्राह्मण हिन्दी विज्ञानभाष्ये प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् द्वितीयप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मणम्

इति–वेदिकाकरणम्–वेदिस्वरूपसम्पादनञ्च तत्रादौ स्तम्बयजुर्हरणं, भू-विशोधनञ्च

१२

श्री

अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्ये–प्रथमकाण्डे–
द्वितीयाध्याये–पञ्चम ब्राह्मणम्
द्वितीय–प्रपाठके च तृतीय ब्राह्मणम्

१४-वेदिपरिग्रहात्मक-वेदिसम्पादनम्

नामक

क्रमप्राप्त १४ वे कर्म्म के विज्ञानभाष्य की
'विषयस्मारकसूची'
(पृष्ठ स० ८४४ से ६५८ पर्य्यन्त)

* * *

आख्यानानुगत आधिदैविक रहस्य
(ऐतिहासिक-रहस्य)

पाञ्चभुवनकोशस्वरूपदिग्दर्शनम्

(पृ म ८८१ से ९ ९ पृ पर्यन्त)

---

(१)-मरुत्रिलोकी का स्वरूप-दिग्दर्शन

* २ प्राङ् मेरु (पामीर) मूला देवत्रिलोकी *

इति-पाद्मभुवनकोश - ब्राह्म

* * *

* * *

❀ देवासुरदायविभागाख्यानानुगत–आध्यात्मिक-समन्वय ❀

❀ देवासुरदायविभागाख्यानुगत आधिदैविकचरित्र का समन्वय ❀

इत्याधिदैविकरहस्यम्



❀ पद्धत्यनुगत-सन्दर्भ-समन्वय ❀

प्रतिमार्ज्जनकर्म्मोपपत्ति

इति प्रतिमार्ज्जनकर्म्मोपपत्ति

* * *

इति प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम्
इति द्वितीयप्रपाठके-तृतीय ब्राह्मणम्

इति-द्वितीयोऽध्यायः

२

इति-वेदिपरिग्रहात्मक-वेदि सम्पादनम्

१४

* श्री *

अथ–शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये प्रथमकाण्डे संस्कारब्राह्मणाध्याय

३

अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्ये–प्रथमकाण्डे–
तृतीयाध्याये–प्रथम ब्राह्मणम्
द्वितीय–प्रपाठके च चतुर्थ ब्राह्मणम्

१५–द्रव्यसंस्कारा

क्रमप्राप्त १५ वे कर्म्म के विज्ञानभाष्य की 'विषयस्मारकसूची'
(पृष्ठ सं० ९५९ से १०३९ पर्य्यन्त)

इति–द्रव्यसस्कारोपपत्ति
१

❀ २ पत्नीसन्नहनोपपत्ति ❀

पुरुषस्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

* * *

स्त्री-स्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

* * *

वृषा-स्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

* * *

योषा-स्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

* * *

अग्नि-स्वरूपानुगत श्रुतिवचन

इति–पत्नीसन्नहनकर्म्मोपपत्ति
२

—*—

अथ पत्नीकृताज्यावेक्षणोपपत्ति
३

—*—

इति—पत्नीकृताज्यावेक्षणोपपत्ति
३

—*—

अथ—४–५–६–सत्यानुगता परिशिष्टकर्म्मानुगता उपपत्ति

—*—

'प्रासङ्गिक 'नीरक्षीरविवेक'

इति प्रथमकाण्डे-तृतीयाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्
इति द्वितीयप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम्
इति–द्रव्यसस्कारा
१५

श्री

अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्ये–प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये–द्वितीय ब्राह्मणम् (आज्यब्राह्मणम्) द्वितीयप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्

* १६ आज्यग्रहणकर्म्म

क्रमप्राप्त १६ वे कर्म्म के विज्ञानभाष्य की 'विषयस्मारकसूची'

(पृष्ठ स० १०३७ से १०७६ पृ० पर्य्यन्त)

इति प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये-द्वितीय ब्राह्मणम्
इति द्वितीयप्रपाठके पञ्चम ब्राह्मणम्
आज्यब्राह्मणात्मकम्
इति-आज्यग्रहणकर्म्म

१६

श्री

अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्ये–प्रथमकाण्डे
तृतीयाध्याये
द्विब्राह्मणानुगत–इध्मब्राह्मण–तृतीयम्
द्विब्राह्मणानुगत परिधिब्राह्मण चतुर्थम्
[द्विब्राह्मणात्मक ब्राह्मणम्]

१७–इध्म–पारिधि–अनुगत–कर्म्मसंगह

क्रमप्राप्त १७ वें कर्म्म के विज्ञानभाष्य की "विषयस्मारकसूची"
(पृष्ठसं० १०७८ से ११३४ पृ० पर्य्यन्त)

वैज्ञानिकविवेचनोपक्रम
[११०८]
अथ–प्रोक्षणकर्म्मोपपत्ति

इति–प्रोक्षणकर्म्मोपपत्ति

—*—

अथ–प्रस्तरगृहणोपपत्ति

—*—

इति–प्रस्तरगृहणोपपत्ति

—*—

अथ-सन्नहन विस्र सन स्थापनोपपत्ति

—*—

इति–सन्नहन–विस्र सन स्थापनोपपत्ति

—*—

अथ–बर्हिस्तरणोपपत्ति

—*—

इति–बर्हिस्तरणोपपत्ति

—*—

अथ–अग्निकल्पोपपत्ति

—*—

इति–अग्निकल्पोपपत्ति

—*—

अथ–परिधि–परिधानोपपत्ति

—*—

अथ–परिधि–काष्ठ–विचार

इति–परिधि–परिधानकर्म्मोपपत्ति

---*---

अथ–समिधाभ्याधानोपपत्ति

इति–समिधाभ्याधानोपपत्ति

* * *

अथ-मन्त्रजपोपपति

* * * *

अथ विधृती स्थापनोपपत्ति

इति विधृती स्थापनोपपत्ति

— —*— —

अथ-स्रुक्स्थापनकर्म्मोपपत्ति

---*---

इति–प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये

इध्म परिधि–लक्षण

द्विब्राह्मणात्मक (३–४ रूप) ब्राह्मणम्

इति-इध्म-परिध्यनुगत-कर्म्मसंग्रह

१७

---*---

* श्री *

अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्ये–प्रथमकाण्डे–
तृतीयाध्याये, चतुर्थाध्याये च
ब्राह्मणचतुष्टयात्मक–सामिधेन्यनुवचनब्राह्मणम्

—— * ——

१८–सामिधेन्यनुवचनकर्म्म

क्रमप्राप्त १८ वें कर्म्म के विज्ञानभाष्य की
'विषयस्मारकसूची'
(पृष्ठ स० ११३५ से १३३५ पर्य्यन्त)

—— * ——

तृतीय अध्याय में पञ्चम, तथा तृतीय–प्रपाठक में
द्वितीय ब्राह्मण

—— * ——

सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत प्रथम-ब्राह्मण

१

—— * ——

वैज्ञानिक-विवेचना

सामिधेनी ब्राह्मणानुगत प्रथमब्राह्मण

१

———*———

तृतीयाध्याय मे पञ्चम, एव तृतीयप्रपाठक मे
द्वितीय ब्राह्मण–अत्र उपरत

सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण अत्र उपरत

१

तीसरा अध्याय समाप्त

३

अथ-चतुर्थ-अध्याय उपक्रान्त

४

चौथे अध्याय मे प्रथम, एव तीसरे प्रपाठक मे
तृतीय–ब्राह्मण

सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत द्वितीय-ब्राह्मण

२

* २५ से २५९ पर्य्यन्त की सख्या का क्रम भ्रान्तिवश रह गया है।

सङ्गीतानुगत-नाद श्रुति-स्वर स्वरूप—दिग्दर्शनम्
(पृ०स० १२१३ से १२५३ पर्यन्त)

---

* अन्यदपि किञ्चित् प्रासङ्गिक स्वरसम्बन्धे एव

इति—सङ्गीतानुगत नाद श्रुति-स्वर स्वरूप दिग्दर्शनम्

* * * * *

चतुर्थ अध्याय मे प्रथम, एव तृतीयप्रपाठक म तृतीय–ब्राह्मण–उपरत

—–*—–

सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत द्वितीय-ब्राह्मण
अत्र–उपरत
२

—–*—–

चतुर्थ अध्याय मे द्वितीय, एव तृतीय प्रपाठक में चतुर्थ ब्राह्मण–उपक्रान्त
सामिधेनी–ब्राह्मणानुगत–तृतीय–ब्राह्मण
अत्र–उपक्रान्त
३

—–*—–

इति–निगदानुवचनकर्म्मोपपत्ति

* * * *

अथ–आर्षेयानुवचनोपपत्ति

अथ–निवित्पाठ

इति विनित्पाठ

* * * *

अथ देवतावाहनोपपत्ति

इति-देवतावाहनोपपत्ति

* * * *

चतुर्थ–अध्याय मे द्वितीय, एव तृतीय–प्रपाठक मे चतुर्थ–ब्राह्मण–उपरत

—*—

सामिधेनी–ब्राह्मणानुगत–तृतीय–ब्राह्मण अत्र–उपरत

३

—*—

चतुर्थ–अध्याय मे तृतीय, एव तृतीय–प्रपाठक मे पञ्चम–ब्राह्मण–अत्र–उपक्रान्त

सामिधेनी ब्राह्मणानुगत–चतुर्थ–ब्राह्मण अत्र-उपक्रान्त

४

अथ--शान्तिकर्म्मोपपत्ति

चतुथ–अध्याय मे तृतीय, एव तृतीय–प्रपाठक मे पाँचवाँ–ब्राह्मण–उपरत

—*—

सामिधेनी–ब्राह्मणानुगत–चतुर्थ–ब्राह्मण अत्र उपरत

४

—*—

इति–प्रथमकाण्डे–तृतीय–चतुर्थाध्याये ब्राह्मणचतुष्टयात्मक–सामिधेनी–ब्राह्मणमुपरतम्

—*—

इति–सामिधेन्यनुवचनकर्म्म–उपरतम्

१८

—*—

श्री

अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्ये–प्रथमकाण्डे
चतुर्थाध्याये
द्विब्राह्मणात्मक–आघारब्राह्मणम्

१९-२० पूर्वोत्तराघारकर्म्म

क्रमप्राप्त १९ २० वे कर्म्म के विज्ञानभाष्य की
"विषयस्मारकसूची"
(पृष्ठस० १३१७ से १३६६ पृ० पर्य्यन्त)

———*———

चतुर्थ अध्याय मे चतुथ, एव तृतीयप्रपाठक मे
षष्ठ ब्राह्मण अत्र–उपक्रान्त

———*———

द्विब्राह्मणानुगत-प्रथम-आघारब्राह्मण
अत्र-उपक्रान्त
१

———*———

वैज्ञानिकविवेचना
१--पूर्वाघारकर्म्मोपपत्ति

२२४–'उच्छ्रितमिव हि वीर्य्यम्'

२३३–सैनिकानुगत रक्षाकर्म्म और सैनिक की शरीरयष्टि का ऋजुभाव से सन्तनन

इति–आघारकर्म्मोपपत्ति

१

* * * *

अथ–अग्निसम्माज्र्जनकर्म्मोपपत्ति

पूर्वाघारकर्म्म अत्र उपरत
चतुर्थ–अध्याय में चतुर्थ, एव तृतीय–प्रपाठक मे
षष्ठ–ब्राह्मण–अत्र उपरत
तृतीयप्रपाठकश्चात्रोपरत

३

—✱—

द्विब्राह्मणानुगत-प्रथम-आधारब्राह्मण अत्र- उपरत

१

चतुर्थ-प्रपाठक अत्र-उपक्रान्त

४

—— * ——

चतुर्थ अध्याय मे पञ्चम, एव चतुर्थ प्रपाठक म प्रथमब्राह्मण—अत्र—उपक्रान्त

द्विब्राह्मणानुगत-द्वितीय-आधारब्राह्मण अत्र-उपका त

२

३-उत्तराधारकर्म्मेतिकर्तव्यतोपपत्ति

—— —— * ——

इति—उत्तराधारकर्म्मोपपत्ति

३

* * * *

चतुर्थ—अध्याय मे पञ्चम, तथा चतुर्थ प्रपाठक में प्रथम—ब्राह्मण—उपरत

चतुर्थोऽध्यायश्चात्र—उपरतः

४

—*—

द्विब्राह्मणानुगत-द्वितीय-आघारब्राह्मण

अत्र-उपरत

२

इति-द्विब्राह्मणात्मक-आघारब्राह्मणमुपरतम्

इति-पूर्वोत्तराघारकर्म्म

१९—२०

श्री

अथ–पञ्चमोऽध्यायः

५

अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी विज्ञानभाष्ये प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये प्रथम ब्राह्मण, चतुर्थप्रपाठके च द्वितीय

"प्रवरब्राह्मणम्"

उपक्रान्तम्

२१--प्रवरणकर्म्म

क्रमप्राप्त २१ वे कर्म्म के विज्ञानभाष्य की विषयस्मारकसूची

(पृष्ठ–सरया १३६७ से १४०४ पृ० पर्य्यन्त)

वैज्ञानिकविवेचना

१—आश्रावणकर्म्मोपपत्ति

इति दिव्याग्निवरणकर्म्मोपपत्ति

२

३–अथ आर्षेय-वरणकर्म्मोपपत्ति

इति आर्षेयप्रवरणकर्म्मोपपत्ति

३

४–अथ अग्नि ब्राह्मणानुगृह–प्राप्तिकर्म्मोपपत्ति

इति–अग्नि–ब्राह्मणानुगृहप्राप्ति कर्म्मोपपत्ति

—*—

५ अथ मानुषहोतृवरणोपपत्ति

—*—

इति-मानुषहोतृवरणोपपत्ति

५

—*—

६ अथ स्वस्ति अयन रूप स्वस्त्ययन–जपोपपत्ति

—*—

इति–पञ्चमाध्याये प्रथम, चतुर्थप्रपाठके च–द्वितीय ब्राह्मण
'प्रवरब्राह्मणम्'
अत्र–उपरतम्

इति-प्रवरण कर्म्मोपरतम्
२१

श्री

अथ–शतपथब्राह्मण हिन्दी विज्ञानभाष्ये प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम् चतुर्थप्रपाठके–च–तृतीय–ब्राह्मणम् उपक्रान्तम्

'स्रुग्ब्राह्मणम्'

(वृष्टिविज्ञानात्मकम)

क्रमप्राप्त २२ वे कर्म्म के विज्ञानभाष्य की विषयस्मारक-सूची

(पृष्ठ स० १४०५ से १४७४ पृ० पर्य्यन्त)

इति–स्रु गादापनकर्म्मोपपत्ति

१

——*——

२–अथ–आश्रावण प्रत्याश्रावण कर्म्मोपपत्ति

— —

अत्र प्रक्रान्त–ब्राह्मणस्य १७ कण्डिका–उपरता

अथ आश्रावण प्रत्याश्रावण–कर्म्मनिबन्धन–रहस्यपूर्ण "वृष्टिविज्ञानम्"

वृष्टिविद्यानुगत-मूलसूत्र

इति-वृष्टिविज्ञानमुपरतम्

* * *

पञ्चम–अध्याय मे द्वितीय, एव चतुर्थ प्रपाठक मे तृतीय–
'स्रुग्ब्राह्मण' नामक ब्राह्मण–अत्र–उपरत
(वृष्टिविज्ञानात्मक)

———*———

इति-स्रुगादापन--आश्रावण-प्रत्याश्रावणाच

२२

———*———

श्री

अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्ये–प्रथमकाण्डे

त्रिब्राह्मणात्मक–प्रयाजब्राह्मणम्

उपक्रान्तम्

२३--ऋतुयजनात्मक--प्रयाजकर्म्म

क्रमप्राप्त २३ वे कर्म्म के विज्ञानभाष्य की

"विषयस्मारकसूची"

(पृष्ठस० १४५७ से १५४२ पृ० पर्य्यन्त)

* * * * *

इति–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्य–प्रथमकाण्डानुगत–

द्वितीयखण्ड

की

सक्षिप्ता-विषयस्मारकसूची उपरता

*–त्रिब्राह्मणा मक–प्रस्तुत–प्रयाजब्राह्मण की वैज्ञानिकविवेचना क्रमप्राप्ता अग्रिम–तृतीय–खण्ड की ही प्रतीक्षा कर रही है ।

श्री

शतपथब्राह्मण प्रथमकाण्डानुगत द्वितीयखण्डान्तगत कतिपय–परिलेखो की सूचा

———*———

उपरता-चेय-परिलेखसूची

———*———

श्री

शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्य-प्रथमकाण्डानुगत

द्वितीयखण्ड

२

की

संक्षिप्ता-विषयस्मारक सूची

उपरता





अथ

शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये
द्वितीयोऽध्याये
२



अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये
द्वितीयोऽध्याय
२

अथ प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्
प्रथमप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्

१०—उपवेषसम्पादनम्, अग्नौ कपालापधानेन हवि परिपाकम्

(मूल) स वै कपाला येवान्यतर उपपदधाति दृषदुपले अन्यतर । तद्वा एतदुभय सह क्रियते । तद्यदेतदुभय सह क्रियते ॥१॥

शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य—यत्पुरोडाश । स या येवेमानि शीर्ष्ण कपालानि, एतान्येवास्य कपालानि, मस्तिष्क एव पिष्टानि । तद्वा एतदेकमङ्गम् । एक सह करवाव, समान करवावेति । तस्माद्वा एतदुभय सह क्रियते ॥२॥

स यदेनेनाग्निं धृष्णिवोपचरति तेन धृष्टि । अथ यदेनेन यज्ञ उपालभते, उपेव वा एनेनैतद्वेष्टि । तस्मादुपवेषो नाम ॥३॥

तेन प्राचोऽङ्गारानुदूहात—'अपाग्ने अग्निमामाद जहि निष्क्रव्याद सेध' (१ अ० १७ म) इति । अय वा आमात्—येनेद मनुष्या पक्त्वा अश्नन्ति । अथ येन पुरुष दहन्ति स क्रव्यात । एतावेवैतदुभावतोऽपहन्ति ॥४॥

अथाङ्गारमास्कौति—'आ देवयज वह'—(१ अ १७ म) इति । यो देवयाट, तस्मिन् हवींषि श्रपयाम, तस्मिन् यज्ञ तनवामहा—इति । तस्माद्वा आस्कौति ॥५॥

त मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति । देवा ह वै यज्ञ तन्वानास्ते असुर—रक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रु नेन्नोऽधस्तान्नाष्ट्रा रक्षास्युपोत्तिष्ठानिति । अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता ।

तस्मादेवमुपदधाति । तद्यदेष एव भवति ना य । एष हि यजुष्कृतो मेध्य । तस्मा म- ध्यमेन कपालेनाम्युपदधाति ॥६॥

स उपदधाति 'ध्रुवमसि पृथिवी दृ ह–' (१ अ १७ म) इति । पृथि या एव रूपेणैतदेव दृ हति । एतेनैव द्विष त भ्रातृ यमवबाधते– ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातव युपदधामि भ्रातृ यस्य वधाय" (१ अ १७ म) इति । बह्वी वै यजु ष्वाशी तद् ब्रह्म च क्षत्र चाशास्ते । उभे वीर्ये । भूमा वै सजाता, तद् भूमानमाशास्ते । उपदधामि भ्रातृ यस्य वधायेति–यदि नाभिचरेत् । यद्यु अभिचरेद्–अमुष्य वधायेति ब्रूयात् । अभिनिहितमव स यस्य पाणेरङ गु या भवति ॥७॥

अथाङ्गारमास्कौति । नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षास्याविशानिति । ब्राह्मणो हि रक्षसाम पह ता । तस्मादभिनिहितमेव स यस्य पाणेरङ गुल्या भवति ॥८॥

अथाङ्गारमध्यूहति– 'अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व"–(१ अ० १८ म) इति । नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षास्याविशानिति । अग्निर्हि रक्षसामपह ता । तस्मादेवमध्यूहति ॥९॥

अथ यत्पश्चात्तदुपदधाति– 'धरुणमस्य तरिक्ष दृ ह"–(१ अ १८ म) इति । अ तरिक्षस्यैव रूपेणैतदेव दृ हति । एतेनैव द्विषन्त भ्रातृव्यमवबाधते–' ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातव युपदधामि भ्रातृ यस्य वधाय" (१ अ १८ म) इति । ॥१०॥

अथ यत्पुरस्तात्तदुपदधाति–"धर्त्रमसि दिव दृ ह"–(१ अ १८ म) इति । दिव एव रूपेणैतदेव दृ हति । एतेनैव द्विष त भ्रातृव्यमवबाधते–' ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृ यस्य वधाय"–(१ अ १८ म०) इति । ॥११॥

अथ यद्दक्षिणतस्तदुपदधाति– 'विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि"–(१ अ १८ म) इति । स यदिमाल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा । तेनैवैतद् द्विषन्त भ्रातृव्यम- वबाधते । अनद्धा वै तद्–यदिमाल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा । अनद्धो तद्–यद् विश्वा आशा । तस्मादाह– विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि'–इति । तूष्णी वैवेतराणि कपाला युपदधाति । ' चितस्थोर्ध्वचित '– (१ अ० १८ म०) इति वा ॥१२॥

अथाङ्गारैरभ्यूहति-"भृगूणामङ्गिरसा तपसा तप्यध्वम्'-(१ अ० १८ म०) इति । एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यद् भृग्वङ्गिरसाम्। सुतप्तान्यसन्निति-तस्मादेवमभ्यूहति ॥१३॥

अथ यो दृषदुपले उपदधाति-स कृष्णाजिनमादत्ते 'शर्म्मासि'-(१ अ १९ म०) इति । तदवधूनोति—"अवधूतꣳ रक्षोऽवधूता अरातय"-(१ अ १९ म) इति । सोऽसावेव बन्धु । तत् प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणाति-"अदित्यास्त्वगसि प्रति त्वा दितिर्वेत्तु" (१ अ १९ म) इति । सोऽसावेव बन्धु ॥१४॥

अथ दृषदमुपदधाति धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग् वेत्तु"-(१ अ० १९ म) इति। धिषणा हि, पर्वती हि प्रति त्वादित्यास्त्वग वेत्त्विति। तत्सज्ञामेवैतत् कृष्णाजिनाय च वदति नेदन्योन्य हिनसात इति। इयमवैषा पृथिवी रूपेण ॥१५॥

अथ शम्यामुदीचीनाग्रामुपदधाति- 'दिवस्कम्भनीरसि"-(१ अ १९ म०) इति । अन्तरिक्षमव रूपेण । अन्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे । तस्मादाह-दिवस्कम्भनीरसीति ॥१६॥

अथोपलामुपदधाति-"धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु"-(१ अ० १९ म०) इति । कनीयसी ह्येषा दुहितेव भवति । तस्मादाह पार्वतेयीति । प्रति त्वा पर्वती वेत्त्विति । प्रति हि स्व सजानीते । तत् सज्ञामेवैतद्दृषदुपलाभ्या वदति-नेदन्योन्य हिनसात इति । धारेवैषा रूपेण । हनू एव दृषदुपले । जिह्वैव शम्या । तस्माच्छम्यया ममाहन्ति । जिह्वया हि वदति ॥१७॥

अथ हविरधिवपति-"धान्यमसि धिनुहि देवान्"-(१ अ० २ म) इति । धान्य हि । देवान् धिनवदित्यु हि हविर्गृह्यते ॥१८॥

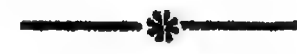
अथ पिनष्टि-"प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धाम्"-(१ अ २ म) इति । प्रोहति "देवो व सविता हिरण्यपाणि प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा'-(१ अ २ म) इति ॥१९॥

तद्यदेव पिनष्टि। जीव वै देवाना हविरमृतममृतानाम्। अथैतदुलूखलमुसलाभ्या दृषदुपलाभ्या हविर्यज्ञ घ्नन्ति ॥२०॥

स यदाह प्राणाय त्वोदानाय त्वेति, तत्प्राणोदानौ दधाति। व्यानाय त्वेति, तद् यान दधाति। दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धामिति तदायुर्दधाति। देवो व सविता हिरण्य-पाणि प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना सुप्रतिगृहीता यसन्निति। चक्षुषे त्वेति तच्चक्षु-र्दधाति। एतानि वै जीवतो भवन्ति। एवमु हैत जीवमेव देवाना हविर्भवत्यमृतममृतनाम्। तस्मादेव पिनष्टि। पिंषन्ति पिष्टानि, अभी धते कपालानि ॥२१॥

अथैक आज्य निर्वपति। यद्वा आदिष्ट देवतायै हविर्गृह्यते—यानदेवत्य तद् भवति। तदितरेण यजुषा गृह्णाति। न वा एतत्कस्यै चन देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशति यदा यम्। तस्मादनिरुक्तेन यजुषा गृह्णाति-"महीना पयोऽसि"-(१ अ २ म) इति। मह्य इति ह वा एतासामेक नाम यद् गवाम्। तासा वा एतत् पयो भवति। तस्मादाह-महीना पयोऽसीति। एवमु हास्यैतत् खलु यजुषैव गृहीत भवति। तस्माद्वेवाह महीना पयोऽसीति ॥२२॥

इति प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम्
प्रथमप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्



७-उपवेष का सम्पादन, अग्नि पर कपालो का स्थापन, एव तद् द्वारा (पुरोडाशसम्पत्ति के लिए) हविर्द्रव्य का परिपाक

(अनुवाद) १—हविर्द्रव्य का परिपाक कपालों में होता है। एतदर्थ कपाल का उपधान होता है। यह उपधान 'गार्हपत्यखर' के अपराद्ध में होता है। इसमें पिष्ट हविर्द्रव्य रक्खा जाता है। एव अङ्गारा से उसका यथाविधि परिपाक किया जाता है। असम्पन्न (अपरिपक्व) यज्ञिय अन्न 'हवि' कहलाता है। एव वही सम्पन्न (परिपक्व) होकर 'पुरोडाश' नाम से व्य-वहृत होने लगता है। इस इष्टि' मे 'आग्नेयपुरोडाश', 'अग्निषोमीय-पुरोडाश' भेद से पुरोडाशद्रव्य दो भागों मे विभक्त है। इसी भाग-क्रम के अनुसार कपाल भी दो भागों में विभक्त

है । आग्नेय कपाल आठ है अग्नीषोमीय कपाल एकादश है । आग्नीध्र नाम से प्रसिद्ध अध्वर्यु का सहकारी ऋत्विक् जल से प्रक्षालित कपालों को लेकर गार्हपत्यखर के पश्चिम भाग मे पूवपश्चिम क्रम से क्रमश आग्नेयपुरोडाश–सम्बन्धी आठ आग्नेय कपालों को रखता है एव गार्हपत्य के उत्तर भाग में पूव पश्चिम–क्रम से क्रमश अग्निषोमीय पुरोडाश–सम्बन्धी ग्यारह अग्नीषोमीय–कपालों का उपधान करता है । इन कपालों का उपधान निम्नलिखित क्रम से होता है । मध्य मे मुख्य प्रथम कपाल रहता है । इसक पश्चिम मे दूसरा पूव मे तीसरा दक्षिण मे चौथा चतुथ के पूव–एक कपाल का व्यवधान छोडकर पाचवा चतुथ पञ्चम के मध्य मे छठा चतुर्थ के पश्चिम में सातवॉ सातव के पश्चिम मे आठवॉ। सब क त्तर मे–नवम दशाम एकादश कपालों का पूवक्रम से उपधान करना चाहिए। अग्नीषोमीय एकादश कपालों का यही उपधानक्रम है ।

अग्नीषोमीय–एकादश–कपालोपधान क्रम–परिलेख

पूर्वा

उत्तरा | दक्षिणा

११	३	५
		६
१	१	४
		७
९	२	८

पश्चिमा

एवं आगे लिखित क्रम आग्नेय अष्ट कपालों का समझना चाहिए। श्रपणस्थान में स्थित मध्य अङ्गार मे मध्यकपाल (मुख्यकपाल–प्रथमकपाल) रक्खा जाता है । मध्यम कपाल के पश्चिमभाग मे द्वितीय कपाल मध्यमकपाल के पूर्व भाग मे तृतीय कपाल के दक्षिण भाग मे चतुथकपाल चतुथकपाल के पूर्व भाग मे पञ्चम कपाल चतुथकपाल के पश्चिम भाग मे षष्ठकपाल मध्यम कपाल क पश्चिम भाग मे स्थापित द्वितीय कपाल के उत्तर मे सप्तम कपाल सप्तम कपाल के पूव मे अष्टम कपाल का उपधान होता है जैसाकि अनुपद में ही पद्धति क्रमनिरूपण मे स्पष्ट होजायगा ।

आग्नेय-अष्टाकपालोपधान-सम्बन्धी क्रम-परिलेख —

	३	५
	१	४
७	२	६
८		

प्रकृत मे इस से हमे केवल यही बतलाना है कि कपालोपधान करना आग्नीध्र का कर्म्म है दृषदुपल से हविद्र व्य का पेषण करना अध्वर्य्यु का कर्म्म है। तात्पर्य्य यही है कि हवि पेषण और कपालोपधान दोनों सहकारी कर्म्म हैं। दोनों एकसाथ होते हैं। ऐसी अवस्था मे एक ही ऋत्विक् तो एक साथ दोनों कर्म्म कर नहीं सकता। अत अध्वर्य्यु पेषणार्थ उसी काल मे दृषदुपल का (हवि पेषणार्थ) उपधान करता है एवं आग्नीध्र उसी काल मे कपालों का उपधान करता है। कपालोपधान बहिरङ्गकर्म्म है। अत अध्वर्य्यु की अपेक्षा बहिरङ्ग आग्नीध्र ही यह कर्म्म करता है। एवं पेषणकर्म्म आहुतिस्वरूप-सम्पादक बनता हुआ अन्तरङ्गकर्म्म है। अत आग्नीध्र की अपेक्षा अन्तरङ्ग अध्वर्य्यु ही पेषणकर्म्म करता है। द्वितीय अध्याय के इस प्रथम ब्राह्मण मे प्रधानरूप से इहीं दोनों कर्म्मों की आवृत् (पद्धति) बतलाई गई है।

ऋत्विजों के मध्य मे आग्नीध्र नाम का एक ऋत्विक कपालों का उपधान करता है एवं अन्यतर (अध्वर्य्यु) ऋत्विक् (हवि पेषणार्थ) दृषदुपल का उपधान करता है। इसप्रकार **'पेशणोपधाने युगपत्'** (का श्रौ सू २।४।२४) के अनुसार ये दोनों कर्म्म एकसाथ किए जाते है। सो जोकि ये दोनों कर्म्म एकसाथ किए जाते हैं (उसकी उपपत्ति बतलाते हैं) ॥१॥

यह यज्ञ का मस्तक है जोकि पुरोडाश है। इस मस्तक सम्बन्धी जो कपाल (खोपडी) हैं वे ही इस यज्ञ के कपाल है। मस्तिष्क ही पिष्टन्य (पिसा हुआ पुरोडाश) है। इसप्रकार (मनुष्य मे) कपाल–स्थानीय कपाल एवं पुरोडाश–स्थानीय मस्तिक दोनो मिलकर **'शिर' 'मस्तक'** आदि नामा से व्यवहृत एक अङ्ग है। (हम भी अपने यज्ञ म) दोनों को एकसाथ बनाते समान बर्ताव इसलिए उपर्युक्त दोनो कर्म एकसाथ किए जाते हैं ॥ ॥

जिन अङ्गारों से हविर्द्रव्य का परिपाक किया जाता है उन्हें हस्ताकृतियुक्त जिस काष्ठ-दण्ड से इस्तत किया जाता है–**'अङ्गारविभजनार्थं काष्ठमुपवेश'** (सा भा) के अनुसार वही काष्ठ **'उपवेष** नाम से प्रसिद्ध है। सो जो ऋत्विक् (आग्नीध्र) कपाला का उपधान करता है वही **'धृष्टिरसीत्युपवेषमादाय'** (का श्रौ ।४।२५) के अनुसार **धृष्टिरसि'** (१) (यजु १।१७) यह मन्त्र बोलता हुआ उपवेष उठाता है। वह आग्नीध्र इस हस्ताकृतियुक्त काष्ठ से अङ्गाराग्नि का घर्षण करता है। अर्थात् जिस प्रगल्भता के साथ साकर्य्य के साथ काष्ठ से अग्नि को इधर उधर किया जासकता है उसप्रकार हाथों से (जलने के भय से) वैसा नही किया जासकता। अत प्रगल्भार्थक **ञिधृषा'** (स्वा प ३) धातु से **धृष्णोति अनेन'** इस करण–व्युत्पत्ति से इस काष्ठखण्ड को **'धृष्टि'** कहा जाता है। इस काष्ठखण्ड से अङ्गारादि को यथावत् प्राप्त करने मे समर्थ होता है। इस उपवेष से अङ्गारों के द्वारा यज्ञ का परिवेष्टन करता है। उसका स्वरूप सम्पादन करता है। अत व्याप्त्यर्थक **विष्लृ'** धातु से (जु उ १३) **ववेष्टीव अनेन'** इस व्युत्पत्ति से इस काष्ठ को **उपवेष'** नाम से व्यवहृत किया जाता है ॥३॥

इस उपवेष से (वह आग्नीध्र) **'अपाग्न इत्यङ्गारान् प्राच करोति** (का श्रौ २।२।४। ५) के अनुसार **'अपाग्ने अग्निमामद जहि निष्क्रव्याद सेध** (२) (यजु १।१७ यह मन्त्र बोलता हुआ गार्हपत्यखरस्थ अपरभागीय अङ्गारों को पूर्वभाग मे लेजाता है। कारण इसका यही है कि **खर'** के अपरार्द्ध भाग में कपालोपधान का विधान है। अत इस स्थान को रिक्त करने के लिए यहा से अङ्गारोदूहन आवश्यक है। वह अग्नि **आमात्** है जिससे कि

(१) प्रज्वलित अतएव तीव्र अङ्गारों को यह उपवेष इतस्तत करने में समर्थ है इसलिए कहते है–हे उपवेष ! आप धृष्टि है। अर्थात् प्रगल्भ है। एकवात और ध्यान में रखनी चाहिए। यदि यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण है तो उसका उपवेष पलाशशाखा का होता है। क्योंकि **पालाशो वै ब्रह्म** के अनुसार पलाश ब्रह्मवीर्य्य युक्त है। इसी आधार पर–**मूलत शाखा परिवास्य–उपवेष करोति** (सा भा १।१७) यह कहा जाता है।

२–हे अग्ने ! आप अपने **आमात्–क्रव्यात्** स्वरूप का परित्याग कीजिए। शेष भाष्य में स्पष्ट होगा।

मनु य अन्न का परिपाक किया करते है। एव जिससे पुरुष को चलाते है वह अग्नि क्रव्याद् है। इन्हीं दोनों भागों का इस (देवप्राणमय) यज्ञ से (उक्त मन्त्र के द्वारा) पृथक् करते है ॥४॥

अङ्गारादूहनानन्तर– आ देवयजनमित्यङ्गारमाहृत्य (का श्रौ २।२।४।१६) के अनुसार 'आ देवयज वह (१।१७) यह मन्त्र बोलता हुआ ऋत्विक (पुरोडाश के श्रपणार्थ) अङ्गारा का विभाग करता है। जो अग्नि देवयाट् (देवताओं का यजन करने वाला) है उसी मे हम हविद्रव्य का परिपाक करें उसी मे यज्ञ को वितत कर इसी (देवभागप्राप्ति के) लिए अङ्गारा को विभक्त करता है ॥५॥

आ देवयजन वह इस मन्त्र से पूर्वदिशा मे लेगए हुए अङ्गारो में से मध्य के एक अङ्गार का उपवेष के द्वारा पुरोडाश–श्रपणस्थान म लाकर वहा उसे प्रतिष्ठित कर आग्नीध्र उस प्रतिष्ठित अङ्गार के ऊपर एक कपाल रखता है। अङ्गार के ऊपर कपाल क्यों रक्खा जाता है? इस का उपपत्ति बतलाते है। यज्ञ का वितान करते हुए देवता असुरा के आक्रमण से भयत्रस्त होपडे। 'असुर राक्षस हमारे इस हवि के नीचे से न निकल पडे' देवताओ के भय का यही कारण था। अग्नि राक्षसा का नाशक है। इसलिए इसप्रकार (अङ्गार के ऊपर) कपालोपधान करते है। अन्य कपालों मे से यही एक मध्यकाल असुरा को नष्ट करने मे समर्थ है। अन्य कपाल नही। क्याकि यही यजुष्कृत् (मन्त्रबल से युक्त) होता हुआ मेध्य है। इसलिए मध्यम कपाल से ही प्रथम उपधान करते है ॥६॥

कर्म का ब्राह्मण (उपपत्ति–विज्ञान) बतला दिया गया। अब पद्धति बतलाते है। वह आग्नीध्र– 'ध्रुवमसि पृथिवी दृंह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय' (१।१७) यह मन्त्र बोलता हुआ कपाल को अङ्गार पर रखता है। 'ध्रुवमसि पृथिवी दृंह' यह बोलता हुआ आग्नीध्र प्रथिवी के स्थिररूप के द्वारा कपाल को स्थिर बनाता है। इसी स्थिर एव दृढभाव से यह आग्नीध्र द्वेष करने वाले भ्रातृव्य को नष्ट करता है। यजुर्मन्त्रों मे पुत्र प्रजा धन आदि अनेकप्रकार की आशी है। अर्थात् भिन्न भिन्न मन्त्रों से भिन्न भिन्न फल प्राप्त किए जाते है। उन सब मे से प्रकृत मे 'ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि त्वा इस मन्त्र भाग से ब्रह्म, और क्षत्र की कामना की जाती है। सम्पूर्ण विश्व मे ये ही दोनों वीर्य्य है। भाई बन्धु (जातिबन्धु) सजात है समानवंशज है। सजातवर्ग ही मनुष्य की भूमा (समृद्धि) है। 'सजातवनि' से इसी भूमाभाव की याञ्चा की जाती है। इन सम्पूर्ण भावनाओं को रखता हुआ आग्नीध्र अन्त मे 'उपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय' यह बोलता हुआ कपाल रखता है। ऐसा यह तभी बोलता है

जब कि किसी पर अभिचार की आवश्यकता न हो। यदि सचमुच म यजमान का कोई प्रत्यक्ष में प्रबल शत्रु है एव उसे नष्ट करना है तो आग्नीध्र को चाहिए कि अमुष्येति द्विषन्तं दे-अभिचरन्' क अनुसार उक्त वाक्य मे उस शत्रु का नाम और समाविष्ट करदे। उपदधामि-मामकृतिक-पारतन्त्र्यस्य वधाय' इत्यादिरूप से नामोल्लेख करदे यही तात्पर्य है। कपालो पधानानन्तर वह आग्नीध्र बाम हस्त से कपाल का स्पर्श किए रहता है। स्पर्श किए हुए ही ॥७॥

दक्षिण हाथ से अन्य अङ्गार का आहरण करता है। अन्य अङ्गारोपधान एव कपाल के यवच्छद से मध्य मे असुर राक्षस प्रविष्ट न होजायें इसीलिए ऐसा किया जाता है। ब्राह्मण राक्षसों का अपहन्ता है। इसलिए आग्नीध्र वामहाथ की अङ्गुलि मे कपाल का स्पर्श किए रहता है ॥८॥

अनन्तर—'अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व यह मन्त्र बोलता हुआ वामहस्त की अनामिका अङ्गुलि से स्पृष्ट कपाल म अङ्गार रखता है। पुरोडाशश्रपण के पूर्व ही कपाल म असुर राक्षस प्रविष्ट न हो पड इसीलिए कपाल मे अङ्गार रक्खा जाता है। अग्नि राक्षसा का नाशक है। इसलिए इसी से कपाल को युक्त करते है ॥९॥

मध्यम कपाल के उपधानानन्तर 'धरुणमिति पश्चात् (का श्रौ २।४।३) क अनुसार मध्यम कपाल के पश्चिम भाग मे प्रथमोपहित कपाल से सलग्न कर-धरुणमस्य तरिक्ष दृंह ब्रह्मवनित्वा० इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र द्वितीय कपाल रखता है। अन्तरिक्ष म जो दृढता है उसीसे इस दूसरे कपाल का युक्त करते है। शेष पत्र से गतार्थ है ॥१०॥

द्वितीय कपालोपधानानन्तर पुरस्ताद्धर्त्रमिति' (का श्रौ २।४।३१) क अनुसार-'धर्त्रमसि दिवं दृंह' यह मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र मध्यम कपाल के पूर्वभाग मे प्रथमोपहित कपाल से सलग्न कर उसके पूर्वभाग मे तृतीय कपाल का उपधान करता है। द्युलोक मे जो दृढता है उसीसे इस तीसरे कपाल को युक्त करते है। शेष भाग पूर्व से गतार्थ है ॥११॥

तृतीय कपालोपधानानन्तर विश्वाभ्य इति दक्षिणत' (का श्रौ २।४।३०) के अनु-सार विश्वाभ्यस्त्वा आशाभ्य उपदधामि' यह मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र प्रथम कपाल के दक्षिण भाग म प्रथमोपहित कपाल से सलग्न कर चतुर्थ कपाल का उपधान करता है। पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ इन तीनों लोकों से अतिरिक्त चौथा लोक है अथवा नहीं-यह सन्दिग्ध विषय है। उसी सन्दिग्धभावापन्न चौथे लोक से यह अपने (यजमान के) शत्रुओं को निकालता है।

तीना लोको का अतिक्रमण करने वाला चोथा लोक अनद्धा (अप्रकट) है। नह है अथवा नही यह स्पष्टरुप से नहीं कहा जासकता। इधर ये विश्या आशाऽ (सम्पूर्ण दिशा एव आशाए) अनद्धा है। इसी सनानीय भाव का लक्ष्य म रखकर 'निश्वाभ्गास्त्वा आशाभ्गा यह कहा गया है। इसप्रकार प्रथम, द्वितीय तृतीय, चतुर्थ-(मध्यम पूर्व पश्चिम दक्षिण) इन चारो कपालों का उपधान तो समन्त्रक होता है एव इतर (शेष बचे हुए) कपालों को वह आ नीध्र तूष्णी ही रख देता है। अथवा शेप चार आग्नेय कपालो को 'मम निभ य द्व दक्षिणत एवमुत्तरत श्चित-स्थति' (का श्रा० सू २।४।३३) क अनुसार चितस्थोध्र्वचित ' यह मन्त्र बोलता हुआ दो म यम कपाल के उत्तर मे एव दो मध्यम कपाल क दक्षिण म इस क्रम से रखदे ॥१ ॥

इसप्रकार आग्नेय अष्टाकपालोपधानानन्तर- 'भृगूणामत्यङ्गारैरभ्यूहति (का श्रो २।४।३७)क अनुसार'भृगूणामङ्गिरमा तपसा तप्यध्वम्' यह मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र अङ्गारों से कपालों को आच्छान्ति करता है। यह अतिप्रखर तेज है जोकि भृगु-अङ्गिरा का तेज है। हमारे कपाल श्रष्ट प्रखर तेज से सुतप्त होजाय इसीलिए उक्त मन्त्र क द्वारा अङ्गारों से कपाला को आच्छान्ति किया जाता है ॥१३॥

इति-कपोलापधानम्

ब्राह्मण क प्रारम्भ में ही बतलाया गया है कि कपालोपधान और दृषदुपलोपधान साथ साथ होता है। कपालोपधान आग्नीध्र करता है एव हवि पेषणार्थ दृषदुपलोपधान अध्वर्यु का कर्म्म है। जो ऋत्विक (अ वर्यु) कपालोपधान के साथ दृषदुपलोपधान करता है वह शर्म्मासीति यह बालता 'कृष्णाजिनमादत्ते पूर्ववत् प्रतिकृष्णाजिनम्' (।४।२) के अनुसार कृष्णमृग चर्म्म उठाता है। अनन्तर- अवधूत रक्षोऽवधूता अरातय यह बोलता हुआ मृगचर्म्म को भाडता है। इसका वही पूर्वोक्त तात्पर्य है। अनन्तर- अदित्यास्त्वगसि प्रतित्वा दितिर्वेत्तु यह मन्त्र बोलता हुआ अ वर्यु से प्रतीचीनग्रीव बिछाता है। इस की भी वही पूर्वोक्ता उपपत्ति है ॥१४॥

कृष्णमृगचर्म्मास्तरणानन्तर तस्मिन् दृषद धिषणासीति (का श्रो २।५।३) के अनुसार अध्वर्यु कृष्णमृगचर्म्म पर- धिषणामि प तीी प्रतित्वादित्यास्त्वग वेत्तु (१। ६) यह मन्त्र बोलता हुआ बिछे हुए कृष्णमृगचर्म्म पर दृषत (सिल) रखता है। पेषणीय तण्डुलों को अपने ऊपर धारण करने के कारण यह दृषत् धिषणा (धारणशीला) है। पर्वत की अवयव

भूता हाने से पाती है। मृगचर्म्मरूप अग्निप्रथिवी क चर्म्म क साथ इसका सम्बन्ध प्रकट कराने क लि स सनातीय सम्ब ध क द्वारा ाना र हिंसकभाव को दूर करने क लिए ही प्रति ना इ याद कहा ह। प्रथिवी अ तरिक्ष-द्यो-तीना मे निदान क अनुसार यह दृषत् प्रथिवी रूप से मृगचर्म्म पर प्रतिष्ठित समझनी चाहिए ॥१५॥

दृषदुपधानान तर 'पश्चा छम्यामपोहत्युदीची-'दिव' इति (का श्रो २।५।४) के अनुसार दिवस्कम्भनीरास यह म त्र बोलता हुआ अ वर्यु षत् क पश्चिम भाग मे शम्या को उत्तराग्र प्रतिष्ठित करता है। तीनों लोको मे से यह शम्या अ तरिक्ष का रूप है। मध्यस्थ अन्तरिक्ष क आधार पर ही उपक्रमोपसहार स्थानीय प्रथिवी एव द्यु लोक स्वस्थान मे स्थित है। इसी आधार पर शम्या क लिए दिव स्कम्भनीरास' यह कहा है ॥१६॥

शम्या को प्रतिष्ठित करने क अन तर-'दृषद्यु पला धिषणासीति' (का श्रो २।५।५) के अनुसार धिषणासि पार्वतयी प्रति ना पवती वेत्तु' (१।१६) यह म त्र बालता हुआ अ वर्यु दृषत् के ऊपर उपल (लाढी) को प्रतिष्ठित करता है। यह उपल दृषत् की अपेक्षा छोटी सी होती है। अत निदान क द्वारा यह उस दृषत् की क या है। दृषत् पवती है। उसकी क या होने से उपल पार्वतेयी है। अपना अपने को पहिचान लेता है यह एक साधारण नियम है। इसी स्वाभाविक सम्ब ध को अभि यक्त करने क लिए 'प्रति बा प ती ' इ यादि कहा है। स्व का स्व से परिचय होनाने से एक दूसरे पर हिंसावृत्ति न रक्ख यही ता पर्य्य है। निदान क अनुसार यह उपल द्यु रूपा है। चर्म्म दृषत् उपल-शम्या आदि से ही यज्ञपुरुष का स्वरूप निर्म्माण किया जाता है। इनमे दृषत्-उपल यज्ञपुरुष के 'हनू (दृषत् पू वहनु उपल पश्चिम हनु) है। दोना क मध्यस्थ शम्या जिह्वा है। हनूमध्यस्था जिह्वा ही श द प्रयोग करने मे समर्थ है। अतएव यहा इस वैधयज्ञ म भी ऋत्विग्गण जिह्वा-स्थानीया शम्या से ही दृषत् क आधार पर समाहनन करते है ॥१७॥

अन तर-'धान्यमसीति तण्डुलानोप्य (का श्रो २।५।६) क अनुसार-धान्यमसि धिनुहि देवान् (१२) यह म त्र बोलता हुआ अध्वर्यु (पेषणार्थ) दृषत् पर हवि का आवपन करता है। यह हविद्र य तृप्ति का साधक होने से धिनोति (प्रीणयति) आत्मगतान् देवान् इस युत्पत्ति के अनुसार 'धा य है। यह यज्ञिय देवताओं को तृप्त करै इसीलिए तो यहा इसका ग्रहण किया जाता है। ऐसी अवस्था म इसके लिए 'धान्यमसि इ यादि कहना उचित ही है ॥१८॥

हविरावपनानन्तर 'पिनष्टि प्राणाय वात प्रतिमन्त्रम्' (का औ ७।५।६) के अनुसार– 'प्राणाय वा पिनष्मि, उदानाय वा पिनष्मि, यानाय वा पिनाष्म' (।२) यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु हवि पेषण करता है। अनन्तर–दार्घामिति कृष्णाजिने प्रोहति (२।५।७) के अनुसार दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धा देवो व सविता हिरण्यपाणि प्रातगृभणा वच्छिद्रेण पाणिना (१।२) यह मन्त्र बोलता हुआ पिष्ट हवि को दृषत के नीचे बिछे हुए मृगचर्म्म पर स्थापित कर देता है ॥१६॥

अध्वर्यु 'प्राणाय त्वा' इत्यादि रूप से जिस प्रयोजन को लक्ष्य मे रखकर हवि पेषण करता है वह बतलाते है। अमृतभावापन्न देवताओं का हवि जीवलक्षण ही होता है। अमृतात्मा के लिए अमृत अन्न ही उपयुक्त होता है। इधर ऊखल–मुसल से एव दृषद्–उपल से यज्ञमूर्त्ति हवि का कूट पीसकर निर्ज्जीव बना देते है। कुटा पिसा अन्न मर्त्य है–जीव नही। अत जबतक जीवस्वरूपसम्पादक प्राण उदान (अपान) व्यान का पिष्ट हवि के साथ सम्बन्ध नही करा दिया जाता तबतक यह हवि अजीव है। मर्त्य है। अतएव देवान्न–मर्यादा से रहित है। इस आपत्ति को दूर करने के लिए ही प्राणाय त्वा इत्यादि बोल कर हवि पेषण किया जाता है ॥२ ॥

सो जो कि अध्वर्यु प्राणाय त्वा उदानाय त्वा' बोलता है इससे इस पिष्ट अतएव निर्ज्जीव हवि मे प्राणोदान का समावेश करता है। 'व्यानाय त्वा' से व्यान का समावेश करता है। 'दीर्घामनु' इत्यादि से दीर्घ आयु का सन्निवेश करता है। हमारा यह हवि देवता के हाथ से गृहीत होता हुआ सुगृहीत बने इसलिए–'देवो व इत्यादि बोला जाता है। चक्षुषे त्वा से चक्षुरिन्द्रिय का समावेश किया जाता है। जीवित व्यक्ति के ये ही लक्षण हैं। इन सबसे इस–प्रकार युक्त होता हुआ पिष्टहवि देवताओ के लिए 'जीव' बन जाता है। अमृतात्माओं के लिए अमृतान्न बन जाता है। इन्ही कारणो को लक्ष्य मे रखकर उक्त प्रकार से हवि पेषण करते हैं। ऋत्विक् हवि पीसते है। उधर कपालों को तप्त करने के लिए अन्य ऋत्विक् अङ्गारों को प्रज्वलित करते है॥ १॥

जिस समय अध्वर्यु हवि पेषण करता है उसी समय ब्रह्मा 'पिष्यमाणेषु निर्वपत्य–न्यो महीनामित्या यम्' (का औ २।५।८) के अनुसार सम्पूर्ण पिष्ट हवि मे आज्य (घृत) डालते है। तात्पर्य्य यही है कि सूत्रकार के मतानुसार पेषण और आज्य–निर्वाप दोनों कर्म्म एक साथ होने चाहिएँ। इस यज्ञ मे देवताओं के लिए जितना हविद्रव्य अपेक्षित होता है तत्त

न्यनाओ क लिए नाम बोल नालकर उतना हा हाम न लिया नाता है। उस समय आय के लिए किसी देवता का नामोल्लेख नही हाता। अत आयग्रहण-'**महीना पयोसि**' इस अनिरुक्त मन्त्र से हा हाता है। मही गोजाति का एक नाम है। उन्ही का यह पय है। इसी मन्त्र क द्वारा यह आय यजुग्रहाल होना है। सी आधार पर-'**महीना पयोऽसि**' यह कहा है ॥२२॥

प्रथमकाण्डान्तगत-द्वितीयाध्याय का प्रथम ब्राह्मण उपरत।
प्रथमकाण्डान्तगत-प्रथमप्रपाठक का पञ्चम ब्राह्मण उपरत ॥

१।२।१।—१।१।५।

अध्यात्मयज्ञरहस्य—

(भाय) हवि श्रपणाथ कपालोपधान एव हवि पेषणाथ दृषदुपलोपधान दानो कम्म एक साथ क्यो किए नाते है? इस प्रश्न का वज्ञानिक समाधान करत हुए महर्षि याज्ञवल्क्य अध्यात्मविज्ञान का ही स्पष्टीकरण कर रहे है। उनका कहना है कि अ यात्मयज्ञ में कपालस्थानीय **शिरोभाग** एव पिष्ट पुरोडाश स्थानीय **मस्तिष्क (भेजा)** का दोनो का नि र्माण एक साथ होता है अत तत्प्रतिकृतिभूत हमारे इस वैध मनुष्य यज्ञ मे भी वैसा ही करना उचित है। पूवप्रतिपादित यज्ञसम्बन्धी तत्तत् कर्म्मों की अ यात्मविज्ञान के साथ तुलना करते हुए हमने ऐसा सकल्प यक्त किया था कि **पुरोडाशब्राह्मण** में इस विषय का विषद विवचन किया जायगा। अब वह अवसर आगया है। अत सक्षेप से **अ यात्मयज्ञविज्ञान** का स्वरूप वदप्रेमी पाठको के समक्ष उपस्थित किया जारहा है। आशा है-विषय की दुरुहता को लक्ष्य मे रखते हुए पुनरुक्ति-भावो की उपेक्षा न की जायगी।

सनातनशास्त्र **मौलिक** एव **यागिक** भेद से दो भागों में विभक्त है। मौलिकतत्व विज्ञानशास्त्र में **ब्रह्म** नाम से प्रसिद्ध है एव यौगिक तत्व **यज्ञ** नाम से व्यवहृत हुआ है। यज्ञ **आधेय** है एव ब्रह्म **आधार** है। ब्रह्म के आधार पर ३३ तन्तु युक्त यज्ञ का वितान होता है। आज की विज्ञानभाषा में समझने मात्र के लिए-यदि ब्रह्मतत्व को हम आधुनिक विज्ञानपरिभाषा के अनुसार **फिजिक्स** एव यज्ञतत्व को **केमेस्ट्री** कहें तो कोई क्षति न होगी। विज्ञानवत्ता यह भलीभाति जानते है कि दो पदार्थों का रासायानक सयोग (सम्मिश्रण) होने से दोनो पदार्थों का पूवस्वरूप उपमार्दित हाजाता है। एव दोनो के इस रासायनिक सयोग से एक अपूव नवीन पदाथ उत्पन्न होजाता है। जिनके सयोग से यह अपूव पदाथ उत्पन्न होता है व दोनो मौलिक हैं। इन मौलिक ब्रह्मो का सामान्य सम्बन्ध अपूवता का कारण नही बनता। ऐसा सामान्य सम्बन्ध तो **योग** सम्बन्ध ही कहलाता है। दूध और पानी का सम्बन्ध ऐसा ही है। परन्तु **अन्तर्य्याम** नाम से प्रसिद्ध **ग्रन्थिबन्धन** सम्बन्ध से दोनों का स्व स्वरूप उपमर्दित अभिभूत होजाता है। **सोरा** एव **कोयला** दोनो में जब ऐसा सम्बन्ध होजाता है तो तीसरा अपूव स्वरूप उत्पन्न होजाता है। वही

बारूद है। इसी सम्ब ध को **यज्ञ** कहा जाता है। यही यज्ञ **याग** नाम से प्रसिद्ध है। **योग** व **याग (यज्ञ)** मे यही महान् अ तर है।

सर्वथा सुसूक्ष्म आ मतत्व अपने क्षरभाग के द्वारा एकमात्र इसी यज्ञसम्ब ध के कारण **विश्व** एव **विश्व में रहने वाली प्रजा** के स्वरूप में परिणत होरहा है। स पूर्ण प्रपञ्च दो मौलिक त वो का सयोगमात्र है। दो त वो के मिलने से ही यह विश्व विनिर्म्मित है। विश्व में दो नियतियो का ही साम्राज्य ह। दूसरे श दो में–विश्व **द्विनियति** है। सी **द्विनियति** का रूपा तर–**दुनिया** ह। **दुनया दुरङ्गी है**। अर्थात् सद व यागामिका द्विनियति स आक्रान्ता ह।

प्रश्न होता है कि जिन दो त वो के सयोग से दूसरे श दो में **याग** से यह विश्व उ पन्न हुआ है उन दोनों का क्या स्वरूप ह ? एव विज्ञानजगत् में व किन नामों से प्रसिद्ध है ? । इस प्रश्न का समाधान करने के लिए सुपरिचित **तेज** एव **स्नेह** दो त व ही हमारे सम्मुख उपस्थित होत है। तेज त व अङ्गिरा है एव नेहत व भृगु ह। अङ्गिरा **अग्नि** ह एव भृगु **सोम** ह। आ नत व तेजोरूप होने से **विशकलन धर्म्मा** ह एव सोमत व स्नेहरूप होन से **सकोचधर्म्मा** ह। जब अग्नित व म सोमत व प्रविष्ट होजाता ह याज्ञिक परिभा । के अनुसार–जब अग्नि में सोम आहुत होजाता ह तो पदाथ का स्वरूप उत्पन्न होजाता है। अग्नि **गतिधर्म्मा** ह एव सोम **स्थितिधर्म्मा** ह। गति और स्थिति का समु चय ही पदाथ ह। प्र येक पदाथ बनता हुआ बिगड रहा ह। विशकलित परमाणुओ का सगठन ही तत्तत् पदाथो की उ पत्ति ह एव यही उसका **बनना** ह। यह क्रिया स्नेहधर्म्मा सोम पर निभर है। जब स्नेहसूत्र वि छन्न होजाता है तो पदाथ के परमाणु श्लथ होते हुए विकीर्ण होजाते हैं बिखर जाते ह। यही उस प ाथ की विनष्टि ह। सम्भूति सोमाहुति पर निभर है एव विनाश शुद्ध अग्नि की कृपा है। जबतक स भूति–मूलक सोम अ न में आहुत होता रहता है तभीतक यज्ञ है। जबतक यज्ञ है तभीतक पदाथ का जीवन है। जिस दिन सोमाहुति अवरुद्ध होजाती है पदाथस्वरूप नष्ट होजाता है। यज्ञ ही विश्व का जीवन है। यज्ञ के द्वारा ही इश्वरप्रजापति ने सबका नि र्माण किया ।

अग्नि मे साम का आहुत होना ही यज्ञ है यह सिद्धा त व्यवस्थित हुआ। यह यज्ञ **प्राण–प्राणी–भूत** मे से तीन भागों म विभक्त है। **प्राणलक्षण यज्ञ आधिद वक यज्ञ है प्राणीलक्षण यज्ञ आ यात्मिक यज्ञ है एव भूतलक्षण यज्ञ आधिभौतिक यज्ञ है**। ये तीनो ही प्राकृतिक यज्ञ है। इन तीनो का प्रवत्त क इश्वरप्रजापति है। उसका यह यज्ञ कभी अवरुद्ध नही होता। म त्रिधा विभक्त नि ययज्ञ के आधार पर ही ऋषियोन **मनुष्ययज्ञ** किवा **वैधयज्ञ** का वितान किया है जसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। तीनो यज्ञों में से भूतयज्ञ को अभी छोडते है एव शेष **प्राणयज्ञ** तथा **प्राणीयज्ञ** की ओर ही आपका यान आकर्षित करते है। प्राणीयज्ञ का मूलाधार प्राणयज्ञ है अत प्रधान होने से सवप्रथम उसी का सक्षिप्त स्वरूप उपक्रा त होरहा है।

(१)–"प्राणलक्षण आधिदविक यज्ञ"–

जिस अग्नीषोमा मक यज्ञ का पूर्व के सन्दभ मे दिगदशन क राया गया है वह यज्ञ **पाङ्क्तो वै यज्ञ** इस अनुगमश्र ति के अनुसार पाच भागों में विभक्त है। अनुगमश्र तिया अनेक अर्थों का प्रतिपादन करती

है। यज्ञ की पाङ्क्तता (पञ्चावयवता) अनेक भावो से सम्बन्ध रखती है। अतएव **पाङ्क्तो वै यज्ञ** इस रूप से इसका उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ–विश्वव्यापक **महायज्ञ** को (जोकि **महायज्ञ सत्र हतयज्ञ** नाम से प्रसिद्ध है) ही लीजिए। इस महायज्ञ के—**स्वयम्भू परमेष्ठी सूर्य्य चन्द्रमा पृथिवी** ये पाच अवयव है। सम्वत्सरयज्ञ के—**अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास चातुर्मास्य पशुबन्ध (अयन) साम** भेद से पाच अवयव हैं। प्रकारान्तर से **पाकयज्ञ (गृह्ययज्ञ–स्मार्त्तयज्ञ) हविर्यज्ञ महायज्ञ अतियज्ञ शिरोयज्ञ**–भेद से भी यज्ञ पाङ्क्त है। **तीन लोक दो सन्धिया** इस प्रकार से भी यज्ञमूलक अग्नि पञ्चचितिक है।

प्राण अपान उदान समान व्यान भेद से अध्यात्मयज्ञ भी पाङ्क्त है। **गुहा आप ज्योति रस अमृत** भेद से अधिभूतयज्ञ भी पाङ्क्त ही है। निदर्शनमात्र है। यज्ञ जितने भी है सब पाङ्क्त हैं। इन सब मे से प्रकृत में सम्वत्सरयज्ञ की पाङ्क्तता ही अत्र अभिप्रेत है। बृहतीछन्द के मध्य में (विष्वद्वृत्त के मध्य में) सूर्य्य स्थिररूप से तप रहा है। इसको केन्द्र मान कर भूपिण्ड अपने अक्ष पर घूमता हुआ सूर्य्य के चारो ओर नियत मार्ग पर परिभ्रमण किया करता है। जिस स्थिर वृत्त पर भूपिण्ड परिक्रमा करता है वह वृत्त **क्रान्तिवृत्त** नाम से प्रसिद्ध है। इस क्रान्तिवृत्त में **पार्थिव गायत्राग्नि** एव **सौर सावित्राग्नि** भरा हुआ है। इस स्थिर माण्डलिक प्राणाग्नि का नाम ही **सम्वत्सरप्रजापति** है। अग्नि **अन्नाद** (अन्न खाने वाला) है। जबतक इसमें अन्न की आहुति होती रहती है तभीतक यह अन्नाद स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। जिस अन्न की इस सम्वत्सराग्नि में आहुति होती है वह **सोम** नाम से प्रसिद्ध है। अग्नि **दाहक** तत्त्व है एव सोम **दाह्य है**। दाह्य सोम की आहुति से दाहक अग्नि प्रज्ज्वलित होजाता है। सोम की आहुति से ही **अहोरात्र पक्ष ऋतु अयन** वर्ष भेद से व्यापक अग्नितत्त्व पाच भागो मे विभक्त होजाता है। इसीलिए अग्नीषोमात्मक सम्वत्स यज्ञ भी पाच भागो में विभक्त होजाता है। **अहोरात्रयज्ञ ही अग्निहोत्रयज्ञ है। पाक्षिकयज्ञ ही दर्शपूर्णमासयज्ञ है। ऋतुयज्ञ ही चातुर्मास्ययज्ञ है। अयनयज्ञ ही पशुबन्धयज्ञ है। एव सम्वत्सरयज्ञ ही सोमयज्ञ है।**

इसप्रकार एक ही यज्ञ कालपर्वभेद से पाँच स्वरूप धारण कर लेता है। इस प्राकृतिक सम्वत्सरयज्ञ के **हविर्यज्ञ सोमयज्ञ** भेद से दो विभाग समझने चाहिए। प्रतिष्ठालक्षण पृथिवी (पिण्डपृथिवी)–यज्ञ ही हविर्यज्ञ है। एव स्तौम्यत्रिलोकी में व्याप्त **महायज्ञ** किंवा **वितानयज्ञ** ही सम्वत्सरयज्ञ है। भूपिण्ड का जो भाग सूर्य्य की ओर रहता है उसमें सौर दिव्य प्राण की प्रधानता रहती है। सौर अग्नि **आहवनीय** कहलाता है। ऐसी अवस्था में सूर्य्यानुगत पार्थिव दिव्याग्नि को हम अवश्य ही भूपिण्डरूप हविर्यज्ञ का **आहवनीय** मान सकते हैं। एव सूर्य्य के प्रतिदिक् में रहने वाला पार्थिवाग्नि पृथिवी का प्रातिस्विक भाग है। यह पार्थिवाग्नि पृथिवीरूप गृह का पति बनता हुआ **गार्हपत्याग्नि है**। एव दक्षिणभागस्थ **वायुरूप ऋताग्नि दक्षिणाग्नि** किंवा **अन्वाहार्य्यपचनाग्नि है। तथा ओषधि वनस्पतियाँ हविर्द्रव्य है**। उसी ऋताग्निरूप दक्षिणाग्नि से इस हवि का परिपाक होता है। परिपक्व हवि की उस दिव्याग्नि किंवा आहवनीयाग्नि में आहुति होती है। यह है प्रतिष्ठालक्षण भूपिण्डस्वरूप हविर्यज्ञ का सक्षिप्त स्वरूप।

अब सम्पूर्ण भूपिण्ड को गार्हपत्य समझिए। न केवल भूपिण्ड को ही अपितु त्रिवृत्स्तोमपर्य्यन्त गार्हपत्य की सत्ता मानिए। क्योकि भूपृष्ठ से ऊपर त्रिवृत्स्तोम पर्य्यन्त पृथिवीलोक (स्तौम्यत्रिलोकी के पृथिवी

लोक) की ही सत्ता रहती है । पञ्चदशस्तोमपर्य्यन्त **नक्षत्राग्नि** के सम्बन्ध से **धिष्ण्य** नाम से प्रसिद्ध **दक्षिणाग्नि** है । एकविंशस्तोम पर्य्यन्त दिव्य आहवनीयाग्नि है । आहवनीय की सत्ता यद्यपि सप्तदश स्तोम पर ही है । किन्तु सोमाहुति से वह अग्नि २१ स्तोम पर्य्यन्त व्याप्त होजाता है । अत वहांतक आहवनीय की सत्ता मानली जाती है । इसी आहवनीय में सोम की आहुति होती है । इसी आहुति से संवत्सरयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है ।

इस अग्नीषोमात्मक यज्ञ से ही सम्पूर्ण पार्थिव–विश्व का सञ्चालन होरहा है । पार्थिव–**लोक–प्रजा धर्म्म–वेद** आदि सम्पूर्ण सृष्टियों का प्रवर्त्तक यही अग्नीषोमात्मक सम्वत्सरयज्ञ है । उत्पन्न होने वाली प्रजा का प्रभव प्रतिष्ठा परायण यही सम्वत्सरयज्ञ है । अतएव ब्राह्मणग्रन्थों में इसे **प्रजापति** शब्द से व्यवहृत किया गया है । प्रजापतिने यज्ञ के द्वारा सम्पूर्ण प्रजा (पार्थिव विश्वान्तगत स्थावर जङ्गमरूप यच्चयावत् पदार्थ) उत्पन्न की है । इसी यज्ञ से प्रजापति अपना **इष्ट** साधन कर **आप्तकाम** बन रहे हैं । ऐसी अवस्था में ईश्वरप्रजापति के प्रतिरूपात्मक संवत्सरप्रजापति के अंशभूत पुरुषप्रजापति (मनुष्य) के इष्ट साधन के लिए आप्तकाम बनने के लिए यदि कोई सर्वोत्तम साधन है तो यही यज्ञ । यज्ञ के द्वारा यह सबकुछ प्राप्त करने में समर्थ है । इसी **प्राजापत्ययज्ञ**–विज्ञान को लक्ष्य में रखकर यज्ञेश्वर भगवान् **मधुसूदन** कहते हैं—

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

—गीता

यह है आधिदैविक **प्राणलक्षण** प्राकृतिक यज्ञ का संक्षिप्त निदर्शन । अब प्राणीलक्ष **अध्यात्म–यज्ञ** की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित किया जारहा है ।

(२) प्राणीलक्षण–अध्यात्मयज्ञ–

शुक्र की बिन्दुमात्र से विचित्राकाराकारित मनुष्य का स्वरूप सम्पन्न होजाता है यह महा आश्चर्य्य है । स्त्री के शोणित में रेतोधा पुरुष के द्वारा आहुत होने वाली यत्किञ्चित् सी शुक्रबिन्दु का परस्पर सर्वथा विभिन्न **आँख–कान–नाक–ग्रीवा–पाद हस्त–उर–उदर–मस्तक**–आदि विविध भावों में परिणत होजाना सचमुच कम आश्चर्य्य नहीं है । इस आश्चर्य्य की निवृत्ति का उपाय है **यज्ञस्वरूप रहस्य** को यथावत् समन्वित कर लेना । पुरुष के उत्पन्न होने में आश्चर्य्य । उत्पन्न होने के अनन्तर उस में **केश–दन्त–**आदि का जो विविध परिवर्त्तन होता है वह आश्चर्य्यमय । इसप्रकार पुरुष की स्वरूपस्थिति अथ से इति पर्य्यन्त मादृश प्राकृत मनुष्यों के लिए तो सर्वात्मना आश्चर्य्यमयी ही प्रमाणित होरही है । इन सम्पूर्ण आश्चर्य्यों का मूल–कारण यज्ञ ही है । यज्ञ अनेक प्रकार के हैं । विविधभावापन्न उन सब यज्ञों का अध्यात्मसंस्था के साथ सम्बन्ध होता है । प्राकृतिक **अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास्य–चातुर्मास्य–अयन–सोम–गवामयन–अङ्गिर–सामयन–आदित्यानामयन–चयन** आदि आदि सभी नित्य यज्ञों का यहाँ भोग होता है । यज्ञभेद ही सृष्टि भेद का कारण है । उन सब यज्ञों में से प्रकृत में प्रधानरूप से ज्योतिष्टोमापरपर्य्यायक सम्वत्सरयज्ञ का ही अत्र प्रमुखरूपेण ग्रहण समझना चाहिए ।

अग्नि में सोम का आहुत होना ही यज्ञ है यह पूर्व में कहा जाचुका है। अग्नि सात प्रकार का है। अतएव अग्नियज्ञ सात भागों में विभक्त होजाता है। इसी आरधा पर **यातिष्णम** नाम से प्रसिद्ध इस अग्नियज्ञ के लिए **सप्तसंस्थो वै ज्योतिष्टोम** –यह कहा जाता है। ये सातों संस्थाएं यज्ञसम्प्रदाय में– **अग्निष्टोम अत्यग्निष्टोम उक्थ्यस्तोम षोडशीस्तोम अतिरात्रस्तोम वाजपेयस्तोम आप्तोर्य्याम–स्तोम** इन नामों से प्रसिद्ध है।

अग्नि अन्नाद है। अग्नि सात प्रकार का है। अतएव उसमें आहुत होने वाला अन्न (सोम) भी सात भागों में विभक्त रहता है। इसी अन्नविज्ञान को लक्ष्य में रखकर **यत्सप्तान्नानि तपसाजनयत् पिता** (उपनिषत्) यह अनुगम प्रतिष्ठित है। सम्वत्सराग्नि त्रैलोक्याग्नि है। त्रिवृत्स्तोम–स्थानीय घना नि पार्थिव अग्नि है। यह प्राणाग्नि **अपान** है। आन्तरिक्ष्य तरलाग्नि वायु है। यह **व्यान** है। दिव्य एकविंशस्तोमस्थ विरलाग्नि आदित्य है। यह **प्राण** है। तीनों ही अग्नियां प्राणरूप है। **रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द शून्य** अधाम छन्द तत्त्व ही प्राण है। अतएव प्राणलक्षण इन उपर्युक्त तीनों ही अग्नियों में न ताप है न उष्मा है। इन तीनों के समन्वय से नवीन तापधर्मा अग्नि उत्पन्न होता है। वही **पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ** इन तीनों विश्वों के **अग्नि–वायु–आदित्य** इन तीनों **नरों** के नायक–अधिपतियों के) संयोग से उत्पन्न होने के कारण **वैश्वानर** नाम से प्रसिद्ध है। **आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्– वैश्वानरो यतते सूर्य्येण** के अनुसार यह वैश्वानर त्रैलोक्य में व्याप्त है। इसी वैश्वानर में सोमाहुति होती है। इसी से पशुसृष्टि (**पुरुष–अश्व–गो–अवि–अज** भेद से पशु पांच प्रकार के है) होती है। यही वैश्वानरयज्ञ साक्षात् सम्वत्सरयज्ञ है।

हमारा प्रवर्त्तक यही यज्ञ है। यही सम्वत्सरयज्ञ– **गवामयन** नाम से प्रसिद्ध है। गवामयन नाम से प्रसिद्ध वैश्वानराग्निमय सम्वत्सरयज्ञ ही पुरुषपशु का उपादान है इसी आधार पर– **पुरुषो वै सम्वत्सर** यह कहा जाता है। सम्वत्सरयज्ञ में भूपिण्ड हार्विर्दि है। इसी पर पूर्वकथनानुसार हविर्यज्ञ निष्पन्न होता है। भूपिण्ड से ऊपर का त्रैलोक्य **महावेदि** है। इसमें सोमरूप सम्वत्सरयज्ञ निष्पन्न होता है। पुरुष का अपानाग्नि गार्हपत्याग्नि है। दक्षिण पार्श्वस्थ जाठराग्नि अपणाग्नि है। मुखाग्नि आहवनीय है। आध्यात्मिक प्राणदेवताओं को तृप्त करने के लिए इसी में अन्नरूप हवि की आहुति दी जाती है। सोमयज्ञ–संस्था में पुरुष का शिरोऽग्नि गार्हपत्य है। इससे प्रारम्भ कर २१ विंशस्तोम पर्य्यन्त महावेदि है। इसमें वही व्यवस्था है जोकि प्राणलक्षण सोमयज्ञ में बतलादी गई है।

ऊपर बतलाया गया है कि सम्वत्सरयज्ञापरपर्य्यायक गवामयनयज्ञ का ही प्रकृत में सम्बन्ध है। यद्यपि इस विषय का विशद विवचन उसी प्रकरण में (शत १२ काण्ड में) किया जायगा। तथापि प्रकरण सङ्गति के लिए उस विषय का सङ्क्षिप्त निदर्शन यहां भी करा दिया जाता है। गवामयनयज्ञ सम्वत्सरयज्ञ है। सम्वत्सरयज्ञ के अधिष्ठाता भगवान् सविता (सविताप्राणात्मक सूर्य्य) है। **सूर्य्यो बृहती मध्यूढस्तपति** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सूर्य सम्वत्सरचक्र के मध्यस्थ **विषुवद्वृत्त** नाम से प्रसिद्ध **बृहतीछन्द** पर प्रतिष्ठित है। इस बृहतीछन्द से दक्षिण की ओर का २४ अंशात्मक सम्पूर्ण दक्षिणभाग **दक्षिणगोल** कहलाता है। एवं विषुवद्वृत्त से उत्तर की ओर का २४ अंशात्मक सम्पूर्ण उत्तरभाग **उत्तरगोल** नाम से प्रसिद्ध है।

४८ अशा मक उत्तर दक्षिण–गोला मक इसी प्रदेश का नाम है **सम्व सर** । प्रदेश का नाम सम्व सर नही है अपितु इस प्रदेश में रहने वाले पार्थिवाग्निमिश्रित सौर अग्नि का नाम स व सर है । पृथिवी के परिभ्रमण के कारण ही यह अग्नि सम्व सर नाम से प्रसिद्ध हुआ है । पृथिवी सूर्य्य के चारो ओर घूमती है यह वदाभिमत सिद्धा त है । परिभ्रमणशीला इस पृथिवी का परिभ्रमणमाग सवथा निश्चित है । क्रान्ति–वृत्त को यह कभी नही छोडती । इसप्रकार एकमात्र क्रा तिवृत्त को अचलभाव से पकडे हुए पृथिवी सूर्य के चारो ओर घूमती है । अतएव परिभ्रमणशील यह पार्थिवाग्नि **एकत्र बि दो–एकीभावेन त्रसन् सन् पार्थिवाग्नि सरात ग छति** इस यु पत्ति स यह वष यापक दूसरे श दों में क्रा तिवृत्तावच्छिन्न पार्थिवाग्नि मण्डल सम्व सर नाम से प्रसिद्ध हो गया है ।

अपिच सूर्य्य के चारो ओर घूमने वाली पृथिवी बि दु बि दु से वक्रित होती हुई ही आगे चलती है । सौरप्राण के आकषण से सीधे माग मे न जाकर पृथिवी सूर्य्य की ओर मुड जाती है । प्रतिबि दु में होने वाली इस वक्रता के कारण ही पृथिवी–परिभ्रमणमण्डल गोलाकार होजाता है । आप जितन भी वृ लवृत्त देखते हे सबमें यही उपर्युक्त यवस्था है । गोल वस्तु की प्रतिबि दु वक्रित रहती है । वक्रभाव से ही **वत्तु लता** उ पन्न होती है । पार्थिवाग्नि का स्वरूप भी ऐसा ही है अतएव **सवत सरति** इस युपत्ति से भी इस पार्थिवाग्निमण्डल को **सर्वं सर** कहा जाता है । **सव सर** ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में **सम्व सर** नाम से प्रसिद्ध होगया है । स व सर श द के इसी निवचन का स्वरूप बतलाती हुइ वाजिश्रुति कहती है—

"स एक्षत प्रजापति –सर्वं वा अत्सारिष य इमा देवता असृक्षीति । स स त्सरो ऽभवत् । स त्सरा ह नामैतद्यत्सम्वत्सर इति"—

—शतपथ ११ का १ प्र ६ ब्रा ११ क

इस स व मराग्नि का भोग वर्ष भर म होता ह । अतएव आगे चलकर वार्षिक अग्नि का वाचक श द काल मे भी नियुक्त होगया है । आज दिन सम्व सर काल का वाचक माना जाता ह । परन्तु विश्वास रखिए सम्व सर को काल समझना गौणभाव है । वस्तुत बषमण्डल में व्याप्त चर–अचर सृष्टि का प्रभव सोमगर्भित अग्नित व ही स व सर है । यही यवस्था **अह पक्ष अयन** आदि के सम्ब ध में समझनी चाहिए ।

पूर्वोक्त सम्व सरयज्ञ में सौरमण्डल के तीन मनोताओं का भोग होता है । जिस त व के आधार पर जो वस्तु प्रतिष्ठास्वरूप अपने हृदयस्थ मनोभाव को स्वस्वरूप में सुरक्षित रखने में समथ होती है दूसरे श दों में जीवनसत्ता का कारणभूत हृदयस्थ मन जिस त व में ओतप्रोत रहता ह वही त व विज्ञानभाषा में **मनोता** नाम से प्रसिद्ध है । उदाहरणाथ–अग्नि को ही लीजिए । अग्नि के आधार पर ही **वसु–रुद्र आदि य–इन्द्र–प्रजापति अश्विनी** आदि देवता प्रतिष्ठित है । एक ही अग्नि के विवर्त सम्पूर्ण (३३) देवता है । इसीलिए **अग्नि सर्वा देवता** (शत) इ यादि रूप से अग्नि को **सर्वा देवता** माना जाता है । किसी भी देवता के लिए आहुति दी जाय सबकी आधारभूमि अग्नि ही है । यह त व सब देवताओं का मुख है । सम्पूर्ण देवता **अग्निमुख** है यही सबमे अग्रणी होने से **अग्रि** कहलाता है । परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्ष भाषा में यही **अग्रि अग्नि** नाम से प्रसिद्ध होरहा ह । यह अग्नित व सब देवताओं का अधिष्ठाता है दूसरे श दो में इसी में सम्पूर्ण देवताओं के मन ओतप्रोत हैं अत **अग्नौ सवषा देवाना मनासि–**

आतानि इस श्रुति के अनुसार हम अग्नि को देवताओं का **मनोता** कह सकते हैं। (देखिए शत ६ का)। यही व्यवस्था **ज्योति गो आयु** के सम्बन्ध में समझिए। विश्व के प्रत्येक पदार्थ में हम **ज्योति भूत आत्मा** इन तीनों भावों को प्राप्त करते हैं।

साथ ही में इतना अवश्य ध्यान रखना होगा कि कहीं **रूपज्योति** मिलेगी कहीं **परज्योति** तो कहीं **स्वज्योति**। उदाहरणार्थ पहिले सूर्य्य को ही लीजिए। सूर्य्य का गोला सावित्राग्निमय है। यह सूर्यपिण्ड भूतभाग है। सूर्य के केन्द्र में रहने वाला तत्त्व आत्मा है। इसी आत्मतत्त्व को लक्ष्य में रखकर **योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्** (ऐ उ) इत्यादि कहा जाता है। साथ ही में सूर्य **स्वज्योतिर्म्मय** है यह तो स्पष्ट ही है। सूर्य स्वतः प्रकाशी है। इसका प्रकाश अपना प्रकाश है। चन्द्रमादि की भांति यह अन्य किसी के प्रकाश से प्रकाशित नहीं होरहा। अब चलिए चन्द्रमा की ओर। चन्द्रमा **पानीयपिण्ड (जलका गोला)** है। यह पिण्ड भूत भाग है। हृदयस्थ भाग **आत्मा** है। चन्द्रिका ज्योति है। यह चन्द्रिका सूर्य्यज्योति से सम्बन्ध रखती है। चन्द्रमा का प्रकाश अपना प्रकाश नहीं है। अपितु सौर प्रकाश से ही यह चन्द्रमा प्रकाशित होरहा है। इसी रहस्य का निरूपण करती हुई ऋक्श्रुति कहती है—

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥

—ऋक्संहिता

वैज्ञानिक महर्षि रूपज्योति के अधिष्ठाता **त्वष्टा** नाम से प्रसिद्ध आदित्य के परम मनोहर गोतत्त्व का (रश्मियों का) इसप्रकार (जैसा देखा जाता है) चन्द्रमा के घर में नमन मानते हैं। इसीलिए इस चान्द्रज्योति को हम **परज्योति** मान सकते हैं। भूपिण्ड **भूतभाग** है। केन्द्रस्थ प्राणाग्नि इस भूतपिण्ड का **आत्मा** है। एवं रूपज्योति ही अत्र प्रधान है। पृथिवी का स्वरूपमात्र ही हमारे लिए दृश्य बनता है। पृथिवी अपने स्वरूपमात्र को दिखलाने में समर्थ है। चन्द्रमा एवं सूर्य्यवत् इसमें अन्य पदार्थों को अपने प्रकाश से दिखलाने का सामर्थ्य नहीं है। पार्थिव पदार्थमात्र में इसी रूपज्योति की प्रधानता है।

साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि **रूपज्योतिर्म्मय जितने पदार्थ हैं सब पृथिवी नाम से व्यवहृत होते हैं। परज्योतिर्म्मय यच्चयावत् पदार्थ चन्द्रमा हैं एवं स्वज्योतिर्म्मय सम्पूर्ण पदार्थ सूर्य्य हैं। स्वातीनक्षत्र** स्वज्योतिर्म्मय होने से ही **सविता** नाम से व्यवहृत होता है। इस निदर्शन से प्रकृत में हमें बतलाना यही है कि त्रैलोक्य के पदार्थमात्र में प्रत्येक में **ज्योति आत्मा भूत** इन तीनों भावों का साम्राज्य है। त्रैलोक्य का प्रभव प्रतिष्ठा परायण सूर्य्य है। उस सूर्य्य के उक्त **ज्योति गौ आयु** ये तीन मनोता हैं। सूर्य्य का सूर्य्यत्व इन्हीं तीनों मनोताओं के आधार पर प्रतिष्ठित है।

ये ही तीनों मनोता क्रमशः **ज्योति भूत आत्मा** के आधार हैं। ज्योतिर्भाग से देवतापरपर्य्यायक प्रत्येक पदार्थ का ज्योतिर्भाग निष्पन्न होता है। गौ भाग से भूत का निर्म्माण होता है एवं आयुभाग से आत्मस्वरूप सम्पन्न होता है। ज्योति से **ज्योतिष्टोम** यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होता है। गौ से **गोष्टोम** एवं आयु से **आयुष्टोम** की स्वरूप निष्पत्ति होती है। तीनों ही सम्वत्सरयज्ञ हैं। सम्वत्सर में तीनों की सत्ता है।

प्रकृत में हमें भूतप्रधान शरीर की रचना-वैचित्र्य का दिग्दर्शन कराना है एवं इसका सम्बन्ध गोष्टोमापर-पर्याक गवामयन के साथ है। अत गवामयन नाम के सम्वत्सर की ओर ही पूर्वमें आपका ध्यान आकर्षित किया गया है। गवामयनयज्ञ में होने वाली आहुतियो के तारतम्य से ही शरीर में वैचित्र्य होगया है। नित्यवृत्त के केन्द्र में सूर्य है। इसके चारो ओर २४ २४-अंश के अन्तर पर पृथिवी घूमती है। यह है आधिदैविक गवामयन सम्वत्सर का स्वरूप परिचय। **प्रथिवी गो है । इसका अयन (गमन) ही गवामयन है ।**

ब्राह्मणग्रन्थों में एक प्रश्न किया है कि जबकि **अनस्थिमत्** (घन-भाव-शून्य) तरल आज्य की आहुति होती है तो उससे अस्थियुक्त प्रजा कैसे उत्पन्न होजाती है ? । इस प्रश्न का समाधान करती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है कि वास्तव में आज्यभाग तरल होने से अनस्थिमत् ही है। परन्तु उस में **हिरण्यशकल (सोने का टुकडा)** डाल कर क्योंकि तद्युक्त आज्य की आहुति दी जाती है अतएव प्रजा **अस्थिमती** होती है। इस प्रश्नोत्तर का वैधयज्ञ के द्वारा **प्रकृतियज्ञ** से सम्बन्ध है। प्रकृति के नित्य यज्ञ की प्रतिकृति (नकल) मनुष्यकृत वैधयज्ञ है। इससे आहुति के द्वारा नवीन दैवात्मा उत्पन्न किया जाता है जैसा कि **प्रथमखण्ड** में विस्तार से बतलाया जाचुका है। अहवनीयाग्नि में आज्य की आहुति दी जाती है। आज्य तरल पदार्थ है। उत्पन्न होने वाली प्रजामें **अस्थि** भी अपेक्षित है। एतदर्थ आज्य में हिरण्यशकल डाला जाता है। उधर मानुषी सृष्टि में **शुक्र** तरल पदार्थ है। यह ओषधि (अन्न) के रस से निष्पन्न हुआ है। भुक्त ओषधि ही रसासृङ्मांसादि स्वरूपों में परिणत होती हुई शुक्र स्वरूप धारण करती है। औषधिया पार्थिवी है। अतएव तद्रसभूत शुक्र को हम पार्थिव कह सकते हैं। इस शुक्र में सौर आग्नेय तेज प्रविष्ट रहता है। सौर तेज हिरण्मय है। यह घन है। शुक्ररूप आज्याहुति में यह हिरण्यशकलरूप सौर आग्नेय तेज प्रविष्ट होजाता है। इसी से अस्थिभाव उत्पन्न होता है। शुक्र की प्रतिकृति वैधयज्ञ में आज्य है। सौर तेज की प्रतिकृति वैधयज्ञ में हिरण्यशकल है। क्योंकि सौर अग्नि ही विशेष प्रकार की मिट्टी में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर सुवर्ण कहलाने लगता है। सुवर्ण साक्षात् सौर तेज है। सौर तेज पवित्र है। अतएव इतर धातुओं की अपेक्षा सुवर्ण को अधिक पवित्र माना जाता है।

शुक्र की आहुति हुई। अब क्रमश वही सम्वत्सरयज्ञ इसमें प्रविष्ट होने लगता है। **विषुवद्वृत्त मेरुदण्ड बनता है।** पुरुष में आधे हृदय विषुव का ही रस आने पाता है अतएव इसका मेरुदण्ड आधा ही बनता है। इस कमी की पूर्ति पत्नी से होती है। **ईश्वर पूर्णेन्द्र है। आधी मात्रा के कारण जीव अर्द्धेन्द्र है।** पृथिवी विषुव की दोनो ओर की परमक्रान्तियो पर पहुच कर मुड जाती है। विषुवरूप मेरुदण्ड से सलग्न पशु (पँसलियाँ) सीधी न जाकर दोनो ओर से मुड जाती हैं। विषुव और क्रान्ति का अन्तर २४ अंशका है। अत पशु २४ ही बनते हैं। विषुवरूप मेरु का केन्द्र हृदय है। **यही मन है।** इसी मन पर विज्ञानसूर्य प्रतिष्ठित है।

यह तो हुआ स्थूल निर्म्माण। अब सक्षेप से सूक्ष्म निर्म्माण पर भी ध्यान दीजए। गवामयनयज्ञ ३६ दिन में समाप्त होता है। पूरे सवत्सर में गवामयन की स्वरूप-निष्पत्ति होती है। इस गवामयन में प्रतिष्ठित अहर्भाग **प्रायणीय आरम्भणीय अभिप्लव पृष्ठ्य महाव्रत उदयनीय** आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

प्रत्येक अभिप्लव में **योति ोम गाष्टोम आयुष्टोम गोष्टोम आयुष्टोम योतिष्टोम** इसप्रकार ६–६ स्ताम होते है । एव प्रत्येक पृष्ठयाहम **त्रिवृत् पञ्चदश सप्तदश एकविश त्रिणव त्रयस्त्रिश** इस प्रकार ६ ६ स्तोम समन्वित ह । वष के आरम्भ मे **प्रायणीय अतिरात्र** होता है । अनन्तर पाच मास पय्यत १५ **अभिप्लव और पृष्ठ्य** होते ह । अनन्तर २४ दिन पय्यन्त तीन **अभिप्लव और एक पृष्ठ्य** होत ह । शेष चार दिन में एक दिन **अभिजिदह** एव तीन दिन **स्वरसाम** किए जाते ह । ६ मास समाप्त हो जाते है । परमक्रान्ति से चला हुआ यजमान ६ मास समाप्त कर विष्वत् पर पहुच जाता ह । यहा से **पृष्ठ्याभिप्लव का** क्रम परिवर्त्तित होजाता ह । पहिले के तीन दिन तीन **स्वरसाम** होते हैं । चौथ दिन **विश्व जित्** होता है । अन तर २४ दिन मे एक पृष्ठ्य ३ **अभिप्लव** होते है । अनन्तर १२ दिन पय्यन्त **चार पृष्ठ्य १६ अभिप्लव** होते ह । अनन्तर १८ दिन पय्यन्त **एक पृष्ठ्य दो अभिप्लव** होते है । अनन्तर एक दिन **गोष्टोम** एक दिन **आयुष्टोम** होता है । अनन्तर १ दिन पय्यन्त **दशरात्र पृष्ठ्य षडह** (६ दिन पय्यन्त) **छन्दोमा त्र्यह** (३ दिन पय्यन्त) **महाव्रतमह** (एक दिन का) होता ह अन्तिम दिन **उदयनीया त्रिरात्र** होता ह वष समाप्त होजाता ह । आगे की तालिका से वषगणना स्पष्ट होजाती ह—

गवामयनसत्रे सम्वत्सरस्य अहानि (३६०)

१	प्रायणीय		१	उदयनीय
३	आरम्भणीय		१	दशरात्र
३	अभिप्लवा –४–२४ दिन पृष्ठ्य –१–६ दिन	[illegible]	२८	अभिप्लवौ–२–१२ दिन पृष्ठ्य –१–६ दिन
३	अभिप्लवा –४–२४ दिन पृष्ठ्य –१–६ दिन		३	अभिप्लवा –४–२४ दिन पृष्ठ्य –१ ६ दिन
३	अभिप्लवा ४–२४ दिन पृष्ठ्य –१–६ दिन		३	अभिप्लवा –४–२४ दिन पृ ठ्य –१–६ दिन
३	अभिप्लवा –४–२४ दिन पृष्ठ्य –१–६ दिन		३	अभिप्लवा –४–२४ दिन पृष्ठ्य –१–६ दिन
३	अभि लवा –४–२४ दिन पृष्ठ्य –१–६ दिन		३	अभिप्लवा ४ ४ दिन पृष्ठ्य –१–६ दिन
३	अभि लवा –३–१८ दिन पृष्ठ्य –१–६ दिन		२४	अभिप्लवा ३–१८ दिन पृष्ठ्य –१–६ दिन
१	अभिजित्		१	विश्वजित्
३	त्रय स्वरसामान		३	त्रय स्वरसामान
१८	अहानि	विषुवान् १	१७९	अहानि

तथाविध पूर्वोक्त गवामयनयज्ञ ही हमारे शरीर का निर्म्माता है। वि वद्वृत्त ही इस गवामयन सम्व सर की प्रतिष्ठा हे। **जीवात्मा क्षुद्र सुपर्ण है एव सम्व सर महासुपर्ण है।** सम्व सर का उत्तर भाग (उत्तर

गोल) न्स सम्वत्सरसुपर्ण का उत्तरपक्ष है। दक्षिण भाग (दक्षिण गोल) दक्षिणपक्ष है। म यस्थ विषुवान् आ मा (धड) है। इसी महासुपर्ण का निरूपण करती हुइ वाजिश्र ति कहती है—

अथ ह वा एष महासुपर्ण एव यत् सम्वत्सर । तस्य यान् पुरस्ताद् विषुवत – षण्मासानुपयन्ति–सोऽन्यतर पक्ष । अथ यान् षडुपरिष्टात्–सोऽन्यतर । आत्मा विषुवान्" ।

शत–१२।२।३।७।

श्रुति ने वि वद्वृत को **आत्मा** बतलाया है। सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त रहने वाला त व ही आ मा कहलाता है। इधर विष्वद्वृत्त केवल सम्वत्सरयज्ञा मक खगोल के म य भाग में ही प्रतिष्ठित है। सम्पूर्ण सम्वत्सरचक्र में वि वद की जब व्याप्ति ही नही है तो ऐसी अवस्था में विष्वत् को सम्वत्सररूप सुपर्ण का आ मा कसे बतलाया गया ? इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें **छन्दोविज्ञान** का ही आश्रय लेना पडेगा। पूर्व में छन्द स्वरूप का विशद निरूपण करते समय हमने कहा है कि **शब्द** एव **अर्थ** दोना में छन्दो यन था समान है। नियत अक्षर एव नियत अर्थ सम्मिलित होकर ही छन्द का स्वरूप बना डालते है। उप युक्त विष्वद्वृत्त **बृहतीछन्द** है ९ अक्षर की समष्टि बृहतीछन्द है। ९ की सख्या आने से **बृहती** का स्वरूप सम्पन्न होजाता है। इसी का नाम **छन्द सम्पत्ति** है।

वि वद् नाम से प्रसिद्ध बृहतीछन्द के दक्षिण भाग में क्रमश –**गायत्री उष्णिक अनुष्टुप्** इन तीन छन्दों की सत्ता है। एव **पङ्क्ति त्रिष्टुप् जगती** ये तीन छन्द उत्तर भाग में प्रतिष्ठित हैं। गायत्री–उष्णिक अनुष्टुप्–ये तीनो क्रमश ६ ७ ८ अक्षर के छन्द हैं। **पङ्क्ति त्रिष्टुप जगती** तीनों क्रमश १ –११–१२–अक्षरो के छन्द हैं। मध्यस्थ **बृहती** नवाक्षर छन्द है। कहने को उसके दोनो ओर के मिलकर ६ छन्द हैं। वस्तुत जो गायत्री है वही जगती है। जो उष्णिक है वही त्रिष्टुप् है। एव जो अनुष्टुप् है वही पङ्क्ति है। ता पर्य्य इस समानता का यही है कि विष्वद से दक्षिणोत्तर १२–८–४–इन अशा के क्रम से ६ ओ छन्द समान ह। चतुष्पदा गायत्री षडक्षरा है। उसकी समकक्षा वाला जगतीछन्द द्वादशाक्षर है। दोनों मिलकर १८ अक्षर हैं। अठारह अक्षर के ९–९ अक्षर के अनुपात से दो बृहती छन्द होजाते हैं। उष्णिक् के सम्मुख समकक्षास्थ त्रिष्टुप के ११–दोनो के सम्मिलित १८ हैं। यहा भी दो बृहती–छन्दो का भोग है। अनुष्टुप के आठ त् समकक्षास्थ पङ्क्ति के १ दोनों के सम्मिलित १८ हैं। यहाँ भी दो बृहतीछन्द हैं। म य का बृहती तो बृहतीछन्द है ही। तदि थ सभी छन्दों का बृहतीछन्द में अ तभाव है जैसाकि निम्न लिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है—

द्वादशाक्षरा	जगती –	१२
एकादशाक्षरा	त्रिष्टुप् –	११
दशाक्षरा	पङ्क्ति –	१
नवाक्षरा	बृहती	९–१ +८+१८। ११+७+१८। १२+६+। १८
अष्टाक्षरा	अनुष्टुप् –	८
सप्ताक्षरा	उष्णिक –	७
षडक्षरा	गायत्री –	६

सम्पूर्ण सम्वत्सर में नवाक्षर बृहतीछन्द का ही साम्राज्य है। गणितशास्त्र में ९ संख्या को ही सर्व-संख्या मानने का भी यही रहस्य है। सचमुच नवसंख्या (नौ) में सब संख्याओं का समावेश होजाता है। प्रातःस्मरणीय इसी बृहतीविज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते है—

'स वा एष सम्वत्सरो बहतीमभिसम्पन्न"।

—शतपथे

बृहतीछन्द सम्पूर्ण छन्दों का स्वराट् है। बृहती वर्द्धनशील है। बृहती प्रतिष्ठा है। बृहती के इन्हीं स्वरूपो का लक्ष्य मे रख कर निम्न लिखित श्रुतिवचन हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहे है—

१—'बहती–बृहतेर्वृद्धिकर्म्मणः" (दे० ३।११।)।

२—'बृहती मय्या ययमान् लोकान् थापामेति तद्बृहत्या बृहत्त्वम्" (ता० ब्रा० ७।४।३)।

३—"बहती वाव छन्दसां स्वराट" (ता० ब्रा० १०।३।८।)।

४—"बहती हि सम्वत्सर' (शत० ६।४।२।१ ।)।

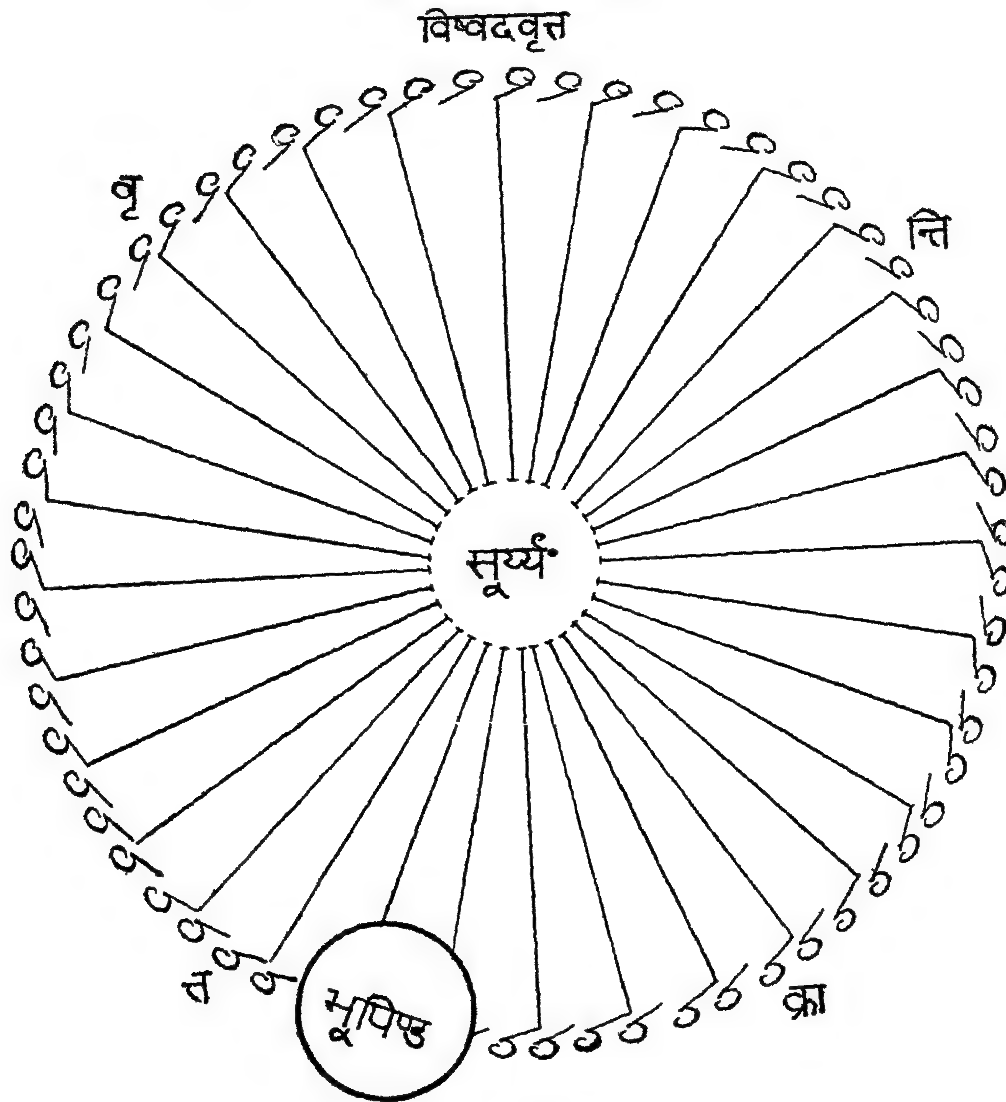
५—'बहत्यां भूयिष्ठानि सामानि भवन्ति" (ता० ७।३।१६।)।

यह है खगोल के दूसरे शब्दों में आधिदैविक यज्ञपुरुष के मेरुदण्ड–स्वरूप बृहतीछन्द का संक्षिप्त निदर्शन। यही बृहतीछन्द आध्यात्मिक विश्व का (जीवशरीर का) मेरुदण्ड बनता है जैसाकि पूर्व में बतलाया जाचुका है। विष्वद्वृत्त के केन्द्र में हमने सूर्य्य की सत्ता बतलाइ है। इस सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती हुइ पृथिवी वर्ष मे दो बार विषुवद् पर आती है। क्रान्ति शब्द का अर्थ है दूरी। पृथिवी और विषुवत् की दूरी का पतन जिस बिन्दु पर होता है वही क्रान्तिसम्पात नाम से प्रसिद्ध है। वासन्त शारद भेद से दो सम्पातबिन्दु है। २२ मार्च को वासन्तसम्पात होता है २१ सितम्बर को शारदसम्पात होता है। समरात्रि दिवे काले विषुवद् विषुव च तत् (अमरकोश) के अनुसार दोनो सम्पातकालों में पृथिवी विष्वद् पर रहती है। उत्तरगोल से दक्षिणगोल में प्रविष्ट होती हुई पृथिवी जब विष्वद् पर आती है तब वासन्त-सम्पात होता है। एवं दक्षिणगोल से उत्तरगोल में प्रविष्ट होती हुइ पृथिवी जब विष्वत् पर आती है तब शारद सम्पात होता है। इस सम्वत्सर में सूर्य्य–पृथिवी–अन्तरिक्ष–इन तीन लोकों की सत्ता है। पार्थिवाग्नि आन्तरिक्ष्य वायु दिव्यादित्य तीनो का भोग एक ही सम्वत्सर में है। इसीसे

हमारा निर्म्माण होता है। पार्थिवाग्नि भूतप्रधान है। इससे अन्न के द्वारा पाञ्चभौतिक अतएव वाङ्मय शरीर का निर्म्माण होता है। आन्तरिक्ष्य वायु से प्राणतत्त्व का सम्बन्ध है एवं आदित्य से ज्ञानघन मन का सम्बन्ध है। इसप्रकार वाङ्मयी पृथिवी प्राणमय अन्तरिक्ष एवं मनोमय आदित्य से मन प्राणवाङ्मयी अध्यात्मसंस्था का निर्म्माण होता है। आगे के दोनो रेखाचित्रों से विष्वद्वृत्तानुगत सौर–पार्थिव–चान्द्र तीनो सम्वत्सरों का स्वरूप–समन्वय गतार्थ हैं।

(१)–सावित्सरात्मक सम्वत्सरमण्डलपरिलेख —

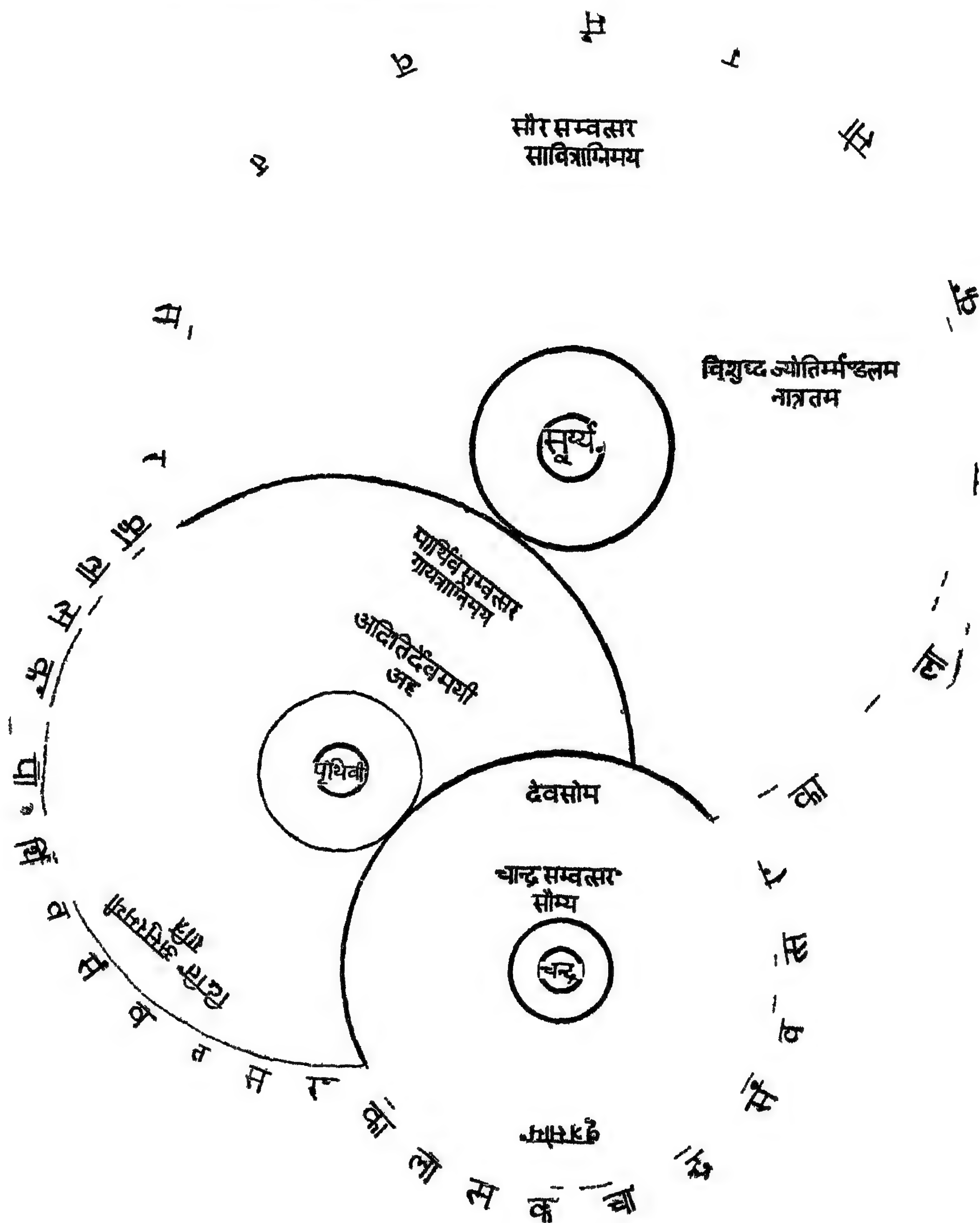
(चक्रसम्वत्सरप्रतिकृतिरियम्)



(२)–अग्न्यात्मक–कालात्मक–सम्वत्सरचक्र–त्रयी–स्वरूपपरिलेख —

(क –सत्तासिद्ध –सम्वत्सर –अग्न्यात्मक

(ख) भातिसिद्ध –सम्वत्सर –कालात्मक



उपर्युक्त त्रैलोक्य में लोक-लोकी दो भेद हैं। लोक भूत है, लोकी भूतप्रतिष्ठ देवता है। पृथिवी भूत है, अपानाग्नि देवता है। अन्तरिक्षस्वरूप वायु भूत है। तत्रस्थ व्यानाग्नि देवता है। आदित्य भूत है। प्राणाग्नि देवता है। मूलद्वार में अपानाग्नि प्रतिष्ठित है। हृदय में व्यानाग्नि की सत्ता है। ब्रह्मरन्ध्र में प्राणाग्नि का साम्राज्य है। यही प्राणाग्नि सूत्रप्राण-महानग्नि आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है। यह इन्द्रप्राण है। या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत् [या निरुक्त] के अनुसार यही बलरूप सूत्रप्राण का अध्यक्ष है। सूत्रप्राण जिस में प्रबल रहता है वही कुछ पुरुषार्थ कर सकता है।

अपानप्राण पार्थिव है। यह मूलद्वार से चलकर हृदयस्थ विज्ञानसूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। पार्थिवाग्नि-तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत् इस सिद्धान्त के अनुसार वाक् है। इधर मूलाधारस्थ अपानाग्नि पार्थिव है। यही अध्यात्म की पृथिवी है। यही वाक है। प्राणोदान- व्यापार की मूलभूता गति यही वाक्-गति है। वाक् का आरम्भ ही आध्यात्मिक सम्वत्सरयज्ञ की आरम्भणीयाष्टि है। भौतिक प्रपञ्च का आरम्भ यही से होता है। जबतक मूलाधारस्थ वाकतत्त्व प्रतिष्ठित है तभीतक सम्पूर्ण भूत स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। सौर सूत्रप्राण का अयन प्रायणीयेष्टि है। आरम्भ भूत से होता है प्रयाण प्राण से होता है। दूसरे शब्दों में प्राणगति प्रायण है अपानगति आरम्भ है। प्रायणीय और आरम्भणीय के अनन्तर अभिप्लव और पृष्ठ्य होते है। रुधिर की गति अभिप्लव है। रक्त का सञ्चरण [दौड] ही अभिप्लव है। उस सञ्चरण की सीमा पृष्ठ्य है। उदाहरणार्थ हाथ को लीजिए।

हृदय से प्रारम्भ कर अंश (स्कन्ध) बाहु दो हस्त ये चार खण्ड अङ्गुलि-पर्यन्त है। हृदय से स्कन्धपर्यन्त एक युग्म है। स्कन्ध से बाहुपर्यन्त दूसरा युग्म है। चौथा पाणि है। ये ही चार खण्ड चार अभिप्लव है। प्रत्येक में प्रातःसवन माध्यन्दिनसवन सायं-सवन ये तीन तीन सवन हैं। पूर्व-खण्ड का सायसवन उत्तरखण्ड का प्रातःसवन है। इस पारम्परिक सवनग्रन्थिबन्धन से चारो खण्ड पृथक पृथक होते हुए भी परस्पर बद्ध है। सब को मिला कर एक पृष्ठ्य है। आगे जाकर-गायत्री त्रिष्टुप जगती विराट पङ्क्ति इन छन्दो से पाच अगुलिया बनती हैं। कनिष्ठिका गायत्री से सम्बन्ध रखती है। गायत्रीछन्द सब मे छोटा है। अतएव तत्सम्बन्धिनी कनिष्ठिका सब अगुलियो में छोटी है। अनामिका का निर्म्माण त्रिष्टुप् से हुआ है। त्रिष्टुपछन्द इन्द्रदेवता का है। इन्द्र आत्मा है। अमृतप्रधान है। अतएव दिव्यकार्य्य इसी अङ्गुलि से किए जाते है। अनया वै भेषज क्रियते (शतपथ ब्राह्मण) इस श्रौत आदेश के अनुसार बच्चे को इसी अनामिका से औषधि देनी चाहिए। मध्यमा की जननी विराट है। तर्जनी जगती से सम्बन्ध रखती है। इस में असुर प्राण है। अतएव जप आदि दिव्य-कार्य्यों में इस का बहिष्कार है। अगुष्ठ की जननी पङ्क्ति है। इसप्रकार अभिप्लव-पृष्ठ्य-भेद से शरीर रचना में वैचित्र्य होजाता है। यद्यपि इस विषय में ज्ञातव्य बहुत कुछ है। परन्तु विस्तार अधिक होजाने से यहा केवल दिग्दर्शनमात्र ही करा दिया गया है।

शिरोभाग में ४ कपाल प्रत्यक्ष है। दो पूर्व कपाल हैं दो पश्चिम कपाल हैं। प्रत्येक में पुनः दो दो खण्ड है। कपाल में चणक भरकर पानी डाल दीजिए। १२ घण्टे में आठो कपाल पृथक् पृथक् होजा-

येंगे। इन आठों कपालों में मास्त क (भेजा) सुरक्षित रहता है। यही आ याग्मिक पुरोडाश है। ऐसा है यह शिर कपाल मानो एक ैसा चमस (कटोरा) हो जिस का बुध्न (पेंदा) तो ऊपर है एव बिलभाग नीचे है। ऱ्सी में स पूण आ याग्मिक प्राणदे ताओं का यशोरूप मस्ति क [भेजा] भरा हुआ है जिस इस चमस [शिर] के तीर पर दो श्रोत्रप्राण दो चक्षु प्राण दो नासाप्राण एक वा्मय आ नेय प्राण प्राणा्मक ये सात आ या्मक ऋषि विराजमान है। देखिए।

अर्वागबिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहित विश्वरूपम् ।
तस्यासत ऋषय सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा सविदाना ॥

सम्पूण देवता सी की आहु त से जीवित हैं। आधिदविक स व सरयज्ञ से निर्म्मित पुरुषयज्ञ के गुप्त रहस्यो को ऋषियोन समझा। तदनुसार ैधयज्ञ का विधान किया। वहा आठ कपाल थे यहा भी आठ मृण्मय कपाल बनाए गए। मस्तिष्क के स्थान में पुरोडाश का विधान किया गया। ैधयज्ञ में आठ ही कपाल क्यो बनाए जाते है? उन में पुरोडाश साथ साथ ही क्यो रक्खा जाता है? इ्यादि प्रश्नों की यही साक्ष् त उपपत्ति है। इसी कपालविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

'शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य यत् पुरोडाश । स यान्यवेमान शीर्ष्ण कपालान-ता ये वास्य (वैधयज्ञस्य) कपालानि । मस्तिष्क एव पिष्टानि । तद्वा एतदेकमङ्गम् । एक सह करवाव, समान क{वावेति । तस्माद्वा एतदुभय सह क्रियते' ॥१,२॥

अन्न का परिपाक करने वाला अ नि **आमात् है** शव को भस्मसात् करने वाला अग्नि **क्र यात् है** एव दवताओं के हवि का वहन करने वाला अग्नि **ह्यवाट् है**। अग्नि एक ही है वही स्थानभेद से तीन गुणों से युक्त होजाता है। इस भेद का मूलकारण छन्दोभेद ही है। साधारण लौकिक अन्न का छ द दूसरा है शव अ य छ द से छा दत है एभ पुरोडाश का छ द पृथक् है। प्रकृत में ह्यवाहन अग्नि अपेक्षित है। अग्नि में तीनों धर्म्म हे। इन में आमात् क्र यात् धर्म्म अनपेक्षित हैं। म त्रशक्ति के द्वारा उन्ही को दूर कर इस वध अग्नि को निष्कैवल्यरूप से **ह्यवाट** ही बनाया जाता है।

प्रक्रान्तजगत् में— **यथाग्निगर्भा पृथिवी** के अनुसार भूपिण्ड अग्निप्रधान हैं। पार्थिव अग्नि की **वारुणाग्नि प्रवर्ग्याग्नि ब्रह्मौदनाग्नि** भेद से तीन अवस्थाएँ रहती है। भूपिण्ड का निर्म्माता आ या नामक जलीय-आग्न ही वारुणाग्नि है। अर्णवसमुद्र के सलिलरूप ऋत अपत व के गर्भ में प्रविष्ट वही अग्नि अपने तेजोभाव से उस आपोद्र य को परिपक्व करता हुआ कमश आप-फेन-मृत् सिकता शर्करा-अश्मा-अय हिरण्य रूपो में परिणत कर भूपिण्ड का स्वरूप निर्म्माता बन रहा है। आ य वारुण-प्राण ही आसुर है। अतएव त मय पार्थिव अग्नि को असुरभावापन्न ही माना जायगा। ओषधि-वनस्पतिरूप-पार्थिव अन्नों का प रपाक भी इसी आ य-आसर-वारुणाग्नि से होता है जो कि भूतप्रधान है अतएव इस रूप से देव-प्राण के लिए असम वित है। शरीरसस्था में चतुर्विध अन्न का परिपाक करने वाला यही आप्य वारुणाग्नि आमाशयानुब ध से **आमात्** नाम से प्रसिद्ध होगया है।

दूसरा वह भूताग्नि है जिस भूपिण्ड थ अग्नि अपना मल बना कर फेंक देता है फेंकता रहता है। जीवनीय प्राणरस से शून्य भूत–भौतिक प दार्थो का भक्षण यही प्रत्याग्नि करता रहता है जिसके आधार पर ही निऋति देवता प्रतिष्ठित ह। यही शवान्नभक्षक–प्रवर्ग्यभक्षक—क्रव्यात् अग्नि है।

एव अपने विशुद्ध–प्राणरूप से वही पार्थिव अग्नि अदितिमण्डल के द्वारा सौम्य–यज्ञिय देवताओ के लिए पार्थिव अन्नगत विशुद्ध अमृतसोम–रस का वहन करता हुआ देवभावानुबन्धी हव्यवाद् अग्नि है यही ब्रह्मौदनाग्नि है जिसे अ यात्म म हम प्राणाग्नि कहा करते ह। या एक ही अग्नि के तीन महिमा–विवर्त्त होजाते ह जो मात्रातारतम्य से अग्निमात्र म विद्यमान ह। तीनो में से यज्ञकर्म्म म तीसरा दिव्यभावा पन्न हव्यवाट् स्वरूप ही सग्राह्य है यही स भ–नि कर्ष है॥३ ४॥

सहरक्षा आ न आसुर ह शुद्ध अग्नि िव्य है। ऐसा अङ्गार जिस के चारो ओर रक्षा [भस्म] लगी हु हो वालाशून्य वही अग्नि सहरक्षा है। सहरक्षा । असुराणा दूत आस [शतपथ १। ।३] के अनुसार भस्मलिप्त अङ्गार अवश्य ही आसुर होता हुआ दिव्ययज्ञ का विरोधी है। स भस्मरूप आसुर–भाव के निराकरण के लिए ही अङ्गारो के भस्म को हटाया जाता है। इस से अग्नि का शुद्ध रूप व्यक्त होजाता है। यही शुद्ध अग्नि देवयाट है। दवताओ के साथ पुरोडाश का सङ्गमन कराने में यही अग्नि समथ है।

भूपिण्ड के साथ सौर सावित्र–तेज सक्रान्त होता है और व भूपृष्ठ से सलग्न हो सूचीमुख बनता हुआ साथ ही पार्थिव प्राणाग्नि से साश्लिष्ट होता हुआ पुन सूर्य की ओर प्रतिफलित होजाता है। यही अदितिमण्डलगर्भित देवदूताग्नि है जिसका– अग्नि दूत वृणीमहे होतार रत्नधातमम् इत्यादि रूप से यशोगान हुआ है। जिस आकार का यह ज्योतिर्मय प्राणाग्निमण्डल है ठीक उसी आकार का भूपिण्ड के दक्षिणोत्तर पार्श्वों को उपक्रम बनाता हुआ सूर्य्य–विरुद्ध दिक् में भी पूर्वप्रतिफलन के आधार पर एक प्राणाग्निमण्डल बन जाता है जिस कि– दितिमण्डल कहा गया है। यह भाग तमोमय है भूमामय है यही ग्रहणविद्या मे– सैंहिकेयराहु है जिसकी प्रतिच्छाया से चन्द्रग्रहण हुआ करता है। तमोमय भूभाप्राण ही वह– रक्षा प्राण है जो योतिर्म्मयप्राण का अवरोधक बनता हुआ सहरक्षा नामक आसुराग्नि कह–लाया है। यान रहे यह पूर्वोक्त वारुणाग्नि से पृथक्–वस्तुतत्त्व है यह सहरक्षा ही असुराणा दूत आस के अनुसार असुरदू ाग्नि कहलाया है। इसप्रकार अदिति–दिति भेद से पार्थिवप्राणाग्नि के दैव–आसुर ये दो प्राणाग्नि विवर्त्त होजाते हैं जो क्रमश यज्ञसम्पादक तथा यज्ञविरोधी हे। प्रत्यक्ष भूताग्नि में निधू म भूताग्नि यज्ञसम्पादक दवाग्नि का प्रतीक है एव सधूम सहरक्ष–(राख सहित) मलिन भूताग्नि यज्ञविरोधी आसुराग्नि का प्रतीक है। दोनो में से इस पुरोडाशसम्पादनात्मक यज्ञिय–दवकर्म्म में शुद्ध दैवाग्नि ही अभि–प्रेत है। तत्प्राप्त्यर्थ ही भस्मनिराकरणपूर्वक अङ्गारो को विशुद्ध बनाया जाता है॥५॥

अङ्गार का जो भाग भूमि पर प्रतिष्ठित रहता है वह आसुरभाव से आक्रान्त रहता है। कारण उस अधोभाग में वायु प्रविष्ट नही होसकता। यद्वै वातो नाभिवाति तत् सर्व वरुणदैवत्यम् [कौ ब्रा] के अनुसार निवातस्थान मे आसुरप्राणाधिष्ठाता वरुणदेवता का साम्राज्य रहता है। सचमुच अधोभाग में अग्नि प्रज्वलित नही रहता। सब ओर से भस्म को हटा दने पर भी नीचे की ओर से भस्मसम्बन्ध को हटाना

कठिन है। उस आ स असुरों के * आसङ्ग का भय नहीं हटाया जासकता। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए यजु पूत म यम कपाल के साथ इस अङ्गार का सम्बन्ध किया जाता है। यजु साक्षात् अग्नि है। ब्रह्म-देव-भूत-पशु भेद से अग्नि चार प्रकार का है। इसी आधार पर- **चतुर्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास** [शतपथ १।१।१५] यह कहा जाता है। **ब्रह्माग्नि वेदाग्नि है**। इसी को यजु सम्बन्ध से **सामयाजुषाग्नि** भी कहा जाता है। यही **प्राणाग्नि** नाम से भी प्रसिद्ध है। यह अग्नि **स्वायम्भुव** है। **सौराग्नि देवाग्नि है**। **पार्थिवाग्नि भूताग्नि है**। **प्रवर्ग्याग्नि पश्वग्नि है**। यजु म त्र श द-मय है यजुरग्नि अर्थरूप है। श दा र का अभेद है। यजुर्मन्त्र साक्षात् यजुराग्नि है। यह अग्नि राक्षसों का अपह ता है। तद्युक्त कपाल में अङ्गार का स ब ध करने पर अवश्य ही असुरों के आसङ्ग का भय विलुप्त होजाता है ॥६॥

विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ **घन-तरल-विरल** इन तीन अवस्थाओं से आक्रान्त है **घनावस्था ही निविडावस्था है**। **तरलावस्था प्रसिद्ध है**। **विरलावस्था वा पावस्था है**। मी बाष्पावस्था के लिए **धूम** श द प्रयुक्त होता है। उदाहरणार्थ एक कपूर की डली सामने रखिए। कपूरखण्ड घन है ठोस है। इसके प्र येक अवयव निविड हैं। इस खण्ड को अग्नि पर चढा दीजिए। कपूर पिघल जायगा। यही तरलावस्था है। अधिक अग्नि के संयोग से कपूर धूम्ररूप में परिणत होकर उड जायगा। यही तीसरी विरला वस्था है। प्र येक पदार्थ अग्नि-सोमा मक है। सोमगर्भित अग्नि ही वस्तु है। इस अग्नि की ही उप युक्त तीन अवस्थाएं होती है। **घनाग्नि पृथिवी है**। **तरलाग्नि अन्तरिक्ष है**। **विरलाग्नि द्युलोक है**। जिस पर हम सब चराचर प्राणी प्रतिष्ठित है उसी का नाम पृथिवी नहीं है। अपितु घनावस्थापन्न य च-यावत् पदार्थ पृथिवी है। तरलावस्थापन्न सम्पूर्ण पदार्थ वायु हैं। एव विरलावस्थापन्न सभी पदार्थ आदि य है। अग्निमयी पृथिवी तत्तत् पदार्थों की घनावस्था है वायु तरलावस्था है एव आदि य विरलावस्था है। यही ततत् पदार्थों की प्राणावस्था है। उपर्युक्त इन्हीं तीनों अवस्थाओं के लिए ब्राह्मणग्रन्थों में क्रमशः **ध्रुव-धरुण-धत्र** श द प्रयुक्त हुए हैं। **घन पदार्थ ध्रुव है**। **तरल पदार्थ धरुण है**। **विरल पदार्थ धत्र है**। धत्र और धरुण की प्रतिष्ठा ध्रुव है। क्योंकि ध्रुवावस्था ही धर्त्र और धरुणावस्था की जननी है। ध्रुव पृथिवी का प याय है। हमारी प्रतिष्ठा है।

यज्ञ में आसुर प्राण विघ्न बाधारूप से निर तर यज्ञकर्त्ता यजमान की प्रति ठा उच्छिन्न करने का प्रयास करते रहते है। उनके इस प्रय स को विफल करने के लिए प्रतिष्ठातत्व प्रा त करना आवश्यक है। उसी प्रतिष्ठात्व को प्राप्त करने के लिए एव प्रा त प्रतिष्ठा से भ्रातृ यों के प्रयास को विफल करने के लिए- **ध्रुव-मसि** इ यादि म त्र बोलते हुए कपालोपधान किया जाता है। **पशु-अनुचर-प्रजा-स्त्री-द्रव्य-भूमि**-आदि अनेक प्रकार के वित्त है। इन सब वित्तों में श्रेष्ठ वित्त **ब्रह्मवीर्य्य** और **क्षत्रवीर्य्य** हैं। **ज्ञानशक्ति ही ब्रह्मवीर्य्य है** एव क्रियाशक्ति ही क्षत्रवीर्य्य है। जिस मनुष्य में **ज्ञान** और **क्रिया** दोनों सम्पत्तियाँ विद्य

*-आसङ्ग एक प्रकार का नि फल आक्रमण है। राक्षसबुद्धि वाले मनुष्यशरीरधारी असुरों की यह स्वाभाविक वृत्ति है। इसी आसङ्ग के लिए **छेड़छाड** श द प्रयुक्त होता है। यही लोकभाषा में **आसङ्गा दारी** नाम से प्रसिद्ध है।

मान हैं वह सब कुछ प्राप्त करने में समथ है। कर्म्मठ एव ज्ञानी पुरुष के कोश में असभव श द का अभाव है। न दोनो के बिना पुरुष पुरुषाभास है। वीडवी य से सम्ब ध रखने वाला अथ एव पूषाप्राण प्रधान शू स सम्ब ध रखने वाला पशु भाग दोनो ही तबतक सवथा निरथक हैं जबतक कि इह्न ज्ञान और क र्म के आश्रित नही बना दिया जाय।

ब्रह्म और क्षत्र के अतिरिक्त एक तीसरा व और है। वह है भूमा। आप में ज्ञान की मात्रा भा पा पूण है। आप कर्म्मठ भी हैं। किन्तु आपकी इच्छानुसार क म करने वाले अनुयायी यदि आपको नही मिलते हैं तो आप उस काय्य को कभी समृद्ध नही कर सकते। किसी भी काय्य को याद भूमाभावापन्न (वृद्धिंगत) करना हा तो इसके लिए सजातों की आवश्यकता है। समानकक्ष समानधर्म्मा सहयोगी अपेक्षित हैं। जिसके प्रज्ञा कोश में ब्रह्मवीर्य्य–क्षत्रवीर्य्य एव सजातसपत्ति विद्यमानहै उसके लिए कोइ भी का य असम्भव नही है। इन्ही तीनों सपत्तियों को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मवनि वा क्षत्रवनि वा सजातवनित्वा इ यादि मन्त्र का प्रयोग किया जाता है। यजमान स्वय ज्ञान और क म से युक्त है। इधर इसके सहकारी ऋ विक भी ऐसे ही हैं। ऐसी अवस्था में इसका यज्ञकर्म्म अवश्य ही सफल है। ७।८।६। ।११।

पृथिवीलोक को आप प्र यक्ष दख रहते है। सूय्यप्रतिष्ठारूप द्यु लोक का भी आप साक्षात् कर रहे हैं। दोनो के म यस्थ अ तरिक्ष का भी प्र यक्ष हो ही रहा है। इसप्रकार तीनो लोक आपके लिए अद्धा (प्रत्यक्ष) हैं। पर तु चौथा पारमेष्ठ्य लोक अनुमानगम्य है। अस्नि वै चतुर्थो देवलोक आप (कौ॰ ब्रा) के अनुसार चौथा लोक केवल श दप्रमाणगम्य है। हम साधारण कोटि के मनुष्य विदित नहीं चौथा लोक है अथवा नहीं इसी विचिकि सा में लगे रहते हैं। हमारी यह विचिकि सा तबतक स य है जबतक कि हम आषदृष्टि प्राप्त कर उसके द्वारा चौथ लोक को दख न ल। क्योंकि अस्ति न वा यही हमारा स यभाव है। एव यज्ञ में सत्यानुपालन का आदश है एव जसा मन मे हो वैसा कहना यही स य है। अत इसी सत्यरूप अनद्धाभाव को लक्ष्य में रखकर– विश्वाभ्यस्त्वा आशाभ्य यह बोल कर दक्षिण भाग की ओर कपालोपधान किया जाता है। अनद्धा चतुथलोकवत् विश्व आशाए भी अनद्धा ही है ॥१२॥

आर्षसाहि य के प्रत्येक श द में कुछ न कुछ निगूढ रहस्य पिनद्ध (सुगुप्त) रहता है। भृगु और अङ्गिरा के तप से इ यादि वाक्यसन्दभ के भृगु अङ्गिरा और तप ये तीनो ही शब्द अ यन्त रहस्य-पूण हैं जिनमें से सवप्रथम तप श द की ओर ही आपका यान आकर्षित किया जाता है। सासारिक स पूण क र्मों को छोड छाड कर एका त में शून्य आरण्य में जाकर इश्वरचि तन करना ही तप किवा तप श्चर्य्या कहलाती है आजदिन सर्वसाधारण में एव वदिक–विज्ञान की गहना वी स अपरिचित कुछ एक विद्वानो में तप का उक्त लक्षण ही प्रचलित एव मान्य है। हम इस लक्षण का विरोध नही करते। तप का उपय्यु क्त लक्षण भी होसकता है। परन्तु यापकाथ को अपने उदर में रखने वाले तप का उपय्यु क्त अथ कर बैठना अनुचित है। इश्वरप्राप्त्युपायभूत कायक्ल श अनशन एव योगमाग की कठिन साधनाओं को ही तप मानने वाले विद्वानो से हम पूछते हैं कि यदि ऐसा है तो—

१ ' प्रजापतिर्वा इदमग्र एक एवासीत्। सोऽकामयत सोऽश्राम्यत्। स तपोऽतप्यत। तस्य तप्यमानस्य तेजारसो निरवर्त्तताग्नि (शतपथ)

२ असौ वा आदित्यस्तप (शत ।१।५।)
३–तप स्विष्टकृत् (शत ११।२।७।१८)
४–तपो वा अग्नि (शत ३।४।३।२।)
५–तप आसीद् गृहपति (तै ब्रा ३।१२।६।६)
६–एतद्वै तपा यो दीक्षित्वा पयोव्रतोऽसत् (श ५।१।–)
७–भृगूणामङ्गिरसा तपसा तप्यध्वम् (शतपथ)

इ यादि श्रौतवचनो का आपकी मा यता म कसा ? और क्या सम वय होगा ? । क्या इश्वर–प्रजापति किसी अ य इश्वर की प्राप्ति के लिए योगसाधनरूप तप में अनुरक्त हैं ? । इन सब विप्रतिपत्तियो के नि करण के लिए एकमात्र नि न लिखित लक्षण को ही लक्ष्य बनाना पडेगा । तप का यथाथ एव अ याप्ति अतिव्याप्ति दोष–रहित यापक लक्षण करते हुए महर्षि तित्तिरि कहते है—

'एतद्वै तप इत्याहुयत् स्व ददाति'
—तै ब्राह्मण

आप्त महर्षि उसे ही तप कहते है जो कि अपने आप को द दता है । ता प य इस का यही है कि आ या मिक आधिदैविक आधभौतिक तीनो म से किसी भी त त्र को प्रा त करने के लिए जो यापार किया जाय वही तप है । पर तु वह व्यापार तप तभी कहलाएगा जबकि उसमें अपने आ मा का समपण होगा । आप अ य वस्तु को अपने म लाना चाहते है । इसके लिए पहले आपको अपने आप में स्थान बनाना पडगा । जिस स्थान पर आप प्राप्त वस्तु रखना चाहते है उस स्थान के प्राण को विसर्जित करना पडगा । यदि बिना प्राणदान के दूसरे श दो म बिना आ मबालदान किए कि आप किसी कि सम्पत्ति को ललगे तो आप उससे उचित लाभ स उठासकग । प्राणपातमूलक परिश्रम के द्वारा जो सम्पत्ति–लाभ होता है एव इससे आ मा में जसी शान्ति प्राप्त होती है वैसी शान्ति यथ की आइ हुइ सम्पत्ति से कथमपि सम्भव नही है । प्रथम तो बिना आ मसमपण के लाभ हो ही नही सकता । यदि छलछिद्रादि आसुरी माया के द्वारा एव अ या य कुचक्रों से लाभ हो भी जाता है तब भी उससे वास्तविक शान्ति नही मिल सकती ।

प्र येक वस्तु की प्राप्ति के पहल आप अपना प्राणदान करें । पहले बलिदान फिर प्राप्ति । यही व्यापक सिद्धान्त है । यदि आप कुछ लना चाहते हैं तो पहिले कुछ अपना समपण कीजि यही तप है । प्रजापति सृष्टि की कामना करते है । इसके लिए वे अपने प्राण की आहुति देते हे । यही है तप की वास्तविक स्वरूप परिभाषा । वाक श्रोत्र हस्त पाद आदि सभी का व्यापार तप है। परन्तु सवश्र ठ तप भृगु और अङ्गिरा का ही है। भृगु सोमतत्व है एव आङ्गरा अग्नितत्व है । अग्नि के क्रमिक चयन से शरीर बना है एव सोम से औषधि (अन्न) के द्वारा मन बना है । केवल शरीर से कर्म्म करना अङ्गिरा का तप है एव केवल मनोराज्य में विचरण करना भागव तप है । दोनो ही तप अधूरे है । दोनो के सम वय से जो तप का स्वरूप नि पन्न होता है वही तेजिष्ठ तप है । मनोयोग पूवक शरीर से जो व्यापार किया जाता है वही अ यर्थ तप है। उसी तप स पत्ति की प्राप्ति के लिए भृगुणामङ्गिरसा तपसा तप्यध्वम् कहा गया है ।

तप –स्वरूप-दिग्दर्शनम्

प्रसङ्ग उस– **तप** श द का उपास्थत हापडा है जिसके साथ वत्त मान युग की प्रयत्नप्रभाव–समाकर्षिता भावुक–प्रज्ञाओ के द्वारा **त्याग–तपस्या बलिदान** नाम की सुप्रसिद्धा **लाकघोषणा** समा वत होरही है । प्रतएव प्रसङ्गधिया आनवार्यरूपेण यह आवश्यक होजाता है कि **भृगूणामङ्गिरसा तपसा तप्यध्वम्** इत्यादि श्रुतिमूलक **तप** श द का प्रकृतासद्ध ता वक चिर तन नातवृत्त सक्षेप स स्पष्ट कर दिया जाय जिसके बिना हमारी प्रज्ञा आज का का पनिक याग तपस्या बलिदान–पर पराओ के महान् व्यामोहन से कदाप आ म परित्राण नही कर सकती ।

सुप्रसिद्ध–पाणिनीय धातुपाठ से अनुप्राणित– **तप** धातु **स ताप** **ऐश्वर्य** तथा **दाह** इन तीन अर्थों से अनुप्राणित है (१) । क्या एक ही– तप त व के ये तीन विभि न अथ है प्रश्न का उत्तर **पुरुषभावानुब ध** से जहा **स्वीकृात** मे दिया जायगा वहा **प्रकृतिभागानुब ध** स प्रश्न का उत्तर **निषेधा** मक ही होगा । सभी त व सभी पदाथ सभी विवत्त – **एक वा इद वि बभूव सवम्** – **एतद्वै तन्** इत्यादिरूप से जहा आ मपुरुषद ष्या एक ही **ब्रह्म** के महिमामय विवत्त बनत हुए आभन्नाथक ह इसी इसी अभिन्नार्थता के आधार पर जहा **सर्वे सवाथवाचका** सिद्धा त यवास्थत हुआ है वहा अपन त्रिगुणभाव स विषम विभिन्न पृथक भावो की सर्जिका **प्रकृति** के अनुब ध से **स तापाथक तप ऐश्वर्याथक तप** तथा **दाहाथक तप** तीनो का स्वरूप प्रकृतिभेदभि न प्राकृत–सस्थान–विभागो के अनुपात से सवथा पृथक पृथक ही माना जायगा । **तप** श द के चिर तन–इतिहास मे प्रवृत्त होते हुए हमें सवप्रथम प्रकृति के उन निभक्त तीन सस्थानो का ही अ वषण कर लेना पडगा जिनमें ब्रह्मविवत्त रूप एक ही तप के प्रकृति भेदभिन्न स ताप–ऐश्वय्य दाह लक्षण विभन्न तीन तपोभाव पृथक–पृथक रूपेण यवास्थत एव प्रतिष्ठित हैं ।

शतपथभाष्य के अबतक के पूवस दर्भों का अवधानपूवक अवलोकन मनन करने वाले पाठको को यह विदित होगया होगा कि विश्वश्वर पुरुषा मप्रजापात का महिमामय प्राकृत विश्व प्राणादि गुणभूतो के पञ्चीकरण से **पञ्चपर्वा** बन रहा है । अतएव प्रकृति के किंवा प्राकृत–यज्ञा मक–विश्व के समष्ट्या मक यष्ट्या मक सभी विवत्त प चपर्वा–प चा मक–पाङ्क्त ही प्रमाणित होरहे है जैसाकि पूवस दर्भानुगत **पाङ्क्तो वै यज्ञ** इ यादि के सम वय–प्रसङ्ग में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है । अतएव विश्वाधि ठात्री प्रकृतदेवी उपनिषदो में भी **पञ्चपर्वा** नाम से ही प्रसिद्ध हुइ है जसाकि निम्न लिखित श्वताश्वतर वचन से स्पष्ट प्रमाणित है—

---

(१)–'तप'–स तापे–(भ्वादिगण)–स तापार्थक तप
तप'–एश्वर्ये–(दिवादिगणे)-ऐश्वर्यार्थक तप
तप'–दाहे— (चुरादिगणे) दाहार्थक–तप

पञ्चस्रोतोऽम्बु , पञ्चयो युग्रवक्रा पञ्चप्राणोर्म्मिं, पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्त्ता , पञ्चदु खौघवेगा, पञ्चाषडभेदा पञ्चपर्वामधीम ॥
—श्वे उप १।५।

परोरजा मक ऋषिप्राण रज प्रवत्त क पितृप्राण रजोभावा मक देवप्राण रजस्तमोऽनुगत पशुप्राण तथा तम प्रधान भूतप्राण इन पञ्च प्राणो से कृतरूपा प चपर्वा प्रकृति ही त्रिपर्वा पुरुष * के आधार पर प चपर्वा विश्व का आताना मक वितान करने में समथ बनी हुई है जोकि तत्तत्प्रा णप्रधान पाचा विश्वपर्व पूवस दर्भों में क्रमश (१) ऋषिप्राणमूर्त्ति स्वयम्भू (२) पितृप्राणमूर्त्ति–परमेष्ठी (३) देवप्राणमूर्त्ति सूर्य (४) पशुप्राणमूर्त्ति च न्मा एव भूतप्राणमूर्त्ति भूपण्ड (किंवा पृथिवी) इन नामो से यत्र–तत्र उपवर्णित हुए हैं । प चभावात्मिका–प चप्राणोर्म्मिलक्षणा–विश्वोपादानभूता क्षरप्रकृति के व ही तथा–कथित पाचो प्राण क्रमश प्राण आप वाक अन्नम् अन्नाद न्न पारिभाषिक नामो से भी यवहृत हुए हैं । और यही प चपर्वा–प्राकृत–उस विश्व का सक्षि त–तम स्वरूप–परिचय है जिसके अमुक–सस्थान–विशेषों में से ही हमें सकल्पित–तीनो तपस्तत्त्वो का अपनी तीक्ष्णा आ्श्रयों से ढूढ निकाल लेना है । अ य त अवधानपूवक–तात्त्विकामा यमेन विश्व की तथोक्ता स्वरूपस्थिति को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए एव तदाधारेणव तपस्त्रयी का अ वषणा मक अ यवसाय उपक्रा त कीजिए ।

१ ब्रह्माक्षरानुगता—क्षरप्रकृतिरेव प्राण –(सोऽय परोरजा ऋषिप्राण)

२–विष्णवक्षरानुगता क्षरप्रकृतिरेव आप –(सोऽय रज प्रवत्त क पितृप्राण)

३–इ द्राक्षरानुगता—क्षरप्रकृतिरेव–वाक्—(सोऽय रजोभावा मक देवप्राण)

४–सोमाक्षरानुगता– क्षरप्रकृतिरेव–अन्नम्–(सोऽय रजोऽनुगत पशुप्राण)

५–अग्न्यक्षरानुगता-क्षरप्रकृतिरेव अन्नाद —(सोऽय तमोऽनुगत –भूतप्राण)

—*—

१—ऋषिप्राणमूर्त्ति —स्वयम्भू —परोरजा

२—पितृप्राणमूर्त्ति —परमेष्ठी—रजोऽधिष्ठाता

३—देवप्राणमूर्त्ति —सूर्य —– रजोऽभिगत

४—पशुप्राणमूर्त्ति —च द्रमा—रजोमूर्त्ति

५—भूतप्राणमूर्त्ति —भूपिण्ड —मूर्च्छितरज

—*—

* 'त्रीणि यातीषि सचते स षोडशी' (यजु सहितायाम्)

प्रहिता सयोग एव **प्रयुता मयोग** मूलक सुप्रसिद्ध आदान–विसर्गात्मक प्रकृतिसिद्ध व्यापार से विश्व के पाचो पर्वों की प्राणमात्रा तथा भूतमात्राओं का परस्पर आदान प्रदान हुआ करता है। इस पारस्परिक प्राण–भूतनिबन्धन आदान–प्रदान के तारतम्य स ही पाञ्चभौतिक पदाथा के नाम–रूप–गुणा मक प्राकृत स्वरूपो मे परस्पर विभेद उ पन्न होता है। और यो इन मात्राभावा के आदान विसर्गात्मक चङ्क्रमण से ही विश्व की तथा विश्वगभस्थ चर अचर–प्राकृत–पदार्थों की स्वरूप स्थात षड्भाव विकारो से समन्वित होती रहती है। क्योकि पाचो ही विश्वपव एव विश्वपर्वों में प्रतिष्ठित य च्चवावत् चर–अचर प्राणी स्व–स्व भूतमात्राओं के मा यम से स्व स्व प्राणमात्राओं का विस्रसनात्मक उत्सग–त्याग करते रहत है सभी प्राण भूता मक स्व भागो का दान करते रहते है। अतएव सभी को समष्ट्या व्यष्ट्या उभयथा **तपाधर्म्मा तपस्वी** इसलिए कहा और माना जासकता है कि पूव में हमने-तप का-- **एतद्ध तप इत्याहुयत् स्व ददाति** एक यह भी लक्षण किया है जो कि श्रौत होने से सर्वात्मना मान्य है। और यो स्वमात्रादानरूपा सहज विसगप्रणाली से विश्व और विश्व के य च्चयावत् पदार्थों को अवश्य ही **तपस्वी** कहा जासकता है। आदान–सापेक्षा विसर्गात्मिका इसी तपश्चर्य्या से इन तपास्वयो की स्वरूप व्यवस्थिति व्यवस्थित है।

स्व ददाति रूप **विसग उत्सग** किंवा **याग** अवश्य ही **आदान ग्रहण** किंवा **सग्रह** से नित्य सापेक्ष बन रहा है। इम पारस्परिक सापेक्षता का ही **अन्नान्नादसम्बन्ध** कहा गया है जिस का स्पष्ट अथ यही है कि प्रत्येक पदाथ-स्व प्राण–भूत–तृप्ति के लिए जहाँ उत्सग–परित्याग करता हुआ उन का **अन्न** बना रहता है वहा यही स्व–क्षतिपूर्त्ति के लिए दूसरों स युक्त भूत–प्राणो का सग्रह करता हुआ उप–निषद्भाषानुसार उन का **भोग करता** हुआ * उन का **अन्नाद** भी बना रहता है। याग की दशा में प्रत्येक प्रत्येक का **अन्न** है **भोग्य है सोम** है तो ग्रहणदशा मे प्रत्येक प्रत्येक का **अन्नाद है भोक्ता है अग्नि है**। और यो–इस सापेक्षता से सभी **अन्न** हैं सभी **अन्नाद** हैं। **सवमिदमन्न सवमिदमन्नाद** (शतपथ) **द्वय वा इद–अत्ता चैव–आद्यञ्च** (शतपथ) इत्यादि ब्राह्मणश्रुतियो का यही तात्विक समन्वय है जिस का निम्न लिखित मन्त्रश्रुति से अक्षरश समथन होरहा है। दखिए!

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेव मावदहमन्न, मन्नमदन्तमद्मि ॥

—**सामसहिता पू** ६।१।१।९।

म अन्न हू और अन्न खाते हुए को मै खा भी रहा हू इत्यथक – **अहमन्नमन्नमदन्त-मद्मि** इस अन्तिम वाक्य के द्वारा स्पष्ट ही प्रत्येक पदाथ की **अन्न अन्नादता** प्रमाणित है। अब इन अन्न–अन्नाद भावो के सम्बन्ध में थोडा सूक्ष्मावलोकन अपेक्षित है। विसग होता है **अग्नि** का एव आदान होता है– **सोम** का। आता हुआ भाग **अन्नात्मक सोम** है एव जाता हुआ भाग अन्नादात्मक **अग्नि** है। अग्नि **आङ्गिरस तत्त्व** हैं तो सोम **भागव–तत्त्व** है। भागव सोम सकोचधर्म्मा **स्नेहतत्त्व**

---

* **''तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्य स्विद्धनम्''**।

—विस्तार के लिए देखिए **ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य**

है तो आङ्गिरस आ न विकासध मा तजस्त न है। स्नहगुणक सोम याद तेजोगुणक अ निसापेक्ष है तो तजो गुणक अ नि स्नेहगुणक सोमसापेक्ष ह। यो नेनो परस्पर नि य सापेक्ष हैं। **अतएव याग को सग्रहमूलक ही माना जायगा एव सग्रह का त्यागमूलक ही माना जायगा।** सहज–भाषा में– **याग** वही याग क लाएगा जिसका उद्द श्य **सग्रह** होगा। एव **सग्रह** वही **सग्रह** कहल एगा जिस का उद्द श्य **त्याग** होगा। सग्रहशू य याग–तपस्या–बलिदान जहा सवथा निरथक प्रमाणित होते हुए स्वस्वरूप के मूलो छेदक ही माने जायँगे वहा यागशू य सग्रह–जडता का प्रवत्तक बनता हुआ स्वस्वरूप का आवरक भी बन जायगा। अतएव दोनों का सम वय स सापेक्ष याग तथा सग्रह की मौलिक स्वरूप परिभाषा स ही समन्वित हो सकेगा। अतएव स्व ाना मक तपोरूप आङ्गिरस अ निभाव के साथ अनिवार्य्यरूपेण परादाना मक सग्रहरूप भागव सोमभाव का भी स ब ध स्वत ही ससिद्ध होजायगा। अतएव आदानगर्भित विसग को ही भृगु गर्भित आङ्गिरस या पार को ही वास्तविक तप माना जायगा। इसी रहस्य को लक्ष्य बना कर भगवान् याज्ञव क्यने कहा है कि **भृगूणामङ्गिरसा तपसा त यध्वम्** जिस इस वचन का सस्मरण पूवप्रकरणो में भी होचुका है।
(देखिए पृष्ठ ४४१ ४२)

यह तो हुई **तप** श द की लोकानुवर्तिनी स्वरूप–स्थिति का किञ्चिदिव निदशन। अब तप के उस सत्तासिद्ध वज्ञानिक स्वरूप की ओर तपस्वी विद्वानो का यान आकर्षित किया जारहा ह जिन के तीन विभिन्न प्राकृत विवत्तों का पूव में सस्मरण किया गया है। जिस पञ्चपर्वा मक विश्व का पूव में तात्त्विकरूपेण दिगदशन कराया गया है उस पञ्चपर्वा मक अक्षरप्रकृतिविशिष्ट–क्षरप्रकृतिरूप विश्व में **तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्** के अनुसार त्रिमूर्ति षोडशीप्रजापति **आ मप्रतिष्ठा** रूप से प्रविष्ट होरहे हैं जैसा कि **य आविवेश भुवनानि विश्वा तस्मिँ लोका श्रिता सर्वे** इ यादि म त्रोपनिषत् श्रुतियो से प्रमाणित है। विश्वानुप्रविष्टता स ही वह त्रिमूर्ति षोडशीप्रजापति **विश्वचर विश्वा मा विश्वेश्वर** आदि अभिधाओ से समन्वित होरहा है। पञ्चपर्वा मक समष्टिरूप एक विश्व की दृष्टि से वह **एक विश्वेश्वर** है तो पृथक पृथक पाच य ष्टया मक पाँच विश्वपर्वों के पार्थक्य से वह एक ही पञ्च विवत्त भावा में परिणत होता हुआ **पाच ईश्वर** है जिन का साङ्केतिक नाम **है उपेश्वर**। विश्व का सम ष्टया मक **ईश्वर एक** है एव यष्ट्या मक **उपश्वर** पाच है जिन का पूर्व के मनुवृषभ प्रकरणो में रेखाचित्रो के मा यम से दिगदशन कराया जाचुका है। यो वह एक भी त्रिमूर्ति इन पाँच विश्व पर्वों में **पञ्चधा** अपने **त्रीणि त्रीणि** रूपों से विभक्त होता हुआ स्वयमपि पञ्चपर्वा प्रकृतिवत् पञ्चपर्वा एव त्रि त्रि मूर्त्ति बन रहा है। इसी त य को लक्ष्य बना कर छा दो यश्रुति ने कहा है—

यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्याय परम यदस्ति।
यस्तद्वेद स वेद सव सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति॥
—छान्दोग्य उपनिषत्

विश्व के पाँच पर्वो मे अपने तीन–तीन–महिमारूपो से विभिन्न उन **तीनो** का क्या स्वरूप है? प्रश्न का उत्तर है–**तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते** मूलक **त्रीणि ज्योतीषि सचते स षोडशी** यह मन्त्रभाग। क्या ता प य? ता प य स्पष्ट है। वह प्रजापति पञ्चकल अव्ययरूप **अमृतम्** पञ्च

कल अद्वररूप ब्रह्म तथा पञ्चकल आ मन्नरूप- शुक्रम् न तीन यातिर्भावो स ही त्रिमूर्ति बन रहा है। अमृता यय सी की मनावना ज्ञान योत है ब्रह्माक्षर इसी की प्राणघना-कम्मज्याजि है एव शुक्रक्षर इसी का वागघना-भूत योति है। मन प्राण-वाग् रूपा अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मिका ज्ञान-क्रिया-अथ शक्तिघना इही तीनो यातियो स कृतरूप विश्वात्मा विश्व क पाचो अर्थात् तीनों विवत्ता में प्रति ष्ठत हे। प्रक्रा त पाच के स्थान में सहसा यह- तीनों और क्या समुपस्थित होपडा? दो श दो में इस समस्या का भी निराकरण कर लीजए जिसके आधार पर ी प्रक्रा त- तप श द का सत्ता-सिद्ध त वाथ सम्भावित है।

भारतीय यावहारिक-सास्कृतिक-जगत् म त्रिमूत्ति श द का प्रसिद्ध अथ है- ब्रह्मा विष्णु महेश। आ यमर्वस्वा मक पुराणशास्त्र ही भारतीय- सास्कृतिक-आयाजना की क्षीप्रकार मूलप्रति ठा है जसेकि स्मृतिशास्त्र भारतीय सास्कृतिक आचारा की एव श्रुतिशास्त्र भारतीय-सस्कृति की मूलप्रति ठा माना गया है। भारतीय-सास्कृतिक लोकसामा यप्रजा स अनुप्राणित आत्मानुगत पव बुद्धय-नुगत उ सव मनाऽनुगत सम्मलन तथा शरीरानुगत समारोह नामक चतुद्ध विभक्त य चयावत् भारतीय सास्कृतिक-आयोजनों का केन्द्र क्योकि पुराणशास्त्र है एव यह क्योकि त्रिदेवमूर्त्ति के आधार पर ही सास्कृतिक आयोजनों की यारया करता है अतएव लाकसामा य म त्रिमूत्ति से त्रिदेवता ही परिगृहीत होपड ह। तो क्या पुराणशास्त्र वैदिक पञ्चदेवतावाद का विरोधी है? अब्रह्मण्यम्? अब्रह्मण्यम्!!

जा पुराणशास्त्र-वदशास्त्र के ज्ञान-विज्ञानात्मक रहस्य-पूण त वो की स्वरूप- यारयामात्र हो तत्स बध में तो विरोध की क पना करना भी अपने आपको प्रायश्चित्त का ही भागी बनाना है। इयमत्र सङ्गति। विश्व के पाचो पवा से अनुप्राणित ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम सुप्रसिद्ध इन पाचो दव ताओ के विश्वाधारभूत पूर्वोक्त त्रिमूर्ति विश्वात्मा के मन प्राण-वाक्-प्रधान अमृत ब्रह्म-शुक्र-नामक तीन विवर्त्तों के अनुबध स अन्ततागत्वा तीन ही प्रमुख-विवत्त शेष रह जाते हैं। ब्रह्मा का एक स्वत त्र विभाग है विष्णु का स्वत त्र विभाग है एव इन्द्र अग्नि सोम इन तीनो की समष्टि का एक स्वतन्त्र विभाग है।

जसा कि स्पष्ट किया गया है विश्वात्मा का अमृता यय-स्वरूप मनोभाग ज्ञान योतिर्म्मय है ब्रह्माक्षररूप प्राणभाग कम्म योतिम्मय है एव शुक्रक्षररूप वाग्भाग भूत योतिम्मय है। योति क्योकि अवलोकनात्मक आलोक का मा यम बनती है प्राणीसृष्टि में क्योकि नेत्र ही अवलोकन के मा म बनते है। एकमात्र इसी अनुबध से योति का एक साङ्केतिक-नाम नेत्र भी रख दिया है। स्वायम्भुव ब्रह्मा सत्यनेत्र ऋत नेत्र के सम्बध से जहा द्विनेत्र है * पारमेष्ठ्य विष्णु जहा भागवसौम्य आङ्गिरस आग्नेय तेज सम्ब

*-सत्यव्रत, सत्यपर त्रिसत्य, सत्यस्य योनि निहित च सत्ये।
सत्यस्य सत्य 'ऋत-सत्य-नेत्र सत्यात्मक त्वा शरण प्रपन्ना ॥
—श्रीमद्भगवते

ध से– द्विनेत्र हैं वहा सूय–चद्र–पार्थिवाग्निमूर्त्ति अतएव त्रिज्योतिम्मूर्त्ति भगवान् महेश्वर त्रिनेत्र नाम से ही प्रसिद्ध हुए हैं। तात्पय्य यही है कि मनोमय–अमृताव्ययात्मक–ज्ञानज्योतिर्भाव का स्वायम्भुव ब्रह्मा स सम्ब ध है अतएव इन्हे चित्पति (ज्ञानपति) कहा गया है। प्राणमय ब्रह्माक्षरात्मक कम्मज्योतिर्भाव का पारमेष्ठ्य विष्णु स स ब ध है अतएव इन्हे कम्मपति (प्राणपति) कहा गया है। एव वाङ्मय शुक्रक्षरात्मक–भूत ज्योतिर्भाव का सौर चान्द्र पार्थिव–इन्द्र–सोम अग्नि–से सम्ब ध है अतएव त्रिमूर्त्ति–त्रिनेत्र इन महेश को भूतपति (पशुपति वाकपति) कहा गया है। तदित्थ विश्वात्मा के मन प्राण वाङ् नि ध अमृत–ब्रह्म शुक्रात्मक ज्ञान–कम्म भूत ज्योतिर्भावों के अनुब ध से पाच विश्वदेवताओं के तीन भी विवर्त्त स पन्न होजाते हैं जिनके आधार पर ही पुराण का त्रिदेवतावाद सुप्रतिष्ठित है। भूतज्योति विवर्त्त सूर्य्य–चन्द्र–अग्नि (पार्थिव) भेद से तीन भागों में विभक्त है जिनके कि साङ्केतिक नाम क्रमश स्वज्योति–परज्योति रूपज्योति है। अतएव त्रिभूत ज्योतिर्मय सूर्य चन्द्र–पार्थिवात्मक इन्द्र–सोम अग्नि–रूप त्रिमूर्त्ति का एक विवर्त्त मान लिया जाता है और यों– पाच विश्वपर्व विश्वात्मा के त्रित्वानुब ध से तीन भावों में भी परिणत हो रहे हैं जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

पञ्चपर्वानुगत विश्वम्			त्रिपर्वानुगत–विश्वम्
	१ ज्योतिषा–ज्योति —ब्रह्मा—स्वयम्भू	—अमृताव्ययानुगतो द्विनेत्र –ब्रह्मा (१)	
	२ अव्यक्त ज्योति ——विष्णु –परमेष्ठी	—ब्रह्माक्षरानुगतो द्विनेत्र विष्णु (२)	
	३– स्वज्योति ——— इन्द्र — सूर्य्य	—इन्द्रसोमाग्न्यनुगतस्त्रिनेत्र शिव (३)	
	४ परज्योति ———सोम चन्द्रमा		
	५ रूपज्योति ———अग्नि –पृथिवी		

——— — * ———

पाठकों से आवेदन किया जायगा कि तप शब्द के मूलाधारभूत उक्त परिलेखके ब्रह्मा–विष्णु महेशात्मक तीनों विश्वपर्वों को व अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ करलें। क्योंकि इसी त्रिमूर्त्ति के आधार पर हमें तप शब्द के प्रतिज्ञात सन्ताप ऐश्वय्य दाह नामक तीनों तपोभावों का समन्वय–प्रयास करना है। स्वायम्भुव ब्रह्मा षोडशी विश्वात्मा के मनोमय ज्ञानशक्तिघन अमृताव्यय–रूप ज्ञान ज्योतिर्मयरूप से प्रधान रूपेण समन्वित होते हुए क्योंकि चित्पति हैं ज्ञानपति हैं अतएव स्वायम्भुव ब्रह्मा का तप कहलाएगा ज्ञानमय यस्य ज्ञानमयय तप *। ब्रह्मा के इसी ज्ञानमय तप को कहा जायगा सन्ताप। यद्यपि लोक

* य सर्वज्ञ सर्ववित् यस्य ज्ञानमय तप ।
तस्मादेतद् ब्रह्म, नामरूप मन्नञ्च जायते ॥
—उपनिषदि

भाषा में अमुक रूढभावो के कारण **सन्ताप** श द- **शोकसन्तापरूप** से दु खवग से ही अनुप्राणित दगा सुना जाता है। तथापि ताि विकी परिभाषा के अनुसार तो **स ताप** श द का दुग्व व से यत्किञ्चित् भी तो सम्ब ध नही है। अपितु क्रियाप्रधान **तप** नामक **प्राणा मक तप** के आधारभूत मनोमय ज्ञानशक्ति प्रधान ज्ञानीय वापार को ही श्रुतिने **स ताप** किंवा **सतपन** कहा है जसाक **तस्य श्रा तस्य (वाग् यापार मयस्य)** **तप्तस्य (प्राण यापारमयस्य)** **स तप्तस्य (मनो यापारमयस्य)** **तेजो-रसो** निरवत्त त **इ यादि** श्रुति से स्पष्ट प्रमाणित है। और यही अर्थ प्रमुख-ता वक-अर्थ है।

तप से ही- **ताप** बना है। एव **ताप** ही **सम्** उपसग से- **सताप** किंवा **सन्ताप** रूप में परि णत हागया है। अव्यया मस्वरूपवत्ता आ मानष्ठ द्विानो को विदत ही होगा कि षाडशीप्रजापति का **अमृतम्** नामक **अ यय** विवत्त ही अपने आ ममूलक साम्य से — **समब्रह्म** नाम से प्रसिद्ध है। अभिन्नभावा मक- एकीभावा मक इसी **समब्रह्म** का स्वरूप सग्राहक माना गया है **सम्** नामक उपसग जैसाकि **समि य- कीभावे इ यादि** से प्रसिद्ध है जिस इस समब्रह्मा मक अद्वय अविभक्त अ यया मा के सग्राहक सम् के सम्ब ध से ही तत्कृति **सस्कृति** तद्भावप्रधाना भाषा **सस्कृत** एव तदनुब धीआचारविशेष **सस्कार** आदि नामों से प्रसिद्ध हुए है। स्वायम्भुव ब्रह्मा का ज्ञानमय तप क्योंकि अ ययब्रह्मा मक समब्रह्म की मूल-प्रति ठा पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव अवश्य ही इस **तप** को- **सम्** से समन्वित होने से **सताप** कहा जास कता है जिसके अनुगमन से ज्ञानसम्पत्त की ही अभि यक्ति मानी है तत्तपोयुक्त महर्षियोन।

ऋषिप्राण ही इस स तापा मक तप की मौलिक उपनिषत् है। स्वाय भुव उस **यजु प्राण** का ही नाम **ऋषि** है जो कि सद्घन-सदरूप होने से **असत्** नाम से प्रसि है (*) जिस कि पञ्चपर्वा किंवा त्रिपर्वा विश्व का मलप्रवत्त क माना गया है। **ऋक्-साम रूप** वयोनाधा मक छ द से छन्दित स्वायम्भुव ब्रह्मनि श्वसित अपौरुषेय यजुर्वेदा मक मौलिक प्राण का ही नाम स्वय भू ब्रह्मा का तथोक्त **ज्ञानीय-तप है** जिस इस मौलिक ज्ञानीय **ऋषितप** से ही सम्पूण विश्व अभि यक्त हुआ है। **स्वायम्भुव स य ब्रह्मा** रूप महदुक्थ से विनिगत **परमाकाशा मक** स्वायम्भुव **महिमाकाश (परम योम)** में आसम तात् व्याप्त ऋषिप्राणप्रधान इसी ज्ञानीय तप की व्याप्ति का स्थान- **तपोलोक** नाम से प्रसिद्ध है जहा मात्रारूपेण स्वायम्भुव स य-ऋत सूत्रों (नेत्रों) के द्वारा वह ि निगत होकर सब मे ज्ञानमात्रा का प्रसार किया करता है। स य ऋत-नेत्रो से सवत्र या त स्वायम्भुव ऋषिप्राणमूर्त्ति स्वायम्भुव परमाकाश में व्याप्त सदभावा पन्न अतएव **असत्** नाम से प्रसिद्ध अ यया मा के **सम्** भावा मक ज्ञान की प्रतिष्ठा पर प्रातष्ठित अत

—इहैव तर्जित सर्गो येषा साम्ये मन स्थितम्।
निर्दोष हि सम ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिता॥

—गीता

***-असद्वा-इदमग्र आसीत्। तदाहु -कितदसदासीदिति, ऋषयो वाव तदग्रऽसदा सीत। तदाहु -के ते ऋषय इति प्राणा वा ऋषय।**

—शत ६।१।१।१।

एव ज्ञानमय अतएव च सम् भाव से समन्वित ज्ञानीय तपोरूप प्रथम स्वाय भुव सन्तापाथक तप का यही सङ्क्षिप्त चिर तन इतिवृत्त है।

त्र लोक्य विद्यावित् विद्वान् जानते है कि लोकाधिष्ठाता विश्वाधि ठाता षोडशीप्रजापति का पाञ्चभौतिक शरीर **सप्तवितस्ति** रूप है जैसाकि- **सप्तवितस्तिकाय** — से प्रसिद्ध है। **भू भुव स्व–मह्–जनत् तप सत्यम्** सुप्रसिद्ध ये सात लोक ही उस लोकी प्रजापति का (आमा) स त याहृ या मक स त बितस्ति–रूप वैसा ही चतुरशीति अङ्गुलिामत शरीर है जसाकि गायत्र प्राणसम्बन्ध से मानव का शरीर अष्ट प्रादेशमित बनता हुआ चतुरशीति अङ्गुल ह। यदि मानव अपनी प्रत्येक अवस्था (वय) मे स्वाङ्गुलि–परिमाण से अष्टप्रादेशा मक बनता हुआ चतुरशीतिरङ्गुलिमित शरीरी है तो तदभिन्न तत्प्रात ठारूप वह विश्वश्वरप्रजापति भी स्वाङ्गुलिपरिमाण स उक्त सात वितस्तियो के मापदण्ड से चतुरशीतिरङ्गुलिमित शरीरी ही प्रमाणित होरहा है।

सुप्रसिद्ध तथाकथित पाचो विश्वपर्वों में प्रथम भूपिण्ड ही **भलोक** है तृतीय–सूर्य्य ही– **स्वर्लोक** है दोनो के म यम का च द्रोपलक्षित द्वितीय अ तरिक्ष ही– **भुवर्लोक** है। परमेष्ठी **जनल्लोक** है। सूर्य्य–तथा परमष्ठी का म य तरिक्ष– **महलाक** है। स्वयम्भू **सत्यलोक** है। एव परमेष्ठी तथा सूर्य्य का ज्ञानीय ऋषिप्राणा मक लोक ही– **तपोलोक** है। यो पाच पर्वों मे सात लोक अ तभू त है। ये ही सुप्र–सिद्ध **भू–भुव स्व–मह –जनत्–तप स यम** नाम की सात **लोक याहृतिया** हैं जिन में छ ठा लोक ही स्वाय भुव–ज्ञानीय–तपोमय लोक है और इसी का नाम है **सन्तापा मक** अर्थात् **समब्रह्मानुगत** तप और यही है तीनों तपो में से ब्रह्मानुगत प्रमुख सवप्रधान सवप्रतिष्ठारूप मौलिक तप जिस इस ज्ञाना मक आ मनिब धन **ब्राह्मतप** के बिना अन्या य सभी तप अप्रतिष्ठित अतएव यातयाम (निरथक) ही प्रमाणित होजाया करते है।

अब क्रमप्राप्त दो श दो में उस दूसरे **तप** धातु के चिर तन इतिवृत्त का भी अ वेषण कर लीजिए जिस का अथ माना गया है **ऐश्वय्य**। सन्तापरूप **ऋषितप** (ज्ञानीय तप) ने क्या किया? सव–प्रथम इस **ऋषितप** से क्या उ पन्न हुआ? प्रश्न का समाधान है– **अप एव ससर्जादौ** *। सवप्रथम **अप्** तत्व (**प्राणा मक ऋतधर्म्मा आप**) ही उ पन्न हुआ। यजुर्म्मूर्त्ति स्वाय भुव ऋषि प्राण का ज्ञानीय व्यापार ही स तापा मक तप था। इस स तपनरूप तप से यजू का– जू रूप नाग भाग उसी प्रकार चू

—क्वाह तमोमहदह खचराग्निवार्भू सवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिका ।
क्वे दृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्या वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥
श्रीमद्भागवते

* सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधा प्रजा ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥
—मनुः १।८।

पडा जैसे कि ज्ञानीय तप स मानव का जूरूप वागभाग द्रुत होऽन्डता है । वह द्र तभाग ही स्वयम्भू ऋषि ब्रह्म (ब्रह्म) का वह **स्वेद** (**पसीना**) कहलाया जिसे– **सुवेदात्मक-अथर्ववन्** कहा जाता है। ब्रह्म स्वय भू के तप स अभिव्यक्त यह स्वेदधारा ललाट से चारो ओर इसी प्रकार बह निकली जसे कि ज्ञानीय तप से ज्ञानान ठ के वागाकाश (**शरीरकाश**) से स्वदधारा ललाट को उपक्रम बना कर चारो ओर प्रवाहित होजा ी है। ज्ञानीय तप स सवप्रथम ललाट प्रदश में ही स्वदकण अभिव्यक्त होत ह। ठीक यही स्थिति वहा घटित हुई। निम्न लिखित **गोपथश्रुति** इसी त य का स्पष्टीकरण कर रही है—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् स्वयन्त्वेकमेव । तदभ्यश्राम्यत् समतपत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नेह, यदाद्र्य–आजायत तेनान दत् । सुवेदोऽभवत् । त वा एत सुवद' स त 'स्वाद' इत्याचक्षते । स भूय समतपत् । तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्य पथग स्वदधारा प्रास्यन्दन्त ।

—गोपथब्राह्मणे १।१।२

निवचनीय यही है कि ऋषिप्राणात्मक **यत्** के यापार से– जूरूपा स्वायम्भुवी वाक ही एकाश **से** (**यत्किञ्चिद श से**) द्रुत होपडी । **सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्** । **वागेव सा ऽसृज्यत । सेद सर्वमाप्नोत् तस्मादाप यदवृणोत्–तस्माद्–वा** (**वारि** शत ६।१।२।७) के अनुसार यों स्वायम्भव स ताप स जूरूपा वाग्भाग से सवप्रथम आप्तिधर्म्मा अपतत्त्व ही उत्पन्न होगया जिस इस आपोमय द्वितीय निश्वविवत्त को ही– **परमेष्ठी** कहा जाता है जिस का आप्तिधर्म्मा मैथुनीसृष्टिप्रवर्त्तक प्राण ही **पितरप्राण** नाम से प्रसिद्ध है। **ऋषिभ्य पितरो जाता** इस मनुवचन का भी यही रहस्यार्थ– समन्वय है।

स्वाय भुव ब्रह्मा के स ताप रूप ज्ञानीय **आषतप** (ऋषितप) से तद ज रूप वागभाग से सवप्रथम उत्पन्न आपोमय परमेष्ठी सचमुच ही तो सम्पूण विश्व का समृद्धिजनक महान्– **ऐश्वर्य्य** है। लोक-सामान्य में ऐश्वर्य्य **सम्पत्ति** नाम से प्रसिद्ध है। क्या स्वरूप है इस **लोकसम्पत्ति** का ?। क्या भातिसिद्ध पत्रखण्डों (**नोटों**) का नाम लोकसम्पत्ति किंवा लोकैश्वर्य्य है ?। नेति होवाच। तो आ ए ! ऋषिदृष्टि के माध्यम से आज हम आप को लोकैश्वर्य्य की स्वरूप– दिशा से परिचित करादे जिस अपनी इस ऐश्वर्य्य–सम्पत्ति से साम्प्रदायिक वारुणपाश में आबद्ध होता हुआ भारतीय मानव अनात्मवादमूलक विगत तीन सहस्रवर्षों से उत्तरोत्तर वञ्चित ही होता आरहा है।

शब्दसम्पत्ति और **अथसम्पत्ति** इन दोनो स पत्तियों की समन्वितावस्था का नाम ही **है– पदाथ** जो असख्य–सख्या में विभक्त हैं। **पदाथ** शब्द में **पद** और **अथ** दो भाव सन्निविष्ट हैं। **पद** का नाम है शब्द एव अथ का नाम है–शब्द के द्वारा गृहीत **वस्तुतत्त्व**। या **पदार्थ** शब्द के द्वारा शब्द और **अथ** दोनो का सग्रह होरहा है। कसे पदाथ ? जो प्रकृतिसिद्ध हैं ईश्वरीय हैं। **सुवण रजत ताम्र– लोह–सीसक अभ्रक पारद ओषधि–वनस्पति–पृथिवी–वायु–चन्द्रमा सूर्य्य–जल अग्नि–पशु–पक्षी**

मानव ऋषि पितर गन्धर्व यक्ष–आदि आदि नामों से प्रसिद्ध ईश्वरीय सृष्टि के सत्तासिद्ध पदार्थ हों वा तत्र में पदार्थ हैं जो समष्ट्या–व्यष्ट्या उभयथा **शब्द और अर्थ** दोनों सम्पत्तियों से समन्वित माने गए हैं। **शब्दात्मिका सम्पत्ति** तथा **अर्थात्मिका सम्पत्ति** इन दोनों सम्पत्तियों की मूलाधिष्ठात्री देवता ही भारतीय **देवताविज्ञान** में क्रमशः **श्री लक्ष्मी** नाम से प्रसिद्ध हुई हैं। **शब्दैश्वर्य** का नाम है **श्री** एवं **अर्थैश्वर्य** का नाम है **लक्ष्मी**। एवं इनका पारिभाषिक तात्त्विक नाम **है–सरस्वती** और **आम्भृणी**। सरस्वतीरूपा श्री तथा आम्भृणीरूपा लक्ष्मी इन दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही ऐश्वर्य है जिसका मूल उद्गमस्थान **है–आपोमय परमेष्ठी**। कथमिति चेत्? श्रूयताम्! श्रुत्वा चावधार्यताम्!!

जिस स्वायम्भुव तप (सन्तपनरूप ज्ञानीय तप) से अप्तत्त्व की उत्पत्ति बतलाई गई है वह स्वायम्भुव तप अपनी वाग (जू) के एकांश से इस आपोमय परमेष्ठी को उत्पन्न कर शेषांश से **सोऽनया त्रय्या विद्यया सहाप प्राविशत्। तत आण्डं निरवर्त्तत** (शत० ६।१।१।१०।) के अनुसार उस आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में आत्मप्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित होजाता है। यों अत्र परमेष्ठी के **आपोरूप** तथा तद्गर्भीभूत **ऋषिप्राणरूप** भेद से दो विवर्त्त होजाते हैं। स्वयम्भू का यजुर्भाग **यत् जू** रूप **प्राण वाक्** भेद से स्वयं द्विधा विभक्त था। **यत्** गतिप्रकृतिक ऋषिप्राण था तो **जू** स्थितिप्रकृतिक वाक्तत्त्व था। वे दोनों **गति स्थिति** भाव परमेष्ठी में समन्वित होगए। ऋषिप्राणात्मक गतिभाव तो परमेष्ठी में **शब्दसृष्टि** का आधार बना एवं पितरप्राणात्मक–स्थितिभावात्मक आपोभाव परमेष्ठी में–**अर्थसृष्टि** का प्रवर्त्तक बना। वहां की गति (प्राण) यहां– **सरस्वती** कहलाई एवं वहां की स्थिति (वाक) यहां **आम्भृणी** कहलाई। अतएव इन दोनों पारमेष्ठ्य विवर्त्तों में प्रधान ऐश्वर्य **सरस्वती** ही मान लिया गया जिसकी प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित होकर ही आम्भृणीदेवी अर्थसृष्टि में समर्थ बना करती है। अतएव आगे चलकर ऐश्वर्य का प्रधान स्थान **सारस्वतक्षेत्र** ही मान लिया गया।

शब्दात्मिका ज्ञानसम्पत्ति का ही नाम है **सरस्वती** इसी का नाम **है–श्री** और यही है मौलिक–**ऐश्वर्य**। एवं अर्थात्मिका भूतसम्पत्ति का नाम ही है आम्भृणी इसी का नाम है **लक्ष्मी** और यही **है लोकलक्ष्मी**। श्री ही लक्ष्मी की प्रतिष्ठा है। श्रीविहीना लक्ष्मी तो कालान्तर में आत्यन्तिक जड़ता की प्रवर्त्तिका बनती हुई मानव को अलक्ष्मीभाव में ही परिणत कर दिया करती है। ज्ञानसम्पत्ति ही अर्थात्मिका भूतसम्पत्ति की मूलाधिष्ठात्री बना करती है। **अन्यथा मूर्खों की लोकलक्ष्मी का उपभोग तो बुद्धिमान् ही कर लिया करते हैं**। अतएव मानना पडगा कि वास्तविक–ऐश्वर्य सारस्वतक्षेत्र से ही अनुप्राणित है। और यही **ऐश्वर्यरूपा सम्पत्ति** का संक्षिप्ततम स्वरूप–दिग्दर्शन है *।

पारमेष्ठ्य–मण्डलानुगता शब्दधारात्मिका सरस्वतीधारा का ही वैज्ञानिक नाम **है–अङ्गिराधारा** एवं अर्थधारात्मिका आम्भृणीधारा का ही नाम **है–भृगुधारा**। स्वायम्भुव–**गति** तत्त्व का (प्राणात्मक **यत्** तत्त्व का) पारमेष्ठ्यरूप ही है–विकासधर्म्मा–**तेजोभाव**। इसी का नाम **है–अङ्गिरा** यही **है–सरस्वती**

---

* विस्तार के लिए देखिए **सांस्कृतिक–निबन्ध का दीपावलीपर्व** नामक स्वतन्त्र प्रकरण

और यही है शब्दसृष्टि की मूलाधिष्ठात्री। तथैव स्वायम्भुव- स्थितात त व का (वागा मक- जू त व का) पारमेष्ठ्यरूप ही है--सङ्कोचधर्म्मा- स्नेहभाव इसी का नाम है- भृगु यही है आम्भृणी और यही है--अर्थसृष्टि की अधिष्ठात्री। तदित्थं उभयसम्पत्तियो से समन्वित तेज स्नेह-प्राणा मक-अङ्गिरा-भृगुमय-इसी पारमेष्ठ्य- अप् त व का नाम है ऐश्वर्य्य जिसके बिना विश्व का ऐश्वर्य क्षणमात्र भी प्रतिष्ठित नही रह सक्ता। अपतत्व की इसी उभयधर्म्मता का विस्पष्ट शब्दो मे दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि ने कहा है—

आपो भृग्वङ्गिरोरूप, मापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनाङ्गिरस श्रिता ॥
—गोपथब्राह्मणे

स्वायम्भुव ब्रह्म का तप मनस्त्वेन ज्ञानमय था तो पारमेष्ठ्य विष्णु का तप प्राणत्वेन क्रियामय है कर्म्ममय है। भार्गव साम आङ्गिरस अग्नि दोनों के तपोमूलक सम्मिश्रण का नाम ही यज्ञ की मोलिक-स्वरूप परिभाषा है। यह भार्गवाङ्गिरस तपोरूप यज्ञ क्रियाशक्तिप्रधान ब्रह्मान्तरात्मा से अनुप्राणित है। अतएव यज्ञ और कर्म्म अभिन्नार्थक मान लिए गए है जैसाकि श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे (यजु १।१) के व्याख्याभूत- यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म्म शत) इत्यादि ब्राह्मणवचन से स्पष्ट है। भृग्वङ्गिरोमूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी ही- विष्णु हैं। ये ही भार्गवाङ्गिरस यज्ञ के प्रवर्त्तक है। अतएव- यज्ञो वै विष्णु - विष्णुर्वै यज्ञ इत्यादि निगम भी निर्विरोध समन्वित है। श्री और लक्ष्मी दोनो यज्ञमूर्त्ति इसी विष्णु की पत्नियां मानी गई है पुराणशास्त्र में। श्री को वक्षस्थलस्थिता बतलाया गया है एव लक्ष्मी को अर्द्धाङ्गिनी माना गया है जैसाकि अमुक महाभारतीय प्रसङ्ग से स्पष्ट कर दिया है पुराणपुरुष भगवान् व्यास ने (देखिए महाभारत अनु प) सरस्वतीवाङ्मय (शब्दवाङ्मय) आङ्गिरस तत्व ही श्री है एव आम्भृणीवाङ्मय (अर्थवाङ्मय) भार्गव तत्व ही- लक्ष्मी है जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। लोकैश्वर्य्यससाधक यज्ञात्मक कर्म्म में क्योंकि प्राकृत विश्व मे पारमेष्ठ्य--भार्गवाङ्गिरस तप ही प्रमुख है। यही कारण है कि प्रकृति के हविर्यज्ञ में- अथाङ्गारैरभ्यूहति भृगूणामङ्गिरसा तपसा तप्यध्वम् इत्यादिरूपेण यज्ञैश्वर्य्यात्मक लोकैश्वर्य्य के ससाधक इस दूसरे वैष्णव-भार्गवाङ्गिरस तेजिष्ठ तप का ही समन्वय हुआ है जैसाकि उसी सन्दर्भ के एतद्वै तेजिष्ठ तेज यद्भृग्वङ्गिरसाम् इत्यादि उत्तर वाक्य से स्पष्ट है।

अब शेष रह जाता है भू चन्द्र गर्भित सौरमण्डल। तदनुबन्धी तप ही माहेश्वरतप कहलाया है जिसका प्रधानरूप से-- दाहकता से ही सम्बन्ध माना गया है। भूतपति त्रिनेत्र महेश ही रोदसीत्रिलोकी के अधिष्ठाता हैं। रुद्र ही इनका मूलस्वरूप है जो कि- अग्निर्वा रुद्र के अनुसार आग्नप्रधान है। अतएव रोदसी को- रुद्रपत्नी माना है शास्त्र ने। सोऽरोदीत्-तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् ही रुद्र का स्वरूप परिचय है। अपनी प्रचण्डतमा दाहकशक्ति से ये ही विश्व के सहारक हैं। अतएव रुद्रात्मक इस सौरतप को अवश्य ही हम-- दाहार्थक-तप कह सकते है। और यही क्रमप्राप्त तीसरा तपोविवर्त्त है।

निष्कर्षत स्वायम्भुव ब्राह्मतप सन्तापार्थक तप है जिसका सुप्रसिद्ध ६ ठ तपोलोक से सम्बन्ध है। पारमेष्ठ्य वैष्णवतप ही ऐश्वर्य्यार्थक तप है जो भार्गवाङ्गिरस तप है। एव सौर-रौद्रतप ही-

दाहात्मक तप हुआ अग्निप्रधान तप है। इसप्रकार तीन विश्वसंस्थानों के अनुबन्ध से तपोभाव क्रमशः त्रिसंस्थ बन जाता है जिसके ब्रह्मा विष्णु-महेश तीन विश्वदेवता मूलप्रवर्त्तक बने हुए हैं। तीनों विश्व-देवता आत्मब्रह्म के-अमृत-ब्रह्म-शुक्र-नामक तीन विवर्त्तों से क्रमशः अनुप्राणित हैं जो कि तीनों आत्म-विवर्त्त मन-प्राण-वाक प्राधान्य से ज्ञान क्रिया अर्थ-शक्तिमय बने हुए हैं। अतएव सन्तापात्मक ब्राह्मतप को ज्ञानात्मक तप कहा जायगा ऐश्वर्य्यात्मक वैष्णवतप को कर्म्मात्मक तप माना जायगा एवं दाहात्मक तप को रौद्रतप माना जायगा। तीनों ही तपों का अथर्ववेद के सुप्रसिद्ध कालसूक्त में सर्वथा पृथक्-पृथक् स्वरूप दिग्दर्शन हुआ है *। कालसूक्त में काल से तीन स्थानों पर तप का आविर्भाव बतलाया गया है कालविवर्त्तों से। अवश्य ही तीनों का स्वरूप पृथक् पृथक् ही होना चाहिए। अन्यथा मन्त्रद्रष्टा ऋषि एक ही कालसूक्त में विभिन्नरूपेण कदापि तीन बार तप का उल्लेख न करते। काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम् मन्त्र का तप शब्द सन्तापार्थक स्वायम्भुव ब्राह्मतप का ही संग्राहक बन रहा है। उसी सूक्त के कश्यपः कालात् तपः कालादजायत मन्त्र का तप शब्द दाहार्थक सौर-रौद्रताप का ही संग्रह कर रहा है। एवं- कालादापः समभवन् कालात् तपो दिशः मन्त्र का तप शब्द ऐश्वर्य्यार्थक पारमेष्ठ्य-वैष्णव तप का ही संग्राहक बन रहा है। तीनों तपों से अनुप्राणित समाहितम् समभवत् आजायत तीन विभिन्न क्रियापद भी तीनों के पार्थक्य की ओर ही सङ्केत कर रहे हैं। ब्राह्मतप ज्ञानमय बनता हुआ शाश्वत सनातन-तप है। अतएव उसके लिए- काले समाहितम् कहना ही अन्वर्थ है। वैष्णव तप ऐश्वर्य्यात्मिका सम्भूति का प्रवर्त्तक है। अतएव तत्सम्बन्ध में कालात्-तपः समभवत् कहना ही अन्वर्थ है। तीसरा रौद्रतप अपनी उत्पन्न-विनाश-शालिनी भौतिकता से क्योंकि परिवर्त्तनशील है। अतएव इसके लिए तपः कालान्जायत कहना ही समीचीन है।

मानवीय अध्यात्मसंस्था का शरीर ही इसका विश्व है जिसके कारण-सूक्ष्म-स्थूल-भेद से अधि-दैवतवत् तीन ही प्रमुख विवर्त्त हैं। कारणशरीर का ही नाम विज्ञानबुद्धि है सूक्ष्मशरीर का ही नाम प्रज्ञानमन है एवं स्थूलशरीर का ही नाम भौतिकशरीर है। तीनों क्रमशः ब्राह्म-वैष्णव-रौद्र है। रुद्राग्नि की चितिमूला सञ्चिति से ही पञ्चचितिक भौतिक शरीर का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। (देखिए शत ७। ।१।१-५ पर्यन्त)। शातरुद्रिय नामक सुप्रसिद्ध शतरुद्रियान्न से ही भूतशरीरानुगत रुद्रताप को उपशान्त किया है श्रुतिने तत्रैव। फलतः भौतिक-स्थूलशरीर का रुद्रतपोभावेन सर्वात्मना ससिद्ध होजाता है। दूसरा सौम्य मनस्तन्त्र प्रज्ञान में ही अपने सोमात्मक पारमेष्ठ्य-धर्म्मानुबन्ध से पारमेष्ठ्य वैष्णवतप का प्रतिरूप प्रमाणित होरहा है। तीसरा विज्ञानबुद्धिरूप कारणशरीर अपने ज्ञानभाव से ब्राह्मतप का प्रतिरूप बना हुआ है। और यों मानव के शरीरत्रयात्मक बुद्धि-मन शरीर नामक तीनों विश्वतन्त्र अधिदैवत-संस्था के तीनों तपोभावों से क्रमशः समन्वित होरहे हैं।

प्राकृतिक-आधिदैविक-संघर्षात्मक तीनों ही तपों का प्राथमिक परिणाम अप्तत्त्व ही माना गया है। ब्राह्मतप से उत्पन्न आप ही- स्वेद नामक पारमेष्ठ्य-ऋत अथर्वारूप सुवेद है जिसका शीर्ष-

*-विस्तार के लिए देखिए— दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा नामक सहस्रपृष्ठात्मक स्वतन्त्र-निबन्ध

स्थानीय स्वायम्भुव ललाट से ही सवप्रथम उपक्रम होता है। वैष्णवतप से उ पन्न आप ही श्रद्धा मक वह **अम्भ** तत्त्व है जिस परमभाग्यशाली भारतराष्ट्र **गाङ्गेय तोयात्मका ब्रह्मद्रवी** के रूप में उपल ध कर रहा है। एव तीसरे सौर-रौद्रतप स उ पन्न आप ही **मरीचि** नाम स सुप्रसिद्ध है जिस का मूत रूप भारत ाष्ट्र को **यामुनेय (यमुनाजल)** के रूप म उपल ध होरहा है। **गाङ्गेयतोय (गङ्गाजल)** पारमेष्ठ्य पवित्र सोम के सम्ब ध से जहा **शीतप्रकृातक है** वहा यामुनेयतोय (**यमुनाजल**) सौर मरीचि के सम्ब ध स **अग्निप्रकृातक** ही माना गया है।

अधिदवत-स्थिति के अनुसार ही मानव की अ या मसस्था म भी-**बौद्धक मानसिक शारीरिक** तापरूप **ब्राह्म वैष्णव-राद्र तापा** स त्रिविध अपत व अभि यक्त होता है जिस अप्त व का **अश्रु सत्तरितमासीत्** श्रु ति के अनुसार एक साङ्केतिक नाम है- **अश्रु** । ब्राह्म तपोरूप-ज्ञानप्रधान-बोद्धिक तप ही- **परिश्रम** क लाया ह। स स होने वाले सघष स उपन्न अश्र ी **परिश्रमाश्रु** कहलाए ह जो प्रकृतिवत् सवप्रथम मानव के ल ाट प्रदेश म ही **स्वेदकण** रूप स अभि यक्त होते है। परिणाम है इन अश्रुओं का शा तान द की प्राप्ति (दखिए गोपथ-पू ।१।१)। वै णव तपोरूप कर्म्मप्रधान श्रद्धा वा स य-स्नेहादि-वृत्तिसमा वत मानासक तप ही- **श्रम** कहलाया है। स से उपन्न सघष से सवप्रथम मानव के चक्षुर्द्वार से ही अपत व विनिर्गत होता ह जिन का नाम ह- **प्रमाश्रु** जो क सुखकर तथा **ऐश्वर्य्य** के प्रवत्त क माने गए हैं। तीसरे सौर-राद्र-तपोरूप भूतप्रधान-शारीरिक-तप सघष से उ पन्न दाहक अप्त व का नाम ह- **सेवा** जिस के सामा यवग-स ता सर्वाङ्गशरीर से ही स्वद निकलते हैं। कि तु यही यदि प्रच-ण्डरूप में परिणत होजाता ह तो यही **शोकाश्रु** रूप मे परिणत होता हुआ-चक्षुर्द्वार से निकल-पन्ता ह स पूण शरीर को द ध ही करता हुआ । प्र माश्रु का सवरण जहा स्वास्थ्यप्रद माना गया है वहा शोकाश्रु का सवरण-स्तम्भन-अ य त ही हानिकर माना गया ह। इस वेग का तो बहिर्विनिर्गत होजाना ही श्रे य - पथा है।

यह है तप श द की त्रिधा व्याप्ति के चिर तन तिवृत्त का सक्षिप्त स्वरूप निदशन जिसे आधार बना कर ही मानव को विशेषत भारतीय मानव का तत्रापि श्रु ति-स्मृात पुराणनिष्ठ सास्कृतिक मानव का तीनो तपोभावा के समन्वय से ही अपना तप कम्म यवस्थित करना चाहिए जो कि सम वया मिका यह आष तपो यवस्था साम्प्रदायिको के का पनिक तपोभाव से साधु स तो के कायक्लेशा मक प्रदशना मक तपोमय आडम्बरो से और प्रक्रा त युग के का पनिक-त्याग तपस्या बलिदानो के भावुकतापूण विजम्भणो में आपाद मस्तक निम जित भावुक देशाभिमानियों (अतिमानियो) के सेवा मक-तपोभावों से एवमेव अ यान्य भी ज्ञात अज्ञात अनेक कारणो से सवथव अ तम्मु खा बन गइ है। जिसे आज तपस्या याग और बलिदान कहा जारहा है उस का तो दाहा मक भौतिक ताप-मात्र से ही सम्ब ध है जिस का एकमात्र फल माना गया है शोकाश्रु । रुद्र भावापन्न इस केवल भौतिक तप से तो **सोऽरोदीत** के अतिरिक्त अन्य कोइ भी परिणाम नही निकला करता तबतक जबतक कि इस भौतिक तप के मूल में हम भृग्वङ्गिरोमूलक पारमे ठ्य तप प्रति-ष्ठित नही कर लेते। क्योंकि यही पारमे ठ्य तप ऐश्वर्य्य का त मूला **श्री** और **लक्ष्मी** का ससाधक माना गया है जिसे विस्मृत कर किंवा उपेक्षित कर और आज की भाषा में **निरपेक्ष** मान कर हमने भारतराष्ट्र के ऐश्वर्य्य को सवथा ही पराङ मुख कर लिया है। इस भार्गवाङ्गिरस ऐश्वर्य्यससाधक पारमेष्ठ्य-तप का अनु

ग्रह तभी स भावित है जब कि रस वैणवतप के मूल में हम ज्ञानमय ब्राह्मतप प्रतिष्ठित करले । वही वास्तविक तप है । अतएव भारतराष्ट्र की राष्ट्रीय कामनाओं का स्वरूप दिगदर्शन कराते हुए ऋषि ने—**आ ब्रह्मन् ! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्** इत्यादि रूप से सवप्रथम प्रजापति से इस राष्ट्र के ज्ञानगोता ब्राह्मण के लिए ब्रह्मवर्चोरूप ज्ञानमय ब्राह्मतप ही याञ्चा अभिव्यक्त की है । अलमतिपल्लविलेन तप शब्द-स्वरूपदिगदर्शनेन । तालिकारूपेण हमें तप शब्द के तथोक्त चिरन्तन इतिवृत्त का मनन निदिध्यासन करना चाहिए । एवं तमात्मा यम स ब्राह्मतप के आधार पर माहेश्वरतप के द्वारा भागवाङ्गिरस तप को ही अपना लक्ष्य बनाना चाहिए जैसाकि श्रुति के इस उदात्त उद्घोष से स्पष्ट है कि—

'भृगूणामङ्गिरसा तपसा तप्यध्वम्' ॥१३॥

१ स्वायुम्भुव ब्राह्मतप—अमृताययानुगत—मनोऽनुगत ज्ञानमय—तप

२ पारमेष्ठ्य वैष्णवतप—ब्रह्माद्भगानुगत—प्राणानुगत क्रियामय तप

३ सौर———रौद्रतप— शुक्रत्वरानुगत— वागनुगत—अर्थमय—तप

*

१ बौद्धिक तप— परिश्रमात्मक (परिश्रमाश्रु से समन्वित)—सन्तापात्मक तप

२—मानसिक तप —श्रमात्मक— (प्रेमाश्रु से समन्वित)—ऐश्वर्यात्मक तप

३ शारीरिक तप— सेवात्मक— (शोकाश्रु से समन्वित)—दाहात्मक तप

इति तप स्वरूपदिग्दर्शनम्

—————*—————

ईशावास्यमिदं सर्वम्—**ब्रह्मैवेदं सर्वम्** इत्यादि श्रौत वाक्यों के अनुसार विश्व के यच्चयावत् पदार्थ ब्रह्मसत्ता से आक्रान्त हैं । ब्रह्मतत्त्व नित्य **विज्ञानमानन्द** ब्रह्म के अनुसार **नित्यविज्ञानघन है आनन्दमय है** । ऐसी अवस्था में नित्य—विज्ञान—आनन्दमूर्त्ति ब्रह्ममय पदार्थों को परमार्थदृष्टि स कभी अचेतन नहीं बतलाया जासकता । साधारणदृष्टि से व्यवहार—मर्य्यादा के निर्वाह के लिए यद्यपि जड—**चेतन** व्यवहार ठीक है । परन्तु परमार्थदृष्टि—से विज्ञानकोटि में यह भेद निरर्थक ही सिद्ध होजाता है । वैज्ञानिक महर्षि प्रत्येक पदार्थ को अव्यय के **श्वोवसीयस्मन से ज्ञानयुक्त** अव्यय के **प्राणतत्त्व से क्रियायुक्त** एवं अव्यय के **वाक्तत्त्व से अर्थयुक्त देखते हैं** । प्रत्येक पदार्थ **अर्थ** है । उस में अर्थाधारभूता **क्रिया** है । क्रिया में अन्तस्यूत क्रियाधार **ज्ञान** है । प्रत्येक पदार्थ क्रियामय है यह सिद्धान्त निर्विवाद है । उधर क्रिया विना ज्ञान के सम्भव नहीं यह सिद्धान्त भी स्वतः सिद्ध है । सुतरां पदार्थमात्र का **चेतनत्त्व** सिद्ध होजाता है । इसी नित्यसिद्ध चैतन्यवाद को लक्ष्य में रख कर ऋषि ने दृषत् और

कृष्णमगचर्म्म को चतन मानते हुए तत् सञ्ज्ञामनैतद वदति–नेद्योऽय हिनसात ये अक्षर कहे हैं। दृषत् पाषाणमयी है। पाषाण उपयुक्त–घन–तरल–विरलावस्था–विज्ञान के अनुसार ध्रुवकोटि में प्रविष्ट होता हुआ निदान के द्वारा पृथिवी है। उधर कृष्णमृगचर्म्म पृथिवी की त्वचा है जसाक कृष्णमृगच मा स्तरण प्रकरण में विस्तार स बतलाया जाचुका है। दृषत् पर उपल के द्वारा पेषणक्रिया के होने से कृ ण–मृगच म पर आघात होना स्वाभाविक है । क्योंकि दृषत् चर्म पर ही प्रतिष्ठित रहती है। स आघात म चर्म्म में क्षोभभाव उत्पन्न होता है। क्षोभ हिंसामलक है। हिंसामलक क्षोभ यज्ञ का विघातक है। इस अनिष्ट को दूर करने के लिए ही अन्यार्य गग वेत्त कहा है। सजातीय वस्तुओं के संघष से उत्पन्न होने वाला क्षोभ हिंसा का कारण नही बनता। एक ी प्रासाद में १ सजातीय बन्धु कष्ट पाकर भी रहजाते हैं। असुविधा रहने पर भी खटपट नही होती । परन्तु विजातीय अन्य एक व्यक्ति के प्रविष्ट होने से असुविधा का अनुभव होने लगता है। कृष्णमृगच र्म और दृषत् सजातीय है इस मनोभाव को दृढ करने के लिए ही पूर्वोक्त वाक्य कहा गया है ॥१४ १५॥

दृषत् के पश्चिमभाग में शम्या रक्खी जाती है। पूर्वदिक देवताओं का स्थान है। इसीलिए व प्राक्प्रवणा (पूव की ओर झुकी हुइ) बनाइ जाती है । इसी दिव्यभाव की प्राप्ति के लिए शम्या को पश्चिमभाग में दृषत् के नीचे रक्खा जाता है। शम्या निदान के द्वारा अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्षने ही द्यावा–पृथिवी के स्वरूप को विभक्त कर प्रतिष्ठित कर रक्खा है। आगे उपल को द्युलोक की प्रतिकृति बतलाने वाले हैं। द्युल करूपा उपल की श या सचमुच स्कम्भनी है। यदि शम्या स्वस्थान से स्खलित हो जाय तो उपल कभी प्रति ठित नही हसकती। सी अभिप्राय से दिवस्कम्भनीरसि यह कहा है ॥१६॥

द्यावापृथिवी एक प्रकार की चक्की है। वायु सञ्चार चक्की में होने वाला पेषण व्यापार है। पृथिवी के ऊपर द्यु के द्वारा वायु के समावश स अन्नपेषण होता रहता है। पिष्ट अन्नरस प्राणीवग का पालन किया करता है। इसी आधिदैविक स्थिति को लक्ष्य में रखकर इस के साथ तुलना करते हुए याज्ञवल्क्यने दृषत् को पृथिवी माता कहा है। शम्या को वायुस्थानीय होने से अन्तरिक्ष कहा है। एव उपल को द्युरूप बतलाया है। इस समानता से त्रैलोक्यात्मक सम्वत्सरयज्ञ की सम्पत्ति आजाती है। पुरुषो वै यज्ञ के अनुसार हमारा य वैधयज्ञ पुरुषलक्षण है । अत आधिदैविक यज्ञवत् इस में पुरुषयज्ञ के (आ यात्मिक यज्ञ के) भावो का भी समाविष्ट होना आवश्यक है। पुरुषयज्ञानुसार दृषदुपल इस यज्ञपुरुष के दोनों हनू हैं। शम्या जिह्वा है। पुरुषयज्ञ में जिह्वा शब्दकर्म्म करती है अतएव तत्प्रतिकृतिभूता शम्या म यहा समाहननकर्म्म किया जाता है। इसी पुरुषसम्पत्ति का निरूपण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते ह— हनूऽएव दृषदुपले। जिह्वैव शम्या। तस्माच्छम्यया समाहन्ति। जिह्वया हि वदति ॥१७।१८॥

बिना हिंसा के यज्ञ तिकर्त्तव्यता कथमपि पूरी नही की जासकती। ऐसा कोइ भी यज्ञ नही है जिस में हिंसा न होती हो। प्राणवियोग ही हिंसा है। सवसाधारण की दृष्टि में जड चेतन में भेद है। परन्तु वैज्ञानिक महर्षि सब को चेतना से युक्त मानते हैं जैसा कि पूव में बतलाया जाचुका है। पुरोडाश सम्पन्न करने के लिए जिस धान्य का ग्रहण किया जाता है वह एक प्राणयुक्त द्रव्य है। मनुष्य की सत्ता के लिए जो प्राण नित्य अपेक्षित हैं व सब प्राण यहा प्रतिष्ठित हैं। उत्पन्न होने वाले पदार्थमात्र में त्रैलोक्य के प्राण विद्यमान

रहते हैं। **पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यु**-तीनो के रस के सम्मिश्रण से प्रत्येक पदाथ उत्पन्न हुआ है। एव जबतक तत्तत्पदार्थों के साथ उपयु क्त तीनो प्राणों का आदान-विसर्गात्मक सम्बन्ध होता रहता ह तभीतक तत्तत्-पदाथ स्वस्वरूप मे प्रतिष्ठित रहते है। **पार्थिवप्राण अपान है। आन्तरिक्ष्य प्राण व्यान है। दिव्य प्राण प्राण शब्द से ही प्रसिद्ध है।** द्युलोक से आता हुआ प्राण प्राण ह यही निगच्छत् अवस्था में **उदान** नाम से व्यवहृत होने लगता है। पार्थिव प्राण आगमनावस्था में **समान** कहलाता है वही निगमनावस्था में **अपान** कहलाने लगता है। इसप्रकार **अपान और प्राण के अपान समान प्राण उदान** ये विवत्त निष्पन्न होजाते है। मध्यस्थ प्रादशमित **व्यानप्राण** सवथा स्थिर है। पार्थिव प्राणदेवता एव सौर प्राणदेवता इसी व्यानसत्ता पर अवलम्बित हैं। व्यानरूप उपांशुसवन (शिला) पर उपांशुरूप प्राण-तथा अन्तर्य्यामरूप अपान दोनो में जीवनोपयिक उपांश्वन्तर्य्याम व्यापार हुआ करता है। प्राणापान जीवनसत्ता के कारण नही हैं अपितु-जिस स्थिर व्यान के आधार पर प्राणापान गमनागमन करते है वह व्यान ही जीवन सत्ता का कारण है। इसी व्यान विज्ञान को लक्ष्य में रख कर ऋषि कहते हैं—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।।१।।
ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ।।२।।

—उपनिषदि

उक्त कथन से सिद्ध हुआ कि पञ्चप्राण ही जीवनसत्ता के आधार है। पेषणव्यापार से पाचो प्राण निकल जाते हैं। हवि निर्जीव होजाता है। उधर दवता प्राणरूप है। प्राणरूप अन्नाददवता निष्प्राण अन्न कभी नही लेसकते। सजातीय अन्न ही उन के लिए ग्राह्य है। निर्जीव हवि में उसी पञ्चप्राणात्मक प्राणतत्व के समावेश के लिए **प्राणाय त्वा** इत्यादि मन्त्र-प्रयोग किया जाता है जैसा कि मूल में स्पष्ट होगया है ।।१६।२।२१।२२।।

इति द्वितीयाध्याये-प्रथम ब्राह्मणम्

इति प्रथमप्रथमपाठके पञ्चम ब्राह्मणम्

इति-उपवेषसम्पादनम्

अग्नौ कपालोपधानेन हवि परिपाकश्च

१०

अथ प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम्
प्रथमप्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम्

—*—

११ पिष्टेनोदकमिश्रितेन पुरोडासम्पादनम्

—*—

(मूल)—पवित्रमति मवपति, पा-या पवित्र ऽवधाय—"देवस्य त्वा सवितु प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्या पूष्णो हस्ताभ्या सव्वपामि'—[१ अ० २१ म] इति । सोऽसावेवैतस्य यजुषो ब-धु ॥१॥

अथा-तर्वेद्यु पविशति । अथैक उपसजनीभिरति । ता आनयति । ता पवित्राभ्या प्रतिगृह्णाति—' समाप ओषधीभि "—(१ अ २१ म०) इति । स ह्येतदाप ओषधिभिरेताभि पिष्टाभि सङ्गच्छते । "समोषधयो रसेन" —(१ अ १६ म) इति । स ह्य तदोषधयो रसेनैता पिष्टा अद्भि सगच्छन्ते । आपो ह्येतासा रस । 'स रेवतीजगतीभि पृच्य-ताम्"—(१ अ २१ म) इति । रेवत्य आप, जगत्य ओषधय ता उ ह्य तदुभय्य सम्पृ-य-ते । ' स मधुमतीम्मधुमतीभि पृच्य-ताम्"— (१ अ २१ म) इति । स रसवत्यो रसवतीभि पृच्यन्तामि-येवैतदाह ॥२॥

अथ सयौति—"जनयत्यै त्वा सयौमि '—(१ अ २१ म०) इति । यथा— श्रियऽन्नाद्यायमा प्रजा यजमानाय य-छेत्—एव तत् सयौति । अधिवर्त्स्यन्नु वै सयौति । यथा वा अधिवृक्तोऽग्नेरधिजायत एव वै तत् सयौति ॥३॥

अथ द्वेधा करोति—यदि द्व हविषी भवत । पौर्णमास्या वै द्व हविषी भवत । स यत्र पुनर्न महरिष्य -स्यात् । तदभिमृशति—"इदमग्नेरिदमग्नीषोमयो "—(१ अ — २१ म) इति । नाना वा एतदग्र हविगृह्णन्ति । तत् सहावध्नन्ति । तत् सह पिंष-ति । तत् पुनर्नाना करोति । तस्मादेवमभिमृशति—अधिवृणक्त्येवैष पुरोडाशम् अधिश्रयत्य-सावाज्यम् ॥४॥

तद्वा एतदुभय सह क्रियते । तद्यदेतदुभय सह क्रियते । अर्द्धो ह वा एष आत्मनो यज्ञस्य यदा यम् । अर्द्धो यदिह हविर्भवति । स यश्चासावर्द्धो य उ चायमर्द्ध, ता उभावग्निं गमयावेति । तस्माद्वा एतदुभय सह क्रियते । एवमु हैष आत्मा यज्ञस्य स धीयते ॥५॥

सोऽसावाज्यमधिश्रयति–'इषे त्वा" (१ अ २२ म०) इति । वृष्ट्यै तदाह यदाह 'इषे त्वेति' । तत्–पुनरुद्वासयति । ऊर्जे त्वेति' । यो वृष्टादूग् रसो जायते, तस्मै तदाह ॥६॥

अथ पुरोडाशमधिवृणक्ति–"घर्म्मोऽसि"–(१ अ २२ म) इति । यज्ञमेवैतत् करोति । यथा घर्म्मं प्रवृञ्ज्यात् एव प्रवृणक्ति । 'विश्वायु"–[१ अ २२ म] इति । तदायुर्दधाति ॥७॥

त प्रथयति 'उरुप्रथा उरुप्रथस्व"–[१ अ २२ म०] इति । प्रथयत्येवैन–मेतत् । "उरु ते यज्ञपति प्रथताम्' –[१ अ २२ म] इति । यजमानो वै यज्ञ पति । तद्यजमानायैवैतदाशिषमाशास्ते ॥८॥

त न सत्रा पृथु कुर्यात् । मानुष ह कुर्यात् -यत् पृथु कुर्यात् । व्यृद्ध वै तद् यज्ञस्य य मानुषम् । नेद् व्यृद्ध यज्ञे करवाणीति तस्मान्न सत्रा पृथु कुर्यात ॥९॥

अश्वशफमात्र कुर्यादित्यु हैक आहु । कस्तद्वेद यावानश्वशफ । यावन्तमेव स्वय मनसा न सत्रा पृथु म येत, एव कुर्यात् ॥१ ॥

तमद्भिरभिमृशति–सकृद्वा त्रिर्वा । तद्यदेवास्यात्राघ्नन्तो वा पिष तो वा क्षण्वन्ति वा, वि वा वृहन्ति शान्तिराप तदद्भि शान्त्या शमयति । तदद्भि सन्दधाति । तस्मादद्भिरभिमृशति ॥११॥

सोऽभिमृशति– 'अग्निष्टे त्वच मा हिंसीत्"–[१ अ २२ म०] इति । अग्निना वा एनमेतदभितप्स्यन् भवति । एष ते त्वच मा हिंसीदित्येवैतदाह ॥१२॥

त पर्यग्निं करोति । अच्छिद्रमेवैनमेतदग्निना परिगृह्णाति–नेदेन नाष्ट्रा रक्षांसि प्रमृ–शानिति । अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता–तस्मात् पर्यग्निं करोति ॥१३॥

त श्रपयति-"देवस्त्वा सविता श्रपयतु -[१ अ० २२ म०] इति। न वा एतस्य मनुष्य श्रपयिता। देवो ह्येष, तदेन द्व एव सविता श्रपयति। वर्षिष्ठेऽधिनाके' [१ अ २२ म] इति। दवत्रो एतदाह यदाह वर्षिष्ठऽधिनाक इति। तमभिमृशति शृत वेदानीति। तस्माद्वा अभिमृशति ॥१४॥

सोऽभिमृशति मा भेर्मा सविक्था (१ अ २३ म) इति। मा त्व भैषी र्मासविक्था यच्चाहममानुष सन्त मानुषोऽभिमृशामीत्येवैतदाह ॥१५॥

यदा शृत अथाभिवासयति -नेदेनमुपरिष्टा नाष्ट्रा रक्षाम्यवपश्यानिति। नद्धे व नग्न इव मुषित इव शयाता इत्यु चैव तस्माद्वा अभिवासयति ॥१६॥

सोऽभिवासयति— अतमेरुर्यज्ञाऽतमेरुयजमानस्य प्रजा भूयात् -(१ अ २३ म०) इति। नेदतदनु यज्ञो वा यजमानो वा ताम्याद् यदिदमभिवासयामीति। तस्मादेवमभिवासयति ॥१७॥

अथ पात्रीनिर्णेजनमङ्गुलिप्रणेजनमाप्त्येभ्यो निनयति। तद्गदाप्त्येभ्यो निनयति ॥१८॥

इति–प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम्
प्रथमप्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम्
समाप्तश्चात्र प्रथम प्रपाठक

—*—

(अनुवाद)—आ यनिर्वाप क अन तर अ वय्यु – 'पात्र्या सपवित्रायां पिष्टान्यावपति 'दवस्य त्वे' ति (का श्रौ सू २।५।१) क अनुसार प्रोक्षणीपात्र मे से पवित्र (दर्भ) लेकर उसे इडापात्री मे उदगाग्र रखकर उसके ऊपर देवस्य त्वा सवितु प्रसवऽश्विनोर्बा हुभ्यां पूष्णो हस्तभ्या सवपामि" यह मन्त्र बोलता हुआ कृष्णमृगचर्म्म पर स्थित पिष्ट पुरोडाश को कृष्णमृगचर्म्म से ही डालता है। (उपर्यु क्त) मन्त्र का वही ब धु (तात्पर्य्य) है जो कि पूव मे आए हुए 'देवस्य त्वा' इत्यादि मन्त्रव्याख्यान मे बतलाया जाचुका है ॥१॥

पुराडाश-सत्रापान तर अध्य्यु — 'श्रपणस्य पश्चादुपविश्य तर्होदि वा' (का श्रौ सू २।५।११) क अनुसार पात्रत्रयुक्ता (दृभयुक्त) पात्री का लेकर * श्रपणाग्नि क पश्चिमभाग में बैठता है। अथवा वेदि क पश्चिमभाग से सलग्न होकर—सपवित्रपात्री को वेदि के म य मे प्रतिष्ठित कर वहीं अ य्यु बैठ जाता है।

अन तर— उपसजनीरानयत्य य' (का श्रौ सू २।५।१२) के अनुसार अ य्यु का सहायक आग्नीध नाम का ऋत्विक् × उपसर्जनी नाम से प्रसिद्ध तप्त पानी को ठँढा कर इडापात्री मे स्थित पिष्ट पुरोडाश के ऊपर डाल देता है। 'आनयति' पद को प्रकृत मे 'तप्ते पयसि दध्यानयति' इस प्रकरणान्तर की भाति निनयार्थक ही समझना चाहिए। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने— अथ तामा तूष्णीमासेचन विधत्त (सा मा) यह कहा है।

इसप्रकार—आग्नीध्र क द्वारा आनीयमाना उपर्जनी को अध्वय्यु दक्षिण हाथ मे रक्ख हुए पवित्र से— पवित्राभ्या प्रतिगृह्णाति 'समाप इति' (का श्रौ २।५।१३) क अनुसार— 'ओं समापऽओषधीभि समोषधयो रसेन सरेवतीर्जगतीभि पृच्यन्ता सम्मधुमतीमधु-मतीभि पृ यन्ताम्' (१। ११ य) यह मन्त्र बोलता हुआ पवित्र से उपसजनी आप का ग्रहण करता है।

ता पर्य यही है कि—आग्नीध्र 'स्फ्य' को स यहस्त मे ग्रहण कर अधिश्रित उपसजनी को ठढा कर अध्वय्यु क दक्षिणभाग से लेकर पिष्टपुरोडाश के ऊपर पवित्र युक्त अध्वर्यु के हाथ पर डालता है। इस निनयनकाल मे अध्वय्यु का हाथ पुरोडाशपात्री के ऊपर रहता है। आग्नीध्र को चाहिए कि वह इसप्रकार निनयन करे जिससे कि मन्त्रान्त मे उपजनीका प्रतिग्रहण सम्पन्न हाजाय।

(उपर्यु क्त म त्र का विभागश अर्थ करती हुई श्रुति कहती है) ओषधिरूप इन पिष्टों के साथ ये उपसर्जनी आप सङ्गत होरहीं है। एव ओषधिरूप ये पिष्ट पुरोडाश इस रस के साथ सङ्गत होरहे है। पानी ही इन ओषधिया का रस है। पानी रेवत्य हैं ओषधिया जागत्य

* कितने ही आचार्यों के मतानुसार गार्हप य में श्रपण होता है ए। कितने ही आहवनीय को श्रपणाग्नि समझते हैं। उभयथा वेदिम य में ही अ वर्यु को ठना चाहिए। पर तु का यायन इनमें विकल्प मानते हैं।

× उपसृज याभि इस व्यु पत्ति से पिष्ट पुरोडाश को मिलाने के लिए जो पानी लिया जाता है वह उपसर्जनी नाम से प्रसिद्ध है।

है। ये ही दोनों (आप ओषधि) परस्पर मिल जाते है। 'सम्मधुमती' इत्यादि से **रसवती आप – रसवती ओषधियों से मिले'** यही कहा गया है ॥२॥

अनन्तर—'**सयोति 'जनयत्यै त्वे ति'** (का श्रौ सू २।५।१४) के अनुसार अध्वर्यु—"**जनयत्य त्वा सयामि**' (य १। २) यह मन्त्र बोलता हुआ पिष्टपुरोडाश को सिक्त उपसजनी आप से मिलाता है।

जिसप्रकार यह प्रजा यजमान की **श्री'** के लिए एव **'अन्नादि'** के लिए अनुगत हो इसीप्रकार से अध्वर्यु उपसजनी आप को पुरोडाश के साथ मिलाता है इस पिष्ट पुरोडाश का श्रपणाग्नि में अधिश्रयण करता हुआ ही अध्वर्यु उपसजनी आप मिलता है जिस अधिश्रित पुरोडाश अग्नि के साथ युक्त होकर नवीन (आहुतद्रव्य) रूप से उत्पन्न हो तदनुरूप ही यहा सयवन (सम्मिश्रण) कर्म किया जाता है। तात्पर्य्य यही है कि नवीन प्रजनन के लिए यहा उपसजनी का पुरोडाश के साथ मेल कराया जाता है। इसी प्रजननभाव को दृढ करने के लिए **"जनयत्यै त्वा सयौमि'** इस मन्त्र का प्रयोग किया जाता है ॥३॥

मिश्रणानन्तर-अध्वर्यु यदि प्रकृतेष्टि में दो भाग होते है तो **'सम विभज्यासहरिष्यन्नालभत इदमग्ने' 'रिदमग्निषोमयो' रिति'** (का श्रौ सू २।५।१५) के अनुसार उदकयुक्त पिष्टपुरोडाश को दो भागों मे विभक्त करता है। पौर्णमासेष्टि मे दो ही हवि होते हैं। (यह पौर्णमासेष्टि है इसमें **अग्नि–अग्निषोम** भेद से दो देवता प्रधान है)। अत आहुति द्रव्यरूप हवि को दो भागों में हीं विभक्त करना उचित है यही तात्पर्य्य है। इसप्रकार सयुत पिष्ट द्रव्य को समान पिण्ड बनाने के अनन्तर आगे जाकर जिस समय इन विभक्त दोना हवियों को परस्पर न मिलानेवाला ही उस समय (अर्थात् एक बार विभक्त किए बाद पुन इस विभक्त द्रव्य को न मिलाने का निश्चय होजाने के अनन्तर) अध्वर्यु—**इदमग्ने इदमग्नीषोमयो'** ये दोनों मन्त्र क्रमश बोलता हुआ उसी क्रम से दोनों दक्षिणस्थ-उत्तरस्थ पिण्डों का स्पर्श करता है। हविग्रहणकाल मे ऋत्विग्गण हविर्द्धानशकट से देवताभेद के अनुसार प्रथक् प्रथक् करके ही हविग्रहण करते है प्रथक् प्रथक् गृहीत हविद्रव्य को एकसाथ कूटते हैं। पुन एकसाथ ही उसे पीसते हैं। आज (सपन्न होने के अनन्तर) पुन उसे दो पिण्डों मे विभक्त कर प्रथक भावापन्न बनाते हैं। इसी प्रथग्भाव को दृढमूल बनाने के लिए पूर्वोक्त भिन्न भिन्न मन्त्रों से प्रथक् प्रथक् दोनों पिण्डों का स्पर्श करता है।

अभिमर्शनानन्तर (एक ही समय मे) यह (अध्वर्यु) पुरोडाश को श्रपणाग्नि पर रखता है एव वह (ब्रह्मा) आज्यनिर्वाप करता है। अर्थात् **अधिश्रयण–आज्यनिर्वाप,** दोनों कर्म

एकसाथ होते हैं। वस्तुस्तु यहां 'एष' से अध्वर्यु का ही ग्रहण करना चाहिए व 'असा' से आग्नीध्र का ही ग्रहण करना चाहिए। ब्रह्मा तो यज्ञ का निरीक्षकमात्र है। अध्वर्यु का सहचारी आग्नीध्र ही है। यही अर्थ सायणभाष्य-सम्मत है ॥४॥

इसप्रकार पूर्वोक्तकथनानुसार अधिश्रयण और आज्यनिर्वाप एकसाथ कर देते है। सो जिस लिए कि ये दोनों कर्म्म एक साथ करते हैं उसकी उपपत्ति (विज्ञान) बतलाते हैं।

यज्ञरूप आत्मा (यज्ञात्मक शरीर) का यह आधा भाग है जोकि आज्य है। आधा भाग इस यज्ञ में 'हविर्द्रव्य' होता है। सो जो वह (आज्य) आधा भाग है एवं वह (पुरोडाश) आधा भाग है उन दोनों को (एक साथ) अग्नि से सम्बद्ध कर इसी दृष्टि से पूर्वोक्त दोनों कर्म्म एकसाथ किए जाते हैं। ऐसा करने से इस यज्ञ का शरीर परस्पर समन्वित हो-जाता है ॥५॥

इसके अनन्तर—'इषे त्वेत्याज्यमधिश्रयत्यन्य' (का श्रौ २।५।१७) के अनुसार आग्नीध्र 'इषे त्वा अधिश्रयामि' (यजु स १।२२) यह मन्त्र बोलता हुआ गार्हपत्यखर के मध्य में दक्षिण की ओर स्थित अग्नि पर आज्यस्थाली (घृतपात्री) रखता है। वृष्टि के लिए ही आग्नीध्र ने कहा है जो कि उसने इषे त्वा कहा है। (आज्यस्थाली-स्थित घृत जब उष्ण हो जाता है तो) आग्नीध्र 'ऊर्जे त्वा उद्वासयामि' यह मन्त्र बोलता हुआ घृत को ठंढा करता है। बरसने के अनन्तर बरसे हुए पानी से जो 'ऊर्क्' नाम का रस उत्पन्न होता है उसी को लक्ष्य में रखकर- ऊर्जे त्वा' यह कहा गया है ॥६॥

इतिकर्त्तव्यता' के समन्वय के लिए प्रकृत में यह और समझ लेना चाहिए कि रजोदोष प्रसवपीडा एवं अन्य किसी विशेष कारणवश यज्ञ में यदि यजमान पत्नी उपस्थित नहीं होती है तो ऐसी अवस्था में आहवनीय में श्रपण करने वाले यजमान को आहवनीयाग्नि में ही आज्याधिश्रयण-कर्म्म करना चाहिए। यदि पत्नी साथ है तो आहवनीय में श्रपण होने पर भी गार्हपत्य में ही आज्याधिश्रयण करना चाहिए। इसी व्यवस्था का निरूपण करते हुए महर्षि कात्यायन कहते हैं—

'अपत्नीकस्य-आहवनीये तच्छ्रापिणः" (२।५।१८)।

ध्यान रहे-'अपत्नीकस्य' का अर्थ पत्नी की यज्ञ में अनुपस्थिति मात्र ही है। कारण कर्काचार्य के मतानुसार अविद्यमानपत्नीक यजमान का तो यज्ञ में सर्वथा अनधिकार ही है।

आग्याधिश्रयणानन्तर- धर्म्माऽसीति पुरोडाशौ युगपत्'' का श्रा ०।५।१६) के अनुसार 'ध माऽसि विश्वायु ' (।) यह मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र एव अध्वर्य्यु एकसाथ आग्नेय एव अग्निषोमीय पुरोडाश को अग्नि पर रखते हैं। अर्थात् पर्य्युक्त मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्य्यु तो आग्नेय पुरोडाश रखता है एव आग्नीध्र (साथ साथ ही) अग्नीषोमीय पुरोडाश रखता है। जिसप्रकार सोमयज्ञ मे 'धर्म्म' का प्रवृत्त करें वैसे ही इस दर्श मे घर्म्मतुल्य पुरोडाश को विभक्त करते हैं। 'विश्वायु' कहता हुआ अध्वर्य्यु पुरोडाश मे आयु की प्रतिष्ठित करता है ॥७॥

अधिवपनानन्तर 'उरुप्रथा इति प्रथयति यावत् कपालमनतिपृथुम्' (का श्रा सू ।५।)के अनुसार पूर्वोक्त क्रम से विभक्त आग्नेय अग्नीषोमीय पुरोडाशों को अध्वर्य्यु और आग्नीध्र 'उरुप्रथा उरु प्रथस्व उरु ते यज्ञपति प्रथताम्' (१।) यह मन्त्र बोलते हुए स्व स्व पुरोडाश को कपाल मे फैलाते हैं। कात्यायनने— अनतिपृथुम् कहा है। तात्पर्य्य इसका यही है कि– 'तन्न सत्रा पृथु कुर्यात् अश्वशफमात्रं कुर्यादित्यु हैक आहु' (श १।२।२।६।१) इस श्रौत–सिद्धान्त के अनुसार अश्वशफ के परिमाण से ही पुरोडाश के प्रथन का आदेश दे। यजमान यज्ञपति है। उसी के लिए उरु प्रथताम् यह आशा मागते हैं ॥ ॥

पूर्वोक्त— अनतिप्रथम् भाव को लक्ष्य मे रखकर ही श्रुति कहती है–उस पुरोडाश को एकसाथ ही पृथु न करे। यदि ऋत्विक पुरोडाश का सर्वथा प्रथन करेगा तो वह (दिव्ययज्ञ मे) मानुष (कर्म्म) करेगा। वह यज्ञ की व्यापत् (सम्पत्तिनाश) है ना कि मानुषभाव है। हम (अपने दिव्य यज्ञ मे) व्यृद्धि न कर बैठें इसलिए एकसाथ बिना अवधानता के मनमाने परिणाम से पुरोडाश को नहीं फैलाना चाहिए ॥६॥

फिर कितना फैलाना चाहिए? इस विषय मे कितने हीं (तैत्तिरीय) आचार्य्यों का मत है कि घोडे के खुर के परिणाम से उसे फैलाना चाहिए। इस पूर्व मत का निराकरण करती हुई शतपथश्रुति कहती है कि—'घोडे का खुर इतना बडा है' यह कौन जान सकता है। अर्थात् अश्वशफ की इयत्ता का यथावत् ज्ञान होना कठिन है। इसलिए ऋत्विक् को चाहिए कि वह अपने विचार से पुरोडाश को मर्यादा से अधिक फैला न समझे वही तक फैलावे ॥१ ॥

अनन्तर— 'अग्निष्ट इत्यदभिरभिमृशात सकृत् त्रिर्वा' (का । ।५। १) के अनुसार विभक्त स्व स्व पुरोडाश का अध्वर्य्यु और आग्नीध्र सोदक हस्त से पुरोडाश को चारों ओर से एकबार अथवा तीन बार स्पर्श करते हैं। सो जो कि ऋत्विगगण इसे कूटते हुए पीसते हुए जो

इसका भाग क्षीण कर देते हैं विशीर्ण कर देते है (पानी शान्ति है) अत शान्तिरूप इन पानियों से इस (क्षीणभाग) का पुन सन्धान ही करते हैं। इसी प्रयोजन के लिए **'अभिमर्शन'** करते है ॥११॥

अभिमर्शन क्यों किया जाता है ? इसकी उपपत्ति बतलादी गई। अब आवृत (पद्धति) बतलाते हैं—

वह अध्वर्यु और ऋत्विक्— **अग्निष्ट त्वच माहिंसीत'** (१।२२) यह मन्त्र बोलता हुआ पुरोडाश के चारों ओर जल का सम्बन्ध करते है। आगे जाकर यह ऋत्विक् इस पुरोडाश को चारों ओर से अग्नि मे तपावेगा। उसी अवस्था को लक्ष्य मे रखकर कहते है— हे पुरोडाश ! आपकी त्वचा को अग्नि न जलाडाले ॥१२॥

अभिमर्शनानन्तर—**'पर्यग्नि करोत्यन्तरित्त रक्षोऽन्तरिता अरातय इति सहाज्यम्'** (का श्रौ २।५।१२) के अनुसार (गार्हपत्याग्नि मे से प्रज्वलित अङ्गार लाकर) अध्वर्यु— **'अन्तरित्त रक्षोऽन्तरिता अरातय** यह मन्त्र बोलता हुआ पुरोडाश के चारों ओर उसे फिराता हुआ पुरोडाश को अग्नि से वेष्टित करता है। ऐसा करता हुआ अध्वर्यु अग्नि से अच्छिन्न ही पुरोडाशका ग्रहण करता है। नाष्ट्रा और राक्षस इसका स्पर्श न करले अग्नि राक्षसों का अपहन्ता है। इसलिए इसे पर्य्यग्नि करते है ॥१३।

पर्य्यग्निकरणानन्तर दग्धाङ्गार को गार्हपत्य मे प्रक्षिप्त कर अप-उपस्पर्श कर—**'देवस्य त्वेति श्रपणम्** (का श्रौ २।५।२३) के अनुसार—**'देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधिनाके'** (१।२२) यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु क्रमश प्रथम-द्वितीय पुरोडाश का परिपाक करता है। इस (दिव्यान्नस्वरूप) पुरोडाश का श्रपयिता मनुष्य नहीं है। वह श्रपयिता तो देव है। सविता देव ही इसका परिपाक करते है। वृद्धतम स्वर्ग मे सवितादेवता तुम्हारा परिपाक करें इससे पुरोडाश को देवत्रा (देवाधीन दिव्यसम्पत्) बनाते हैं। श्रपणानन्तर- **मामेरित्यालभते'** (का श्रौ० सू ।५।२४।) के अनुसार यह परिपक्व हुआ कि नहीं यह जानने के लिए पुरोडाश का स्पर्श करता है। श्रपणानन्तर स्पर्श क्यों किया जाता है ? इसकी उपपत्ति बतलादी गई। अब पद्धति बतलाते ॥१४॥

वह अध्वर्यु — **मामेर्मा संविक्था'** (१।२३) यह मन्त्र बोलता हुआ पक्व पुरोडाश का स्पर्श करता है। अमानुषरूप आप को (पुरोडाश को) मै मनुष्य छूता हूँ इस से आप मत डरिए मत कम्पित हो यही मन्त्रार्थ है ॥१५॥

अभिमशनान र— अतमरुरिति शृतावभिवासयति भस्मना वेदेनोपवेषण वा (का श्रौ ।५। ५) क अनुसार अ वर्य्यु शृत पुरोडाश को साङ्गार भस्म स आच्छादित करदेता है। ऊपर से राक्षस असुर इसे न देखल नग्न की भॉत चोरादि से मुषित की भाति यह न रक्खा रहे इसलिए आ छादित करते है ॥१६॥

पुरोडाश को आच्छादित क्या किया जाता है ? इसकी उपपत्ति बतलाई गई । अब पद्धति बतलाते हैं—

वह अ वर्यु – 'अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात (१।२३) यह मन्त्र बोलता हुआ पुरोडाश को साङ्गार भस्म से आच्छादित करता है। पुराडाश क साथ साथ ही यज्ञ और यजमान भी आच्छादित न होजाय इसलिए 'अतमेरु इत्यादि रूप से आच्छादित करना है ॥१७॥

अभिवासनान तर— पा यगुलिप्रक्षालनपात्रभ्यो निनयत्यभितप्य प्रत्यगसस्यन्दमान त्रिताग त्वे' ति प्रतिमन्त्रम्' (का श्रा सू ।५ ६) क अनुसार पात्रीनिर्णेजनकर्म्म करते है। अगुलिप्रक्षालित जल को आप्त्यादेवता क लिए डालते है । सा जिसलिए कि आप्त्यों क निनयन करते हैं उसकी उपपत्ति (आग के ब्राह्मण मे) बतलाते हैं ॥१८॥

प्रथमकाण्डान्तर्गत द्वितीयाध्याय का द्वितीय ब्राह्मण एव प्रथमप्रपाठक का छठा ब्राह्मण यहाँ उपरत प्रथम-प्रपाठक समाप्त



(भाष्य)—आहुति के लिए पुरोडाश सम्पादन करता है। तत्र कृष्णमृगचर्म्म पर प्रतिष्ठित पाषाणमयी दृषत् (सिल) पर उपल (लोढी) से हविद्र य का पेषण होचुका है। साथ ही पिष्ट हवि में महीना पयोऽास इस अनिरुक्त यजुमन्त्र से आयनिर्वाप क लिया गया ह । अत्र आ ययुक्त म पिष्टद्र य का पारपाक कर इसे पिण्डरूप में परिणत कर आहुात के या य बनाना है। प्रकृत ब्राह्मण म इसी विषय का निरूपण है । पिष्टद्र य को पिण्डरूप में परिणत करने के लिए आज्य। क म का अधिष्ठाता अ वर्य्यु दमयुक्ता पात्री में पिष्टद्रव्य को प्रतिष्ठित कर देवस्य त्वा इत्याद मत्र बालता हुआ सवापकर्म्म करता है । १।१।१ ब्राह्मण के अनुसार मनुष्य असत्यसहित होता हुआ सत्यसहित (सत्यानुयायी) देवताओं से विभिन्नधर्म्मा है। देवप्राण ही देवप्राण के साथ सम्बन्ध कर सकता है। इसी दिव्यभाव का प्राप्ति के लिए अ वर्य्यु को देवस्य वा सवितु यह कह कर ही सवापकर्म्म करना पडता है।

लोकमर्य्यादानुसार **सजातीय** को **ब धु** कहा जाता है । सजाती से प्रकृत म **सगोत्री** ही अभिप्र त समझना चाहिए । शुक्र में चा द्रसोम प्रतिष्ठित रहता है । च द्रमा मे **रेत** **य** यश ये तीन त व प्रतिष्ठित रहते हैं । शुक्रगत चा द्र श्रद्धारस ही सगोत्रियो को अपने सूत्र (श्रद्धासूत्र) से ब रखता है । आशौच की प्रतिष्ठा स्वरूप इसी श्रद्धासूत्र से सगोत्री परस्पर बद्ध रहत है । अत सी श्रद्धाब धन के कारण इह **ब धु** (**ब धनात्–ब धु**) कहा जाता ह । ब धु श्र ा के द्वारा म यक रूप से ब धनयुक्त रहता है अतएव इस **स ब धी** भी कहा जाता है । हविग्र हण करते समय **देवस्य त्वा सवितु** इ यादि म त्र का प्रयोग किया जाता है । वहा विस्ता से स म त्र का वैज्ञानिक अ बतला दिया गया है । प्रकृत मे उसी म त्र स आज अ वर्यु सवापक म करता है । वह और प्रकृतम त्र दोनो एक दूसरे के ब धु है । सम्ब धी है । जो ता पर्य्य उस का था वही ता प य स म त्र का है । **अमा** श द विप्रकृष्टाथ का सूचक है । इस प्रकृत यजु म त्र का ब धु वही हविग्र हण का क म त्र है—यही नि कष है ॥१॥

पिष्टद्र य का पात्री म सवाप करके (पात्री में पि ट य डालकर) अ वर्यु वदि के म यभाग में बठ जाता है । उधर आग्नीध्र नाम का ऋत्विक **समाप ओपधीभि** इ यादि म त्र बोलता हुआ पिष्टद्र य मे– **उपसजनी** डालता है ।

भिन्न भिन्न कर्म्मों के लिए यज्ञ में भिन्न भिन्न पानी नियत रहते है । व **प्राक्षणी–मन्थन्ती–स्रव ती–उपसजनी** इ यादि भिन्न भिन्न नामो से प्रसिद्ध है । वह पानी जो ओषधियो मे प्रविष्ट होकर उन्हे रसयुक्त बनाता है– **उपसजनी** नाम स प्रसिद्ध है । बिना रसरूप पानी के सम वय के ओषधियों का परिपाक नहा होसकता । आपको यान रखना चाहिए कि जब जौ की धानी बनाई जाती है तो पहिले जौ को पानी में भिगो दिया जाता है । यदि मकान बनाते समय पानी का अधिक प्रयोग किया जाता है तो मकान अधिक दृढ होजाता है । पानी के स ब ध से अग्नि ओज ठ बल ठ बनता हुआ उस वस्तु में अधिक दृढता से प्रतिष्ठित होजाता ह । रोटी के परिपाक के लिए पहिले चूर्ण (चून) को पानी से समन्वित करना पडता है । अग्नि को अ तर्य्यामसम्ब ध से पकडने की शक्ति एकमात्र पानी म ही है । स्वय अग्नि भी तो पानी ही है । पृथिवी से सूर्य की ओर जाने वाला पानी ही **अग्नि** किंवा अङ्गिरा कहलाता है एव सूर्य से पृथिवी की ओर आने वाला पानी ही **पानी** कहलाता है । **अङ्गिरा भी पानी है भृगु भी पानी है ।**

आपो भृ वङ्गिरारूपमापो भृ वङ्गिरोमयम् यह निर्वि त सवनिर्णीत है । **अङ्गिरा की प्रतिष्ठा भृगु है तो भृगु की आश्रयभूमि अङ्गिरा है** । यदि किसी पदाथ में आप अग्नितत्व प्रतिष्ठित करना चाहते ह तो पहिले वहा आपको पानी का ही स ब ध कराना पडगा । अयस्कार (लुहार) **लोहखण्ड** (छीणी वगरह) मे अग्नि प्रतिष्ठित कर उसे दृढ करना चाहता है । परन्तु इस दृढता के लिए उसे बार बार उस लोहखण्ड को पानी म डुबोना पडता है । उसे अग्नि का प्रवश कराकर लोह को तरल बनाना है । इस अग्निप्रवश के लिए पानी का सम्ब ध कराना नितान्त अपेक्षित होजाता है । यही अवस्था अ या म–यज्ञ की है । वैश्वानर (जाठराग्नि–अपणाग्नि) भुक्तान्न का परिपाक करने के लिये तबतक सर्वथा असमथ है जबतक की पानी का उसके साथ सम्ब ध न करा दिया जाय । अन्नाहुति के साथ ही पानी की आहुति देना भी परम आवश्यक है । बिना इस के जाठराग्नि अन्न में प्रतिष्ठित नही होसकता । दूसरे श दों में–बिना पानी के जाठराग्नि अन्न के परिपाक में कभी समर्थ नही होसकता ।

अग्निना इता वृष्टिमुन्नारयति मरुत सगतयनि इस श्रुति सिद्धान्त के अनुसार अङ्गिरा-अग्नि के द्वारा भूपिण्डस्थ पानी अन्तरिक्ष म चला जाता है। वहा जाकर वायु म प्रतिष्ठित होजाता है। यही ग्रीष्मकाल है। ग्रीष्म-ऋतु म भूमण्डल पर पानी का अभाव रहता है। कारण यहा पार्थिव पानी उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार अन्तरिक्ष य वायुधरातल पर प्रतिष्ठित रहता है। आग्नेय तत्व पानी के सम्बन्ध से तीव्र होजाता है। यही कारण है कि अन्तरिक्षस्थ प्रयुक्त पानी के सम्बन्ध से ग्रीष्म में सौर रश्मिया अतिप्रखर बनती हुई ग्रीष्म-ऋतु की जननी बन जाता है। स्नानोत्तर शारीराग्नि अधिक प्रज्वलित होजाता है यह सर्वानुभूत विषय है। इसीलिए अग्नियज्ञ (दैनिक भोजन) के सम्बन्ध में—हाथ पर इन्द्रियों आदि के साथ जल के सम्बन्ध कराने का आदेश है। प्राणाग्नि को शान्त करने के लिए ही भोजन के आद्यन्त में आचमन का विधान है।

भौतिक जगत् मे भी आप म स्थिति का साक्षात्कार कर सकते हैं। एञ्जिन मे जबतक पानी न डाला जाता तबतक तत्र आग्न कभी भी प्ररूप म परिणत न हो सकता। असीम-भार का वहन करना आग्न का सामर्थ्य अवश्य है परन्तु आग्न म यह सामर्थ्य पानी म ही आता है। ओषधि-वनस्पतियो का सारतेज स एव भूगर्भ य अग्नि स परिपाक तबतक सर्वथा असम्भव है जबतक कि उनके साथ पानी का सम्बन्ध न करा दिया जाय। इसप्रकार उक्त कुछ एक उदाहरणो से यह भलीभाति सिद्ध होजाता है कि पानी ही अग्नि की प्रतिष्ठा है। शरीरजल अग्निसत्ता पर ही प्रतिष्ठित है यह ठीक है। परन्तु अग्नि की सत्ता पानी पर ही प्रतिष्ठित है अतएव बलवान को अग्निमान् न कहकर पानीदार ही कहा जाता है। आज अन्यत्र को पिष्ट द्रव्य म परिपाक-क्रिया के द्वारा अग्नि प्रतिष्ठित करना है। बिना पानी के अग्नि प्रतिष्ठित हो नहीं सकता। अतएव अपणकर्म से पहिले उपसर्जनी नाम के पानी का पिष्ट द्रव्य के साथ सम्बन्ध कराया जाता है। निम्नलिखित मन्त्र से उपर्युक्त कर्म किया जाता है—

> 'समाप ओषधीभि समोषधयो रसेन। स रेवती जगतीभि पृच्यन्ताम्।
> सम्मधुमतीर्मधुमतीभि पृच्यन्ताम्।'
>
> —यजु स १।२१।

उपसर्जनी नामके पानी (पिष्टरूप) ओषधियो के साथ भलीभाति मिल एव साथ ही (पिष्ट) ओषधिया रसरूप उपसर्जनी पानियोके साथ भलीभाति सगत हों। रेवती नामसे प्रसिद्ध पानी जगती नामसे प्रसिद्ध ओषधियो के साथ सम्यक् प्रकारसे एकीभूत हो मधुमती पानी मधुमती (मधुररसवती) ओषधियों के साथ मिलें मन्त्रका यही अक्षरार्थ है। पानीका मिलाने की आवश्यकता क्यों हुई? इसकी उपपत्ति पूर्व में बतलादी गई। अब केवल रस रेवती मधुमती इन शब्दो के अर्थोंका विचार करना है। पानी को ओषधियो का रस बतलाया जाता है। प्रत्येक वस्तु की स्वरूपस्थिति के लिए रस और शुक्र नाम के दो तत्त्व अपेक्षित होते हैं। रस और शुक्र के समन्वयसे ही पदार्थ का स्वरूप बनता है। रस तरल द्रव्य है शुक्र घन द्रव्य है। रसतत्व सोमप्रधान है शुक्रतत्व अग्निप्रधान है। सौम्य रस योषाप्राणमय है आग्नेय शुक्र वृषाप्राणमय है। योषावृषात्मक रस-शुक्र के मिथुन से ही विश्व के सम्पूर्ण पदार्थो का स्वरूप बना हुआ है। प्रत्येक वस्तु म आत्मा पिण्ड ये दो भाग उपलब्ध होते हैं। आत्मा

पिण्ड का सञ्चालक है एवं पिण्ड आत्मा का आयतन है। आत्मभाग रस है पिण्डभाग शुक्र है। रस भाग तरल होने से अनस्था नाम से व्यवहृत होता है पिण्डभाग अस्थिमत् कहा जाता है। अनस्थिमत (बिना हड्डीवाले) रसरूप आत्मा ने अस्थिमत् (हड्डीवाले शुक्रभाव से सम्पन्न) पिण्ड को अपने ऊपर प्रतिष्ठित कर रक्खा है इसी आधार पर वेदपुरुष कहते हैं—

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित्को विद्वांसमुपगात्प्रष्टुमेतत् ॥
ऋक्सं० १।१६४।४।

रस ही तत्तत् पदार्थ का आत्मा है इसी आधार पर— रसो वै सः — यावानु वै रसस्तावानात्मा (शतपथ ब्रा०) यह कहा जाता है। इसी रस शुक्र को याज्ञिक परिभाषा में आज्य पृष्ठ कहा जाता है। आज्य आत्मा है पृष्ठ पिण्ड है। रसरूप आज्य एवं शुक्ररूप पृष्ठ से ही वस्तु का स्वरूप निष्पन्न होता है।

ओषधियों में भी ये ही दो तत्त्व प्रतिष्ठित है। अग्नि इन ओषधियों का शुक्र है पानी (तद्गत सोम) रस है। यही रस इनका जीवन है। सोमरूप रस जीवनप्रद रसभाग के कारण ही पानी को अमरकारने जीवन शब्द से व्यवहृत किया है। रस से ओषधियों का आत्मा बनता है अग्नि से पिण्ड बनता है। दूसरे शब्दों में रस इनका आत्मभाग है शुक्राग्नि पृष्ठभाग है। रस के बिना इनका जीवन असम्भव है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर प्रकृत में पानी को ओषधियों का रस (आत्मा) कहा है। आपो ह्येतासां रसः का तात्पर्य आपो ह्येतासामात्मा यही है।

अबतक के भाष्य-सन्दर्भों में यत्रतत्र प्रासङ्गिक—रूपेण निर्दिष्टा ब्रह्मविज्ञानसम्बन्धिनी गुह निहिता परिभाषाओं से परिचय प्राप्त करने वाले विज्ञ पाठकों को यह भलीभांति विदित होगया होगा कि ईश्वरशरीर संस्था के स्वयम्भू परमेष्ठी सूर्य्य पृथिवी चन्द्रमा—ये पाच पर्व है। इन्ही पाच पर्वों के कारण षोडशीपुरुष नाम से प्रसिद्ध अव्ययेश्वर अश्वत्थमूर्त्ति की एक शाखामूर्त्ति पूर्वोक्त पञ्चपर्वा विश्व पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्य वल्शा नाम से प्रसिद्ध है। साथ ही यह भी सुविदित ही होगा कि स्वयम्भू प्राणमय है परमेष्ठी आपोमय है सूर्य्य वाङ्मय है पृथिवी अन्नात्मयी है एवं चन्द्रमा अन्नमय है। ये पाँचो ही स्वतन्त्र प्रजापति है। इन पाचो में परमेष्ठी सूर्य पृथिवी चन्द्रमा—इन चारो समहिम पिण्डो को अपने महिमामण्डल में प्रतिष्ठित रखने वाले आदिप्रजापति स्वयम्भू — आभूप्रजापति नाम से प्रसिद्ध हैं। एवं शेष चारों इन्हीं के प्रतिमान बनते हुए प्रतिमाप्रजापति नाम से (ब्राह्मणग्रन्थो में) प्रसिद्ध होरहे हैं।

प्रत्येक प्रजापति आत्मा—पद पुनःपद भेद से त्रिसंस्थ है। वस्तुकेन्द्र आत्मा है वस्तुपिण्ड (जो कि विज्ञानजगत में स्पृश्यपिण्ड नाम से प्रसिद्ध है) पद है। यही क्योंकि आत्मा प्रपन्न होता है अतएव प्रपन्नो भवति आत्मा यत्र इस व्युत्पत्ति से इसे पद कहा जाता है। पिण्ड से बाहिर निकल कर बडी दूर पर्य्यन्त अपना मण्डल बनाने वाला महिमामण्डल ही पुनःपद कहलाता है। आत्मगर्भित पिण्ड अग्नीषोमात्मक है। इससे यह भी सिद्ध होजाता है कि महिमा किंवा विभूति-स्वरूप पुनःपद में भी ये ही दोनो तत्त्व (प्राणात्मक) प्रतिष्ठित है। पुनःपद की आधारभूमि केन्द्रस्थ वही मन —

प्राणगर्भित वाङ मय आमा है। हृदयस्थ अत एव **अनिरुक्त** नाम से प्रसिद्ध मन प्राणवाङ्मय प्रजापति ही पुन पद म व्याप्त होता हुआ **सवप्रनापति** नाम से प्रसिद्ध हारहा है।

हृदय की अपेक्षा से वही **अणारणायान्** है एव पुन पद का अपेक्षा स वही **महतो महीयान्** है। सवप्रजापात के वाग भाग स ही पुन पद **वषट्कार** नाम से प्रसिद्ध है। प्रसङ्गागत वषट्कार का स्वरूप भी जान लेना सामयिक ही होगा।

मन ज्ञानशक्तिघन है प्राण क्रियाशक्तिघन ह एव वाक्तत्त्व अथशक्तिघना है यह पूवप्रकरणों म अनेक बार बतलाया जाचुका है। मन प्राणवाग्रप ज्ञान–क्रिया–अथ की समष्टि ही आ मप्रजापति है। विश्व के समष्टयामक यष्टयामक दोनो प्रकार के पदाथ ज्ञान क्रिया अथ मय ह। प्र यक्षदृष्ट क्षरप्रवान भूतभाग **अथ** है। तदवाचक पद क साथ नि य सम्बद्ध होने क कारण यह अ ग— **अथ** शब्द से यवहृत न होकर **पदाथ** श से व्यवहृत होता है। प्र येक पदाथ अक्षरप्रवान प्राणभाग स नि य आक्रान्त रहता हुआ क्रियामय **है**। अवस्था परिवत्त न की आधारभूमिस्वरूपा क्रिया **जड (निरिन्द्रिय पदाथ)** एव चेतन **(सद्रिय पदाथ)** भेदभिन्न सभी पदाथा मे देखी जाती ह। ससार में ऐसा कोइ भी पदाथ नही है जो किसी न किसी क्रिया स नि य आक्रान्त न हो। **न हि कश्चित क्षणमपि जातु तिष्ठ यकम्मकृत्** यह अप्रतिहत सिद्धान्त है।

साथ ही य भी एक निश्चित सिद्धा त है कि बिना ज्ञान के कोइ क्रिया नही होसकती। क्रियातत्त्व **नास्ति–अस्ति नास्ति (अ यक्त यक्त–अ यक्त)** भेद से त्रिक्षण होता हुआ क्षणिक **है** नास्तिसार है ऐसी अवस्था में क्षणिक क्रिया की प्रतिष्ठा तबतक सवथा असम्भव है जबतक कि उसका आधार कोई अक्षण निष्क्रिय धरातल न मान लिया जाय। वही निष्क्रिय धरातल अ यय प्रधान मनोमूर्त्ति [श्वोवसीयसमनोमूर्त्ति] ज्ञानतत्त्व **है** इसप्रकार प्र येक पदाथ में **ज्ञान (श्वोवसीयस् नाम से प्रसिद्ध अ ययमन) क्रिया (अक्षरप्राण) एव अथ (क्षरप्रधाना वाक्)** की सत्ता सिद्ध होजाती है। एक एक यक्ति मन प्राणवाङ मय प्रजापति की अभि यक्ति है। आ मप्रजापति की अभि यक्ति ही तत्तत् पदाथ का **यक्तीभाव है**। यक्तीभाव ही **यक्ति (पदाथ)** की प्रतिष्ठा है। एक एक यक्ति (उपाधिदृष्टया) एक एक प्रजापति है। इसी प्राजापत्य विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"प्रजापते न त्वदता यन्यो विश्वा जातानि परिताबभूव।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो वय स्याम पतयो रयीणाम्।
प्रजापतिस्त्वेवेद सर्व यदिद किञ्च इत्यादि ॥"

प्रजापतिरूप आ मा केवल साक्षी है। सृष्टि करना अक्षरप्रधान देवताओ का ही काय्य है। इसी आधार पर **देवेभ्यश्च जगत् सव चर स्थाण्वनुपूवश** (मनुस्मृति) यह कहा जाता है। सृष्टि के अधिष्ठाता देवताओं में से **ब्रह्मा विष्णु इन्द्र** (पुराणपरिभाषानुसार–शिव) ही सृष्टि के सञ्चालक हैं।

ब्रह्मतत्त्व ज्ञानप्रधान है विष्णुतत्त्व अथप्रधान है एव इन्द्रतत्त्व क्रियाप्रधान है। क्रिया एव अथ (भूतसङ्घ) की प्रतिष्ठा ज्ञान है। जबतक हमारे क्रियाथमय शरीर में ज्ञान–(चेतना) सत्ता

प्रतिष्ठित रहती है तभीतक क्रिया (कर्म) एवं अर्थ (भूतसङ्घ) स्वस्वरूप में सुरक्षित रहते हैं। ज्ञान [ज्ञानघन चेतन्य विशिष्ट आत्मा] के उत्क्रान्त होजाने पर शरीरकर्म और सम्पूर्ण भूत विशकलित होजाते हैं। इसी आधार पर ज्ञानघन ब्रह्म के लिए– **ब्रह्म व सर्वस्य प्रतिष्ठा** यह कहा जाता है। स्पर्धाकाल पर आत्मा के ज्ञानघन मनोभाग का अनुग्रह है। क्रिया गतितत्त्व है। गतितत्त्व साक्षात् इन्द्र है। बलवृत्ति एकमात्र इन्द्र का ही कर्म है। इसी आधार पर— **या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत्** [यास्क निरुक्त] यह कहा जाता है। सदागतिधर्मा वायु इन्द्रतत्त्व से अविनाभूत है। **यो व वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः** [शत ४।१।३।१९] के अनुसार दोनों अभिन्न हैं। इसी आधार पर हम इन्द्र को क्रिया का अधिष्ठाता मान सकते हैं।

पञ्चकोशविद्या के अनुसार पाञ्चभौतिक शरीर वाङ्मयकोश है। वाक्तत्त्व ही उत्तरोत्तर होने वाली बलग्रन्थियों के कारण क्रमशः **आकाश वायु तेज जल मृत्** इन पांच भूतों में परिणत हो जाता है। पञ्चभूतसमष्टि ही वाग्ब्रह्म है। महर्षि तित्तिरिने इसे ही **अन्नब्रह्म** माना है। पाञ्चभौतिक शरीर इन्हीं पांचों भूतों का लेकर जीवित है स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। जो गेहूं आदि ओषधि वनस्पतियां मिट्टी हैं। पानी हमारा अन्न है। पानी ही तो ओषधियों का रस है जैसाकि पूर्व में बतलाया जाचुका है। न केवल अन्न [अन्न] हमें तृप्त कर सकता न पानी। अपितु दोनों के समन्वय से ही हमारी पूर्ण तृप्ति होती है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

'तस्मादोषधय केवल्या खादिता न धिन्वन्ति, ओषधय उ हापां रस। तस्मादपि पीता केवल्या न धिन्वन्ति यदेवोभय्यः संसृष्टा भवति अथैव धिन्वन्ति'।

—शत० ३।६।१।

श्वासप्रश्वास का अधिष्ठाता वायु हमारा अन्न है। इसीप्रकार तेज [प्रकाश] भी हमारा अन्न है। याज्ञवल्क्य के कथनानुसार पुरुष **पञ्च ज्योति** है। आत्मसत्ता के लिए सूर्य्य चन्द्र अग्नि **(दीपक आदि)** **वाक् (शब्द) आत्मा** इन पांचों ज्योतियों में से किसी एक न एक ज्योति का मिलना परम आवश्यक है। दुर्भाग्यवश यदि पांचों का अभाव होजाता है तो आत्मा तम से आवृत होता हुआ शरीर से उत्क्रान्त होजाता है आकाशगुणक शब्द भी हमारा अन्न है। निस्तब्ध शून्य प्रदेश में भी सनसनाहट रहती है। ऐसा कोई प्रदेश नहीं जो आत्मा शब्दात्मक आकाशान्न से रहित होजाय। इसप्रकार पाँचों अन्न हमारे हवि (आहुति) द्रव्य हैं। जबतक हृदय में विष्णुदेवता प्रतिष्ठित रहते हैं तभीतक अन्नब्रह्म (अर्थप्रधान शरीर) सुरक्षित रहता है। अन्नादान के द्वारा ही आगतिधर्मा दूसरे शब्दों में आदान के अधिष्ठाता विष्णु देवता पालक कहलाते हैं। अतएव विष्णु को **हविर्धान** (अन्नकोश) का देवता माना जाता है। **वैष्णव हि हविर्धानम्** (श० ३।५।३।१९) यह निगम प्रसिद्ध ही है। इसी आधार पर हम विष्णु को अन्नरूप अन्नकोश का अधिष्ठाता मान सकते हैं।

ब्रह्मा विष्णु इन्द्र तीनों देवता क्रमशः *मनोमय अर्थमय क्रियामय हैं*। तीनों का समुच्चय ही एक एक मूर्त्ति (मूर्त्त द्रव्य पदार्थ) है। **एका मूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा** यह प्रसिद्ध है।

मनोमयी ब्रह्मप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित इन्द्र और विष्णु म स्पर्द्धा होती रहतो ह। एक अन्नादान के द्वारा शरीरसस्था को प्राता त बनाता रहता ह तो दूसरा स्वविक्षेपणशक्ति से आगत अन्न को निकाल कर प्रतिष्टा को उच्छिन्न करता रहता ह। इसी इन्द्राविष्णू की स्पर्द्धा स प्रतिज्ञात **वषट्कार** का ज म होता ह। सी रहस्य का निरूपण करत हुए वदपुरुष कहते ह—

उभा जिग्यथुर्न पराजयथ न पराजिग्ये कतरश्च नना ।
इ द्रश्च विष्णो गदपस्पृधथा त्रधा महस्र नितदैरयथाम्' ॥

—ऋक् स ६।६६।८

व तीन साहस्रिया कौनसी है जिनका उद्गम इन्द्राविष्णू की स्पर्द्धा से हुआ ? मका समाधान करते हुए ऋ ष क ते ह—

किं तत सहस्रमिति-इम लोका इमे वेदा अथो वागिति त्र यात्'

—ऐ ब्रा ६ ३५ ति

द्राविष्णू की स्पर्द्धासे ह यस्थ न न यम् रूप विष्णु न ब्रह्मा तानो पद (पिण्ड) सस्थासे उ न्न न होकर उपुर्युक्त तीना साहस्रियाक न मदाता बनत ह। **प्राणमूर्त्ति ब्रह्मा वदसाहस्री क अधिष्ठाता ह आपोमय विष्णु लाकसाहस्रा के न मदाता है एव वाङमय इन्द्र वाक्साहस्री क प्रतिष्ठापक है।** **पञ्च** पुराडी । प्राजाप यत्र शा के स्वरूपसे परिचित विज्ञ पाठकों को यह विदत है कि स्वयम्भू ब्रह्मा प्राणमय हैं ये ही वदसृष्टि के अधिष्ठाता है। आपामय विष्णु लोकसृष्टि के जनक हैं ए वाङ्मय इन्द्र प्रजासृष्टि के उदभावक हैं। **प्राण आप वाक** तीना ही प्राकृतिक त व हं। **प्राण आप वाक् अन्न अन्नाद** की समष्टि ही पञ्चविधा त्तरप्रकृति है। क्षरप्रकृति की अपेक्षा से यद्यपि पूर्वोक्त तीनो साहस्रिया **वेद लोक-वाक्** भेदसे पृथक है। परन्तु आत्मप्रजापति की अपेक्षा से तीनो वाङ्मयी ह। मन प्राणवाङ्मय प्रजापति का मन प्राणग भित वाग भाग ही **वेद लोक वाक्** साहस्री का अधि ठाता है। साहस्री एकमात्र पुरुषवाक का ही वितान है। **साहस्रा महिमा है पुन पद है। यही वषट्कार है।** वाङ मय वषटकार पर ही वद लोक वाङ्मयी साह स्त्रियाँ प्रतिष्ठित हैं। **वा वा एषा निदानन यत् साहस्री तस्या एतत् सहस्र वाच प्रजातम्** (शत ४।५।८ ४) **वागवा अस्य स्वा महिमा** (श १।४।२।१८) इ यादि श्रोत वचन वाक को ही साहस्री की अधिष्टात्री बतला रहे है।

शब्द एव अर्थका अभे है। जो क्रम शब्दसृष्टि का है वही क्रम **अर्थसृष्टि** का है। शब्दसृष्टि के **असङ्ग ससङ्गासङ्ग ससङ्ग** तीन रूप हैं। **अकार** असङ्गरूपा सृष्टि है। अकारोच्चारण में कण्ठतालवादि अस स्पृष्ट रहते है। **उकार** ससङ्गासङ्गसृष्टि है। उकारका उच्चारण करते समय ओष्ठ सकुचित होजाते हैं इसलिए **तो** यह ससङ्ग सृष्टि है परन्तु सवथा स्पृष्ट नही होते इसलिए यह सृष्टि असङ्ग है। परतु **मकार** सव था ससृष्ट है। मकारोच्चारण करत समय दोना ओष्ठ सलग्न होजाते हैं। मकार आ तम स्पश है जैसाकि- **कादयो मावसाना स्पर्शा** इत्यादिरूप स प्रसिद्ध है। यद्यपि प फ ब भ--ये चारों भी स्पृष्ट हैं। परन्तु इनसे **नासिका स्थान** का ग्रहण नही होसकता। ऋषि को सवस्थान अपेक्षित ह। इसलिए पकार--फकारादि का ग्रहण न कर

मकार का ही ग्रहण किया है। **मकार** से नामिकास्थान भी गृहीत होजाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि **अकार उकार मकार** भेद स शब्दसृष्टि तीन भागो में विभक्त है। ये ही तीनो आत्मसृष्टिया है। **स वा एष आत्मा वाङमय प्राणमयो मनोमय** के अनुसार आत्मा मन प्राण **वाङमय** है। ज्ञानघन मन उसकी **असङ्गसृष्टि है**। **ज्ञानमय मन स्व स्वरूप** स असङ्ग है। उसका कोइ रूप नही। जसा प्रतिबिम्ब पडता है वह तदाकाराकारित ही बन जाता है। मध्यस्थ प्राण ससङ्गासङ्ग है। नाग भाग उपयुक्त पञ्चभूत का आश्रय बनता हुआ ससङ्ग है। वाकतत्व क्रमश **आकाश–वायु तेज–जल–मृत्** रूप म परिणत होता हुआ सवथा ससङ्ग है। इसी असङ्ग–ससङ्गासङ्ग ससङ्ग सम्बन्ध को लक्ष्य में रखकर ऋषिने मन –प्राण–वाक की क्रमश **अकार–उकार मकार** सज्ञाए की हैं। तीनों की समष्टि ओङ्कार है। यही आत्मा का स्वरूप परिचय है इसी आधार पर **ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्** यह कहा जाता है। मन –प्राण–वाक इन तीनों में ज्ञानमय मन सवथा **निष्क्रिय है** अथमयी वाक जड है। अत दोनो ही पङ्गु हैं।

सृष्टिकतृत्व एकमात्र सक्रिय प्राणतत्व पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव ऋषि ने प्राण को ही प्रथम स्थान दिया है। इस क्रम में **उ अ अच्** यह स्थिति रहती है। **उकार** का **वकार** होजाने से **व–अ अच्** यह अवस्था होजाती है। सन्धि से **वाक्** शब्द निष्पन्न होजाता है। जो तत्व **उकार (प्राण)** एव **अकार (मन)** की याञ्चा करता है वही **वाक्तत्त्व** है। वाक शब्द का अथ है **मन प्राणगर्भित तत्त्व**। सम्पूण सृष्टि **माहेश्वरी है** *। **ब्रह्मा विष्णु इन्द्र** तीनो दवता सृष्टि के प्रतिष्ठा प्रभव परायण हैं। **ब्रह्मा अकार है। प्राणप्रधान इन्द्र उकार है। अन्नयज्ञाधिष्ठाता वाङ्मय विष्णु मकार है। उ (महेश किंवा इन्द्र) अ (ब्रह्मा) म् (विष्णु) यह स्थिति है। माहेश्वरी सृष्टि** का यही क्रम है। जबतक यह क्रम है तभी तक सृष्टिसत्ता है शान्ति है। **शम् करभाव (शङ्करभाव) उ अ-म् सत्ता पर ही अवलम्बित है**। उकार को वकार होजाने से **उ अ म्** से यह स्थिति वम् रूप मे परिणत होजाती है। इसी आधार पर महेश्वर के सम्बन्ध में– **वम्शङ्कर (बम् शङ्कर)** यह व्यवहार प्रचलित है।

प्रकृत मे हमें यही बतलाना है कि साहस्री का सम्बन्ध एकमात्र मन प्राणगर्भित आत्मा के वाक्–तत्व से ही है। वही महिमामण्डल के स्वरूप में परिणत होरही है। इस वाकसाहस्री का वितान करने वाले हृदयस्थ ब्रह्मा विष्णु इन्द्र ये ही तीन देवता है। ब्रह्मा प्राणमय हैं विष्णु आपोमय है इन्द्र वाङ्मय (यह वाक्तत्व प्राकृत है–साहस्री वाला वाकतत्व आत्मसम्बन्धी है–दोनो सवथा पृथक तत्व है) है। इन्द्राविष्णू की स्पर्द्धा स प्राण आप वाक तीनो का वीरण (विदूर गमन) होता है। **प्राण के वीरण से उसी वाग् धरातल पर वेदसाहस्री का वितान होता है आप के वीरणसे लोकसाहस्री का वितान होता है**

***– न पद्माङ्का, न चक्राङ्का न वज्राङ्का यत प्रजा ॥**
लिङ्गाङ्का च भगाङ्का च तस्मा माहेश्वरी प्रजा ॥१॥
पुल्लिङ्ग सर्वमीशान स्त्रीलिङ्ग विद्धि चाप्युमाम् ॥
द्वाभ्या तनुभ्या व्याप्त हि चराचरमिद जगत ॥
—महाभारत अनु पा १४ अ

एव वाक के वीरण स वाक्साहस्री वितत होती ह। यह ऐन्द्री वाक ही **वषट्कार** स्वरूप में परिणत होती है। अतएव इन्द्र के लिए **वौषट्** बोलत हुए ही आहुात दी जाती है। **मन अकार है प्राण उकार ह** यह पूव में बतलाया जाचुका है। **अ उ अ अच्** यह परिस्थिति होजाती है गुण वृद्धिभाव से **वौक्** बन जाता है। वौक शब्द का अथ है-**मन प्राण-गर्भिता वाक्**। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख-कर ऋषि ने **वौषट्कार** कहा है। यही **वौषट्** है। और यही **वषट** है।

मन उक्थ है प्राण अक है वाक अशीति है। अक ही उस आत्मा की राश्मया है। ये प्राणरूप अक मनो-वाक रूपा वर्त्तनी में प्रतिष्ठित होकर आगे चलते है। अतएव मनो वाग गर्भित गतिशील स प्राणतत्त्व को गच्छति अभिप्राय से गा कहा जाता है। पिण्ड से निकल कर माहमारूप में व्याप्त होन वाले इस मनोवाङ्मय गातत्त्व (प्राणतत्त्व) का दो प्रकार से वितान होता है। केन्द्र से चारो आर सीधी गति इस की एकविधा है एव पिण्ड से चारो ओर मण्डल बनात हुए प्रतिष्ठित होना दूसरी **विधा** है। पहिली विधा को याज्ञिक परिभाषानुसार **अभिप्लवस्तोम** कहत है एव दूसरी विधा को **पृष्ठ्यस्तोम** कहते हैं।

अभिप्लव–स्वरूप–दिग्दर्शन—

अभि (सम्मुख प्रधिभागमनु) प्लवनम् (प्रवहणम्)--प्राणस्यवस्तुन **अग्रे प्रवहणम्** इस व्युत्पत्ति के अनुसार केन्द्र से प्रधि (परिधि) भाग की ओर वितत हाने वाला मनोगर्भित प्राणरय गोतत्त्व ही **अभिप्लव** है। पिण्ड शरीरभाग है। अभिप्लव इस पिण्डीभूत मत्यशरीर से निकल कर महिमा-मण्डल में प्रतिष्ठित अमृत स्वरूप प्राणात्मक द्रुत रस है। यह उस पिण्ड के ऊर्ध्व भाग की ओर व्याप्त रस भाग है। अग्निचित्या विज्ञान से परिचित (१) **साग्नि**–विद्वान् यह भलीभाति जानते हैं कि **चार आत्मा दो पक्ष पुच्छप्रतिष्ठा** न सात मत्य चित्य पुरुषो की चिति से ही प्रत्येक स्पृश्यपिण्ड का स्वरूप निष्पन्न होता है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड **सप्तपुरुषपुरुषात्मक है**। सप्तपुरुषपुरुषात्मक वस्तुपिण्ड मत्यशरीर है। वस्तुपिण्ड से निकल कर चारो ओर समुद्रवत् व्याप्त रहने वाला प्राणरस ही इस का **श्रीभाग है**। उदाहरण के लिए अध्यात्म पर दृष्टि डालिए। कण्ठरन्ध्र से नीचे का सम्पूर्ण भाग सप्तपुरुषपुरुष की समष्टि है। सम्पूर्ण धड चार आत्मा है। चार प्राणों की समष्टि एक धड है। इतर शरीर का आलम्बन यही **धड है**। अत चतु प्राण–समष्टि रूप इसे इतर शरीरावयों की अपेक्षा स **आत्मा** क दिया जाता है। दक्षिण हस्त दक्षिण पाद दक्षिण पक्ष है वामहस्त वाम पाद उत्तर पक्ष है त्रिकास्थिगत स्थि प्राण **पुच्छप्रतिष्ठा है**।

एक पीपल के पत्त का देखिए। बीच का वृत्त **चत्वार आत्मा** है। वृत्त का दक्षिणोत्तर पार्श्व **दक्षिणोत्तर पक्ष** है एव जिस प्राण से पत्ता तना हुआ रहता है वही **ब्रह्मपुच्छप्रतिष्ठा** है। जबतक पत्त में यह प्रतिष्ठाप्राण रहता है तभी तक पत्ता तना रहता है। इस प्राण के मूर्छित होजाने से पत्ता मुर्झा जाता है। जबतक शरीर में प्रतिष्ठाप्राण रहता है शरीर तना रहता है। अवस्था–परिवत्तन स यो यो यह प्राण शिथिल होता जाता है यों यो शरीरयष्टि झुकती जाती है। चरमावस्था म **दशमी** नाम से प्रसिद्ध

---

[१] **अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीत साग्नि** ।

अन्तिम अवस्था में) शरीर सवथा झुक जाता है । यही प्रतिष्ठाप्राण की उच्छित्ति है । इसी के लिए ब्रह्म न सवस्य प्रतिष्ठा (शत ।१।१।८) यह कहा जाता है । उपर्युक्त सातो में से अमृतप्राण निकल कर मस्तक बनता है । मस्तक श्री (रस) भाग है । श्रीत व को ही परोक्ष भाषा में शिर कहा जाता है । मस्तक ही स पूर्ण शरीर की श्री है । अतएव आगमस प्रदाय में मस्तक को श्री श द स ही यवहृत किया जाता है । इसी श्री का नाम अभिप्लव है । इन्द्रियरूप सम्पूर्ण यश इसी अभिप्लवसमुद्र में प्रतिष्ठित है । इसी चि य (म य) चितेनिधेय [अमृत] पुरुषविज्ञान को लक्ष्य मे रखकर चयनश्रुति कहती है–

तेऽब्रुवन्–न वा इत्थ स त शक्ष्याम प्रजनयितुम् । इमान् सप्तपुरुषानेक पुरुष करवाम–इति । त एतान्–सप्तपुरुषानेक पुरुषकुर्वन् । यदूर्ध्वं नाभेस्ता द्वौ समा जन् । यदवाङ नाभेस्तो द्वौ । पक्ष पुरुष पक्ष पुरुष । प्रतिष्ठैक आसीत् । अथ एतेषां सप्ताना पुरुषाणा श्री यो रस आसीत्तमूर्ध्व समुदाहस्तदस्य शिरोऽभवत् । यच्छ्रिय समुदाहस्तस्मा च्छिर । । स ौ सप्तपुरुषो भवति । सप्तपुरुषो ह्य पुरुषो–य चत्वार आत्मा त्रय पक्षपुच्छानि' (शत २१।५) इति ।

आगे बतलाए जाने वाले स्तो य लोकों की प्रतिष्ठा यही महिमा मण्डलस्थ प्राणात्मक अभि लव है । अतएव— **इमे वै लोका अभि लवा** (शत्प. १२।२।१) इत्यादि रूप से लोकों को **अभिप्लव** कहा जाता है । उत्क्रान्त प्रेतात्मा को परलोक म लेजाने वाले **आतिवाहिक** ये ही लोकरूप लव (नौका) है इसलिए भी इन्ह **अभिप्लव** कहा जाता है । **अभि लव सम्व सररूप नौका है** । इसी विज्ञान के आधार पर **तद्यदभिप्लवमुपयान्त सम्व सरमेव तद्यजमाना समारोहन्ति** (कौ ब्रा १ ।१) यह कहा जाता है । सोरप्राण के सम्बन्ध स ये अभिप्लव ३६ (छत्तीस हजार ष त्रिंशत्बृहतीसहस्र) भागा में विभक्त होकर आयु के आधार बनते है ।

सूर्य—**ज्योति गौ आयु –घन है**। ज्योति गौ –आयुर्घन सूर्य– **बृहतीमध्यूढस्तपति** इस श्रात सिद्धान्त के अनुसार विष्वदवृत्त (इक टर लाइन) नाम से प्रसिद्ध बृहतीछ द पर प्र ष्ठित है । छन्दोविज्ञानवित् यह जानते हैं कि चतु पदा गायत्री के ६ अक्षर है (प्र येक पाद षडक्षर स भूय २४ अक्षर यही क्रम आगे है) **उष्णिक् सप्ताक्षरा है । अनुष्टुप् अष्टाक्षरा है** । एव सूर्यप्रति ठारूपा **बृहती नवाक्षरा है** । इसप्रकार चतु पाद् बृहतीछन्द के ३६ अक्षर होजाते हैं । एक ही इन्द्रात्मक बृहतीप्राण ३६ भागा में विभक्त होजाता है । पूर्वप्रतिपादिता वाक्साहस्री के सम्ब ध से मन प्राणवाङ्मय प्रत्येक बृहतीप्राण (इन्द्रप्राण) सहस्रधा सहस्रधा विभक्त होजाते है । इसप्रकार ३६ बृहती के **षड्त्रिंशत्बृहतीसहस्र** (३६) प्राण होजाते है । प्र येक प्राण पूर्वकथनानुसार मन प्राणवाङ्मय है । ३६ **ही मन है** ३६ **ही प्राण है** ३६ **ही वाक है**। एक एक मन एक एक प्राण एव एक एक वाक की समष्टि एक एक **आयु सूत्र** है। तीनो के सम वय से प्रकृ या हमारे आत्मा में ३६ (छत्तीस हजार) आयु सूत्र प्रतिष्ठित रहते हैं । एक दिन में हम एक आयु सूत्र का उपभोग कर लते है । ३ दिन (१ वर्ष) में बृहतीसहस्रात्मक आयु सूत्र उपभुक्त होजाते हैं । इसी बृह यात्मक आयु सूत्र का निरूपण करते हुए ऋषि कहते है—

'ता वा एता ब० यो यत् षट्त्रिंशदक्षरा ।(ताण्ड्यब्रा १६।११।१)

अ इति ब्रह्म तत्राऽऽगतमहमिति । तद्वा इद बृहतीसहस्र सपन्नम् । तस्य वा एतस्य बृहतीसहस्रस्य सपन्नस्य षटत्रिंशतमक्षराणा सहस्राणि भवन्ति । तावन्ति पुरुषायुषोऽह्ना सहस्राणि भवन्ति । जीवाक्षरणैव जीवाहराप्नोति जावाह्ना जीवाक्षरम्' ।

—ऐ आ ।२ अ —ख

सम्वत्सर एव श्रीरूप अभिप्लव का अधिष्ठाता यही बृहतीसहस्र है इसी आधार पर– बृहती हि सम्वत्सर (शत ६।४।२।१) श्रीव यशश्छन्दसा बृहती (ऐ ब्रा ।५ बृहत्या वा असावादित्य ।श्रया प्रतिष्ठाया प्रतिष्ठितस्तपति (गो ब्रा उ) इत्यादि निगमवचन प्रसिद्ध है । उपर्युक्त अभिलव मन प्राणवाङ् मय हैं । हमारा आत्मा मन प्राणवाङ मय है । वह इसी षट्त्रिंशत्बृहतीसहस्र के कारण १ वर्ष पर्यन्त शरीर म प्रतिष्ठित रहता । इसी बन्तिविज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

तदिद मन सृष्टमाविरबुभूषत–निरुक्ततर मूर्त्ततरम् । तदात्मानम न्वैच्छत । तत्तपोऽतप्यत । तत पाम्मूर्च्छत । म षटत्रिंश शत सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान् मनोमयान् स षट्त्रिंश शत सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान् वाङमयान् स षटत्रिंश शत सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान् प्राणमयान् ।

—शत १ ४।१।१। ४–५ इति ।

सौरप्राण के सम्बन्ध से ही बार्हतप्राण का (पार्थिवमण्डल के साथ) सम्बन्ध होता है सूर्य्य म याति –गौ आयु ये तीन मनोता ह । इन तीनो का पृथिवी के अभिप्लव के साथ सम्बन्ध होता है । यही योति–गौ आयु गा–आयु योति इस क्रम से पार्थिव आभिप्लविक स्तोम षडह नाम से प्रसिद्ध होजाता है । दूसरा है पृष्ठ्यस्तोम । प्रकृत मे इसी का सम्बन्ध है । अत विशेषरूप से इसी की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जारहा है ।

पृष्ठ्यस्वरूप–निदर्शन—

पिण्ड से बाहिर निकलने वाले मनोवाग्गर्भित आत्मप्राण को हमने श्री (रस यश) कहा है । उसी की अभिप्लव एव पृष्ठ्य भेद से दो अवस्थाएँ होजाती है । वस्तुपिण्ड के केन्द्र से सौररश्मिवत् चारो ओर व्याप्त होता हुआ वह रसभाग जसे अभिप्लव स्वरूप म परिणत होता है एवमेव पिण्ड के चारो ओर वर्त्तुल वृत्त बनता बनाता हुआ वही प्राणत व पृष्ठ्य रूप म परिणत होजाता है ।

ये मण्डल कुल हजार है । यही सहस्रवर्मा सामवद है । यही पृष्ठ्यस्तोम है । इसी आधार पर पृष्ठ्य के– एतानि खलु व सामानि यत् पृष्ठानि (तै ब्रा १।८।८।३) श्रीवै पृष्ठानि (ऐ ब्रा ६।५)

ये लक्षण ि ये जाते हैं। न पृष्ठो के आधार पर ही पार्थिवदवता स्वगलोक (सूर्य्यलोक) जाने में सम र्थ होते हैं—(देखिए ताण्ड म ब्रा ७।७।)। पिण्ड से ि कलने वाला यह वा ्मय प्राण ही गौ है। ये एक सहस्र हैं। व्यवहार सौकर्य्य के लिए जसे ३ अहोरात्र का एक मास माना जाता है २ अश की एक राशि मानी जाती है ३६ अ ोरात्र का एक व ि माना जाता है प्र येक वृत्त लवृत्त के ३६ अश माने जाते हैं उसी प्रकार विज्ञानत व को सुव्यवस्थितरूप स समझने के लिए ऋषियोन ३ ३ गोत व की एक एक राशि मान ली है। एव इस राश को अहगण नाम से व्यवहृत कर रक्खा है। स क्रम के अनुसार १ गोत व के ३३ अहगण होजात है। य िमा। ६६ गोत ो में समा त होजाता ह। शेष १ गो त व बच जाते हैं। यही (१ की समष्टि) ३४ वा अहगण कहलाता है। इसीके लिए **चतुस्त्रिंश प्रजापति** यह कहा जाता है।

उपर्युक्त ३३ अर्हगणो मे तीन अहगणों का तो पिण्डहृदयस्थ **ब्रह्मा विष्णु-इन्द्र** इन तीन अक्षरा में अ तर्भाव होजाता है। दूसरे श दो में तीन अहगण केन्द्र में प्रतिष्ठित होते हुए शेष त्रिशत् अहग णा मक वषटकार मण्डल की प्रतिष्ठा बन जाते हैं। प्रारम्भ के मूलभूत हृद्य तीन अहर्गणो के साथ ६ अह गणो का सम्ब व होने से **त्रिवृत्स्तोम (६ अहगणा की राशि)** का स्वरूप नि पन्न होता है। और ६ अहगणो के सम वय से **पञ्चदशस्तोम** का स्वरूप नि पन्न होता ह। और ६ के सम वय से **त्रिणवस्तोम** की और के सम वय से **त्रयस्त्रिंशस्तोम** की नि पत्ति होजाती ह। ३३ अहगणा मक महिमामण्डल की प्रति ठा हृदय था नीय सत्रहवा अ गण है। इसीके लिए **सप्तदशो वै प्रजापति** कह कहा जाता ह। पिण्डहृदयस्थ प्रजापति हृदयरूप होने स जस **अनिरुक्तप्रजापति** नाम से प्रसिद्ध है ३४ वा प्रजापात पिण्डगभित महिमामण्डल को स्वादर मे प्रतिष्ठित कर सर्वप्रपञ्च का अधि ठाता बनता हुआ जैसे **सर्वप्रजापति** नाम से प्रसिद्ध है एव मेव महिमामण्डल का अधि ठाता सप्त शस्तोमा मक यह प्रजापति **उद्गीथ थच** इस यु पत्ति से **उद्गीथप्रजापति** नाम स प्रसिद्ध ह। **उ गभाव उत है। विताभाव गी है। गान ही वितान है। स्थितिभाव का द्योतक थ है।** केन्द्रस्थ अनिरुक्त प्रजापति ही ऊपर की ओर वितत होकर १७ वे अहगण पर प्रतिष्ठित होकर उद्गीथ नाम से प्रसिद्ध होजाता ह। प्रकृत में बतलाना यही ह कि **त्रिवृत (६) पञ्च दश (१५) एकविंश (१) त्रिणव (७) त्रयस्त्रिंश (३३) सप्तदश (१७)** भेद से प्राणग र्भिता महस्रधा विभक्ता वह वाक उपयुक्त **स्तोमों मे** विभक्त होजाती है। ज्योतिर्गोरायु के भेद से जैसे अभिप्लव पडह कहला । वे सीप्रका उप युक्त ६ स्तोमो से यह पृष्ठ्यस्तोम भी षडह * नामसे ही व्यवहृत हुआ ह। ६ ओ विभाग उसी वाक के ह। अतएव यह स्तोमसमष्टि **वषट्कार** नाम से प्रसिद्ध है। यह है वष कार का सक्षिप्त स्वरूप नि शन। अब पुन प्रकृत का अनुसरण किया जाता ह।

म टकारस्तोम में **युग्म अयुग्म** भे से ो विभाग हाजाते हे। व ही ोनो विभाग **युग्मस्तोम अयुग्म स्ताम** किवा **यु मा तस्तामानि अयुग्मा तस्तोमानि** इन नामों से प्रसिद्ध ह। पृथिवीपिण्ड से निकलने वाला त व **शुक्र** नामस प्रसिद्ध ह। यह शुक्रत व **वाक् आप अग्नि** इन तीन मार्गों में विभक्त है। वाक

---

* इन सब विषया का विषद विवचन **शतपथभाष्यान्तगत गवामयनसत्त्र** (१२ का) में द्रष्ट य ह।

वेदतत्त्व है आप सोमतत्त्व है एव अग्नि प्रासद्ध है। पृथिवीपिण्ड के चारो ओर कुछ दूर पर्यन्त अग्नि त व व्याप्त है। यही पहिला अग्निपृष्ठ ह। अग्निपृष्ट के अनन्तर कुछ दूर पर्यन्त आपामण्डल किंवा सोम मण्डल ह। यही दूसरा अपपृष्ठ है। एव सर्वान्त म वाक्पृष्ठ किंवा वदपृष्ठ ह। पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्य वंशा-विज्ञानसे परिचित विद्वानो को यह भलीभाति विदित ह कि स्वयम्भू-परमेष्ठी सूर्य्य-पृथिवी -चन्द्रमा इन पाचोम परस्पर दहरोत्तरसम्बन्ध है। स म्बन्ध के कारण उत्तर उत्तर मण्डल में पूर्व पूर्व मण्डल का प्राण समाविष्ट रहता ह। स्वय भू-परमेष्ठी-सूर्य पृथिवी-चन्द्रमा पाचो प्राकृत तत्त्व हैं। पञ्चकल अव्यय पञ्चकल अक्षर पञ्चकल-आ मक्षर एव परात्पर की समष्टि ही षाडशी प्रजापति है। यही पुरुषतत्त्व है। यही उपर्य्युक्त पाचो प्रकृतियो का आलम्बन है। वाक् आप अग्नि ये तीन शुक्र हे। अमृत मर्त्य भेद स इस शुक्र के कल ६ विवत होजाते ह। पुरुष का प्रकृति के साथ सम वय (मिथुन) होनेसे वाक आप अग्नि रूप शुक्र स स पूर्ण प्रजा उ पन्न हाती है। पुरुष अमृतात्मा है प्रकृति ब्रह्म है। तीसरा विवत्त शुक्र है। तदेव शुक्र तद ब्रह्म-तदेवामृतमुच्यते (कठोपनिषत् *) के अनुसार वह एक ही आत्मतत्त्व पुरुष प्रकृति विकृति के भेद स अमृत-ब्रह्म-शुक्र-स्वरूप में परिणत होरहा है। शुक्ररूपेण वही सबकुछ बन रहा है ब्रह्मरूपेण वही सब का कर्त्ता है एव अमृतरूपेण वही सबका आलम्बन है।

साथही में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पुरुषका मन-प्राण-वाक भाग ही सृष्टि का आलम्बन बनता है। अत सृष्टिविद्या म मन प्राणवाङ्मय अव्यय ही आलम्बन माना जाता है। दूसरे शब्दो में-सृष्टि के सम्बन्ध में पुरुष किंवा अमृत शब्द से मन-प्राण वाङ्मय सृष्टिसाक्षी पुरुष का ही ग्रहण किया जाता है। स्वय भू पहिला प्राकृत ब्रह्म है। यह स्वस्वरूप स (प्रकृत्या) प्राणमय है। किन्तु इसम क्योंकि पुरुष की वाक्कला का उपभोग होता ह। अत पुरुषापेक्षया स वाङमय कहा जाता ह। परमेष्ठी स्वस्वरूप से आपोमय है पुरुषापेक्षया प्राणवाङ्मय ह। कारण परमेष्ठी म आत्मा की प्राण-वाक् इन दो कलाओं का भोग होता ह। सूर्य्य प्रकृत्यपेक्षया वाङ्मय है। पुरुषापेक्षया मन प्राणवाङ्मय है। अग्निचिति के कारण अमृतात्मा का पूर्ण विकास इसी चितिधर्म्मावच्छिन्न सूर्य्य म होता है।

सौरचिति के कारण ही यह आत्मा चिदात्मा नाम स व्यवहृत होता है। यही कारण है कि स्वय भू परमेष्ठी-सूर्य्य आदि पाचो प्रकृतियों में से- सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (यजु) इत्यादि रूप स सूर्य को ही आत्मतत्त्व (जीवात्मतत्त्व) का अधिष्ठाता बतलाया जाता है। नून जना सूर्य्येण प्रसूता अयन्नर्थो कृण्वन्नपासि का भी यही रहस्य है। सूर्य्य से नीचे चन्द्रमा (स्थितिक्रमापेक्षया) ह। यह प्रकृत्यपेक्षया अन्नमय है एव पुरुषापेक्षया वाक्प्राणमय है। पृथिवी प्रकृत्यपेक्षया अन्नादमयी है। एव पुरुषापेक्षया वाङ्मयी है। उपक्रम में वाक् है उपसहार मे वाक है। स पूर्ण विश्व वाक्तत्त्व से अनुगृहीत है। इसी आधार पर- वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता - अथो वागवेद सर्वम् इत्यादि निगम प्रचलित हैं।

* पूर्व में जिन तीन शुक्रों का निरूपण किया गया है व क्रमश वाक्-आप अग्नि -अग्नि -आप वाक् इस क्रम से उपर्य्युक्त पाचो मण्डलो म विभक्त हैं। वाक्तत्त्व वेदाग्नि है। यही सत्याग्नि साव

---

* इस विषयका विशद विवचन कठोपनिषद्विज्ञानभाष्य की अश्वत्थविद्या में देखना चाहिए।

याजुषाग्नि प्राणाग्नि ब्रह्माग्नि आदि विविध नामो से प्रसिद्ध है। अप त व ऋताग्नि है। यही सब्रह्माग्नि नाम से प्रसिद्ध है । अग्नित व देवाग्नि नाम से प्रसिद्ध ह । म यशुक्ररूप अ न मृ यु कहलाता ह। इसी आधार पर सूर्य को मृ यु कहा जाता है—(दाराए शत का ३।५६)। चा द्र अप्त व ऋताग्नि है। म य वाक्त व भूताग्नि ह। वदाग्निरूप वाक्शुक्र स्वय भ में प्रतिष्ठित ह। ऋताग्निरूप अपत व परमेष्ठी में प्रति ठत ह। देवाग्निरूप अमृतानिशुक्र एव मृ युरूप म य अ नशुक्र दानों सूर्य मे प्रतिष्ठित है। सूर्य से ऊपर अमृतशुक्र ही है एव– तस्माद्यत्किञ्चार्वाचीनमादित्यात् सव तन्म युनाप्तम् (१ का २।३) के अनुसार सूर्य से नीचे म य शुक्र ही है। कि तु म यस्थ सूर्य– निवेशयन्नमृत म यञ्च (यजु) के अनु–सार अमृतम यमेदभिन्न उभय शुक्रामक । सप्रकार आ मा पिण्ड देवता प्रकृति विकृति भूत भेद से स्वय भू आदि पाचो पृथक पृथक नामो से यवहृत होने लगते है। परिभाषा–ज्ञान के अन तर वे त त मार्ग लिए जितना सरल एव सुगम है बिना परिभाषाज्ञान के ब्राह्मणग्र थाक्त अनुगम निगम वचनो का यथावत सम वय कर लेना हमारे लिए उतना ही कठिन एव दुगम है। उदाहरण के लिए पूवप्रतिपादित अभिप्लव पृष्ठ वाक शुक्र ब्रह्मादि श दो को ही लीजिए । इसलिए ब्राह्मणग्र था में उप युक्त त वो के स ब ध में कसे कैसे विरुद्ध वचन निर्दिष्ट प्रतीत होरहे है—

अभिप्लव

१ चतुर्भिस्तोमै पृष्ठे, लघुभि सामभि स्वर्ग लोकमभ्यप्लव त। यदभ्यप्लव त–तस्मादभिप्लवा'। (श १२।२।१।१ ।

२ यद्व वैष षडह पुन पुनराभ लवो नाम (कौ ब्रा १।६)।

३– इम वै लोका अभि लवा (श १२।१।१)।

४–'श्रीर्वा अभिप्लवा' (का १।५)।

५– पशवो वा अभि लवा (२१ ५)।

पृष्ठम्

१ 'स्वर्गो लोक पृष्ठानि (ता ब्रा १६।१५।६)।

२–'एतानि खलु ा मामानि, यत् पृष्ठानि (त १।८।८।२)।

३– 'आत्मा वै पृष्ठानि (तां २२।६।४)।

४–''अन्न पशव पृष्ठानि (ता १८।१५।८)।

५–'वीर्य वै पृष्ठानि (ता ४।८।७)।

६–'श्रीर्वै पृष्ठानि (ए ब्रा ६।५)।

वाक्

१– वाग्व ब्रह्म (ए ब्रा ६।३)।

२ 'वाग् वा इन्द्र (का २।७।१३।५)।

३– 'वाग्वा चन्द्रमा (तै उ ३।१३।१२)।

४–' मा या सा वागग्नि स (तै उ १।२८।३)।

५–' वाग वै यज्ञ -यज्ञो वै विष्णु —

निदशनमात्र है। सभी पदार्थों में आपको यही परिस्थिति उपल ध होगी। प्रकृत में हमें वाक का विचार करना है। **स्वयम्भ की वाक् ब्रह्म है। सौरी वाक् इ द्र है। पार्थिवी वाक् अग्नि है। पारमेष्ठिनी वाक् विष्णु है। चा द्रमसी वाक् सोम है।** इसप्रकार स्थानभेद से सब बचनो का सम वय हो-जाता है। उपर्यु क्त सम्पूण विषय निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है।

	आ मापेक्षया	पिण्डापेक्षया	दवापेक्षया	प्रकृ यपेक्षया	विकृ यपेक्षया	भूतापेक्षया
१—	वाङ्मय	स्वय भू	ब्रह्मा	प्राणमय	वा मय	आकाश
२—	वाकप्राणमय	परमष्ठी	विष्णु	आपोमय	आपोमय	वायु
३—	वाक्प्राणम नोमय	सूर्य	इ द्र	वाङ्मय	अग्निमय	तेज
४—	प्राणवाङ मय	चन्द्रमा	सोम	अ नमय	आपोमय	जलम्
५—	वाङ्मयी	पृथिवी	अग्नि	अ नादमयी	वाङ मयी	पृथिवी

उक्त पाचो पिण्डो म मण्डल-सम्ब ध स दहरोत्तरभाव है। उत्तर उत्तर का मण्डलोपहित पिण्ड पूव पूव के मण्डल में प्रतिष्ठित है। साथ ही पूव पूव मण्डलस्थ प्राण उत्तरोत्तर के मण्डल में प्रतिष्ठित है यह पूव में कहा जाचुका है। इसस यह भी भलीभाात सिद्ध होजाता है कि **स्वयम्भू कवल प्राणमय है। परमेष्ठा प्राणमय आपोमय है। सूर्य प्राण-आप वाङ्मय है। च द्रमा प्राण आप वाक्-अन्न**

मय है। एव पृथिवी प्राण–आप –वाक्–अन्न अन्नादमयी है। शुक्रापेक्षया स्वयम्भ वाङ्मय है। परमेष्ठी वाङ्मय एव आपोमय है। सूर्य्य वाक्– अग्निमय है। सूर्य्यमहिमा म प्रतिष्ठिता पृथिवी मे भी वे ही तीन पृष्ठ है। पहिला सौराग्न से प्रवृक्त अग्निपृष्ठ है। दूसरा अप पृष्ठ है। तीसरा वाक्पृष्ठ है। दूसरे शब्दो में पृथिवीपिण्ड के चारों ओर प्रथम वह अग्नि अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाता है जोकि सूर्य्य से प्रवृक्त होकर अन्तर्य्याम–सम्बन्ध से पृथिवी की प्रातिस्विक वस्तु बनता हुआ इसीका ब्रह्मादन बन जाता है। इसीप्रकार पारमेष्ठ्य प्रवृक्त भाग इस पृथिवी का अप पृष्ठ है। एव तत्र भू का प्रवृक्तभाग वाक्पृष्ठ है। ये तीनो पृष्ठ क्रमश यज्ञपृष्ठ ब्रह्मपृष्ठ पारावतपृष्ठ नाम से प्रसिद्ध ह।

स्वयम्भू वाक् है परमेष्ठी आप है सूर्य्यगत प्राणाग्नि (अमृताग्नि) अग्नि है। ये तीनों अमृतशुक्र है। सूर्य्यगत मृत्युमय अग्निशुक्र है चन्द्रमा आप नाम का मर्त्यशुक्र है एव पृथिवी मर्त्यवाक् शुक्र है। इसप्रकार वागादि ६ओ शुक्र निम्नलिखित क्रम स प्राजापत्य संस्था में विभक्त है—

१—१—स्वयम्भू	वाक् शुक्रम्	अमृतानि शुक्राणि
२—२—परमेष्ठी	आप शुक्रम्	
३— { ३—अमृतसूर्य्य	अग्नि शुक्रम्	
३— { ४—मर्त्यसूर्य	अग्नि शुक्रम्	मर्त्यानि शुक्राणि
४—५—चन्द्रमा	आप शुक्रम्	
५—६—पृथिवी	वाक् शुक्रम्	

इस क्रम में पृथिवी सब के अन्त मे आती है। अत इस पृथिवी मे एव यच्चयावत् पार्थिव पदार्थों म उपर्युक्त ६ ओं शुक्रो का भाग होजाता है। सूर्य्य द्यौ है। पृथिवी पृथिवी है। द्यावापृथिवी का रयैत–नौधस के आदान विसर्ग के कारण परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव जो स्थिति पृथिवी की है वही स्थिति द्युरूप सौरजगत् की है। दूसरे शब्दो में–पृथिवी में जैसे वागादि ६ शुक्रो का भोग होता है एवमेव सूर्य्य में भी ६ ओ शुको का भाग होरहा है। विषय अतिदुरूह ह अत पुनरुक्ति की उपेक्षा क प्रकारान्तर स शुक्रतत्त्व का स्वरूप आप के सम्मुख उपस्थित किया जारहा है।

अग्निरहस्यविद्या के अनुसार तीन ही तत्त्व विज्ञेय है। व तीनो तत्त्व–आवपन अन्नाद अन्न इन नामो से व्यवहृत किए जाते है। एकत आधारभूमि को आयतन कहा जाता है एव सर्वत आधारभूमि को आवपन कहा जाता है। शय्या हमारा आयतन है। आदर्श (काच) हमार प्रतिबिम्ब का आयतन ह। आदर्शवत् प्रज्ञानमन इन्द्रिय के द्वारा आगत घट–पटादि विषयों का आयतन है। महानात्मा चिदात्मा का आयतन है इसी के लिए तद् ब्रह्मायतन महत् यह कहा जाता ह। मसीपात्र [दावात] स्याही का आयतन

है। व- पानी का आयतन है। ये सब अपने आधेयो के एकत आधार है। मन के उपरि भाग में विषयो का प्रातबिम्ब पडता है। अतएव मन के लिए **मनो वा आयतनम्** (विषयाणाम् (शत १४।६।२।५) यह कहा जाता है। जिसे लोकभाषा में **आगार** कहा जाता है वदभाषा में वही आधार **आयतन** नाम से व्यवहृत किया जाता है।

वसुवानकाश (डिब्बी) तदगत वस्तु का **आवपन** है। **स्तोम्यत्रिलोकी** नाम से प्रा त्रलोक्यामिका महांवदिरूपा **उख्या प्रथिवी (महिमा प्रथिवी)** चतुदशविध भूतसर्गों का **आवपन** है। इसी आधार पर— **अयं वै लोक आवपन महत्** [तै ब्रा ३।६।५५] यह कहा जाता है। वसुवानकोश तद्गत वस्तु का चारो ओर से आधार है। अतएव हम इसे अवश्य भी आवपन कह सकते है। प्रत्येक पदाथ को अ ने उदर में रख कर उसे सुरक्षित रखने वाला उस वस्तु का आकाश ह। अतएव सवत आधारभूत तत्तद्वस्तु के तत्तदाकाश को भी हम तत्तद्वस्तु का **आवपन** मान सकते है। **आकाशो वै नाम-रूपयोनि वहिता** [उपनिषत्] के अनुसार बहिमण्डलस्वरूप आकाश ही तत्तद वस्तु के नामरूप एव कम्म की प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर आवपनत व को **ख ब्रह्म (आकशब्रह्म)** कहा जाता है।

दूसरा है **अन्नादब्रह्म**। अग्नित व का ही नाम **अन्नाद** है जैसाकि पूव में बतलाया जाचुका है। यह अ नादत व ही मुख्य **आमा** ह। यही आवपन पर प्रतिष्ठित रहता ह। आवपन पर प्रतिष्ठित यह अन्नादाग्नि भू-भुव स्व भे स त्रिधा विभक्त रहता है। त्रिधा विभक्त य अग्नित व सुखसाधक बनता हुआ **क ब्रह्म** नाम से व्यवहृत होता है। तीसरा है **अन्नब्रह्म**। आपस्त व का ही नाम **अन्नब्रह्म** ह। इसीसे रममाण होता हुआ अग्नि क रूप में परिणत होता है अतएव इस अन्नब्रह्म को **र ब्रह्म** कहा जाता ह। **खब्रह्म** पर प्रतिष्ठित **क ब्रह्म** यदि **र ब्रह्म** से अनुगृहीत रहता है तो शान्ति है। इसी आधार पर **ख क रम्** तीनो की समष्टि **शब्रह्म** नाम से व्यवहृत की जाती है। **आवपनब्रह्म आकाश है। यही वाकशुक्र है। अन्नादब्रह्म अग्निशुक्र है। अन्नब्रह्म आप शुक्र है। वाक-आप अग्नि ही आवपन-अन्न अन्नाद है**। तीनो की समष्टि ही— **सवम्** है।

ध्यान रहे आकाश से प्रकृत के **शुन इन्द्र** ही अभिप्रत हैं न कि सांख्योक्त कल्पित शून्यप्रदेश। शून्यप्रदेश आकाश नही है अपितु **इन्द्रप्राण** आकाश है। इसीके लिए **शुन हुवेम मघवानमिन्द्रम्** यह कहा जाता ह। इसी सांख्ययुग की भ्रान्ति में पड कर इतर सम्प्रदायवा वालोने भी आकाश को त व मर्य्यादा से बहिष्कृत कर दिया है। व भी **आतश (तेज) वाद (वायु) आब (जल) खाक (प्रथिवी)** ये चार ही त व मुख्य मानते हैं। **फलक (आसमा-आकाश)** उनकी दृष्टि में त व नही है। यही भ्रान्ति त वविज्ञान का गव रखने वाले बीसवी सदी के वैज्ञानिकाने की है। कुछ भी हो। भारतीय वैज्ञानिको की दृष्टि में तो आवपनरूप आकाश अवश्य ही त व है। हमारा **पञ्चतत्त्ववाद** सुप्रसिद्ध है। आकाश ही आमरूप अन्नादब्रह्म का आमा है। इसी आधार पर आमा का — **मनोमय प्राणशरीरो भारूप -आकाशात्मा** यह लक्षण किया जाता है।

बतलाना प्रकृत में यही है कि इस वाक्‌तत्व का नाम ही **आकाश** है। यही आवपन है। यह तत्व स्वयम्भू में प्रतिष्ठित ह। परमेष्ठी आपोमय है। इश्वरीय–लीला बडी विचित्र । यह पुत्रो पत्ति से पहिले अन्नादब्रह्मरूप पुत्र के लिए अन्नरूप दुग्ध [माता के स्तनो में] उत्पन्न कर देता ह। पहिले अन्न ह फिर अन्नाद है। सौराग्नि पीछे उत्पन्न होता है। किन्तु तदन्नभूत अन्नरूप पारमेष्ठय सोम उससे पहिले भी उत्पन्न होजाता ह। अग्नित व उभयत अन्नरूप अन्न से परिगृहीत ह।

मध्यस्थ अग्नि **अग्नि–वायु आदित्य** भेद से त्रिधा विभक्त । तीनो अग्नियो के उस ओर पारमेष्ठय आप है इस ओर चान्द्र आप ह। चन्द्रमा के इस ओर आवपनरूप वाङ्मय पृथिवीपिण्ड है जैसाकि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है—

अधिदैवतम्—

१—वाक्		स्वयम्भू	परमाकाश
२—आप		परमेष्ठी	अन्नब्रह्म
स्व	सूर्य्य		
३—भुव	वायु	सूर्य्य	अन्नादब्रह्म
भू	अग्नि		
४—आप		चन्द्रमा	अन्नब्रह्म
५. वाक		पृथिवी	पुराणाकाश

दोनो ओर अन्नरूप सोम है। चान्द्रसोम **भास्वरसोम** ह। यही ईश्वरप्रजापति का मन है। तत्प्रतिष्ठ अग्नि उसकी वागिन्द्रिय है। वायु प्राणेन्द्रिय है। सूर्य्य चक्षु ह। पारमेष्ठ्याप [दिक्सोम] श्रोत्र है। यही अवस्था अध्यात्म में समझनी चाहिए।

हृदय में चन्द्रमारूप मन ह। **मुख–नासिका–चक्षु** तीनो क्रमश वाक् प्राण चक्षु–रूप **अग्नि वायु सूर्य्य है**। श्रोत्रेन्द्रिय पारमेष्ठय सोम है। शिरोगुहा स्वायम्भुव परमाकाश है। बस्तिगुहा पार्थिव पुराणाकाश है। जैसी स्थिति वहा ह ठीक वही स्थिति यहा है। **पूर्णमद पूर्णमिदम् यदेवेह तदमुत्र** सिद्धान्त सर्वात्मना अन्वर्थ प्रमाणित होरहा है।

अ यात्मम्—

शिरोगुहा——परमाकाश स्वयम्भू वाक्—

श्रोत्रे———— अन्न ब्रह्म परमेष्ठा आप ४

चक्षुषी–सूय्य प्राण –वायु वाक अग्नि	अन्ना ब्रह्म	सूय्य	अग्नि

मन —— —अ नब्रह्म च द्रमा आप – ४

बास्तगुहा— —पुराणाकाश पृथिवी वाक— ५

हमने कहा था कि प्रकृत में हमारा स ब ध प्रथिवी और सूय्य से है। अत इन्ही दोनो की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है। इन दोनो म भी प्रथम पृथिवी को ही लक्ष्य बनाया जाता है। पृथिवी सर्वा त में है। इसके भू प्रथिवी ये दो भेद है। जिस पृथवीपिण्ड पर हम सब प्रतिष्ठित हैं वही भू है एव वषट्कारमण्डलावच्छिन्ना महिमा पृथिवी प्रथिवा है। भू मत्यरूपिणा है प्रथिवी अमृतरूपिणी है। वाक् आप अग्निरूप अमृतशुक्र से महिमारय पृथिवी का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। भूपिण्ड पर पहिला स्तर अग्नि का है। यह अ नि घन तरल–विरल भेद से त्रधा विभक्त होता हुआ पूर्वोक्त त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश स्तोमो म क्रमश प्रतिष्ठित है। त्रिवृत्स्ताम इस पृथिवीलोक का प्रथिवीलोक है इसके अतिष्ठाता (अधि ठाता) अग्निदेवता है। पञ्चदशस्ताम स पृथिवी का अन्तरिक्षलोक है इसके अतिष्ठाता वायुदेवता है। एक विंशस्तोम इस पृथिवी का द्यु लोक है। सके अतिष्टाता इन्द्रापरय्यायक आदि यदेवता हैं। इसप्रकार स्तोमात्मिका इस महिमा–पृथिवी मे स्तोमभेद से तीन लोक होजाते है। स्तोमसम्ब ध स ही यह त्रलोक्य स्तोम्यत्रिलोकी नाम से प्रसिद्ध है। महिमामयी होने से यह मही नाम से भी प्रसिद्ध है (देखिए तै ब्रा २।८।६।८)। इसी त्रलोक्यात्मिका पृथिवी को लक्ष्य में रखकर– तिस्रो वा इमा प्रथि य इयमहैका द्वे अस्या परे (शत ५।१।५।२१) यह कहा जाता है।

अग्नि में सोमाहुति का होना ही यज्ञ है। पृथिवीपृष्ठ से २१ एकविंशस्तोम पय्य त या त इस अग्नि में पारमेष्ठ्य सोम निर तर आहुत होता रहता है। अतएव इस अग्निपृष्ठ को हम अवश्य ही यज्ञपृष्ठ कह सकते हैं। अग्नि येष्ठ आठ वसु वायु येष्ठ ११ रुद्र इन्द्र यष्ठ १२ आदि य सा यगत दो अश्विनीप्राण (नास य–द दस्र) इस प्रकार ३३ आग्नेय सोमपा देवता (१ प्रयाज ११ अनुयाज ११ अनुयाज भेद से ३३ असोमपा किन्तु आज्यपा देवताओं से युक्त) इसयज्ञमण्डल म प्रतिष्ठित होते हुए यज्ञिय नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्ही याज्ञय देवताओ को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

**'इति स्तुतासो असथा रिषादशो ये स्थ त्रयश्च त्रिशच्च ।
मनार्देवा यज्ञियाम ' ॥**

—यजु सहिता

एकविश स्तोम प य त ही यह अग्नि नही जाता अपितु २१ से ऊपर पर्य्यन्त (२२ पर्य्यन्त) जाता है । २१ का तरण कर जाता है । अतएव इस यज्ञा मक आग्नेयस्तोम को **रथन्तरसाम** कहा जाता है एव रथन्तर के स ब ध से ही यह अग्नि **रथन्तर** नाम से भी प्रसिद्ध है ।

एकविशो वै स्वर्गो लोक (शत १ ।५।४।६) **एकविशो वा इत स्वर्गोलोक** (त ब्रा ३।१२ ५।७) **एकविशो वा एष य एष (सूर्य्य) तपति** (कौ २५।१) इत्यादि निगमवचनो के अनुसार सूर्य्य पृथिवी के २१ व अहगण पर प्रतिष्ठित है । एव **स्वरहर्देवा सूर्य्य** (श १।१।१।५) के अनुसार सू य ही स्वर्लोक है । यह सूर्य्य **असा वा आदित्य एष रथ** (श ६।४।१।१५) के अनुसार **रथ** नाम से प्रसिद्ध है । **रथ का अर्थ है रस** । **असौ वा आदित्यो देवमधु** (छा उ) के अनुसार सूर्य्य **मधुरस** है । **त वा एत (सूर्य्यं) रस सन्त रथ इत्याचक्षते** गो ब्रा पू २।२१) के अनुसार रस के सम्बन्ध से ही सूर्य्य परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षमीमांसानुसार **रथ** नाम से व्यवहृत हुआ है । पार्थिवाग्नि इस सूर्य्यरूप रथ का भी क्योकि तरण कर जाता है । अतएव इस आग्नेय स्तोम को **रथन्तरसाम** कहा जाता है । अपिच पृथिवी पिण्ड स निकलने वाला यह अग्नि भी रस है । यही **आग्नरस** दधि घृत मधु रूप में परिणत होता हुआ **अग्नि वायु आदित्य** नाम से व्यवहृत होता है । **दधि हैवास्य लोकस्य रूपम् घृतमन्तरिक्षस्य मध्वमुष्य** (श कौं कुम्भचितिब्राह्मण) के अनुसार वही अग्नि रसरूप में परिणत होरहा है । अग्नि की इसी रसावस्था का निरूपण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

'आपो वा अर्क । तद्यदपा शर आसीत्–तत् समहयत । सा पृथिव्यभवत् । तस्यामश्राम्यत । तस्य श्रा तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्त्तताग्नि । स त्रेधा मान व्य कुरुत–आदित्य तृतीयम् वायु तृतीयम् । स एष प्राणस्त्रेधा विहित '

—शत १ ।६।५ २ ३

अग्नि रस है वायु रसतर है एव म यमय आदित्याग्नि रसतम है । दूसरे श दों में अग्नि में **रसमात्रा** साधारण है । वायु मे उससे अधिक है एव आदि यभाग रसतम होता हुआ **रसतम है** । इसीलिए आदित्यरूप आ नरसतमा मक आ तम साम— **रसतम ह वै तद्रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्** (शत ६।१।२।६६) के अनुसार **रथन्तर** नामसे व्यवहृत हुआ है । यह है अमृताग्निस्वरूप प्रथम पृष्ठका पहिला स्वरूप । यह पृष्ठ लोहित है । इसी में ससवर्ण का अन्तर्भाव है । अतएव **इसे पृष्णि** भी कहा जाता है ।

दूसरा **अपपृष्ठ** है । २ से ३ प यत अपपृष्ठ है । यही **अर्णवसमुद्र** कहलाता है । यह भी पृथिवी की ही व तु है । कारण–वाकपृष्ठ पर्य्य त पृथिवी की सत्ता मानी जाती है । इसी अपपृष्ठ के सम्बन्ध से

पृथिवी का **सागराम्बरा** कहा जाता है। यह अपत व सवथा कृष्ण है। इसी अप्रत व म गोत व प्रतिष्ठित रहता है। सामत व की (*) प्रतिष्ठा यनी आपोमयी गो है। इसी आधार पर **स हैष सोमोऽजस्रो यद् गो** (यजु स १३-३३) (श ।५।२।२६) यह कहा जाता है। सा आपोमय अतएव विष्णु-दवतामय गातत्त्वका निरूपण करती हुइ यजु श्रुति कहती है।

या ते धामा युष्मसि गमध्य गत्र गावो भूरिशृङ्गा अयाम ।
अत्राह तदुरु गायस्व विष्णो परम पदमव भारि भूरि ॥

—यजु सहिता ६।३।

यह गोत व **विराजा वा एतदरूप यदगो** (ता ब्रा ४६।३) के अनुसार **विराट् है**। विरा के सम्बध से ही यह अपपृष्ठा मक आपोमय पार्थिवसाम **वरूप** नाम स प्रासद्ध है। रथ तराग्नि की दूसरी अवस्था यही **वैरूपसाम** है इसी आभप्राय से— **यद्वै रथ तर तद्वरूपम्** (ऐ ब्रा २।१३) यह कहा जाता है। अपपृष्ठ घोर कृष्ण है।

तीसरा है **वाकपृष्ठ**। यही सर्वान्त का **वेदपृष्ठ** है। यही **ब्रह्मपृष्ठ** है। यहा पार्थिव प्रजापति की सृष्टि विश्रा त है। प्रजाप त इसी वाकपृष्ठ पर पार्थिव-सृष्टि को सर्वा मना सम्पन्न करने में समथ हाते हैं। इसी ममाप्ति सूचक भाव का प्रधान मानते हुए ऋषियोन इस अ तम सामको— **शक्करी** नाम स व्यवहृत किया है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर— **यदिमाल्लोकान् प्रजापति सृष्टवेद सवमशक्नोद्यदिद किञ्च। त च्छकर्योऽभवस्त च्छकरीणा शकरीत्त्वम्** (ऐ ५।) यह कहा है। यह वेदपृष्ठ ज्ञान ज्योतिर्मय बनता हुआ सवथा शुक्ल है। इसप्रकार **लोहित-कृष्ण-शुक्ल**-वर्णात्मक **रथन्तर वैरूप शाक्कर**-सामा-मक-**अग्नि आप-वाक्**-रूप **अमृतशुक्रा मक** यह महामण्डल **पृथिवी** नाम से प्रसिद्ध हो-रहा है।

यह तो हुआ अमृतशुक्रो का दिग्दशन। अब म य शुक्रा मक भूपिण्ड पर भी दृष्टिनिक्षेप कर लीजिए। हमने कहा है कि भूपिण्ड के उपादान म य **वाक आप-अग्नि** हैं अग्नि पहिला स्तर है। **य च-किञ्चिद्दार्ष्टिविषयकमग्निकर्म्मैव तत् सवम** (या नि) के अनुसार दृश्यभाग अग्नि है। इस हमने **प्रश्नि** कहा है प्र येक वस्तुपिण्ड मे सातो रूपो म स कोइ न कोइ रूप अवश्य रहता है। यही पहिला **अग्निस्तर** है। किसी भी पिण्ड को आप जला दीजिए। जलने के अन तर सबका परिणाम **कृष्ण** ही होगा। पाहले अग्निस्तर के उत्क्रान्त होने पर दूमरा यही **कृष्णस्तर** निकलता है। यही कृष्णवर्णा मक दूमरा अपपृष्ठ है। यदि फिर उस वस्तु के साथ अधिक अग्निसयोग कराया जाता है तो य कृष्णवर्णा मक अप् तर भी उ क्रान्त होजाता है एव तीसरा शुक्लस्तर निकल आता है। यही **भस्मावस्था है**। यही उस पदाथ की **भूति (विभूति)** है। यही **वेदपृष्ठ** है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु के पिण्डभाग मे उपर्युक्त (तीन)

(*) गोलोकवासी आपोमय विष्णु ही गोसञ्चारण करते हैं। तदशभूत कृष्णने गोचारणवृत्ति को क्यो अङ्गीकार किया ? इस प्रश्न का भी यही समाधान है। इस विषय का विषद विवचन गीताविज्ञान-भा या तगत आचाय्यरहस्य के **परोमेष्ठीकृष्णरहस्य** नामक प्रकरण म दखना चाहिए।

म यपृष्ठ ह महिमामण्डल में उप-युक्त तीना अमृतपृष्ठ हैं। यो स पूण प्रपञ्च षाटकौशिक ही प्रमाणित हा-रहा है।

—वाक्—शाक्करसाम—४८ प य त—पारावतपृष्ठम्
२—आप —वैरूपसाम—३३ पर्यन्त—अप्पृष्ठम् } मही माहमा
३—अग्नि—रथन्तरसाम २ पर्यन्त—यज्ञपृष्ठम्

—अग्नि – श्यभाग
२—आप—अन्त स्तर } भू–पिण्ड
३—वाक—सर्वान्तरतम स्तर

पार्थिव सस्था—

शाक्करसाम——वाक् ४८——पारावतपृ ठम
वैरूपसाम——आप ३३——अपपृ ठम् } मही
रथन्तरसाम— अग्नि २१——यज्ञपृष्ठम्

अग्नि
आप २ } भू
वाक ३

यही स्थिति सौरमण्डल की समझिए। सूर्यपिण्ड के ऊपर पहिला पृष्ठ सावित्राग्नि का है। दूसरा आप्पृष्ठ है। तीसरा वाकपृष्ठ है। विश्व में ज्योतिमान् पदार्थ स्व-पर रूप भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। जिन्ह अ य से प्रकाश लने की आवश्यकता नही है अपितु जो अपनी ज्याति से अपने आप प्रकाशित हैं व सब स्व ज्योतिर्मय पदा र्थ हैं। इनका साकेतिक नाम सूर्य्य है। आप जिसे सूर्य्य कहते हैं वही सूर्य नहीं है अपि तु स्व ज्याति र्मय स्वातीनक्षत्र पशुपति नीलकण्ठ आदि नामों से प्रसिद्ध लुब्धक नामक नक्षत्र चित्रा आदि सब सूर्य्य है। अतएव स्वाती को सविता कहा जाता है। जो पिण्ड सोरज्योति से प्रकाशित हैं व सब चन्द्रमा नाम स प्रसिद्ध है। मङ्गलग्रह के उपग्रह दो चन्द्रमा हैं। बृहस्पति के चा है। शनि मे आठ हैं। पृथिवी म एक है। एव जो दूसरों को प्रकाशित करने में असमर्थ होते हुए केवल अपने स्वरूप का ही अभिव्यक्त करने में समर्थ है व सब रूप ज्योतिर्मय पदा र्थ है। उन्ह संकेत-भाषानुसा प्रथिवी कहा जाता है। अनन्त सूर्य्य है अनन्त चन्द्रमा हैं एवं अनन्त ही पृथिवियाँ हैं। रूप ज्योति मयी पृथिवी के साम की अपेक्षा पर ज्योतिर्मय चन्द्रमा का साम अधिक बड़ा होता है एव

चन्द्रमा की अपेक्षा स्वज्योतिम्मय सूर्य्य का साम और भी अधिक बृहत् होता है। इसी विज्ञान के आधार पर सौर साम को बृहत्साम कहा जाता है। जसे पृथिवी के साम को सूर्य्यरथ के स ब ध से एव रसके सम्ब ध से रथ तर कहा जाता है चान्द्रसाम राजा सोम के सम्ब ध से राजन् नाम से यवहृत होता है एवमेव स्व योतिम्मय सौरसाम बृहत् (बडा) होने से बृहत्साम नाम से प्रसिद्ध है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में र नकर बृहत्साम का यद्ध्रस्व त थन्तर-यद्दीघ तद् बृहत् यह लक्षण किया जाता है (देखिए कौ ब्रा ३।५)।

अपि च—सूर्य्य बृहतीछन्द पर प्रतिष्ठित है। खगोल गाल है। पिण्ड के म य का पूर्वापरवृत्त दक्षिणोत्तर पाश्वस्थ इतर वृत्तो की अपेक्षा बृहत् (बडा) होता है। अतएव विष्वद्वृत्त नाम से प्रसिद्ध इस मध्य के पूर्वापरवृत्त को बृहतीछ न्द कहा जाता है। सूर्य्य सदा सी पर प्रतिष्ठित है। पृथिवी इसके चारो ओर घ ती है। पृथिवी के परिभ्रमण से सूर्य्य का उ यास्तभाव प्रतीत होता है। वस्तुत वैदिक विज्ञान के अनुसार सूर्य रोदसीत्रिलोकी की अपेक्षा सवथा स्थिर है। सूर्य्य क सी स्थिरभाव को लक्ष्य में रखकर निम्न लिखित श्रौत स्मात्त वचन हमारे मम्मुख उपस्थित होते हैं—

'स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति। त यदस्तमेतीति मन्य ते अह्न ए तद तमित्वाऽथा मा विपर्यस्यते। रात्रिमेवावस्तात् कुरुते-अह परस्तात्। अथ यदे प्रातरुदेतीति मन्य ते-रात्रिरेव तद तमित्वाऽथात्मान विपर्यस्यते। अहरेवावस्तात , रात्रिं परस्तात्। स वा एष न कदाचन निम्लोचति।

—ए ब्रा ३।४४ इति

स वा एष न कदाचनास्तमयति, नोदयति। तद्यदेन पश्चादस्तमयतीति म य ते-अह्न एव तदन्त गत्वाथात्मान विपर्यस्यते। अहरेवाधस्तात कृणुते, रात्रि परस्तात।

—गो ब्रा उ० ४।१।

नैवोदेता, नास्तमेता, एकल एव मध्ये स्थाता (छा उ०)।

बृह या वा असावादित्य सूर्य्य श्रिया प्रतिष्ठाया प्रतिष्ठितस्तपति।

—गो ब्रा उ ५।७।

'सूर्यो बहती मध्ययूढस्तपति'।

नैवास्तमनमर्कस्य नोदय सर्वदा सत।
उदयास्तम । चैव दर्शनादर्श । रवे ॥

—विष्णुपुराणे

पूर्वोक्त बृहतीछ द पर ही सूर्य्य प्रतिष्ठित है। यही इतर छन्दो का मूलाधार है जैसाकि पूवप्रकरणों में विस्तार के साथ बतलाया जाचुका है। इस बृहतीछन्द के सम्ब ध से भी सौरसाम्म का बृहतीसाम कहा जाता है। पाठको को यह यान में रखना चाहिए कि जब रूप योतिम्मयी पृथिवी का रथ तरसाम ही सूर्य्य से

ऊपर २२ व अहगण प य त चला जाता ह तो स्वज्योति मय सौर बृहत्साम कहातक जायगा। सूर्य्य का २ वा अ गण बडी दूर पय्य त जायगा। यदवधि–पर्य्यं त सू य का २१ वा अ गण है तदवधि प य त ही सो अ नि याप्त है। त पय्य त ही बृहत्साम है। अग्निपृष्ठ के अन तर दूसरा **अप् पृष्ठ है**। यहाँ गोत म उ पन्न होता है जेसाकि पार्थिवसामानरूपण में बतलाया जाचुका है। इसी के सम्ब ध से यह **वैराजसाम** कहलाता है। तीसरा **वाक्पृष्ठ** है। यही **रैवतसाम** नाम स प्रसि है। ये तीनो **अमृतपृष्ठ** है। एव स्वय सूर्य्यपिण्ड म यपृष्ठत्रया मक है। **वाग्वै रेवती** (शत ३।८। ।२४) के अनुमा सार वाक्पृ ठ रवती है। इसीके सम्ब ध स यह अ तिम पृष्ठ **रैवतसाम** नाम स प्रसिद्ध होता है। इसप्रकार प्रथिवीवत् स य म भी **वाग–आप –अग्नि** आदि ६ ओ शुक्रों का भाग सिद्ध होजाता है।

सृष्टिविद्या के **दृष्टिमूलक स्थितिमूलक सृष्टिमूलक** नामक तीन विवक्ता के भेद स ही विश्वपर्वों के स्थिर चर–भावो का समन्वय हुआ है वदशास्त्र में। दृष्टिमूला सृष्टिविद्या के अनुसार पृ थवी स्थिर है सू य चर है जैसाकि— **रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन्** (यजु) से स्पष्ट है। कि तु स्थितिमूला सृष्टिविद्या के अनुसार पृथिवी चला है और सूर्य्य स्थिर है जसाकि— **नैवोदेता** इ याद स स्पष्ट है। एव सृष्टि–मूला सृष्टिविद्या के अनुसार केवल स य स्वय भू को छोडकर सभी चल है परिभ्रममाण हैं जसाकि अ य ग्रन्थो में विस्तार स प्रतिपादित है।

सौरसस्था—

रैवतसाम——वाक् ४८——पारावतपृष्ठम्
वैराजसाम——आप ३३——अपपृष्ठम् }—**महिमा**
बृहत्साम——अग्नि २१—— यज्ञपृष्ठम्

अ नि
आप – }—पिण्ड
वाक्–

१–वाक—रैवतसाम—४८–पय्य त पारावतपृष्ठम्
२–आप –वैराजसाम– ३३–पय्य त–अपपृष्ठम् }— **महिमा**
३–अग्नि बहत्साम–२१–पय्यन्त–यज्ञपृष्ठम्

१–अ नि –दृश्यभाग
२–आप –अ तस्तर }— पिण्ड
३ वाक—सर्वान्तरतम स्तर

प्रसङ्गागत यह और समझलेना चाहिए कि पूर्व में जिन पार्थिव एवं सौर सामों का दिग्दर्शन कराया गया है उनका परस्पर **अतिमान** होता है । दूसरे शब्दों में ६ ओं सामों का (**रथन्तर-वैरूप-शाक्वर बृहत्-वैराज-रैवत सामों** का) परस्पर **अतिमानसम्बन्ध** है । रथन्तर वैरूप शाक्वर तीनों एक ही रथन्तर के रूप है । एवमेव बृहद्-वैराज-रैवत तीनों एक ही बृहत् के विवर्त है जैसाकि श्रुति करती है—

यद्वै रथन्तरं तद् वैरूपम् यद् बृहत् तद्वैराजम् । यद्रथन्तरं-तच्छाक्वरम् यद्-बृहत् तद्रैवतम्' ।

—ऐ० ब्रा०७७ अ०

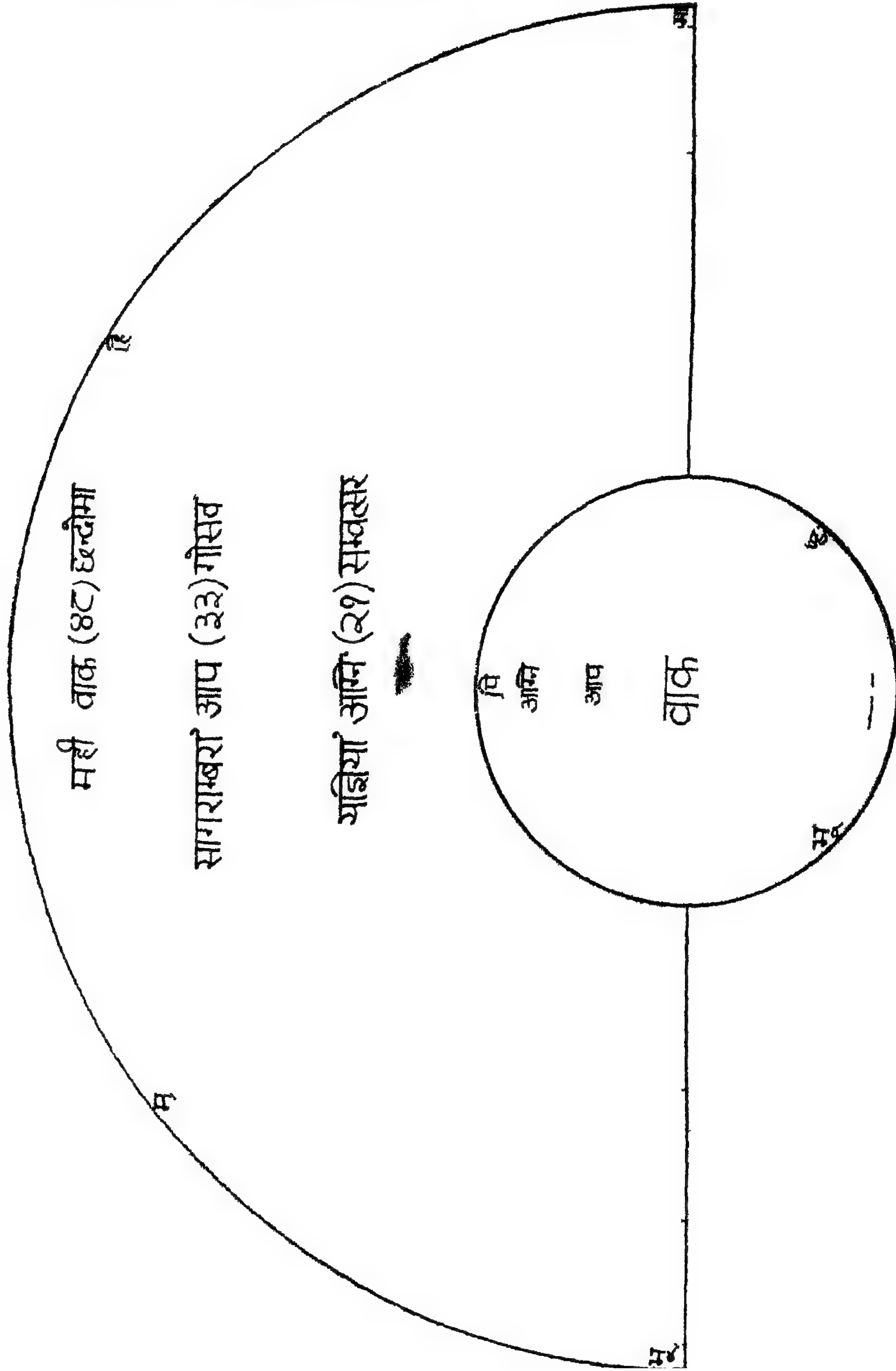
इनमें **बृहद्रथन्तर** का अतिमान है । रथन्तर बृहत् के गर्भ में निविष्ट है । **वैरूप** और **बृहत्** का अतिमान है । वैरूपसाम के गर्भ में बृहत्साम निविष्ट है । **वैराज** और **वैरूप** का अतिमान है । वैराज के गर्भ में वैरूप है । एवं **शाक्वर** और **रैवत** का अतिमान है । अर्थात् रैवत के गर्भ में शाक्वरसाम अवस्थित है । इसी अतिमानसम्बन्ध का निरूपण करती हुई ऐतरेयश्रुति कहती है—

द्वा वा इदमग्रे रथन्तरं चास्ताम् । वाक् च वै तन्मनश्चास्ताम् । वाग्वै रथन्तरम्-मनो बृहत् । तद्बृहत्पूर्वं ससृजानं रथन्तरमत्यमन्यत । तद् रथन्तरं गर्भमधत्त । तद्वैरूपमसृजत । ते द्वे भूत्वा रथन्तरं च वैरूपं च बृहदत्यमन्येताम् । तद् बृहद्गर्भ-मधत्त । तच्छाक्वरमसृजत । तानि त्रीणि भूत्वा रथन्तरं च वैरूपं च शाक्वरं च बृहच्च, वैराजं चात्यमन्येताम् । तद्बृहन्‌गर्भमधत्त । तद्रैवतमसृजत । तानि षट् पृष्ठा-न्यासन्" ।

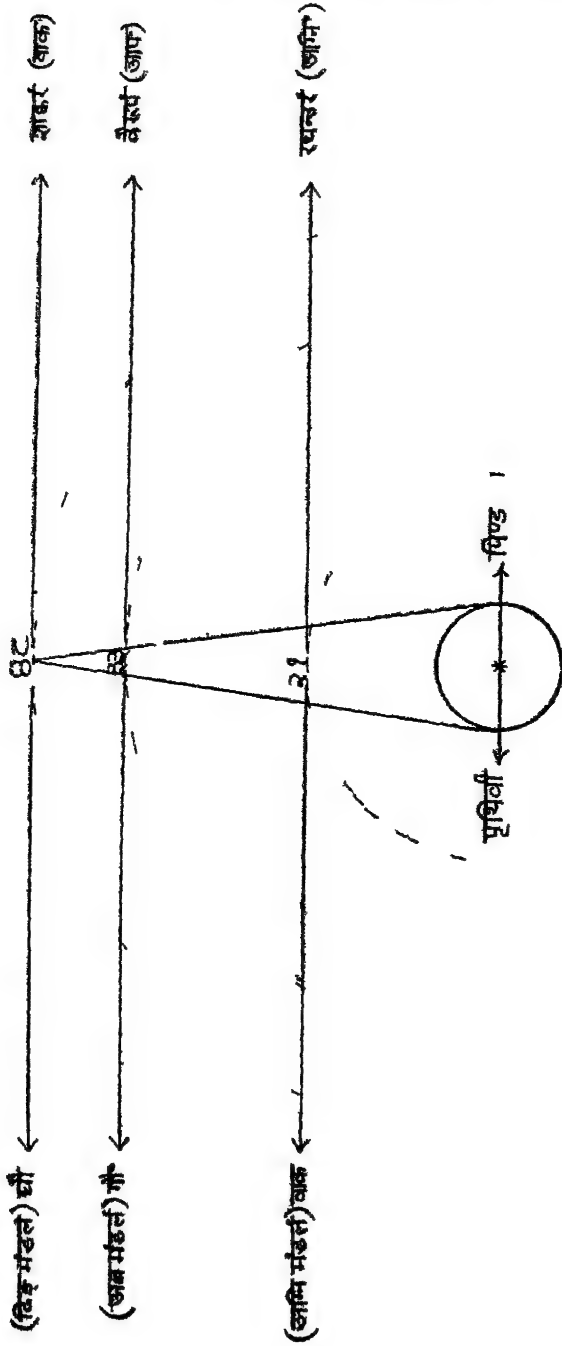
—ऐ० ब्रा० १६ अ०

इसी अतिमानसम्बन्ध से द्यावापृथिवीरूप सूर्य्य एवं पृथिवी का मिथुन होरहा है । इसी मिथुन से रोदसीत्रैलोक्य के संपूर्ण पदार्थ उत्पन्न होते हैं । आगे के रेखाचित्रों से षड्विध शुक्रों का एवं षड्विध ही सौर पार्थिव सामों का अतिमानसम्बन्ध सर्वात्मना स्पष्ट हो जाता है ।

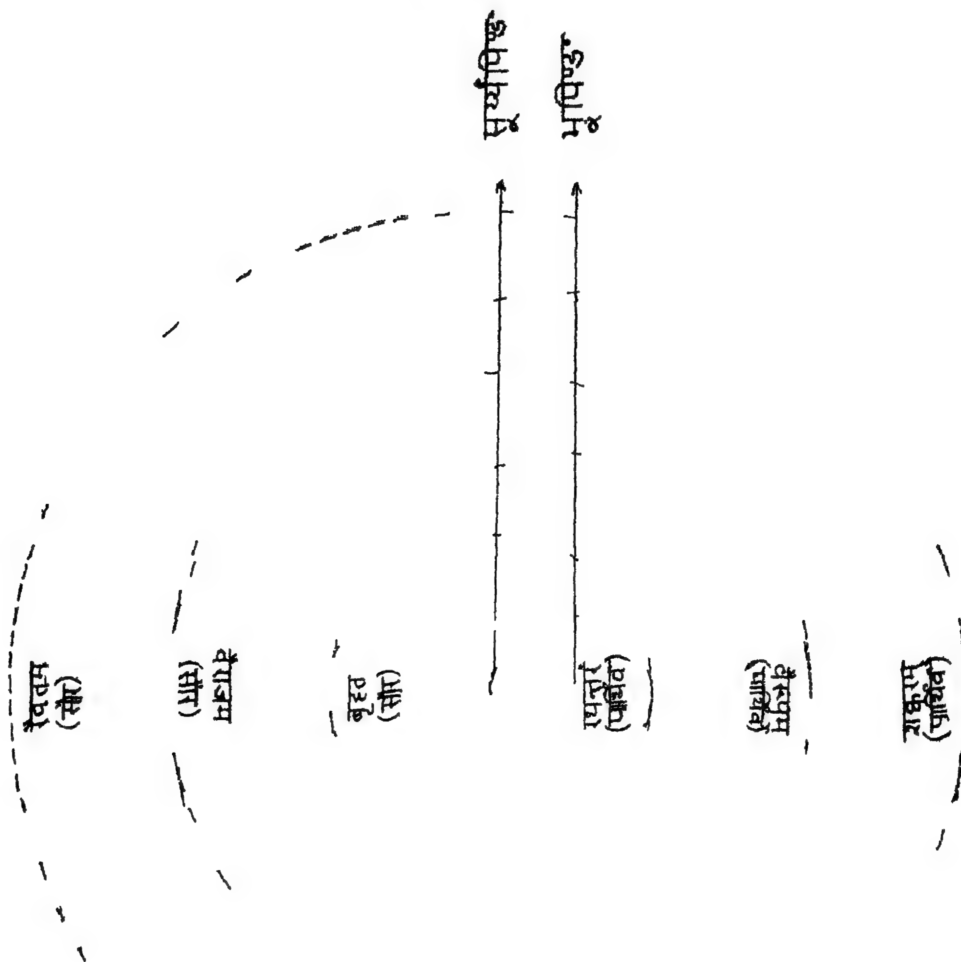
(१)–वागापोऽग्नि –शुक्रत्रयवितानपरिलेख —



(२) पार्थिवसम्वत्सरचक्रानुगत -सामत्रयी-परिलेख —



(३) -सौरपार्थिव सामातिमानपरिलेख —



स्तोम का स्वरूप बतलाते हुए पूर्व में हमने युग्म-अयुग्म भेद से स्तोमों को दो भागों में विभक्त बतलाया है। इन में त्रिवृदादि पूर्वोक्त षट्स्तोम अयुग्मस्तोम हैं। एवं ४८ पर्यन्त व्याप्त स्तोम युग्मस्तोम हैं। अयुग्मस्तोमों का स्वरूप जैसे ३३ अहर्गणों से सम्पन्न होता है एवमेव युग्मस्तोमों का स्वरूप छन्द से सम्पन्न होता है। पृथिवी के वाक् गो-द्यौ तीन मनोता हैं। वाक् अग्नि है। गौ इन्द्र (मरुत्वानिन्द्र) है। द्यौ आदित्य है। तीनों क्रमशः गायत्री त्रिष्टुप् जगती छन्दों से छन्दित है। अष्टाक्षरा गायत्री त्रिपात् सम्बन्ध से चतुर्विंशत्यक्षरा है। एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् चतुश्चत्वारिंशदक्षरा (४४) है। एवं द्वादशाक्षरा जगती अष्टचत्वारिंशदक्षरा (४८) है। इसप्रकार २४ ४४ ४८ भेद से पृथिवीपृष्ठ से प्रारम्भ कर वरुणपृष्ठ पर्यन्त तीन युग्मस्तोम व्याप्त है। छन्द सम्बन्ध से ही इन्हें छन्दोमास्तोम कहा जाता है। इन का अहर्गणात्मक स्तोमों से सम्बन्ध नहीं है अपितु छन्दोऽक्षरों से सम्बन्ध है। अतएव छन्दोमास्तोम के निम्नलिखित लक्षण किए जाते हैं—

'अस्तोमा वा एते यच्छन्दोमाः' (तां ब्रा ३।६।३)

'तद्यच्छन्दोभिर्मितास्तस्माच्छन्दोमाः' । (कौ ब्रा २६।७)

किं छन्दसश्छन्दोमा इत्यत छन्दसो यदेता अक्षरपङ्क्तय इति ब्रूयात् (तां ब्रा १४।११।५) यादि

सूर्यमण्डल के ऊपर आपोमय परमेष्ठीमण्डल है। यह सौर रैवतसाम के सम्बन्ध से रेवती नाम से प्रसिद्ध है। पानी में रहने वाला जो रस भाग है वही रेवती है। रसरूप रेवती के सम्बन्ध से ही पारमेष्ठ्य आप रेवती नाम से प्रसिद्ध होजाता है। यह रेवती आप जागत ओषधियों से सश्लिष्ट रहता है। ओषधि नाम से प्रसिद्ध सोम यहां (परमेष्ठी में) प्रतिष्ठित है। दस प्रकार के सामों में से अन्यतम साम ही ओषधि नाम से प्रसिद्ध है। चित्रं देवानामुदगात् (यजु) के अनुसार देवप्राण का विकास सूर्य में होता है। पारमेष्ठ्य ओषधिसोम सौर देवताओं की अपेक्षा प्रथमज है। अतएव इस के लिए श्रुति कहती है—

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ।

—अथर्व

पारमेष्ठ्यलोक इसी सौम्यप्राण के सम्बन्ध से पितृलोक कहलाता है। यही ओषधितत्त्व है। इसी अभिप्राय से- **ओषधिलोको वै पितरः** (शत १३।८।१।२) यह कहा जाता है। जिस भौतिकभाग में यह ओषधिसोम प्रतिष्ठित होजाता है वह भी ओषधि नाम से ही व्यवहृत होता है। ४८ स्तोमावच्छिन्न पारावत पृष्ठ जगतीछन्द से छन्दित है यह अनुपद में ही बतलाया जाचुका है। इसी स्थान पर पारमेष्ठ्य ओषधि सोम प्रतिष्ठित है। जगती के सम्बन्ध से ही इस ओषधितत्त्व को जगत्य कहा है। प्रकृति में दोनों का नित्य सम्बन्ध है। उसी सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए- **स रेवतीजगतीभिः** इत्यादि कहा गया है ॥ ॥

यज्ञ का एकमात्र फल है-ऐहलौकिक अभ्युदयभोगपूर्वक स्वर्गप्राप्ति। इस स्वर्गप्राप्ति का एकमात्र साधन है **दैवात्मा**। यज्ञ के द्वारा नवीन दैवात्मा उत्पन्न किया जाता है। **ऋक् यजु साम से** निष्पन्न

होने वाले हौत्र-आध्वयव-औद्गात्र-कर्म्म से कृतरूप त्रयीमूर्त्ति यज्ञकर्त्ता यजमान के **मानुषात्मा** (**कर्म्मात्मा भोक्तात्मा**) से नित्य सम्बद्ध रहता हुआ वह **यज्ञिय दैवात्मा** सप्तदश स्थान में प्रतिष्ठित होजाता है। स्थूलशरीर-विमोकानन्तर इसी आकर्षण से नित्य आकर्षित यजमान का **मानुषात्मा** सप्तदश स्वर्गस्थान में (जोकि स्वर्गस्थान **त्रिणाचिकेत** नामसे प्रसिद्ध है) प्रतिष्ठित होजाता है। जबतक यज्ञातिशय रहता है तबतक यजमान का **कर्म्मात्मा** स्वर्ग में प्रतिष्ठित रहता है। यज्ञातिशय के भुक्त होजाने पर पुनः वह आत्मा **क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति** इस आप्त सिद्धान्त के अनुसार मर्त्यभाव को प्राप्त होजाता है। आज यह यजमान उसी दिव्यलोक की प्राप्ति के लिए यज्ञ कर रहा है। तदर्थ इसे यज्ञात्मा उत्पन्न करना है। तदर्थ पुरोडाश सम्पन्न किया जाता है। **पुरोडाश ही यज्ञात्मा का उपादान है**। परन्तु जबतक इसके साथ पानी का सम्बन्ध नहीं करा दिया जाता तबतक यह पिष्टद्रव्य कथमपि देवात्मा का जनक नहीं बन सकता। प्रजननधर्म एकमात्र पानी में ही है। अपतत्त्व के **जाया-धारा-आप** ये तीन प्रधान गुण हैं। वस्तु उत्पन्न करना इसी पानी का काम है। भाव गुण नामसे प्रसिद्ध मानसीसृष्टि के साथ यद्यपि केवल प्राणतत्त्व का ही सम्बन्ध है। परन्तु **वैकारिकीसृष्टि** नामसे प्रसिद्ध **मैथुनीसृष्टि** का तो प्रथम उपक्रम अपतत्त्व ही है।

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥

—मनु १।८

उक्त मानवसिद्धान्त के अनुसार प्राणमय स्वयम्भू प्रजापति को प्रजोत्पत्ति के लिए मैथुनीसृष्टि के मूलस्तम्भभूत अपतत्त्व को ही सर्वप्रथम उत्पन्न करना पड़ता है। पानी के समन्वय से ही त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भू प्रजापति **अण्डरूप** में परिणत होते हैं। इसी अण्ड से सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है। इसी अण्डोत्पत्ति-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर वाजिश्रुति कहती है—

"सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेवास्य साऽसृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोद्यदिदं किञ्च। यदाप्नोत्तस्मादापः। सोऽकामयत—आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेय इति-सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत"।

—शत० ६।१।१।६।१० इति

पानी तरल द्रव्य है। बिना इसके समन्वय के सचमुच मैथुनीसृष्टि की उत्पत्ति असम्भव है। **शुक्र-शोणित** के समन्वय से प्रजोत्पत्ति होती है। परन्तु दोनों में ही अप्तत्त्व प्रतिष्ठित है। दोनों ही तरल हैं। अपतत्त्व के इसी प्रजननधर्म को लक्ष्य में रखकर ब्राह्मणग्रन्थों में इस अपतत्त्व का— **जाया** नामसे व्यवहृत किया है। जिसप्रकार उत्पन्न करना पानी का काम है तथैव उत्पन्न प्रजा को प्रतिष्ठित रखना भी इसी अप्तत्त्व का काम है। इसीलिए इसे **धारा** भी कहा जाता है। सर्वत्र व्याप्त होने से **आप** तत्त्व सबका जनक होने से **जाया** एवं सबकी प्रतिष्ठा होने से **धारा** नामसे प्रसिद्ध यह अपतत्त्व ही **सर्वम्** है। अप्तत्त्व के इन्हीं धर्म्मों का निरूपण करती हुई गोपथश्रुति कहती है—

"स भूयोऽश्राम्यत्–भूयोतप्यत भूय आत्मान समतपत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्तेभ्य पृथक स्वदधारा प्रास्यन्दन्त । तदब्रवीत् आभिर्वा अहमिद सर्व धारयिष्यामि यदिद किञ्च, आभिर्वा अहमिद सर्व जनयिष्यामि यदिद किञ्च आभिर्वा अहमिद सर्वमाप्स्यामि यादद किञ्च । तद्यदब्रवीत आभि धारा० इति तस्मात धारा अभवस्तद्धाराणा धारा य यच्चासु ध्रियते । तद्यदब्रवीत् आभिर्वा इद सर्व जनयिष्यामि इति तस्माज्जाया अभवस्तज्जायाना जायात्व य चासु पुरुषो जायते । यच्च पुत्र पुन्नाम नरकमनकशततार तस्मात त्रात पुत्रस्ततपुत्रस्य पुत्र त्वम् । तद्यदब्रवात आभिर्वा अहमिद सर्व आप्स्यामि इति तस्मादापो अभवस्तदपामप्त्वम् । आप्नोति ह वै सर्वान् कामान् यान् कामयते" ।

—गा ब्रा पू १ प्र २ ब्रा इति ।

उपर्युक्त इसी प्रजननभाव की प्राप्ति के लिए पुरोडाश में पानी मिलाया जाता है । अप्तत्व के इसी प्रजननधर्म्म को लक्ष्य में रखकर— **जनयत्यै त्वा सयामि** यह कहा जाता है । परन्तु पानी मिलाते समय यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि इसमे इस मात्रा से ही पानी मिलाया जाय जिससे परिपाक ठीक होजाय न तो पानी की कमी से पुरोडाश जले एव न पानी की अधिकता से परिपाक में कमी रहै । इसी मात्राभाव को लक्ष्य में रखकर **यथा वाऽधिवृक्णोऽग्नेरविनायेत–एव वै तत् सयाति** यह कहा गया है ॥३॥४॥

प्रत्येक वस्तु की स्वरूपसिद्धि के लिए **आत्य** और **पृष्ठ** नामसे दो तत्त्व अपेक्षित है । दोनो के समन्वय से ही पदार्थ निष्पन्न होता है । पुरुषसृष्टि का ही लीजिए । पुरुष में **आत्मा–पुर** दो भाग हैं । **पुर** आत्मा का **शरीर** है । आत्मा इसी पुर में प्रतिष्ठित रहता हुआ **पुरुष** शब्द से व्यवहृत होता है । दोनों के (**आत्मा–पुर**) के समन्वय से अध्यात्मसस्थान का स्वरूप निष्पन्न होता है । इन दोनो में आत्मा **अनस्था** है शरीर **अस्थिमत्** है । सूक्ष्मभाव अनस्था है स्थूलभाव **अनस्था** है । प्राणरूप सूक्ष्मतत्त्व ही भूतमय स्थूलभाग की प्रतिष्ठा है । **अनस्था प्रथमज** है अस्थिमत् **अनन्तर** उत्पन्न होता है । शुक्रशोणित के समन्वित रूप में पहिले **अनस्था औपपातिक आत्मा** प्रविष्ट होता है । अनन्तर हस्त पाद–उर–आदि अङ्गोपहिता शरीरयष्टि का निर्माण होता है । इसी विज्ञान का लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती **है—**

'को ददर्श प्रथम जायमानमस्थन्वन्त यदनस्था बिभर्त्ति ' इति ।

इस अनस्थातत्त्व का ही नाम याज्ञिक परिभाषा में **आत्य** है एव अस्थिमत्तत्त्व ही **पृष्ठ** नामसे प्रसिद्ध है । दोनो के सह सम्बन्ध से ही प्रजोत्पत्ति होती है । प्रकृत में **पुरोडाश पृष्ठतत्त्व है आज्य (घृत) आत्यतत्त्व है ।** प्रकृतियज्ञ में दोनो का साथ ही समन्वय होता है । यज्ञ नवीन **यज्ञात्मा** उत्पन्न करना है । यहा भी **आत्मा शरीर** दोनों अपेक्षित हैं । **यज्ञपुरुष का आधा भाग यहा हवि है आधा आत्य है** । दोनो के समन्वय के लिए ही दोनो साथ मिलाए जाते है । इसी विज्ञानको लक्ष्य में रखकर भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—

'स गश्चासावर्द्धो य उ चायमद्धस्ता उभावग्नि गमयाव-इति । तस्माद्वा एत दुभय मह क्रियते । एतमु हैष आत्मा गज्ञस्य स धीयते" ॥५॥

पृथिवी दधिस्थान है अन्तरिक्ष घृतस्थान है एव द्युलोक मधुस्थान है (देखिए शत का कूमचितिब्राह्मण)। तेजो व घृतम् के अनुसार यह घृत साक्षात् अग्नि है । वरुण से प्रतिमूर्च्छित अग्नि घृत है एव वरुण से प्रतिमूर्च्छित इन्द्र तैल है । आप्यप्राण का ही नाम वरुण है । इसके आक्रमण से जब अग्नि का स्वरूप दान्त होजाता है तो इस अवस्था में ही अग्नि घृत रूप मे परिणत होजाता है । अन्तरिक्षस्थ वायु में यह घृतमात्रा सवत्र व्याप्त है । भूमण्डल से निकलने वाले अग्नि का वग जिस समय बढता है तो इस सजातीय अग्निमात्रा के सम्बन्ध से आन्तरिक्ष्य अग्निमूर्त्ति घृत बलवान् बनता हुआ वरुणा-क्रमण से पृथक होता हुआ पिघल पडता है । ऐसी अवस्था मे यह भूमण्डल पर गिर पडता है । यही वृष्टि है । वृष्टिजल घृत है । अतएव यास्कने उदक को घृत माना है । श्रुतिने तो—

कृष्ण नियान हरय सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी युद्यते'

—ऋक् स १।१६५ सू ४७ स

इत्यादि रूप स स्पष्ट ही वृष्टिजल को घृत कहा है । और और समयो में यद्यपि इस घृत में वरुण की भी प्रधानता रहती है परन्तु आश्विनमास में तो केवल घृत का ही पौर्णमास होता है । आश्विन के वृष्टि-जल में घृत की प्रधानता रहती है । अतएव लोकभाषा में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि— **पानी क्या बरस रहा है घी बरस रहा है** । निष्कर्ष यही हुआ कि घृत ही अग्निपरिताप से पिघलता हुआ वृष्टि का कारण बनता है । यह वृष्टिजल किंवा घृत जब ओषधि बनस्पतियो में प्रविष्ट होता है तो उनमें एक प्रकार की प्रफुल्लता आजाती है । सब में एकप्रकार की सरसता आजाती है । यही सरस रूप उर्ज है । यही वृष्टि का फल है । आपको यह विश्वास करना चाहिए कि यह यज्ञकर्त्ता यजमान जिस घृत की पुरोडाश के साथ अग्नि में आहुति देता है वह घृत वृष्टिरूप मे परिणत होकर इसी यजमान का अन्नाद्य बनता है । क्योंकि **यावद् वित्त तावदात्मा** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार यह घृत यजमान का आत्मांश है । स्वभाग है । इससे उत्पन्न होने वाला अन्नाद्य इसी यजमान का स्वभागधेय है । इसी वृष्टि एव ऊर्क रसविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

'इषेत्वेति वृष्ट्यै तदाह, यदाह इषेत्वेति पुनरुद्वासयति-ऊर्जेत्वेति । यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह ।

जबतक आन्तरिक्ष्य घृत के साथ ऊष्मा का सम्बन्ध रहता है तबतक तो वृष्टि होती है एव जब ऊष्मा शान्त होजाती है तो वही वृष्टिरूप में परिणत घृत ऊर्क् रूप में परिणत होजाता है । ऊर्क् रस वृष्टि की उद्वासित अवस्था है । इसलिए— **पुनरुद्वासयति-ऊर्जेत्त्वा** यह कहा है ॥६॥

अग्नि में सोम की आहुति देना ही यज्ञ है । यह सोम-राजा वाज मह हवि भेद से चार भागों में विभक्त है । **राजा सोम से राजसूययज्ञ होता है वाज से वाजपेययज्ञ होता है** ग्रहपात्रस्थ वल्ली-

सोम ही महसोम है। इससे ज्योतिष्टोमापरपर्य्यायक **महयज्ञ होता है। एव अन्नगत सोम हवि सोम है। इससे निष्पन्न होने वाले दर्शपूर्णमासादि- हविर्यज्ञ है।** यह यज्ञ ब्रह्मौदन-प्रवर्ग्य भेद से दो भागो में विभक्त है। जो अन्न आ मा म अ तर्य्याम-सम्ब ध से प्रविष्ट रहता है वह ब्रह्मौदन है। इसकी आहुति कथमपि नही हासक्ती। एव आ मसत्ता से विरहित अन्न प्रवग्य है। यही आहुतिद्रव्य बनता है। बिना प्रवग्य बनाए वह अन्न अन्य की आहुति नहीं बन सकता। इसी प्रवग्यभाव को सूचित करने के लिए प्रकृत में— **घर्म्मोऽसीति यज्ञमवेतत्करोति (यज्ञान्नमेवैतत् करोति)** यह कहा है। देवता अमृत हैं। अमृतप्राणदेवता म य अन्न की आहुति कभी नही लेत। यह पुरोडाश सवथा म यमावापन्न है। कारण-इस कूटा जाता है पीसा जाता है अग्नि से परिपक्व किया जाता है। इन दुर्दान्त क्रियाओं से अन्न का प्राण निकल जाता है। पुरोडाश निजाव होजाता है। अत **जीव न देवाना हविरमृतममृतानाम्** इस निगम सिद्धान्त के अनुसार तबतक यह पुराडाश देवताओ के लिए सवथा अयोग्य रहता है जबतक कि इसके साथ आयु समपक प्राणत व का सम्ब ध न करा दिया जाय। इसी जीवनस पत्ति को प्रतिष्ठित करने के लिए **चिरायु** कहा गया है॥ ॥

जबतक अन्नरस वृष्टि के रूप में परिणत रहता है तबतक वह भूमाभाव से युक्त रहता है। ओषाध बनस्पति-रूप में परिणत होकर वही अन्नरस विशाल अन्तरिक्ष के भूमाभाव से युत होता हुआ सीमित बन जाता है। पुरोडाश के लिए लाया हुआ वही हवि यज्ञशाला की सीमा से और भी आधक सीमित होजाता है। कूट-पीस कर जब इस अन्न को पुरोडाश-स्वरूप म परिणत कर दिया जाता है तो य और भी अधिक सीमित होजाता है। **यो वै भूमा-तद्वै-सुखम् यदल्प तद्दु खम्** इस लक्षण के अनुसार उत्तरोत्तर भूमाभाव से च्युत होता हुआ अन्नरस अल्पसम्पत्ति से आक्रा त होकर दु खभाव से युक्त होजाता है। यजमान स्वगरूप **भूमासूख** की प्राप्ति के लिए ही यज्ञ करना चाहता है। इस भूमासुख की प्राप्ति का अ यतम साधन यही पुरोडाश है। आज यह सीमित होरहा है। यह ठीक है कि अग्नि में आहुत होने के अन तर यह अग्नि के विशकलन से विशकलित होता हुआ द्यु लाकस्थ सप्तदशस्तोम पय्यन्त वितत होता हुआ भूमा-भाव से युक्त होजायगा। परन्तु वत्त मान में तो यह अ पता से ही युक्त है। इसी दु खमूला अल्पता को हटा कर इस पुरोडाश में भूमाभाव प्रतिष्ठित करने के लिए ही पुरोडाश को फलाया जाता है। यजमान का **वित्तरूप** अतएव **स्वात्मरूप** पुरोडाश यदि भूमाभाव से युक्त है तो यजमान का **मानुषात्मा** एव तद्बद्ध **यज्ञात्मा** भी अवश्य ही भूमाभाव स युक्त है। यजमान इस भूमाभाव स युक्त हो एकमात्र इसी आशी प्राप्ति के लिए पुरोडाश का प्रथन किया जाता है। इसी भूमाविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुतिने कहा है—

'त प्रथयति-उरुप्रथा उरुप्रथस्व। उरु ते यज्ञपति प्रथताम् ॥८॥

भूमाभाव की भी सीमा होती है। विश्व में प्रतिष्ठित मनुष्य का **अभ्युदय** सीमित भूमाभाव पर ही अवलम्बित है। यदि किसी मनुष्य को आ मा के (प्रज्ञाना मा के) आयतन स अधिक भूमाभाव प्रा त होजाता है तो विश्वास रखिए वह कभी जीवित नही रह सकता। निस्सीम भूमा विश्व के बाहिर की व तु है। वह विश्वाभ्युदय को अभिभूत करने वाली है। यजमान को ऐसी भूमा अपेक्षित नही है जिससे उसका

स्वरूप ही उच्छिन्न नेजाय। विश्व मे रहते हुए उसे विश। क किसी पदार्थ की कमी न रह यही भूमा प्रकृत में अपेक्षित है। जो यथाजात अतएव मनुष्य श दमाक यक्ति अज्ञानवश अपनी छन्द सीमा स (शक्ति–यो यताद के मापदण्ड से) अधिक भूमाभाव प्रा त करने का साहस कर बठते है व अपने यज्ञ मा के स्वरूप को ही उच्छिन्न कर बैठते हैं। मनुष्य अनृतसहित है। उसका सोचा हुआ का य यथ है ानिकर है। अत ऐसे अवसरो पर शास्त्रीय आदश से ही काम लेना चाहिए। हम भी मनुष्य है– ईश्वर ने हमे भी बुद्धिबल दिया है हम स्वग अपनी भलाई बुराई सोच सकते ह शास्त्र भी तो मनुष्यों क ही बनाए हुए ह फिर हम क्यों अ धभक्त बने रह इसप्रकार की अस्मिता में पडकर जा मूढधी मानुषभाव को प्रधान मामते हुए उन आष आज्ञाओ का तिरस्कार कर देते है व सचमुच स्वय ातरस्कृत होत हुए अ युदयपथ से एका तत विमुख ही होजाते है। इसलिए अनृतसहित मनु य का यह आवश्यक कत्त य होजाता है कि वह स यसहित आप्तपुरुषो के द्वारा निर्दिष्ट मागरूप शास्त्र के आधार पर ही अपने कत्त यकत्त य का निश्चय कर। इसीम उनका अ युदय तथा नि श्र यस है। इसी आदेश को उद्ध त करत हुए भगवान् कहत है—

य शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारत ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुख न परा गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्त कम्मकर्त्तु मिहार्हसि' ॥

—गीता

यही आदश प्रकृत से स बद्ध है। पुरोडाश का प्रथन मनमाना नही करदेना चाहिए। कितने ही आचार्य्यों का यह विचार है कि त्रैलोक्य में विराट्पुरुष याप्त है। सुप्रसिद्ध पूर्व परिचित स्तोम्यत्रलोक्य के त्रिवृत् पञ्चदश एकविंश स्तामो में याप्त वैश्वानर–हिरण्यगभ सवज्ञ-की समष्टि ही विराट् पुरुष है। इस विराट पुरुष की याप्ति पार्थिव त्रैलोक्य में में है। प्राणमयी पृथिवी का वह भाग-जो कि सूय्य की ओर रह । है अदिति नाम से प्रसिद्ध है। यही अदितिमण्डल स्तो यत्रलोक्य की विराट पुरुष की प्रतिष्ठा है। इस अदिति मण्डल में प्रतिष्ठित सौर एव पार्थिप प्राण की समष्टि ही अश्व पशु है। जो सौर प्राण पृथिवी से स्पृष्ट होकर पृथिवी से टकराता हुआ २१ व अहगण पर्य्यन्त सूय्यप्रमुख होता हुआ त्रलोक्य में याप्त रहता है इसी का नाम अश्वपशु है। इसी में विराट् पुरुष का अ तर्भाव है। त्रैलोक्य की स पूर्ण कामनाए यही प्रतिष्ठित हैं। अश्वमूर्त्ति विराट्पुरुष का एकचतुर्थांश ही हमारे भूपिण्ड में याप्त रहता है। त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुष पादोस्येहाभवत्पुन (यजु म) के अनुसार इस विराट्मूर्त्ति अश्वपशु के तीन पाद ऊपर रहते हैं एक पाद भूपिण्ड पर रहता है। हमारी कामनाओ के लिए एक ही अश्वशफ पर्य्याप्त है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर तित्तिरि आचार्य्य का कहना है कि अश्वशफमात्रा से ही पुरोडाश का प्रथन करना चाहिए। बात यद्यपि ठीक है। परन्तु याज्ञवल्क्य का कहना है कि अश्वशफमात्रा की पूरी इयत्ता हो तब तो ठीक है। पर तु ऐसा होना कठिन ह। अश्वशफ की ठीक ठीक सीमा प्राप्त करने में भूल होसकती है। ऐसी अवस्था में यज्ञ में अनृतभाव का प्रवश दुर्निवार है। इसलिए उचित यही है कि किसी नियत सीमाभाव के ब धन

म न पढकर आ मानुकूल ही प्रथन करना चाहिए। ऐसा करने से भूमाभाव की भी प्राप्ति होजाती है एव अनृतभाव का प्रवश भी नही होता। इसी विज्ञान को लक्ष्य म रखकर- **याव तमे ा स्याय मनसा न सत्रा प्रथु म यत-ए ा कुयात्** यह कहा गया ह। ।६।१ ।११।१२।१३।१४। १५।१६।१ ।१८।

इति प्रथमकाण्डा तगत-द्वितायाध्याग के द्वितीग ब्राह्मण का,

एव

प्रथमप्रपाठक के छठे ब्राह्मण का भाष्य अत्र उपरत

प्रथम प्रपाठक समाप्त

—–*—–

श्री

अथ–प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीय ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च प्रथम ब्राह्मणम्

---

१२ पात्रीनिर्णेजनम्—पुरोडाशमीमासा–समन्वितम्

(मूल)—चतुधा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास । स यमग्रेऽग्नि होत्राय प्रावृणत–स प्राध वत् । य द्वितीय प्रावृणत–स प्रैवाध यत् । य तृतीय प्रावृणत–स प्रैवाधन्वत् । अथ योऽयमेतह्यग्नि –स भीषा निलिल्ये । सोऽप प्रविवेश । त देवा अनुविद्य सहसैवा–द्भ्य आनि यु । सोऽपोऽभितिष्ठेव–अवष्ठ्यूता स्थ या अप्रपदन स्थ, याभ्यो वो मामकाम नय तीति । तत आप्त्या सम्बभूवु –त्रितो द्वित, एकत ॥१॥

त इन्द्रेण सह चेरु यथद ब्राह्मणो राजानमनुचरति । स यत्र त्रिशीर्षाण त्वाष्ट्र विश्वरूप जघान–तस्य हैतेऽपि वध्यस्य निदाश्चक्रु । शश्वद्धैन त्रित एव जघान । अत्यह तदिन्द्रोऽमुच्यत । देवो हि स ॥२॥

त उ हैत ऊचु उपेवेम एनो ग छ तु यऽस्य वध्यस्यावेदिषुरिति । किमिति । यज्ञ एष्वेषु मृष्टामिति । तदेष्वतद्यज्ञो मृष्ट–यदेभ्य पात्रीनिर्णेजनमङ्गुलिप्रणेजन निन–यन्ति ॥ ३ ॥

त उ हाप्त्या ऊचु अत्येव वयमिदमस्मत्परो नयामेति । कमभीति । य एवादक्षि–णेन हविषा यजाता इति । तस्मान्नादक्षिणेन हविषा यजेत् । आप्त्येषु ह यज्ञो मृष्टे । आप्त्या उ ह तस्मिन् मृजते–योऽदक्षिणेन हविषा यजते ४॥

ततो देवा एतां दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणामकल्पयन्–यदन्वाहार्यम् । नेददक्षिण हवि रसदिति । त नाना निनयति । तथैभ्याऽसमद करोति । तदभितपति–तथैषां शत भवति ।

स निनयति 'त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा'' (१ अ २३ म) इति। पशुर्ह वा एष आलभ्यते-यत्पुरोडाश ॥५॥

पुरुष ह वै देवा अग्र पशुमालेभिरे। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम। सोऽश्व प्रावेश। तेऽश्वमालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम। स गां प्रविवेश। ते गामालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम। सोऽविं प्रविवेश। तेऽविमालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम। सोऽजं प्रविवेश। तेऽजमालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम ॥ ६ ॥

स इमा पृथिवीं प्रविवेश। त खनन्त इवान्वीषु। तमन्वविन्दन्। ताविमौ व्रीहि-यवौ। तस्मादप्येतावेतर्हि खनन्त इवैवानुविन्दन्ति। स यावद्वीर्यवद्ध वा अस्यैते सर्वे पशव आलब्धा स्यु तावद्वीर्यवद्धास्य हविरेव भवति य एवमेतद् वेद। अत्रो सा सम्पद् यदाहु पाङ्क्त पशुरिति ॥७॥

यदा पिष्टानि, अथ लोमानि भवन्ति। यदाप आनयति, अथ त्वग भवति। यदा सयौति अथ मास भवति। सतत इव हि स तर्हि भवति सन्ततमिव हि मासम्। यदा शृत, अथास्थि भवति। दारुण इव हि स तर्हि भवति दारुणमिव ह्यस्थि। अथ यदु द्वासयिष्यन्नाभिघारयति-त मज्जान दधाति। एषो सा सम्पद् यदाहु पाङ्क्त पशुरिति ॥८॥

स य पुरुषमालभन्त-स किम्पुरुषोऽभवत्। यावश्व च गाञ्च तौ गौरश्च गवयश्चा-भवताम्। यमविमालभन्त-स उष्ट्रोऽभवत। यमजमालभन्त स शरभोऽभवत। तस्मादेतेषा पशूना नाशितव्यम्। अपक्रान्तमेधा ह्येते पशव ॥९॥

इति पुरोडाशप्रकरणम्

इति प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीय ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च प्रथम ब्राह्मणम्

(अनुवाद)—पहिले अग्नि चार भागों मे विभक्त था। सो (अध्व यु न) जिस अग्नि का होत्र के लिये वरण किया वह पलायित होगया। दूसर अग्नि का वरण किया। वह भी पलायित होगया। जिस तृतीय अग्नि का वरण किया वह भी पलायित ही होगया। अब आज जो अग्नि (यज्ञ मे) विद्यमान है भयानुबन्ध से वह तिरोहित होगया। वह जल मे प्रविष्ट होगया। उसका देव ताओं न अन्वेषण कर अकस्मात् पानी मे से निकाल लिया। (बलादानीयमान) उस अग्नि ने पानी की ओर हे आप तुमने मुझे अपने मे छुपने का आश्रय नही दिया, तुम्हारे आश्रय न देने से ही देवता बलात्कार से बिना मेरी इच्छा से मुझे लेजा रहे है इसलिये तुम दूषित होजाओ' यह कहते हुए थूँक दिया। इसी से (अग्नि के निष्ठीवन से) एकता, द्विता, त्रिता, आप्त्या' उत्पन्न हुए ॥१॥

वे तीनों आप्त्या इन्द्र के साथ उसी प्रकार विचरने लगे जैसेकि आज एक पुरोहित ब्राह्मण राजा क साथ अनुगमन करता है। उस इन्द्र ने जिस समय तीन मस्तक वाले त्वष्टा के पुत्र अतएव त्वाष्ट्र नाम से प्रसिद्ध विश्वरूप को मारा था उस समय (इनके साथ रहने वाले) इन आप्त्या देवताओंने भी इस विश्वरूप को बध के योग्य समझा अर्थात् इसे मारने मे कोई दोष नहा है, इस दुष्ट को मार ही दना चाहिए इसप्रकार आप्त्याओंने त्वाष्ट्र के मारने मे अपनी सम्मति ही प्रकट की थी। यही नहीं जब इ त्वाष्ट्र को मारने लगे तो आ याओंने ही इस कृत्य में विशेष सहायता प्रदान की थी। उन्होंने विश्वरूप का पर्य्याप्त (जी भर कर) हनन किया था। अन्त मे त्रिता नाम के आप्त्या ने ही उसे मारा था। अर्थात् त्वाष्ट्र असुर त्रित के हाथ से मारा गया था। परिणाम सका यह हुआ कि इन्द्र इस हत्या क दोष से सर्वथा विमुक्त होगये। कारण कि वे देवता थे ॥२॥

इस घटना से वहा उपस्थित हुए देवताओंन कहा कि इस हत्या का पाप इन्ही आप्त्यों को लगे जिन्होंन कि त्वाष्ट्र क वध का समर्थन किया। उस हत्या के दण्ड का क्या स्वरूप होगा? इस प्रश्न के उपस्थित होने पर अन्त मे यही निर्णय हुआ कि 'यज्ञ मे जो कुछ दूषित भाग हो उसको इनके साथ ही सश्लिष्ट कर दिया जाय'। इसप्रकार यज्ञ मे जो पात्रिनीर्णेजन अङ्गुलि प्रणेजन का आप्त्या के लिए डालते है उससे उन आप्त्यों का उसी दोषभाग से संश्लिष्ट करते है ॥३॥

(इस पातक को तथोक्त प्रकार से अपने उपर आया देख कर) आप्त्या देवताओंनें परस्पर निश्चय किया कि अपन भी इस पाप का अपने से अन्य ही किसी मे डालदें। किस में

डाल ? इस प्रश्न क उपस्थित होने पर निणय हुआ कि **जो यजमान दक्षिणाशू य हविसे यजन करे उसी में गह पाप सक्रा त हो** । इसलिय दक्षिणाशू य हवि से यजमान को भूलकर भी यज्ञ नहीं करना चाहिये। यज्ञसम्ब धी पाप्मा भाग आप्त्यों मे सश्लिष्ट होरहा है। आप्त्या देवता स्वपाप्मा उसमे डाल देते है ो बिना दक्षिणा की हवि से यजन करता है ।।४।।

(आप्त्या देवता यजमान मे अपन पाप का सश्लिष्ट न करने इस आपत्ति से बचने के लिए ही) देवताओंने दशपूणमासयज्ञ मे इस दक्षिणा का विधान किया जो कि अ वाहाग्य है। यह हवि **अदक्षिणा** न होजाय यही इस दक्षिणा विधान का ता पर्य था। उन आप्त्यों के लिए प्रथक् प्रथक् निनयन करता है । निनयनार्थ उपस्थित जल को तप्ताङ्गार से तपाता है। ऐसा करने से आप्त्यों की अन्नरूपा यह जलसम्पत्ति परिपक्व होजाती है। आप्त्या के लिए निनयन क्यों किया जाता है ? इस की उपपत्ति बतलादी गई। अब पद्धति बतलाते है) यह अ यत्रु **'पा य गुलिप्रक्षालनमाप्त्येभ्यो निनयति अभितप्य प्रत्यगमस्य दमान त्रिताय त्वेति प्रति मन्त्रम्** (का श्रौ सू २।६।२६।) इस के अनुसार **त्रिताय वा निनयामि द्वितीय त्वा निनयामि, एकताय त्वा निनयाम** (यजु स १। ३) इन म त्रा को बोलता हुआ क्रमश निनयन करता है । यहा जा यह पुरोडाश है वह **पशु का ही आलम्भन** किया जाता है। अथात् यह पुरोडाश पशुस्थानीय है। इसे पशु की ही प्रतिकृति समझना चाहिए यही तात्पर्य्य है ।।५।।

देवताओंने सब से पहिले **पुरुषपशु** का आलम्भन किया । उस आल ध पशु का मेध भाग अपक्रा त होगया। वह **अश्वपशु** म प्रविष्ट होगया। देवताओने (मेधभाग की प्राप्ति के लिए) अश्वपशु का आलम्भन किया। आल ध अश्वपशु का मेध अपक्रा त होगया। यह **गोपशु** मे प्रविष्ट होगया। देवताओंने गोपशु का आलम्भन किया। आल ध इस गोपशु का मेध अपक्रा त होगया। अपक्रा त होकर यह **अज (भेड) पशु** म प्रविष्ट होगया । देवताओंने अविपशु का आलम्भन किया। आल ध अविपशु का मेध अपक्रा त होगया। अपक्रा त होकर यह **अज (बकरा) पशु मे** प्रविष्ट होगया । देवताओन अजपशु का आलम्भन किया। आल ध अजपशु का मेध अपक्रा त होगया ।।६।।

यह मेधभाग पृथिवी मे प्रविष्ट होगया । स्थान स्थान पर भूमि निखनन करते हुए देवताओंने उस मेध का अ वेषण आरम्भ किया । अ त मे उन्होने अपक्रा त मेध को उपल ध कर लिया। वही अपक्रा त मेध यह **चॉवल, और यव** है। (प्रारम्भ मे मेधरूप ब्रीहि और यव को देवताओंन भूमिनिखनन क द्वारा ढू ढा था) यही कारण है कि आज भी कृषक भूमि के निखनन के माध्यम से ही मेधसम्पत्ति प्राप्त करते हैं।

पुरुष—अश्व–गो–अवि अज–य पाचा पशु आल ध होकर इस यजमान के लिए जिस मात्रा से पर्य्याप्त होते है वह सम्पूर्ण मात्रा एकमात्र इस पुरोडाश से ही प्राप्त होजाती ह जो कि यजमान इस रहस्य को जानता ह । इस हवि से यह यज्ञसम्पत्ति प्राप्त होजाती है जिस के लिए कि सम्पद रहस्यवेत्ता 'पाड क्त पशु' यह कहा करते है ॥७॥

कैसे पुरोडाश से पशुसम्पत्ति प्रा त होजाती है ? इस का उल्लेख करती हुई श्रुति कहती है

जब यह हविद्र य पिष्ट अवस्था से युक्त रहत हैं तब इन मे लोम है । जब पानी डालत है तब त्वग्भावसम्पन्न होजाता है । जब पानी को इस मे मिलात है तब मास सम्पत्ति आजाती है । उस समय यह फैलता जाता हे । मास फैला हुआ सा ही है । जब पक्क होजाता है तो अस्थि भाव का उदय ह । उस समय (पक्वावस्था मे) यह कठिन सा होजाता है । हड्डी भी दारुण सी ही हे । जब इसे ठंढा करते हुए इस मे घृत डालत है तो मज्जाभाव का समावेश करत है । यही वह सम्पत् है जिस क लिए कि– पाड क्त पशु यह कहा करत है ॥८॥

सो जो कि (मेधप्राप्ति की कामना स) देवताओंने पुरुष का आलम्भन किया वह किंपुरुष बना । अश्व-गो के आलम्भन से क्रमश गौर ए । गवय पशु उत्पन्न हुए । अविपशु के आलम्भन स उष्टपशु उ पन्न हुए । अजपशु के आलम्भन स शरभपशु उत्पन्न हुआ इसलिये इन पशुओं का (किंपुरुष–गौर ग य–उष्ट्र–शरभ पशुओं का मास नहीं खाना चाहिए । कारण ये पाँचा हीं पशु अपक्रा तमेध है । ये अमे य पशु हैं ॥९॥

प्रथमकाण्डान्तर्गत द्वितीयाध्याय का तीसरा, एव दूसरे प्रपाठक का पहिला ब्राह्मण–उपरत

——*——

(भा य)—पुरोडाश स पन्न होचुका है । पुरोडाश के सम्ब ध में अब– पात्र निर्णेजन नामक क म अवशिष्ट रहा है । पुरोडाश के स पन्न होने के अन तर पात्री में अ वर्यु हाथ धोता है । उसकी अङ्गलियो स किंवा हाथों में जो पिष्टभाग लगा रहता है यह सब धोकर उस पुरोडाशपात्री में डाल दिया जाता है । पात्रीस्थित मलयुक्त पुरोडाश के अशसे युक्त इस पानी का क्या उपयोग ? प्रकृत में इसी प्रश्न का समाधान किया गया है । मानुष्यवहारवत् इस पानी को यथेच्छ नही डाला जाता । अपितु–विहार के उत्तर भाग में स्फ्य से तीन खड्ड प्राक्संस्थ बनाए जाते है । व तीनो खड्ड परस्पर में सर्वथा असङ्ग (बिना मिले हुए) रहत है पात्री एव अङ्गलिहस्तप्रक्षालित जलको प्रथम उस पात्री में ही रक्खा जाता है । गार्हपत्याग्नि में से उल्मुक (जलती हुई तृणमुष्टि) लाकर पहिले इस प्रक्षालित जलको (जिस में कि कुछ पुरोडाश का भी

अश रहता है)तपाते हैं। साथ ही जिन आप्त्यों के लिये यह जल डाला जाता है व दवताविशेष हैं अत एव देवतोद्देशेन यजमान के द्वारा त्याग भी किया जाता है। तात्पर्य यही है कि अध्वर्यु क्रमश —

'ओं त्रिताय त्वा निनयामि "ओं द्विताय त्वा निनयामि"- 'ओं एकताय त्वा निनयामि" ※

उक्त मन्त्र बोलता हुआ प्रतिम त्रोच्चारण-क्रमसे उपर्युक्त गर्तों में नत्र प्रक्षालित जल डालता है तो यजमान **ओ इद त्रितायाप्त्याय न मम ओं द्वितायाप्त्याय न मम ओं एकतायाप्त्याय न मम** इस क्रम स त्याग करता है। अध्वर्यु का यह कर्म्म **निनयन** नाम से प्रसिद्ध है एव यजमान का यह कर्म **प्रतिनिनयन** नाम से व्यवहृत होता है। यही कर्म्म **पात्रीनिर्णेजन** नाम से प्रसिद्ध है। इस कर्म्म के अनन्तर—**अन्वाहार्य्य दक्षिणाग्नावधिश्रयति** (का श्रौ सू २।६।२८) के अनुसार अध्वर्यु **अन्वाहार्य**— नाम से प्रसिद्ध **ओदन** को परिपाक के लिए **अपचाग्नि** नाम से प्रसिद्ध दक्षिणाग्नि पर रखता है।

बिना पशुसम्पत्ति के यज्ञ नही होसकता। प्रत्येक यज्ञ में पशु का मधभाग अपेक्षित है। इस के लिए पशु का **आलम्भन** करना भी आवश्यक होजाता है। परन्तु हम देखते हैं कि इस हविर्यज्ञात्मक दर्श- पूर्णमास यज्ञ में पशु का अभाव है। आहुति के स्थान में प्रकृत में पुरोडाश का ही ग्रहण किया गया है। ऐसी अवस्था में पशु के बिना कभी सम्पन्न न होने वाली यज्ञसम्पत्ति का अभाव होजाता है। इस अभाव की पूर्ति के लिए प्रकृत ब्राह्मण में प्रसङ्गागत **आलम्भन विज्ञान का** भी निरूपण किया गया है। इसप्रकार इस ब्राह्मण में प्रधानरूप से **१—आप्त्यविज्ञान २—दक्षिणाविज्ञान ३—आलम्भनविज्ञान** इन तीन विषयो का निरूपण किया गया है। तीनो में क्रमप्राप्त प्रथम आप्त्यविज्ञान की ओर ही विज्ञ पाठको का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

आप्त्याविज्ञानम्

आप्त्याविज्ञान का मूलाधार **चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास** यही अनुगमश्रुति है। निगम अनुगम शब्दों का अर्थ पूर्व के प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जाचुका है। अत प्रकृत में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि नियतार्थ का प्रतिपादन करने वाले श्रौतवचन **निगम** एव अन्वर्थ का निरूपण करने वाले श्रौतवचन **अनुगम** कहलाते हैं। उपर्युक्त अनुगम की यही स्थिति है। **पहिले अग्नि चतुर्द्धा विभक्त था** इस अनुगम का यही शब्दार्थ है। अग्नि का यह चातुर्विध्य अनेक प्रकार का है। अनेक **प्रकार**

※ यद्यपि मूलसंहिता में **निनयामि** पद नहीं है परन्तु मीमांसानुसार आकाङ्क्षा से **निनयामि** का अध्याहार करना आवश्यक होजाता है।

— दर्शपूर्णमास में दक्षिणास्थान में नियत **ओदन ही अन्वाहार्य्य** कहलाता है। अध्वर्यु होता —उद्गाता —ब्रह्मा ये चारों ऋत्विक् तृप्त होजाय इतना ओदन परिपक्व होता है। इसका परिपाक प्रणीतापात्रस्थ जल से अथवा लौकिक जल से ही होजाता है। यह अन्वाहार्यद्रव्य दक्षिणास्थानीय है। इस का परिपाक अपचाग्नि में होता है इसलिए भी अपचाग्नि को— **दक्षिणाग्नि** कहा जाता है।

से अग्नि चतुर्द्धा विभक्त है। सब का सङ्क्षेपसे सग्रह करने के लिए ही ऋषिने सामा यत –चतुधा विहित य क ा है। प्रसङ्गात् दो तीन विभागों का प्रकृत में भी दिगदशन करा दिया जाता है।

पुरुष प्रकृति विराट सम्व सर भेद से अग्नि चतुर्द्धा वि ाक्त ह। अ यय–अक्षर–क्षर परा पर की समष्टि षोडषीपुरुष है जैसा कि पूव के प्रकरणो में विस्तार से बतलाया जाचुका ह। इस पुरुष त्रयी में म यस्थ म यम–पुरुष अक्षर ह। इसकी ब्रह्मा–विष्णु– द्र–अग्नि सोम ये पाच कलाएँ हैं। यह अक्षराग्नि ही पौरुषाग्नि ह। यही विश्व का सञ्चालक है। यह प्रथमाग्नि ह। वस्तुस्वरूपस मर्पक अग्नि प्राकृताग्नि है। हिरण्यगभ नाम से प्रसिद्ध दशविध ऋषिप्राण की समष्टिरूप आर्षे याग्नि विराडग्नि है एव चयनयज्ञ का अधिष्ठाता सौर अग्नि ही सम्व सराग्नि है। इसप्रकार एक ही अग्नित व अवस्थाभेद से चार भागो में विभक्त होरहा है।

१—पौरुषाग्नि ("पुरुषोग्नि" शत १।४।१।६)।

२—प्राकृताग्नि।

३—विराडग्नि (विराडग्नि' शत ६।२।२।३४)।

४—सम्वत्सराग्नि ('अग्निर्वाव सम्वत्सर' तै ब्रा २।१।५२)।

——*——

प्रकारा तर से ब्रह्म–सुब्रह्म शुक्र भूत भेद से अग्नित व चतुर्द्धा विभक्त है। प्राणमय स्वायम्भुव अग्नि ब्रह्माग्नि है। यही अग्नि— वागग्नि सावयाजुषाग्नि वेदाग्नि – प्राणाग्नि – स याग्नि आदि विविध नामो से प्रसिद्ध है। पारमेष्ठय ऋताग्नि सुब्रह्माग्नि कहलाता है। ब्रह्माग्नि एव सुब्रह्माग्नि के सयोग स उ पन्न होने वाला स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम् (इशोपनिषत्) इत्यादि रूप से उपवर्णित ससार का बीजरूप अग्नि शुक्राग्नि नाम से प्रसिद्ध है। एव तेजोऽग्नि चोथा भूताग्नि है। यह वसु नाम से व्यवहृत किया जाता है। जिस साधारण मनु य अग्नि (तापयुक्त वालायुक्त अन्नादि का परिपाक करने वाला प्रत्यक्षदृष्ट स्थूल अग्नि) समझते है वही भूताग्नि है। इसी भूताग्नि को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है—

> अग्नि त म ये यो वसुरस्त य यन्ति धेनव ।
> अस्तमव त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इष स्तोतृभ्य आ भर ॥
>
> —ऋक् स ५म। ६सू। १ म

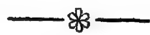
ऋषि कहते है कि हम अग्नि (भूताग्नि) उसे समझते है लोक मे जो वसु नाम से प्रसिद्ध है एव सूर्य्यास्त पर जिस से किरण निकला करती हैं। इसप्रकार प्रकरा तर से भी अग्नि की चार अवस्थाएँ होजाती है।

१—ब्रह्माग्नि —मौलिकोऽग्नि सत्याग्नि, यजुरूप । त्रयीरूपो वा ।

२—सुब्रह्माग्नि —आपोऽग्निर्ऋताग्नि अथवरूप ।

३—शुक्राग्नि – ब्रह्मसुब्रह्मयोगादुत्पन्नो विश्ववीज

४—भूताग्नि —प्रत्यचद्रष्टस्तापधर्म्मा वसुरग्नि



यज्ञमर्यादा के अनुसार भी अग्नित व चतुद्धा विभक्त है । आग्न की ये चारो अवस्थाए—क्रमश **१ आहित २ उदधृत ३ प्रहृत ४ विहृत** इन नामा स प्रसिद्ध है । [देखिए शत ब्रा ११ का । ८ । २ । १ ।] ।

ये चारो ही अग्नि–त्ववत चि याग्न के अवा तर भेद हैं । यह **अधिलोक अधिदव अधियज्ञ अधियाज्ञिकदैव** भेद से चार स्थानो में विभक्त है । **प्रथिवी–अ तरित्त–द्यौ आप** ये चारो स्तोम्यलोक भी इन्ही चारो अग्नियो से नि पन्न हुए हैं एव इन चारो लोको को मे आत ठावारूप से प्रतिष्ठित भी ये ही चारो है । इसीप्रकार कुण्ड एव कुण्डो म देवरूप से प्रतिष्ठित भी ये ही चारो है । सौरप्रजापति अपने अग्नि का प्रवग्यरूप स भूलोक म आधान करते है । दूसरे श दो मे सौर अग्नि ही पृव्रक्त हाकर भूसस्था का स्वरूप समपक बनता है । अत व इसे– **आहिताग्नि** कहा जाता है । त्रिवृ रूप पृथिवा–स्थान में यही आग्न प्राणदेवताओ के द्वारा प्रतिष्ठित किया जाता है अतएव न्से **उद्ध ताग्नि** कहा जाता है । यही अग्नि सप्तदश(१७)स्तोमरूप आहवनीयाख्य उत्तरावादस्थ द्य लोक में जाकर प्रतिष्ठित होता है । दूसरे श दो म यही अग्नि प्राणदेवताओ के द्वारा आहवनीयरूप स्वगप्रदेश में लेजाया जाता है । अतएव न्से **प्रन्ताग्नि** कहा जाता है । अन्नादि का परिपाक करने वाला **शामित्राग्नि** नाम से प्रसिद्ध आग्न ही चाथा **विहृताग्नि** है ।

शतप थब्राह्मण के ११ व काण्ड में–पाशुकवेदिनिरूपण में इन चारो का विशद निरूपण किया गया है । यहा नाममात्र ही उद्ध त कर दिए गए हैं ।

१—पृथिवी	आहिताचित्याग्नि	—अधिलोकम्
२—अन्तरिक्षम्	उद्धृतचित्याग्नि	
३—द्यौ	प्रहृतचित्याग्नि	
४—आप	विहृतचित्याग्नि	

—*—

१—अग्नि	आहितचित्याग्नि	—अधिदैवम्
२—वायु	उद्धृतचित्याग्नि	
३—आदित्य	प्रहृतचित्याग्नि	
४—चन्द्रमा	विहृतचित्याग्नि	

—*—

१—गार्हपत्यकुण्डम्	आहिताग्नि	—अधियज्ञम्
२—दाक्षिणाग्निकुण्डम्	उध्दृताग्नि	
३—आहवनीयाग्निकुण्डम्	प्रहृताग्नि	
४—शामित्रशाला	विहृताग्नि	

—*—

१—गार्हपत्याग्नि	आहित	—अधियाज्ञिकदैवम्
२—हवि श्रपणाग्नि	उद्धृत	
३—आहवनीयाग्नि	प्रहृत	
४—पशुश्रपणाग्नि	विहृत	

—*—

तथाक्त अ निनिधाओ म स न्तीया विवा के **शुक्राग्नि** का ही प्रकृत से सम्ब ध है। शुक्राग्नि की चार अवस्थाओ को लक्ष्य म रखकर ी श्रुत ने— **चतुर्धा विहिता ह् वा अग्र अग्निरास** यह कहा है। यहा **अग्रे** श द का— **हविर्यज्ञ स पहिल** यही अर्थ समझना चाहिए। प्रकृतिसिद्ध नि य हविर्यज्ञ का भूपिण्ड से सम्ब ध है। सुप्रसिद्ध आ या-आग्नयों का इसी भूपिण्डावच्छिन्न हविर्यज्ञ से सम्ब ध समझना चाहिए। आज यद्यपि यह आ याग्नि सम्मिलित होकर एकरूप से प्रतीत होरहे है पर तु हविर्यज्ञ-स्वरूपान पत्ति स पाहले यह आग्नत व-१ **रसाग्नि** **आत्त वाग्नि** ३ **छ दस्याग्नि** ४-**सावित्राग्नि** इन नामो से ही प्रासद्ध था। यही अ निचतुष्टयी स्तौ यत्रलाक्य एव तत्प्रातष्ठ प्रजा का बीज है उपादान-कारण है अतएव इसे- **शुक्राग्नि** नाम से यवहृत किया जाता ह। इस की प्रथमावस्था का नाम ही **रसाग्नि** ह।

१-रसाग्नि —

भूपिण्ड के केन्द्र में अपनी प्रति ठा रखने वाला भूपिण्ड मे निकल कर २१ व अहगण पर्यन्त अपनी याप्ति रखने वाला **त्रिवृत पञ्चदश एकविंश-स्तोमरूप प्रथिवी अ तरिक्ष-द्यौ** इन तीनो लोको म क्रमश दधि (**घनरस**) घृत (**तरलरस**) मधु (**विरलरस**) **रसरूप** मे परिणत रहने वाला प्राणा मक पार्थिव अग्नि ही [जोक याज्ञिक परिभाषा के अनुसार **चितेनिधेय** नाम से प्रसिद्ध है] **रसाग्नि** नामक **प्रथमाग्नि** है। इसी **रसतम** अग्नि से पार्थिव साममण्डल नि पन्न होता है अतएव पार्थिव साम **रथ तर** नाम स यवहृत किया जाता है। **आप फेन मृत् सिकता शर्करा अश्मा अय हिरण्य** मे स भूपिण्ड अष्टाक्षर होता हुआ गायत्रस पत्ति से सयुक्त है। अतएव यह निगच्छत् रसात्य पार्थि व प्राणाग्नि भी **गायत्री** नाम से प्रसिद्ध है। यही गायत्री सुपर्णरूप में परिणत होकर २१ विंशस्तोम के ऊपरि भाग में प्रतिष्ठित वायव्य ग धर्व प्राण से सुरक्षित पारमेष्ठ्य सामापहरण करने मे समर्थ होती है। जैसे सावित्राग्नि **आदि य** कहलाता है एवमेव इस पार्थिव प्राणाग्नि को **अङ्गिरोऽग्नि** कहा जाता है। अङ्गि-राऽग्नि भूपिण्ड से निकल कर निर तर द्युलोक की ओर जाया करता है एव आदित्याग्नि सूर्य्यपिण्ड से निकलकर निर तर भूपिण्ड की आर आता रहता है। इसप्रकार आदि य और अङ्गिरा में निरन्तर स्पर्धा चलती रहती है। प्रकृत म केवल यही बतलाना है कि घनादि तीन अवस्थाओ म परिणत रहने वाला पार्थिव प्राणाग्नि ही **रसाग्नि** है। यही रसाग्नि दि य सौरदेवताओ के लिए पार्थिवान्नरूप हवि का वहन करता है। अतएव इसे **ह यवाट्** कहा जाता है। सम्पूर्ण पार्थिवरस निगच्छत् इसी पार्थिव प्राणाग्नि में आहुत होकर **आदि य** नाम स प्रसिद्ध सौराग्नि में आहुत होते रहत हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् मनु कहते हैं—

> **अग्नौ (रसाग्नौ) प्रास्ताहुति सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।**
> **आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्न तत प्रजा ॥**
>
> —मनु

इसी ह यवाट् अग्नि का स्वरूप-निरूपण करती हुई **शुक्लश्रुति** कहती है—

शेष वनेषु मातृषु मन्वा मर्त्तामि इन्धत ।
अतन्द्रो हव्य वहसि हविष्कृदादिद् वेषु राजसि ॥
—यजु सहितायाम

दि्य मोर प्राणान्यताओ का यजमाना मा म म व ज न्सा रसाग्नि के द्वारा होता है । यनी आह्वाता है अतएव इसे ह्नता भी कहा जाता ह । यही वनाओ का न्त ह । अग्नि दूत वृणीमहे होतार र नधातमम् के अनुसार यह मानि दवताओ का न्त ह एव होता ह * । इसी विज्ञान को लक्ष्य म रखकर ब्राह्मणश्रुति क ती ।

उभग ५ाऽएतदग्निर्देवाना होता च न्तश्च ।
—श १।४।५।४।

यह साग्नि सहन्य एव सशरीरा है अत व मन्दय सशरार सत्यम् स लक्षण मे स साग्न को सत्याग्नि कहा जासकता है । अग्नि क न्मी स यधम को लक्ष्य म रखकर अग्ने नय सुपथा राय इ याि कहा जाता है । नियतमाग ही सुपथ है । सत्यभाग ही नियतमाग है । अध्यात्मदृष्ट्या यही अपानाग्नि है । और यही प्र माग्नि का सक्षि त वरूप–निदशन है ।

२–आर्त्तवाग्नि —

दक्षिणादिक से उत्तर की ओ जाने वाला अग्नि ही आर्त्तवाग्नि है । इसी आ न से ओषधि वनस्पातयो का परिपाक होता है । अतएव वज्ञानिकोंन स अग्नि को अपरणाग्नि नाम से यवहृत किया ह । यह आग्न वाय य है वायुरूप है । अर्थात् ऋतध र्मा अतएव केन्द्रशून्य होता हुआ ऋत है । उत्तर दिक्स्थ ऋतसोम निरन्तर दक्षिण की ओर जाया करता है । इसी ऋताग्नि–ऋतसोम के उद् ग्राभ निग्राभ (चढाव–उतार) से ऋतु का वरूप सम्पन्न होता है । ऋताग्नि एव ऋतसोम से उत्पन्न होने से ही वसन्तादि काल–अवयव ऋतु नाम स प्रसिद्ध ह । न्स ऋतु में प्रतिष्ठित वायव्याग्नि का ही नाम आर्त्त–वाग्नि है । स्त्री के शोणित म नव स आर्त्तव अग्नि का प्रवश होता है तभी उसमें प्रजोत्पत्ति सामथ्य आता है । आर्त्तवा न के प्रवश म हा स्त्री ऋतुमती कहलाती है । प्रकृति के यच्चयावत् पदाथ अपनी अपनी ऋतु म ही उत्पन्न होत ह । यह आर्त्तवाग्नि पाङ्क्तयज्ञ की पाङ्क्तता [पञ्चावयवता] के अनुसार–१ वसन्त २–ग्रीष्म ३ वर्षा ४ हेमन्तशिशिर इन पाच भागो म विभक्त है । ये विभाग ७२–७२ अहोरात्रों के होत हैं । १६ ४ १६ क्रम स क्रमश प्रत्येक ऋतु में प्रात सवन माध्यन्दिनसवन सायसवन इन तीन तीन सवना का भोग होता है । प्रारम्भ के १६ दिन प्रातसवन है य ी ऋतु की बालावस्था है । ४ न युवावस्था ह । अ त क १६ वृद्धावस्था ह । यज्ञकर्त्ता यजमान के नवीन दवाभा के साथ न पाचो ऋतुदवताओ का भी सम्ब व रहता ह । न्हे तृप्त करने के लिए ही पञ्चप्रयाज करने पडते हैं । अ या मद ्या य ी वाय याग्नि– ्यानाग्नि नाम से प्रसिद्ध है । और यही है आर्त्तवाग्नि का सक्षि त–स्वरूप–निदशन ।

---

* न्स विषय का वैज्ञानिक विवचन आगे आने वाले होतृप्रवरण ब्राह्मण में किया जायगा ।

३–छन्दस्याग्नि —

प्रत्येक वस्तु का अपना एक **आयतन** अवश्य होता है। यह आयतन ही तद्वस्तु का स्वरूप-समपक है। इसी आयतन को विज्ञानपरिभाषानुसार **वयोनाध** कहा जाता है। वस्तुतत्त्व **वय है**। यह **वय** (वस्तु) उस आयतन से युक्त रहता है। दूसरे शब्दों में वय अपने आयतन के उदर म प्रतिष्ठित रहता है अतएव वय को **अन्न** शब्द से भी व्यवहृत किया जाता है (शत ८।५।२६)। इस वयोरूप अन्न को उसका आयतन सवत बद्ध रखता है अतएव इस आयतन को **वयोनाध** कहा जाता है। यही वयोनाध याज्ञिक परिभाषानुसार **छन्द** नाम स व्यवहृत होता है। छन्द एक प्रकार का अग्नितत्त्व ही है।

यही **छन्दोऽग्नि– वाक्** नाम स प्रसिद्ध है। इस वाक् के तत्तत् परिमाण ही तत्तच्छन्द –स्वरूप में परिणत होते हैं। अतएव आप्तपुरुष छन्द का— **वाक्परिमाण छन्द** यह लक्षण किया करत ह। यह वाक्तत्त्व **तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्** (श १ का) के अनुसार **अग्नि** ही है। इस **वागग्नि** का एकमात्र कार्य्य वस्तुस्वरूप की तदायतनरूप से रक्षा करना ही है। त्रैलोक्य के पदार्थ **पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ आप** मे से चार स्वरूपो में विभक्त ह। इन चारो प्रकार के पदार्थों को सीमित बनाने वाले चार वाक्छन्द ही ह। व ही चारो छन्द वैज्ञानिक परिभाषा म—**मा प्रमा प्रतिमा अस्रीवि** नाम से व्यवहृत होते हैं। पृथिवीलोक का एव तद्गत पार्थिव पदार्थों का सामान्य छन्द **मा है**। अन्तरिक्षलोक एव तद्गत आन्तरिक्ष्य पदार्थों का सामान्य छन्द **प्रमा** नाम से प्रसिद्ध है। द्युलोक एव तद्गत दिव्यपदार्थों का छन्द **प्रतिमा** है। एव आपोऽगत दिकस्वरूप सम्पादक छन्द **अस्रीवि** नाम से प्रसिद्ध है। याज्ञिक परिभाषानुसार **मा प्रमा प्रतिमा अस्रीवि** ही क्रमश **गायत्री त्रिष्टुप जगती अनुष्टुप्** नाम से व्यवहृत होते हैं। **गायत्री पार्थिव छन्द है**। **त्रिष्टुप आन्तरिक्ष्य छन्द है**। **जगती दिव्य छन्द है**। **एव अनुष्टुप् आप्यछन्द है**। पृथिवीलोक **अग्निभू स्थान** के अनुसार आग्नेय है। अतएव अग्नि **गायत्रीछन्दा** कहा जाता है। **वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्ष स्थान** (या नि) के अनुसार अन्तरिक्ष में **मरुत्वान् इन्द्र** की सत्ता मानी जाती है। अतएव इन्द्र को **त्रिष्टुपछन्दा** माना जाता है। **सूर्य्यो द्यु स्थान** के अनुसार सूर्य्य सावदैवत्य होता हुआ विश्वेदेव है। अतएव विश्वदेव को जगतीछन्दा माना जाता है। एव प्राजापत्यविवत्त को **आस्रीविच्छन्दा** माना जाता है। **गायत्री त्रिष्टुप जगती अनुष्टुप** चारों **ही छन्दस्याग्नि** हैं। इन्हीं चारो आयतनो में क्रमश **अग्निमय वसु वायुमय रुद्र आदित्यमय विश्वेदेव तथा आपोमय आप्त्यादेवता प्रतिष्ठित रहत हैं**। सम्पूण दवता इन्हीं चारा छन्दो पर प्रतिष्ठित रहते हैं। अतएव वाङ्मय इन छन्दो को **अश्व** नाम स व्यवहृत किया गया है। अग्नि के भी छन्दोमय **अश्वस्वरूप** को लक्ष्य में रखकर– **अश्वो न देववाहन** (यजु) कहा जाता है। यह छन्दस्याग्नि आयतन–स्वरूप है। **अतएव हम इसे सत्याग्नि** भी मान सकत ह। यही तीसरा अग्नि है।

४-सावित्राग्नि —

चौथा है सावित्राग्नि। सौरप्राणाग्नि ही **सावित्राग्नि** नाम से प्रसिद्ध **है**। यही प्रकृत का मुख्य स्तम्भ है। यह भी सूर्य्यकेन्द्र से बद्ध होने के कारण **सत्य** ही है। सम्पूण सौरदेवता निरन्तर इसी सत्य सावित्राग्नि की आराधना करते रहते हैं।

प्रकारान्तर से पूर्वोक्त चारों अग्नियों का स्पष्टीकरण इसप्रकार समझना चाहिए कि-पृथिवी अन्तरिक्ष द्यु तीन लोक हैं। तीनों लोकों के अधिष्ठाता क्रमश अग्नि वायु आदित्य हैं। अग्नि रसाग्नि है वायु आत्तवाग्नि है आदित्य सम्वत्सराग्नि है। इन तीनों लोकों की सीमा मे पन्न करने वाला आयतनरूप अग्नि छन्दस्याग्नि है। पार्थिव रसाग्नि भूपति कहलाता है आन्तरिक्ष्य आत्तवाग्नि भुवनपति कहलाता है एव सीमासम्पादक छन्दस्याग्नि भूतानापति नाम स प्रसिद्ध है। ये ही तीनों अग्निभ्रातर नाम स प्रसिद्ध हैं। प्रकृत में चतुर्द्धा विहिता ह्यग्नि से शुक्राग्नि के विवर्त्त भूत ये ही पूर्वोक्त चार अग्नि अभिप्रेत हैं—

१—रसाग्नि ——पार्थिवाग्नि ——सर्याग्नि —भूपति
२—आत्तवाग्नि —आन्तरिक्ष्याग्नि —ऋताग्नि —भुवनपति
—सावित्राग्नि —दिव्याग्नि —— सत्याग्नि —सर्वपति
४—छन्दस्याग्नि —आयतनाग्नि ——सत्याग्नि —भूतानापति

} शुक्राग्नि

———*———

१—प्रथमाग्नि ——गायत्राग्नि ——अपानाग्नि ——अङ्गिराऽग्नि गृहपति

२—द्वितीयाग्नि ——वायव्याग्नि ——व्यानाग्नि — पञ्चप्रयाजा

३—तृतीयाग्नि — आयतनाग्नि ——छन्दस्याग्नि — त्रयोऽनुयाजा

४—चतुर्थाग्नि ——सम्वत्सराग्नि ——प्राणाग्नि —— सावित्राग्नि

प्रकरण के आरम्भ मे हमने पार्थिव आङ्गिरोऽग्नि को हव्यवाट् कहा है। परन्तु वस्तुत अङ्गिरोऽग्नि नामक रसाग्नि हव्यवाट नहीं है अपितु सौर सावित्राग्नि ही हव्यवाट है। पार्थिव अङ्गिराऽग्नि पृथिवी की प्रातिस्विक वस्तु है।

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्वारुहन्।
प्रभूर्जयो यथा पथि द्यामङ्गिरसो ययु ॥
—यजु स

उक्त श्रौत सिद्धान्त के अनुसार यह पार्थिव अग्नि निरन्तर द्युपथ की ओर जाया करता है। उधर से सौर सावित्राग्नि निरन्तर भूपिण्ड की ओर आया करता है। द्युलोक से आगत सावित्राग्नि सत्य है। अतएव यह नियत पथ का अनुगामी है। सूर्यरश्मि के सम्मुख आप एक तिल रख दीजिए रश्मि उसे छेद नहीं सकेगी अपितु तिल से टकराकर पुन उसी आगमनमार्ग से परावर्त्तित होजायगी। यही इसका सत्यभाव

है। यही अवस्था भूपिएन्ड के अवरोध से इस मानत्राग्नि की होती है। भूपिण्ड से टकराकर सावित्राग्नि पुन परावर्तित होजाता है। जाता हुआ यह सावित्राग्नि द्यु पथ की ओर जात हुए अङ्गिरोऽग्नि से सश्लिष्ट रहता है। केवल इमी सहचरभाव को लक्ष्य में रखकर हमने पूव में अङ्गिरोऽग्नि को इ यवाट् कह दिया है। वस्तुत इ यवाट अग्नि प्रतिफालत सौरसावित्राग्नि ही है। प्रतिफलित सावित्राग्नि ही आदत्याग्नि है। अङ्गिरा और आन्दित्य दोनों स्वग (सोरलोक) लोक की ओर जारहे हैं। अङ्गिरा और अ दि य की स्पर्द्धा म आदि य ही प्रथम स्वगलोक में जाने में समथ होते ह। कारण पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि की अपेक्षा प्रतिफलित आदि याग्नि ही अधिक बलवान् है। इसी स्पर्द्धाभाव को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहते हैं—

१— आदित्याश्च ह वाऽअङ्गिरसश्च उभये प्राजापत्या अस्पर्द्धन्त—वग पूर्वे स्वग लोकमेष्याम। वग पूवऽइति। त आदत्याश्चतुर्भिस्तोमैश्चतुभि पृष्ठैर्लघुभि मामभि स्वग लोकमभ्यप्लवन्त। यदभ्यप्लवन्त—तस्मादभिप्लवा। अन्वश्च इवाङ्गिरस सर्वै स्तोमै स पृष्ठैर्गुरुभि सामभि स्वग लोकम-स्पृशस्तस्मात् पृष्ठय'।

—शत १२ का ।२ ६-१ -११ इति।

२—'द्वय्यो ह वा इदमग्र प्रजा आसु —आदित्याश्चैवाङ्गिरसश्च।

—शत ३।५।१।१३।

३—अदित्याश्चाङ्गिरसश्च तत् सत्र ममदधत। आदत्यानामेकविंशतिरङ्गिरसां द्वादशाह।

—ता ब्रा २४।२।२

४—आदित्या वा इत उत्तमा सुवर्गं लोकमायन्। ते वा इतो यन्त प्रतिनुदन्ते।

—तै ब्रा १।१।६।८

५—(आदित्या) स्वग लोकमायन्नहीयन्ताङ्गिरस।

—ता ब्रा २४। ।

६— ते हादित्या पूर्वे स्वर्गं लोक जग्मु पश्चेवाङ्गिरस षष्ट्यां वा वर्षेषु।

—ग ब्रा ४ १

७—'तान् हादित्यानङ्गिरसो गाजयाञ्चक्रु'।

—गो उ ६।१४

उपर्युक्त प्रमाणो से यह भलीभाँति सिद्ध होजाता है कि आदि याग्नि ही पहिले २१ विशस्थाना-त्मक स्वगस्थान में पहुँचता है। यही सम्वत्सराग्नि है। यहा अङ्गिरा का भी समन्वय होता है। अङ्गिरा

स्वगत हविर्द्रव्य का पहिले आदित्य म समर्पित कर दता है। इसी अभिप्राय स— **तान्–अङ्गिरसा यान याश्चक्रु** य कहा है। अङ्गिरा क द्वारा समर्पित पार्थिव सोमरूप वि को दवता म पहुचाना एकमात्र आदित्यात्मक सावित्राग्नि का ही कार्य है। वा अग्नि प्रतिफलित होकर सूर्य की ओर जाता है वही **अश्व** नाम से व्यवहृत होता है। इस **अश्वाग्नि** म (**सावित्राग्नि** म) पार्थिव आङ्गिरा का भाग भी प्रविष्ट है आन्तरिक्ष्य आप इसका आत्मा है। इसप्रकार **पार्थिव अग्नि सोर अग्नि आन्तरिक्ष्य आप** तीनो के समन्वय से इस **अश्व** का स्वरूप निष्पन्न होता है। पृथिवीपृष्ठ स सक्रान्त उषा सका **मुख** है। यहा से २१ विशपर्यन्त यह **अश्वपशु** खडा हुआ है। इसी के आधार पर पार्थिव सोमान्न सौर आहवनीय अग्नि म आहुत हुआ करता है। अत हम स प्रतिफलित सौर सावित्राग्नि को ही प्रधानरूप से **हव्यवाट्** मान सकते ह।

सौर सम्वत्सराग्नि में ही आहुति हाती है एव सौर सम्वत्सररूप अग्नि के द्वारा ही आहुति होती है। पार्थिव **अङ्गिरोऽग्नि** एव सोर **सम्वत्सराग्नि** का क्योकि एक ही स्थान पर समन्वय होता है इस दृष्टि से पार्थिव आङ्गिरोऽग्नि भी **हव्यवाट्** मान लिया जाता है। यज्ञकर्त्ता यजमान सौर साम्वत्सरिक दिव्यतत्व को स्वमानुषात्मा म प्रतिष्ठित करने के लिए ही यज्ञ करता है। यज्ञात्मस्वरूपसिध्दि के लिए इसे इस दिव्य प्राण को स्वात्मा में प्रतिष्ठित करना आवश्यक है। एतदर्थ ही इसे आहुति देनी पडती है। यह आहुति कौन दता है? किस अग्नि के द्वारा यजमानदत्ता पार्थिवी आहुति सोर दिव्य प्राणाग्नि मे प्रतिष्ठित होती है? **आप्त्याविज्ञान** एकमात्र इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है।

जिस अग्नि म आहुति दी जाने वाली है वह दिव्य है। अत उसके सान्निध्य से वही अग्नि आहुति पहुचा सकता है जो कि स्वय भी दिव्यभावापन्न हो। आहुति की तो कथा ही दूर है यज्ञ करने का अधिकार भी यजमान को तब प्राप्त होता ह जबकि वह दिव्याग्नि को **अग्न्याधान** कर्म्म के द्वारा पहिले अपने शरीरस्थ मानुषाग्नि में प्रतिष्ठित कर लेता ह। **देवता का देवता के साथ ही सम्बन्ध होसकता है।** अनाहिताग्नि यजमान साधारण यथाजात मनुष्य है। इस मानुष भाव को दूर करने के लिए ही सबसे पहिले उसे उस दिव्य–सौर–तत्व को आहित करना पडता है। बिना **अग्न्याधान** के इस **अग्निहोत्र** का भी अधिकार नही मिल सकता। जब केवल यज्ञ करने के सम्बन्ध मे ही यह स्थिति है तो सुतरा यह सिद्ध होजाता ह कि दिव्याग्नि के साथ आहुति का सम्बन्ध करने का सामर्थ्य भी एकमात्र दिव्याग्नि में ही ह। **पार्थिव–रसाग्नि [अङ्गिरोऽग्नि]** द्युलोक में जारहा है किन्तु पार्थिव होने से यह विजातीय ह। अत प्राकृतिक नित्ययज्ञ में यह **होतृप्रवरणकर्म्म** में अनुपयुक्त है दूसरा आन्तरिक्ष्य ऋताग्नि ह। दिव्याग्नि सत्य है यह ऋत ह।

इसी विजातीय–भाव के कारण यह भी **होता** बनने में असमर्थ है। तीसरा छन्दस्याग्नि है। यह भी आयतनमात्र है। वस्तु की सीमा बनाना ही इसका एकमात्र मुख्य कर्म्म है। अत यह भी **होता** बनने में असमर्थ ही है। **पार्थिवाग्नि** एव प्रतिफलित **सौरसावित्राग्नि** इन दोनो के सम्बन्ध से मध्यस्थ आन्तरिक्ष्य **ऋताग्नि** एव तीनों अग्नियों का स्वरूप–समर्पक अतएव तीनों से नियबद्ध **छन्दास्यग्नि** चारो ही द्युलोक की ओर जारहे हैं। इन चारो में विजातीयता के कारण पार्थिव आन्तरिक्ष्य एव छन्दस्याग्नि इन तीनों

अग्नियो का दिव्य सम्वत्सराग्नि के साथ स ब व नही होने पाता। ि्य आहवनीय अग्नि म पार्थिव ओषधि-रसरूप आहुति का वहन करने वाला एकमात्र ातफलित सोर आग्न ही है। इसको हमने आग्न्त्याग्नि ए। सावित्राग्नि नाम से व्यवहृत किया है।

पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि भी ऊपर स्वग का ओर जारहा े एव प्रतिफलित ा य आ ायग्नि भी स्वग की ओर जारहा है। दोनो में- वय पूनम् नय पूामू यह प्र ि पद्धा हारही ह। स प्रतिस्पर्द्धा म पूवकथनानुसार आदित्य ही विजयलाभ करने में समथ ाते ह। सम्पूण आप्त्यात्राह्मण म दि य आहवनीयाख्य सम्व-सराग्नि के साथ चतुद्धा विभक्त अग्नियो मे से कानसा अग्न पाथ व हवि का सम्ब ध कराता है एकमात्र स्मी प्रश्न का समाधान किया गया है। पार्थिव अग्नि म य है। अमृतदवताओ की दृष्टि म यह आग्न मरा हुआ है। म य भावापन्न है। अन्तरिक्ष्य ऋताग्नि ऋत है। यह भा स याग्नि के लिए म य ही है। न अग्नियो का सीमत बनाने वाला छन्दस्याग्नि भी अमृताग्नि की ष्टि म म य ही है। स्मा विज्ञान का लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—प्रथम (अङ्गिरसाऽग्नि) द्वितीय (छ दस्याग्न) ऋताग्न (वाय-व्याग्नि) तीनो ह मर गय। यज्ञकर्म स विमुख हाते हुए अपन आपका पानी क समर्पित कर दिया।

भूपिण्ड स य है। यह ऋत स वष्टित है। ऋतमव परमेष्ठी के अनुसार ऋत पारमेष्ठ्य अपतत्त्व है। उ क्त अङ्गिरसाऽग्नि वाय य ऋताग्नि छन्दस्याग्नि तीनो ही स पारमेष्ठ्य पार्थिव अर्णव-समुद्र * में लीन रहत हैं।

यद्यपि सावित्राग्नि भी पारमेष्ठ्य समुद्र मे हा लीन रहता है। कारण-पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि आन्तरिक्ष्य ऋताग्नि एव प्रतिफलित ि य आद याग्नि ताना का स्वरूपसमपक गायत्र त्रैष्टुभ-जागत भेद भिन्न छन्दस्याग्नि चारो ही अग्नि द्यु लोक की ओर जारह है। द्यु-भूपिण्ड के बीच में पारमेष्ठ्य अर्णव समुद्र है। द्यु लोक की ओर जाने वाले चारो ही अग्नि समुद्र में याप्त हैं। परन्तु इन चारो में मत्यभाव के कारण अमृतभावापन्न सौर दवताओ की दृष्टि म अङ्गिरा ऋत-छन्दस्याग्नि ये तीनो तो सवथा मर ही हुए हैं। परन्तु चौथा सावित्राग्नि अमृताग्नि है। यह केवल पानी में व्याप्त है। मरा नहा है। अर्थात् म य नही अपितु अमृत है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

चतुर्द्धा विहितो । स यम् (अङ्गिरसोऽग्नि) स प्राधन्वत। य (ऋताग्नि) स प्रैवाधन्वत। य (छन्दस्याग्नि) स प्रैवाध वत। योऽयमेतह्य ग्नि (प्रतिफलित सौरसावित्राग्नि) स भीषा निलिल्ये। सोऽप प्रविवेश । इति।

---

* रोदसी कन्दसी सयती इन तीनो त्रलोक्यो के क्रमश अर्णव सरस्वान नभस्वान् नामक तीन समुद्र हैं। प्रकृत स्तौम्यत्रिलोकी का रोदसीत्रलोक्य में अन्तर्भाव है। अतएव स पार्थिवसमुद्र को हमने— अर्णव नाम से व्यवहृत किया है। यही समुद्र पार्थिव-सम्वत्सर का जनक माना गया है।

प्रतिफलित अग्नि याग्नि प्राणापानन् व्यापार करता हुआ ही द्युलोक की ओर जाता है। यही गति प्राणापानव्यापार है। इधर शब्द म—वीचरूप म परगत होता हुआ ही यह अग्नि ऊपर जाता है। वीचि में कम्पन है। इसी कम्पन—भाव म परिणत होता हुआ आदित्याग्नि आर्विसमुद्र में व्याप्त होता है। इस कम्पनविज्ञान का लक्ष्य म रखकर ही—स भाषा निलिन्य कहा है। जिसकी प्रतिष्ठा उच्छिन्न न हो और वह गतिमत बन जाय यही भय किञ्चिच्चलने के अनुसार भय किंवा भीषा है। आप सडक पर जारहे है। यदि सावधानी से आप आवगज ढालू भूमि पर पर रखदेंगे तो भी आत्मा अविचाली रहेगा भय न होगा परन्तु असावधानी से प्रमादावस्था म एक वितस्तिमात्र ढालू प्रदेश में भी आपका पैर स्खलित हो जायगा तो आत्मा किञ्चिच्चलित होजायगा। आत्मा मे धक्कासा लगेगा। किञ्चिच्चलना—वस्थारूप भय का यही प्रयत्न निदर्शन है। प्रतिफलित सौर अग्नि चलता है परन्तु प्रतिष्ठा नही छोडता। यही भीषा निलिन्ये है।

प्रकरण के आरम्भ म हम बतलता आए है कि सौर सावित्राग्नि दो स्वरूपों में परिणत होकर भूपिण्ड से सम्बन्ध रखता है। साक्षात्रूप से सौर तेज भूपिण्ड की ओर निरन्तर आता रहता है। साथ ही भूपिण्ड से टकराकर प्रतिफलित होता हुआ वही सौरतेज किंवा सावित्राग्नि द्युलोक की ओर जाया करता है। जाता हुआ सौ तेज अग्निप्रधान है एव आता हुआ सौरतेज इन्द्रप्रधान है। यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी इस आप्त सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड में अग्नि की प्रधानता है। इसी अग्नि का प्रधानता से भूपिण्ड म सम्बन्ध कर द्युलोक की ओर जाने वाला एव आन्तरिक्ष्य—समुद्र में लीन होने वाला सौरतेज अग्निप्रधान बन जाता है एव द्युलोक से साक्षाद्रूप से आनेवाला सौरतेज इन्द्रमय रहता है। इधर से सौर अग्नि जारहा है। यही मेध्यअश्व है जिसका कि विशद निरूपण अश्व—मेध नामक अतियज्ञ करणप्रकरण म किया जाने वाला है।

उधर से सौर इन्द्र आरहा है। अग्नि और इन्द्र दोनों का आन्तरिक्ष्य अर्णवसमुद्र में सम्बन्ध होजाता है। अग्नि और इन्द्र दोनो यहा मिल जाते है। इन्द्र सब देवताओ के (सौर देवताओं के) उपलक्षण है। पार्थिव देवता अग्निप्रधान है अत पार्थिव देवताओ के सम्बन्ध में जसे अग्नि सर्वा देवता यह निगम प्रचलित है एवमेव इन्द्रप्रधान द्युदेवता (सौरदेवताओं) के सम्बन्ध में—इन्द्र सर्वा देवता यह प्रामाण्य है। इन्द्रप्रधान सौरदेवता अमृत है। इनकी दृष्टि में प्रथम—द्वितीय—तृतीय अग्नि मरे हुए है। उनके साथ इन सौर देवताओ का सम्बन्ध नही होने पाता। सम्बन्ध होता है एकमात्र सजातीय प्रतिफलित सौर अमृताग्नि के साथ ही। इससे सम्बन्ध कर इन्द्र असुरो को मारने में समर्थ होते हैं। प्रति—फलित सौर अग्नि का ही आते हुए इन्द्रप्रधान सौरदेवताओं के साथ (आन्तरिक्ष्य समुद्र में) सम्बन्ध होता है अन्यों का नही। सो देवताओ ने उस अग्नि को पहिचान कर बलात् पानी में से उसे पृथक कर अपने में मिला लिया। या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत् (या नि) इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार बलप्रयोग एकमात्र इन्द्र का ही धर्म्म है। यही ऐन्द्रबल सह नाम से प्रसिद्ध है—सहने की दूसरों पर प्रभाव डालने की शक्ति इसी सहोबल का कार्य्य है। देवताओंने इसी ऐन्द्रबल के प्रभाव से उस आगच्छत् सौर अग्नि के साथ सम्बन्ध स्थापित किया इसी ऐन्द्रबल को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

सोऽप प्रविवेश। ते देवा अनुविद्य सहसैवाद्भ्य आनिन्यु ।

किसी समाज का कोई व्यक्ति या अन्य समाज म चला जाता है एव वही समाज यदि उस बिछुडे हुए को कही देख लेता है तो उसे पहिचानता हुआ वह समाज बलात उस अपने मं मिला लेता है। वही स्थात यहा है। जो सौर आग्न बिछुड कर भूलोक की ओर चला गया था। वह आज पहिचाना जाकर बलात् उसी ऐन्द्रदल मे मिला लिया गया। इसी अभिप्राय से अनुविन्न कहा है। पाथिव (प्रतिफलित सौर) अग्नि के द्वारा ही भूलोकस्थ हवि द्युलोकस्थ सौर स व मर नामक आ वनीय अग्नि में आहुति होता है। अग्ना प्रास्ताहुति सम्यगादित्यमुतिष्ठते के अनुसार पाथिव प्रतिफलित सौर अग्नि अपने विशकलन-धम्म से हुत पार्थिव ओषाधरसरूप हाव का विशकलन कर डालता है वह रस प्राणरूप में परिणत होता हुआ प्राणरूप अमृतभावापन्न सौर दवताओ म प्रतिष्ठत हाजाता है। इस आहुतिक म से दिव्य सौर देवताओं का प्रतिफलित सौर अग्नि के साथ जो सम्बन्ध होता ह वही कम्म होतृप्रवरण कहलाता है।

प्रकृतियज्ञ मे नित्य प्राणन्वता स्वयज्ञ की सिद्धि के लिए आग्न का होतृ वन वरण किया करते है। त नुसार ही नित्य प्राकृतिक यज्ञ की विधा के अनुसार वितत हाने वाले इस मनुष्ययज्ञ मे भी आहुति क लिए अग्निमूर्त्ति होता का वरण किया जाता है। चारो ही अग्नि भूपिण्ड से द्युलोक की ओर जाते हैं। परन्तु चारो म स सजातीय स ब ध के कारण केवल प्रातफलित सौर अग्नि के साथ ही दिव्य सौर देवताओं का सम्बन्ध होता है यही ता पर्य है। चारा आग्नयो मे से पार्थिव अग्नि केवल पार्थिव अन्न का परिपाक करता है। अन्न को विशकलित कर द्युलोक में पहुँचा देना इस पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि की शक्ति से बाहिर है। अत इसे ऋषिने वरणकम्म के अयोग्य ठहराया है। आन्तरिक्ष्य वाय याग्नि मन्युत् है। प्राणियो म ओजबल का सञ्चार करना एकमात्र इसी का मुख्य कार्य्य है। आकाश में जो विद्युत् का सञ्चार देखा जाता है वह भी इसी वायव्याग्नि की महिमा है।

समय समय पर विविधरूप से देखे जाने वाले आकाश के क्षणस्थायी प्रकाशपुञ्जो को देखकर साधारण मनुष्य नक्षत्र टूटने का अनुमान लगाया करते है। परन्तु यह सवथा भ्रान्ति है। नक्षत्र सवथा स्थिर पदाथ हैं। उन की स्थान्च्युति से तो प्रलय होजाता है। * न क्षरति इस व्युत्पत्ति स नक्षत्र क्षरण-भाव से [विच्युति से] सवथा रहित है। नक्षत्र सवथा अविचाली हैं। व कभी नही टूटा करते। उपर्युक्त वाय याग्नि आकाश में बडे वग से इतस्तत प्रवाहित है। इस वायव्याग्नि को मरुत् नाम से व्यवहृत किया जाता ह। रोदसी-त्रलोक्य में स्थिररूप से व्याप्त रुद्रतत्त्व से इस मरुद्वायु का ज म होता ह। मरुत् से समीरण नाम के वात का प्रादुर्भाव होता है। जिसे साधारण मनुष्य वायु कहते हैं जिसके स्पश का अनुभव होता है जो वायुतत्त्व वाहकशक्ति के द्वारा एक दूसरे पदार्थों के रस को लेकर एक दूसरे पदार्थों की कमी पूरा करता हुआ भैषज्ययज्ञ किया करता ह वही समीरण नामक वायु वात आवात भेषजम् के अनुसार वात नाम से प्रसिद्ध ह। वात शब्द एकमात्र बहन वाले स्पशधर्म्मा वायु म ही निरूढ ह। इसका जनक मरुत् है।

---

* सूर्य्य सवथा स्थिर है। भूपिण्ड सूर्य्य के चारो ओर क्रान्तिवृत्त पर घूमता है। सूर्य्य के इस स्थिरभाव को लक्ष्य में रखकर वैज्ञानिकोने— एतद्वै-अनपराद्ध नक्षत्र यत् सूर्य्य (श २।२।२६) के अनुसार सूर्य्य को नक्षत्र नाम से व्यवहृत किया है।

मरुद्वायु की सात अव थाए ह । न्द्रप्राण क प्र श से प्रत्येक मरुत् सप्तधा २ विभक्त होजाता ह । इसप्रकार सात सप्तकों के ४ मरुत् होजात ह । नका नक पूर्वोक्त रुद्राग्नि किंवा रुद्रवायु है । इसी विज्ञान के आधार पर— मरुता रुद्रपुत्रास यह कहा जाता ह । इन ४८ सो मरुतों की गति भिन्न भिन्न है । कोइ पूव से पश्चिम कोइ पश्चिम म पूव दक्षिण से त्तर उत्तर स दक्षिण इसप्रकार बड वग से प्रवाहित रहता है । जसे भूपिण्ड पर नद न ी धाराए भिन्न भिन्न प्र स प्रवाहित रहती हैं ठीक इसीप्रकार आकाश म वायुधाराए इत तत प्रवाहित ह । नके पारस्परिक आघात–प्रत्याघात से अग्नि उत्पन्न होजाता ह । इसी की तारा धिष्ण्या उल्मुक वज्र य चार अवस्थाए प्रत्यक्ष है । मानलीजिए–एक वायु पूव म पश्चिम की ओर जा रहा एक पश्चिम स पूव की ओर आरह है । दोनो के प्रान्तभाग का यदि स्पश होजाता ह तो क्षणमात्र के लिए घषग से अग्नि उत्पन्न होजाता ह यही तारा टूटना है । यदि अधिक वग म घषण होता ह तो अधिक ज्वाला निकल पडती ह । यही धिष्ण्या किंवा विद्युत् है । यदि और भी अधिक वग होता है तो बडा भारी प्रकाश निकलता । मूल में यह थोडा होता ह । किंतु इसका अवसान विशाल हाता । यदि एक वायु दूसरे वायु पर आरूढ होजाता ह तो महान् शब्द के साथ यह ज्वालापुञ्ज निकलता । वह इतना घन होता कि उसे आकाश में ही विशकलित होने का अवसर नही मिलता अपि तु वह भूपिण्ड म गिर पडता ह । य वह लोह में गिर पडता है तो लौहा फौलाद बन जाता है । जिस थान पर गिरता है वहा का धरातल छिन्नभिन्न होजाता है । त समीपवर्ती वृक्षादि जल जाते हैं । यही वज्र है । वज्र का उ य तभी होता है जबकि दोनो वायु समान बल वाले होते हैं । यदि एक वायु निर्बल हाता है तो सबल वायु निर्बल को स्व आक्रमण से अभिभूत कर देता है । ऐसे समय में विस्फोटन नही होता अपितु निर्बल वायु उसका दबा कर भूपिण्ड की ओर आता हुआ किसी पवतकन्दरा में भूगर्त्तों में अथवा और कही जहा भी रिक्तस्थान मिलता है व ा प्रविष्ट होजाता है । इससे वहा का प्रदेश विकम्पित हो पडता है । यही * वायव्य भूकम्प कहलाता है ।

उक्त तारा–धिष्ण्या–उल्मुक–वज्र इन चारो म तारा उत्पात सदा ही हुआ करता है । विशेषत जब सूय मघानक्षत्र पर आता है तब तो यह चरित्र सवथा द्रष्टव्य बन जाता है । शेष तीनों का अधिक प्रकोप वषा में होता है । प्रकृत में बतलाना केवल यही है कि इस वायव्याग्नि के उक्त काय्य है । अतएव के कारण यह भी हविर्वहन करने म असमथ ही है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर इस द्वितीय अग्नि को भी ऋषि न प्रव ग्य म क अ ाग्य ही ठहराया ह ।

तीसरा छन्दस्याग्नि वयोनाधमात्र ह । वस्तु का बन्धन करना ही वयोनाध का काय्य है । छन्द तो आकारमात्र है । उसका काम वस्तुस्वरूप– पादन करना है न कि हविर्वहन करना । अत इसे भी प्राधन्वत् कोटि में ही अन्तभूत माना गया ह । अब शेष रह जाता ह—प्रतिफलित सौर अग्नि । वही एकमात्र हव्यवाहक बनता है । यह उत्तर की ओर जाता हुआ आपोमय समुद्र में प्रविष्ट हो–

---

* आप्य वायव्य आग्नेय ऐन्द्र भेद से भूकम्प चार प्रकार के होते हैं । इनका विशद विवेचन ग्रहणविज्ञान म देखना चाहिए ।

पडता ह। **सह्राबल** के द्वारा सौरप्राणवत्ता इसे निकाल कर अपना यज्ञ सिद्ध कर लेते हैं। यही निष्कष ह ।

प्रातफालत सार अग्नि पानी में प्रविष्ट है। इसमें सोम्य अन्नरस प्रतिष्ठित है। इसके सम्ब घ से यह अग्नि प्रज्ज्वलित रहता है। अन्नाद अग्नि तभीतक प्रज्ज्वलित रहसा है जबतक कि उसके साथ अन्न (सोम) का सम्ब घ रहता ह। बिना अन्न के आग्नेय प्राण पर आप्य वारुण प्राण का आक्रमण होजाता ह। उदा- हरणाथ अध्या मयज्ञ को ही लीजिए। जबतक शारीराग्नि म अन्नसोम की आहुत होती रहती ह तब्रतक शरीराग्नि प्रदी त रहता ह। आहुति के अवरोध करने पर अथवा अवरोध होजाने पर अग्नि मूर्च्छित हो- जाता है। चिरकाल पय्य त यदि अन्नाहुात अवरुद्ध होजाती ह तो अन्नसत्ता पर प्रतिष्ठित रहने वाला शारीर **अन्नादाग्नि** उ क्रान्त होजाता ह। उसी समय शरीरस्थ आपोमय वरुण का साम्रा य हो जाता है। शरीर सडने लगता है।

प्रकृतियज्ञ में जब इन्द्रप्रमुख देवताओ का हवि के कारण आपोमय म डलस थ सोर अग्नि के साथ सम्ब ध हुआ तो शेष पानी दूषित होगया। दूसरे श दो म अन्नमय अग्नि का देवताओ के साथ सम्ब घ होगया और वारुणाग्नि वही रह गया। यही अ। न का **निष्ठीवन** (**थू कना**) ह। यह सौर अग्नि आन्त- रिन्य आप से निकला है आ तारन्य आप में यह प्रतिष्ठित रहता है इसलिए **अप्सु भवा** इस व्यु पत्ति के अनुसार न्स अग्नि को **आप्त्या** कहा जाता ह। आपच दवताओं के द्वारा यह अग्नि आप्त (प्राप्त) हुआ है इसलिए- **देवैराप्ता** के अनुसार भी न्से **आ ्या** कहा गया है। अपिच यह **आपोमय अग्नि** है इसलि भी न्से **आप्त्या** कहा जासकता ह अपिच यह न्वताओ के साथ **ऐकात्म्यभाव** को **प्राप्त** रहता है इसलिए भी इसे **आप्त्या** कहना ाचत ह।

सौर दि यप्राण **त्रिस य** ह बिना त्रित्त्वभाव के दवता का कोइ काय्य नही होता। कारण स्पष्ट है। अव्ययपुरुष मनोमय हान स ज्ञानप्रध न है क्षरपुरुष वाङ मय होने से अथप्रधान ह। एव मध्यस्थ अक्षर पुरुष प्राणमय होने से क्रियाप्रधान है। मनोमय अव्यय **आत्मसृष्टि** का अधिष्ठाता है प्राणमय अक्षर **देवसृष्टि** का अधिष्ठाता है एव नाङ मय क्षरपुरुष **भूतसृष्टि** का सञ्चालक ह। **आत्मा-देवता-भूत** तीना की प्रतिष्ठा क्रमश **अ यय—अक्षर—क्षर**-पुरुष हैं। न्न तीनो का निकास क्रमश **स्वयम्भू परमेष्ठी सूय्य च द्रमा प्रथिवी** न्न पाचा विश्व-अवयवो म होता है। स्वयम्भ् परमेष्ठी दोनो ज्ञानप्रधान हैं यहा अ यय का विकास है। यही प्रजापति की आ मसृष्टि है। चिदा मा की यानि अ यक्त नाम स प्रसिद्ध स्वय भू-गर्भित **महाना मा** नाम से प्रसिद्ध परमेष्ठी ह। पृथिवी च द्रमा दोना म अ र की प्रधानता है। चन्द्रगर्भिता प्राथवी ही भूतसृष्टि की अधिष्ठात्री ह। विश्व के हृदय-स्थानीय सूय्य में अक्षर का विकास है। य सौर अक्षर- **अक्षरमिति** यक्षरम् के अनुसार ह्र द-य भेद स यक्षर है। ब्रह्मा **विष्णु-इन्द्र** की समष्टि ही **अन्तर्यामी** अक्षर है। यही प्राणमय दवताओ का विकासभूमि है। देवप्राण यक्षर से द्ध होने के कारण ही **त्रिस य** है। बिना त्रिभाव के दवता की स्वरूपनि पत्ति नही होता। इसी विज्ञान के आधार पर- **त्रि सत्या वै देवा** यह अनुगमन वचन प्रचलित है।

१–अ ययपुरुष आत्मसृष्टि स्वयम्भू परमेष्ठो
–अक्षरपुरुष -देवसृष्टि —सूर्य
३–क्षरपुरुष —भूतसृष्ट —चन्द्रमा पृथिवी

हृ—इत्येकमक्षरम्
द—इत्येकमक्षरम् } अक्षरमिति यक्षरम्'– त्रि सत्या वै देवा '
यम्–इत्यकमक्षरम्

अपिच—दवप्राण अग्नि–वायु–आदि य–भेद से त्रिधा विभक्त है। एक ी त व की घन–तरल–विरलावस्था आग्न–वायु आदि य ह। तीनो एक वस्तु है। तीनो का समुच्चितरूप ही देवता है। इसलिए भी दवता का त्रिस य माना जाता है। इस त्रिस यभाव के कारण ही वह आप्त्याग्नि त्रिधा विभक्त होजाता है। सोरप्राणाग्नि दवता है। उसके भी अग्नि–वायु–आदि य तीन ही रूप है। तीनो देवता क्रमश प्रात सवन माध्यदिनसवन सायसवन न तीन सवन के आधष्ठाता है इसी त्रिसत्य स वह आदि याग्नि त्रिधा विभक्त होजाता है। अग्निदवता म सम्ब ध रखन वाला आप्त्या एकता है वायु से सम्ब ध रखने वाला आ त्या द्विता है एव आदि य से सम्ब ध रखने वाला आप्त्या त्रिता है। अग्नि के साथ एकता आ या का सम्ब ध है। वायु में द्विगुण–मात्रा है। आदि य में त्रिगुण–मात्रा है। एक आ याग्नि की ही प्रथम द्वितीय–तृतीय भेद से तीन अव थाए समझिए। तीनो का क्रमश अग्नि वायु इ द्र क साथ सम्ब ध हाता है। तीनो आ या एक वस्तु ह तीनो दवता एक वस्तु है। अवस्थाभेद स ही आप्त्या भेद है एव अवस्थाभे से ही देवता का भेद है।

सम्वत्सरयज्ञे त्रीणि सवनानि

१— प्रात सवनम् —अग्निप्रमुखवसूनाम्–एकता,
२—माध्यन्दिन सवनम्–वायुप्रमुख–रुद्राणाम—द्विता,
३—माय सवनम्–इ द्रप्रमुख–आदित्यानाम्–त्रिता,

देवताओ में सबसे प्रधान येष्ठ एव श्र ष्ठ देवता इन्द्र है। इधर आप्त्यो में सबसे प्रधान त्रिता नामक आप्त्या है। इसी का इन्द्र के साथ घनिष्ठ सम्ब ध है। सम्वत्सर–त्रिलोकी म द्यु लोक का अधिष्ठाता मघवाइन्द्र है। त्रिता नामक आप्त्या इसीके साथ रहते हैं। इन्द्र के ग्रहण से जसे सब देवताओं का ग्रहण हो जाता है एवमव त्रिता से एकता द्विता नामक दोनो आप्त्यों का भी ग्रहण होजाता ह। ता पय्य यही ह कि देवताओ की त्रिसत्यता के कारण एक ही आप्त्याग्नि की तीन अवस्थाए होजाती है। ये तीनों ही आ त्यादेवता देवताओं के उत्तरोत्तर प्राबल्य के कारण उत्तरोत्तर प्रबल हैं। कारण इसका यही है कि

आ यानि प्रतिफलित सार आ न है। अत त्रिवृत् थानीय एकता और अग्नि पृथिवी के सम्बन्ध से स्वस्वरूप से पूर्ण विकसित नहीं ह। यही अवस्था पञ्चदश स्थानीय आन्तरिक्ष्य द्विता अग्नि की ह। एकविंश-स्थानीय द्युलोक में रहने वाला त्रिता अग्नि स्वस्थान म जाता हुआ पूर्ण विकसित होजाता है। इसी अभिप्राय से आगे जाकर श्रुतिने त्रिता अग्नि को ही त्रिशिरूप त्वाष्ट्र असुर के वध म प्रधान माना ह जसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

इन आप्त्याग्नियों की दो अवस्था ह। आप्त्याग्नि का जो भाग (हविर्युक्त भाग) इन्द्र प्रमुख देवताओं के साथ रहता है वह तो शुद्ध है। किन्तु जो भाग पानी म ही रहता है वह आप्त्या दोषाक्रान्त है। उत्क्रान्त होने वाले पार्थिव अन्नरस म मल भी रहता है। प्रत्येक अन्न म रस मल दोनो रहते हैं। ऊपर की ओर जाते हुए आप्त्या मलरस से युक्त अन्न को लेजा रहे ह। पानी वारुण है। वारुण पानी ही मल की प्रतिष्ठा है। मलभाग वरुण में ही रह जाता है रसभाग को आप्त्याओं क सहयोग से देवता ले लेते हैं। निदर्शन अध्यात्मयज्ञ है। हम जो अन्न खाते हैं वह शारीरिक आपोमय आप्त्याग्नि म ही प्रतिष्ठित होता है। रसभाग प्राणेन्द्रिया-देवताओं के साथ युक्त होजाता है। एव मलभाग उसी शारीर आपोभाग में रह जाता है। वह अपानप्राण के धक्के स स्वेद (पसीना) बन कर निकलता रहता है स्थूलभाग मूलद्वारो स बाहिर फेंक दिया जाता है। अध्यात्मयज्ञ का मलभाग शरीर के आपोमय आप्त्या म ही प्रतिष्ठित रहता है। पसीना-कफ-लाला-मूत्र-मल-ये सब हविर्युक्त आप्त्याग्नि से परित्यक्त पदार्थ ह। सब आपोमय वारुण भाग में प्रतिष्ठित हैं। यही अवस्था अधिदैवत यज्ञ की है। शुद्ध आप्त्याओं से प्रक्षिप्त (फेंका हुआ) मल-भाग आन्तरिक्ष्य आपोमय आप्त्याओं में ही प्रतिष्ठित रहता है। इसी विज्ञान का स्पष्टीकरण करते हुए आप कहते ह—

सोऽपोऽभितिष्ठेवावष्ठ्यूतास्थ या अप्रपदन स्थ ताभ्यो वो मामकाम नयन्ति इति ।

सौर आपोमय अग्नि हीं आप्त्या है। यद्यपि यह है सौर सम्वत्सर की वस्तु। क्योंकि वही तो भूपृष्ठ पर आके प्रतिफलित होता हुआ सौर सम्वत्सर की ओर जारहा है। परन्तु पृथिवी के साथ सम्बन्ध होने के कारण यह पृथिवी के आकर्षण से आकर्षित रहता ह। पृथिवी से आकर्षित रहने पर भी द्युलोकस्थ इन्द्र के सहोबल से इसे द्युलोकस्थ देवताओं के साथ समन्वित होना पड़ता है। इसी आकर्षण-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर — **ताभ्यो वो मामकाम नयन्ति** कहा है। स्वतएव यह अग्नि या सौरदेवताओं के आकर्षण से आकर्षित रहता तब तो— **अकामम्** कहने की आवश्यकता न थी। परन्तु स्वत तो यह पार्थिव आकर्षण से ही आकर्षित है ऐन्द्र-बलप्रयोग के द्वारा ही यह आप्त्या द्युदेवताओं में सम्मिलित होता है। सम्पूर्ण कण्डिका का निष्कर्ष यही हुआ कि चतुर्धा विहित अग्नियो म से **सावित्राग्नि** ही इन्द्रदेवताओं के समीप हवि पहुचता है। यह आपोमय होने से **आप्त्या** है। इसके **मलयुक्त-रसयुक्त** दो रूप हैं। रसयुक्त भाग का देवताओं स सम्बन्ध है एव मलयुक्त भाग का वरुणमण्डल से सम्बन्ध है। शुद्ध आप्त्याग्नि इन्द्र-प्रमुख देवताओं के साथ रहता है। देवत्रयी के कारण **सवनभेद** स इसकी तीन अवस्थाएँ होजाती हैं। ये ही तीनों अवस्थाएँ क्रमश **एकता द्विता त्रिता** नाम स प्रसिद्ध हैं॥१॥

१—'आदित्यो वै ब्रह्म' (ज उ ब्रा ३।४।६)
—ब्रह्म वा अग्नि ' (का ब्रा ६।१।५)
३—'ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मणेति (शत १।४।२।२)
४—'अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारतेति' 'श १।४।२।२)

इत्यादि उक्त निगम-वचनो के अनुसार अग्नितत्त्व ही प्राकृतिक नियदवताओ में ब्राह्मण ह । वर्णो म भी जिसके आत्मा में यह आप्स्याग्नि प्रधान रहता है वह भी ब्राह्मण कहलाता है । ब्रह्म वह अग्नि है जो सवथा शान्त हो । पानी में रहने वाला अग्नि प्रज्वलित रहने वाल तापधर्म्मा अग्नि की अपेक्षा अधिक बलवान् होता हुआ भी ऊपर से शान्त रहता है । इसी अग्नि क सम्ब ध से पानी को लोक में ठढी आग कहा जाता है । यही ब्राह्मणवर्ण का वास्तविक स्वरूप है । ब्राह्मण ऊपर से सवथा शान्त रहता है परन्तु उसका अन्तरात्मा प्रदीप्त रहता है । ब्राह्मणवर्ण-स्वरूप सम्पादक आप्याग्नि ही दवताओं के लिए हवि का भरण करता है अत एव एप हि देवेभ्यो हव्य भरति (शत १।४।२।२) के अनुसार इसे भारत * कहा जाता है ।

यह ब्राह्मणमूर्त्ति-भारत किंवा एष हि देवेभ्यो हव्य भरति तस्माद्भरतोऽग्निरित्याहु (शत १।५।१।८) क अनुसार भरत नाम से प्रसिद्ध आप्स्याग्नि द्युलोकस्थ इन्द्र के साथ सयुक्त रहता है ।

१—क्षत्र वा इन्द्र ' (तै ब्रा २।६।१६।३)
२—'क्षत्र राजन्य (ए ब्रा० ८।६)
३—एन्द्रो वै राजन्य ' (तै ब्रा ३।८।२३।२)

इत्यादि उक्त नैगमिक-सिद्धान्तो के अनुसार इन्द्र देवताओ में क्षत्रिय हैं। जिस वर्ण के आत्मा में यह इन्द्रप्राण प्रधान रहता है वह भी वर्णों में राजन्य (क्षत्रिय) कहलाता है। यह क्षत्र इन्द्र और वह ब्रह्म आप्स्याग्नि दोनो परस्पर सङ्गत रहत हैं। अग्नि इन्द्र का पुरोहित है। अग्नि अभिगन्ता है इन्द्र कर्त्ता है । बिना अग्निब्रह्म के क्षत्र इन्द्र एक क्षणमात्र भी प्रतिष्ठित नही रह सकता। कारण इन्द्र के यज्ञरूप राष्ट्र का स्वरूप-सम्पादन एकमात्र इस अग्निब्रह्म का ही काय्य है। इत प्रदाना ह्येते (उपजीवन्ति) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार भूलोक से जाने वाली श्यैत नाम की आहुति से ही द्युलोकस्थ इन्द्रप्रमुख देवता

* आर्य्यावर्त्त भारतवष क्यों कहलाया ? इस प्रश्न का यद्यपि पौराणिकोन दौष्यन्ति भरत के सम्बन्ध से समाधान किया है और अद्यतन इतिहासवेत्ता ऋषभदेव भरत को तन्नामकरण म प्रधानता दे रहे हैं। परन्तु वैदिकमतानुसार अग्नि के सम्बन्ध से ही यह देश भारतवष कहलाया है। अग्निर्भूस्थान के अनुसार पार्थिव अग्नि ही भरत है। इसीके सम्बन्ध से भारतवष विख्यात है। इस विषय का विशद विवेचन शतपथ के तत्प्रकरण में ही किया जायगा।

जीवित रहने में समथ हात हैं । ब्रह्म ज्ञानशक्ति है क्षत्र क्रियाशक्ति है । ज्ञान का विकास क्रिया (कर्म्म) से ही होता है क्रिया की प्रतिष्ठा ज्ञान ही है । ज्ञान बिना क्रिया के यद्यपि विकसित नही होसकता परन्तु वह स्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित रह सकता है । उसका स्वरूप उच्छन्न नही होसकता । परन्तु क्रिया में यह बात नही है । क्रिया की उत्पत्ति ही बिना ज्ञान के असम्भव है । ज्ञान से इच्छा का विकास होता है इच्छा से क्रतु- (यत्न चेष्टा-अन्तर्व्यापार) होता है। क्रतु से क्रिया (कर्म-बहिर्व्यापार) होता है जैसाकि अभियुक्त कहते हैं—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या क्रतुर्भवेत् ।
क्रतुजन्या भवेत् कर्म्म तदेतत् क्रतमुच्यते ॥ *

ज्ञानमय मन से इच्छा का विकास होता है । वह इच्छा इदं मे स्यात् - इदं कुर्वीय इस क्रतुभाव से सश्लिष्ट रहती है । क्रतु और कर्म्म में अन्तर है । प्राणव्यापार क्रतु है । एवं वाग्व्यापार (स्थूल शरीर का व्यापार) कर्म्म है । अर्द्धाङ्ग का रोगी उठने की इच्छा करता है । तदनुकूल प्राणव्यापार भी करता है च । करता है परन्तु स्थूलशरीर उठने में समथ नही है । अतएव उसकी यह चेष्टा व्यर्थ जाती है । इस-प्रकार क्रतु और कर्म का भेद स्पष्ट प्रतीत होता है । जिसे दार्शनिक यत्न किंवा चेष्टा कहते हैं वही क्रतु है । क्रतु शब्द ही नैगमिक परिवर्त्तन से क्रत रूप में परिणित होगया है । वस्तुत —

स यदेव मनसा कामयते—इदं मे स्यात्, इदं कुर्वीय—इति स एव क्रतु '
—शत ४।१।४।१

हृत्सु क्रतुं क्रतुर्मनोजव प्रविष्ट '
—शत ३।३।४।७

इत्यादि के अनुसार चेष्टा क्रतु शब्द से ही व्यवहृत होती है । प्रकृत में हमें इस प्रपञ्च से केवल यही बतलाना है कि क्रिया की प्रतिष्ठा ज्ञान ही है । ज्ञान ही-ब्रह्म किंवा ब्राह्मण है यही आप्याग्नि है । क्रिया क्षत्र किंवा क्षत्रिय है यही सौर इन्द्र है। दोनो अन्तरिक्ष में सम्मिलित रहकर ही त्वाष्ट्र असुर के वध में समथ होते हैं । इन्द्र असुरों का मारते हैं परन्तु आप्याग्नि की सहायता से । यही अवस्था मनुष्यो में समझनी चाहिए । यदि राजा के समीप योग्य पुरोहित होता है तो वह राजा अपने शत्रुओ को परास्त करने में समथ होता है । बिना ब्राह्मणपुरोहित के निम्मूल होता हुआ राजा शत्रुओ से परास्त होजाता है । इसी ब्रह्मक्षत्रविज्ञान को लक्ष्य में रखकर शतपथीया-श्रुति कहती है—

ब्रह्मैव मित्र क्षत्र वरुण । अभिगन्तैव ब्रह्म कर्त्ता क्षत्रिय । ते हैतेऽग्रे नाने-वासतु —ब्रह्म च क्षत्र च । तत शशाकेव ब्रह्ममित्र ऋते क्षत्राद् वरुणात् स्थातुम् ।

*** इच्छाजन्या कृतिर्भवेत कृतिजन्या भवेत्कर्म्म (लौकिक-पाठान्तर) ।**

न क्षत्र वरुण ऋते ब्रह्मणो मित्रात । यद्ध किंच वरुण कर्म्म चक्रऽप्रसूत ब्रह्मणा मित्रेण । न हैवास्मै तत् समानृधे । सोऽएव पुरोधा । तस्माद्धु क्षत्रियेण कर्म्मकरिष्यमाणेनोपसत्त य एव ब्राह्मण । स हैवास्मै तद्ब्रह्मप्रसूत कर्म्म-ऽर्घ्नोत'

—शत ४।१।४।१- -३-४ ५-६ ।

इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर याज्ञवल्क्य कहते है कि जसे लोक में ब्राह्मण पुरोहित राजा का अनुसरण किया करता ह सी प्रकार आ या इन्द्र के साथ विचरन लगे ।

भपिण्ड और सूर्य के म य म आपोमय प्राण प्रति ठत रहता ह यह पूव में बतलाया जाचुका ह लोकस्रष्टि का अधि ठाता यही आपोमय आसुर त व ह जिसाक पूव के अपाप्रणयन कर्म्म में विस्तार से बतलाया जाचुका है ।

सो मिध्याय शरीरात् स्वात् मिसृक्षुर्विविधा प्रजा ।
अप एव मससजादा तासु बीजमवासृजत् ॥ (मनुस्मृतौ)
अप्सु त मुञ्च भद्र ते लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिता ।
आपोमया सवरसा म मापोमय जगत् ॥ (महाभारते)
अद्भिर्वा इद सवमाप्तम्' (श ६।१।१।८)

'तदब्रवीत्- आभि (स्वदधाराभि तन्रूपाभिरद्भि) अहमिद सर्वं धार-मिष्यामि, सर्वं जनमिष्यामि सर्वमापस्यामि यदिद किञ्च । तद् धाराणा धारात्वम् तज्जायाना जायात्वम् तदपामपत्वम्' ।

—गो ब्रा प १।

उक्त श्रौत मा त्र-प्रमाणों के अनुसार अपत व ही मैथुनीसृष्टि का मूलाधार है । सृष्टि का उपादान-द्रव्य ब्रह्मगर्भित यही सुब्रह्म है । ब्रह्म एव सुब्रह्म क सम वय स ही विश्व एव तद्गता प्रजा का निर्म्माण हुआ है । यह अपत व विश्व का उपादान अवश्य है परन्तु इस एक ही त व मे विविध आकार वाले भू -भुव - व -आादि लोक उपन्न होत ह इस का मुख्य कारण त्वष्टा प्राण है । अपतत्त्व शुक्र है । इस शुक्र के भिन्न भिन्न आकार म परिणत करने वाला त्वष्टप्राण ही है त्वष्टा वै रेत सिक्त विकिरोति त्वष्ट रूपाणि (आकारात्मकानि रूपाणि) पिशतु के अनुसार जसे हरित-नील पीतादि वर्णों का अधिष्ठाता मघवा इन्द्र है एवमेव आकाररूप का अधिष्ठाता त्वष्टाप्राण है । अतएव सृष्टिप्रवर्तक इस अप-त व को हम अवश्य ही त्वाष्ट्र कह सकत ह । य ही विश्व का उपादान है । सवमापोमय जगत् के अनुसार यही विश्वरूप में परिणत होरहा है अत इसे विश्वरूप नामस व्यवहृत किय गया है । असत्प्राण जैसे ऋषि है सौर प्राण जस देवता नामस व्यवहृत हात हैं एवमेव आप्यप्राण असुर कहलाता है । इसी आधार पर त्वाष्ट्र विश्वरूप इस आ तरिक्ष्य मलयुक्त आ याप्राण को असुर कहा जासकता है ।

पूव म हमने आ्याग्नि के विशुद्ध एव मलयुक्त ये दो स्वरू बतलाए ह । पुन इनकी ओर आपका यान आकर्षित किया जाता है । हविर्युक्त विशुद्ध आ्याग्नि का एकता द्विता त्रिता मे भिन्न आप्त्या समझिए । एव इनको इन्द्रप्रमुख दवताओ के साथ सहयोग मानिए । शष बच हुए मलयुक्त आ्या को त्वाष्ट्रविश्वरूप असुर समझिए । यही विशुद्ध वारुण भाग है । सम भी अ न है अवश्य । क्योकि पानी की तरलता— अपा मध्यातो विलयन च तेन मयागात (कणा शन) स सिद्धान्त के अनुसार बिना अग्नि के सम्बन्ध के सवथा अनुपपन्न है । अग्नि ब्राह्मण है इसलिए इस वाष्ट्र विश्वरूप अवमृत्ति असुर को हम आसुरब्राह्मण मान सकते ह । जिसप्रकार किलात और आकुला ब्रह्मासुर ह इसी-प्रकार यह वाष्ट्र विश्वरूप भी अग्नि के सम्बन्ध से आसुरब्राह्मण है । यह दवताओ का विद्वेषी है ।

सौरदवता (इन्द्र के सम्बन्ध मे) प्रकाश के अधिष्टाता ह । अपत व प्रकाश का विरोधी है । आन्तरिक्ष्य आपोमूर्त्ति यह वाष्ट्र असर निरन्तर सौर दवताओ पर आक्रमण किया करता है । परन्तु पार्थिव विशुद्ध आ याग्नि के द्वारा लाए हुए सोममय हविद्रव्य से बलवान् बनते हुए दवता इस असुर को मारा करते है । य यातिषा ज्योतिमा ज्यथ (ऋक स) के अनुसार सौर प्राण म निरन्तर आहुत होने वाला सोम ही प्रकाश का अधिष्ठाता । पूर्वोक्त आ याओ में स द्युलोकस्थ इन्द्र के साथ तात्तीय सवना-धिष्ठाता त्रिता आ्या का सम्बन्ध होता है जैसाकि पूव मे बतलाया जाचुका है । इसी विज्ञान को लक्ष्य म रखकर— शरद्व त्रित ग्न नघान यह कहा गया ह । ब य विश्वरूप वाष्ट्र के साथ इन्द्र का परिचय आ था के द्वारा ही होता है । सजातीय सम्ब व के कारण आप्त्या ही आपोमूर्त्ति वाष्ट्र का परिचायक है । आ या का हविर्बल ही वध का कारण है । आ याग्नि यदि इन्द्र के साथ हवि का सम्बन्ध न कराता तो विश्वरूप का पता लगना तो दूर था व स्वय ही अपना स्वरूप खो बैठता । आ्या के द्वारा आहुति का जाना ही यह सिद्ध करना है कि आप्त्या ही विश्वरूप को मारने के लिए इन्द्र को प्रेरित करता है । प्रेरित क्या करता है दूसरे शब्दा में हव्यवाहक होने से वही वाष्ट्र वध का मुख्य कारण है ।

यह हम अनेक बार निवदन कर चुके है कि वैदिक विज्ञान क अनुसार कोई भी पदार्थ जड नही है । सबमें अव्ययपुरुष का चिदश प्रतिष्ठित है । स व्यापक चतन्यवा के अनुसार विश्वरूप त्वा को भी केवल जड पदाथ नही माना जासकता । इसी आधार पर तो आषधि वनस्पति के एक पत्र (पत्त) को छिन्न भिन्न करने पर भी आध्यसन्तान हिंसा समझनी है । ऐसे अवस्था में आ्याग्नि के सहयोग से यदि सौर इन्द्रदेवता वाष्ट्र विश्वरूप पर आक्रमण कर उस निर्वीर्य्य बना दता है तो यह व्यापार कस हिसाभाव से पृथक किया जासकता है । प्राकृतिक-रहस्य वत्ताओ की दृष्टि में अवश्य ही यह कार्य्य हिंसामय है । त्वाष्ट्र विश्वरूप असुर पूवकथनानुसार ब्राह्मण है । इस हिंसादोष से इन्द्र अतिमुक्त होजाता है । कारण इन्द्र (सौर-देवता) दोषों से असङ्ग है । इधर आ्या पानी के सम्बन्ध स आसक्तिधर्म्मा ह । श्रद्धा वा आप के अनुसार आप्त्या श्रद्धारस से युक्त है । श्रद्धारस वह तत्व है जो आगत भावो को तत्पदाथ के साथ सश्लिष्ट कर देता है । मेध्या वा आप प्रसिद्ध ही है । इसी मेध्यभाव के कारण उस हिंसादोष का भागी आप्त्या दवता ही होता है । अपिच ऐसा होना न्यायप्राप्त भी है । कारण आ्या ही तो पूवकथनानुसार प्रधानारूप से विश्वरूप के वध का कारण है । एव— हन्ता की अपेक्षा से तत्परिचायक तत्समथक तत्प्रेरक एव प्रधानरूप से तत्सहयोगी के साथ ही विशेषरूप से हत्याका सम्बन्ध होता है यह धम्मशास्त्र का भी सिद्धान्त है ।

श्रुतिने वाष्ट्र विश्वरूप को तीन मस्तक वाला बतलाया है। पाठकों को स्मरण होगा कि **अपाप्रणयनकर्म्म** की त्रिविध उपपत्तिया बतलाते हुए हमने अपतत्व को सर्वजगत् का उपादान बतलाया था जैसाकि इस प्रकरण में पूर्व भी निवेदन किया जाचुका है। विश्व का उपादान विश्वरूप त्वाष्ट्र अप्तत्व है। अप्तत्व ही केवल उपादान नहीं है अपितु ब्रह्मगर्भित उपादान अपतत्व बनता है। **ऋक्–साम यजु की समष्टि ही ब्रह्म है।** इनमे ऋक्साम केवल आयतनमात्र है। वयोनाध हैं। इससे छन्दित यत्-जू (वाक्–प्राण) मूर्ति यजु ही विश्व का उपादान है। यजु में भी जू रूप वाग्भाग ही विश्व का उपादान है। **सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकान्** (श ६।१ ।९) के अनुसार इस वाग् भागसे सर्वप्रथम मथुनीसृष्टि की कामना से पूर्वोक्त अपतत्व उत्पन्न होता है। यह अप् तत्त्व **वाङ्मय** है। यही पूर्वोक्त **ब्रह्मगर्भितब्रह्म** नाम का विश्वोपादनभूत शुक्रतत्व है। वाङ्मूर्ति यही अपतत्व विश्वरूप में परिणत होता है। इसी आधार पर **अथो वागेवेदं सर्वम्** (ऐ आ) **वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता** इत्यादि श्रौत सिद्धान्त प्रतिष्ठित है।

अन्नरूप में परिणत होकर ही यह वेदमयी नित्या अनादिनिधना सत्यावाक विश्वरूप में परिणत होरही है। अतएव अन्नमूर्ति वाष्ट्र को विश्वरूप मान लिया गया है। वाक प्राण के बिना अनुपपन्न है तो प्राण बिना मन के अनुपपन्न है तीनों अविनाभूत है। ये तीनों सृष्टि के साधारण अनुबन्ध है। कोई भी कार्य्य कोई भी सृष्टि बिना इन **ज्ञान क्रिया अर्थ–शक्तिमय मन प्राण–वाक** के समन्वय के सम्भव नहीं है। ये ही तीनों तत्व विश्वरूप त्वाष्ट्र के तीनों मस्तक है। वाङ्मुख से यह ब्रह्मगर्भित शुक्रस्वरूप विश्वरूप त्वाष्ट्र विश्व का उपादानकारण बनता है प्राणमुख से उपादानानुकूला क्रिया करता है एवं मनोमुख से तदनुकूल काम का उदय होता है। सृष्टिप्रक्रिया में ओर और भी साधन अपेक्षित रहते हैं। परन्तु मन –प्राण–वाक तीनों मुख्य हैं। **मुखस्थानीय हैं।** अतएव इसे त्रिशीर्ष बतलाया गया है। अन्य स्थान पर इसे **षडक्ष (छह आँखवाला)** भी कहा गया है।

यह अपने आपमें उत्पन्न होने वाली विश्वप्रजा को षाट्कौशिक ही उपलब्ध करता है। अपिच–**मन प्राण वाक्** तीनों में ही **सम्भूति असम्भूति** भेद से दो दो वृत्तियों का विकास रहता है। सिसृक्षा सम्भूति एवं मुमुक्षा से विनाश होता है। इन वृत्तियों से यह सर्वद्रष्टा बना हुआ है। इसलिए भी उसे षडक्ष मानना न्यायप्राप्त होजाता है। अपिच विश्वरूप का त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित होरहा है। भूलोक में भी पानी है एवं द्युलोक भी पानी से रिक्त नहीं है। तीन स्थानों में यह अपनी व्याप्ति रखता है इसलिए भी इसे त्रिशीर्ष कहा जासकता है।

अपिच—यही अपतत्व शुक्र है पारमेष्ठ्य है। अध्यात्म परिभाषानुसार इसे ही **महान्** कहा जाता है। यह **महत्तत्त्वरूप अपतत्त्व** किंवा **शुक्रतत्त्व** घन तरल विरल भेद से **अप् वायु सोम** इनमें परिणत होकर ही **चिदात्मा की योनि** बनता है। त्रिविध अवस्थापन्न महत् स्वरूप यह अपतत्त्व ही चिदात्मा के सम्बन्ध से **आग्नेय–वायव्य–सौम्य** जीवों का उपादान बनता है। इस की इन तीन अवस्थाओं को लक्ष्य में रखकर भी इसे त्रिशीर्ष कहा जासकता है।

अपिच—महत्स्वरूप से पारमेष्ठ्य अपतत्व में हीं–**पृथिवी–चन्द्रमा सूर्य्य** के दर्शपूर्णमास से **आकृति–प्रकृति अहङ्कृतिभाव** का जन्म होता है इस भावत्रयी से भी इसे त्रिशीर्ष माना जासकता है।

अपिच–केवल सूर्य्य के दर्शपूर्णमास से इस तत्त्व में सत्त्व रज तम इन तीन गुणों का उदय होता है इसलिए भी इस त्रिशीर्ष मानने में कोई आपत्ति नहीं है। इसप्रकार मन–प्राण–वाक् पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–घन–तरल विरल–आकृति–प्रकृति अहङ्कृति सत्त्व–रज–तम आदि अनेक प्रकारों से त्वाष्ट्र विश्वरूप का त्रिशीर्ष भाव सिद्ध होजाता है। श्रुति को सबका ग्रहण अपेक्षित था। अत नियत शीर्षभाव को आगे न रखते हुए उन्होंने सामान्यरूप से– त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रम् यही कहा है। इसी नित्यसिद्ध विज्ञान का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

'तऽइन्द्रेण सह चेरु –यथेदं ब्राह्मणो राजानमनुचरितिं। स यत्र त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रं विश्वरूपं जघान ॥२॥ इति॥

सौरप्राण इन्द्र है आप्यतत्त्व वरुण–प्रधान है। अत उसी के साथ हिंसादोष का सम्बन्ध होना न्यायप्राप्त है यह पक्ष में बतलाया जाचुका है। सो प्राणरूप देवताओं की सम्मति से निश्चित हुआ कि हिंसाजनित यह दोष उन्हीं आप्त्याओं के साथ सक्रान्त हो जिन्होंने त्रिशीर्ष त्वाष्ट्र के वधका समर्थन किया। उस हिंसाजनित पाप्मा का आप्त्या से सम्बन्ध कराने का क्या प्रकार है? इस प्रश्न के उपस्थित होने पर यह निर्णय हुआ कि यज्ञ में जो दूषित भाग है उस उन्हें दे दिया जाय।

तात्पर्य्य यही है कि हिंसाजनित दोष से आप्त्या का स्वरूप दोषयुक्त होजाता है। शुद्ध आप्त्या के द्वारा लाए गए हवि से देवता बलवान् बन गए। वारुण त्वाष्ट्र आपोमय असुर मारा गया। मलभाग वारुण आप्त्या के साथ सङ्क्रान्त होगया। नित्यसिद्ध प्राकृतिक यज्ञ में रहने वाला पार्थिव मलभाग आप्त्य इन्हीं आप्त्यों में प्रतिष्ठित रहता है। शुद्ध हवि सौरप्राणदेवताओं में आहुत होजाता है। इसी नित्यसिद्ध प्राकृतिक यज्ञ के अनुसार इस मनुष्ययज्ञ का वितान किया जाता है। तदनुसार ही देवस्थानीय ऋत्विक यज्ञसंसृष्ट दूषित पानी को आप्त्यों के लिए ही डालते हैं ॥३॥

उपर्य्युक्त दोष का निराकरण करने वाला एकमात्र हविर्द्रव्य है। हवि की आहुति से ही अग्नि प्रज्ज्वलित होता है। इसी से देवता बलवान् होते हुए असुरवध में समर्थ होते हैं। जिस यजमान का हवि पर पूर्ण स्वत्त्व रहता है वही इस दोष को आप्त्या के ऊपर डालने में समर्थ होता है। इस हवि को स्वाधिकार में रखने के लिए दक्षिणादान आवश्यक है। क्योंकि हवि में यज्ञकारयिता—**होता अध्वर्य्यु उद्गाता ब्रह्मा** इन चारों ऋत्विजों का मन प्राणवाङ्मय आत्मा भी सम्मिलित रहता है। इनके आत्म–प्रवेश से हवि पर यजमान का पूर्ण अधिकार नहीं होता। ऐसी अवस्था में हवि निर्बल बनता हुआ दोष–मार्ज्जन में असमर्थ रहता है। इसलिए प्रत्येक यज्ञ में दक्षिणा * प्रदान नितान्त अपेक्षित है। अपिच हवि को कूटने पीसने पकाने में जो हिंसा होती है उसे दूर करने का उपाय भी यही दक्षिणादान ही है। बिना

* प्रकरण आवश्यकता से अधिक विस्तृत होगया है अत प्रकृत में दक्षिणा विज्ञान का निरूपण नहीं किया जासकता। आगे आने वाले दक्षिणाब्राह्मण में ही इस विषय का तात्त्विक–विश्लेषण किया जायगा।

क्षिणा के यज्ञ नष्ट है। निष्कष यही हुआ कि जो यजमान स्वयज्ञ में दक्षिणा नही दता उसका हवि सर्वा- मना उसके अधिकार में न रहता हुआ निर्बल बन जाता है। ऐसी अवस्था में आ यो में रहने याला दोष यज्ञकर्त्ता यजमान के साथ सक्रान्त होजाता है। इस दोष से बचने के लिए अवश्य ही दक्षिणादान करना चाहिए। इसी रहस्य का लक्ष्य म रखकर—त उ हेतेऽञ्चु। उा मऽग्नो ग छतु इ यादि कहा है ॥४५॥

अध्यात्म–अधिभूत अधिदवत–अध्या माधिभूत अध्यात्माधिन्वताद्–भदभिन्न आठ भागो में विभक्त आख्यानोपाख्यानों में से प्रकृत का आप्त्योपाख्यान अध्या माधिभूतादिन्वत नाम के आख्यान से सम्ब ध रखता है। अधिदवतमण्डल के साथ भी इस आख्यान का सम्ब ध है। अबतक के प्रकरण से केवल उसी का स्वरूप विज्ञ पाठकों के समक्ष उपस्थित किया गया है। अध्या मसस्था के साथ भी इस आख्यान का घानष्ठ स ब ध है एव आधिभौतिक (ऐतिहासिक) प्रपञ्च से भी इसका सम्ब ध है। इनमें क्रमप्राप्त आ यात्मिक सम्ब धी आप्त्याविज्ञान की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

आध्यात्मिक–आप्त्याविज्ञान —

तासा त्रिवृत त्रिवृतमेकैका करवाणि (छा उ ६३) इस श्रौत सिद्धा त के अनुसार–तेज अप् अन्न इन तीन तत्त्वो के त्रिवृत्करण से ही अ या मसस्था का नि र्माण हुआ है। शेष भूतप्रपञ्च एव आ मप्रपञ्च का इन्ही तीनों में अ तर्भाव होजाता है। अक्षरा ममक्षरपरा परविशिष्ट षोडकल अमृता मा चिदा मा है। इसकी योनि पारमेष्ठ्य महाना मा है। यह महान् आपोमय है। अपतत्त्व की अप् वायु सोम तीन अवस्थाएँ हैं। इन्ही तीन त वों के साथ उपर्यु क्त चिदा मा का सम्ब ध होता है। अत विश्व में केवल–आप्य वाय य सौम्य भेदाभिन्न तीन ही चतनजीव उपल ध होते हैं। इसप्रकार अमृतात्मा (चिदात्मा) का अप्त व में भृगुभाग में) अ तर्भाव होजाता है। ६६ सख्या मे विभक्त आप्यप्राण असुर हैं २७ सख्या मे विभक्त वाय य प्राण ग धव हैं ८ सख्या में विभक्त सौम्यप्राण पितर हैं। इन तीनों का अ तर्भाव भी इसी अपतत्त्व में हैं। त्रय्या विद्यया सहाप प्राविशत् (श ६।१।५।) के अनुसार ऋक्सामावाच्छन्न ऋषि नामाख्य यजुमू र्त्ति त्रयीब्रह्म भी इसी अपन व म प्रविष्ट रहता है। अत १२ सख्या में विभक्त ऋषिप्राणो का भी अप्त व में ही अन्तर्भाव होजाता है।

आगे बतलाए जाने वाली तेज कला एव अन्नकला का भी इसी अप्त व में अ तर्भाव होजाता है। क्योंकि तेजोमूर्त्ति सूर्य्य अपतत्त्वान्तगत अङ्गिराभाग की विरलावस्था का ही विकासमात्र है एव अन्नमयी पृथिवी 'अद्भ्य पृथिवी इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार आपोमयी ही है। यत् किञ्च जगत्या जगत् तत् सवमप्सु प्रतिष्ठितम् यह आप्त सिद्धान्त चरिताथ होजाता है। सबका इस आपोमय त व में बीजरूप से अन्तर्भाव है। अतएव ऋषियोंन इस तत्त्व को प्रज्ञान विज्ञान भूतात्मा कर्म्मा मा आदि सब की अपेक्षा महानात्मा (बहुत बडा आत्मा) माना है। यही इस महान् की महत्ता है। जिस महान् के उदर में–विश्व यापक षोडशी प्रजापति भी गर्भी बन रहा हो उसकी महत्ता का क्या ठिकाना है।

इसीप्रकार रस–असृक् कफ–लाला–स्वेद आदि अवभागो का भी इसी अपत व में अन्तर्भाव है। शरीरसस्था के अध्यक्ष प्राणतत्त्व का भी इसी अप्त व में अन्तर्भाव है। आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्व

ङ्गिरोमयम् इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार अङ्गिरा भी आपोमय है। अङ्गिरा की अग्नि-वायु-आदित्य तीन अवस्थाएँ ह। अग्नितत्त्व स वागिन्द्रिय का विकास होता है वायुतत्त्व से प्राणेन्द्रिय का विकास होता है आदित्यतत्त्व से चक्षुरिन्द्रिय का विकास होता ह। भृगु का निरलावस्थारूप सोम दिक्-भास्वर भद स दो भागों म विभक्त है। भास्वरसोम इन्दु नाम से व्यवहृत होता है एव दिक्साम ब्रह्मणस्पति नाम से प्रसिद्ध है। इनम से दिक्सोम से श्रोत्रेन्द्रिय का निर्माण होता है एव भास्वरसोम से इन्द्रियमन की स्वरूप-निष्पत्ति होती है। इसप्रकार षाडशी आत्मा ऋषि पितर गन्धर्व असुर पञ्चेन्द्रिय शरीरगत तरलद्रव्य इन सबका उपर्युक्त अपतत्व में अन्तर्भाव होजाता है। तेज-अन्न-आप तीनो मे प्रधानता अप्तत्व की ही है। इसी भूयस्त्वविज्ञान को लक्ष्य मे रखकर त्या त्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् (शा द ३।२) इस भिक्षुसूत्र के सम्बन्ध में यह कहा जासकता है कि—

वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति। (छा० ५।३ ब० आ उ ६।२) इति प्रश्ने द्यु पर्जन्यपृथ्वीपुरुषयोषित्सु पञ्चस्वग्निषु श्रद्धासामवृष्टयन्नरेतो रूपा पञ्चाहुतीर्दर्शयित्वा × × इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति (छा० उ ५।६) इति निरूप्यते। न त्वपा पुरुषाकारपरिणामप्रतीते-गच्छता जावेन तामामव परिष्वङ्ग प्राप्नाति न सर्वेषा भूतसूक्ष्माणामिति चेन्न-पुरुष देहारम्भकाणामपा त्र्यात्मकत्वात् तासा त्रिवृत त्रिवृतमेकैका करवाणि (छां उ ६।३) इत्यपा त्रिवृत्करणश्रुते। दृश्यते च देह भार्वभौतिक। त्रयाणामपि तेजोऽन्नाना दहे कार्योपलब्ध।देहारम्भकद्रव्यस्य भावभौतिकत्वेऽपि तस्यापछब्देन व्यपदेशस्त्वपा भूयस्त्वादुपपद्यते। शुक्रशोणितलक्षणे दहबीजे द्रवद्रव्यबाहुल्यदर्शनात्। उत्पन्ने च शरीरे इतरभूतापेक्षयाऽस्त्यपामेव बाहुल्यम्। बाहुल्याच्चापशब्देन सर्वेषा भूतसूक्ष्माणा मुपादानम्।

दूसरा है तेजस्तत्त्व। विज्ञानात्मा ३ देवता आदि का इसी में अन्तर्भाव है। सौरतत्त्व तेज है। यह इन्द्रप्राणमय है। यही विज्ञान (बुद्धि) का अधिष्ठाता है जैसाकि धियो यो न प्रचोदयात इत्यादि से स्पष्ट है। एव इन्द्रप्राण ही देवप्राण का अधिष्ठाता है। इसी आधार पर-'इन्द्र सर्वा देवता — चित्र देवानामुदगात् इत्यादि कहा जाता है। तीसरी है अन्नकला। शरीरगत स्थूलधातु मन (प्रज्ञानात्मा) आदि का इसी में अन्तर्भाव है। १ तेजस्तत्त्व वाङ्मय था २ अन्नतत्व मनोमय है। एव ३ अप तत्त्व प्राणमय है।

१—तेजोमयी वाक् (छा उ)
२—अन्नमय हि सौम्य मन (छा उ)
३—आपोमय प्राण (छा उ)

१ आप —प्राण		
२ अन्नम्—मन	—"स वा एष आत्मा वाङ्मय प्राणमयो मनोमय (त्र आ उ)।	
३–तेज —वाक		

शरीर आपोमय है। प्राणाग्नय एवतस्मिन् पुरे जागति (प्र उ) स श्रौत सिद्धान्त के अनुसार इस आपोमय शरीर मे प्राणाग्नि सदा जाग्रत रहता है। अपत व मे याप्त प्राणाग्नि ही आध्या मिक आप्त्या देवता है। यह प्राणाग्नि बस्तिगुहा–उदरगुहा–उरोगुहा भेद से तीन स्थानों म व्याप्त हो रहा है। आधिदविक–स्तौम्यत्रिलोकी के अग्निमय त्रिवृत्–पृथिवी–भाग स बस्तिगुहा का निर्म्माण होता है। यहा प्रतिष्ठित रहने वाला पार्थिवाग्नि अपान नाम से व्यवहृत होता है। वायुमय पञ्चदश अन्तरिक्ष से उदरगुहा का निर्म्माण हाता है। य ा प्रतिष्ठित रहने वाला आन्तरिक्ष्य प्राणाग्नि व्यान नाम से प्रसिद्ध है। एव आदित्यमय एकवि ा द्युलोक से उरोगुहा का निर्म्माण होता है। यहा प्रतिष्ठित रहने वाला प्राणाग्नि प्राण नाम से व्यवहृत होता है। एक ही पार्थिव प्राणाग्नि की अपान–व्यान–प्राण ये तीन अवस्थाएँ है। ये ही तीना आध्यात्मक– एकता द्विता–त्रिता नाम के आप्त्या देवता हैं।

आधि विक विज्ञान का निरूपण करते हु हम बतला आए हैं कि विश्वरूप वाह्य आपोमय ही है। अपतत्व ही मैथुनीसृष्टि का मूलप्रभव है। इस विश्वबन्धमूलक अपतत्त्व के बन्धन से निकलने का एकमात्र उपाय है–पूर्वोक्त त्रिता नाम के आप्त्या स युक्त प्रज्ञान को विज्ञानात्मा के अनुगत कर देना। प्रज्ञानमन प्राणाग्निमय है। त्रिताग्नि की कृपा स ही मनकी स्वरूप निष्पत्ति होती है। कारण स्पष्ट है। शारीरिक प्राणाग्नि हा अशनाया रूप में परिणत होकर अन्नादान की इच्छा करता है। अन्न प्राणाग्नि में आहुत होता है। प्राणाग्नि में हुत अन्न ऊक् रूप में परिणत होता हुआ रस-मल के क्रमिक विशकलन से शुद्ध सोमरूप में आता हुआ वही अन्नरस मन बनता है। ऐसी अवस्था में हम मन को अवश्य ही प्राणाग्नि पर प्रतिष्ठित मान सकते हैं। दूसरे शब्दों में त्रिताग्नि ही मन का निर्म्माता है। अतएव मन को अग्नि भी कहा जाता है। (देखिए शत १ १।२।३)। आ याग्निमय होने से ही मन में आप्तिधर्म्म का समावश होता है। इसी आप्त्यादेवतामूलक मन के आप्तिधर्म्म को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"मनसा वा इद सवमाप्तम् (शत १।७।४।७) इति।

इससे प्रकृत में हम यही बतलाना है कि इस आध्यात्मिक विश्व मे आप्त्यादेवता–आप्त्याग्नि–मय प्रज्ञानमन ही है। यह मन मध्यस्थ है। इसकी दृष्टि–विश्वरूप वाह्य की ओर भी है एव ब धनविमोक करने वाले सौर इन्द्रमय विज्ञानात्मा की ओर भी है। आपको यह यान रहना चाहिए कि मनुष्य की वृत्ति यज्ञ अयज्ञ भेद से दो भागो में विभक्त रहती है। प्रकृति के अनुकूल विज्ञानबुद्धि के आधार पर जो कम्म किए जाते हैं यज्ञो वै श्रेष्ठतम कम्म इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वह कर्म्म श्रेष्ठतम कम्म हैं। वही कम्म यज्ञकम्म है। ऐसा कम्म सवथा आसक्तिशून्य होता है। क्योंकि प्रकृति के अनुसार यवस्थित होता हुआ यह कम्म नियतकम्म बनता हुआ आम्नाय बन जाता है। इसी यज्ञकम्म का निरूपण करते हुए यज्ञार्थात् कम्मणोऽन्यत्र लोकोऽय कम्मबन्धन (गीता) यह कहा जाता है।

परन्तु उक्त यज्ञकर्म्म की सिद्धि तभी होती है जबकि आप्यरूप प्रज्ञानमन विज्ञान से अनुगत रहता है। विज्ञान सौर इन्द्रमय है, प्रज्ञान पार्थिवचन्द्रमय है। प्रज्ञान में प्रज्ञा-प्राण दो भाग हैं। इनमें प्रज्ञाभाग सोम है, प्राणभाग इन्द्र है। प्रज्ञासोम स्नेहतत्त्व है। इधर विश्व स्नेहमूलक है। इस स्नेहवृत्ति के कारण ही तो मन आसक्तिमूलक विश्व की ओर झुका रहता है। उधर इन्द्रप्राण असङ्ग है। इसका सौर इन्द्र के साथ सम्बन्ध रहता है। अतएव प्राणापेक्षया प्रज्ञान विज्ञान की ओर झुकता हुआ बन्धन से पृथक् होने की भी इच्छा किया करता है। परन्तु हम पार्थिव हैं। सूर्य हमसे दूर है। अतएव प्रकृत्या प्रज्ञान का प्रज्ञाभाग हमारे में प्रबल रहता है। अतएव तन्मूलक आसक्तिभाव मार्ग में प्रधान रहता है एवं इन्द्रप्राण निर्बल रहता है। इसप्रकार विज्ञान से निराहत प्रज्ञान उत्तरोत्तर कामनाओं के कुचक्र में आवृत्त होकर विश्व की आसुरी विभूतियों की ओर अग्रसर होता रहता है। यही प्रज्ञापराध कहलाता है। प्रकृति विरुद्ध कर्म करना अयज्ञियकर्म्म है। इससे वासना-संस्कार दृढ़ होजाता है। विश्वरूप त्वाष्ट्र का बल बढ़ जाता है। यदि यज्ञकर्म का आश्रय लिया जाता है तो—प्रज्ञान विज्ञान से अनुगत हुआ विश्वबन्धन को छिन्नभिन्न करने में समर्थ हो जाता है।

इसप्रकार यज्ञकर्म्म (निवृत्तिकर्म्म-निष्कामकर्म्म) के द्वारा सबल बनता हुआ प्रज्ञान विज्ञानेन्द्र के साथ विचरता हुआ आसुरभाव के वध का कारण बन जाता है। यद्यपि—**ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते** इस स्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार विज्ञानात्मा (बुद्धि) को मलभाग का नाशक माना जाता है। परन्तु विज्ञान आसुर भाव का नाश नहीं करता। प्रज्ञान ही आसुर भाव को नष्ट करने में समर्थ होता है। मनोनिरोध ही दूषित वृत्तियों का नष्ट कर सकता है। आप बहुत बुद्धिमान् हैं। परन्तु मन पर यदि अधिकार नहीं है तो एकाकी विज्ञान कुछ भी नहीं कर सकता। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर—**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः** इत्यादि रूप से मन को ही बन्धन और मुक्ति दोनों का कारण माना जाता है। हाँ बन्धनविमोक के लिए विज्ञान का साथ रहना नितान्त अपेक्षित है। विज्ञानबल से प्रज्ञान का बन्धनमूलक प्रज्ञाभाग श्लथ होजाता है एवं मुक्तिमूलक प्राणभाग सबल बन जाता है। इसी सम्पूर्ण आध्यात्मिक चरित्र को लक्ष्य में रख कर ऋषिने प्रज्ञानरूप आत्मा को विश्वरूप असुर के वध का कारण माना है एवं सौरविज्ञानेन्द्र को इस हिंसादोष से अतिमुक्त माना है। इसी आधार पर विज्ञानात्मा के लिए—**असङ्गो ह्ययं पुरुषो न सज्जते न व्यथते न रिष्यति** (बृ० आ०) इत्यादि कहा जाता है। प्रज्ञानमन से कामना का उदय होता है, तद्गत प्राण से विक्षेप का जन्म होजाता है एवं तत्प्रतिष्ठ वाकतत्त्व आवरण का जनक है। काम विक्षेप-आवरण ही विश्वरूप त्वाष्ट्र के विश्व का सञ्चालन करने वाले मुख्य साधन हैं। मुखस्थानीय ये ही तीनों वृत्तियां इसके तीन मस्तक हैं। बुद्धिमान् मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह निष्कामकर्म्म के द्वारा प्रज्ञानमन को विज्ञान से अनुगत करता हुआ काम-विक्षेप-आवरण-मूलक त्वाष्ट्र आसुरभाव को नष्ट करता रहे। अध्यात्मसम्बन्धी आत्माचरित्र का यही सङ्क्षिप्ततम निष्कर्ष है।

अधिभूतसम्बन्धी-आख्यायिका—

विज्ञानभाष्य के पूर्वसन्दर्भों में अष्टविध देवताओं का स्वरूप बतलाते हुए हमने भौमस्वर्ग का दिग्दर्शन कराया था। वहां बतलाया गया था कि यक्ष ऋषि-देव-गन्धर्व असुर आदि भेदभिन्न जो

यवस्था आधिदैविकजगत् में है ठीक वही व्यव था भगवान भौम ब्रह्मा के द्वारा इस भूलोक में भी विद्यमान थी। उस यु म– यदत्रह् तन्मुत्र यह सिद्धान्त सर्वात्मना चरितार्थ होरहा था। वग के अ यत्त इन्द्र थ अन्तरित्त के वायु थ। भूलोक के अग्नि थ। यहा के सम्राट तो मनु थे एव शावसोनपात (इन्द्र क प्रतिनिधि) अग्नि थ। स्वर्गाधिष्ठाता इन्द्रसम्राट की ओर से भारतवर्ष की देखरेख के लिए अग्नि ही नियत थ। किसे भारतवर्ष का *शावसोनपात बनाया जाय? वमण्डली म जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ तो सवस मति से निर्णय हुआ कि आग्नजातीय दवता ही इस कार्य्य के लिए उपयुक्त हैं। उन का यह निर्णय प्रकृति के अनुकूल भी था। क्योंकि– आग्नभू स्थान इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार इस भूलोक के अधिष्ठाता अग्नि ही ह।

पार्थिव प्रजा का भरण पोषण करना पार्थिव ह्य को सौर दिव्य दवताओं म पहुचाना [जिसका कि स्वरूप पूव के आप्त्याविज्ञान म बतलाया ज चुका है] ये सब इन्ही अग्नि के का य हैं। अतएव वषयज्ञ के द्वारा तदाभिभृत मनुष्यआग्न को ही उपर्य्युक्त कार्य्य के लिए नियुक्त करना उचित था। अग्निजातीय दवताओं म से जब एक को कहा गया तो उसने अस्वीकृत कर दिया। यही दूसरे ने किया। तीसरे स कहा गया तो वह छुप गया। इन्द्र ने उसे ढूँढ कर इस कार्य्य के लिए बाध्य किया। उस समय भारतवष पर त्वष्टा के पुत्र त्रिशीर्ष–षडक्ष विश्वरूप के आक्रमण हुआ करते थ। इन्द्र दूर रहते थ। अतएव व इसके गुप्त आक्रमणों से अपरिचित थ। परन्तु भारताग्नि इस रहस्य से परिचित थ। अत इनकी सहायता से ही इन्द्र विश्वरूप को मारने म समर्थ हुए थ। आप्त्या दवता सम्बन्धी आधिभौतिक [ऐतिहासिक] चरित्र का यही सङ्क्षिप्त निदर्शन है। त्रिशीर्ष-षडक्ष वाष्ट्र कहा रहता था? उसका आक्रमण भारतवष पर क्यो होता था? इत्यादि प्रश्नों का समाधान आगे आने वाले त्रैशीर्ष्णविज्ञान में किया जायगा। अभी विस्तार भय से इस आप्त्याविज्ञान प्रकरण को यहीं उपरत किया जारहा है।

इति–आप्त्या–विज्ञानम्

---*---

पश्वालम्भनविज्ञानम्

---*---

बिना पशु के कोई भी यज्ञ निष्पन्न नही होसकता। इस दर्शपूर्णमासयज्ञ में भी पशु की आवश्यकता है। पञ्चम-कण्डिका से आगे का ब्राह्मणभाग उसी पशुतत्व का निरूपण करता है। वैदिक विज्ञान से पूर्ण परिचय प्राप्त न करने के कारण आज विद्वत्–समाज में कितने ही विषयों पर व्यर्थ का कलह देखा

---

[*] यह एक पदविशेष का वाचक है। सम्राट की ओर से तदधीन राष्ट्रों में जो प्रतिनिधि रहता है उसीके लिए शावसोनपात् शब्द प्रयुक्त होता है। आज की भाषा में सम्भवत यही– प्रति–निधि – राजदूत कहलाता है। अग्नि इन्द्र की ओर से भारत में इसी पदविशेष पर प्रतिष्ठित थ जैसाकि– अग्नि दूत वृणीमहे इत्यादि से सङ्केतित है।

सुना जाता है । क्या सनातनधर्म्मी क्या आ यसमाजी एव क्या अ य सम्प्रदायवादी सभी अभि-निवश से आक्रा त होकर व्यथ के विवादो स कालसमुन्नतिमूलक कलह का ी आनारोपण कर रहे ह । फलत देश की सघटनशक्ति प्रतिदिन उत्तरोत्तर क्षीण ही होती जारही है । क्या ही उत्तम हो यदि सभी वग अज्ञान मूलक इन क्षुद्र विसवादो को छोड कर ऐकमत्य होकर राष्ट्र का समुन्नत करने का श प्राप्त कर । सभी सम्प्रदायो के लिए वदिकसाहित्य आरा यदव है । सभी स्वमतपाष । क लिए वद को ही आग रखत ह । फिर क्या कारण है कि एक ही प्रमाणभित्ति के आधार पर प्रतिष्ठित विद्वत्-समाज म परस्पर मतभेद हो-र ा है ? । हमारी साधारण बु जहातक विचार करती है उसके आधार प हम कह सकते कि के क्रमिक स्वाध्याय का अभाव ही इस विमवाद का मुख्य कारण है ।

हम आज की प्रवृत्ति देखते हुए इसी निश्चय पर पहु चते ह कि विद्वद्गण स्व विषय को सिद्ध करने के लिए कहा का इ ट—कहीं का राडा भानुमती ने कुनबा जाडा इस किवद ती को ही चरिताथ कर रहे हैं । प्रकरण पर कोइ यान नही श दो के तात्पर्य्याथ का कोइ विचार नही जहा एक श द भी अपनी ओर झुकता हुआ मिला तत्काल वह प्रमाणरूप से आगे कर दिया जाता है । श्राद्ध मूर्त्तिपूजन वद ईश्वर प्रणीत है ब्राह्मणभाग वेद नहीं है क्वल सहितामात्र ही वद है वद में पश्वालम्भन से पशुस्पशमात्र विहित है । वद म विधवा के साथ देवर क नियोग का विधान है ऐस ऐसे विषयो को लेकर सब प्रमाणधारी अपनी अपनी महत्ता प्रकट कर रहे हैं । इन सब विप्रतिपत्तियो स एक तटस्थ जिज्ञासु का किस निश्चित निणय पर पहुँचना कठिन होरहा है । यही कठिनता हमारे सुप्रसिद्ध पश्वालम्भन के सम्ब ध में भी विद्यमान है । यह विषय सभी की दृष्टि म आज महाभयावह बन रहा है । जिज्ञासा करने पर भी विद्वान् इस ओर से अपना निश्चित निणय अभि यक्त कर देने म कुण्ठित स होजाते ह । इसलिए हम यह आवश्यक समझते हैं कि इस विषय पर विशेषरूप से प्रकाश डाला जाय । तदथ ही नि नलिखित पश्वालम्भनसम्ब धी सन्दभ उपक्रा त होरहा है ।

ईश्वरीय सृष्टि मे जो स्थान हमारा (मानवजाति का) है वही स्थान पशुवर्ग का है । हम मे जैस चेतना का विकास है वैसे ही पशु भी चेतन (ससज्ञ) जीव ही हैं । ऐसी अवस्था मे मनुष्य अपने स्वाथ के लिए चेतनदृष्ट्या सजातीय पशु का वध करै यह मनुष्यता क विरुद्ध है । किसी प्राणी को दु ख मत दो (मा हिंस्यात्—सर्वा भूतानि) यह हमार शास्त्रों की ही आज्ञा है । यद्यपि कितने हीं महानुभाव पशुवध को (यज्ञसिद्धि क लिए) शास्त्रसम्मत बतलाते हैं । परन्तु उन्हें यह यान रखना चाहिए कि एक ही शास्त्र दो विरुद्ध आज्ञाए नहीं देसकता । जो शास्त्र एक स्थान पर—'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'—'मा गामनागामदितिं वधिष्ट' इत्यादिरूप से स्पष्ट शब्दों मे सवत्र 'अहिंसाबुद्धि' रखने का आदेश देता है वही दूसरे स्थान पर पशुवध की आज्ञा दे यह असङ्गत अतएव असम्भव है । एक विषय म एक ही न्यायाध्यक्ष दो विभिन्न निणय नहीं कर सकता यह सवसम्मत सिद्धान्त है ।

यान् मान लेने के लिए अभ्युपगमवाद से हम यज्ञ में पशुवध' आवश्यक मानलेते हैं तो ऐसी अवस्था में उन का हिंसा से रोकने का हमारे प्रज्ञाकोश में क्या समाधान शेष रह जाता है। द्वारा आए दिन असंख्य मूक पशु तलवार के घाट उतार दिए जाते हैं। हम चीत्कार करते ही रह जाते हैं। पशुवध सिद्धान्त को मानते हुए यदि हम इस यज्ञ की हिंसा को रोकने की प्रेरणा देते हैं तो हमारा यह प्रयास व्यर्थ जाता है। जब हमारा शास्त्र स्वयं श्राद्ध-यज्ञादि में पशुवध को आवश्यक समझता है तो फिर अन्य सम्प्रदायवालों के शस्त्र (शास्त्र) के विरुद्ध हम कैसे आवाज उठा सकते हैं। जैसे हमारा शास्त्र पशुबलि की आज्ञा देता है एवमेव वे भी शस्त्र की आज्ञानुसार करने के पूर्ण अधिकारी हैं। इसप्रकार कल्पित पशुवध के अभिनिवेश में पड़कर हम एकप्रकार से अन्य सम्प्रदायों के द्वारा होने वाली पशुहिंसा के समर्थक ही बन जाते हैं। कहना न होगा कि इस दुराग्रह से राष्ट्र का पशुबल क्षीण ही होरहा है। इस विप्रतिपत्ति से बचने का एकमात्र उपाय है—पशुवध-सम्बन्धी प्रक्षिप्त वचनों का परित्याग एवं 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इत्यादि वास्तविक सिद्धान्तों का ग्रहण। स्वार्थियों ने स्वार्थवश हो पशुवधसमर्थक वचनों से शास्त्र को कलङ्कित कर रक्खा है। जिस पशु का यज्ञ में वध किया जाता है, वह मरता नहीं अपितु सीधा स्वर्ग जाता है इत्यादि हेत्वाभासों के द्वारा पशुवधसमर्थक सम्भवतः पशु का ही हित सिद्ध करते हैं। परन्तु ऐसे उत्तरों का शिक्षित समाज की दृष्टि में कोई मूल्य नहीं। हमें यह मान लेने में कोई भी आपत्ति नहीं है कि पशुवध-मानवता शास्त्र आदि सभी दृष्टियों से विरुद्ध है। यदि एतत्समर्थक वचन कहीं उपलब्ध होते हैं तो उन्हें प्रक्षिप्त ही समझना चाहिये।

यह है पश्वालम्भन के सम्बन्ध में निर्णेताओं का निर्णय। उक्त पङ्क्तियां वास्तव में चारु-वाक् हैं। ऐसे सुन्दरभाव किसे प्रिय न लगेंगे। किसी प्राणी को कष्ट मत पहुँचाओ यह शास्त्र का बड़ा उदात्त सिद्धान्त है। परन्तु अवधानपूर्वक सूक्ष्मदृष्टि से देखिए क्या आपको इस सामान्य सिद्धान्त का कहीं अपवाद नहीं मिलता?। जिस व्यक्ति ने चोरी से समाज में अशान्ति उत्पन्न कर रक्खी है जो समाज का घोर शत्रु है उसके वध को क्या आप पुण्यप्रद नहीं समझेंगे?। यदि सिंह ने ग्राम में उत्पात मचा रक्खा है तो उसे मारना क्या अधर्म्म होगा?। आपके मतानुसार शास्त्र तो अहिंसा के विरुद्ध आज्ञा दे नहीं सकता। सर्वत्र 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' ही रहेगा। क्यों? ठीक है न?।

इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि शास्त्रीय वचनों का जबतक मीमांसा शास्त्र के द्वारा नियत-हेतुता-अवसर-प्रसङ्ग-उपोद्घात-कार्य्यैक्य-निराकाङ्क्षैक्य आदि मूला सङ्गतियों के द्वारा यथावत् समन्वय नहीं कर लिया जाता तबतक तत्सम्बन्ध में बिना सोचे समझे अपना मनमाना निर्णय प्रकट करना व्यर्थ का साहसमात्र ही है। सत्य— धर्म्मस्य सूक्ष्मा गतिः इस सिद्धान्त को सम्मुख रखते हुए ही शास्त्रीय

प्राङ्गण म प्रवेश करना चाहिए । उ ाहरणाथ पाहले हम हिसा–अहिसा के पदाथ व की ओर ही आपका यान आकर्षित करत है ।

किसा जीव का किसा भी प्रकार से पीडा पहुचाना हिंसा है एव सर्वा मना उसे सतुष्ट रखना अहिसा भाव ह । शास्त्र का सिद्धान्त है क हिंसा से प्र यवाय होता है एव अहिमाधर्म परिपालन से आमा का अ युदय होता ह । हिमा पाप का कारण है एव अहिसा पुण्य का कारण है । अब हम आपसे शास्त्रीय मर्य्यादा को थोडी दर के लिए दूर रखते हुए प्रश्न करते ह कि — हिमा स पाप होता है एव अहिमा से पुण्य होता है दूसरे श दो म— हिसा स हिमक का आमा पतित होजाता है एव अहिसा से आमा उन्नत होजाता है इसके लिए आपक प्रज्ञाकाश में क्या प्रमाण है । कि ी मनु य के आपने चाकू से व्रण (घाव) कर दिया । यही हिसा है । इसमे उसे दु ख भी बहुत हुआ । यहातक तो आपका अनुभव भी काम करेगा । पर तु म दु ख से पाप होगा यह आप कथ–मपि सिद्ध नही कर सकगे । एवमेव किसी भूखे को आपने अन्न से तृप्त कर दिया । बिना अन्न के उसका प्रज्ञाना मा व्याकुल था । अन्न की प्राप्ति स वह सुखी होगया । इस सुख स आपका पुण्य हुआ इसक लिए भी आप प्र यक्ष अनुमान–मे भिन्न कोई भी प्रमाण उपस्थित नही कर सकग ।

आप कहते हैं— दु ख–सुख पाप–पुण्य–क कारण ह । ठीक इसके विपरीत हम कहते हैं— यदि किसी का दु खी किया जाता है तो पुण्य होता है । एव सुखी किया जाता है तो पाप लगता

हमा ा विचार ही नही अपित यह दृढ निश्चय है कि श दप्रमाण के अतिरिक्त अन्यान्य उत्तर सहस्रो स भी आप यह सिद्ध नही क सकगे कि हिंसा से पाप होता है एव अहिंसा स पुण्य होता है । कारण स्पष्ट है । पाप और पुण्य का सम्बन्ध सुसूक्ष्म अतीन्द्रिय आमा के सा थ है । अतएव यह इन्द्रियातीत त व है । अतीद्रियाथद्रष्टा आ मपुरुषोन इस सम्ब ध मे जो यवस्था करदी है वही हमार लिए मान्य है । मनुष्य अनृतसहित है । परन्तु दवतुल्य आप्तपुरुष सत्यसहिता वै देवा के अनुसार स यसहित हैं । उनका वचन ही हमारे लिए प्रमाण है । किस कर्म्म मे हिंसा है ? किस मे अहिंसा है ? कान धर्म्म है ? इन सब अतीन्द्रिय भावों का निर्णय हम साधारण मनुष्य नही करसक्ते । अपन बुद्धिबल के आधार पर प्रत्येक विषय का निर्णय कर बैठना अनुचित है । भगवान् कृष्ण आप्तपुरुष थ । साक्षात् सच्चिदानन्दब्रह्म थ । उनकी वाणी पर न उस समय स देह था न आय्य–सन्तान आज उनक आदेश के विरुद्ध बोलती । व स्वय सच्चिदानन्द भी शास्त्रमर्य्यादा को ही धर्म्माधर्म्मनिर्णय में प्रधान मानते हैं । हमारे लिए क्या कर्त्त–व्य है ? क्या अकर्त्त य है ? इसका निर्णय कैसे किया जाय ? इसका समाधान करते हुए भगवान् मधु सूदन कहते हैं—

'य शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुख न परा गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्त कर्म्मकर्त्तु मिहार्हसि' ॥
—गीता

शास्त्रनिष्टा के सम्बन्ध म हरिवंशपुराण मे एव महाभारत म एक बडा सुन्दर उपाख्यान आया । भी म श्राद्ध करत ह । शास्त्र की आज्ञा है कि पितरो की तृप्ति के लिए मन्त्रवाक के द्वारा कुशमुष्ट पर ही यथाविधि पिण्डदान करना चाहिए । जिस समय इस श्राद्धक म में पिण्डदान का अवसर आता है उस समय पिण्ड ग्रहण करने वाले प्र तात्मा का ाथ (पिण्ड लेने के लिए) निकल पडता है । उपस्थित मण्डली को बडा आश्चय होता है । परन्तु— शास्त्र की आज्ञा हाथ में पिण्डदान की नहीं है इसलिए हम इस हाथ पर पिण्ड नही रख सकते यह कहते हुए भी म हाथ पर पिण्ड नही रखत आपतु पिण्डदान की इतिकर्त्तव्यता शास्त्राज्ञानुसार ही पूरी करत ह । उसी समय आकाशवाणी होती है कि म तुह्मारी शास्त्र-निष्ठा पर अ य त प्रसन्न ह । हम प्रसन्न होकर तुह्म वर दत ह कि तु हारा यह कम्म सर्वात्मना सफल हो ।

इसी शास्त्रनि ठा के आधार पर प्रात स्मरणीय श्रीकुमारिलभट्ट— यदि वेदा प्रमाण स्यु कहते हुए गिरिशिखर से कूद पड़त ह । फिर भी उनका कुछ नही बिगडता । इन निदशनो से आपको यह मान लेने म कोइ भी आपत्ति नही हागी कि पाप-पुण्य धम्म-अधम्म कम्म अकम्म आदि के सम्बन्ध में एकमात्र शास्त्र ही शरण है । यदि आप शास्त्र की अवहेलना कर स्वबुद्धिबल स ही काम करगे तो आप कोइ यवस्था न कर सकग । पारलौकिक विषयों को छोड दीजिए । बिना शब्दप्रमाण के तो आपके लौकिक-कार्य्यों का निर्वाह भी कठिन होजायगा । स पूण ओषधि-वनस्पति-विज्ञान लौकिक सम्पूण व्यवहार— वृद्धव्यवहारमूलक शब्दप्रमाण पर ही निभर है । आप बाजार में बैठने वाले अपने से भी अज्ञ पन्सारी के शब्दो पर विश्वास कर के ही तो वस्तुए ले आते ह इन्द्रियगोचर विषयो म भी आपको जब शब्दप्रमाण की भी शरण लेनी पडती है तो फिर जो अतीन्द्रिय-विषय ह उनके सम्बन्ध में शब्दप्रमाण के अतिरिक्त आप कौनसा अन्य माग निकाल सकते हैं ? ।

भगवान् व्यासने हिसा अहिंसा भाव की मीमासा करते हुए— अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् (३ अ १ पा ६ अ २५ सू) यह सूत्र हमारे सम्मुख रक्खा है । यज्ञकम्म में पशुहिसा होती है । एव यह हिसा मा हिस्यात् सर्वा भूतानि इस श्रौत सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ती हुइ प्रत्यवाय का कारण बनती है । ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि हिसाभावापन्न आ वरिककम्म अशुद्ध है । इसी आपत्ति का निराकरण करत हुए पुराणपुरुष कहत है कि धर्म्माधम्म की मीमासा का हेतु शब्दशास्त्र ही है । वह यदि यज्ञ में पशु-वध की आज्ञा दता है ता वह निदु ष्ट कम्म है । जो शास्त्र सामान्यरूप से न हिंस्यात् सर्वा भूतानि यह आज्ञा देता है वही अपवादरूप से— अग्नीषोमीय पशुमालभेत यह वचन भी हमारे सम्मुख रखता है । देश-काल-पात्र के आधार पर ही धर्म्माधम्म का निणय होता है । जो एक स्थान पर धम्म है वही अन्य स्थान पर अधम्म बन जाता है । इसी आधार पर धम्म का निम्न लिखित लक्षण किया जाता है—

'देशे काल उपायेन द्रव्य श्रद्धासमन्वितम ।
प्राप्ते प्रदीयते यत्तत सकल धर्म्मलक्षणम् ॥'

—या स्मृ आ ६

धम्माध म क विवक लिए श्रुति स्मृति सदाचार आत्मपत लक्ष्य एव सकल्पनकाम इन्हे मुख्य मान गया है । इसप्रकार—

श्रुति स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मन ।
सम्यक सकल्पज कामो धम्ममूलामद स्मृतम् ॥

उक्त स्मात्त सिद्धान्त के यथाथ तात्पय्य को न समझते हु कितने ही भ्रा त पुरुष स्वस्य च प्रियमा मन को आगे रखते हुए कहते हैं कि जब शास्त्रने हमें– तुह्मार आ मा का ना अच्छा लग वही धम्म है यह आज्ञा दे रक्खी है तो फिर हमें जो का य अपने अन्तरा मा के प्रतिकूल प्रतीत होते ह उन्हे क्यो करे । हमारा आ मा स्वप्न म भी पशुहिंसा का समथन नहा करता । अत उसे न करना ही हमारे लिए धम्म है । हतु बडा सुन्दर है । परन्तु आइए इस हेतुम कितना तथ्य है । एक सन्निपात का रोगी अन्न मागता है । उस की हार्दिक प्र रणा है कि वह अन्न प्रा त कर । परन्तु वद्य अन्न नही देता । आपके धम्म– लक्षण के अनुसार तो वैद्य अन्न न देकर अधम्म ही कर रहा है । इसी प्रकार आपका अन्तरा मा चाहता है कि हम मद्यपान करे । क्या आ मा की यह विषयषणा धम्ममूलिका ह ? । भगवान् मनुने अनृतसहित मनुष्या की स्वाभाविक इच्छाओ का उल्लेख करते हुए कहा है कि—

न मामभक्षण दोषो न मद्य न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूताना निवृत्तिस्तु महाफला ॥

मास–मद्य–मथुन की ओर प्रवृत्त होना स्वभाव है । इनकी आर से आ मा को हटाना उचित है । इसके लिए आ मबल अपेक्षित है । बात यह है कि हमारे अध्या मजगत् में **प्रज्ञान (मन)** और **विज्ञान (बुद्धि)** में परस्पर स्पर्द्धा चलती रहती है । प्रज्ञान पार्थिव है विज्ञान सौर है । चान्द्रसोम ओषधियो में प्रविष्ट होकर हमारे मन का उपादान बनता है । एव सौरत व बुद्धि का अधिष्ठाता है । पूव के प्रकरणों में ऋत–सत्य की मीमासा करते हुए बतला आए हैं कि **सोम ऋततत्त्व है अग्नि सत्यतत्त्व है । विचालीभाव ऋत है अविचालीभाव स य है । ऋतसोमात्मक मन विचाली है** । सूर्य्य हमसे (पार्थिव प्रजा से) दूर पडता है । अतएव स्वभावत हम में ऋतसोमा मक मन की प्रधानता रहती है । जिस वस्तु में प्राण होता है वह वस्तु **'सत्'** कहलाती है । **सामा य सामान्याभाव** इस सिद्धा त के अनुसार **प्राण में प्राण नहीं रहता** । अतएव प्राण को **असत्** नाम से व्यवहृत किया जाता है । यही अवस्था **ऋतशब्द** की है । ऋत में ऋत नही रहता अतएव ऋत को **अनृत** कहा जाता है ।

अव्ययपुरुष मन प्राण-वाङ मूर्त्ति है । मन में मन एव प्राण म प्राण नही रहता । इसी आधार पर मुण्डक श्रुतिने प्राणमनोमूर्त्ति अव्यय के लिए– **अप्राणो ह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात् परत पर** यह कहा है । कहना यही है कि ऋत किन्तु अनृत शब्द से व्यवहृत चान्द्रसोम ही मन का उपादान है । जीवसृष्टि म यह ऋतसोम ही प्रधान है । इसी विज्ञान के आधार पर– **अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य** (ऋकस) यह कहा जाता है । ऋत क्योंकि अनृत है । इसी आधार पर– **अनृतसहिता वै मनुष्या** यह निगम प्रतिष्ठित

। हममें प्रकृया मन की ही प्रधानता है यह उक्त कथन से भलिभाति सिद्ध होजाता है। मन ऋत होने से कन्द्रम यानुग्रह से वञ्चित है। अतएव यह कभी एक विषय पर स्थित नही रहता। यदि इसमें । थरता आसक्ती है तो उमी सारस य विज्ञान के प्रवश से।

सौरत व अग्निप्रधान हाता हुआ स य है। चित्र दृनानामुद्गात म श्रौत सिद्धा त के अनुसार सोरप्राण ही व्वता ह। व सत्याग्निमय ह। इसी आ ार पर– सत्यमहिता वै देवा यह निगम प्रति ठित है। मनोमूर्त्ति प्रज्ञाना मा बाह्या मा है एव विज्ञाना मा अन्तरात्मा है। वश्वानर तैजस एव प्राज्ञ से समान्वत प्रनानात्मा कत्ता है निानाना मा कारायता हे। इसे ही गीता में क्षत्रज्ञ नामस व्यवहृत किया गया है। प्रज्ञान स्वत प्रबल रहता है। निानबल के लिए शास्त्रा ययन तपा अपेक्षित है। दूसरे शब्दा म प्रज्ञान सिद्ध ै ग्य विज्ञान सा य है। ऋतप्रधान मन निम्नगामी है। क्योंकि ऋतत व पार मेष्ठ्य है ए परमेष्ठा आपोमय है। अपत व का निम्नगामि व प्रत्यक्ष है। आपको यह मान लेने में काइ आपत्ति नही होगी कि यदि मन को विज्ञान के शासन से पृथक पर दिया जाता है तो मन स्वतत्र ोता हुआ अप े ऋतमूलक अनृतभाव से आ मपतन का ही कारण बन जाता है। विज्ञानसारथि के पृ क होते ही मनोमय प्रग्रह (लगाम) ढीला पड जाता है। लगाम के ढीली पडते ही इन्द्रियाश्व शरीर रथ मं प्रतिष्ठित रथी आ मा को उ पथ लेजान हैं। विपरोत मन की दया अकारण कारुण्य दु य सना मे प्रवृत्ति आदि मन के स्वाभाविक धम्म हैं। विज्ञान म स्वत सिद्ध जितना बल रहता है तदनुसार वह मनका निरोध करता रहता है। मनुष्य मन की प रणा से ही असत्कम्मं में प्रवृत्त होना चाहता है परन्तु उसी क्षण भीतर से नि आती है कि अरे ! यह कार्य्य बुरा है। इसे मत करो। यह वनि उसी अ त रा मा (बुद्धि) की है। साथ ही विचार उठता है कि आज आज करले कल नही करगे यह विचार मन का है। यदि विज्ञान निबल ोता है ता मन का विजय होजाता है। फलत मनुष्य असत्–कार्य्यों में प्रवृत्त होजाता है।

स्वस्थदशा में भख लगना विज्ञानसहकृत मन की इच्छा है। यही अनासक्तिमूला च्छा है। आपने पेटभर भोजन कर लिया है। बाजार जात हे। वहा चाट खाने की इच्छा होती है। यह विशुद्ध मन की इच्छा है। यही आसक्तिमूला हाती हुइ ब धन का कारण बन जाती है। सदसत् का कत्त याकत्त य का विवक करना बुद्धि का काम है। हठात् निणय कर बैठना मन का काम है। मन के साथ बिना बुद्धि का योग किए मन इसी प्रकार अन्डबण्ड निर्णय कर डालता है। स्वय वीर अजुनने भी सी मन की कृपा से धोका खाया था। निरपरा ों को मारना बुर काम है यह कौन नही मानता। पर तु परिस्थिति दखना आवश्यक है। अजुनने क्षात्रधम्म का मह व न समझते हुए न यात्स्ये कह डाला। भगवान्ने उस सावधान किया। बुद्धियोगमुपाश्र य मच्चित सतत भव का आदेश दिया। अजु न सँभल गया। परिणाम म विजय–भूति श्री–की प्राप्ति हुइ। यही अवस्था हमारी है। हम मन की कृपा से यह समझ बठते हैं कि अरे निरपराध पशु को मारना अनुचित है। हम उस महाफल को भूल जाते हैं जोकि यज्ञ से मिलता है जिसका कि विवचन हम अनुपद में ही करने वाले हैं। ऐसी दया आ मा का सक प नही है अपितु म का सक प है। जबतक विवेकशीला बुद्धि को मन के साथ युक्त नही कर दिया जाता तबतक यह सकल्प सम्यक सकल्प नहीं कहला सकता। सम्यक् सक पज काम बुद्धियोग पर ही निर्भर है। यही– स्वस्थ

च प्रियमा मन है । मन भाया सो ग्या यदि उक्त वाक्य का यही अ र है तब तो यह अथ नहीं आपतु अनथ है शा तवृत्ति स विचार काानए—स्वस्य का क्या आभप्राय होन चाहिए ? । वामान शिक्षाप्रणाली स रगे हुए खाना पाना मान उडाना (L t dr k and be mony) इस जघन्य सिद्धान्त की आराधना करने ाल महानुभाव ही स्वस्य च क मनभाया अथ करत ह। शास्त्रीय वचना के अ र म भी व आज अपनी इसी मनावृत्त क प्रधानता दन लग पडे ह।

छोडिए शास्त्राय म यादा का। ऐहलाकिक विषयो पर ही दृष्टि डालए। समानशा स्त्रयो की ऐसी कुछ मा यता है (जिसम भारतीय शास्त्र स मत नहा है) कि जिस काय स अनक यक्तियो का उपकार हा ग्र अ प यक्तियों की हानि हा वह का य अच्छा है । जी धारियो म मनुष्य का मूल्य आधक है । कारण पष्ट है । सा म इन्द्रियो का पूणा विकास है । अतएव स्थाव जङ्गम विश्व के अ युदय का उत्त ाथि व सी पर प्रतिष्ठि त है । जिस रा का मनुष्यसमाज वस्थ—सु शाक्षत होता है उस राष्ट्र का यवसाय सम्पन्न होता है । आपधि—वनस्पति—नद नदी—आदि थावर सपत्त पशु—पक्षी—आदि जङ्गमसपात्त भी उसी राष्ट्र म समसद्ध रहती है । इसलिए यह आवश्यक होजाता है कि मनुष्यसमाज को पूणारूप स सुशिक्षित एव स्वस्थ बनान क लिए जो भी काय्य किए जाय व निदुष्ट माने जाय। कहना न होगा कि भारतीय शास्त्र के मम स अपरिचित भारतीय याज्ञिक पशुवध पर आपेक्ष करते हुए पाश्चा य विद्वान (डाक र) केवल शरीरचिकि सा के लिए ही लेबोरेटियों (Lapotray) में प्रतादिन असख्य निरपराध प्राणयो का वध कर डालते ह।

वामान चिकित्सापद्धति (डाक्टरी) में इञ्जक्शन (Injunction) सवसवा व ना है। निरपराध अश्वादि पशुओ का श्रृङ्खलाओ स नियन्त्रण कर सूचिका के प्रयोग से उनके शरा स्थ कीटाणुओ के द्वारा इञ्जक्शन के ट्यब (Tude) सम्पन्न करना क्या हिंसाभाव से रहित काय्य है ?। मनुष्य के शरी र थ अस्थियों की जैसी रचना है प्राय वैसी ही रचना ददु र (मेढक) शरी की है। इन जावित प्राणिया के शरीर का चीर कर वैज्ञानिक अपना अनुभव बढाने में हिंसा नही समझते। दुबलता को दूर करने के लिए जलजन्तु (मत्स्यादि) के तैल का (कार्लिवर आयल का) आज कितना अधिक प्रचार है यह भी तिरोहित नही है। अशिक्षित शिक्षत सभी उक्त काय्यों का हृदय से अनुमोदन कर रहे है। उन्हे इनमें हिंसा प्रतीत नहीं होरही। इन कार्यों को ये ईश्वरीय काय्य समझते हैं। क्यों ? वही मनुष्यसमाज की रक्षा। अनेक व्यक्तियो का उपकार। ऐसी अवस्था में यदि हम यज्ञ के द्वारा अधिक लाभ सिद्ध करद तो कोई कारण नही रहा जाता जिसस यज्ञिय पशु की हिंसा पर आक्षेप किया जाय।

कितने ही महानुभाव यह भी कहा करते हैं कि मास अप्राकृतिक भोजन है। मनुष्य की उदर-पूर्ति के लिये ईश्वरने ओषधि वनस्पति का ही निर्म्माण किया है। बात ठीक है। हम भी मास को मनुष्य का आवश्यक अन्न नही समझत। कारण—मास की मात्रा जीवनसत्ता के लिए जितना मात्रा में अपेक्षित है उतनी मात्रा ओषधि—वनस्पतियों में भी रहती है। गहू माष आदि म मास की मात्रा विद्यमान है। माष (उद) तो माम की साक्षात् ही प्रतिकृति है। अतएव माष को अयज्ञिय माना है। आपको यह यान रखना चाहिए कि शरीरगत रस असृक् मासादि धातु तभीतक शरीर म सुरक्षित रह सकते है

जबत˜ कि न धातुओं को तत्त्व द्र न मिलते रहते । मांसरक्षा के लिए मांस अपेक्षित है रुधिररक्षा के लिए रुधिर अपेक्षित है । यही स्थिति इतर धातुओं के सम्बन्ध में समझनी चाहिए । व सब मात्राएँ तारतम्य से ओषधि वनस्पतियों में भी विद्यमान है । आप मांस के लिए प्रश्न उठाते हैं । हम कहते हैं— सोना तांबा–चान्दी–लोहा आदि धातु–उपधातु विष उपविषादि भी प्राकृतिक अन्न है । पालक की परीक्षा कीजिए । उसमें आपको ताम्र अधिकमात्रा से उपलब्ध होगा । इसीप्रकार सब अन्नों में मात्रातारतम्य से धातु–विषादि विद्यमान हैं । आवश्यकतानुसार इनका स्वतन्त्ररूप से भी प्रयोग करना आयुर्वेदज्ञ लाभप्रद मानते हैं । ऐसी अवस्था में मांस को अप्राकृतिक अन्न मानना साहस है । पशु के शरीर में रक्तयुक्त जो पिण्ड विद्यमान है सम्भवत आपने उसे ही मांस समझ रक्खा है । परन्तु मांस तो एक विशेष प्राण है । यह प्राण ब्राह्मणग्रन्थों में पुरीष शब्द से व्यवहृत हुआ है (देखिए—श ८। ७।४।१६) । यह जिस भौतिक द्रव्य में रहता है वह भी तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम् इस न्याय के अनुसार मांस शब्द से ही व्यवहृत होने लगता है ।

मत्स्य में इस पुरीषप्राण का अभाव है । अतएव मांस मत्स्य पृथक माना जाता है । मांस–मच्छी यह भेदमूलक व्यवहार प्रामाणिक है । वही पुरीष माष (उड़द) में विद्यमान है । अतएव उसे मांस की प्रतिकृति माना जाता है । जो हानि लाभ मांस भक्षण में है वही माष (उड़द) के भक्षण में है । यदि मांस अप्राकृतिक अन्न होता तो मनुष्य उसे पचा नहीं सकता था । हम देखते हैं कि मनुष्य मांस मुख में डालता है । उसके दांत अन्नवत् उस पर व्यापार करते हैं और वह भक्षित माँस को पचा जाता है । हाँ जो प्राणी (सिंहादि) मांसाशी हैं उनका मांस अवश्य ही अप्राकृतिक है । इनका मांस अवश्य ही त्याज्य है । आप कहते हैं—मांस अप्राकृतिक अन्न है किन्तु श्रुति कहती है—

१—'एतदु ह वै परमन्नाद्य यन्मांसम्' (श ११।७।१।३)
२— अन्नमु पशोर्मांसम्' (श ६।२।१।४)

मांस को अप्राकृतिक अन्न मानने वाले महानुभावों का ध्यान हम मांसाशी मनुष्यों की संख्या की ओर आकर्षित करते हैं । केवल भारतवर्ष को छोड़ दीजिए । आपको यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि भारत को छोड़कर समस्त एशिया युरोप अमेरिका आदि में निवास करने वाले मनुष्य ९९ प्रतिशत मांसभक्षी हैं । भारतवर्ष में भी—कश्मीर सिन्ध पंजाब बंगाल मिथिला आदि प्रान्तों को छोड़ दीजिए । केवल यूपी गुजरात राजपूताना को लीजिए । यहां भी मुसलमान–ईसाई–राजपूत–अन्त्यज जातियों को छोड़ दीजिए । मांस न खाने वालों में से बच जाते हैं यूपी–गुजरात–राजपूताने के उच्चवंशी ब्राह्मण–वैश्य । क्या विश्व की जनसंख्या के समतुलन में मांस न खाने वालों की सख्या का कोई मूल्य है ? । इसीलिए तो श्रुतिने मांस के लिए परममन्नाद्यम् कहा है । मांस व्यापक अन्न है । हम इस वृत्ति का स्वागत नहीं करते । इससे हम बतलाना केवल यही है कि मांस अवश्य ही प्राकृतिक अन्न है । तभी तो— न मांसभक्षणे दोषो प्रवृत्तिरेषा भूतानाम् यह मनुवचन चरितार्थ होता है । ऋषियों की दृष्टि में यह प्रवृत्ति बुरी है । जबतक इतर अन्नों से जीवनयात्रा का सचारुरूप से निर्वाह होजाय एवं सुलभता से जबतक अन्नसामग्री मिलती रहे तबतक पशुमांस को न खाना ही उत्तम पक्ष है । पशुमांस अन्न

होता हुआ भी पुरीष के सम्बन्ध से बुद्धि का व्याघातक है। अतः इस न खाना ही श्रेयस्कर है। जब और वस्तु (स्थावर) हमें मिल जाती हैं तो फिर जिह्वा स्वाद के वशीभूत होकर मांस खाना— मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि का विरोध कर प्रत्यवाय का ही भागी बनना है।

सात्त्विकभावों की रक्षा के लिए मांस ग्रहण अनुचित है परन्तु अप्राकृतिक नहीं। यदि अप्राकृतिक ही होता तो पञ्च पञ्च नखा भक्ष्याः—न मांसमश्नीयात् इत्यादि वचनों का कोई मूल्य ही नहीं रहता। प्राप्त वस्तु का ही निषेध चरितार्थ होता है। न मांसमश्नीयात् यह सामान्य विधि नहीं है। अपितु अपवाद है। ब्रह्मौदन के रक्षक व्रतों (नियमों) का विधान करती हुई श्रुति कहती है—

'न मांसमश्नीयात् न स्त्रियमुपेयात्। यन्मांसमश्नीयात्, यत्स्त्रियमुपेयात् निर्वीर्यः स्यात्। नैनमग्निरुपनमेत्'

(तै॰ ब्रा॰ १।१।१।७ —) इति।

यदि इस उक्त श्रुति को विधि परक मान लिया जायगा तो स्त्री के सम्बन्ध का भी निषेध प्राप्त होगा जो कि— प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः के विरुद्ध पड़ेगा। अतः इसे निशेष विधि मानना ही उचित होगा।

प्रकृतिसिद्ध मांसाशन की प्रवृत्ति का ऋषियों ने निरोध किया एवं परम आवश्यक समझ कर पशुप्राशन का विधान किया। इतना होने पर भी इन विषयों को कलिवर्ज्य माना गया। नियोगविधि शास्त्रीय है। परन्तु कलह प्रधान इस कलियुग में स्वभावतः मनुष्यों का आत्मा निर्बल रहता है। यदि उनको नियोग की आज्ञा शास्त्रकार दे देते तो बड़ा अनर्थ हो जाता। नियोग के बहाने व्यभिचार का मार्ग निष्कण्टक बन जाता। अतएव दूरदर्शी ऋषियों ने नियोग को कालवर्ज्य माना। यही अवस्था यज्ञ की है। जनमेजयात्— जनमेजयान्तम् इस पुराणसिद्धान्त के अनुसार विशेषतः * त्रेतायुग पर्य्यन्त एवं साधारणतः द्वापरयुगान्त के जनमेजय के सर्पयज्ञ पर्य्यन्त ही यज्ञों की प्रधानता रही। इसके अनन्तर यज्ञकाण्ड से क्रमशः श्रद्धा उठती ही गई। यहांतक कि आगे जाकर पञ्चपश्वात्मक चितियज्ञ में केवल प्राजापत्य अज पशु का आलम्भन ही शेष रह गया। पुष्कर (आजकल बुखारा नाम से प्रसिद्ध) निवासी प्रजापति (ब्रह्मा) से आरम्भ कर सत्यकामायन नाम से प्रसिद्ध श्यापर्ण पर्य्यन्त पुरुष—अश्व—गो—अवि—अज—इन पांचों पशुओं का ही आलम्भन होता रहा। परन्तु याज्ञवल्क्य के समय में केवल प्राजापत्याज वायव्याज इन अजपशुओं का ही आलम्भन शेष रह गया। (देखिए शत॰ ६ प्र॰ ४ ब्रा॰ ३८ क॰ ६ का॰)। आज तो यज्ञविद्या सर्वथा विलुप्तप्राय ही होगई है। आज का युग उपासनायुग है। यज्ञ का तो एकमात्र प्रयोजन इवाफिटर करना ही रह गया है। मनमानी पद्धतियां बन गई हैं। यथेच्छ—अधिकार मिल गए हैं। कलि की कृपा से सबकुछ विडम्बना

* गार्हपत्य दक्षिणाग्नि आहवनीय भेद से वितानयज्ञ त्रेताग्नियज्ञ कहलाता है। इसी त्रेताग्नि के सम्बन्ध से यह युग त्रेतायुग कहलाया है। इस विषय का विशद विवेचन मन्वन्तर-स्वरूप परिचय नाम के निबन्ध में देखना चाहिए।

हारही है । अतातानागनश्च अप न्म युगमाहा य को समझते थ । उन्ह यह विदित था कि इस युग में स्वत एव मनुष्य न्द्रियलोलुप हात ह । ऐसी अवस्था म याद यज्ञ में पशुवध की आज्ञा द दी ग तो अनथ होजायगा । अतएव नियागमत् इस भी उन्होन कलिवर्ज्य-प्रकरण म । यान द दिया । इसप्रकार कलियुग मे केवल स्मात्त यज्ञा की ही प्रधानता र गइ । यह सबकुछ होने पर भी यदि काइ ध मपरायण वत्त मान म वितानयज्ञ करना चाह तो उन्ह यान रखना पडेगा कि बिना पशु की आहुति क उसका यज्ञ सवथा निर थक है । प्रथम तो व यज्ञ करे ही नही याद क तो उस अवश्य ही पशु का आल मन करना पडगा ।

य म पशु को मा ा जाता है । समे हिसादोष भी होता ह एव उस के परिहार के लिए दक्षिणा का विधान भ किया गया । क ा । मा की विभीषिका मे यज्ञ जसा श्र ष्ठतमकर्म छोड बठना बुद्धिमानी नहा । यदि ऐसी विप्र नपातया । जायँगी तब तो आप कोइ भी कर्म न करसकग । का ग—

'सर्वारम्भा हि दोषण धूमेनाग्निरिवावृता —गीता

उक्त आप्त सिद्धान्त क अनुसार कोइ भी क म म नस ा ोषरहित नहा है । भोजन-शयन-वदन-चलन-आा सभी क र्मो म-असंख्य नायय जीवो का ि साजानत प्रत्यवाय मिश्रित मानना क्या युक्तिसङ्गत होगा ? इसलिए अन्तता ग वा आपको इसी सिद्धान्त का आश्रय लेना पडगा कि धर्म्माधर्म्म-हिसा-अहिंसा आदि भाव अतीन्द्रिय पदाथ ह । इनके सम्बन्ध म शास्त्र हमारे लिए जो निणय करे वही ठीक है । वही मान्य है । जो शास्त्र हमे मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि यह आदश करता है वही अपवादरूप से विशेष स्थल के लिए अग्नीषामीय पशुमालभेत यह आज्ञा भी दता है । दोनो के लिए शब्दप्रमाण सामान्य है। इसी निणय को लक्ष्य म रख कर अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् यह कहा गया है । स सूत्र का व्याख्यान करत हुए सवश्री शङ्कराचाय्य कहत ह ।

'यत् पुनरुक्त पशुहिंसादियोगादशुद्धमाध्वरिक कर्म्म, तस्यानिष्टमपि फलमवकल्पते, इत्यतो मुख्यमेवानुशायिना ब्रीह्यादिजन्मास्तु गौणीकल्पनानर्थिकेति तत परिह्रियते । न शास्त्रहेतुत्वाद्धर्माधर्म्मविज्ञानस्य । अय धर्म्मोऽयमधर्म्म--इति शास्त्रमेव विज्ञान कारणम् अतीन्द्रिय त्वात्तयो । अनियतदेशकालनिमित्तत्वाच्च । यस्मिन् देशे काल निमित्ते च या धर्म्माऽनुष्ठायते, स एव देशकालनिमित्तान्तरेष्वधर्म्मो भवति । तेन शास्त्रादृते धर्म्माधर्म्मविषय विज्ञान न कस्यचिदस्ति । शास्त्राच्च हिंसानुग्रहाद्यात्मको ज्योतिष्टोमो धर्म्म इत्यवधारित । स कथमशुद्ध-इति शक्यते वक्तुम । ननु-'न हिंस्यात सर्वा भूतानि इति शास्त्रमेव भूतविषया हिंसामधर्म्म इत्यवगमयति बाढम । उत्सर्गस्तु स । अपवाद – अग्निषोमीय पशुमालभेत' इति । उत्सर्गापवादयोश्च व्यवस्थित-विषयत्वम् । तस्माद्धि शुद्ध कर्म्म वैदिकम् । शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वात अनिंद्यमानत्वाच्च ।

— ३ अ १ पा ५ सू इति

तदनन्तर प्रकरण से पाठकों को यह आभास होगया होगा कि यज्ञ में अवश्य ही पशु का आलम्भन होता है। यज्ञविद्या प्रकृति की प्रतिकृतिमात्र है। जैसा प्रकृति में होता है ठीक वही कर्म इस वैधयज्ञ में किया जाता है। अतः सर्वप्रथम पश्वालम्भन मन्त्र या प्राकृतिक नित्य यज्ञ का स्वरूप ही पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जारहा है।

दो वस्तुओं का रासायनिक सम्मिश्रण से समन्वित कर उन्हें अपूर्व स्वरूप प्रदान करने वाली प्रक्रियाविशेष का ही नाम यज्ञ है। यह यज्ञ शब्द का सामान्य अर्थ है। प्रकृति-पुरुष का समन्वितरूप पहिला यज्ञ है। बिना इस याज्ञिक समन्वय के सृष्टि नहीं होसकती। इसी याज्ञिक समन्वय को लक्ष्य में रखकर—तत्तु समन्वयात् (व्या० सू०) यह कहा गया है। प्रकृति-पुरुष का समन्वितरूप ही यज्ञेश्वरप्रजापति है। षोडशी नामसे प्रसिद्ध पुरुषप्रजापति ही तत्तु युक्त होकर ही यज्ञरूप में परिणत होते हैं। एवं ये ही प्रजोत्पत्ति के कारण बनते हैं। षोडशी प्रजापति अग्निप्रधान है एवं प्राण-आप वागादि में मन प्रधानता प्रकृति सामप्रधाना है। इति तत्त्व द्वया है। सोमत यान्षा है। प्रश्नोपनिषद्विज्ञान के अनुसार वृषा नाम प्राण है योषा नाम रयि है। इन दोनों के समन्वय से ही प्रश्नोपनिषत्ने सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति मानी है।

विश्वसृष्टि का अधिष्ठाता अग्नीषोमात्मक (वृषा-योषात्मक-रयिप्राणात्मक) यज्ञ पाङ्क्त (पञ्चावयव) है पाङ्क्तो वै यज्ञः अनुगम वचन है। अतएव इसकी पाङ्क्तता अनेक प्रकार से है जिसका कि विशद निरूपण पूर्व-प्रकरणों में यत्रतत्र विस्तार से किया जाचुका है। प्रकृत में हम केवल द्यावा-पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाले पाङ्क्त यज्ञ की ओर ही निज पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं।

द्यावापृथिवी में क्रमशः यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी का अधिष्ठाता देवता अग्नि है एवं द्युलोक का अधिष्ठाता देवता इन्द्र है। तत्-ल्लोक का अधिष्ठाता देवता ही तत्तल्लोक का प्रजापति कहलाता है। इस परिभाषा के अनुसार अग्नि भूलोक का प्रजापति है एवं इन्द्र द्युलोक का प्रजापति है। ये दोनों ही प्रजापति आदानविसर्गात्मक यज्ञ के द्वारा रोदसी विश्व के प्रभव बने हुए हैं। प्रजापति इस यज्ञ के द्वारा निरन्तर विस्रस्त होता रहता है। सूर्य्य (इन्द्रप्राणमय) का भाग प्रवर्ग्यरूप से सूर्य्य से पृथक् होकर ओषधि-वनस्पति आदि का निर्म्माण किया करता है। इससे सौरभाग खर्च होता है। यही प्रजापति की विस्रस्ति है। सूर्य्य उदाहरणमात्र है। विश्व के यच्चयावत् पदार्थ [चेतन एवं अचेतन] निरन्तर विस्रस्त होते रहते हैं। प्रतिक्षण उनके चार परमाणु विस्रस्त [खर्च] होते रहते हैं। परन्तु साथ ही तत्तत्पदार्थों के केन्द्रस्थ विष्णु की अशनाया से आकर्षित अन्नाहुति के द्वारा यह विस्रस्त भाग सहित भी होता रहता है। सम्पूर्ण पदार्थ अपने भाग को प्रवर्ग्यरूप से अन्न बना रहे हैं एवं दूसरों के प्रवर्ग्यान्न को लेकर अन्नाद [भोक्ता] बन रहे हैं। सर्वमन्नम्-सर्वमन्नाद यह सहज नियम है। अन्न-अन्नादात्मक इसी नित्ययज्ञ का निरूपण करती हुई ऋक्श्रुति कहती है—

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाम ।
यो मा ददाति स इदेवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

—सामसंहिता

पदार्थों से विस्रस्त होने वाला तत्त्व **अग्नि** है एवं अशनाया के द्वारा जो तत्व वस्तुगत अग्नि में आहुत होकर विस्रस्तभाग की पूर्ति किया करता है वह **सोम** नाम से प्रसिद्ध है। ऐसी अवस्था में **यज्ञ** शब्द का **अग्नि में सोम का आहुत होना** यह निष्कर्ष निकल आता है। आहुत होने वाला सोम अन्न है। यह आहुत होकर **ऊक्** रूप में परिणत होता है ऊक् अन्ततोगत्वा **प्राणाग्नि** रूप में परिणत हो जाता है। प्राणाग्नि विस्रस्त होता रहता है। अशनाया के द्वारा प्राणाग्नि के आकर्षण से पुनः अन्नाहुति होती है। इसप्रकार **अन्न से ऊक्** ऊक् से प्राण प्राण से **अन्न अन्न से ऊक्** यह धारावाहिक क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसी आधार पर यज्ञ का— **अन्नोक्प्राणनामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञ** यह लक्षण किया जाता है।

तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत् इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार प्राणाग्नि **वाक्** तत्त्व है। इस वाक् से **प्राण** की पुष्टि होती है। प्राण से **चित्त (मन)** की पुष्टि होती है। हम जो अन्न खाते हैं वह प्रथम वाग्रूप प्राणाग्नि में आहुत होता है। दूसरे शब्दों में पहिले उसकी वागग्नि पर चिति होती है। अनन्तर रस-मल के क्रमिक विश्लेषण से वह मन का पोषक बनता है। सप्त धातुओं की क्रमिक चिति के अनन्तर वह अन्न शुद्ध चान्द्रसोम में परिणत होता हुआ मन का स्वरूप-समर्पक बनता है। दूसरे शब्दों में हुत अन्न स्थूल पार्थिव भूतभाग के द्वारा **धातुचिति** रूप में परिणत होता हुआ अन्त में मन पर चित होता है। **सोमचिति** के कारण ही मन **चित्त** कहलाता है। मन का स्वरूप **अन्नचिति** पर ही निर्भर है इसी आधार पर— **अन्नमयं हि सौम्य मनः** यह कहा जाता है। यह मन इन्द्रियों के द्वारा खर्च होता रहता है। इस कमी को पूरी करने के लिए मन अशनाया के द्वारा प्राणाग्नि के माध्यम से पुनः **अन्न का आकर्षण** करता है। इसप्रकार **वाक्** और चित्त का जो उत्तरोत्तर **चितिक्रम** है वही यज्ञ का साधक बन जाता है। इसी आधार पर यज्ञ का **वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यज्ञः** यह लक्षण भी किया जाता है। तथा यज्ञ का **अग्नौ सोमाहुतियज्ञः** यही फलितार्थ निकलता है। समष्टिरूप से एवं व्यष्टिरूप से उभयथा सम्पूर्ण पदार्थ **अग्नीषोममय** हो रहे हैं। इसी आधार पर— **अग्नीषोमात्मकं जगत्** यह निगमश्रुति प्रतिष्ठित है।

उक्त सन्दर्भ से यह भलीभांति सिद्ध होजाता है कि यज्ञस्वरूपसिद्धि के लिए अग्नि में सोम का आहुत होना नितान्त आवश्यक है। आहुत होने वाला यह सोम **हवि पशु राजा वाज ग्रह**-आदि भेद से अनेक भागों में विभक्त है। आहुतिद्रव्यस्वरूप सोम की विजातीयता से एक ही **अग्नियज्ञ** अनेक प्रकार का होजाता है। व्रीहि यवादि ओषधियों में भी सोम है। इस सोम से निष्पन्न होने वाला यज्ञ **हवियज्ञ** कहलाता है। **अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास चातुर्मास्य** आदि इष्टियों में इस अन्नसोम की ही आहुति दी जाती है। अतएव ये सब **हवियज्ञ** नाम से प्रसिद्ध हैं। एवं पशुबन्ध में **पशुवपागत सोम** की आहुति होती है। बिना **पशुवपा** की आहुति के पशुबन्धयज्ञ का स्वरूप ही निष्पन्न नहीं होसकता। पशु **अपेक्षित नहीं है।** **वपागत सोम अपेक्षित है।** वह बिना पशुबध के अप्राप्त है। अतः अगत्या इस यज्ञ की सिद्धि के लिए पशु का आलम्भन करना पड़ता है। राजा सोम से निष्पन्न होने वाला यज्ञ **राजसूय** है। वाजसोम से निष्पन्न होने वाला यज्ञ **वाजपेय** है। ग्रह (बल्लीसोम) से निष्पन्न होने वाला यज्ञ **ज्योतिष्टोम** है एवं **पञ्चपशु-ग्रहसोम** दोनों से निष्पन्न होने वाला यज्ञ **चिति** किंवा **चयनयज्ञ** है। इसमें **पांचों पशुओं का**

और ग्रहसोम का दोनो का सम्बन्ध रहता है। अत न्तर यज्ञो से इसे न्त्कृष्ट माना जाता है। यहातक कि कम्मकाण्डप्रधान यज्ञों में एक चयनयज्ञ ही ऐसा यज्ञ माना गया है जो कम्म होता हुआ भी ज्ञानैकसाध्या अमृतत्त्वप्राप्ति का कारण बन जाता है। चयनयज्ञ के लिए ही नामृतत्त्वस्य ~–आशास्ति ऋते चयनात यह सिद्धा त प्रसिद्ध है।

पुरुष–अश्व–ग–अवि–अज ये पाचा पशु द्यावापृथिव्य हैं। पृथिवी अन्तरिक्ष द्यो तीनो के रसो के तारतम्य से इन पाचो प्राकृतिक पशुओ का स्वरूप नि पन्न होता है। इन पाचो में पुरुषपशु ही सवश्र ष्ठ अतएव सवप्रधान है अत प्रथम न्सी का स्वरूप उपस्थित किया जाता है।

१–पुरुषपशु —

पार्थिव अग्नि आन्तरिक्ष्य अग्नि [वायु] ए दि य अ नि [इन्द्र] न्न तीनो प्राणाग्निया क सम वय से वैश्वानर का स्वरूप निष्पन्न होता है। प्राणाग्नित्रयमूर्त्ति यह वैश्वानरतत्त्व ही पुरुषपशु कहलाता है। न्सी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

इमे वै लोका पू । अयमेव पुरुषो योऽय पवते। सोऽस्या पुरि शेते तस्मात पुरुष'

—श १३ ६ २ १

वैश्वानरपुरुष के इसी व्यापक स्वरूप का निरूपण करती हुइ श्रुति कहती है–

स य स वैश्वानर –इम स लोका । इयमेव पृथिवी विश्वम् अग्निनर । अन्तरिक्षमेव विश्वम् वायुनर । द्यारेव विश्वम् आदित्यो नर । ते ये तऽइमे लोका इद तच्छिर इदमेव पृथि योषधय श्मश्रूणि, तदेतद् विश्व वागेव। अग्नि स नर । सो परिष्टादस्य भवति। उपरिष्टाद्धस्या अग्नि । इदमेवान्तारक्षम्। तस्मादेतदलोकम। अलोकमिव ह्यन्तरिक्षम्। तदेतद् विश्व प्राण एव। वायु स नर स मध्येनास्य भवति। मध्येन ह्यन्तरिक्षस्य वायु । शिर एव द्यौ । नक्षत्राणि केशा –तदेतद् विश्व चक्षुरव। आदित्यः स नर । अवस्तच्छीर्ष्णो भवति। अवस्ताद्धि दिव आदित्य । तदस्यैतच्छिरो वैश्वानर । आत्मायमग्निश्चित । आत्मानमेवास्यै तत् सस्कृत्य शिर प्रतिदधाति"।

—शत ब्रा ६। प्र ३ ब्रा ३–४–५–६ क ।

उक्त वैश्वानरपशु अग्निप्रधान बनता हुआ वृषामूर्त्ति है। जिस प्राणी में न्सकी प्रधानता होती है वह पशुसृष्टि में पुरुष (मनुष्य) कहलाता है। पुरुष उस प्राकृतिक पुरुषपशु की प्रतिकृति है। न्तर पशुओ की अपेक्षा यह उस विराट् की सन्निहित प्रतिकृति है। कारण वैश्वानर त्रैलोक्य में व्याप्त है। उधर प्रजापति भी त्रैलोक्य म व्याप्त है। अग्न्यव च्छेदेन वह अर्थशक्तिमय है वायु अवच्छेदेन वह क्रियाशक्तिमय है एव इन्द्राव च्छेदेन वह ज्ञानशक्तिमय है। न्तर पशुओ की अपेक्षा इसमें ज्ञान–क्रिया–अथ का पूण विकास है। न्सी आधार पर इस पुरुषपशु के लिए– पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम् यह कहा जाता है। यजु सहिता का सुप्रसिद्ध पुरुषसूक्त इसी विराट्मूर्त्ति पुरुषपशु का निरूपण करता है।

त्रिवृत्स्थानीय अग्नि पहिली साहस्री है पञ्चदशस्थानीय वायु दूसरी साहस्री है एवं एकविंशस्थानीय आदित्य तीसरी साहस्री है। अग्निप्रधान सहस्रमण्डल वैश्वानररूप है वायुप्रधान सहस्रमण्डल हिरण्यगर्भमय है एवं आदित्यप्रधान सहस्रमण्डल सर्वज्ञरूप है। पार्थिव वैश्वानर एककल है आन्तरिक्ष्य हिरण्यगर्भ अग्नेय धिष्ण्याग्नि के सम्बन्ध से अष्टकल है एवं दिव्य सर्वज्ञ एककल है। सम्भूय कलाएं दश होजाती हैं। यही दशकल विराट् पुरुष है। यही ईश्वरप्रजापति है। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति पुरुषपशु है। यह पार्थिव प्राण की प्रधानता से वैश्वानर कहलाता है। महस्रमूर्त्ति ईश्वर की यदि कोई साक्षात् प्रतिमा है तो वह यह पुरुषपशु ही है। इसी आधार पर निम्नलिखित निगम वचन प्रतिष्ठित हैं—

१—"पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा (यजु म १३।४१)-(शत ७।५।२।१७)।

२— प्राजापत्यो वै पुरुष" (तै ब्रा० २।२।५।३)।

३— पुरुष प्रजापति' (शत० ६।२।१।२।३)।

४— पुरुषो हि प्रथम पशूनाम' (शत० ६।२।१।१८)।

५— पुरुष पशूनाम्" (अधिपति)। ता० ब्रा ६।२।७)।

६—'षोडशकलो वै पुरुष' (तै ब्रा १।७।५।५)।

७— 'स वाऽयं पुरुष सर्वासु पूर्षु (पृ अ दिवि च) पुरि शय"
(शत १४।५।५।१८)।

२ अश्वपशु —

दूसरा है अश्वपशु। अश्वपशु का स्वरूप आपोमय सौरतेज से निष्पन्न होता है। सूर्य्य का सावित्र तेज (जोकि सावित्रतेज सावित्री नाम से प्रसिद्ध है) भूपिण्ड की ओर आता है। भूपिण्ड से टकरा कर यह सौरतेज आन्तरिक्ष्य अर्णवसमुद्रगत अप्तत्त्व से सश्लिष्ट होता हुआ भूपिण्ड से टकरा कर पुन अपने सौरलोक की ओर जाता है। पार्थिवप्राण से सश्लिष्ट होकर लोकालोक पर्य्यन्त वितत होता हुआ यही सौरत व अश्व नाम से व्यवहृत होता है। अप्तत्त्व का अभिमानी देवता वरुण है। अतएव अश्व को वारुणपशु माना जाता है। परन्तु यह शुद्ध वारुण ही नहीं है। अपितु जो आन्तरिक्ष्य अप्तत्त्व सौरतेज में सश्लिष्ट होजाता है वही अप्तत्त्व अश्व की योनि बनता है। अतएव यह वारुण होता हुआ भी साम्यपशु माना जाता है। शुद्ध वारुण पशु तो महिष (भैंस भैंसा) है। वरुण और इन्द्र में परस्पर विरोध है। अश्व में इन्द्र (सौरप्राण) की प्रधानता है एवं महिष में वरुण की प्रधानता है। अतएव इन दोनों पशुओं में सहज वैर है। इसी आधार पर- अश्वमाहिष्य न्याय प्रतिष्ठित है।

आन्तरिक्ष्य आपोभाग इसका आत्मा (शरीर) है। अप्तत्त्व ऋतप्रधान होता हुआ प्रतिष्ठाशून्य है। अतएव तत्प्रधान अश्वपशु सर्वात्मना अपने शरीर को प्रतिष्ठित रखने में असमर्थ है। अश्वपशु जब भी खड़ा होगा एक पैर भूपिण्ड से असस्पृष्टवत् ही रक्खेगा। सूर्य्यरश्मियों की प्रतिष्ठा सौरकेन्द्र है। सूर्य्य के केन्द्र से चारों ओर से रश्मियों का प्रसार होता है। केन्द्रबिन्दु तद् वस्तु का अक्ष (धुरा) कहलाता है। पृथिवी

का प्राजापत्याग्निमय के उसका अक्ष है। इसके आधार पर भूपिण्ड अहो रात्र में अपने स्थान पर घूम जाता है। इसी से दैनन्दिनगति का स्वरूप निष्पन्न होता है। अक्ष के सम्बन्ध से ही यह पार्थिवगति स्वाक्षपरिभ्रमण नाम से प्रसिद्ध है। सूर्य भी भूपिण्डवत् अपने अक्ष के आधार पर स्वस्थान पर घूमता रहता है जिसका कि प्रत्यक्ष प्रमाण सूर्यगत विभिन्न धाराविस्थित माठर कपिल–कुण्डादि चिह्नों का स्थान परिवर्तन है। यह अक्षस्थान ही आक्ष है। इसी से रश्मियों का विकास हुआ है। आक्षस्थान से विनिर्गत सौर–रश्मियां ही मरीचि नाम से व्यवहृत होती हैं। सूर्य अग्निमय है। इस से अनन्त (सहस्र) रश्मियां निकलती हैं। अनन्त रश्मिगत अनन्त सौरप्राण अनन्त रुद्र हैं। इन सब पर इस एक सूर्य का शासन है। यही एकरुद्र कहलाता है। रश्मिस्थ मरीचिमय प्राण विरुद्र हैं। एक एव रुद्रो न द्वितीयाय यह वही सूर्य है। इसी एकरुद्र एवं विरुद्र–सम्पत्ति का निरूपण करती हुई यजुःश्रुति कहती है—

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः ।
ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषां हेड ईमहे ॥
—यजुःसंहिता

सूर्यप्रजापति के अक्षिभाग से विनिर्गत रश्मियों के घर्षण से जो पानी उत्पन्न होता है वही अर्णव समुद्र की प्रतिष्ठा बनता है। चतुर्विध पानियों में से यही सौरपानी मरीचि नाम से प्रसिद्ध है। यही रुद्राग्नि का अश्व है। सौरतेजोगर्भित यह अक्षिभाग प्रजापति का अग्नि (हृदय) है। हृदय ही ऋक्‌साम के वितान से बहिर्मण्डल का कारण बनता है। यही अक्षिभाग पूर्व कथनानुसार अश्वरूप में परिणत होता है। यही अश्व पृथिवी से सङ्क्रान्त होकर अश्व रूप में परिणत होता है। इन्द्रतेज अतिप्रखर है। वही इस पशु का जनक है। अतएव इतर पशुओं की अपेक्षा अश्वपशु को वीर्यवत्तम माना जाता है। आन्तरिन्द्र अन्नगर्भित रौद्रतत्त्व ही विद्युत् है। यह विद्युत् आपोमयी है। आन्तरिक्ष्य आप ही इसकी प्रतिष्ठा है। यदेतत्‌ विद्योतते विद्युत् (केनोपनिषत्) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार यह विद्युत् इन्द्र है। आपोमय इन्द्र देवताओं में वीर्यवत्तम है। अतएव तत्प्राणप्रधान अश्व भी वीर्यवत्तम है। इसीलिए तो अश्व को सौम्य (ऐन्द्र)–पशु मानना युक्तिसङ्गत होता है। अश्वपशु वास्तव में सौरा इन्द्रविद्युत् का ही प्रतिमान है।

आपोमय यह अश्वपशु भूपिण्ड से सूर्य पर्यन्त व्याप्त है। प्रातःकाल से सायं पर्यन्त में अश्व की व्याप्ति है। उषाकाल उपक्रमबिन्दु है वृषाकपायी उपसंहारबिन्दु है। उषा मस्तक स्थान है। वृषाकपायी पृष्ठ स्थान है। सौरत्रैलोक्य में अन्नमूर्ति इन्द्रप्राणप्रधान यह अश्वपशु खड़ा है इसका सम्यक परिज्ञान ही वेद का सम्यक परिज्ञान है। सूर्य त्रयीमूर्त्ति है। यही वाजिरूप में परिणत होकर जिज्ञासुओं को वेद का स्वरूप बतला रहा है। भगवान् याज्ञवल्क्य ने इसी वाजिरूप सूर्य से वेदतत्त्व प्राप्त किया था। **इस द्यावापृथिव्य अप्‌प्रधान प्राणात्मक अश्वपशु की जिस प्राणी में प्रधानता रहती है प्राणियों में वही पशु अश्व नाम से प्रसिद्ध है।** पूर्व में अश्वपशु के सम्बन्ध में जो जो स्वरूप बतलाए हैं निम्नलिखित श्रौत वचनों से उन सब की पुष्टि होजाती है—

१— प्रजापतवो अद्यश्वयत् । तत्परापतत् । तदश्वोऽभवत् । तदश्वस्याश्वत्वम । तद्देवा अश्वमधन प्रत्यदधु ’ (ता ब्रा० २१।४।२) ।

२— अथ यदश्रु मदरितमासात् सोऽश्रुरभवत् । अश्रुह वै तमश्व इ याचक्षत परोक्षम’ (शत ६।१।१।१।१) ।

३— अद्भ्यो ह वा अग्रऽश्व सम्बभूव । सोद्भ्य सम्भवन्नसर्वो समभवत् । असर्वो हि नै समभवत् । तस्मान्न सर्वै पद्भि प्रतितिष्ठति । एककमव पादमुद्य तिष्ठति’ (शत ५।१।४।५)

४—‘ अत्याऽसीत्याह । तस्मादश्व सर्वान् पशून्त्यात ।(तै ब्रा ३।८।१।६)

५—‘ अप्सुयोनिर्वा अश्व ’ (तै ब्रा ३।८।४।३) ।

६— ‘अश्व पशूनामोजिष्ठो बलिष्ठ ” (त ब्रा ३।८।७।२)।

७— अश्व पशूनामन्नादो वीर्य्यवत्तम ” (तै ३।८।७।१) ।

८— क्षत्र वा अश्वो विडतरे पशव ’(शत १३।२।२।१५) ।

९—‘ इन्द्रो वा अश्व (कौ ब्रा १५।४)।

१०—‘असौ वा आदित्योऽश्व ” (त ब्रा ३।९।२३।२)

११— सौर्य्यो वा अश्व ’(गो ब्रा उ० ३।१९)।

१२— वारुणो हि देवतयाऽश्व (तै ब्रा १।१२।६) ।

१३— रश्मिना वा अश्वो यत ईश्वरो वा अश्वोऽयतऽधृतोऽप्रतिष्ठित परा परावत गन्तो ’(शत १३।३।३।५)।

१४— समुद्र एवास्य बन्धु समुद्रो योनि (शत १ ।६।४।१)।

१५— उषा वाऽश्वस्य मेध्यस्य शिर (शत १ ।६।४।१)।

१६—“प्रतूत वाजिन्नाद्रव वरिष्ठामनु सवतम्। दिवि ते जन्म परमम तरिक्ष तव नाभि पृथिव्यामधि योनिरित्’ (यजु स ११।१२) ।

३—गौपशु —

तीसरा गौ पशु है । इस गोतत्त्व का प्रभवस्थान आपोमय परमेष्ठी है विकासस्थान सूर्य्य है एवं व्याप्तिस्थान त्रैलोक्य है । सम्पूर्ण भौतिक प्रपञ्च सम्पूर्ण यज्ञ इसी गौतत्त्व पर प्रतिष्ठित हैं । भूत की जननी यही सोममयी गौ है । परमष्ठी सोमलोक है । देवता—क्रमानुसार परमेष्ठी के देवता विष्णु हैं । पारमेष्ठ्य सोम के सम्बन्ध से ही विष्णु सोमवशी माने जाते हैं । इसी मन प्राणवाङ्मय प्रजापति के

प्राण भाग से गौत व उत्पन्न होता है। साम्यप्राण गौ का आत्मा है। सार अग्नि गौ का शरीर है। अतएव इसे अमृत की नाभि कहा जाता है, आ नया माना जाता है। सूर्य्य सहस्ररश्मि है। इसके स त्र व से यह गात व सहस्रधा विभक्त होजाता है। स स्रधा विभक्त गो के ३३ रूप पार्थिव वसुदेवता के साथ स श्लिष्ट रहते हैं, ३३३ विभाग आन्तरिक्ष्य रुद्रदेवता के साथ युक्त रहते हैं एवं ३३३ रूप दिव्य आदित्य के साथ सम्ब ध रखते हैं। एक बची है गो कामगवी (पुराणभाषा के अनुसार कामधेनु) नाम से प्रसिद्ध है।

त्रिधा विभक्त उक्त गौत व स्व स्व स्थान में हो अपना अपना प्रभुत्व रखते हैं परन्तु वह कामगवी अग्नि–रुद्र–आदित्य तीनों के साथ युक्त रहती है। अहोरात्र में एकबार प्रत्येक प्राणी के साथ किसी न किसी समय अवश्य ही इस कामगवी का स ब ध होता है। जिस समय मनुष्य के साथ इस कामगवी का स बन्ध होता है उस समय उसके मुख से जो कुछ निकलता है वह सवथा सत्य होजाता है। वह समय अज्ञात है। अतएव शास्त्र का— शुभ ब्र यात्–शुभ ब्र यात् यह आदेश है। लोक में भी— सदा शुभ ही बोलो। किसी का बुरा मत कहो विदित नहीं किस समय तुम्हारे मुख स क्या निकल जाय यह प्रसिद्ध है। वह समय इसी कामगवी का भागकाल है। पारमेष्ठ्य–साम्यप्राणमयी गो सूर्य्य के साथ युक्त होकर रश्मिरूप में परिणत होजाती है। सौर रश्मियां लोकालोक पर्य्यन्त व्याप्त है। गौप्राणमयी ये रश्मियां–उस विष्णुदेवता के गौत व के शृङ्ग (सींग) हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति–कहती है—

'या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभारि भूरि॥

इस गौत व को रुद्रों की माता वसुओं की कन्या एवं आदित्यों की बहिन बतलाया जाता है। द्वादश आदित्यों की समष्टि सूर्य है। अपाप्रपञ्चनाविज्ञान का निरूपण करते हुए हमने भृगु–अङ्गिरा–अत्रि भेदभिन्न परमेष्ठी के तीन मनोता बतलाए हैं। अङ्गिरा की–अग्नि यम आदित्य ये तीन अवस्थाएँ हैं एवं भृगु की अप्–वायु सोम ये तीन अवस्थाएं हैं। हमने सौम्यप्राण को ही गोतत्त्व बतलाया है। इसका जनक त्रयीगर्भित ब्रह्ममूर्त्ति मन प्राणवाङ्मय परमेष्ठी प्रजापति ही है। इधर परमेष्ठी ही आङ्गिरस आदित्य का जनक है। गो–आदित्य दोनों एक ही परमेष्ठी की सन्तान हैं। ऐसी अवस्था में हम अवश्य ही इस गौत व के लिए– स्वसादित्यानाम् यह कह सकते हैं।

रुद्र आन्तरिक्ष्य देवता है। ये प्राणप्रधान हैं। इस प्राण से (रुद्र से) मरुत उत्पन्न होता है मरुत् से मारुत (स्पर्शधर्म्मा वायु) उत्पन्न होता है। मारुत का पितामह रुद्रप्राण उसी सौम्य गोप्राण से उत्पन्न होता है। गौतत्त्व को हमने प्रजापति के प्राण से उत्पन्न बतलाया है। प्राण ऋतत व है। इधर आन्तरिक्ष्य रुद्र भी प्राणात्मक होता हुआ ऋत ही है। ऋत का प्रथमरूप पारमेष्ठ्य गौरूप प्राण ही है। स्वयम्भू सत्य है पारमेष्ठ्य भागवतत्व ऋत है। यही आगे होने वाली ऋतसृष्टियों का जनक है। ऐसी अवस्था में उस प्राण–प्रधान मौलिक गौरूप ऋततत्त्व को हम अवश्य ही इस आन्तरिक्ष्य ऋतरूप रुद्रतत्व का जनक मान सकते हैं। इसी आधार पर माता रुद्राणाम् यह कहना उचित होता है।

मने अमृत माम का गात न का ग्रा मा बतलाया ह एव शरार आग्नेय तलाया ह। सौररश्मियां स्वयं अग्निप्रधान है। यहां तो म गा न का रार न मा सोमतत्त्व पर निभर हे। आप जो गो की प्रकामूर्त्ति न्य र ह यह न यानिषा नितमा ययय के अनु ार मामाहुात ना ही प्रभाव है। अग्नि तत्र अग्निभूस्थान स नरुक्त सि न्त के अनुमा मल क की वस्तु मानी जाती ह। भूलोकस्थ अग्नि घनता तारतम्य स एव गायत्री-छन्द के स य न स अष्टधा विभक्त है। पार्थिव अग्नि की ये आठ अवस्थाए न अष्टवसु क ना ति व के स्थूलभाग का (दृश्यात्मक शरीर भाग का) नि माण स पा न वागनि प । ान । न ी आ ग प मके लिए— दुहिता वसूनाम् यह कहा जा सकता ।

वसु-रुद्र-आदित्य । म गा वता ह। सब का गा न के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। पृथिवी अन्तरिक्ष द्या आप मे म लोक ा चा भा ो म विभक्त है। न चारो में क्रमश— ३३ ३३ स क्रम म म स्था विभक्त गौतत्त्व प्रति न्न है जसाक पूव म बतला दिया गया है। यदि सोम मय गात न न ोता तो यज्ञ असम्भव था। यज्ञ न ना ता विश्वसृष्टि अस भव थी। अतएव हम गौत न का विश्व एव विश्वगत सम्पूर्ण प्राणियों का जनक मान सकते ह। गौतत्त्व लोकरूप है। चारो लोको म ज्ञात । जताओं का आ मा । अमृतसोम का केन्द्र है। ऐसे इस प्राकृतिक गौपशु (प्राणात्मक पशु) से ही पार्थिव गोपशु का निर्माण होता है न्स प्राणी में वही प्राण विद्यमान ह। यह सका साक्षात् प्रतिकृति है। दोनों अभिन्न ह। यह गौतत्त्व अग्न्यवच्छेदेन ऋग्वेद का वायु अवच्छेदेन यजुर्वेद का आदित्यावच्छेदेन सामवेद क ा अवच्छेदेन अथर्ववेद का अधिष्ठाता है। यही अग्रथा तत्प्रतिमाभूत इस गोपशु की । सीलिए वदतत्त्वमर्मज्ञ महर्षियोंने आत्मा में वदविद्या को विकसित करने का एकमात्र उपाय पासना ही माना है। सत्यकाम जाबालि गौसेवा के प्रभाव से ही ब्रह्मज्ञानी बने थ।

क ना न होगा क आर्यावर्त्त गोधन के इस मह न को समझत हुए भी इस ओर से आज उदासीन होता जा रहा तगति स नाश की ओर भी अग्रसर होरहा है। गोपशु सबकी प्रात ठा है। इसी उभयविध (प्राणात्मक एव प्राणीरूप) गातत्व का अभिन्न दृष्टि स निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

माता रुद्राणा दुहिता वसूना स्वसादि यानाममृतस्य नाभि ।
प्रनुवोच चिकितुष जनाय मागामनागादितिं वधिष्ट ॥

—ऋक्सं

यहा सोमरस जगन्माता गौ क स्तनो में प्रतिष्ठित रहता है। जो गुण अमृतसोम के बतलाए जात ह आयुर्वेद ज्ञान भी वे ी रासायनिक गुण गोदुग्ध क माने हैं जसाकि वाग्भट्ट कहते हैं—

स्वादु पाकरस स्निग्धमोजस्य धातुवर्द्धनम्।
प्राय पय ।
तत्र गव्य तु जीवनीय रसायनम्।
क्षतक्षीणहित मेध्य बल्य स्तन्यकर परम्' ॥

—अष्टाङ्गहृदय

अबतक गौपशु के सम्ब ध म हमने जो कुछ बतलाया ह वह निम्नलिखित प्रमाण पर प्रतिष्ठित है—

१— इमे वै लोका गौ ' (शत ६।५। ।१७)।

२—'यद्धि किचान्न –गोरेव तत्' (शत । ।४।१३)।

३— यज्ञो न गौ ' (त ब्रा ३ ६।३)।

४ —'साहस्रो वाऽएष शतधार उत्स (यजु १३।४९) यन् गा (शत ७।५। ।३४)

५— स हैष सोमोऽजस्रो (यजु ३।४३) यन्गौ ' (शत ७।५।२।१९)

६—'वैश्वदेवी वै गा (गो ब्रा - ३।१९)

७—'आग्नेयी वै गो ' (शत ७।५। ।१९),

८— गौर्वा इद सव विभर्त्ति' (शत ३।१ ।१४)।

९— नैते सर्वे पशवो यदजावयश्चारण्याश्च। एते वै म र्यो पशवो यदगव्या (ते ब्रा ३।९।९)।

१० प्राणो न सोम (शत ६।३।९।४५)।

११—(प्रजापति) प्राणान्गाम् (निरमिमीत) (शत ७।५।)

४—अविपशु —

चौथा पशु अवि (भेड) है। सका प्रधान सम्बन्ध आन्तरिक्ष्य आपोभाग से है। यह पशु सदा ऋततत्त्व से (अपतत्व से) वष्टित रहता है। पञ्चाग्निविद्या के अनुसार वृष्टि का मूलतत्व दिक्सोम है। आदित्याग्नि में श्रद्धा (सोम की मौलिक अवस्था) की आहुति से सोम उत्पन्न होता है। इस सोम की ऋत सत्य भेद से दो अवस्थाएँ होजाती ह। कुछ सोम तो पिण्डरूप म परिणत होजाता है यही चन्द्रमा है। इसी को सायतन–सशरीर होने से सत्य सोम कहा जाता है। क्योंकि सत्य का 'सहृदय सशरीर सत्यम्' यही लक्षण है। सायतनभाव के कारण ही इस चन्द्रपिण्ड के साथ रूपाधिष्ठाता सौर इन्द्रप्राण का (रश्मियो का) सम्बन्ध होजाता है। इसीसे यह चान्द्र सोम प्रकाशयुक्त होजाता है। चान्द्र–सायतन सोमगत–प्रकाश वास्तव में सूर्य का ही प्रकाश है। इसी विज्ञान को लक्ष्य म रखकर श्रुति कहती है—

अत्राह गोरमन्यत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे'

—ऋक्स

कुछ सोम इतस्ततः दिशाओं म व्याप्त होजाता है। यही सोम वायु के द्वारा पर्जन्याग्नि में आहुत होकर वृष्टि का कारण बनता है। इसी अभिप्राय से छान्दोग्यश्रुति कहती है—

पर्जन्यो वाव गौतमाग्नि । तस्य वायुरेव समित् । अभ्रं धूम । विद्युदर्चि । अशनिरङ्गारा । ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गा । तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा सोमं राजानं जुह्वति । तस्या आहुतेर्वर्ष सम्भवति'

—छा उ ५ प्र ५ ख ४-५ ख

दिशाओं मे या त रहने के कारण ही यह सोम दिक्सोम कहलाता है । यह निरायतन है अतएव अशरीर अन्न्य ऋतम् इस लक्षण के अनुसार हम इसे ऋत मान सकते है । यही दिकसोम– दिश श्रोत्र (यजु) के अनुसार इश्वरप्रजापति का श्रोत्रेन्द्रिय–स्थानीय है । सी दिकसोम स हमारी श्रोत्रेन्द्रिय का निम्माण होता ह । इसी दिक्सोम से जिसे हमने वृष्टि का अधिष्ठाता बतलाया है) अविप्राण का विकास होता है । वृष्टि होने पर सर्वत्र हरियाली होजाती है । यह हरितभाव सोमगत इसी अवि प्राण की महिमा है । यह विशेषत आन्तरिक्ष्य पशु है । इसका विशेष स बन्ध पृथिवी मे है द्युलोक से नही । अत एव इसे पार्थिवपशु भी माना जाता है । यही कारण है कि पार्थिव अजपशु एव आन्तरिक्ष्य अविपशु का भेडबकरी इत्यादि रूप से सहयोग बतलाया जाता है । ग्रहविज्ञान के अनुसार उपांशुग्रह से अजपशु उत्पन्न होता है एव अन्तर्यामग्रह से अविपशु उत्पन्न होता है । उपांशु–अन्तर्य्याम दोनो ग्रह स चारी हैं । इसलिए ये दोनो पशु भी साथ रहते है । साथ रहने वाले इन दोनों ग्रहो में उपांशु की आहुति पहिले होती है अन्तर्य्याम की आहुति पीछे होती है । यही कारण है कि भेडबकरियों के झुण्ड में पहिले (आगे–आगे) अजपशु चलता है पीछे–पीछे अविपशु चलता है । उपांशु की आहुति के अनन्तर ऊर्ध्वभाग की ओर उसका उन्माजन होता है एव अन्तर्य्याम का रुख नीचे की ओर रहता है । अतएव अजपशु उछलता कूदता ऊपर की ओर ग्रीवा रखता हुआ चलता है एव अविपशु नीचे की ओर जमीन सूँघता सा चलता है । (देखिए शत ४।५।५) । निष्कर्ष यही है कि अविपशु अजपशु से मिलता जुलता है । अविपशु के उपर्य्युक्त धर्मों का निरूपण करते हुए निम्नलिखित श्रुतिवचन हमारे सम्मुख आते हैं—

१ –इयं वा (पृथिवी) अवि । इयं हीमा सर्वा प्रजा अवति

—शत ६।१।५।३३।

२—'वारुणी (आपोमयी अत एव ऋतरूपा) त्वाष्ट्री चावि '

—शत ।५।२। ।

३— अन्तर्य्यामपात्रमेवान्ववय प्रजायन्ते'

—शत ४।५।३।

४—'अविर्वै नाम देवता ऋतेनास्ते परिवृता ।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रज ॥

—अथर्व स १ का० । ४ अ । ८ सू । ३१ म

५—'(प्रजापति) श्रोत्रात्–अविम् (निरमिमीत)'

—शत ७।५।६। ।

५ अजपशु —

पाचवा पशु अज है। यह प्रधानरूप से पार्थिवपशु है। अतएव हम इस अग्निप्रधान मान सकते हैं पार्थिव प्रजापति भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित है। प्रजापतिश्चरति गर्भे यह निगम प्रसिद्ध है। केन्द्रस्थ अग्निमूर्ति प्रजापति के आधार पर ही भूपिण्ड प्रतिष्ठित है। अतएव इस प्राजापत्यतत्व को पृथवी का अक्ष (धुरा) माना जाता है। यह अक्षाग्नि पूर्वकथनानुसार निरन्तर विस्रस्त होता रहता है। विस्रस्त भाग ही प्रवर्ग्य उच्छिष्ट आदि नामों से व्यवहृत होता है। यही उच्छिष्ट पार्थिवाग्नि भाग अजपशु का उपादान बनता है। जो स्थान प्रवर्ग्याग्नि से निष्पन्न होने वाली ओषधि-वनस्पतियों का है वही स्थान इस अजपशु का है। ओषधि वनस्पतिया हमारे अन्न में उपयुक्त होती हुई भी क्षीण नही होती। क्योंकि यह प्राजापत्य अज है। यही अवस्था इस अजपशु की है।

इतर पशुओ की अपेक्षा यद्यपि इसका व्यवहार अधिक होता है। परन्तु यह क्षीण नही होता। पार्थिव प्रजा के लिए प्रधान अन्न अज कहा जाता है। यह निरन्तर अद्यमान होता हुआ भी क्षीण नही होता। अतएव इसे अज कहा जाता है। सम्वत्सरप्रजापति इश्वरप्रजापति है। सम्पूर्ण विश्व का उपादान बनता हुआ भी यह मूलरूप से उच्छिन्न नही होता। हम यदि लौकिक कार्यकारण भावों को देखते हैं तो हमें विदित होता है कि कार्य्योत्पत्ति के अनन्तर कारण उच्छिन्न होजाता है। दूध से मलाई उत्पन्न हुई अब दूध नही। लोहे से जङ्ग उत्पन्न हुआ। कालान्तर में सम्पूर्ण लोहा जङ्ग बन गया। अब लोहे की कही सत्ता नहीं। परन्तु इश्वरीय-सस्था में यह बात नही है। प्रजापति के प्रवर्ग्यभाग से निरन्तर पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं परन्तु वहा कभी कमी नही होती। इसी आधार पर तो प्रजापति के लिए- **एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्** यह कहा जाता है।

सम्वत्सरप्रजापति सम्वत्सर में तीन बार प्रसवकर्म्म करता है। इधर अजपशु भी एक वर्ष में तीन सन्ततियों का अधिष्ठाता बनता है। प्रजापति मन प्राणवाङ्मय है। प्राणभाग से जैसे गौ पशु उत्पन्न होता है एवमेव वाग्भाग से अजपशु उत्पन्न होता है। वाक्तत्व- **तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार अग्नि ही है। यह स्थूल धातु है। इसी से ध्रुव भूलोक बना है। अन्तरिक्षादि चत्र (तरल) सृष्टिया हैं। परन्तु **पृथिवी ध्रुव** है। अतएव इसे **कपाल** कहा जाता है इस कपालरूप (ध्रुवभावयुक्त) भूपिण्ड में अग्नि प्रतिष्ठित है। इस अग्नि का ही नाम **रस** है (देखिए शत ६ का)। इस रस की **ब्रह्मौदन-प्रवर्ग्य** दो अवस्थाएं हैं। ब्रह्मौदन की तीन अवस्थाओं से **अग्नि-वायु-आदित्य** भेदभिन्ना **देवसृष्टि** होती है एवं जो उच्छिष्टभाग भूकपाल से संश्लिष्ट रहता है वही इस अजपशु का उपादान बनता है। **इस प्राणात्मक अजपशु की जिस प्राणी पशु मे प्रधानता** होती है वह भी अज नाम से व्यवहृत होता है। अजपशु की उपर्युक्त स्वरूपसिद्धि के लिए निम्नलिखित श्रौत प्रमाण हमारे सम्मुख उपस्थित होरहे हैं—

१—"अथ य कपाले रसो लिप्त आसीत्-सोऽजोऽभवत्"। (शत ४।१।१।११)

२—"तस्याक्षिभ्यामव तेजोऽस्रवत्। सोऽज पशुरभवत्"। (शत १।७।१।)

३—"(प्रजापति) वाचोऽन्नम् (निरमिमीत)" । (श ७।५। ।६।)
४—'वाग्वाऽज' (गो ब्रा उ ३।१६ ।) ।

पुरुष अश्व गौ अवि अज—इन पाच पशुओं म ही इतर सब पशुओं का अन्तर्भाव है । अतएव इन्हें सर्वपशु माना जाता ह जैसाकि वाजिश्रुति कहती है—

'पुरुषोऽश्वोगौरविरजो भवन्ति । एतावन्तो व सर्वे पशव । (शत ६।२।१)

तथाकथित पाचो प्राणपशुओं से ही प्राणी पशुओं का निर्म्माण होता है । प्रकरण के आर भ म हमने पाचों पशुओं को द्यावापृथिव्य बतलाया ह । द्यावापृथिवी त्रलोक्य ह । अष्टविध—त्रिलोकियो मे से प्रकृत म सम्व सररूप—स्तोम्य—त्रिलोकी ही अभिप्र त है । स्तौ य—त्रिलोकी में अग्नि वायु आदित्य इन तीन आग्नेय दवताओं का साम्रा य है । तीनो में दो सन्धिया पडती हैं । इसप्रकार सम्वत्सराग्नि पञ्चाग्व होजाता ह । यही अग्नि की पाच चितिया ह । इसी आधार पर पञ्चचितिकोऽग्नि यह कहा जाता ह । पञ्चाग्नि के कारण ही सम्वत्सरयज्ञ पाङक्त कहा जाता है । इस सम्व सर का पञ्चाचातक अग्नि विस्रस्त होकर सर्वप्रथम पार्थिव उषा म आहुत होता है । पार्थिव उषा योनि ह सम्व सराग्नि रेत ह । इस की आहुति से जो नवीन अग्नि उत्पन्न होता है वह कुमार नामसे व्यवहृत होता है । पृथिवी में आकर सम्वत्सराग्नि अपनी स्वत त्र सत्ता खोता हुआ मूर्च्छित होता ह अतएव कौ म्रियते इस व्यु पत्ति में इसे कुमाराग्नि कहा जाता ह । पृथिवी की एक साम्वत्सरिक परिक्रमा से तथोक्त कुमाराग्नि का स्वरूप निष्पन्न होता है ।

यही कुमाराग्नि आगे जाकर १—रुद्र (अग्नि) २—शर्व (आप) ३—पशुपति (ओषधि) ४—उग्र (वायु) ५—अशनि (विद्यु त्) ६—भव (पर्जन्य) ७—महादेव (चन्द्रमा) ८—ईशान (आदित्य) इन आठ स्वरूपों में परिणत होजाता ह । ये आठ विवर्त एक ही अग्नितत्व की आठ अवस्थाएँ हैं । अग्निर्वा रुद्र इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार यही अष्टमूर्त्ति शिव ह । व्यष्टिरूप से यही चित्राग्नि नाम से प्रसिद्ध है एव समष्टिरूप से यही कुमार ह । कुमार नवम ह । इसी के तथोक्त आठ भेद हैं । यह चित्राग्नि ही आगे जाकर पुरुष अश्वादि— पाच पशुओं के रूपमें परि—णत होता ह । कुमाराग्नि रुद्र है । वही इन पाचों पशुओं का अधिष्ठाता है अतएव रुद्र को पशुपति माना जाता है । इसप्रकार वह विस्रस्त सम्वत्सराग्नि ही कुमार—चित्र रूपम परिणत होता हुआ अन्तत पञ्चपशुरूप में परिणत होजाता है । पश्वग्नि सम्व सराग्नि का अन्तिम परिणाम है । स व साग्नि विस्रस्त हुआ था । उसे प्रजापतिने अन्तम इन पशुओं में ही प्राप्त किया । वहा उसने अपने रूपको प्राप्त किया । यहीं प्रजापतिने अपने विस्रस्त रूपको देखा अतएव अपश्यत् तस्मात् पशव इस व्यु पत्ति से यह अग्नि पशु' नामसे प्रसिद्ध हुआ । इन्हीं पशुओं से प्रजापति ने अपने विस्रस्त भाग का सस्कार कर अपनी कमी पूरी की (देखिए । शत ६ का १ प्र ३—४ ब्रा) ।

तात्पर्य्य यही है कि सम्वत्सरप्रजापति का अग्निभाग पशुनिर्म्माण में विस्रस्त (खर्च) होता रहता है । हम (पशु) उसके अग्निभाग को लेकर ही उत्पन्न हुए है । स स प्रजापति में कमी होजाती है । इस

कमी का पूरी क ने न लि प्रजापति हमारा आलम्भन कर लेते हैं। आलम्भन स हमारे (पशुओं के) शरीर का अग्नि उ क्रान्त होकर प्रजापति के सम्वत्सराग्नि म चित । उसके विस्रस्तभाग को पु सहित– परिपूर्ण कर देता ह। इसप्रकार हम इस खाकर (उसके अग्निभाग को लेकर) जीवित ह एवं अन्तत वह हमें खाकर अपना स्वरूप प्रतिष्ठित रखने म समर्थ होता है। आ ान–विसर्गात्मक यह भक्ष्ययज्ञ निर त होता रहता ह। उसका अग्नि हमारे म चित होता रहता ह तो हमारा अग्नि उसम चित होता र ता ह। आ नाचिति के स बन्ध से ही य यज्ञ अग्निचि या अग्निचयन चित आदि नामों स प्रसिद्ध ह।

सम्वत्सरप्रजापति को हमने अग्निमूर्त्ति बतलाया ह। यह अग्नित त्व अन्न ह । प्रजापतेरात्मनो म यमासीन्द्ध ममृतम इस श्रौत सिद्धा त के अनुसार अमृत–म य भे द दो भागों म विभक्त है। अमृताग्नि याज्ञिक परिभाषानुसार चितेनिधेय कहलाता ह एवं म र्याग्नि चि य नामसे प्रसिद्ध है। स्थूल भूताग्नि चित्याग्नि है सूक्ष्म प्राणाग्नि चितेनिधेयाग्नि ह। भूताग्नि भूत ह प्राणाग्नि देवता ह। देवता एवं भूत रूपसे हा प्राजापत्याग्नि का विकास होता ह । भूतप्राणमय सम्वत्सराग्नि स उ पन्न होने वाले उप युक्त पाचो पशु भी भूतप्राणमय ही हैं। वहा भूतचिति ऋतुरूप ह। १ वसन्त –ग्रीष्म ३–वर्षा ४–शरत् ५–हेमन्तशिशिर य पाच ऋतुए पाच भूताग्नि ह। इनसे शरीर का निर्माण होता ह। पशुओं का शरीर म य ह। सम भी–मज्जा अस्थि स्नायु मास मेद ये पाच म र्या चितिया ह। वहा अग्नि वायु आदित्य ५ साध्यप्राण भेद से पाच प्राणचितिया हैं। तदनुसार ही हम भी–प्राण अपान समान उदान य पाच प्राणचितिया है। दोनों का स्वरूप अभिन्न

प्रजापति पशुओं क भूत–प्राण दोनो भागों का एकसाथ ही अपने म चयन न ी करते। अपितु चयन से पहले प्राण भूत दोनों चितियों का विशकलन कर देते है। पहले पशु का प्राण निकल जाता है। यह प्राणचिति स्वतन्त्ररूप से होती है। भौतिक शवभाग शेष जाता है। अग्निदाह से यह भी क्रमश स्वतन्त्ररूप से प्रजापति के भूतभाग में चित होजाता है। इसप्रकार सम्वत्सरप्रजापति स्वयज्ञसिद्धि के लिए पाचों पशुओं का आल भन किया करते ह। पशुओं के आलम्भन से ही वह अमृतभावापन्न बन हा है। यदि पार्थिव पाचों पशुओं का आलम्भन न होता एवं केवल नि य नवीन पशु उ पन्न ही होते रहत तो कुछ ही समय में सम्व सरप्रजापति अपनी प्रतिष्ठा खोबैठते। परन्तु ऐसा नही होता। उसे आल भन करना पडता है। आलम्भन के अन तर जो उभयविध अग्निभाग उसमें जाता है इसी से वह एकप्रकार से जीवित है। इसी आधार पर हुत प्रदाना ह्यते (उपजीवन्ति) यह निगमवचन प्रतिष्ठित है। सम्पूर्ण प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि सम्व सरप्रजापति स्वस्वरूपसिद्धि के लिए तद्द्वारा एवं अमृत वप्राप्ति के लिए निरन्तर पाचों पशुओं का आलम्भन किया करते ह। और प्राकृतिक पश्वाल भन का यही संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है।

जिस प्रकार पिता पुत्र पत्नी स्वामी इत्यादि शब्द सापेक्ष है उसी प्रकार प्रजापति शब्द भी स्वामी–सेवक–भावानुबन्धिनी सापेक्षता स नि य समन्वित है। जैसे पुत्र पिता की पत्नी पति की एवं स्वामी सेवक की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार प्रजापति प्रजा की अपेक्षा रखता है। बिना प्रजा के जिस प्रकार

राजा श निरर्थक है उसी प्रका त्र । प्रजा के प्रजापति श द का भी को मूल्य नहीं है । इसी सापेक्ष भ व को लक्ष्य में रख कर आप्तपुरुष प्रजापति का– आत्मप्राणपशुसमष्टि प्रजापति यह लक्षण किया करते ह । आ मा भोक्ता है प्राण भो साधन है एवं पशु भाग्य है । भोक्ता भोगसाधन एवं भाग्य की समष्टि ही प्रजापति है । समा न व्याष्टरूप से सब प तीनों भाव विद्यमान हैं । इसी आधार पर प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्व यदिदं किञ्च (शत ब्रा) यह निगम प्रतिष्ठित है ।

वह त व जो स्वय आ मानभ ता रखने में समर्थ न हो पशु है । जिस त व पर आ मप्रजापति भ यरूप से दृष्टि रखता हो वह पशु है । सम्वत्सर–प्रजापति का वह प्रवर्ग्यभाग जिस से प्रजापति अपने विस्रस्तभाव की पूर्ति करता है वही पशु है । स व सरप्रजापति का विस्रस्तभाग प्रवर्ग्य बन कर सबसे पहिले पार्थिव उषाग्नि म आहुत होता है । उषा योनि है स व स ाग्नि का प्रव र्यभाग रेत है । अ तरिक्ष में व्याप्त मातरिश्वा वायु रेतोधा है । प्रा णी की एक सम्व सरक पारक्रमा से पार्थिव उषा में सिक्त सम्व स राग्नि पृथिवी की वस्तु बन जाता है । दूसरे श दो म अपनी तन्त्र सत्ता से आभभूत होता हुआ पृथिवी में मूर्च्छित होजाता है पृथिवी ी वस्तु बन जाता है । अतएव का म्रियते इस व्युत्पत्ति स यह प्रवर्ग्याग्नि एक स व सर के अन तर कुमार नाम से व्यवहृत होने लगता है । आगे जाकर यह कुमाराग्नि अष्टविध चित्याग्नि के रूप में परिणत होता ह । चित्राग्नि ी आगे जाकर पञ्चपशुरूप में परिणत हुआ है जसाकि पूर्व में बतलाया जाचुका है ।

प्रकृत म उक्त सिंहावलोकन से यही बतलाना है कि प्रजापति के भोग्य केवल पञ्चपशु ही बनते हैं । यह लोक में प्रसिद्ध है कि जब किसी व्यक्ति की किसी पर दृष्टि पड़ती है तो कहा जाता है— अमुक व्यक्ति की अमुक बात पर दृष्टि पड गई । भोगेच्छा में दृष्टिसूत्र को ही प्रधानता दी जाती है । इसी दृष्टिभाव को लक्ष्य में रखकर पशु श द का य पश्यत्–तस्मात् पशु यह निर्वचन किया जाता है । आ मा पशुपति है प्राण पाश है एव वागभाग पशु ह तीनों की समष्टि ही पशुपति है । प्रत्येक वस्तु के साथ तीनों भाग नि य सम्बद्ध हैं । चींटियों के दल को देखिए । वहा एक अतिस्थूल चींटी सब पर शासन करती हुई ही चलती मिलेगी । गृहस्थसंस्था में एक प्रजापति अवश्य होगा । बालक्रीडा में एक बालक सम्पूर्ण बालमण्डली का अवश्य ही अधि ठाता बन जायगा । अन्य पशुओं का मृगेन्द्र स्वाभाविक शासक मिलेगा । निदर्शनमात्र है । सर्वत्र प्रजापति की सत्ता मिलेगी । इसी आधार पर तो– प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिताबभूव इ याा मन्त्रश्रुति चरितार्थ होती ।

पशु भोग्य है पशुपति भोक्ता है यह पूर्व के निदर्शन से भलीभाँति सिद्ध होजाता है । भोक्ता– त व को विज्ञानभाषा म अन्नमात्ति इस व्यु पत्ति से अन्नाद नाम स व्यवहृत किया जाता है एव भोग्य को अद्यते इस व्युत्पत्ति से अन्न कहा जाता है । अन्नाद अग्नि है एव अन्न सोम है । ऐसी अवस्था में हम पशु को सोम एव पशुपति को अग्नि नाम से व्यवहृत कर सकते हैं । पशु अन्न है । इसे हमने वाक् कहा है । जिन रश्मियो स केन्द्रस्थ पशुपति पशु को अपना अन्न बनाता है हृदय से चारों ओर अशनाया–रूप से वितत होने वाला वह रश्मिभाग ही प्राण नाम से प्रसिद्ध है । एव जहा से प्राण उठता है वह मूलतत्त्व [आ मा] उक्थ नाम से व्यवहृत होता है । पूर्वोक्त आ मा प्राण पशु ही क्रमश उक्थ –

अक-अशीति है। उक्थ अन्नाग्नि है अक अग्निराश्मया हैं एव अशीत पशु अन है। इसी अशीतिरूप पशु की आहुति से उक्थाग्नि स्वस्वरूप म प्रताष्ठित रहता है। उक्थ नाम अशाति के स ब व पर भी प्रतिष्ठित है। ज्ञान यथाथ है। जबतक शारीराग्नि म अन्नसोम की आहुति होती रहता है तभीतक वह आग्न अभियक्त रहता है। उक्थाग्नि का आग्यान [नाम प्रसिद्धि] अशीति पर ही निभ है। अशीति ही महदुक्थ के विस्रस्त भाग को पूरा कर आप्यायित करती रहता है। इसी स ज-प्राकृत विज्ञान को लक्ष्य म रखकर श्रुति कहती है—

अशीतिभिर्हि महदुक्थमाख्यायते (शत १ ।१।२।६)
आत्मा महदुक्थम (शत १ ।१।२।५।)

आत्मा उक् है। अन्न थम् है। थम प्रतिष्ठाभाव का द्योतक है। उ प्राण का प्रव क कार वाक का द्योतक है। आत्मा स्वय मन प्रधान है। मन बिना प्राण वाक के अनुपपन्न है। वाक म उ-अ-क् इतने अन्तर हैं। उकार प्राण का वाचक है अकार मन का वाचक है एव ककार वाक का वाचक है। आत्मा म अकारकला का अन्तर्भाव है। शेष उकार (प्राण) ककार (वाक) बचते है। न दोना का अकारात्मक (मनोमय) आत्मा के साथ नित्य सम्बन्ध है। अतएव आत्मा के लिए- **स वा एष आत्मा-वाङ्मय प्राणमयो मनोमय** यह लक्षण किया जाता है। इसी त्रिपुटि भाव को लक्ष्य म रखकर ऋषि ने आत्मा को उक् शब्द स व्यवहृत किया है। इस अन्नादरूप उक् (आत्मा) की प्रतिष्ठा अन्न है। वही आत्मा ठहरता है। अतएव अन्न को- थम् शब्द स व्यवहृत किया गया है। उक-थम् दानो की समष्टि ही उक्थम् है। **अन्नान्नाद की समष्टि ही उक्थ है। अग्निसोम उक्थ है। आदित्य चन्द्रमा उक्थ है। समुदाये हृष्टा शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते** इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा भी उक्थ कहलाता है एव अन्न भी उक्थ कहलाता है।

पशुभाग आत्मा की वाक कला है। यह वाक **अमृता-मर्त्या** भे म दो भागो में विभक्त है। अमृतावाक इन्द्र नाम से प्रसिद्ध है। यह इन्द्र (जो कि श्वा नाम से प्रसिद्ध है)- **नेन्द्रते पवते ग्राम किञ्चन** के अनुसार सवत्र व्याप्त है। कोई स्थान इस इन्द्रतत्त्व से शून्य नहीं है। जिसे आप शून्यस्थान समझते हैं वहा भी उक्त श्वा इन्द्र व्याप्त है। श्वा इन्द्र के अवस्थान स ही **शुन हितम्** इस व्युत्पत्ति से वह स्थल शून्य कहलाता है। यही सृष्टि का आलम्बन है। यही **अमृताकाश** है। इसे ही **परमेव्योमन** कहा जाता है। यही सबका अध्यक्ष है। मर्त्यावाक **इन्द्रपत्नी** है। यही **मर्त्याकाश** है। जिसके लिए **तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूत** यह कहा जाता है। वह आकाश **इन्द्रपत्नी** नाम से प्रसिद्ध है। यही मर्त्याकाश है। यही विश्व का उपादान है।

यही वाकतत्त्व उत्तरोत्तर होने वाली बलचितियों के कारण क्रमश वायु तेज जल मृत् रूप में परिणत होता हुआ पञ्चभूतस्वरूप में परिणत होजाता है। दृश्य प्रपञ्च पञ्चभूत का समुच्चय है। पञ्चभूत का मूल उपादान **वाक् (मर्त्यावाक)** है। इसी विज्ञान के आधार पर— **अथो वागेवेद सवम्-वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता** इत्यादि निगम वचन प्रतिष्ठित है। विश्व की भाँति ही विश्वज्योति है। भान ज्ञान

है। ा प्रकाश है। अग्नि ख्या ने के सा थ ही विश्वप्रपञ्च हमारे सम्मुख आजाता है। यह एक प्रकार की ख्याति है। यदि वह मय पञ्चभूत न होते तो विश्वज्योति का अभाव था। ऐसी अवस्था में हम वागरूप पशु को अवश्य ही विश्वजोति मान सकते । अपच प श्न ही हमारे अन्न है। बिना अन्न के सर्वत्र अन्धकार है। इसीलिए भी अ न पशु को किंवा पशुअन्न को विश्वज्योति (सर्वज्योति-सबका प्रकाश) कह सकते हैं।

पशुसोम की आहुति से ही अन्नाद अग्नि प्रदीप्त होता है। अग्नि में सोम का आहुति होना ही यज्ञ है। ऐसी अवस्था में ताभ्यामेतत् छन्दम् से याग के अनुसार यज्ञस्वरूप-समर्पक होने से इस पशु को यज्ञ भी कहा जासकता है।

प्रत्येक वस्तु को हमने प्र पात क । साथ ही सम आत्मा-प्राण-पशु-इन तीन कलाओं की सत्ता बतला है। आत्मतत्व प्रजापतिश्चरति गर्भेऽ न्तरजायमानः इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वस्तु के केन्द्र में हृदयाकाश में ा (आत्मा) में प्रतिष्ठित रहता है। प्रागत (लोक रूप-रस-गन्ध-स्पर्श- म असस्पृष्ट न) वस्तु में सर्वत्र ना न रहता है। पाञ्चभौतिक क्षरपरमाणुओं को एकसूत्र में बन्ध रखकर नियत काल प य त व तुपुद्गल को व वरूप में प्रतिष्ठित रखने वाली शक्ति ही प्राण है। यही दार्शनिक भाषा में कूटस्थ अक्षर नाम से प्रसिद्ध है। यही प्राणतत्त्व ब्राह्मणग्रन्थो मे त्रिधत्ता नाम से व्यवहृत हुआ है। जिस दिन यह प्राण वस्तु से निकल जाता है उस दिन वस्तुगत परमाणु श्लथ होजाते हैं। फलत वस्तुस्वरूप ही उच्छिन्न होजाता है। तीसरा है वाकतत्व। यही क्षर सर्वाणि भूतानि के अनुसार विपरिणामी होने से क्षर नाम से प्रसिद्ध है। जिसे आप चर्मचक्षुओं से देखते हैं जो वस्तु का शरीर है वही वागभाग है। यही पूर्वपरिभाषानुसार पशु है। इसी आधार पर वाकपिण्ड (प्रत्येक वस्तु वस्तु के दृश्य स्थूल पाञ्चभौतिक पिण्ड) को पशु माना जाता है।

उत्पन्न होने वाले पदार्थमात्र पशु हैं। इनमें—माता पिता पुत्र तीन भाग सम्मिलित रहते हैं। माता का शोणित पिता का शुक्र एवं तीसरा औपपातिक आत्मा तीनो के समन्वय से प्राणी पशु का स्वरूप निष्पन्न होता है। अपच प्रकारान्तर से—गर्भ उल्व जरायु भेद से भी प्राणी पशु तीन भावो से नित्य आक्रान्त है। इसी आधार पर पशु को त्रिवृत् माना जाता है। पूर्व में पशु के सम्बन्ध में जो कुछ विशेषताए बतलाई गई है वे निम्न लिखित श्रौत वचनो से स्पष्ट होजाती हैं—

१— एष (अग्नि) उऽएवोक तस्यैतदन्न थम तदुक्थम् । (शत १ ।४।१।४)

२—'आदित्यो वा उक् । तस्य चन्द्रमा (सोम) एव थम् । (शत १ ।६।२।६)

३ पशुर्वै प्रत्यक्ष सोम (शत ५।१।२।७)

४— सोम एवैष प्रत्यक्ष यत् पशु' (कौ ब्रा १ ।)

५— पशवो वा उक्थानि पशवो विश्व ज्योति । (ता ब्र १६।१ ।७।)

६— पशवो वै यज्ञ' (शत ३।१।४।६)

७— वपुर्हि पशव ऐ ब्र ५।६)

८— त्रिवृद्धै पशव –पिता माता पुत्र । अथो गर्भ उल्व जरायु

(शत ८।६।२।)

पू प्रकरण से यह निर्विवाद सिद्ध होजाता है कि बिना पशु के यज्ञ क पि सम्पन्न नही होसकता। यज्ञा य पशुहिसा अनिवार्य्य है *। पशु की उत्पत्ति एकमात्र यज्ञ के लिये ही हुई है। यज्ञ आत्मा का स्वरूप है। इसके लिए यदि पशु का आल भन किया जाता है तो पशु स्वादिष्ट (आत्मोपयोगी) है। यदि मन-स्तुष्टि के लिए पशुका मारण किया जाता है तो यह मदिष्ट है। इन्द्रिय-लोलुपता से मास खाना मन का प्रसन्न करना है। यही मदिष्ट भाव है। यह प्रत्यवाय का कारण है आत्मपतन का हेतु है। आसुरी बुद्धि वाले नरराक्षस ही इस वृत्ति को प्रधान मानते हैं। परन्तु जो दैवीस पत्-युक्त दृष्टिपथ भाक वैज्ञानिक मनुष्य है व केवल यज्ञसिद्धि के लिए ही पशु का आलम्भन करते है। उनके लिए पशु इन्द्रियतृप्ति का साधन नही अपितु आत्माभ्युदय का कारण है। इन्हीं दोनो उत्तमाधम वृत्तियो का उल्लेख करते हुए महर्षि ताण्ड्य कहते हैं—

---

*—पशुवपानुगत मध क सम्बन्ध म आजकल के कल्पना क विद्वान् प ानुरञ्जनरूपा भावुकतामात्र के सरक्षण–व्यामोहन से व्यामुग्ध बनते हुए पश्वालम्भन तथा पशुमेध आदि शब्दो के कल्पानक-अर्थों का म जन करते हुए अपनी दिग्दर्शकानानुबन्धिनी लोकैषणा को सफल करते हने के लिए आकुल याकुल बन गए हैं जैसाकि उनके समाचारपत्रानुबन्धी व्यामोहक-सामयिक-लेखो से स्पष्ट है। प्रस्तुत पश्वालम्भनमीमासा मे उन काल्पनिक-अ यामवादियो का उद्बोधन होगा ऐसी आशा की जासकती है। निरूपित इस श्रौतसन्दर्भ के साथ साथ ही निम्नलिखित स्मार्त स दर्भ की ओर भी हम उन क पनाभक्तों का यान आकर्षित करेगे जिस सन्दर्भ के द्वारा विस्पष्ट शब्दो में पश्वालम्भन समर्थित है—

१–नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यत् प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।
धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥

२–यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधि स्मृत ।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥

३–क्रीत्वा स्वय वाप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा ।
देवान् पितृ श्चार्चयित्वा खाद मास न दुष्यति ॥

४–नाद्यादविधिना मास विधिज्ञोऽनापदि द्विज ।
जग्ध्वा ह्यविधिना माम प्रेत्य तैरद्यतेऽवश ॥

५ न तादृश भवत्यनो मृगहन्तुर्धनार्थिन ।
यादृश भवति प्रेत्य वृथा मासानि खादत ॥

स्वादिष्टा वै देवेषु पशव आसन्, मदिष्टा असुरेषु ।

—ता महा ब्रा ७।४।

सभी यज्ञा म पश अपेक्षित हो यह बात नही ह। सोमतत्व सब यज्ञो में अपेक्षित ह परन्तु अवस्था- नर से। कही हवि साम प याप्त ह कही वानसोम पर्याप्त ह कही ग्रहसोम (ऊलीसोम) अपेक्षित ता कही पशुवपागत सोम ही काम म लाया जाता ह। प्रज्ञात के नि ययज्ञ भिन्न भिन्न सोमो से नि पन्न हाते है। उन्ही के आधार प वैध यज्ञो का आविष्कार हुआ ह। अत उन प्राकृतिक यज्ञो में आहुतिद्रव्य की जो यथा या ऋषियान उपल ध की है उसी का वधयज्ञा में विधान किया ह। किसी यज्ञ में हवि का विधान दखकर सवत्र हवि का विधान मान लेना एव पशविधान दखकर सवत्र पशवपा की कल्पना करना नितान्त असङ्गत ह। ऋषियोन सूत्रग्र थोम तत्तत् यज्ञो की जो तत्तत् पद्धातया बतलाइ है व ही हमारे लिए माय ह। तदनुगमन म ही हमारा अ युदय है। अपनी मनोवृत्ति के अनुसार कल्पित पद्धति ा बना डालना शब्दो के मनमाने अथ क बठना अपने कल्पित सिद्धा त स विरुद्ध शास्त्रीय वचनो को प्रक्षिप्त मानलेना विक्षिप्तता के अतिरिक्त और क्या माना जासकता ह ?।

प्रकरण क आर भ म हम बतला चुके हैं कि यज्ञ में पशु अपेक्षित नहीं ह—अपितु प्रधानरूप से (प्रधान दवता के लिए) वपा अपाक्षत है। क्योंकि वपा में ही वह प्राणदवता प्रतिष्ठित रहता ह। यज्ञ के द्वारा हम अपने मानुषा मा का आधिदविक प्राणदेवता के साथ (ग्रन्थिव धन-सम्बन्ध के द्वारा) सलग्न कर दते है। हमारा मानुषा मा पार्थिव प्राणप्रधान है। उधर दिव्य देवप्राण सौरप्राण-प्रधान है। इस विजा- तायभाव के कारण दिव्यप्राण का मानुषा मागत पार्थिव प्राण के साथ योग नही होसकता। इस विप्रातपत्ति को दूर करने क लिए ही पशुवपा को म यस्थ बनाना पडता है। साक्षात्कृतध र्मा ऋषियोन अन तकाल की परीक्षा के अन तर यह निश्चय किया कि तत्तत् प्राणदवता तत्तत् पशुवपा में प्रतिष्ठित हैं। अत तत्तद्यज्ञ- विषयो में उन्होंने तत्तत् पशुओ का विधान किया। दिव्यप्राण सौरप्राण है। यह असुरो का विरोधी है। अत वपा निकालने के व ही उपाय ऋषियोंन निर्णात किए जिनसे कि असुरप्राण का वपाप्राण पर आक्रमण न हो। लो धातु आसुर धातु ह। अतएव शस्त्र से आलम्भन न कर मुष्टि के आघात से ही आल भन का विधान किया गया। आलम्भन करत समय जो पशु का शब्द निकलता है वह द म्भमय होता हुआ आसुर है। अत उसका भी बलात् निरोध किया गया।

६—नियुक्तस्तु यथान्याय यो मास नात्ति मानव ।
स प्रेत्य पशुता याति सम्भवानेकविंशतिम् ॥
७—असस्कृतान् पशून् मन्त्रैर्नाद्याद्विप्र कदाचन ।
मन्त्रैस्तु सस्कृतानद्याच्छाश्वत विधिमास्थित ॥
८—यज्ञार्थ पशव सृष्टा स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञ वधोऽवध ॥
—मनु ५।३ से ३९ पर्यन्त

हृदयमेदस्तु वपा वसा के अनुसार हृदयस्थान म एक श्वत झिल्ला के आकार का सवशारीर प्रति-ष्टारूप जो सोममय स्निग्ध धातु है व ी वपा नाम से प्रसिद्ध है। यही मेद कहलाता है। इसीके द्वारा य कर्त्ता यजमान स्व-आ मप्राण को ि य देवता के साथ मिलाने में समथ होता है। अतएव मेधृ सङ्ग-गमन क अनुसार इस मध कहा जाता है। मध एक प्रकार की चर्बी (घृत) है। यही तत्तत्पशु का प्र ा ायतन है। सी अभिप्राय स श्रुति कहती है—

१ भदो ै मेध (श ३ ८।४।६)
२–'पशुर्वै मेध (ए ब्रा० २।८)
३– मेधो वा आ यम् (त ब्रा ३।६।१२।१)

सवत्र पशुमेध ही अपेक्षित हो यह बात नहा है। मेध–ग्रहण–व्यव था यज्ञस्वरूप पर ही निभर है। जसा यज्ञ होगा तदनुरूप ी मध अपे नत हागा। उदाहरणाथ चयनयज्ञ ावापृथि य यज्ञ है। अत यहाँ द्य वापृथिव्य पूवप्रतिपादित पाचो पशु अपेक्षित रहते ह। सोमयज्ञ सम्व सरयज्ञ है। उस की प्रातकृति अ नपशु है। अत वहा इसी की प्र ानता रहती है। प्रकृत दशपूणमासयज्ञ का केवल भपिण्ड के साथ सम्ब ध है। अ यहा पार्थिव मेधरूप व्रीहि यव से ी काम चल जाता है। भूपिण्ड सब यज्ञों की प्रतिष्ठा है। इसपर उत्पन्न होने वाले व्रीहि यव म आशकिरूप स उक्त पाचो पशुओ का मधभाग विद्यमान है। पुरुषपशु का मध भाग अश्व का उपादान बनता है अश्व का मध भाग गा मे आता है। गौ का मेध भाग आन्तरिक्ष्य अविपशु मे सक्रा त होता है एव अवि का मेधभाग पार्थिव अज पशु मे आता है। अन मे पाचों रस है। अतएव अन को सवपशु माना जाता ह। और प्राणात्मक इसी अजपशु क मेध भाग से व्रीहि यव की पुष्टि होती है।

यज्ञविज्ञान के प्रारम्भिक समय में देवतापदभाक् महषि यज्ञ के सम्ब ध में अध्यवसायपूवक अपना तत्त्वा वेषणात्मक परीक्षण क म (शुष्केष्टियों के द्वारा) सतत प्रक्रान्त रखते थ। जब व दशपूणमास यज्ञ करने लगे तो मेधसम्पत्ति की उन्हें आवश्यकता प्रतीत हुइ। तदथ सवप्रथम उन्होंने (परीक्षा के लिए) पुरुष पशु का आलम्भन किया। परन्तु उन्होंने आगे जाकर यह निश्चय किया कि पुरुष का मेध तो गौ में सक्रान्त रहता है। अत यदि सीसे काम चल जाय तो पशुश्रेष्ठ पुरुष का (दशपूणमास की स्वरूप सिद्धि के लिए) क्यों आलम्भन किया जाय। यह सोचकर उन्होंने गौ का आलम्भन किया। गोत्व में भी वह पार्थिव अश न मिला जो पार्थिवप्रधान दशपूणमास में अपेक्षित था। अविका आल भन किया गया। वहाँ भी वे कृत-काम्य न होसके। अज का आलम्भन किया गया। वहा भी पूणतया अभीष्ट फलसिद्धि न हुइ। अन्ततोग वा व इस निश्चय पर पहुच कि–व्रीहि यव में वही मेधभाग विद्यमान है। एव इनस दशपूणमास यथावत् सम्पन्न होसकता है। इस चरम परीक्षा के अनन्तर दशपूणमास में पुरोडाशरूप इसी पशु का विधान कर दिया गया।

प्रकारान्त से विचार कीजिये। पुरुष को प्राणवियोग होने के अन तर यदि शीघ्र ही नही जला दिया जाता है तो वह सडने लगता है। थोडी देर में ही तद्गत वायु दुग ध–युक्त होजाता है। कारण इसका यही

है कि पुरुष का मेध अत्यन्त शीघ्र उत्क्रान्त होजाता है। एवं मेध ही शरीर में ऐसा तत्व है जो तद्गत दोषयुक्त वारुण भाव को नष्ट कर शरीर को पवित्र बनाए रखता है। पुरुष की अपेक्षा अश्व का मेध (प्राण–वियोग होने पर भी) कुछ देर में उत्क्रान्त होता है अतः यह पुरुषशव की अपेक्षा देर में सडता है। अश्व की अपेक्षा गो और भी अधिक विलम्बसे सडती है। गो की अपेक्षा अवि एवं सर्वापेक्षया अज का मेध अत्यधिक काल में उत्क्रान्त होता है। यही कारण है कि इतर पशुओं का मांस शीघ्र ही दुर्गन्ध देने लगता है दूषित होजाता है। जबकि अजमांस बहुत समय पर्य्यन्त दूषित नहीं होता। अतएव अजमांस को खाद्य पशु मान लिया गया है। प्रचार भी अधिक अजमांस का ही सुना जाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

एष एतेषां पशूनां प्रयुक्ततमो यदजः (श॰ब्रा॰ १।८)

अज की अपेक्षा भी व्रीहि यव का मेध चिरस्थायी है यह स्पष्ट ही है। **दर्शपूर्णमास प्रकृतियज्ञ है। मौलिक यज्ञ है। प्रतिष्ठायज्ञ है।** अतः यहां वही मेध उपयुक्त होसकता है जो कि चिरस्थायी हो प्रतिष्ठाभाव से युक्त हो। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषियोंने इस यज्ञ में **पुरोडाशपशु** को ही प्रधान माना है।

पाचों पशुओं का जब प्राण उत्क्रान्त होजाता है यदि पांचों को नहीं जलाया जाता है तो उत्क्रान्त मेधा ये पाचों पशु मिट्टी में मिल जाते हैं। उस मिट्टी से जो प्रवर्ग्य पशु उत्पन्न होते हैं वह अमेध्य पशु माना जाता है। उनमें मेधभाग यत्किञ्चित् भी नहीं रहता। मेधभाग बुद्धिवर्धक है। अमेध्य मांसभाग बल–वधक बनता हुआ आसुर है। दिव्यबुद्धि को नष्ट करता है। दिव्यविज्ञानशक्ति का विवेकभाव का समूल विनाशक है। ऐसे अमेध्य पशु पांच हैं। पुरुष से किंपुरुष उत्पन्न हुआ है। अश्व से **गौरपशु** उत्पन्न हुआ है। गौ से **गवयपशु** उत्पन्न हुआ है। अविपशु से **उष्ट्रपशु** उत्पन्न हुआ है। एवं अज से **शरभपशु** उत्पन्न हुआ है। उत्क्रान्तमेधा पञ्च पशुओं के आलब्ध भाग से ही इन अमेध्य पञ्च पशुओं का विकास हुआ है। ये पांचों **उपपशु** नाम से भी प्रसिद्ध हैं। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ये पाचों उपपशु **उपक्रान्तमेधा** हैं। इनमें आसुरभाव–वर्द्धक शुद्ध **आमिष** भाग ही है। अतः इनका मांस नहीं खाना चाहिए। ऐसा मांस अवध्य है। वैधमांस पर आक्षेप करने वालों को मुकुलितनयन बनकर ही **तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्यम्। अपक्रान्तमेधा ह्येते पशवः** इस निषेधवाक्य के मर्म्मस्थल का अन्वेषण तथा समन्वय प्रयास करना चाहिए।

पश्वालम्भनमीमांसा–प्रकरण के आरम्भ में ही हमने कहा था कि बिना पशु के कोई भी यज्ञ सम्पन्न नहीं होसकता। इस यज्ञ में पशु के स्थान में **पुरोडाश** किया जाता है। पाङ्क्त पशु के समन्वय से तो पाङ्क्त यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होजाता है। यज्ञसम्पत् सर्वात्मना गतार्थ होजाती है। परन्तु पुरोडाश में वह यज्ञसम्पत् कैसे प्राप्त होगी? इसी प्रश्न का निराकरण करते हुए निदान के आधार पर पुरोडाश में **पाङ्क्त-पशुसम्पत्ति** का समन्वय अभिव्यक्त करते हुए– **यदा पिष्टान्यथ लोमानि** इत्यादि कहा गया है जो कि अनुवाद से ही गतार्थ है॥ ६ ७ ८ ६॥

व्रतोपायन के सम्ब ध म तीन विक प है। इनम इस पुरोडाशसम्पा न के अनन्तर म यम-स्थानीय व्रतोपायन की तिकत्त यता सम्पादन करन का विधान ह।

इति पुरोडाशसम्पादनम्

इति हविर्ब्राह्मणाध्याय प्रथम ।

इति-प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीय ब्राह्मणम्

द्वितीयप्रपाठके च प्रथम ब्राह्मण

उपरतम्

———*———

श्री

अथ-वेदिब्राह्मणाध्याय

अथ-प्रथमकाण्ड द्वितीयाध्याये चतुर्थ ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मणम्

---*---

१२-वेदिकाकरणम्—वदिस्वरूपसम्पादनम्
तत्रादौ-स्तम्बयजुर्हरणम्, भू—विशोधनञ्च

---*---

(मूल) इन्द्रो ह वृत्राय वज्र प्रजहार। स प्रहृतश्चतुर्द्धाऽभवत्। तस्य स्फ्यस्तृतीय वा यावद्वा, यूपस्तृतीय वा यावद्वा रथस्तृतीय वा यावद्वा। अथ यत्र प्राहरत्तच्छकलोऽशीर्यत। स पतित्वा शरोऽभवत्। तस्माच्छरो नाम यदशीर्यत। एवमु स चतुर्द्धा वज्रोऽभवत् ॥१॥

ततो द्वाभ्या ब्राह्मणा यज्ञे चरन्ति। द्वाभ्यां राजन्यबन्धव सन्याधे। यूपन च स्फ्यन च ब्राह्मणा रथेन च शरेण च राजन्यबन्धव ॥२॥

स यत् स्फ्यमादत्त-यथैव तदिन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्, एवमेवैष एत पाप्मन द्विषते भ्रातृव्याय वज्रमुद्यच्छति। तस्माद्वै स्फ्यमादत्ते ॥३॥

तमादत्ते-देवस्य त्वा सवितु प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्या पूष्णो हस्ताभ्यामाददेऽध्वरकृत देवेभ्य-[१ अ २४ म] इति। सविता वै देवाना प्रसविता तत्सवितृप्रसूत एवेनमेतदादत्त -अश्विनोर्बाहुभ्यामिति। अश्विनावध्वर्यू, तत्तयोरेव बाहुभ्यामादत्ते न स्वाभ्याम्। पूष्णो हस्ताभ्यामिति। पूषा भागदुघ तत्तस्यैव हस्ताभ्यामादत्त न स्वाभ्याम्। वज्रो वा एष। तस्य न मनुष्यो भर्त्ता। तमेताभिर्देवताभिरादत्त ॥ ४ ॥

आददेऽध्वरकृत देवेभ्य इति। अध्वरो वै यज्ञ यज्ञकृत देवेभ्य इत्येवैतदाह। त म्य पाणा कृत्वा दक्षिणनाभिमृश्य जपति। मश्यत्येवैनमेतद्—य जपति ॥५॥

स जपति–इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण –[१ अ २४ म०] इति। एष वै वीर्य्य तमो य इन्द्रस्य बाहुदक्षिण। तस्मादाह इन्द्रस्य बाहरसि दक्षिण इति। सहस्रभृष्टि शततेजा [१ अ २४ म] इति। सहस्रभृष्टि स वज्र आसी च्छततेजा। य त वृत्राय प्राहरत, तमेवतत् करोति ॥६॥

'वायुरसि तिग्मतेजा" (१ अ २४ म) इति। एतद्वै तेजिष्ठ तेज यदय योऽय पवते। एष हीमाल्लोकास्तिर्यङनुपवते। सश्यत्येवैनमेतद्—द्विषतो वध (१ अ २९ म) इति। याद नाभिचरेद्। यद्यु अभिचरेत् अमुष्य वध इति ब्रूयात्। तेन सशितन नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीम्, नदनेन वज्रेण सशितेनात्मान वा पृथिवी वा हिनसानीति। तस्मान्नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीम् ॥७॥

देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे। ते ह स्म यद्देवा असुरान् जयन्ति–ततो ह स्मैवैनान् पुनरुपोत्तिष्ठन्ति ॥८॥

ते ह दवा ऊचु–जयामो वा असुरास्ततस्त्वेव न पुनरुपोत्तिष्ठन्ति कथ वेनान– नपजय्य जयेमति ॥९॥

स हाग्निरुवाच–उदञ्चो व न पलाय्य मुच्यन्त इति। उदञ्चो ह स्मैवैषा पलाय्य मुच्यन्ते ॥१० ॥

स हाग्निरुवाच अहमुत्तरत पर्येष्यामि, अथ यूयमित उपसरोत्स्यथ। तान् मरु– द्भिश्च लोकैरभिनिधास्याम–यदुचेमाँल्लोकानति चतुथम्। तत पुनन सहास्यन्त इति ॥ ११ ॥

सोऽग्निरुत्तरत पर्यैत्। अथ मे इत उपसमरुन्धन्। तान् सरुध्यैभिश्च लोकैरभि– न्यदधु–यदु चेमाल्लोकानति चतुथम्। तत पुनर्न समजिहत। तदेतन्निदानेन यत् स्तम्बयजु ॥१२॥

स–योऽसावग्नीद् उत्तरत पर्येति। अग्निरेवैष निदानेन। तानध्वर्यु रेवेत उपस– रुणद्धि। तान् सरुध्येभिश्च लोकैरभिनिदधाति–यदु चेमाँल्लोकानति चतुथम्। तत पुनन

मज्जिहते । तस्मादप्येतर्ह्यसुरा न मज्जिहते । यन ह्येवैनान् दवा अराबाध त तेनवैनान-प्येतर्हि ब्राह्मणा यज्ञेऽवबाधन्ते ॥१३॥

य उ एव यजमानायारातीयति यश्चैन द्वाष्ट तमेवैतदेभिश्च लोकैरभिनिद-धाति यदु चेमाल्लोकानति चतुथम । स वा एभिश्च लोकैरभिदधद्-यदु चेमाॅल्लोका नति चतुर्थम अस्या एव मव हरति । अस्या हीमे सर्वे लोका प्रतिष्ठिता । कि हि हरेद्-यद्य नरिक्ष हरामि दिव हरामीति हरेत्, तस्मादस्या एव सत्र हरति ॥ १४ ॥

अथ तृणमन्तर्द्धाय प्रहरति-नदनेन वज्र ण सशिनेन पृथिवा हिनसानीति । तस्मा त्त णमन्तर्द्धाय प्रहरति ॥१५॥

म प्रहरति- पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूल मा हि ४ सिषम्"-(१ अ - २५ म) इति । उत्तरमूलामिव वा एनामेतत्करोत्याढदान । तामेतदाह-ओषधीना ते मूलानि मा हिंसिषमिति । 'व्रज ग च्छ गोष्ठानम् '--(१ अ० २५ म) इति । अभिनिधास्यन्नेवैतदनपक्रमि कुरुते । तद्धयनपक्रमि यद् व्रजेऽन्त । तस्मादाह ब्रज गच्छ गोष्ठानमिति । वषतु ते द्यौ '--(१ अ २५ म) इति । यत्र वा अस्यै खन त क्रूरीकुर्वन्ति-अपघ्नन्ति । शान्तिराप तदद्भि शान्त्या शमयति तदद्भि सन्दधाति । तस्मादाह-वषतु ते द्यौरिति । वधान देव सवित परमस्या पृथिव्याम्'-(१ अ - २५ म०) इति । देवमेवैतत्सवितारमाह । अ धे तमसि वधानेति-यदाह-परमस्या पृथिव्यामिति । शतेन पाशै -(१ अ २५ म) इति । अमुचे तदाह ' योऽस्मान् द्वेष्टि यश्च वय द्विष्मस्तमतो मा मौक् -(१ अ २५ म) इति । यदि नाभि-चरेद् । यद्यु अभिचरेद् अमुमतो मा मौगिति ब्रयात् ॥१६॥

अथ द्वितीय प्रहरति "अपाररु पृथिव्यै देवयजनाद् वध्यासम् -(१ अ - २६ म) इति । अररुर्ह वै नामासुररक्षसमास । त देवा अस्या अपाघ्नत । तथो एवैनमेतदेषोऽस्या अपहते । ' व्रज गच्छ गोष्ठान वषतु ते द्यौर्बधान देव सवित परमस्या पृथिव्या शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यश्च वय द्विष्मस्तमतो मा मौक् -(१ अ० २६ म०) इति ॥१७॥

तमग्नीदभिनिदधाति 'अररो ! दिव मा पप्त इति । यत्र वै देवा अररुमसुररक्ष समपाघ्नत, स दिवमपिपतिषत् । तमग्निरभ्यदधात् अररो ! दिव मा पप्त इति । स

न दिवमपतन्। नथा ए निमतन्ध्वयु रनास्माल्लोकादन्तरेति। दिनोऽध्ययात्–तस्मादेव करोत ॥१८॥

अथ तृतीय प्रहरति द्रप्सस्ते द्या मा स्कन्निति। अय वा अस्य द्रप्स-यमस्या इम रस प्रजा उपजीनन्ति। एष ते दिव मा पप्तदित्य तदाह व्रज गच्छ गाष्ठान वर्षतु ते न्याबधान देव सवित परमस्या पृथि या शतेन पाशैयाऽस्मान् द्वेष्टि यश्च वय द्विष्मस्तमता मा माक्'–[१ अ २५ म] इति॥१६॥

स न त्रिय जुषा हरति। त्रयो वा इम लोका। एभिर नमेतल्लाकैरभिनि दधाति। अद्धा न तत् यदिमे लोका अद्धो तत यद्यजु, तमात् त्रिय जुषा हरति॥ ॥

तूष्णी चतुथम। स यदिमाल्लोकानति चतुथमस्ति वा न वा, तेन तद् द्विष त भ्रात यमनबाधते। अनद्धा । तद्–यदिमाल्लोकानात चतुथमस्ति वा न वा, अनद्धो तद् यत तूष्णीम् तस्मात्तूष्णा चतुथम्॥ १॥

इति प्रथमकाण्ड द्वितीयाध्याये चतुर्थ ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मणम्

———*———

(अनुवाद) जिस समय न्द्रन वृत्रासुर के वध के लिय (अपन हाथ से) वज्र छोडा (उस समय) वह फका हुआ वज्र (वृत्रासुर के शरीर से टकरा कर) चार भागा से विभक्त होगया। उसका एक तृतीयाश अथवा अनुमानत इतना ही भाग तो स्फ्य बन गया। तृतीयाश अथवा अनुमात इनना ही भाग रथ बन गया। एव जो भाग (खण्ड सवथा छिन्न भिन्न होगया था वह उस वृत्र के शरीर से टकरा कर भूमि पर गिरकर 'शर' बन गया। यह शीण होकर गिरा अतएव वज्रका यह भाग शर नाम से प्रसिद्ध होरहा है। इस तथाकथिक प्रकार से (इन्द्र के द्वारा प्रक्षिप्त वज्र) चतुर्द्धा विभक्त होगया॥१॥

तभी से (तथाकथित चारा वज्र खण्डों मे से) दो खण्डों से तो ऋत्विग् ब्राह्मण यज्ञ म प्रचार करते है। (काम लेते हैं)। शेष दो खण्डों से योद्धा राजन्य क्षत्रिय युद्ध में काम लेते हैं। यूप, और स्फ्य, से ब्राह्मण काम लेते हैं एव रथ, और शर से राजन्यबन्धु काम लेते हैं॥ ॥

सो नाकि यजमान (दक्षिणाक्रीत यजमान का प्रतिनिधि अध्वर्यु यज्ञ में) स्फ्य ग्रहण करता है-(इसकी उपपत्ति यही है कि) आरम्भ में जसे इन्द्रने वृत्रासुर के लिये वज्र उठाया था ठीक उसी प्रकार यह यजमान पाप्मारूप द्वेष करने वाले शत्रुओं के लिये वज्र ही उठाता है। इसी (प्रयोजन के) लिये स्फ्य' का ग्रहण करते हैं ॥३॥

इस इष्टि मे स्फ्य-ग्रहण क्यों किया जाता है? इस प्रश्न की उपपत्ति बतला दी गई। अब पद्धित बतलाते हैं—

वह अध्वर्यु —देवस्य त्वा सवितु प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्या पूष्णो हस्ताभ्यामाददेऽध्वरकृत देवेभ्य

यह मन्त्र बोलता हुआ स्फ्य उठाता है। सविता देवता देवताओं के प्रेरयिता है। सो (उक्त मन्त्र से ग्रहण करता हुआ अध्वर्यु) सविता देवता से प्रेरित होकर ही स्फ्य का ग्रहण करता है। अश्विनी ही (प्राकृतिक नित्य यज्ञ के) अध्वर्यु है। ऐसी अवस्था मे- **अश्विनोर्बाहु-भ्याम** यह कहता हुआ अध्वर्यु अश्विनीकुमारों के हाथ से ही स्फ्य उठाता है अपने बाहू से नहीं। पूषा (देवताओं मे) **भागधुक** है। उन्हीं के हाथ से अध्वर्यु स्फ्य उठाता है— अपने हाथों से नहीं। यह स्फ्य वज्र है। मनुष्य इसको कभी नहीं उठा सकता। अतएव यह अध्वर्यु ——(देवस्य त्वा सवित) इत्यादि रूप से देवताओं के द्वारा ही उठाता है ॥४॥

अध्वर यज्ञ को ही कहते हैं। (ऐसी अवस्था मे- **आददेऽध्वरकृत०** -इत्यादि से) भावार्थ यही है कि देवताओं के द्वारा अध्वरकर्म्म के सम्पादन करने वाले ऐसे स्फ्य का ग्रहण करते हैं। उस स्फ्य को वाम हाथ मे लेकर दाहिने हाथ से उसका स्पर्श करते हुए मन्त्र का उपांशु उच्चारण करता है। सो जोकि यह जप क्रिया होती है उससे अध्वर्यु इस **स्फ्यशस्त्र** को तीक्ष्ण ही करता है ॥५॥

जप करने का **ब्राह्मण (विज्ञान-उपपत्ति)** बतला दिया गया अब पद्धति बतलाते हैं। वह अध्वर्यु —स्पर्श करते हुए **इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण सहस्रभृष्टि शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतोवध** । यह मन्त्र बोलता है। (वीर्य्ययुक्त पदार्थों में) वही वीर्य्यवत्तम है जोकि इन्द्र का बाहु है। इसी अभिप्राय से **इन्द्रस्य बाहुरसि** इत्यादि कहा है। वह (प्रक्षिप्त) वज्र सहस्रकोणों से युक्त था अपरिमित दीप्तियुक्त था जिस (ऐसे गुणवाले) इस वज्र को वृत्रवध के लिये इन्द्रने फैंका था। (जैसा वह था) उस को उसी भाव से युक्त करते हैं ॥ ६ ॥

अन्तरिक्ष मे जो यह प्रवाहित है यही तेजिष्ठ तेज है । यही तीनों लोकों में तिर्यक् रूपसे सवत्र व्याप्त होरहा है । इस कथन से अध्वर्यु वज्र को तीक्ष्ण ही करता है । यदि किसी पर अभिचार (मारण) प्रयोग न करना हो तब तो द्विषतो वध यही बोलना चाहिए। यदि अभिचार करना हो तो अमुकस्य वध इत्यादि रूप से नामोल्लेख पूवक-मन्त्र बोलना चाहिए। (मन्त्रशक्ति से अतितीक्ष्ण होने वाले) इस संशित स्फ्य से न तो अपने शरीर के किसी भाग का स्पर्श ही करना चाहिए एवं न इसे पृथिवी पर ही रखना चाहिए। इस संशित स्फ्यशस्त्र से हम अपने आपको एवं पृथिवी को नष्ट न करलें स्पर्श न करने का यही प्रयोजन है ॥ ७ ॥

इस पूर्वोक्त विषय का संग्रह करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

'देवस्यत्वेति' स्फ्यमादाय सतृण सव्य कृत्वा दक्षिणेनालभ्य जपति 'इन्द्रस्य बाहुरिति

(२।६।६।)

एक समय (प्रजापति की सन्तान अतएव) प्राजापत्य देवता और असुर दोनों (परस्पर) स्पर्धा करने लगे । जब (जब) देवता असुरों को जीतते तब (तब) हा असुर पुन (पुन) उठ खडे होते ॥ ८ ॥

(देवताओं को इससे बडी चिन्ता हुई) वे सोचने लगे कि अपने असुरों पर विजय तो प्राप्त करते हैं परन्तु (आश्चर्य है कि) ये पुन प्रतिद्वन्द्विता में आखडे होते हैं । ऐसा कौनसा उपाय है जिससे अपन इन असुरों को ऐसा जीतें जिससे ये पुन सम्मुख खडे न हों ॥९॥

(देवताओं में अग्नि भी विद्यमान थे । तथाविधा विषमा समस्या के निराकरण का उपाय बतलाते हुए) सुप्रसिद्ध अग्निदेवता बोले कि ये असुर उत्तरदिशा की ओर भाग कर हमसे पृथक् (अतएव परोक्ष अतएव च सुरक्षित) होजाते हैं (अर्थात्—यदि इनको उत्तर की ओर खदेड दिया जायगा तो सदा के लिये इनसे पीछा छूट जायगा । इसी भाव का स्पष्टीकरण करती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है कि) सचमुच अग्नि का कहना सत्य हुआ। उत्तर दिशा की ओर भाग कर ही असुर लोग इन देवताओं से सदा के लिये मुक्त होजाते हैं ॥ १० ॥

(एक उपाय बतला कर) वे अग्निदेवता बोले कि (देखो) मैं तो उत्तरभाग से (इन असुरों को) आवृत करता हूँ (घेरता हूँ) (रास्ता रोकता हूँ) और आप सब इस (पृथिवी लक्षणा वेदि) स्थान से इन सब को (इन के आक्रमण को) अवरुद्ध करदो। इसप्रकार

इन सनको चारों आर से घेरकर अपन इनको तीनों लोका से ही गतिहीन बना दे गे। अर्थात् सब आर क द्वार (नाक) आरुद्ध क (रोक कर) इनको सदा क लिय परास्त कर दगे। (यही नहीं) आपतु न तीना लोका स अतिक्रान्त जो चाथा (आपो) लोक है (इसम भी) बाहिर निकाल फकग। एसा करन पर पुन य कभी अपना साम्मुख्य न कर सक गे ॥११॥

(अग्नि की इस मन्त्रणा का सभी देवताओन अनुमोदन किया और तदनुसार ही) अग्निन उत्तरभाग का घर लिया। इधर देवताओन इस वेदिस्थान स उनको घेरते हुए तीनों लाका स असुरा का घर लिया एव तीना लोका से अतिक्रान्त चाथे लाक स भी इनको बाहिर निकाल दिया। इसका फल यह हुआ कि पुन कभी असुरोंन विजय की इच्छा न की। यहाँ आकर व सदा क लिय सवथा परास्त होगए।

स दवासुर–आख्यान का इस वधयज्ञ के साथ 'उपनय' करते हुए याज्ञवल्क्य कहते ह कि यहा जो स्तम्बयजु (कुशमुष्टि) का ग्रहण किया जाता है वह निदान स द्वारा असुर–निरसन'–व्यापार हा है। अर्थात् जैसे दवताओंन असुरो क सब मार्गों का रोक कर जिस शस्त्र से असुरा का सदा क लिए परास्त कर दिया था तथैव शस्त्रस्थानीय स्तम्बयजु से यह यजमान अपने दिव्ययज्ञ स सदा क लिए असुरा को बाहिर निकाल देता है ॥१ ॥

सो जोकि (इस वधयज्ञ म–मनुष्ययज्ञ म) आग्नीध्र नाम का ऋत्विक् वेदि क उत्तरभाग म घूम कर आता है वह निदान से अग्नि ही है। अर्थात् आग्नीध्र का उत्तर की ओर जाना अग्नि का ही उत्तरभाग से असुरों का निराध करन है। एव अन्य देवताओं का प्रतिनिधि अध्वर्यु इस वेदिस्थान से असुरों का माग राकता है। इसप्रकार चारा ओर से घेर कर इन लाकों से एव तीनों लाका से अतिक्रान्त चोथे लोक से इनको घर लेता है। इसक अनन्तर असुरों का पुन आक्रमण करने का अवसर ही नहीं मिलता। यही कारण है कि आज भी (यज्ञ करते समय) असुरों को पुन आक्रमण करने का अवसर ही नहीं मिलता। यही कारण है कि आज भी (यज्ञ करते समय) असुर पुन आक्रमण का विचार नहीं करते। जिस (पूर्वोक्त उपाय से) दवताओंन इनका विनाश किया था उसी (स्तम्बयजुहरणरूप) उपाय से आज भी ब्राह्मण स्वयज्ञ मे इह अवरुद्ध कर देते है ॥१३॥

(न कवल असुरा का ही निरसन होता है अपितु) जो भी (इस यज्ञकर्ता) यजमान क लिए अरातिभाव उत्पन्न करता है अर्थात् आगत–सम्पत्ति का प्रतिरोध करता है एव जो इसक साथ अकारण द्वेष करता है उन्हें भी तीनो लोकों स एव तीनों से अतिक्रान्त चौथे लोक

स बाहर निकाल देता है। (इनलोकों का भी तो अध्वर्यु अन्तरिक्षादि लोकों में जाने में असमर्थ है। फिर इसने पृथिवी के अतिरिक्त-अन्तरिक्ष द्यौ एवं चौथे अपालोक से कैसे असुरों को दूर किया? इस प्रश्न का समाधान करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि) इस प्रक्रिया से ही अध्वर्यु असुरों को निकाल देता है। इसी के अवलम्ब से अध्वर्यु सब लोकों से (निरसन के द्वारा) असुरों को निकाल देता है। इसी लोक में सब लोक प्रतिष्ठित हैं। यदि अध्वर्यु 'अन्तरिक्ष हरामि दिवं हरामि' यह बोलेगा तो (इसका बोलना असत्य होगा क्योंकि साक्षात्‌रूप से न यह अन्तरिक्ष में जा सकता न द्युलोक में जा सकता फिर चौथे लोक की तो कथा ही दूर है। ऐसी अवस्था में 'अन्तरिक्ष हरामि' इत्यादि कहता हुआ यह) किसको हरण करेगा? इसलिए (स्पष्टरूप से 'अन्तरिक्ष हरामि' इत्यादि न कहता हुआ) इस पृथिवी से ही सब असुरों को निकाल देता है। (परिणाम यह होता है कि ऐसा करने से इसे असत्यभाषण भी नहीं करना पड़ता एवं इसी पृथिवी में सब लोक प्रतिष्ठित हैं इसलिए केवल पृथिवीमात्र से ही चारों लोकों से असुर निकल जाते हैं) ॥१४॥

इसके अनन्तर कुश तृण को मध्य में रख कर (स्फ्य से भूमि पर) प्रहार करता है। (मन्त्रशक्ति से) अतितीक्ष्ण इस (स्फ्यरूप) वज्र से हम पृथिवी का नाश न करदें इसीलिए तृण मध्य में रखकर प्रहार करता है ॥१५॥

ब्राह्मण बतला दिया अब पद्धति बतलाते हैं—

वह अध्वर्यु — 'पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्' यह मन्त्र बोलता हुआ प्रहार करता है। (स्फ्य का ग्रहण करते समय) अध्वर्यु-स्तम्बयजुरूप कुशमुष्टि को वेदि पर उत्तरमूल (उत्तरदिशा की ओर कुश की जड़) रखता है। इस पृथिवी को उत्तरमूला बनाता है। उन्हीं उत्तरमूल ओषधियों को लक्ष्य में रखकर—'यह स्फ्य वज्र तेरे [पृथिवी के] मूलों को नष्ट न करे' यह कहता है। इसके अनन्तर- 'ब्रज गच्छ गोष्ठानम्' यह मन्त्र बोलता हुआ प्रहार करने के साथ साथ ही-असुरों को इधर उधर बचकर भाग निकलने में असमर्थ बनाता है। यही 'अनपक्रमि' भाव है। कि ब्रजस्थान के मध्य में इन्हें भेजना है। इस पृथिवी के निम्न भाग में निखनन करते (खोदते) हुए क्रूरकर्म करते हैं। (इस कर्म से वे खननकर्त्ता पृथिवी के उस भाग की) हिंसा ही करते हैं। पानी (क्रूरकर्म की) शान्ति है। सो यह अध्वर्यु (वर्षतु ते द्यौः—इत्यादि बोलता हुआ) पानी की शान्ति से (स्फ्य के द्वारा खोदे हुए पार्थिव भाग को) शान्त ही करता है। पानी से (उस विदीर्ण भाग को पुनः) जोड़ता है। इसी अभिप्राय से 'वर्षतु ते द्यौः' यह कहा है। 'वधान देवसवितः' इत्यादि से सविता देवता की ओर ही लक्ष्य

है। 'परमस्या पृथिव्याम्' यह जो कहा है (इसका तात्पर्य्य यही है कि)–पृथिवी का यह अन्तिम भाग जहां घोर अन्धकार है–उसी में असुर को भेजते हैं। 'शतेन पाशैः' इस अंश का यही अर्थ है कि वहाँ जाकर वह सदा के लिए सैकड़ों पाशों से बद्ध होजाय। इसप्रकार यह मन्त्रांश असुमुक्ति (बन्धनभाव) का ही द्योतक है। यदि अभिचार न करना हो तब तो–नाम–ग्रहण न करते हुए केवल–योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् यही बोले। यदि अभिचार–प्रयोग करना हो तो अमुकोऽस्मान् द्वेष्टि, अमुकञ्च वयं द्विष्म। तमतो मा मौक् यह मन्त्र बोले ॥१६॥

(प्रथम प्रहार के अनन्तर अध्वर्यु 'अपारुरं' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ स्फ्य से दूसरा प्रहार करता है। 'अररु' नाम का असुर देवताओं का विरोधी था, राक्षस था। देवताओंने से इस (यज्ञिय) पृथिवी से मार भगाया था। तथैव यह अध्वर्यु भी इसे (मन्त्रशक्ति के द्वारा) मार भगाता है। शेषभाग का अर्थ १ वीं कण्डिका से गतार्थ है ॥१७॥

इसके अनन्तर आग्नीध नाम का ऋत्विक कुशभाग को ऊपर के हाथ से आच्छन्न करता (ढकता) हुआ—'अररो दिवं मा पप्त' यह बोलता हुआ उत्कर मे प्रक्षिप्त कर देता है। जिस स्थान मे देवताओंने राक्षसबुद्धि अररु असुर को मार भगाया था वहां से भग कर द्युलोक की ओर झुका। वहां जाते हुए इस असुर को– अररो सावधान ! द्युलोक में न घुसना' यह कहते हुए उसे रोका था। फलतः वह द्युलोक मे नहीं जासका था। उसी प्रकार यह अध्वर्यु तो इसे इस पृथिवीलोक से निकालता है, एवं आग्नीध्र द्युलोक से निकलता है। इसलिए अररो इत्यादिरूप से द्वितीय–प्रहारकर्म्म करते है ॥१८॥

अनन्तर— द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन् इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु तीसरा प्रहार करता है। जिस इस अनुरस को लेकर सम्पूर्ण पार्थिवप्रजा जीवित है वह रस ही पृथिवी का द्रप्स है। हे पृथिवि ! आपका यह रसरूप द्रप्स द्युलोक मे न स्खलित होजाय' यही कहा है। शेष मन्त्रार्थ पूर्व मे गतार्थ है ॥१९॥

इसप्रकार वह अध्वर्यु तीन यजुमन्त्रों से 'स्तम्बयजुर्हरण' करता है। यह (प्रसिद्ध पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ) तीन लोक हैं। इन्हीं से वह उसे निकालता है। ये जो तीनों लोक हैं वे हमारी आँखों के सम्मुख हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त तीनों यजुमन्त्र भी प्रत्यक्ष हैं। अतएव तीनों अद्धा मन्त्रों से स्तम्बयजु हरण किया जाता है ॥ ॥

चाथा प्रहार चुपचाप किया जाना है। इन तीना लोका से अतिरिक्त चाथा लोक (अप्रत्यक्ष का विषय होन क कारण) है अ गग नहा है न्स भाव से युक्त न। चा र प्रहार से इसी लाक स शत्रुओ को निकालता ह। अ ति न रा भाव से युक्त चाथा लाक 'अनद्धा है। इधर तुष्णीं भाव भा अनद्धा ह। इसलिए चाथा प्रहार तूष्णीम् हीं किया जाता ह॥ ८॥

प्रथमकाण्डानुगत द्वितीयाध्याय का चोथा ब्राह्मण,

एव

द्वितीय-प्रपाठक का दूसरा ब्राह्मण उपरत

---*---

सूत्रानुगत-पद्धति-मगह –

जिस द्र य की न्वताओ के लिए आहुति दी जायगी वह पुराडाश नाम का य सम्पन्न होचुका है। अब प्रकृत प्रकरण वदिान र्माण का क्रम बतलाता है।

'अपरेणाहवनीय वेदि खनति ऽत्यड गुलखाता ग्याममात्रीं पश्चात परत्नि प्राची मपरिमिता वा प्राकप्रवणामुदवाग्वा मध्य सडगृहीता, मग्निमभितोऽमा''

—का सू अ। क।१ सूत्र

उक्त श्रौत सूत्र सिद्धा त के अनुसार आ वनीयकुण्ड के पश्चिम भाग म (एव गाहप यकुण्ड के पूव भाग में) वदिखनन करना चाहिए। उस भूप्रन्श का किस परिमाण से खोदा जाय (जहाँ पर कि वदि बनने वाली है ?) इसका उत्तर देत हुए सूत्रकार कहत हैं कि तीन अङ्गुल की गहराई से वदनिर्म्माणोपयुक्त भूमि को खोदना चाहिए। इससे प्रथम आहवनीय का निर्म्माण कर लेना चाहिए जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा।

* इस वेदिनिर्म्माण ब्राह्मण में तत्तत् भिन्न भिन्न परिमाणों के लिए अरत्नि रत्नि व्याम वितस्ति आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वर्त्त मान व्यवहारजगत् में इनका व्यवहार प्राय अवरुद्ध होगया है अत कर्म्मेतिकर्त्तव्यता-की समन्वयदृष्टि से इन शब्दों के अर्थों का भी स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए।

प्रादेश -ताल -गोकर्ण –

अङ्गुष्ठ (अगूठे) के साथ क्रमश तर्जनी मध्यमा अनामिका न्न तीनो अङ्गुलियो के सम्बन्ध से प्रादेश ताल गोकर्ण नाम के तीन परिमाणों का स्वरूप निष्पन्न होता है। प्रादेशो देशमात्रे स्यात्तर्जन्यङ्गुष्ठसमिते (मेदिनी) के अनुसार अगूठे के साथ तर्ज्जनी को चौडा दीजिए। इतना प्रदेश १ अङ्गुल (अपनी अगुल) परिमाणयुक्त होगा। यही प्रादेश है। प्राणविज्ञान के सम्बन्ध म प्राय न्सी

परिमाण (नाप) को प्रधान माना जाता है। कारण **प्रादेशमिता वै प्राणाः** इत्यादि के अनुसार प्राण दशाङ्गुलमान में ही अपनी व्याप्ति रखता है।

इसीप्रकार अंगूठे के साथ मध्य की अङ्गुलि को चौड़ा दीजिए। यही परिमाण **ताल** **करतलेऽङ्गुष्ठमध्यमाभ्यां च संमिते । गीतकाले क्रियमाणकरस्फाले द्रुमान्तरे** (मेदिनी) के अनुसार **ताल** नाम से प्रसिद्ध है। **ताल** शब्द वृक्षविशेष का भी वाचक है। चुटकी **करस्फाल** (**अङ्गुष्ठाङ्गुलिस्फालात्मक करस्फाल**) भी इसी ताल से बजती है। संगीतक्रिया में **तिताल चौताल झपताल**-आदि जो ताल-सम्बन्ध है जिन ताल के सम्बन्ध से तत्तद् गान का स्वरूप यथावत् सीमित होता हुआ रस का अभिव्यञ्जक बनता है वह भी इस ताल से ही सम्बन्ध रखता है।

इसी अंगूठे को यदि अनामिका के साथ चौड़ाया जाता है तो उस परिमाण का आकार **गाय के** **कानों** जैसा होजाता है। इसी को **गोकर्ण** परिमाण कहते हैं जैसाकि— **अङ्गुष्ठानामिकोन्मान** (विश्व) इत्यादि से प्रसिद्ध है। इसप्रकार— **प्रादेशतालगोकर्णास्तर्जन्यादियुते तते** के अनुसार अंगूठे के साथ क्रमशः **तर्जनी मध्यमा अनामिका** इन तीनों अङ्गुलियों को वितत करने से (फैलाने से) क्रमशः **प्रादेश ताल गोकर्ण** का स्वरूप निष्पन्न होता है। इन तीनों परिमाणों में ब्राह्मणग्रन्थों में प्रधानरूप से प्रादेश परिमाण का ही ग्रहण हुआ है। इससे अंगुल परिमाण अभिप्रेत है *।

——*——

वितस्ति —

अङ्गुष्ठे सकनिष्ठे स्याद्वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलः इस अमर सिद्धान्त के अनुसार यदि कनिष्ठिका (चिटी) अङ्गुलि को अंगूठे के साथ चौड़ा किया जाता है तो **वितस्ति** का स्वरूप निष्पन्न होता है। यही **वितस्ति** परिमाण लोकभाषा में **बिलात बिलांद** आदि नामों से प्रसिद्ध है। यह १२ अङ्गुल का परिमाण है। पुरुषशरीर का परिमाण **प्रादेश** से किया जाता है। **भूः भुवः स्वः महः जनः, तपः सत्यम्** इन सातों लोकों की समष्टिरूप ईश्वर के शरीररूप विश्व का परिमाण **वितस्ति** से किया जाता है।

जैसाकि हम पूर्व में बतला चुके —प्राण **प्रादेशमित होता है**। विविध भिन्नभिन्न प्राणों में से **गायत्र** नाम का प्राण ही पुरुषसृष्टि का प्रधान कारण है। **अष्टाक्षरा वै गायत्री** के अनुसार गायत्रप्राण आठ भागों में विभक्त है। प्रत्येक अक्षर एक एक स्वतन्त्र प्राण है। इसप्रकार गायत्री के आठ अक्षरों के आठ प्राण होजाते हैं। आठ प्राणों के आठ प्रादेश होते हैं। यद्यपि साधारण मान के अनुसार प्रादेश १० अङ्गुल का ही होता है। तथापि यदि सूक्ष्म मान किया जाता है तो— **स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्** के अनुसार दस अङ्गुल से कुछ अधिक अर्थात् साढ़े दस अङ्गुल ठहरता है। इस अनुपात से

*— दश-अङ्गुल से कुछ अधिक। अनुमानतः सार्द्धदशाङ्गुल (१०॥ अङ्गुल) का ही एक **प्रादेश** माना गया है जैसाकि— **अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्** (यजु) से स्पष्ट है।

पूर्वोक्त गायत्री के आठ प्रान्शा के (प्रत्येक के १ ॥ के अनुपात से) पुरुषमान ८४ अङ्गुल का होजाता है। प्राकृतिक मान के अनुसार प्र येक पुरुष वह युवा हो अथवा बालक हो) अपने अङ्गुल-परिमाण से ८४ अङ्गुलि का होता है। इसीप्रकार ईश्वर- सप्तवितास्तिकाय है। सात वितस्त के भी (प्रत्येक के २ अङ्गुल के अनुपात से ८४) अङ्गुल होजाते ह। अपने आयतन से पुरुष भी ८४ अङ्गुल का है एव ईश्वर भी ८४ अङ्गुल का ही है। इसी आधार पर— पुरुषो न प्रजापतेर्नेदिष्ठम् यह निगम प्र- ष्ठित है।

——*——

* चपेट प्रतल -प्रहस्त —

अपने हाथ की अङ्गुलियो को सर्वथा ऋजुभाव म परिणत कर लीजिए। साथ ही अङ्गुलियो को पर पर न भिडा कर स्वभावत जिस अन्तर पर अङ्गुलिया विस्फारित (चाडी) रहती ह उद्ध उतने ही अन्तर से रहने दीजिए। ऐसी अवस्था मे यह हाथ-चपट प्रतल प्रहस्त इन तीन नामों से व्यहृत होता है। धर्मशास्त्र में इस परिमाण को विशेष प्रधानता दी जाती है।

——*——

सिहतल -प्रतल —

दोनो हाथो की अङ्गुलिया को सीधी कर लीजिए। साथ ही अङ्गुलियों को परस्पर सलग्न कर दीजिए। अर्थात् प्रकृति से रहने वाला अङ्गुलियो के मध्य म जो एक व्यवधान है उसे हटा दीजिए। एस मान— सिहतल एव प्रतल इन दोनो नामो स प्रसिद्ध ।

——*——

प्रसृति —

दोनो हाथो को सिहतलानुसार सलग्न क त हुए दोनो हाथो के दानो अतिम पार्श्वों को दोनो हाथों के मध्य की ओर झुका दीजिए इसी मान को प्रसृति कहते हैं। इसी प्रसृति को लोकभाषा में- धोबा - (ओंद्ला) आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है।

——*——

अञ्जलि —

प्रसृति-दशा ही समष्टिरूप से एव व्यष्टिरूप से पुरभाव में आ र अञ्जलि नाम से व्यवहृत होने लगती है। अगुलियों के आगे के भाग को ओर सकुचित करते हुए अपनी ओर अवनत कर लीजिए। यही अञ्जलि बन जायगी। यही अञ्जलि लोकभाषा में—'चुल्लू चिल्लू चलू आदि नामों से प्रसिद्ध है।

——*——

हस्त —

यह मान निरतिशयरूप से (बहुत ही) उपयोग में आता है। अङ्गुलि से युक्त अंस भाग में अवस्थित भाग पाणि कहलाता है। हाथ के जोड से (गट्टे स) आरम्भ कर कफोणी (कोहनी) पर्यन्त

* चपेट ही लोक यवहार में स मवत - चाँटा (थप्पड) रूप में परिणत होगया होगा।

का भाग बाहु कहलता है। यही प्रको ठ है। कफोणी से आरम्भ कर जत्रू पर्यन्त का भाग दो कहलाता है। इसप्रकार स्कन्ध (कंधा) से सलग्न भाग से आरम्भ कर अङ्गुल पर्यन्त भाग में–पाणि बाहु दो—ये तीन भाग है। तीनो का जोड़ने वाली तीनों सन्धिया क्रमश—मणिबन्ध (गट्टा) कफोणी (काहुणी–कूणी) जत्रू इन नामो स प्रसिद्ध ह। इनम दो भाग तो छोड दीजिए। शेष पाणि–और बाहूको लीजिए। पाणि भाग की पाचो अङ्गुलियो का सीधी कर दीजिए। यही मान (कफाणी स आरम्भ कर अङ्गुलिया पर्यन्त का का भाग) हस्त नाम स प्रसिद्ध है।

——*——

रत्नि —

मुष्टयातु बद्धया स रत्नि स्यात् इस अमर सिद्धान्त के अनुसार वही हस्तप्रमाण मुष्टिका–बन्धन (मुट्ठी बाधने) से रत्नि नाम से व्यवहृत होने लगता है। इसी अभिप्राय स सम्पीडिताङ्गुलिमुष्टि (हलायुध) यह कहा जाता है। यह परिमाण दो प्रादशमित (२१ अङ्गुलमित) है।

——*——

अरत्नि —

अरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना' (अमर)

अरत्निर्वा सप्रकोष्ठताङ्गुलिकरऽपिच' (मेदिनी)

'तारत्नि कफाणा हस्ते सप्रकाष्ठे चाङ्गुलौ' (रुद्र)

इत्यादि के अनुसार बद्धमुष्टि म स कनिष्ठिका अङ्गुलि को सीधी कर दीजिए। यही मान अरत्नि (२४ अङ्गुलिमित) होगा।

——*——

व्याम —

'व्यामो बाह्वो सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम्' (अमर)

के अनुसार दोनो हाथो का जो तिर्यगन्तर मान है वही व्याम कहलाया है। यह नवतीनव (९६) अङ्गुल का मान है

——❀——

पुरुष —

'ऊर्ध्वविस्तृत–दो पाणिनृमाने पौरुष त्रिषु (अमर)

के अनुसार दोनो हाथों को (अङ्गुलियो के साथ) सवथा सीधे खडे होकर ऊपर की ओर कर दीजिए। यही मान पुरुष नाम से व्यवहृत होता है। यह १२ अङ्गुल का मान है।

——*——

इसके अतिरिक्त वदिनिर्म्माण के सम्बन्ध में एव अन्यान्य भी वैज्ञानिक भावो के समन्वय–सम्बन्ध में ब्रह्महस्त विष्णुहस्त शिवहस्त ब्रह्मतीथ धनुर्दण्ड नाली किष्कु गव्यूति आदि मानो का भी उपयोग होता है।

उन सब का स्पष्टीकरण निम्नलिखित तालिकाओं से होजाता है।

८–परमाणव –त्रसरेणु १
८–त्रसरेणव –रथरेणु १
८–रथरेणव बालाग्रम् १
८–बालाग्राणि लिक्षा १
८–लिक्षा –यूका १
८–यूका –यव १
८–यवा –अङ्गुलम् १

——*——

६–यवा ——अधम मानाङ्गुलम १
७–यवा ——मध्यम ,,
८–यवा ——उत्तमम् ,,
२१–अङ्गुलानि –रत्निहस्त १
२२॥ अङ्गुलानि—अरत्निहस्त १
२४ अङ्गुलानि –महाहस्त २

——*——

२४–अधमाङ्गुलानि—१ ब्रह्महस्त
२४–मध्यमाङ्गुलानि—१ विष्णुहस्त
४–उत्तमाङ्गुलानि—१ शिवहस्त
४–महाहस्त १ व्याम (९६ अङ्गुलानि)
५–महाहस्त १ पुरुष (१२० अङ्गुलानि)

——*——

१०॥–अङ्गुलानि १ प्रादेश (१ ॥अङ्गुलानि)
२—प्रादेशौ १ रत्नि (२१ अङ्गुलानि)
२—रत्नी १ निष्कु (४२ अङ्गुलानि)

——*——

६–अङ्गुलानि–प्रपदम् (६ अङ्गुलानि)
२–पद—वितस्ति —(१२ अङ्गुलानि)
२–वितस्ति–हस्त —(२४ अङ्गुलानि)

२–हस्ता— १ ब्रह्मतीर्थम् (४८ अङ्गुलानि)
२–ब्रह्मतीर्थे १ धनुर्दण्ड (९६ अङ्गुलानि)
३–धनुर्दण्डा–१ नाली (१९२ अङ्गुलानि)

——*——

३०–धनूंषि—नल्व
२ –धनूंषि १ क्रोश (२ ० धनूंषि)
२–क्रोशा–१ गव्यूति (४ धनूंषि)
२–गव्यूती –१ योजनम् (८ धनूंषि)

——*——

हम क रहे थ कि वदि के पूर्वभाग मे चतुरस्र (चौकोर) आहवनीय–कुण्ड का निर्म्माण किया जाता है। इस आहवनीयकुण्ड का घेरा चतुरस्र भाग को मिलाकर अरत्निमात्र (२४ अङ्गुल) है। इस कुण्ड की ऊंचाइ एक वितस्ति (१२ अङ्गुल) है। चारा ओर के घेरे की चौडाइ चार अङ्गुल है सर्वप्रथम ऐसे (अरत्निमात्र–चतुरस्र–आहवनीयखर द्वादशाङ्ग लोच्च चतुरङ्गुल–विस्तीर्ण मेखल) आहवनीय–कुण्ड का वदि से पूर्वदिशा में निर्म्माण करने के अनन्तर वदिनिर्म्माण किया जाता है। जिस स्थान पर वेदि बनाइ जायगी पहिले उस स्थान की तीन तीन अङ्गुल गहरी मिट्टी खोदी जाती है। इसके अनन्तर सूत्र स परिमाण (नाप) कर–तीन अरत्निमान से (७२ अङ्गुल की नाप स) वदि के पूर्व–पश्चिम भाग की सीमा बनाइ जाती है। अर्थात् वेदि की लम्बाइ ७२ अङ्गुल की होती है।

वदि के पश्चिमभाग में दक्षिणोत्तर ४ अरत्नि (९६ अङ्गुल) मान से रेखा अङ्कित की (खैंची) जाती है। एव वदि के पूर्वभाग में दक्षिणोत्तर ३ अरत्नि (७२ अङ्गुल) मान से रेखा खैंची जाती है। वाद चौकोर होती है। परन्तु ७२–९६ इस दक्षिणोत्तर के विषम मान से **विषमचतुरस्र (टेढी–चौकोर)** होजाती है। यह तो हुआ शास्त्रीय नियत प्रमाण। इसके अतिरिक्त यजमान इसी अनुपात स पूर्वभाग में कम चौडी पश्चिमभाग में अधिक चौडी इस विषमचतुरस्र भाव को प्रधान रखता हुआ अपनी इच्छानुसार वदि का आयतन बडा भी करसकता है। इसी आधार पर— **अपरेणाहवनीयं वेदिं खनति यज्ञ्लखाता व्याममात्रीं पश्चात् त्र्यरत्निं प्राचीं अपरिमिता वा** यह कहा जाता है। यह वदिभूमि प्रथम तो पूर्व की ओर झुकती हुइ रहनी चाहिए अथवा उत्तर की ओर प्रवणा होनी चाहिए। दक्षिणप्रवणा वदि यजमान का नाश कर देती है। **अखातौ सग्रहौ मतौ** इस परिशिष्ट वचन के अनुसार वेदि के मध्य–स्थान में वेदि का **आखात–सग्रहवती** करना चाहिए।

आ वनीयकुण्ड के समीप ही वा की पूर्वसीमा म आग्नेयकोण ईशानकोण में अंस [कन्धे] क पना करनी चाहिए। अर्थात् वदि के दक्षि ोत्त भाग को क मी का अंस म झना चाहिए।

दोनों संग्रह था –यजात जु ाति नाम म प्रसि है। तात्पर्य यही कि दि के पश्चिम भाग की ओर दक्षि ोत्तर भाग म क्रमशः नऋृतकोण ओर वायव्यकोण म ८ अङ्गुल भूमि छोड कर २१ अङ्गुल के अर्द्ध वृत्त से यजति जुहोति थान औ बनाए जाते है। ये दोनों स्थान आप्वात नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ नाना दिशाओं की दशाङ्गुलात्मता भूमि श्रोणी ाम स प्रसिद्ध है।

आमूलाच्छिन्नादोषधीनाम [का श्रौत–२ अ क–६ सू के अनुसार जिस भूप्रदेश पर उपयुक्त वेदि का निर्माण किया जाता है उस स्थान पर लगी हुई ओषधियों को तबतक काटते रहना चाहिए जबतक कि उनकी जड न उखड जाय। अर्थात् इस प्रदेश स ओषधियों का सर्वथा निर्मूलन कर उस भूभाग को विशुद्ध बना देना चाहिए। यान रहे–यह सूत्रकार का पक्षान्तर है। कारण–पूर्व म वदिभूमि को तीन अङ्गुल खोदने का भी आदेश दिया गया है। और समूलोत्पाटन पक्ष में आ शङ्का भी ग राइ होसकती है। दोनों पक्ष स भव नहीं। इसलिए यद्यपि सूत्रकार ने पक्षान्तर का स्पष्ट शब्दों म उल्लेख नहीं किया है तथापि **आमूलाच्छिन्नात्** य ाहरूप मी वचन ही पक्षान्तर का भी साधक बन जाता है।

ओषधीनां मूलान्युच्छेत्तवै ब्रयात् [का श्रौत ६ ३] के अनुसार यदि यज्ञ लाखात वादपक्ष नहीं है एवं आमूल ओषधियों का उत्पाटन निराकृत है तो अ वर्यु को आग्नीध्र के प्रति ओष–धियों के मूलों को उत्पाटन की आज्ञा न दनी चाहिए। तात्पर्य यही है कि ओषधियों का उत्पाटनकर्म आग्नीध्र नामक ऋत्विक का ही कर्म है।

आहार्य्यपुरीषा पशुकामस्य [का श्रौ २ ६ ८] के अनुसार यदि यजमान इस यज्ञ से पशुसम्पत्ति प्राप्त करना चाहता है तो इस वदि को **आहार्य्यपुराषा** बनाना चाहिए। पुरीष ही पशु है। वदि के स्थान से जो मिट्टी निकाली जाती है वह तो **वेदिपुरीष** है। इस तो निकाल कर अन्य स्थान में डाल दिया जाता है। एवं अन्य स्थान का खोदी हुई मिट्टी लाकर यहा डाली जाती है यही तात्पर्य्य है।

वेदि परिसमुह्य वितृतीयऽग्नीदुत्तरत उत्कर करोति [का श्रौ २ ६ ५] के अनुसार पूर्वोक्त क्रमानुसार वदिनिर्माण कर–उसे कुशो से आस्तीर्ण कर आहवनीय के उत्तरभाग में वितृतीय भाग में तीन अङ्गुल चौडा एवं छह अङ्गुल लम्बा तथा एक अङ्गुल गहरा–एक गड्ढा [आग्नीध्र नाम का ऋत्विक्] बनाता है। **उच्छिष्ट तृण पांसु** आदि का उत्किरण इसी मे होता है। अतएव यह स्थान '**उत्कर** नाम से प्रसिद्ध है। सूत्रगत **वितृतीय** का क्या अर्थ ? इस प्रश्न के समाधान के लिए निम्नलिखित वदि–निर्म्माण–प्रकार पर ही ध्यान देना आवश्यक होगा।

वेदि के पश्चिमभाग में वृत्त ल गार्हपत्यकुण्ड रहता है एवं तत्पूर्व में चतुरस्र आहवनीयकुण्ड रहता है। इन दोनों कुण्डों का एक एक केन्द्र है। वही केन्द्र **मध्यमस्थान मध्यमबिन्दु गर्भ – हृदय** आदि नामों से प्रसिद्ध है। गार्हपत्यकुण्ड के गर्भ से आरम्भ कर आहवनीयकुण्ड के गर्भपर्य्यन्त दोनों कुण्डों

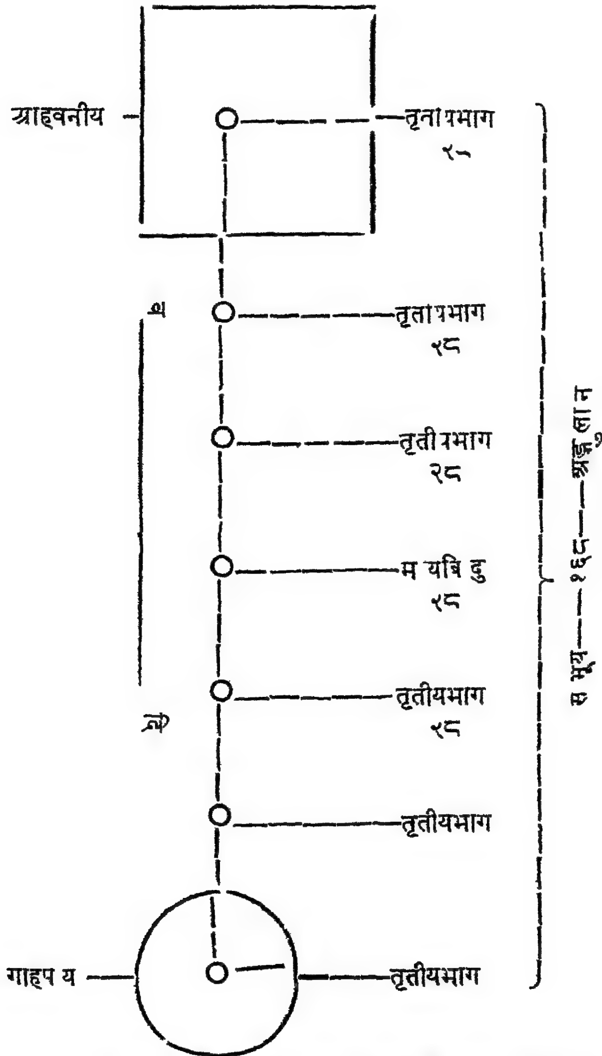
के मध्य में विकल्प पक्षों की अपेक्षा क्रमशः ८, १, १२ पदों का विधान है। एक पद [पावडा] १ अङ्गुल का होता है। इसप्रकार क्रमशः तीनों पक्षों में ९६ अङ्गुल, १३२ अङ्गुल, १४४ अङ्गुल—यह मान होजाता है। इन तीनों में से १ पक्ष के [१४४ अङ्गुल के] मान को [**अपरिमिताम्**] पक्ष में प्रधानता दी है। उसी को लक्ष्य में रखते हुए यहां विचार करना है।

गार्हपत्यकुण्ड के निर्माण के लिए एक स्थान पर केन्द्र की कल्पना की जाती है। इस कल्पित केन्द्रस्थान में [जोकि कल्पित केन्द्र आगे जाकर गार्हपत्यकुण्ड का वास्तव में केन्द्र बनने वाला है] शङ्कु [**काष्ठकील**] गाड दीजिए। इस शङ्कु से १३॥ [साढे तेरह] अङ्गुल रज्जु के व्यासार्द्ध से गोल वृत्त बनाइए। केन्द्र में चारो ओर की वृत्तसीमा १३॥ अङ्गुल रहनी चाहिए यही तात्पर्य्य है। ऐसी अवस्था में व्यासार्द्ध ६॥। [पोने सात] अङ्गुल का होगा। यही **गार्हपत्यकुण्ड** का मान है। इसी में गार्हपत्याग्नि प्रतिष्ठित रहता है। आहवनीयकुण्ड में भी इसीप्रकार केन्द्रकल्पना कर शङ्कु गाड दीजिए। इस शङ्कु से ठीक हस्तमात्र [२४ अङ्गुल] रज्जु से चौकोर वृत्त बना डालिए। लम्बाई भी २४ अङ्गुल की होगी चौडाई भी २४ अङ्गुल की ही होगी। यह व्यासार्द्ध १२ अङ्गुल का होगा। पूरा व्यास २४ अङ्गुल का होगा। यही **हस्तपरिमित** किंवा **अरत्निपरिमित** आहवनीयकुण्ड में आहवनीय अग्नि प्रतिष्ठित रहता है। पूर्वोक्त १२ पदों के मान की व्यवस्था के अनुसार दोनों कुण्डो के केन्द्र से यह मान है। १२ अङ्गुल का एक पद है। इसप्रकार कुल १४४ अङ्गुल प्रदेश होजाता है। इधर २४ अङ्गुल का एक हाथ [अरत्नि] होता है।

इस अनुपात से गार्हपत्य और आहवनीय-कुण्ड के केन्द्रों से सम्बद्ध दोनों का मध्यप्रदेश ६ हाथ का होजाता है। इस मान के अनुसार एक ६ हाथ लम्बी [अर्थात् १४४ अङ्गुल लम्बी] रज्जु लीजिए। इस में इसी के छठे भाग जितना [२४ अङ्गुल लम्बा] एक रस्सी का टुकडा और जोड दीजिए। इसप्रकार यह रस्सी कुल ७ [सात] हाथ लम्बी [अर्थात् १६८ अङ्गुल लम्बी] होजायगी। इसी रज्जु से आपको आगे का मान सम्पादन करना है।

इस सात हाथ लम्बी रज्जु के दोनो अन्तिम प्रान्तो का [छोरो का] पाश [फासा] बना लीजिए। रज्जु के ठीक केन्द्र में पहिले एक चिह्न [निशान] कर दीजिए। इसप्रकार मध्य में चिह्न कर शेष बचे हुए रज्जु के दोनो पार्श्वभागो में तृतीयांश-तृतीयांश भाग में एक एक चिह्न और बना दीजिए। चिह्न बना कर पूर्वोक्त दोनो पाशो में से एक पाश तो गार्हपत्यकेन्द्र में गडे हुए शङ्कु के साथ बाध दीजिए और एक पाश आहवनीयकेन्द्र में गडे हुए शङ्कु के साथ बाध दीजिए।

अब आगे चलिए—पूरी रज्जु के केन्द्र में एक चिह्न है। उसके पूर्व-पश्चिमभाग में क्रमशः तृतीयांश पर प्रायः २८, २८ अङ्गुल के अन्तर पर दो दो चिह्न और हैं। पूरी रज्जु का परिमाण हमने सात हाथ [१६८ अङ्गुल] बतलाया है और इसमें मध्य तृतीयभाग रूप से चिह्नों का उल्लेख किया है। इस अनुपात से ८४ वां अङ्गुल मध्यस्थान पडता है। इससे ऊपर भी प्रायः ८४ अङ्गुल रहते हैं नीचे भी ८४ अङ्गुल रहते हैं। इनके तीन तीन भाग करने से २८-२८ की दो दो बिन्दु गार्हपत्य की ओर होती है एवं ये ही दो बिन्दु आहवनीय की ओर होती है। तीसरी बिन्दु का स्थान दोनों ओर के प्रान्तभाग घेर लेते हैं।



मध्यबिन्दु के पश्चिमभागस्थ चिह्न को लक्ष्य बनाइए। गाहपत्यकेन्द्र मे बद्ध रज्जु को निकाल कर उस चिह्न के ठीक सामने जाकर रज्जु को रख दीजिए। वहा एक चिह्न कर दीजिए। उस स्थान से ६॥ अङ्गुल के प्रदेश पर उत्तर की ओर छोड कर एक शङ्कु गाड दीजिए। शङ्कुस्थान को केन्द्र मानते हुए एक यवपरिमाण से अधिक १६ अङ्गुलयुत रज्जु से वृत्त बना डालिए। इस वृत्त का व्यासार्द्ध प्राय ६॥ अङ्गुल का होगा। इस वृत्त म केन्द्र से स्पर्श करती हुई एक सीधी रेखा पूर्वापर बना दीजिए। ऐसा करने से वृत्त के दो विभाग होजायगे। इन दोनो में से उत्तरभाग को नास्तिरूप में परिणत कर दीजिए। शेष बचा हुआ अर्द्धचन्द्राकार यही दक्षिणार्द्ध [दक्षिण की ओर का आधा भाग] दक्षिणाग्निकुण्ड बन जाता है। इसी में **अपराग्नि** प्रतिष्ठित रहता है। वदि का यही दक्षिणप्रदेश **वितृतीय प्रदश** कहलाता है।

यह तो ेड म यान्दु क पश्चिमभाग थ वि ु की कथा। अब चलिए पूर्वबिन्दु की ओर। रज्जु को उठा ए पूर्वबिन्दु के सम्मुख उत्तर की ओर चिह्न कर दीजिए। इसी वितृतीय प्रदेश में उत्कर बनाया जाता है। ेसी अभिप्राय से— वितृतीय उत्कर करोति यह कहा गया है। इसक अनन्तर आहवनीयकुण्ड के मध्य में प्रतिष्ठित शङ्कु से पश्चिम की ओर तीन अरनि (७२ अङ्गुल) स्थान छोड़कर एक शङ्कु गाड़ दीजिए। उसी आहवनीय म यशङ्कु से दक्षिण ओर उत्तर क्रमश १॥ (डढ) अरनि (३६ अङ्गुल) के प्रदेश पर एक एक शङ्कु और गाड़ दीजिए। ेसी मान से वदि विषमचतुरस्र बन जाती है।

उ करकरणानन्तर– देवस्यत्वेति स्फ्यमादाय सतृणम्''

[का श्रौ० २।६।५] के अनुसार–

देवस्य त्वा सवितु प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्या पूष्णो हस्ताभ्याम् आददेऽध्वरकृत देवेभ्य [१।२४]

सविता देवता के प्रसव में (अनुज्ञा में) अश्विनीकुमारों के बाहू से एव पूषादेवता के हाथो से देवताओं के लिए यज्ञकर्म्म सम्पन्न करने के कारण अध्वरकृत नाम से प्रसिद्ध सतृण स्फ्य को उठाता हू अनन्तर यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु दक्षिण हाथ से स्फ्य को उठाता है।

''सतृण स्फ्य कृत्वा दक्षिणानालभ्य जपति इन्द्रस्य बाहु रिति''

[का श्रौ २।६।५] के अनुसार—

'इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण सहस्रभृष्टि शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वध' [१।२४]

हे स्फ्य आप इन्द्र के दाहिने हाथ ह। सहस्रों शत्रुओं को नाश करने वाली आपकी कोर हैं अतएव सहस्रभृष्टि नाम से प्रसिद्ध ह। आप (अपनी दिव्य आभा से) चारों ओर से प्रदीप्त होरहे हैं। आप वायु (वायु के समान तत्क्षण शत्रु के शरीर में प्रविष्ट होने वाले) हैं। आपका तेज अत्यन्त सूक्ष्म है। अर्थात् आप पैनी धार वाले ह। ऐसे आप शत्रुओं के नाशक हैं। अध्वर्यु तृणयुक्त दक्षिण हस्तस्थ स्फ्य को वाम हाथ में रखकर दक्षिण हाथ से स्पर्श करता ेआ उपर्युक्त मन्त्र बोलता है। यहाँ प्रसङ्गप्राप्त इतना और समझ लेना चाहिए कि पितृकर्म्म म मन्त्रोपात्त अध्वरकृत देवेभ्य के स्थान में देव पितृभ्य यह ऊह कर लेना चाहिए। अत त सम्बन्धी स्फ्यादान मन्त्रजपादि उस क म में नहीं होते। साथ ही स्तम्बयजुहरण का भी पिण्डपितृयज्ञ में अभाव है। आगे जाकर इस स्फ्य से भूमि पर प्रहार होने वाला है। ेस प्रहरणकर्म्म से आर म कर पुरीषनिवपनकर्म्म पर्यन्त सम्पूर्ण क म स्तम्बयजुहरण नाम से प्रसिद्ध है। ऐसी अव था म—

नोपस्पृशेत् पृथिव्यात्माना तेन स्तम्बयजुर्हरिष्यन्

[का० श्रौ २।६।७] के अनुसार—

आगे जाकर स्तम्बयजुहरण करता हुआ अ वय्यु तम्बयजुहरण–पर्यन्त उस वज्ररूप स्फ्य से न तो कभी अपने शरीर से एव पृथिवी से स्पर्श न करे। अब क्रमप्राप्त स्त बयजुहरण प्रकार बतलाते हैं—

वेद्या तृण निदधात्युदक पृथिव्यै वर्म्मासी' ति

[का श्रौ २।६।८) के अनुसार—

प्रथि य वर्म्मासि (आप पृथिवी के लिए वर्म्म हैं) यह निग * मन्त्र बोलता हुआ वदि पर उ गग्र बिछाता है। अभी वदि बनी नहीं है। अपितु— तानुर्यात्ताच्छ्य्यम् इस याय के अनुसार वदि के लिए नियत स्थान भी प्रकृत म वदि शब्द से व्यवहृत कर दिया गया है।

इमस्तरणान तर- पृथिवि देवयजनि' इति तृणऽन्तर्हित प्रहरति'

[का श्रौ २।६।६] के अनुसार—

'पृथिवि देवयजनि—ओषध्यास्ते मूल मा हिंसिषम्' [१।२५)

(देवताओं के यजन करने योग्य (जहा देवता यज्ञ करते हैं) अतएव देवयजनी नाम से प्रसिद्ध हे पृथिवी! हम (इस प्रहार से) आपके तृणरूप ओषधियो के मूल को नष्ट नहीं करते हैं) यह मन्त्र बोलता हुआ तृण से आच्छादित वदिरूप भूप्र श प वज्ररूप स्फ्य स प्रहार करता है। यह प्रहार तृण पर ही होता है। यही प्रथम प्रहार है। इसके अनन्तर- व्रज गच्छति पुरीषमादत्ते (का श्रौ २।६।१) के अनुसार **व्रज गच्छ गोष्ठानम** (।२५) (हे असुर! तुम गोस्थानरूप व्रज मे चले जाओ) यह मन्त्र बोलता हुआ स्फ्यरूप वज्रद्वार से जो मिट्टी उठती है उसे उठा लेता है। इसके अनन्तर— **वर्षतु ते इति वेदिं प्रेक्षते** (का श्रौ ।६।) के अनुसार **वर्षतु ते द्यौ** (१।२५) (तुम्हारे लिए द्युलोक वर्षा करें) यह मन्त्र बोलता हुआ वदि को देखता है। इसके अन तर— **वधाने त्युत्कर करोति** (का श्रौ २।६।१२) के अनुसार—

वधान देव सवित परमस्या पृथि या शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यच वय द्विष्म स्तमतो मा मौक् [१।२५]

हे सविता देवता! इस पृथिवी का जो अतिम घोर अन्धकार स्थान है उसमें (इस प्रक्षिप्त असुर को प्रेरित करते हुए इसे) सैकडो पाशो से बाध दो। जो हम से द्वेष करता है अथवा जिससे हम द्वेष करते हैं (इस बन्धनस्थान से उस शत्रु को कभी मत छोडो यह मन्त्र बोलता हुआ स्फ्य से उत्खात मिट्टी को उत्कर में फेंक देता है।

भूमि प चार बार स्फ्य से प्रहार किया जाता है। इनमें तीन प्रहार तो समन्त्रक होते हैं एव एक प्रहार (चौथा प्रहार) तूष्णीं ही होता है। इनमे से प्रथम प्रहार का स्वरूप बतलाया है। पृथिवी देव

* मन्त्रसंहिता में जो मन्त्र नहीं है–किन्तु सूत्रकार ने पद्धति में उसे मन्त्र मान रक्खा है वही निगद मन्त्र कहलाता है।

यननि इत्यादि मन्त्र के चार विभाग किए जाते हैं। प्रथम भाग से प्रहार होता है दूसरे से पुरीषादान होता है तीसरे से वेदिप्रेक्षण होता है एव चौथे मन्त्रभाग से उत्कर मे पुरीषा नग होता है। इस पक्ष का विकल्प बतलाते हुए सूत्रकार कहते है—

प्रहरणशेषो वा विशेषात् [का श्रौ २।६।१३]

सूत्रकार का तात्पर्य यही है कि प्रथिवि देवयजनि इत्यादि मन्त्र से अतिरिक्त जो मन्त्र के तीन भाग है व इसी मन्त्र के शेष है। अर्थात् व्रज गच्छ गोष्ठानम इत्यादि मन्त्र प्रथिवि देवयजनि इत्यादि प्रहरण-मन्त्र का ही अङ्ग है। कारण स्वय सहिता में एव शतपथब्राह्मण में अविशेष (सामान्य) रूप से प्रहरण के सम्बन्ध में ही पूरा मन्त्र प्रयुक्त हुआ हैं। प्रथिवि देवयजनि से आरम्भ कर तमतो ना मोक् यहा तक का सम्पूर्ण मन्त्र केवल प्रहारकर्म्म में ही विनियुक्त है। ऐसी अवस्था में—पुरीषग्रहण वेदिप्रेक्षण पुरीष का उत्कर मे उत्सग ये तीनो कर्म्म तूष्णी ही करने चाहिए।

यद्यपि इस वाजसनेय-शाखा की यजुर्वेद सहिता में एव तत्शाखा के प्रस्तुत शतपथब्राह्मण में पूर्वकथनानुसार पूरा मन्त्र केवल प्रहरणकर्म्म में ही विनियुक्त हुआ है। तथापि तैत्तिरियादि शाखान्तर में (तै ब्रा ३।२।६) विशेष ही विधान किया गया है। वहा सम्पूर्ण मन्त्र को प्रहरणकर्म्म में विनियुक्त न मान कर मन्त्र के चार विभाग कर समन्त्रक ही चारो कर्म्मों का विधान है। साथ ही सामान्यविधिर स्पष्ट सह्रियते विशेषत (तन्त्रवा ३।४।४७) के अनुसार विशेष विधि प्रधान बन जाती है। अत मन्त्र के चार विभाग कर चारो कर्म्म समन्त्रक ही करना न्यायप्राप्त है।

प्रथम प्रहरणानन्तर अपाररु मिति द्वितीय प्रहरणादि (का श्रौ २।६।१४) के अनुसार अपाररु प्रथिव्यै देवयजनाद् वध्यासम् (१।२६) (प्रथिवी के इस वेदिरूप देवयजनस्थान से अररु नाम क असुर को मृत्युसम बनाता हूँ) यह मन्त्र बोलता हुआ द्वितीय प्रहार करता है। अनन्तर मन्त्रशेष के पूर्वानुसार तीन विभाग कर क्रमश पुरीषादान वेदिप्रेक्षण पुरीष का उत्कर म उत्सग ये तीनों कर्म्म करता है। इसप्रकार यथापूर्व द्वितीय प्रहरणादि कर्म्मों के अनन्तर— अभिन्यस्य यग्नीदुत्कर मररोदिव मिति (का श्रौ २।६।१५) के अनुसार अररो दिव मा पप्त (हे अररो असुर! द्युलोक की ओर मत जा) यह मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र नामका ऋत्विक दोनो हाथों से उत्कर का (तद्गत प्रक्षिप्त पुरीष का भी) स्पश करता है।

द्वितीय प्रहरणानन्तर— द्रप्सस्ते इति तृतीयम् (का श्रौ २।६।१६) के अनुसार द्रप्सस्ते मा स्कन्दन् [हे वेदिदेवते! आपका जो उपजीव्य रस है वह च्युत न हो] यह मन्त्र बोलता हुआ अवस्थ्यु तीसरा प्रहार करता है। मन्त्र के— वषतु ते द्यो इत्यादि तीना भागो से क्रमश पुरीषादान वेदिप्रेक्षण पुरीषोत्सग—तीनो कर्म्म करता है। तृतीय प्रहरण के अनन्तर— तूष्णीं चतुर्थ सतृणम् [का श्रौ २।६।१७] के अनुसार चौथा प्रहार पुरीषादान वेदिप्रेक्षण पुरीषोत्सग चारो कर्म्म तूष्णी ही करता है। पूर्व के तीनों प्रहारो मे स्फ्य के साथ युक्त तृण को पूरीष के साथ उत्कर में नही डाला जाता। परन्तु इस चौथे प्रहार के अनन्तर पुरीष के साथ साथ ही तृण भी उत्कर में डाल दिया जाता है। इस

प्रकार ेस चोथे प्रहरणकम्म म तूष्णी प्रहार करना और पुरीष का सतृ उ मग करना ये दो विशेष धम्म हैं।

प्रकृत ब्राह्मण म केवल इन चारा प्कारो की ही इतिहास-पूवक इतिकत्त यता [पद्धति] बतलाइ गइ है। कातीय-श्रौत-सूत्र सिद्धान्त के अनुसार पद्धति का दिग् शन करा दिया गया। अब तत्वज्ञान की ओर ही विज्ञानप्रेमियो का यान आकर्षित किया जारहा है।

इति-सूत्रानुगतपद्धतिसग्रह

— —*——

[भाष्य]–वदिक साहि य के निगूढतम रहस्यो का आशिकरूप से भ परिचय प्रा त करने वाले विद्वान् महानुभाव यह मान लेने में कोइ आपत्ति नही करग कि ब्राह्मणग्रन्थोक्त तत्तत् प्रकरणविशेषो के यथावत् समन्वय के लिए तत्तत सामान्य विज्ञान सिद्धान्तो का आश्रय लेना परम आवश्यक है। स्वय मूलग्र थ भी विषय समन्वय के लिए शैली–भे से थान स्थान पर उन मौलिक त वा पर प्रकाश डाला है। प्रकृत विज्ञानभाष्य में भी विषय समन्वय के लिए हम उसी पुनरुक्तिमूला आषशैली का अनुसरण करना पड रहा है।

हविर्ब्राह्मण उपरत हुआ अब वेदिब्राह्मण आर भ होता है। वदिनिम्माण का मूलाधार प्राकृतिक नित्य यज्ञ है। प्रकृति में [आधि ैविक–सौरमण्डल म] निरन्तर अग्नीषोमा मक यज्ञ होरहा है। इस अग्नीषोमा मक यज्ञ की हवि ज्योतिष्टोम भेद से दो अवस्थाए हैं। हविर्यज्ञ का प्रतिष्ठारूप भूपिण्ड स सम्ब ध है व योतिष्टोम का आदति नाम से प्रसिद्ध महिमारूपा ३ अहगणा मका स्ताम्या पृथिवी स स बध है। भूपिण्ड पर रहने ो ओषधि वनस्पतिया हविरूप है। भूपिण्ड के कन्द्र से निकलने वाले सौरभागावच्छिन्न आ वनीय म यह सोम [हवि सोम–अन्नसोम] निरन्तर आहुत ोता रहता है। पार्थिव अग्नि के हवि सोमा मक समन्वयरूप हविर्यज्ञ स ही भूपिण्ड पर रहने वाली थावर जङ्गम प्रजा का निर्म्माण होता है। इसी प्राकृतिक भूपिण्ड–सम्बन्धी नित्य हविर्यज्ञ की प्रतिकृति से हमारे इस वध हविर्यज्ञ का ऋत्विजों के द्वारा वितान किया जाता है। इस हवि्यज्ञ से यज्ञकर्त्ता यजमान का आ मा भूपिण्ड की चर अचर विभूतियों का भोक्ता बन जाता है।

यावती वेदिस्तावती पृथिवी ज्य वै वेदि इत्यादि श्रौत सिद्धा तो के अनुसार प्राकृतिक नित्य हविर्यज्ञ की वदि सम्पूण भूपिण्ड है। इस भूपिण्ड का सम्पूण ही भाग वेदि नही है। कारण– देवाश्च ह वा असुराश्च उभये प्राजाप या पस्पृधिरे के अनुसार प्रजापति से उत्पन्न देवता औ असुर निरन्तर परस्पर स्पर्द्धा करते रहते ह। भूपिण्ड में दवता का भी भाग है एव असुर का भी भाग है। भूपिण्ड के केन्द्र में रहने वाला भूपिण्ड का प्रभव प्रतिष्ठारूप प्राणा मक अग्नित व प्रजापति है। इस पिण्डस्थ दूसरे शब्दों में गभस्थ आग्नेय प्रजापति को अज' कहा जाता है। तात्पय्य यही है कि भूपिण्डकेन्द्र में यह प्राजापत्याग्नि २४ अ श के व्यासाध स [४८ अ श के परिसर से] अपनी एक सस्था बनाता है। इसी स्थिर प्र ापतिरूप अग्नि–कीलक के आधार पर भूपिण्ड चारो ओर घमता हुआ अहोरात्र का कारण बनता है।

यह प्रजापति धुर स्थानीय है अतएव इसे- अन्न कहा जाता है। इस स्वाक्षपरिभ्रमण स होने वाला दनात्नगात के प्रभाव से भी भूपिण्ड देवता असुर-भे से दो भागों में परिणत होजाता है। चित्र देवानामुदगात के अनुसार सोरमण्ड न देवमय है। यह देवतामय सोरप्राण भूपिण्ड से सश्लि होता है। भूपिण्ड का जो भाग सूर्य की ओर रहता है व इस सोरप्राण के सम्बध से देवतामय बन जाता है। एव भूपिण्ड का वह भाग जो सोरप्राण से सश्लिष्ट न होने से तमामय रहता है असुरमय है। असुरभाग में अवस्थित पार्थिव अग्नि को सहरक्षा कहा जाता है। यह सहरक्षा पार्थिव अग्नि असुरों का दूत माना जाता है। सोरभागावच्छिन्न अह प्रकाशयुत भूभागस्थ अग्नि अग्नि कहलाता । सी दिव्यदूत के लिए अग्निं दूत वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् यह कहा जाता है। भूपिण्ड स्वस्वरूप स सवथा कृष्ण है। काला है। इसम स्वस्वरूप स भूतज्योति का अभाव है। भूपिण्ड को आवृत करने वाला यह तमोमय प्राण ही सव वृत्त्वा शिष्ये इस व्युत्पत्ति स वृत्र नाम का असुर है। जबतक सौर ज्योतिम्मय प्राण का भूपिण्ड के साथ सम्बध नहीं होता तबतक भूपिण्ड पर एकमात्र तमोमय वृत्रप्रधान असुरो का ही साम्राज्य रहता है। असुरभाव यज्ञ का विरोधी है। कारण स्पष्ट है। अग्नि मे सोमाहुति का होना ही यज्ञ है। साम ाद्य है। अग्नि दाहक है। दाहक अग्नि मे आहुत होकर दाह्य सोम जल पडता है। प्रकाश हो प्रकाश प्रवर्त्तक अग्नि सोमाय यज्ञ के साथ तमोमूलक असुरो का विरोध करना स्वाभाविक हो- जाता है।

देव-देवताओ का विकासभूमि सूर्य है एव असुरो का साम्राज्य पानी में रहता है। सूर्य में रहने वाला चिच्छक्तिमय रूपाधिष्ठाता अमृत प्राण इन्द्र है। पारमेष्ठ्य वारुणमण्डल में रहने वाला आवरक तमोमय प्रकाश का विरोधी प्राण भी वृत्रासुर है। सौर इन्द्रप्राण बुद्धिवर्द्धक है एव पारमेष्ठ्य जाम्य प्राण दूसरे शब्दों में आप्यप्राण बलवर्द्धक है। बल की कुवदरूपावस्था (जाग्रदावस्था) का नाम हो प्राण है। इस शरीरबलरूप प्राण का प्रदाता यही आप्यप्राण है। अतएव असु [प्राण -बल] राति ददाति] इस व्युत्पत्ति स इसे असुर कहा जाता है। बात यथार्थ है। बिना पानी के शरीर में बल का सञ्चार कथमपि नहीं होसक्ता। इसलिए बलवान् को पानीदार कहा जाता है। जिस मनुष्य के शरीर का बल नष्ट होजाता है उसके लिए उसका तो पानी मर गया पानी उतर गया यह कहा जाता है। यदि आप अपने शरीर में शिथिलता का अनुभव करते है तो पानी से स्नान कर डालिए। उसी समय स्फूर्ति आजायगी शरीर निर्भार [हलका] होजायगा शारीराग्नि जाग्रत होपडगा। मुखालस्य [चेहरी की सुस्ती] तो ठंढ पानी से मुख का मार्जन कर लीजिए आलस्य पलायित होजायगा। अपतत्व की इसी प्राणप्रदा- शक्ति को लक्ष्य में रखकर आपोमय प्राण [छा उ] यह कहा जाता है।

यह आप्यप्राण परमष्ठीमण्डल में प्रतिष्ठित रहता है। सौर दिव्यप्राण की अपेक्षा यह त्रिगुणित है। अतएव इसे ज्यायान् कहा जाता है। इधर सौर देव-देवता सख्या में ३३ ही हैं। बुद्धितत्व का विकास करना इसी सौरतत्व का काम है। इसीलिए सोर सविताप्राणमय दिव्यतेज के लिए धियो यो नः प्रचोदयात् यह कहा जाता है। द्युतिभाव (प्रकाशभाव) के कारण ही इस सौर ज्योतिम्मय तत्व को देवता कहा जाता है। हमारे आध्यात्मिक जगत् में देवता और असुर दोनो का आगमन होता है। आसुरभाव से हमारी शरीरसस्था की रक्षा होती है एव दिव्यभाव स विज्ञानतत्त्व सुरक्षित रहता है। विज्ञान और बल दोनों की समष्टि अहम् है।

यदि र्भाग्य से म शरीरबल के अनुयायी बन जाते ह एव विज्ञानबल का तिरस्कार करने लगते तो माग गतिम्मय आत्मा म लन होना । है । म निए विशेष क लिए विशेषत ब्राह्मण के लिए त यह आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि य शारीरबल ी अपेक्षा विज्ञान का ह उपासक बने। अहोरात्र शरीर की सौन्दर्य वृद्धि म ी निमग्न ना अ निश शरीर का ी य न र । ा यप्रति नवीन नवीन वेशभूषा म मल । रहना य सब आसुरधर्म ह । जिम मय इन्द्र और विरोचन प्रजापति के समीप आत्मस्वरूप ा जिज्ञासा लेकर समित्पा ी हो जाते उस समय देवेन्द्र तो आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझ लेत ह । कि तु श ीरसस्था का आराधना करने वाले य विरोचन असुर मयशरीर को ही आत्मा मान कर इसी की सवा शुश्रूषा म निम न र त हुए अमृतभाव से सर्वात्मना पराङ्मुख (त्र य न विदर) होजाते । (देखिए छान्दोग्योपनिषत्) ।

आज भारतवर्ष त ग्रात्रध भावो का ही अनुगमन करता जार । ह । खाना पीना मौज उडाना इसी सिद्धान्त के सबसर्वा मानने वाले बलप्रधान पाश्चात्यदर्शक मा आमक र ग स ग्रस्त पाश्चात्यशिक्षा से दीक्षित हमारे भारतीय नवयुवकों का आज इसी प्रणाली स सर्वनाश ो । है । आज व सचमुच मौज उडा रहे ह । मौज आनन्द है । भारतीय आदर्श आन को ाता न ी अपितु सग्रह करता । य म ानुभाव अपने स ञ्चित आनन्द को आज उडा रह ह । हमारा शरीर अणुमात्र भी कष्ट न पाव अ ध बधिर कु न वामन पण्ढ मूक आदि भावो से युक्त सवथा असमर्थ मनुष्य जसे खाने-पीने मान चलन आदि अपनी शरीर-क्रियाओ के लिए परमुखापेक्षी बना र ता ह वही शा आज स दश की है । इसप्रकार केवल कल्पित तत्त्व की आराधना करने वाला आज का भारतीय समाज द्रुतवेग से विनाश के गर्त म जारहा है । आज नका अपन आदर्श पर सुरक्षित रखने वाला का प्रतीत नही होरहा ।

विद्याबल को ही प्रधानता देन वाले उन आप्त महर्षियो के शास्त्रीय वचनो पर आज इनको अणुमात्र भी विश्वास नही है । यदि सौभाग्य से कहिए अथवा दुर्भाग्य स को व्यक्ति ह सावधान करने आता है तो बलसत्ता के गव से म ा व बन हुए प्रदर्शनमात्र के लिए धर्मरक्षक भक्तराज-समाज सेवक बने हुए कुछ एक रँगराङ्गित शृगाल प्रच्छन्नावरण में (परद की आट म) उस व्यक्ति को दांत कर म ी अपने आपको कृतकृत्य समझते है । इसका कारण है केवल बल की आराधना । बल और विज्ञान का पारस्परिक शक्तियो की तुलना करते हुए एक स्थान पर उपनिषत् न कहा है कि बल वाव विज्ञानाद्भूय । ससारिक दृष्टि स बल विज्ञान से अग्रगामी बन जाता है । यदि बल और विज्ञान (सत्ताबल और बुद्धिबल) दोनो प्रतिस्पर्द्धा मे खडे होते हैं ता बल का विजय होजाता है एव विज्ञान पराभूत होजाता है । सचमुच आरम्भ म ऐसा ही होता है । सत्यनिष्ठा पर प्रतिष्ठित विज्ञानतत्त्व देवप्राणमय है । उधर अनृतभाव पर आरुढ सत्ताबल (धनबल शरीरबल आदि भौतिक बल) आसुर प्राणमय है ।

देवता सख्या में भी न्यून (३) है एव आवरणमूला (तमोमूला) सृष्टि म योत मय ये विज्ञानप्रधान देवता प्रकृति से भी अभिभूत रहत ह । उधर असुर सख्या म भी अधिक (६६) हैं एव सृष्टि में भी

ही का प्रधानता रहती है। अतएव देवासुररूप विज्ञान एवं बल की प्रतिद्वन्द्विता में संसारक दृष्टि से कुछ काल के लिए सत्यविज्ञान ही अभिभूत होजाता है। असुरबुद्धि मानवसमाज इस दिव्यतत्व को पराभूत हुआ समझ कर गर्व से मदमत्त बन जाता है। परन्तु आगे क्या होता है? सुनिए। आगे जाकर परिणाम में वह असुरसमाज ऐसा नष्ट होता है कि उसे पुनः भविष्य में घोर अन्धकार के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं स्थान नहीं मिलता जैसाकि आगे के मन्त्रभाग से स्पष्ट होने वाला है। दिव्यकार्य्यानुयायी व्यक्ति का सर्वप्रथम विज्ञानशून्य धन के उपासकों के द्वारा तिरस्कार होता है। कारण—आगमशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार लक्ष्मी का वाहन उल्लू माना जाता है। यह पक्षी रात्रि का राजा है। अन्धकार का अधिपति है। अह—काल सौर है रात्रि वारुणी है आपोमयी है। रात्रि का अधिष्ठाता यही आपोमय रोदसी समुद्र अर्णव नाम से प्रसिद्ध है। आप्यप्राणमय होने से यह समुद्र असुरों की आवासभूमि है। विष्णुपत्नी लक्ष्मी का विनिगम इसी असुरभूमि से हुआ है। उल्लू वाहन असुरभूमि जन्मस्थान फिर क्या कमी रही। जहा श्रीविहीना (शारदाविहीना) केवल लक्ष्मी का विकास रहता है वहाँ अत्याचार—अन्याय—छल—धोका—अभिमान—आदि के अतिरिक्त और क्या होसकता है?। भारतीय महर्षि इस आववक को समझते थे। उन्हें विदित था कि लक्ष्मी का ताण्डवनृत्य मनुष्य को पशु बना डालता है। इस आपत्ति से बचने के लिए उन कारुणिक ऋषियोंने प्रत्येक सद्गृहस्थ के साथ सरस्वती के उपासक एक एक कुलपुरोहित का सम्बन्ध रखना आवश्यक बतलाया है।

जब जब भी ये मदान्ध धनिक लक्ष्मी के प्रभाव से अनाचार करने के लिए उद्यत होते हैं तब तब यही निस्वार्थ पुरोहित विद्याबल से उनका नियन्त्रण करता है। कहना न होगा कि दुर्भाग्य से आज यह प्रणाली सर्वथा दूषित होगई है। संसार में यदि आज कोई मूर्खजाति है तो यह कुल पुरोहितजाति ही। भंग चरस गांजा पीना लक्ष्मी के लाडलों की दया पर जीवन बिताना धनिकों की हां में हां मिलाना हाथ जोड उन मदान्धों की स्तुति करते रहना ही इन पुरोहितों का एकमात्र प्रधान कर्त्तव्य रह गया है। जहां कहीं इन लक्ष्मीवरों पर सत्य की फटकार पडती है वहीं ये चापलूस आशाव्रत पुरोहित महानुभाव काप उठते हैं। इन्हें डर होता है कि कहीं हमारी आजीविका न छिन जाय। इस भय से बचने के लिए ये नरपिशाच अपनी राक्षसी लीला का ताण्डव नृत्य आरम्भ कर देते हैं। नाममात्र को ये अपने इस जघन्य कार्य में सफल भी होते हैं। परन्तु वह सत्य आक्रमण आगे जाकर इनको सर्वथा ही अभिभूत कर देता है।

इसलिए विज्ञानतन्त्र के उपासकों से हम यह निवेदन कर देना आवश्यक समझते हैं कि इस विश्व प्राङ्गण में दैवी एवं आसुरी दोनों ही विभूतियां नृत्य कर रही है। दैवीविभूति में आरम्भ में कष्ट है किन्तु परिणाम में आनन्द है। आसुरी विभूति के अनुगमन से आरम्भ में सुखाभास है किन्तु परिणाम में सर्वनाश है। यद्यपि यह निश्चय है कि दैवीसम्पत् के उपासकों को पद पद पर अवमानित होना पडता है स्वार्थियों के कुचक्र का लक्ष्य बनना पडता है। परन्तु कभी इन आपत्तियों से डर कर अपने सत्यसङ्कल्प से आपको विमुख नहीं होना चाहिए। वीरतापूर्वक सब विघ्न बाधाओं का सामना करते हुए अपने सांस्कृतिक—लक्ष्य में अनन्यनिष्ठा से आरूढ रहना चाहिए। यदि आपका सङ्कल्प सत्य है यदि आप अन्तरात्मा से दिव्य विभूति का इस विश्व में विकास चाहते हैं तो किसी आपत्ति से न डरिए। आपके सत्यसङ्कल्प के सम्मुख बडे

स बडा सत्ताबल भी छिन्न भिन्न होजायगा। जो वाधल लुप श्रजजन आपकी शक्ति का विरोध करते ह व एक । न आपके चरणों में मस्तक झुका देंगे। इसप्रकार य आपने इन्ताएूवक कालपुरुप का प्रतीक्षा करते हुए अपने स यमङ्कप का अनुगमन किया तो नि सन्देह आप इस अमरत्व क आ दान के अधिकारी बन जायँगे जिसके नामस्मरण का भी उन असु त्रद्धियो को अधिकार नहा । देवासुरसग्राम नवीन नहा । सृष्टि के आर म स आज पर्य त का इतिहास देख जा ए। सवत्र आपको देवासुरसग्राम क अन्भन दृश्य उपल व होंग। माय ह आप यह भी देग कि आर भ म असुर जीतत हुए दिखाई देते ह परन्तु परिणाम मे असुर नष्ट ही होगए है। प्रकृत ब्राह्मणश्रुति आज एक एस ही प्राकृतिक नि य दवासुरसग्राम का स्वरूप आपक सम्मुख रख रही है।

पूर्व–प्रतिपादित देवासुरस्वरूप परिचय स विज्ञ पाठकों को यह भलीभाति विदित होगया होगा कि देवता सौर्य त मय इन्द्रप्राण है। एव वारुण आप्य तमोमय प्राण असुर है। स्वय सूर्यमण्डल म कभी देवासुर सग्राम नही होता सौरमण्डल याज्ञिक परिभाषा के अनुसार नवाहयज्ञ क लाता है। स्ताम्या प्रथिवी क व अहगण से आरम्भ कर सूर्याबिम्ब के उपरिभागस्थ अविनाश्यमह् – अपुनर्मार – अशाकमहिम कामप्रलोक – महाव्रत सौम्यविद्युत् – अर्जुन आदि विविध नामो से प्रसिद्ध २१ व अहगण पर्य त होने वाला अग्नीषोमात्मक यज्ञ ही नवाहयज्ञ कहलाया है। इस यज्ञ म ९– –१–३ १३ ३३ ३– ये नो अहगण ह। अतएव इसे नवाहयज्ञ कहना न्यायप्राप्त होता है। इस नवाहयज्ञ क केन्द्र में २ व अहगण पर सूर्यबिम्ब अपनी सहस्र किरणों से तप रहा है। इस नवा यज्ञमण्डल म कभी अन्धकार का प्रवेश नही होता। अतएव इस स्थान को पुराणपरिभाषानुसा श्वेतद्वीप कहा जाता है। सूर्य स यत व है। साथ ही सौर–नवाहयज्ञ के चारो ओर अर्णवसमुद्र का वेष्टन रहता ह। अतएव स श्वेतद्वीपनिवासी नवाहयज्ञरूप विष्णु को सत्यनारायण कहा जाता । यहा केवल सत्य का ही साम्रा य है। तम याभावो पेत असुरो का प्रवेश यहा निषिद्ध है। इसप्रकार इस नवाहयज्ञ की सीमा म रहने वाले सौर इन्द्र के साथ दूसरे शब्दों म सौर देवताओं के साथ कभी असुरसङ्ग्राम स भव ही नही है इन्द्र के इसी विजयभाव का लक्ष्य म रखकर मन्त्रश्रुति कहती है—

न त्व युयुत्से कतमच्चनाहनतेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति ।
मायत्सा त यानि युद्धान्याहुनाद्य शत्रु न नु पुरा युयुत्से ॥

—शत ११।१।६।१२।

हे इन्द्र आप किसी से युद्ध नहीं करते। आप से कोई युद्ध नहीं कर सकता। हे मघवन् ! ससार में आपका कोई शत्रु नहीं है। आख्यानवेत्ता जो आपके साथ असुरो का सग्राम बतलाते हैं वह कल्पनामात्र है न पहिले आपका कोई शत्रु था न आज है । इसका तात्पर्य यही है कि सौर इन्द्र मघवा कहलाता है। इस दिव्य इन्द्र के साथ सचमुच असुरो का कोइ सम्बन्ध नही होता। सम्बन्ध होता है केवल पार्थिव वासव इन्द्र एव आतारिक्ष्य चन्द्रबिम्ब–प्रतिबिम्बित मरुत्त्वान् इन्द्र के साथ। प्रकृत यज्ञ हविर्यज्ञ है। हविर्यज्ञ का सम्बन्ध भूपिण्ड स है। यहा का इन्द्र वासव है। ऐसी अवस्था म यह मान लेना पडता है कि प्रकृत देवासुर–आख्यान का भूपिण्ड–स ब धी देवासुरसङ्ग्राम के साथ ही सम्बन्ध

इस आख्यान में प्रधानरूप से इन्द्र वृत्र स्फ्य यूप रथ शर इन पदार्थों का स्वरूप समझ जाना भी पर्याप्त होगा।

भूपिण्ड क्रान्तिवृत्त के चारों ओर घूमता रहता है यह प्रकरण के आरम्भ में ही बतलाया जाचुका है। अपने अक्ष पर घूमता हुआ नदिनगति-समपक अहोरात्र-स्वरूप-सम्पादक स्वाक्षपरिभ्रमण से इस भूपिण्ड का आधा भाग सूर्य के सम्मुख सौरप्रकाश-(मण्डल) से युक्त रहता है एवं आधा भाग सूर्यविरुद्ध दिक् में तमोमय आसुरमण्डल में प्रतिष्ठित रहता है। भूपिण्ड का आधा भाग सौरमण्डल में भुक्त होता हुआ अह काल का स्वरूप समपक बनता है। स्वाक्षपरिभ्रमण के कारण कभी देवस्थान को असुर अपने अधिकार में कर लेते हैं तो कभी असुरस्थान पर देवता आक्रमण कर लेते हैं। इसप्रकार यह देवासुर सङ्ग्राम निरन्तर होता रहता है।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूत आकाशाद्वायु वायोरग्नि अग्नेराप अद्भ्य पृथिवी इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड का उपादान पानी है। इधर आप्यप्राण को हमने असुर बतलाया है। असुरप्रधान यह भूपिण्ड किसी समय केवल वृत्र असुर के ही अधिकार में था। तात्पर्य्य यही है कि जबतक भूपिण्ड के साथ सौर इन्द्र का सम्बन्ध नहीं होता तबतक भूपिण्ड तमोरूप वृत्रासुर के ही अधिकार में रहता है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जबतक सौरप्राण का भूपिण्ड के साथ सम्बन्ध नहीं होता तबतक यज्ञकर्म भी सम्पन्न नहीं होसकता। कारण इसका यही है कि **मानुषात्मा** में वैधयज्ञ के द्वारा **दिव्य सौरप्राण** को प्रतिष्ठित करना इसके द्वारा इसमें नवीन **दैवात्मा** उत्पन्न कर इसका मानुषात्मा के साथ ग्रन्थिबन्धन करना ही यज्ञ का चरम फल है। आहुति आहवनीय में ही दी जाती है। आहवनीय अग्नि सौर है। अत बिना इसके सम्बन्ध के यज्ञ का स्वरूप कथमपि सम्पन्न नहीं होसकता। जबतक सम्पूर्ण भूपिण्ड पर तमोमय वृत्रासुर का अधिकार है तबतक सौर आहवनीय प्रतिष्ठित नहीं होसकता। बिना यज्ञ के पार्थिव-संवत्सरानुगत अहोरात्रानुगामी मनुष्य का स्वरूप निष्पन्न नहीं होसकता। बिना सम्वत्सर के प्रजासृष्टि नहीं होसकती। प्रजोत्पत्ति का प्रधान कारण अग्नीषोमात्मक यज्ञ ही है जैसा कि यज्ञेश्वर भगवान् कहते हैं—

सह यज्ञा प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

—गी० ३।१०

इस यज्ञसमृद्धि के लिए सर्वकाम मन प्रधान वाङ्मय प्रजापति की कामना से सौर इन्द्र का भूपिण्ड पर आगमन होता है। बिना इच्छा के कोई कर्म नहीं होता यह एक माना हुआ सिद्धान्त है। सौरप्राण भूपिण्ड पर आता है। इस कर्म का प्रेरक अवश्य ही कोई है। ऐसी अवस्था में मानना पड़ता है कि किसी अलौकिक शक्ति की प्रेरणा से ही यह कर्म हुआ है। वही अलौकिक शक्ति **प्रजापति** नाम से प्रसिद्ध है। प्रजापति की प्रेरणा से उस अन्तर्यामी अन्तरात्मा की कामना से इन्द्र अपने वज्र का वृत्रासुर पर प्रहार करते हैं। स्वयं इन्द्र भूपिण्ड पर रहने वाले वृत्र के साथ सम्बद्ध नहीं होते। अपितु इन्द्र अपने वज्र का प्रयोग करते हैं। इन्द्रप्राणात्मक सूर्य्य के केन्द्र से निकल कर चारों ओर **बृहत्साम** का स्वरूप सम्पादन करती हुई सौर-रश्मियां ही वज्र हैं। दिव्यभाव के लिए जो सौर रश्मियां उपादेय हैं उपकारक हैं ग्राह्य हैं वे ही रश्मियां

भूपए इ अ धकार ा वृत्रगाण के लिए विनाशक श त्र है। शस्त्र भी कमा महाकसे अ यथ विद्यु -रूप। मीलिए न रशेनमे ना वृत्रासुर की म आपन वज्र कहा ह। वज्र आता है असुर नष्ट नो-जात ह। भूप ड के आधे भाग म प्रकाश होजाता है इसमे श । में आधे ाग म मौर ि य सावित्राग्नि प्रतिष्ठित नाजाता है। उस आ वनाग म आपविमोम आ त नोता है और था पार्थिव विया सम्पन्न हो जाता है।

या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत् स यास्कासन्ात के अनुसार बल का अधिष्ठाता है। स बल के अवा तर अनेक भे है। उनम से प्रकृत में **नान्नाबल** की ओर ही आप का यान आक र्षित किया जाता है। **प्ररणाबल** का ही नाम **नान्नाबल** ह। यह नो नाबल **प्रवत्त क-निवत्त क-स्तम्भक** भे से तीन भागो में विभक्त ह। भूपएड में सौर के त ना प्रकार के नोनाबला का उपभोग होता है। न्द्र की **विक्षेपणशक्ति** से ही भूपएड सूर्य के विरुद्ध भाग म जाता है। न्द्र यज्ञबल से पुष्ट हो है। यज्ञ से प्राप्तशक्ति इन्द्रवृषभ रश्मिरूप श्रृङ्ग से भूपिण्ड के ठोकर मारता है भूपिण्ड चल पडता है। भूपएड के इसी परिभ्रमणविज्ञान को लक्ष्य म रखकर ऋषि कहत ह—

यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयत्-यद्भूमिं व्यवर्त्तयत।
चक्राण ओपशं दिवि ॥

—ऋक्स ८।१४।५

यह न्द्र के प्रवत्त क बल की ही महिमा है। साथ ही **निवर्त्तकबल** का भी प्रयोग होता है। स निवत्त कबल मे भूपिण्ड सूर्य से विरुद्धदिक् में जाता हुआ भी अपने नियतमाग को नही छोडता। **प्रवर्त्तक-बल** धक्का र भापएन म **विरुद्धगति** उपन्न करता ह तो **निवत्त कबल** उसे अपनी ओर आकर्षित करता है। इधर से **स्तम्भकबल** भूपिण्ड को क्रान्तिवृत्त से युत नही होने देता। मप्रकार इन्द्र का यह नोदना-बल (विक्षेपणशक्ति) भूपएड पर तीन स्वरूपा से अपना प्रभुत्व प्रतिष्ठित रखता है।

यज्ञ के सम्बन्ध से यही इन्द्रबल **स्तम्भक-कषक-प्रतिष्ठा-सहार**-भेद से चार भागों में विभक्त है। वृत्रासुर पर प्रक्षिप्ता ऐन्द्री वज्रशक्ति चार भागों में विभक्त की जासकती है। बलि के लिए आगत पशुओ को यूप में बाँधा जाता है। उनका **स्तम्भन** किया जाता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि यूप इन्द्रशक्तिमय है। यूप में जो स्तम्भनशक्ति का विकास है वह इसी न्द्र का काम है। **स्फ्य मे कषणशक्ति है।** भूमि-विलेखनार्थ दोनों ओर धार वाला तीक्ष्णाग्र (आगे स नुकीला) जो काष्ठ का सीधा खडग होता है वही स्फ्य है। वदिकरणार्थ इस स्फ्य से मिट्टी को शुद्ध किया जाता है। यह कषण यापार सी न्द्र का यापार है। रथ में प्रतिष्ठित होकर महारथी क्षत्रिय शत्रु का दमन करते है। प्रतिष्ठाभाव गतिसमष्टि है। गति ही इन्द्र है। **शर** तो साक्षात् इन्द्र का स्वरूप है ही। अपनी विक्षेपणशक्ति स तुस्वरूप को उच्छिन्न कर देना तो इन्द्र का प्रथम एव मुख्य ही काम ह।

एक ही न्द्र **ब्रह्म क्षत्र** वीर्य भे से उपर्युक्त चार भागो में विभक्त होरहा है। इन्द्र क्या विभक्त होरहा है इन्द्र का वज्र (इन्द्र की शक्ति) चार भागों में विभक्त है। एक ही इन्द्रशक्ति चार भागो

में विभक्त अवश्य है परन्तु इन चारों विभागों को समान नहीं माना जासकता। **कर्षण-स्तम्भन प्रतिष्ठा संहार**-चारों शक्तियों के बल में तारतम्य है। इसी विषमता को लक्ष्य में रखकर **यावद्वा** कहा है।

इन चारों वीर्यों में से **स्तम्भनलक्षण यूप** एवं **कर्षणलक्षण स्फ्य** का उपयोग ब्राह्मण करते हैं। **रथ** एवं **शर** का उपयोग क्षत्रिय करते हैं। क्षत्रिय इन दोनों शस्त्रों से **आधिभौतिक असुरों को** एवं **ब्राह्मण यूप तथा स्फ्य से आधियाज्ञिक असुरों को नष्ट करते हैं।**

तथोक्त चारों शस्त्रों में **यूप-स्फ्य** ब्रह्मवीर्य्यप्रधान होने से **शान्त हैं। रथ** और **शर** क्षत्रवीर्य्यप्रधान होने से **उग्र** हैं। इन चारों में भी **शर** महाउग्र है। इसकी शक्तियां विशीर्ण रहती है। शर का अग्रभाग ऐसा तीक्ष्ण होता है कि जहां यह प्रविष्ट होता है छिन्न भिन्न कर देता है। अर्जुन के गाण्डीव से निकले हुए इन्हीं शरों से कुरुकुलवृद्धपितामह भीष्म का शरीर विशीर्ण होगया था। अङ्ग अङ्ग को विशीर्ण करने वाला शर सचमुच **विशीर्णशक्ति** से युक्त है। इस विशीर्णभाव के कारण ही तो इसे **शर** कहना अन्वर्थ होता है। शर की शरता का निरूपण करते हुए ऋषिने—**तस्माच्छरो नाम-यदशीर्य्यत** यह कहा है।

यद्यपि इन चारों में से स्फ्य और यूप को हमने ब्रह्मवीर्य्यप्रधान बतलाया है। परन्तु यह ब्रह्मभाव केवल कर्म्मसापेक्ष ही समझना चाहिए। अध्वर्य्यु ब्राह्मण है। वह यज्ञ में इनका प्रयोग करता है इसीलिये इन दोनों शस्त्रों को ब्रह्मसम्बन्धी कहा जासकता है। वस्तुतस्तु शस्त्र शस्त्र है। मारण का साधन है। मारना क्षात्रधर्म्म है। अतः **रथ-शरवत्** हम **यूप और स्फ्य** को भी क्षात्रतेजायुक्त ही मानेंगे। **इन्द्र स्वयं क्षत्र-देवता हैं। इन्द्रविद्युत् ही वज्र है।** यह वज्ररूपा असुरघातिनी इन्द्रशक्ति ही तो पूर्वकथनानुसार चार भागों में विभक्त होती है। यज्ञमर्य्यादा को प्रधानता देते हुए ऋषिने—**द्वाभ्यां ब्राह्मणा यज्ञे चरन्ति द्वाभ्यां राजन्यबन्धवः संग्रामे** यह कह दिया है। वस्तुतः ये चारों ही क्षत्रिय के आयुध हैं।

जब क्षत्रिय युद्धभूमि मे अवतीर्ण होता है तो उसे **ध्वजा रथ खड्ग शर-धनुष (तीरकमान)** इन चार प्रधान साधनों को साथ रखना पड़ता है। ध्वजा युद्ध का प्रधान चिह्न है। ध्वजा ही क्षत्रिय का प्रधान बल है। ध्वजा ही क्षत्रिय की **विजयश्री** का प्रधान सूचक है। यह ध्वजा वैदिक भाषा में **यूप** नाम से प्रसिद्ध है। जब ध्वजा गिर जाती है (झंडा नीचे झुक जाता है) तो क्षत्रिय पराभूत मान लिया जाता है। प्राचीनकाल में (वर्त्तमानकाल में भी) ध्वजाभेद से ही तत्तद्राष्ट्रों के नरपतियों का भेद सूचित होता था। जिसे वर्त्तमान जगत् **मोनोग्राम** कहता है **वही हमारी ध्वजा है।** अपने अपने राष्ट्र का राजा भिन्न भिन्न शक्तियों की आराधना करता हुआ उन उन शक्तिचिह्नों को ध्वजा में अङ्कित रखता है। भगवान् कृष्ण की ध्वजा में **गरुड** का चिह्न था। कारण उनका प्रसार गरुड के द्वारा ही होता है। इधर गरुड नाम है सुपर्ण का। **सुपर्ण साक्षी ईश्वर है।** अतः तदंशभूत कृष्ण ने अपनी ध्वजा में गरुड को ही स्थान दिया। अतएव भगवान् कृष्ण **गरुडध्वज** नाम से प्रसिद्ध हुए।

जिस समय भगवान् रामचन्द्र ने वनगमन किया था उस समय मार्गगमनपरिश्रमजनित खेद को शान्त करने के लिए वे प्रथम प्रथम जिस वृक्ष की छाया में अनुज लक्ष्मण एवं पतिव्रता जगन्माता सीता

के साथ विश्राम के लिए लिए बैठे थे वह कचनार का वृक्ष था। जब भगवान वनवास समाप्त कर पुन अयोध्या पधारे तो उन्होंने विश्रामवृक्ष को अपने लक्ष्य में रखते हुए अपनी ध्वजा में इसी कचनार के वृक्ष को अङ्कित किया। इसी आधार पर महर्षि वाल्मीकि ने — काञ्चनार ध्वजा राजा यह कहा है। सूर्यवंश के मूलप्रवर्त्तक स्वयम्भूमनु की ६३ वीं पीढी में भगवान् रामचन्द्र का आविर्भाव हुआ था। यहां आकर सूर्यवंश धन्य होगया। भगवान् रामचन्द्र से आगे होने वाले राजाओंने इस ध्वजचिह्न का अनुगमन किया। वर्त्तमान भारत में भी जयपुरराजधानी ही एकमात्र ऐसी राजधानी थी जहां ध्वजा में तो नहीं किन्तु रुपए में उसी वृक्ष का चिह्न अङ्कित था। जयपुर का रुपय्या इसी वृक्ष के कारण झाडशाही नाम से प्रसिद्ध है। यह झाड सूर्यवंश का गौरवभूत स्मारक चिह्न ही है।

इसीप्रकार उदयपुर की ध्वजा में चील का चिह्न है। आगमशास्त्र के अनुसार चील को शक्ति की विकासभूमि माना गया है। इसीलिए शकुनशास्त्रवेत्ताओंने किसी कार्य्यवश घर से बाहर निकलने वाले व्यक्ति को यदि सर्वप्रथम चील के दर्शन हो जाते हैं तो शुभलक्षण माना है। रावण की ध्वजा में गर्दभ का चिह्न था। गर्दभ पार्थिव कपाल में लिप्त आसुर-रस से उत्पन्न होता है। अतएव रावण ने इसे अपने ध्वज में स्थान दिया। वैदिक गूढतम रहस्यों से सर्वथा अपरिचित केवल वर्णों के नाम का पारायण करने वाले कुछ एक महाशय लोग बिना सोचे समझे अज्ञतावश भारतीय आख्यानोपाख्यानों पर व्यर्थ का वाद विवाद किया करते हैं। रावण के मस्तकों के सम्बन्ध में भी उनकी ऐसी ही भ्रान्ति है। कलिकल्मषहारिणी जगदुद्धारिणी परमपावनी वाल्मीकि रामायण में रावण के १० मस्तक बतलाए हैं। ११ वां मस्तक गधे का बतलाया है। इसका कारण यही है कि राक्षसेश्वर लङ्केश रावण का साम्राज्य १० प्रधान अमात्यों के आधार पर चलता था। इन दसों में रावण के मातुल शालकटङ्कट सर्वप्रधान बलशाली थे। इन दस प्रमुखों के बल पर रावण विश्वविजयी बन गया था। भगवान् रुद्र की आराधना से इसने अपने इन प्रमुखों का बल बढाया था। प्रमुख स्थान मुख्य है। मुख्यभाग शरीर में मस्तक है। अतएव ये १० सो अमात्य रावण के मस्तक कहलाते थे। आज भी प्रमुख को मण्डली का मस्तक शिरमौर माना जाता है। ध्वजा-चिह्न सब से ऊंचा है। यही सर्वोपरि रहने वाला रावण का ११ वां गर्दभ का मस्तक है।

इसीप्रकार किसी का चिह्न नान्दिया है किसी का अश्व है तो किसी का सिंह है। किसी का खड्ग है। इन निदर्शनों से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि ध्वजा क्षत्रियवीरों का एक मुख्य चिह्न है। दूसरा स्फ्य है। एकत धारायुक्त वक्रित शस्त्र चन्द्रहास (तलवार) कहलाता है दोनों ओर से दुधारा आगे से नोकदार सीधा शस्त्र स्फ्य कहलाता है। यही खडग क्षत्रिय के कमरबन्द में सदा खचित रहता है। यह क्षत्रिय का सहचारी शस्त्र है। जब भी क्षत्रिय बाहिर निकलेगा तो खडग साथ लेगा। कारण वह क्षत से त्राण करने वाला क्षत्रिय है। क्षत्रिय के सम्मुख कोई अनाचारी यदि निरपराध को क्षत कर देता है अथवा क्षत करने को उद्यत होता है तो क्षत्रिय तत्काल खडग से उस आततायी की भलीभांति चिकित्सा कर देता है।

बिना प्रतिष्ठा के शस्त्र प्रहार नहीं होसकता। यह प्रतिष्ठाभूमि ही रथ नाम से प्रसिद्ध है। सम्मुख उपस्थित शत्रु का वध तो खड्ग से किया जा सकता है। परन्तु जो शत्रु अन्तर पर है उसके शरीर

को निशीगा कमे किया जाय ? मके लिए क्षत्रिय को धनुष और ारपूरित निषङ्ग [तरकस] रखना पडता है। यहा स याध [प्रतिद्वद्विता मल्ल-युद्ध] का चौथा साधन है। इन्द्र क्षत्रबल का प्रवत्तक देवता है। वही क्षत्रिय का आ मा बनता है। आ मेन्द्र स्वय क्षात्रय है। विभतिरूप विद्युदिन्द्र के च तुर्धा विभक्त उपयुक्त चार साव ह । याद क्षात्रय उभयबल से युक्त है तो स याव [मुठभेड-रण] में विजयश्री निश्चित है।

यज्ञ में भी असरो का प्रवश होता है। यह वाय्य आसुर प्राण यज्ञविघातक होता हुआ यज्ञ का शत्रु है यहा रथ ओर शर की आवश्यकता नही । कारण शत्रु यज्ञमण्डल में ही है दूर नही है। भूपिण्ड में याप्त मृण्मय आसुरप्राण को ही तो नष्ट करना है। अत लौहमय शस्त्र की भी आवश्यकता नही है। अतएव यह यज्ञिय वजा (यूप एव यज्ञिय ख ग (स्फ्य) काष्ठ के ही बनाये जाते हैं। भूपृष्ठ से प्राणरूप दवाग्नि िकल रहा है। आगन्तुक तृण दूषित मिट्टी आदि इस प्राणाग्नि के स्वरूप को आवृत करने वाले वृत्र-असुर हैं। इनको स्फ्य से प्रथक कर पहिले भूमिशोधन करना आवश्यक होजाता है। जब तृण-पुरीष करीष आदि मलरूप असुर हटाकर भूपिण्ड का वास्तविक स्वरूप प्रकट कर लिया जाता है ता उस स्थान का प्राणाग्नि विकसित होजाता है। भूपिण्ड का ऐसा स्वच्छ प्रदश ही यज्ञिय-वदनि र्माण के लिए उपयुक्त है। यह तो हुआ आविदैविक चरित्र अत्र सक्षेप से आ यात्मक एव आधिभौतिक (ऐतिहासिक) चरित्र का भी समन्वय कर लीजिए।

हमारा श एक अ यात्ममस्था । शरीर भूपिण्डस्थानीया यज्ञिया वदि है। इस शरीरवद के तीन स्थान प्रधान ह—मूलाधार हृदय मस्तक। इन तीनो स्थानों मे क्रमश पार्थिव अपानाग्नि आ तरिक्ष्य व्यानाग्नि (व्यानाग्नि से उपलक्षित जाठराग्नि वैश्वानराग्नि) एव* सौर प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है। मूलग्रन्थि गार्हपत्यकुण्ड है हृदयपाश्वस्थान (अद्ध चन्द्राकार) दाक्षणाग्निकुण्ड है। एव शिर (प्रधानत मुख) आहवनीयकुण्ड है। तीनों में क्रमश अपान-वैश्वानर एव प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है। अन्नरूप मोम की आहुति मुखस्थानीय आहवनीय में होती है। आहवनीय में आहुत अन्न वश्वानररूप अपणाग्नि में परिपक्व होकर रसरूप से तत्तच्छारीर-देवताओ में विभक्त होजाता है। इसप्रकार इस अग्नीषो मात्मक यज्ञ स अध्यात्मयज्ञ का सञ्चालन होरहा है। अन्न पानी वायु ये सब हमारे अन्न बनते हैं। सब में तमोमय असुर भी हमारे अ यात्मयज्ञ में प्रतिष्ठित होजात ह। अथवा प्रविष्ट होने की चेष्टा करते हैं। इन को नष्ट करने वाला प्रधान ऋत्विक वायुरूप अ वर्यु है। वायु का सञ्चार इन्द्र का सचार है। कारण— इन्द्रतुराया ग्रहा गृह्यन्ते इस श्रोत सिद्धान्त के अनुसार वायु में एक चौथाइ भाग इन्द्र का रहता है। दूषित अन्न से आ मा मलीमस होजाता है। शरीर व्याधिग्रस्त होजाता है। इन्द्रमय विज्ञाना मा बुद्धिरूप वज्रप्रहार-व्यापार से इस आवरक अतएव वृत्र नाम से प्रसिद्ध असुर को नष्ट कर देता है।

भोमत्रिलोकी-व्यवस्था के अनुसार इन्द्र और वृत्रासुर में युद्ध हुआ करता था। वृत्रासुर बार बार देवन्द्र के यज्ञ म विघ्न उपस्थित किया करता था। अन्तत इन्द्र ने अपने वज्ररूप बल को ध्वजा रथ खड्ग शर इन चार भागो मे विभक्त कर उस को सवथा नष्ट कर दिया। इन्हीं आधिदैविक आ यात्मिक आधिभौतिक भेदभिन्न त्रिविध आख्यानो के रहस्यार्थ को अपने गर्भ म रखती हुई— इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार — तता द्वाभ्या ब्राह्मणा यज्ञ चरन्ति ये प्रथम द्वितीय कण्डिकाए उद्धृत हुई हैं। १ २॥

आज यह अ व्यु यजमान के इस वक्ष्यज्ञ म स्फ रूप खड्ग को अपने हाथ म उठाता हुआ यजमान के द्विषन् और भ्रातृव्य नाम के दोनो प्रकार के शत्रुओ को दूर करता है। कृत्रिमशत्रु को द्विषन् कहा जाता है एवं सहजशत्रु के लिए वैदिक परिभाषा में भ्रातृव्य शब्द का प्रयोग होता है। भ्राता का पुत्र भ्रातृव्य (भतीजा) कहलाता है। यह सहज शत्रु होता । कारण म का यही कि शत्रुता का मुख्य कारण सासारिक सम्पत्ति है। भतीजा य समझा करता है कि यदि य पितृव्य न होता तो पितामह क सारी सम्पत्ति एकमात्र मेरे पिता को ही मिलता। ऐसी अवस्था म वश की सम्पूर्ण स पत्ति का एकमात्र मे ही भोक्ता बनता। सी भावना स यह भ्रातृव्य (भतीजा) अपने पितृव्य (काका) का जन्मसिद्ध शत्रु बन जाता है। इसी दृष्टि का लक्ष्य म रख कर श्रुतिने सहजशत्रु का नाम सामान्यभाव स भ्रातृव्य रख दिया है। ॥ ३ ॥

यज्ञ के द्वारा आधिदैविक मण्डलस्थ देवताओ को अध्यात्म म प्रविष्ट किया जाता है । उपासना-सिद्धान्त के अनुसार देवो भूत्वा देवं भावयत् इस निगम का अनुगमन करना आवश्यक होजाता है। यज्ञ का प्रत्येक कर्म देवप्राण की भावना स ही समन्वित होना चाहिए । यह दैवीभावना ही श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्ध स एव स इस सिद्धान्त के अनुसा सचमुच यज्ञ एव यज्ञजनित अदृष्ट अतिशय को देवप्राण से युक्त क देता है। सी दिव्य प्राण की प्राप्ति के लिए देवस्य त्वा इ यादि म त्र बोलता हुआ ही स्फ्य उठाता है। स्फ्य इन्द्र का वज्र है। इन्द्र देवता है। देवता का शस्त्र देवता उठा सकता है साधारण मनुष्य नही। अर्थात् जिसके आ मा में इन्द्रप्रयष्ठ देवताओ का बल रहता है वही दिव्यास्त्रो के प्रयोग करने में समर्थ होता है। यथाजात मनुष्य मनुष्य है। उस म दिव्यशक्ति का अभाव है। ऐसी अवस्था में यदि बिना सोचे समझे वह इन दिव्यास्त्रो का प्रयोग कर बैठेगा तो अपना नाश करा बैठेगा। अत अ ध्वर्यु के लिए भी यह आवश्यक होजाता है कि ज मसिद्ध अपने मनुष्यभाव को हटाता हुआ दिव्यप्राण की भावना करता हुआ—आत्मा में दिव्य बल के सञ्चार का अनुभव करता हुआ ही स्फ्य का ग्रहण करे

इस स्फ्य से भूपिण्डगत आसुरभावा मक दोषयुक्त मृदभाग को हटाया जाता है। जब कर्षण के द्वारा भूपिण्ड का अग्निप्राणमय वास्तविक प्रदेश निकल आता है तभी वह प्रदेश यज्ञोपयोगी बनता है । स्फ्य नि ानेन इन्द्र का वज्र है । हिंसक शस्त्र है । इसका यज्ञ में प्रयोग करना पडता है । इस से कहा यह नही समझ बैठना चाहिए कि इस हिंसक शस्त्र का उपयोग केवल हिंसा ही है । हिंसा तो स्वय आसुरधर्म है । उसके लिए स्फ्यरूप हिंसक शस्त्र का प्रयोग नही होता अपितु अहिंसाभावापेत अतएव च अ ध्वर नाम से प्रसिद्ध यज्ञ पर जो आक्रमण करने वाले शत्रु हैं दूसरे शब्दों में अहिंसाभावमय अ ध्वर के अहिंसा मक शान्तभाव को स्वाहसावृत्ति स जो दुष्ट इसे हिंसाभाव से युक्त करना चाहते है इन दुष्टो क दलन कर अ ध्वर की अ ध्वरता (अहिंसाभाव) का सुरक्षित रखना ही अ ध्वर का स्वरूप सम्पन्न करना ही इसका काम है।

लोक में भी तो ऐसा ही देखा जाता है। शस्त्र ही शान्ति का साधन है। यदि शस्त्र का भय न हो तो दुष्टलोग शान्ति भङ्ग करदे। सर्वत्र हिंसा मारकाट का साम्राज्य होजाय। अत हम शस्त्र को अहिंसा का ही साधक कहेंगे। प्रकृत में यह बतलाने का तात्पर्य यही है कि यज्ञ देवतामय है। देवता अहिंसाभाव

प्रधान हैं। अतएव न्वप्राणमय यज्ञ को अ वर कहा जाता है। ऐसे अहिंसाभाव-प्रधान यज्ञ में **हिंसा** के साधनभूत स्फ्य के प्रयोग स यह आपत्ति उठाइ जा सकती है कि जब स्फ्य शस्त्र है हिसा का साधन है तो इस क प्रवश से यज्ञ अवश्य ही हिसाभावोपेत होता हुआ अतएव आसुरभावप्रधान बनता हुआ दैवीस पत् से िरहित हाजायगा ?। न्स कुशङ्का का निवारण करने के लिए ही— **अध्वरकृत देवेभ्य** यह कहना पडा ह

प्रयोगकाल से पाहले शस्त्र को शाण पर चढा कर उसे सुतीक्ष्ण किया जाता है। इसी प्रक्रिया का नाम **मशन है**। इस स्फ्य नाम के शस्त्र से असुर जसे प्रबल शत्रु का वध करना निता त अपेक्षित है। यह यज्ञिय स्फ्यरूप शस्त्र न तो लौह का है न सचमुच इससे किसी का ग्रीवा कृ तन ही करना है। अपितु जो अदृष्ट शत्रु ह अथवा जो असुरप्राण ह अथवा भूपिण्डस्थ जो दूषित मिट्टी है मात्र उसे ही हटाना है। मिन्ट्री उठाना तो सामा य निमित्त है। वस्तुत मिट्टी में जो आ यप्राणप्रधान असुरान आक्रमण कर लिया है उन्ह नष्ट करना है। आसुरप्राण का विनाशक और वज्र है यह प्रकरण के आरम्भ में ही बतलाया जाचुका है। **इन्द्र उत्तरेषा प्रथम – इन्द्र उत्तरत** के अनुसार इ द्रप्राणा मक सूर्य्य ऊर्ध्वादिक में रहता है। ऊ र्वा दिक को **उत्तर** कहा जाता है। अवाचीदिक को दक्षिणा कहा जाता है। जिस स्थिति के लिए लोकभाषा म ऊँचा-नीचा य श द प्रयुक्त ह उसी स्थिति के लिए वदिक साहित्य में **उत्तरा दक्षिणा** ये श प्रयुक्त हुए हैं।

सूर्य्य से निकलने वाली चारो ओर सन्त्रभाव से याप्त होने वाली इन्द्रप्राणा मिका सौररश्मिया वज्ररूपा ह। सूर्यके द्र से बद्ध होकर चारो ओर सहस्ररश्मिया निकलती हैं। प्रत्येक रश्मि की बि दु बि दु से वायुक्षेत्रनि याम से पुन सहस्र स स्र राश्मया निकलती हे। वहा से पुन रश्मिया निकलती हैं। इस वितानभाव का परिणाम यह होता है कि इन अन त साहस्रियो के प्रसार से सम्पूर्ण सौरमण्डल रश्मियों से न्सप्रकार परिपूर्ण होजाता है कि उसका कोइ भी प्रन्देश आपको ऐसा नही मिल सकता जहा आप सूची के अग्रभाग को भी प्रविष्ट करसक। सवत्र प्रकाश परिपूर्ण होजाता है। इन अन तान त साहस्रीभावों से युक्त सौररश्मिया न्द्र के अन त बाहु है।

इनमें प्रातष्ठित विद्यु दि द्र **हेति** नामक वज्र है। इसी के प्रहार से तमोमय वृत्रप्रमुख असुरो का नाश होता है। रश्मिगत इसी साहस्री विज्ञान को लक्ष्य में रखकर— **सहस्र णि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतय सहस्रधा महिमान सहस्रम्** इ याादि सिद्धा त हमारे सम्मुख आते हैं। वज्ररूप सौररश्मिया जो हमारी ओर आती हैं व न्द्र के दहिने हाथ हैं। कारण व हम स उत्तर हैं एव हम उनसे दक्षिण हैं। पृथिवी सूर्य की अपेक्षा दक्षिणादिक में प्रातष्ठित मानी जाती है। सुतरा इस ओर इ द्र के दक्षिण बाहु का ही आगमन सिद्ध होजाता है। यद्यपि इन्द्र के ओर बाहु भी असुरविनाश में समथ हैं। परन्तु पृथिवी की अपेक्षा स तो वीर्य्यवत्तम (अतिशययुक्त) बाहु दक्षिण ही माना जायगा। रश्मिरूप बाहु विद्यु द्रूप वज्र से युक्त हैं। इन्द्रविद्य त् ओर त प्रतिरूप बाहु स्वरूप राश्म अभिन्न है। अत हम बाहुरूप रश्मि को ही वज्र कह सकते हैं।

इस वज्ररूपा रश्मि से चारो ओर रश्मियों का प्रतिफलन होता है। वय रश्मिया भी सहस्र हैं। प्र येक रश्मि भी प्रतिफलनभाव से सहस्र किरणो से युक्त है। यही सहस्र-किरण रश्मिरूप वज्र की **भृष्टियाँ** (शत्रु-

भाङ्कका कोर) ह । अतएव हम न्स वज्र को किंवा वज्ररूप दक्षिणबाहु को **सहस्रभृष्ट** कह सकते ह । दाह्य सोम के मम्बन्ध से यह सहस्रभृष्ट व- तजान्य बन रहा है । धर से उधर स नीचे से ऊपर से सब ओर से * यातिम्मयी रश्मिया निकल रही ह । योति से पूण है । श्मि क्या है ? सूर्यचि नामिका ऋड मूर्त्तियो का वितान । सूर्यचि त ही वितानात्य सामवद के सम्ब ध स उत्तरोत्तर ह्रसीयनभाव म क-न्र से प्रधि पर्यन्त प्रतिष्ठित होकर रश्मिरूप म पा ाणत गेहा है । श्मि ऋक (सूर्यबिम्ब) की मष्टि ात्र है । यह शतभाव से युक्त है । अतएव रश्मिरूपा ऋक क ालए— **ऋक शतपन्नी** (श ब्रा १।८) यह कहा जाता है । इह रश्मियो के पर्यावत्त न स अहोरात्र का स्वरूप नि पन्न होता है । **रश्मिगत सान्तपनाग्निमय विक्षोभक प्राग रुद्र है** । प्रत्येक राश्म रुद्रप्राणमयी है जसा कि **य चन रुना न्विषु आभश्रिता** यादि मन्त्रवणन स स्पष्ट है ।

अहोरात्रस्वरूपस पा का रुद्रप्राणमयी रश्मि शतभावोपेता है । अतएव इसके लिए— **अहोरात्रे-शतरुन्द्रियम्** (त ब्रा ३। ।१ ।२) यह कहा जाता है । मन के सकल्प का नाम **क्रतु** है । यह क्रतु प्राण पर प्रतिष्ठित होकर वागद्वारा कार्यरूप म परिणत होता हुआ आगे जाकर **दक्ष** नाम से व्यवहृत होता है । रश्मि प्राणमयी है । इन्द्र का क्रतु यही प्रतिष्ठित है । यह क्रतुरूपा रश्मि शतभावोपेता है । अतएव इन्द्र के लिए— **इन्द्र आसीत् सीरपात शतक्रतु** (त ब्रा २।४।८) यह कहा जाता है । इसी शत-रूप पूणभाव को लक्ष्य म रखकर रश्मिरूप इस वज्र के लिए— **शततेजा** यह विशेषण दिया है । वायु म दिकसोम रहता है । साथ ही **इन्द्रतुरीया ग्रहा गृह्यते** इस ग्रहापनिषत्–सिद्धान्त क अनुसार आन्तारक्ष्य वायु में रश्मिरूप इन्द्र भी रहता है । वायुगत साम के स बन्ध से सावित्राग्निमूर्त्ति यह वायुभुक्त रश्मिरूप वज्र प्रदीप्त होपडता है । महाप्रबल होजाता है । ति यक बहने वाला वायु सचमुच सोमशक्ति से इन्द्रशक्ति को आकर्षित करता हुआ विद्युन्मूर्त्ति बनता हुआ **तेजिष्ठ** बन जाता है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर ऋषि ने इसके लिए **वायुरसि तिग्मतेजा** कहा है ।

इसप्रकार दक्षिण–बाहुरूप वृत्रवध में पूर्ण समथ यह वज्र **सहस्रभृष्टि है शततेजा है** वायुरूप **तिग्मतेजा है** । आज अ वर्यु इसी प्राकृतिक वज्रशक्ति का भावनामयी मन्त्रशक्ति के द्वारा अपने इस साधारण काष्ठनिर्म्मित स्फ्य में प्रवश कराता है । वाम हाथ सोमप्रधान होने से बलशून्य है । एव दक्षिण हस्त अग्निप्रधान होने से बलयुक्त है । आध्यात्मिक इन्द्र का बाहु दक्षिण हाथ ही है । मन्त्र के द्वारा पाहले उस प्राकृतिक पूर्वोक्त दक्षिण बाहु का बल अ वर्यु अपने दक्षिण हाथ में डालता है । एव दक्षिण हस्त के स्पश से वामहस्तस्थ स्फ्य म उस बलको इसमें डालता है । स्मरणीय है कि इस सशनप्रयोग से पहिले स्फ्य एक साधारण काष्ठ खण्ड था परन्तु अब यह मन्त्रशक्तियुत महाप्रबल शस्त्र बन गया है । सावधान ! यदि इस स्फ्य का शरीर के किसी अवयव से स्पश होगया अथव भूप्रदश से स्पश होगया तो वह अवयव एव प्रदेश जल जायगा । जबतक असुरवध में वज्र की यह शक्ति उपयुक्त–उपभुक्त न होजाय तबतक न तो स्फ्य का शरीर से स्पश ही करना चाहिए एव न भूप्रदश पर ही इसे रखना ही चाहिए । ३ ४ ५ ।

***–"अधस्विदासीदुपरिस्विदासीत्–रेतोधा आसन्, महिमान आसन्"**
—ऋकस

एतम्बयजुहरणोपाख्यानरहस्य—

भूाम–निशोधनाथ अध्वर्यु ने पूर्वकथनानुसार **स्फ्य** रूप वज्र को मन्त्रबल से महा उग्र कर लिया। इस शस्त्र का प्रधान कार्य्य है यज्ञ में प्रविष्ट असुरों को निकालना। जिसप्रकार प्राकृतिक नित्य ईश्वरीय नीषोमात्मक भूपिण्ड–सम्बन्धी हविर्यज्ञ में प्रविष्ट आपोमय असुरों को स्वयज्ञमण्डल से वज्र प्रहार के द्वारा सौर इन्द्र बाहिर निकाला करते हैं एवमेव उसी नित्ययज्ञ की प्रतिकृति (नकल) पर वितत होने वाले मनुष्य–यजमान के इस वध हविर्यज्ञमण्डल में प्रविष्ट होने वाले आन्तरिक्ष्य आप्यप्राणात्मक असुरों को यज्ञमण्डल से बाहिर निकालने के लिए मन्त्रपूत मन्त्रशक्ति से सशित (तेज पने किए हुए) स्फ्यरूप वज्र को हाथ में लेकर आज सान्तपनाग्निरूप असुरघ्नमूर्त्ति अध्वर्यु बडी सावधानी से खडा हुआ है। सब सामग्री सम्पन्न है।

जहां से असुरों को निकालना है वह भूप्रदेश अध्वर्यु के सम्मुख है। जिस शस्त्र की सहायता से निकालना है वह तीक्ष्ण स्फ्य (वज्र) शस्त्र इसके हाथ में है। जिस मन्त्रशक्ति से निकालना है वह मन्त्र इसके स्मरण में है। यज्ञमण्डल से निकाल कर जिस स्थान में असुरों को खदेडना है वह स्थान इसके लक्ष्य में है। इसप्रकार असुरनाशार्थ जो उपकरण होने चाहिएं वे सब प्रस्तुत हैं। इतना सब कुछ होने पर भी इस समय एक बात की बहुत बडी कमी इसके सम्मुख आरही है। देवासुरयज्ञ में तो इन्द्र के सम्मुख वृत्रासुर खडा था। शत्रु सामने था। इसलिए इन्द्र ने शस्त्र का प्रयोग कर उस लोकान्तर में मार भगाया जैसाकि अनुपद में आख्यान के द्वारा स्पष्ट होने वाला है। परन्तु अध्वर्यु के सम्मुख तो कोई प्रत्यक्ष में असुर नहीं है जिस पर यह प्रहार करे। वहां तो मारने वाला इन्द्र भी प्राणात्मक था एवं पलायित होने वाला असुर भी आप्यप्राणरूप ही था। इस सजातीय–सम्बन्ध से प्रबल प्राण का निबल प्राण के साथ युद्ध होना अनुरूप था।

परन्तु यहां तो अध्वर्यु भौतिक शरीर से युक्त है। मूर्त्त है। उधर आन्तरिक्ष्य में व्याप्त आप्यप्राणमय असुर अमूर्त्त है। मूर्त्त अध्वर्यु अदृष्ट अमूर्त्त असुर पर प्रहार करे तो कैसे करे ? । **मैं इस शत्रु को मार रहा हूं** इसप्रकार की भावना जबतक नहीं रहती तबतक मारना चरितार्थ ही नहीं होता। हमारा **ससीम मन–मूर्त्तमन विषयाधारमन** जबतक **ससीम–मूर्त्त** विषय को नहीं पकड लेता तबतक वह कोई व्यापार नहीं कर सकता। केवल हवा में तलवार घुमाने से हमारे मन को यह सन्तोष कभी नहीं होसकता कि हम शत्रु को मार रहे हैं। मन के आलम्बन के लिए **उपासनाकाण्ड** की भांति यहां भी कोई मूर्त्त आधार चाहिए। तभी मनोव्यापार सफल होसकता है। ऋषि जानते हैं कि **गुणात्मा निर्गुण ब्रह्मतत्त्व मूर्त्त नहीं है। साकार नहीं है।** परन्तु साथ ही वे यह भी जानते हैं कि **सगुण ससीम मूर्त्त-मन** कभी उस **निर्गुण अमूर्त्त तत्त्व** पर नहीं पहुंच सकता। अत एव उपासना–सिद्धि के लिए—

अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ।
उपासकानां सिद्धयर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

इस सिद्धान्त के अनुसार **प्रतिमा** का आश्रय–ग्रहण आवश्यक होजाता है। दृष्टि रहती है प्रतिमा पर एवं इस मूर्त्त आधार के द्वारा मन पहुंच जाता है उस अमूर्त्त तत्त्व पर। पुष्प धूप दीप–नैवेद्य

सम्पूर्ण कर्म्म होने हैं प्रतिमा पर परन्तु होती है वह जगद्व्यापक अमूर्त सच्चिदानन्द की आराधना। यह मूर्त्तिपूजन* का मौलिक रहस्य है।

प्रकृत में इस निदर्शन से हमें यही बतलाना है कि सगुण मन के (मनोमय कर्म्मात्मा के) "मैं अवश्य यह कर्म्म कर रहा हूँ" इस दृढ़ विश्वास के लिए उस अमूर्त तत्त्व के साथ इसका सम्बन्ध करने के लिए किसी मूर्त भौतिक द्रव्य को मध्यस्थ बनाना आवश्यक होजाता है। अक्षरज्ञान के लिए पाटी खड़ीया को मध्यस्थ बनाना पड़ता है। आकाश के वृत्तों के परिज्ञान के लिए भौतिक वृत्तों को सामने रखना पड़ता है। जाने दीजिए अदृश्य भावों को। भौतिक पदार्थों के परिज्ञान के लिए भी भौतिक साधनों को मध्यस्थ बनाना पड़ता है। भौगोलिक चित्रों के (एटलस के) आधार पर (भूप्रदेश के किसी भी प्रदेश में कभी न जाने वाले भी) आप अपने प्रासाद-कक्ष के भीतर बैठे बैठे ही सम्पूर्ण भूप्रदेशों का ऐसा वर्णन कर डालते हैं, ऐसी ठीक नाप-तोल से बात करने लगते हैं मानो आपका जन्म एवं निवास वहीं हुआ हो। जब निदरस्थ भौतिक पदार्थों के परिज्ञान में भी आपको कल्पित तत्प्रतिकृति-(नकल)-रूप भौतिक द्रव्यों को मध्यस्थ बनाना पड़ता है, तो जो तत्त्व प्राणरूप होने से अमूर्त्त हैं, चर्म्मचक्षु से तिरोहित हैं उन पर प्रयोग करने के लिए भौतिक द्रव्यों को मध्यस्थ बनाए बिना कैसे निर्वाह होसकता है?।

एक भौगोलिक यह भलीभांति जानता है कि पुरोऽवस्थित यह भूगोलचित्र कल्पित है। उस वास्तविक भूपिण्ड की नकल है। इसे काल्पतभाव समझता हुआ भी वह चित्रस्थ तत्तत् प्रदेशों पर "यह बम्बई है, यह कलकत्ता है, यह निरक्षवृत्त से ६ अंश ४५ कला २७ विकला विकला के शतांश (सावा भाग) में से ४५ वां भाग-इस स्थान पर उत्तर की ओर जयपुर है", अङ्गुलि-रखता हुआ प्रदेशों का निश्चयात्मक ज्ञान प्रकट किया करता है। दृष्टि मिथ्या पर है, ध्यान सत्य पर है। इससे हमें यही बतलाना है कि आज जो महानुभाव भारतीय मूर्त्तिपूजन के सम्बन्ध में यह आक्षेप किया करते हैं कि "प्रतिमा तो मिथ्या है, इस मिथ्या से इस अमूर्त्त ब्रह्म की उपासना कैसे बन सक्ती है", यह कुतर्क उठाया करते हैं, उपर्युक्त निदर्शन से विज्ञ पाठक यह मान लेंगे कि उनके इन कुतर्कों का कोई मूल्य नहीं है। विज्ञानशास्त्र का तो यह निश्चित सिद्धान्त है कि बिना मिथ्या उपाय के सत्यतत्त्व कभी प्राप्त हो ही नहीं सक्ता ×। उपाय सब मिथ्या हैं, उपेय तत्त्व सत्य है। इसी मौलिक रहस्य को लक्ष्य में रखकर भगवान् भर्तृहरि कहते हैं—

उपाया शिक्षमाणाना बालानामुपलालना ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥

—वाक्यपदी

मौलिक अमूर्त्त तत्त्व के परिज्ञान के लिए जिस भौतिक द्रव्य का आश्रय लिया जाता है, इस मध्यस्थ काल्पत पदार्थ के साथ उस अलौकिक अमूर्त्त तत्त्व के साथ जो एक अपूर्व सम्बन्ध होता है, उसे ही वैदिक परि-

---

* इस विषय का विशद विवेचन "गीताविज्ञानभाष्यभूमिका" के "भक्तियोगपरीक्षा" नामक सातवें खण्ड में देखना चाहिए।

× इस विषय का विशद विवेचन "सत्यानृतविवेक" नाम के स्वतन्त्र निबन्ध में देखना चाहिए।

भाषानुसार **निदान** कहा जाता है। कल्पित–सम्बन्धों का परिचायक पदार्थ ही **निदान** शब्द से व्यवहृत होता है। आज नवशिक्षित वग इस भारतीय–निदान को उपेक्षा की दृष्टि से देखते है। **पीली की मिट्टी को गणपति मानना सुपारी का गणपति मानना मूर्त्ति को ईश्वर मानना** आदि आर्ष यवहार इन अद्ध दग्धो की ष्टि म ब्राह्मणो की स्वार्थलीलामात्र है। परन्तु उह्न सम्भवत यह विदित नही है कि आज के इस भावुकतापूण युग म भी स पूण ससार स भारतीय **निदानविद्या** का ही उच्छिष्टभोगी प्रमाणित होरहा है। भारतीय धार्मिक व्यवहारो पर टीका टिपणी करने वाले इन महानुभावो स हम पूछते है कि आपके कालेजो म भूशास्त्रवत्ता लोग कल्पित मिथ्या मिट्टी के अथवा कागज के अथवा तो धातु के गोले को हाथ म लेकर सके तत्तत् प्रदेशो पर हाथ रखते हुए **यह देखो उत्तरध्रुव है यह दक्षिणध्रुव है यह इग्लण्ड है यह लन्दन है यह भूमध्यसागर है यह मेडिट्र नियन्सी (महीसागर) है यह रेड्सी (रक्तसमुद्र) है यह यलोसी (पीतसमुद्र), है यह बालकशझील है यह ट्रिपुली है यह समरकन्द है** आदि रूप से आप को भूप्रदेशो का परिचय कराते है। हम कहते हैं—प्रोफेसर महोदय का तथोक्त कथन आपके ही कथनानुसार सर्वात्मना मि या है। उनके हाथ में तो एक मिट्टी का गोला है।

स पूण भूमण्डल को हाथ म लेकर उसके प्रदेशो को बतलाना तो दूर रहा प्रा म ोदय एक समय म एक स्थान पर बैठे हुए भूपिण्ड का दर्शन भी नही सकते। तो छोडिए आज से इन कालेजो में पढना। कर दीजिए उन गोलो को नष्टभ्रष्ट जला दीजिए ढोग का न पुस्तको को। कोसिए ऐसे ग थनि र्माताओ का जिन्होंने आपको मिथ्याभ्रम म डाला। और आगे बढिए। विज्ञानगव स गर्विष्ठ जिन पाश्चात्य–जातियो के आप भक्त ह व महानुभाव अपने प्रेमीजन की मृत्यु पर अपने हाथ पर एक काली पट्टी बाधते हैं। इस पट्टी स व अपना शोक सूचित करत ह। हम पूछते हैं—यह कसा ढोग ? । काली पट्टा एक भौतिक मूत्त पदाथ है। **शोक मन की एक अशान्ति है अन्तर्वेदना है। इसका कोई रूप नहीं है। उस अमूर्त्त से इस मूर्त्त का क्या सम्बन्ध ? शोक का काली पट्टी से क्या सम्बन्ध ?** । और आगे चलिए—सिग्नल की लाल रोशनी देखकर ट्रेन माग म ही खडी होजाती है हरी रोशनी देखकर चल पडती है। लाल रोशनी से यह माना जाता है कि माग बन्द है कोइ विघ्न है गाडी वही रोको। हरी रोशनी से य माना जाता है कि माग निर्विघ्न है लाइन क्लीयर है निर्विघ्नता है गाडी को आने दो। इसप्रकार **रक्तप्रकाश** भय का सूचक है हरित प्रकाश **शान्ति** का द्योतक है। हम पूछते हैं—**रक्त हरित का अशान्ति शान्ति** से क्या सम्बन्ध ? । नष्ट कर दीजिए आज ही इन कल्पित सिग्नलो को । गार्डों के हाथ से लाल हरी झडिया छीन कर आज ही जला डालिए। कारण ये मि या ढोग दिखाकर ससार को धोखे में डाल रहे है।

जसा पीला **मिट्टी को गणपति मानना मूर्त्ति को ईश्वर मानना हरे शाक को शुभसूचक मानना मिथ्या** वैसे ही **मिट्टी के गोले को भूपिण्ड मानना काली पट्टी को शोकसूचक रक्त को अशान्तिसूचक हरित को शान्तिसूचक मनना** भी **मिथ्या है** । यदि आप इन का कोई उपयोग समझते हैं आप की दृष्टि में सवथा मिथ्या–कल्पित होते हुए भी ये साधन उपादेय हैं तो फिर ऋषियोने हीं क्या अपराध किया है ? । हम तो यह भी बिना सकोच कहने के लिए सन्नद्ध हैं कि आपकी कल्पना तो फिर भी निरी कल्पना ही ह। परन्तु भारतीय ऋषियो की कल्पना में तो अधिकाश में तथ्याश ही विद्यमान रहता है।

ऋषिगण निदान उसी वस्तु को बनाते हैं जिसमें निदान के द्वारा विदित होने वाली वस्तु के धर्म आंशिकरूप से समाविष्ट रहते हैं। उदाहरण के लिए पद्म को ही लीजिए। आगमाचार्यों ने पद्म को भूपिण्ड का निदान माना है। भगवान् विष्णु की प्रतिमा के हाथ में आप कमल का पुष्प देखते हैं। ऋषि इस कमल से आपको यही बतलाना चाहते हैं कि सम्पूर्ण भूपिण्ड पर यज्ञमूर्ति विष्णु का प्रभुत्व है। कमल को भूपिण्ड समझो इस पद्म–निदान से यही बतलाना है। अब पद्म और भूपिण्ड के स्वरूप–निर्माण की अनुरूपता देखिए। अद्भ्यः पृथिवी इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड का निर्माण पानी से हुआ है। पानी में वायु का प्रवेश होता है। पानी वायु दोनों तत्व –संयोग से मूर्च्छित होकर फेन (झाग) रूप में परिणत होजाते हैं। इसी प्रकार वायु तथा तेज के आक्रमण से उत्तरोत्तर घनता बढ़ती जाती है। इस क्रम से वही पानी क्रमशः आप फेन मृत् (क्षार) सिकता शर्करा अश्मा अय हिरण्य इन आठ अवस्थाओं में परिणत होता हुआ भूपिण्डस्वरूप में परिणत होजाता है। इसीप्रकार कमल की उत्पत्ति देखिए। कमल पानी में ही पानी से ही उत्पन्न होता है यह सब जानते हैं। पानी के पत्ते का ही नाम पुष्करपर्ण है। आपो वै पुष्करपर्णम् (श ६ का) यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है। आपको यह जानकर और भी आश्चर्य होगा कि पहिले पानी इसी पुष्कर (कमल) रूप में परिणत होता है। अनन्तर इन्हीं पुष्करों के सघात से पूर्वक्रमानुसार भूरूप पुर बन जाता है। इस पुरनिर्माण–हेतु से ही पुरकरत्वात् इसे पुष्कर कहा जाता है। भूपिण्ड क्या है ? पुष्कर है। इसी आधार पर भुवनकोश–[भूगोल] –वेत्ताओं ने भूपिण्ड को पद्म मानकर भुवनकोशविद्या का निरूपण किया है। अतएव पार्थिवकेन्द्र में अवस्थानीय प्राणाग्निमूर्त्ति ब्रह्मा पद्मभू नाम से प्रसिद्ध हैं। आपोमय ही पद्म है। यही आपोमय भूपिण्ड का उपादान है। इसी सामानाधिकरण्य को प्रधान मान कर ऋषि ने पद्म को भूपिण्ड का निदान माना है

महामाया के हाथ में सुरापात्र [मदिरा का प्याला] है। यह मोहनिद्रा का निदान है। योगमाया हरेश्चैतत् तया सम्मोह्यते जगत् इस रहस्य–शास्त्र के सिद्धान्तानुसार उस महामाया की शक्ति से सम्पूर्ण विश्व मोहमदिरा में निमग्न है। मदिरा पीने से मनुष्य की जो स्थिति होजाती है वही स्थिति इस मोह से होजाती है। मोह एक प्रकार की मदिरा है। पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् यह इसी आधार पर कहा जाता है। मदिरा और मोहनिद्रा के इसी साजात्य को लक्ष्य में रखकर ऋषियों ने मदिरापात्र को मोह का निदान माना है। भगवती के हाथ में मदिरा का पात्र है इससे ऋषि आपको यही सिखलाना चाहते हैं कि विश्वास कीजिए! इस महामाया के अधिकार में मोहशक्ति प्रतिष्ठित है।

भूपिण्ड में रहने वाला मूलप्रतिष्ठारूप रुद्रप्राण गणपति नाम से प्रसिद्ध है। प्राणाग्निरूप रुद्र की ११ अवस्थाएं हैं। मरुतो रुद्रपुत्रास इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार इस रुद्राग्नेय प्राण के रासायनिक संयोग से सात प्रकार का यौगिक मरुद्वायु उत्पन्न होता है। यह मरुद्–वायु सात भागों में विभक्त होकर अदिति के गर्भ में प्रतिष्ठित रहता है। अदितिभाग पृथिवी का वह भाग है जो सूर्यानुगत रहता है जैसाकि पूर्व के अनेक स्थानों पर विस्तार से बतलाया जाचुका है। भूपृष्ठ से आरम्भ कर एकविंशस्थ २१ सूर्य–पिण्ड पर्यन्त व्याप्त रहने वाला त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पृथिवीलोक पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्षलोक

एव एकानशस्तामावाछ् न द्यु लोका मक सम्पूण भाग अ ति है। इसी अ तिमण्ल में पूर्वोक्त सप्तविध मरुत्–वायु प्रातष्ठत रहता है। वायु में रहता है। याकरण–(विविध आकार ही याकरण है) व मो पेता न्द्रशक्ति के प्रवश से अन्तिगभ में प्रविष्ट इन स तवा विभक्त मरुतो के प्र येक क सात सात खण्ड ोजाते ह। न्सप्रकार सात सप्तका के एकोनपञ्चाशन् [४६] मरुत् होजाते हे। नमें आरम्भ का मरुत् स था घन एव न्तर्गान्त का मरुत् सवथा विरल ह। म य क मरु ो की घनता—विरलता म तारतम्य है।

वही प्रथम मरुत न ४६ मरुदगणो की मूलप्रतिष्ठा होता हुआ गणपात नाम से प्रसिद्ध है। सवा त का मरत् [४८ वा मरुत्] महावीर नाम से व्यवहृत होता ह। भ पण्ड में प्रथम मरुद्रूप गणपात प्रातष्ठित ह। सूय्यसस्था म अ त म महावीर प्रतिष्ठित ह। भपिण्ड ओर सय्य के म य में अवा न्तर स पूण ८ मरुत घनतातारतम्य से प्रतिष्ठित हैं। आप पृथिवी में जो एक प्रतिष्ठातत्त्व देखते हैं वृति देखते हैं जिस धतिधम्म से भापण्ड धरा धरित्री धरिणी आदि नामो स प्रसिद्ध है वही भ पिण्डगत वृति–प्राण–मूलप्रतिष्ठाप्राण गणपति ह। स्तौम्यत्रलोक्य के स पूण पदाथ इसी मूलप्राण पर प्रातष्ठित है। स मूलप्राण के विचलित ो जाने पर सम्पूण त्रलोक्य विशेषत पार्थिवप्रजा विचलित होजाती है सवत्र अशाति का साम्रा य होजाता। एव स प्राण के स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहने से सवत्र शाति का साम्रा य रहता है।

उदाहरण के लिए अध्या मसस्था को ही लीजिए। हमारे शरीर में क्रमश शिरागुहा उरागु दरगुहा बस्तिगुहा ये चार गुहाए ह। चारो म क्रमश आप्यप्राण आदि यप्राण–वाय यप्राण अपानप्राण ये चार प्राण प्रतिष्ठित ह। बस्तिगुहा मूला ारस्थान है। सी को मूलग्रन्थि भी कहा जाता ह। इस मूलग्रन्थि म प्रतिष्ठारूप वही प्रथम पार्थिव गणपतिप्राण प्रतिष्ठित रहता ह। इसी को दाशनिक परिभाषा म अपान कहा जाता ह। प्राण बिना भत के नहीं रह सकता। यह गणपतिप्राण प्रधान रूप से बास्तगुहान्तगत मलभाग में ी प्रतिष्ठित रहता है। जिस मल [वि ठा] को आप याज्य वस्तु समझते हैं विश्वास रखिए! वही मल उस प्रातष्ठाप्राण की आधारभमि बनता हुआ जीवन का आधार है। जीवनसत्ता के लिए मूलग्रन्थि अत्य त आवश्यक है। यदि मल एका तत निकल जाता है लो भाषा के अनुसार यदि मल टूट जाता है तो तत्क्षण मनुष्य का निधन हो जाता ह। कारण मल के नि शेष होजाने से तदा ार से प्रातष्ठित शरीरसस्था का प्रति ठारूप वही मौलिक गणपतिप्राण शरीर से उत्क्रा त होजाता ह। उसके उत्क्रान्त होने पर जीवनयात्रा कठिन है कठिन क्या ह अस भव है। गणपतिप्राण की इसी स्थिति को लक्ष्य मे रखकर आगमशास्त्र ने मूलाधार मे हीं गणपतिदेवता की सत्ता मानी है। जबतक यह प्राण शा त है तभीतक शरीरसस्था शान्त है निर्विघ्न है। इस प्राण के विचलित होजान पर शरीरसस्था विघ्नमयी बन जाती है। गणपतिप्राण के इसी स्वरूपधम्म को लक्ष्य में रख कर से विघ्नक र्ता भी कहा जाता है एव विघ्नहर्त्ता भी माना जाता है।

उपर्यु क्त ४६ मरुतो की सत्ता हमने अदिति के गभ में बतलाई है। साथ ही यह भी कहा है कि वायुगत न्द्रशक्ति से ही सप्तधा विभक्त मरुत् ४६ भागों में विभक्त होजाता है। इससे यह भी सिद्ध होजाता कि

मरुदगणों के साथ सौर मघवा इन्द्र का घान सम्बन्ध है। मरुत्प्राण सदा इन्द्रप्राण से अनुगृहीत रहता है। इन्द्र क्षत्र है राजा है। मरुदगण इस का सेना है। सेनारूप इसी मरुत्प्राण को आगे कर प्रकाशित इन्द्रप्राण तमोमय वृत्रप्रधान वारुण आप्य असुरों पर आक्रमण करता है। वारुण आप्यप्राण के प्रवश से पदार्थ सड़ने लगता है दूषित होने लगता है। यह सड़ान असुरों के आक्रमण का ही फल है। परन्तु जब भी मरुद्वायु का आगमन होता है तो तद्गत इन्द्र के एव वायुप्राणात्मक मरुत्सेना के आक्रमण से सम्पूर्ण असुर नष्ट होजाते है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि सड़ी वस्तु को खुली हवा में धूप में रख दीजिए। थोड़े समय में ही दूषित परमाणु नष्ट होजायँगे। वस्तु शुद्ध बन जायगी। हां जहां मरुद्वायु का प्रवेश नहीं होता वहां अवश्य ही आप्य वरुण स्वपाश से बद्ध कर उस वस्तु के स्वरूप को नष्ट बना डालता है। बन्द हवा असुरों का घर है खुली हवा देवताओं का आवासभूमि है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर ब्राह्मणश्रुति कहती है—

'यद्वै वातो नाभिवाति तत् सर्वं वरुणदेवत्यम्''।

मरुद्गण सदा इन्द्र के आगे आगे चलते है। दूसरे शब्दों में—ये मरुद्गण (किंवा मारुतीसेना) इन्द्र के अग्ररक्षक हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर मन्त्रश्रुति कहती है—

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥
—यजुः सं० १७।४०

मरुद्गणों का मूलाधार प्रथम पार्थिवमरुत् गणपति है। क्योंकि शेष ४८ मरुतों की प्रतिष्ठा उक्थ (मूलप्रभव) यही है। अतएव इसे गणानां पति इस रूप से गणपति नाम से व्यवहृत किया जाता है। यह प्राण जबतक प्रतिष्ठित है बैठा है तभीतक शान्ति है। इसके उखड़ने पर सर्वनाश है। इसी को इन्द्रप्राण की अभिन्नता से मघवा भी कहा जाता है। संसार का कोई भी कार्य्य हो सब का प्रथमारम्भक यही प्राण है। मूलप्राण से व्यापार का आरम्भ होता है। मूलप्राण यही है। इस लिए आर्ष—ऋषि आपको आदेश करते है कि यदि आप अपने कार्य्य को निर्विघ्न सम्पन्न करना चाहते हैं तो सर्वप्रथम आप गणपति का ही स्मरण कीजिए। उपासना के द्वारा नित्य—आधिदैविक—गणपति—प्राण के बल को आत्मसात् कर आध्यात्मिक गणपतिप्राण को प्रबल बनाते रहिए। उसे आत्मा में प्रतिष्ठित कीजिए। यदि आपका मूलाधारप्राण प्रतिष्ठित है बलवान् है तो निःसन्देह कार्य्य की पूर्त्ति निश्चित है। अन्यथा—छिन्ने मूले नैव शाखा न वृक्षः यह आप जानते ही हैं। कार्य्यारम्भ में उपासना के द्वारा यदि इस प्राण को अपने अनुकूल नहीं बना लिया जाता तो वह आपके लिए अप्रतिष्ठा का कारण बनता हुआ आप के उस कर्म्म की प्रतिष्ठा ही उच्छिन्न कर देता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर महर्षि कहते हैं—

नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च॥
— ऋक्सं० १०।११२।९।

भूपिण्ड के पृष्ठ से आरम्भ कर सौरसंस्था पर्यन्त ये ४९ मरुत् व्याप्त हैं यह पूर्व में बतलाया जा-चुका है। इनमें प्रथम मरुत् गणपति हैं एवं उसकी प्रतिष्ठा भूपिण्ड है। क्योंकि यही भूपिण्ड से संलग्न रहता है। इतर ४८ प्राणों की प्रतिष्ठा बनता हुआ यह मघवा नाम का गणपतिप्राण सौरत्रैलोक्य की (स्तोम्यत्रैलोक्य की) एवं तद्गत प्रजा कर्मों का प्रतिष्ठा है। किन्तु यह भूपिण्ड इस सब प्रतिष्ठा की भी प्रतिष्ठा है। भूपिण्ड घन-आग्नेय प्राण से युक्त है। अग्निर्भूःस्थानः इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण भूपिण्ड अग्निमय है। यह प्राण महाघन है। यही घनाग्नि आगे जाकर तरल विरल रूप में परिणत होता हुआ क्रमश: वायु-आदित्य नाम से व्यवहृत होता है। पार्थिव-परमाणुओं के अतिशय संगठन से यह पार्थिवरसरूप तेजोमय अग्नि अपनी घनावस्था को छोड़ कर बाहिर निकल कर तरल विरलावस्थापन्न होता हुआ वायु एवं आदित्य नाम से प्रसिद्ध होजाता है। इसप्रकार एक ही पार्थिव रसरूप अग्नि घन तरल-विरल इन अवस्थाओं से क्रमशः अग्नि-वायु आदित्य इन तीन स्वरूपों में परिणत होजाता है जैसाकि अनुपद में ही आख्यान-रहस्य में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। तेजोरसरूप पार्थिव अग्निरस की इन्हीं तीन अवस्थाओं को लक्ष्य में रखकर वाजिश्रुति कहती है -

'आपो वा ऽअर्कः। तद्यदपां शर आसीत् तत् समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्। तस्यां (पृथिव्यां) अश्राम्यत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्तताग्निः। स त्रेधात्मानं व्याकुरुत-आदित्यं तृतीयम्। वायुं तृतीयम्। स एष प्राणः (प्राणाग्निः) त्रेधा विहितः' (शत० १० का। ४ प्र। ६ ब्रा० २।३ क०) इति ॥

पार्थिवसंस्था का रस यही घन अग्नि है। इसी घनाग्नि पर उपर्युक्त प्राणमूर्त्ति गणपतिप्राण आरूढ़ है। शारीरक मन पार्थिव घनाग्नि है। उसी में तो हमने गणपतिप्राण की सत्ता बतलाई है। यही अवस्था आधिदैविक मण्डल की समझिए। यदेवेह तदमुत्र यह सर्वपरीक्षित अतएव निर्भ्रान्त सिद्धान्त है। मृण्मय भूपिण्ड गणपतिप्राण का वाहन है। मृण्मय रसाग्निरूप इसी घन पार्थिवप्राण से (जो कि गण-पतिप्राण का वाहन है) मूषक का अन्तरात्मा बनता है। इतर प्राणियों की अपेक्षा इस मूषक में यह पार्थिव घनप्राण अत्यधिक मात्रा में रहता है। इसी घनप्राण के प्रभाव से मूषक जैसा अल्पकाय एक छोटा सा प्राणी अपने दांतों से वज्रसमान कठोर वस्तु को भी छिन्न भिन्न कर डालता है।

भूपिण्ड के ऊपर की मिट्टी वायु से श्लथ रहती है, गीली रहती है, आगन्तुक तृण-मल-आदि से भूपिण्ड के ऊपर का दृश्य स्तर उस घनाग्निरस से वञ्चित रहता है। इसी प्राण के अभाव से ऊपर की मिट्टी ठोस नहीं होती। आप उस ऊपर के स्तर को हटाकर भूपिण्ड में जितने गहरे जायेंगे अधिकाधिक घनाग्निप्राण उपलब्ध होगा। साथ ही वहां की मिट्टी भी घन मिलेगी। बालूरेत के समान उस मिट्टी के परमाणु आपको ढीले न मिलेंगे अपितु परस्पर सश्लिष्ट मिलेंगे। यही कारण है कि घनप्राण से कृतात्मा मूषक भूस्तर पर न रहकर भूपिण्ड के भीतर गहराई में बिल बनाकर उसी में रहता है। क्योंकि इसे अपना आत्मानुकूल जीवनीय रस वहीं गहराई में ही उपलब्ध होता है। मूषक भूगर्भ में जिस स्थान

पर अपनी आवासभूमि बनाता है विश्वास कीजिये । वहा की मिट्टी सचमुच उस घनाग्निरस से युक्त है। यही कारण है कि अग्निहोत्र म जहाँ आग्न-स ब धी अन्यान्य सामाग्रया का स भरण (सग्रह)-ग्रहण किया जाता है वहा उसी घनाग्निरस की प्राप्ति के लिए मूषक क बिल की मिट्टी भी ली जाती है जसा कि स भारब्राह्मण कहता है—

"अथ-आखुकरीष सम्भरति । आखवो (मूषका) ह वा अस्यै पृथिव्यै रस (अग्निरस) विदु । तस्मात्तेऽधोऽध इमा पृथिवीं चरन्त पीविष्ठा । अन्य हि रस विदुस्ते यत्रैतऽस्यै पृथिव्यै रस विदुस्तत उत्किरन्ति । तदस्याऽएवैनमतत् पृथिव्यै रसेन सम-र्द्धयति । तस्मादाखुकरीष (मूषकबिलमृत्तिका) सम्भरति'

शत २का १।१।७। न्ति।

पूर्वप्रतिपादित भपिण्डस्थ गणपतिप्राण जब स्वप्रतिष्ठा से च्युत होजाता है तो आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि उसका प्रथमाघात इसी मूषकजाति (चूहा) पर होता है । गणपतिप्राण के उखड जाने से पार्थिवप्रजा का मूलप्राण विचालित होजाता है । महामारी जनपदविध्वंसिनी आदि व्याधियो का प्रवाह प्रक्रान्त होजाता है । मूषकप्राण अस्मदादि की अपेक्षा गणपतिप्राण के अति सन्निकट है । अत इस व्याधि का प्रथमाक्रमण इसी पर होता है । महामारी के आरम्भ म पहिले चूहे ही मरने लगते ह । यदि किसी राष्ट्र में नगर म ग्राम में अथवा घर म मूषक अपने आप मरने लग जाते हैं तो मान लीजिए उस राष्ट्र-नगर-ग्राम-घर का शान्ति-विधाता गणपतिप्राण उच्छिन्न होगया है । शीघ्र ही यहा कोइ महासकट आने वाला है । तत्काल यज्ञरहस्यवेत्ता ब्राह्मणो को बुलाकर वहा शान्त्यर्थ गणपतियाग कराना चाहिए ।

गणपति की प्रतिष्ठा अग्निरस है । वह अग्नि पर प्रतिष्ठित है । उधर अन्य दिशाओं की अपेक्षा दक्षिण-दिशा में अग्नि का अधिक प्राबल्य है । यही कारण है कि और और दिशाओ की भाति दक्षिण देशो में दत्तात्रय आदि की भाति गणपति देवता की उपासना विशेष समारम्भ से मनाई जाती है । पूना का गणपति-उत्सव तो सवथा ही द्रष्टव्य है । प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि इसी प्रतिष्ठाप्राण को लक्ष्य में रखकर निगमनिद्या के आचार्योंने मूषक को गणपतिदेवता का वाहन माना ह । मूषक से तद्गत घनप्राण ही अपेक्षित है । घनप्राण वास्तव म पूर्वकथनानुसार गणपति का वाहन है । यह गण-पतिप्राण प्रतिष्ठाप्राण को पकडने से गृहीत होजाता है । रहस्यवेत्ता महर्षियोने विज्ञानदृष्टि से यह पहिचाना कि भूपिण्ड के गर्भ में रहने वाली ठोस (पीली) मिट्टी में जो घनाग्नि प्राण है उसी पर गणपतिप्राण प्रतिष्ठित रहता है । इसी रहस्य को देखते हुए उन्होंने गणपति की आराधना में इसी मिट्टी को प्रधानता दी। पीली मिट्टी में वह प्रतिष्ठाप्राण विशेषरूप से विद्यमान है ।

आप व्यापक गणपतिप्राण की मन्त्र क द्वारा भावना कीजिए मनो वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार गणपतिप्राण अवश्यमेव मन्त्रशक्ति के प्रभाव से अपनी इस प्रतिष्ठाभूमिरूप मिट्टी की डली में प्रतिष्ठित होजायगा इसी भाव के लिए विद्वान् ब्राह्मण प्रकृति के इन सम्पूर्ण रहस्यो को

जानता हुआ एक मिट्टी की डली सामने रखता है और बोलता है— गणपतिमावाहयामि (मैं इस गणपतिप्राणस्वरूप मिट्टी में गणपति को स्वात्मशक्ति समन्विता (श्रद्धासमन्विता) मन्त्रशक्ति से युक्त कर प्रतिष्ठित करता हूं)। हां एक बात और ध्यान में रखिए। आवाहन से पहले अथ ध्यानम् इस शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार सर्वप्रथम उपासक गणपति का वक्रतुण्डमहाकाय सूर्यकोटिसमप्रभम् इत्यादिरूप से गणपति का ध्यान करता है। अनन्तर— गणानां त्वा गणपतिं हवामहे इत्यादि रूप से आवाहन करता है। जब आवाहन—प्रक्रिया से सचमुच गणपतिप्राण आजाता है तो आसनम् पाद्यम् अर्घ्यम् आदि उपचारधर्म्मों का क्रमशः अनुपालन कर आगत प्राणदेवता को प्रसन्न किया जाता है।

ध्यान का तात्पर्य यही है कि गणपतिप्राण नीरूप है। उसका कोई भौतिक आकार नहीं है। बिना आकारग्रहण के मन देवता की ओर अनुगत नहीं होसकता। अतः प्राणगत भिन्न भिन्न उन नीरूप शक्तियों के स्वरूप को मन में साकाररूप से प्रतिष्ठित करने के लिए ऋषियोंने तत्तच्छक्तियुत तत्तद्भौतिक पदार्थों को तत्तच्छक्तियों का निदान मान कर कल्पित प्रतिमाएं बना डाली हैं जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में ही बतला दिया गया है। जिस देवता को बुलाना है पहिले उसका स्वरूप उपासक की दृष्टि में आना चाहिए बिना स्वरूप ज्ञान के किस का आह्वान हो। इसी विप्रतिपत्ति को हटाने के लिए आवाहन से पहिले ध्यान करना आवश्यक होजाता है। अभी गणपति के सम्बन्ध में बहुत कुछ वक्तव्य था। परन्तु प्रकरण प्रकृत निरूपणीय विषयमर्य्यादा से बाहिर जारहा है। अतः इस गणपति—प्रकरण को यहीं उपसंहृत करते हुए हम कहना चाहते हैं कि मिट्टी की डली को वाहन का निदान मानना मूषक को वाहन मानना भी कुछ रहस्य रखता है। हमारा निदान भी (कल्पित भी) मर्यादा से युक्त रहता है।

निदानमात्र है— हमारा उपासनाकाण्ड केवल निदानविद्या के आधार पर ही अवलम्बित है। किसी देवता के ४ हाथ किसी के ८ किसी देवी के ६४ किसी के हाथ में खड्ग किसी के हाथ में धनुष किसी के हाथ में कर्त्री किसी मूर्त्ति का स्वरूप शान्त किसी का महाउग्र ये सब रहस्य आप तबतक नहीं समझ सकते जबतक कि निदानशास्त्र का आप साङ्गोपाङ्ग अध्ययन न करलें। बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि साहित्य के घोरशत्रु नरराक्षसों के अकाण्ड—ताण्डवों से जैसे भारतीय धनुर्विद्या विमानविद्या रहस्यशास्त्र गाथाशास्त्र आदि शास्त्र अनिदव में हुत होगए वैसे ही उपासना का सर्वस्वभूत निदानशास्त्र भी आज हम से परापरावृत होगया है। तदपि ब्राह्मणग्रन्थों में कहीं कहीं निदान का उल्लेख मिलता है। उसी के आधार पर हमने आपके सम्मुख निदान का कुछ स्वरूप रक्खा है। आज इस निदानरहस्य को न जानने के कारण ही हमारे नवशिक्षित भारतीय युवक (और अबतो सभी) उपासना—काण्ड पर आक्षेप करने में ही अपने आपको सत्यज्ञानवेत्ता मानने का अभिमान कर रहे हैं। वस्तुतस्तु केवल नवशिक्षितों के मत्थे ही यह दोष मँढना अन्याय होगा। प्रधान दोषी हैं ब्राह्मण ब्राह्मणों में भी साक्षर ब्राह्मण साक्षरों में भी विद्वान् विद्वानों में भी उपदेशक इनमें भी धर्म्माचार्य।

जिन भूदेवों के हाथों में धर्म की बागडोर थी कालमहिमा से जो समय समय पर जनता में फैली हुई अधर्मभावनाओं को उखाड़ कर धर्मश्रद्धा को पुनः स्थापित करने के जन्मसिद्ध अधिकारी थे आज वैदिक

साहित्य के अनुशीलन के अभाव से व स्वय इन रहस्यो से कोमो र त ह। आन ऐसे ही उपदेशक हमें कथा सुनाते ह। एसे ही धर्म्माचार्यान धम्म का बागडोर अपने हाथ म ले रक्खी है। अपनी विलास-लीलाओं में निमग्न सनातनधम्म को कलङ्कित करने वाले धम्म के आज स राष्ट्रोन्नति क घातक अधम्म अन्याय अत्याचार प्रान्तीयता आदि सकुचित वृत्तया का प्रचार करने वाले राष्ट्र के ये अन्यतमशत्रु शास्त्र के नामच्छल से भावक जनता को उस अबोध भोली जनता को (प्रबल ग मे स्वय गिरते हुए) लक्ष्यच्युत बना रहे है। किमानए गरीब जनता की अतुलसम्पत्ति आज दवालया म समर्पित होती है?। क्यो लाखों रुपय्यो का दान इन मठाधीशा के चरणो म अर्पित कर दिया जाता है?। धम्मरक्षा के लिए। धम्मसम्बन्धी सन्देहों को दूर करने के लिए। भगवान को साक्षी बनाकर क्या सनातनी-जनता यह कहन के लिए सन्नद्ध है कि सचमुच हमा न का क्या सदुपयोग होरहा है?। क्या सचमुच हमें सत्यमाग बतलाया जारहा है?।

सह स मरणीय एव सर्वात्मना आवस्मरणीय है कि आज तो कुछ पन्थ लिख ही धम्म की निन्दा करते हैं। परन्तु कुछ दिन हतमा य सनातनी-जगत इसी नाशकारणी रूढि का अनुवर्मा ओर बना रहा तो धम्मके नामसे भी लोगा को घृणा हाने लगेगी और सभी के लिए धम्म सवथा निरपन्न ही बन जायगा। इधर कुछ काल से आर्य्यसमाज नामकी एक सस्था सत्यप्रचार के लिए खडी हुई है। उसका ऐसा उद्घोष है कि वेद ही एकमात्र सत्यज्ञान की निधि है। पुराण-ज्योतिष आदि सब मिथ्या ह कपोलकल्पित हैं। कहना न होगा कि वेद की ओट म अ यजाति का आर्य्यधम्म का जैसा विनाश इस अ निविष्टा जाति से हुआ है वैसा सम्भवत और किसी से नही हुआ। सनातनधम्मा समझत नहीं परन्तु मानत ह। यहा तो समझने के साथ साथ मानना भी नष्ट होगया। अपने सभामञ्चा पर आज निदानविद्यामूलक उपासनाकाड को अवैदिक—अशास्त्रीय बतलाने का अक्ष य अपराध करने का साहस किया जारहा है।

देखो सनातनियों क गणेशजा तो इतने मोटे-और उनका वाहन छोटासा चूहा देखो इन पोपाकी पोपलीला-पीली मिट्टी का गणेशजी मानकर यह धूर्त्त पैसा ठग रहे हैं इसप्रकार के कुतर्कों से अहर्निश धम्म को उस वैज्ञानिक धर्म्म को कोसा करते हैं। श्रद्धालु सनातनधर्म्मी लुब्ध हैं। धम्म के रक्षक भमत धर्म्माचार्य्य विलासलीला में मत्त हैं। विद्वान् नामको कलङ्कित करने वाले ब्राह्मण प्रमत्त-मद गर्वित-सरस्वती के अन्यतमशत्रु धनिकों की आराधना में एव विलासनिमग्न सामन्ततन्त्रो की अभ्यर्थना में (राजभक्ति में) निमग्न हैं। अटक से कटक और कन्याकुमारी पर्य्यत आज धर्मवृषभ पर सवत्र इसप्रकार खड्ग प्रहार ही होरहा है। न आज सत्यज्ञान के प्रचार के लिए क्षेत्र न सत्यवक्ता को कहीं आश्रय न वैज्ञानिक साहित्यप्रकाशन के लिए आज सम्पन्नों तथा सत्ताधीशों के कोश में द्रव्य।

इत्थभूत सास्कृतिक-धार्म्मिक-अध पतन जसे प्रकान्त घोरतरतम भयावह युग में ऋषिवशज नैष्ठिक ब्राह्मणों का एकमात्र यही कर्त्तव्य शेष रह जाता है कि राष्ट्रीया मूलसस्कृति एव तन्मूलक धम्म के सम्ब व व कालपुरुष की आराधना करते हुए सत्यज्ञानाराधन के सम्मुख सभी प्रकार की विघ्नबाधाएँ सहते हुए अपने स्वाध्यायव्रत पर ही अनन्यनिष्ठा से आरूढ होजाए। स भव ही नही अपितु निश्चित है कि तद्विधा निष्ठा में इन स्वाध्यायनिष्ठो को आपत्ति-परम्पराओं का ही आतिथ्य स्वीकार करना पडगा। किन्तु यही इनका महान् पुरस्कार माना जायगा जिस के आधार पर ही राष्ट्र में पुन वह सास्कृतिक जागरण सम्भव बन

सकेगा जो कि विगत तीन सहस्र-वर्षा से साम्प्रदायिक-वाद-परपरा-निग्रह से अभिभूत ही होता आरहा है।

तथोक्त निदशनो से विज्ञ पाठकों को यह भलीभाति विदित होगया होगा कि आन्तरिन्द्य आत्यप्राणमूर्त असुर एव मृद्गत प्राणरूप असुर दोनो ही अमूर्त है। एव नीरूप असुरप्राण के वधके लिए किसी मूर्त पदार्थ को मध्यस्थ बनाना आवश्यक है। बिना भौतिक निदान के यहा की वैधप्रक्रिया यथावत् समन्वित नही हो सकती। हमारा यह **स्तम्बयजु (कुशमुष्टि) इसी प्राणमूर्ति असुर का निदान है।** इस पर स्फ्य का प्रहार करना असुर पर ही प्रहार करना है। दृष्टि इस पर है एव भावना असुरवध की ओर है। यही तो निदान है। भापएन्‌ के जिस प्रदेश पर अध्वर्यु वेदि बनाने वाला है वहा वह उत्तराग्र **कुशमुष्टि** बिछा देता है। यह कुशमुष्टि उस वेदिरूप भूप्रदेश का आवृत कर लेती है। कुशमुष्टि ने भूप्रदेश को क्या आवृत कर रक्खा है असुरोंने ही इसे आवृत कर रक्खा है। कुशमुष्टि को वैदिकभाषा में **स्तम्ब** कहा जाता है। इस स्तम्बरूप नैमित्तिक असुर पर स्फ्यरूप वज्र से मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु प्रहार कर प्रहार से छिन्न भिन्न स्तम्ब को एव उखडी हुई मिट्टी को उत्कर में प्रक्षिप्त कर देता है। जिस मन्त्र से इस **स्तम्ब** का **हरण** होता है वह यजुर्मन्त्र इस कर्म्म का देवता बनता हुआ **स्तम्बयजु** नाम से व्यवहृत होता है। तम्ब इस यजुसे अभिन्न है अत इस स्तम्ब (कुशमुष्टि) को भी **स्तम्बयजु** इस नामसे व्यवहृत किया जाने लगा है। इस स्तम्बयजु का हरण किया जाता है अतएव इस कर्म्म को यज्ञरहस्यवेत्ता **स्तम्बयजुर्हरण** नाम से व्यवहृत करते है। यह स्तम्बयजुर्हरण निदानेन **असुरनिरसन** व्यापार ही है। अर्थात् स्तम्बयजु का इस स्थान से हरण करना असुरो को ही इस वेदिस्थान से बाहर निकालना है। स्तम्बयजु के इसी निदानभाव को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"तदतन्निदानेन यत् स्तम्बयजु"

यह स्तम्बयजुर्हरण किया क्यो जाता है? इसका उत्तर है— **देवानवै विधा वै मनुष्या — यद्वै देवा यज्ञेऽकुर्वस्तत् करवाणि।** भौमत्रिलोकी के स्वर्ग प्रदेश में रहने वाले **मनुष्यदेवताओंने** अपनी दिव्यदृष्टि से उस प्राकृतिक तान्त्रिक यज्ञरहस्य को देख कर तदनुसार उन्होंने यज्ञ का वितान किया। इन भौम देवताओ से यह यज्ञविद्या भारतवर्ष के महर्षियो ने प्राप्त की। भौमदेवताओ के यज्ञ में असुर निरन्तर आक्रमण किया करते थे जैसाकि आगे के **देवासुरख्यातिभागोपाख्यानरहस्यब्राह्मण** में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। जिसे आज **एशिया** कहा जाता है वही किसी समय **भौमत्रैलोक्य** नाम से प्रसिद्ध थी।

असुरप्राणकृतात्मा **असुरमानव** एव देवप्राणकृतात्मा **देवमानव** इन दोनों में (प्रकृतिवत्) परस्पर सदा स्पर्द्धा चलती रहती थी। **देवता बुद्धिमान् थे परन्तु निर्बल थे। उधर असुर बलवान् थे किन्तु बुद्धिशून्य थे। एशियामाइनर में रहने वाले स्वयम्भू प्रजापति** इन दोनो का ही **निग्रह अनुग्रह** किया करते थे। यद्यपि प्रजापतिने असुरों को **ज्येष्ठपुत्र** समझ कर सख्या एव बल में भी देवताओं की अपेक्षा विशेष समर्थ जानकर भविष्य के कलह को शान्त करने के लिए इन्हे **दायविभाग में** अधिक भूप्रदेश दिया था। **अफ्रीका अमेरिका युरोप** ये असुरो को मिले थे एव सुप्रसिद्ध **एशियाखण्ड देवताओं** को मिला था। कहना न होगा कि एशियाखण्ड के वर्गमील अफ्रीकादि उपर्युक्त तीनों खण्डो के भूप्रदेशों के वर्गमीलों के समतुलन में कुछ भी नही है। यह सब कुछ तो ठीक ठीक हुआ। पिता स्वयम्भू ने पहिले

स ही न्न येष्ठभ्राताओ का आधक स मान कर लिया था। प न्तु त भू प्रनापति का य सम्पूग प्रयास आगे जाकर सवथा यथ ही सिद्ध हुआ। क्याकि असुर बड भा थ उनका तष्णा भी बडी थी। उधर देवता बु न्मान तो थे पर तु भौतिकबल का उनमें अभाव था। य ी कारण था कि ये ज्यष्ठभ्राता अपनी प्रभत म पात्त पर स तोष न कर क नष्ठ भ्राताओ का नो कुछ नाममात्र को मिला था उस भी अपहृत कर लेना चाहते थ। दुष्टबुद्ध असुर सदा इन पर आक्रमण किया करत थ। उचित अनुचित प्रत्येक उपाय से िरन्तर ही व इह्न सत्र त करते रहते थ। इनके आगमन का माग **अफ्रीका क दर** थ। एशिमान्नर में रहने वाले स्वयम्भू के दशन-व्याज से ये एशियाखण्ड म आते र त थ एव तुष्णारूपेग (गुप-चुप) आक्रमण कर दिया करते थ। इस आक्रमण के फलस्वरूप अवा तर युद्धो के आतरिक्त दवता और असुरो म परस्प १ महासङ ग्राम हुए थ।

ऋग्वदसहित म न्न १२ महासङ ग्रामों का बडा रोचक वर्णन हुआ है। **कहना यही है** कि असु निर तर आक्रमण करते हत थ एव दवता अपने बुद्धिबल को यज्ञबल के रूप म परिणत कर इस यज्ञबल से इह्न नष्ट करते रहते थ। एशियाखण्ड को देवताओने अपनी **यज्ञभूमि** मान रक्खी थी जसाकि आगे के ब्राह्मण में स्पष्ट होने वाला है। यज्ञभूमि नाम से विख्यात इस भौमत्रिलोकी पर एव इसमें रहने वाले दवताओ पर दुष्टबुद्धि असुर आक्रमण करत रहत थे। देवता अ यन्त सन्त्रस्त थ। बडे प्रयास से व न्न दुष्टो को परास्त कर अपने यज्ञमण्डल से निकालत कुछ दिनो के अन तर ही पुन ये दुष्ट आ क्रमण कर बैठत। इस आए दिन की आपत्ति को शान्त करने के लिए सदा के लिए ह्न अनपजय्य बनान के लिए देवताओन एक बडा उत्तम प्रकार निकाला। उत्तरदिशा में भप्रदेश (मदान) बहत था। अत आ क्रमणकर्त्ता असुर आक्रमण करके (छापा मार के) लूट खसोट कर वहा छुप जाते थ एव अवसर पात ही पुन निकल आते थ। अग्नि ने इन धूर्तों की यह धू ता दखी और दवताओ से कहा कि कोइ चिन्ता नही यदि इनको भगकर छिपने का अवसर उत्तर में ही मिलता है तो मै उस माग को रोक लेता हू।

जिन समय असुर उस ओर से आक्रमण करते हुये अपने यज्ञमण्डल में आजायेंगे उस समय दक्षिण का माग तुम रोकना उत्तर का माग मै रोकूँगा। इसप्रकार दोनों आर के माग रुक जाने से ये बचकर भाग नही सकगे। यो अपन सम्मिलितरूप से आक्रमण कर उह्न सदा के लिए क्षीणशक्ति कर दे गे। पुन कभी इनका इस ओर आख उठाने का साहस न होसकेगा। ऐसा ही हुआ। अग्नि की उपर्यु क्त म त्रणा से दोनो आर से घिरे हुए असुर भागने में असमथ होते हुए दवताओ के सम्मिलित आक्रमण से सवथा हतवीर्य्य होगए। हा **अररु** नाम का एक असुर देवताओ की आख बचाकर द्यु लोक की ओर भागना चाहता था परन्तु अग्नि वहा खडे जो हुए थ। इन की दृष्टि स भागते हुए अररु पर पडी। और उह्नोंने कहा कि सावधान! यदि उधर गया तो प्राणों से हाथ धो बठगा। द्यु लोक हमारा प्रान्त है। वहा तुझ जाने का क्या अधिकार है। यदि तू भग कर जाना चाहता है तो हम दया कर तुझे छोडते हैं चलाजा अपने गोस्थानरूप वारुणलोक को।

असुरों के रक्षक आप्यप्राणकृता मा **वरुणदेवता** थ। अतएव पूर्वोक्त **आसुर-त्रैलोक्य वारुण-लोक** नामसे प्रसिद्ध थे। यही वारुणलोक [अब्विभाग] लोकपाल वरुण के सम्ब ध से **व्रज गोष्ठान (गोस्थान)** आदि नामो से प्रसिद्ध था। अ तत अग्निदेव से परास्त होकर अररु को अपने इसी लोक

में भाग कर प्राण बचाने पडे । इसप्रकार देवताओंने तीनों लोकों से एव तीनो लोको के कुछ कुछ प्रदेशों को लेकर निर्मित व्रनस्यविष्णु नाम के चतुर्थ लोक से सदा के लिए इन असुरो को निकाल दिया * ।

इसप्रकार भौमदेवताओंने स्वयज्ञमण्डल से असुरो को निकाला था । इनकी प्रतिकृति पर ही अपने वैधयज्ञ का वितान करने वाले भारतवर्षीय ब्राह्मण आज स स्त न जुहरण से उसी घटना का स्मरण कर तद्भावना से अदृष्ट दृष्ट असुरो को नष्ट कर ह । आग्नीध्र नाम का ऋत्विक पूर्वोक्त निदानभाव के अनुसार साक्षात् अग्नि है । यह आग्नीध्र जो दि के उत्तरभाग में जाता है वह मानो असुरो को रोकने के लिए अग्नि ही उत्तर मे जाता है । धर न्तर देवताओं का यजन करने वाला दाक्षिण भाग की ओर प्रतिष्ठित अ वर्यु निदानेन इतर देवताओं का समुच्चय है । यह इधर से माग रोकता है । इसप्रकार निदान के मा यम से स्तम्बयजु हरण के द्वारा सम्पूर्ण असुर इस यजमान के यज्ञमण्डल से सदा के लिए नष्ट करदिए जाते हैं । उस समय उन भौमदेवताओंने उन असुरो को नष्ट किया था आज यह अध्वर्यु इस प्र यत्नक म से यजमान के सम्पत्ति के बाधक जा शत्रु हैं उन्ह इस प्रतिकृतिकर्म्म से नष्ट करता है । यजमान का यज्ञ निर्विघ्न परिसमाप्त होजाता है ।

वैदिक आख्यान आठ भागो में विभक्त हैं जसाकि पूर्व के प्रोक्षणकर्म्म में विस्तार से बतलाया जा चुका है । उन आठो म सातवा उपाख्यान आधिदैविक आधिभौतिक आध्यात्मिक इन तीनो रहस्यो से सम्ब ध रखता है । हमारा प्रकृत आख्यान ऐसा ही आख्यान है । इसका तीनो संस्थाओं से सम्बन्ध है । इन तीनो में सूचीकटाहन्याय से इस आख्यान का आधिभौतिक चरित्र आपके सम्मुख रक्खा गया । अब उसी न्याय से आध्यात्मिक–चरित्र की ओर आपका यान आकर्षित किया जारहा है ।

हमारी अ या मस था म देवता असुर दोनो का साम्रा य है । देवता सूर्य्य से उ पन्न होते हैं एव असुरो का ज म पृथिवी (दिति पृथिवी एव च द्रमा (कृष्णपक्ष का कृष्णच द्रमा) से होता है । इसीलिए चन्द्रमा को एष एव वृत्रो यच्चन्द्रमा (श १ का ६।८।१८) इ यादिरूप स वृत्रासुर कहा जाता है । सौर इन्द्रमय सावित्राग्नि से विज्ञानात्मा (बुद्धि) का निर्म्माण होता है । चान्द्र वृत्रासुर से प्रज्ञानात्मा (मन) का निर्म्माण होता ह । एव भूपिण्डस्थ आसुरप्राणमय पञ्चीकृत मृद्भाग से हमारा पाञ्चभौतिक शरीर बनता है । इसप्रकार शारीरिक जीवात्मा–शरीर मन बुद्धि इन तीन देवासुरविभूतियों से नित्य युक्त रहता है । शरीर एव मन असुरों की आवासभूमि है तो बुद्धि देवताओं का निवास स्थल है ।

---

* उस समय तो सचमुच एशियाखण्ड में केवल देवताओं का ही असप न रा य था । परन्तु आज तो हमारा भावुकता से भारतवर्ष भी हम अपने क्रोड में स्थान नहीं दे रहा ।

चन्द्रमा भूपिण्ड का उपग्रह होने से सूर्य की अपेक्षा भूपिण्ड का अनुयायी रहता है। अतएव भूपिण्डाश-शरीर चान्द्राशरूप मन को सदा अपने और आकर्षित रखता है। सूर्य म पार्थिव प्राणियों की अपेक्षा बहुत दूर पडता है। चन्द्रमा एवं चन्द्रमा म भी अधिक भूपिण्ड हमारे समीप पडता। अत बुद्धि की अपेक्षा शरीर और मन प्रबल रहता है। साथ ही आसुरा भूत शरीर एवं मन क भी से अधिक है एव दिव्यविभूतरूपा बुद्धि एकाकिनी ही है। देवता कम है असुर अधिक एव बलवान् है। अतएव शारीरिक आत्मा पर प्राय शरीर और मन का ही प्रभुत्व रहता है। प्रज्ञामन भू मात्राओं के सम्बन्ध से प्रज्ञामात्रा-रूप मे परिणत होता हुआ इन्द्रियों का सञ्चालक बनता हुआ मासाग्नरूप रस गन्ध स्पर्श शब्दादि विषयों का प्रभु बना रहता है। इसप्रकार आत्मा मन के वशवर्त्ती होकर सदा विषयों का ही अनुगामी बनता हुआ अपने दिव्यस्वरूप से आवृत होता रहता है।

मनोमय आत्मा सदा शरीर की चिन्ता म ही निमग्न रहता है। शरीरबल बढाना शरीर को प्रत्येक प्रकार से सुख पहुँचाना ही इस का चरम लक्ष्य बन जाता है। परिणाम इसका यह होता है कि दिव्यज्योतिर्मय जो आत्मा बुद्धिरूप सौर देवताओं की आवासभूमि था उसमें य मनोमय शरीरमय असुर प्रविष्ट हो पडते हैं। इनके आने से आत्मा अपना प्रकाश अभिभूत कर बैठता है। बुद्धिरूप देवता असुरों का यह आक्रमण रोकने की चेष्टा किया करते है। मनुष्य जब भी किसी आत्मपतनोत्तेजक विषय की ओर झुकता है तो बुद्धि रोकती है कि तुम ऐसा मत करो। परन्तु पूर्वकथनानुसार असुरभावयुक्त मन की प्रधानता इस बुद्धिप्रेरणा को व्यर्थ कर देती है। इसप्रकार मनोमय असुरों के समतुलन म बुद्धिमय देवता पराभूत होजाते है। इस आक्रमण से बचने का आध्यात्मिक-असुरों को सर्वथा पराजित करने का एकमात्र उपाय है — **आत्मयाजी** बनना।

आसुर मन जिन विषयों को लेकर बलवान् बनता हुआ दिव्यविभूतियों को पराजित करने में समर्थ होता है उन विषयों की ओर से आसक्ति हटाने से अपने आप आध्यात्मिक असुरबल घट जायगा एव बुद्धिबल बढ जायगा। देवता जयलाभ कर लेंगे और असुर परास्त होजायगे। शारीरिक-आग्नि को उत्तर म प्रतिष्ठित कीजिए। नाभि से ऊपर का स्थान उत्तर है नीचे का दक्षिण है। इस दक्षिणभाग में अध्वर्यु रूप वायुमूर्त्ति व्यान को बलवान् बनाइए मूलप्रतिष्ठा को दृढ कीजिए उधर से उत्तरस्थ शिराऽग्नि (मस्तकस्थ षडङ्ग-वैश्वानर) का बल बढाइए दोनों ओर के देवता जब सावधान होकर **नियमित आहारविहाररूप आत्म-यज्ञ** का जिस दिन यथावत् सञ्चालन करने लग जायगे उस दिन अपने आप असुर परास्त होजायँगे। मिथ्या आहारविहार से विषयानुसधान से शारीरिक-आग्नेय देवताओं का बल घट जाता है असुरों का बल बढ जाता है। जो विद्वान् इस आध्यात्मिक यज्ञरहस्य को समझकर आयुर्वेदोक्त नियम स अपनी जीवनयात्रा का निर्वाह करता है वह कभी भी असुरों को अपने अध्यात्मयज्ञ म प्रविष्ट नहीं होने देता। यह है इस आख्यान का आध्यात्मिक रहस्य। अब सर्वप्रधान **आधिदैविकरहस्य** की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

इस आख्यान का सम्बन्ध **सागराम्बरा** नाम से प्रसिद्ध **पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ आप** इस चतुर्लोकात्मिका स्तौम्या पृथिवी के साथ समझना चाहिये। ससार का उपादानतत्व शुक्र नाम से व्यवहृत होता है। इस शुक्र की **वाक्-आप-अग्नि** ये तीन अवस्थाएँ हैं। ये तीनों ही अमृत-मर्त्य भेद से दो दो

प्रकार के ह । इन मे अमृता मक वाक् आप अग्नि से तो **अमृतसृष्टि** हाती है एव म य इ ही शुक्रो से **म यसृष्टि** का विकास होता है न म प्रकृत में पृथिवी सस्था के साथ म यशुक्र का ही सम्ब ध समझना चाहिए । भूपिण्ड स्वय आ नमय है । मके चारा ओर **समुद्रमभित ापन्वमानम्** * इस श्रौत सिद्धा त के अनुसार चारा ओर आपोमय पारमष्ठय समुद्र है । इस के चारो ओर वाड मय वदरूप प्राणस्तर है । उधर से आन्ये सबसे ऊपर नाक्स्नर है । इसी के **पुराणाकाश** कहा जाता है । इस वाकस्तर के (वाड मण्डल के) भीतर **आपोमय मण्डल** है । स ही **अणवसमुद्र** कहा जाता है । इस आपोमयमण्डल के केन्द्र में **भूपिण्ड** है । इन तीनो स्तरा में से सर्वा त के वाकस्तर को तो छोड दीजिए । क्योकि उसका प्रकृत आख्यान के साथ कोइ विशेष सम्ब ध नही है एव अवाशष्ट **आग्नमूत्ति भूपिण्ड आपोमय मण्डल** इन दो तथ्यो को लक्ष्य बनाइए ।

पूवप्रकरणो में य अनेकधा कहा जाचुका है कि— **अद्ध ह वै प्रजापतेरात्मनो मत्यमासीद द्धममृतम्** इस श्रौत सिद्धा त के अनुसार यह अ निप्रजापति **अमृत मत्य** भेद से दो भागो में विभक्त है । अमृताग्नि **प्राणरूप है** एव म र्याग्नि **भूतात्मक है** । अमृताग्नि को **देवता** कहा जाता है एव म र्यानि को **भूत** कहा जाता है । स्वय भूपिण्ड भूताग्नि की चितिमात्र हैं । अतएव पिण्डा मक इस म य अग्नि को **चित्याग्नि** कहा जाता है । न्स चि याग्न म **अग्नि आप** दोनो ह । पानी एव अ नि के सघात से ही भूपिण्ड का निर्म्माण हुआ है । पानी की उपादानता को लक्ष्य में रखकर जहा न्स भूपिण्ड के लिए **अद्भ्य पृथिवी** यह कहा जाता है कहा आग्न की (म र्याग्नि की) उपादनता को लक्ष्य में रखकर न्स के लिए **अग्निभू स्थान** यह कहा जाता है । न्स म याग्निपिण्ड के केन्द्र से वह प्राणाग्न बद्ध रहता है । यद्यपि प्राणाग्नि नि य है । परन्तु जबतक भूपिण्ड नि पन्न नही होजाता तबतक इस प्राणाग्नि को प्रतिष्ठित होने का अवसर ही नही मिलता । जब ाच य भूपिण्ड नि पन्न होजाता है तभी उसके हृदय में इस अमृताग्नि के **निधान** का अवसर आता है । अतएव **चिते निधीयते** न्स यु पत्ति को लक्ष्य में रखकर इस अमृताग्नि को **चितेनिधेय** नाम से व्यवहृत किया जाता है ।

यह प्राणाग्नि— भ पण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित होकर अपने प्राणरूप गतिध म के कारण गाममण्डल का सम्पादन करता हुआ उत्तरोत्तर आग चलता है । न्सी प्राणाग्न का नाम **तेजोरस है** । यही मन्त्रसहिता में **अङ्गिरा** नाम स यवहृत हुआ है । यह प्राणाग्निरूप अङ्गिरा वस्तुत भूपिण्ड की वस्तु नही है । अपि तु सौर इन्द्रमय सावित्राग्नि सम्ब से प्रवृत्त हाकर न्स भ पण्ड में प्रतिष्ठित होजाता है । **प्राण प्रजानामुदय**

अपा पष्ठमास यानिरग्ने समुद्रमभित पि न्वमानम् ।
वद्ध मानो महाँ आ च पुष्कर ाद्वेवो मात्रया वरिम्णा पथम्व ॥

—यजु स १७ २६।

— वाकपिण्ड रूप ऋक पर आरूढ होकर यह सामा मक प्राण **हिंकार–प्रस्ताव–उद्गीथ–प्रतिहार–निधन** न्न पाच मुख्य पर्वों में परिणत होकर महिमामण्डल का अधि ठाता कैसे बनता ह ? इस विषय का विशद समाधान छान्दोग्य–उपनिषद–हिन्दीविज्ञानभाष्य क **सामप्रपाठक** नाम के द्वितीय प्रपाठक में देखना चाहिये ।

 यप मृच्य न्स सिद्धा त के अनुसार यह सोर अ न– प्राण ाम म य न्त ना है। यह ज तक अपने मौरमण्डल में प्रति ठत रहता है तबतक ता आकप्रणशक्ति–प्रधान रहता हुआ प प ा ा का आदान करता हुआ य आ ि य नाम स यवहृत होता है। ए य ी प्र य म ब व म भ म प्र ता न होकर अङ्गिरा नाम से यवहृत होन लगता है। पार्थिव भौतक रनथ प माणुओ का ाबर ण (मथन) करना म आङ्गराप्राण का ही मुख्य काय है। उस एक प्राण का विषरणशक्ति स सम्पूर्ण पार्थिव परमाणु परस्पर आबद्ध रहत ह।

पार्थिव परमाणु अङ्ग है यह अङ्गी है। अङ्गी बन कर यह प्राण तेजोभाव के कारण उत्तरोत्तर विशकालत होता हुआ ऊपर जाता है ऊत्तरोत्तर विस्नस्त होता रहता है। अ एव **अ गान यस्य सोऽङ्गी अङ्गा न्या रसति–प्रस्रवति–विस्रस्तो भवति** न्स यु पत्ति म न्से अ ि कहा जाता है। यहा आकर भलोक की वस्तु बन कर द्यु लोक की ओ जारहा है। उधर से स य म निकलने वाला आा यप्राण निर तर चारा ओर जाता हुआ भापण्ड की ओर भ अ रहा है। जाते हुए अङ्गि ा एव आते हुय आदि य का अन्तरिक्ष म तानून त्र (स त्र ध–मुठभेड) हाता है। इसी रहस्य का लक्ष्य म रखकर **आदित्याश्च ह वा अङ्गिरसश्च अस्पद्ध त–वय पूवमेष्याम –वय प वमेष्याम** यह कहा जाता है। कहना यही है कि यह आङ्गराग्नि आगन्तुक है। प्रवग्य–सम्ब ध से जिस म ग स आकर यह भके म प्रतिष्ठित हुआ था ठीक उसी माग से पुन अपने द्यु लोक म चला जाता है। अङ्गिरा के इसी आगति गति विनान को लक्ष्य म रखकर म त्रश्रु ति कहती है—

इत एत उदारुहन् दिव पृष्ठा यारुहन्।
प्रभुजयो यथापथि द्यामङ्गिरसो ययु ॥

—सामसहिता पू ११२

यह प्राणाग्निरूप अङ्गिरा बाहिर निकल कर जहा जाके अपनी गति समाप्त करना है वहातक का एक मण्डल बनता है। किसी समय (आदि यावस्थाकाल में–सौरप्राण के आगमनकाल म) अङ्गिरा स य की वस्तु रहा होगा। परन्तु आज इस भपिण्डके केन्द्र से निकलकर चारो ओर अपना एक स्वत त्र मण्डल ब ाता हुआ तो यह पृथिवी की ही वस्तु माना जायगा। अतएव आपको यह भी मान लेना पडेगा कि जहातक इस अङ्गि राप्राण की व्याप्ति है वहातक का सम्पूर्ण भाग **पृथिवीलाक** ही है। सच पू छिए तो पृथिवीलोक का समपक यह अङ्गिराप्राण ही है। क्योंकि **प्रथिवी** श द का निवचन करत हुए ऋषिया न **यदप्रथयत्–सा प्रथिवी** यह कहा है। यह प्रथन फैलाव है। भापण्ड का फैलाव नही होता अपि तु पिडस्थ प्राणाग्नि का ही फैलाव हाता है। वही **अप्रथयत्** का अधिकारी है। अत हम इसे ही **प्रथिवी** किवा **प्रथिवीका स्वरूपसमपक** कर सकते हैं। **भूपिण्ड पिण्ड है** एव **प्रथिवी मण्डल है**। **भूपिण्ड भूतप्रधान है** एव **प्रथिवीमण्डल प्राणप्रधान है**।

जो प्राणाग्नि भपिण्ड के केन्द्र स निकल कर भपिण्ड के पृष्ठ पय्यन्त याप्त ह उसे तो भपिण्ड म ही अ तभ त मान लीजिए एव भपृ ठ से आगे चलिए। पृष्ठ स परिधि पय्यन्त याप्त इस प्राणाग्न की **घन तरल–विरल**–ये तीन अवस्थाए हाजाती है। जहातक घन अग्नि रहता ह वह प्रदश **वाङ्मयस्तोम** की अपेक्षा से **त्रिवृत्स्तोम** कहलाता ह। इस म **अग्नि की घनावस्था** किवा **घनावस्थापन्न प्राणाग्नि** प्रतिष्ठित रहता है। जहातक तरल अ नि व्याप्त रहता है वह प्रदेश **पञ्चदशस्तोम** नाम स व्यहृत होता ह। एव जिस प्रदेश में विरल अग्नि प्रतिष्ठित रहता है वह **एकविशस्तोम** कहलाता ह। इसप्रकार उस पृथिवी

मण्डल में त्रिवृत् पञ्चदश एकविंश य तीन स्वतन्त्र प्र श बन जाते ह। इसी आधार पर तो— एक सन् त्रधामान याञुरुत यह कहा जाता ह। त्रिवृ प्र श म अग्नि स्वस्वरूप से विकसित है। अग्नि को भूस्थान कहा जाता है। अतएव इस त्रिवृ तामरूप घनाग्निलोक को (उस महापृथिवी में अ तर्भुक्त) पृथिवीलोक कहा जाता ह। ६ से १५ पर्यन्त के पञ्चदशस्तोम में अग्नि तरल बनकर वायुरूप म परिणत होजाता है। वायु के त्र म मे यह प्रदेश अन्तरिक्ष नाम से व्यवहृत होता है। १५ से २१–पर्यन्त का एकविंशस्तोमात्मक प्रदेश विरल अग्निरूप आदित्य की प्रतिष्ठाभमि होने से द्युलोक कहलाता ह।

तात्पर्य इसका यही हैं कि पार्थिव अग्नि ज्यो ज्यो ऊपर बढता है त्यो त्यो वह सूक्ष्म होता जाता है। इसी का तो नाम वितान है। भूपिण्ड से २ व अहर्गण पर सूर्य है। उस स्थान पर पहुच कर यह आङ्गिरस अग्नि सौर आदित्यधर्मों से सश्लिष्ट होकर स्वय भी आदित्यरूप ही बन जाता है। जिस पर आप बैठ हैं वह भू है। सूर्यपरण स्व है। भूपिण्ड एव सूर्यपिण्ड का अन्तराल प्रदेश भुव है। भू चित्याग्निमय है। अन्तरिक्ष मरुद्वायुमय ह। एव सूर्यापिण्ड सावित्राग्निरूप आदित्यमय है। इस त्रिलोकी को रुद्राग्नि क स बन्ध स रोदसी नाम स व्यवहृत किया जाता है। प्रकृत में इस त्रिलोकी का कोइ सम्ब ध नही है। अपितु रोदसी त्रिलोकी का जो एक भूपिण्डात्मक भूलोक है उसमें प्रतिष्ठित जो पार्थिव अङ्गिराप्राण है उसी के वितान से रोदसी त्रिलोकी से अपनी सवथा स्वतन्त्र सत्ता रखने वाली जो स्तौम्यत्रिलोकी है उसीका यहा सम्ब ध है।

स्तौम्यत्रिलोकी एक महापृथिवी है। इस महापृथिवी के गर्भ में त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश भेद से तीन लोक हैं। जहा रोदसी–त्रैलोक्य क लोक भ भुव स्व इन नामो स व्यवहृत होते हैं वहा इस स्तौम्यत्रिलोकी के तीनो लोक पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ इन नामो स प्रसिद्ध हैं। इस सवथा विभक्त लोक व्यवस्था के रहस्य को न जानकर अज्ञ मनुष्य भ आदि का पृथिवी आदि के साथ परस्पर पर्याय सम्बन्ध समझा करते ह। यदि द्यु और स्व एक ही वस्तु होती तो— दिव च पृथिवीं चान्तारक्षमथो स्व यह कैसे कहा जाता? प्रकृत विषय यही है कि स्तौम्य त्रलोकी एक महापृथिवी है। इसका आधार भूपिण्ड है। भूपिण्ड का केन्द्रस्थ आत्मा मन प्राणवाङ्मय है। यह आत्मवाक जहाँतक जाता है वह मण्डल वषट्कार कहलाता है। वाक गान त है। ये सन्त्र है।

३ ३ गो का एक एक अहर्गण होन से ३३ अहर्गण होजाते हैं। अवशिष्ट १ वाँ चतुस्त्रिंश प्रजापत है। इनमें ३ अहर्गणो का भोग तो पिण्ड न प्राण में होजाता है। शेष ३ अहर्गण भपृष्ठ से मण्डल की परिधि पर्यन्त या त है। भ परिस्थ तीन अहर्गणों मे ६ के योग स त्रिवृत् (९) –६ के योग से पञ्चदश (१५ पुन ६ के योग मे एकविंश (२) पुन ६ के योग से त्रिणव (२) पुन ६ के योग से त्रयस्त्रिंश (३३) स्तोम का स्वरूप नि पन्न होता है। पृथिवी के २१ व अहर्गण पर सूर्य है। अभी वाङ्मयी पृथिवी के ११ अ र्गण अवशिष्ट हैं। अङ्गिराप्राण के सम्बन्ध से जहा पृथिवी की सत्ता २१ पर्यन्त(सूर्य पर्यन्त) मानी जाती है वहा इस वषट्कार के स बन्ध से पृथिवी की सत्ता सूर्य से भी ऊपर पर्यन्त मानी जाती है। तभी तो पुराण का— पृथिवी के पुष्करद्वीप में सूर्य ह यह कहना अ वर्थ बन जाता है।

सूर्य को— असौ वा आदित्य एष रथः (शत ६।४।१।५) के अनुसार रथ कहा जाता है। पार्थिवसाम उपर्युक्त कथनानुसार इस सूर्यरथ का भी तरण कहा जाता है। अतएव इस पार्थिवसाम को रथन्तर साम कहा जाता है। जहातक इस रथन्तर की सीमा है वहातक हमारी सागराम्बरा पृथिवी है। २१ व अहर्गण पर्यन्त प्राणाग्निस्तर है। एव ३३ पर्यन्त आपस्तर है। तीसरा वाङ्मय वाक्स्तर गायत्र त्रैष्टुभ जागत-भावापन्न छन्दोमा नाम के युग्मस्तोम के सम्बन्ध से ४८ पर्यन्त जाता है इसे ही विज्ञानभाषा म पारावतपृष्ठ कहा जाता है। इसे अप्राकृत समझकर छोड दिया गया है। इसप्रकार सागराम्बरा पृथिवी में क्रमश त्रिवृत् पञ्चदश एकविंश त्रयस्त्रिंश इन चार स्तोमभेदों से क्रमश पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ आपः ये चार लोक होजाते हैं। इन चारों में क्रमश अग्नि वायु आदित्य वरुण ये चार देवता प्रतिष्ठित हैं। घनाग्नि घनता के तारतम्य से आठ भागों में विभक्त है ये ही आठ वसु हैं तरलाग्नि (वायु) तरलता के तारतम्य से ११ भागों में विभक्त है ये ही ११ रुद्र हैं। विरलाग्नि विरलता के तारतम्य से १२ भागों में विभक्त है। ये ही १२ आदित्य हैं। इन तीनों विभिन्न प्राणों के सयोजक नासत्य-दस्र नाम के दो प्राण साध्य (त्रिवृत् पञ्चदश की एव पञ्चदश-एकविंश की सन्धि में रहने वाले) और हैं। इसप्रकार सम्भूय ३३ प्राण होजाते हैं।

एक ही अग्नि अग्नि-वायु-आदित्य बना। ये ही तीनों अवस्थातारतम्य से ३३ होगए। इसलिए हम कह सकते हैं कि इस पूर्ण देवाववत्त एकमात्र अग्नि में ही अन्तर्भूत है। प्राणाग्नि को पकड ली जाए ३३ सों देवता गृहीत होजायगे। यही कारण है कि वायु-इन्द्र-वरुण-नासत्य दस्र-आदि सभी देवताओं के लिए अग्नि में ही आहुति दे दी जाती है। अग्नि स्वविशकलनधर्म से सब में तत्तदाहुतिभागों को विभक्त कर तत्तदेवताओं में पहुचा देते हैं। इसी विज्ञान के आधार पर अग्नि सर्वा देवता – अग्निमुखा वै देवा अग्निपुरोगा सर्वे देवा प्रीयन्ताम इत्यादि कहा जाता है। भूपृष्ठ से सलग्न रह कर (२१) एकविंश-स्तोम पर्यन्त व्याप्त दूसरे शब्दों में त्रैलोक्य में व्याप्त ३३ भागों में विभक्त इस आग्नेय प्राण ही का नाम (देव नामक) देवता है। इस प्राणाग्नि में सोमाहुति होरही है। इसी सोमाहुति का नाम यज्ञ है। त्रैलोक्यरूपा महापृथिवी वेदि है। इस पर देवता यज्ञवितान कर रहे हैं। अग्नीषोमात्मक इसी प्राकृतिक नित्य यज्ञ से प्रजा की रक्षा होरही है उत्पत्ति होरही है। उपर्युक्त इन्हीं ३३ यज्ञिय देवताओं का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशश्च ।
मनोर्देवा यज्ञियास ॥

—ऋक् ८।३ । ।

उक्त ३३ सो देवताओं का विकासस्थान वही भूकेन्द्रस्थ उक्थरूप प्राणाग्निरूप अथर्वसहितादि में स्कम्भ नाम से प्रसिद्ध दैनन्दिनगतिका प्रवर्तक बनता हुआ तद्द्वारा अहोरात्र का सम्पादक बनता हुआ भूपिण्ड की उत्तर दक्षिण की अन्तिम सीमा में प्रतिष्ठित होकर क्रमश सुमेरु कुमेरु नाम से प्रसिद्ध होता हुआ उत्तरदक्षिणध्रुवकीलक से नित्य बद्ध रहकर अपने स्थान में ही घूमता हुआ २४ अश के व्यासार्द्ध से वृत्त बनाकर ४८ अश के परिसर (घेर) में व्याप्त रहता हुआ अश्वपशु का प्रवर्त्तक अक्ष नाम से प्रसिद्ध प्रजापति ही इन ३३ प्राणदेवताओं का प्रजनयिता है। इसी उक्थ से अर्करूप ३३ देवता क्रमश वितत

होते हुए २१ व अहगण पर्य्यन्त या त हारह है। अत इन देवताओ को हम अवश्य ही प्राजाप य (प्रजापति की सन्तान-प्रजापतिप्राण के सतनन रूप) कह सकते है।

२१ व अहगण के ऊपर हमन आपालाक बतलाया है। इसमे प्रधानरूप से सवरणधर्म्मा वरुण-देवता का साम्रा य है। आ नप्राण विकासशील है तो यह वरुण सकोचशील है। ग्रथि खोलना प्राणाग्नि का जहा स्वरूपधम्म है व ा ग्रथि लगा दना वरुण का स्वाभाविक कर्म्म है। इसी वरुणमण्डल में भृगु का विकास होता है। निआण सन् ग छति के अनुसार जो त व अपने सकोचध र्म से वस्तु को अपने उदर म बद्ध करता हुआ चलता है वही भृदगु कहलाता है। भृद्गु ही देवताओं की परोक्षभाषा में भृगु नाम से प्रसिद्ध है। आङ्गरा जहा उत्तरोत्तर रसनधर्म्मा विश्लशनशील) था वहा यह भृगु उत्तरोत्तर सगठनधर्म्मा है। वारुण मण्डल में ही इसका विकास रहता है। अतएव सके लिए भृगुर्नै वारुणि यह कहा जाता है। जिसप्रकार प्राणाग्निरूप अङ्गिरा नि की घन तरल विरल ये तीन अवस्थाए हैं एव व ही तीनो अवस्थाए जस अग्नि वायु आदित्य इन तीन नामो से प्रसिद्ध हैं ठीक इसी प्रकार इस सकोचधर्म्मा भृगु की भी तथोक्त तीन अवस्थाए हैं। इन्ही तीनो अवस्थाओ को क्रमश आप -वायु -सोम - इन नामों से व्यवहृत किया जाता है।

उक्त अवस्थाओ के कारण तीनो त व सवथा पृथक पृथक् नाम रूप क म वाले बन जाते है। आपो-भाग म असुरप्राण प्रतिष्ठित रहता है वायु मे ग धवप्राण की सत्ता है एव सोम मे पितरप्राण रहता है। दूसरे श दो में आप्यप्राण वाय यप्राण साम्यप्राण ही क्रमश असुर ग धव एव पितर हैं। ये तीनो सहज मा है। अतएव तीनो प्राणो का एक दूसरे के साथ सम्ब ध रहता है। यही कारण है कि जहा आ यप्राण को प्रधानरूप से असुर माना जाता है वहा वायुगत आप्यप्राण के लिए— अन्तरिक्ष वा अनुरक्षश्चरति अमूलमुभयत परिच्छिन्नम यह कहा जाता है। आ तरिक्ष्य वारुणवायु में आसुरप्राण प्रविष्ट रहता है यह पहिले ही कहा जाचुका है। सहज मा सोम भी (पितर भी) इससे असस्पृष्ट नही है। अतएव जबतक सोम आपोमण्डल में रहता है जबतक यह भी वृत्र असुर ही कहलाता है।

इसप्रकार आपोरूप भृगु की तीन अवस्थाओ से असुर तीन भागो में विभक्त होजाता है। प्रत्येक आङ्गिरस देवता के साथ आशिकरूप से त्रिधा विभक्त इस आ प्य असुरप्रा ा का सम्ब ध रहता हैं। देवता ३३ हैं। प्रत्येक में तीन तीन असुर हैं। इसप्रकार देवताओ की अपेक्षा ये त्रिगुणित (तिगुने ९९) होजाते हैं। ये असुर जब भी त्रलोक्य में आक्रमण करते हैं सवत्र अ धकार होजाता है। रात्रि में वारुणप्राण का पूर्ण विकास है। अतएव रात्रि को वारुणी कहा जाता है रात्रि वरुण के सम्ब ध से ही असुरो की अवासभमि है। इसके आगमन से अह कालाधिष्ठाता ज्योतिम्मय दवता सवथा पराभत होजाते हैं।

होता क्या है इन्द्र दध्य ड् अथर्वा की अस्थि का वज्र बना कर इन ९९ असुरो को नष्ट कर देते हैं। अथर्वा पारमेष्ठय त व है। इसी को आपोमय मण्डल कहा जा ा है। आप की अवस्था-विशेष को ही सोम बतलाया गया है। इस सोम की वृत्र इन्दु पवमान अप्तु आदि १ प्रधान जातिया हैं। इन दसों मे जा एक वृत्र नाम का सोम है उस की ध्रुव धत्र धरुण धम्म ये चार अवस्थाएँ है। भूपिण्ड पथर एव ओर ओर घनद्रव्यों में रहने वाला घनतास पादक वृत्रसोम ध्रुव है। इसीको अश्मासोम भी

कहा जाता है पानी घृत तल आद तरल पदार्थों म रहने वाला तरलताम पाटक वृत्रसोम धत्र नाम मे यवहृत होना है। वायु स्प्रीट इथर प्राण आदि विरल प र्थों म रहन वाला विरलता–स पादक सोम धरुण नाम से व्यवहृत होता है एव रूपादि गुणा म रहने वाला गुणभाव–सम्पा क वृत्रसोम धर्म्म नाम से प्रसिद्ध है।

वदिक–परिभाषा में घन तरल विरल भाव के लिए क्रमश दधि घृत मधु ये तीन श द प्रयुक्त हुए ह। पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ म क्रमश घनाग्नि तरलाग्नि विरलाग्नि प्रतिष्ठित हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य म रखकर इन तीनो के लिए— दधि हैवास्य लोकस्य रूपम् घृतमन्तरिक्षस्य मध्य–मुष्य (शत ७ का कूर्मचितिब्राह्मण) यह कहा जाता है। बतलाना यही है कि दधि श द घनभाव का वाचक है। उधर पूर्वोक्त चतुर्विध वृत्रसोमो में घनता–स पा क अश्मासोम है। अतएव हम इसे इस घन वभाव के का ण अवश्य ही दधि नाम से व्यवहृत कर सकते ह। हमारे शरीर में अस्थि (हड्डी) का निर्म्माण इसी दधि नामक अश्मासोम से होता है। पत्थर म जो आप घनता दखते ह वह इसी अश्मासोम की कृपा है। इसप्रकार इस घनता से इस घनसाम को हम दधि अस्थि अश्मा आदि सभी नामा से व्यव हृत कर सकते हैं। यह भावसोम भौतिक है। भत की प्रतिष्ठा प्राण है। प्राण की विकासभूमि भत है। जो पारमेष्ठ्य अथर्वाप्राण स्वविकास के लिए इस अस्थिरूप दधिसोम (अश्मासोम) का याञ्चा करता है अपेक्षा रखता है दसरे श ो में जो प्राण इस अश्मासोम से युक्त रहता है वही— दधिसोमञ्चते अपेक्षते इस व्युत्पत्ति से द यङ् नाम से प्रसिद्ध है। प्राण को ही प्राणा वा ऋषय इस सामान्य परिभाषा के अनुसार ऋषि कहा जाता है। अतएव अश्मासोमय इस आथवणप्राण को दध्यङ्–ऋषि कहा जाता है। पुराणपरिभाषा में यही ऋषि दधीचि नाम से प्रसिद्ध हुए ह। साथ ही आपको यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जो मनुष्यऋषि जिस प्राण–ऋषि का प्रथमद्रष्टा होता है वह अपने जन्मनाम से प्रसिद्ध न होकर उस मौलिक ऋषिप्राण के नाम से ही प्रसिद्ध होता है। इसी पौराणिकी सामान्य–परिभाषा के आधार पर जिस ऋषिने सवप्रथम इस दधीचि प्राणर्षि का प्रत्यक्ष किया था वह और उसके वशधर भी दधीचि नाम से ही प्रसिद्ध हुए। धीचि ऋषि के आत्मा में इसी द यङ् प्राण की प्रधानता थी। गोत्रसृष्टिविज्ञान * के अनुसार दधीचि ऋषि ही सुप्रसिद्ध दाहिमा (दाधीच) नाम की ब्राह्मणजाति की मूलप्रतिष्ठा है। दधीचि ऋषिप्राणकृतात्मा दधीचि नाम के मनुष्य–ऋषि इस जाति के मूलपुरुष थे। इसी वशपरम्परा से यह प्राण और और ब्राह्मणजातियों की अपेक्षा इस जाति में प्रधानरूप से विकसित रहता है। दधीचित व अश्मासोम के सम्बन्ध से अभेद्य है। और तो और आसुरप्राण भी यहा आके सवथा परास्त होजाता है जैसा कि अनुपद में ही पाठक दखग।

इस प्राण में मृदुता का सवथा अभाव है। यह प्राण अत्यन्त ही वक्र है। इस पर किसी का आघात सम्भव नही है। जिस प्रकार वसिष्ठादि प्राण मृदुभाव–सौहाद आदि ऋजुधर्म्मों का विकास करते हैं ठीक इसके विपरीत यह प्राण जिसके भी आत्मा में प्रधानरूप से विकसित रहता है वह नरश्रेष्ठ मृदुभाव–सौहाद ऋजुता आदि विभूतियो से तटस्थ ही बन जाया करता है।

---

* ऋषिप्राण किस क्रम से गोत्रसृष्टि करते हैं? सगोत्रो में विवाह–सम्बन्ध क्यो नही होता? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए ऋषिस्वरूपपरिचय नामक स्वतन्त्र निबन्ध ही देखना चाहिए।

प्रकृत म हमें केवल यही बतलाना था कि परमेष्ठी अथवा में प्रतिष्ठित रहने वाला द यड् सोम साक्षात् वज्र है। इस अस्थिसोम का वज्र बनाकर ही इन्द्र उन तमोमय रात्रिगत ९९ असुरों को नष्ट कर डालते है। वस्तुस्थात यही है कि यह अ मासोम दाह्य है। उधर सौर सावित्राग्नि दाहक है। इस अश्मासोम की सौर अग्नि में आहुत होती। २५ व अहर्गण पर सौम्यविश्व न प्रतिष्ठित है। विद्युत इन्द्र है। इसके आकर्षण से आ बिन व अश्मासोम सौराग्नि म आहुत होता है। सोम का आग्न मे आहुत होना ही सौ य विद्युत् का असुरा पर वज्र प्र ार करना है। क्याकि सोमाहुति के अव्यवहितोत्तरकाल मे ही ज योतिषा नितमो वज्र य इस सिद्धा त के अनुसार सवत्र प्रकाश होजाता है। इसप्रकार रूपाविष्ठाता इन्द्र की कृपा से ९९ असुर नष्ट होजाते ह। सवत्र प्रकाशमय ३३ दव देवताओं का साम्रा य होजाता है। अहोरात्र के सम्बन्ध म यह कौतुक प्रतिदिन हुआ करता है। सी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर मन्त्रश्रुति कहती है—

इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुत ।
जघान नवतीर्नव ॥

—ऋक् स १म ८४सू १३म

जिस प्रकार ३३ आग्नेय देवता भूपिण्डकेन्द्रस्थ प्रजापात से उत्पन्न हुए है एवमेव इन ९९ असुरों की मूलप्रतिष्ठा भी वही न यप्रजापात है। भूपिण्ड का निर्माण अपतत्व और अग्नि से हुआ है यह प्रकरण के आरम्भ म ही कहा जाचुका है। यह आप भृगु है एव अग्नि अङ्गिरा है। नम्यप्रजापति सृष्टि की कामना करते हैं। कामना के अन तर व तदनुकूल तप करते है। यह तप इन्ही दोनो से सम्बन्ध रखता है। भृगूणामङ्गिरसा तपसा तप्य ध्वम् के अनुसार प्रजापति का तप (प्राणव्यापार) भृगु अङ्गिरा मक है। वे इन्हा पर व्यापार करत ह। इस व्यापार से पानी का स्नेहधम्म एव अग्नि का तेजोधम्म पानी का शीतभाव एव अग्नि का उष्णभाव (रासायनिक सयोग से) प्रतिमूर्च्छित होजाता है। फलत अनु णाशीत भूपिण्ड का निर्माण होजाता है। भूपिण्ड में दोनो की सत्ता है। इनमें आग्नेयप्राण का विकास जैसे देवता है तथव आप्य भागवप्राण का विकास पूवकथनानुसार असुर है। दोनो प्राजापत्य हैं।

जसे भूपिण्ड के केन्द्र से विनिगत ३३ विध अङ्गिराप्राण याप्त होता है एवमव देवप्राण के साथ साथ ही भूकेन्द्र से विनिगत विरावी असुर भी त्रलोक्य पर आक्रमण करत हैं। आग्नेय प्राण ऊर्ध्वगामी होता है। प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलन हविर्भुज यह सभी जानते है। अत इनका (देवताओं का) बल ऊपर जाते समय अधिक रहता है। पानी निम्नगा है। अत केन्द्राघात से प्रक्षिप्त होता हुआ भी आप्यप्राण कठिनता से ऊपर चढता है। चढता अवश्य है इसीलिए तो श्रुतिने दोनों की स्पर्द्धा बतलाइ है। परन्तु इस चढने में आग्नेय प्राण (देवता) प्रबल है इसलिए देवता असुरो को जीतते रहते थे यह भी कहा है। भूसृष्टिकाल की इस आरम्भिक स्थिति का ही निरूपण करते हुए भगवाद् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

देवाश्च ह वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे। ते ह स्म यद्देवा असुरान् जयन्ति, ततो ह स्मैवैनान् पुनरुपोत्तिष्ठति ॥८॥

जिस समय भूसृष्टि का आरम्भकाल था जिस समय भूपिण्ड एवं मण्डलावस्था का निर्माण हुआ था उस समय की स्थिति को लक्ष्य में रखकर भी- देवाश्च ह वा या कहा गया है। सचमुच उस समय तो देवता असुरों को निकालते रहते थे। और पुनः पुनः आक्रमण किया करते थे। परन्तु आज यह बात नहीं है। आज देवताओंने उत्तर भाग में अग्नि को प्रतिष्ठित कर दिया है। अतः आज असुर सर्वथा परास्त होगए हैं। आज ये असुर त्रैलोक्य से निकल कर अपने आपोमय चतुर्थ लोक में ही चले गए हैं। तात्पर्य इसका यही है कि प्रत्येक वस्तु वृत्त में किंवा पिण्ड में केन्द्र परिधि (परिधि) ये दो भाग रहते हैं। केन्द्र तत्वृत्त का मूलप्रतिष्ठा मानी जाती है। इस केन्द्रबिन्दु को ही विज्ञानभाषा में उत्तर कहा जाता है।

यह हम पूर्व में बतला चुके हैं कि ऊंचा नीचा यह व्यवहार उत्तर दक्षिण नाम से प्रसिद्ध है। प्रवि की प्रत्येक बिन्दु में सर्वोन्नत स्थान हृदय ही है। अतएव ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख इत्यादिरूप से इस हृदय को ही 'ऊर्ध्व' कहा जाता है। हृदय से परिधि की प्रतिबिन्दु नीची मानी जाती है। हृदयबिन्दु उत्तर है एवं परिधिभाग दक्षिण है। यहां भी आप इन दोनों का मेल देख रहे हैं। देवप्राण २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त है। अतः इनकी अपेक्षा यहां तक एक अग्नि की परिधि माननी पड़ेगी। भूकेन्द्र से निकलने वाला देवतामय प्राणाग्नि २१ पर्य्यन्त अपना एक मण्डल बनाता है। मण्डल का २१ वां स्थान परिधि का प्रवर्त्तक है। भूपिण्ड को केन्द्र में प्रतिष्ठित करते हुए २१ वें अहर्गण से उस पिण्ड के चारों ओर एक वृत्त बना दीजिए यही वृत्तसीमा इस प्राणाग्निमण्डल की परिधि बनेगी। उक्त परिभाषानुसार यही परिधि दक्षिणा दिक् है एवं भूकेन्द्र उत्तरा दिक् है। इसमें वही अग्निप्रजापति प्रतिष्ठित है। आग्नेय प्राणदेवता सृष्टिविकासक्रम से जिस दिन इस उत्तरस्थ (केन्द्रस्थ) अग्निबल को अपनाते हुए स्वयं दक्षिणरूप परिधि पर्य्यन्त व्याप्त होगए उसी दिन से असुर सर्वथा अनपजय्य बन गए।

बात यह हुई कि केन्द्रस्थ प्राजापत्याग्नि के परिभ्रमण से भूपिण्ड घूमने लगा। इस स्वात्मपरिभ्रमण से सूर्याकर्षण के द्वारा भूमण्डल सूर्य्य के अनुगत होता हुआ सम्वत्सर के साथ युक्त होगया। सम्वत्सर-मण्डल में कभी असुर प्रविष्ट नहीं होते। इसप्रकार अग्नि की कृपा से सम्वत्सरभोग्या बनती हुई स्तोमत्रिलोकीरूपा महापृथिवी आपोमय असुरों से सर्वथा ही पृथक् होगई। देवव्याप्ति भूकेन्द्र से चारों ओर २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त होगई इसके ऊपर ३३ पर्य्यन्त आपोमय असुरों की व्याप्ति होगई असुर और देवताओं की आवासभूमि सर्वथा पृथक् होगई। यही चौथा आपोमय मण्डल ब्रध्न कहलाता है। इसे ही साम-वेद की परिभाषा के अनुसार गोसव कहा जाता है। पुराणपरिभाषानुसार यही गोलोक नाम से प्रसिद्ध है। इसी के लिए प्रकृतब्राह्मण में गोष्ठान शब्द प्रयुक्त हुआ है।

आज भी गोस्थान (जहां गाएँ रहती हैं) गाय का ठान नाम से प्रसिद्ध है। गोस्थान ही गोष्ठान है। इसी को वैष्णवधाम कहा जाता है। तात्पर्य्य यही है कि पञ्चप्रकृतिविज्ञान के अनुसार स्वयम्भू परमेष्ठी सूर्य्य चन्द्रमा पृथिवी विश्व के इन पांचों पर्वों में क्रमशः प्राण-आप-वाक्-अन्न अन्नाद ये पाँच प्रकृतियाँ प्रतिष्ठित रहती हैं। इनके आधार पर क्रमशः ब्रह्मा विष्णु-इन्द्र-सोम-अग्नि ये पांच देवता उक्त पाचों पर्वों में प्रतिष्ठित रहते हैं। इस सृष्टिक्रमानुसार आपोमय परमेष्ठी में विष्णु का साम्रा

ेय है । इसी में इडा-उरु ा ये तीन त व उ पन्न होते ह । विश्व के य चयावत् भूतो को उ पन्न करने वाले अ ययपुरुष के मन -प्राण-वाक स अनुगृहीत जीवनीय सोमरसमूर्त्ति पारमेष्ठ्यत व को ही गौ कहा जाता है । इमकी ज मभूमि यही वि णुधाम है एव मञ्चरणभूम सौरत्रिलोकी है। इस गौत व का सवप्रथम इस सूर्य्य म ही श्मिरूप से विकास होना है। अतएव आय गौ पृश्निरक्रमीदसदन्मातर पुर पितर च प्रयन्त्स्व यादिरूप म सूर्य को भी गौ कहा जाता है । सूर्य्य में आकर यह पारमेष्ठ्य गौत व सहस्रधा-विभक्त होजाता है। भी ामाहस्री के सम्ब ध स सूर्य्य को— सहस्रदीधिति - सहस्रांशु इ यादि नामो स यवहृत किया जाता है । गा रहती ह अपने ठान म विचरती है स त्र । प मे ठी इनका ठान (स्थान) है सम्पूर्ण सौर ब्रह्माण्ड इनके पर्य्य टन का स्थान है।

त्रैलोक्य में ऐसा काइ पदाथ नही जो बिना इस पारमेष्ठ्य गौत व को आधार बनाए अपनी स्थिति रख सके। गौत व के इसी धम्म को लक्ष्य में रखकर गौर्वा इद स वं बिभर्त्ति (श ब्रा ५।१।२।१४।) यह कहा जाता है । न केवल भूत ही अपितु दवता भी इस गौत व के आधार पर ही जीवित हैं । गौ को वैश्वदेवी कहा जाता है । (देखिए गोपथ ब्रा उ ३।१६)। गौ देवताओ का मनोता है [कौ ब्रा १ ।६।] । पारमेष्ठ्य साम की अजस्रधारा इसी से सूर्य्य में आती है [श ।५।२।१६] । उसका आगमन सहस्रधाराओं से होता है । इसके उत्स [थन] से सोम की हजार धाराए निकलती हैं [श ७।५। । ३४।] । गौ के द्वारा आहुत सोम से देवता बलवान् बने ज्योतिम्मय बने । इसी बल से पूर्वोक्त देवताओन असुरों का नाश किया । इसी अभिप्राय म ताण्ड्यश्रुति कहती है —

'गद्धै तद् वा असुरानेभ्यो लोकेभ्यो गोवग स्तद्गोगोंत्वम्'

ता ब्रा १६।२।३ ।

परमष्ठी से चलकर इस प्राण का प्रथम विकास सूर्य्य में होता है । यहा आते ही यह सहस्रधा विभक्त होजाती है । सहस्रधा विभक्त स गौत व का हमारी पूर्वोक्ता स्तौम्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी के साथ सम्ब ध होता है । स्तौम्यत्रिलोकी में हमन क्रमश अग्नि यष्ठ - वसु वायु येष्ठ ११ रुद्र एव आदित्य (इ द्र) ज्येष्ठ १ रुद्रा की सत्ता बतलाइ है । इन तीना दवताओ में क्रमश ३३३-३३३ ३३३-इस क्रम से गौत व प्रतिष्ठित होजाता है । १ गा वच जाती है । इमी को कामगवी कहा जाता है । पार्थिव वसदेवतामयी ३३३ गौ पार्थिवसम्पत्ति की अधिष्ठात्री है । आ तरिक्ष्य रु देवतामयी ३३३ गौ आन्तरिक्ष्यफल की अधिष्ठात्री है एव दि य आदि यमयी ३३ गौ कवल दि यफल की ही अधिष्ठात्री है । पर तु यह कामगवी त्रैलोक्य मे आधिष्ठानरूप से याप्त होती हुई त्रैलोक्य की सम्पत्ति देने की शक्ति रखती है ।

६६ गो ऋतभावापन्न हैं एव कामगवी स यभावापन्ना है । प्र येक अहोरात्र में [दिनरात में-२४ घ टे में] इन हजारो गौओं का प्रत्येक प्राणी के साथ [पार्थिवपरिभ्रमण के द्वारा] भोग होता है । जिस समय प्राणी के आ मा में कामगवी नाम की स य गौ का भाग होता है उस समय इसके मुख से जो कुछ निकल जाता ह । वह अवश्य ही स य होजाता है । कामगवी की इसी स यशक्ति को लक्ष्य में रखकर ऋषियों न आदश दिया है कि- शुभ ब्रूयात् शुभ ब्रूयात् । तुम सदा शुभ बोलो कभी मुख से बुरे श द न

निकालो। यदि तुम किसी समय अशुभ बोलोगे और दुर्भाग्य से उस समय यदि तुम्हारे आत्मा में कामगवी का भोग होरहा होगा तो तुम्हारा कहना सत्य होजायगा। इसी आधार पर आज भी लोक में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि **भाई थोड़ा सोच समझकर बोला करो। विदित नहीं किस समय तुम्हारे मुख से निकला हुआ सच ही होजाय। वह समय यही कामगवी का भोगकाल है।** जो विद्वान् इस तत्त्व को पहिचानता हुआ इस कामगवी को अन्तर्याम सम्बन्ध से सदा के लिए अपने आत्मा में प्रतिष्ठित कर लेता है त्रैलोक्य की सम्पत्ति उसके लिए यथाकाम सुलभ हो जाती है। एवं यह गौतत्त्व का ज्ञाता विद्वान् जिस व्यक्ति के लिए जैसी भावना करता है जिसके लिए इसके मुख से जैसे इष्ट अनिष्ट शब्द निकल जाते हैं विश्वास कीजिए उस व्यक्ति के लिए वैसा ही होजाता है।

यही कामगवी पुराणपरिभाषानुसार **कामधेनु** नाम से प्रसिद्ध है। इसका फल पूर्णानन्द है। अतएव **नन्दिनी (आनन्दमयी) वृत्ति को कामधेनु की पुत्री माना जाता है।** जिस गोपशु में इस प्राणात्मिका कामधेनु की पूर्ण प्रधानता रहती है वह पशु भी **कामधेनु** नाम से ही व्यवहृत होता है। जिसमें अल्पमात्रा में इसकी वृत्तियों का विकास होता है वह **नन्दिनी** कहलाती है। दुःख है कि आज **कामधेनु और नन्दिनी** दोनों प्रकार की गौजातियां देश के दुर्भाग्य से उच्छिन्न होगई हैं। जो शक्ति जो कर्म जो फल उस प्राणरूप कामधेनु-नन्दिनी का है वही कर्म वही फल तत्कृत्तात्मा इन प्राणी पशुरूप कामधेनु नन्दिनी जाति वाली गायों से होता था। इसी कामधेनु के बल पर महर्षि वसिष्ठने राजर्षि विश्वामित्र को ससैन्य—सपरिवार क्षणमात्र में आतिथ्यभाव से आश्चर्यान्वित कर दिया था। इसी नन्दिनी गौ के अपराध से राजा दिलीप के वंशोच्छेद होने का उपक्रम होगया था। अन्त में गुरुवसिष्ठ के आदेश से जब नृपतिश्रेष्ठ दिलीप ने २१ दिन पर्य्यन्त की सतत परिचर्य्या से नन्दिनी को पुनः प्रसन्न कर लिया तब कहीं सूर्य्यवंश बचा था।

हमने बतलाया है कि कामगवी के अतिरिक्त ३३३ क्रम से गौतत्त्व तीन देवताओं में विभक्त है। आदित्यरूप सूर्य्य की जन्मभूमि आपोमय परमेष्ठी है। **तासु बीजमवासृजत्** इस सर्वमान्य सिद्धान्त के अनुसार अब्गर्भ में प्रविष्ट **बीजाग्नि** ही कालान्तर में सूर्य्यरूप से विकसित होता है। जहां गौतत्त्व उत्पन्न हुआ है वहीं यह **आदित्य** विकसित हुआ है। परमेष्ठी प्रजापति से ही अग्निमूर्त्ति अतएव **पुरुष** नाम से व्यवहार करने योग्य आदित्य उत्पन्न हुआ है एवं उसी आपोमय परमेष्ठी से सोममय अतएव **स्त्रीतत्त्व** नाम से व्यवहार करने योग्य गौतत्त्व उत्पन्न हुआ है। **आदित्य एवं गौ परमेष्ठी की कन्या एवं पुत्र हैं।** दोनों भाई बहिन हैं। इनके समन्वय से मेलजोल से परस्पर के स्नेह से अग्नितत्त्व विकसित होता है। तापलक्षण अग्नि सौम्या गौ एवं प्राणाग्निरूप आदित्य के सहयोग का ही फल है।

अग्नितत्त्व ही **अग्निर्वा रुद्रः** के अनुसार रुद्र है। अतएव हम इस गौतत्त्व को रुद्रमाता मान सकते हैं। स्वौम्यत्रिलोकी की अपेक्षा पार्थिव **वस्वग्नि** से गौतत्त्व की विकासभूमि माना जाता है। अतएव पृथिवी को भी **गौ** कहा जाता है। पृथिवीसंस्था में जो गौतत्त्व है उस की मूलप्रतिष्ठा वस्वग्नि ही है। इसी भाव को प्रधान मानते हुए हम गौतत्त्व को वसुदेवताओं की कन्या कह सकते हैं। त्रैलोक्य में व्याप्त त्रिविध भावापन्न यह गौतत्त्व निरन्तर सोमरस की वर्षा किया करता है। इसी सोम (अमृत) से **श्रद्धा** उत्पन्न होती है। श्रद्धासोम ही पर्जन्याग्नि में आहुत होकर वृष्टिरूप में परिणत होता है। वृष्टिरूप में परिणत सोम पार्थिवाग्नि में आहुत होकर ओषधि—वनस्पति का उत्पादक बनता है। यही ओषधिरस (अन्नरस) पुरुषाग्नि में आहुत

होकर रेतोरूप म परिणत होता है। यही रेत (शुक्र) स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित माङ्गलिक (मङ्गलग्रह के आग्नयरस स युक्त) शोणताग्नि म आहुत होकर अन्तत प्रजारूप में परिणत होता है । इसप्रकार उस त्रैलोक्य-व्यापिनी सवदेवमयी प्राणमूर्ति गौ से निकलने वाला जीवनीय सोमरस ही उपर्युक्त क्रमानुसार आगे जाकर विश्वप्रजा की उत्पत्ति का कारण बनता है।

सर्वाग्निमय पृथ्वी कृष्णप्राणमयी है इस की प्रधानता से लौह धातु का विकास होता है। रुद्राग्निमय अन्तरिक्ष श्वेतमूर्ति है। इस में पानी रहता है। पानी ही रुद्रप्राण के सम्बन्ध से रजतधातु का उपादान बनता है। रुद्र ही द्रुत होकर रजत बनता है अतएव रजतधातु की उत्पत्ति बतलाते हुए ब्राह्मणश्रुति ने रुद्र के अश्रुओं से रजत का विकास माना है। आदित्यमय द्युलोक हिरण्मय है सुनहरी है पीतभावयुक्त है। इन कृष्ण श्वेत-पीत भावयुक्त तीन लोकों म भुक्त गौ व भी यही तीनों भावों स युक्त रहता है। साथही यह भी समझ लीजिए कि जिस गौपशु म पार्थिवप्राणगौ की प्रधानता रहती है कि वह रगमें काली होती है। जिस म आन्तरिक्ष्यगौ की प्रधानता रहती है वह सफद होती है। जिस में आदित्यप्राणगौ प्रधानरूप से विकसित रहती है वह पीली होती है। जिस में तीनों गौभाव समानमात्रा से प्रतिष्ठित रहते है वह चित्रविचित्रा अनेकवर्णा होती है। इसी विज्ञान के आधार पर धर्म्माचार्यों ने दुग्ध पान के लिए कृष्णा गौ दशन के लिए कपिला (सारवर्णा) गौ एव दान मे श्वेत गौ का विधान किया है। हमारा गौपशु इसी नित्यप्राणगौ से उत्पन्न हुआ है *।

यद्यपि सभी पदार्थों म थोडा-बहुत गौप्राण विद्यमान है। परन्तु गौपशु तो इस की प्रधान विकासभूमि है। इसीलिए इसे गो नाम स ही व्यवहृत किया जाता है। जो धर्म्म हमने प्राणगौ के बतलाए हैं वे सभी धर्म्म इन प्राणी गौपशुओं* में समझिए। वह सोमरस की वृष्टि करती है यह सोममय दुग्धामृत की नाभि है। हितकर जीवनीय अमृततुल्य-बुद्धिवर्द्धक-हृदयविभूति का विकासक एकमात्र गायका ही दूध है। इसीलिए सर्वश्री वागभट्ट ने दुग्ध के सामान्य गुण बतलाते हुए गौदुग्ध को सर्वोत्कृष्ट मानते हुए कहा है—

स्वादु-पाकरस-स्निग्ध-मोजस्य-धातुवर्द्धनम्।
वातापित्तहर-वृष्य श्लेष्मल-गुरुशीतलम्॥
प्राय पय ।
तत्र गव्य तु जीवनीय रसायनम्॥
अष्टाङ्गहृदय सू. स्था द्रवद्रव्यविज्ञानीयाध्याय ५

— इस विषय का विशद विवेचन छान्दोग्यहिन्दीविज्ञानभाष्य के पञ्चाग्निविद्यारहस्य नाम के प्रकरण में देखना चाहिए।

* यह गौत व इडा उक्त गौ विराट भोग इन पाच भागों में विभक्त है। इन पाचों का ही सङ्क्षिप्त स्वरूप पव में अभिव्यक्त किया जाचुका है। प्रकृत गौ गो नाम की गौ है। यद्यपि इस का वही निरूपण होगया था परन्तु विषय स्पष्ट करने के लिए पुनरुक्ति की उपेक्षा करदी गई है।

भारतीय अर्थशास्त्र के अनुसार तो समस्त राष्ट्र के अर्थ का मूलप्रतिष्ठा केवल गोवंश पर ही अवलम्बित है। जिस राष्ट्र का गोबल उच्छिन्न होजाता है उस राष्ट्र का सर्वनाश निश्चित है। कृषि ही जीवनयात्रा का मुख्य आलम्बन है। कृषि का मूलाभित्ति गोवंश है। दधि-घृत अन्न सब कुछ इसी वंश पर अवलम्बित है। भारतीय ऋषियों की दृष्टि में तो यह पशु केवल ऐहलौकिक सम्पत्ति का ही कारण नहीं है अपितु इस की आराधना उनकी दृष्टि में अन्तरात्मा को पवित्र बना कर हमें स्वर्गादि सुख का भी अधिकारी बना देती है। भौतिक विज्ञान का अनन्य उपासक आज का जडजगत् भले ही ऋषियों की इस वास्तविक दृष्टि का मूल्य न समझे किन्तु जिन्होंने भूत में नित्य प्रविष्ट भूताधार प्राणतत्त्व की परीक्षा करली है वे यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कर सकते कि सचमुच गौपशु में वही नित्य गोप्राण प्रतिष्ठित है।

गौप्राण के द्वारा सचमुच सम्पूर्ण देवता इस गौपशुशरीर में विद्यमान हैं। सचमुच वही गोरस (सोम) इसके दुग्ध में है। इसकी सुश्रूषा से इसमें रहने वाला प्राण हमारे आत्मा में प्रविष्ट होगा आत्मबल बढ़ेगा पार्थिव-गुरुता नष्ट होगी। क्योंकि यह प्राण सूर्य्य में विकसित हुआ है। पार्थिव आकर्षण जहां गुरुता का कारण है वहां सौर गौप्राणाकर्षण निर्भारत्व का प्रवर्तक है। तत्प्राणप्रधान-प्राणी पशु के द्वारा अवश्य ही यह प्राण हमारे आत्मा में प्रविष्ट होकर उस पार्थिवाकर्षण से विमुक्त कर देता है। प्राण एवं प्राणीपशु अभिन्न हैं। इसी अभिन्नभाव को लक्ष्य में रखकर प्राण एवं प्राणीपशु पर समानदृष्टि रखती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

माता रुद्राणां, दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥

—ऋक्सं० ८।७८।

आपको यह जान कर कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि जब ऋषियों के सान्निध्य में समित्पाणि-रूपेण कोई वेदाध्ययन करने जाता था उस समय यदि ऋषि आगन्तुक में किसी प्रकार का दोष देखते थे तो सर्वप्रथम वे उसे **गौसेवा** का ही आदेश देते थे। गौसेवा से जब उसका आत्मा गौप्राणप्रवेश से सर्वथा दोषमुक्त होजाता था तभी वे उसे **आत्मविद्योपदेश** का अधिकारी समझते थे। इसी गौसेवा के प्रभाव से **सत्यकाम जाबाल** के अन्तरात्मा में अपने आप **चतुष्पाद् ब्रह्म के ज्ञान** का आविर्भाव होगया था। (छा० उप०)। मलिनता-निराकरण के लिए ही **पञ्चगव्य** का सेवन धर्माचार्य्यों ने आवश्यक बतलाया है। प्रत्येक आर्षमानव को यह आदेश है कि वह नियमितरूप से गौ की परिचर्य्या करे। **गोमय-गोमूत्र** से अधिक संसार में और कौन पवित्र है ?। गौदुग्ध से अधिक बुद्धि एवं बलवर्द्धक पदार्थ और कहां उपलब्ध होसकता है ?। जगन्माता गौ के **पुच्छप्राण** से बढ़ कर कौन अधिक पावन है ?। दूध घृत **अन्न अन्नपरिपाक की सामग्री (कण्ड)** इसप्रकार जीवनोपयोगी समग्र पदार्थ इस माता के अतिरिक्त हमें और कौन दे सकता है ?। प्रज्ञाशील के लिए गौ साधारण पशु नहीं अपितु त्रैलोक्य की विभूति है। **इहलोक परलोक** उभयलोक की अभ्युदयकारिणी है।

की दृष्टि ठीक है ? इसका निर्णय तो प्राणविज्ञान के पारदर्शी विद्वान् ही कर सकते हैं। प्राणपरीक्षक ही गौ के उपर्युक्त प्राणमहत्त्व को जान सकते हैं। इसी भाव को लक्ष्य में रखकर ऋषि ने प्र नु वोच चिकितुषे जनाय यह कहा है। किमिद् वस्तुतत्त्वम् ? इस रूप से पदार्थों की पूर्णपरीक्षा करने वाला ही चिकितुट् कहलाता है। ऋषि कहते हैं कि जो गोपशु तुह्मार सम्मुख खड़ा है उसे साधारण पशु मत समझो। विश्वास करो! सम त्रैलोक्यव्यापक देवमय प्राणरूप गौतत्त्व प्रतिष्ठित है। यह रुद्रों की माता है वसुओं की कन्या है आदित्यों की बहिन है। अमृत की नाभि है। आगे जाकर परोक्षभाषा का आश्रय लेते हुए ऋषि कहते हैं कि हमने बुद्धिमान् मनीषी के लिए यह कह दिया है कि वह भूलकर भी इस अदिति (सौम्यत्रिलोकीयुक्त त्रिविध देवतामयी) अपराधशून्या सर्वथा उपकारिणी गौ पर प्रहार न करें।

हमने कहा था कि गौतत्त्व की मूलविकासभूमि परमेष्ठी है। यही विष्णुधाम है। वहां यह गौतत्त्व उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहकर अर्क (रश्मि) रूप से सम्पूर्ण सौर ब्रह्माण्ड मे व्याप्त होता है। विष्णुलोक में प्रतिष्ठित उक्थरूप गौ गौ है। सौररश्मिरूप मे परिणत सहस्रधा विभक्त गौप्राण इस गौतत्त्व के शृङ्ग (सींग) हैं। सींग भी छोटे छोटे नही अपितु बहुत बडे। लोकालोक पर्यन्त (जहां सौरप्रकाश-मण्डल की सीमा समाप्त होती है वह स्थान लोकालोक कहा जाता है) व्याप्त है। जिनकी बृहत्ता का अनुमान लगाना भी कठिन है। सूर्य्य में वह गौतत्त्व विकसित हुआ। रश्मिरूप से यह सर्वत्र व्याप्त हुआ। सूर्य्य-रूप गौने (वृषभ–बैल–ने) अपने शृङ्गरूप इन्ही रश्मियों के आकर्षण से भूपिण्ड को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित कर रक्खा है। यदि इन रश्मियो का आकर्षण न हो तो तत्क्षण भूपिण्ड निराधार होता हुआ नष्ट भ्रष्ट होजाय। इसी प्रकृतिसिद्ध नित्य गौविज्ञान को लक्ष्य में रखकर आर्य्यसभ्यता का महान् कोश पुराणशास्त्र भूपिण्ड किसके आधार पर निरावलम्ब आकाश में खड़ा है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहता है कि— भूपिण्ड को एक वृषभ (गौ) ने अपने सींग पर उठा रक्खा है। इसीसे भूपिण्ड इतस्तत गिरने नहीं पाता।

इस भूकम्प के सम्बन्ध में भारतीय प्रजाजनों में यह किंवदन्ती है कि बैल ने सींग बदला है। इसलिए धरतीकम्प हो गया है। कहना न होगा कि हमारी यह सामान्य किंवदन्ती भी रहस्य से शून्य नही है। इस का आधार भी मौलिक कारण ही है। वारुण वायव्य आग्नेय ऐन्द्र भेद से चार प्रकार का भूकम्प होता है। इन चारो का स्वरूप बतलाना प्रकरण से बाहिर जाना होगा। यहां केवल यही समझ लीजिए कि हमारी पूर्वोक्त किंवदन्ती का सम्बन्ध ऐन्द्रभूकम्प के साथ है। सौररश्मिभुक्त प्राण को ही इन्द्र कहा जाता है। यही इन्द्रविद्युत् रश्मि के द्वारा सूर्य्योपग्रहभूत—शनि–मगल–बृहस्पति–बुध–शुक्र आदि आग्नेय सौम्य ग्रहो में प्रविष्ट रहता है। यदि शनि और मङ्गल समकक्षा पर आजाते हैं तो तद्क्षण दोनो विद्युतो का प्रचण्ड घर्षण होजाता है। महा विस्फोटन होजाता है।

ऐन्द्रभूकम्प का धक्का रश्मि के द्वारा भूपिण्ड पर लगता है। सम्पूर्ण भूप्रदेश विकम्पित होपड़ता है। इतर भूकम्प प्रादेशिक है। कही कही होते हैं। परन्तु ऐन्द्रभूकम्प सार्वदेशिक है। कम्प–महामारी–अनावृष्टि–अतिवृष्टि अग्निप्रकोप–वायुप्रकोप–सामाजिक कलह राजनैतिक कलह धर्म्मविप्लव–

आदि किसी न किसी रूप से समस्त भूपिण्ड पर इस ऐन्द्रभूकम्प का प्रभाव होता है। स्मरण कीजिए कुछ वर्ष पूर्व होनेवाले सप्तगोलयोगापलक्षित ऐन्द्रभूकम्प का। क्या हुआ उसका परिणाम? । स्मरणमात्र से भी आत्मा कम्पित होजाता है। यह हमारी इन्हीं गोरश्मियों की कृपा का फल है। आज सम्पूर्ण गोवंश त्रस्त है। इसके त्रास से व्यापक गोप्राण क्षुब्ध होरहा है। उसी क्षोभ से आए दिन भूकम्प अकाल जनपद-विध्वंसिनी आदि आदि का आक्रमण होरहा है। इस आपत्ति से यदि आप बचना चाहते हैं तो मानिये ऋषियों के आदेश को। चलिये धर्ममार्ग से। कीजिये उपासना गोवंश की। अपने आप प्रकृति आपके अनुकूल हो जायगी।

निवेदन किया गया है कि पारमेष्ठ्य विष्णुधाम से गोतत्त्व रश्मिरूप में परिणत होकर (सूर्य के द्वारा) त्रैलोक्य में व्याप्त होता है। इसी बृहच्छ्रृङ्ग गोपत गोतत्त्व का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयासः ।

अत्राह तदुरुगायस्य विष्णो परमं पदमवभारि भूरि ॥

—(यजु स ६।३)—

इसी गोष्ठानरूप आपोमय विष्णुदेवताधीन पारमेष्ठ्यमण्डल को **व्रजधाम—गोलोकधाम—नित्यलीलाधाम** आदि विविध नामों से व्यवहृत किया गया है। स्तोम्यत्रिलोकी में आक्रमण करने वाले सम्पूर्ण आप्य असुर अन्ततः इसी गोष्ठान में जाते हैं। अतएव **देव पराभूता आप्यप्राणात्मका असुरा—अत्र स्वस्थाने व्रजन्ति** इस अभिप्राय से इसे **व्रज** कहा जाता है। अपिच न केवल असुर ही अपितु प्रलयकाल में सम्पूर्ण त्रैलोक्य इसी मण्डल में प्रविष्ट होता है। यही चरम गमन स्थान है। इसलिए भी **व्रजन्ति अपीता भवन्ति सञ्चरकाले यत्र सर्वे लोका** इस अभिप्राय से भी इसे **व्रज** कहा जाता **है**।

ब्रह्मा विष्णु इन्द्र ये तीन अन्तर्यामी देवता कहलाते हैं। इनका हृदयरूप से प्रथम खण्ड के पूर्व सन्दर्भों में विस्तार से निरूपण किया जाचुका **है**। इन तीनों हृद्य-कलाओं पर क्रमशः क्षर-अव्यय-अक्षर का अनुग्रह रहता है। **ब्रह्मा क्षररूप होते हुए उपादान बनते हैं। विष्णु अव्ययमूर्त्ति बनकर सृष्टि के आलम्बन बनते हैं एवं प्राणमूर्त्ति गतिधर्म्मा इन्द्र अक्षरमय बनकर सृष्टिकर्त्ता बनते हैं।** इन तीनों में अव्ययमूर्त्ति विष्णु का आवास-स्थान वही पूर्वोक्त आपोमय परमेष्ठीमण्डल **है**। अतएव इतर लोकों की अपेक्षा इस वैष्णवधाम को सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। **स वेदैतत् परमं ब्रह्मधाम** (मुण्डक) **तद्विष्णोः परमं पदम्** इत्यादि रूप से स्वयं श्रुतिने भी इस धाम को **परमधाम** माना है। यह अव्यय मूर्ति है। अव्यय ही मुक्तिकाल में सब की चरमगति बनता है। **गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी** (गीता) इत्यादि रूप से वही अव्यय सब की गति माना जाता है। **परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति** इत्यादि रूप से यही **अव्ययस्थान' है। अतएव 'मुक्तिकाले देहस्था सर्वा देवता सर्वाणि भूतानि विज्ञानप्रज्ञाने इत्यादयः सर्वेऽध्यात्मिका भावा परेऽव्यये व्रजन्ति—लीना भवन्ति** इस अभिप्राय से भी अव्ययमूर्ति विष्णुलोक **को (गोष्ठान नामक पारमेष्ठ्यलोक को)** उपासक लोग **व्रजधाम** कहा करते हैं।

इसी की उपासना की दृष्टि से पौराणिक लोग अपुनर्मार लोक कहा करते हैं। यत्र गत्त्वा न पुनर्म्रियन्ते न परावर्त्तिता भवन्ति मृत्युलोक इस अभिप्राय से ही इसे अपुनर्मार कहा जाता है। इसी अभिप्राय से इस अव्ययधाम के लिए भगवान् ने— यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम यह कहा है। अवताररहस्यवेत्ताओं का यह विश्वास है कि पूर्णावतार नाम से प्रसिद्ध भगवान् वासुदेवकृष्ण इसी विष्णु के अवतार हैं। यही अव्ययमूर्ति विष्णु कृष्णरूप में अवतीर्ण हुए हैं। विष्णु का गौतत्व के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। तदात्मभूत भगवान् कृष्ण ने भी उसी गोचारणवृत्ति को अपना जीवनव्रत बनाया। विष्णु आपोमय मण्डल में प्रतिष्ठित हैं अतएव तदात्मभूत कृष्ण ने भी मथुरा छोड कर समुद्र में (द्वारिका में) निवास किया। गोरसरूप साम का विष्णु के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। अतएव तदात्मभूत कृष्ण ने गोरस (दुग्ध घृत-मक्खन आदि) को अपना प्रधान अन्न माना। वह विष्णुतत्व इसी गौप्राणमय सोमाहुति से प्रकाश के अधिष्ठाता बन कर तपोमय असुरों का विनाश किया करते हैं। अतः वही असुरविनाशरूप कर्म्म इन्हें करना पडा*।

ये सभी विषय क्योंकि अवतारविज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं। अतः इन के सम्बन्ध में प्रकृत में अधिक नहीं कहा जा सकता। यहां केवल यही बतलाना है कि पारमेष्ठ्य गोष्ठान को अनेक दृष्टियों से व्रज कहा जाता है। यहां श्रुति ने आसुरप्राणगमन को लक्ष्य में रखकर ही- व्रज गच्छ गोष्ठानम् इत्यादि रूप से इस स्थान को व्रज कहा है किंवा आपोमय व्रजधाम कहा है इस का समन्वय है स्तोम यात्रलोकीरूपा महापृथिवी की चरमसीमा। एकविंश अहर्गण पर्य्यन्त तो पृथिवी ही है। इस के ऊपर व्रजधाम है। यहां वरुणदेवता का साम्राज्य है। वरुण के सम्बन्ध से इसे वारुणलोक भी कहा जाता है। पानी के सम्बन्ध से यहाँ भूतज्योति (प्रकाश) का अभाव है। कारण- रूपं रूपं मघवा बोभवीति - इन्द्रो रूपाणि करिक्रदचरत् इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों के अनुसार सौर मघवा इन्द्र ही प्रकाश के अन्यतम अधिष्ठाता हैं। इधर वरुण और इन्द्र का परस्पर अश्वमाहिष्य है। इन्द्र पूर्वदिशा के दिक्पाल हैं तो वरुण पश्चिमदिशा के दिक्पाल हैं। पानी पर वरुण का प्रभुत्व है तो प्रकाश पर इन्द्र का प्रभुत्व है। पानी में अग्नि प्रविष्ट होजाता है। पानी उष्ण होजाता है। परन्तु पानी में प्रकाश का प्रवेश नहीं होसकता। जहां पानी है वहां इन्द्र नहीं जहां वरुण है वहां इन्द्र नहीं। जहां इन्द्र नहीं वहां घोर अन्धकार। जहां अन्धकार वहां असुर। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर प्रकृत ब्राह्मणश्रुतिने— बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याम् इस मन्त्र भाग की व्याख्या करते हुए— अन्धे तमसि बधानेति यदाह परमस्यां पृथिव्यामिति यह कहा है। वरुणदेव पाश के अधिष्ठाता हैं। इसी अभिप्राय से आगे जाकर शतेन पाशैः कहा है।

यह है इस आख्यान का संक्षिप्त आधिदैविक-रहस्य। इसी आधिदैविक नित्य यज्ञके आधार पर वैधयज्ञ (मनुष्यकृतयज्ञ) का स्वरूप संस्थापन हुआ। जो फल उस नित्य यज्ञ का है वही फल तत्प्रतिकृतिभूत

* भगवान् कृष्ण ने वेणु (बांसुरी) क्यों बजाई? पीताम्बर धारण क्यों किया? गोपियों के साथ रासविहार क्यों किया? अर्जुन के साथ ही इन की घनिष्ठ मित्रता क्यों हुई? अर्जुन को ही क्यों गीतोपनिषत् का उपदेश दिया गया? राधा को क्यों प्रधान माना गया? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत आचार्य्यरहस्य का मानुषोत्तमकृष्णरहस्य नामक प्रकरण देखना चाहिए —

न्स मनुष्यकृत यज्ञ का है। यह उसी की प्रतकृति है। यहा का ण है कि ज ा जा न्छ म आधिदैविकयज्ञ में होता है ठीक वसा वही स न्छ इस यज्ञ म भी करना पडता । तभा ता– दवानुविधा वै मनुष्या यह कहना पडता है। यहा एमा क्या होता है? असुक क म एमा क्या ि या जाता है मत्र प्र ना क समाधान वही प्राकृतिक नित्य आधिदैविक यज्ञविज्ञान है। उनका स्वरूप पाहचानिए व आपका विदित हागा कि यज्ञ बालक्रीडा मात्र न ा है। केसर कपूर खोपरा घृत आदि को अपनी क पना स क ल्पित ताव का कुण्डा म डा ा स्वा ा करके नाच न्ने का नाम यज्ञ न ा है। कवल हवाक्रिया करने का ही नाम यज्ञ नही है अपितु यज्ञविद्या वह विद्या है जिसके सम्यक् परिज्ञान स एव सम्यक अनुष्ठान से आप नवीन सृष्टि बना सकते ह। नवीन सू य च खडा कर सकते ह। अनापत्रुद्ध साधारण मनुष्यान इतर विद्याओ की भाति आज न्स यज्ञविद्या की भी अ य त दुद् शा कर रक्खी है। इस स ब म यही निवेदन कर देना पर्याप्त होगा कि दि यदृष्टि से समन्वित आधिदैविक विज्ञान की पूर्ण पर क्षा क तदनुसार जिन याज्ञिक पद्धतियो को आ ह्वाण–श्रोतसूत्रादि ग्रन्थो के रूप म हमार सम्मुख रक्खा है वही यथार्थ यज्ञविद्या है। आज समस्त भारत म (दक्षिण के कुछ परिगणित याज्ञिको को छोडकर) यज्ञविद्या केवल कापानको का कापानक जगत् ही बन रहा है। पुण्यसञ्चय क स्थान मे पाप ही सञ्चित हो रहा है। पशुवपा–पुरोडाश–सोमरस–आदि आज आहुतिद्रव्य नही है। अपि तु आज की यज्ञपद्धतियो में आहुतिद्रव्य है खोपरा (गोला) केसर कस्तूरी चदन। हा विद्याशून्यभारत आज तेरा को सा भी ता विद्याक्षेत्र स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं है।

पूर्व प्रतिपादित उसी आधिदैविक यज्ञ के आधार पर दक्षिणानुगत इस यजमान का ऋत्विक (अध्वर्यु) हविर्यज्ञ का वितान करना चाहता है। जो भूप्रदेश उसके लिए नियत किया गया है वह निदानेन वेदि है। वदिपर (भविष्य म वेदिरूप म परिणत होने वाले भूप्रदेश प) जो स्तम्बयजु (कुशमुष्टि) बिखरा हुआ है यह निदानेन असुर है। उत्क्षिप्त मिट्टी के–तृणादि के–पात्रीनिर्णेजनादि के–यज्ञमण्डल में होने वाले और और दूषित परित्यक्त पदार्थों के प्रक्षेपके लिए वेदिके उत्तरभाग म एक गहरा गर्त्त (गड्ढा) बनाया जाता है। इसे उत्कर कहा जाता ह। यह निदानेन अधतमोरूप चाथा आपोमय–लोक ह। अध्वयु का दक्षिणबाहु निदानेन इन्द्र है। वामहस्तस्थ स्फ्य निदानेन वज्र है। उच्चार्यमाणमन्त्र आधिदैविक इन्द्रबल है। इसप्रकार पूर्वप्रतिपादित निदानरहस्य के अनुसार अब सम्पूर्ण सामग्री प्रस्तुत है। प्रहार करने मात्र में विलम्ब हैं। तत्काल असुर नष्ट होजायग। फलस्वरूप सम्पूर्ण यज्ञिय-वातावरण सर्वथा निर्विघ्न बन जायगा। ६ १ ११ १२ १३ १४॥

इति–स्तम्बयजुर्हरणोपाख्यानरहस्यम्



वेदिनिर्म्माण से पाहले स्तम्बयजुर्हरण क्यो किया जाता है? इस प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान उपरत हुआ। अब पद्धति–अंश से सम्बन्ध रखने वाले कुछ विशेषभावो का निरूपण कर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता। स्तम्बयजु (कुशमुष्टि) निदानविधा स साक्षात् असुर है। इस पर प्रहार करना

असर पर ही प्रहार करना है। साथ ही तृण अ तधान पूवक **इम स्फ्यप्रहार** का एक प्रयोजन और भी है। वह प्रयोजन है–हिंसाभाव की अपह्नति। जिस भूप्रदश पर यजमान अध्वरकम्म (अहिंसामय आसुरभावशून्य दिव्यकम्म) करना चाहता है उसी पर यदि स्फ्य का प्रहार किया जायगा तो भावनामय मन की प्रधानता से **मैं देवताओं क यजन करने योग्य इस भूप्रदेश पर प्रहार कर रहा हूँ** इस भावना से **यो यच्छ्रद्ध स एव स** इस सवसम्मत सिद्धा त के अनुसार सचमुच पृथिवी के अभिमानी देवता (जिस की अक्षुण्णता पर ही यज्ञकम्म की अक्षुण्णता निभर है) हिंसाभाव से युक्त होजायगा। तृण पर प्रहार करने से इस हिंसाभाव का भी निराकरण होजाता है। **सशित (तिरश्चीकृत) स्फ्य वज्र से मैं तो असुररूप तृण पर प्रहार कर रहा हू न कि पृथिवी के इस देवयजन भाग पर** अ वर्य्यु की इस भावना से तृणा तर्धानपूवक प्रहार से पार्थिव असुर भी न ट होजाते हैं एव पार्थिव अभिमानी यज्ञिय देवता भी अक्षुण्ण बचा रहता है। असुरों का नाश तृणान्तर्धान का पहिला प्रयोजन था। एव पार्थिव देवयजनभाग को हिंसाभाव से बचाना दूसरा प्रयोजन है। इसी दूसरे प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर **अथ तृणमन्तर्द्धाय प्रहरति** इत्यादि कहा गया है ॥१५॥

जिस समय **पृथिवि देवयजनि ! ओषध्यास्ते मूल मा हिंसिषम्** यह म त्रभाग बोलता हुआ अ वर्य्यु तृणयुक्त भूप्रदश पर स्फ्य से प्रहार करता है उस समय इस प्रहार से वदिनिर्म्माण के योग्य इस भप्रदश में वर्षा के कारण उ पन्न हुइ जो ओषधिया (घास आदि) हैं वे भी उखड जाती है। उखड क्या जाती हैं इनको उखाडना भी प्रधान उद्देश्य है। क्योकि भपृष्ठ पर तृणादि जो कुछ प्ररोहित होरहे हैं उन सब को हटाकर एव भपृष्ठ पर इधर उधर से वायु के द्वारा आइ हुइ अथवा मनु यों के गमनागमन से श्लथ हुई मिट्टी जबतक हटा नहीं दी जाती तबतक पृथिवी का वह यज्ञिय घनाग्निरस यज्ञ के साथ सम्बद्ध नही होसकता जसा कि पूर्व म विस्तार के साथ बतलाया जाचुका है। किन्तु साक्षाद्रूप से इन ओषधियों की जड उखाडना हिंसाभाव का यज्ञ में समावश करना है। उधर प्राणरूप असुरो का भी नाश करना है। इसीलिए तो भप्रदेश पर और तृण बिछा दिये जाते हैं। इस के व्याज से हिंसाभाव को छुपाता हुआ अ व यु भूप्रदेश में प्ररोहित तृणादि को इस प्रथम प्रहार से उखाड फैंकता है। जब ओषधियाँ स्फ्य के प्रहार से उखड जातीं हैं तो पृथ्वी का यह प्रदेश **उत्तरमल** बन जाता है। अर्थात् जो ओषधियो के मूल भाग (जडे) अबतक भगभ में निम्नभाग में (नीचे की ओर) थे व स्फ्य के प्रहार से उखड कर उत्तर की ओर (भगभ से निकलकर ऊपर की ओर) आजाते हैं। इस अवस्था में अपने स्वभागरूप ओषधियो के उत्तर मूल होने से तत्स बन्ध स यह पृथिवी भी **उत्तरमूला** बन जाती है।

इसप्रकार उखाता ओषधियो को उक्त म डालने के लिये हाथ में लेता हुआ अ वर्य्यु इस भप्रदेश को उत्तरमूला बनाता है। पृथिवी को उत्तरमूला बनाना इस भाव को सूचित करता है कि अवश्य ही किसीने इस भप्रदश पर प्रहार कर इस के शरीर को क्षत विक्षत कर दिया है। ऐसा हिंसाभाव यज्ञ में आसुरभावप्रवश का कारण बन जाता है। परन्तु ऐसा किए बिना काम चलता नही। इस विप्रतिपत्ति को भावना के द्वारा हटाने के अभिप्राय से मूल उखाडते हुए भी मूल उखाड कर पृथिवी को उत्तरमूला (जिस की ओषधियों का मूल उखड कर ऊपर की ओर होगया है ऐसी पृथिवी ही **उत्तरमूला** शब्द से व्यवहृत की जाती है) बनाता हुआ भी अध्वर्य्यु **ओषध्यास्ते मूल मा हिंसिषम्** य बोलकर इस हिंसाभाव को शान्त करता हैं। अ वर्यु की यह

भावना एकप्रकार से ठीक भी है। क्योंकि ओषधिया का मूल वस्तुत न की जड न ा है। अपितु भगर्भ की जिस ग न्राड म जिस स्थान में ओषाधयो की जड रहती ह म पएड का व प्रन्श अग्निरसमय है। न्मी गभस्थ अग्निरस का ओषधियो के मूला के साथ स म्बन्ध हाता है। उमी मूलभत ना्वनीय अग्निरम के परिपाक से ओषधियों का स्वरूप नि पन्न होता है। ओषधिया का मूलभत उपादान अ्रि रस सवप्रथम ओषधियो क उस भाग से सयुक्त होता है जा भाग न्नका भूगर्भ में उस रस के समीप र ता है। मूलरस क प्रा ाम्क सयाग ही से भूगभस्थ ओषधियो का वह भाग मूल कहलाने लगता है। वस्तुतस्तु ओषधियो का मूल मूलगभ थ अग्निरस ही है। हा यह बात अवश्य है कि स्प्यप्रहार द्वारा जब ओषधिया की जड उखाड दी जाती ह तो उस समय जडा के समीप याप्त मूलरूप आग्नरस भी क्षुब्ध होपडता है। क्षु ध हाकर स्स्थान से युत होता हुआ वह ओषाध-विनिगम माग से बाहिर उत्तर की ओर (ऊपर की ओर) भी निकलन लगता है। इसप्रका ओषधिग्रहण से सचमुच अपने इस रसभाव के (माग मिलजाने स) उत्तरगमन स भूप्रन्श **उत्तरमूल** बन जाता है। केवल इस मौलिक रस के क्षोभ की शान्ति के लि ही अ ध्वर्यु का **ओषध्यास्ते मूल मा हिंसिषम्** यह बोलना पडता है। ओषधि तृणादि आवरणोन ही उस मौलिक रस को अवरुद्ध कर रक्खा था। इनके उखाडने से उसे हमारे भुप्रदेश म (जहा हम यज्ञवितान करने वाले ह) आने का अवसर मिल जाता है। प्रहार के द्वारा होने वाले घात से आग्नरसरूप ओषधियो के न्स मूल की रन्ना की ही प्राथना की जाती है। ओषधियों को तो समूल उखाड ही दिया जाता है।

सर्वथा विनष्ट न्न के मूलो की क्या रक्षा की जासकती है। रन्ना अभीष्ट है केवल इनके वास्तविक मूलभूत उस गभस्थ अग्निरस की। न्मी अग्नि ऊ मा से कृताःमा ये तृणादि- **ओष (ऊष्माभाव) धत्ते** इस युत्पत्ति से **ओषधि नाम** से व्यवहृत होते हैं। कहना यही है कि यहा ओषधिमूलो से वह गभस्थ अग्निरस ही अभिप्र त है। इसी भावके स्पष्टीकरण के लिए यहा ऋषिने पृथिवी क लिए **देवयजनि** कहा है। देवता आग्नेय हैं। इनका यजन (सङ्गतिकरण परस्पर में सम्बन्ध) आग्न के साथ ही होता है। वह विशुद्धाग्नि भूगर्भ में ही मिलता है। सतृण भूपृष्ठ पर तो आगन्तुक दषित भावों का साम्रा य रहता है। यहा सौर देवाग्नि का यजन नही होता। अपितु जहा विशुद्ध आग्नेय प्राण रहता है वही सौरप्राणाग्नि आकर बद्ध होता है। भूपिण्ड के जिस स्थान में प्राणाग्निमय सौरदेवता आकर सम्बद्ध होत है भूपिण्ड का वही प्रदश **देवयजनिभूमि** कहा जाता है। उसका मूल वही अग्निरस है। तभी तो इस पृथवी को **उत्तरमूला** कहना अ वथ होता है। नही तो उखड़ ओषधियाँ एव उत्तरमूला बन जाय पृथिवी यह कसे सम्भव होसकता है। ओषधिया उखाड कर फैंक दी जाती हैं। भूगर्भस्थ अग्निरस के आगमन का माग जिन आगन्तुक तृणादि ने एव तत्स्थान पर प्ररोहित ओषध्यादिने अवरुद्ध कर रक्खा वा प्रहार के द्वारा उन सबके उखड जाने से वह देवयजन—स्वरूपसम्पादक अग्नि बाहिर निकल कर हमारे उस भूपृष्ठ को भी दवयजनभावोपेत बना देता है जिसमें कि हम देवताओ का यजन करने वाले हैं। यदि ओषधि का निरसन न किया जाय तो पार्थिव अग्नि का हमारी वदिके साथ सम्बन्ध न हो। ऐसा न हो तो हमारा यज्ञ दवभाव स ही युक्त न हो। इसी सम्पूण अ निरहस्य को लक्ष्य में रखकर प्रथम प्रहार का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

उत्तरमूलामिव एनामेतत् करोति-आददान । तामेतदाहौषधीना ते मूलानि मा हिंसिषमिति' ।

एक विशेष न्योक्त य स न्स स्थिति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण होजाता है। व्रीहि यव गोधूम (चावल जौ गहू) आद ओषधियो म जन्म चा न्द्र भाम्यप्राण तथा पार्थिव भौम आग्न ये दो चान्द्र पार्थिव त व प्रधान हैं वहा वनस्पतियों में (फल-वृक्षो म) पार्थिव आग्नेय प्राण तथा तद्गर्भीभूत सारप्राण ही प्रमुख बने रहते हैं। सहज भाषानुसार **ओषध्यन्न चान्द्र है एव वनस्पत्यन्न सौर है**। वनस्पतियों का परिपाक पृथिवी के गर्भस्थ न्स **देवयजन** भाग से ही होता है जिसका प्रवर्ग्यात्मक न्स सौरप्राण से सम्ब ध है जो सौरमण्डल से विस्रस्त होकर भूगर्भ म समाविष्ट होता हुआ भू की वस्तु बन जाता है। अतएव वनस्पतिरूप वृक्षों के स्वरूप नि माण में वृक्षों की बालावस्था में पुन पुन इनके मूलो को कुरेदा जाता है। जो क्रिया हमारी प्रान्तीय भाषा में— **गुरबाई** नाम से प्रसिद्ध है। ऊपर के श्लथ मृद्भाग को उत्तीद कर भीतर के प्राणाग्नि को उत्तरमूल बनाने के लिए ही वह क्रिया होती है। तभी वृक्ष पुष्पित पल्लवित होते हैं। निखननात्मिका इस **गुरबाई** से गर्भस्थ सौरप्राणात्मक देवयजन भाग अभिव्यक्त होजाता है। और प्रमुख रूप से यही वनस्पतियों का परिपाक करता है। इसी न्वाग्नि **साराग्न न्वयजनाग्नि** की प्रमुखता स भारतीय उपवास विधियों (व्रतो) में न्स का परिग्रहण होगया है जबकि ओषयन्न न्पवास में वर्ज्य माना गया है। **अन्नाहार** जहा पार्थिव चान्द्र भाषानुब ध से मलभाग का वद्धक है मेद का वद्धक है यहा **फलाहार** सौरभावानुबन्ध से निर्मार बनता हुआ बुद्धि के स वगुण का ही प्र रयिता माना गया है जैसा कि आरम्भ के— **व्रतोपायनकर्म्म** में विस्तार से बतलाया जाचुका है। वृक्षमूल के सन्निहित तृणादि को पृथक कर वहा की मिट्टी को उलीच देने से ही भूगर्भस्थ देवयजनप्रा ा ऊ व विनिर्गत होता हुआ **उत्तरमूल** बनता है और यही फलसमृद्धि का प्रमुख कारण है। वही **उत्तरमूलसम्पत्ति** यहा श्रुति के न्वारा स्पष्ट हु है।

प्रहार से मूलभूत अग्निरस भाग मिल जाने से उपरि-भाग-पर्य्यन्त आता मात्र है। सर्वथा वह अपनी प्रतिष्ठा छोडद एकान्तत निकल जाय यह बात नहीं है। इसी भाव को लक्ष्य म रखकर **उत्तरमूला-इव-वा** न्यादि रूप से **इव** पदका सन्निवेश किया गया है।

श्रुति के अक्षरो पर ज्यो ज्यो अधिक विचार किया जाता है, ज्यो ज्यो उन में नवीन नवीन रहस्य उपलब्ध होता जाता है। तभी तो यह रहस्यात्मयी गभीरातिगभीरा वेदवाणी **ईश्वरीयवाणी** कहलाई है। केवल श्रुति के अक्षरो पर ही विश्राम कर लेने स कथमपि आप वास्तविक त वबोध की सीमा पर नहीं पहुच सकते। केवल सुनने से ही श्रुति की इतिकर्त्तव्यता समाप्त नही होजाती। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि श्रुति त व केवल **वाङ्मय** ही नही है। अपितु **श्रौतविद्या आत्मविद्या है**। उधर **स वा एष आत्मा वाङ्मय प्राणमयो मनोमय** के अनुसार आत्मा **मन प्राण-वाङ्मय** है। मन प्राणवाङ् मयी श्रौतविद्या के स यक परिज्ञान के लिए आप जबतक अपने आत्मा के मन-प्राण-वाक इन तीनों पर्वो का उस के साथ सम्ब ध नही कर देंगे तबतक केवल **श्रुतिरूप वाग्व्यापार से** श्रो त्त्व सर्वात्मना कदापि गतार्थ नही बन सकेगा। **सुनकर साधारण अक्षरार्थ समझ लेना हीं वाग्व्यापार** है। सुनने के अनन्तर सुने हुए अक्षरो के आधार पर प्राणव्यापाररूप तपश्चर्य्या करना **सतत उस ओर प्रवृत्त रहना हीं प्राणव्यापार है** एव सतत तपश्चर्य्या स मनोयोग के द्वारा उस त व का **अनुशीलन करना हीं मनोव्यापार है**। इन तीनो व्यापारो के सम्यक अनुष्ठान के अनन्तर ही **आत्ममय त्रिकल श्रौत तत्त्व का सम्यक दर्शन (साक्षात्कार) होसकता है।** उपर्युक्त तीनों व्यापारो के लिए ही क्रमश वाग्व्यापार के लिए **श्रुति** शब्द प्राणव्यापार के लिए **मति**

शब्द एव मनोव्यापार के लिए निदिध्यासन शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इसी श्रोत न वमम व्यापारयोगा त य का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि ने कहा है—

आत्मा रे वा रे द्रष्टव्य (कथम् ?) श्रोतव्यो मन्तव्यो, निदिध्यासितव्य "

आज तथोक्त आदेश में केवल श्रोतव्य अंश पर ही भारतीय विद्वान् विश्राम कर लेते हैं। सुन लिया पुण्य हो गया श्रुति की इतिकर्त्तव्यता समाप्त होगई। यही कारण है कि सम्पूर्ण विश्वसम्पत्ति के अभ्युदय के साधनभूत वैदिक-साहित्य का अधिष्ठाता बनता हुआ भी आज भारतीय द्विजसमाज अभ्युदय से वञ्चित होता हुआ अवनतिगर्त्त की ओर ही अग्रसर होता जारहा है। इसका एकमात्र कारण है अर्थाश की अज्ञता। केवल शब्दभक्ति। इसी तथ्य का पद्यभाषा में दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

हम बतला आए हैं कि तृणादि की मुष्टि निदानभाव से साक्षात् असुर है। तृण का गोपशु के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। अतएव जो मनुष्य मूर्ख होता है बुद्धिशून्य होता है पशुतुल्य होता है उसके लिए लोक में— तुमने तो घास खाया है कभी काम थोड़े ही किया है पूरे बैल हो रहे यह कहा जाता है। वेद का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि यज्ञ में जो निरर्थक वस्तु होता है उससे शत्रु का बल बढता है और यदि न्यूनता रह जाती है तो यज्ञसमृद्धि उच्छिन्न होजाती है। ऐसी अवस्था में यज्ञ को सुसम्पन्न बनाने के लिए यह आवश्यक होजाता है कि न तो यज्ञ में न्यूनता हो न अतिरिक्तता (व्यर्थ की वस्तु) हो। ये तृणादि प्रकृत में सर्वथा व्यर्थ हैं। इनका यज्ञ में कोई उपयोग नहीं है। यह व्यर्थ की भावना भी यज्ञ के लिए अनिष्टकर है। इसी अनिष्टभाव को दूर करने के लिए ऋषि ने— **व्रज गच्छ गोष्ठानम्** यह कहा है। मानते हैं यहां तृण का उपयोग नहीं है। परन्तु गोपशु का तो यह अन्न है। जिस तृण को मनुष्य व्यर्थ समझता है गौपशु उसी से अपना जीवन निर्वाह कर लेता है। तृण को गोष्ठान (गाय के ठान) में डाल देना इससे बढकर तृण का और क्या उपयोग हो सकता है ?। हे तृण ! तुम गोस्थान में चले जाओ यह कहना तृण को व्यर्थता का ही निरसन करना है।

अपिच तृण असुर है। उधर व्रजवामरूप **गोष्ठान** नाम का आपोमय परमेष्ठिमण्डल असुरों की आवासभूमि है। अतः तृणरूप असुर को यहां से निकाल कर वहीं स्वस्थान में भेजना अनुरूप भी है। पानी एक ऐसा स्थान है जहां यदि शत्रु को फेंक दिया जाता है तो वह सर्वथा ही परास्त होजाता है। पुनः उसे आक्रमण करने का अवसर ही नहीं मिलता। इसलिए तो लोक में भी शत्रु के लिए **जाम कर वह डूब मरे** यह यह कहा जाता है। आज अध्वर्यु निदानेन तृणरूप असुरों को उसी पानी में डुबोकर उसे सर्वथा हतवीर्य बना रहा है। इसी अभिप्राय से— **अभिनिधास्यन्नेवैतदनपक्रमिं कुरुते। तद्धि-अनपक्रमि-यद व्रजे अन्तः (सलिलसीमा)। तस्मादाह व्रज गच्छ गोष्ठानमिति यह कहा गया है।**

इसप्रकार प्रथम प्रहार से शत्रुरूप तृण को समूल उखाड कर परा परावत गहन अन्धकार में प्रक्षिप्त कर अध्वर्यु **वर्षतु ते द्यौ** यह कहता हुआ वेदिस्थानयोग्य इस भूप्रदेश पर **प्रोक्षण** करता है। तात्पर्य

इसका यही है कि द्युलोक के अधिष्ठाता आदित्य (इन्द्र) देवता है। यही पुरोवात मेघ विद्युत् स्तनयित्नुरूप में परिणत होकर वृष्टि का कारण बनता है। इन्द्र ही नमुचि का शिरश्छेदन कर पर्जन्य के द्वारा वृष्टि का स्वरूपसमर्पक बनता है। छान्दोग्य के अनुसार आदित्याग्नि में आहुत सोम ही क्रमश श्रद्धा पर्जन्य बनकर 'वृष्टि' रूप में परिणत होता है। वृष्टि क्या है? द्युलोक में प्रतिष्ठित साक्षात् इन्द्रदेवता है। इन्द्र सावदेवत्य है अतएव इसके लिए— इन्द्र सर्वा देवता यह कहा जाता है। वृष्टि क्या है? इन्द्र है। इन्द्र क्या है? सम्पूर्ण देवता है।

हम कह आए हैं कि जब भूपिण्डस्थ अग्निरस स्वस्वरूप से विकसित होजाता है तभी इसके साथ द्युलोक के इन्द्रज्येष्ठ सौरदेवताओं का यजन (सम्बन्ध) होता है। आज तृणादि दूषित भावों के हटने से हमारा भूप्रदेश वह्नियोग्य बनता हुआ सचमुच देवयजन सम्पत्ति से युक्त होगया है। आज सचमुच दिव्य देवताओं का हमारे इस पृथिवी भाग के साथ सम्बन्ध होगया है। उसी दिव्य सम्बन्ध की वृष्टिरूप से भावना करता हुआ अध्वर्यु पानी का प्रोक्षण करता हुआ कहता है कि हे पृथिवी! आज आप दूषित भावों के परिमार्जन से अपने प्रातिस्विक अग्निरसरूप से विकसित होती हुई देवयजन की अधिकारिणी बन गई हैं। इसलिए आज आपके लिए द्युलोक वर्षा करे। अर्थात् वर्षा के रूप में परिणत होने वाले द्युलोकस्थ प्राणदेवता आपके साथ सम्बन्ध करें। यह है प्रोक्षण का एक प्रयोजन।

अपिच स्फ्य के प्रहार से भूप्रदेश क्षत विक्षत होजाता है। यह एक प्रकार का हिंसाभाव है। एक प्रकार का हिंसाभाव क्या है सचमुच ही तो हिंसाभाव है। वास्तव में इस प्रहार से पार्थिव प्राणाग्नि क्षुब्ध होजाता है। यह क्षोभ यजमान के आत्मा की अशान्ति का कारण बन सकता है। इसे दूर करने का उपाय है प्रोक्षण। पानी शान्ति का अधिष्ठाता है। विशेषत प्राणाग्निक्षोभ के लिए तो पानी के अतिरिक्त भूतद्रव्यों में दूसरा शान्तिप्रद द्रव्य है ही नहीं। क्योंकि आपोमय प्राण इस छान्दोग्य-सिद्धान्त के अनुसार पानी ही प्राणाग्नि का स्वरूप-समर्पक माना गया है। प्रत्यक्ष में भी यही बात देखी जाती है। जलचिकित्सा से बढ कर अग्निताप की शान्ति का दूसरा उपाय नहीं है। गर्मी लगती है तो स्नान कर लीजिए। तत्काल अग्निक्षोभ शान्त होजायगा। प्राणाग्नि गरमी से क्षुब्ध व्याकुल होरहा हो तो एक ग्लास ठण्ढे पानी का पी लिजिए। तत्काल प्राणक्षोभ शान्त होजायगा। पार्थिव अग्निप्राण के इसी क्षोभ को शान्त कर यज्ञसम्पत् को क्षोभ रहित बनाने के लिए प्रोक्षण किया जाता है। पानी न केवल शान्ति का ही कारण है। अपितु इससे विश्लिष्ट सन्धान भी होजाता है। बिखरा हुआ गोधूम चूर्ण (गेहूँ का चून) पानी के सम्बन्ध से परस्पर मिल जाता है। क्षत विक्षत शरीर पानी से सहित होजाता है। आज स्फ्य के प्रहार से पार्थिव-अग्नि जैसे क्षुब्ध होगया है तथैव इस प्राणाग्नि का शरीररूप भूप्रदेश भी क्षत-विक्षत होगया है। पानी दोनो दोष हटा देता है। पानी से भूप्रदेश सम बन जाता है। एव क्षोभ भी उपशान्त होजाता है। इसीलिए प्रहारानन्तर प्रोक्षण करना परम आवश्यक है। इसी प्रोक्षणविज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

यत्र वाऽअस्यै खनन्त क्रूरीकुर्वन्ति अपघ्नन्ति (तत्) शान्तिरापः। तदद्भि शान्त्या शमयति। तदद्भि सन्दधाति। तस्मादाह—'वर्षतु ते द्यौ' इति।

प्रोक्षणानन्तर स्फ्य से उत्पाटित मिट्टी तृण ओषधि आदि को उत्तरभागस्थ उत्कर में डाल दिया जाता है। ये सब दायतभाग निदानेन असुर हैं। उधर उत्कर निदानेन गोष्ठान नाम का आपोमय घोरतम से आवृत चौथा लोक है। प्रकृति में सौरप्रज्ञात्मक सविता देवता ही इन्द्रप्राण के साथ तानूनप्त्र करके (साथ मिलकर) स्वरश्मिरूप वज्र से तमोमय असुरों को जर्जरितकाय बनाकर इन्हें उस तमोमय वारुणलोक की ओर फैंक देता है। वहां (आपोमय मण्डल में) वरुण का साम्राज्य है। वरुणदेवता अवगत स्नेहधर्म्म से पाश के (बन्धन के) प्रवर्तक हैं। वह स्थान स्तौम्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी की अन्तिम सीमा है जैसा कि पूर्व के आधिदैविक विज्ञानरहस्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है। वह सचमुच ऐसा असुर्य्य लोक है जहां जाकर असुरकर्म्मा-आत्मघाती सदा के लिए बन्धन से आबद्ध होजाते हैं। आत्महत्या करने वाले का आत्मा लोकालोक नाम से प्रसिद्ध इसी अन्धतम में जाता है। ऐसे आत्मा का कभी उद्धार नहीं होता। अतएव धर्म्माचार्यों ने आत्महत्या को सब से बडा पाप माना है। मनुष्य पर भले ही कितने ही सङ्कट आवें उस सङ्कट से भले ही उसके प्राण चले जाय परन्तु भूलकर भी वह आत्मघात न करे। यदि उसने मूर्खतावश सङ्कट से सन्त्रस्त होकर ऐसा कर लिया तो पुनः उसका कभी उद्धार न होगा। पुनः होगा क्या ? तो सुनिए वेद क्या कहता है—

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृता।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

—ईशोपनिषत

वहाँ जाने पर पुनः परित्राण सम्भव नहीं है। दिव्यभावना से भावितान्तःकरण अध्वर्यु असुरों को उसी पृथिवी के पारस्थान में घोर अन्धाकार में कभी छुटकारा न होने वाले लोकालोक नाम के आपोमय समुद्र में ढकेलता है। इसी भावना-विज्ञानको लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

बधान देवसहित परमस्या पृथिव्यामिति-देवमेवतत् सवितारमाह। अन्धे तमसि बधानेति यदाह-परमस्यां पृथिव्यामिति। शतेन पाशैरिति-अमुचे (अमोचनाय) तदाह। योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मामौक्-यदि नाभिचरेत्"

यदि यजमान का कोई प्रबल शत्रु है एवं यजमान उसे नष्ट करना चाहता है तो इस अभिचार-कामना की पूर्त्ति के लिए य त के स्थान में उस शत्रु का नाम बोल देना चाहिए। निःसन्देह एक वर्ष के भीतर भीतर यजमान के शत्रु का सर्वनाश होजायगा ॥१९॥

प्रकृति में देवता पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-आप इन चारों लोकों से असुरों को मार मार कर निकालते हैं। चार लोकों के लिए उन प्राण देवताओं का प्रहार चार भागों में विभक्त होजाता है। इस सम्बन्ध में आप एक प्रश्न उठा सकते हैं। वह यह है कि अभी अनुपद में ही पूर्व के प्रकरण में (१९ वीं कण्डिका में) यह बतलाया गया है कि असुरों को यहां से निकाल कर चौथे आपोलोक में ढकेल दिया जाता है। उस अन्धतम से तमतो मा मौक् इत्यादि के अनुसार वे कभी नहीं निकल सकते। परन्तु अब ठीक इस पूर्व सिद्धान्त के विरुद्ध यह कहा जाता है कि तीनों लोकों की भांति चौथे लोक से भी असुरों को निकाला जाता है। यह श्रुति विरोध कैसा ?।

वास्तव में साधारण-दृष्टि से श्रुति के अन्तरमात्र पर विश्राम करने से विरोध प्रतीत होता है। परन्तु जब विज्ञानदृष्टि से विचार किया जाता है तो विरोध उपरत होजाता है। आपोलोक में असुर प्रतिष्ठित रहते हैं यह भी ठीक है एवं आपोलोक से असुर निकाले जाते हैं यह भी ठीक है। स्वयं आपो-लोक ही दिव्य आसुर भेद से दो भागों में विभक्त है। आपोलोक में हमने भृगु की सत्ता बतलाई है। साथ ही यह भी कहा है कि यह भृगु घन तरल विरल- इन तीन अवस्थाओं के कारण आप वायु-सोम इन तीन पृथक् पृथक् स्वरूपों में परिणत होजाता है। घनद्रव्य आप है तरल द्रव्य वायु है एवं विरल-द्रव्य सोम है। इन तीनों में मध्यस्थ वायु का दोनों के साथ (आप और सोम के साथ) भोग होता है। अप से अनुगृहीत वायु वारुण है एवं सोमानुगृहीत सोममय वायु शिव है। इसी को पौराणिक परिभाषानुसार साम्बसदाशिव कहा जाता है।

ग्रन्थि (गठिया) गृध्रसी उदरशूल शिरःशूल आदि शूल-सम्बन्धी जितने भी रोग हैं न वातेन विना शूलम् इस प्राणशास्त्र सिद्धान्त के अनुसार वारुणवायु से ही होते हैं। ये वरुण भृगु के अन्नभाग में प्रतिष्ठित है। अतएव वर्षाऋतु में जब इस वारुणवायु का सञ्चार होता है तो वातव्याधि विशेषरूप से अपना प्रभाव स्थापित कर लेती है। उधर शिववायु साम्यगुणक बनता हुआ जीवन की रक्षा करता है *। भार्गव-सम्बन्ध से यह शिववायु भी वर्षाऋतु में अपनी प्रधानता रखता है। इसी का पुरोवात (पुरवाई हवा) रूप से विकास होता है। जहां वारुणवायु अत्यन्त अहितकर है ठीक इसके विपरीत यह पुरोवातरूप शिववायु सर्वथा हितकर है। वर्षाकाल में (मेह बरसते समय जो हवा चलती है वही वारुण है। इस से बचना चाहिए विशेषतः वातव्याधि वाले को। वर्षा के आरम्भकाल से पहिले जो पूर्व की ओर का वायु चलता है वही पुरोवात कहलाता है। सोम के सम्बन्ध से इसे ऐन्द्रवायु भी कहा जाता है। इस का सेवन करना चाहिये-विशेषतः वातव्याधि वाले को।

जहां वारुणवायु शरीर जकड़ देता है वहां पुरोवातरूप ऐन्द्रवायु स्व-गतिभाव से शरीरग्रन्थियां खोल देता है। वारुणवायु सदा पश्चिम से आता है एवं ऐन्द्रवायु सदा पूर्व से आता है। वर्षा लाना ऐन्द्र-वायु का काम है एवं वर्षा उडा देना वारुणवायु का काम है। जब भी पूर्व का वायु चले विश्वास कीजिए उस समय अवश्य ही वृष्टि होगी। जब भी पश्चिम का वायु चले विश्वास कीजिए वृष्टि रुक जायगी। कारण इसका यही है कि वारुणवायु आप्य होने से शीतप्रकृतिक है। इस शीतभाव से मेघस्थ पानी का सघटन और भी अधिक दृढ होजाता है। अतएव इसके आगमन से वर्षा नहीं होती। ऐन्द्रवायु सौम्य होने से आग्नेय-प्रधान है। क्योंकि अग्नि-सोम की परस्पर मैत्री है। इसके आगमन से मेघस्थ नमुचिप्राण शिथिल होजाता है। पानी द्रुत होकर भूपृष्ठ पर गिर पडता है। प्रकृत में इस वृष्टिविद्या के सम्बन्ध में विशेष कहना अप्राकृत होगा। यहां केवल यही बतलाना है कि आपोमय परमेष्ठी में अप-वायु सोम भेद से तीनों तत्वों का विकास होता है।

---

* अश्लेषा-नक्षत्र-भोगकालात्मक वर्षाजल आसुर-वारुण बनता हुआ जहां रोग-प्रवर्त्तक है वहां मघानक्षत्र-भोगकालात्मक वर्षाजल दैव-ऐन्द्र बनता हुआ स्वास्थ्य प्रवर्त्तक माना गया है।

— इस विषय का विशद विवेचन पञ्चप्रयाजानुगता- वृष्टिविद्या में विस्तार से किया जाने वाला है।

उक्त तीनो त वा के आप -वारुणवायु ग्न्न्द्रवायु सोम -ये चार भे नाते ह । व ग्मृतु म न में वरुण के साथ वारुणवायु का प्रभुत्व ग्न्ता एवमेव ग्रीष्म के अ तर्गत स म के साहचर्य म ऐन्द्रवायु नाम से प्रसिद्ध साम्वसदाशिववायु की भी सत्ता न्ती है । आवाग म व यु का उग्ग्राभकाल है । अतएव श्रावणमास साम्बसदाशिव की आराधना का समय माना जाता है । य शिववायु सोम म अ तर्गत है साम सौम्यभाव का अधिष्ठाता है । अतएव सदाशिव को भोलानाथ क । जाता है । सप्रकार वायु स मभक्त आपोमय मण्डल के वारुणमण्डल सोममण्डल भेद स दो विभाग होजात ह । मर शब्दो म— एक ही आपोमण्डल साम और आप के भे से दो भागा म विभक्त रहा है । आप भी साम का अव था विशेष का ही नाम है एव सोम भी आप की अवस्थाविशेष का ही नाम है। अतएव न नोनो को हम सोम लोक भी कह सकते हैं एव आपालाक भी । परन्तु जब न्यासरा क स्थान यत ग्रा का विचार किया जायगा ता दोनों को विभक्त मानकर ही त य का समन्वय करना पड़ेगा ।

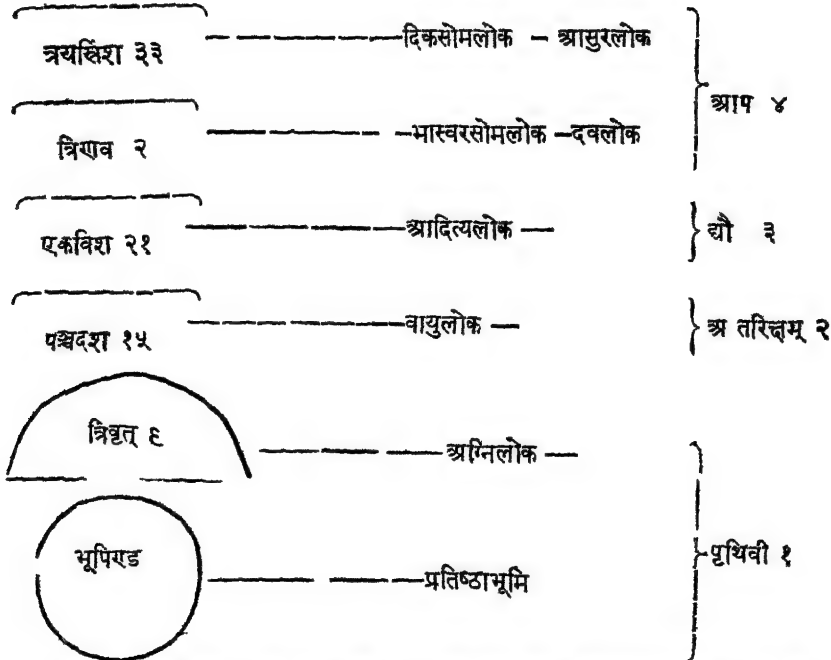
ऐन्द्रवायुमय आपोलोक इन्द्रके सम्बन्ध से दवताओं की आवासभूमि कहलाएगा एवं वारुणमय आपोलोक वरुणके सम्बन्ध से असुरो की आवासभूमि मानी जायगी । यहा का ण है कि एकविंशस्ताम के ऊपर जहाँ वज्रानंकोन त्रयस्त्रिशस्तोम पर्य्यन्त (३ पर्य्यन्त) आपोलाक की याप्ति बतलाइ है वहा न्होंने ही २ ३३ क्रम से उस आपोमय मण्डल के दो विभाग कर दि ए हैं । त्रिणवस्तोम (२) पर्य्यन्त भास्वरसोम की सत्ता मानी जाती है एव त्रयस्त्रिंशस्तोमपर्य्यन्त दिक्सोम (वारुण नाम स प्रसिद्ध वृत्रसाम) की सत्ता मानी गइ है । ये ही हमारे पूर्वोक्त एन्द्रलाक एव वारुणलोक हैं। २ पर्य्यन्त देवताओं का ही साम्रा य है । अतएव विज्ञान-समयानुसार २५ व अहगण पर साम्यविद्य न्न्न की सत्ता मानी जाती है । यही अ गण अविवा क्यमह -महाव्रतम्-अशाकमहिम कामप्र आदि नामा से व्यवहृत हुआ ह

वस्तुस्थिति यही है कि सौम्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी की अन्तिम सीमा प (१ वे अहगण पर) भगवान् सूर्य्य अपनी सहस्र किरणो से तप र हैं । सूर्य्य आपोमय परमेष्ठीमण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित है जसा कि अपा गम्भन्त्सीद इत्यादि मन्त्रवर्णन स स्पष्ट है । सूर्य्य अपनी रश्मियो स वका कर पारमेष्ठ्य पानी को चारो ओर फेंक रहे हैं । उस पानी में दा उपर्य्युक्त ऐन्द्रवायु से अनुगृहीत दाह्य सोम विद्यमान है । जहा तक सोम की सत्ता है वहाँतक (२ तक) रश्म्यवच्छिन्न सौरसावित्राग्नि चला जाता है । सोमस बन्ध से रश्मियो को बल मिलता रहता है । इसप्रकार आपोमय परमेष्ठी का सोमावच्छिन्न प्रदश सौरप्राण से आक्रान्त होकर सौरदेवताओं के अधिकार में आजाता है । जहा केवल पानी का ही साम्राज्य है वहा सो दवता नही जासकते । पारमेष्ठ्य आप का जो प्रदश सौररश्मियों स प्रकाशित होजाता है वह प्रकाशित-तेजोमय सोममूर्त्ति पानी ही वेन नाम से प्रसिद्ध हुआ है । इसी ज्यातिम्मय वेन पानी स सुप्रसिद्ध न्भ (कुश नाभ) उत्पन्न हुए हैं । इस विषय का विशद विवचन पूव के भोंपत्तिविज्ञान नाम के प्रकरण में किया जाचुका है ।

इसी ज्योतिर्भाव के कारण इस देवप्राणमय अपसोम को भास्वरसाम कहा जाता है । इसी को ऋग्व दस्थ सामप्रकरण में इन्दु नाम से व्यवहृत किया गया है । वस्तु की अन्तिम सीमा में पानी का स्तर रहता है । अन्तिम सीमा हीं उस वस्तु की दिक (दिशा) है । इसी समाप्तिभाव को लक्ष्य म रखकर अवाचीन सस्कृत साहित्य में प्रकरण-समाप्ति के अन्त में इति दिक् यह निर्देश रहता है । इस दिक के सम्बन्ध से ही वृत्रसोममय वह विशुद्ध आसुरलोक— दिक्सोम नाम से व्यवहृत हुआ है । अहगणक्रमानुसार पृथिवी के

२६ वें अहगण पर **गोसव** नाम का **वैष्णवयज्ञ** होता है । यही **विष्णु देवता** की प्रतिष्ठा है । यहा योनि रूप इन्द्र का अभाव है। केवल तमोमय रात्रिविधाता आसुरप्राण का ही साम्राज्य है। अतएव २६ व अहगणस्थ आपोमय मण्डलस्थ पारमेष्ठ्य विष्णु को सदा **योगनिद्रा** से समन्वित माना जाता है । यह स्थान २७ से ऊपर है । **यही गोसवयज्ञात्मक गोष्ठान है** । प्रकृत में इसे ही असुरो की आवासभूमि बतलाया गया है । २१ से ऊपर ३३ प य त का म पूण स्थान अपसाधारण्येन **आपोलोक** नाम से प्रसिद्ध है । इस सामान्य-व्यवहार की अपेक्षा लोकगणना के स बन्ध में— **पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौराप** यह व्यवहार प्रचलित है । इस आपोलोक में ३३-२७ क्रम से **असुरलोक देवलोक** दोनो प्रतिष्ठित हैं । अतएव जहा श्रुति को (यज्ञिय कर्म्मों मे) **त्रिणवस्तोमावच्छिन्न भास्वरसोमात्मक आपोमय देवलोक** अभिप्रेत होता है वहा वह आपोलोक के साथ **देवलोक** का विशेषण लगाती हुई— **अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आप** यह बोल दिया करती है । दिकसम्बन्ध से— **पृथिव्यन्तरिक्ष द्यौर्दिश** यह व्यवहार भी देखा जाता है ।

इसप्रकार पर्वोक्त प्रकरण से पाठकों को यह मान लेना पडेगा कि चतुर्थ लोक से प्रसिद्ध केवल पारमेष्ठ्य आपोलोक के ही **आप सोम (दिक् सोम भास्व सोम)** भेद से दो भेद होजाते हैं । **आपोलोक आसुरलोक है एव सोमलोक देवलोक है** । पार्थिव-गायत्री के द्वारा इसी सोम का अपहरण होता है । वह सोम कस गायत्री के द्वारा पृथिवी में आता है ? इस का उत्तर— **एतद्ध सौपर्णमाख्यानमाख्यानविद आचक्षते** इत्यादि रूप स तृतीयकाण्ड में द्रष्टव्य है ।



प्रकृतियज्ञ में देवता त्रिवृत् पञ्चदश एकविंश एव त्रिणवस्तोमात्मक-पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ आप (देवलोकरूप अप) इन चारों लोको में से वज्रप्रहार के द्वारा असुरों को निकाल कर स्तोमगणना

की अपेक्षा स त्रयस्त्रिंशरूप पाचवा लोक में एव लोकगणना की अपेक्षा स (अ मामा य की अपेक्षा स) चतुथ गोष्ठानरूप वष्णवधामा मक आपोलोक म मार भगाते ह । इसी लोकविज्ञान की अपेक्षा से— देवताओंने चारों लोका से असुरा को वज्रप्रहार क द्वारा निकाल दिया एव चार गोष्ठानरूप आपोलोक म उन्ह डाल दिया जिस स वे उस अपने लोक स कभा नाहर न जासक श्रुति के उपर्युक्त दोनो विरुद्ध व्यवहार यथावत् समन्वित होजात ह ।

प्रथम प्रहार स अ वय्यु ने त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पृथिवीलोक में रहने वाले सब असुरा को मार भगाया । अब क्रमप्राप्त द्वितीय प्रहार से पञ्च दशस्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्ष में रहने वाले असुरा के नाश की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए ऋषि कहते हैं— अथ द्वितीय प्रहरति ।

आपोमय परमेष्ठ म रहने वाले वारुण असुरोंन सृष्टि क आरम्भ म यज्ञिय-वदिरूपा स्तोम्यत्रिलोकी में रहने वाले प्राणदवताओं पर आक्रमण किया था यह पूव के आधिदैविक-आख्यान रहस्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है । पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ आप इन चारो लोका म याप्त आसुर वारुणप्राण भी चार ही भागो में विभक्त है । व चारो अवस्थाए क्रमश तृण-अरुरु-द्रप्स-आप इन नामा से व्यवहृत होती हैं । पार्थिव ओषधियो का मूलभाग (अन्नशून्य दण्डभाग-जिसे कूटकर पशुओं को दिया जाता है एव ऐसे तृणविशेष जो मनुष्य क उपयोग में न आकर केवल पशुओं के ही उपयोग में आते हैं) आसुरप्राणाक्रान्त हैं । इमी सामानाधिकरण्य को लक्ष्य में रखकर ऋषिने पार्थिव तृणादि को पार्थिव-सस्था में मुक्त वारुण-असुरो का निदान माना । अन्तरिक्ष म वायु की प्रधानता है । ऐन्द्रवायु जहाँ दिव्य है वहाँ वृष्टिविरोधी वारुणवायु आसुर है । तृणावच्छिन्न पार्थिव असुरा की (आसु प्राण की) गति तो एक ओर ही रहती है । किन्तु वायुगत आन्तरिक्ष्य असुर गतिप्रधान होते हुए चारो ओर फैल जाते हैं । चारो दिशाओं में इनका सञ्चार है । अतएव आन्तरिक्ष्य असुरजाति को ऋग्वेदने चतुष्पाद कहा है जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला हैं । पश्चिमा दिक इनकी जन्मभूमि है । चारो दिशाए सञ्चारभूमि है । वृष्टि का विरोध करना इस असुरजाति का मुख्य काम है । यही जाति अरुरु नाम से प्रसिद्ध है । ऐन्द्रवायुगत मरुत्वानिन्द्र के वज्र से यह उत्क्रान्त होजाता है तब कही वृष्टि होती है । अरुरु के इसी स्वरूप-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर मन्त्रश्रुति कहती है—

दस्मो हि ष्मा वृषण पिन्वसि त्वच कश्चिद्यावीररुरु शूर मर्त्य परिवृणक्षि मर्त्यम् ।
इन्द्रोत तुभ्य तद्दिवे तद्रुद्राय स्वयशसे मित्राय वोच वरुणाय सप्रथ सुमृडीकाय सप्रथ ॥

—ऋक्स १।१२६। ।

तीसरा द्युलोक में रहने वाला असुर द्रप्स रूप है । वृष्टिबिन्दु ही द्रप्स है । वृष्टि वैं द्यौ इस तत्तिरीय-सिद्धान्त के अनुसार वृष्टि ही द्यौ है । पारमेष्ठ्य असुर द्यु में आकर सवप्रथम वृष्टिरूप में ही परिणत होता है । वृष्टिबिन्दु को द्रप्स कहा जाता है । प्रकाश में देवता की प्रधानता है एव पानी में असुर की प्रधानता है । प्रकाश और ताप कैसा और कितना ही प्रबल क्यों न हो मनुष्य इसका आक्रमण सह जाता है । घोर आतप (धूप) में तो मनुष्य जासकता है । किन्तु वृष्टि का साधारण आक्रमण भी वह नही स सकता । पानी की साधारण बिन्दुओं को तो फिर भी मनुष्य यथाकथचित् सह जाता है । परन्तु यदि वग से

बडी बडी बिन्दुओं क रूप म वृष्टि हाने लग ता व ।बन्दुए असह्य होजाती हैं। क्योंक इनमें **असुरप्राण** प्रतिष्ठित है। **सीकर** [**निखर हुए जलकण**] जहा वकासरूप इन्द्र के सम्बन्ध स शरीर को बड सुहावने लगते ह व। थूलबिन्दु आसुरप्राणप्रधान बन कर शरीर के लिए क्षोभ का कारण बन जाती है। इन बडी बिन्दुओं के लिए ही द्रप्स शब्द प्रयुक्त हुआ है।

हृदयबिन्दु पृषद्बिन्दु स्तोकबिन्दु द्रप्सबिन्दु–भेद से बिन्दुभाव चार भागों में विभक्त है। सर्वाकार–अधिष्ठात्री किन्तु स्वय निराकार–बिन्दु ही **हृदयबिन्दु** नाम से प्रसिद्ध है। यह स्वानुभवकगम्या है। यद्यपि शिक्षणकाल म अध्यापकवग लेखिनी से पत्र पर स्पर्श कराके हृदयबिन्दु का आकार बतलाया करत ह। परन्तु वस्तुत यह आकार– **उपाया शिक्षमाणाना बालानामुपलालना** ही है। क्योंकि भले ही आप सूक्ष्म से सूक्ष्म बिन्दु बना ए उसम भी हृदयभाव उत्पन्न होजायगा। उसका भी कोइ न कोइ केन्द्र अवश्य रहेगा। ऐसी अवस्था म य मानलेना पडता है कि हृदयबिन्दु का कोइ आकार नही है। दूसरी है पृषदबिन्दु फव्वार की छोटी छोटी बिन्दुए ललाट के प्रस्वद[**पसीने**] दूर्वा आदि पर रहने वाली रात्रि की ओस की बिन्दुएँ ये सब **पषत्** ह। जिस मेह के लिए **झरमर झरमर नानी नानी बुदनिया** यह कहा जाता वही सीकर [**अम्बुकण–जलकण–पानी की कणकाए**] पषत् हैं। साधारणरूप से जो पानी बरसता है उसमें जो बिन्दु हैं व **स्तोक** नाम से व्यवहृत होती हैं। **दो बूँद दवा की लेना – दो बूँद अमुक की लेना** यह व्यवहार जिस बिन्दुभाव के लिए लोक में सामान्यरूप से प्रचलित है उसी को **स्तोक** कहा जाता है। साधारण व्यवहार म बिन्दु से इस स्तोकबिन्दु का ही ग्रहण किया जाता है।

चौथी है द्रप्स। कभी कभी आकाश स गिरने वाली बिन्दुओं का आकार बहुत बडा होता है। इनका प्रहार आप कभी नही सह सकते। इसी को लोकभाषा में **टपका** कहा जाता है। बिन्दुभाव की यह अन्तिम सीमा है। इससे बडा जितनी बिन्दुए होंगी सबका इस **द्रप्स** में ही अन्तर्भाव कर लिया जायगा। और तो और स्वय सूर्य्य को भी **द्रप्सश्चस्कन्द** यादि रूप से द्रप्स ही कहा जाता है। पुराण कहता है— **तुम्हारा यह बृहत्सूर्य्य आपोमय परमेष्ठी—समुद्र का एक बुद् बुद् (बुलबुला) मात्र है** तो इधर वेदभगवान् कहत है— **परमेष्ठी प्रजापति का द्रप्स** ही प्रवर्ग्यरूप से उसी प्रकार अन्तरिक्ष में आगया है जसे कि–वारुण–मघ से टपका भूमि पर आपडता है। वही सूर्य्य बनकर त्रैलोक्य में साम्राज्य कर रहा है। निवदनीय यही है कि द्रप्स सबसे बडी बिन्दु का नाम है। वृष्टि जिस द्युलोक से आरम्भ होती है उस मूलस्थान मे चलते हुए तो पानी द्रप्सरूप म ही परिणत रहता है। नीचे आते आते वायु के आघात से बिन्दुए छोटी होजाती ह। त्रिलोकस्थ वर्षा का द्रप्स प्रातिस्वक स्वरूप है। यह वारुणभावापन्न असुर की ही प्रतिकृति है।

चौथा असुर वही पाप्मा मध्य है। तीन को हम दखते ह। चौथे को हम अपने चर्म्मचक्षुओं से नही दखते। **एतद्वै सत्य निहित यच्चक्षु** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार चक्षु हमारे सत्यभाव का आलम्बन हैं। अत इस चौथ का न नाम बोला जाता न प्रहारकाल में मन्त्रप्रयोग ही होता। शेष तीनो प्रहार समन्त्रक हाते ह यह आरम्भ के पद्धति–प्रकरण स गतार्थ ही है। इसप्रकार चार प्रहारों के द्वारा भूप्रदेश को देवयजनसम्पत्ति से युक्त कर लिया जाता है। यज्ञ साधारण कर्म्म नही है। अपितु आधिभौतिक अनुरूप दिव्यभावापन्न पदार्थों के द्वारा मन्त्रशक्ति के द्वारा आधिदैविक सौर–प्राणदवताओं को आध्यात्मिक–जगत् में अन्तर्याम–सम्बन्ध से प्रतिष्ठित कर आगन्तुक दिव्यप्राण के आतशयस्वरूप सर्वथा नवीन **दिव्यात्मा (दैवा–**

त्मा) को उत्पन्न कर इसके साथ होने वाली हृद्ग्रन्थि के आकर्षण से मानपात्मा (कर्म्मात्म-जीवात्मा) का सप्तदशस्तोमरूप नाचिकेत स्वर्ग में प्रतिष्ठित कराने वाला एक अपूर्व क्रतु दुर्गमपथ है । यत्किञ्चित् सी असावधानी से महान्-अनिष्ट होजाने की सम्भावना है ।

अतः बहुत सोच समझकर ही अपनी मानुषभावोपेता कुतकमूला भावनाओं का सर्वथा तिरस्कार कर ऋषियों ने जैसी आज्ञा दी है जो पद्धतियाँ ब्राह्मण श्रौत-गृह्यसूत्रादि रूप से हमारे सम्मुख रक्खी हैं ठीक उन्हीं का अनुसरण करते हुए हमें यज्ञियवितान करना चाहिए। इसी में हमारा न केवल हमारा ही अपितु हमारे वंशजों का (भी) अभ्युदय है । इसी भाव को व्यक्त करते हुए कृष्णश्रुति के प्रवर्त्तक महर्षि तित्तिरिने प्रश्न किया है कि इस प्रहारकर्म्म का एकमात्र प्रयोजन यही तो है कि जिस भूप्रदेश पर वेदि बनने वाली है उस भूप्रदेश के कङ्कर दूषित मिट्टी-दूषित तृणादि हटाकर उसे साफ सुथरा बनाली जाय । इस यत्किञ्चित् से काम के लिए एक विशेष प्रकार का काष्ठमय स्फ्य बनाना फिर उसका क्रमशः चार चार प्रहार करना इन सब आडम्बरों का क्या आवश्यकता है ? । भूमि को ही तो स्वच्छ करना है । यह काम तो अध्वर्य्यु अल्पसमय में अपने हाथ से भी कर सकता है । बात सुनने में बड़ी अच्छी लगती है । आजकल के नवयुवक तो महर्षि तित्तिरि के इन प्रवपन्ती विचारों का हृदय से अभिनन्दन ही करने लगेंगे । आगे जाकर इस कुतर्क से होने वाली भयङ्कर हानि का दिग्दर्शन कराते हुए तित्तिरि कहते हैं कि सावधान ! कहीं एसी मूर्खता न कर बैठना । यह तुम्हारा अशनपान-(खानपान सम्बन्धी लौकिक व्यवहार नहीं है जिसे जैसा मन में आया कर लिया । यदि पद्धति की उपेक्षा कर अपनी सुविधा को आगे रखते हुए तुमने स्फ्य के स्थान में हाथों से ही उपर्य्युक्त कर्म्म कर लिया तो तुम्हारे नखों में विकृति उत्पन्न होजायगी ।

इस पर यदि कुतर्की यह आपत्ति उठावे कि नहीं हम बड़ी सावधानी से देखकर काम करेंगे जिससे नख पर आघात न होने पावे । इस भौतिक कुतर्क का समूल विनाश करते हुए तित्तिरि कहते हैं कि यहां तुम्हारी सावधानी असावधानी का कोई मूल्य नहीं है । यह तो प्राणव्यापार है । प्राण चर्म्मचक्षु से परे की वस्तु है । इसका प्रभाव तुम्हारे वंशजों पर भी होगा । तुम्हारे से आगे उत्पन्न होने वाले तुम्हारे सब वंशजों के नख विकृत होजायगे । सब कुनखी उत्पन्न होंगे । इसलिए पद्धति के सम्बन्ध में तुम्हें सदा "अलौकचक्षुष्का वयम्"—शब्दप्रमाणका वय-यदस्माकं शब्द आह-तदस्माकं प्रमाणम्" इस आदेश के अनुसार ही चलना चाहिये । (देखिए तै० ब्रा० ३ का० । २ प्र० ६ अनु० । १ क०) ।

उपर्य्युक्त सम्पूर्ण ब्राह्मण के द्वारा केवल यही बतलाया गया है कि अध्वर्य्यु नाम का ऋत्विक् भूप्रदेश को स्वच्छ-निष्कण्टक-निस्तृण-(साफ-सुथरा) बना कर उसे वेदियोग्य (पद्धति के अनुसार) बनाले तदनुसार यथोक्त पद्धति से अध्वर्य्यु ने भूविशोधन कर लिया है । अब आगे के ब्राह्मण से वेदिखनन-प्रकार ही उपक्रान्त होता है । ॥१७ ८।१६।२ २१॥

प्रथमकाण्डानुगत द्वितीयाध्याय का चौथा ब्राह्मण,
एवं
द्वितीय-प्रपाठक का दूसरा ब्राह्मण उपरत

—*—

श्री

अथ–प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मणम्

१२-वेदिपरिग्रह

(मूल)-दवाश्च वा असुराश्च–उभय प्राजापत्या पस्पृधिरे। ततो दवा अनु यमि वासु । अथ हासुरा मेनिरे अस्माकमेवेद खलु भुवनमिति ॥१॥

ते होचु –ह तेमा पृथिवा विभजामहै, ता विभ योपजीवामेति । तामाच्णश्चर्म्मभि पश्चात् प्राञ्चो विभजमाना अभीयु ॥२॥

तद्धै दवा शुश्रवु –विभजन्ते ह वा इमामसुरा पृथिवीम् प्र त तदेष्यामो यत्र मा– मसुरा विभज ते क तत स्याम–यदस्यै न भजेमहीति। ते यज्ञमेव विष्णु पुर– स्कृत्येयु ॥ ३ ॥

ते होचु –अनु नोऽस्या पृथि यामाभजत अस्त्वेव नोऽप्यस्या भाग इति । ते हासुरा असूय त इवोचु –यावदेवैष विष्णुरभिशेते, तावद्वो दद्म इति ॥४॥

वामनो ह विष्णुरास। तद् वा न जिहीडिरे–महद्वै नोऽदुर्ये नो यज्ञसम्मितम– दुरिति ॥ ५ ॥

ते प्राञ्च विष्णु निपाद्य छन्दोभिरभित पर्यगृह्णन् गायत्रेण त्वा छ दसा परि– गृह्णामि (१ अ २७ म०) इति। दक्षिणत त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि (१ अ २४ म) इति। पश्चात्। जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि [१ अ २७ म] इति। उत्तरत ॥६॥

त छ दोभिरभित परिगृह्य अग्नि पुरस्तात् समाधाय तेनार्च त श्राम्य तश्च रु । तेनमा सर्वा पृथिवी समवि द त। तद यदनेनेमा सर्वा समाव द त, तस्माद्व ादर्नाम।

तस्मान्दाहु यावती वेदि तावती पृथिवीति–एतया हामा मवा ममविन्दन्त । एव ह वा इमा सर्वां सपत्नाना सवृङ्क्ते । निर्भजत्यस्यै सपत्नान्–य एवमेतद्वेद ॥७॥

सोऽय विष्णुर्ग्लान छन्दोभिरभित परिगृहीत अग्नि पुरस्तात् नापक्रमणमास । स तत एवौषधीना मूलान्युपमुम्लोच ॥८॥

ते ह देवा ऊचु –क्व नु विष्णुरभूत् क्व नु यज्ञोऽभूदिति । त होचु –छन्दोभिरभित परिगृहीत अग्नि पुरस्तात् नापक्रमणमस्ति अत्रवान्विच्छतेति । त खनन्त इवान्वीषु । त त्र्यगुलेऽन्वविन्दन् । तस्मात् त्र्यगुला वेदि स्यात् । तदु हापि पाञ्चि त्र्यगुलामेव साम्यस्याध्वरस्य वाद चक्रे ॥९॥

तदु तथा न कुर्यात् । ओषधीना वै स मूलान्युपाम्लोचत्–तस्मात्–ओषधीनामेव मूलान्युच्छेत्तवै ब्रूयात् । यन्वेवात्र विष्णुमन्वविन्दन्–तस्माद्वेदिनाम ॥१ ॥

तमनुविद्योत्तरेण परिग्रहेण पर्यगृह्णन्– सुक्ष्मा चासि शिवा चासि" (१ अ० ७ म०) इति । दक्षिणत इमामेवैतत् पृथिवी सविद्य सुक्ष्मा शिवामकुर्वत । 'स्योना चासि सुषदा चासि'–[१ अ २४ म०] इति । पश्चादिमामेवैतत् पृथिवीं सविद्य स्योना सुषदामकुर्वत । 'ऊर्जस्वती चासि पयस्वती च'–(१ अ ७म) इति । उत्तरत इमामेवैतत् पृथिवीं सविद्य रसवतीमुपजीवनीयामकुर्वत ॥११॥

स वै त्रि पूर्व परिग्रह परिगृह्णाति त्रिरुत्तरम् । तत् षट्कृत्व षड् वा ऋतव सम्वत्सरस्य । सम्वत्सरो यज्ञ प्रजापति, स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत् परिगृह्णाति ॥१२॥

षड्भिर्व्याहृतिभि पूर्व परिग्रह परिगृह्णाति षड्भिरुत्तरम् । तद् द्वादशकृत्व । द्वादश वै मासा सम्वत्सरस्य सम्वत्सरो यज्ञ प्रजापति । स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत् परिगृह्णाति ॥१३॥

व्याममात्री पश्चात् स्यादित्याहु । एतावान् वै पुरुष पुरुषसम्मिता हि । त्र्यरत्नि प्राची । त्रिवृद्धि यज्ञ । नात्र मात्रास्ति, यावतीमेव स्वय मनसा मन्येत तावतीं कुर्यात् ॥ १४ ॥

अभितोऽग्निमसावुन्नयात । योषा वै वदि वृषाग्नि । परिगृह्य वै योषा वृषाणं शेते । मिथुनमेवैतत्प्रजनन क्रियते । तस्मादभितोऽग्निमसा उन्नयति ॥१५॥

सा वै पश्चाद्वरीयसी स्यात म य सह्वारिता पुन पुरस्तादुर्वी । एवमिव हि योषा प्रशसन्ति –पृथुश्रोणि विमृष्टान्तरासा मध्य सग्राह्या ति । जुष्टामेवैनामेतद् देवेभ्य करोति ॥ १६ ॥

सा वै प्राकप्रवणा स्यात–प्राची हि देवाना दिक । अथो उदक्प्रवणा–उदीचि हि मनुष्याणा दिक । दक्षिणात पुरीष प्र युदूहति–एषा वै दिक् पितृणाम् । सा यद्दक्षिणा–प्रवणा स्यात–क्षिप्र ह यजमानोऽमु लोकमियात् । तथो ह यजमानो ज्योग जीवति । तस्माद्दक्षिणत पुरीष प्र युदूहति । पुरीषवती कुर्वीत पशवो वै पुरीष पशुमतीमेवैनामे तत कुरुते ॥१७॥

ता प्रतिमार्ष्टि । देवा ह वै सग्राम सन्निधास्यन्तस्ते होचु –ह त यदस्यै पृथिव्या अनामृत देवयजन तच्च द्रमसि निदधामहै स यदि न इतोऽसुरा जयेयु , तत एवा–र्चन्त श्राम्यन्त पुनरभिभवेमेति । स यदस्या पृथिव्या अनामृत देवयजनमासीत्तच्चन्द्र–मसि न्यदधत । तदेतच्चन्द्रमसि कृष्णम् । तस्मादादु –चन्द्रमस्यस्यै पृथिव्या देवयज नमिति । अपि ह वा अस्यैतस्मिन् देवयजन इष्ट भवति । तस्माद्वै प्रतिमार्ष्टि ॥१८॥

स प्रतिमार्ष्टि 'पुरा क्रूरस्य विसृपो विरपशिन्'–(१ अ ५ म) इति । सग्रामो वै क्रूरम् सग्राम हि क्रूर क्रियते हत पुरुष हतोऽश्व शेते । पुरा ह्य तत्सग्रा–मान्न्यदधत । तस्मादाह पुरा क्रूरस्य विसृपो विरपशिनिति । 'उदादाय पृथिवी जीवदानुम्"–(१ अ ८ म) इति । उदादाय हि यदस्यै पृथिव्यै जीवदानु–मिति । 'यामैरय श्च द्रमसि स्वधाभि' – (१ अ –२८ म) इति । या चन्द्रमसि ब्रह्मणादधुरित्येवैतदाह–'तामु धीरासोऽनुदिश्य यजन्ते' –[१ अ २८ म०] इति । एतेनो ह तामनुदिश्य यजन्ते । अपि ह वा अस्यैतस्मिन् देवयजन इष्ट भवति–य एवमेतद्वेद ॥ १९ ॥

अथाह "प्रोक्षणीरासादय' ––(१ अ० २८ म) इति । वज्रो वै स्फ्य , ब्राह्मणश्च इम पुरा यज्ञमभ्यजूगुपताम् । वज्रो वा आप । तद् वज्रमेवैतदभिगुप्त्यै–आसादयति । स वा उपयु पर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छति । अथ यन्निहित एव स्फ्ये प्रोक्षणीरासादयद्–वज्रौ ह समृच्छेयाताम् । तथो ह वज्रौ न समृच्छेते । तस्मा दुपयु पर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छति ॥ २ ॥

अथैता वाच वदति—प्रोक्षणीरासादय, इध्म बर्हिरुपसादय स्रुच सम्मृड्ढि पत्नीं सन्नह्याज्यनोदेहि इति । सप्रैष एवैष । स यदि कामयत—ब्रूयादेतत् । यद्यु कामयेत—अपि नाद्रियेत । स्वयमु ह्य वैतद् वेद—इदमत कर्म कर्त्तव्यमिति ॥ २१ ॥

अथोदञ्च स्फ्य प्रहरति—अमुष्मै त्वा वज्र प्रहरामीति यद्याभिचरेद् । वज्रो वै स्फ्य स्तृणुते हवेनेन ॥ २२ ॥

अथ पाणी अवनेनिक्ते । यद्वयस्यै क्रूरमभूत्—तद्वयस्या एतदहार्षीत् । तस्मात् पाणी अवनेनिक्ते ॥ २३ ॥

स ये हाग्र ईजिरे ते ह स्मावमश यजन्ते ते पापीयास आसु । अथ य नजिरे ते श्रेयास आसु । ततोऽश्रद्धा मनुष्यान् विवेद—ये यजन्ते पापीयासस्ते भवन्ति य उ न यजन्ते श्रेयासस्ते भवन्तीति । तत इतो देवान् हविन जगाम—इत प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति ॥ २४ ॥

ते ह देवा ऊचुर्बृहस्पतिमाङ्गिरसम् अश्रद्धा वै मनुष्यानविदत्, तेभ्यो विधत्स्व यज्ञमिति । स हेत्योवाच बृहस्पतिराङ्गिरस कथा न यजध्व इति । ते होचु किकाम्या यजमहि ये यजन्त पापीयासस्त भवन्ति, य उ न यजन्ते श्रेयासस्त भवन्तीति ॥ २५ ॥

स होवाच बृहस्पतिराङ्गिरस—यद्वै शुश्रुम देवाना परिषूत तदेष यज्ञो भवति । यच्छ्तानि हवीषि क्लृप्ता वदिस्तेनावमर्शमचारिष्ट । तस्मात्पापाशसाऽभूत । तनानवमश यजध्वम् तथा श्रेयासो भविष्यथेति । आ कियत इति । आ बर्हिषस्तरणादिति । बर्हिषा ह वै खल्वेषा शाम्यति । स यदि पुरा बर्हिषस्तरणात् किञ्चिदापद्य त, बर्हिरेव तत् स्तरणमापस्येत् । अथ यदा बर्हिस्तृणन्ति—अपि पदाभितिष्ठन्ति । स यो हैव विद्वाननवमश यजत, श्रेयान् हैव भवति । तस्मादनमर्शमेव यजत ॥ २६ ॥

इति प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मणम्

द्वितीयोऽध्यायश्च समाप्त

२

(अनुवाद)—प्रजापति की सन्तान होने से प्राजापत्य नाम से प्रसिद्ध देवता और असुर दोनों एक समय परस्पर) स्पर्द्धा करने लगे। (इन दोनों की हम बलवान् हैं नहीं हम बलवान् हैं इस प्रकार के स्पर्द्धा में) देवता (असुरों की अपेक्षा) पराजित से होगए। (अर्थात् असुरों के आक्रमण को सहन में असमर्थ होते हुए देवता एकबार सर्वथा निराश होते हुए उदासीन बनकर चुप हो गए। (देवताओं की इस उदासीनता से अनुचित लाभ उठाते हुए) असुरों ने यह समझ लिया कि (देवता तो कुछ बोलते नहीं है । अब अपने साथ प्रतिस्पर्द्धा करने वाला और कौन है। ऐसी अवस्था में) यह सम्पूर्ण भुवन सम्पूर्ण भूमण्डल अपना ही है । (इसप्रकार सम्पूर्ण भूमण्डल को अपनी ही सम्पत्ति समझ कर) असुर-मण्डलने परस्पर समवेत होकर सुसघठित बनकर यह निश्चय किया कि (चलो अब दूसरे का तो डर है नहीं) अपन (सुविधानुसार) ही इस पृथिवी का विभाग करलेंगे। (अपनी अपनी सुविधा के अनुसार इस पृथिवी का विभाग कर इस स्व स्व दायभाग से) अपन (आनन्दपूर्वक) जीवन व्यतीत करें।

(इसप्रकार सम्पूर्ण पृथिवी-मण्डल को अपनी ही प्रातिस्विक (निजी) सम्पत्ति समझते हुए) इन प्रधान असुरोंने (बलों को बाधने की अतएव) औक्ष्ण नाम से प्रसिद्ध चर्म्ममयी रज्जु (चमड़े की डोरी) से पश्चिम की ओर से पृथिवी का विभाग करना आरम्भ करते हुए पूर्व की ओर आना आरम्भ कर दिया। (अर्थात् देवताओं की यत्किञ्चित् भी अपेक्षा न रखते हुए मापसाधनभूता चर्म्मरज्जु से अपना सुविधानुसार इन्होंने पृथिवी को पश्चिम से नापना आरम्भ कर नापते हुए पूर्व की ओर बढने लगे। (इधर देवता पूर्व में रहते थे) गुप्त-चरों के द्वारा इन देवताओंने सुना कि (अपना उदासीनता से अनुचित लाभ उठाते हुए दुष्ट बुद्धि) असुर सम्पूर्ण पृथिवी का विभाग करते हुए (सब को अपनी ही सम्पत्ति मानते हुए) पूर्व की ओर चले आरहे हैं। (अब तो देवता चिन्तित हुए तत्काल परस्पर मन्त्रणा कर) देवताओंने निश्चय किया कि (अब चुप बैठने से काम नहीं चल सकता) चलो अपन वहां चलें जहां कि असुर (अपने आप को ही इस पृथिवी के अन्यतम-असपत्न-भोक्ता समझते हुए) इस पृथिवी का विभाग कर रहे हैं।

अरे भला मानो तो सही कि यदि सम्पूर्ण पृथिवी मण्डल असुरोंने हीं परस्पर बॉट लिया) अपन यदि इसका विभाग न कर सके (अर्थात् अपन को भूप्रदेश न मिला तो) बतलाओ अपन क्या रह जायगे ?। अर्थात् जब सम्पूर्ण पृथिवी मण्डल असुरों के अधिकार में चला जायगा तो अपन कहां रहेंगे। फिर तो अपन को इन की प्रजा बन कर असुरों की दया पर ही जीवित रहना पड़ेगा। (इसप्रकार मन्त्रणा कर देवताओंने यज्ञ नाम से प्रसिद्ध विष्णु को आगे किया और वहाँ आपहुँचे (जहां कि असुर मनमानी कर रहे थे)। (वहां पहुँच कर अभिनिवेश में आते हुए) देवता कहने लगे कि हमारे लिए भी इस पृथिवी में विभाग रक्खो। (यह केवल तुम्हारी ही प्रातिस्विक सम्पत्ति नहीं है तुम्ही प्रजापति की सन्तान नहीं हो। हम भी प्राजापत्य हैं। (ऐसी अवस्था मे यह आवश्यक है कि) इसमे हमारे लिए भी दाय-विभाग रहै।

देवताओं के इस आकस्मिक आगमन से असुर स्वयं ही स्वयं में डर होपड (चलउठे)। उन्होंने सोचा कि अब क्या करना चाहिए बुरे समय में इनका आगमन हुआ। ये तो ठीक समय पर आवसके। यदि विभाग करने के अनन्तर आते तब तो कोई चिन्ता न था। परन्तु ठीक इस अवसर पर ये आ ही पहुंचे हैं तो इन्हें मना भी नहीं किया जासकता कुछ न कुछ तो देना ही पडेगा अब इन्हें। यह सोचते हुए तत्काल न दु... में ये सोचा कि इनके (देवताओं के) अग्रगामी विष्णु हैं। ये वामन हैं सब से छोटे हैं। विष्णुरूप यज्ञ इन देवताओं का आधार है। अतएव इन्हें तो यज्ञात्मक विष्णु ही सबसे अधिक प्रिय हैं। अतः यदि यत्किञ्चित् थोडा सा भूप्रदेश इन को मिल जायगा तो ये सन्तुष्ट होजायगे यह निश्चय कर) अपने नाक भी सिकोडते हुए मुखाकृति विकृत करते हुए ईर्ष्याभाव प्रकट करते हुए असुर कहने लगे कि तुम्हारे (अग्रगामी) ये विष्णु जितना प्रदेश अपने शयन के लिए पर्याप्त समझते हैं (अर्थात् तुम्हारा यज्ञ जितनी दूर में व्याप्त हो सकता है।) उतना प्रदेश हम तुम्हें देने के लिए सन्नद्ध हैं। विष्णु वामन थे। (उधर असुरों का वामन का वह त्रैलोक्य-व्यापक स्वरूप विदित न था। उन्होंने तो समझ रक्खा था कि यज्ञविष्णु वामन हैं। छोटा सा स्वरूप इन का है। बहुत होगा तो क्रोश (कोस) दो क्रोश में वामनयज्ञ का वितान होजायगा। उधर देवताओं का काम बन गया। हम तो विष्णुसम्मित भूप्रदेश तुम्हें देसकते हैं अधिक नहीं

(असुरों के इस कथन से) देवगण ने अपना कोई अनादर न समझा। उन्होंने (पूर्ण प्रसन्नता प्रकट करते हुए परस्पर कहा कि) अरे! अपने को तो इन्होंने यज्ञसम्मित भूप्रदेश दे दिया वह तो बहुत कुछ दे दिया (यह भाव प्रकट किया) (असुर वचनबद्ध होगए थे यज्ञ-सम्मित भूप्रदेश के लिए। अतएव अब वे कुछ नहीं बोल सकते थे। फिर क्या था तत्काल) देवताओंने विष्णु को पूर्व की ओर मस्तक करके शयन करा दिया। हम आपको गायत्रछन्द से वेष्टित करते हैं यह कहते हुए दक्षिण भाग से विष्णु को घेर लिया। हम आपको त्रिष्टुभ छन्द से सीमित करते हैं यह कहते हुए पश्चिम भाग से घेर लिया। हम आपको जागत छन्द से सीमित करते हैं यह कहते हुए उत्तर की ओर से विष्णु को सीमित कर दिया। इसप्रकार (विष्णु को पूर्व में प्रतिष्ठित कर दक्षिण-पश्चिम उत्तर तीनों ओर से गायत्र्यादि तीनों छन्दों से) चारों ओर से घेरकर पूर्व दिशा में आहवनीयाग्नि प्रतिष्ठित कर (इस अग्निसाधन से यज्ञानुष्ठान करते हुए) इस यज्ञ के द्वारा देवताओंने (देवयजनयोग्य) सम्पूर्ण पृथिवी अपने अधिकार में करली। यज्ञात्मक विष्णु की कृपा से किंवा विष्णुरूप यज्ञ की कृपा से देवताओंने [उक्त प्रकार से] सम्पूर्ण भूप्रदेश को प्राप्त कर लिया। अतः वे यज्ञेन-अविन्दन्त इस व्युत्पत्ति के अनुसार (तभी से देवयजनयोग्या) यह सम्पूर्ण पृथिवी वेदि नाम से प्रसिद्ध होगई।

तभी से यह किंवदन्ती चल पडी कि—जितनी बडी वेदि है उतनी ही बडी पृथिवी है। इसी वेदि (भाव) से (वेदि के व्याज से) देवताओंने सम्पूर्ण पृथिवी-मण्डल अपने अधिकार में कर लिया (सम्पूर्ण शत्रु इससे निकल गए। यज्ञबल से निकाल दिए गए) सो जो यज्ञकर्त्ता यजमान इस रहस्य को जानता है (इस रहस्य को जानता हुआ उक्त प्रकार से वेदिपरिग्रह करता

है वह अपने भोग्यरूप सम्पूर्ण भूप्रदेश को सपत्नों (शत्रुओं) क अधिकार मे से (अपना भाग) निकाल लेता है। स्वय सपत्न इस याज्ञिक के लिए उसका (मुक्तभोग्य भाग) छोड देते हैं। बात यह हुई कि देवताओंन—यहा हमारा गार्हपत्य बनेगा यहा दक्षिणाग्निकुण्ड रहेगा यहा आहवनीय रहेगा यहा वेदि बनेगी इसप्रकार यज्ञयाज से सम्पूर्ण भूप्रदेश (दृश्य भप्रदेश) अपने अधिकार म कर लिया। इसप्रकार विभाग करके तत्काल वे अपनी (आरा या एव स्वरूप-सरक्षिका) यज्ञप्रक्रिया मे सलग्न होगए।

१- -३-४-५-६-७

—※—

(यज्ञरूप विष्णु का ताना छन्दा से देवताओंन परिग्रह किया था। विष्णुदेवता इन छन्दों से घिर कर त्रस्त होगए घबरा गए। दक्षिण उत्तर पश्चिम का माग तो क्रमश गायत्र त्रैष्टुभ जागत-छन्दोंन अवरुद्ध कर लिया। पूर्व का माग अग्निने अवरुद्ध कर लिया। इसप्रकार चारों ओर छन्दों से परिगृहीत अग्नि पूर्व की ओर कोई अपक्रमणमाग (भागने का माग) नहीं। इस अवस्था मे विष्णु (चारो ओर से घिरकर) लान होगए। (परिणाम यह हुआ कि और किसी माग से तो भागने का माग मिला नहीं) विष्णु वहीं ओषधियों के मूलों मे प्रविष्ट होकर अन्तर्द्धान होगए। (देवताओंन देखा तो विष्णु कहीं प्रत्यक्ष मे नहीं)। उन्होंन परस्पर एक दूसरे से प्रश्नारम्भ किया कि अरे! विष्णु का क्या हुआ? यज्ञ कहा चला गया?। (इधर उधर देखा पता न लगा। अन्त मे उन्होंन यह निश्चय किया कि भाई) तीनों ओर से छन्दों से घिरा हुआ एव पूर्व मे अग्नि ऐसी अवस्था मे इस स्थान से निकल जाने का तो कोई माग है नहीं। (अवश्य ही विष्णु यहीं इस वेदिसीमा क भीतर भीतर ही कहीं छुप गए होंगे) यहीं ढूँढो। (देर क्या थी तत्काल देवताओंन कुदाली हाथ मे ली और) भूगर्भ को खोदते हुए विष्णु को ढूँढने लगे। अन्ततोगत्वा भूपृष्ठ से तीन अङ्गुल का गहराई मे उन्होंन विष्णु को प्राप्त कर लिया।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वेदसाधनभूत यज्ञात्मक विष्णु को देवताओंनें भूपृष्ठ से तीन अङ्गुल की गहराई मे प्राप्त किया था। अत यज्ञकर्त्ता यजमान की वेदि त्र्यङ्गुला ही होनी चाहिए। अर्थात् जिस स्थान पर वेदि बनाना है पहिले उसकी तीन तीन अङ्गुल मिट्टी खोदकर बाहिर निकाल देनी चाहिए। क्योंकि विष्णुरूप यज्ञ भूपृष्ठ से तीन अङ्गुल की गहराई मे ही रहता है। वहीं वेदिनिर्माण होना चाहिए इसी दृष्टिकोण को सम्मुख रखते हुए- पाङ्क्षि नाम से प्रसिद्ध याज्ञिकने अपने सोमयाग का वेदि त्र्यङ्गुला (त्र्यङ्गुलखाता-तीन अङ्गुल-गहरी) ही बनाई थी।८।६।

हमारे याज्ञवल्क्य वैज्ञानिक थे। वे विज्ञानदृष्टि से पदार्थों का अन्वेषण करते थे। उधर याज्ञवल्क्य के समय से पहिले के तित्तिरसम्प्रदाय (कृष्णयजुर्वेद-सम्प्रदाय) के अनुयायी पाङ्क्षि आदि याज्ञिक केवल रूढि के ही परमभक्त थे। उनका कहना था कि देवताओंन तीन

अङ्गुल गहराइ में विष्णु को प्राप्त किया था। अत इमको त्र्यङ्गुल गहरी ही वेदि बनानी चाहिए। इधर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि देवताओं के तीन अङ्गुल का तात्पर्य तीन अङ्गुल माप से नहीं है अपितु त्र्यङ्गुल शब्द ओषधिमूल का ही उपलक्षण है भूपृष्ठ पर जो ओषधियां प्ररोहित रहतीं हैं उनके मूलभाग में (जो भूमि में जडों से सलग्न) विष्णुप्राण रहता है होसकता है-जड तीन अङ्गुल की गहराई में हों होसकता है तीन अङ्गुल से भी अधिक गहराइ में हों। अत ओषधिमूल जहातक है वे फिर चाहे तीन अङ्गुल गहरे हों कम हो अथवा अधिक गहरे हों) वहातक भूप्रदेश को गहरा खोदना चाहिए। त्र्यङ्गुल विधि नहीं है। अपितु सामान्य आदेशमात्र है। इसी भाव को लक्ष्य में रखकर अपने गुरुश्रेष्ठ याज्ञवल्क्य का मत प्रदर्शित करते हुए उन के प्रियशिष्य—शतपथब्राह्मण को लिपिबद्ध करने वाले मधुच्छया कहते हैं—

ऐसा नहीं करना चाहिए। अर्थात् तीन अङ्गुल की गहराइ में ही वेदि बने इस दुराग्रह में नहीं पडना चाहिए। कारण पलायित विष्णुतत्त्व ओषधियों के मूलों में प्रविष्ट हुआ था न कि तीन अङ्गुल की गहराइ में। इसलिए अध्वर्यु को चाहिए कि वह आग्नीध्र ऋत्विक को (वेदि निर्माणकाल में) ओषधियों के मूलों का उखाडने के लिए प्रेष करे। यहीं तो विष्णुप्राप्ति से यह स्थान 'वेदि' नाम से प्रसिद्ध हुआ था। तात्पर्य यही है कि वेदि सम्पत्ति प्राप्त करना है अथवा त्र्यङ्गुलखात का ही दुराग्रह है? यदि वेदिसम्पत्ति अपेक्षित है तब तो ओषधियों के मूल ही उखाडने चाहिए। क्योंकि जिस स्थान पर विष्णु है वहीं— एनेन-इमां सर्वां समविन्दन्त तस्माद् वेदिर्नाम इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेदिसम्पत्ति है। और जहा ओषधिमूल हैं वहीं वेदिस्वरूपसम्पादक विष्णु हैं ॥१॥

प्रसङ्गागत वेदिखनन सम्बन्ध में वैज्ञानिक निर्णय कर पुन प्रकृत कथा का अनुसरण करती हुई श्रुति कहती है कि इसप्रकार (खननक द्वारा अन्तर्हित विष्णु को पुन) प्राप्त कर देवताओंने दूसरे परिग्रह से (पुन) विष्णु को घेर लिया। (अर्थात् खनन से पहिले गायत्र्यादि छन्दों से इसे सुरक्षित किया था। परन्तु उस समय यह विष्णु भीतर प्रविष्ट होगया था। आज जब वह मिल गया तो देवता पुन प्रकारान्तर से उसे सुरक्षित करते हैं। हे भूमि! आप शोभना है क्षोभरहिता अतएव शान्त हैं यह भावना करते हुए देवताओंने दक्षिण भाग से विष्णु के द्वारा इसी वेदियोग्या पृथिवी को प्राप्त कर इसे सुक्ष्मा (शोभना) एव शिवा (शान्ता) बना दिया। अनन्तर- हे भूमि! आप स्योना (सुखप्रदा) हैं सुखदा (सुखपूर्वक बैठने का साधन) हैं यह भावना करते हुए देवताओंने पश्चिम की ओर से विष्णु का वेष्टन कर लिया। देवताओंनें विष्णु के द्वारा इसी वेदियोग्या पृथिवी को प्राप्त कर इसे स्योना एव सुषदा बना दिया। अनन्तर हे भूमि! आप ऊर्जस्वती (बलप्रद अन्नवती) हैं आप पयस्वती (रसवती) हैं यह भावना करते हुए देवताओंने उत्तर की ओर से विष्णु को सीमित कर दिया। विष्णु के द्वारा देवताओंने इस वेदियोग्या पृथिवी को प्राप्त कर इसे ऊर्जस्वती एव पयस्वती बना दिया। इसप्रकार यह देवताओं के द्वारा उपजीवनीया (जीवनसाधनयोग्या) बना दी गई।

इसप्रकार वेदिखनन से पूर्व तीन परिग्रह वेदिखननान्तर उपर्युक्त तीन परिग्रह इस-प्रकार देवताओं द्वाराक ६ सम्पिरिग्रह होजाते हैं। षट्परिग्रहों की समष्टि ही षड्ऋतु की समष्टि है। षडऋतुसमष्टि ही सम्वत्सर है। सम्वत्सर ही विष्णुरूप यज्ञप्रजापति है। इधर ६ परिग्रहों के साथ क्रमश ६ ही मन्त्रव्याहृतिया है। सम्भूय १ सख्या हाजाती है। सम्वत्सर के १२ मास हैं। सम्वत्सर विष्णुरूप यज्ञप्रजापति है। यह है प्राकृतिक यज्ञविष्णु की मात्रा परिमाण-मिति सीमा। यह यज्ञ जितना बडा है जितनी इसकी मात्रा है पूर्वोक्त देवक्रमानुसार षड्व्याहृति-पूर्वक ६ परिग्रह करता हुआ अध्वर्यु उसी यज्ञविभूति का परिग्रह कर लेता है।

११-१२-१३॥

जबतक पद्धतिक्रम अवगत नहीं कर लिया जाता तबतक उपर्युक्त आख्यान का समन्वय नहीं होसकता। अत पहिले पद्धतिक्रम को आपके सम्मुख उपस्थित किया जारहा है। भूपृष्ठ के जिस प्रदेश पर वेदि बनाई जाने वाली है उस प्रदेश पर सर्वप्रथम अध्वर्यु पूर्वब्राह्मण के कथ-नानुसार स्फ्यक प्रहार से असुर-निरसन-व्यापाररूप स्तम्बयजुहरण कर्म्म करता है। निर्विघ्न स्थान देवविभूति स युक्त रहता है एव वहा दैवविभूति का साम्राज्य रहता है वहीं दिव्यकर्म्म सफल एव सुफल होता है। हमारा यह भूप्रदेश (जिस मे हम देवताओं का यजनरूप दिव्य यज्ञकर्म्म करने वाले है) सर्वथा निर्विघ्न बनता हुआ दिव्यविभूति से युक्त होजाय एकमात्र इस प्रयोजन के लिए जो कर्म्म किया जाता है वही स्तम्बयजुहरण नाम से प्रसिद्ध है। पूर्व का ब्राह्मण एकमात्र इसी कर्म्म की साङ्गोपाङ्ग इतिकर्त्तव्यता का निरूपण करता है। स्तम्बयजुहरण कर्म्म से यह भूप्रदेश सर्वथा निर्विघ्न सम्पन्न बन गया है। अब यज्ञारम्भ करने मे एव इसकी पूर्त्ति म किसी प्रकार की आशङ्का नहीं है। यज्ञका मूलप्रतिष्ठा वेदि है। अत सर्वप्रथम अध्वर्यु इस वेदि का ही निर्म्माण करता है। वेदि का स्वरूप कैसा होता है? इस प्रश्न का समाधान तो आगे जाकर स्वय ब्राह्मण श्रुति ही करने वाली है। अभी कवल आख्यान से सम्बन्ध रखनेवाली पद्धति की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

सर्वप्रथम वेदि निर्म्माणार्थ पूर्वपरिग्रह की इच्छा रखने वाला अध्वर्यु नामक ऋत्विक् दक्षिण की ओर बैठे हुए ब्रह्मा से आज्ञा लेता हुआ कहता है—

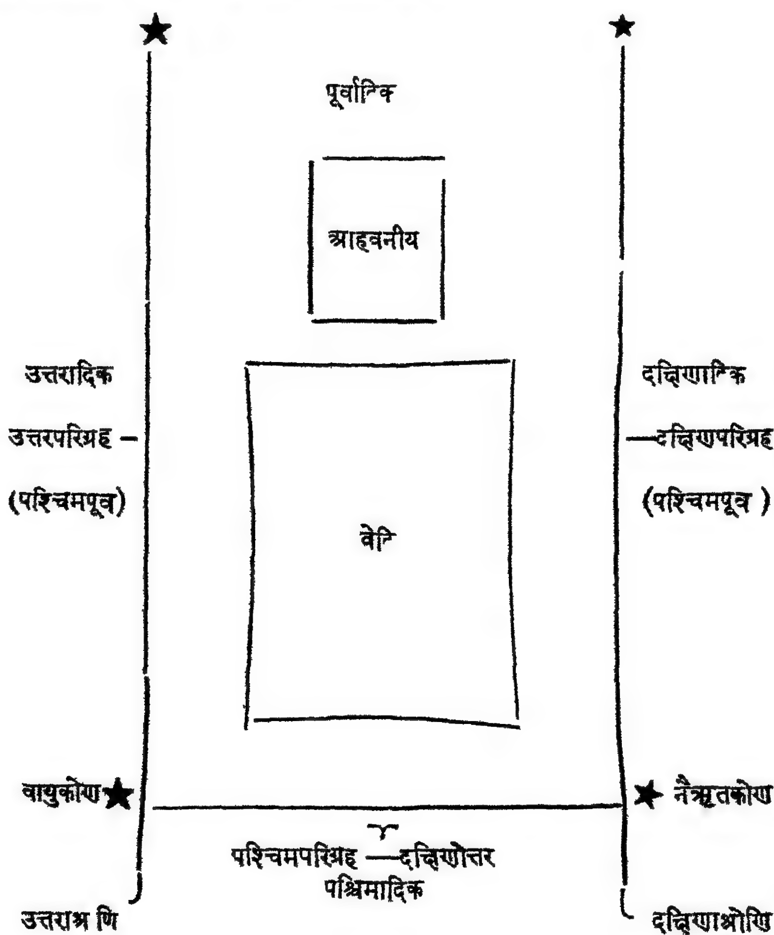
ब्रह्मन्! पूर्व परिग्रह परिग्रहीष्यामि'

हे ब्रह्मन्! मै पूर्वपरिग्रह का परिग्रह करना चाहता हू, इसके लिए मुझे आज्ञा दीजिए! उत्तर मे आज्ञा देते हुए ब्रह्मा कहते हैं—

"ओम्-बृहस्पते! परिग्रहाण वेदिम्, सुगावो देवा सदनानि सन्तु। अस्यॉ बर्हिं प्रथताम्। साध्वन्तरहिस्रा पृथिवी देवी देयस्तु। देवता वर्द्धय त्वम्। नाकस्य पृष्ठे यजमानोऽस्तु। सप्तर्षीणा सुकृता यत्र लोकस्तत्रेम यज्ञ च धेहि"

—कात्या २।२।१२।

इस मन्त्र का उपांशु (तूष्णीं) जप करके आग्नीध्र-परिग्रहाण यह मन्त्रभाग उच्च स्वर में बोलता हुआ अध्वर्यु को परिग्रहार्थ आज्ञा देते हैं। इसप्रकार ब्रह्मा से अनुज्ञात अध्वर्यु— पूर्व परिग्रह परिग्रहणाति दक्षिणत पश्चात् उत्तरतश्च स्फ्यन गायत्रेण ति प्रतिमन्त्रम् (का श्रौ सू अ । ६ क । १० सू) इत्यादि श्रौत सिद्धान्तानुसार वेदि के लिए निश्चित प्रदेश के दक्षिण पश्चिम उत्तरभाग में क्रमश निम्न लिखित तीन मन्त्र बोलता हुआ दक्षिण हस्तस्थ स्फ्य से परिग्रह करता है। तात्पर्य यही है कि जिस स्थान पर वेदि बनाई जाने वाली है उस स्थान को वेदि रूप से कल्पना में लाकर इस काल्पनिक वेदि के दक्षिणभाग में नैर्ऋत कोण से आरम्भ कर आहवनीय पर्यन्त पश्चिमपूर्व एक रेखा खैंचना चाहिए। इसी प्रकार दक्षिण श्रोणि से आरम्भ कर उत्तर श्रोणिपर्यन्त दक्षिणोत्तर एक रेखा खैंचनी चाहिए। यह पश्चिम परिग्रह होगा। एवं उत्तरश्रोणि के वायव्यकोण से आरम्भ कर आहवनीय के उत्तरपार्श्व पर्यन्त पश्चिमपूर्व रेखा खैंचनी चाहिए। यही उत्तर परिग्रह होगा।



इन तीनों परिग्रहों क लिए क्रमश निम्न लिखित तीन मन्त्र बोले जाते है—

१-–ओम्–गायत्रण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि'। (दक्षिणपरिग्रह)

२– 'ओम्-त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि''। (पश्चिमपरिग्रह)

३–– 'ओम्–जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि । (उत्तरपरिग्रह]

पूर्वपरिग्रहाख्या (प मिलित इति यात)

ये तीना परिग्रहस्थान शाखान्तर म ऋत ऋतसन्न ऋतश्री इन नामों से व्यवहृत हुए हृ। इनके ये नाम क्यों है? इस प्रश्न का समाधान आगे के वैज्ञानिक-प्रकरण मे किया जाने वाला है (देखिए आप श्रा ।३।७।)। इस पूवपरिग्रह का तात्पर्य यह है कि दक्षिण-पश्चिम उत्तर इन तीनों दिशाओं क आधार पर एक रखा ऐसी बना लेनी चाहिए जिससे वेदि की इयत्ता का बोध होजाय। वेदिस्थान–परिमाण के अनुमान के लिए तीनों ओर खची जाने वाली रेखा ही पूवपरिग्रह नाम से व्यवहृत होती है।

इस पूर्वपरिग्रहकम्म क अनन्तर अध्वर्य्यु काल्पनिक वेदि (जहा वेदि बनने वाली है वह स्थान भी तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम् इस याय से वेदि नाम से व्यवहृत किया जासकता है) ऊपर पश्चिम से आरम्भ कर पूर्वदिक् पर्य्यन्त (आहवनीयकुण्ड–पर्य्यन्त) उत्तरसस्थ तृष्णीं (बिना मन्त्र बोले चुपचाप) स्फ्य स तीन सीधी रेखा करता है। रेखाकरणान्तर वेद्या त्रिरुल्लिख्याऽऽह हर * त्रिरिति (का श्रौ–सू – ।६।१६।) क अनुसार आग्नीध्र को हर त्रि यह प्रैष करता है। (इन तीनों रखाओं की धूलि उठा लेजाओ प्रैषका यही तात्पर्य्य है । आग्नीध्र प्रैषानुसार (आज्ञानुसार) हत्वाऽग्नील्लेखा सम्मृशति (का श्रौ –सू २।६।२।) क अनुसार उन वेदिस्थ लेखाओं–से उखडी हुइ) धूल को तीन बार करक उठाता है। उठा कर इन्हें तो उत्कर मे डाल देता है एव उन रखाओं पर जल डालकर उन्हे सम बना देता है। स्वय ब्राह्मणग्रन्थ मे लेखा हरण एव सम्मर्शनकम्म का विधान नहीं है। य दोनों हीं कर्म्म प्रधानरूप से पिण्डपितृयज्ञ म एव चयनयज्ञ मे विहित देखे जाते हैं । लिखति परति यत् हाय्य भवति (शत ब्रा

---

* वरुणप्रघासेष्टि में दो वदियाँ बनाइ जाती हैं । वहा भी देविसम्बन्ध में प्रकृतिवृद्धिकृति कर्त्तव्या इस नियम के अनुसार स पूर्ण कम्म यो का यों करना पड़ता है। इधर मन्त्र में त्रि शब्द उपात्त है। ऐसी अवस्था में द्विवदियुक्ता इष्टि में हर त्रिरिति यही ऊह करना चाहिए। त्रि शब्द के स्थान में हर षट् ऐसा ऊह नही करना चाहिए।

। ।१२।) इत्यादि रूप से पितृयज्ञ में लिखित्वाऽऽहृत्य त्रिरति न्यत्यामन्त्र (शत ब्रा ७।२। ।१।) इत्यादि रूप से अग्निचयन में ही लेखाहरण एवं तन् सम्मानकर्म देखे जाते हैं। इसी पद्धति पर का निदर्शन कराते हुए सूत्रकार कहते हैं—

'पितृयज्ञाग्निचित्ययोर्वा–तत्र दर्शनात्'

—क श्रौ सू २।१। ।।

इस सूत्र का भाष्य करते हुए कर्काचार्य कहते हैं कि यद्यपि लेखाहरण और सम्मानन-कर्म प्रकृत ब्राह्मणश्रुति में नहीं बतलाए गए। तथापि पितृयज्ञ और चयन विकृतियज्ञ हैं। इधर दर्शपूर्णमास प्रकृतियज्ञ है। एवं प्रकृतिवद् विकृति कर्त्तव्या यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति में यदि विकृतिरूप पितृयज्ञ एवं चयन में लेखाहरण और सम्मानन का विधान प्राप्त होता है तो अवश्य ही इस प्रकृतियज्ञ में भी इन दोनों कर्मों का ऊह करना चाहिए। यही कारण है कि भारतवर्ष में दर्शपूर्णमास यज्ञ की जितनी भी पद्धतियां उपलब्ध होती हैं सब में पितृयज्ञ–चयनयज्ञवत् लेखाहरण–सम्मानन का भी पद्धति में में सन्निवेश उपलब्ध होता है।

लेखाहरण–सम्मानन के अनन्तर— अत्र परिक्रमा यथाक्तम् (का श्रौ सू २। के अनुसार आग्नीध्र नाम का ऋत्विक् अभ्रि हाथ में लेकर प्रदक्षिणक्रम से (जिस क्रम से परिग्रह किया था उसी क्रम से) परिग्रह के भीतर का सम्पूर्ण प्रदेश ओषधियों के मूल पर्य्यन्त खोद डालता है। यह कार्य अध्वर्य्यु के प्रेष से आग्नीध्र करता है। इसी प्रैषभाव को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने ओषधीनां मूलान्युच्छत्तै (उच्छृत्त) ब्रूयात् यह कहा है। अनन्तर अध्वर्य्यु उत्तरपरिग्रह (खननोत्तरभावी परिग्रह) करने की इच्छा से—

'ब्रह्मन्! उत्तरपरिग्रह परिग्रहीष्यामि' इसप्रकार ब्रह्मा से आज्ञा मांगता है। ब्रह्मा—ओम् बृहस्पते इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्र उपांशु बोलते हुए—'ओ३म् परिगृहाण' यह ऊंचे स्वर से बोलते हैं। प्रैषानन्तर अनुज्ञात अध्वर्य्यु दहिने हाथ में स्फ्य लेकर (नियम क्रम से जिन स्थानों में तीन पूर्वपरिग्रह किए थे उसी क्रम से–उन्हीं परिग्रह–स्थानों में उत्तर परिग्रह परिगृह्णाति 'सुक्ष्मा' 'स्योना' 'ऊर्जस्वती' ति प्रतिमन्त्र पूर्ववत् (का श्रौ सू ३।) के अनुसार निम्नलिखित तीन मन्त्र बोलता हुआ क्रमशः–दक्षिण एवं पश्चिमोत्तर पार्श्वों में तीन रेखाएं बनाता है।

१–'ओम् सुक्ष्मा चासि शिवा चासि'। (दक्षिणपरिग्रह प्रथम)

२–'ओम् स्योना चासि शिवा चासि' (पश्चिमपरिग्रहो द्वितीय)

३–'ओम् उर्जस्वती चासि, पयस्वती च' (उत्तरपरिग्रहस्तृतीय)

उत्तर परिग्रहानन्तर— पुरा क्रूरस्य त्यनुमार्ष्टि (का श्रौ सू २।६।२४।) के अनुसार—

आम् पुरा क्रूरस्य विसृपो निरां शन्तुदादाय पृथिव्या जीवदानुम् * ।
यामैरयंश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु धीरासो अनुदिश्य यजन्ते ' ।

यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्य्यु दक्षिण हस्तस्थ स्फ्य से खनन एवं परिग्रह से उखड़ी हुई मिट्टी को बाहर फेंक कर विषम भूप्रदेश का दक्षिण की ओर से आरम्भ कर पूर्व पर्य्यन्त सम बनाता है । विषम धरातल का सम बनाना ही प्रतिमार्जन कर्म्म है तदनन्तर—

अथाग्नीदवेदिम्प्रोक्षणीर्धारयति (का श्रौ सू २।६। ५।) के अनुसार आग्नीध्र नाम का ऋत्विक् प्रोक्षणी पात्री का (जिस पात्री में प्रोक्षणी नाम का पानी भरा रहता है वही पात्री प्रोक्षणीपात्री नाम से व्यवहृत होती है) लेकर वेदि के ऊपर समीप में रख देता है । जिस समय आग्नीध्र प्रोक्षणी हाथ में उठाता है उसी समय स्फ्यरूप वज्र का ऊंचा उठाते हुए अध्वर्य्यु आग्नीध्र को निम्नलिखित आज्ञा देता है—

'अथोऽथ स्फ्यमुद्यम्याह ओ३म्–(१) प्रोक्षणीरासादय ! (२) इध्मं बर्हिरुपसादय ! (३) स्रुच सम्मृड्ढि ! (४)–पत्नी सन्नह्य ! (५) आज्येनोदेहि ! इति यदीच्छेत्' (का श्रौ सू २।६।) ।

उपर्य्युक्त जिन कार्य्यों के लिए आग्नीध्र के प्रति अध्वर्य्यु प्रैष करता है वे सब काम आग्नीध्र को पहिले से ही विदित हैं । अतः प्रकृत प्रैष में कामचार समझना चाहिए इसी अभिप्राय से सूत्रकारने सर्वान्त में यदि-इच्छेत् यह कहा है ।

यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि — प्राक्स्तरणाद्वेदिं नावमृशेत् शृतानि च हविष्याप्रचरणात् (का श्रौ २।६ ३ ।३१) के अनुसार जबतक इस वेदि पर कुशास्तरण न कर दिया जाय तबतक भूलकर भी इस वेदि का स्पर्श नहीं करना चाहिए । साथ ही प्रधानयाग के 'अवदान से पहिले पक्व हविर्द्रव्य (पुरोडाश) का भी स्पर्श नहीं करना चाहिए । यदि कुशास्तरण से पहिले वेदि पर अन्य तृणादि गिर जायँ तब भी उनको पहिले न उठावे । अपितु— आपन्नं स्तृणान् निरस्येत् (का श्रौ सू २।६।३३) के अनुसार आस्तरण काल में ही उनको बाहिर फेंके । आस्तरण से पहिले किसी प्रकार का स्पर्श न करे यही तात्पर्य्य है । आग्नीध्र के प्रति उपर्य्युक्त प्रैष करने के अनन्तर अध्वर्य्यु — द्विषतो वध इति स्फ्यमुदञ्च प्रहरति (का श्रौ सू २।६।३४) के अनुसार— ओम् द्विषतो वधः यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्य्यु स्फ्य के अग्रभाग को उत्तर की ओर करता हुआ उत्कर पर प्रहार करता हुआ उसे वहीं फेंक देता है । अनन्तर— अवनिज्य पाणी अपरेण प्रणीता स्फ्यं निदधाति (का श्रौ २।६।३५ के अनुसार दोनों हाथ धो डालता है । प्रणीतापात्र से पश्चिमभाग में पूर्व अथवा उत्तर की ओर स्फ्य (प्रक्षिप्त स्फ्य को लाकर) रख देता है ।

*– जीरदानुम् इतिपाठान्तरम् ।

प्रकृत ब्राह्मण म पूर्वपरिग्रह से आरम्भ कर स्तय–आग्रान पर्य्यन्त होने वाले कर्म्म का ही इतिक र्तव्यता बतलाई गई है। इस के अनन्तर स्रुकसम्मार्जन कर्म्म होता है। इस की इतिकर्त्त व्यता— स वै स्रुच सम्मार्ष्टि इत्यादि रूप स आगे तृतीयध्याय के प्रथम ब्राह्मण म बतलाई जायगी। अत इस पद्धतिक्रम का ब्राह्मणक्रमानुसार यहीं समाप्त कर प्रकृत ब्राह्मण के विषय की ओर आप का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

[गायत्रेण त्वा इत्यादि व्याहृतिया बोलता हुआ अध्वर्य्यु क्यों पूर्व–उत्तर भेद से ६ परिग्रह करता है क्या यह ला अथवा आपनिमूल पर्य्यन्त वेदिखनन किया जाता है ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान देवताओं का सम्वत्सरयज्ञ है। देवताओं ने ऐसा ही किया था एव उन्हीं का विधा क अनुसार मनुष्ययज्ञविधा का वितान हुआ है। अत — यद्द देवा अकुर्वस्तत्–करवाणि इस सिद्धान्त क अनुसार हम भी वैसा ही करना पडता है। ब्राह्मण क आरम्भ से १६ कण्डिका प र्यन्त देवयज्ञस्वरूप–प्रतिपादन–पूर्वक इस यज्ञ म होने वाले— तीन पूर्वपरि–ग्रह, अनन्तर २–वेदिखनन एव अनन्तर ३–तीन उत्तरपरिग्रह न तीन कर्म्मों की ही इति–कर्त्त व्यता का प्रतिपादन किया गया है। अब वेदि क स्वरूप (आकारमात्रवश) क सम्बन्ध म विचार करते हैं]।

कितने हीं (प्राचीन) याज्ञिकों का कहना है कि वर्तुल गार्हपत्यकुण्ड एव चतुष्कोण आहवनीयकुण्ड दोनों के मध्य म प्रतिष्ठित वेदि का लम्बाई यजमान का लम्बाईतुल्या है। ऐसी (मध्य से यजमानमात्री) यह वेदि पश्चिमभाग की ओर से (श्रोणिभाग की ओर से) चौडाई मे व्याममात्री (४ अरत्नि दो हाथ चौडी) होनी चाहिए एव पूर्व का ओर से (अस–भाग की ओर से) वेदि त्र्यरत्नि (डेढ हाथ चौडा) होनी चाहिए। क्योंकि वेदिरूप शरीर क अनुरूप पश्चिम–पूर्व की यही मात्रा होती है। साथ ही यह यज्ञ त्रिवृत् है। प्राची को त्र्यरत्नि करने से त्रिवृद्‌यज्ञसम्पत्ति भी ग्रहीत होजाती है। [तित्तिरि सम्प्रदायवालों क] इस मत की उपेक्षा करते हुए परमवैज्ञानिक याज्ञवल्क्य कहते है कि यहाँ मात्रा का (परिमाण–लम्बाई–चौडाई का) कोई विचार नहीं है। यजमान अपने अन्तरात्मा से वेदि का जैसा जो जितना आकार ठीक समझे उसी परिमाण से वेदि की लम्बाई चौडाई करनी चाय। पद्धतिक्रम से भी यही बात सिद्ध होती है। पूर्व परिग्रह एव उत्तर–परिग्रह में परिमाण अरत्नि रत्नि मापकों से परिमित होता तो अवश्य ही परिग्रहों क सम्बन्ध में भी श्रुति परिणाम–विषय को आगे रखती हुई ही परिग्रहकर्म्म का विधान करती। ऐसी अवस्था मे वेदि की लम्बाई चौडाई के सम्बन्ध में प्राचीन याज्ञिकों का नियत–व्यवस्था का कोई विशेष महत्त्व नहीं है ॥१४॥

वेदि के अंस (स्कधभाग) पूर्वस्थ आहवनीयाग्नि क उत्तर दक्षिण पार्श्व की ओर उन्नत करता है। अर्थात् वेदि क दोनों अंस चतुष्कोण आहवनीय क दोनों प्रान्तभागों से मिले रहने चाहिएँ। स्वत दोनों अंस उन्नत होजायगे। वेदि (योषा) स्त्री हैं (आहवनीय) अग्नि वृषा पुरुष है। योषा वृषा का परिग्रह करके ही (मिथुनभावार्थ) शयन करती है। वेदिरूपा

योपा के असा को वृषारूप अग्नि — अनगत करता हुआ अ ग्यु दाना को मिथुनभावयुक्त करता हुआ प्रजननक्रिया ग क ता — ॥१५॥

वह व पश्चिम की आर ने आणिभाग का ओर से) फली हुई होनी चाहिए एव म य म सकुचित हाना चाहिए । फिर पत्र का आर स [र स्थानाय असक नीचे क प्रदेश की आर स] उभरी हुई हानी चाहि । यापा (स्त्री) वो ही भावों से उत्तम बतलाया जाता है । श्रोणिभाग विपुल श्राण का अपेक्षा कम अवकाश वाले [कधे] उभरा हुआ वक्षस्थल म य म हस्त स ग्रहान हान या न ऐसी स्त्री ही लोक मे सुन्दर-स्त्रा कहलाती है । ऐसा स वृषापुरुष प्रसन्न हाता है । यहा [उसी जुष्भाव की प्राप्ति क लि] वेदि को एत-दाकाराकारित करता हुआ अ वर्यु वान्रूपा योपा को आहवनीयाग्निरूप वृषा मक देवताओं के लिए प्रिय-भाग्य बनाता है ॥१६॥

यह वे प्राकप्रवणा [पू की ओर ढालू] होना चाहिए । क्योंकि पूर्वादिक् देवताओं की दिक् है । [याद पत्र का ओर प्रवणा बनान की सुविधा न हा तो) उदक्प्रवणा [उत्तर की आर ढालू] होनी चाहि । उत्तरादिक् मनुष्या को दिक् है । प्राक्प्रवणा हो अथवा उदक्प्रवणा उभयथा अ व यु वदि क दक्षिणभाग म हा मिट्टी डाल कर दिणभाग का उत्तर पूर्व की अपेक्षा उन्नत बनाता है । दक्षिणादिक् पितरा का दिक है । यदि किसी प्रकार दक्षिणप्रवणा (दक्षिण की ओर ढालू) होगई तो विश्वास करो यथाविधि मे यज्ञकर्त्ता यजमान का महान् अनिष्ट होजायगा । (यदि दक्षिण मे पुराष डालकर उस भाग को उन्नत कर दिया जाता है ता वेदि का दक्षिण-प्रवणता-रूप दोष मिट जाता है) ऐसा अवस्था म पुरीष डालकर वेदि का उन्नत बनाया जाता है । पशुकाम यजमान क लिए अ वर्यु पुरापवती वेदि बनाता है । पशु ही पुरीष है । पुरीषवती बनाना पशुमती ही बनाना है ॥१ ॥

वेदि बनकर सम्पन्न होगई । अब प्रातमार्जनकर्म्म आरम्भ होता है—

पूर्वप्रदर्शित पद्धतिक्रमानुसार अध्वर्यु वेदिमार्जन करता है । (प्रतिमार्ज्जनकर्म्म क्यों किया जाता है ? इस जिज्ञासा को वैज्ञानिक उपपत्ति के द्वारा शान्त करती हुई श्रुति कहती है—) पुरान युग मे (किसी समय) देवतागण (असुरों के साथ) युद्ध करने का दृढ निश्चय करते हुए (परस्पर) विचार करने लगे कि इस प्रथिवी का जा अमृतमय देवयज्ञोपयुक्त भाग है (असुरों के आक्रमण से बचाने के लिए) उसे चन्द्रमा म रखदें । (यदि दुर्भाग्य से) असुरगण इस भूप्रदेश से अपने को पराजित कर दें तो (अपने चन्द्रमा मे निहित उस अनामृत देवयजन भूप्रदेश पर) यज्ञवितान करते हुए पुन (इस यज्ञ के बल से) उन्हें परास्त करने मे समर्थ हो-सकेंगे । (यह निश्चय कर) इस प्रथिवी का जो अनामृत-देवयजन भाग था उसे देवताओंने (धरोहररूप से) चन्द्रमा म रख दिया । (देवताओंने प्रथिवी का जो देवयजनभाग चन्द्रमा में रक्खा था) वह यही चन्द्रमा मे (प्रत्यक्षरूप से दिखाई देने वाला) कृष्णभाग है । तभी तो वैज्ञानिकों की मण्डली म किंवदन्ती चल पडी कि चन्द्रमा मे जो काला काला भाग प्रतीत हाता

है वह इस पृथिवी का ही देवयजन भाग है । जो अध्वर्यु च मा न लिप्ति प्र यरा क स्म देवयजनभाग का जानता हुआ– पुरा क्रूरस्य स्या म मन्त्र बोलता हुआ प्र तमार्जन करता है अध्वर्यु करके यजमान का यह यज्ञ देवयजनसम्पत्ति से युक्त होजाता है च मा म लिप्त स्म देवयजनभाग का प्राप्ति के लिए ही प्र तमार्जन करता है ॥ १ ।

प्रतिमार्जन क्यों किया जाता है ? इसका उपपत्ति बतलाते हैं अब इसमें प्रतिमार्जन करने की यता (पद्धति) बतलाते हैं । यह अध्वर्यु– पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ प्रतिमार्जन करता है । संग्राम ही क्रूर (क्रूरकर्म से युक्त) है । यह पुरुष मारा गया यह घोड़ा मारा गया इसके लिए वह रणभूमि में मारा गया इत्यादि रूप से संग्राम में ही महाक्रूर (हिंसाभावमय) कर्म किए जाते हैं । (देवताओं ने) संग्राम से पहिले (पृथिवी के देवयजनभाग को चन्द्रमा में) रक्खा था इसी अभिप्राय से पुरा क्रूरस्य विसृपः यह कहा है । उदादाय पृथिवीं जीवदानुम् इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि) में पृथिवी का जो जीवनप्रद (अनामृत–देवयजन) भाग था उसे लेकर (देवताओं ने) चन्द्रमा में रक्खा था । इसी अभिप्राय से उदादाय पृथिवीं जीवदानुम् यह कहा है । यामैरयंश्चन्द्रमसि स्वधाभिः (इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि) स्वधारूप जिस पार्थिवभाग को (अनामृत देवयजनभाग को) देवताओं ने मन्त्रबल से चन्द्रमा में रक्खा था उसी को लक्ष्य में रखकर याम रय इत्यादि कहा है । तामु धीरासो अनुदिश्य यजन्ते (देवताओं के द्वारा जो भाग चन्द्रमा में रक्खा गया था) उसी को लक्ष्य बना कर (उसी को प्राप्त करने के लिए) यज्ञ करते हैं । सच– मुच यजमान के इस देवयजनरूप भूभाग में वह अनामृतभाग प्रतिष्ठित होजाता है जो कि उपर्युक्त विज्ञान जानता हुआ प्रतिमार्जन करता है ॥१६॥

प्रतिमार्जनकर्म के अनन्तर अध्वर्यु आग्नीध्र के प्रति प्रोक्षणी रक्खो ! यह प्रैष करता है । स्फ्य साक्षात् वज्र है । उधर ब्राह्मण (अध्वर्यु) भी साक्षात् वज्र हैं । इन्हीं दोनों वज्रोंने अबतक यज्ञ की रक्षा की है । इधर पानी भी वज्र है । इस (प्रोक्षणीपानी को रखता हुआ आग्नीध) वज्र को ही रक्षा के लिए यहां प्रतिष्ठित करता है । अर्थात् अबतक प्रधानरूप से रक्षा के साधन स्फ्य और अध्वर्यु रूप वज्र थे । अब आगे जो असुरों का आक्रमण होगा उसे रोकना इस प्रोक्षणीरूप वज्र का कार्य्य होगा । आग्नीध्र के ऊपर ऊपर (हाथों में ही) प्रोक्षणी को लिए हुए काल में ही अध्वर्यु स्फ्य ऊँचा उठाता है । जब (ऊँचा करने के पश्चात् अध्वर्यु के द्वारा) स्फ्य रख दिया जाता है तब आग्नीध्र प्रोक्षणी रखता है । यदि दोनों को एक साथ रक्खा जायगा तो दोनों वज्र टकरा जायगे । विस्फोटन होजायगा । ऐसा करने से (प्रथक् प्रथक् रूप से रखने से) दोनों में किसी प्रकार का घर्षण नहीं होता । इसलिए आग्नीध्र के ऊपर ऊपर ही प्रोक्षणी धारण किए हुए अध्वर्यु स्फ्य उठा कर ॥२० ॥

प्रोक्षणीरासादय इध्मा बर्हिरुपसादय स्रुच सम्मृड्ढि पत्नी सन्नह्याज्येनादेहि यह वाक् बोलता है । यह अध्वर्यु कत क सम्प्रैष (आज्ञा) ही है । अध्वर्यु आवश्यकता समझे तो

इस सम्प्रैष का प्रयोग करै। वह चाह तो ऻस वाक्प्रयोग की उपचा भी कर सकता है। कारण (जिस आग्नीध्र क प्रति यह सम्प्र ष हाता है) वह स्वय यह भलीप्रकार जानता है कि इसक अनन्तर मुझे क्या कम्म करना है ॥ १ ॥

सम्प्रैषानन्तर (अभिचारकामना यदि हो तो) अमुष्ये त्वा वज्र प्रहरामि यह बोलता हुआ अध्वय्यु उत्तर का आर मुख करक स्फ्य का फक देता है। स्फ्य साक्षात् वज्र है। इस वज्र से यह शत्रु का अङ्ग विन्शेण कर देता है ॥ २२॥ ॥२२॥

स्फ्य क प्र रणानन्तर अध्वय्यु अपन दानों हाथ धो ालता है। वेदि के खननादि से जो क्रूर कम्म हुआ है उस क्रूरता का स्फ्य क साथ साथ वदि से बाहर फक दिया है। क्रूरता निकल गई है। शा त आगई है। उसी शान्तिभाव की समृद्धि क लिए दोनों हाथ धोता है ॥२३॥

पद्धतिक्रम मे बतलाया गया है कि आ-बर्हिस्तरण वेदि का स्पश नहीं करना चाहिए। यदि स्पश कर लिया जायगा ता क्या होजायगा ? इसी प्रश्न का ऐतिहासिक-आख्यान क द्वारा उत्तर देती हुई श्रुति कहती है—

पुराने समय मे याज्ञिकगण जब भी यज्ञ करते थे बहिस्तरण से पूव वेदि का स्पश कर प्र ग्रानावाप से पहिले श्रतहवि का स्पश करक यज्ञ करते थे। अर्थात् उह स्पशदोश का कुछ भी भय न था। परिणाम यह होता था कि अभ्युदयसाधनभूत यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले वे याज्ञिक उत्तरोत्तर अवनति को प्राप्त होते जाते थे। उधर जो यज्ञ नहीं करते थे उनकी दशा इन यज्ञ करने वालों से कहीं उन्नत थी। परिणाम इसका यह हुआ कि तत्कालीन मानवसमाज मे अश्रद्धाभाव उदित होगया। उह्णान सोचा कि जो यज्ञ करते है वे हीनदशा को प्राप्त होते है एव जो यज्ञ नहीं करते है वे अ न न मे रहते है। (इस अश्रद्धाभाव से आक्रा त हाकर मनुष्यान यज्ञ करना ब द कर दिया)। परिणाम इसका यह हुआ कि इस भूलोक की ओर से द्युलोक निवासी देवताओं के समीप हवि य नहीं पहुचा। उधर देवता यहीं से देने से जीवित रहते हैं ॥ २४॥

अपना जीवनसाधन अवरुद्ध देखकर देवताआन अङ्गिरा क पुत्र अतएव आंगिरस नाम से प्रसिद्ध बृहस्पति को बुलाकर कहा कि भूलोकनिवासी मनुष्यों मे अश्रद्धा प्रविष्ट होगई है। जाइए ! ओर जाकर उह यज्ञ की महत्ता समझाइए !। मन्त्रणानुसार आङ्गिरस बृहस्पति मृत्युलोक मे आए। आकर उह्णोंन उन अश्रद्धालु मनुष्यों से प्रश्न किया कि तुम यज्ञ क्यों नहीं करते ?। तत्काल मनुष्योंन उत्तर दिया कि हम किस प्रयोजन क लिए यज्ञ करैं ? जबकि हम यह देखते हैं कि जो यज्ञ करते है वे दु ख पाते रहते है आर जो यज्ञ नहीं करते वे बड आन द से रहते है। (ऐसी अवस्था म यज्ञ करके दु ख कोन माल ले) ॥२५॥

(मनुष्यों क इस अश्रद्धाभाव को हटाते हुए) आङ्गिरस बृहस्पति कहने लगे कि भाई ! हमने यह सुन रक्खा है कि यह यज्ञ देवता से परिगृहीत होता है। अर्थात् यज्ञविद्या देवप्राण—

मयी है। तुमने परिपक्व हवि और निष्पन्ना वेदि से स्पर्श करते हुए यज्ञवितान किया। इसी दोष से तुम्हारा यह अनिष्ट हुआ। इसलिए हम तुम को भविष्य के लिए सावधान कर देते हैं कि बिना स्पर्श किए ही तुम को यज्ञ करना चाहिए। ऐसा करने से अवश्य तुम्हारा अभ्युदय होगा। कबतक स्पर्श न करें? मनुष्यों के यह प्रश्न करने पर बृहस्पतिने उत्तर दिया कि बर्हि-स्तरण जबतक न होजाय तबतक बर्हि से वेदि शान्त होजाती है। यदि बर्हिस्तरण से पहिले वेदि पर तृण आदि और कुछ आ भी जाय तब भी तुम स्तरण से पहिले उसे निकालने की चेष्टा मत करो। जिस समय बर्हिस्तरण करने लगो उसी समय आगन्तुक तृणादि को निकालो। जब बर्हिस्तरण होजाय तो स्पर्श की क्या कथा। उस समय तुम उस पर उछल कूद भी सकतेहो। इसप्रकार प्राणयज्ञ के इस तथाकथित स्वरूप को जानता हुआ जो विद्वान स्पर्श न करता हुआ यजन करता है वह अवश्य ही अभ्युदय का भागी होता है। इसलिए आबर्हिषस्तरणात् स्पर्श न करते हुए ही यजन करना चाहिए ॥ २६ ॥

इति मकाण्डे द्वितीयाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मणम्
समाप्तश्चाय द्वितीयोऽध्याय
२

देवासुरदायविभागाख्यानरहस्य

(भाष्य)—**वेदिपरिग्रहकरणात्मक**-पद्धति-प्रकरण उपरत हुआ। अब क्रमप्राप्त **तद्विज्ञान** के सम्बन्ध में ही किञ्चिदिव निवदनीय शेष रह जाता है जिस से पूर्व **वैदिक इतिहास** मर्य्यादा के अनुबन्ध से दो शब्द निवदन कर देना इसलिए अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक होजाता है कि **अपौरुषेय-पौरुषेय-निबन्धन सघर्ष** की भांति यह **ऐतिहासिक-सघर्ष** भी विगत अनेक शताब्दियों से एतद्देशीय विद्वानों के लिए महती प्रतिद्वन्द्विता का ही क्षेत्र प्रमाणित होरहा है। हमारा अनुमान है कि न्यूनतम **त्रिसाहस्र वर्षों से** वेदशास्त्र की ज्ञान-विज्ञानात्मिका रहस्य-पूर्णा परिभाषाएं उत्तरोत्तर अभिभूत ही होती आरही है। पारिभाषिकी इस अभिभूति का ही यह दुष्परिणाम है कि **अपौरुषेय पौरुषेय** तथा **ऐतिहासिक** तथ्यों के सर्वथा निर्भ्रान्त बने रहने पर भी विद्वान् इस दृष्टिबिन्दु के माध्यम से अपनी सुप्रसिद्ध-शास्त्रार्थ प्रणाली के अनुगामी बने रहते हुए इस दिशा में एकान्त निरर्थक प्रचण्ड आक्रोश का ही अनुगमन करते रहते हैं।

सृष्टि का मूलभूत नित्य वेदतत्त्व जहां **अपौरुषेय** ही हैं वहां-तथाविध वेदतत्त्व का स्वरूप-प्रतिपादक वाक्यकृतिरूप शब्दात्मक वेदशास्त्र **ऋषिकृत** बनता हुआ **पौरुषेय** ही है जिस इस तथ्य का हमने पूर्व के-

क्र ण मृगचर्म्मास्तरणात्र म के प्रसङ्ग म अशत स्पष्टीकरण कर ा ा है। ही स्थिति इतिहास की है। रहस्यपूर्ण विज्ञान का शुद्ध विज्ञान का भाषा म स्तुति की भाषा म एव इतिहास की भाषा में तानो ही प्रकार स पारुषेय व शास्त्र म नरूप-निरूपण न्या हे। अतएव मूलवदशास्त्र विज्ञान-स्तुति-तिहास न त्रिकाण्डा म विभक्त रहा है जो कि काण्डत्रयी ज्ञात या कहला है। त वमीमासन का ही इस ज्ञान याकाण्डत्रयी म प्रधान सम्ब व हे जिसक मूल म ही कर्त्त या काण्डत्रयी के मूलसूत्र पिनद्ध-सुगुप्त-सुराक्षत ह

तत्त्वमीमासा मक विज्ञानप्रधान (दशनप्रधान नही) मूलवेदशास्त्र ही वह ज्ञात य वेदशास्त्र है जिमके आधार पर ही तूलवदशास्त्रा मक कर्त्त यवेदशास्त्र प्रतिष्ठित है जिस के भी मूलवत् तीन ही तूलकाण्ड ह एव जो कि तानो तूलकाण्ड क्रमश —कर्म्म-उपासना-ज्ञान इन नामो से प्रसिद्ध हैं। अनु ठय कर्म्मकाण्ड का प्रतिपादक ब्राह्मणव ही- विधिवेद नाम स उपासनाकाण्ड का प्रतिपादक ब्राह्मणवेद ही आरण्यकवेद नाम स एव ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादक ब्राह्मणवेद ही- उपनिषद्व द नाम से प्रसिद्ध है। इन तीनो आचारनिष्ठाओं कर्त्त यकर्म्मनिष्ठाओं का प्रतिपादक विधि-आरण्यक उपनिषत्-भेद से त्रिधा विभक्त ब्राह्मण नामक त्रिकाण्डा मक तूलवदशास्त्र ही कर्त्त यवेद है जो विज्ञान स्तुति इतिहासात्मक तथोक्त— ज्ञात यवेद के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। और यो मन्त्र (मूलवेद-शास्त्र-ज्ञात यवेदशास्त्र सहितावेद) तथा ब्राह्मण (तूलवेदशास्त्र-कर्त्त यवेदशास्त्र ब्राह्मणवेद) भेद से द्विधा विभक्त म त्रब्राह्मणा मक मूलतूला मक ज्ञात य कर्त्त यामक वेदशास्त्र के विज्ञान - स्तुति -इतिहास -कर्म्म -उपासना -ज्ञान ये ६ ओ सुप्रसिद्ध विषय सर्वा मना निर्णीत अतएव सुनिश्चित हैं। अतएव वेद पौरुषेय है अथवा अपोरुषेय ? किंवा वेदों में इतिहास है अथवा नहीं ? इ यादि निता त भावुकता-पूर्ण वागविलापनों का तो इस निर्णात-निश्चित वेदशास्त्र में प्रवश भी निषिद्ध ही माना जायगा। सर्व वेदात्प्रसिद्ध्यति वदशास्त्र के प्रति यहा के मानवधर्म्म- यवस्थापको का (राजर्षि मनु का) प्रचण्ड यह वसा उदघोष है जिसके सम्मुख आपातरमणीय किसी भी तथाविध वागविलापन के लिए कुछ भी तो त य शेष नही र जाता। आज हमे सुप्रसिद्ध- देवासुरदायविभागा-ख्यान के मा यम स एक ए तहासिक-त य का ही अत्र दिग्दशन कराना है। अतएव इतिहास श द के मा यम स ही सवप्रथम दो श द अवश्य ही निवेदनीय बन जाते हैं। तदव श्रूयताम्। श्र वा चा य नधाय्यताम् !!

सवप्रथम आपका यान स त य की ओर ही विशेषरूप से आकर्षित किया जाता है कि वैदिक इतिहास लिखन की शैली ऐसी अद्भुत है कि उस देखकर रहस्यानभिज्ञ साधारण मनु य भ्रम में पड़ जाता है। कुछ श द तो न इति ासो म ऐसे आत ह जिनसे स्पष्ट यह प्रतीत होता है कि अवश्य ही इस इतिहास का मनुष्यचरित्र से स ब ध है। कुछ श द ऐसे आते ह जिनसे यह प्रतीत होता है कि अवश्य ही यह इतिहास आधि वक (प्राकृतिक नि य) त वो का ही इतिहास की भाषा में निरूपण कर रहा है। साथ ही कितने ही श द आ या मक चरित्र की भी प्रधानता बतलाते ह। यही कारण है कि आजकल के कितने हीं वेदप्रेमी वद के प्र येक आख्यान को केवल आध्या मकभाव की ओर ही समन्वित करने की चेष्टा करते रहते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक इतिहास अलङ्कारभाषा में केवल आ यामिक चरित्र का ही निरूपण कर रहा है।

इधर कितने ही विद्वान् केवल आधिदैविक-चरित्र को ही प्रधानता देते हैं। रही मनुष्यचरित्र की बात। सो इसके सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों को एवं तदनुयायी पारिगणित प्राय विद्वानों को छोड़कर सभी भारतीय विद्वानों का यह निश्चय है कि वैदिक आख्यानों में मनुष्यचरित्र का यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है। इसप्रकार इन आख्यानों के सम्बन्ध में कल्पनारसिक बहुमार्गानुगामी विद्वान् भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से आख्यानोपाख्यानों का समन्वय करने में सलग्न हैं। इदमित्थमेव इस निश्चयात्मक सिद्धान्त पर प्राय आज किसी की दृष्टि नहीं है। इन्हीं विप्रतिपत्तियों से **सर्वथा ऋजु भी वेदार्थ आज हमारे लिए असमाधेया प्रश्नावली ही बन रहा है।**

इन विप्रतिपत्तियों को दूर करने के लिए हमने पूर्व के **प्रोक्षणब्राह्मण** में आख्यानों को आठ भागों में विभक्त कर इनके सम्बन्ध में वेद का एक निश्चित सिद्धान्त वेदप्रेमियों के सम्मुख रख दिया है। वहा बतलाया गया है कि इन आठ आख्यानों में एक विधा ऐसी भी है जिसमें **आधिदैविक आध्यात्मिक आधिभौतिक** इन तीनों प्रकार के चरित्रों का समावेश रहता है। हमारे प्रकृत आख्यान का इसी विधा से सम्बन्ध है। यह केवल कल्पना नहीं है। अपितु श्रुति ने स्थान स्थान पर **इति नु अध्यात्मम् - अथाधिदैवतम्** इत्यादि रूप से स्वयं कतिपय वैदिक आख्यानों के साथ उपर्युक्त तीनों चरित्रों का सम्बन्ध बतलाया है। उदाहरणार्थ चयनयज्ञ के इष्टकाचितिप्रकरण को ही लीजिए। संवत्सरयज्ञात्मक **चयनयज्ञ** में मृण्मयी इष्टकाओं (ईंटों) की चिति (चिनाव) होती है। उनकी संख्या नियत होती है। इस सम्बन्ध में इतनी ही ईंटें क्यों ली जाती हैं? इससे अधिक अथवा कम लेने में क्या हानि है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए **सम्वत्सरो वै प्रजापतिरेकशतविधः** इत्यादि रूप से उपपत्ति-प्रकरण आरम्भ होता है। इस प्रकरण में पहिले प्राकृतिक **आधिदैविकचरित्र** का निरूपण किया गया है। प्राकृतिक नित्य आधिदैविक सम्वत्सरमूर्त्ति चयनयज्ञ में अहोरात्ररूपा जितनी इष्टकाएं होती हैं उनका निरूपण करते हुए सर्वान्त में इस आधिदैविक विज्ञान का उपसंहार करते हुए **स-हैव एतत्-अद्वातमामाप्नोति एष वा एकशतविधस्तत्-य एनं संवत्सरं बिभर्त्ति। तस्मादेनं सम्वत्सरभृतमेव चिन्वीत इत्यधिदैवतम्** यह कहा है।

इसी सम्वत्सरयज्ञ के आधार पर हमारे वैध-चयनयज्ञ (मनुष्यकृत चयनयज्ञ) का वितान होता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर आगे जाकर श्रुतिने— **अथाधियज्ञम्** कहते हुए— **अधियज्ञ** का स्वरूप बतलाया है। सर्वान्त में **पञ्चमाश्चतुर्विंशा अङ्गुलयो द्वे कुक्षी** इत्यादि रूप से **आध्यात्मिक चयन** का स्वरूप बतलाते हुए **अथाध्यात्मम्** यह कहा है। (देखिए शत ब्रा १० का० २ अ० ब्रा०)। ऐसी अवस्था में वैदिक-आख्यानों के सम्बन्ध में अपनी कल्पना को प्रधानता देते हुए किसी एक ही दृष्टिकोण को प्रधान मान बैठना सर्वथा अविचारितरमणीय ही है। सम्पूर्ण परिभाषाओं का पूर्ण अनुसन्धान रखते हुए पूर्वापर की सङ्गति का पूर्णरूप से समन्वय करते हुए श्रुतिप्रोक्त शब्दों की मार्मिकता लक्ष्य में रखते हुए प्रत्येक आख्यान का अत्यन्त सावधानी से ही समन्वय करना चाहिए। जिस आख्यान में उक्त तीनों चरित्रों का समावेश रहता है **भाषाविज्ञान** की दृष्टि से उस आख्यान की **भाषाशैली** अत्यन्त ही दुरूह बन जाती है। इसमें श्रुति का कोई दोष नहीं है। श्रुति को एक ही आख्यान से **अध्यात्म अधिभूत अधिदैवत** तीनों चरित्रों का निरूपण करना पड़ता है। अत उसे बाध्य होकर कुछ शब्द आध्यात्मिक रहस्य के उपोद्बलक बोलने पड़ते हैं कुछ शब्द अधिदैवत सम्बन्धी प्रयुक्त करने पड़ते हैं एवं कुछ शब्द अधिभूतभाव के द्योतक

रखने पडते है। आख्यानशैली के इस गुहानिहित रहस्य को न जानने वाले सामान्य जन इस विरुद्धभाषा से भ्रम मे पड जाते है। इस भ्रम के निराकरण के लिए वे किसी एक भाव को प्रधानता देते हुए सम्पूर्ण आख्यान का उसी रूप से समन्वय करने की चेष्टा करने लग पडते है

यही कारण है कि आज पुराण के आख्यानो पर अज्ञ जनो के द्वारा ग्रन्थ की टीकाटिप्पणी की जारही है। पुराण के चरित्र इनकी दृष्टि में निरी कल्पनामात्र है। बात यह है कि **वेद विज्ञानप्रधान शास्त्र है उधर पुराण इतिहासप्रधान शास्त्र है।** है दोनो में दोनो विषय। केवल प्रधानता अप्रधानता में तारतम्य है। **पुराण मनुष्यचरित्र को प्रधान मानता हुआ गौणरूप से विज्ञान का निरूपण करता है।** पुराण के प्रत्येक आख्यान मे विज्ञानतत्त्व अन्तर्निहित रहता है मनुष्यचरित्र विकसित रहता है। दूसरे शब्दों में—पुराण मनुष्यचरित्र के व्याज से (बहाने से) मनुष्यचरित्ररूप से ही विज्ञान का निरूपण करता है।

उदाहरण के लिए अगस्त्य का ही आख्यान लीजिए। पुराण कहता है— **अगस्त्य ऋषि अमुक आश्रम मे रहते थे। उन्होंने समुद्र का शोषण कर लिया। सम्पूर्ण समुद्र सूख गया। प्रार्थना करने पर उन्होंने उदरस्थ पानी को पुनः निकाल दिया। तभी से समुद्र का पानी क्षार (खारा) होगया।**

बात क्या है? । अगस्त्यप्राण पानी का शोषक है। दिव्य वृत्त के दक्षिणभाग में दक्षिणध्रुव के समीप अगस्त्य नाम का नक्षत्र है। इस नक्षत्र मे भी अप् शोषक अगस्त्यप्राण प्रचुरमात्रा में विद्यमान है। इस प्राण के सम्बन्ध से ही यह भौतिक नक्षत्रपिण्ड **अगस्त्य** नाम से व्यवहृत हुआ है। जिस समय (वर्षाऋतु के अन्त में) अगस्त्य का उदय होता है समुद्र की अतुल जलराशि बाष्परूप मे परिणत होकर आकाश में वायुधरातल में व्याप्त होजाती है। यही अगस्त्य के द्वारा समुद्र का शोषण है। अनन्तर वर्षाकाल में अगस्त्य के द्वारा परित्यक्त वह पानी पार्थिव क्षार भाग से संयुक्त होकर क्षारभाव में परिणत होजाता है। यह है अगस्त्य के द्वारा समुद्र का शोषण। अप् शोषक अगस्त्यप्राण के उपर्युक्त स्वरूप को सर्वप्रथम जिस **मानवमहर्षि ने** पहिचाना तत्कालीन—परिभाषा के अनुसार वह एवं उसके वंशज **अगस्त्य** नाम से ही प्रसिद्ध हुए। इसी रहस्य को लक्ष्य बनाता हुआ **पुराण** मानव—अगस्त्य ऋषि के व्याज से **अगस्त्यप्राणविज्ञान** ही हमारे सम्मुख रखता है।

निदर्शनमात्र है। * पुराण के प्रायः सभी आख्यान मनुष्यचरित्र को मध्यस्थ बनाकर ही विज्ञानतत्त्वों का निरूपण करते है। कहना न होगा कि आर्यसभ्यता के सर्वस्वभूत पुराणों का मर्म न समझने वाले वेदरहस्यानभिज्ञ व्यक्तिविशेषों के द्वारा ही **पुराण कवल कपोल कल्पना है — पुराण को देखना महा पाप है** —इसप्रकार के आक्षेप करने का अक्षम्य अपराध हुआ है। इधर जो कुछ मर्म बचा था उसका सर्वनाश विद्याशून्य अज्ञ कथावाचकों की कृपा से होगया है। ये केवल भाषाटीका के आधार पर आज श्रीमद्भागवतादि पुराणों की कथा कहने का दुस्साहस कर बैठते हैं। श्रीमद्भागवत में **ज्यौतिष्चक्र (खगोल) भुवनकोष (भूगोल** का जैसा अद्भुत निरूपण हुआ है उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि

* इन सब विषयो का विशद विवेचन **पुराणरहस्य** नाम के ग्रन्थ में देखना चाहिए।

भूगोल खगोल विद्या का ऐसा विस्पष्ट निरूपण और किसी पुराण में नही हुआ । हा सीसे मिलता जुलता प्रकरण **विष्णुपुराण** मे भी **ध्रुवचरित्र** के सम्बन्ध में उपलब्ध होता है ।

कथा के व्याज से व्यासगद्दी को कलाङ्कित करने वाले आज के ये **कथावाचक** क्या इन रहस्यो से आंशिक रूप से भी परिचित है ? । क्या व पाश्चात्य विद्वानो के खगोलीय भूगोलीय साहित्य के सम्मुख भारतीय दृष्टि से इन विद्याओ के स्वरूप-विश्लेषण की क्षमता रखते हैं ? । क्या व पुराणोक्त आख्यानो के रहस्याथ का प्रतिपादन करने की योग्यता रखते है ? । नही तो फिर पुराणस्पश का भी उह्न को अधिकार नही । विज्ञानमूलक सनातन आर्ष धम्म पर आज जो जनता की अश्रद्धा होती जारही है इसमें अधिकाश में इह्नी महानुभावो को प्रमुख कारण माना जायगा । **भगवान् ने रासविहार किया मक्खन लूट कर खाया** इत्यादि वाग्विजम्भणो का ही नाम क्या **पुराणशास्त्र** है ? । स्मरण रखिए । पुराण भी एक शास्त्र है । शास्त्र भी साधारण नही उच्चकोटि का पारिभाषिक शास्त्र है । जो विद्वान् वैदिक-साहित्य पर अपना पूर्ण अधिकार नही रखता उसे पुराण के अथ करने का को अधिकार नही है । धम्मस्त भ को अचल रखने के लिए **पुराणकथा** से बढकर हमारी दृष्टि में कोइ दूसरा उत्तम साधन नही है । क्योंकि वैदिक साहित्य विज्ञान प्रधान होने से साधारण जनता के लिए दुर्ज्ञेय है । इधर पुराण ने उह्नी वदिक त वो को आख्यानरूप से बडी ही प्रसादभाषा में हमारे स मुख रक्खा ह । आबालवृद्धवनिता सब पौराणिक कथाओ से आकर्षितमना होकर तद्वारा धम्म का रहस्य सरलता से समझ सकते है । **स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धुओं** (विद्याशून्य नाममात्र के यथाजात ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यो) की ज्ञानेन्द्रिया गहनतम वदिक तत्वों को ग्रहण करने में असमथ है । इसी विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए परमकारुणिक भगवान् व्यास ने **आख्यान-उपाख्यान-गाथा-कल्पशुद्धि डामर जामल तन्त्र संहिता यौतिष्चक्र भुवनकोष मन्वन्तर वश वशानुचरित** आदि १८ विषयो का सङ्कलन कर चारो **वेदसंहिताओ** के साथ पाच वी **पुराणसंहिता** का सम्पादन किया ह जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट होजाता है—

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभि कल्पशुद्धिभि ।
पुराणसंहिता चक्र भगवान् बादरायण ॥

आज स्थान स्थान पर कथाए होती हैं । भागवत के सहस्रो पारायण होते हैं । कथा के नाम पर निधन भारत का धन जलप्रवाहवत् प्रवाहित होरहा है । अज्ञ कथावाचको पर भोली जनता सम्पत्ति की वृष्टि कर रही है परन्तु सब व्यर्थ । इतना सब कुछ होने पर भी क्यो धम्म स आर्षप्रजा की श्रद्धा उत्तरोत्तर पराङमुखा होती जा रही है ? । क्यो **पुराणशास्त्र** एव तत्प्रणेता **वैशम्यायन सूत** आदि महाभाग पर नवशिक्षितो के द्वारा एव वदाभिमानियों के द्वारा आज गाली प्रहार होरहा ह ? । द सकेगे आप इन प्रश्नो का उत्तर ? । यह सब इह्नी तत्वानभिज्ञ कथावाचको की कृपा का फल है ।

यह तो हुआ प्रासङ्गिक **पुराणमत-पर्य्यालोचन** । अब चलिए **वैदिक आख्यानों** की ओर वैदिक आख्यान **वैज्ञानिक-चरित्रों** को प्रधानता दता हुआ **मनुष्यचरित्र** का भी आनुषङ्गिकरूपेण दिग्-दशन कराते रहते हैं । प्रत्येक वदिक आख्यान में आधिदैविक विज्ञान की प्रधानता प्रतीत होती है । परन्तु कुछ शब्द ऐसे प्रयुक्त कर दिए जाते हैं जिनसे आधिभौतिक एव आध्यात्मिक चरित्र भी गताथ होजाते हैं ।

उदाहरणार्थ प्रकृत आख्यान को ही लीजिए "आद्रणश्चम्मभि – क नय तत स्याम यदस्यै न भनेमहि त "यगुलेऽ नि दन्" इत्यादि वाक्य आधिभौतिक चरित्र की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। चमड़े की रस्सी का विज्ञानभाव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका उपयोग मानवसम्प्रदाय में ही होता है। साथ ही "यदि अपने को भाग न मिलेगा तो फिर अपन कहां रहेंगे" यह भाव भी मनुष्यचरित्र का ही द्योतक माना जा सकता है। "देवताओं ने खोदते खोदते तीन अंगुल की गहराई में विष्णु को पा लिया" यह वाक्य भी आधिभौतिक चरित्र का ही समर्थक है।

इसी प्रकार— "वामनो ह विष्णुरास यज्ञसम्मितमदु" इत्यादि शब्द आध्यात्मिकचरित्र के उपोद्बलक हैं। "मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते" "आत्मा वै यज्ञः" इत्यादि श्रौत वचन विष्णु को हृदय में ही प्रतिष्ठित मानते हैं। आत्मा को यज्ञ मानते हैं। इसप्रकार गौणरूप से आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक–चरित्र अवश्य ही गतार्थ माना जासकता है। तीसरा है आधिदैविक चरित्र। वह तो इस प्रकरण का मुख्य ही निरूपणीय विषय है। इन तीनों में से सर्वप्रथम आधिभौतिक रहस्य की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

आख्यानानुगत आधिभौतिक–रहस्य (ऐतिहासिक–रहस्य) –

जिस दायविभाग का स्वरूप ऐतिहासिक दृष्टि से आज हम आपके सम्मुख रखना चाहते हैं उसका प्रधान सम्बन्ध भौमत्रिलोकी से है। जिसप्रकार प्रकृति में नित्या त्रैलोक्य व्यवस्था है, उन तीनों लोकों में जिसप्रकार अग्नि वायु आदि तीन प्राण देवता प्रतिष्ठित हैं, तत्तल्लोकों में प्रतिष्ठित तत्तत् प्राण–देवता जिसप्रकार आधिदैविकयज्ञ का सञ्चालन कर रहे हैं ठीक उसी प्रकृति की रचना की प्रतिकृति (नकल) पर इस भूपिण्ड पर भी त्रैलोक्य–व्यवस्था थी। जिसमें क्रमशः अग्नि वायु इन्द्र नामके मनुष्य देवताओं का आधिपत्य था। ये मनुष्यदेवता प्रकृति के अनुसार अग्नि में सोमवल्ली के सोमरूप रस की आहुति देकर ज्योतिष्टोमादि यज्ञ किया करते थे। जबतक इन भौमदेवताओं के हाथमें यज्ञविद्या रही तब तक यज्ञबल से ये भौम–आसुरत्रिलोकी में रहने वाले असुरों के आक्रमण को व्यर्थ प्रमाणित करते रहे।

परन्तु चन्द्रमा की कृपा से कहिए अथवा तो दिव्यविभूतिके दुर्भाग्य से कहिए जिस दिन दुष्टबुद्धि असुरों के द्वारा यज्ञसाधक सोमवृक्ष (सोमवल्ली) नष्ट कर दिया गया, साथ ही विज्ञान–परीक्षाओं का साधन भूत सूर्यसदन नामक विज्ञानभवन नष्ट कर दिया गया उसी दिन से मनुष्यदेवताओं की सत्ता भूपिण्ड से उठ गई। महाभारतकाल पर्यन्त भौमत्रिलोकी–व्यवस्था यथाकथंचित रूपेण रही। स्वर्गाधिपति इन्द्र महाभारतकाल में अन्तिम इन्द्र थे। इनके साथ अर्जुन का घनिष्ठ मैत्रीसम्बन्ध था। इन्द्र के अभिन्न मित्र तक्षक सुप्रसिद्ध खाण्डववन में रहते थे। जिस समय भगवान् कृष्ण के अनुसन्धान में अर्जुनने खाण्डववन जलाया था उस समय इन्द्रने ही तक्षक की रक्षा की थी। इसी इन्द्रने प्रातःस्मरणीय दानी कर्ण का जन्मजात कवच दान में लेकर अपने मित्र अर्जुन की सहायता की थी। युधिष्ठिर सदेह जिस स्वर्ग में गए थे वह यही भौमस्वर्ग था। उक्त कुछ एक निदर्शनों से प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना है कि महाभारतकाल–पर्यन्त देवव्यवस्था रही। इसके अनन्तर इसका एकप्रकार से सर्वथा उच्छेद ही होगया। जिसप्रकार

मनुष्यदेवताओं में इन्द्रादि देवता प्रमुख माने जाते थे तथैव अपनी आसुर–निवासों में रहने वाले तत्कालीन असुरों मे मय वृत्र नमुचि बल तार तूर निध माली किलात आकुली आदि असुरजातियां प्रमुख मानी जाती थीं। इन असुरों की प्रधान जातियां ३६ थीं। इनमें एकमात्र मयजाति को छोड़कर शेष सब जातियां महा उद्दण्ड थीं। देवताओं का अपमान करना उन के यज्ञों को नष्ट भ्रष्ट करने के लिए सदा उद्यत रहना प्रजापति के द्वारा जो भूप्रदेश देवताओं को मिला था उस भी अपहृत कर लेने के प्रयास में तल्लीन रहना ये सब इन दुष्टों की स्वाभाविक वृत्तियां थीं। हां मयजाति अवश्य ही उस समय सभ्य मानी जाती थी। शिल्प एवं ज्योतिष मे तो उस समय सम्पूर्ण पृथिवीमण्डल में इस जाति की समता करनेवाली कोई दूसरी जाति न थी।

आप को यह सुनकर भी आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि वर्त्तमान में ज्योतिषविद्या का जो कुछ प्रसार भारतवर्ष में देखा सुना जाता है वह इसी जाति की कृपा का फल है। ज्योतिषशास्त्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् वराहमिहिरने मयासुर से ही ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन किया था। आगे जाकर इस जाति ने ज्योतिष में ऐसी उन्नति पर पहुंच गई थी कि सुनकर आश्चर्य से चकित होजाना पडता है। आसुरत्रिलोकी के इजिप्तप्रान्त में रहने वाली मयजाति ने एक समय विविध प्रकार की ओषधियों का सङ्ग्रह कर उसे एक गहरे अन्धकूप में डाल दिया था। यह वैज्ञानिक जाति जानती थी कि ओषधियों का निर्म्माण चन्द्रमा के सोमरस से ही होता है। चान्द्रसोम ही वृष्टिरूप में परिणत होकर ओषधियों का उपादान बनता है। इसी आधार पर इसने निश्चय किया कि ओषधियों में वही चान्द्रसोम विद्यमान है। उपायविशेष से यदि उस का सङ्कलन कर दिया जाय तो अवश्य ही एक नवीन चन्द्रमा उत्पन्न होसकता है। तदनुसार उक्त प्रकार से कूप में ओषधियों को प्रक्षिप्त कर वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा सोम का सङ्कलन आरम्भ किया। थोड़े समय में ही कूप से चन्द्रमा बड़े वेग से ऊपर की ओर उत्क्रान्त होकर वायुधरातल में इतस्ततः परिभ्रमण करने लगा। यह भी किंवदन्ती है कि उस चन्द्रमा का प्रकाश १२ योजन पर्य्यन्त व्याप्त होगया था। अन्त में प्रतिष्ठा की न्यूनता से वह चन्द्रमा क्षीण होगया

आप को यह सुन कर और भी आश्चर्य होगा कि मयजाति के इस आविष्कार के थोड़े समय के अनन्तर ही सम्पूर्ण इजिप्त प्रान्त अग्निविस्फोटन से सदा के लिए भूगर्भ में ही प्रविष्ट होगया। ऐसा क्यों हुआ इस का उत्तर ईश्वरसत्ता को सर्वोपरि मानने वाले भारतीयों की दृष्टि में तो यही है कि जबतक उनका विज्ञान ईश्वरीय–सृष्टि के अनुकूल रहा तबतक उन का कोई अनिष्ट न हुआ। परन्तु जब उन्होंने ईश्वरीय–सृष्टि के साथ स्पर्द्धा करना आरम्भ कर दिया नवीन सूर्य चन्द्रमा बनाने का उपक्रम कर दिया तो प्रकृति ने उन्हें इस असत्–साहस के लिए उचित दण्ड देना आवश्यक समझा। ऐसी अवस्था मे विज्ञान का निनाद करने वालों को यह ध्यान रखना चाहिए कि **जबतक उन का विज्ञान प्रकृति के अनुकूल है तभीतक वह विज्ञान लोकाभ्युदय का कारण बना रह सकता है। जिस दिन मदमत्त वैज्ञानिक ईश्वरीय सृष्टि की प्रतिस्पर्द्धा में खडे होजायगे उस दिन ईश्वर ऐसा न करें वही विज्ञान लोकनाश का ही कारण बन जायगा जिस का कि उपक्रम अभी से होने लगा है।**

बतलाना यही था कि **वर्त्तमान ज्योतिप आसुरशास्त्र** है। बब-बालव तैतिल-विष्टि वणिज आदि शब्द सस्कृत-साहित्य में उपलब्ध नही होते। ये सब **यूनानभाषा के (आसुरभाषा के)** शब्द हैं। इसीप्रकार **अ-व-क-ह-ड-म-ट-प-र-त** आदि बीस वर्णो की वर्णमात्रिका भी यहा की नही है। आज जिसे **होडाचक्र (वस्तु अवकहडचक्र)** पर भारतीय यौतिषी गर्व करते है वह मयजाति की ही बपौती है। और तो और **स्वय जन्मकुण्डलियाम भी आज वही आसुरभाव उपलब्ध होता है।** लग्नस्थान से जब भावो का विचार किया जाता है तो विपरीतगति का ही आश्रय लिया जाता है। सीधे मार्ग से स्थानो का विचार न कर उल्टे पार्श्व से दशाओ का विचार होता है। यह आसुरपद्धति ही है। इसी आसुरभाव से वर्त्तमान भारतीय ज्यौतिष **भूमे पिण्ड शशाङ्कज्ञकविरविकुजेज्यार्किनक्षत्रकक्षा** यों रूपसे सूर्य का चल और पृथिवी को स्थिर मानते हुए ग्रहकक्षा का सस्थान **भूपिण्ड-चन्द्रमा-बुध-शुक्र-सूर्य बृहस्पति-शनि-नक्षत्रकक्षा** इस रूपसे मानता है। **सुप्रसिद्ध वारगणना का सम्बन्ध भी आसुरभाव से ही है।** वदिककाल के सम्पूर्ण व्यवहार **नक्षत्र तिथि मास सम्वत्सर अयन** इन्ही के आधार पर चलते हैं। समस्त वैदिक-वाङ्मय का पर्य्यालोडन कर जाइए कही भी आप को **शनि-रवि** आदि वारों का उल्लेख नही मिलेगा। आज समस्त भूमण्डल पर सभी जातियो की व्यवहारभूमि शनि-रवि आदि वार ही बने हुए है। **इससे भी मयजाति की ज्यौतिषविद्या के महत्त्व का ही परिचय मिलता है।** और लीजिए-**वेदाङ्गज्यौतिष** में गणित का विशेष महत्त्व नही है। वहा सम्पूर्ण व्यवहार प्रधानरूप से **सिद्धान्तों** के आधार पर ही चलते है। यद्यपि **चयनादि यज्ञो में इष्टकाचितिसन्धान** के सम्बन्ध में कही कही गणित उपलब्ध होता है। परन्तु यह क्वाचित्क ही है। आज तो बिना गणित के ज्यौतिषी एक पाद भी आगे नही बढा सकते। इसीप्रकार **ग्रहसस्था** का क्रम भी वेदाङ्ग ज्यौतिष के अनुसार **सूर्य्य-बुध-पृथिवी चन्द्रमा-शुक्र-मगल देवसेना-बृहस्पति-शनि नक्षत्रकक्षा** यही है।

यद्यपि-वैदिक सिद्धान्त के अनुसार जो गति भूपिण्ड की है वही सूर्य्य की भी है। सूर्य भी स्वाक्ष-परिभ्रमण करता हुआ **परमेष्ठी** नामक महान् ग्रहके चारो ओर परिक्रमा लगाता है। परन्तु जिसप्रकार **नाकपृष्ठ (वर्त्तमान ज्यौतिषपरिभाषा के अनुसार कदम्बवृत्त)** के चारों ओर २४ अशके व्यासार्द्ध से वृत्त बनाकर ध्रुव २५ हजारवर्ष मे एक परिक्रमा लगाता हुआ भी अल्पायु-मनुष्यों की दृष्टि मे स्थिर प्रतीत होता हुआ **ध्रुव (अचल)** नाम का अधिकारी बन जाता है। एवमेव वैदिक-परिभाषा के अनुसार २६ वे अहर्गण पर प्रतिष्ठित **पारमेष्ठ्य विष्णु** के चारो ओर अनन्तकाल में अपनी एक परिक्रमा लगाने वाला सूर्य्य भी स्थिर प्रतीत होरहा है। सूर्य्य की इसी दृश्यमण्डललक्षणा स्थिरता को लक्ष्य में रखकर ही निम्नलिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते है—

"सूर्या बृहती मध्यूढस्तपति"।
बृहद्ध तस्था भुवनेष्वन्त'।
"नैवोदेता नास्तमेता मध्ये एकल एव स्थाता"।
नवास्तमनमर्कस्य नोदय सर्वदा सत।
उदयास्तमनञ्चैव दर्शनादर्शन रवे॥

इधर पृथिवी के परिभ्रमण में तो सदे है ही नही है जैसा कि—

१—सोम पूषा च चेततुर्विश्वासा सुक्षितीनाम् ।
दवत्रा रथ्योर्हिता ॥

२—कतरा पूर्वा कतरा परायो कथा जाते कवय को विवेद ।
विश्व त्मना विभ्रतो यद्ध नाम विवर्त्तेते अ.नी चक्रियेव ॥

३—यत्र इ द्रमवद्ध यत् यद् भूमि व्यवर्त्तयत् ।
चक्राण ओपश दिवि ॥

इ यादि उक्त म त्रवणनो से पष्ट है। इधर वत्त मान यौतिष पूर्वकथननुसार भचक्र को चिचाली मानता है एव भूपिण्ड को स्थिर मानता है। यह भाव भी आसुरभाव का ही द्योतक है। भचक्र को चल मानिए अथवा ता भूपण्ड को चल मानिए उभयथा गणित म अन्तर नही आता। गणित का उभयथा ठीक ठीक सम वय होजाता है। पर तु विज्ञानदृ पृथिवी को कभी स्थिर न ी दख सकती। मयजाति वैज्ञानिक अवश्य थी परन्तु असर थी। असुर सू य के विरोधी थ यह बात पूव के आख्यानो में अनेक बार बतलाइ जाचुकी है। इधर अ य पृथिवी इस श्रौत सिद्धा त के अनुसार भूपिण्ड आ य आसुर प्राणमय है। वैज्ञानिक होते हुए भी मयजात में य आसुरभाव अभि यक्त था। उसने दखा कि गणित एव फलित में तो कोइ अ तर आता नही। फिर क्यो दवप्रतिष्ठाभूत सू य का स्थिर ए असुरप्राण प्रतिष्ठारूप भूपिण्ड को चल माना जाय। इसी अभिनिवश में पडकर उन्होंने भूपण्ड को स्थिर माना सूर्य को चल माना।

वस्तुत वैदिक विज्ञान के अनुसार परमाथदृष्टि से तो उपर्यु क्त कथनानुसार सूर्य्य पृथिवी दोनो ही चल है एव रोदसीत्रैलोक्य की अपेक्षा स सूर्य्य सर्वथा स्थिर है एव पृथिवी सूर्य्य को के द्र मान कर चारों ओर क्रान्तिवृत्त पर परिक्रमा लगाती है। बहुत हुआ इस अप्राकृतिक विषय के निरूपण में हम पाठको का अधिक समय नही लेना चाहते। इ ससे प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना था कि अ यान्य असुरजातियो की अपेक्षा मयजाति विद्वान् थी। शिल्पकला की तो यह जाति भाग्यविधात्री ही थी। इन्ही दि य विभूतियो के प्रभाव से इस जाति का भारतवष के साथ घनि ठ सम्ब ध रहा। वराहमिहिर नाम के ब्राह्मण को भी इसने विद्या सिखलाने में आपत्ति न की। इस जाति का असुरों के साथ ससग भी कम ही रहता था। यही कारण था कि कुछ मयलोग यूनान छोडकर भारतवष में (खाण्डववन में) आकर वस गए थे। जिस समय अर्जुनने खाण्डववन जलाया था उस समय भगवान् कृ ण के आदेश से यह मयवश अग्निकाण्ड से बचा लिया गया था। इसी उपकार के बदले इस कृतज्ञ जातिने पाण्डवो के लिए ऐसा अद्भुत सभाभवन बनाया था जिसे देखकर एक बार तो भौमस्वग में रहने वाले देवता नारद आदि ऋषि भी चकित होगए थे। यह भी पाठकों को सुविदित है ही कि यही सभाभवन आगे जाकर महाभारतसङ्ग्राम का ज मदाता बनता हुआ कुरुवश के नाश का ही निमित्त प्रमाणित हुआ।

तथोक्त कुछ एक प्रासङ्गिक निदर्शनो से पाठको को य मान लेना पडेगा कि **किसी समय इसी पृथिवी पर मनुष्यभिन्न देवता एवं मनुष्यभिन्न असुरो की सत्ता थी।** असुरजाति का विकृतरूप तो आज भी विद्यमान है पर तु नाम वता सवथा कराल काल के गाल मे समा गए ह। य **देवता कहा रहते** थे ? **देवविजलोकी कौनसी थी आसुरविल की कहा था ?** य विभाग किसने किए थे ? इस त्रलो- क्यविभाग की आवश्यकता क्य थी **असुर** किस लिए **देवताओ पर आक्रमण किया करते थे** ? अन्तत देवताओं ने असुरो से कैसे छुटकारा पाया ? त कालीन भौगोलिक उत्तर दिशा कहाँ बसी थी ? इन सब प्रश्नो का उत्तर पूव के पात्रप्रनप –प्रक ग मे **अष्टिरात्रदेवतानिरूपण** प्रकरण म १ पृष्ठो में बडे विस्तार के साथ दिया जाचुका है। प्रकृत कथा के समन्वय के लिए वह प्रकरण अत्रापि एकबार अवश्य ही द्रष्टव्य है।

वहा यह विस्तार से बतलाया जाचुका है कि प्रजापतिने **देवता** और **असुर** दोनो में शान्ति रखने के लिए इस भूपिण्ड के **उत्तरीगोलार्द्ध** एवं **दक्षिणीगोलार्द्ध** भेद से दो विभाग करइन्हे क्रमश देवता और असुरो के अधिकार म दे दिया था। दवता सदा से ही **शान्तिप्रिय** थे उधर असुर जन्म से ही **दुष्प्रकृति** के थे। यद्यपि बंगमील के अनुसार असुरो को देवताओ की अपेक्षा कही अधिक मात्रा में भूप्रदेश मिला था। तदपि ये देवताओ पर आक्रमण करने स नही चूकते थे जैसाकि पूर्व के **स्तम्बयजुहरणोपाख्यानरहस्य** म विस्तार के साथ बतलाया जाचुका है। विषयसङ्गति के लिए यहा भी प्रकारान्तर से भौगोलिक–व्यवस्था का सङ्क्षिप्त स्वरूप पाठको के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाता है।

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तर गिर्योरार्यावर्त्त विदुर्बुधा ॥

—मनु २।२२।

उक्त मानवसिद्धान्त के अनुसार **पूर्वसमुद्र से आरम्भ कर पश्चिमसमुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण प्रदेश आर्य्यावर्त्त नाम से प्रसिद्ध था।** आर्य और दस्यु ये दो शब्द उस समय प्रधानरूप से प्रचलित थे। उक्त सीमा में दस्युओ का प्रवेश नही होसकता था अत एव यह प्रान्त **आर्य्यावर्त्त** कहलाता था। पश्चिमसमुद्र पुराणों में **महीसागर** नाम से व्यवहृत हुआ है। यही पाश्चात्यभाषा में— **मेडिट्रेनियन्सी** नाम से प्रसिद्ध है। इसी के समीप रक्तसमुद्र (रेडसी) है। एव पश्चिमसमुद्र (चीनसमुद्र) **पीतसमुद्र (यलोसी)** नाम से व्यवहृत हुआ है। निरक्षवृत्त से ४५ अंश पूर्व पूर्वसमुद्र है एवं ४५ अंश पश्चिम पश्चिमसमुद्र है। किसी समय **निरक्षवृत्त** लङ्कास्थान पर आता था। आज भी निरक्षवृत्त तो वही है। हा लङ्का अवश्य ही समुद्रगर्भ में विलीन होगई है। इधर जो मानते हैं **सिंहलद्वीप (सीलोन) को लङ्का** मान रहे है यह उन की भ्रान्ति ही समझनी चाहिए। क्योंकि ज्योतिषगणना के अनुसार पुराणशास्त्रने **लङ्काद्वीप सिंहलद्वीप** दोनो को सर्वथा पृथक माना है। साथ ही जिस **देशान्तर** पर लङ्का की सत्ता मानी गई है उस देशान्तर पर **सीलोन** नहीं है। ऐसी अवस्था म देशान्तर–मानानुसार सीलोन सिंहलद्वीप होसकता है न कि लङ्का।

पुराणयुग में सम्पूर्ण भूमण्डल की व्यवस्था यही से की जाती थी। यही स्थान भारतवर्ष का उपक्रम स्थान था। यही भारतवर्ष की दक्षिण–सीमाथी। **लङ्कासमीपस्थ दक्षिणसमुद्र भारतवर्ष की दक्षिण सीमा**

थी पूर्वसमुद्र पूर्व सीमा थी एवं पश्चिम सन्मुद्र पश्चिम सीमा थी। आज जिस (सिन्धुनद को) भारत की सीमा माना जाता है वस्तुतः भारत की पश्चिम सीमा सिन्धु नहीं अपितु पाश्चम समुद्र है। आज भी यहां पर हमारा शारदा तीर्थ है। चीन तिब्बत आदि सभी भारतवर्ष के अन्तर्गत हैं। भारत-अग्नि का मतानुसार जहांतक हां नहीं देश भारतवर्ष है। आज जिसे भारतवर्ष माना जाता है वह तो आधा भारतवर्ष है। इस सम्बन्ध में स्वयं वेद के ब्राह्मणभागने बडा विशद निरूपण किया है। इधर वेद पौरुषेय है अथवा अपौरुषेय? इस शास्त्रार्थकलह में ही अपनी जीवनलीला समाप्त करने वाले भारतीय विद्वानों को आज अपने देश की सीमा का भी स्वरूपबोध नहीं है। पाश्चात्य विद्वान अपने स्वार्थों को प्रधानता देते हुए यथेच्छ सीमा-विभाग कर लाभ उठा रहे हैं। इधर भारतीय विद्वान् इस सम्बन्ध में सर्वथा मुक्त हैं। यदि दुर्भाग्य से ऐसे विचारों को लेकर इनके सामने मादृश कोई व्यक्ति उपस्थित होता है तो-पहिले तो ये महानुभाव ऐसे विचारों को सुनने का अवसर ही नहीं देते। यथाकथञ्चित् दाक्षिणादि के प्रलोभन से यदि ये एकत्र समवेत हो भी जाते हैं तो वेद में किन विषयों का निरूपण हुआ है? वेद किन मौलिक तत्त्वों का रहस्य बतलाता है? इत्यादि वेदार्थ-सम्बन्धी तात्त्विक विचारों का प्रश्न भी न करते हुए केवल वाक्कलहरूप पौरुषेय अपौरुषेय-वाद में ही पड जाते हैं।

मान लीजिए वेद सर्वथा अपौरुषेय हैं। क्या यह मात्र जान लेने से वेद का वेदत्व चरितार्थ होगया? । नहीं तो फिर छोडिए इस पतनमूलक दुराग्रह को! अन्वेषण कीजिए वेदार्थ का!! बतलाइए जनता को सच्चा मार्ग!!! अपनी प्राचीन संस्कृति सीमाविभाग आदि का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करते हुए कह दीजिए राजनीतिकस्वार्थ-लोलुप उन प्रतीच्यों को कि आपने हमें जैसा कूपमण्डूक समझ रक्खा है हम वैसे कूपमण्डूक नहीं हैं। हमारा घर छोटासा नहीं आपितु बहुत विस्तृत है। नैतिकता के व्याज से हमारी अज्ञता से अनुचित लाभ उठाते हुए आपने जिन चीन जापानादि देशों को हमारी सीमा से पृथक् मान लिया है यह कल्पना हमारे भुवनकोश के अनुसार नितान्त अशुद्ध है। ये देश हमारे देश हैं। हम उनके हैं वे हमारे हैं। सबकी मूलसंस्कृति का स्रोत एक है। उनके सुख में हम सुखी एवं उनके दुःख में हम दुःखी हैं। आज हम अपने वास्तविक इतिहास का बोध नहीं। हम नहीं जानते-हम कौन थे कहांतक हमारा साम्राज्य था क्या क्या साहित्य हमारे हाथ में था किन किन पराराष्ट्रों पर हमारा प्रभुत्व था। वैदिक-इतिहास एवं भूगोल सम्बन्धी परिज्ञान से वञ्चित रहने के कारण हमारी सङ्गठनमूला राष्ट्रीयभावनाएं सर्वथा उच्छिन्न होरहा है। हो क्या रहीं है हो-चुकीं है। विश्वास कीजिए आपका भारतवर्ष वर्त्तमान भारतवर्ष नहीं है। वह बहुत विस्तृत भूप्रदेश है। सुप्रसिद्ध भौमत्रिलोकी का पृथिवीलोक-स्थानीय भारतवर्ष ६ अंश पर्यन्त अपनी व्याप्ति रखता है जैसाकि पूर्व में बतलाया जाचुका है। *

---

* प्रथम प्रकाशनानुगत इस प्रकरण को आज अनुमानतः २ वर्ष होचुके हैं जिसका यह पुनः प्रकाशन सन् ५८ में होरहा है। इसी अवधि में अपनी भावुकतावश भारतराष्ट्र ने अपना अद्ध स्वरूप भी सर्वात्मना क्षत-विक्षत कर लिया है जिससे बडी ऐतिहासिक भूल विगत तीन-सहस्र-वर्षों में घटित-विघटित पतनयुगों में भी घटित नहीं होपाई थी इत्यहो महतीयं विडम्बना राष्ट्रीय-स्वतन्त्रप्रज्ञायाः नितान्त-भावुकतापरिकल्पित- त्याग-तपस्या बलिदान-विजम्भण-समन्वितायाः इत्यालं यालमेव।

यद्यपि इन विषयो का निरूपण पूर्व में यत्र तत्र होचुका है परन्तु वहां विस्पष्टरूप से एकत्र समन्वय नहीं होसका है। वहां केवल देवत्रयी वस्था को प्रधान मान कर सक्षेप से वर्षादि भुवनकोषो का दिग्दर्शन करा दिया गया है। अब आगे के प्रकरणो में यह विषय पुनः पुनः आवर्तित न करना पडे इसलिए प्रकारान्तर से **देवासुरदायविभाग** से सम्बन्ध रखने वाले **पादमभुवनकोश** का स्वरूप पाठको के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाता है। आगे स्थान-स्थान पर **देवासुरसग्राम** का निरूपण आने वाला है। उन सबकी आधारभूमि यही **पादमभुवनकोश** है। **ध्यान-अनुग्रह-निक्षेप कीजिए पादमभुवनकोश के स्वरूप पर! कृतज्ञ बनिए पुराणशास्त्र के!! अनुभव कीजिए पुराणशास्त्र की आवश्यक उपादेयता का!!!**

पुराण में जिन अठारह अपूर्व विषयो का निरूपण किया गया है उनमें से एक विषय **भुवनकोश** (**भूगोल**) भी है। जिस दिन आप साङ्गोपाङ्ग भुवनकोश का स्वरूप अवगत करलेंगे उस दिन भूपिण्ड का **जल स्थल** कोई भी प्रदेश आपकी ज्ञानसीमा से बहिर्भूत न रहेगा। आज पाश्चात्यो की ओर से कहा जाता है कि भारतीय विद्वान् आत्म परमात्म चर्चा के अतिरिक्त अन्य किसी विषय के ज्ञाता नही हैं। अवश्य ही वर्तमान विद्वानो के सम्बन्ध में पाश्चात्यो का उक्त कथन सर्वथा ठीक है। निधि भारतीयो के **शास्त्रकोश** में सबकुछ है। परन्तु हम उनके ज्ञाता नही हैं। यदि पाश्चात्यो का यह अभिप्राय हो कि इन विषयो को आजतक भारतीयो ने जाना ही नही तो-उनकी यह नितान्त भ्रान्ति है। हमारा तो यह भी कहना है कि जो नियत भूगोलविद्या हमारे शास्त्रो में उपलब्ध होती है उसका शतांश भी वर्तमान भूगोल मे उपलब्ध नही होरहा। प्रकरण दूसरा है-अत प्रकृत में भूगोलविद्या का निरूपण नही किया जासकता। भूगोलसम्बन्धी विषयो का नामनिर्देश कर देवासुरदायविभाग सम्बन्धी केवल ब्राह्म-(**ब्रह्मपुराणोक्त**) **पादमभुवनकोश** का ही सक्षिप्त निरूपण कर इस आधिभौतिक दायविभागाख्यान-प्रकरण को उपरत कर दिया जायगा।

तीन सप्तकों का निरूपण जिस प्रकरण मे हो वही भुवनकोशविद्या है। सम्पूर्ण भुवनकोश मे केवल निम्न लिखित तीन सप्तको का ही निरूपण हुआ है।

३	प्रथमसप्तक	द्वितीयसप्तक	तृतीयसप्तक
भारतीयभूगोलविद्याया त्रय सप्तका	— सप्तद्वीपा	१—पर्वता	१—देशविभागा
	२—सप्तसमुद्रा	२—नद्य	—उपद्वीपविभागा
	३— सप्तवायव	३ —सरासि	३ —समुद्रविभागा
	४—सप्तलोका	४—वनानि	४—आखातविभागा
	५—सप्तपातालानि	५—आकरा	५—डमरूमध्यानि
	६—सप्तावरणानि	६—देशा	६— राजशासनानि
	७—सप्ताकाशा	७—पुराणि	—पोतावतरणतीर्थानि (बन्दरगाह)

१–सप्तद्वीपा (१)

१–जम्बु २–प्लक्ष ३–शाल्मलि ४––कुश ५––क्रौञ्च, ६ शाक ७–पुष्कर –इत्येते सप्त द्वीपा । सप्तद्वीपा वसुमती इति हि भगवान् पतञ्जलिराह।

(१) पौराणिक सृष्टिविज्ञान के अनुसार भूपिण्ड को अपने गर्भ में रखती हुई महापृथिवी (जिसका स्तौम्यत्रिलोकीरूप से स्त त्र्यजुहरणप्रक ण में निरूपण किया जा चुका है) उपर्युक्त सात द्वीप सात समुद्रों से युक्त है। इनके चारों ओर क्रमश सर्वप्रथम काञ्चनाभूमि लोकालोक तम अण्डक ह ये चार प्रदेश याप्त हैं। इस म पृथिवी के अनुरोध स ही क्षुद्र पृथिवीरूप भूपिण्ड में भी द्वीप समुद्रादि की कल्पना की जाती है जसाकि पुराणरहस्य ग्रन्थ मे स्पष्ट कर दिया गया है। महापृथिवीस्थित सप्तसमुद्र न जानने के कारण ही लाडमकाले आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय पौराणिक भूगोल को मिथ्या बतलाने का अक्षम्य अपराध कर लिया है। हमारी महापृथिवी की सत्ता में २१ (एकविंश) स्थ सूर्य भी अन्तर्भुक्त है। यही कारण है कि सप्तद्वीपों का निरूपण करते हुए पुराण व्यवस्थापक सौरब्रह्माण्ड को भपञ्च की सीमा मानी है। सौरब्रह्मा पार्थिवपुष्कर द्वीप में प्रतिष्ठित मान जाते हैं। कारण महापृथिवी का पुष्कर द्वीप २१ वें अहर्गण पर ही प्रतिष्ठित है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर महापृथिवी के उपर्युक्त सातों द्वीपों का निरूपण करते हुए पुराणाचार्य कहते हैं—

इत्थं ब्रह्माण्डमध्यस्थो यो ब्रह्मा समपद्यत ।
सूर्य स एतद्ब्रह्माण्डं ज्योतिषां मण्डलं महत् ॥ १ ॥
पृथिवीपरिभ्रमस्यान्तं यो भागस्तन्मण्डलम् ।
द्विधा स्यादधरा भूमिरुत्तरा द्यौः समे समे ॥२॥
सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः ।
विष्कम्भार्द्धमिदं तस्य विष्कम्भो द्विगुणो भवेत् ॥३॥
महैराण्डकटाहेन सद्वीपाम्भोधि—पर्वता ।
पञ्चाशत्कोटिविस्तारा सेयं पृथिवी निरूपिता ॥४॥
तत्र सूर्यं समारभ्य सप्तद्वीपा सहार्णवा ।
अस्या अनुदिशं पथ्या सूर्य्यमावर्त्तते क्रमात् ॥५॥
यावान् द्वीपः प्रमाणेन तत्समुद्रोऽपि तत्समः ।
पूर्वतो द्विगुणद्वीपसमुद्रा उत्तरोत्तरम् ॥६॥
लक्षयोजनविस्तारो जम्बुद्वीपोऽथ तत्समः ।
लवणोदसमुद्रः स्याद् द्विलक्षः प्लक्ष इष्यते ॥७॥
प्लक्षप्रमित एवेक्षुरसोदः स्यादिति क्रमः ।

स्वादूदकसमुद्रा न प्रमाणस्योपपद्यत ॥८॥
एव द्वापा समुद्रैस्तु सप्तसप्ताभगवता ।
द्वीपश्चास्य समुद्रश्च समाना द्विगुणो परो ॥६॥
स्वादूदकस्य पारता द्विगुणा काञ्चनी क्षिति ।
लोकालोकचलश्चोर्ध्वं तदूर्ध्व पारतस्तम ॥१०॥
तमश्चाण्डकटाहेन समन्तात परिवेष्टितम् ।
विस्तार एष कथित पथि या मुनिसत्तम ॥११॥
यग्रोध पुष्करद्वीप ब्रह्मण स्थानमुत्तमम् ।
तस्मिन्निवसति ब्रह्मा पूज्यमान सुरासुरे ॥१२॥

—पुराणेषु

२–सप्तसमुद्रा —

१–लवणोद (क्षारसमुद्र) २–इक्षुरोद, ३–सुरोद, ४–घृतोद ५–दधिमण्डोद, ६ क्षीरोद ७ स्वादूदक ।

३–सप्तवायव —

आवह प्रवह सवह परिवह इत्यादिरूपण ज्यातिषशास्त्र सुप्रसिद्धा ।

४–सप्तलोका

१ भू २ भुव ३ स्व, ४ मह, ५–जन (जनत्), ६ तप ७–सत्यम् ।

इन सातो लोको का वेज्ञानिक स्वरूप गीताविज्ञानभाष्य के मानुपोत्तमकृष्णरहस्य प्रकरण म दखना चाहिए । यहाँ प्रकरण सगि के लिए कुछ एक श्लोकमात्र ही उद्ध त कर दिए जात है—

रविच द्रमसोर्याव मयूखैरवभाष्यते ।
ससमुद्रसरिच्छला तावती पृथिवी स्मृता ॥१॥

यावत्प्रमाणा पृथिवी विस्तारपरिमण्डला ।
नभस्तावत्प्रमाण हि विस्तारपरिमण्डलम् ॥२॥

पादगम्य तु यत्किञ्चित् वस्त्वस्ति पृथिवीमयम् ।
स भूलोक समाख्यातो विस्तारोऽस्य पुरोदित ॥३॥
भूमसूर्यान्तर यच्च भुवर्लोकस्तु सोऽपर ।
सूर्य-ध्रुवान्तर स्वर्गो नियुतानि चतुर्दश ॥४॥
त्रलोक्यमेतदाख्यात सक्षेपेण ध्रुवाव ध ।
ध्रुवादूर्ध्व महर्लोक स कोटा योजना तरे।
द्विकोट्यूर्ध्व जनोलोक सन दनमुखा इह ॥५॥
ततस्तपश्चतु कोट्यामूर्ध्वं वैराजदैवतम् ।
तत ऊर्ध्व तु षट्कोट्या सत्यलोको विशिष्यते ॥६॥
एते सप्त महालोका उपरिष्टादध पुन ।
पातालानि च सप्तैव ब्रह्माण्डस्यष विस्तर ॥७॥
एतदण्डकटाहेन तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
कपित्थस्य यथा बीज सर्वतोऽस्ति समावृतम् ॥८॥

५—सप्तपातालानि—

१—अतल —वितल ३—सुतल ४—तलातल ५ महातल ६ रसातल ७—पाताल ।

पाताललोका पृथिवीपुटानि इस पुराणसिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड के सात स्तर ही सात पाताल कहलाते हैं । इनमें आरम्भ के तीन पुट आपोमय है आगे के तीन पु अग्निमय ह एव केन्द्रपु ब्राह्म है । इसी से मेरुरूप स्कम्भ का विनिर्गम होता है । भूपिण्ड के पहिले तीन स्तरो म पानी रहता है दूसरे तीन स्तरों में अग्नि रहता है । सर्वान्त मे सवप्रति ठारुप प्राणाग्नि रहता है । यहीं भूगभस्थ प्रजापति है । भूसृष्टि का प्रभव प्रतिष्ठा परायण यही प्रजापति है ।

यह प्रजापति ह द्-य स्वरूप है ह आहरणधर्मा विष्णु है द—विक्षेपणधर्म्मा इन्द्र है य—नियमन धर्मा ब्रह्मा है । इनमें से हरूप विष्णु के अभिप्राय से यह पाताल स्थान अनन्त शेषना नाम से प्रसिद्ध है । वायु शेषनाग है । इसी पर वि णुतत्व प्रतिष्ठित है । इसी आधार पर शेषनाग क फण पर भूपिण्ड की सत्ता मानी जाती है । यह प्रा णमय तत्व क्रान्तिमण्डलपृष्ठीय कन्दभूत कन्म्ब से युक्त होता हुआ—सुमेरु कुमेरु—भाव की प्रतिष्ठा बनता है जसाकि पूव—स दर्भों म विस्तार स बतलाया जाचुका है ।

६—सप्तावरणानि (नरका)—

१—रारव २—तान, ३—विमोहन, ४—कृमीश, ५—लालाभक्ष, ६—अध शिरा, ७—अवीचि ।

सू य म सात ना ड्या मानी जाती हैं। इस सात नाडियो के स ब ध से शनिलोकरूप **आवरण लोक (नरकलोक)** सात भागो में विभक्त होजाता है। आग जाकर २ नक्षत्रो के सम्ब ध से २७ नरक होजाते है। इन २७ नरको का विभाग नि नालखित है—

(१)	१—रौरव	१–(१) रुधिरा ध	१–(१६) वह्नि वाल
	२—शौकर	२–(११) वैतरणी	२–(२) अध शिर
	३—रौध	३ (१२) कृमीश	(६) ३ (१) सन्दश (सदश)
	४—तान	(४) ४–(१३) कृमिभोजनम्	४ ( ) कृ णसूत्र
(२)	५—विशासन	५–(१४) असिपत्रवनम्	५ (२३) तम
	६— महा वल	६–(५) कृ ण	६ (२४) अवीचि
	७— तप्तकुम्भ	–(१६) लालाभक्ष	(७) ७ (२५) श्वभोजन
(३)	८—महालोभ	(५) ८–(१७) दारुण	८ (२६) अप्रतिष्ठ
	९—विमोहनम्	९–(८) पूयवह	९ (२७) अवीचि

२८ व **अभिजिन्नक्षत्र** के सम्ब ध से २८ नरक होजाते है। च द्रमा का परिभ्रमण—**अध म य ऊर्ध्व** भेद से तीन भागो म विभक्त है। इस **कक्षात्रयी** के मे स २८ नरक त्रधा आवर्त्तित होकर ८४ सख्या में परिणत होजात है। **ये ही पुराणप्रसिद्ध ८४ नरक है**। इन सबका विशद वैज्ञानिक विवचन **श्राद्ध-विज्ञान** नाम के ग्र थ में दखना चाहिए। इन ८४ का २८ मे अ तर्भाव है। २८ का सात में अ तर्भाव **है**। अतएव भगवान् यासने— **आप च सप्त** (शा सूत्र) के अनुसार प्रधानरूप से सात ही **नरक** माने है। इन में आ मानुगामिनी सौर योति का अभाव है। यहा तारत य से **तम** का ही साम्रा य है। यहा आ मप्रकाश इस तम स आवृत हाजाता है अतएव पुराण ने इह **आवरण** नाम से ही व्यवहृत किया है। **वैदिक विज्ञान** क अनुसार ये आवरणलोक **असु र्या नाम ते लोका अ धेन तमसाऽऽवृता** इ यादिरूप से **असुर्यलोक** नाम से प्रसिद्ध है।

७—सप्ताकाशा (स्वर्गा)—

१—अपोदक, २—ऋतधामा ३—अपराजित, ४—ब्रध्नस्यविष्टप ५—अधिद्यो, ६—प्रद्यौ, ७—रोचना ।

१—**अग्नि** २–**वायु** ३ **इन्द्र** ४–**नाक** ५–**वरुण** ६ **मृ यु** ७ **प्रजापति** इन सात दवताओ के भेद से **दवस्वग** सात भागो में विभक्त होजात है। इन सातो की भी वज्ञानिक उपपत्ति **श्राद्ध-**

निज्ञान म ही दखनी चाहिए। यहा आत्मा आवृत नहा होता अपि तु सोर प्रकाशमय न ाका मे आ मा विकसित रहता है। आ मविकास के लिए यहा पूण अवकाश है। अवकाश ी आकाश ह— का ह्य ात्यान क प्राण्याद्यदष आकाश आन दा न स्यात् इत्यादि औपा ष सिद्धान्त के अनुसा आकाशरूप स्वग ही आन द का कारण है। अनावृत आकाश प्रदश (खुला स्थान—खुली हवा) आनन्द का कारण । इसी अना वृतभाव का लक्ष्य म रखकर पुराणने सप्त स्वग को सप्ताकाश नाम स यहृत किया ह।

दूसरा सप्तक पर्वतादि का है। प्रसङ्गागत इन के अवा तर भेद नाममात्र के लिए पाठको क स मख उपास्थत करदिए जात ह—

१—पर्वता —

१—कुलगिरि, २—शाखागिर ३—पादागिरि ४ स्तूपागार ५—वर्ष-पर्वत ६—विष्कम्भप ति ७—केसरपर्वत ८—मर्यादाशैल भेद से प ात आठ भागों मे विभक्त ह। इनमे से कुछ एक का स्वरूप आगे के मेरुप्रकरण म बतलाया जान वाला है।

भारतवर्ष के कुलप ति'—७ (सात)—

१—मह द्र २ मलय ३—सह्य ४—शुक्तिमान ५—ऋ य ६—पारियात्र — ऋक्ष।

भारतवर्ष म असरय शाखापर्वत—

कोलाहल वभ्राज म दुर ददु र वाता वग दवत मनाक सुरस तु गप्रस्थ नामगिर गोवद्ध न पाण्डुर पुष्पगिरि वैजय त रवत अबु द ऋष्यमूक गोम थ कृतशैल कृताचल श्रीप ति चकोर आदि आदि।

२—नद्य —

चतुग गम्, सप्तगगम्, नदी महानदी शाखानदी क्षुद्रनदी कुल्या आदि भेद से नदियों के अवा तर अनेक भेद है।

स्वय ऋग्वद सहिता में न नदियो का बड विस्तार से निरूपण हुआ है। भारतीयो की दृष्टि स भूपिण्ड की कोइ भी नदी तिरोहित नही थी। आज तो हम समुद्र—उल्लङ्घन म भी अपने आपको प्राय श्चित्त का ागी समझने लगते हैं। परन्तु कोइ युग ऐसा था जब हमारे भारतीय ऋषि विद्याओंके अनुस धान के लिए समस्त पृथिवी की परिक्रमा लगाने में भी कोई आपत्ति नही समझते थे। यदि वे भी हमारी ही भाँति कूप मण्डूक होते तो कौन भूगोलविद्या का यापक ज्ञान हमारे सम्मुख रखता?। सम्पूर्ण भौमत्रिलोकी की नदियो को छोडिए। भौमत्रिलोकी के पृथिवीलोक-स्थानीय केवल भारतवष को ही लीजिए। देखिए ऋषियो के भौगो लिक महान् अ वषणका अदभुत प्रदशन!

भारतवर्ष की नदियाँ—

(१) १—गगा २—सरस्वत ३—सि ु ४—च द्रभागा ५— यमुना ६—शतद्र ७—विपाशा ८—ऐरावती ६—कुहू १ —गोमती १ – धूतपापा १२—बाहुदा १३—दृषद्वती १४—विशाला ५—देविका १६ –चक्षु १७— निष्ठीवा १८—गण्डकी १६—कौशाकी २ —आपगा इ या दि नदिया हिमवत्पाद स निकला है। न्नमें गगा सरस्वती–सि धु आाद महानादया ह। शेष शाखानदिया है।

(२) १—दत्रस्मृति २ दवती ३—वात नी ४—वष्या ५—च दना ६—सदानीरा ७—चर्म्मण्वती ८—वृषी ६—विदिशा १ —वत्रवती (वतवा) ११—शिप्रा १२—द्रव ती आदि नदिया पारियात्रपवतानुगामिनी हैं।

(३) १—शोणा २—महानदी ३—नमदा ४—सुरथा ५—क्रिया ६—म दाकिनी ७—दशार्णा ८—चित्रकूटा ६—चित्रा पला < —करमोदा ११—पिशाची १२—अतिलघु १३—शोणी १४—शेवला १५—समेरुजा १६—शुक्तिमती १ —शकुनी १८—त्रिदिवा आ दे नदिया ऋक्षपा प ात से निकली हैं।

(४) १—शिप्रा २— पयो ष्या ३—निर्वि या ४— तापी ५— वणा ६— वैतरणी ७—सिनीवाली ८—कुमु ती ६—तोया १ —महागौरी ११—दर्गा १२—अ त शिला आदि नदियाँ वि या चल म निकली है।

(५) १—गोदावरी २ भीमरथी ३—कृष्यवला ४—तुङ्गभद्रा ५—सुप्रयोगा ६—पापनाशिनी आदि ना याँ सह्याद्रि से निकली हैं।

(६) १—कृतमाला २—ताम्रपर्णा ३ –पु पवती ४—उ पलावती आदि नदियाँ मलयप त से निकली है।

(७) १ –पितृकु या १— सोमकु या ३—ऋषिकु या ४—व ञुला ५— त्रिदिवा ६—लाङ्गलिनी ७—शिकरा आदि नदिया महेन्द्रप ात से निकली है।

(८) –सुविकाला २— कुमारी ३—मनुगा ४ म दगामिनी ५—क्षमा ६—पलाशिनी आदि नदिया शक्तिपवत से निकली हे।

यह है कुछ एक भारतीय नदियों का नाम–नि शान। आज आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय विद्वान् अपने सुसंघठित प्रयासो से अपने न **बिभूति–चिह्नों** का अ वषण कर और ससार को बतलाव कि हमारे पूवजा के **भौगोलिक ज्ञान** के सम्मुख आजका केवल भूतप्रधान–भौगोलिक ज्ञान अधूरा है। अपना एक क पित सीमाभाव रखने वाले भारतीय विद्वान् क्या इस ओर यान दग ? अपनी विलास–लीलाओ में अतुल धनराशि यय करने वाले पु ाण के जडश्रद्धालु भक्तगण हमारे इस आयोजन के स ब ध में क्या कभी कुछ विचार करगे ? असम्भव। क्यो ?

इसलिए कि **राजा कालस्य कारणम्** मूलक व त मान युग भारतीय–मौलिक–सास्कृतिक–निधियो के पुनर वषण के प्रति न केवल तटस्थ निरपेक्ष ही प्रमाणित होरहा है। अपितु त्रिसहस्रवार्षिकी बुद्धि

मन –शरीर–दासतामूला भारतराष्ट्र की सवन्तासता ने भारतीय ह य को स्वय ही इस अपना मूलानवि क ज्ञानाविज्ञानात्मक मालिक स्वरूप स उस सीमा पय्य त परा मुख कर दिया है ा स भामा पर प्रतिष्ठित हो ने के अनन्तर स्व स्वरूपबोध सवथा ही अभिभूत होजाया करता है ।

३—सरासि —

समुद्र सागर, उपसागर सर, पल्लव भेद से सरोवर पाच भागों म विभक्त मान गए ह ।

पूर्व–पश्चिम–उत्तर दक्षिण चारो समुद्र समुद्र नाम से व्यवहृत हुए ह । सामाभावयुक्त यत्र यत्र दिशाओ मे प्रतिष्ठित समुद्र सागर नाम से यवहृत हुए ह । अराल सागर महीसागर आदि सागर है । जिस वत्तमानभाषा में झील कहा जाता है वही पुराण म उपसागर नाम स प्रासद्ध ह । प्राकृतिक बड बडे तालाव सर नाम से यवहृत हुए ह । मानसरोवर अच्छादसर आद सर प्रासद्ध ह । जिस खाडी कहा जाता है वही पुराण मे पल्लव शब्द से व्यवहृत हुइ है । इन के विस्तृत ज्ञान के लिए तो आप को पुराण की शरण में ही आना चाहिए ।

४—वनानि—

अरण्य उपवन, आराम, पुष्पवाटिका, निष्कुट, भेद से वन पाच भागा मे विभक्त माने गए हैं ।

सैकडो कोस लम्बे चौड हिंस्रक पशु–पक्षियो से व्याप्त महावन अरण्य नाम से प्रासद्ध हैं । नमिषारण्य दण्डकारण्य आदि अरण्य प्रासद्ध ह । नगरो के बाहिर विशद उद्यान उपवन नाम से व्यवहृत हुए है । नगर के भीतर नागरिकों के विहार के लिए स्थान स्थान पर निर्मित छोटे छोटे उद्यान आराम नाम से यवहृत हुए हैं । जिसे आज पार्क कहा जाता है वही आराम कहलाता है । (आगत्य रमन्ति यत्र नागरिका) । सम्भ्रान्त गृहस्थो के गृहोद्यान – पुष्पवाटिका है । साधारण गृहस्थो की फुलवाडी निष्कुट है ।

५—आकरा (खानें)—

ये खानें प्राकृत कृत्रिम भेद से दो भागो म विभक्त है । किस भूप्रदेश म किस धातु की खान प्राकृत है ? कहाँ कहा किस किस राजशासनकाल मे नई नई खान बनाई गई हैं ?, इन सब का निरूपण इसी आकरप्रकरण म है ।

६–देशा —७—पुराणि—

पुरी, पत्तन महानगर, नगर ग्राम, खरवट उपनिवेश, देश पुर इन सात भागो मे विभक्त है ।

जो देश किंवा पुर नीविभूत स युक्त हो जन किसी प्रसि दवता की प्रात टा हो वह दश-पुर-पुरी नाम स प्रसिद्ध है। काशापुरी जगन्नाथ री द्वारकापुरी सु ामापुरी ब्रह्मपु ी आाद प्रसिद्ध ह। जन राजसत्ता हो राजा की प्रधानता हो वह िभाग पत्तन कहलाता है। अनेक नगरो में जो सब प्रमाणो में बढा चढा हो वही महानगर कहलाता है। पाषाणनिम्मित प्रासादयुक्त देश नगर है। मृण्मय (क चे) प्रासादयुक्त देश ग्राम है। दुगराहत सावारण अ पसरयाजन निवासप्रदेश खर-वट है। महा अरण्यो के म य म य में १ -१ २ २ गृहस्थियो की निवासभूमि उपानवेश है। मरुभाषा में यही उपनिवश ढाणी नाम स प्रसिद्ध है। पाश्चयाथ भारतवर्षाय कुछ दशो के नाम बतला दिए जाते है -

(१)—म य कुमुदमाल्य ऋतुल काशिकोशल आ ध्र कालङ्ग मशक वृक आदि दश प्राय म यदश माने जात है।

(२)—वा हीक वाटधान सुतीर कालतोयद अपरा त शद्र केरल ग धार यवन सि धु सौवीर मद्र शतद्रुह कलिङ्ग पारद हारभूषिक (हरिभूषिक) माठर कनक केकय द भमाल कम्बोज बबर सलौकिक वीर तुषार प ह्व आत्रेय भारद्वाज पु कल शेरक ल पक शुनशोक कलिक जाङ्गल औस य त्रलच द्र किरात तोमर हसमाग कश्मीर करुण शूलिक कुन्क मागध आदि दश उदी य (उ रदश) है।

(३) —अ ध वामकुङ्क ब नक मल्ला त अङ्ग बङ्ग मलद मालवर्तिक भद्रतुङ्ग प्रतिनप भार्याङ्ग अपमद्द क प्राग योतष मद्र विदह ताम्रलिप्त म ल मागध न द आ दश प्रा य (पूवाय) दश है।

(४)—पूग करल गोलागूल ऋषिक मूषिक कुमार रामठ शक महाराष्ट्र माहिषक कलिङ्ग आभीर विशिक अरव्य सवा पुलिन्द मौ य विदभ दण्डक पुलक अश्मक भोजवद्धन कालिक कु तल दम्भक नी कालक आदि दाक्षिणा य जनप है।

(५)—शूपरिक कालिधन लाल तालकर आ द अपरा त जनपद हैं।

(६)—मलज ककश मेलक चोलक उत्तमाण दशाण भोज कि कि ध ताषल कोशल त्रपुर वदिश तुम्बुर चर यवन पवन अभय रुण्डिकेर चचर आदि वि यवासी जनप ह।

(७) ना र भाग कुरु तुङ्गण खश कर्णप्रावरण अल द य कुञ्चक चित्रभाग मालव किरात आदि पवताश्रयी जनपद हे।

विषय अ वश्यकता से अधिक बिस्तृत होता जारहा है। अत तीसरे स तक का दिगदर्शन पुराणशास्त्र की स्व यायनि ठा से समन्वित मानते हुए सर्वा त में यदि आप भारतरा का अ युदय चाहत है तो वेद के साथ साथ पुराणा का अ ययना यापन भी शीघ्र से शीघ्र आरम्भ कर दीजिए। वदभाषा दुरूह है। उन्ही वैदिक विषयो को पुराणन बडे विस्तार के साथ बडी ही प्राञ्जलभाषा में गद्य पद्यरूप से हमारे सम्मुख रक्खा है। जबतक आप पुराण को न अपनावगे तबतक वत्त मान भौगोलिक एव ऐतिहासिकों के द्वारा फलाए हुए दश के गौरव को रसातल में पहु चाने वाली हमे अपने भागधेय से वञ्चित करने वाली नाशकारिणी भ्रा ति का कथमपि निराकरण नही कर सकग यही निवदन करत हुए पाञ्चभुवनकाश की ओर आप का यान आकर्षित किया जारहा है।

पौराणभुवनकोशस्वरूपदिग्दर्शन—

भूगोलविद्या का ही पौराणिक–परिभाषानुसार भुवनकोश कहा जाता है। जिस समय का स्थान का आज हम निरूपण करने वाले हैं उस समय सप्तर्षि अभिजित् नक्षत्र पर था। आज से लगभग १२॥ वर्ष पूर्व पौराणिक युग में अभिजित्-नक्षत्र ही ध्रुव नाम से प्रसिद्ध था। जिस सुमेरु को हम भूपद्म की कर्णिका बतलाने वाले हैं वह सुमेरु उस समय ठीक ध्रुव के नीचे था। आज सुमेरु और ध्रुव में बहुत अन्तर होगया है। तत्कालीन पौराणिक स्थिति के अनुसार उस समय चन्द्रकक्षा सूर्य-कक्षा से ऊपर अपनी सत्ता रखती थी। न केवल उस समय ही अपितु यदि उसी सुमेरु-पृष्ठ से कक्षाओं की व्यवस्था का विचार किया जाता है तो आज भी चन्द्रकक्षा सूर्यकक्षा से ऊपर भागस्था ही मिलती है।

अध्ययनशील पाठकों को यह विदित ही है कि पुराण चन्द्रमा को सूर्य से ऊपर मानता है। इधर यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह होता हुआ पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है जैसाकि आगे के— पुरा क्रूरस्य विसृपो इत्यादि मन्त्र व्याख्यान में स्पष्ट होने वाला है। सुमेरु स्थान पर ध्रुव–नक्षत्र (पुराण समय में) सीधा मस्तक पर (खस्वस्तिक पर) आजाता है। भूपिण्ड का तिर्यग् भाव हो जाता है। जिसप्रकार एक नागदन्त (खूंटी) पर डोरी से बंधी हुई कन्दुक (गेंद) ठीक सीधी लटकी रहती है मेरुस्थान पर भूपिण्ड की ठीक यही दशा रहती है। यहां तिर्यग् विष्वद्वृत्त सर्वथा साम्य पूर्वापर रहता है। ध्रुव एक स्थिर कीलक है। उससे निकलने वाली ध्रौवविद्युत् ही रश्मिसूत्र है। इसी सूत्र में भूपिण्ड बद्ध है। लीलामय जगदीश्वर ने भूपिण्डरूप कन्दुक को ध्रुवकीलक में विद्युत् रूप सूत्र से बांध कर सीधी लटका रक्खी है।

इस स्थान से यदि आप चन्द्रकक्षा की स्थिति का समन्वय करेंगे तो इसका शर (विक्षेप) २७० कला (४ अंश ३० कला) का होगा। उधर सूर्यविक्षेप पाश्चात्यों के मतानुसार एक कलामात्र है। इसप्रकार चन्द्रमा सारक्रान्तिवृत्त से ४ अंश ३० कला क्रमशः दक्षिण और उत्तर भाग में जाता है। इस शर की अपेक्षा से चन्द्रकक्षा अवश्य ही सूर्यकक्षा से बाहिर तक चली जाती है। उधर हमारे पुराण का ज्योतिश्चक्र विभाग (खगोलविभाग) मेरु को प्रधान मान कर ही आगे चलता है। अपनी इसी मेरुसम्बन्धिनी-परिभाषा का लक्ष्य में रखकर (चन्द्रकक्षा को सूर्यकक्षा से बहिर्भूत समझते हुए) पुराणने (भाग-वतादि ने) चन्द्रमा को सूर्य से ऊपर बतला दिया है। प्रत्येक शास्त्र की भिन्न भिन्न परिभाषाएँ होती हैं। उन परिभाषाओं का मौलिक-रहस्य समझे बिना तत्परिभाषाधारेण प्रतिष्ठित तत् सिद्धान्तों पर आक्षेप करना अज्ञता है।

सुमेरु पौराणिक भुवनकोश की आधारभूमि क्यों है? इसका उत्तर वही प्रकृत तत्त्व है जैसाकि आख्यान के आधिदैविकरहस्य में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। प्रकृत ऐतिहासिक प्रकरण में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि जिसे वर्त्तमान भौगोलिक उत्तरध्रुवप्रदेश कहते हैं वही पुराण का सुमेरुप्रदेश है। सुमेरु कुमेरु का क्रमशः उत्तर दक्षिण ध्रुव के साथ सम्बन्ध है। वर्तुल भूपिण्ड की वह बिन्दु जिसके खस्वस्तिक पर (ठीक मस्तक पर) उत्तरध्रुव नक्षत्र है वही प्रदेश सुमेरु है। भूपिण्ड की वह बिन्दु जिसके अधःस्वस्तिक पर (ठीक पैरों की ओर) दक्षिण ध्रुव है वही प्रदेश कुमेरु

है। इस सुमेरु कुमेरु के सञ्चालक उत्तर दक्षिण–ध्रुव है। भगवान् स्वयम्भू प्रजापतिने सुमेरु–कुमेरु रूप भपिण्ड की विषुवत्‌रेखा को मूल मानकर दृश्य अदृश्य दो विभाग कर दिए हैं। यही विषुवद्रेखा **उत्तर गोलार्द्ध–दक्षिणगोलार्द्ध** की विभाजक रेखा है। विषुवद् से ऊपर की ओर का उत्तरगोलार्द्ध (विषुवद् से उत्तर की ओर रहने वाले अस्मदादि की अपेक्षा से) **दृश्यभाग है** एवं दक्षिणगोलार्द्ध **अदृश्य–भूभाग** है। वर्त्तमान भौगोलिक भी इसी व्यवस्था से भूप्रदेशों को सुव्यवस्थित करते हैं। ब्रह्मा ने किस क्रम से इनमें देशविभाग माना ? इसके पहिले वर्त्तमान भौगोलिकों की व्यवस्था का स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाता है। इसका कारण यही है कि पौराणिक भूगोल पुराण की पठन पाठन प्रणाली के अभाव से प्रायः लोगों की दृष्टि से तिरोहित होरहा है। आज भारतीय शिक्षित समाज उन पौराणिक **देशविशेषों** के नामों से भी अपरिचित है। ऐसी अवस्था में यदि हम केवल पौराणिक भूगोल का ही स्वरूप बतलाते हैं तो एक प्रकार से हमारा यह प्रयास व्यर्थ जाता है। अतएव अप्रासङ्गिक समझते हुए भी प्रकरणसङ्गति के लिए अत्यन्त सङ्क्षेप से नवीन [वर्त्तमान] दृष्टिकोण का स्वरूप बतलाना आवश्यक मान लिया गया है।

पाश्चात्यों की सम्पूर्ण व्यवस्था **ग्रीनवीच** को मध्यरेखा मान कर हुई है। जिसप्रकार हमारी भूमध्यरेखा का आलम्बन **उज्जैन है** तथैव उन की प्रथम–मध्याह्नरेखा ग्रीनवीच से सम्बन्ध रखती है। हमारा मध्यरेखास्थान ग्रीनवीच से ८० देशान्तर पर माना जाता है। इसी अभिप्राय से यह रेखा भूगोल शिक्षण में **अस्सीपूर्वीदेशान्तर** नाम से प्रसिद्ध है। यही भारतवर्ष की प्रथम मध्याह्नरेखा है। सुप्रसिद्ध विषुवद्वृत्त भी वर्त्तमान में **भूमध्यरेखा** नाम से व्यवहृत करने योग्य है। अपनी सुविधा के अनुसार ३६० **ध्रुवप्रोतवृत्तों** किंवा **मेरुप्रोतवृत्तों में** से किसी भी एक रेखा को भूमध्यरेखा मान लेना केवल कल्पना है। इस **काल्पनिकी भूमध्यरेखा** के एवं **वास्तविक भूमध्यरेखा** के पृथक्करण के लिए दोनों के क्रमशः **प्रथममध्याह्नरेखा** एवं **भूमध्यरेखा** ये नाम रख दिए हैं। हमारे यहां इन दोनों को क्रमशः **भूमध्यरेखा (प्रथममध्याह्नरेखा)** एवं **विषुवद्वृत्त** इन नामों से व्यवहृत किया है। विषुवद्रेखा में दोनों की समानता है। प्रथममध्याह्नरेखा दोनों की पृथक् पृथक् है। दोनों में ८० देशान्तर का अन्तर है। पाश्चात्य **भूगोल–विद्या के** अनुसार दृश्य क्षितिजरूप **दृश्य–उत्तरी गोलार्द्ध** में एवं **अदृश्य–गोलार्द्ध** में निम्नलिखित प्रदेश है।

१--एशिया २—समस्त योरोप ३—उत्तर अमारका ४—दक्षिण अमारका का उत्तरा भाग ५—पश्चिमी द्वीप समूह ६—मिश्र ७— सहारा'* नाम का सुप्रासद्ध मरुस्थल ८—टिपुली–आदि	उत्तरा गोलार्द्ध (दृश्य क्षितिज) का भूभाग
१—आस्ट्रेलिया २—न्यूजीलेन्ड ३--दक्षिण अमेरिका ४--दक्षिण अफ्रीका ५--एन्टार्टिका आदि –	दक्षिणा गोलार्द्ध (अदृश्य क्षितिज) का भूभाग

क्षेत्रफल के अनुपात से दोनो गोलार्द्धों मे का अन्तर है। अर्थात् उत्तरी गोलार्द्ध मे भूप्रदेश दक्षिणी गोलार्द्ध की अपेक्षा तिगुना है। उत्तरी गोलार्द्ध के एशियाभाग म अबस्तान मयसापोटमिया जूडिया एशिया-माइनर इरान अफगानिस्तान अबीसीनिया तिब्बत तुर्किस्तान रूस मगोलिया चीन जापान भारतवष वर्म्मा श्याम अनाम कम्बोडिया मचूरिया जापान पूर्वीरूस आ प्रान्ता का समावश माना जाता है। एडमन नीकोबर यवद्वीप लुम्बक सुम्नाफ्लारीन आदि स युक्त नागद्वीप–सव ब्रूनाई सीलान आदि उपद्वीपो का भी एशियायी खण्ड म ही अन्तर्भाव है। भारतीय–उपद्वीपसंघ अंग्रेजीभाषा में इडियनआर्किपैलगा नाम स प्रसिद्ध है।

पाश्चात्यो की इस भूगोल व्यवस्था के सम्बन्ध में एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है। इन की भौगोलिक व्यवस्था का भूपिण्ड के साथ सम्बन्ध न होकर राजशासन के साथ ही सम्बन्ध है। जस जसे राज्यसीमा घटती बढ़ती रहती है तदनुसार ही ये महानुभाव तत्तत् प्रान्तो को एक दूसरे प्रान्तो के

---

* यह मरुस्थल सब से बडा माना जाता है।

– यह दक्षिणध्रुव के समीप का सब से बडा ऊसर भूमाग है। जहा समस्त योरोप का क्षेत्रफल ३८ लाख वर्गमील है वहा केवल इस एन्टार्टिका का क्षेत्रफल ५ लाख वर्गमील है। यह भूभाग तुषाराच्छन्न [बर्फीला] है सर्वथा निर्जन है। यहा केवल डगन नाम की महाभयानक पशुजाति उपलब्ध होती है। कुछ एक पक्षी भी हैं। यहां के समुद्र में विशेषत ह्वेल मछली उपलब्ध होती है।

सा त मिलाया करत हे एव पृथक किया करते हे। ऐसी अवस्था मे न की भौगोलिक यव था को स्थिर नहीं क । जासकता। न वर हमारी भ गालिक यवस्था स वथा स्थिर है एव आक पा त स्थिर रहेगी। हम अपनी मूखता स भले ही न अवन प्रा ना का अपने हाथ से खो बैठ। पर तु जबतक हमारा साहित्य जीवित है तबतक काई भी शक्ति हम अपन प्रजापात्त त दायभाग से प्रथक नहीं कर सकना। पूव के दश विभागों स पाठकों को यह वि त होगया होगा क भारतवष आज ी भूगोल यवस्था के अनुसार एक छोटासा ा वण्ड है। आश्चय्य तो यह है क नाममात्र का भा तवष भी आज हमारा नहीं है। पामीरवदेश में ह लाग किसी समय रहत थ। वहा से आकर क्रमश स य बनते हुए हम लोगो न भारतद्वीप में रहने वाली अनाय्यजातयों को मार भगाया। इसप्रकार अपने बल स ह पराजित कर हम यहा बस गए। सच बात है— वीरभाग्या वसुन्धरा। याद कोई विजेता राष्ट्र आज हम को— भारतवष तुह्मारा ज मस्थान नहीं है तुम भी हमारी ही भाति आग तुक हो। जसा अधिकार इस पर तुह्मारा—वैसा ही हमारा यह कहे तो हमार प्रज्ञाकाश मे क्या प्र युत्तर है?। वर्त्तमान इतिहास भूगोल तो हमे यही सिखाता है कि तुम (हम) आग तुक हो। फिर किस आधार से हम भारत का अपनी ज मभूमि कहे। चाहते है आप इस विप्रतिपत्ति को दूर करने का उपाय? तो आइए पौराणिक भुवनकोशविद्या की शरण म। वह आप को आप क देश का आप क स च इतिहास का स्वरूप बतलावेगा। इस क द्वारा उन मिथ्याप्रचारका का आप यह कहसकगे क हमे भूगाल यवस्था एव इतिहास के सम्ब ध म धोखा दिया गया। समस्त एशियाप्रान्त पर एक छत्र शासन करने वाले हम को धाखा देकर कूपमण्डूक बनाया गया। हमारे इतिहास के स्वरूप को विकृत कर हमे अपने अतीत गौरव स च्युत करते हुए हमारे आ मा को निबल बनाया गया। पर तु दवकृपा स आज हमने अपना दायभाग अपनी सांस्कृतिक—निधि क स्वरूपानुग्रह से उपल ध कर लिया है। तदाधार पर ही आज हमन अपना वास्तविक स्वरूप समझ लिया है। चिरकाल से विलुप्तप्राया यज्ञविद्या का परिचय हम प्राप्त हाचुक है। स्वरूपज्ञानपूर्विका यह यज्ञ—विद्या हम कत्त व्य मक त्तम याकत्त म समथ बना सकती है। अतएव अब काई भी वञ्चक हमारी प्रतारणा नहीं कर सकता।

भुवनकोश के स ब ध मे देशविभाग दो प्रकार स यवस्थित किए जाते है। रा यशासन को प्रधान मान कर देशों को अपना सुविधानुसार यवस्थित करना एक प्रकार है। इसी का हम शासनकृत विभाग कहते है। जो राजा सै यबल स जिन दशो को अपने अधिकार म कर लेता है वह अपनी इच्छा—नुसार अपने राष्ट्र—नाम के अनुरूप नामो से उन की यवस्था कर दता है। कहना न होगा कि यह भौगोलिक यवस्था सर्वथा अनि य है। यही कारण है क कुछ समय पूव बर्म्मा को भारतवष स पृथक कर दिया गया था आज पुन व र्मा भारतवष के सन्निकट आगया है। जो गा धार दश भारतीयो का दश था वही शासन पद्धति के प्रभाव स आज अफगानिस्तान क धार आद नामो से प्रसिद्ध होरहा है। हिङ्गलदेश पहिले सुवास्तु नाम स यवहृत हुआ आज वही बिलोचिस्तान नाम स प्रसिद्ध होरहा है। पारस्थान आज पर्शिया कहला रहा है। इसी राजशासन की कृपा से आज हमारा पश्चिमभारतवष अफगानिस्तान खुरासान इरान आद नामो से प्रसिद्ध होरहा है। आज पश्चिम भारतवष अपने नाम को छोड बैठा है। भारतवप श द केवल हि दुस्तान मात्र में ही सकुचित होगया है।

दूसर है भौगालिक—गणित यवस्था। इस यवस्था म तो न य भा का क इ महत्त्व नहीं ह। प्राकृतिक धर्म्मा की पूर्ण परीक्षा कर भार ीय ऋषियोंन आ य अना शा का गाणतानुसार जो यवस्था की है वही अ ल ह। और वही हमारे लिए मान्य है।

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावत ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वत पर ॥
—मनु । ३।

उक्त मनुवचन के अनुसार ध म देश प्रकृति के अनुसार नियत ह कितने ही नाम ब ल दीजिए। लेखनी आप के हाथ में है। मनमाना इति ास लिख डालए। हम तो अपने **आमभु त्तु प्रवादास-मुद्रात्तु पश्चिमात** इसी सिद्धान्त को स्थिर मानगे।

कहना अप्रासङ्गिक होगा परन्तु क ाबना ही र ा जाता। दिगद शलानुबा धनी उपयोगता के यामोहन से निरतिशयरूपेण व्यामुग्ध आज क कतिपय प्र तिष्ठ लो क स्थभूत माम यक उदगार सुने जारहे हे कि— जिस समय दश के स मुख **अन्न वस्त्र** का प्रश्न उपस्थित हा जिस युग म दश-वासियों का दोनो समय पेट भर भोजन भी नहीं मिल रहा हो ऐसे भीषण युग म तुह्मारे **विज्ञानचमत्कार** को कौन सुनेगा?। **वैदिक** एव **पाराणिक-साहित्य** से वत्तमान युग म द न क्या भला होगा?। आज तो हम सब स पहिले चाहिये **अन्न-वस्त्र**। जब य प्रश्न समा वत हाजायगा तभी तुह्मारी सा ि य चर्चा का अवसर आएगा। अभी तो अपने पोथी पत्रे बाध कर ताक मे रग दीन और हमारे साथ कार्य क्षेत्र में आजाइए। रुइ धुनिए ताना-बाना लगाकर वस्त्र बना ए खेती कीजए ।

बात यथाथ ह। सचमुच श में उदरचिन्ताने महामारी से भी अधिक सवनाश का उपक्रम कर रक्खा है। परन्तु इस का कारण?। क्या भारतवष मे प याप्त कार्पास (कपास) उ पन्न नही होता?। क्या भारत से कृषकजाति उठ ग । क्या जुलाहा—जाति का उच्छेद होगया?। नही तो फिर क्या दश बुभुक्षा से पीडित हो रहा है?। सब कुछ साधन होत हुए भी हम क्यो अन्न म वञ्चित हो रहे ह?। अथवा तो वाञ्चत किए जारहे ह?। हमारी सामान्य-बुद्धि के अनुसार तो इन सब प्रश्नो का एकमात्र उत्तर है-

अशिक्षा अपने वास्तविक स्वरूपज्ञान से वञ्चित रहना। पशुपति बनने क लिए ज्ञानबल ही अपेक्षित है। बिना ज्ञान क पशुप ति भी पशु बनकर ज्ञानयुक्त पशुपति का भो य बन जाता है। जबतक वैदिक पाराणिक ज्ञानराशि हमार हाथ म रही तबतक हम पशुपति रहे। विश्वसम्पत्ति हमारी भोग्य बना रही। जिस दिन स यह ज्ञानराशि हमार हाथ से निकल गइ उसी दिन से हम अपने उच्चासन से गिरते हुए विश्व के पशु ही बन गए।

इधर ज्ञान भी मिला तो उच्छिष्ट। क्या दूसरो के उच्छि ान्न से हमारा ज्ञान कभी स्वस्वरूप से ाम्मल रह सकता है?। फल इस उच्छिष्ट ज्ञान का यह हुआ कि हम अपने इस दूषित ज्ञान से अपने सह चरो का भी स्वरूप विकृत करने लग पड। शिक्षित नामधारी उच्छिष्टभोगियोंने अपने आप को पशुता के वातावरण में रखत हुए सभी का इस माग में दीक्षित करना आर भ कर दिया। स्वाशक्षाशू या इसी **पशुवृत्ति** के

कारण आज सब कुछ होत हुए भी हमारे उपभोग के लिए कुछ भी न रह । हमारा तो यह दृढ विश्वास है कि जबतक भारतवर्ष अपने अतीन वादक–साहि य का गौरव न समझ लेगा जबतक यह अपने मूलसस्कृ–तिरूप दिक साहि य को न अपना लेगा तबतक प्रय न सहस्त्रो से भी यह सुखी नही होसकता। रात दिन चर्खा कातते रहिय कपास धुनिए खेती कीजिए कभी आप इनके भोक्ता नही बन सकगे। भोक्ता बनने के लिए आ मबल चाहिए। आ मबल के लिए ज्ञानसामग्री चाहिए। वह भी मौलिक स्वस्वरूप को स्वसस्कृति को स्व आदश को सुरक्षित रखने वाला ज्ञानबल। वह मिलेगा आपको निगम आगम–शास्त्र मे वेद पुराण म आ मबल की पराकाष्ठा पर पहु चे हु ऋषियो के वाक्यसग्रहरूप शब्दब्रह्म में। यदि आपकी दृष्टि मे इनका उ योग नही तो फिर हमें बा य होकर देश का सवनाश निश्चित है ये ही अक्षर अपने मुख स निकालने पडेंगे। इनकी उपेक्षा क अबतक आपने क्या कर लिया? एव भवि य में आप क्या उन्नति कर लगे? सका उत्तर तो आपको कालपुरुष ही देगा। और आपके कर्म्मों का फल भोगती हुइ आपकी भाव यत्–प्रजा ही दगी।

प्रत्यक राष्ट्र का मौलिक साहित्य ही उस राष्ट्र का प्राण है। जबतक राष्ट्र का साहि य सुर–क्षित रहता है तभीतक वह राष्ट्र स्वस्वरूप म प्रतिष्ठित रहता है। स्वसाहि य का तिरस्कार कर राष्ट्रस्वरूपसघातक परसाहि य को अपनाते हुए उन्नति के शिखर पर पहु चने की आशा करना केवल दुराशा मात्र ही है। एक परत त्र घोड का गधा बन कर स्वतन्त्र होने की अपेक्षा हम उसकी परत त्रावस्था कहीं उत्तम समझते है। हम पहिले अपनी स्वरूपरक्षा चाहते है। हम चाहत है–हमारा भारतीयत्त्व अक्षुण्ण बना रहे फिर हम आगे बढ । इसके लिए केवल रेजी (खद्दर) पहिनना ही पर्याप्त नही है। तकली चलाने से ही हमारे कत्त य की सीमा समा त नही होजाती। हम अपने साहि य की तत्प्रणाता ऋषियो की नि दा करत जाय अपने धार्म्मिक आ र्शों को छोडते जाय और फिर उन्नति का डिण्डिम घोष कर कभी हमारा अ युदय नही होसकता। यदि आप गीता के परमभक्त है तो मानिए भगवान् के निम्न लिखित आदश को–

य शास्त्रविधिमुत्सृ य वत्त ते कामकारत ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुख न परा गतिम् ॥१॥
तस्मा छास्त्र प्रमाण ते का र्याकार्य्य यवस्थितो ।
ज्ञा त्वा शास्त्रविधानोक्त कर्म्मकत्त मिहार्हसि ॥२॥

स यता सस्कृति आदर्श ही राष्ट्र क जीवन है। इनका मूलस्रोत राष्ट्र का मौलिकसाहित्य ही है। प्रत्येक राष्ट्र के लिए अपनी स्वरूप रक्षा के लिए अपने मौलिक साहित्य की रक्षा करना नितान्त आवश्यक है। शि प–वाणि य–कला–विज्ञान–धर्म्म नीति आचार–व्यवहार–सब कुछ आपके साहि य में प्रतिष्ठित है। बिना साहि य के अ युदय के नाममात्र का भी अधिकार नही मिल सकता। इन सब परिस्थितियो पर मुकुलितनयन बन कर शा तचित्त से विचार कीजिए फिर हम से– देश का साहि य की इस समय क्या आव श्यकता है? य प्रश्न कीजिए। यदि आपने यत्किञ्चित् विचार से काम लिया तो स्वय ही आपको अपने इस भावुकतापूर्ण प्रश्न का उत्तर उपल ध होजायगा।

ब् न हुआ । चालए आज हम आपका आपके भारतवष म न चल । आपको यह बतलाए कि आप का राजशासन कहातक याप्त था ? । आप किन किन दशा पर अ ना प्रभ त्र रखत थ ? । एव अप मालिक साह य की उपक्षा कर किस प्रकार आपने अपना वरा यप विस्मृत कर । या ? । आपकी स यता क वर्णाश्रमधम्म क चातुराश्रम्यवस्था क लोकविभाग के मूलप्रवत्त क भगवान् ब्रह्मप्रजापातने स पूण भू पण्ड को वि वदवृत्त के आधार पर दृश्य अदृश्य मे स ो भागो म विभक्त किया । भूपिण्ड को उन्होंन कमल माना । कमल मान कर उसके प्रधान ४ पत्रो की क पना की । वि वदवृत्त ३ अश का है । प्रत्येक पत्र ६ अश का हुआ । वि वदवृत्त के केन्द्रीभूत सुमरु को कर्णिका (कमलगन्ध) माना गया । यही भू यवस्था पुराणो म पाद्मभुवनकोश नाम स प्रासद्ध हुइ । आपो व पुष्करपणम् इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार स भूपिण्ड का नि र्माण पद्म मे ही हुआ है नसाकि पूर्व के स्त वयजु हरणोपा ख्यान म निदानविद्या के प्रसङ्ग मे विस्तार से बतला दिया गया है ।

इसी प्राकृतक पद्मभाव का लक्ष्य म रखकर प्रजापातने प मरूप से ही पृथिवी का विभाग ि या । स्वय प्रजापात मरुस्थ हिरण्यशृङ्ग पवत पर प्रातष्ठत हुए इसा अवस्था का लक्ष्य म रखकर प्रा य सस्कृति की प्रतिमर्त्ति स्वर्गीय श्रद्ध य श्रीबालगङ्गाधर तिलकने आ या का मूल प्रतिष्ठा सुमरु का माना है । यद्यपि— आर्य्यलाग सुमरु स्थान से आग बढकर आए स सिद्धा त स हम सहमत नहा है । तथापि सुमेरु-आ या की प्रतिष्ठाभमि था यह सवमा य सिद्धा त है । महापुरुष तिलक के इस अश पर हमें काइ विप्रतिपत्ति नहा है । सचमुच पुराणयुग में आ यसस्कृति के मूलप्रवत्तक भगवान् प्रजापात सुमरु पर ही प्रतिष्ठित थ । इस सुमेरु स उत्तर-दक्षिण-पूव-पश्चिम रूप से ९ ६ अश के चार खण्ड किए गए । ये ही चारो भपद्म क पत्र क लाए । इसी रहस्य को ल य म रखकर आर्यसवस्वशास्त्र (पुराणशास्त्र) कहता है—

*पद्म नाभ्युद्भ । चेक समुत्पादितवास्तत ॥
सहस्रवर्ण विरजं भास्कराभ हिरण्मयम् ॥१॥
पद्म हिरण्मय तस्मिन्नसृजद् भूरिवर्चसम् ॥
स्रष्टार स लोकाना ब्रह्माण सर्वतोमुखम् ॥२॥
तच्च पद्म पुराभूत पृथिवीरूपमुत्तमम् ॥
यत् पद्म सा रसादेवी पथिवी परिकथ्यते ॥३॥
एव नारायणस्यार्थे महीपुष्करसम्भवा ॥
प्रादुर्भावोऽप्ययन तस्मान्नाम्ना पुष्कर' सज्ञित ॥४॥

—पद्मपुराण सृ ख ४ अ
—मत्स्यपुराण १६६ अ

---

* इन सम्पूर्ण पुराणवचनो का अ यात्म अधिदैवत अधिभूत तीनो विवर्त्तों के साथ सम्ब ध सम-झना चाहिए । प्रकृत में आधिभौतिक-दृष्टि का प्रधान मानत हुए ही ये श्लोक उद्ध त हुए ह ।

तदतत् पार्थिव पद्म चतुष्पत्र मयोदितम् ॥
भद्राश्वभारताद्यानि पत्राण्यस्य चतुर्दिशम ॥१॥
—मार्कण्डयपुराण

भारता केतुमालाश्च भद्राश्वा कुरवस्तथा ॥
पत्राणि लोकपद्मस्य मर्यादाशलबाह्यत ॥
—ब्रह्मपुराण १६ अ ५ श्लो

इसप्रकार मरु स चा । ओर वि वदवच्छिन्न दृश्य–उत्तरी–गोलार्द्ध म पुराणन समरूप स ४ पत्र मा है । सुतरा पत्रा मक प्र येक खण्ड का ६ ६ अ शा मक होना सिद्ध होजाता है । सी रहस्य को लक्ष्य म रखकर भूगोला याय कहता है–

भूवत्तपादे पू स्या × यमकोटीति विश्रुता ॥
भद्राश्ववर्षे नगरी स्वर्णप्राकारतोरणा ॥१॥
–याम्यायां भारते वर्षे लङ्का तद्वन्महापुरी ॥
×पश्चिमे केतुमालाख्य रोमकाख्या प्रकीर्तिता ॥२॥
+उदक् सिद्धपुरी नाम कुरुवर्षे प्रकीर्तिता ॥
भूवत्तपादविवरास्ताश्च योऽ य प्रतिष्ठिता ॥३॥
तासामुपरगो याति विषुवस्थो दिवाकर ॥
न तासु विषुव छाया नाक्षस्योन्नतरिष्यते ॥४॥
—सूर्यसिद्धान्ते भूगोला याय

आग जाकर उपर्युक्त चार वर्षा के आठ वर्ष होजाते है । दूसरे * श दा में चतुर्दलकमल अष्टदलकमल में परिणत होजाता है । ब्राह्मभुवनकोश (ब्रह्मपुराण म प्रातगा त भुवनकोश) के अनुसार भूपिण्ड को अष्टदलकमल ही माना गया है । इसी पुराण के अनुसार य दृश्य भूपद्म जम्बूद्वीप नाम स प्रसिद्ध ह जसा कि आग जाकर स्पष्ट होजायगा । ज बुद्वीपरूप दृश्य उत्तरी–गोलार्द्ध के केन्द्रभूत कर्णिका रूप मरु का मान बतलाता हुआ ब्रह्मपुराण कहता है कि–यह मरुदण्ड वि वदधरातल स — ८४

× जापान पूर्व में । — लङ्का दक्षिण म । + रोमदेश पश्चिम में । × सिद्धपुर उत्तर में ।

* वामनपुराणने इसी अष्टदलकमला मक नववर्षा मक भूपद्म का निरूपण किया ह ।

— यान रहे जिसप्रकार पुराणपरिभाषा के अनुसार आयु सम्ब ध में सहस्रादि श दो का साङ्केतिक अर्थ है तथव मानसाधक इन साहस्रियो का भी साङ्केतिक ही अर्थ है । बिना इस साङ्केतिक विद्यारहस्य को समझ इन पौराणिक मानो पर ऊहापोह करना निरर्थक है । विस्तारभय स इन सब विषयो का प्रकृत में निरूपण नही किया जासकता । इसके लिए तो स्वतन्त्ररूप स लिखा हुआ पुराणरहस्य नामक ग्र थ ही द्रष्ट य है ।

(चौरासी हजार) योजन तो ऊ चा है जिसम १६ (सोलह ग्जार) याजन भूगभ म प्रविष्ट है ३ (बत्तीस हजार) योजन ऊपर के शिरोभाग म चौडा है एव (सोलह हजार) योजन का उसका यास (डायामटर वि क भ) है। भारतवष किंपुरुषवष हरिवष-ये तीन वष तथाविध मरु स दक्षिण मे ह। रम्यकवर्ष हिरण्मयवर्ष कुरुवष ये तीन वष मे स उत्तर म ह। भद्राश्ववष मरु से पूव म है। एव केतुमालवर्ष मरु से पश्चिम म है। प्रत्येक वष का मान ९ (नौहजार) योजन है। इन आठ वर्षों के अतिरिक्त ९ वा इलावृत नाम का प्रधान वष इन आठो वषा के मध्य म मेरु प्रदेश के चारो ओर या त है। उसका मान भी ९ योजन ही समझना चाहिए।

प्रकारान्तर स यो समझिए कि-मेरु से पूर्व भद्राश्ववर्ष मेरु से आग्नेय कोण म किंपुरुषवष (पुराणान्तर म किन्नरवर्ष नाम से भी यवहृत हुआ है) मेरु से दक्षिण मे भारतवष मेरु से नैऋतकोण म हरिवर्ष मरु से पश्चिम म केतुमालवष मेरु क वाय यकोण म रम्यकवर्ष एव ईशानकोण म हिरण्मयवर्ष है। अग्निकोण दक्षिण नैऋतकोण तीनो का दक्षिणादिक् शब्द से ग्रहण होता है वाय यकोण उत्तर ईशानकोण तीनो का उत्तरादिक श द स ग्रहण होता ह। दूसरे श दो में अग्निकोण नैऋतकोण का दक्षिणदिशा में अ तभाव ह एव वाय यकोण ईशानकोण का उत्तरदिशा में अ तर्भाव है। आगे के चित्रपट से इन ९ वर्षो का स्वरूप सम्यगरूप से प होजाता है।

इन वर्षों के सम्ब ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। पुराणशास्त्र का यह सिद्धा त है कि मेरु सब वर्षों से उत्तर म प्रतिष्ठित है जसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट होजाता ह—

'सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरत स्थित ।"

– ब्रह्मपुराण।

इधर पूवप्रकरण में हमने किसी वष को मरु से दक्षिण बतलाया है किसी को पश्चिम एव किसी को पूव। ऐसी अवस्था में यदि मेरु उत्तर होसकता है तो दक्षिणस्थ किन्नर हरि-भारत इन तीन वर्षों स ही उत्तर होसकता है। फिर सब के लिए सामा यरूप से सर्वेषामेव-उत्तरत स्थित यह कसे कहा गया ?। उत्तर वही परिभाषातत्त्व है। स्तम्भयजुहरण में यह बतलाया जाचुका है कि उत्तर श द केन्द्र का वाचक है एव दक्षिण शब्द परिधि का वाचक है। ऊ व उत्तर ऊँचा केन्द्र ये सब श द अभिन्नार्थक हैं। अध-दक्षिण-नीचा-परिधि-ये सब श द अभिन्नार्थक ह। विष्ववृत्त-परिधि का केन्द्र मेरुस्थान है। यही सब वर्षों का केन्द्र है। के द्रभाव ही उत्तर है। मेरु के इस के द्ररूप उत्तरभाव को लक्ष्य म रखकर ही-मेरुरुत्तरत स्थित यह कहा गया है।

मेरु के चारो ओर हमने नवसहस्रयोजनात्मक इलावृतवष की सत्ता बतलाई है। इस इलावृतवष की चारो दिशाओ में चार सर एव चार महावन है। मेरु से किंवा इलावृतवष से पूव म चैत्ररथ नाम का महावन है एव अरुणोदय नाम का सर है। दक्षिण में ग धमादनवन है एव मानससर है। यही ग धमादनवन पुराणा तर में न दनवन नाम से यवहृत हुआ है। पश्चिम मे वभ्रावन है एव असितोद नाम का सर है। यही असितोद पुराणा तर में शीतोद नाम स व्यवहृत हुआ है। उत्तर म

सावित्रवन है एवं **महाभद्र** नाम का सर है। कहीं कहीं सावित्रवन को भी **नन्दनवन** नाम से व्यवहृत कर दिया गया है। इन चार **महासरों** एवं **महावनों** से वेष्टित इलावृतवर्षावच्छिन्न मरुप्रदेश ही पुराणों में **पार्थिवस्वर्ग** नाम से प्रसिद्ध हुआ है जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। इस पार्थिवस्वर्ग की सीमा पर सीमासम्पादक ६ वर्षपर्वत हैं। १ हिमवान् २ हेमकूट ३ निषध ये तीन पर्वत मेरुस्वर्ग की दक्षिण-सीमा में हैं। १ नील २ श्वेत- ३ शृङ्गवान्—ये तीन पर्वत स्वर्ग की उत्तर सीमा में प्रतिष्ठित हैं। इनका विस्तार पूर्वापर (पूर्वपश्चिम) है। अनेक पादपर्वतों की श्रेणियां इन कुलपर्वतों के साथ संलग्न हैं। वे अवान्तर पर्वत-श्रेणियां पुराण में **शाखाशैल** नाम से व्यवहृत हुई हैं। **निषध** एवं **नीलपर्वत** से आरम्भ कर दक्षिणोत्तर फैले हुए १ माल्यवान् २ गन्धमादन नाम के दो **कुलपर्वत** मेरुमध्यस्थान में हैं। ६ वां सर्वप्रधान **हिरण्यशृङ्ग**-पर्वत है। इन्हीं ८ वर्षपर्वतों का दिग्दर्शन कराते हुए पुराणपुरुष भगवान् व्यास कहते हैं—

हिमवान् हेमकूटश्च निषधो दक्षिणे त्रयः।
नीलः श्वेतः, शृङ्गवांश्च मेरोरुत्तरतस्त्रयः ॥ १ ॥
पूर्वापरायता एते षडपि प्रायशोऽचलाः ॥
शाखाशैलैरसंख्यातैर्विप्रकीर्णैरुपाचिताः ॥ २ ॥
आनीलनिषधायामौ माल्यवद् गन्धमादनौ ॥
तौ दक्षिणोत्तरायामौ मेरुर्मध्यगतस्तयोः ॥ ३ ॥
पार्थिवस्वर्गसीमानो नव ते वर्षपर्वताः ॥
पर्वतश्रेणिरूपास्ते पादपर्वतसंकुलाः ॥ ४ ॥
हिमवान् दक्षिणे सीमा शृङ्गवानुत्तरे स्थितः ॥
माल्यवान् पूर्वसीमाऽस्ति पश्चिमे गन्धमादनः ॥ ५ ॥
एषा बाह्यर्धा भूभागो वर्षं तत् 'पद्मपत्रवत्' ॥
पद्मान्तः कर्णिकामेरुमण्डलं ब्रह्मसद्मनः ॥ ६ ॥
लोकपद्मस्थितो ब्रह्मा चातुःसर्ग्यं ससर्ज ह ॥
***वेद-धर्म-प्रजा-लोक-भेदाः सर्गाश्चतुर्विधाः ॥ ७ ॥**

—पुराण

* इन चारों सृष्टियों का विशद निरूपण शतपथविज्ञानभाष्य के पूर्वप्रकाशित-प्रथमखण्ड में किया जाचुका है।

मेरुस्वर्ग की सीमा के सम्पा क चार ।वष्कम्भ पवत ग्रोर ग्रान म रक्खिए। य चारा प त मन्दर ग धमान्न विपुल सुपार्श्व न नामो स सिद्ध ह। जिस समय एशयावर्ग ड म र ।व्यवस्था थी उस समय मरु को वष्टित करन वाले उप युक्त चा ो प ता पर क्रमश कन्म्ब जम्बु पिपल वट नाम के चार कतुवृक्ष (ध्वजा-स्थानाय वृक्ष) थ। मरु क पूवपा व य मन्द ाचलप त प कदम्ब वृक्ष था दाक्षणपाश्वस्थ ग धमा नपवत पर जम्बु (जामून) वृक्ष था। पाश्चमपाश्वस्थ वि लपवत पर ।प पलवृक्ष था एव उत्तरपाश्वस्थ सपा वपवत पर वटवृक्ष था प्र ये वृक्ष की ऊचा १ नाथ थी। ये हा वर्ग की ध्वजाए थी। दूर स ही ये स्वगमाहमा प्रक कर दत थ। स्वय युधिष्ठिरन न्हा कतुवृक्षा म वर्गप्रवेश का पारचय प्रा त किया था।

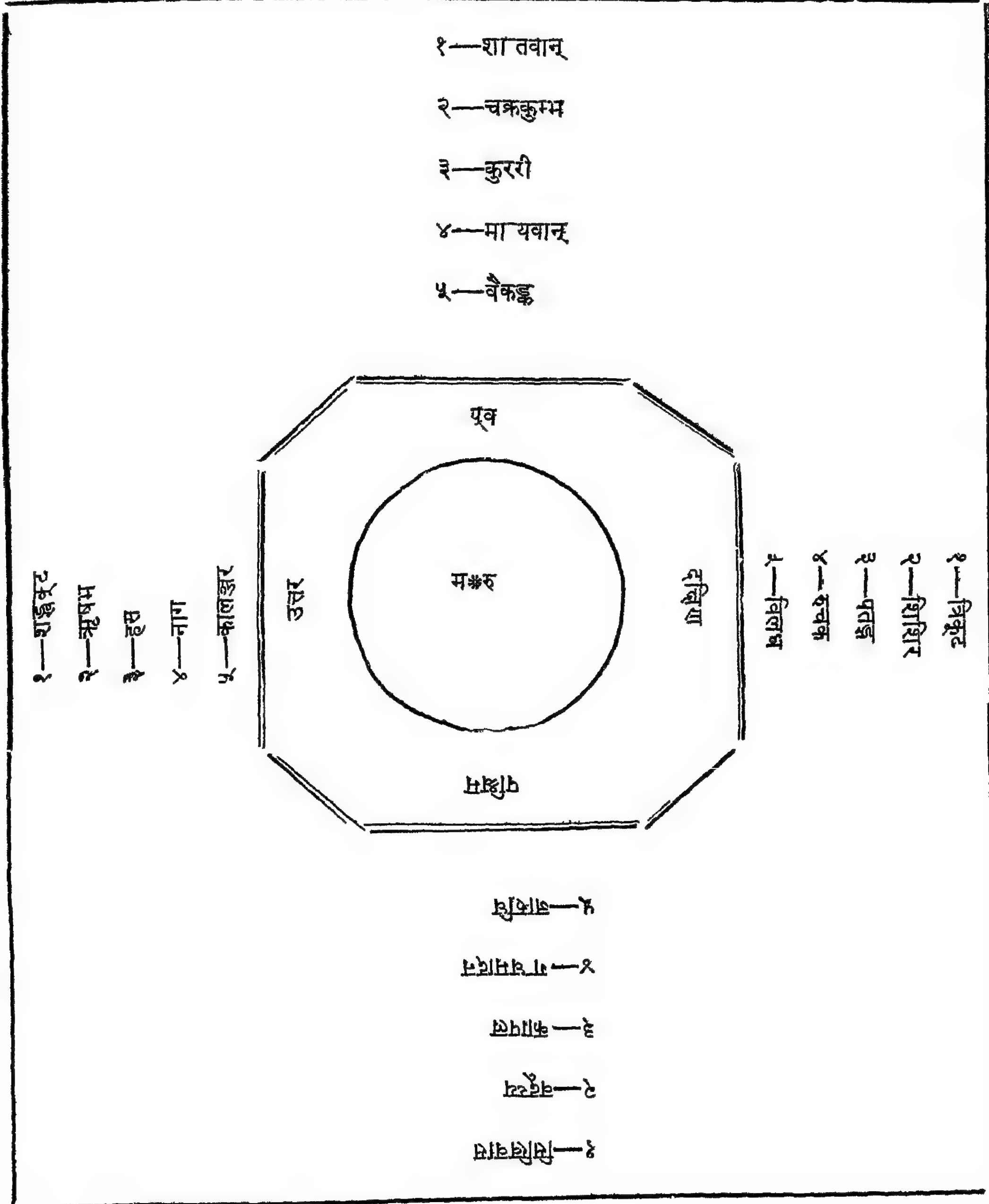
न चारो म दक्षिणभाग म ग धमादनपवत र प्रातष्ठित ज बवृक्ष ी ज बुद्वीप नाम का कारण है। इधर मरु से दक्षिण में भारतवष ह। अतएव ग्रोर किसी वष क साथ विशेषरूप से जम्बु का स बन्ध न मान कर— जम्बुद्वीप भरतखण्ड आर्यावर्त्त कुमारिकाक्षत्र इत्यादि रूप म भारतवष के साथ ही जम्बु नाम का उल्लेख किया जाता है। स जम्बुवृक्ष के म व ध स ही म पवत स निकलन वाली नदी ज बुनद कहलाती है। यहा से निकल कर यह नदी मरु स पाश्च केतुमालवष (योरोपखण्ड) की ओर जाती है जसा कि अनुप म ही स्पष्ट होने वाला है। स न ी की मि ी म सुवर्ण-काणकाए उपल ध होती ह। जम्बु के स बन्ध स ही यह सरग जाम्बुनद नाम स यवहृत हुआ है। ह सवर्ण-कणिकाओ के सम्बन्ध से साधारण जनता म सुमरु का सोन का बतलाया जाता ह। अचला-मरुबिन्दु के सुवणभा का वज्ञानिक कारण ता कुछ और ही है। इस का विग शन प्रप्रतिपा त भुवनकोशप्रकरण म किया जाचुका है। इसी जाम्बुनद सुवर्ण की एव ज बूनदी का प्रशसा करता हुआ पुराण क ता है —

न स्वेदो नच दौग ध्य न जरा नन्द्रिय क्षय ॥
तत्पानस्वस्थमनसा जनाना तत्र जायत ॥
जम्बूनदाख्य भवति सुवर्ण सिद्धभूषणम् ॥ १ ॥

हिमालय के उपवनो म रहने वाली सिद्ध-किन्नर-गन्धर्व-अप्सरा आदि यग जातियाँ इसी जाम्बुनदसुवर्ण के आभूषण पहिना करती थी। सीमासम्पादक पवतो के अतिरिक्त मेरुस चारो ओर २ कसरपवत और थ जैसा कि आगे की तालिका स स्पष्ट होजाता है।

केसर-पवता के अतिरिक्त मेरु स चारो ओर बडी दर पर्यन्त व्याप्त आठ मर्यादापवत और हैं। जठर एव देवकूट नाम के दो मर्यादापवत नील एव निषध नाम के पवता से आर भ कर दक्षिणोत्तर फलते हुए बडी दूर पर्यन्त चले गए है। ये दोनो पवत मरु स पूव म अवस्थित है। गन्धमादन एव कैलास नाम के दो पवत मेरु से दक्षिण म ह। इनकी ल बा ८ योजन (लगभग २५ क्रोश) है। इन का प्रसार पूवपाश्चम है। निषध एव पारियात्र नाम के दो म र्यादापवत पश्चिम में ह। नील निषध से फल कर ये दक्षिणोत्तररूप से व्याप्त है। त्रिशृङ्ग जारुधि नाम के पवत उत्तर में प्रतिष्ठित होते हुए पूर्वपश्चिम की ओर व्याप्त होत हुए पूर्वसमुद्र (प्रशान्तमहासागर) एव पश्चिम समु (मेडिट्रेनियन्सी) पर्यन्त फले हुए हे।

२० -केसरपर्वता —


१—शा तवान्
२—चक्रकुम्भ
३—कुररी
४—मा यवान्
५—वैकङ्क
पूर्व
उत्तर
मेरु
दक्षिण
पश्चिम
१—शङ्खकूट
२—ऋषभ
३—हंस
४—नाग
५—कालञ्जर
१—त्रिकूट
२—शिशिर
३—पतङ्ग
४—रुचक
५—निषध
१—शिखिवास
२—वैडूर्य
३—कपिल
४—गन्धमादन
५—जारुधि

जिस युग का चरित्र हम पाठकों के सम्मुख रख रहे ह उस युग म प्रधानरूप से **नीतितन्त्र** एव गौणरूप से **राजतन्त्र** प्रचलित था। **गणतन्त्रानुगत प्रजात त्र** नातित त्रानुगत राजतन्त्र स मर्यादित था प्रकृतिवत् तन्त्र गो मे। नीतित त्र के सञ्चालक दिक्पाल लोकपाल थ। एव राजत त्र के स चालक स्वयम्भु मनु थ। जो दिक्पाल थ व ही लोकपाल भी थ। उदाहरण के लिये वरुण और चन्द्रमा को ही लीजिये। ये दोनो दवता क्रमश पश्चिम उत्तर दिशा के अधिपति होते हुए दिक्पाल थे। एव भूपराड पर पानी का जितना विभाग था उस सबका प्रब ध पश्चिमस्थ वा लीक—राजधानी म निवास करन वाले **वरुण** के उत्तरदायि व स अनु प्राणित था। वरुण आपोविभाग की व्यवस्था करते थ। इसीप्रकार ओषधियो के व्यवस्थापक तत्सम्ब धी अभि योगो के निर्णायक **चन्द्रमा** थे। इसप्रकार अन्न विभाग के वरुण लोकपाल थ चन्द्रमा ओषधिविभाग के लोक पाल थ। इन आठो दिकपाल-लोकपालो के स्वत त्र राष्ट्र थ। प्र येक की स्वत त्र **विचारसभा** (कौन्सिल) थी। इन सब म स्वर्गाधिपति इन्द्र प्रधान माने जाते थे। वरुणादि जहा **सम्राट्** कहलात थे वहा इन्द्र **स्वाराट्** पद से विभूषित थ।

इन्द्र की सभा में नियामत तिथियो म शेष साता दिकपालो को उपस्थित होकर विचार विनिमय करना पडता था। इसी प्रमुखता के कारण **सुधम्मा** नाम की **इन्द्रसभा** तत्समय म **देवसभा** नाम से प्रसिद्ध होरही थी। **सावी** इन्द्र का रा था। जहा आज **न्यूसाइबीरिया** प्रान्त है जो प्रा त आज असभ्य जॅगली मनुष्यो की आबासभूमि बना हुआ है वही स्थान किसी समय **देवन** की राजधानी था ससार की सर्वोच्च सभ्यता का वही केन्द्र था। असुरो के आक्रमण से यह स्थान बचा हुआ था अतएव तत्समय मे वह प्रदेश **अपराजितादिक्** नाम से प्रसिद्ध था। स्वय ब्रह्मप्रजापति की सभा **कान्तिमती** नाम स प्रसिद्ध थी। ब्रह्मराष्ट **प्राग्ज्योतिष** नाम से व्यवहृत होता था। **भद्रगिरि** एव **चन्द्रगिरि** के मध्य म निवास करनेवाले **विष्णु** एव चतुर्द्दश-सहस्रयोजन परिमिता सुमेरुमध्यस्था **ब्रह्मपुरी** म निवास करनेवाले ब्रह्मा का आसन स्वराट् इन्द्र स भी ऊँचा था। इनकी इन म भी विशेषत ब्रह्मा की आज्ञा सब को मान्य थी। **ब्रह्मा और विष्णु विराट्** नाम स प्रसिद्ध थ। **चन्द्रादि कुछ लोकपाल राजा थे। वरुणादि कुछ लोकपाल सम्राट्** थ। इन्द्र **स्वाराट** थ। ब्रह्मा-विष्णु **विराट्** थ। इन दोनो म विष्णु प्राय इन्द्र क पक्ष में ही अपनी स मति दिया करत थ। क्योकि ये यज्ञ के अधिष्ठात बनते हुए प्रकृति से ही **असुरद्वेषी** थे। विष्णु की गुप्तमन्त्रणा से ही इन्द्रने **अन्नहर्त्ता वराह** नाम के सुप्रसिद्ध असुर को नष्ट किया था। उधर सर्वलोकपितामह ब्रह्मा **देवता और असुर** दोनो पर समान दृष्टि रखते थ। जब देवता असुरो से आक्रान्त होकर प्रजापति की शरण म जाते तो प्रजापति दोनो को नीतिमार्ग से शान्त कर दत थ। ब्रह्मा को दोनो के हितो का पूर्ण ध्यान था। फिर भी असुर **असुर** थ। आगे जाकर ब्रह्मा की उदासीनता से अनुचित लाभ उठात हुए इन दुष्ट-बुद्धि असुरो न देवबल सर्वथा परास्त कर दिया जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में ही कहा जाचुका है। असुर संख्या में भी अधिक थे। एव स्वभाव से भी दुष्ट थ। अतएव प्रजापतिने पृथिवी का **दायभाग** (बटवारा) करते हुए दवताओ की अपेक्षा अ यधिक भूभाग इन्हे दिया। पाञ्चभुवनकोश के व्याज से उसी **आसुरत्रिलोकी** एव **दैवत्रिलोकी** का स्वरूप पाठको के सम्मुख उपस्थित किया जारहा है।

१—मेरुत्रिलोकी—

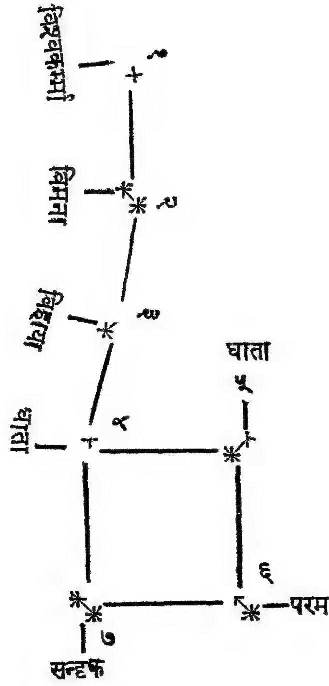
मरुबिन्दु को हमने पू मे दृश्य— त्तरी—गोलार्द्ध का केन्द्र माना है। पुराणयुग से सम्बन्ध रखने वाले जिस नगवर्षात्मक पाद्मभुवनकोश का अबतक निरूपण किया गया है उस समय की स्थिति में और आज की स्थिति म बड़ा अन्तर होगया है। पाद्मभुवनकोश यवस्था—युग मे जिस स्थान पर मरुबिन्दु थी आज वह वहा से हटकर आगे निकल गई है। आज मरुप्रदेश सवथा परिवर्त्तित होगया है। इस का एकमात्र कारण है ध्रुवपारभ्रमण। पृथिवी का पारभ्रमणमार्ग क्रान्तिवृत्त है। इस क्रान्तिवृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र का ही नाम कदम्ब है। सी को नाक— विष्णुपद आदि नामो से व्यवहृत किया जाता है। क्रान्तिवृत्त की प्रत्येक बिन्दु से उत्तरदिकस्थ कदम्ब ६ —अश पर प्रतिष्ठित है। इस कदम्ब के चारो ओर विद्युत्प्राणरूप ध्रुव २४ अश के यासार्द्ध स वृत्त बनाकर पारक्रमा लगाया करता है। ध्रुवविद्युत् की यह पारक्रमा २५ हजार वष में समाप्त होती है। इधर विषुवद्वृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र को ध्रुव कहा जाता है। पृथिवी के विषुवद्वृत्त की प्रत्येक बिन्दु से ध्रुव ६ अश पर है। पृथिवी का केन्द्रस्थ उत्तराग्निस्थान सुमेरु है। यह उत्तर ध्रुव से बद्ध रहता है एव दक्षिणाग्नि की अन्तिम सीमा कुमेरु है। य दक्षिणध्रुव से बद्ध रहता है। ऐसी अवस्था मे ध्रुव यदि स्थिर होता तब तो भूपिण्ड का मेरु प्रदश भी स्थिर ही रहता। परन्तु ध्रुव उपर्युक्त कथनानुसार कदम्ब के चारों ओर क्योंकि घूमता है अतएव तत्स बद्ध मेरु का भी देशत्याग स्वीकार करना पडता है।

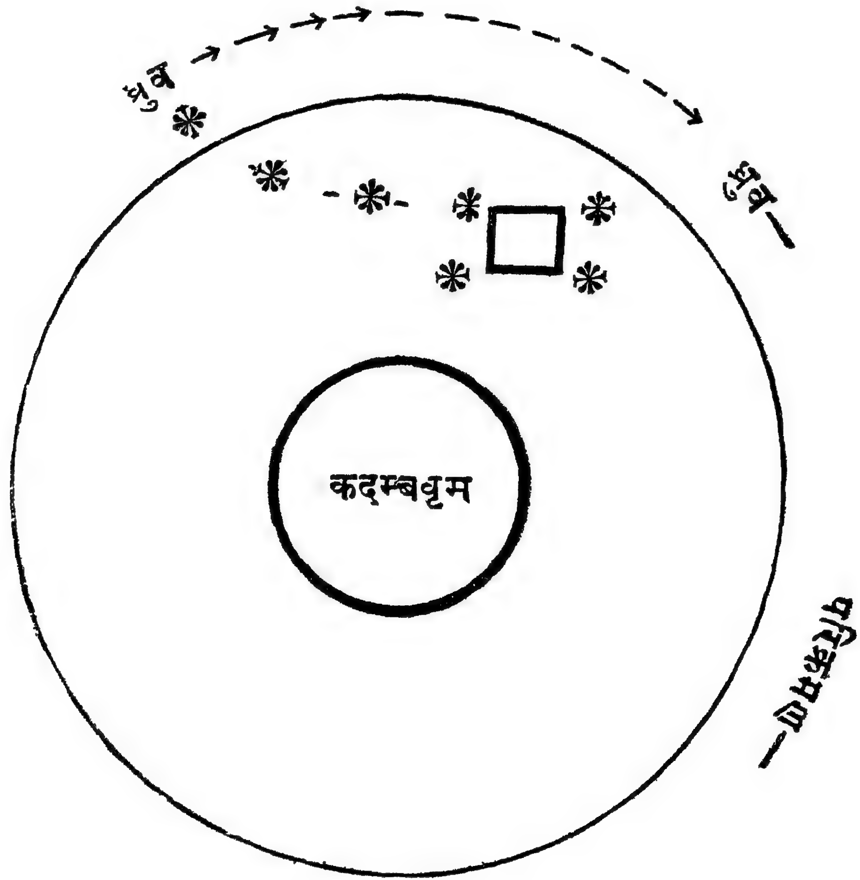
किसी समय यह हसनक्षत्र के अध स्वास्तक पर था। मेरु से खस्वास्तक पर हसनक्षत्र था। किसी समय मेरु के खस्वस्तिक पर आभजित था। आज मेरु के खस्वस्तिक पर विश्वकर्म्मा नक्षत्र है। किसी समय यह भी बदल जायगा। वत्तमान मे ध्रुव नाम से प्रसिद्ध नक्षत्र वे — अभय नाम से यवहृत हुआ है। वस्तुतस्तु ध्रुव किसी नक्षत्र का नाम नही हैं। अपितु निराकार विद्युत्प्राण को ही ध्रुव कहा जाता है। यह प्राण ही कदम्ब के चारो ओर स्थिरवृत्त पर परिक्रमा लगता है। वह प्राण जिस नक्षत्र के समीप रहता है परिचयाथ वही नक्षत्र ध्रुव नाम से व्यवहृत होजाता है। जब यह प्राणस्क भ हसनक्षत्र पर था उस समय हस ही ध्रुव कहलाता था। वहा से आगे चलकर जब ध्रुवप्राण अभिजिन्नक्षत्र पर आया तो अभिजिन्नक्षत्र ध्रुव कहलाया। आज यह विश्वकर्म्मा नाम के नक्षत्र पर है। अतएव आज यही ध्रुव कहलाता रहा है। स ध्रुवसर ा में गया हुआ आत्मा भय से विमुक्त होजाता है अतएव इसे अभय नाम से भी यवहृत किया जाता है। यहा आत्म युति नही है इसी आभप्राय से इसे ध्रुव कहा जाता है। ध्रुव स्थिर है यह भाव ध्रुव यवहार का कारण नही है। क्योंकि ध्रुव का कदम्ब के चारों ओर परिक्रमा लगाना सर्वसम्मत है। आज जिस स्थान पर ध्रुव है वहाँ सात तारे ह। जो सन्निवशक्रम सप्तर्षि-मण्डल का है वही सन्निवशक्रम इन सात तारो का है। कही कही ब्राह्मणग्रन्थो में इन्हे ऋक्षापनी नाम से भी व्यवहृत किया गया है। इन्ही सातो का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

विश्वकर्म्मा विमना, आद्विहाया धाता, विधाता, परमोत स द्दक ।
तेषामिष्टानि सगिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषान् पर 'एक'–माहु ॥
—ऋग्वेदस १ म । ८२ सू । ४ म ।

इन्हा सातों का प्रकारान्तर से निरूपण करती हुइ श्रुति कहती है—

'आग्न पुच्छस्य प्रथम काण्ड तत इन्द्रस्तत प्रजापति ।
अभय चतुर्थम्'





हा तो तथोक्त निदशन से आप को विदित होगया होगा कि ध्रुवपारभ्रमण के कारण मेरु बदलता रहता है। इस से बतलाना प्रकृत में हमें यही है कि जिस समय प्रजापतिने **पाद्मभुवनकोश** की यवस्था की थी उस समय तो मेरुबिन्दु सचमुच ब्रह्मनिवासस्थान पर ही थी। आज भी प्रदश ता वहीं है परन्तु मरु बदल गया है। अभिजित् उस समय ध्रुव था। यह मेरु के स्वस्तिक पर था। सब से पहिले इसी **मेरुमूला त्रिलोकी** का स्वरूप अवगत कीजिए।

यह बतलाया जाचुका है कि **निरक्षवृत्त** से मरु ठीक ६ अश उत्तर है। हमारा निरक्षवृत्त **लङ्का** है। इसी को हमने प्रथममध्याह्नरेखा का उपक्रम माना है। आज के अनुपात से यद्यपि लङ्का निरक्षवृत्त से ५ अश उत्तर मानी जाती है। परन्तु भारतीय भूगोलसिद्धान्त के अनुसार यह सवथा निःस्सार है। क्योंकि आज लङ्का सीलोन को माना जारहा है। सीलोन अवश्य ही निरक्ष दश से प्राय ५ अश उत्तर है। उधर हमारी दृष्टि

स सीलोन सिंहलद्वीप है। लङ्का सस म था प्रथक द्वीप है। यह अवश्य ही निरक्ष देश पर थी। आज लङ्का दक्षिणसमुद्र के गर्भ में विलीन है। इस स्थान से उत्तर की ओर एक भावी रेखा मेरु पर्यन्त लेजाइए। इसी का नाम भूमध्यरेखा किंवा वर्त्तमान-परिभाषा के अनुसार प्रथममध्याह्नरेखा होगा। यह रेखा लङ्का कोलम्बो मन्नास उज्जैन सिम्पुर कुरुक्षेत्र आदि देशों का स्पर्श करती हुई मेरुपर्यन्त व्याप्त होरही है जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

यल्लङ्कोज्जयिनीपुरोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशत् ।
सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदितं सा मध्यरेखा भुवः ॥

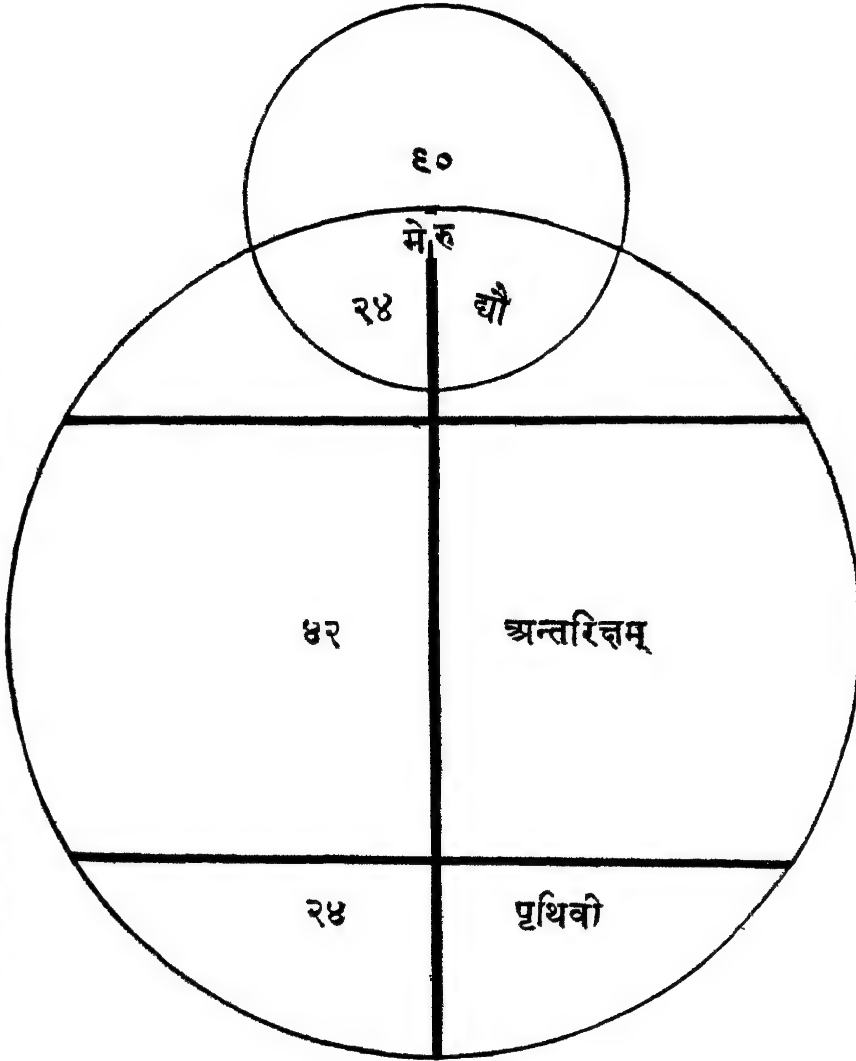
इनमें उज्जैनरेखा से भारतीय ज्योतिष की व्यवस्था का आरम्भ माना जाता है। अतएव जैसा पाश्चात्यों में मध्यरेखास्थान ग्रीनवीच नामसे प्रसिद्ध है एवमेव पौरस्त्य उज्जैन को मध्यरेखास्थान मानते है। यह उज्जैन निरक्ष देश से प्राय २३ अंश ६ कला उत्तर अक्षांश पर स्थित है एवं ग्रीनवीच मध्यरेखा की अपेक्षा लगभग अंश ४३ कला पूर्वीय देशान्तर से यह उज्जैनरेखा आरम्भ होती है। वर्तमान स्थूलमान के अनुसार उज्जैनरेखा ८० (अस्सी) पूर्वी देशान्त पर मानी जाती है। इसप्रकार ग्रीनवीच मध्यरेखा एवं भारतीय-मध्यरेखा में-प्राय ७६ अंश का अन्तर सिद्ध होजाता है। इसी अन्तर से हम आगे जाकर भारतवर्ष की सीमा निकालनी है अत अप्रासङ्गिक होते हुए भी अत्र ग्रीनवीचरेखा का स्मरण कर लिया गया है।

निरक्षदेश से आरम्भ कर मेरुपर्यन्त ९० अंश हुए। इन अंशो को ब्रह्माने २४ ४२ २४ इन तीन भागो में विभक्त कर मरुमूला त्रिलोकी की व्यवस्था की। मेरु को केन्द्र मान कर २४ अंश के व्यासार्द्ध से ४८ अंश के परिसर का एक वृत्त बनाइए। यह मेरुत्रिलोकी का स्वर्ग प्रदेश होगा। निरक्षदेश से आरम्भ कर २४ अंश उत्तर पर एक रेखा पूर्वापर खैंच दीजिए यही मरुत्रिलोकी का पृथिवीलोक होगा एवं २४ से आगे उत्तर की ओर ६६ वे अंश पर एक रेखा पूर्वापर खैंच दीजिए। ४ अंशात्मक यही देश अन्तरिक्ष होगा। इस व्यवस्था का मूलकारण वही आधिदैविक त्रिलोकी है। विषुवत् से आरम्भ कर २४ पर्यन्त का आकाशप्रदेश पृथिवी कहलाता है। आगे के ४२ अंश अन्तरिक्ष नाम से प्रसिद्ध हैं। इसे ही आत्मगतिविज्ञान के अनुसार देवयानमार्ग कहा जाता है। एवं ध्रुव को केन्द्र मान कर २४ अंश के व्यासार्द्ध से युक्त ध्रुवमण्डल स्वर्ग कहलाता है। ध्रुवमूला आकाशात्मिका यह त्रिलोकी लोकविद्या के अनुसार आत्मगतित्रिलोकी * नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृतिविज्ञान के परमाचार्य्य इस के प्रथम प्रवर्त्तक भगवान् ब्रह्माने उसी प्राकृतिक ध्रुवमूला त्रिलोकी के स्वरूप का लक्ष्य में रख कर उपर्युक्त मरु-त्रिलोकी का स्वरूप इस भूपिण्ड पर व्यवस्थित किया।

---

* इस त्रिलोकीका विशद निर्वचन श्राद्धविज्ञान के आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् नामके चतुर्थखण्ड में देखना चाहिए।

(१) मेरुमूला-देवत्रिलोकी—



ध्रुवाच्चतुर्विंशमिताशतुल्य यासार्द्धवृत्ता तरमिष्यते द्यौ ।
ततोऽ तरिक्ष परितो द्विचत्वारिंशच्चतुर्विंशतिरस्ति पृथिवी ॥

ध्रुवादधो य पृथिवीप्रदेश स मेरुरित्थ प्रतियार्ति लोका ।
ब्रह्माभिजिद्धादधर प्रदेश स मेरुरासीच्च पुरायुगे स ॥

—※—

२–प्राङ्मेरु–(पामीर)–मूला देवत्रिलोकी—

दूसरी है प्राङ्मेरुमला त्रिलोकी। इसे हम वत्तमानभाषा म एशयाइ–त्रलाका भा क सकते है। पुराण ने प्राय इसी त्रिलाकी को प्रवान मानत हुए तत्त भूप्रदशा का यन र का है जमाकि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। स त्रलोकी का स्वरूप बतलाव सस पा ले प्राङ्मरु का पारचय करा ना आवश्यक होगा। वत्तमान में यह स्थान पामीर नाम स प्रासद्ध है। पामीर श प्रागमरु ा ी अपभ्रश प्रतीत होता है। वत्तमान भोगोलिक सी पामीर का विश्वपवता का निगमस्थान मानते ह यह समार में सबसे विशद–उच्च–पठार पथरीला ऊँचा मदान) है। आज के सिद्धा त के अनुमा भी यह पामीर–भारतवष ति बत चीन रूस तुर्किस्तान अफगानिस्तान आि महाभूप्रदशा का केद्र है। पामीर से दक्षिण म भारतवष है। पू म ति नत है। उत्तरपू म चीन है। उ ार म रूस है। पश्चिम मे तातार नाम से प्रसिद्ध तुकिस्तान है। एव दाक्षण प श्चम म अफगा नस्तान है। इस सस्थाक्रम स प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना कि आज के भोगोलिक भी शयायीखण्ड म पामीर का सब प्रकार स प्रधानता द रहे ह। सवप्रवान पामी नाम स प्रसिद्ध यह प्रा मरु हा हमारे पौराणिक–त्रलोक्य का मूलाधार है।

पूवयुग म यही स्थान मरु था अतएव यह प्राङमेरु नाम स प्रसिद्ध हुआ। प्रा मरु तुरुष्क–राज्य (तुर्किस्तान–तातार तारतर–टारटरा आदि विविध ना ो से प्रसिद्ध) क उत्तर मे प्रातष्ठित होता हुआ आज पामीर नाम स प्रासद्ध होरहा है। इस हम मरु के स ब व स उपमरु भा कह सकत ह। अथवा पक्षान्तर से पामीर को ही प्रधानरूपेण मेरुप्रदेश समाझए। कारण यहा है कि प्रवान मेरु ध्रुव का अध प्रदश है। वहा केवल मेरु बि दुमात्र से ही स्वस्वरूप प्रातष्ठित रखता। अथात् भूप्रदश की ष्टि से वह मेरुबि दु नही के समान ही है। वहा सौरप्रकाश अ य पमात्रा म नही के समान ही पहु चता है। इधर पामीरदश शतयोजन विस्तृत है। अत मेरु श द से प्राय पुराण ने सी को प्रधानता दी है। वस्तुतस्तु–इलावृतवर्षावच्छिन्न मेरु और तुरुष्करा य समीपवर्त्ती प्राग्मेरु म को ा शेष अ तर नही है। इसे मेरु कह सकते हैं उसे प्राग्मेरु कह सकत हैं। क्योकि पुराणोने लावृतवष का विस्तार २८ हजार योजन माना है। ऐसी अवस्था में उस प्रदश की याप्ति पामीर पय त मान लेने मे को क्षति नही होती। यद्यपि है–पामीर उपमेरु परन्तु तदग्रहण याय से सका मरु श स भी ग्रहण किया ज सकता है।

मेरु श द का अथ है–सर्वो चभाव। इधर पामीर हिमालय आदि के कार सर्वो च न होता हुआ भी अत्युच्च अवश्य है। अत इसे मेरु श से व्यवहृत करने म कोइ आपत्ति नही होती। यह पामीरप्रदेश समुद्रपृष्ठ से अनुमानत ८ हाथ अवश्य ऊ चा है पृथिवी में सर्वाधिक उ च यदि कोइ दश है तो पामीर। इसी उन्नतभाव को प्रधान मान कर इसे तारतर नाम स व्यवहृत किया गया है। यही अपभ्रशरूप में परिणत होता हुआ तातार नाम से प्रसिद्ध होगया है। यही पाश्चा यो के विशुद्ध उ चारण की कृपा से टारटरी कहलाने लग गया है। यहातक तुरुष्करा य का प्रसार था अतएव पामीर–वाचक तारतर शब्द इस तुरुष्क (तुर्किस्तान) राज्य के साथ भी समन्वित होगया है। तुर्किस्तानी मनुष्यों

को तातारी क । जाता है । राजशासन के भेद से प र्वी तुर्किस्तान पश्चिमी तुर्किस्तान भेद से तुरु कदेश आज दो भागो में विभक्त दखा जाता है । नमें पश्चिम तुरु क तो तुर्किस्तान के ही आधीन है । पूवी तुर्कि-तान चीनरा य में अ तभू त है । ये ही दोनो विभाग क्रमश भारत की उत्तर सीमा बनते है । पूर्वीय भारत की सीमा पूवाय-तुर्किस्तान है एव पाश्चम भारत की उत्तर सीमा पाश्चमी तुकिस्तान है जसाकि आगे के सीमाप्रकरण में स्प ट हो जायगा ।

सर्वो चतम मेरु का (पामीर का) पृष्ठ भाग ही सुमेरु-चाशक्रम्रु नाम से प्रसिद्ध है । जसाकि हम पूव में कह आए है पुराण ने मरुश द से प्राय प्रा मेरु का ही ग्रहण किया है । ता कालिक-इलावृत वर्ष के केन्द्रभूत मु य सुमरु से यह प्राग्मेरु (पामीर) लगभग अ श दक्षिण पूर्वापररूप से स्थित है । स अनुपात से निरक्षदेश से पामीर अनुमानत ६ अ श उत्तर की ओर स्थित मानना पडता है ।

इसी पामीर की उ चतम चट्टान से चारो ओर चार नदिया प्रवाहित हुइ है । पूव की ओर बहने वाली नदी सीता नाम से प्रसिद्ध है । इसी को चीनीभाषा में ह्वा ह्य कहा जाता है । यह आगे जाकर ह्वा ह्य याङ्सी मेकाङ्ग नाम से व्यवहृत होती हुइ तीन शाखाओ में परिणत होती हुई क्रमश पीतसमुद्र एव चीनसमुद्र में मिल जाती है । आदि की दो नदिया यलोसी (पीतसमु) मे मिलती है शेष चीन समुद्र मे लीन होती है । पामीर के उत्तर भाग से भ ा नदी निकलती है । सीता प ाग्वाहिनी थी, ए भद्रा उत्तरवाहिनी है । यही भद्रा पुराणों में-१ भ ा सोमा ३ भ सोमा इन तीन नामो से प्रसिद्ध हुई है यह उत्तर समुद्र में मिलती है । इसके भी सीतावत् तीन ही स्रोत हैं । ये तीनो स्रोत वत्त मान में ओबी लीना इतीसी नाम स प्रसिद्ध है । इनमें लीनीस्रोत इशानदिकस्थ सौवीरराष्ट्र की ओर जाना हुआ उत्तरसमुद्र में मिलता है । पामीर के पश्चिम प्रदश से यक्षु नाम की नदी निकलती है । यह पश्चिम वाहिनी नदी है । यह नदी वद में यक्षु नाम से प्रसिद्ध है । पुराण में यही चक्षु रूप में परिणत हो गई है स ोधकों की कृपा से । पाश्चा यभाषा में यही एक्सस् नाम से प्रसिद्ध है । अवश्य ही एकस श द यक्षु का ही अपभ्र श होगा । भुवनकोश के ज्ञाता पौराणिकोने ज बुवृक्ष के स ब ध से इसी यक्षु को जम्बु नाम से यवहृत किया है जैसाकि पूव म बतलाया जा चुका है । यही यवनभाषा में जहू अमू इ यादि नामो से प्रसिद्ध है । यह न ी काश्पीएसी (समुद्र) में मिलती है । चौथी है भारतवष को कृतकृत य एव ध य बनाने वाली दक्षिण समुद्र में लीन होने वाली दक्षिणवाहिनी अलकन दा ।

उपर्युक्त सीता भ सोमा चक्षु अलकन ा इन चारो नदियों की समष्टि ही पुरा । में-चतुगङ्गम् नाम से यवहृत हुइ है । गङ्गा श द बहने वाले पानी मात्र का वाचक है । ऐसी अवस्था में केवल भागीरथी ही क्यो गङ्गा नाम से प्रसिद्ध हुई ? स्के लिए छा दोग्योपनिषद् हि दीविज्ञानभाष्य के द्वितीय प्रपाठक में निरूपित वृष्टि सामप्रकरण ही द्रष्ट य है । गङ्गा महान ी शाखान ी क्षुद्रा कु या भेद से नदिया पाच भागो में विभक्त हैं । अतिदीर्घा साक्षाद्रूप से समुद्र में मिलने वाली नदी गङ्गा कहलाती । गङ्गा से अनुगत शतयोजन स अधिक विस्तार वाली नदी महानदी कहलाती है । सहायक नदिया उपनदी शाखानदी आदि नामो से प्रसिद्ध है । वर्षा म प्रवाहित होने वाली एव अ यकाल में सू ख जाने वाली नदिया क्षु हैं । कृषि आदि की सुविधा के लिए निर्मित कृत्रिम नदिया कुल्या नाम से यवहृत होती है । इस पुराणपरिभाषा के अनुसार साक्षादरूप से समुद्र में लीन होने वाली उपर्युक्त चारों नदियो के लिए अवश्य ही चतुगङ्गम् कहा जासकता है ।

न्न चारो में दक्षिणवाहिनी **अलकनन्दा** ही आगे जाकर सात शाखाओं में विभक्त होती हुई पुराण में **सप्तगङ्गम्** नाम से व्यवहृत हुई है। अथवा यों समझिए कि पामीर से दक्षिण की ओर प्रवाहित होने वाली इस अलकनन्दा मे हिमालय की अधित्यकाभूमि में आने से पृथक् नाम से युक्त जाता है। ये सातों नदियां **नलावारा सरस्वती विष्णुपाताला गरुड़ (गरुडगङ्गा) नन्दा कर्णा मन्दाकिनी** इन नामो से व्यवहृत हुई है। इन सातो में **मन्दाकिनी** ही अलकनन्दा के शोभा को सर्वश्रेष्ठ बनाती है। पारमेष्ठ्य पवित्र सोमावतार का सम्बन्ध मन्दाकिनी से ही होता है। तद्युक्ता अलकनन्दा ही कलिकल्मषहारिणी जगदुद्धारिणी भगवती भागीरथी नाम का त्रिपथगा गङ्गा है। भगीरथ के प्रयास से हिमाचल दुर्ग से निकली हुई यह माता भागीरथी सर्वप्रथम हरिद्वार के ब्रह्मकुण्ड में भूतल से स्पर्श कर श्रद्धालुओं को धन्य बनाती कलकलना रूप अपने अट्टहास से स्वर्गों का भी उपहास करती हुई आज भी उसी रूप से प्रवाहित होरही है। विषय आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता जारहा है अत प्राग्मेरुस्वरूपप्रकरण को यहीं उपरत कर त मूला त्रिलोकी– व्यवस्था की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

निरक्षदेश से आरम्भ कर ३२ अक्षांश पर्यन्त (उत्तर की ओर) का भूप्रदेश पृथिवीलोक समझिए। यही पृथिवीलोक भारताग्नि के अधिकार में रहता हुआ भारतवर्ष नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी को मर्त्यलोक मानुषलोक भूलोक आदि विविध नामो से व्यवहृत किया गया। वर्त्तमान अनुपात से निरक्षदेश से लगभग ३२ अक्षांश पर शिवालिक नाम से एक पर्वत प्रसिद्ध है। यही से रावी नाम की प्रसिद्ध नदी निकली है। यही इरावती नाम से व्यवहृत हुई है। यही भारतवर्ष की उत्तर सीमा समझिए। यहा के सम्राट भगवान् मनु के सम्बन्ध से ही भारतीय प्रजा मनुष्य नाम से प्रसिद्ध हुई। मनु ने प्रजा को ठीक मार्ग पर चलाने के लिए प्रकृतिसिद्धा नित्या वर्णसृष्टि के आधार पर ही वर्णाश्रमधर्म्ममूलक मानवधर्म्मशास्त्र की रचना हुई। स्वर्गाधिपति स्वाराट् इन्द्र की ओर से भारतवर्ष के शासनपति अग्नि थे। अतएव यह भारतवर्ष पुराणो में अग्निलोक नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्राग्मेरु से दक्षिण शर्य्यणावत से उत्तर का सम्पूर्ण भूभाग अन्तरिक्षलोक था। यहा विद्याधर सिद्ध गन्धर्व असुर किन्नर आदि तिर्य्यक जातिया रहती थी। सुप्रसिद्ध वैभ्राजवन चैत्ररथवन उमावन स्कन्दवन आदि इन देवयोनियो की विहार भूमिया थी। यहा के शासनपति वायु थे। अतएव यह लोक पुराणो में वायुलोक नामसे प्रसिद्ध हुआ है। इससे आगे का सम्पूर्ण प्रदेश स्वर्ग स्थान था। यहा के अधिपति स्वयं इन्द्र थे।

प्रकारान्तर से समझिए—दक्षिणसमुद्र से आरम्भ कर हिमालय पर्यन्त सम्पूर्ण प्रदेश अग्निलोक था यही भारतवर्ष था। हिमालय–समीपस्थ अलतायीगिरि से आरम्भ कर उत्तरसमुद्रान्त सम्पूर्ण प्रदेश ऐन्द्रलोक था। हिमालय एवं अलतायीपर्वत के मध्य का भाग वायुलोक था। अग्निलोक जिसे भारतवर्ष कहलाता था एवं आज भी कहलाता है एवमेव ऐन्द्रलोक पुराणसमय में ऐरावतवर्ष नाम से प्रसिद्ध हुआ है। भारतीय प्रजा जैसे मनुष्य नाम से प्रसिद्ध थी तथैव वायव्यप्रजा मरुत् नाम से एवं ऐन्द्री प्रजा देव नाम से प्रसिद्ध थी।

अक्षांशो के अनुपात से समन्वय कीजिए। ३३ से आरम्भ कर ४२ उत्तरी अक्षांश पर हिमालय की उत्तर–सीमा है। यहां से ६० पर मेरु की उत्तर सीमा है। इस विभाग से भी त्रैलोक्य व्यवस्था ठीक व्यव–

ि थत होजा ी है। इन तीनो लोको में से अ तरिक्ष और द्यु लोक इन को तो थोडी देर के लिए छोड दीजए। क्योकि असुरो की कृपा से त्रलोक्य यवस्था आज नष्ट होचुकी है। अत शेशभूत केवल भारतवषरूप पृथिवीलोक को ही लक्ष्य बना ए। आज हमारे स्व वा िकार में प्रजापति के द्वारा दायविभाग में प्रा त महा–भप्रदश का एक थो ाग (आधा) भाग ही शेष रहा है और वह भी दुर्भा यवश खण्ड खण्ड रूपमे प रणत होगया है मने अपनी भावुकता से ही अपने शेषभूत स्व पतम इस स्व वाधिकार को भी विस्मृत कर लिया है। वह भी इन रा य यवस्थामूलक स्वाथमय वर्त्तमान भूगोल–सिद्धा तो के कारण चारो ओर से क्षत विक्षत होकर आज अपनी स तति की हीनवी यता पर अश्रु पात ही कर रहा है। दखिए अपने भारतवष का वास्तावक स्वरूप ! एव पश्चात्ताप कीजिए अपने कुकर्म्मों पर !

भारतवष का वास्तविक स्वरूप—

* **सुलेमान–हि दूकुश किरथरकर** इन तीन पर्वतों को **हि दुस्तान** की सीमा माना गया है। आज भारतवष की पश्चिमी सीमा सि धुनद बतलाइ जाती है। सि धुनद के सम्ब ध से भी भारतवष हि दु–स्थान कहलाता है। सि धुनद से उस पार (पश्चिम की ओर) के आदिनिवासी **पारसी सकार** का **हकाररूप** से उ चारण किया करते हैं। उ ही के यवहार की प्रधानता से सि धुनदोपलाक्षत अतएव सि धुस्थान नाम से यव ार करने यो य भारतवष आज हि दुस्थान नाम से प्रसिद्ध हो रहा है ऐसी मा यता है कुछ एक महानुभावो की जिस से यद्यपि हम सहमत नही है *। तदपि अभ्युगमवाद से इस नाम यवहार में हम कोइ आपत्ति नही कर रहे। आपात्त है **भारतवष** और **हि दुस्थान** श द को परस्पर पर्य्याय मानने में। **भारतवष हि दुस्थान होसकता है**। कि तु **हि दुस्थान** कदापि **भारतवष नहीं हो सकता**। दोनो में **याप्य– यापकभाव सम्ब ध** है। भारतवष के आधे प्रदश का नाम आधे से भी न्यून प्रदश का नाम हि दुस्थान है। सि धुनद हि दुस्थान की सीमा होसकती है किन्तु सि धु को भारत की पश्चिम सीमा मानना हमारे ऐतिहासिक भौगोलिक सिद्धा तों को दखते हुए सवथा ही अशुद्ध है। कैसे अशुद्ध है? इस प्रश्न के लिए दो चार ऐतिहा िक भौगोलिक कारण आप के सम्मुख रक्ख जारहे हैं।

पू र्व मे **पाद्मभुवनकोश** का निरूपण करते हुए हमने प्रधानरूप से दृश्य–उत्तरी–गोलार्द्ध के **भारतवष केतुमालवष भद्राश्ववष कुरुवष** य पदमपत्ररूप चार वष बतलाए हैं। प्र येक वष ६ –६ अश का है। इस विभाग के अनुसार भारतवष भी ६ अ श का ही प्रा त होता है। **पूर्वापर ६ अ शा–त्मक प्रदेश भारतवष है**। इससे प र्व ६ अ शा मक प्रदेश **भ द्राश्ववष है**। इससे पू र्व ६ अ शा मक प्रदश **कुरुवष** है। इससे पव ६ अ शा मक प्रदेश **केतुमालवर्ष है**। भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा **केतु–मालवष** से सयुक्त है एव पूर्वासीमा **भद्राश्ववष** से सलग्न है। इधर भारतवष की म यरेखा उज्जैन मानी

---

* जहा इन पवतो का स विभाग है वहां सुप्रसिद्ध **खबर** क दर्रा है। यहीं सुप्रसिद्ध **कुभा (काबुल)** नाम की नदी प्रवाहित है।

गई है। यहा से ४५ अक्षांश पव एव ४५ अक्षांश पश्चिम यह अंश का भारतवर्ष मानना पडता है। हमारा पाद्मभुवनकोश जब भारतवर्ष को ६ अंश का बतलाता है तो फिर कोई कारण नही हम मग के कल्पित मान का आदर कर। हम हमारा देश ६ अंश का चाहिए। चाहे फिर उसकी सीमा सिंधु हो अथवा और भी समीप हो। ६ अंश नाप कर हमारे लिए पृथक रख लीजिए। वही हमारा प्रातिस्विक (निजी) भाग होगा। इसे दूसरे अपने अधिकार में करलें यह हमारे लिए असह्य होगा। हम मग का लेना नही है तो अपना भाग छोडना भी नही है। हां तो इन अंशो को सम्मुख रखते हुए भारतवर्ष की सीमा का विचार कीजिए।

उज्जैन से ४५ अंश ठीक पश्चिम रक्तसमुद्र (रेड्सी) है। इस रक्तसमुद्र से उत्तर पश्चिम समीप ही महीसागर (मेडिट्रेनियन्सी) है। इस व्यवहार का कारण यही है कि मही पृथिवी को कहते हैं। इधर पूर्वप्रतिपादित भौमत्रिलोकी-व्यवस्था के अनुसार भारतवर्ष पृथिवीलोक किंवा महीलोक माना जाता है। इस महीलोकरूप भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा पर उपर्युक्त समुद्र है। यह मही की पश्चिमी सीमा का विभाजक है अतएव इसे अवश्य ही महीसागर नामसे व्यवहृत करना उचित है। उपर्युक्त रक्त समुद्र १५ मील लम्बा है। यह समुद्र दक्षिण अफ्रीका की पूर्वा सीमा है। आन के अनुपात से अनुमानत अरबस्तान अफ्रीका दोनो के मध्य में रक्तसमुद्र है। मेडिटेनियेन्सी और रेडसी दोनों के मध्य में पहिले स्वेज नाम का लगभग १ मील चौडा भूप्रदेश था। अफ्रीका और अरब दोनो देशो का व्यापार सम्बन्ध इसी मार्गसे होता था। आज इस स्वेज पर नहर बना कर रेड्सी और मेडिटेनियेन्सी को मिला दिया गया है। यही सुप्रसिद्ध स्वेजकनाल नाम की वह नहर है जो आज वणिक्तन्त्रा की मत्र्यसीमा प्रमाणित होरही है।

महीसागर ग्रीनवीच से अनुमानत ३१ पूर्वाय देशान्तर पर स्थित है। इसी महीसागर में नील नदी नाम की सुप्रसिद्ध नदी का सङ्गम होता है। कुछ समय पूर्व इटली की कृपा से अपनी स्वतन्त्रता खोते हुए हतभाग्य अबीसीनिया के सुप्रसिद्ध इस नाम के पहाड से इस नीलनदी का निर्गम होता है। इस नदी की लम्बाई लगभग ३५ मील है। नीलनदीसङ्गम स्थानीय महीसागर किंवा रेडसी ही भारतवर्ष की पश्चिमसीमा है। अर्थात् जहा से आज अरबस्थान का आरम्भ माना जाता है वही से भारतवर्ष का आरम्भ समझिए। यह तो हुआ पश्चिमी-सीमा का विचार अब चलिए पर्वा सीमा की ओर।

उज्जैन से ४५ अंश पूर्व आप को चलना है। क्योंकि तभी ६ अंश की पूर्ति होसकेगी। यहा से (भारतीय प्रथममध्याह्नरेखा से) ४५ अंश पूर्व पीतसमुद्र (यलोसी) है। इस को हम चीनसमुद्र भी कह सकते हैं। यही फारमूसाद्वीप से उपलक्षित प्रशान्तमहासागर है। यही भारतवर्ष की पूर्वी सीमा है। दक्षिणसीमा दक्षिणसमुद्र है एव उत्तरसीमा तुरुष्कदेश है जसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है। चतुःसीम इस भारतवर्ष मे कितने देश आते हैं? कौन कौन हमारे देश के अवयव हैं? जब इन प्रश्नो का विचार किया जाता है तो आत्मा कम्पित होजाता है। आज भारतवर्ष अपने आलस्य से कर्मशून्य बनता हुआ विभूतिमय अपने सम्पूर्ण देशो को अपने हाथ से ही खोचुका है। दृश्य-उत्तरीगोलार्द्ध के देश-विभागों से आप को अनुमान होगा कि चतुर्द्धा विभक्त वर्षो में किन किन देशो का समावेश है। चलिए! एक बार सम्पूर्ण दृश्य गोलार्द्ध की परिक्रमा लगा आवें।

अबस्थान से किवा **रड्सी से एशियाखण्ड** का आर भ होता है । एव **अलास्का** नाम के अमेरिका के उ रभाग पर **एशियाखण्ड** की समाप्ति होती है । **यह् एशिया ही हमारा भौमत्रलोक्य है ।** ्स के भारतवर्षा मक ६ अश के प्रदश म नि नलिखित दश अ तभु क्त है । आज के एटलस के अनुपात स विचार कीजिए *।

एशिया का आरम्भदेश अबस्थान है । आगे मयसोपोटेमिया जूडया एशियामाइनर ईरान अफगानिस्तान है । ्तने दश भारतवष से पश्चिम में माने जाते है । **बर्म्मा चीन श्याम अनाम कम्बोडिया** आदि प्रा त पूव में माने जात है । **ति बत तुर्किस्तान रूस मगोलिया** आदि भारत स उ र में माने जात हैं । ये सब एशियायी दश ६ अशा मक भखण्ड में अ तभ क्त है । हमारे भुवनकोश के अनुपात से इन सब का भारतवष में ही अ तर्भाव है । इस के अन तर प्रशा तमहासागर—किवा **पीत समुद्र (यसोली)** से आगे का ६ अशा मक प्रदेश **भद्राश्ववष** है । ्स म **मचूरिया जापान पूर्वीरूस अलास्का** नाम से प्रसिद्ध अमेरिका का अशा मक उ ारीभाग आदि प्रदश है । यही एशियाखण्ड की समा त ह । तीसरे ६ अशा मक खण्ड की ओर क्रमश आगे बढिए । **यूनाइटेड्स्टेट अमेरिका (सयुक्तराष्ट्र अमेरिका) कनाडा म य अमेरिका मेक्सिका दक्षिण अमेरिका का पश्चिमी अद्ध भाग का आशिकभाग** आदि प्रदश इस तीसरे भखण्ड में है । यही खण्ड **कुरुवष** नाम स प्रसिद्ध है । आगे के ६ अशा मक चौथ भखण्ड में **दक्षिणी अमेरिका का पश्चिमी अद्ध भाग का आशिकभाग ग्रीन ल ड सम्पूर्ण योरोप सहारा नामका सुप्रसिद्ध मरुस्थल मिश्र** आदि दश है । मिश्र के समीप ी **माडट्रे नियन्सी** आगया है । य ी हमारे भारतवष की पश्चिम सीमा मानी गइ है । मिश्रापलक्षित मेडिट नीये सी पर भारतवष केतुमालवष की पश्चिमी पूर्वी सीमाओं का स मलन होरहा है । यह तो हुइ दश्य उ ारी गोलार्द्ध की कथा । अब चलिए अदृश्य दक्षिणी गोलार्द्ध की आर ।

इसमें—**दक्षिण अफ्रीका दक्षिण अमेरिका आस्ट्रेलिया न्यूजीलेन्ड दक्षिणध्रुव प्रदेशस्थ अतिसुप्रसिद्ध एण्टार्टिका महाद्वीप** आदि प्रदश हैं । यह कहा जाचुका है कि जहा केतुमालवर्षान्तिगत सम्पूर्ण योरोप का क्षेत्रफल ३८ लाख वगमील है वहा अदृश्य दक्षिणीगोलार्द्ध के दक्षिणध्रुवसमीपस्थ **एण्टार्टिक** द्वीप का क्षेत्रफल ५ लाख वगमील है ।

यद्यपि वि वद्रेखा की अपेक्षा दक्षिण—उत्तर दोनो गोलार्द्धो का मान (नाप) समान है । पर तु भूप्रदश की अपेक्षा से यदि विचार कि । जाता है तो उत्तरी गोलार्द्ध मे भूभाग अधिक उपल ध होता है एव दक्षिणी गोलार्द्ध में जलभाग अधिक उपल ध होता है । वतमान परिमाण के अनुसार दोनो का ⅓ [एक बटा तीन] स ब ध है । अर्थात् उत्तरी गालार्द्ध के भूभाग की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध का भूभाग एक तृतीयाश [एक ति ाइ हिस्सा] है । यही मान यव था **एशिया** और शेष दृश्य उत्तरी गोलार्द्ध के सम्ब ध में समझिए । दृश्यभाग में एशिया भूप्रदेश ्तर भूप्रदशो की अपक्षा एक तिहाइ है । यद्यपि वषनिभागानुसार **भारतवष और भद्राश्ववष** दो वष [ठीक १८ अशा मक दृश्य प्रदेश] आजाते हैं ।

*भावुकतापूर्ण दशविभाजन से एट्लस का यह क्रम भी आज परिवर्तित होगया है ।

शेष दृश्यभाग में कुरुवर्ष कतुमालवर्ष ये दो ही वर्ष बचते हैं। फिर भी क्षेत्रफल की अपेक्षा से इनके वर्गमील त्रिगुणित हैं। इस व्यवस्था से बतलाना यही है कि दृश्य गोलार्द्ध का केवल एशियाखण्ड दायविभागकाल में ब्रह्मा के द्वारा देवताओं को मिला था एवं इतर सम्पूर्ण दृश्य (सम्पूर्ण कतुमालवर्ष एवं कुरुवर्ष) अदृश्य दक्षिणी गोलार्द्ध असुरों को दायरूप से मिला था। कहना न होगा कि देवताओं की अपेक्षा असुरों को कहीं अधिक भूभाग मिला था फिर भी दुष्टबुद्धि असुर उसी स्वजप्रदेश से आकर आक्रमण किया करते थे। उपर्युक्त निदर्शन से प्रकृत में हम केवल यही बतलाना है कि भारतीय भुवनकोश के अनुसार भारतवर्ष ९ अंश का है। यह सीमा अरब से आरम्भ होकर चीनसमुद्र किंवा प्रशान्तमहासागर पर समाप्त होती है। अरब मयसोपोटेमिया जूडिया एशियामाइनर इरान अफगानिस्तान तिब्बत तुर्किस्तान चीन मँगोलिया श्याम बर्म्मा अनाम कम्बोडिया आदि सब मिलाकर एक भारतवर्ष है। पश्चिम लोहिताम्भोधि (रक्तसमुद्र) से आरम्भ पूर्वी-पीतसमुद्र पर्यन्त का सम्पूर्ण प्रदेश एक भारतवर्ष है। तभी तो भगवान् मनु का निम्नलिखित कथन चरितार्थ होता है—

> आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
> तयोरेवान्तरं गिर्योरार्य्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥
>
> —मनु । २।

आप प्रश्न करेंगे कि जब भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा रेडसी था तो फिर क्या कारण हुआ कि आगे चल कर सिन्धुनद को आर्य्यावर्त की सीमा मान लिया गया ?।

आ हिमवत आ च कुमार्य्या सिन्धुर्वैतरिणी नदी। सूर्यस्योदयनं पुरः। यावद्वा कृष्णमृगो विचरति, तावद् ब्रह्मवर्चसम्'

उक्त सिद्धान्त के अनुसार सिन्धु को आर्य्यावर्त की सीमा माना गया है। इस का क्या कारण ?। इसके उत्तर में हमें आपका ध्यान वारुणब्राह्मणों एवं ऐन्द्रब्राह्मणों में होने वाली स्पर्द्धा की ओर ही आकर्षित करना पड़ेगा। अथर्वाश्वऋषि के दौहित्र सुप्रसिद्ध पारसीधर्म के प्रवर्तक जरथुस्त्र महाभाग के कारण भारतीय ब्राह्मणों में विधवा परिणय जैसे दारुण प्रश्न को लेकर दो वर्ग होगए। कुछ ब्राह्मणों ने बह्लीक (वर्तमान में बलख नाम से प्रसिद्ध) में रहनेवाले वरुण का पक्ष लिया कुछ ने इन्द्र का आश्रय लिया। वारुणब्राह्मणों का कहना था कि विधवाविवाह में कोई हानि नहीं है। उधर एन्द्रब्राह्मण कहते थे कि विवाह में कन्यादान का विधान है। जब एकबार मातापिता के द्वारा स्वस्वत्वनिवृत्ति-परस्वत्वापादनलक्षणा दान पद्धति से कन्या का दान कर दिया गया एवं दानोत्तर जब कन्या का कन्यात्व नष्ट होचुका तो ऐसी अवस्था में प्रथम पति के प्रयाणानन्तर कौन उसका दान करे ?। साथ ही कन्याभाव के न रहने से कन्यादान लक्षण विवाह कैसे सम्भव हो ?। इसलिए विधवाविवाह शब्द ही असङ्गत है। इस कलहने आगे जाकर बड़ा भीषणरूप धारण किया। इसे शान्त करने के लिए--एशियामाइनर के समीपस्थ काश्पीयन्सी पर रहने-वाले कश्यपप्रजापतिने सिन्धुनद को सीमा मानते हुए भारतवर्ष के दो खण्ड कर दिए। ये ही दोनों खण्ड आगे जाकर पूर्वी भारतवर्ष पश्चिमी भारतवर्ष नाम से प्रसिद्ध हुए। पूर्वी भारतवर्ष इन्द्र के अधिकार

मे रहा एव पश्चिमी भारतवर्ष वरुण की सत्ता मे रहा। ऐन्द्रब्राह्मण पूर्वीभारत मे रहते हुए वेद धर्म्म का अनुपालन करने लगे। एव वारुणब्राह्मण पश्चिमी भारत म रहत हुए जरथुस्त्र के द्वारा प्रवर्त्तित जन्दावस्ता (छन्दाभ्यस्ता) मूलक नवीन धर्म्म म दीक्षित हुए। पूर्वी भारत आर्य्यावर्त्त कहलाया एव पश्चिमी भारत आर्य्यायण नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही आर्य्यायण शब्द आज ईरान रूप में परिणत होगया है। अभी इस सम्बन्ध में बहुत कुछ वक्तव्य था। परन्तु विस्तारभय से अधिक न कह कर प्रकरणसङ्गति के लिए अन्त में केवल यही कह दिया जाता है कि इस द्वन्द्व का कारण ब्राह्मणों की प्रतिस्पर्द्धा मात्र थी। सिन्धु के इस ओर का स्थान हिन्दुस्थान कहलाया। एव सिन्धु के उस पार का स्थान पारस्थान कहलाया। जब पारस्थानरूप आर्य्यायण मे असुरों का आक्रमण हुआ तो तत्र निवासी कितने ही मारे गए। जो बचे उन्होंने पूर्वीभारत म (हिन्दुस्थान में) आकर शरण ली। वही जाति आज भी पारसी नाम से प्रसिद्ध है। यह जाति हमारे भ्रातृभाव से सम्बद्ध है। इसप्रकार हिन्दुस्थान पारस्थान मे भेद होसकता है परन्तु भारतवर्ष दोनों को मिला कर एक है। दूसरे शब्दों में आधा (पूर्वा) भारतवर्ष आर्य्यावर्त्त किंवा हिन्दुस्थान है। एव आधा (पश्चिमी) भारतवर्ष आर्य्यायण किंवा पारस्थान है। यद्यपि आज केवल ईरानमात्र को पारस्थान कहा जाता है। परन्तु वस्तुत सिन्धुनद से आरम्भ कर लोहितसमुद्र पर्य्यन्त सम्पूर्ण स्थान पारस्थान है।

रक्तसमुद्र से पूर्व सिन्धुनद से पश्चिम अराल एव काश्पीयन् समुद्र से दक्षिण के जितने भी प्रदेश है—वे सभी पुरातन पाश्चात्यभाषा में ओरियन्स (Oriens) नाम से व्यवहृत हुए हैं। यह शब्द प्रयत्न मे आर्यवंश शब्द का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है। इस से भी पश्चिम भारत को हम आर्य्यो की ही प्रातिस्विक भूमि मान सकते है।

वेद में एक पश्चिमगामिनी नदी सरयु नाम से प्रसिद्ध है। मार्गियाना प्रान्त से नीचे की ओर एव हिन्दुकुश के दक्षिण भाग से निकल कर शारीफिरवन के पश्चिम भाग से सलग्न होकर यह नदी बह रही है। इस नदी का दक्षिणप्रान्त एरियान्त नाम से व्यवहृत हुआ है। यह भी आर्य्य निवास का ही द्योतक शब्द है। एरियाना प्रान्त से पूर्व एव सुलेमानपर्वत से पश्चिम का प्रान्त पाश्चात्यो के द्वारा एरिडया नाम से व्यवहृत हुआ है। यह व्यवहार भी इस भूमाग का आर्य्यनिवासत्व ही प्रमाणित कर रहा है। इधर स्वय ऋग्वेदने सरयु के इधर के प्रान्त को एव उस ओर के पश्चिम–प्रान्त को दोनों को आर्य्य शब्द से ही व्यवहृत किया है। देखिए!

> उत त्या सद्य आर्य्या सरयोरिन्द्रपारत ।
> अर्णा चित्ररथावधी" ॥
>
> ऋक्सहिता—४।३०।१८

अपिच ब्रह्मपुराण के ५७ वे एव मत्स्यपुराण के ४४ वे अध्याय में भारतीय उपद्वीपों का जो वर्णन हुआ है इनका जो विस्तार बतलाया गयाहै उसे देखते हुए तो यह स्पष्ट ही सिद्ध हो जाता है कि भारतवर्ष नि सन्देह ६० अश पर्य्यन्त ही अपनी व्याप्ति रखता है। पुराण कहता है—

भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान्निमाशय ।
इ द्रद्वीप कशेरुमास्ताम्रपर्णो गभस्तिमान् ॥ १ ।
नागद्वीप स्तथा साम्यो गा धर्वस्त्वथ वारुण ।
अयन्तु नवमस्तेषा द्वीप सागरसङ्गम ॥ २ ॥

इन द्वीपो का विस्तत वर्णन करने का प्रकृत में अवसर नहा ह । यहा केवल उनके नाम एव अप-भ्र शो का उ लेख मात्र कर इस सीमाप्रकरण को उपरत किया जारहा है । जिस समय हम पुराणो म इ द्रद्वीप नागद्वीप साम्यद्वीप गा धर्वद्वीप आदि भारतीय उपद्वीपो का वर्णन पन्त ह उस समय हम उन उपद्वीपा के नामो पर विचार करत हैं एव जिस समय हम वत्त मान भौगोलिको के रक्खे हुए उन उपद्वीपा के साथ अपने पौराणिक नामो की तुलना करत ह तो हम आश्चर्यचकित रह जाना पडता है । आग की तालिका स आप दखग कि वत्त मान भूगोल में बतलाए गए उपद्वीपो के नाम हमारे पौराणिक-नामो के अप-भ्र शरूप ही हैं ।

आज भी यह भारतीयोपद्वीपसव इ डियनआर्किपेलैगो नाम स प्रसिद्ध है । अभी हमारे सास्कृतिक-कोश में ऐस असख्य प्रमाण हे जिन के आधार पर सर्वा मना यह प्रमाणित किया जासक्ता है कि आज का भारतवर्ष हि दुस्तान होसकता है कि तु पूरा भारतवर्ष तो पूर्व-पश्चिम समुद्र को ही अपनी पूर्व-पश्चिम सीमा बना रहा है ।

उपद्वीपपरिलेख —

सख्या	नाम	पर्य्याय	भाषानाम	इ गलिशनाम
१	~ द्रद्वीप	इ द्रद्यम्न	इ द्रमन	ए डमन (कालापानी)
२	नागद्वीप	+	निकोवार	नीकोवर
३	सौम्यद्वीप	सोमत्रा	सुमात्रा	यवद्वीप—बलिद्वीप
४	गा धवद्वीप	+	फिलीपायनद्वीपसघ	लुम्बक मुम्बाफ्लोरीन आदि से युक्त जावाद्वीपसघ का भी इसी में समावश है
५	वारुणद्वीप	+	बोर्निया	ब्रुनाइ—ब्र णी
६	कशेरुमान्	कसेरु	सलेवीस	+
७	गभस्तिमान्	+	मतूका	+
८	ताम्रपर्णी	ताम्रपर्णा	टापूरावेन	सीलोन—सरन्
९	कुमारिका	कुमारी	भारतखण्ड	+

जिस समय देवविभूतिमय भारतवर्ष हमारा था एशियामाइनर में त्रैलोक्यव्यवस्था थी उसी युग से हमारे प्रकृत कथानक का आरम्भ होता है। प्रसङ्गागत देवत्रैलोक्य के सम्बन्ध में भारतीय भूगोल की रूपरेखा आपके सम्मुख प्रस्तुत करनी पड़ी। क्योंकि बिना भारतीय-भुवनकोश-परिचय के दायविभागमूलक प्रकृत आख्यान का समन्वय कथमपि सम्भव नहीं था।

इस पाद्मभुवनकोशप्रकरण को उपरत करते हुए सर्वान्त में भारतीय विद्वानों से हम यही विनम्र आनिवेदन कर देना चाहते हैं कि जबतक आप पुराणसाहित्य का विज्ञानदृष्टि से अवलोकन न करेंगे तबतक भारत की मौलिक संस्कृति की मौलिक आदर्शों की रक्षा कथमपि सम्भव नहीं है। ऊंचे से सिंहासन पर बैठकर पंचम राज से अज्ञ-कथावाचकों के द्वारा जबतक पुराणकथाएं होती रहेंगी तबतक भारत का सांस्कृतिक अभ्युदय असम्भव है। इसलिए भारतीय विद्वानों को शीघ्र से शीघ्र अपने पुराणसाहित्य का स्वाध्याय-पथानुगामी बना ही लेना चाहिए। संसार के सम्मुख जिस दिन आप पुराण का वास्तविक स्वरूप रख देंगे उस दिन आर्य्यसमाजी तो क्या सम्पूर्ण विश्व का मानवसमाज पुराणशास्त्र का अनन्य भक्त बन जायगा। यदि आपने हमारे इस निवेदन की उपेक्षा की यानि प्रचलित रूढि के अनुसार ही पुराणों की कथा होती रही तो इस कुकथा से भारतवर्ष की शरणभूता संस्कृति का भी अभिभव ही होजायगा। सर्वान्त में यह निवेदन और कर देते हैं कि हम इतिहासज्ञान से शून्य होते हुए वर्त्तमान भूगोल से अपरिचित हैं। ऐसी अवस्था में पूर्व के भूगोल प्रकरण में यदि कहीं भूल होगई हो तो हमारी अज्ञता समझ कर पाठक हमें क्षमा करेंगे। पादमभुवनकोश प्रकरण उपरत हुआ। अब प्रकृत आख्यान की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

इति-पाद्मभुवनकोशो ब्राह्म

——*——

देवत्रिलोकी से सम्बन्ध रखने वाले पूर्वप्रदर्शित पादमभुवनकोश प्रकरण के सम्यक् अवलोकन से पाठकों को विदित हुआ होगा कि किसी समय इस भूपिण्ड पर देवता (मनुष्यदेवता) और असुर दोनों का साम्राज्य था। प्रजापति ने इन दोनों के लिए त्रैलोक्य-व्यवस्था नियत कर दी थी। स्वयं प्रजापति एशियामाइनर नाम से प्रसिद्ध स्थान के काश्पीएसी नाम के पर्वत पर निवास करते थे। असुर और देवता दोनों पर प्रजापति का पूर्ण अनुग्रह था। सुप्रसिद्ध स्वेजप्रदेश नामक स्थलभाग के द्वारा (जहां पर कि आगे जाकर स्वेजकनाल नाम की नहर बना दी गई है) अफ्रीका में निवास करने वाले असुर समय समय पर प्रजापति के दर्शन के व्याज से देवत्रिलोकी पर आक्रमण करते रहते थे। आरम्भ में देवता अपनी स्वभावसिद्धा सरलता के कारण दुष्टबुद्धि असुरों के आक्रमण की ओर से उदासीन रहे। देवताओं की इस उदासीनता से असुरोंने अनुचित लाभ उठाने के लिए देवत्रिलोकी पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लेना चाहा। फलतः उन्होंने चर्म्मरज्जु* से पश्चिम की ओर से भूप्रदेश को स्वसुविधानुसार

(*) भूक्षेत्र नापने की डोरी पुराकाल में चमड़े की होती थी। जिस चर्म्मरज्जु से बैलों को बांधा जाता है उसीसे जमीन भी नापी जाती थी। अतएव भूदेशप्रमानसाधनभूता यह रज्जु वैदिक समय में-आदणचर्म्म (बैलों को बांधने की चमड़े की रस्सी) नाम से प्रसिद्ध थी।

नापना आरम्भ कर दिया। जब दवताओ को ये समाचार विदित हुए कि असुर यथ छ भूविभाग करते हुए क्रमश पश्चिम स पूव की ओर बढते हुए आ रहे हैं तो इद्ध चि ता हु । फलत यज्ञाधिष्ठाता विष्णु को आगे कर देवता वहा उपस्थित हुए। एव यज्ञ के याज से स पूण एशिया में अपना अधिकार स्थापित कर इस अपने त्रैलोक्य से असुरो को बाहिर कर दिया । तभी से देवत्रलोक्य **यज्ञभूमि देवयजनभूमि** आदि नामो से प्रसिद्ध हुआ।

आरम्भ में जो भुवनकोश **पादमभुवनकोश** नाम से प्रसिद्ध था आगे जाकर वषविभागानुसार जो भुवनकोश **वर्षभुवनकोश** नाम से प्रसिद्ध हुआ था वही सर्वा त में देवताओ के इस यज्ञ के सम्ब ध से **यज्ञभुवनकोश** नामसे प्रसिद्ध हुआ। **प्रकृत कथानक इसी यज्ञभुवनकोश का निरूपण कर रहा है।** यान रहे असुरो का यह आक्रमण एक ही समय नही हुआ था अपितु समय समय पर इसीप्रकार इनका आक्रमण होता रहता था। कभी दवता अपने बल से ही इद्ध निकाल दते थ कभी इद्ध अ य शक्तियो का आश्रय लेकर अपने त्रैलोक्य को इन आक्रमणो से बचाना पडता था। एकबार **शुम्भ–निशुम्भ** ने भी इसीप्रकार दवत्रलोक्य पर अपना अधिकार कर लिया था। जब दवता असमर्थ हो गए तो सञ्चित शक्तिमूर्त्ति जगदम्बा के आश्रय से दवता इद्ध नष्ट करने में समथ होसके । स्वय **रहस्यग्र थ (सप्तशती)** ने स महायुद्ध का विस्तार से निरूपण करते हुए कहा है –

त्रैलोक्यमि द्रो लभता देवा स तु हविर्भुज ।
यूग प्रयात (१) पाताल यदि जीवितुमिच्छथ ।।

सर्वा त मे इसी महामाया के प्रभाव से सम्पूण असुरबल नष्ट हुआ जो बच उ होने स्वत्रैलोक्यरूप पाताल का आश्रय लिया। इसी अभिप्राय से आगे जाकर **सुरथराजा** से ऋषि कहते हैं—

दैत्याश्च दे या निहते शुम्भ देवरिपौ युधि ।
जगद्विध्वसके तस्मिन् महोग्रऽतुलविक्रमे ।।
निशुम्भे च महावीर्ये शेषा पातालमायया ।।

इसीप्रकार एकबार **वज्राङ्गद** के **वेश्यापुत्र तारक** नाम के महाप्रबल असुर ने दवत्रैलोक्य पर अपना अधिकार कर लिया था। कावकुलगुरु कालिदास ने अपने सुप्रसिद्ध **कुमारसम्भव** नाम के महाका य में इसी चरित्र का निरूपण किया है। अ त में पा र्वतीन दन स्क द न **सेनानी बनकर इस असुरबल को नष्ट किया था।**

---

(१) अदृश्य दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिण अफ्रीका है अमेरिका है । यही एशियावासियों के लिए **अधोभुवनपातालम्** इस अमर परिभाषा के अनुसार **पाताल** है। यही पूवप्रतिपादित पादमभुवनकोश के अनुसार **आसुरत्रैलोक्य** था।

इसीप्रकार **त्रिपुरासुर** का युद्ध भी अ यत प्रासद्ध है। यद्याप विषय अप्रास ङ्ग है। तथापि दवामरसग्रा मानुब ध से दो श दो में इसका भी दिग्दशन करा दना आया तक रूपे ण अप्रासाङ्गक न माना जायगा। अत सक्षेप से दवासुरसग्राम स सम्ब ध रखने वाले कुछ एक आख्याना का नि शन पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाता है। इससे उ हे **वदा म इतिहास ह अथवा नहा** इस प्रश्न के सम्ब व में विचार करने के लिए पर्याप्त क्षेत्र मिलेगा। सबसे पहिले **त्रपुराख्यान** की ओर ही उनका यान आकर्षित किया जाता है।

वैदिककाल में राजागण अपने निवास के लिए तीन तीन पुरा का निर्म्माण किया क ते थ **स्वगस्थ देवताओं म एव पातालस्थ असुरों** मे इस **पद्धति** का विशेष समादर था। ये **पुर** ब्राह्मणग्र थो म **उपसत्** नाम स य हृत हुए हैं। ब्राह्मणोक्त सुप्रसिद्ध **उपसन्नाम** प्रकरण म इन दव उप दो का विस्तार स निरूपण किया गया है। इस सम्ब ध म यह अवश्य मानना पडेगा कि इस **त्रिपुरनिम्माण** का पद्धति सवप्रथम असुरो की ओर स ही उपक्रा त हुइ थी। व ही इस पद्धति के प्रथम आविष्कत्ता थ। जसाकि पूव के आदमभुवनकोश प्रकरण में बतलाया गया है तत्कालीन असुरजातिया में **मयासुर** वश **शि प कला** आदि में उच्च शिखर पर पहुचा हुआ था। इसी मयजाति को अलङ्कृत करन वाले **त्रिपुर** नाम क **मयासुर** ने सवप्रथम **त्रिपुर** नि र्माण किया था। इसी त्रिपुर स असुरगण दवताओ पर समय समय आक्रमण किया करते थ। **भूम यसागर** नाम स प्रसिद्ध **महीसागर** (मेडटनीए सी) के समीप ही एक प्रदश **मयसोपोटमिया** नाम स प्रसिद्ध है। यह श द **मयसोपोत्तम** श द का ही अपभ्र श है। यही मयासुर जाति का निवास हागया था।

स्वजप्रदेश (वत्त मान में स्वजकनाल) से आकर मयासुरजातिने इस प्रा त को अपने अधिकार म कर लिया था। आगे जाकर क्रमश पूर्वी भारत की ओर बढत हुए इस जाति ने खाण्डववन को भी अधि-कार में कर लिया था। पूर्वी भारत में जिस प्रदेश में विशेषरूप से मयजाति ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था वही प्रा त आज **मेरठ** नाम से प्रसिद्ध है। यह **मयराष्ट्र** का अपभ्र शमात्र ही है। मयजात में सवप्रधान पद एक समय **वज्राङ्गद** नाम के असुर को मिला था। यह मयजाति का **वगपाल** (काफिले का सर्दार) कहलाता था। इसी वज्राङ्गद ने अपने वश की **तार (सर्वोच्च-सर्वश्रेष्ठ वश)** सज्ञा रक्खी। इसी **तारवश** ने किंवा **वज्राङ्गदवशने** एक बार युद्ध में इन्द्र को परास्त कर स्वगसीमारूप **तारस्य** नाम के पवत पर अपना आवासस्थान बनाया था। यहा **तारस्य** पवत आज **टारसमाउन्ट** नाम स प्रसिद्ध है। महीसागर से उत्तर की ओर यह **तारस्यगिरि** प्रातष्ठित है। यही हमारा सुप्रसिद्ध **शनताथ** है। पुराणो में इस तीथ का बडा माहा म्य बतलाया गया है। उपर्युक्त वज्राङ्गद परम वश्यागामा था। एक वश्या से वज्रा ङ्गद के **तारक** नाम का महा प्रबल असुर उत्पन्न हुआ था जिसके शौर्य्य का **तस्मिन् विप्रकृता काले तारकेण दिवौकस** इत्यादि रूप से पूव में उल्ल ख किया जाचुका है।

इसी तारकासुर के आगे जाकर विश्वविख्यात-**विद्यु न्माली तारकाद अम्बुजाद** ये तीन महापराक्रमी पुत्र उत्पन्न हुए। इन्होंन भी पितृमर्य्यादा का अनुगमन करते हुए दवबल को यथ छ कष्ट दिया। प्रकृत में इस वशम्परा से हमें केवल यही कहना है कि एकबार **स्वर्ग (इ द्रराष्ट्र)** पर अधिकार करन की इच्छा से वज्राङ्गद

ने अपनी मयजाति को आज्ञा दी कि— तुम कोई ऐसे पुर बनाओ जिनक बल से बडी सरलता से देवबल को परास्त कर स्वर्गप्रदेश पर अधिकार स्थापित किया जासके । फलत त्रिपुर नाम के मय ने (जो कि शि पविद्या के साथ साथ य तिषविद्या में भी महा पारङ्गत था) वज्राङ्गद की उक्त कामना पूरी की । तूरप त की दक्षिण उप यका में त्रिपुर ने लाहमयी पुरी का निर्म्माण किया एव यह लौहपुरी पृथिवीलोकस्था क लाइ । तारपवत के शिखर पर सु र्ण की पुरी बनाइ गइ । एव भूम यसागर के पूवा तटपर (जिस प्रदेश को हम अ तरिक्ष कह सकत हैं) रजतमयी (चादी की) पुरी बना गइ । यह राजती पुरी द्यावाभूम की सीमा का स्पश करने के कारण त्रिपुरी नाम से प्रसिद्ध हुइ । यही स्थान आज भी एटलस् में ट्रिपुली नाम से प्रसिद्ध है । यह अवश्य ही त्रिपुरी श द का अपभ्रश है । यह त्रिपुरी किवा ट्रिपुली स्थान के अनुपात स ग्रीनवीच से १२ अ श ऊन ३६–अ श पर (३५–४८) स्थित है एव उ जैन से पश्चिम ३६–५५ देशा तर पर स्थित है ।

इन तीनो पुरियो में जो सब से अद्भुत चम कार था वह यह था कि प्र येक पु यनक्षत्र में तीनो पुरिया एक दूसरी स बद्ध होजाती थी । ऐसे ही समय मे असुरगण इन में ैठ कर देवताओ पर बड वग से आक्रमण किया करत थ । इन तीनों पुरयो के सञ्चालक क्रमश तारक के विद्य माली तारकाक्ष अम्बुजाक्ष नामक तीन पुत्र थे । विद्य माली आयसी (लौहमयी) पुरी का अ यक्ष था राजती का अ यक्ष अम्बुजाक्ष था एव हैमवती का सञ्चालक तारकाक्ष था । जब इस त्रिपुर से दवबल अत्य त त्रस्त होगया तो आगे जाकर भगवान् यम्बक के द्वारा इस त्रिपुरी का नाश हुआ । इन तीनो पुरियों के खण्ड खण्ड कर यम्बक ने महीसागर में डालकर त्रिपुरासुर का सवश विनाश कर सर्वा त में इसी महीसागर में युद्धयज्ञसमाप्तिलक्षण अवभृथस्नान किया था । य बकस्नान से ही यह प्रदेश पुराणो में शवतीर्थ (महादेवी ?) नाम से प्रसिद्ध हुआ । त्रिपुर वस के कारण ही भगवान् शङ्कर— त्रिपुरारि नाम से ही प्रसिद्ध हुए ।

जब दवताओने देखा कि असुरगण पुरनि र्माण स अपने बल को हानि पहु चा रहे है तो तदनुसार होन भी तीन पुरो का निर्म्माण कर इनके बल से आगे जाकर असुरबल का विनाश किया । यही देवत्रिपुरी ब्राह्मणग्र थो में उपसत् (उपसीद ति यत्र देवा) नाम से प्रसिद्ध हुए । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर ब्राह्मणश्रु ति कहती है—

"* देवाश्च वाऽअसराश्च–उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे । ततोऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरे–अयस्मयीमवास्मिल्लोके रजताम तरिक्ष हरिणी दिवि । तद्ध देवा अस्पृण्वत । तऽएताभिरुपासीदन् । तस्मादुपसदो नाम । ते पुर प्राभि दन् । इमॉ लोकान्–प्राजयन्" ।

—शत ब्रा ३ का ।४ अ ।४ ब्रा ।३–४–क ।

* इस आख्यान का अ या म अधिदवत अधिभूत तीनों चरित्रो के साथ स ब ध है । प्रकृत में आधिभौतिक (ऐतिहासिक) चरित्र की दृष्टि से ही यह श्रु ति उपात्त हुइ है ।

इसीप्रकार वराहासुर का युद्ध भी वेदों में बड़ा महत्व रखता है। आज भारतीय प्रजा को अन्न वस्त्र का जो कष्ट उत्पीड़ित कर रहा है देवयुग में इस चिन्ता से भारतीय-प्रजा सर्वथा विमुक्त थी। स्वर्गाधिपति इन्द्र की ओर से पृथिवी लोकस्थानीया भारतीय प्रजा के लिए अन्न वस्त्र का प्रबन्ध सुव्यवस्थित था। साथ ही प्रत्येक प्रजा का (मानवधर्म्मशास्त्रानुसार) कर्त्तव्य भी इन्द्र की ओर से ही नियत था। चिकित्सा दस्यूपद्रवों से रक्षा अन्न वस्त्र का प्रबन्ध आदि जीवनरक्षोपयोगी सम्पूर्ण साधनों की व्यवस्था राष्ट्रपति इन्द्र के द्वारा ही सुव्यवस्थित थी। इसप्रकार इन्द्र के द्वारा निर्दिष्ट कर्त्तव्यपथ पर आरूढ़ रहती हुई वर्णाश्रमधर्म्मानुगामिनी प्रजा (देवयुग में) सम्पूर्ण भूतचिन्ताओं से सर्वात्मना उन्मुक्त थी।

भारतीय प्रजा के परिपालन के लिए भारतवर्ष में जो अन्न का कोश (अन्न का गल्ला) सुरक्षित रहता था वह वाम नाम से प्रसिद्ध था। उसके विभागाध्यक्ष (बटवारा करने वाला के सर्दार) वामदेव थे। एवं इस अन्न की रक्षा के लिए पितामह प्रजापति के औरस पुत्र आङ्गार नियत थे। वसोर्धारानगरी में यह अन्नकोश सदा प्रभूत मात्रा में विद्यमान रहता था। आङ्गार की आज्ञा से वामदेव के द्वारा आवश्यकतानुसार भारतीय प्रजा में अन्नवितरण होता रहता था। एक समय एमूष नाम से प्रसिद्ध वराहासुर ने इस अन्नकोश पर आक्रमण किया। यह वराह असुर आसुरत्रैलोक्य-प्रदेश में सात पर्वतों को अपनी पुरियों का रक्षक बना कर बड़े सुरक्षित अगम्य अतिशय स्थान में निवास करता था। वसोर्धारा से पश्चिमस्थ इस असुरप्रान्त के मध्य में सात पर्वत आते थे। सातों के आगे क्रमशः २१ पत्थर की पुरियां थी। सबसे अन्त की पुरी में वराह असुर निवास करता था। वसोर्धारा पर आक्रमण कर सम्पूर्ण अन्न चुरा कर वराह अपने सुरक्षित स्थान में जा छिपा। जब ये समाचार विष्णु और इन्द्र को मिले तो इन्होंने परस्पर की मन्त्रणा से गुप्तरूप से उस अगम्य स्थान का अन्वेषण कर इस असुरबल का विनाश किया। इसी सुप्रसिद्ध आख्यान का निरूपण करती हुई कृष्णश्रुति कहती है—

"विष्णुर्यज्ञो देवेभ्य आत्मानमन्तरधात्। तमन्यद्देवता नाविदन्। इन्द्रस्त्ववेत्। विष्णुरिन्द्रमब्रवीत् को भवानिति ?। इन्द्रोऽब्रवीत् दुर्गाणामसुराणां हन्ताऽहम्। भवान् क ?। विष्णुरब्रवीत्-अहं दुर्गादाहर्त्तास्मि। त्वं तु दुर्गं हन्ताऽसि। इत्यतो वराहमसुरं जहि। स हि वराहो वाममुष (अन्नमुष) एकविंशत्या पुरां पारेऽश्ममयीनां वसति। तस्मिन्नसुराणां वसु वाममस्ति। तत इन्द्रस्तां पुरामत्वा वराहस्य हृदयमविध्यत्। ततस्तत्र यदासीत्— तद्विष्णुराहरत्"—

—तै० सं० ६।२।४।

वराह असुर के प्रासाद में अन्यान्य भोजन सामग्रियों के साथ प्रतिदिन शत (१००) महिष (भैंस) क्षीरौदन के साथ परिपक्व होते थे। जिस समय विष्णु गुप्तरूप से वराह के दुर्ग में पहुँचे थे उस समय वराह असुर की माता सेवक वर्ग से भोजन की व्यवस्था करा रही थी। तत्काल विष्णु ने इन्द्र के सहयोग से परोक्षा-क्रमण (छापा मार) कर वराह के द्वारा लाए गए अन्नकोश के साथ साथ यह सम्पूर्ण भोजन सामग्री भी अपने अधिकार में करली। इसी घटना का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है–

अस्येदु मातु सवनेषु सद्यो मह पितु पपिवाञ्चान्ना ॥
मुषा यद् विष्णु पचत सहीयान् विध्यद्वराह तिरो अद्रिमस्ता ॥१॥
—ऋक्स १६।१।७।

विश्वेत्ता विष्णुराभरत् उरुक्रमस्त्वेषित ।
शत महिषान क्षीरपाकमोदन वराहमिन्द्र एमुषम् ॥२॥
—ऋक स ८।७७।१ ।।

इसीप्रकार एकबार **पणिजाति** की गायो को **बल** नाम के असुर ने चुरा ली थी । इस सम्ब ध म भी दवता और असुरो में घोर सग्राम हुआ है । अ त में इन्द्र के हाथ **से बलासुर** मारा गया है । तभी से इन्द्र **बलाराति** नाम से प्रसिद्ध हुए है । इस विजय के उपलक्ष म पणियो की ओर म **विपाशा** (आजकल **यास** नाम से प्रसिद्ध) नदी के निगम गिरिप्रदश में **विजयाभिनन्दन महोत्सव** सम्पन्न हुआ था । यहा **अभिगर प्रतिगर*** के द्वारा इन्द्र का बडा सम्मान हुआ था । (दखिए ऋक्स १ मण्डल । १ दशू ।) ।

इसप्रकार समय समय पर दवता और असुरो में युद्ध हुआ करत थ । यो तो दवासुरसग्राम अनन्त है । परन्तु ऋग्वदकाल में १२ महासग्राम मुख्य माने गए हैं । कृष्णसमुद्र (लेकसी) स पश्चिम आमानिया प्रान्त में असीरिया प्रान्त मे स्वग में भूमि में आदि तत्तत् स्थानो में १२ महायुद्ध हुए है । व १२ महायुद्ध निम्न लिखित नामो से प्रसिद्ध है—

द्वादशमहासग्रामा —

१ आडीबक	५—त्रैपुर	९—ध्वजयुद्ध
२ कोलाहल	६ मा धक	१० बलिब ध
३ हालाहल	७ तारक	११ हैरण्याक्ष
४ जलाधमन्थन	८ वार्त्र	१२ नारसिंह

भारतवष के किंवा दवविभूति के सौभाग्यसूर्य्य को अस्त करने वाला जो अन्तिम युद्ध हुआ उसके अनन्तर देवबल प्राय क्रमश अवनति को ही प्राप्त होता गया । वह युद्ध इतिहास **ताराहरणोपाख्यान** नाम से प्रसिद्ध है । कहना न होगा कि आज भी उसी प्रकार रूपान्तर मे दवबल पर आसुरबल का आक्रमण होरहा है । उस समय की एव आज के समय की परिस्थिति में अन तर इतना ही है कि उस समय देवबल सावधान था **विज्ञान—यज्ञ तप** आदि बलो से युक्त था । जबकि आज का भारत वदिक साहित्य की उपेक्षा करता हुआ अपने उक्त बलों से वञ्चित रहता हुआ पदे—पदे पराभूत एव अपमानित ही होरहा है ।

* प्रतिष्ठित पुरुष के लिए जो अभिनन्दनपत्र पढा जाता है उसे वदिक—परिभाषा में **अभिगर** कहा जाता है एव उस सत्कृत पुरुष की ओर स पढा जाने वाला उत्तरपत्र **प्रतिगर** कहलाता है ।

भारतवर्ष विस्मृतप्राय वैदिक साहित्य का अपना कर तद्द्वारा पुन असुरबल पर विजय प्राप्त करें यही मङ्गल कामना करते हुए प्रकृत आख्यान से सम्बन्ध रखने वाले आधिभौतिक चरित्र को अब उपरत किया जारहा है।

देवासुरदायविभागसम्बन्धी आधिभौतिकचरित्र उपरत

---*---

देवासुरदायविभागाख्यानानुगत आध्यात्मिक-समन्वय—

यथा अण्ड तथा पिण्ड इस सिद्धान्त के अनुसार आधिदैविक ब्रह्माण्ड की जो स्थिति है ठीक वही स्थिति आध्यात्मिक पिण्ड की समझनी चाहिए। जिसप्रकार आधिदैवत में देवासुर-त्रैलोक्य-व्यवस्था है इसीप्रकार अध्यात्म में भी त्रैलोक्य व्यवस्था व्यवस्थित है। पूर्व भाष्य में अनेक बार इस आध्यात्मिक-त्रिलोकी का निरूपण किया जाचुका है जैसाकि विषयसूची से विदित होगा। अत इस सम्बन्ध में विशेष कुछ न कह कर प्रकरण सङ्गति के लिए केवल यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि हमारे शरीर में हृदय से नीचे का सम्पूर्ण प्रदेश आसुरत्रैलोक्य है एवं हृदय से ऊपर का मस्तक पर्य्यन्त सम्पूर्ण प्रदेश देवत्रैलोक्य है। यह विभागव्यवस्था हममें २६ वर्ष के अनन्तर ही अभिव्यक्त होती है। १ वर्ष पर्य्यन्त सम्पूर्ण अध्यात्मजगत् में केवल असुरों का ही साम्राज्य रहता है। औपनिषद विज्ञान के पारज्ञाता विद्वान् यह भलीभाति जानते हैं कि— इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति (छान्दोग्य उपनिषत् की पञ्चाग्निविद्या) इस छन्दोग सिद्धान्त के अनुसार पुरुष का प्रधान उपादान अप् तत्त्व (पानी) ही है।

प्रत्यक्ष में भी हम पानी की ही प्रधानता देखते हैं। पिता के शुक्र एवं माता के शोणित के समन्वय से (मिथुनभावरूप याज्ञिक समन्वय से) ही प्रजोत्पत्ति होती है। शुक्र शोणित दोनो ही तरल पदार्थ हैं अब्रूप हैं। भार्गव सौम्य पानी को शुक्र कहते हैं एव यह पुरुष मे प्रतिष्ठित है। आङ्गिरस आग्नेय पानी को शोणित कहते हैं एवं यह स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित है। दूसरे शब्दों में शुक्र भृगुतत्त्व है शोणित अङ्गिरातत्त्व है। आपो भृग्वङ्गिरारूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् इस अथर्व सिद्धान्त के अनुसार शुक्र शोणितरूप आध्यात्मिक भृग्वङ्गिरा दोनों ही पानी हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पूर्व के आधिभौतिक चरित्र के अनुसार आप्यप्राण का ही नाम असुर है। ऐसी अवस्था में यह सिद्ध होजाता है कि आप्यप्राणमय अतएव आसुरभावप्रधान शुक्र शोणित के समन्वय से उत्पन्न होने वाली प्रजा में आरम्भ में असुरों का ही साम्राज्य रहता है। कम से कम पार्थिवप्रजा में तो अवश्य ही कुछ समय के लिए अध्यात्मसंस्था पर असुरो का ही अधिकार रहता है। कारण स्पष्ट है।

अद्भ्य पृथिवी इस सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड का निर्म्माण पानी से ही हुआ है। यह आपोमयी पृथिवी अप सम्बन्ध से आसुर प्राणमयी है। यही पार्थिवरस पार्थिव प्रजा का जीवनीय रस है। देवता की विकासभूमि सूर्य्य है। सम्पूर्ण देवता बुद्धिरूप से अध्यात्मसंस्था में प्रविष्ट होते हैं। बुद्धि की प्रतिष्ठाभूमि

मन है। यह मन पुरुष के १६ वष प य त अपरिपक्व रहता है। १६ व वष में पार्थिवसस्था (शरीर) के साथ साथ जब मन पूर्णरूप से परिपक्व होजाता है तभी **सौरी-बुद्धि** को पूर्णरूप से अ या मसस्था मे यक्त होने का अवसर मिलता है। इससे पहिले प्र येक मनु य **बालक** ही कहलाता है। इस अव था मे केवल **मन** की ही प्रधानता है। ज मकाल से आरम्भ कर १६ व वष पय्य त मन की चञ्चल-वृत्तियों की ही प्रधानता रहती है। इस अवस्था में इस व्यक्ति पर इतर मनुष्य का निग्रह अनुग्रह यथ छ होसकता है। क्योंकि मन स्वय अ्त है। उसमें स यलक्षण आ मनिभरता का अभाव है। किसी की भी यत्किञ्चित् सी भ र्सना से भी बालक तत्काल रोपडता है। अपने कत्त व्य का इस अवस्था में ोध ही नही होता। इसलिए इस अवस्था का सुचारुरूप से सञ्चालन करने के लिए किसी अभिभावक की अपेक्षा होती है। दुर्भाग्य से यदि यह अवस्था बालक बिना निय त्रण के निकाल देता है तो वह आगे जाकर सवथा लक्ष्य युत ही होजाता है। इसलिए माता पिता का यह आवश्यक कत्त व्य है कि जबतक बालक १६ वष का न होजाय तबतक—

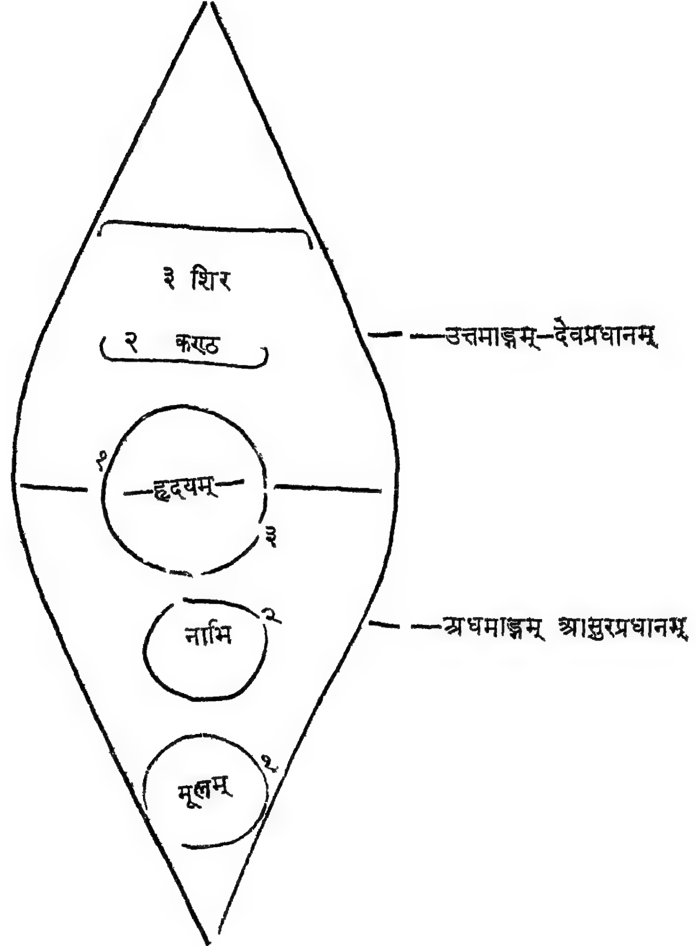
'लालनाद्बहवो दोषास्ताडनाद् बहवो गुणा ।
अत शिष्य च पुत्र च ताडयेन्नतु लालयेत् ' ॥

उक्त सिद्धा त को लक्ष्य में रखते हुए बालक के ऊपर मधुर शासन करे। अनुचित स्नेह के वशीभूत होकर जो माता पिता बालक की उपर्युक्त अवस्था में उपेक्षा कर दते है आगे जाकर वह बालक प्राप्तवयस्क होता हुआ स्था उ छ ृखल एव अमर्य्यादित बनता हुआ माता पिता के निरतिशय पश्चात्ताप का ही कारण बन जाता है जिसका कि प्र यक्ष निदशन आज भारतवष का प्रत्येक गृहस्थ बन रहा है। बतलाना इस परि थिति से हमें यही था कि १६ वष से पहिले बालक में बुद्धि यापार नही के समान ही है मन की प्रधानता रहती है। जिसप्रकार बिना सौर प्रकाश के च द्रमा स्वकृष्णरूप में परिणत रहता हुआ ब्राह्मणग्र थों में **वृत्रासुर** नाम से प्रसिद्ध है एवमेव बिना बुद्धि के सयोग के मनोरूप च द्रमा प्रकाशशून्य रहता हुआ असुरभाव प्रधान ही रहता है। सोलह वष पय्य त समझ (बुद्धि) आती नहीं समझ नही तो सुतरा नासमझी (अज्ञान) का प्रभु व सिद्ध होजाता है। अज्ञान से बढ कर और प्रबल असुर कौन होगा ?। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि आ मप्रजापति के यमभागरूप इस शरीर पर १६ वष पय्य त असुरो का ही प्रभु व रहता है। आगे जाकर क्या होता है ?। य भी सुन लीजिए। हृदय में अशनाया के अधिष्ठाता प्रादेशमित विष्णुदवता प्रतिष्ठित हैं। हृदय से नीचे पार्थिव प्राण की (अपान की) प्रधानता है हृदय से ऊपर सौरप्राण की (प्राण की) प्रधानता है। हृदयस्थ वामन विष्णु स्व अशनाया (भूख) से अन्नाकर्षण कर तद्रस से दोनों का पालन करते रहत हैं। विष्णुदेवता के इसी पालनधम्म को लक्ष्य में रखकर उपनिष छ्रु ति कहती है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति, अपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ॥
— कठोपनिषदि

अन्नमयं हि सोम्य ! मनः इस सिद्धान्त के अनुसार मन का उपादान अन्नरस (सोम) है। इसी से क्रमशः मन की पुष्टि होती है। अन्न का आगमन अशनायासूत्र (बुभुक्षा) पर निर्भर है। यदि भूख न लगे तो अन्नागमन असम्भव होजाय। अशनायासूत्र के सञ्चालक हृदयस्थ विष्णुदेवता ही हैं। इन्हीं की कृपा से शारीराग्नि में अन्नाहुति होती है। अन्नाहुतिरूप यज्ञ के सम्बन्ध से ही **यज्ञो वै विष्णुः—विष्णुर्वै यज्ञः** इत्यादि रूपसे विष्णु को **यज्ञ** कहा जाता है। इस **वैष्णवयज्ञ** का परिणाम यह होता है कि अन्नरस के क्रमिक आगमन से मन क्रम क्रमशः सबल होता जाता है। आगे जाकर १६ वें वर्ष में अन्नरसागमन से जब मन अपना पूर्ण स्वरूप प्राप्त कर लेता है तो तत्काल सौर बुद्धिभाव का उदय होजाता है। अज्ञानमूर्त्ति असुरों का एकच्छत्र शासन उठ जाता है। शरीर में देवताओं का भी प्रभुत्व हो जाता है। इसी अवस्था में उत्तमाङ्ग-अधमाङ्ग विभागों का विकास होता है। १६ वर्ष से नीचे मनुष्य को मानव-सभ्यता की उत्तमता अधमता का अनुभव नहीं होता। १६ वर्ष के अनन्तर ही उसे **अयं साधुः अयमसाधुः** यह विवेक होता है। इसप्रकार विष्णु देवता यज्ञ के व्याज से अध्यात्मसंस्था के दो विभाग कर देते हैं। इन विभागों की सीमा पर्व कथनानुसार हृदय ही है। और आध्यात्मिक देवासुर दायविभागानुवर्त्ती तत्त्व की यही संक्षिप्त स्वरूपदिशा है।

देवत्रिलोकी	आसुरत्रिलोकी
शिर —द्यौ	मूलस्थानम-द्या
कण्ठ -अन्तरिक्षम	नाभि --- अन्तरिक्षम
हृदयम्-पृथिवी	हृदयम्--- पृथिवी



दवासुरदाथविगाग्यानानुगत–प्राधिदैविकचरित्र का ममन्वय––

सूचीकगाध्याय मे आख्यान के आधिभौतिक (एतिहासिक) एवं आध्यात्मिक–चरित्र का दिग्दर्शन करा दिया गया। अब क्रमप्राप्त आधिदैविक–रहस्य की ओर हम प्रेमी पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। सृष्टि के आरम्भ–काल म दवता और असुर दोनो का इस भूपिण्ड पर समाना अधिकार न था। आरम्भ में सम्पूर्ण पृथिवी–मण्डल पर असुरो का ही साम्राज्य था। जबतक भूपिण्ड एकमात्र असुरो के अधिकार म ही रहा तबतक वह सवथा अयज्ञिय रहा। आगे जाकर दवताओने विष्णु की सहायता से इसे याज्ञिय प्रदेश बनाया। विष्णु के द्वारा भूपिण्ड का जो प्रदश यज्ञिय बन गया वही स्थान आगे जाकर वेदि नाम से प्रसिद्ध हुआ। साथ ही वदिरूप इस यज्ञप्रधान भूप्रदश से असरो का आधिपत्य सदा के लिए हट गया। देवताओने निर्विघ्न इस प्रदश पर यज्ञवितान किया। तद्द्वारा पार्थिव प्राणदवताओने अमृतमयी स्वर्गप्रतिष्ठा प्राप्त की। सृष्टि के आरम्भ म उक्त चरित्र हुआ था एवं जबतक पार्थिव–संवत्सर स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहेगा तबतक इसी प्रकार देवयज्ञ वितत होता रहेगा।

इस आधिदैविक–चरित्र म भूपिण्ड–गायत्री–त्रिष्टुप्–जगतीछन्द–विष्णु–देवता इतने ज्ञातव्य विषय है। इन पदार्थो के स्वरूप–समन्वय से उक्त चरित्र का वैज्ञानिक भाव सर्वात्मना गतार्थ होजाता है। इन सब पदार्थों की मूलप्रतिष्ठा भूपिण्ड है। अत सवप्रथम उसी के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया जाता है। अद्भ्य पृथिवी इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पानी से भूपिण्ड का स्वरूप–निम्माण हुआ है। पानी ही वायु के सम्बन्ध से क्रमश आप फेन मृत् सिकता शर्करा अश्मा अय हिरण्य इन आठ अवस्थाओ म परिणत होकर भूपिण्ड का स्वरूप–सम्पादक बन गया है। जिसप्रकार देवप्राण अग्निप्रधान है उसी प्रकार असुरप्राण अप्‌प्रधान है। आप्यप्राण को ही असुर माना जाता है। कारण स्पष्ट है। असु राति–ददाति के अनुसार बलाधायक प्राण ही असुर है। बल का प्रवत्तक प्राण ही असुर है। वह प्राण आपोमय प्राण के अनुसार आप्यप्राण ही है। जबतक भूपिण्ड में पूर्ण घनता नही आजाती तबतक इस में अग्नि उक्थरूप से प्रतिष्ठित नही होता। अग्नि सत्य तत्त्व है। सहृदय––सशरीरी भाव ही सत्यभाव है। सर्वात्मना पिण्ड (शरीर) निर्माण होने के अनन्तर ही भूपिण्ड में हृदयभाव उत्पन्न होता है। हृदयोत्पत्ति के अनन्तर ही वहा सत्याग्नि को प्रतिष्ठित होने का अवसर मिलता है। पिण्डनिम्माणकाल में पृथिवी सवथा काल्वालीकृता (कर्दम से व्याप्त) कादा कीच से युक्त ही रहती है। एवं इस अवस्था म सर्वात्मना पानी की ही प्रधानता रहती है। अग्नितत्त्व प्राय सवथा अप्रतिष्ठित रहता है। पानी की प्रधानता से काल्वालीकृता पृथिवी पर आप्यप्राणमूर्त्ति असुरो का ही (उस अवस्था में) आधिपत्य रहता है। भूपिण्ड की इस आप्य–प्राण–प्रधाना अवस्था को लक्ष्य में रख कर ही अस्माकमेवेदं खलु भुवनम् यह कहा गया है।

गुणदोषमय सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी इस सिद्धान्त के अनुसार विश्वरचना में गुण–दोष दोनो भावों का योग रहता है। यही नही अपितु विश्वरचना के सम्यक निरीक्षण से यह स्पष्ट प्रतीत होजाता है कि विश्व में गुणभाव गौण है एवं दोषो की ही प्रधानता है। कारण यही है कि सृष्टि तमोमूला है। तम स्वय एक महादोष है। ऐसी अवस्था में तम प्रधान विश्व को दोष–प्रधान मानना युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। विश्वव्यापिनी गुण दोष विभूति ही शास्त्र में क्रमश दैवीसम्पत्ति आसुरीसम्पत्ति

नामो स व्यवहृत हुइ है । सम्पूण विश्व गुण–दोष की प्रतिस्पर्द्धामात्र है । कही गुणभाव का विनय है पर तु क्वाचि क । कही दोषभाव का साम्रा य है कि तु प्राय सवत्र । गुणदोष की प्रतिस्पर्द्धा क्या है दवासुरस ग्राम ही है ।

जिस विश्व में उक्त दवासुरसग्राम होरहा है व विश्व स्वयम्भू परमेष्ठी–सूर्य्य च मा प्रथिवी इन पाच भागो में विभक्त है । पाचो पर्वा में देवता (गुणविभूति) एव असुर (दोषविभूति) दोनो प्रति ठत रहते हैं । सब स पहले इन पाचो विश्वपर्वा की गुणविभूति को ही लीजिए । स्वयम्भू की गुण–विभूति ऋषि है परमेष्ठी की गुणविभूति पितर है सूर्य की गुणविभूति देव है च मा की गुणविभूति ग धव है एव प्रथिवी की गुणविभूति मनुष्य है । य पाचो ही प्राणरूप है । जिस प्राणी म जिस प्राण की प्रधानता रहती है दूसरे श दों मे जिस प्राणी म जो प्राण विकसित रहता है वह प्राणी भूलोक मे उसी नाम से यवहृत होता है । निष्कष यही हुआ कि स्वयम्भू के प्राणदेवता ऋषि है परमेष्ठी क प्राणदेवता पितर है सूर्य्य क प्राणदेवता देव है च मा क प्राणदेवता ग धव है एव प्रथिवी क प्राणदेवता मनुष्य (वश्वानरप्राण) है ।

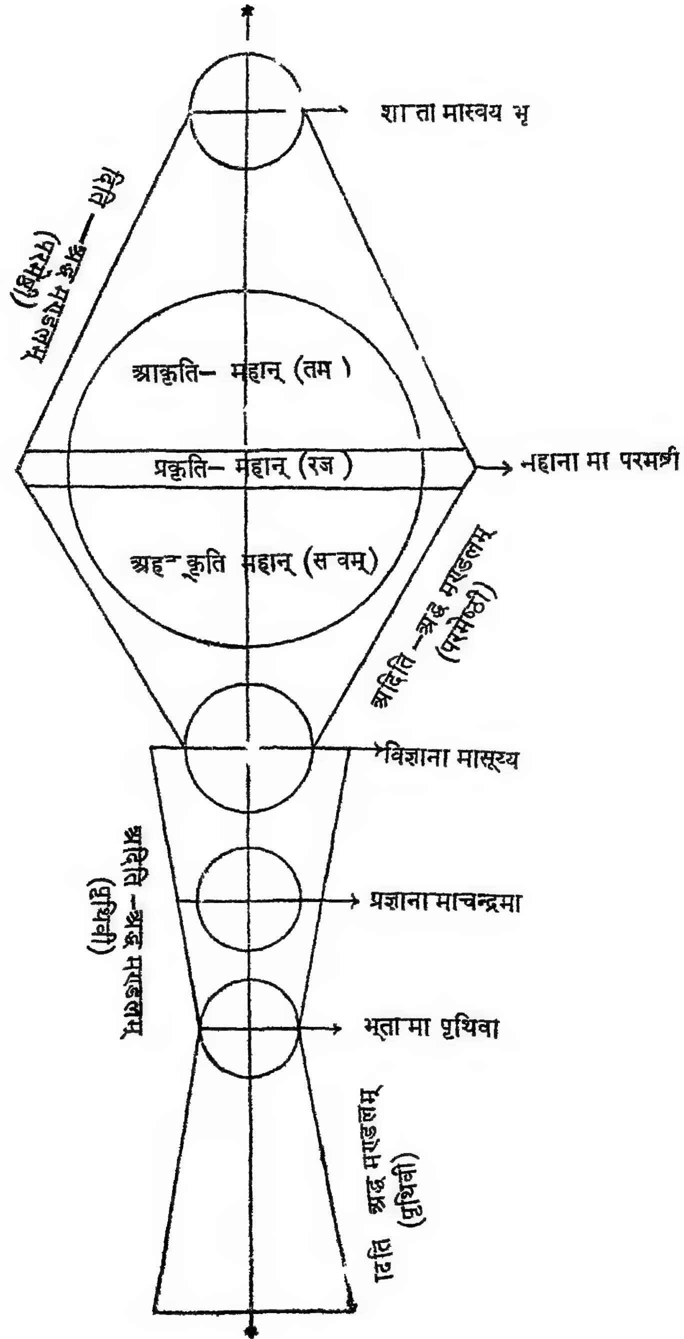
यह तो हुआ पाचो पर्वा की दिव्यविभूति का दिग्दशन । अब चलिए आसुरी विभूति की ओर । स्वयम्भू की आसुरी विभूति बल है । स्वाय भुव असुरप्राण बल नाम स प्रसिद्ध है । ज्ञानमूर्त्ति इ द्र इस बलग्रन्थि के विघातक है अतएव इ द्र को बलाराति (बल का शत्रु) कहा जाता है । पारमेष्ठ्य असुर प्राण अनिरुक्त तम नाम से प्रसिद्ध है सौर असुरप्राण नमुचि कहलाता है चा द्र असुरप्राण वृत्र नाम स प्रसिद्ध है एव पार्थिव असुरप्राण साहकेय नाम से यवहृत हुआ है ।

योति प्रकाश है तम अ धकार है । देवता और असुर दोनो का सामा य लक्षण योति एव तम पर ही निर्भर है । योतिर्भाग देवता है एव तमो भाग असुर है । यह योतस्त व ज्ञान योति अ योति स्व योति पर योति रूप योति भेद स पाच भागों में विभक्त है । ज्ञान योति का स्वाय–म्भुव ऋषिप्राण से अ योति का पारमेष्ठ्य पितरप्राण से स्व योति का सौर देवप्राण से पर योति का चा द्र ग धव [साम्य] प्राण से एव रूप योति का पार्थिव मनुष्यप्राण से सम्ब ध है । अ यक्त स्वय भू ज्ञान योतिमय है अतएव वहा असुरो की प्रधानता नही रहती । परमे ठी वायुरूप होने से यद्यपि अ योति है पर तु सौर दशपूर्णमास के कारण परमे ठी में परज्योति का भी उदय हो जाता है । परमे ठी स्वस्वरूप से अनिरुक्त तमोरूप है । इसके चारा ओर सूर्य परिक्रमा करता है । सू य की परिक्रमा से परमेष्ठी का जो भाग प्रकाशित होजाता है वही भाग अ या मभाषा मे सत्त्वमहान कहलाता है । अप्रकाशित भाग तमोमहान् एव सा यभाग रजोमहान् कहलाता है । स्वयम्भू अ यक्त है परमेष्ठी महान् है । सूर्य्य परिक्रमाकृत तम प्रकाश के तारतम्य से ही परमे ठी महान् में सत्त्व रजस तमो भेद से त्रगुण्य का उदय होजाता है । जो भाग स वप्रधान है उसमें पितर प्राण का साम्रा य है । जो भाग अप्रकाशित है उसमे अनिरुक्त तमोरूप असुरप्राण की प्रधानता है । एव स धिगत प्राण ग धव नाम से प्रसिद्ध है । नि नलिखित रेखाचित्र स त्रिगुणा मक आकृति–प्रकृति–अहङ्कृतिरूप तम रज स वानु–ब धी महान् का स्वरूप सर्वा मना यक्त होरहा है ।

महानात्मविव त्रयी–स्वरूपपरिलेख —

चिदा मा

[प्र स ६२ स ६९१ के म य म ।



तीसरा है सूर्य्य। सूर्य्य स्व योति मय है। अतएव सौरमण्डल में तमोमय असुरों का प्रवेश सर्वथा निषिद्ध है। यहां सदा योति मय (ज्ञानज्योतिर्गर्भित भूतज्योतिर्मय) देवताओं का ही साम्राज्य रहता है। वृष्टि के उपक्रमकाल मे मेघगत नमुचि प्राण अ श्य ही थोड़ी देर के लिए अन्तरिक्ष में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है। परन्तु थोड़े ही समय में सौर इन्द्र रश्मिरूप वज्र से मेघगत नमुचि का शिरश्छेद कर देते है। जो नमुचि पानी का अवरोध कर प्रजा का उत्पीडन कर रहा था वह नष्ट हो जाता है वृष्टि होने लगती है। असुरविनाश से प्रजा मे पूर्ण शान्ति होजाती है। चौथा चन्द्रमा है। जो तिथि पर्ण की है व ी सकी है। सूर्यप्रकाश से प्रकाशित चन्द्रभाग देवमय है इसका पृष्ठभाग वृत्रासुरमय है एवं मध्यभाग गन्धर्वप्रधान है। पांचवा है भूपिण्ड। यह केवल रूपज्योतिर्मय है। अतएव आरम्भ मे तमोमय असुरों का ही साम्राज्य मानना पड़ता है। भूपिण्ड भूतप्रधान है। यहां आवरण की पराकाष्ठा है प्रकाश सर्वथा पराभूत होरहा है। **जिस समय भूपिण्ड बनकर सम्पन्न हुआ होगा उस समय-[जबतक सौर प्रकाश का भी भूपिण्ड के साथ सम्बन्ध नहीं हुआ था] इस पर आप्यप्राण-प्रधान तमोमय असुरों का ही साम्राज्य रहा होगा** यह मान लेना युक्तिसङ्गत ही प्रतीत होता है। भूपिण्ड की उसी प्रारम्भिक स्थिति को लक्ष्य में रखकर ब्राह्मणश्रुति ने कहा है- **अथाहासुरा मेनिरे-अस्माकमेवेदं खलुभुवनमिति।**

पूर्व दिग्दर्शन से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि रूपज्योतिर्मय भूपिण्ड स्वस्वरूप से सर्वथा कृष्ण है। जबतक सौर सम्वत्सरयज्ञ का इसके साथ सम्बन्ध नहीं होता तबतक सम्पूर्ण भुवन असुरों के ही (तम के ही) अधिकार में रहता है।

स्रष्टा-षोडशी—प्रजापति

	विश्वपर्वाणि	देवभावा	असुरभावा	ज्योतींषि	तमोभावा
१	स्वयम्भू	ऋषय	बलास्या	ज्ञानज्योति	बलावरणम्
२	परमेष्ठी	पितर	अनिरुक्त तम	अज्योति	अनिरुक्त तम
३	सूर्य्य	देवा	नमुचि	स्वज्योति	×
४	चन्द्रमा	गन्धर्वा	वृत्र	परज्योति	कृष्णपक्षान्धकार
५	पृथिवी	मनुष्या	सहिकेय	रूपज्योति	रात्रस्तम

"गुणदोषमय सर्व स्रष्टा सृजति कौतुकी"

आग जाकर **वामन विष्णु** की स ायता से देवता पृथिवी पर आत हैं एव यज्ञोपयुक्त प्रदश पर अपना अधिकार स्थापित कर लेते हे। प्रकृत कथानक से ऐसा प्रतीत होता है कि यदि **विष्णुदेवता** अन्य देवताओ के अग्रणी न बनते तो दवता अपना दायभाग लेने में सवथा असमथ ही रहते । दवताओन कहा क्या ? **भूपिएड क जितने प्रदेश भ वि णु दे ता या न हो नाय वह भूप्रदेश हमारा शष तुम्हारा** । असुरोन इस देवकामना को स्वीकार कर लिया । फलत दवताओन पूव की ओर विष्णु को प्रातष्ठित कर चारो ओर से इसे छ दो स वष्टित कर दिया । छ दोऽवच्छिन्न विष्णु जितने प्रदश मे याप्त हुए दवताओन उस प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया ।

यज्ञो वै विष्णु)ता ब्रा ६।६।१)- **विष्णुव यज्ञ** (ऐ १।१५) इ यादी श्रुतिया **यज्ञ** और विष्णु को अभिन्नाथक ही मान रही है। उवर **अग्निर्वै यज्ञमुखम** (त ब्रा १ ६।८) **एष हि यज्ञस्य सुक्रतुयदग्नि** (शत १।४।१। ५)- **आ नव योनियज्ञस्य** (शत १।-५।२।११-१४। **अग्निरु वै यज्ञ** (शत ५।२।३।६।) इ यादि श्रुतिया अग्नि को ही यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा बतला रही है। **आहुतिर्हि यज्ञ** (शत ३ १ ४।१) से **आहुति प्रक्रिया** को ही **यज्ञ** माना जारहा है। इन सब श्रौत वचनो के सम वय स हम यज्ञ के **अग्नौ सोमाहुतियज्ञ** इस लक्षण पर विश्राम करते है। अग्नि **अन्नाद** है सोम **अन्न** है। अन्नाद अग्नि में अन्न सोम की आहुति होन से अन्न और अन्नाद का रासायनिक मिश्रण होता है। दोनो ह पूव रूप छोडते हुए किसी तीसर अपूव स्वरूप मे परिणत हो जात है **अन्नादान्न क मिश्रण से उपन्न यह अपव पदाथ ही यज्ञ कहलाता है**। अन्नादान्न की सम्मिश्रण प्रक्रिया ही यज्ञपदाथ है। अतएव **तात्स्थ्यात्ता छ द्यम्** इस याय से य **आहुति-प्रक्रिया** भी यज्ञ कहलाने लगती है। अतएव आहुतकाल में **क्या होरहा है** ? इस प्रश्न के उत्तर में **यज्ञ होरहा है** यह यवहार देखा जाता है।

दाहक पदाथ अग्नि है एव **दाह्य** प दाथ सोम है। **सूयते इति सोम** । यह त व आहुत हाने से ही सोम नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि सोमवल्ली से निकलने वाला रसविशेष भी सोम है किन्तु यापक लक्षण के अनुसार अन्नादाग्नि म आहुत होने वाले पदाथ मात्र **साम** श द से यवहृत किए जासक्त है। **इध्म घृत -तिल-मा सरस** आदि सभी सोम है। अग्नि और सोम का समन्वितरूप ही यज्ञ है। अतएव जहा यज्ञाव गु को **अग्नि** क ा जाता है वहा- **यतन्त्रमव स विष्णुर्देवता** (शत ।५।१।२१। - **सोमो वैष्णवो राजा** (शत १३ ४।३।८।) **यो वै विष्णु सोम स** (शत ३ ३।४।२।) इ यादिरूप से यज्ञा मक वि णु का **सोम** श द से भी यवहृत किया गया ह। अग्नि-सोम-मय यज्ञमूर्त्ति विष्णु की प्रथम विकास भूमि सू य ही है। सूय्य हक सान्त्राग्निमय है। रो सी- ब्रह्माएड मे सवप्रथम इसी सौर आ नमय अतएव **हिरण्यगभ** नाम से प्रसिद्ध **धामनिधि** का ही प्रादुभाव हाता है जसा कि **हिरण्यगभ समवत्तताग्रे** इ यादि म त्रवणन स स्पष्ट है

सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम् (शत २।२।५।१।) यह वचन भी सूय्य को ही पहिला **अग्निहोत्र** बतला रहा है। यह सौरयज्ञ भूत योतिम्मय है। यहा (सौर मण्डल में किंवा यज्ञरूप विष्णुमण्डल में) कभी तम का प्रवश नही होता अतएव पुराण-भाषा में इस सौर विष्णु को **श्वेतद्वीपनिवासी स यनारायण भगवान्** कहा जाता है। सौर अग्नि **सत्य है** -(दखिए शत ४।१।२।२५) । यह स याग्निपिण्ड (सूय्य

बिम्ब) आपोमय परमष्ठी– मण्डल म प्रतिष्ठित है। य सूर्य के चारो ओर याप्त र न वाले मा अपमम् को लक्ष्य में रख कर मन्त्रश्रुति कहती है –

अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा दवा उचिष धिष्ण्या य।
या रोचन परस्तात्सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आप ॥

—ऋक्स ३। ।३।

नारदप्राण से उत्पन्न होने के कारण ही पानी को **नार** कहा जाता है। यही सूर्य का **अयन (प्रतिष्ठाभूमि)** है। अतएव सूर्य को **स यनारायण** कहना सवथा अनुकूल होता है। क ना य ी है कि यज्ञविष्णुओं में प्रथम विष्णु दूसरे शब्दो में प्रथम यज्ञ सूर्य ही है। इसी सूर्यविष्णु को लक्ष्य म रखकर श्रुति कहती है— **स य स विष्णुयज्ञ स । स य स यज्ञ –असा म आदित्य** (शत १४।१।१।६। **चित्र देवानामुदगात्** इत्यादि म त्रानुसार सूर्य देवघन है। सूर्य की प्रत्यक रश्मि दव–प्राणमयी है। रश्मिगत सम्पूर्ण प्राणदेवता सत्यसूर्य के केन्द्र स आबद्ध है। अतएव इन के लिए **सत्य–सहिता वै देवा** यह कहा जाता है। दिग्विभाग के अनुसार **प्राची–(पूर्वा)–दिक् देवताओं की है।** दूसरे शब्दो में सौरविष्णु पूर्वा दिक के अधिष्ठाता है। आर भ मे ये सूर्यमूर्त्ति विष्णु यद्यपि प्राची क म ही प्रतिष्ठित थे। परन्तु आगे जाकर छन्दो के आवरण स ये यज्ञा न गु चारो दिशाओं में व्याप्त होते हुए भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित होजाते हैं। यज्ञरूप सूर्यविष्णु प्राची दिक म प्रतिष्ठित है इसी नित्यसिद्धा स्थिति को लक्ष्य में रख कर **ते प्राञ्च विष्णु निपाद्य** यह कहा गया है।

यज्ञ में स्वय गति नही है। दूसरे शब्दो में–यज्ञमूर्त्ति सूर्यबिम्ब स्वस्थान मे सवदा अविचाली है। रश्मियो में रहने वाले प्राणमूर्त्ति अतएव गतिधर्म्मा देवताओं के व्यापार से ही सौरयज्ञ का चारो दिशाओं म वितान होता है। दूसरे शब्दो में—सौर अग्नि प्राणदेवताओं के स्वरूप में परिणत होकर ही स वत्सर–स्वरूप का अधिष्ठाता बनता हुआ सर्वत्र व्याप्त होता है। स्वय अग्निमूर्त्ति विष्णु में गति नही है गति है देवताओं म। इसी रहस्य को लक्ष्य म रख कर—**देवताओं ने विष्णु को प्राची दिक् म व्याप्त (पसार) कर उसे छन्दो से वेष्टित कर लिया** यह कहा गया है। अग्नि में आहुत साम अग्निरूप में परिणत होजाता है। फलत सोम की स्वतन्त्र सत्ता का उच्छेद होजाता है। अतएव हम इस अग्नीषोमात्मक विष्णु को आगे जाकर **अग्नि** नाम से ही व्यवहृत करगे। इस अग्नि की (विष्णु की) **प्राची प्रतीची दक्षिणा उदक्** भेद से चार अवस्थाए होजाती है। इसी आधार पर— **चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्र अग्निरास** यह कहा गया है। इस अनुगमवचन के अनेक अर्थ होते है जसा कि पूर्वप्रकरण म विस्तार से बतलाया जाचुका है।

उप युक्त निगम के अनुसार मौलिक आग्न चार भागों मे िभक्त ह। व चारो अग्नि किंवा एक ही अग्नि की चार अवस्थाए क्रमश **ब्रह्मा नि अङ्गिरोऽ नि अन्नादाग्नि** **पाशकाग्नि** इन नामो से प्रसिद्ध है। स्वाय भुव वदाग्नि **ब्रह्मा न** नाम स प्रसिद्ध है। इसी के लिए— **तस्य वा एतस्या नेर्वागेवापनिषत्** (शत १ ५।१।१)य क । जाता है एव य ी अग्नि **पुरुष** (यजु पुरुष) कहलाता है। **ऋक्समुद्र को महोक्थ कहा जाता है। सामसमुद्र को महाव्रत काह जाता है** । एव यजु को **पुरुष कहा जाता है**। यही वागग्नि है। याज्ञिक परिभाषा मे इसी को **सावयाजुषाग्नि** कहा गया है। इसी वाग्नि से (स्वायम्भु यजुराग्न स) सवप्रथम आपोमय परमे ठी का ज म होता है। इसी के लिए **सोऽपो ऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव साऽसृज्यत** । (शत ६।१।१।६।) यह कहा गया है। इसी सव-मूलभूत प्रति ठा निमयी वदमयी वाक के लिए— **अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा वयम्भुवा** यह वचन प्रसिद्ध है।

दूसरा है **अङ्गिरोऽग्नि**। इसी को परम ठी के सम वयस **सुब्रह्माग्नि** एव **ऋताग्नि** नाम से व्यवहृत कियाजाता है। ऋतमूर्त्ति यही अङ्गिरोऽग्नि आगे जाकर (सूर्य्य में) सत्याग्निरूप में परिणत होकर **अन्नादाग्नि** नाम से प्रसिद्ध होता है। **अपोमय परमेष्ठी से सर्वत्र ऋतरूप से व्याप्त रहने वाला अथर्ववेदमूर्त्ति यह ऋताग्नि ही अङ्गिराऽग्नि है।**

तीसरा **अन्नादाग्नि** है। सौर अग्नि ही **अन्नादाग्नि** है। आहुत पदार्थों को अपने उदर में हुत कर लेना इसी अग्नि का काय्य है इसी अन्ना नभाव की प्रधानता से इसे **अन्नादाग्नि** कहा जाता है। इसी को **यज्ञाग्नि – छन्दस्याग्नि – सत्याग्नि** आदि विवध नामो से व्यवहृत किया गया है। यह अग्नि पारमेष्ठ्य अङ्गिरोऽग्नि की ही सकुचितावस्था है । अ पोमय परमेष्ठी मे जो अग्नि ऋत (परमाणु) रूप से इतस्तत चारों ओर याप्त रहता है व ी वायु की प्र रणा से एक नियत केन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ कालान्तर में सूर्य्यपिण्डरूप में परिणत होजाता है । पिण्डावस्थापन्न अङ्गिरोऽग्नि ही **अन्नाद** नाम स व्यवहृत होता है। अङ्गिरोऽग्नि ऋतप्रधान होने से केन्द्र-शून्य है। अत उस में अशनाया (बुभुक्षा) का अभाव है। परन्तु अन्नादाग्नि **सत्य है स य है**। अत इस म इसी हृदयभाव के कारण **अशनाया** जाग्रत होपडती है। सोमान्न से ही अङ्गिराऽग्नि सकुचित होता हुआ पिण्डरूप में परिणत हुआ है । अपने इसी पिण्डस्वरूप की रक्षा के लिए इस में निरन्तर अन्नादान की इच्छा बनी रहती है। इसी स्वाभाविक धम्म के कारण इसका नाम **अन्नादाग्नि** होजाता हे। क्यो क यह अङ्गिरोऽग्नि की ही दूसरी अवस्था है अत कही कही इसे भी **अङ्गिरोऽग्नि** क दिया जाता है। यदि सूक्ष्मदृष्टि स विचार किया जाता है तो अङ्गिरो-ऽग्नि अन्य अव था है एव अन्ना ाग्नि भिन्न अवस्था है।

चौथा है-**पाशुकाग्नि**। **प्रतिष्ठाशून्य अग्नि ही पाशुकाग्नि है**। इसी को **प्रवर्ग्याग्नि** भी कहा जाता है। स्वप्रति ा से वञ्चित यह पाशुकाग्नि द्यावापृथिवी की प्रति ठा पर ही प्रतिष्ठित रहता है। स की **पुरुष अश्व गौ अवि अज** ये पाच अवस्थाए होती ह। से हम **भौम (भूपिण्ड-सम्बन्धी) अग्नि** भी कह सकत है। इसप्रकार एक ही स्वाय भुव मौलकाग्नि अवस्था मेद से चार भागो में विभक्त होजाता है जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

	अग्नय	लाका	नामा तराणि
१—	ब्रह्माग्नि	स्वायम्भुव	पुरुषाग्नि व्याग्नि वागान सा ।ज्ञुषाग्नि
२—	सुब्रह्माग्न	पारमेष्ठ्य	अ्ग्नि ान अ्रागनि
३—	दवाग्नि	स र	अन्ना ाान स याग्नि छ्न्द या सावत्राग्न
४—	मताग्नि	पार्थिर	पाशुकाग्न प्रव र्याग्न न्यारा पृथ याऽग्न
चतुर्द्धा विहिता ह वा अग्र अग्निरास '			

उपर्यु क्त चारो अा नयो म से प्रकृत कथानक म तीसरे **अन्नाग्न** का ही निरूपण ह **सार अग्नि अन्नादाग्नि है एत्र यही यज्ञमूति ाष्णु है** । यही स्वस्वरूप स प्राचीा क म प्रतिष्ठित हाता हुआ प्राणदवताओ के द्वारा चारो आर या त होता ह । यान्तिलक्षण स युक्त होने स ही स यज्ञाग्नि का किवा सौर आग्न का िष्णु नाम चरिताथ होता है । इस अन्नादाग्न की भी चार अवस्थाऍ होजाती है । ये चारो आग्नया किवा एक ही अन्नादा नि की चार अवस्थाए क्रमश याज्ञिक परिभाषा के अनुसार—**आहवनीय दाक्षणाग्नि गाहपत्याग्नि पाशुकाग्न** इन नामो से प्रसिद्ध है । सोर साविज्ञाग्नि नि कैव्य द याग्नि है य ी सय्यके द्रस्थ प्रधान अग्नि है यही मुख्य **अन्नादाग्नि** ह । यह अग्नि **अनुष्टुप छन्द** स छन्दित रहता ह । आगे के **दक्षिणाग्नि गाहपत्याग्नि पाशुकाग्न** इन तीनो की प्रति ा यहा सावत्राग्नि ह। अनुष्टुप छ दा यही अग्नि अग्नित्रयी की आधारभाम होने स आग्नत्रयी का प्रभव नेने स **प्रजापति** नाम स प्रसिद्ध है । इस अङ्गी प्राजापत्याग्न के आधार पर उक्त अङ्गरूप तीनो अग्नि प्रतिष्ठित ह । **गाहपत्याग्नि क ल प्रथिवी मे हीं व्याप्त है दक्षिणाग्नि कवल अ तरिक्ष म हीं प्रतिष्ठित ह पाशुकाग्नि कवल दूर्वादि पशुओं मे हीं प्रतिष्ठित है** । कि तु **आहवनीयरूप सावत्राग्नि त्रैलाक्य म व्याप्त है । अनुष्टप प्राजापत्य अग्नि का ही छन्द है** । प्रजापति इतर छन्दोऽवच्छिन्न सब आ नया पर अभिव्याप्त ह । अतएव प्राजाप य अनुष्टुपछन्द को इतर छ ो की योान माना जाता है । अङ्गाग्नियों की अपेक्षा अङ्गी प्राजाप याग्नि **ज्येष्ठ** एव **श्रेष्ठ** है । अतएव प्राजाप य अनुष्टुपछ द सब छ दो में ज्येष्ठ माना गया है । प्रजापात पर इतर देवताओ की सीमा समा त होजाती है । अतएव इतर दवताओ के छ दो की अपक्षा स अनुष्टुपछन्द को

अ तिम छ द माना गया है । सम्पूण दवताओ की अ तिम प्रति ठा अनु टुप छ द ही है । इतर सब छ दो की योनि यही अनुष्टपछ द है । अनुष्टुप के इसी स्वरूप को लक्ष्य म रखकर नि नलिखित श्रौत वचन हमारे स मुख आते है—

१—"अनुष्टुप हि छ दमा योनि " (ता ब्रा ११।५।१७) ।
२—"यष्ट वा अनुष्टुप् (ता ब्रा ८।७।३) ।
३—परम वाऽएतच्छ दो यदनुष्टुप" (शत १३।३।३।१) ।
४— अ तो वा अनुष्टुप् छ दमाम' (ता ब्रा १६।१२।८) ।
५—"अनुष्टुप् छ सााम् (एतमादित्यमानशे) (ता ४।६।७) ।
६— विश्वे देवा अनुष्टुप सममरन्" (जै उ १।१८।७) ।
७— 'प्रजापतिर्वा अनुष्टुप्' (ता ४।५।७) ।
८— आनुष्टुभो वै प्रजापति (ता० ४।५।७) ।
९—'यस्य ते (प्रजापते)-ऽहं (अनुष्टुप) स्व छन्दोऽस्मि' (ऐ ब्रा ३।१३) ।

ता प य यही हुआ कि प्राणदवताओ के वितानयज्ञ से अकरूप में परिणत होकर त्रैलोक्य म व्याप्त होने वाला सब दवता एव सब छन्दो की अ तिम प्रात ठारूप अनु टुपछ द से छदित सूर्यकेन्द्रस्थ प्राजाप याग्नि ही आहवनीयाग्नि है । इस की प्रधान आवासभूमि प्राची दिक है । इसी प्राजाप याग्नि को लक्ष्य में रख कर— अग्निं पुरस्तात् समाधाय तेनाच त श्राम्य तश्चे रु यह कहा गया है ।

दूसरा है गाहप याग्नि । भूपिण्ड सूर्य्य का ही उपग्रह माना गया है । सौर अन्नादाग्नि ही प्रव यरूप से भूपिण्ड का स्वरूप समपक बनता है । जो सौर अन्नादाग्नि सूर्य्यमण्डल से प्रवृक्त होकर (पृथक होकर) भूपिण्ड का स्वरूप–समपक बनता हुआ भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ भूपिण्ड की प्रातिस्विक वस्तु बन जाता है वही भूगृह का अधिपति पार्थिवाग्नि गृहपति नाम से प्रसिद्ध होता है । गृहा वै गार्हपत्या के अनुसार भूपिण्ड गृह है । यथाग्निगर्भा पृथिवी इस वचन के अनुसार इस घर में यह गृहपति प्रतिष्ठित रहता है । स पूण भूपिण्ड गृहपतिमय है । यही अग्नि याज्ञिक साम्प्रदाय में गार्हपत्याग्नि नाम से प्रसिद्ध है । जिसप्रकार सौर आहवनीय सूर्य्य की प्रातिस्विक वस्तु है एवमेव गाहप याग्नि पृथिवी का निर्म्मापक बनता हुआ आज विशुद्ध पृथिवी की प्रातिस्विक स पत्ति बना हुआ है । इस पार्थिव अग्नि का पर्ण विकास पश्चिमा दिक में अद्ध रात्रि के समय होता है । इसी अभिप्राय से रात्रि को आग्नयी माना जाता है । आहवनीयाग्नि (सौराग्नि) की सत्ता प्राची में थी गार्हप याग्नि (पार्थिवाग्नि) की सत्ता पश्चिम में है । यह अग्नि त्रिष्टुपछ द से छादित रहता है । इस अ न के स ब ध में हम यह कह सकते हैं कि सौर दि याग्नि ही प्रवर्ग्यरूप से पृथिवी की वस्तु बन कर त्रि टुपछ द से छदित होकर पश्चिमादिक में याप्त होरहा है । दसरे श दो में वही अन्ना–दाग्नि अनु टुपछ द की कृपा स पव में या त हो वही त्रिस्टुपछ द की कृपा से आज पश्चिम में व्याप्त हो–

र ा । यही पाथव ाग्न **अङ्गरा** ाम स भा प्रा । ना न म ा ााम मन र म आपो मय ऋताा न नो आन्रोऽा न क ा ह । ना ा । न आप   । व — अ न प्र न ा म ा त के अनुसार भू पष्ठ आ ामय । म अ र म व व के ारण । पााव आ क ा न ा आ ा न ाम म भी यत्र त दखा जाता । ाजमप्रकार मा आान्याा न (आङ्गनाया)   प्र क आर आता रहता ह एवमव पााथव आग्न ान तर ुलाक का आ जाता रह ा । ईस आभ ाम ात कहता

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठा यारुहन्
प्र भूजयो यथा पथा द्यामङ्गिरसा ययु ॥

—अथ ाम १८।१।६१। ।

तीस ा है **दक्षिणाग्नि** । स ही ाानक-पारभाषा म **अपणााग्न** भी कहा ा ा । न ा चुका है ाक ार आ ा न स यमण्डल म ान तर भापण्ड का आर आता ता ह साथ हा पााथव आग्न ऊपर की आर जाता रहता । इसी को **आा य** एव **अङ्गिरा** का प्रतिस्पद्धा क ा ाता है । सा अ न भापण्ड की ओर आता अवश्य हे । परन्तु पार्थिव अ न क प्रयाघात व पुन यमण्डल की आर ही प्रतिफालत होजाता है । धर सौर सााव्याग्नि का आगमन ानरतर ोता ता ह । अत पााथ ाग्न क आघात स ऊपर की आर जाता हुआ प्रतिफलित सौराा न ुलाक (स्वलाकरूप स्वलोक) की आर भी नही जासक्ता । सानिाा न के प्रयाघात स उसका थ सा । भी अवरुद्ध हाजाता ह । **फलत पार्थिव गाहपत्याग्नि तथा दिय सावित्राग्नि क आघात से सब्दश पतित यन्त्र प्रतिफलित सार अग्नि तिर्य्यक होता हुआ दक्षिणाग्नि क म या त होजाता है** । पूर्वभाग सावित्राा न स अवरुद्ध ह । पाश्चम भाग गाहप याग्न स अवरुद्ध ह । उत्तरभाग सोमप्रधान ोने स अवरुद्ध । शष ाक्षणा न र ती ह । यहा यह प्रतिफालत सार आनादााने प्रतिष्ठत ोता । यही दाक्षणा न याम्या (आग्नेयी) ा क कहलाती ।

आयु ाद्ज ाक्षणस्था आषाधयो को **आग्नया** ा माना करते ह । यही अ न **ऋतु** नाम से यवहृत होता है । य दाक्षण स उत्तर की ओ जाता हुआ आषाधया का (अन्नान्का) पाग्पाक करता है । इसी परिपाकक्रिया के कारण स दाक्षणाग्न को **अपणााग्नि (हाव पारपाक करन वाला अग्नि)** कहा गया है । दक्षिणस्थ यह अग्नि **गायत्रा** छन्द से छन्दित है । ज्योतिवित् (ज्यातिषी) दक्षिणस्थ जिस आ तम पूर्वापरवृत्त को **मकरवृत्त** क ा करत ह गायत्रा के स ब ध स छन्द परिभाषा क अनुसार वही वृत्त वदिक विज्ञान में **गायत्री** नाम स यवहृत होता ह । **गायत्राछन्दस्क यह दक्षिणाग्नि** भी इसी सौर अन्ना ाान की अव था-विशेषमात्र है । ताप य यही हुआ ाक सार आग्न प्रातफालतरूप स गायत्रीछन्द स छन्दित हाकर दक्षिणा दिक् में याप्त होजाता ह ।

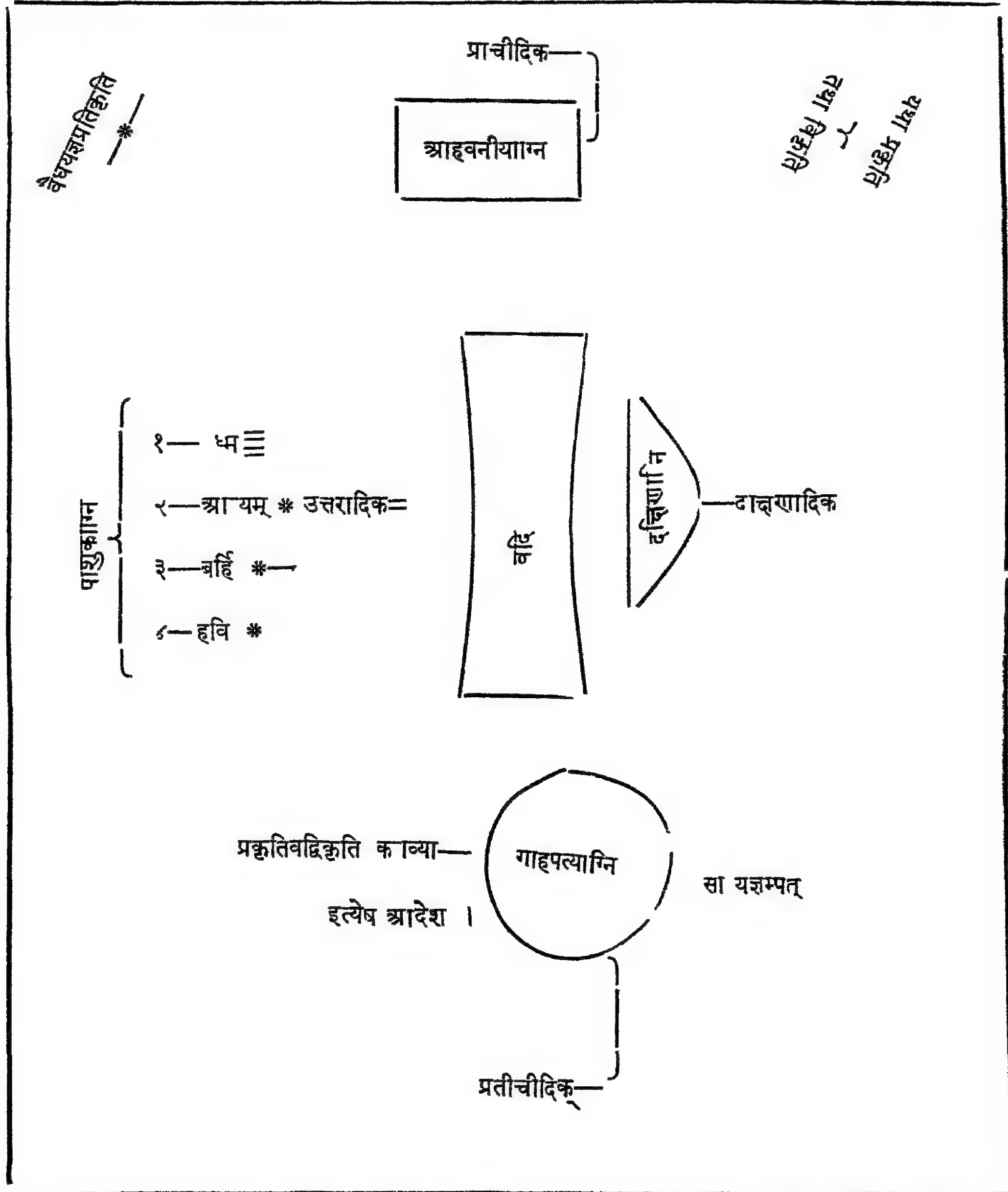
चौथा है **पाशुकाग्नि** । यह अग्नि भपृष्ठ से सलग्न रहता हे । पार्थिव ा य अ न के साम्मश्रण स एक नवीन सायोगिक अ न उपन्न होता है । यह आग्न **सकर** आ न हाने स **पशु (आ मप्रतिष्ठारहित)** माना जाता है । सकरप्रजा जस अपने विशुद्ध आ मा से तिरोहित र ती ह एवमव द्यावापृाथवी के सयोग स

उत्पन्न यह अग्नि स्वस्वरूप से तिरोहित रहता है। फलत इस अग्नि का विशुद्ध अग्नियो के साथ योग नही होने पाता। पूर्व मे सावित्र पश्चिम मे गार्हपत्य एव दक्षिण मे अपराग्नि है। इस पशुरूप सकर अग्नि के लिए तीनो माग अवरुद्ध हैं। उत्तरादिक शेष रहती है। यहा सोम का प्राधान्य है। **सोम स्वय अन्न होने से अग्नि का भोग्य बनता हुआ पशु है।** इसी सजातीय सम्बन्ध क कारण उक्त **सकर अग्नि** को उत्तरादिक् में ही आश्रय मिलता है। यह पाशुकाग्नि ही **दूर्वा इध्म बर्हि आज्य हवि** आदि पदार्थों का स्वरूप-सम्पादक है। यह अग्नि **जगतीछन्द** से छन्दित है। अतएव उत्तरस्थ **ककवृत्त जगतीछन्द** नाम से प्रसिद्ध है।

अपिच-**जागत पाशुक अग्नि** के सम्बन्ध से ही- **पशवा जगती** (शत ब्रा ३।४।१।१।३) **जागता वै पशव** (ऐ १।५ २१ १८) इत्यादि रूप से पशुओ को **जागत** कहा जाता है। यद्यपि **पाशुकाग्नि** अन्नाद के सकर से उत्पन्न होन के कारण अन्नाद की ही अवस्था-विशेष है। परन्तु पशुभाव की प्रधानता से साथ ही साक्षात् पशुरूप उत्तरस्थ सोम के सम्बन्ध से यह अन्नादकोटि से यो बहिभूत होता हुआ **अन्न** ही मान लिया जाता है। यह **भोग्य** होने से **निरायतन** है। अतएव जिसप्रकार सायतन इतर तीनो अग्नियो के लिए **वैधयज्ञ (मनुष्यकृत यज्ञ)** में कुण्ड का निर्माण होता है इसप्रकार इस पाशुकाग्नि के लिए स्वतन्त्र कुण्ड निर्माण नही होता। अतएव च इस चौथ पाशुकाग्नि को अग्नि-मर्य्यादा से बहिभूत समझते हुए यज्ञाग्नि स **त्रताग्नि (आहवनीय गार्हपत्य दक्षिणाग्नि)** का ही ग्रहण किया जाता है। वदि के उत्तर भाग में प्रतिष्ठित रहने वाले **आज्य इध्म बर्हि हवि** आदि इसी पाशुकाग्नि की प्रतिकृतिया है। तात्पर्य यह हुआ कि पार्थिव एव दिव्य अग्नि की सङ्करावस्थारूप पाशुकाग्नि स उत्तरादिक् व्याप्त रहती है। इसप्रकार यज्ञविष्णुरूप सौर अग्नि अनुष्टुप् **आदि** छन्दो स छन्दित होकर चारो दिशाओ में व्याप्त रहता है। इसी यज्ञविष्णु के प्रभाव स सौर दवता भूपिण्ड पर अपना अधिकार स्थापित कर लेते है।

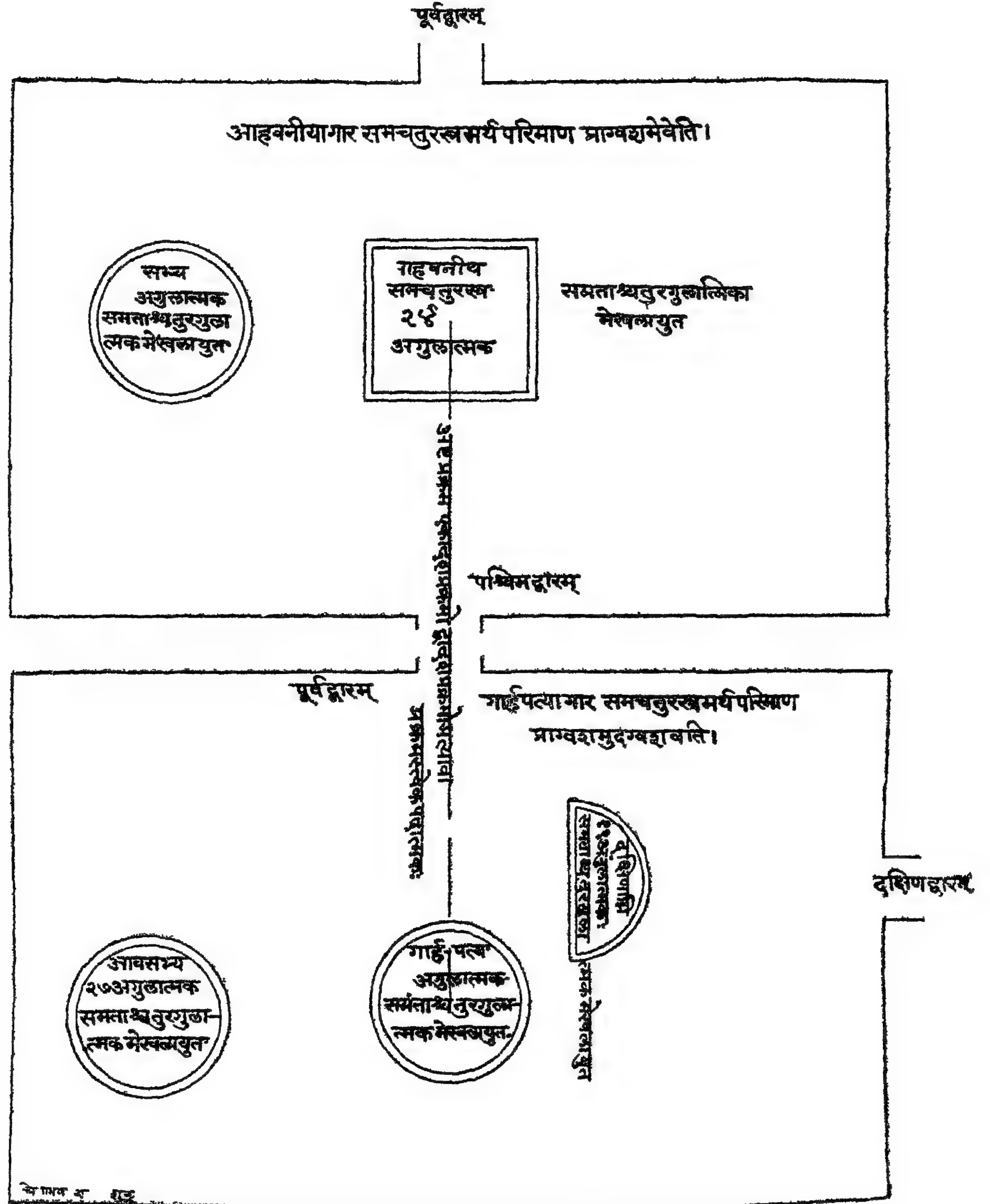
सौर अग्नि पृथिवी की पूर्वविन्दु मे प्रतिष्ठित है गार्हपत्य पश्चिम मे प्रतिष्ठित है अपराग्नि दक्षिण मे प्रतिष्ठित है एव पाशुकाग्नि उत्तर मे प्रतिष्ठित है। भूपिण्ड वेदिरूप है। इसी प्राकृतिक यज्ञ के आधार पर वैध यज्ञ का वितान किया जाता है। **भूपिण्ड की प्रतिकृति (नकल) वेदि है।** आहवनीय की प्रतिकृति वेदि के पूर्व **भाग में प्रतिष्ठित चतुष्कोण आहवनीय कुण्ड है। पश्चिम मे वर्त्तुल गार्हपत्य कुण्ड है।** दक्षिण मे **अर्द्धकटकाकृति अपराणीय कुण्ड है। उत्तर मे इध्म बर्हिरूप पाशुकाग्नि की प्रतिकृति है** जैसाकि निम्नलिखित परिलेखो से स्पष्ट होजाता है।

वैधयज्ञवेदिपरिलेख —



——*——

अग्निहोत्रशाला १


पूर्वद्वारम्
आहवनीयागार समचतुरस्रमर्थ परिमाण प्राग्वशमेवेति।
सभ्य
अगुलात्मक
समताश्चतुरगुला
त्मक मेखलायुत
आहवनीय
समचतुरस्र
२४
अगुलात्मक
समताश्चतुरगुलात्मिका
मेखलायुत
पश्चिमद्वारम्
पूर्वद्वारम्
गार्हपत्यागार समचतुरस्रमर्थ परिमाण
प्राग्वशमुदग्वशावति।
दक्षिणद्वारम्
आवसथ्य
२७अगुलात्मक
समताश्चतुरगुला-
त्मक मेखलायुत
गार्हपत्य
अगुलात्मक
समताश्चतुरगुल
त्मक मेखलायुत

दर्शपूर्ण ... च । २

उत्तराऽस

आहवनीय

दक्षोऽ

जुहोतिस्थानम्

वेदि

प्राक्प्रवणा उदक्प्रवणा वा

खात युता

उ श्रो

द श्रो

सम्य

२७अंगुलात्मक समताच्चतुरंगुलात्मक मेखला युत

होत्रीय सदनम्

प्राग्वंश

समो देश

गार्हपत्य

२७अंगुलात्मक समताच्चतुरंगुलात्मक मेखला युत

आवसथ्य

२७अंगुलात्मक समताच्चतुरंगुलात्मक मेखला युतः

आग्नीध्र सदनम्

अच्छावाक सदनम्

दक्षिणद्वारम्

पश्चिमद्वारम्

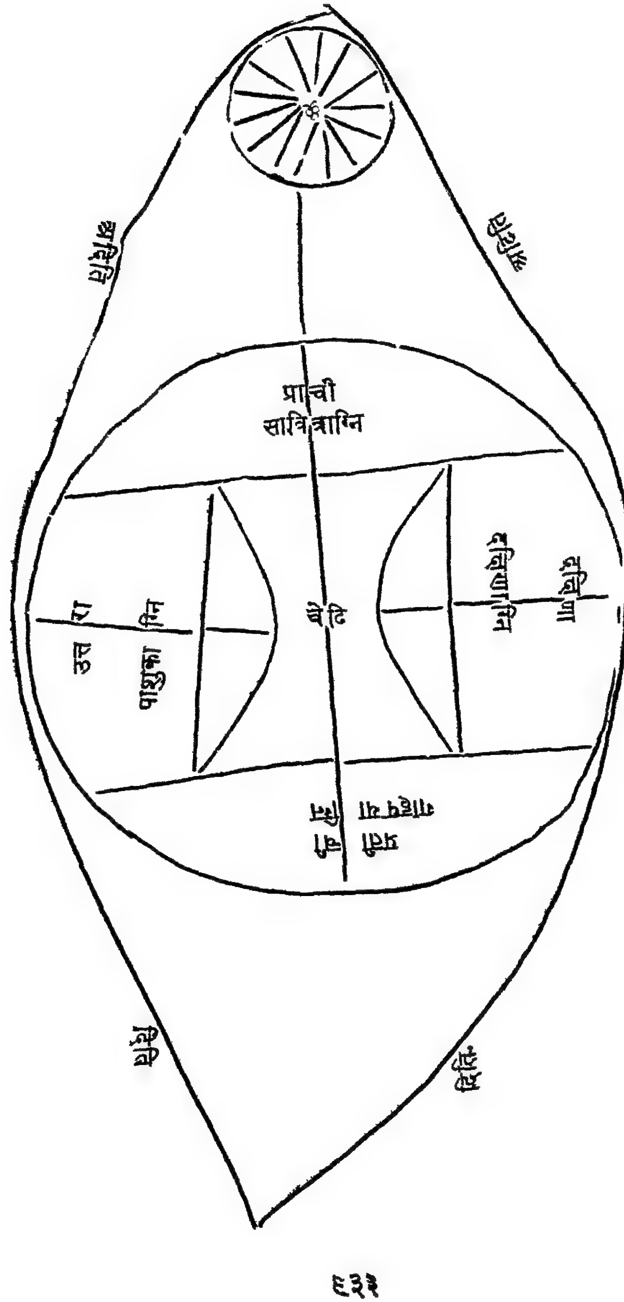
प्रकरण के आरम्भ में बतला आए हैं कि दवताओंने विष्णुयन को अग्रणी बना कर छन्दो म चष्टित कर उस सम्पूर्ण भपिण्ड पर याप्त कर दिया । जहातक छन्दोवष्टित यज्ञमूर्त्ति विष्णु या त हुए वह याज्ञय प्रदेश क लाया । व ी प्रदश- **एनेन (यज्ञमूत्तिर्विष्णुना) इमा सर्वा समविन्दत** इस निवचन के अनुसार याज्ञिको के समय में वेदि नाम से प्रसिद्ध हुआ । म पृण भापण्ड पर दवताओंने अपना आधकार स्थापित कर लिया । दूसरे शब्दो में सम्पूर्ण भापण्ड को यज्ञ के व्याज से दवताओंने अपने

नि ययज्ञ की वदि बना लिया । तमी से नज्ञानिक स प्रदाय में **यावती वेदिस्तावती प्रथिवी** यह निगम प्रचलित होगया ।

जब सम्पूर्ण भूपिण्ड पर देवताओं का अधिकार होगया तो असुर कहा रहे ? यह प्रश्न उपास्थत होता है । प्रकृत आख्यान का दायविभाग से सम्बध है । जसे देवता प्राजाप य (प्रजापति के पुत्र) होने से प्रजापति की स पत्तिरूप भू पण्ड प्रा त करने के अधिकारी हैं एवमेव असुर भी प्राजापत्य होने से पैत्रिक सम्पत्तिरूप भूपिण्ड से पृथक नही किए जासकत । इस विप्रतिपत्ति को दूर करने का उपाय है–**दिति और अदिति का स्वरूप ज्ञान** । एक ही भूपिण्ड के दिति और अदिति दो विभाग होजाते है । भूपिण्ड का वह अर्द्ध प्रदश जो सूर्य्य के योति मय प्राण से युक्त रहता है अदिति कहलाता है । भपिण्ड की दोनों परिधियों का स्पश करता हुआ सौरप्रकाश आगे निकल जाता है । इससे सूर्य्यविमुख भपिण्ड पर प्रकाश नही जाने पाता । इसी तमोमय अर्द्ध भाग का नाम दितिप्रथवी है । **दितिभाग असुरों की आश्रयभूमि है एव अदितिभाग देवताओं की आवासभूमि है** । सृष्टि के आरम्भ में (जबकि भूपिण्ड बना ही था जबकि उस समय सौर–ज्योति का भपिण्ड के साथ सम्ब ध नही हुआ था उस समय) यद्यपि स पूर्ण भूपिण्ड पर एकमात्र आप्यप्राणप्रधान तमोमय असुरो का ही प्रभुत्व था । परन्तु आगे जाकर उपर्य्युक्त यज्ञ के प्रभाव से सौर देवताओंने अदितिभाग से सपन्न असुरो को निकाल कर यथप्राप्त आधे अदिति भाग पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया । इसप्रकार पूवकथनानुसार **चतुर्द्धा विभक्त** अन्नादाग्निरूप **यज्ञविष्णु** के प्रभाव स अदितरूप स पूर्ण भूपिण्ड पर देवताओं का अधिकार होगया । प्रकृत आख्यानाश का यही आधिदैविक प्राकृतिक रहस्य है जैसाकि निम्नलिखित परिलेखो से स्पष्ट है ।

चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्र अग्निरास

१	आहवनीयाग्नि	सावित्राग्नि सौर	अनुष्टुप	प्राची
२	गार्हपत्याग्नि	पार्थिवाग्नि	त्रिष्टुप	प्रतीची
३	अपणाग्नि	गायत्राग्नि	गायत्री	दक्षिणा
४	पाशुकाग्नि	प्रव र्याग्नि	जगती	उत्तरा


प्राची
सावित्राग्नि
वेदि

प्रकृत प्रकरण मे **अनुष्टुप्छन्द** का उल्लेख नही है। प्राचीदिक के सम्बन्ध में केवल— **ते ह प्राञ्च विष्णु निपाद्य** यही कहा गया है। इस का कारण यही है कि सौर विष्णु प्राजापत्याग्निरूप है। यही **अनुष्टुप्छन्द है।** इतर तीनो छन्द इस प्राजापत्याग्नि के ही विकास हैं। एवमेव इतर तीनो छन्द अनुष्टुप् छन्द के ही विकास हे। वह प्रजापति सर्वत्र व्याप्त है। अतएव ऋषिने स्वतन्त्ररूप से अनुष्टुप्छन्द का उल्लेख नही किया। यह मूर्ति विष्णु प्राणरूप है। प्राण के सम्बन्ध में— **प्रादेशमितो वै प्राण** यह निगम प्रसिद्ध है। प्रादेशमात्र परिणाम को ही **वामन** कहा जाता है। इसी आधार पर— **वामनो ह विष्णुरास** यह कहा गया है। भूतकाल का प्रयोग है। अवश्य ही विष्णुप्राण आरम्भ में प्रादेशमात्र ही रहा होगा। परन्तु यही आगे जाकर यज्ञ—(संवत्सररूप यज्ञ) रूप में परिणत होकर छन्दों से वेष्टित होता हुआ उक्त चार अवस्थाओं में परिणत हो सम्पूर्ण भूपिण्ड पर व्याप्त होजाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर **अग्र आस** यह कहा गया है। **अग्नि सर्वा देवता —अग्नि-पुरोगा सर्वे देवा प्रीयताम्** इत्यादि के अनुसार त्रैलोक्य में इसी विष्णुरूप याज्ञिक अग्नि के आधार पर देवता प्राणोदानरूप **श्रम व्यापार** एवं भूतान्नोत्पादन **श्रम (वाग्व्यापार)** करने में समर्थ बनते है। इसी आधार पर— **तेनार्चन्त श्राम्यन्तश्चेरु** यह कहा गया है। जो विद्वान् (वैज्ञानिक) उक्त प्राकृतिक वैज्ञानिक रहस्य की पूर्ण परीक्षा कर याज्ञिक पद्धति से उस असुरविजेता याज्ञिक विष्णुप्राण को आत्मसात् कर लेता है उस का आत्मा विष्णुमय बनता हुआ प्रबल होजाता है। एवं इस याज्ञिक बल के प्रभाव से वह यज्ञकर्त्ता यजमान वास्तव में अपनी भोग्य सम्पत्ति पर आक्रमण करने वाले शत्रुओं का पूर्ण पराजय कर उस सम्पत्ति का एकाकी भोक्ता बन जाता है। इसी फल को लक्ष्य में रख कर— **निर्भजत्यस्य (अस्याः पृथिव्याः सकाशात्) सपत्नान् य एवमेतद्वेद** यह कहा गया है।

पूर्व की ओर से अग्नि से अवरुद्ध होकर पश्चिम— दक्षिण उत्तर में क्रमशः **त्रिष्टुप्-गायत्री-जगती-छन्दों से परिवृत विष्णु देवता स्नान हुए।** म्लान होकर ओषधिमूलो मे प्रविष्ट होगए। आगे जाकर यज्ञविद्या के प्रथम आविष्कर्त्ता भौमदेवताओंने (भौम वर्ग में रहने वाले मनुष्यदेवताओंने) यज्ञप्रसाधन के लिए विष्णुप्राण का अन्वेषण किया। अन्वेषण करते करते परीक्षा से उन्हें विष्णुप्राण (याज्ञिक विशुद्ध पार्थिव आग्नेय प्राण) ओषधिमूलों में ही उपलब्ध होगया। तभी से उन्होंने वैधयज्ञ में यह विधान कर दिया कि जिस किसी का यज्ञार्थ वेदि बनाना हो उसे तीन अङ्गुल भूभाग खोद देना चाहिए। ऐसा करने से विष्णुप्राण वेदि मे संयुक्त हो जायगा। आरम्भ में देवताओंने तीन अङ्गुल भूमि—का खनन किया था। देवताओं का अभिप्राय यह नही था कि तीन अङ्गुल ही भूमि खनन किया जाय। अपितु उनका प्रधान लक्ष्य विष्णुप्राण ही था। उस समय ओषधि— मूल तीन अङ्गुल गहरे ही मिले होंगे। देवताओं का प्रधान लक्ष्य तो ओषधियों का मूल ही था। क्योंकि वहीं विष्णुप्राण व्याप्त रहता है। देवताओं की इस वैज्ञानिकदृष्टि का वास्तविक तात्पर्य्य न समझते हुए तैत्तिरीय-सम्प्रदाय के अनुयायी **प्राञ्च** आदि याज्ञकोंने तीन अङ्गुल पर ही जो बल देते हुए पद्धति में **त्र्यङ्गुला वेदिः स्यात्** यही विधान माना। इस पर विप्रतिपत्ति उठाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि तीन ही अङ्गुल का खनन किया जाय इस की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रधान लक्ष्य ओषधिमूलों पर होना चाहिए। मान लो कहीं तीन अङ्गुल से भी गहरे ओषधिमूल है। ऐसी परिस्थिति मे **"त्र्यङ्गुला एव वेदिः स्यात्"** इस पक्ष के अनुयायी ओषधिमूल नहीं उखाडेंगे तो वेदि कैसे निष्पन्न होगी?। अतः यज्ञसमय

म अध्वर्यु को ओषधिमूल उखाड ने की ही आज्ञा देनी चाहिए। क्योंकि देवताओं ने ओषधिमूलों में ही विष्णु को प्राप्त किया था। अब प्रश्न बच जाता है विष्णु के म्लान होने का। विष्णु कैसे म्लान होगए इसी प्रश्न का समाधान कर यह आधि विक्चारत्र उपरत किया जाता है।

पञ्चाग्निविद् विद्वान् जानते हैं कि विष्णु अन्तर आगतिधर्म्मा है बाहर गतिधर्म्मा है। स्थितिलक्षण ब्रह्मा है स्थितिगर्भिता आगति (विष्णु) नाम है एवं स्थितिगर्भिता गति (इन्द्र) अग्नि है। विकास अग्नि का धर्म्म है इसी को तेज कहा जाता है। सङ्कोच सोम का धर्म्म है वही स्नेह नाम से प्रसिद्ध है। आत्मा न व इन्द्रप्रधान है। विकास से हृद्ग्रन्थि का उच्छेद होता है एवं सङ्कोच से हृद्ग्रन्थिमूलक सृष्टिभाव सङ्कोचधर्म्मा सोम पर ही निर्भर है। जबतक विकासधर्म्मा अग्नि में सोम की आहुति होती रहती है तभीतक यज्ञमूर्ति विष्णु सोम के संयोग से सृष्टिरक्षा करने में समर्थ रहते हैं सोमाहुति के अवरुद्ध होजाने से यज्ञविष्णु उत्क्रान्त होजाते हैं केवल इन्द्रसहचारी अग्नि की ही सत्ता रह जाती है। हृद्ग्रन्थि उच्छिन्न होजाती है सृष्टि मुक्तरूप में परिणत होजाती है। सङ्कोचभाव ही म्लानभाव है। सृष्टि में आत्मविकास म्लान होजाता है। इसका प्रधान कारण यज्ञमूर्ति विष्णु ही है। भौतिक सृष्टि वैष्णवी है। यह सब सृष्टि आत्मा के लिए म्लान है। वैष्णवी सृष्टि के इसी म्लानभाव को लक्ष्य में रखकर विष्णु को आख्यान में म्लान कहा गया है। भौतिक सृष्टि की अपेक्षा से म्लानभाव का अर्थ है—हृद्ग्रन्थि की प्रवृत्ति एवं आत्मविकास का तिरोभाव।

सूर्य्यकेन्द्र में मन विष्णु की सत्ता बतलाई है। सूर्य्यो बृहती मध्यूढस्तपति – नवोदेता नास्तमेता मध्ये एकल एव स्थाता –बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्त इत्यादि श्रौत प्रमाणों के अनुसार सूर्य्य-बिम्ब ठीक हमारे खस्वस्तिक पर बृहती छन्द के (विषुवद्वृत्त के) केन्द्र में प्रतिष्ठित है। मूलयज्ञरूप विष्णु इसी सूर्य्यकेन्द्र में प्रतिष्ठित है। यहीं से आगे चलकर प्राणदेवताओं के द्वारा गायत्र्यादि छन्दों से वेष्टित होकर विष्णु देवता पूर्वादि दिशाओं में प्रतिष्ठित होते हैं। केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाला मूलविष्णु एवं चारों दिशाओं में व्याप्त रहने वाला तूलविष्णु दोनों ही हमारे लिए (प्राप्त करने में) अशक्य हैं। वह हमारे अधिकार से बाहिर है। इसी अप्राप्तिभाव के कारण हम हमारी दृष्टि से विष्णु को अवश्य ही म्लान (तिरोहित प्राप्तुमशक्य) कह सकते हैं। हमें मिल सकता है एकमात्र पार्थिव विष्णु। विष्णु का वह त्रैलोक्यव्यापक स्वरूप तो हमारे लिए असाप्तवत ही है।

होता क्या है—तीनों दिशाओं में तो विष्णुप्राण छन्दों से घिर जाता है। सब स्वस्थान प्राचीदिक् (प्राचीदिक्स्थ सूर्य्य किंवा सूर्य्यकेन्द्र) है। वहां भी यह आवृत छन्दोवेष्टित विष्णुप्राण पुनः जाकर प्रतिष्ठित नहीं होसकता। कारण वहां से विशुद्ध सावित्राग्नि त्रैलोक्य पर आक्रमण करता हुआ नीचे की ओर आरहा है। इन चारों मार्गों के अवरुद्ध होजाने से अन्ततोगत्वा इस याज्ञिक प्राण को ओषधियों के मूल में ही प्रतिष्ठित होना पडता है। सभी ओषधियां निरन्तर (अहोरात्र) विशेषतः रात्रि में यज्ञात्मक (विष्णुरूप) सौर रस का पान किया करती हैं। इसी सोमगर्भित अग्निरस का पान करने से ओषधियां पुष्ट होती हैं इसी रस से इनका परिपाक होता है ओषधियों का शरीर (भौतिक दृश्य भाग) चान्द्ररस का पान करता है। अतएव शरीरापेक्षया ओषधियां सौम्या कहलाती हैं। अतएव च चन्द्रमा (सोम) को ओषधियों का पति

कहा जाता है। पर तु आ मद न्या ओषधियों का पोषक सौर अग्नि ही है। यह सौरी ऊ मा (ताप-अग्नि) ओषधियों के गभ मे प्रतिष्ठित रहती है अतएव **ओष (उष दाह् दाहस्ताप ताप अ निस्त) धत्त** इस निवचन स न्ह **ओषधि** कहा ज ता है। **म्लान (साक्षात्रूप से प्रा तुमशक्य)** सौर यज्ञिय वि णु ओषधियो मे ही प्रतिष्ठित रहता है। ऐसी अवस्था म हम कह सकत है क पार्थिव मनु यो को याद कही व ष्णवप्राण मिल सकता है तो व ओषधियो के मूल ही ह। पार्थिव यज्ञा नि का वधयज्ञ में समावश करने के लिए दूस श दो में विशुद्ध पार्थिव यज्ञाग्न के पारग्रह के लए ओषाधमूल स सल न भूपृ ठ का ही आश्रय लेना आवश्यक है।

ओषधिनिर्माण-प्रक्रिया में वि णुदवता के दशन कीजिए। पूव मे यज्ञ का लक्षण करत हुए **अग्नी सोमाहुतियज्ञ** यह कहा गया है। अ नीषोमा मक यज्ञ को ही वि णु कहा गया है। ओषधि वनस्पतयो म निर तर यह अ नीषोमा मक य ज्ञ होता रहता है। यही दनदिनयज्ञ ब्राह्मणग्र थो म **अहरहयज्ञ** नाम स प्रसिद्ध है। ओषधिनि र्माणाथ जिस बीज का भूगभ में पन होता है (बीज बोया जाता है) उस बीज मे ऊपर की ओर दो आस्तरण रहते है। इन दोनो पाश्वदलो से बीज सुरक्षित रहता है। भूपृ ठ के चारो ओर **यमवायु** व्या त रहता है। यह **याम्य रूक्ष यमवायु जीवनीयरस** का शोषण कर लेता है। बीज मे भी जीवनीय रस रहता है। वही आगे जाकर पु पित ए पल्लवित होता है। इस जीवनीयरस को (जो कि वास्तविक **बीज** है) यमवायु के आघात स बचाने के लिए अ तर्यामी ने उसके दोनो ओर दो आवपन (ढक्कन) लगा दिए हैं। व ही पाश्वस्थ दल यमवायु क आघात स गभस्थ रसमूत्त **वृ त** रूप बीज की रक्षा करते हैं। जबतक इस बीज को भूगभ म प्रविष्ट नही करा दिया जाता तबतक वह अङ्कुरित नही हो सकता। यदि धरातलपृ ठ पर बीज रखकर उस पर आप जलसक क ग तो रक्षक दोनो पाश्वदल विकसित होजायगे। यमवायु म यस्थ रस को द ध कर दगा। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए बीज को भगभ में ही कोडा जाता है। वहा जलसक होता है। जल की आद्र ता स एव भूगभ की ऊ मा से दोनों पाश्वदल कपाटवत् खुल जाते हैं। आग क्या होता है—सुनिए। गभ में एक **वृ त** रहता है। उस वृ त में **हृद यशक्ति** काम करने लगती है। शक्तित्रयी की सम्मिलित अवस्था का नाम ही हृदयशक्ति है। **ब्रह्मशक्ति यम् है विष्णुशक्ति ह है। इ द्रशक्ति द है।** विष्णु रस का आहरण करते हुए **ह** है इ द्र रसनिक्षेप करत हुए **द** है एव दोनो का सम वय (नियमन) कराने वाले ब्रह्मा **यम्** है तीनो की समष्टि ही **हृदयम्** है।

बीजगुहा में यह **हृदयशक्ति ब्रह्मा विष्णु इ द्र** इस रूप स प्रति ठत रहती है। वृ त के अग्रभाग में **शिखरूपा इ द्रशक्ति है** भूगभ में दूर प य त या त रहने वाली बीजशिराओ के मूल में **ब्रह्मशक्ति** रहती ह। एव जिस बिन्दु से **शिराएँ** भूगभ में जाती ह एव जिस बि दु स **वृ त** ऊपर की ओर जाता है दोनों की विभाजिका उस म यम बि दु में **विष्णुशक्ति** प्रतिष्ठित रहती है। **म यस्थ विष्णु** ऊपर से **सौर चा रस** का ग्रहण करत है नीच से **पार्थिवरस** का आकषण करते ह। म य में प्रतिष्ठित वि णु इस ओर से **पार्थिव देवताओं** को लेते हैं उस ओर से **सौरदेवताओं** को लेते है। दोनो देवता म यस्थ वि णु की **अशनाया** शक्ति से आकर्षित होते हुए ओषधिनि र्माण में सहायक बनते है। **ऊ रिस प्राणरूप है अधोरस अपान रूप है प्राणनापानन के अधिष्ठाता म यस्थ वामन विष्णु है।** इसी रहस्य को लक्ष्य म रखकर उप निषच्छ्रुति कहती है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥

ब्रह्मा अपान के अधिष्ठाता हैं इन्द्र प्राण के अधिष्ठाता हैं एवं विष्णु व्यानमूर्त्ति हैं। यदि मध्य में व्यानमूर्त्ति विष्णु न हो तो न पार्थिव रस का आगमन हो एवं न प्राण मय सौर रस का आगमन हो। जीवन के हेतु प्राणापानरूप सोर—पार्थिव रस नहीं हैं अपितु मध्यस्थ व्यान ही (दोनों का आकर्षक बनता हुआ) जीवन का हेतु है। अतएव पुराण ने एकमात्र विष्णुदेवता को ही सृष्टि का पालक माना है। इसी सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए ऋषि कहते हैं—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥

ओषधि—वनस्पति में उपर्युक्त इसी शक्तित्रयी का निरूपण करते हुए पुराणपुरुष कहते हैं—

मूलतो ब्रह्मरूपाय मध्यतो विष्णुरूपिणे ।
अग्रतः शिवरूपाय अश्वत्थाय नमो नमः ॥

अश्वत्थ को ओषधि वनस्पतिमात्र का उपलक्षण समझना चाहिए। बीज वपन किया पानी डाला। उस स्थान का पानी और मिट्टी दोनों घुल मिल गए। वृत्तनाडी में प्रतिष्ठित सौर रश्मि ने नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम् (वै० दर्शन ५।२।५।) के अनुसार पानी उपर की ओर खेंचा। पानी के साथ साथ ही तन्मिश्रा मिट्टी भी खिंचने लगी। कुछ दूर जाकर पार्थिवाकर्षण से मिट्टी तो ठहर गई पानी बाष्परूप में परिणत होकर सौरमण्डल में चला गया। पानी के साथ उपर की ओर जाकर ठहरने वाली मिट्टी ही अङ्कुर कहलाया। अब यदि आप ओषधि की और वृद्धि चाहते हैं तो पानी और डालिए पुनः पानी के साथ मिट्टी उपर चढेगी। इस क्रम से ओषधि का स्वरूप निष्पन्न होजायगा। किन्तु यह ध्यान रखिए कि बीज में प्रतिष्ठित योनिरूप महद्ब्रह्म का जितना आयतन पहिले से स्थिर है ओषधि का वृद्धि उसी प्रकार में होगी। आप चाहें कि एक हजारे का वृक्ष सिञ्चन—धारा से बटवत् लम्बा होजाय अथवा बटवृक्ष हजार जितना ही लम्बा रहे यह कभी न होगा। प्रत्येक भौतिकी सृष्टि के बीज में आकृति प्रकृति अहङ्कृति का अधिष्ठाता महद्ब्रह्म विद्यमान रहता है। इस कथन से प्रकृत में हम यही बतलाना है कि भूवायु—छन्द—अग्नि आदि से म्लान विष्णु ओषधियों के मूल में (मध्य में) जहां से कि शिराएं निकल कर भूगर्भ में जाती हैं) प्रतिष्ठित रहता है। यज्ञकर्त्ता यजमान जिस भूप्रदेश में यज्ञ करना चाहे पहिले उस प्रदेश से प्ररोहित ओषधि तृणादि को समूल उखाड फैंके। इस से वह मूलस्थ विष्णुमाण वेदि में समाविष्ट होजायगा। इसी सम्पूर्ण गुहानिहित रहस्य का लक्ष्य में रखकर सोऽयं विष्णुर्म्लानः यह कहा गया है और प्रकृत आख्यान का यही संक्षिप्त आधिदैविक रहस्य है। इस आधिदैविक—रहस्य—निदर्शन के साथ ही प्रस्तुत ब्राह्मण की १ कण्डिका से १० कण्डिकापर्य्यन्त का आख्यानात्मक सन्दर्भ उपरत होरहा है। १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ॥

इत्याधिदैविकरहस्यम्

——*——

पद्धत्यनुगत-सन्दर्भ-समन्वय

भौम देवताओंने परीक्षा के द्वारा (त खन त इवा वीपु) ओषधिमूलों मे लान वि णु का प्राप्त कर लिया। प्राकृतिक आधि विक वि णु यापक है। अत नवतक से परि छिन्न न कर लिया जाय तबतक यह वि णु परि छिन्न वययज्ञ का उपकारक नही बन सकता। सी सीमाभाव के लिए प्राप्त –वि णु का **सुक्ष्मा चासि** इ यादि म त्रो से (म त्रब्रह्मरूप वागबल से) परिग्रह किया जाता है। सी परिग्रहक म से वाद का स्वरूप स पन्न होता है अतएव स कम्म को **वेदिपरिग्रहकम्म** भी कहा जाता है। भूप्रदे ा के जिस भाग म वदि बनाइ जाने वाली है उस प्रदेश के दक्षिण भाग म **सुक्ष्मा चासि शिवा चासि** यह म त्र बोलते हुए **स्फ्य** से पूव पश्चिम अ वय्यु एक रेखा कर दता है। यही **दक्षिण परिग्रह** है। दाक्षिण मे या य अग्नि की सत्ता रहती है। **यमो व अवसानस्यष्टे** **ग्राह्यमोऽवसान प्रथि या** यादि के अनुसार **यमदेवता अवसान(मृ यु)** क अधिष्ठाता है। दक्षिणभाग से स मृ युभाव का निराकरण करने के लिए– **हे दक्षिण भूभाग आप शोभन प्रदेश है मृत्युञ्जय शिव की शक्ति से युक्त अतए ा शि ा है** यह भावना की जाती है। यज्ञ का नियत दक्षिण प्रदश यमभीति से रक्षित बन दक्षिण परिग्रह का यही ता प य है

अन तर– **स्योना चासि सुषदा चासि** इस म त्र स पश्चिम परिग्रह किया जाता है। यह परिग्रह गाह प याग्नि से स ब ध रखता है। गाहप य भूपिण्ड की प्रतिकृति । गाहप य गृह (घर) है। घर वही उत्तम होता है ज ा का वरातल **सम हो** जहा रहने से पूण सुख मिले। इसी गु ण पात्त की प्राप्त करने के लिए **आप सुखरूपा है आप आप अ छी बैठक वाली है** यह भावना की जाती है।

अन तर— **ऊजस्वती चासि पयस्वती च** यह म त्रभाग बोलते हुए उत्तर परिग्रह किया जाता है। उत्तर भाग सोममय किवा अग्निगर्भित सोममय है। ओषधियों में जो **जीवनीय भाग (ऊक्)** एव **दु ध** देखा जाता है जह सी पाशुकाग्नि की महिमा है। हमा ा यज्ञ जीवनीय भाग एव रस भाग से युक्त रहे दूसरे श दो में उ तराग्नि प्रदेश यजमान के लिये ऊक् एव पयोयुक्त बने सी भावना के लिये **हे उत्तर भूप्रदेश ! कि वा पाशुकाग्ने ! आप ऊक यक्त है आप पयोयुक्त है** यह भावना की जाती है।

अन्न वस्त्र की चि ता से आपादमस्तक आकुल– याकुल बना रहने वाला शिशु भूतवादी–जडवादी अतएव– वत्त मानवादी आज का भारतीय भावुक–राष्ट्रीय–मानव क ता है— **हजारों वर्षों की पुरानी सडी गली वेद स्मृति पुराणादि की जीर्ण शीर्ण बातो का आज क नवीन युग मे कोई उपयोग नहीं** । अपने इसी का पनिक–उपयोगितावाद के यामोहन से यामुग्ध इस आज के भारतीय मानवने अपनी मूलनिधि से सर्वा मना निरपेक्ष बन केवल भूलवादी प्रती यजगत् की आधिदविक प्राणशू या उन जडभूतपद्धतियो का ही प्रति ठापन कर दिया है स सास्कृतिक–भारतरा में जिस की मूलप्रति ठा का एकमात्र आधार **आधिदैविक प्राणजगत्** ही माना गया था। प्रसङ्ग यज्ञभूमि का प्रक्रा त है। एव त सम्ब ध में ही ब्राह्मण का प्रस्तुत सन्दभ प्रक्रा त हैं। अतएव इसी दृष्टि से प्रकृत में दो श दों में हम उस **यज्ञिय–भूप्रदेश** की ओर **आष–मानव** का यान आकर्षित करगे जिस– **यज्ञिय भूप्रदेश**

को ही ऋषि ने—**सुक्ष्मा शिवा स्योना सुषदा ऊर्जस्वती पयस्वती**– यादि माङ्गलिक एव रहस्यपूर्ण विशेषणों स समन्वित मान है । इ थभूता सवगुणा वता भूमि को ही ऋषि ने— **इमामनैतत् प्रथिवी-सविन्य रसवती उपजीवनीयामकुवन** यादि रूप स सस्यशामला–जीवनीय सप्र त्री –उपयुक्ता कहा है ।

अधिक अन्न उपजाओ। यह आज हमारे राष्ट्रीय–मानव का सवप्रमुख उदात्त उद्घोष है जिस की सफलता के लिए विशुद्धा प्रतीया–पद्धति के आधार पर ही नव–नव–आयोजन आविभूत तिरोभूत होते जारहे है धारावाहिक–रूप से । तदापि राष्ट्र की अन्नचि ता समन्वित नही हो पा रही है । क्यो ? । इस क्यो ? का एकमात्र प्रमुख उत्तर है **भूमि की जीवनीया उवर शक्ति से सम्बन्ध रखने वाले यज्ञिय आधिदविक वैष्णव प्राण की उपेक्षा अनुपलब्धि एव तत्स्थाने च यज्ञविरोधी जीवनीयतत्त्व के विनाशक अश्रुत अदृष्टपूर्व रासायनिक खादों (खादो) का अन्धानुकरण भीमकाय लौहयन्त्रों (ट्रैक्टरो) से निम्ममतारूपेण भूगभस्थ वैष्णव प्राण का आत्यन्तिक–उत्पीडन ।**

मानत है और सर्वात्मना यह भी अनुभव कर रहे है कि दवप्राणविरोधी चेतनशक्तिप्रतिष्ठा–शून्य आज के प्रवृद्धतम भूतविज्ञान के अनुग्रह से कृतशरीरी तथाविध उत्तजक रासायनिक खाद्य एव भीमकाय लौहयन्त्र अवश्य ही तात्कालिकरूपेण भूमि के जीवनीय प्राण को तात्कालिक रूपेण बहिभूत करते हुए कुछ समय के लिए तत्भूप्रदेशों मे प्रभूतमात्रा में अन्न राशि अभिव्यक्त करने की क्षमता रखते है । और परिणाम–स्वरूप सहज–भारतीय–पद्धति की अपेक्षा इस अभिनवा भौतिकी विज्ञानपद्धति से तात्कालिक–रूपेण अन्नसम्पत्ति समृद्धा भी प्रतीत होने लगती है । एव सम्भवत सनातना–स्थितिभावापन्ना भूत भाव यत्परिणामानुबन्धिनी भी भारतीय निष्ठिकी प्रज्ञा भी प्रत्यक्षप्रमाणमूला तथाविधा भावुकता से आकर्षित होकर ही अपनी सहज–सात्त्विक पद्धतियो की उपेक्षा कर बहु व्यय–साध्य तथाविधा भूतविज्ञानपद्धतियो के ही अन्धानुकरण में प्रवृत्त होती जारही है । और अवश्य ही –**अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति** इस प्रकृतिसिद्ध सिद्धान्तानुसार इत्थभूत निरतिशय भूतोत्पीडन से अन्नसम्पद्युत्पादन में पूर्वापेक्षया इस समृद्धि भी उपलब्ध होसकती है । यह सबकुछ मानत हुए भी अनुभव करत हुए भी इस सम्बन्ध मे कदापि **श्रेय पन्था** की घोषणा नही की जासकती । क्यो कि—

तथाविध उत्तजक खाद्यों से पार्थिव–भूतभावात्मक पूषा तत्त्व अवश्य ही तात्कालिक–रूपसे पुष्ट होसकता है । किन्तु सौर–सावित्राग्निमूलक **मधु** रसमय वैष्णव यज्ञिय प्राण (जो प्रत्यग्रूप से भूगर्भ की अमुक सीमा में ही गर्भित रहता है वह तो असदि वरूप से ही तथाविध–कृत्रिम–उत्तजक खाद्यों से दग्धवीर्य्य ही बन जाता है । एव असीमभारान्वित लौहयन्त्रो (ट्रैक्टरों) से भी उस का सहज–सौम्य–**उत्तरमूल** का विकास सर्वात्मना अभिभूत ही होजाता है । परिणाम-स्वरूप किंवा घोरघोरतम दुष्परिणाम स्वरूप तथाविध उत्तजक खाद्यों के समन्वय से एव प्रचण्ड–भारान्वित लौहयन्त्रो से आत्यन्तिकरूपेण समुत्पीडित भूप्राण के समन्वय से उत्पन्न अन्न में न तो सहज **माधुर्य** ही अभिव्यक्त हो पाता एव न इस की यह तात्कालिकी प्ररोहण–उत्पादन–शक्ति ही चिर स्थायिनी रह पाती । अपितु यह तो– **शरीरात् शरीरम्** न्यायानुगता वसी अनात्म्या जीवनीयप्राणरसशून्या ही अन्नसृष्टि बनी रह जाती है जिसे कदापि भारतीय दृष्टि

से– **आ मान्न** तो नही ही माना जासकता । मा य रसविहीन जीवनीयरस से प्रतिमूर्छित केवल प्रज्ञया–मक ऐसा अन्न मात्रा मे एव तात्कालिक रूपेण आकार प्रकार प्रदर्शनादि मे बहु प्रमाणित होता हुआ भी न यदृच्छया किंवा न वदृच्छ्या तो सर्वथा **यातयाम** ही बन जाता है।

भूमिनिखनन उसी सीमापर्यन्त मान्य होना चाहिए जिस सीमा पर मधुसमय–जीवनीयत वा मक–सौर प्रन्य यज्ञिय व गव–प्राण प्रतिष्ठित है । यदि प्रचण्ड आघात से इस सीमा का अतिक्रमण होजाता है तो भूगर्भ न–भूप्रधा – थाग्नि– पूषा भाग तो अवश्य ही तात्कालिकरूपेण अभिव्यक्त हो पडता है फलस्वरूप कुछ समय के लिए **भूतभार** की दृष्टि से तत्प्रदेश में अन्न प्रभूतमात्रा में उत्पन्न भी होजाता है । किंतु इस आघातपरम्परा से **यज्ञ**न भावोपलक्षित जीवनीय रसात्मक–मधुसमय–सौर यज्ञिय प्राण तो उत्क्रान्त ही होजाता है और निश्चयेन ऐसा केवल पार्थिव अन्न– **अयज्ञिय** ही बना रह जाता है । भारतीय प्रजा केवल **भूतान्न** का भी समर्थन नही कर सकती । यदि करती है तो वह भारतीय नही । **यज्ञशिष्टाशिन सन्तु** के अनुसार भारतीय प्रजा का अन्न **यज्ञोच्छिष्ट** ही माना गया है। जिस भौतिक अन्न में सौर–दिव्य–व गव–प्राण का भी सम्बन्ध रहता है वही अन्न **यज्ञोच्छिष्टान्न** कहलाया है वही आर्षप्रजा के लिए ग्राह्य है । ऐसे भी कितने ही अन्न है जिनमें भगर्भस्थ–याज्ञिय–ऐ गव–सौर–प्राण अन्तर्याम सम्बन्ध से (अमुक विजातीय प्राणविरोध से) प्रविष्ट नही होने पाता । वसे अन्न ही **अयज्ञियान्न** कहलाए हैं । अतएव यज्ञिय प्रजा के यज्ञक र्मों में व अन्न निषिद्ध मान लिए गए हैं । **अयज्ञिया वै मापा** के अनुसार **माप** (उड़द) इसी श्रेणि का अन्न है । **मसूर** भी इसी श्रेणि मे अनुप्राणित है । अतएव यज्ञोच्छिष्टानुगामिनी आस्तिक प्रजा मसूर को भी अपने व्यवहार में त्याज्य ही मानती आरही है । तदित्थं इस यज्ञिय–सौर–प्राणानुरोध से ही भारतीय प्रजा की अन्नव्यवस्था व्यवस्थित हुई है । **लशुन–पलाण्डु–गृञ्जनादि** अपने असुरप्राण प्राधान्य से अयज्ञिय बनते हुए सर्वात्मना त्याज्य ही मान लिए गए है द्विजाति के लिए जबकि वय आयुर्वेदशास्त्र ने इनके भौतिक गुणो का समर्थन किया है । अतएव केवल शरीरोपयोगी किंतु दिव्यप्राणविरोधी तत्सदृश अन्यान्य सभी अयज्ञिय पदार्थ त्याज्य ही बन गए हैं धर्मशास्त्र में ।

यज्ञप्राणानुबन्धी–मधुमय उर्क्रसमय सोमरसमय इसी जीवनीय–सौर व गव–पार्थिव तत्त्व का प्रकृत ब्राह्मणसन्दर्भ से स्पष्टीकरण हुआ है जिसका **यजुर्मन्त्र** के द्वारा ही स्वरूप विश्लेषण हुआ है । **कौनसा और कैसा भूप्रदेश तत्त्वविध जीवनीय–यज्ञिय रस से समन्वित रहता है ?** प्रस्तुत सन्दर्भ इसी प्रश्न का तात्त्विक समाधान कर रहा है जिसके लिए यजुःसंहिता के प्रथमाध्याय के सप्तम मन्त्र का निम्नलिखित अंश ही–शरणीकरणीय है—

'सुक्ष्मा चासि, शिवा चासि, स्योना चासि सुषदा चासि ऊर्जस्वती चासि, पयस्वती च' ।

प्रत्येक शब्द अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण तत्त्वों से अनुप्राणित है जिसका अत्र स्पष्टीकरण सम्भव नही है । केवल दो शब्दों में ही इस दिशा का दिग्दर्शन प्रस्तुत है । ज्या नामसे प्रसिद्ध* माता पृथिवी का नाम **धरा**

---

* ज्या से सम्बन्ध रखने वाली सुप्रसिद्धा गणितप्रक्रिया ही ज्यामिति नाम से प्रसिद्ध है। अवश्य ही निरुक्तक्रमानुबन्ध से "ज्यामिति का ही रूपान्तर— **ज्यामेन्टी** होगा । एवं इसी "ज्यामिति शब्द से **जमीन** शब्द अभिव्यक्त हुआ होगा।

धरित्री और **धरिणी** भी है जिन इन सभी शब्दों का मौलिक अर्थ यद्यपि सवथा विभिन ही है। तथापि अमुक समानधर्मानुबन्ध से इन शब्दों को अमुक सीमा पर्यन्त पर्याय भी माना जासकता है। भपिण्ड में प्रतिष्ठा मक-स्थितिधर्मा मक एक वैसा प्राण है जिसके द्वारा भूपण्ड **अभूद्वा इयं प्रतिष्ठा-सर्वेषाम् तस्माद-भूमिरभवत्** (शत ६।१।१।) के अनुसार **भूमि** नाम से भी प्रसिद्ध होरहा है। प्रतिष्ठा मका इस धृति (धारणशक्ति) से ही यह **धरा-धारत्री-धरणी** आदि नामों से यवहृत हु है। सृष्टिप्रक्रिया के अनुसार भपिण्ड का मौलिक उपादानद्रव्य **पानी** ही माना गया है जैसाकि- **अद्भ्यः पृथिवी** इत्यादि से स्पष्ट है। अपतत्व अपने सहज **ऋत** धर्म के कारण प्रतिष्ठाशून्य है। अतएव पानी के स्तर पर गुरुत्व मार्वच्छिन्न कोइ भी भूतपदार्थ प्रतिष्ठित नही रह सकता। अपितु तत्काल वह अवगर्भ में ही निमज्जित होजाता (डूब जाता) है। ऐसे प्रतिष्ठाशून्य धृतिगुणशून्य अप से ही आप-फेनादि क्रम से भूपिण्ड का स्वरूप निर्माण हुआ है। प्रश्न उपस्थित है कि प्रतिष्ठा मक-धृतिगुण से शून्य आपोद्रव्य ही जिस भूपिण्ड का मौलिक उपादानद्रव्य है उस भूपिण्ड मे धृतिगुणक प्रतिष्ठाभाव इस और कहा से आगया ? । इस प्रश्न का एक सुप्रसिद्ध याज्ञिय प्रक्रिया के माध्यम से ही परोक्ष समाधान करते ए ऋषि ने कहा है कि **आहुतिद्रव्यरूप आज्य (घृत) यद्यपि तरल है अतएव प्रतिष्ठाशून्य है अतएव घनतानुबन्धी धृतिगुण से विरहित है। तथापि क्योंकि इस तरल प्रतिष्ठाशून्य भी आज्य मे क्योंकि हिरण्यशकल (सोने का टुकडा) डाल कर ही इसकी आहुति दी जाती है अतएव अनस्थिमत् भी इस आज्य से अस्थिमती प्रतिष्ठावती-प्रजा उत्पन्न होजाती है ।**

यज्ञिय आहुतिद्रव्य से ही यजमान का नवीन **सशरीर-दैवात्मा** उत्पन्न किया जाता है। वह आहुति द्रव्य अमुक यज्ञविशेष में है— **आज्य** (घृत घी)। इसीके सम्बन्ध में तत्र समवत किसी वैज्ञानिक ने प्रश्न किया कि — **अनस्थिमदधूयते कथमस्थिमत्-प्रजायते** । अर्थात् **बिना हड्डी वाले (घनताप्राणशून्य-तरल) इस आज्यद्रव्य की तो आहुति दी जाती है और सकल्पित है अस्थिमती प्रजा। वह कैसे उत्पन्न हुई जबकि उपादानभूत आज्यद्रव्य अस्थिभाव से शून्य है** ? । इसी प्रश्न का उत्तर है- **हिरण्यशकल निधाय जुहोति तस्मात्** इत्यादि। तात्पर्य स्पष्ट है। आज्य अवश्य **तरल** अतएव **अनस्थिमत्** अर्थात् प्रतिष्ठा मक धृतिगुणक अस्थिभाव से शून्य है। किन्तु इसमें **हिरण्यशकल** जो है। वह तो स्थितिमत् है। क्या तात्पर्य ? इस नवीन **क्या** ? का उत्तर है— प्रजोत्पत्तिविज्ञान जिसके स्पष्टीकरण का अत्र अवसर नहीं है। यज्ञानुबन्ध से प्रश्न वस्तुत सृष्टिप्रक्रिया से ही अनुप्राणित है। पिता के **शुक्र** तथा माता के **शोणित** इन दोनो के चिन्मय **पुम्भ्रूण-स्त्रीभ्रूणों** के दाम्पत्यमूलक मिथुनभाव से ही प्रजोत्पत्ति होती है। उपादानभूत **शुक्र** और **शोणित** दोनों ही क्रमश **भार्गव आङ्गिरस**-आपोद्रव्यात्मक प्रतिष्ठाशून्य अनस्थिमत् तरल ही पदार्थ है। इन अनस्थिमद भावों से अस्थिमती (हड्डी वाली) प्रजा कैसे उत्पन्न होगइ ? यही पूर्व प्रश्न का समन्वय है। **हिरण्यशकल** का अर्थ है— **सत्य यज्ञ प्रतिष्ठात्मक-अश्मा सोमगर्भित-सौर हिरण्य-प्राण** । वह साक्षाद्रूप से अपने **ब्रह्मौदनरूप सत्यरूप** से शुक्रशोणित में प्रतिष्ठित नहीं होता। अपितु **वम्मयागात्मक छिन्नशीर्षभाग** से अनुप्राणित सुप्रसिद्ध **विस्रंसनप्रक्रिया** से सम्बन्ध रखने वाला सौरसंवत्सरयज्ञमण्डल से **ऋतु** रूपेण प्रवृक्त (पृथक) होजाने वाला **प्रवर्ग्य** नामक

सोर सावित्र वैष्णव यज्ञिय तेज ही शुक्र शोणितरूप **आ य (तरलद्रव्य)** में प्रतिष्ठित होता है एव इसी **सौरप्रवर्ग्य (शकल खण्ड)** रूप हिरण्मयतेज से प्रजा के **अस्थि** भाग का स्वरूप निर्माण होता है। शारीरिक मास मद म जा असृक आदि ऋतधातु जहा शुक्रशोणितात्मक बनते हुए **आपोमय** है अतएव अप्रतिष्ठित हैं वहा **अस्थि** भाग **सारप्रवर्ग्यहिरण्यतेजोमय है** यही तात्पर्य निष्कर्ष है।

ठीक यही स्थिति भूपण्ड की समझिए। ऋतधर्मा प्रतिष्ठाशून्य **पानी** में ऋतधर्मा अतएव प्रतिष्ठाशून्य ही वायु का प्रवेश हुआ। वायु के प्रवेश से तदवच्छिन्न पानी बुदबुद (बुलबुला) रूप मे परिणत होगया। एव प्रतिष्ठालक्षण धृतिगुण के अभाव से तत्क्षण ही बुदबुद् फूट गया। यह प्रक्रिया निरन्तर जल स्तर पर प्रक्रान्त रहती है वायु सघात पर पराओं के अनुग्रह से। यही मूलप्रक्रिया भूपिण्ड की जन्मदात्री बनी है जिसके विस्तार का यहा अवसर नही है। यदि इन दोनो ऋत भावो का ही चक्रमण प्रमुग्ध बना रहता तो कदापि भूपण्ड **पिण्ड** रूप मे परिणत न होता। किन्तु **पानी** और **वायु** दोनो के मध्य में साम्वत्सरिक सौर प्रवर्ग्य हिरण्यशकलात्मक तेज प्रविष्ट होजाता है। इसी **तेज सयोग** से बुद्बुदावच्छिन्न अब वायु प्रतिमूर्च्छित होजाते हैं जिस इस प्राथमिक अवस्था का नाम ही है— **फेन [झाग]**। तादर्थ्य अब वायु के सघर्ष से तथा तेज सयोग स यही फेन उत्तरोत्तर घनता का अनुगामी बनता हुआ— **मृत्तिका सिकता शर्करा अश्मा अय हिरण्य** इन प्रतिष्ठा भावों में परिणत होजाता है। और यो इन **अबाग्नि हिरण्यान्त** आठ प्रतिष्ठा भावों के रासायनिक सम्मिश्रण से प्रतिष्ठात्मक भूपिण्ड का स्वरूप सम्पन्न होजाता है। यों आपोमय भी भूपिण्ड सौर हिरण्यरूप यज्ञिय तेज को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित कर धृतिलक्षण प्रतिष्ठागुण से समन्वित होता हुआ **भूमि** रूप में परिणत होजाता है। इसी धृतिगुण से आज यह भूपिण्ड क्योंकि स्वपृष्ठ पर अतुलित भार वहन करने की **क्षमता** से सर्वात्मना समन्वित समर्थ बना हुआ है अतएव **[सौर यज्ञिय वैष्णव दिव्य तेज को गर्भ मे धारण करने से ही]** सब कुछ सहसकने मे समर्थ बनता हुआ–भूपिण्ड– **क्षमा [सब क्षमते]** नाम से प्रसिद्ध होरहा है। क्षमतारूप धृतिगुण ही इसे **क्षमा** बनाए हुए है। और वह गुण स्वयं इसका न होकर प्रवृक्त सोर वैष्णव यज्ञिय तेज का ही है। दुर्भाग्यवश यदि मानवीय प्रज्ञापराध से भूपिण्ड का यह यज्ञिय–वैष्णव सौर–तेज अभिभूत होजाता है अथवा तो उत्क्रान्त कर दिया जाता है सौर दिव्य भाव विरोधी लोहयन्त्रादि से तो निश्चयेन भूपिण्ड का **क्षमा** भाव अभिभूत ही होजाता है। फलत ऐसे क्षमा शून्य अतएव च केवल मृत्पिण्डात्मक भूभाग से उत्पन्न भूतमात्रप्रधान अयज्ञिय अन्न का भोक्ता मानव भी धृतिगुण म प्रतिष्ठाभाव से शून्य शून्य ही बना रह जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि सर्वतोभावेन हम भूपिण्ड को **क्षमा** ही बनाए रहें। कदापि प्रचण्ड आघातो स इसके गर्भस्थ वैष्णव प्रतिष्ठाप्राण को उत्क्रान्त न करें। इसी तथ्य के आधार पर ऋषिप्रज्ञात्मक भारतराष्ट्र के आद्य कृषक के द्वारा काष्ठमय वैसे **हल** का ही आविर्भाव हुआ जिससे आर्षान्न–मूल पथ्य तत्त्व ही भूखनन म भावित था शान्ति स्वस्ति रूप से।

और यो अपने विष्णुतेजोमय–प्रतिष्ठाप्राणात्मक– क्षमा भाव से क्षमा बनी रहने वाली माता पृथिवी ही हमारे लिए शान्ति स्वस्ति–पूर्वक यज्ञियान्न प्रसूत करती हुई शिवा बनी रहती थी। **क्षमा** अतएव च **शिवा** ऐसी ही माता धरित्री शान्ति स्वस्ति प्रद यज्ञियान्न उत्पन्न करती हुई अपनी पार्थिवी–प्रजा का भरणपोषण करती हुई इस के लिए सर्वात्मना **सुपर्णा** प्रमाणित होती है – **स्योना** (सुखप्रदात्री) प्रमा

णित हो ही थी। अपने तथाविध प्रति ामक और यज्ञिय तज से सदा समा नत रहने के कारण ही माता-पृथवी प्रति ठास शू य त्वत ावन्त भ न त्रुटित उ च अवच विषम आ द भावो से असस्पष्ट प्रमाणित होती ह सर्वा मना समधरातत्मा मका **उवरा** (प्रजननशक्तिमती) बनी र ती थी। अपने प्रात ामक इसी सम ध ामत्वानुब व से यह **सुषमा** बनी र ती थी। और यो थभूत द य-भावो स सञ्चालिता माता धरित्री सौर दि य मधु-रमा मक जीवनीयरसा मक **ओज** -स्वरूप स पादक उक रस से **ऊर्जस्वती** तथा सोमा मक पयोगुण से **पयस्वती** बनती हुई सर्वा मना हमारे लिए उपजी या प्रमाणित होरही था । इ थभूता सौर यज्ञिय दि यप्राणगर्भिता अतएव **सुक्ष्मा-शिवा-स्योना-सुषदा ऊर्जस्वती पयस्वती** यज्ञिया भमि ही हमा ी **यज्ञिया वेद** बनी हुइ थी जिस के आधार पर ही हम **यावती व वेदस्तावती पृथिवी** जसे महान् उदात्त उद्घोष करने में सक्षम बने हुए थ जो क्षमता आज क भत यामोहन में आसक्त होकर तद नुब धी दि यप्राण निरोधी यज्ञियप्राण प्रतिब धक-भत भौतिक विज भगो के द्वारा हमन सवथा ही विलु त कर ी है। और यो अपने मौलिक शा ति स्वस्ति मलक-**ऋद्धि वृद्धि तृप्ति पुष्टि** प्रद प्रकारो की उपेक्षा कर सवथा व स **अयज्ञिय-प्रकारा** का ही आज हमन अ धानुकरण उपक्रा त कर लिया है अपनी मूलविज्ञान निधि से अपरिचित रहने के कारण जिस उपक्रा त से कृ णमगानुब धी म यज्ञिय-भारतरा ट का ता कदापि अ युदय स भव नही है। माता धरित्री के अ युदय समाधक इन्ही कतिपय त यो के माध्यम स इस के उपजीवनीय रस भाग की ओर भगवान् याज्ञव क्य के द्वारा आज भारतीय प्रजा का यान आकर्षित हुआ है जसा कि प्रक्रा ता कण्डिका के उपस हारा मक- **इमामेवैतत् पृथिवा सविद्य रसवती उपजीवनीयामकुवत** इस वाक्य से स्पष्टतम है। ॥११॥

प्रकारा तर से यो समझिये कि दक्षिणाग्नि पारपाक करने वाला है। पारपाक से मिट्टी का श्लथ भाव न ट हो ाता है मिट्ट दृढ बन जाती है। इसी पारपाक से वह **मसृणा** (चिकनी) भी बन जाती है। यही इसका सुक्ष्माभाव (शोभनभमिभाव) एव शिवभाव है। गाहप याग्नि प्रति ठारूप है यही प्रजनावता है यही स्वरूपसम्पत्ति है। उ ारो ार **उर्वरा** बने रहना ही इसका **सुषमा** एव **स्योनाभाव** है। मृत्तिका को **रसयक्त** एव **बलयक्त** बनाने के लिए तीसरा परिग्रह किया जाता है। ये तीनो परिग्रह **भूमिपरिग्रह** है। पहिले के **गायत्रेण वा छन्दसा परिगृह्णामि** यादि तीनो परिग्रह **प्राणपरिग्रह** हैं। प्राणरूप वि णु को **छन्दों** से परिगृहीत िया जाता है व **भूतमय विष्णु** का मपिण्ड से परिग्रहण किया जाता है। इसप्रकार स भय ६ परिग्रह होजाते ह। यापक विष्णुयज्ञ षडऋतु की समष्टि ही स व सर है एव यही **यज्ञसम्पत्** है। उक्त ६ ओ परिग्र ो से यजमान का यह वै ध यज्ञ प्राकृतिक षडऋतुरूप स व सरयज्ञस पत् स युक्त होजाता है। दूसरे श दो में यो समझिए कि पूव के तीन परिग्रह **लोकी** परिग्रह है एव उत्तर के तीन परिग्रह **लोक** परिग्रह है। **लोक भूतप्रधान है** एव **लोकी प्राणप्रधान है**। इस क्रम स दोना का यज्ञ के साथ स ब ध होजाता है। साथ ही यह भी यान रखना चाहिए कि पूव के तीन परिग्रहो में ६ याहुतिया हैं एव उत्तर के परिग्रहो में ६ याहुतिया है। इस प्रकार १२ याहुतिया होजाती हैं। यज्ञस पत्-रहस्यवत्त ओ को विदित होना चाहिए कि द्वादश याहुतिया से भी द्वादशमासात्मिका स व सरमूर्तिमयी यज्ञविष्णुस पत् परिगृ ीत होजाती है। पूव एव उ ार परिग्रहो से सम्ब ध रखने वाली व १२ याहुतिय। आगे क परिलेख से स्पष्ट होजाती है।

द्वादशव्याहृतिपरिलेख —

१—१-गायत्रेण त्वा २—२ छ दसा परिगृह्णामि	}	'गायत्रेण त्वा छ दसा परिगृह्णामी' ति दक्षिणत १ (१)
३—३' त्रैष्टुभेन त्वा ४—४-छ दसा परिह्लामि	}	'त्रैष्टुभेन त्वा छ दसा परिगृह्णामी' ति पश्चात् २ (२)
५—५ जागतेन त्वा ६—६ छ दसा परिगृह्णामि	}	'जागतेन त्वा च्छ दसा परिगृह्णामी' त्युत्तरत ३ (३)
७—१ -सुक्ष्मा चासि ८—२ -शिवा चासि	}	सक्ष्मा चासि शिवा चासी ति दक्षि— णत १ (४)
९—३ स्योना चासि १० ४-सुषदा चासि	}	'स्योना चासि सुषदा चासी' ति पश्चात् २ (५)
११—५ ऊर्जस्वती चासि १२ ६ पयस्वती च	}	'ऊर्जस्वती चासि पयस्वती चे' त्युत्तरत ३ [६]

त्रि पूर्व परिग्रह गृह्णाति षड्भिर्व्याहृतिभि

त्रिर ार परिग्रह गृह्णाति षड्भिर्व्याहृतिभि

स यावानेव यज्ञो यावयस्य मात्रा—तावतमेवैतत् परिगृह्णाति

॥ १२, १३ ॥

प्रवृत्ति प्रकरण में (मूलानुवाद में) वदि–निर्म्माण–प्रकार बतलाते हुए कहा गया है कि कितने ही (तैत्तिरीय–स प्रदायानुयायी) याज्ञिको के मतानुसार वदि का पश्चिम भाग (श्रोणी भाग) व्याममात्र (दो हाथ) चौड़ा होना चाहिए एव पूव भाग (अस भाग) तीन अ नि (१॥ हाथ) चौड़ा होना चाहिए। इस का प्रतिवाद करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि **याममात्री–अरत्नि** इस ठीक परिणाम की अर्गला की कोइ आवश्यकता नही है। यजमान अपने अनुमान से जितना मान ठीक समझे उसी चौडाइ से वदि का निर्म्माण कर लेना चाहिए। ता पर्य यही है कि **आधिदैविकयज्ञ से आध्यात्मिकयज्ञ (पुरुष)** का स्वरूप नि पन्न होता है। जसा स्वरूप **अण्डब्रह्माण्ड** का है ठीक वसा ही स्वरूप **पिण्डब्रह्माण्ड** का है। हमारा शरीर प्राकृतिक यज्ञ की प्रतिकृति ही है। इसी आधार पर **यज्ञो वै पुरुष – पुरुषो वै यज्ञ** इ यादि यज्ञपुरुष के अभेद सूचक निगम वचन प्रतिष्ठित हैं। दोनो ही यज्ञ इश्वर की रचना है। दोनो ही एक प्रकार स प्राकृतिक यज्ञ हैं। इधर प्राकृतिक यज्ञ के अनुसार ही **आधिभौतिक यज्ञ** का (मनुष्ययज्ञ का) वितान हुआ है। यही कारण है कि इस **काल्पनिक यज्ञ में आ यात्मिक एव आधिदैविक** दोनो यज्ञो के स्वरूप का विचार रखना पडता है। यदि कोइ वधयज्ञ मे असावधानी कर दता है तो ऋषि **अध्यात्म–अधिदैवत–यज्ञ** का स्वरूप बतलाते हुए उस का सशोधन कर दते है। यहा ऐसा क्या होता है? इस का समाधान वही प्राकृतिक आधिदैविक एव आ यात्मिक यज्ञ है। पुरुष यज्ञपुरुष है। स्त्री यज्ञपुरुषरूप पुरुष (मनुष्य) की प्रतिष्ठा है। यहा भी **यज्ञ पुरुषस्थानीय है** एव वदि **स्त्रीस्थानीया है**। स्त्री वही सु दर मानी जाती है जिसका श्रोणिभाग विपुल हो असभाग सकुचित हो। अत यहा भी वदि का श्रोणी स्थानीय पश्चिम भाग विपुल होना चाहिए एव असस्थानीय पूवभाग सङ्कुचित होना चाहिए। **आगे से सकुचित नीचे से विपुल** यज्ञस पत् यही समाप्त है। इस का यह ता पर्य लगाना कि **आगे से अरत्नि हो नीचे से व्याममात्री ही हो** विज्ञानदृष्टि से बहिभू त है। यजमान अपनी इच्छा से यथच्छ परिणाम रख सकता है। हा उसे प्रत्येक दशा में यह यान अवश्य रखना होगा कि वदि पश्चिम मे विपुल एव पूव में सकुचित है अथवा नही।

आभिरूप्य सा दर्य ही वास्तविक सौ दर्य माना गया है जैसाकि– **आभिरूप्याच्च बिम्बानाम्** इ यादि औपासनिक वाक्य से स्प ट है। जिसे लोकभाषा में–**साचे मे ढला हुआ** कहा जाता है उसी का नाम है **अभिरूप सौ दर्य**। वदि यज्ञपुरुष की पत्नी है अर्थात् **स्त्री** है। अभिरूप–सौ द य से समन्विता नारी ही पुरुष के प्रकृतिसिद्ध **श्रद्धा वा स य–स्नेह काम** नामक चतुर्विध रागभावों की समन्वितावस्थारूप लोकप्रवर्तक सुप्रसिद्ध **रतिप्रेम** की अधिष्ठात्री मानी गइ है। वस्तुस्थिति ऐसी है कि सौ दर्य **रूप अभिरूप** भेद से दो भागोमे विभक्त है। सौ दर्य के अधिष्ठाता **इ द्र और त्वष्टा** नामक दो प्राणविशेष **वदिक विज्ञान** में प्रसिद्ध हैं। इन्द्र **रूपसौ दर्य** के अधिष्ठाता हैं एव त्वष्टा– **अभिरूपसौ दर्य** के अधि ठाता हैं। शि पी वही विशिष्ट शि पी माना गया है जिस की रञ्जरञ्जिता तूलिका में इन दोनो सौन्दर्यों के चित्रण की क्षमता रहती है। इन्द्र जहा **वर्णरूप** के अधिष्ठाता हैं वहा त्व टा **आकाररूप** के अधिष्ठाता हैं। हरित–नील–पीत–रक्त धूम्र श्वेत–कृष्ण–बभ्रु आदि आदि पृश्निभावा मक जितने भी वर्ण (रग) है सभी **वर्णरूप** नाम से प्रसिद्ध हैं एव– **रूप रूप मघवा बोभवीति** (ऋक् सहिता) के अनुसार सौररश्मिभुक्त

मघवा नामक द्रप्राण ही न य चयावत् वर्णरूपी के अधि ठाता एव प्र त्तक है । इसी वर्णरूप का नाम है **रूपसा दर्य** — ।

दूसरा है— **अभिरूपसा न्दर्य** । **आकाररूप** का ही नाम **अभिरूपता** है जिस न्स अभिरूपा मक आकाररूप का प्रवत्तक **त्वष्टा** प्राण माना गया है जसाकि **त्व टा रूपाणि पिंशतु त्व टा रेत सिक्त विकिरोति** इ यादि से स्प ट है । आकाररूप ही वर्णरूप की प्रति ठा माना गया है । वयोना धा मक छ द का नाम है— **आकार** ए वयोरूप छ दित वस्तु का नाम है— **आकारित पदार्थ** । **पदार्थ** और पदार्थ का **आकार** दोनो क्रमश इन्द्र और त्वष्टा से अनुप्राणित है । दोनो में आकार **आधार** है आधा रित वस्तु **आधेय** है । छ दोरूप बाह्य आधारा मक सौ द य की छ दित ऐन्द्र आधेय भा द र्य का प्रति ठा बना करता है । अतएव दोनो में प्रमुख स्थान वाह्य आकार सौ द यरूप **अभिरूपसौन्दर्य** का ही माना गया है । कदापि श्वेत कृ ण पीत हरित (काला गौरा आदि) वर्ण सौन्द य के मापदण्ड नही बना करते । अपितु प्रमु खरूपेण आकारविशेष ही सौ द य का प्रमुख मापदण्ड बना करता है । विशिष्टाकार से समन्वित प्र येक वर्ण [रग] जहा सु दर बन जाता है वहा निकृष्टाकारो स विशिष्ट भी वर्ण निकृष्ट बनता हुआ सौ द य की सीमा से बाहभ त हो जाता है । अतएव **वर्णरूपा मक ए न्द्र रूपसौन्दर्य** तथा **आकाररूपा मक त्वाष्ट्र अभिरूप सौन्दर्य** दोनो मे **अभिरूप सौन्दर्य** ही प्रमुख मान लिया गया है जसाकि **आभिरू याच्च बिम्बानाम्** इ यादि औपासनिक वचन से स्पष्ट है * ।

प्रतिमा का अथवा तो **चित्र** का वर्णा मक रूपसौ य इनके आकारा मक अभिरूप सौ द य पर ही प्रतिष्ठित माना गया । वर्णत कृ ण-पापा ममयी भी प्रतिमा आकारसौन्दर्य से जहा स्व वरूप स अभि यक्त होपडती है वहा वर्णत वि ष्टा भी प्रतिमा आकारविकृति से अपने वशि न्ध्य से वञ्चित होजाती है । यही स्थिति चित्रा मक शि प की है । अतएव भगवान् याज्ञवल्क्य ने यहा वेदिरूपा नारी के सौ द य के सम्ब व में वर्णप्राणा मक आकाररूपा मक अ भरूपसौ द य को ही प्रमुख माना है । यज्ञपुरुष की **योषारूपा (प नी स्थानीया)** यह वेदि **पश्चाद्वरीयसी म य सह्वारिता** तथा **पुरस्तादुर्वी** आकार भागो से समन्वित रहती है । एतदाकारसौन्दर्ययुक्ता **अभिरूपसुन्दरी** नारी की ही लोक मे प्रशसा होती है— **एवमेव हि योषा प्रशसन्ति** । पश्चाद्वरीयसी का अर्थ है—**पृथुश्रोणि** । म ये सह्वारिता का अर्थ है— **म ये सग्राह्या** एव पुरस्तादुर्वी का अर्थ है— **विमृष्टा न्तरासा** । श्रोणिद्वय विपुलाकारस-समन्वित म य काट प्रदेश ह तग्राह्यमर्यादया सूक्ष्म (कृशोदरी) एव अग्रभाग गो पेक्षया थाव नत किन्तु विस्तृत । यही योषा का अ यतम **अभिरूप-सौन्दर्य** है जिस प्रजनन का मूलाधार माना गया है ॥ १४ १५ १६ ॥

— विशि टतम रूपसौ द य से स पन्ना नारी के लिए राजस्थान में **रूप का डला** (**रूपराशि रूपस्तूप रूप का ढेर**) यह श द प्रसिद्ध है ।

*** अ र्चकस्य तपोयोगात्, अर्च्चनस्यातिशायिनात् ।**
आभिरूप्याच्च बिम्बाना देव सान्निध्यमृच्छति ॥

तथाभूता अभिरूपसान्द्ययगुणान्विता यज्ञिया वदि प्राक अथवा ता उदक दोनो म से किसी एक दिशा की ओर ही प्रवणा होनी चाहिए। कारण स्पष्ट है। मानवसर्ग का उत्तरादिशा से प्रधान सम्बन्ध है एव देवसर्ग का पूर्वादिशा से सम्बन्ध है। मानवसृष्टि रतामयी भूतसृष्टि है एव देवसृष्टि प्राणसृष्टि है। प्राणपति प्राणात्मक इन्द्र पूर्वादिशा के दिकपाल हैं एव भूतपति चन्द्रमा (सोम) उत्तर दिशा के दिकपाल हैं। चन्द्रमसादूरेतो ऋतव आभृतम् इत्यादि कौषीतकि सिद्धान्तानुसार चान्द्र सोम ही ऋतु स्वरूप का जनक बनता हुआ शुक्रात्मक–रेतो रूप में परिणत होता है। एव त शुक्राहुत ही मानवसृष्टि का प्रमुख बीज माना गया है। तत्प्रधानता क्योकि सौम्या उत्तरदिक् में ही है। अतएव उत्तरादिक (उत्तर दिशा) सौम्य–शुक्र प्रधान मानव की प्रातिस्विक ऋतु मानली गई है जबकि प्राणेन्द्र के प्राधान्य से पूर्वादिक् देवताओ की दिशा मानी गई है। प्रथम तो वदि इस ओर ही प्रवणा (झुकी हुई) होनी चाहिए। यदि इस ओर सुविधा न हो तो स्वदिगरूपा उत्तरदिशा की ओर भी वदि प्रवणा रक्खी जासकती है। किन्तु भूल कर भी इसे दक्षिणप्रवण तो कदापि नही बनाना चाहिए। जो सौम्यप्राण उत्तर में मानव के जीवन की मूलप्रतिष्ठा है वही दक्षिणानुगत बनता हुआ पितृप्राणात्मक बन कर मानव की मृत्यु का कारण बन जाया करता है। अतएव दक्षिणदिशा को याम्यादिक् (यमराज की दिशा) माना गया है। दक्षिणाद्यमोऽवसा सान प्रथित्या – यमो वै–अवसानस्येष्टे इत्यादि मन्त्र–ब्राह्मण–श्रुतियो के अनुसार दक्षिणस्थ याम्य–पितर तो अवसान के ही अधिपति माने गए हैं। अतएव मानव को स्वप्राण का आभिमुख्य कदापि दक्षिण दिशा की ओर नही करना चाहिए। इसी आधार पर–नोदीचीनशिरा शयीत (उत्तर दिशा की ओर मस्तक करके कभी शयन नहीं करना चाहिए) यह आदेश हुआ है। क्योकि ऐसा करने से प्राणगति दक्षिणाभिमुख ही बन जाया करती है जो कि आयु प्राण पर आघात करने वाली मानी गई है। अतएव भारतीय–वास्तुशास्त्र (भवननिर्म्माणादि शिल्पशास्त्र) में दक्षिण की ओर गृहद्वार रखना आत्यन्तिक रूपेण निषिद्ध माना गया है। निगमनिष्ठ स्वर्गीय श्रीजयसिंहजी नृपतिवर के तत्वावधान में विनिर्मित जयपुर नगर का समस्त गृहशिल्प इसी नियम से अनुप्राणित था जो आज के युगधर्म्म के द्वारा यत्र–तत्र परिवर्त्तित होगया है।

प्राक प्रवणा अथवा तो उदक प्रवणा वदि के तथोक्त याम्य दक्षिणप्रान्त को मिट्टी डाल कर थोडा उन्नत कर देना चाहिए। इस से दो तथ्य सिद्ध होजाते हैं। उन्नतभाग से वेदि का दक्षिणप्रवणता दोष सर्वात्मना हट जाता है। दूसरे वदि पशुसम्पत्ति से भी समन्वित होजाती है। परिशिष्टात्मक प्रवर्ग्य भाग का ही नाम शलथ मिट्टी का ही नाम पुरीष है जो अनात्म्य है। आत्मस्वरूपाभिव्यक्ति से वाञ्चता पशुसृष्टि अनात्मप्रवर्ग्या है पुरीषरूपा है अर्थात् प्रवर्ग्यात्मिका है। पृथगभूता मिट्टी प्रवर्ग्य स्थानीया बनती हुई निदानेन साक्षात्–पशु है। अतएव इस पुरीष निधान से वदि अवश्य ही पशुसम्पत्ति से भी समन्विता होजाती है। क्या दक्षिणस्थ याम्य रुद्र इस पशुसम्पत्ति को नष्ट नही कर देगा जिसे कि पुरीष–निदानेन वदि के दक्षिण भाग में प्रतिष्ठित किया गया है ? । नही इसलिए कि याम्यरुद्र तो स्वय पशुपति है। अतएव व तो रक्षक ही है इन दक्षिणस्थ पशुओ के।

उक्त कथन का तात्पर्य यही है कि आधिदैविक यज्ञ तथा आध्यात्मिक यज्ञ का जैसा स्वरूप है इस आधिभौतिकी वदि का स्वरूप भी उसी अनुपात से वितत होना चाहिए। वदि की स्वरूप सम्पत्ति से सम्बन्ध

रखने वाले सी त य का अत्र समन्वय हुआ है जिसके अ। तर प्रतिमा जनकम्म ही उपस्थित हो रहा है ॥१ ॥

प्रतिमार्ज्जनकम्मोपपत्ति—

उत्तर–परिग्रहान तर स्फय से उ पाटित मिट्टी को सम त्रक बाहिर फकना ही प्रतमा जनकम्म है। जिस म त्र से यह क म किया जाता है वह नि न लिखित है—

'पुरा क्र रस्य विसृपो विरप्शि नुदादाय पृथिवी जीवदानुम् ।
यामैरयश्च द्रमसि स्वधाभिस्तामु धीरासो अनुदिश्य यजन्ते" ॥

—यजु स १। २८ म

हे विरपशिन् ! विसृप (क्रूरस्य) पुरा (देवा) जीवदानु या प्रथिवीमुदादाय स्वधा भिश्च द्रमसि–ऐरयन् तामु अनुदिश्य–धीरास –यजन्त । हे विष्णो ! विविध योद्धाओं की इधर उधर दोड भाग (सपण झपाटा) क कारण विसृप नाम से प्रसिद्ध क्रूरकम्मा अतएव क्रर नाम से प्रसिद्ध सङ्ग्राम से पहिले देवताओंन जीवनीय जिस प्रथिवी को (प्रथिवी के जिस जीवनीय भाग को) (धरोहर के रूप मे) च द्रमा मे प्रतिष्ठित किया था उसी (जीवदानु भाग) को लक्ष्य म रख कर धीर याज्ञिक यजन करते है —

यह है मन्त्र का अक्षरार्थ। इस म त्र की सङ्गति लगाती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है कि किसी समय युद्ध की आशङ्का मे देवताओं न युद्ध से पहिले ही परस्पर की म त्रणा से यह निश्चय किया कि स भूपिण्ड पर जो अपना याज्ञिक अमृतमय देवयजन भाग है उसे कुछ दिनों क लिए चन्द्रमा मे रखद। यदि जीत गए तो पुन इस ले लग। नहीं तो जीवनीय रस के आधार पर पुन असुरों को परास्त कर दग। फलत देवताओंन उस जीवनीय भाग को धरोहर के रूप म च द्रमा मे प्रतिष्ठित कर दिया । प्रकृत यज्ञ में चन्द्रमा में सुरक्षित उसी देवयज्ञन भाग की (भावना द्वारा) प्राप्ति के लिए उक्त मन्त्र से प्रतिमा जन किया जाता है। उस दवयजन की भावना रखते हुए प्रतिमा जन से विशुद्ध भूप्रदश में उसी यज्ञिय भाव का (देवयजन भाग का) समावश होजाता है। (आप ह वाऽस्यतस्मिन् देवयजनऽ इष्ट भवति य एवमेतद्वेद)।

सहिताभाग के कितने ही म त्र विशुद्ध आधिदैविक–विज्ञान का ही निरूपण करते हैं। केवल विज्ञ न का निरूपण करने वाले म त्र भाषादृष्टि से भी जटिल होते हैं एव अर्थदृष्टि से भी रहस्यमय होते हैं। प्रकृत मन्त्र ऐसा ही है। इस में एक अपूर्व आधिदैविक विज्ञान का निरूपण किया गया है। क पनारसिक कवियो की उत्ताल–तरङ्गो की आधारभूमि चन्द्रकलङ्क का क्या स्वरूप है ? दूसर श दो मे च द्रबिम्ब में दिखलाई देने वाला कृष्णचिह्न क्या है ? उक्त म त्र सी प्रश्न का ता विक समाधान कर रहा है। वैदिक विज्ञान का तिर कार करते हुए लक्ष्मी के लाडले राजपुत्रों का अनुरञ्जन करने वाले उनकी प्रशसा में ही अपने जीवन को ध य मानने वाले वैदिक विज्ञान के परम शत्रु भारतीय उन कवियो से ही पहिले पूँछ देखिए। देख व इस कलङ्क के स ब ध में क्या उ तर देते है ?। बहुत दिनों की घटना है। इस सम्ब ध

में एक पद्य किसी कविश्र ठ के मुख से हमारे श्रोत्रविवरो मे बलात् प्रवि ट होगया था । स भवत सभी सस्कृतानुरागी नि न लिखित उस पद्य स सुपरिचित होग कि—

अङ्क केऽपि शशङ्किर जलनिधे पङ्क परे मेनिरे ।
सारङ्ग कतिचिच्च सञ्जगदिर भू छायमैच्छन् पर ॥
इ दौ यद्दलितेन्द्रनीलशकल श्याम दरीदृश्यते ।
तत् सा द्र निशिपीतम धतमस कुक्षिस्थमाचक्ष्महे ॥

कितने ही क पना रसिको का कहना है कि च द्रमा मे जो कृ णभाव है वह एक कलङ्क का सूचक है । च द्रमाने जारबुद्धि से बृहस्पति की स्त्री तारा (गुरुप नी) पर बला कार किया था । वही कलङ्क (कालिमा कालिख) आजतक च द्रमा मे दिखाइ द रहा है । कितने ही मानते ह कि च द्रमा समुद्रम थन के अवसर पर समुद्र से निकला है । समद्र से निकलते हुए समुद्र का पङ्क (कचड) भी च द्रमा मे लगा रह गया । वही चन्द्रमा मे दिखलाइ द रहा है । कितने ही कहते हैं कि चन्द्रमा के क्रोड में एक मृगशावक (हरिण का चा) बठा है । हरिण च द्रमा का वाहन है । उसका पुत्र भी उसी के साथ है । अ पवयस्क होने से प्रीतिवश च द्रमा ने उसे अपने अङ्क (गोद) में प्रति ष्ठत कर रक्खा है । चन्द्रमा में दिखलाइ दने वाला कृष्णभाव (कालिमा) वही क्रोडस्थ मृगशावक है । इसीलिए च द्रमा **मृगला छन** नाम से प्रसिद्ध है । कितने ही विद्वान् कहते है कि चन्द्रमा पर भूपिण्ड की छाया पडती है । चन्द्रमा में दृष्ट कृष्ण- वण भूमि की छायामात्र है । पर तु हमारी दृष्टि स (पद्यरचना क ने वाले कवि के मत से) च द्रमा मे जो श्यामता दिखलाई दे रही है वह रात्रि का ही अ धकार है । रात्रि का जो घना अ धकार था उसे ही मानो चन्द्रमा ने पी लि ा है । रात्रि का स पूण अ धकार च मा के उदर मे चला गया है । अतएव चा द्री रात्रियो में (शुक्लपक्ष में विशेत पूर्णिमा में) अ धकार नही रहता । वही पीता धकार च द्रकुक्षि में दिखलाइ दरहा है ।

उपर्यु क्त सभी पक्ष केवल क पना ही क पना है । यद्यपि स क पना में भी— **भूच्छायमै छन् पर** यह वाक्य अवश्य ही आशिकरूप से स य है । परन्तु इतर मिथ्याशो के सदशपतित होने से उसकी भी मौलिकता तिरोहित ही होरही है । प्रकृत म त्र उसी स याश का विश्लेषण कर रहा है जैसाकि न नलिखित **च न्द्रोत्पत्तिप्रकरण** से स्पष्ट होजायगा।

जिसप्रकार **बहिर्ग्रह** नाम से प्रसिद्ध **शनि बृहस्पति मङ्गल** एव **अ नग्र ह** नाम से प्रसिद्ध **शुक्र-बुध प्रथिवी** सूय्य के उपग्रह माने जाते हैं एवमेव च द्रमा पृथिवी का उपग्रह माना गया है । दूसरे श दो में च द्रमा **पृथिवी का पुत्र** माना जासकता है । यद्यपि च द्रमा की **अत्रिपुत्र** माना गया है । पर तु उस अत्रिप्राण का भूपिण्ड से ही सम्ब ध है । अत्रिप्राण ही भूपिण्ड का स्वरूप समपक बनता है । भूपिण्ड भूतमय है । भूत की प्रति ठ प्राण है । बिना प्राण के भूत एक क्षण भी प्रतिष्ठित नही रह कता । वही भूतप्रतिष्ठारूप वाङ्मय किंवा वागरूप प्राण **अत्रि** नाम से प्रसिद्ध है । चतुर्विध अन्नादाग्नियो का निरूपण करते हुए हमने पूव में पृथिवी में **गाहप य** नाम के **अन्नादाग्नि** की सत्ता बतलाइ है । इस अन्ना-

टा न की नि य चिते न यय भेद स । अ न या हा ी है। चि यानि भूतप्रधान है न्सी से भूपि न जाता है। ण चितनिधेय अ ग्न प्राण प्रधान है। यही ाग प न्नादमूत्ति अत्रिप्राण है । यही भूपिण्ड की प्रति टा है। इसी प्राण का निरूपण करते हुए ऋ ष क ते है —

'वागेवात्रि । वाचा (पार्थिवान्नादाग्निना) ह्यन्नमद्यते। अत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति' (श १४।५।२।२।) । ।

भूपिण्ड वाग्रूप अत्रिप्राणमय है। अतएव इसे भी वागरूप ही कहा जाता है जैसाकि नि न लिग्वत श्रौत वचनो से स्पष्ट होजाता है—

१—"तस्य वा एतस्याग्नवागेवोपनिषत्" (शत १ ।५।१।१।) ।
२—इय (पृथिवी) वै वाक' (ए ५।३३। शत ४।६।६।१६ ।
३— 'वागिति पृथिवी' (ज उ ४।२२।११)।
४—"वागेवाय लोक ' (श १४।४।३।१)।
५ —"सा या सा वागग्निस्स" (ज उ० १।२८।३)
६—"सा या सा वागासीत्, सोऽग्नि (अन्नाद) रभवत्' (जै उ २।२।१)

यह वा रूप (अन्नादाग्निरूप) पार्थिव अत्रिप्राण व तुत आपोमय परमे ठी का ही मनोता है। **भृगु अङ्गिरा अत्रि** इन तीनो का प्रभवस्थान आपोमय परमे ठी ही है। इनम भृगु एव अङ्गिरा प्राण आगे जाकर घन तरल विरल अवस्था मे से क्रमश **आप वायु सोम अग्नि यम आदि** इन तीन तीन स्वरूपो मे परिणत होजाते ह। तीसरा अत्रिप्राण भृगु–अङ्गिरा–प्राणवत् तीन अवस्था ओ मे परिणत न होकर सदा एकरूप ही रहता है। अतएव **न त्रि** इस निर्वचन के अनुसार भी से **अत्र** कहा जाता है। **अत्ति (अन्न)– न त्रि** –अत्रि श द के दो निर्वचन हैं। यही प्राण भूतसृष्टि का आलम्बन है। प्र येक भौतिक पदार्थ (तेज एव **आकाश** को छोड कर) **धाम च्छद** (जगह रोकने वाला) है। साथ ही प्राय प्र येक धाम छद पदा र पारदशकता का प्रतिब धक है। इस पारदशकता का अव ोधक यही अत्रिप्राण है। यह प्राण सू र्य का (योति का) प्रतिब धक है। जिस धाम छ पदाथ मे अत्रिप्रा । की प्रधानता रहती है उसकी पारदशकता नष्ट ोजाती है। सौररश्मिया उस से पा ।गामी ा नही होसकती। **तमोमयी पाप्मा भूतसृष्टि का अधिष्ठाता यही अ त्रप्राण है**। ऋतुकाल मे स्त्री के रज में तमोमयी सृष्टि का मूलभूत यही अत्रिप्रा ग रहता है। अतएव ऋतुमती को **आत्रेयी** कहा जाता है। दिव्य सौर योतिमय देवताओ की अपेक्षा यह प्राण मलीमस है। इसी अभिप्राय से श्र ति क ती है **पा मानोऽत्रिण** (प ब्रा ३।१।)—**रक्षासि वै पाप्मात्रिण** (ऐ २।२।) । इसी पा मभाव के कारण ध मशा त्र में ऋतुमती स्त्री के स्पर्श का निषेध हुआ है।

पृथिवी का मूल उपादान पानी ही है। सीके साथ अन्नादाग्निमय धाम छ पारदशकता का प्रतिब धक आपोमय पारमे ठ्य अत्रिप्राण भी सयुक्त रहता है। अत्रिप्राण के परिपाक से चि याग्निमय भूपिण्ड की स्वरूप

नि पत्ति होती है है। भ पण्ड पानी और आ न (आत्र) का सर्म तरूप है। इसी अग्नि के सम ध से इसके लिए यथाग्निगर्भा पृथिवी यह कहा जाता है। भापण्ड क्या है चि याग्निमूर्त्ति अन्न नि रूप अत्रिप्राणमूर्त्ति है। यह भ पण्ड क्रा तिवृत्त पर परिक्रमा लगा रहा है। बृहती केन्द्र-स्थित सू य के चारों ओर दीघवृत्त (अण्डाकारवृत्त) रूप क्रा तवृत्त पर घूमता हुआ भपिण्ड सम्व सरगात का अधिष्ठाता बनता है एव स्वात्तपरिभ्रमण से दैनादनगति का प्रवत्त क बनता हुआ अहोरात्र का स्वरूप स पादक बनता है। स्वाच एव साम्व सरिक परिभ्रमण करते हुए पार्थिव आ न म दसों दिशाओ में या त दिक्सोम की निर तर आहुति होती रहती है। यही पार्थिव अग्नीषोमा मक यज्ञ है।

पार्थिव अग्नि विकासध र्मा है ए यह भूपिण्ड के खण्ड खण्ड करना चाहता है। परन्तु सकोच-ध र्मा सोम अ नि में आहुत होकर उसके इस विकास का दमन करता रहता है। आगत सोम घनादि तीन अवस्थाओ में परिणत रहता है। भूपिण्डावच्छिन्न सोम घनावस्थापन्न है इसी को तुरसोम कहा जाता है। पृथिवी के पञ्च शस्तामरूप अ तरिक्ष में या त पार्थिव सोम तरतलावस्थापन्न है इसी को धर्मसोम कहा जाता है। एव पृथिवी के २१ एकविंशस्तोमरूप द्यु लोक म पार्थिव सोम विरलावस्थापन्न प्राणाव थापन्न) है इसी को धरुणसोम कहा जाता है। ता प य यही है कि दिक्सोम पार्थिव वाग नि म आहुत होता है। सोमाहुति से प्रदी त अत्रिप्राणमय पार्थिव वागग्नि अङ्गिरा नाम धारण करता हुआ ऊपर की ओर (द्यु लोक की ओर) जाता है। इस वागग्नि की घनााद तीन अवस्थाए होजाती हैं। भू पण्डावच्छिन्न सोममय पार्थिव अग्नि घन है। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न वायु नाम से प्रसिद्ध दि याग्नि तरल है। एव एकविंशस्तोमावच्छिन्न आदि य नाम से प्रसिद्ध दि याग्नि विरल है। अग्नि की इन तीन अवस्थाओं के कारण तद्गर्भित सोम की भी उक्त तीन अवस्थाए होजाती है। अ तरिक्ष में पार्थिव वागग्निरूप अत्रिप्राण या त रहता है। इसी के गभ में तरलसोम प्रतिष्ठित रहता है। भूपिण्ड घूम रहा है। अ तरिक्षस्थ सोम यही (अ तरिक्षप्रदेश में) उस अत्रिरूप वाग नि स प्रवृक्त होकर एक स्थान मे घनी भूत होता रहता है। यही पृथिवी की तीन साम्व सारक परिक्रमाओ से एकीभूत पार्थिव तरल सोम च द्रबिम्ब रूप में परिणत होजाता है। यह पृथिवी के प्रवृक्त सोमरस से उ पन्न हुआ है इसीलिए तो इसे पृथिवी का उपग्रह माना जाता है एव अत्रिनेत्र के प्रस्रवण से उ पन्न होने के कारण यह अत्रिपुत्र भी माना जाता है। च द्रमा के इसी औ पत्तिक रहस्य को लक्ष्य में रखकर पुराण कहता है—

पिता सोमस्य वै विप्रा जज्ञेऽत्रिभगवानृषि ।
काष्ठकुड्यशिलाभूत ऊर्ध्वबाहुमहाद्यु ति ॥१॥
सुदुश्चर नाम तपो येन तप्त महत् पुरा ।
त्रीणि वर्षसहस्राणि दि यानी हि न श्रुतम् ॥२॥
तस्योर्ध्वरेतसस्तत्र स्थितस्यानिमिषस्य ह ।
सोमत्व तनुरापेदे महाबुद्धि स वै द्विज ॥३॥
ऊर्ध्वमाचक्रमे तस्य सोमत्व भावितात्मन ।
नेत्राभ्यामस्रवत् सोमो दशधा द्योतयन् दिश ॥४॥

—ब्रह्माण्डोपोद्घाते हरिवशे च

अग्नि सर्वा देवता के अनुसार अग्नि **सार्वदेव य है**। इन दवताओं के यजन (सङ्गतिकरण) का एकमात्र साधन सोमाहुति ही है। अतएव हम सोम को अवश्य ही **देवयजन (देवताओं के यज्ञरूप यजन का साधन)** कह सकते है। **भूपिण्डस्थ अ नि मे आहुत होने वाला पार्थिव सोम ही देव-यजन है। यही देवयजनभूमि है। यही देवयजन साम पूर्वप्रदर्शित क्रमानुसार चन्द्ररूप मे परिणत हुआ है। पार्थिव देवयजन साम पितृप्राणमय** है। क्योंकि पितरप्राण का अधिष्ठाता एकमात्र सोम ही है। अतएव पितरो के लिए **पितर सोम्यास** (यजु स) यह कहा जाता है। जिसप्रकार दवताओं का अन्न **स्वाहा** कहलाता है एवमेव पितरो का अन्न अ तर्य्याम-सम्ब ध की प्रधानता से **स्वस्मिन् धत्ते अथवा स्व (आत्मान) धत्ते** इस निवचन के अनुसार **स्वधा** नाम से यवहृत होता है। स्वधा सोमद्र य है एव यह पितरप्राणमय है। इसी स्वधारूप पितृप्राण की प्ररणा स पार्थिव सोमात्य दवयजन भाग चन्द्ररूप में परिणत होता है इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर— **स्वधाभि -चन्द्रमसि एरयन्** यह कहा गया है। आरम्भ में पृथवी के प्रवृक्त देवयजन (सोम) से च द्रमा बन गया है। च द्रमा के साथ सौर रश्मियो का स बन्ध हुआ च द्रमा प्रकाशित होगया। पर तु चन्द्रमा के म य में प र्थिव सोम घनरूप स प्रतिष्ठित था। दूसरे श दो मे चान्द्रगर्भित सोम पार्थिव कृ णभाग से युक्त था। इस पार्थिव भाग की प्रधानता से यहा का सोम **ब्रीध्र** न बन सका। अतएव वहा सौररश्मियो की प्रति ठा न हासकी। **यही पार्थिवदेवयजनभाग हमे आज भी काला दिखाई दे रहा है।**

सृष्टि के आर भ म दवयजन के द्वारा चन्द्रमा बना था। आज पृथिवी से निकलने वाला वह देव यजनभाग उसी रूप स च मा का स्वरूप स पादन (पोषण पुष्टि) कर रहा है। चा द्रसोम ओषधि नि र्माण में खच होता रहता है। नियन्ता का यह नियतिचक्र अवश्य ही आश्चर्य्य मे डालने वाला है। **सोम देवयजन** है यह सिद्ध होचुका। विशु **पार्थिवाग्नि** एव **च द्रमा** इन दो स्थानो में इस की उपलब्धि होसकती है। विशुद्ध पार्थिवाग्नि मे वह पावन देवयजन सोम प्रतिष्ठित है एव सवथा विशुद्ध-रूप च द्रमा में प्रतिष्ठित है। वह वधयज्ञ मे प्राप्त नही होसकता। उसकी केवल भावना ही की जाती है। दूसरा है पार्थिवदवयजन। ओषधि तृण खनन यापार से उखाडी हुइ मिट्टी इन में किसी में भी विशुद्ध अग्नि नही है। प्रतिमा जन का ता पर्य्य यही है कि भूस्तरपर रहने वाला आग तुक किन्ना श्लथ अग्निरूप अयज्ञिय भाव हट जाय एव विशुद्ध पार्थिवाग्निरूप दवयजन भाग प्रा त होजाय। इसी पार्थिव देवयजन स पत्ति को प्रा त करने के लिए प्रतिमा जनक म किया जाता है। पार्थिव देवयजन के साथ ही च द्र दवयजन स पत्ति भी में (भावनामय म त्रबल से) प्रा त होजाय इस के लिए **क्रूरस्य विसृप** इत्यादि म त्र बोलते हुए **प्रतिमा जनकर्म्म** किया जाता है। जिसप्रकार उपासनकाण्ड में केवल भावना के बल पर विदूरस्थ उपास्य देव अ तरा मा मे प्रतिष्ठित होजाता है एवमेव यहाँ भी भावना के बल से अवश्य ही उस वर्ग मे व चान्द्रदवयजनसम्पत्ति प्रतिष्ठित होजाती है। यह तो हुआ इस प्रक रण का आधिदविक अ श अब दो चार पङ्क्तियो म आधिभौतिक (ऐतिहासिक) रहस्य भी अवगत कर लीजिए।

दायविभागाख्यान के आधिभौतिक चरित्र मे यह विस्तार स बतलाया जाचुका है कि इसी भूपिण्ड पर किसी समय मनुष्यात्रध देवता एव असुरो की सत्ता थी । नमे असुरदल तो आज तक विद्यमान है परतु देवसत्ता सर्वात्मना अभिभूत होचुकी ह । उस पुरायुग मे दवता एव असुरो म आ दिन युद्ध होता रहता था । देवताओ का प्रधान बल यज्ञ था । यज्ञबल से ही दवता समय समय पर असुरो को परास्त करते रहते थ । इस यज्ञ का प्रधान साधन **सोमवल्ली** ही थी । **यही सामवल्ली देवताओं का प्रधान देवयजन था** । असुर निरतर इस देवयजन को नष्ट करने का प्रयास करते रहते थ । इस आए दिन की चिन्ता से छुटकारा पाने के लिए दवताओने अपने इस दवयजन की रक्षा के लिए—अत्रिमहर्षि के पुत्र चद्रमा को नियत किया । चन्द्रमा ब्राह्मण थ एव भारतवष के निवासी थ । भौमब्रह्माने चन्द्रमा को अपना मानस पुत्र बनाया । स्वय रथ में स्थापित कर चद्रमा को पृथिवी की प्रदक्षिणा कराइ गई । अत में राज्याभिषेक कर इन्हे उत्तरदिशा का तो **दिकपाल** बनाया एव ओषधियो का लोकपाल बनाया। इसी **लोकपाल** एव **दिक्पाल** चन्द्रमा की रक्षा म तीन लक्ष **प्राधेय-मौनेय** गधर्वों के साथ सोमवल्ली सोपी गइ । जहा जहा सोमवल्ली का उद्गम होता था वहा वहा चन्द्रमा ने अपनी दखरेख में गधर्वों को रक्षा के लिए नियत किया । आगे जाकर गुरुपत्नी के अपहरण से हतबुद्ध चन्द्रमा ने देवताओ की दवयजनरूप सोमवल्ली की रक्षा में उदासीनता दिखलाइ । असुरो को अच्छा अवसर मिल गया । फलत असुरो के द्वारा सोमवल्ली का आमूलचूड ध्वस कर दिया गया । तभी से दवबल नास्तिभाव में परिणत होगया । प्रकृत ब्राह्मणश्रुति आधिदविक चरित्र के साथ साथ उक्त ऐतिहासिक घटना का भी स्मरण करा रही है ।

इति-प्रतिमार्जनकर्म्मोपपत्ति

१८, १९

ब्राह्मणोक्त वदिनिर्म्माण-सम्बधी प्राय सभी विषयो की वैज्ञानिक उपपत्ति बतला दी गइ । अब **अनामश** प्रकरण शेष रह जाता है । पूर्व के अनुवाद-प्रकरण मे यह बतला दिया गया है कि जबतक वदि पर **कुशास्तरण** नही कर लिया जाय तबतक भूलकर भी वदि का स्पश नही करना चाहिए । तात्पर्य यही है कि मन्त्र के द्वारा खननादि व्यापार से वेदिप्रदेश क्रूर हिंसक विद्युत् से युक्त होजाता है । उधर बर्हि में सौर-वन-प्राणमयी विद्युत् रहती है । विद्युदविज्ञानवेत्ताओ को यह भलीभाति विदित है कि मशीनरी का सचालन करने वाले विद्युद्यन्त्र के साथ एक ताबे का तार स्वतत्ररूप से मीटर (विद्युच्छक्तिप्रदाता यन्त्र) पर्यत बद्ध किया जाता है । यदि सञ्चालक की असावधानी स अथवा अधिक चापन (दबाव) स परिमाण से अधिक विद्युच्छक्ति का समावश होजाता है तो वह ताम्रतन्तु (तार) उसका निगरण (पान) कर जाता है । तत्काल **फ्यूज उड** जाता है । सञ्चालक वग निरापद सुरक्षित रह जाता है । यदि यह तार न हो तो वह उद्रिक्त विद्युत् इतस्तत व्याप्त होकर सघात का कारण बन जाती है । बस ठीक यही परि-स्थिति यहा समझिए ।

वेदिस्थान से निकलने वाली विद्युत् सहार करने वाली है । इसका दमन करने के लिए ही वेदि पर कुशास्तरण किया जाता है । बर्हि मे विद्युत् है जैसाकि पूव के बर्हि उपत्ति प्रकरण में विस्तार से बतलाया

जाचुका है। वह दर्भविद्युद वदिविद्युत् का पान कर जाती है। अत दर्भास्तरणान तर वदि के स्पश से को हानि नही होती। यद्यपि भौतिक विद्यु त की भाति स्पशकाल में यहा शरीर म किसी प्र यत्त आघात का अनुभव न ी होता। **क्याकि इस प्राणात्मिका यज्ञविद्यु त् का प्राण से ही सम्ब ध है।** **प्राणविद्या** के विद्वानो का कहना है कि स्पशकर्त्ता का प्राण मूर्छित होजाता है एव स पूर्ण यज्ञक म नष्ट होजाता है। प्र यत्तानुभव न सही यदि हमे यज्ञ के परोक्ष फल पर विश्वास है फलत भी विश्वास के आधार पर यदि हम यज्ञक म मे प्रवृत्त होत हैं तो हमें बा य होकर ऋ षप्रोक्त पद्धतिक्रम का ही आश्रय लेना ी पडगा। प्राणपरीक्षक ऋषियों के आदश पर चलना ही हमारा मुख्य कत य होगा।

ऐसा करने से क्या होगया क्या हो जायगा एसा ही क्या न करल इसप्रकार का **बुद्धिवाद** पुराने युग मे भी प्रचलित था। परन्तु उस समय यज्ञविद्या के **रह यवक्ता** विद्यमान थ । समय समय पर फलने वाली तथाविधा भ्रा तियों का उन रहस्यवक्ताओं की ओर से निराकरण होता रहता था। पर तु आज का युग बडा विचित्र है। दुर्भा य से दश में रहस्यवक्ताओं का निता त अभाव है। फलत अज्ञ जनो के द्वारा यज्ञपद्धतियो की उपेक्षा कर मनमाने पथ का आश्रय लिया जारहा है। रहस्यपूर्णा यज्ञविद्या आज बालक्रीडा मात्र का साधन बन रही है। आषऋषियो के चिर तन सिद्धा तो की अवहेलना कर अपने काल्पनिक जगत् को ही प्रधानता दी जारही है। यज्ञवि या का आचा य भारतवष आज क्या इस हीनदशा को प्राप्त होरहा है? इस प्रश्न का यही समाधान है। आषपद्धतियो का अनुसरण करने का गव रखने वाला **सनातन धर्म्मी जगत्** केवल आड बरभक्त है। यज्ञ की मोलिकता स वह भी सर्वा मना पीछे हट गया है। नही तो व ही व म त्र वही सामग्री फिर यजमान का अ युदय क्यों नही? । **कर्म्मकाण्डी** महोदय आज जसे दुद शाग्रस्त ह वैस दूसर न ी। कुछ परिगणित म त्र (सो भी निता त अशुद्ध) कण्ठ करलेने मात्र स **कमठ की** उपाधि मिल जाती है। जो यज्ञक म एक वज्ञानिक क म है जिसके सञ्चालन क लिए पर्याप्त या यता अपेक्षित है वह आज अद्ध शिक्षित किवा **अशिक्षित वेदपाठियो** का क्रीडाकौतुकमात्र ही बन रहा है। फल इसका यह होरहा है कि यज्ञ न करने वाले जहा सुखी दखे जाते है वहा यज्ञकत्ता हीनदशा मे मिलते है। यदि ध म का **यतोऽभ्युदयनि श्रयससिद्धि स धर्म्म** यही लक्षण है तो फिर सतत धर्म्मानुष्ठान के गीत गाते हुए भी सनातनधर्म्मी क्यो ि न प्रतिदिन अवनति के ग र्त की ओर अग्रसर होते जारहे हैं?। क्या आपने कभी इस प्रश्न का समाधान सोचा?।

यह तो हु अपने घर की बात। अब चलिए आ यसामाजिक जगत् की ओर । यह समाज वेद का परम भक्त है। सा ही इसे यज्ञविद्या में भी पूर्ण विश्वास है। सीमा यही समा त नही होजाती। दैनिक यज्ञों (हवनों) के द्वारा यह अपने विश्वास को काय्यरूप में भी परिण त क रहा है। पर तु फल की दृष्टि से इनका भी स पूर्ण क मकलाप निरथक ही है। अ ध (पद्धतिविरुद्ध) क पित ताम्रकुण्डो मे क पित पद्धतियों के द्वारा घृत केसर कपूर आदि डाल देना ही इनकी यज्ञविद्या की परिसमा त है । महाशय कहाँ गए थ?। अजी समाजम दर में **सम्मिलितहवन** करने गया था । हम आक्षेप नही करते। अपितु इन अकाण्ड-ताण्डवों को देखकर हमारा अ तरा मा क्षु ध है। हम इसी अभिनिवश में पड़कर अपने आप अपने सर्वनाश का बीज वपन कर रहे हैं। यदि कुछ कहा जाता है तो सद्विचार के स्थान में शास्त्राथ के लिए आह्वान किया जाता है। म यस्थ बनाए जाते हे वही के कोई **मजिस्ट्रेट पुलिस आफिसर** अथवा तो और कोइ

धनिक। यदि आप बुरा न माने तो यह कह लेने दीजिए कि आज आर्यसमाज स्वसिद्धान्तों से बहुत दूर चला गया है। बात बहुत छोटी है परन्तु है बडी मार्मिक। साथ ही हम यह भी समझते है कि जहां ऋषिप्रणीत-पद्धतियो का आदर नही वहा हमारे इस कथन का कोई मूल्य भी न होगा। फिर भी कह देना हम अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते है।

आर्य्यजगत् में **नमस्ते** बोलने की प्रथा है। साथ ही सनातनधर्म्मी जगत् में व्यवहृत होने वाले **जयरामजी की जयगोपालजी की जैजैश्रीगोकुलेश प्रणाम नमस्कार जयमाताजी की** इत्यादि वाक्यों की अवज्ञा की जाती है। आज हम समस्त आर्य्यजगत् को यह चेतावनी दे रहे है कि परस्पर **नमस्ते महाशय! नमस्ते महाशय! का उदघोष करता हुआ वह प्रत्यवाय का ही भागी बन रहा है।** **नमस्ते** शब्द वैदिक है वैदिक ऋषियो के द्वारा प्रयुक्त है **नमस्ते रुद्र मन्यवे** इत्यादि रूप से देवस्तुति सम्बन्ध में (संहिताभाग में भी) **नमस्ते** पद पद पर प्रयुक्त है। यह सब कुछ ठीक ठीक होने पर भी लौकिक-व्यवहारकाल में परस्पर **नमस्ते नमस्ते** बोलना स्वयं **वेद के ब्राह्मणभाग के द्वारा ही** सर्वथा निषिद्ध है।

स्वाहा स्वधा वौषट श्रोपट् स्वगा आदि शब्द अन्न के विवाचक है। परन्तु विषयभेद से सब का व्यवहार व्यवस्थित है। देवताओं को अन्नाहुति **स्वाहा** शब्द से पितरो को **स्वधा** शब्द से इन्द्र को **वौषट्** शब्द से देने का विधान है। इस शब्दमे व्यवहार में व्यतिक्रम नही किया जासकता। लोक में भी **रसोइ जीमिए भोजन कीजिए रोटी खालो रोटी खाले** ये सब वाक्य समानार्थक हैं। परन्तु सभी के लिए उक्त सभी वाक्य प्रयुक्त नहीं होते। अपितु तत्तदवाक्य तत्तद व्यक्तिविशेषो के लिए ही नियत है। ठीक वही स्थिति **नमस्ते** शब्द की है। यज्ञ करने वाला यजमान दीक्षित होता है। सब से पहिले उसे दीक्षणीयेष्टि करनी पडती है। यही से इसके लिए- **सर्वैः सर्वमेव न वदेत्** यह नियम अनुगत होता है। जबतक यजमान यज्ञकर्म्म मे दीक्षित रहता है तबतक वह शूद्रादि से भी भाषण नही कर सकता। **ब्रह्मचर्य्य व्रत-सत्यभाषण-अधःशयन-पयोभोजन** आदि विशेष नियमों के पालन से ही इस के अन्तरात्मा में यज्ञजनित अतिशय का अन्तर्याम-सम्बन्ध होता है। दीक्षित के इन्ही कतिपय नियमो का दिग्दर्शन कराती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—

'तन्न सर्व-इवाभिप्रपद्येत-ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा। ते हि यज्ञिया। स ह न सर्वेणेव संवदेत। देवा वाऽएष उपावर्त्तते यो दीक्षते। स देवतानामेको भवति। न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते। ब्राह्मणेन हैव, राजन्येन वा, वैश्येन वा। ते हि यज्ञियाः। तस्माद्यद्येनं शूद्रेण संवादो विन्देत्-एतेषां (ऋत्विजां) एकं ब्रूयात्-'इममिति विचक्ष्व इममिति विचक्ष्वेति। एष उ तत्र दीक्षितस्योपचार'।

शत ३ का १।१।६-१० क इति।

यज्ञसंस्था एक दवसंस्था है प्रकृतिसंस्था है । इसमें लौकिक यवहारों का समावेश करना सर्वथा निषिद्ध है । यज्ञमण्डल में ऋत्विजों और यजमानों में जो परस्पर अभिन दन व्यवहार है वही नमस्ते श द से होता है । इसप्रकार नमस्ते शब्द यज्ञसंस्था के लिए ही नियत है । क्योंकि नम यज्ञ का वाचक है । नमस्ते का अर्थ है हम आपके यज्ञ (यज्ञसाधक) हैं । ऐसी अवस्था मे यज्ञातिरिक्त सामा य लौकिक व्यवहारों में नमस्ते बोलना मि यादोष का ही भागी बनना है । सामा य यवहार यज्ञ नहीं है । यज्ञ के अभाव मे नमस्त (यज्ञस्त) बोलना मि याव्यवहार है । अत यज्ञमण्डल के अतिरिक्त कभी परस्पर के यवहार में नमस्त यवहार नहीं करना चाहिये । यही आदेश देती हुए श्रुति कहती है--

"चतुर्दशतानि यजूंषि भवन्ति । त्रयोदश मासा संवत्सर प्रजापतिश्चतुर्दश । प्रजापतिरग्नि । यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा-तावतैवैनमेतदन्न न प्रीणाति नमो नम इति । यज्ञो वै नम । यज्ञेनैवैनमेतन्नमस्कारेण नमस्यति । तस्मादुह नायज्ञिय ब्रूयात्-नमस्ते इति । यथा हैन ब्रूयाद्यज्ञस्ते इति तादृक् तत्" ।

—श ब्रा ६ का ।१।१।१६ क इति ।

आज क्या हो रहा है । स्त्री शूद्र बाल युवा वृद्ध सभी अहर्निश नमस्ते बोलने में ही अपना गौरव समझ रहे है । क्या आर्य्यजगत् का यह यवहार वैदिक है ? । निवदनीय केवल वही है कि प्राणप्रधान वैदिक विज्ञान के विलुप्तप्राय होजाने से साथ ही भौतिक विज्ञानप्रधान पाश्चात्यविज्ञान के सहवास दूषण से हम आर्ष आदेशों की उपेक्षा कर कल्पित यज्ञ के द्वारा शास्त्रविरुद्ध सम्बोधनों के द्वारा अपना अनिष्ट ही कर रहे हैं । देवता को न बुलाना अ छा है । किन्तु बुलाकर यथोक्त क्रम से उसका स कार न करना बुरा है । यही का ण है कि यज्ञादि ध र्मानु ठान न करने वाली जनता भौतिक स पत्ति की अपेक्षा आज के युग में समृद्ध प्रतीतमात्र हो रही है । पर तु ठीक इसके विपरीत यज्ञादि धर्म्मानु ठानों का आड बर करने वाली नाममात्र की भारतीय धार्मिक जनता सबप्रकार से त्रस्त होरही है । फलत उसके मुखसे इन उद्गारों का निकलना वाभाविक ही बन जाता है कि- जो यज्ञादि नहीं करते वे सुखी हैं । एवं करने वाले हम दु खी हैं ऐसी अवस्था में हम यज्ञादि क्यों करें ? ।

प्रबलवेग से बढ़ती हुई इसी अश्रद्धा को लक्ष्य में रखते हुए आज उसी आङ्गिरस बृहस्पति के दि या मा का वह आदेश अभि यक्त क ने के लिए हम अपनी श्रद्धालु धार्मिक जनता के सम्मुख उपस्थित हुए है कि वह भूल कर भी यज्ञकर्म्मानुष्ठान पर अश्रद्धा न करे । हम उसे विश्वास दिलाते हैं कि यदि उसने आर्षपद्धतियों का यथावत् अनुसरण करते हुए यज्ञानुष्ठान किया तो उसका यह अनुष्ठान अवश्य अवश्य अ यु य का ही कारण बनेगा एवं इस वैध (यथाविधि सम्पादित) अनुष्ठान के बलपर वह समस्त राष्ट्रों में अपने लिए उच्चत्तम स्थान प्राप्त करने में समर्थ होगी और अवश्य समर्थ होगी । प्रकृत बृहस्पति का आख्यान हमारे इसी कथन को पुष्ट कर रहा है । इसी लक्ष्य का स्पष्टीकरण कर रहा है ॥ २ २१ २२ २३ २४ २५ २६ ॥

इति -वेदिसम्पादनम्

प्रथमकाण्डान्तर्गत द्वितीयाध्याय का पञ्चम,
एव द्वितीय प्रपाठ का तृतीय
ब्राह्मण उपरत

शतपथब्राह्मण का द्वितीय अध्याय समाप्त

२

(इति–वेदिब्राह्मणाध्यायो द्वितीय)



अथ

शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये-तृतीयोऽध्याय

(मस्कारब्राह्मणाध्याय)

३

★★★

श्री

अथ शतपथब्राह्मणे तृतीयोऽध्याय
(सम्कारब्राह्मणाध्यायस्तृतीय)
३

अथ–प्रथमकाण्डे तृतीयाऽध्याये प्रथम ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्

१५—द्रव्यसस्कारा

(मूल) स वै स्रुच सम्मार्ष्टि । तद्यत् स्रुच सम्मार्ष्टि–यथा वै देवानां चरण, तद्वा अनु मनुष्याणाम् । तस्माद् यदा मनुष्याणा परिवेषणमुपक्लप्त भवति ॥ १ ॥

अथ पात्राणि निर्णेनिजति । तैर्निर्णिज्य परिवेविषति । एव वा एष देवाना यज्ञो भवति–यच्छृतानि हवींषि, क्लप्ता वेदि , तेषामेतान्येव पात्राणि–यत्स्रुच ॥ २ ॥

स यत्सम्मार्ष्टि–निर्णेनेक्त्येवैना एतत्–निर्णिक्ताभि प्रचराणीति । तद्वै द्वयेनैव देवेभ्यो निर्णेनिजन्ति, एकेन मनुष्येभ्य । अद्भिश्च ब्रह्मणा च देवेभ्य । आपो हि कुशा , ब्रह्म यजु । एकेनैव मनुष्येभ्य –अद्भिरेव । एवम्वेतन्नाना भवति ॥ ३ ॥

अथ स्रुवमादत्ते । त प्रतपति—"प्रत्युष्टꣳ रक्ष प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातय "–[१ अ २९ म०] इति वा ॥ ४ ॥

देवा ह वै यज्ञ त वाना तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रु तद्यज्ञमुखादेवै तन्नाष्ट्रा रक्षास्यतोऽपहन्ति ॥ ५ ॥

स वा इत्यग्रै रन्तरत सम्मार्ष्टि-"अनिशितोऽसि सपत्नक्षित्"-[१ अ २६ म] इति । यथानुपरतो यजमानस्य सपत्नान् क्षिणुयाद्, एवमेतदाह । वाजिन-त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि -[अ १ म २६] इति । यज्ञिय त्वा यज्ञाय सम्मा र्मीत्येवैतदाह । एतेनैव सर्वा स्रुच सम्मार्ष्टि । वाजिनी त्वेति स्रुचम् । तूष्णी प्राशित्र-हरणम् ॥ ६ ॥

स वा इ यग्रर तरत सम्मार्ष्टि इति मूलैर्बाह्यत । इतीव वा अय प्राण, इतीवो दान । प्राणोदानावेवैतद्धाति । तस्मादितीवेमानि लोमानि, इतीवेमानि ॥ ७ ॥

स वै सम्मृज्य-सम्मृज्य प्रतप्य-प्रतप्य प्रय छति । यथावमर्श निर्णिज्यानव-मर्शमुत्तम परिक्षालयेत्-एव तत् । तस्मात् प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति ॥ ८ ॥

स वै स्रुवमेवाग्र सम्मार्ष्टि, अथेतरा स्रुच । योषा वै स्रुग् वृषा स्रुव-तस्मात् यद्यपि बह्व्य इव स्त्रिय साद्ध यन्ति य एव तास्वपि कुमारक इव पुमान् भवति-स एव तत्र प्रथम एति, अनू य इतरा । तस्मात् स्रुवमेवाग्र सम्मार्ष्टि अथेतरा स्रुच । ॥ ६ ॥

स वै तथैव सम्मृज्याद्-यथाग्नि नाभिव्युक्षेत् । यथा यस्मा अशनमाहरिष्यन्त्स्यात् त पात्रनिर्णेजनेनाभिव्युक्षेत् एव तत् । तस्मादु तथैव सम्मृज्याद्-यथाग्नि नाभिव्युक्षेत् । प्राङिवैवोत्क्रमस्य ॥ १० ॥

तद्धैके-स्रुक्सम्मार्जनान्यग्नावभ्यादधति । वेदस्याहाभूवन् स्रुच । एभि सममा र्जिषु । इद नै किञ्चिद् यज्ञस्य । नेदिद बहिर्द्धा यज्ञाद् भवदिति । तदु तथा न कुर्यात् । यथा यस्मा अशनमाहरेत्-त पात्रनिर्णेजन पाययेद्-एव तत् । तस्मादु परास्ये-देवैतानि ॥ ११ ॥

अथ पत्नीं सन्नह्यति । जघनार्द्धो वा एष यज्ञस्य-यत्पत्नी । प्राङ् मे यज्ञस्ताय-मानो यादिति । युनक्त्येवैनामेतत्-युक्ता मे यज्ञमन्वासाता इति ॥ १२ ॥

योक्त्रेण सन्नह्यति । योक्त्रेण हि योग्य युञ्जन्ति । अस्ति वै पत्न्या अमेध्य यदवा-चीन नाभेः । अथैतदाज्यमवेक्षिष्यमाणा भवति । तदेवास्या एतद्योक्त्रेणान्तर्दधाति, अथ मेध्येनवात्तरार्द्धेनाज्यमवेक्षते । तस्मात् पत्नी सन्नह्यति ॥ १३ ॥

स वा अभिवास सन्नह्यति । ओषधयो वै वास वरुण्या रज्जु । तदोषधीरैवैतद् त र्दधाति । तथो हैनामेषा वरुण्या र जुन हिनस्ति । तस्मादाभवाम सन्नह्यात ॥ १४ ॥

स सन्नह्यति अदित्यै रास्नासि (१ अ ३ म) इति । इय वै पृथिवी-अदिति , सेय देवाना पत्नी । एषा वा एतस्य प नी भवति । तदस्या एतद्रास्नामेव करोति न रज्जुम् । हिरो वै रास्ना, तामेवास्या एतत्करोति ॥ १५ ॥

स वै न ग्र थि कुर्यात् । वरुण्यो वै ग्र थि । वरुणो ह पत्ना गृह्णीयात् यद् ग्रन्थि कुर्यात् । तस्मान्न ग्र थि करोति ॥ १६ ॥

ऊद्ध्वमेवोद्गूहति–विष्णोर्वैष्योऽसि [१ अ० ३ म०] इति । सा वै न पश्चात् प्राची देवाना यज्ञम-वासीत । इय वै पृथिवी–अदिति , सेय देवानां पत्नी । सा पश्चात् प्राची देवाना यज्ञम वास्ते, तद्ध मामभ्यारोहेत् । सा पत्नी क्षिप्रऽमु लोकमि-यात् । तथो ह प नी ज्योग जीवति । तदस्या एवैतन्निह्नु ते । तथो हैनामिग न हिनस्ति । तस्मादु दक्षिणात इवैव वासीत ॥ १७ ॥

अथाज्यमवेक्षते । योषा वै पत्नी रत आज्यम् । मिथुनमेवैतत् प्रजनन क्रियते । तस्मादाज्यमवेक्षते ॥ १८ ॥

सावेक्षते–अद ब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामि (१ अ० ३ म०) इति । अना ेन त्वा चक्षषावपश्यामीत्येवैतदाह । अग्नेजिह्वासि [१ अ ३ म०) इति । यदा वा एतदग्नौ जुह्वति अथाग्नेर्जिह्वा इवोत्तिष्ठन्ति । तस्मादाह–अग्नेर्जिह्वासि–इति । सुहूर्दे-वेभ्य [१ अ० ३० म०) इति । साधु देवेभ्य इ येवैतदाह । धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे [१ अ ३ म०] इति । सर्वस्मै मे यज्ञायाधीत्येवैतदाह ॥ १९ ॥

अथा यमादाय प्राड् दाद्रवति । तदाहवनीयेऽधिश्रयति यस्याहवनीये हवींषि श्रप-यन्ति–सर्वो मे यज्ञ आहवनीय भृतोऽसदिति । अथ यदमुत्राग्र ऽधिश्रयति पत्नी ह्यवकाश यिष्यन् भवति । न हि तदवकल्पते—यत्सामि प्रत्यग् हरेत्–पत्नीमवकाशयिष्यामीति । अथ यत्पत्नी नावकाशयेत्—अ तरियाद्ध यज्ञात्पत्नीम् । तथो ह यज्ञात्पत्नी नान्तरेति । तस्मादु सार्द्धमेव विलाप्य प्रागुदाहरति–अवकाश्य पत्नीम् । यस्यो पत्नी न भवति, अग्र एव तस्याहवनीयेऽधिश्रयति । तत्त आदो, तद तर्वेद्यासादयति ॥ २० ॥

तदाहु – ना तदीयासादयत–अतो नै देवाना पत्नी सयाजयति अवसभा अन्दवाना पत्नी करोति पर पुसा उ हास्य पत्नी भवतीति । तदु होवाच याज्ञवल्क्यः यथादिष्ट पत्न्या अस्तु । कस्तदाद्रियेत–यत्पर पुसा वा पत्नी स्यात । यथा वा यज्ञो वेदि यज्ञ आज्यम्, यज्ञाद्यज्ञ निर्मिमा इति । तस्माद् तदीय वासादयेत ॥२१॥

प्रोक्षणीषु पवित्र भवत । ते तत आदत्त, ताभ्यामाज्यमुत्पुनाति । एको वा उत्पवनस्य बधु मेध्यमे तत्करोति ॥ २ ॥

स उत्पुनाति–सवितुर्म्वा प्रसव उ पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभि (१ अ ३१ म) इति । सोऽसावेव बधु ॥ २३ ॥

अथाज्यलिप्ताभ्या पवित्राभ्या प्रोक्षणीरुत्पुनाति–सवितुर्व प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभि (१ अ ३१ म) इति । सोऽसावेव बधु ॥ २४ ॥

तद्यदाज्यलिप्ताभ्यां पवित्राभ्या प्रोक्षणीरुत्पुनाति, तदप्सु पयो दधाति । तदिदमप्सु पयो हितम् । इद हि यदा वर्षति अथौषधयो जायन्ते, ओषधीर्जग्ध्वाप पीत्वा तत एष रस सम्भवति । तस्मादु रसस्यो चैव सर्वत्वाय ॥ २५ ॥

अथाज्यमवेक्षते । तद्धैके यजमानमवख्यापयन्ति । तदु होवाच याज्ञवल्क्य — कथ नु न स्वयमध्वर्यवो भवन्ति कथ स्वगा ना वाहु यत्र भूयस्य इवाशिष क्रियन्ते । कथ न्वेषामत्र श्रद्धा भवतीति । यां । का च यज्ञो ऋत्विज आशिषमाशासते–यजमानस्यैव सा । तस्मादध्वर्युरेवावेक्षेत ॥ २६ ॥

सोऽवेक्षते । सत्य वै चक्षु । सत्य हि वै चक्षुस्तस्मात्–यदिदानी द्वा विवदमानावेयाताम्– अहमदर्शम् –'अहमश्रौषम् इति, य एव ब्रूयात 'अहमदर्शम्' इति तस्मा एव श्रद्दध्याम । तत्सत्येनैवैतत्समर्द्धयति ॥ २७ ॥

सोऽवेक्षते–तेजोऽस्मि शुक्रमस्यमृतमसि [१ अ ३१ म] इति । स एष सत्य एव मन्त्र ।—तेजो ह्येतत, शुक्र ह्येतद्, अमृत ह्येतत, तत्सत्येनैवैतत्समर्द्धयति ॥ २८ ॥

इति प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्

मूलानुवादप्रकरण—

वेन्दिसम्पादनकर्म्म समा त होचुका है। हवनीयद्र य (आहुतिद्र य) सम्पन्न ह गया है। यज्ञ मे जा पात्र अपेक्षित है आग्नीध्र नाम क ऋत्त्विक्ने उन सब को अध्वर्य्यु क प्रैषानुसार (आज्ञानुसार) यथास्थान रख दिया है। इनके काय समाप्त होजाने क अनन्तर क्या होता है ? संस्कारब्राह्मण का अङ्गभूत प्रकृत ब्राह्मण इसी जिज्ञासा का समाधान कर कर रहा है। इस ब्राह्मण की ११ कण्डिका पर्य्यन्त एक सम्मसन्तान है। इस एकादशकण्डिका मक ब्राह्मणभाग मे स्रुव–स्रुक्–प्राशित्रहरण आदि के प्रतपनपूर्वक कुशाग्र से सम्मार्जन करने क अनन्तर आग्नीध्र नाम के ऋत्त्विक् को (यथास्थान रखने क लिए) पुनरावर्त्तित करने का (लौटाने) का विधान है। वही क्रमश सोपपत्तिक अनुवाद मे स्पष्ट किया जाता है।

(प्रणीतापात्र क पश्चिम मे उत्तराग्र स्पय रखने क अनन्तर) यह (अध्वर्य्यु) स्रुचों का सम्मार्जन करता है। सो जिस (प्रयोजन) के लिए कि स्रुकूस माज्र्जन करता है (उस की उपपत्ति बतलाते है)। जैसा देवताओं का चरण (आचरण- यवहार) है उसी (आचरण) के अनुसार मनुष्यों का (आचरण) है। इसलिए जब मनुष्यों का परिवेषण (परासने का भो य द्र य) सम्पन्न होजाता है ॥१॥

अनन्तर (ही) (सेवकवग) पात्रों को (भोज्यपात्रों को) पानी से धोकर स्वच्छ–निम्मल कर लेते है। स्वच्छ करके उन पात्रों से परिवेषण करते है। (जो स्थिति मनुष्यों मे भोजन प्रक्रिया मे देखी जाती है दूसरे शब्दों मे–मनुष्यों क भोजनयज्ञ के सम्बध मे जो काय होते है) ठीक ऐसा ही यह (यजमानकृत) देवताओं का यज्ञ है। (अन्न क स्थान पर) परिपक्व हवि है (भोजनस्थान की प्रतिकृति मे) वेदि सम्पन्न होचुकी है। (एव) ये इन देवताओं के (भोज्य) पात्र है जो कि स्रुक् है ॥२॥

सो जो कि (अध्वर्य्यु इन स्रुक् पात्रों का) सम्मार्जन करता है वह इन पात्रों का निर्णेजन (प्रक्षालन) ही करता है। हम निर्णिक्त (धुले हुए साफ सुथरे) पात्रों से ही [परिवेषणादि कार्य्य] कर यही [सम्मार्जन का] मुख्य प्रयोजन है । [देवता एव मनुष्यों के पात्रनिर्णेजन मे अन्तर केवल यही है कि] देवताओं क लिए दो [प्रकारों से] निर्णेजन करते है एव मनुष्यों के लिए केवल एक ही प्रकार से [निर्णेजन होता है]। पानियों से [एव] ब्रह्म [मन्त्र] से देवताओं के लिए [निर्णेजन करते है] [निर्णेजन कम्म म उपयुक्त] कुशा आप [पानी की प्रतिकृति] है एव यजु मन्त्र ब्रह्म है। मनुष्यों क लिए केवल पानिया से ही निर्णेजन होता है। इस [प्रणाली] भेद से मानुष एव दैवकर्म्म का पार्थक्य होजाता है। [दोनों कम्म पृथक् होजाते हैं] ॥४॥ ३

[गार्हपत्य के पश्चिमभाग मे बैठकर अध्वर्य्यु सवप्रथम अपने दक्षिण हस्त मे सस्कार के लिए] स्रुव लेता है। उसे (स्रुव को) प्रत्युष्ट रक्षा प्रत्युष्टा अरातय निष्टप्त रक्षा निष्टप्ता अरातय यह मन्त्र बोलता हुआ [गार्हपत्याग्नि मे] तपाता है ॥४॥

यज्ञका वितान करते हुए देवतागण असुर एव राक्षसों के आक्रमण से भयत्रस्त होगए। सो इस (पात्रप्रतपनरूप) व्यापार से यज्ञ के आरम्भ से ही नाष्ट्रा (नाशक)-राक्षसों को (मन्त्र पूर्वक तपन से) इस यज्ञमण्डल से (ऋत्विक गण) मार भगाते है ॥५॥

वह अध्वर्यु— अनिशितोऽसि सपत्नक्षित्-वाजिन त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि (यजु १।२६) यह मन्त्र बोलता हुआ स्रुव के बिलमध्य मे कुशाग्र से मूल से आरम्भ कर मुखपर्यन्त (स्रुव का) सम्मार्ज्जन करता है। बिना विलम्ब किए एक साथ ही यह स्रुव यजमान के सपत्नो का नाश करदे अनिशितोऽसि सपत्नक्षित् यह मन्त्रभाग एव इति शब्द से प्रकट किया हुआ सम्मार्जन-व्यापार इसी भावको प्रकट करता है। आप यज्ञिय है यज्ञ के लिए आप का सम्मार्जन करता हू वाजिन इत्यादि मन्त्रभाग से यही कहा है। इसी उपर्युक्त (तपनमन्त्र एव सम्मार्ज्जन) मन्त्रद्वयी से सब स्रुचों का (जुहू-उपभृत् ध्रुवा आदि का) सम्मार्जन करता है। केवल प्राशित्रहरण का सम्मार्ज्जन तूष्णीं (बिना मन्त्रप्रयोग के) करता है ॥ ६ ॥

यह अध्वर्यु पहिले बिल से मूल पर्य्यन्त सम्मार्जन करता है अनन्तर मूल से पृष्ठ-पर्यन्त सम्मार्जन करता है। ऊपर से नीचे आना यह प्राण-व्यापार है। नीचे से ऊपर जाना उदान का काम है। उक्त प्रकार से सम्मार्ज्जन करता हुआ अध्वर्यु स्रुव मे प्राणोदान का ही आधान करता है। इसी [प्राणोदान के व्यतिक्रम व्यापार] से रोमावलिया ऊपर से नीचे एव नीचे से ऊपर है। अर्थात् रोमावलियों का स्वरूप प्राणोदान की गति के ही अनुसार है ॥७॥

वह आग्नीध्र अध्वर्यु के सम्मार्ज्जन व्यापार के अव्यवहितोत्तरकाल मे ही यथाक्रम स्रुवादि पुन गार्हपत्याग्नि मे तपा तपा कर अध्वर्यु को सौंपता जाता है। जिसप्रकार लोक मे (मनुष्यों के दैनिक कर्म्मों में) मांज मांज कर एव पानी से धो धोकर * अन्त मे बिना मांजे हुए पात्र सम्पन्न होते है एवमेव यह पुन प्रतपन उस परिक्षालन के स्थान मे ही समझना चाहिए। इसलिए पुन तपा तपा कर आग्नीध्र स्रुवादि अध्वर्यु को सौंपता है ॥८॥

वह अध्वर्यु पहिले स्रुव का सम्मार्ज्ज करता है। (स्रुवसम्मार्ज्जन के) अनन्तर इतर (स्रुगादि) का सम्मार्ज्जन करता है। (इस क्रम की उपपत्ति यह है कि) स्रुक् योषा (स्त्री) रूप है स्रुव वृषा (पुरुष) रूप है। (इसलिए सम्मार्ज्जन मे उक्त क्रम रक्खा जाता है)। यद्यपि बहुत सी स्त्रियां साथ जातीं है (साथ जाने वाली) उन स्त्रियों मे जो एक बालक भी

---

* इस श्रुति से यह सिद्ध होरहा है कि भारतवर्ष में पात्रशुद्धि जल से ही होती थी। पहिले मृत्तिकादि से पात्रों को मांजा जाता था पीछे पानी से धोया जाता था। आज भी मरुभूमि को छोड़कर अन्यत्र यही पद्धति मान्य है। मरुभूमि में पानी की कमी होने से ही मांज कर काम चला लिया जाता है। इसके साथ यहाँ यह अविद्या भी चल पडी है कि मांजने के अनन्तर पानी से धोने से पात्र अपवित्र होजाते हैं। कहना न होगा कि इस में कुछ भी सार नही है।

पुरुष होता है तो वह सबक आग आगे चलता है शेष सब स्त्रिया उसक पीछे ही चलती है। इसलिए स्रुव का पहिले सम्मार्जन करता है एव इतर स्रुचा का पीछ सम्माज्जन करता है ॥६॥

वह अध्वर्यु (उक्त स्रुव स्रुचादि का) उसी प्रकार सम्माज्जन करे जिससे (प्रतपनकाल मे) गार्हपत्याग्नि मे तृण एव पानी न गिरै। जिसप्रकार जिस व्यक्ति क लिए भोजनार्थ अन्न लाया जाता है उसी व्यक्ति क ऊपर पात्रप्रक्षालित जल डाला जाय वैसा यह क र्म होगा। अत जिस-प्रकार अग्नि मे पानी तृणादि न गिर उसीप्रकार प्राङ्मुख होकर (बडी सावधानी से) उठकर सम्माज्जनकर्म्म करना चाहिए ॥१०॥

कितने ही याज्ञिक स्रुकसम्माज्जन मे उपर्युक्त उदक तृणादि को अग्नि मे ही डालते है। (एव ऐसा करने का कारण वे याज्ञिक यह बतलाते है कि) यह वेदाग्र (कुशाग्र) वेद क (यज्ञ के अवयव) बन ग है। (अपिच इन क वेदात्मक यज्ञरूप होने से ही) ऋत्विजान इनसे पात्रों का सम्माज्जन किया है (ऐसी) अवस्था मे य वेदाग्र भी यज्ञ के ही कुछ भाग है। यह यज्ञप्र यशरूप वेदाग्रभाग यज्ञ (सीमा) से बाहिर न रहे (अत से अग्नि म ही डाल देना चाहिए)। (याज्ञवल्क्य कहते है कि) ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। (यह क र्म एसा होगा कि) जैसे जिस व्यक्ति क लिए भोजन दिया जाय उसी को पात्रों का प्रक्षालित जल पिलाया जाय। इसलिए से (अग्नि मे न डाल कर) उत्कराग्नि म (मतान्तर से आहवनीय म) ही फक देना चाहिए ॥११॥

स्रुव स्रुक-सम्माज्जनानन्तर पत्नी (यजमानपत्नी) सनहन (बन्धन यज्ञ मे योग) करते है। यह यज्ञ का पश्चिम भाग है जो कि यजमानपत्नी है। मेरा यज्ञ पूर्व की ओर वितत होता हुआ आगे चले (इसी अभिप्राय से पत्नीसनहनकर्म्म करते है)। (इस सनहनकर्म्म से) पत्नी को (यज्ञ मे) युक्त ही करते है। यज्ञ मे युक्त होकर यह पत्नी यज्ञसमाप्ति-पर्यन्त (यज्ञ मे) प्रतिष्ठित रहै (इसीलिए यह बन्धनकर्म्म किया जाता है) ॥१२॥

(इस पत्नी का) योक्त्र (मुञ्जमयी रज्जू) से सनहन करते है। योक्त्र से ही ठीक ठीक योग बन्धन) करते है पत्नी का नाभि से नीचे का भाग अमेध्य (असगमनीय दिव्यसस्कार ग्रहण के अयोग्य) है। (एव अभी कुछ काल मे ही) यह पत्नी आगे जाकर घृतन्शन करने वाली है। योक्त्रबन्धन से इस पत्नी क उस अमेध्यभाग को ही आवृत करते है। (एसा करने से) शेष मेध्य उत्तर भाग से ही आज्यन्शन करती है। अतएव पत्नीसनहनकर्म्म करते है ॥१३॥

वह ऋत्विक् वस्त्रों क ऊपर ही (योक्त्र से) सनहन करता है। वस्त्र ओषधिरूप हैं। यह योक्त्ररूप रज्जु वरुणदेवतामयी है। वस्त्र के ऊपर योक्त्र से सनहन करता हुआ अन्त्र यु पत्नी को वारुण-बन्धन से ही अन्तर्हित (बचाता) करता है। एसा करने से यह वरुणदेव-

मयी रज्जु पत्नी को पीडा नही पहुचाती। इसी प्रयाजन के लिए वस्त्रो से ऊपर योक्त्र का सनहन करते है॥१४॥

ब्राह्मण (विज्ञान) बतला दिया गया अब पद्धति बतलाते है। वह अध्वर्यु अदित्यै रास्नासि यह मन्त्र बालता हुआ सनहनकर्म्म करता (योक्त्र बाँधता) है। यह प्रथिवी ही अदिति है। वह (अदितिरूपा प्रथिवी) देवताओ की पत्नी है सो स (सनहनकर्म्म) से यजमानपत्नीरूपा इस अदिति (देवपत्नीभूता अदिति प्रथिवी) का ही रास्नायुक्त बनाते है। (यान रहै) रज्जु का बन्धन नहीं करते है। यह रास्ना मेखलारूप है। सनहन के द्वारा इसे (अदिति का) मेखला से ही युक्त करते है॥१५॥

ऋत्विक् को चाहिए कि वह योक्त्र क गाठ न लगावे। क्योकि ग्रन्थि (गाँठ) वरुणदेवतामयी है। (ऐसी अवस्था मे यदि ग्रन्थि लगादी जायगी तो वरुणदेवता इस पत्नी को अपने पाश से बाँध लगे। (ऐसा न हो) इसलिए ग्रन्थि-बन्धन नही करते है॥१६॥

(ग्रन्थि नहीं लगाई जायगी तो योक्त्र रुकेगा कैसे? इस विप्रतिपत्ति को दूर करने का उपाय बतलाती हुई श्रुति कहती है कि) वह अध्वर्यु योक्त्र के मूलाग्रों को परस्पर मिलाकर [दोनों मूलों को परस्पर बटकर] ऊपर की ओर यों हीं लम्बित कर देता है। इस कर्म्मकाल मे विष्णोर्वप्योऽसि यह मन्त्र बोलता है। वह यजमानपत्नी गार्हपत्य के पश्चिम भाग मे पूर्व की ओर मुख करके देवताओं के यज्ञ की ओर झुक कर न बैठे। यह प्रथिवी अदिति है। यह देवताओं की पत्नी है। यह पश्चिमादिशा मे देवताओं के यज्ञ को लक्ष्य बनाकर प्रतिष्ठित होरही है। ऐसी अवस्था मे पश्चिमा दिक् मे प्राङ्मुखा बैठती हुई यजमानपत्नी प्रथिवी की गति के साथ युक्त होजायगी। परिणाम उसका यह होगा कि वहा बैठने से शीघ्र ही [एक वर्ष के भीतर] यजमानपत्नी मर जायगी। ऐसा न करने से [पश्चिम की ओर प्राङमुखा होकर न बैठने से] यजमानपत्नी पूर्ण आयु प्राप्त करने मे समर्थ होजाती है। सो इस पत्नी को पश्चिम मे प्राङ्मुखा बना कर न बैठाते हुए इसे प्रथिवी की गति से बचाते हुए इसकी आयु ही सुरक्षित करते है। ऐसा करने से यजमानपत्नी पूरी आयु धारण करने मे समर्थ होजाती है। इसलिए पत्नी को गार्हपत्य के दक्षिणभाग मे [नैऋतकोण मे] ही बैठना चाहिए॥१७॥

अनन्तर वह पत्नी आज्यावेक्षण करती है। अर्थात् घृत मे अपना मुख देखती है। यह पत्नी योषा है आज्य रेत है। आज्यावेक्षण से रेत का ग्रहण करती हुई पत्नीरूपिणी योषा मिथुनलक्षण प्रजनन-[प्रजोत्पत्ति] भाव को ही सम्पन्न करते है। इसी प्रजननभाव की प्राप्ति के लिए यह पत्नी आज्यदर्शन करती है॥१८॥

ब्राह्मण बतला दिया गया अब पद्धति बतलाते है। वह पत्नी अदब्धेन त्वा चक्षुषा पश्यामि अग्नेर्जिह्वासि सजूर्देवेभ्य धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे यह मन्त्र बोलती हुई आज्य देखती है। मै निर्दुष्ट पीडारहित पवित्र चक्षु से आज्य देखती हू मन्त्र से पत्नी का यही कहना

है। अ नेर्जिह्वासि यह म त्रशेष बोलती है। जिस समय आ य की अग्नि मे आहुति डालते है उस समय अग्नि की [ज्वालारूप] जिह्वासी निकलती है। इसी अभिप्राय से अग्नेर्जिह्वासि यह कहा गया है। सजूर्देवेभ्य इ यादि म त्रभाग का ता पर्य्य बतलाते हुए कहते हू देवताओ क लि यह [प्रजननरूप] आ यन्शन शुभ हो। स्जू इ यादि से यही कहा गया है। धाम्ने धाम्ने इ यादि से हे आज्य ! आप मेरे सम्पूर्ण यज्ञकर्म के लिए तत्पर न यही कहा है ॥१६॥

आ यन्शनान तर अ वर्य्यु आ य को लेकर पूर्व की ओर (आहवनीय की ओर) चलता है। आगे चलकर आहवनीयाग्नि पर (तपाने के लिए) उसे रख देता है जिस के कि हवियों को आहवनीयाग्नि मे परिपक करते है। मेरा सम्पूर्ण यज्ञ (यज्ञिय हविद्र य) आहवनीय म हीं परिपक हो इसीलिए हविद्र यरूप आ य को भी आहवनीयाग्नि मे हीं परिपक्व करते हैं। (यहाँ एक पूर्वपक्ष होता है। वह यह है कि जिस समय अ य हविर्द्र यों का आहवनीय मे परिपाक किया जा । है क्यो नही उसी समय आ य का भी परिपाक कर लिया जाता ? । इस पूर्वपक्ष का समाधान कने क अभिप्राय से श्रुति कहती है कि (प नी को यज्ञकर्म म युक्त होने का अवसर (अवकाश) हम आग देंलग इस विचार से यदि अ वर्य्यु उसी समय [प नीसनहनकर्म से बहुत पहले ही [जब कि अ य हवि यो का परिपाक किया जाता है] आ य-परिपाक भी करलेता है तो प नी को आगे यज्ञ मे प्रविष्ट होने का अवसर दूगा यह विचार कर बीच मे हीं [प नी के यज्ञ मे प्रविष्ट होने से पहले ही] अधिश्रयणार्थ आ य हरण करना ठीक नहीं होता। यदि प नी का यज्ञ मे प्रविष्ट होने का अवसर देने से पहिले ही उक्त विचार से अध्वर्य्यु आ य हरण कर लेगा तो वह एक प्रकार से प नी का यज्ञसीमा से बहिर्भूत ही कर देगा। ऐसा न हो इसलिए प नी के आ यन्शनरूप यज्ञसयोग के अन तर ही आज्याधिश्रयण कर्म करते है] ऐसा करने से वह अ व यु प नी को यज्ञसीमा से बाहिर नहीं निकालता। [इसी साद्भ भाव का स्पष्टीकरण करती हुइ सर्वान्त मे श्रुति कहती है ।] इसलिए [प नी यज्ञसीमा मे अ त प्रविष्ट होजाय इसलिए] प नीसनहनकर्म क सा ही आ य को पहले गार्हप याग्नि मे तपा कर प नी को आ यदर्शन के द्वारा यज्ञ मे प्रविष्ट कर अन तर अधिश्रयणार्थ आ य को पूर्व की ओर [आहवनीय की ओर] ले जाते है। जिस यजमान क प नी नहीं होती उस यजमान क यज्ञ म उसी समय [जब कि अ य हविद्र यों का आहवनीय मे अधिश्रयण किया जाता है] आ य का भी आहवनीय मे अधिश्रयण कर लेते है। अधिश्रयणान तर वहा से आ य उठा कर उसे वेदि की सीमा मे रख देते है ॥ २ ॥

कितने हीं आचार्य्यों का मत है कि इस अधिश्रित आ य को अ तर्वेदि म नहीं रखना चाहिए। (कारण इसका यह बतलाया जाता है कि) इसी अधिश्रित (परिपक्व) आ य से देव प त्नियों का यजन करते हैं (वेदिस्थान पर सम्पूर्ण देवता आए हुए है)। ऐसी अवस्था म उस प्रदेश मे देवप नीयागसाधक आ य को देवमण्डलीयुक्त वेदिस्थान मे रखता हुआ अध्वर्य्यु देव पत्नियों को जनसमूह मे हीं उपस्थित करता है। (यजमानप नी भी देवपत्निया से युक्त रहती है।

ऐसी अवस्था मे देवपनिया क साथ साथ यजमानपत्नी का भ। देवसभामण्डपरूप वेदिस्थान मे प्रवेश अनिवा य होगा। एसा हाने स) यजमानप नी पर पुसा (अ यपुरुषों क समूह मे उपस्थित) हाजाती है। [एक कुलीन स्त्री क लिए परपुरुषो के सम्मुख उपस्थित होना ल जास्पद है। एसा नहीं हाना चाहिए। अत वेदिस्थान पर द प नी–यागसाधनभत आ य नही रखना चाहिए]।

प्राचीनो के इस मत का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते है कि अ ज्य अधिश्रयण उरा का वदिस्थान मे स्थापन आदि प नी सम्ब धी सम्पूर्ण कम्म शास्त्र मे इसीप्रकार विहित है। अत वह काय्य वैसे ही हो इसी मे यज्ञसिद्धि है। ऐसा होन से प नी पुरुषसमूह मे आजायगी एव वह अनुचित हागा इस निरथक युक्त का शास्त्रादेश क सम्मुख काई महत्त्व नही है। कान बुद्धिमान् इस विषय को अ छा एव युक्तिसगत कहेगा। वेदि आर आज्य दोना ही यज्ञसाधन हान से यज्ञरूप है। हम यज्ञ स यज्ञ का स्वरूप सपन्न कर यही आदरणीय एव यथार्थ [शास्त्रसिद्ध] पक्ष है। अत वेदिस्थान मे हीं आ य रखना चाहिए ॥ १॥

प्रोक्षणीपात्र मे कुशा रक्खीं हुई है। वहा से कुशा ले र उनसे आ य का प्रोक्षण करते है। प्रोक्षण का एकमात्र ता पय्य है वस्तु को मे य [सङ्गमनीय] क ना। इस प्रोक्षणकम्म से आज्य को मे य [देवसङ्गमनीय] ही करते है ॥ ॥

उत्पवनकम्म की इतिकत्त यता बतलाती हुई श्रुति कहती है—वह अध्व यु — सवितु स्वा प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सू यस्य रश्मिभि यह म त्र बोलता हुआ आज्य का प्रोक्षण करता है ॥ ३॥

आ यप्रोक्षणानन्तर— सवितु व प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभि यह मन्त्र बोलता हुआ अ यर्यु [प्रोक्षणकम्म से] घृत से सश्लिष्ट बनी हुई पवित्रों स [दर्भ से] प्रोक्षणीपानी का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षण का ता पय्य वही है जो कि पर क प्रोक्षणकम्म मे सोपपत्तिक बतलाया जाचुका है ॥२४॥

सो जो कि अ वर्यु आ यलिप्त पवित्र से प्रोक्षणी का प्रोक्षण करता है इस कर्म्म से पानी मे पय [दूग्ध] का काय्यभत अत व पयोरूप आज्य ही प्रतिष्ठित करता है [प्रकृति मे] वह पय पानी मे हीं प्रतिष्ठित है। जैसे कि जब पानी बरसता है तो ओपधिया उत्पन्न होतीं है ओपधिया खा कर पानी पीकर अन तर यह रस [पय आ य] उ प न होता है। इस रस की पूर्णता के लिए ही प्रकृत प्रोक्षणकम्म करते है ॥२५॥

प्रोक्षणी–प्रोक्षणानन्तर अ व र्यु आ यदशन करता है। कितने ही आचार्य्य यजमान को ही घृतदशन करवाते हैं। [अर्थात् इनके मत स आ यदशन यजमान का ही कम्म है] इस पक्ष का निराकारण करत हुए याज्ञवल्क्य कहत है कि यजमान स्वय हीं अध्वर्य्यु बनत हुए आध्वर्य्यवकर्म्म क्यों नहीं क लेते ?। यजमान ही होता बनकर क्यों नही अनुवाक्यादिरूप हौत्रकर्म करलेते ?।

फिर ऋत्विजा की आवश्यकता ही क्या है ? । [यदि अ य आ'वय्य होत्र औदगात्राणि यज्ञम्य रूप समपक कम्म ऋत्विक् कर लेने है तो फिर] प्राचीनो की इस आ य शनकम्म में ही यह धारणा कस बन गई कि यह कम्म तो यजमान को ही करना चाहिए ? । ऋत्विक लाग अपने अपने कम्म म जो भी फल प्रा त करते है वह यजमान को ही तो मिलता है । [एसी अवस्था म अ ध्व्यु कत् क आ यन्शन का फल यजमान को कसे नही मिलगा ? । अत —अध्वर्यु का ही आ'यन्शन करना चाहिए ॥ ६॥

यह अ ध्वर्यु आ'यदशन करता है । चक्षुरिन्द्रिय स'यरूप इसीलिए है कि जब दो मनुष्य परस्पर झगडा करते हुए हमारे सम्मुख आते है और उनम से एक कहता है कि— मैंने ऐसा आखों से देखा है । दूसरा कहता है कि मैन ऐसा अपन कानो से सुना है तो दोना मे से जो यक्ति मैन ऐसा अपनी आखा से देखा है यह कहता है हम उसी क कथन पर श्रद्धा करते हैं । (अत चक्षु अवश्य ही स य है) । इस स'यचक्षु से आ'य शन करता हुआ अ ध्व यु स यतत्त्व से ही आ'य को समृद्ध करता है ॥ ७॥

(आ यावेक्षण की उपपत्ति बतलाई गई अब पद्धति बतलाते है)—यह अ ध्वर्यु — तेजाऽसि शुक्रमस्यमृतमसि यह म'त्र बालता हुआ आ'य पर अपनी दृष्टि डालता है । [आ य के यथाथ स्वरूप का निरूपण करता हुआ प्रकृत] म'त्र अवश्य ही स यस्वरूप है । यह आ य तेज स्वरूप है यह आ य शुक्रस्वरूप ह यह आ य अमृतस्वरूप है । इसा स य से यह अ ध्व यु आ'य को समृद्ध करता ह ॥ ८॥

इति–अनुवादप्रकरणम्
प्रथमकाण्डानुगत तृतीय अध्याय का प्रथम ब्राह्मण एव द्वितीय प्रपाठक का चतुर्थ ब्राह्मण उपरत

——*——

सूत्रप्रदर्शित पद्धतिप्रकरण—

स्रुव–स्रुक (जुहू उपभृत् ध्रुवा), प्राशित्रहरण, पुरोडाशपात्री, इडापात्री का प्रतपन एव समार्जन कर वेदि पर रखन के लिए आग्नीध्र को समपण

——*——

वेदि नि र्माणान'तर इध्म बर्हि–आ य आदि का यथास्थान सन्निवश कर दिया जाता है । तदन'तर स्रु चं प्रतप्य पूर्ववद्वेवाग्नर तरत प्राक समार्ष्टि अनिशात इति विप र्ययस्य वहिमूलै प्राङुत्

र्थ्य (का श्रौ सू २।६।३६) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार गार्हपत्यकुण्ड के पश्चिम भाग में बैठकर अध्वर्यु पहिले गार्हपत्याग्नि में **प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः । निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः** (यज्ञकर्म का अवरोध करने वाले राक्षस तपा दिए गए हैं यज्ञसम्पत्ति का आगमन रोकने वाले अराति तपा दिए गए हैं एवं विशेषरूप से तपा दिए गए हैं) यह मन्त्र बोलता हुआ **शूर्प** एवं **अग्नीहोत्रहवणी** की भांति स्रुव को तपाता है। स्रुव के तपाने के अनन्तर उसी स्थान में बैठा बैठा ही अध्वर्यु थोडा सा पूर्व की ओर झुकता हुआ अपने बाएँ हाथ में तो प्रतप्त स्रुव ले लेता है एवं दक्षिण हाथ में कुशाग्र लेकर— **अनिशितोऽसि सपत्नक्षिद् वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि** (हे स्रुव ! तुम (शत्रु के लिए महा निशित तीक्ष्ण होते हुए भी हमारे यजमान के लिए सर्वथा अनिशित (शान्त) हो। सपत्नों (शत्रुओं) का नाश करने वाले हो यज्ञमूर्तिरूप तुम्हारा (स्रुव का) यज्ञस्वरूपसिद्धि के लिए ही मैं (अध्वर्यु) सम्यक् प्रकार से शोधन करता हूं) यह मन्त्र बोलता हुआ दक्षिणहस्त गृहीत उन कुशाग्रों से स्रुव के मूल से आरम्भ कर मुख पर्यन्त स्रुव का सम्मार्जन करता है। मूल से मुख पर्य्यन्त कुशा से स्रुव को स्वच्छ करदेना ही सम्मार्जनकर्म है। इसप्रकार एकबार तो वेदाग्रों से सम्मार्जन होता है। अनन्तर अध्वर्यु पुनः कुछ पूर्व की ओर झुकता हुआ वही उक्त (अनिशितोऽसीत्यादि) मन्त्र बोलता हुआ स्रुव के पृष्ठभाग में मुखभाग से आरम्भ कर मूलभाग पर्यन्त कुशामूल से स्रुव का सम्मार्जन करता है। अध्वर्यु का पूर्व की ओर उत्क्रमण केवल उभयविध सम्मार्जनकर्म में ही होता है प्रतपन कर्म्म में उत्क्रमण नहीं होता। कारण— **तस्मादु तत्रैव सम्मृज्याद्यथाऽग्निं नाभियुञ्ज्यात् प्राङिवत्वो त्क्रम्य** इत्यादि रूप से श्रुति ने सम्मार्जनकर्म्म के साथ ही उत्क्रमण का सम्बन्ध माना है। **स्रुवप्रतपन** और **सम्मार्जन** के अनन्तर **जुहू—उपभृत्—ध्रुवा** इन स्रुचों का **अनिशितेति स्रुचः** (का श्रौ सू २।६।४१) इत्यादि सूत्रानुसार **प्रत्युष्टं रक्षः** इत्यादि से पहिले गार्हपत्य में **प्रतपन** अनन्तर **अनिशितोऽसि** इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्र से **सम्मार्जन** करता है।

स्रुव—स्रुचों के सम्मार्जनानन्तर— **प्रतप्य प्रतप्य प्रयच्छति** (का श्रौ सू २।६।४ के अनुसार **प्रत्युष्टं रक्षः** इत्यादि उक्त मन्त्र बोल कर स्रुवादि को पुनः गार्हपत्याग्नि में तपा तपा कर (वेदि पर रखने के लिए) पुनः प्रतप्त स्रुवादि को आग्नीध्र के हाथ में सोंपता जाता है। **स्रुव—स्रुच** (**जुहू—उपभृत् ध्रुवा**) इन चार के अतिरिक्त **प्राशित्रहरण श्रृतावदान पुरोडाशपात्री इडापात्री** इनका प्रतपन एवं सम्मार्जन (बिना मन्त्र बोले तूष्णीं ही) किया जाता है जैसाकि— **तूष्णीं प्राशित्रहरणं श्रृतावदानं पात्रीं च** (का श्रौ सू २।६।४) इत्यादि सूत्र से स्पष्ट है। इसप्रकार पहिले प्रतपन पुनः कुशाग्र—कुशामूल—भेद से नीचे से ऊपर पर्यन्त एवं ऊपर से नीचे पर्य्यन्त सम्मार्जन पुनः प्रतपन सर्वान्त में आग्नीध्र को समर्पण (वेदस्थान में रखने के लिए) इस कर्मकलाप की समष्टि का नाम ही **पात्र सम्मार्जन** कर्म है।

जिन **वेदाग्र** एवं **वेदमूलों** से उक्त सम्मार्जनकर्म किया जाता है उन्हें **सम्मार्जनान्यपास्यति** (का श्रौ सू २।६।४३) के अनुसार उत्कर में फैंक देते हैं। यद्यपि **आहवनीये प्रासनमेके** (का श्रौ सू २।६।४४) के अनुसार किन्हीं आचार्यों के मतानुसार सम्मार्जन साधनभूत वेद को आहवनीयाग्नि में प्रक्षिप्त करना उपलब्ध होता है। परन्तु श्रुतिने जो विप्रतिपत्ति गार्हपत्याग्नि में दर्भ डालने के

सम्ब ध में बतला" है वही दोष आह नीयाग्नि में डालने से प्राप्त होता है। अतएव श्र्ातन तद् तथा न कुर्य्यात् इत्यादि रूप से स्पष्ट श दो में अग्नि में डालने का निषेध ही किया है। ऐमी अवस्था में प्र येक दशा में इन दभतृणो को उ कर म ही डालना चाहिए।

इति द्रव्यसम्मार्ज्जनम्
(ब्रा० की १ क से ११ क प य त)

——*——

त्रिवृत् मुञ्जमय योक्त्र से यजमानपत्नी का सन्नहन—

द्र यसम्मा जनानन्तर— प नीं सन्नह्यति प्र यगदक्षिणत उपविष्ट गाहप यस्य मुञ्जयोक्त्रेण त्रिवृता परिहर यधिवासो ऽदि यै रास्ने ति (का श्रौ सू २। ।१) इस सूत्र सिद्धा तानुसार गा"प या ग्निकुण्ड के दक्षिणभागरूप नैऋतकोण में पूर्वाभिमुख बन कर उठी हु" यजमानपत्नी को अ वय्यु त्रिगु णित मुञ्ज (मूँज नाम से लोकभाषा में प्रसिद्ध) से बने हुए योक्त्र (र जु) से (प नी के वस्त्रो के ऊपर) नाभि से नीचे के कटि भाग मे अदि यै रास्नासि (हे योक्त्ररूप र जु! तुम अदिति पृथिवी—रूपा यजमानप नी के लिए रास्ना मेखला रूप हो) यह म त्र बोलता हुआ बाँधता है। योक्त्रब धनकाल मे दक्षिणपाशमुत्तरे प्रतिमु या मुदगूहति विष्णोर्वेष्य इति (का श्रौ सू २।४।२) के अनुसार योक्त्र के दक्षि ग्रपाश को उत्तराग्र पाश में ऊपर मे पिरोकर नीचे खैंच कर पाश का द्विगु णत वेष्टित कर उत्तरपाश में प्रोत होकर ऊपर की ओर निकले हुए दक्षि पाशाग्रभाग को— विष्णो ष्योऽसि (हे दक्षिणपाशाग्र! आप यज्ञ का वेष्टन करने वाले हो) य मन्त्र बोलता हुआ योक्त्र के म । मे खचित कर दता है। न ग्रन्थि करोति (का श्रौ सू २।७।३।) के आदेशानुसार योक्त्र में गाठ नही लगाइ जाती।

इति—पत्नीसन्नहनकर्म्म
(ब्रा की १२ क से १७ क प्य त)

——*——

घृत ठढा करने के पश्चात अध्वर्यु के द्वारा भेजी गइ यजमानपत्नी का सम त्र आज्य दर्शन

प नीसन्नहनकर्म्म के अन तर— ऊर्जे वे या यमुद्वास्य प नीमवेक्षय यद धेनेति (का श्रौ सू २।७।४) इसके अनुसार अ वय्यु — ऊर्जे वा (हे आ य! बलप्रद रस की प्राप्ति के लिए तुझ उद्वासित करता हू) यह म त्र बोलता हुआ पहिले से ही गाहप याग्नि पर पात्र में रक्खे हुए द्रुत घृत को अ नि से उतार कर ठढा करता है। अन तर पत्न्या यमवेक्षस्व (हे प नी! आ य के दशन करो अर्थात् इसम अपना मुख देखो) यह प्र ष करता हुआ प नी से अद धेन वा चक्षुवा पश्यामि।

अ नेर्जिह्वासि सुहूर्देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे (हे आ य ! म निदुष्ट नेत्रो से तुह्मारा दश न कर रही हू । ह आ य ! तुम अ न की जिह्वा हो अतएव [जिह्वारूप होने से ही] तुम द ताओं क अच्छे बुलाने वाले हो । ऐसे आप प्र येक क म क म के लिए म त्र मन्त्र के लिए सन्नद्ध बनें] यह म त्र बुलवाता हुआ प नी से आ यदशन करवाता है । यदि प नी किसी आवश्यक प्रतिब ध के कारण यज्ञ में उपस्थित न हो तो ऐसी अवस्था में अ वर्यु को ही आ यदशन कर लेना चाहिए यह सूत्रकार का मत है । ब्राह्मणश्रुति के अनुसार तो प नी के अभाव में आ य बिना देखे ही यथास्थान रख दिया जाता है । आ या वक्षणान तर— **वेद्या कर यपर प्रोक्षणी य** [का श्रौ सू २। ।५] के अनुसार अ वर्यु प्रोक्षणीपात्र स पश्चिम भाग म वाद पर आ य रख दता है । यदि इस यजमान के यज्ञ में आहवनीयाग्नि में ही हविद्रव्यो का परिपाक होता है तो इस आहवनीयाधिश्रयण-पक्ष मे- **आहवनीय वा कृत्वा त छ्रापिण** [का श्रौ सू २।७ ६] के अनुसार पत्न्यवेक्षणान तर पहिले आ य को आहवनीय पर रखा जाता है पुन उद्वासित कर पूवकथनानुसार प्रोक्षणीपात्र के पश्चिम में वदि पर रक्खा जाता है ।

इति—आज्यावेक्षणकर्म्म

(आ की १८ क० से २१ क पर्य्य त)

—— ※ ——

आज्य और प्रोक्षणी का उत्पवन ए ं अध्व यु कृत आज्यदर्शन

आज्य रखने के अन तर वह अ वर्यु — **सवितुर्वे या यमुत्पुनाति प्रोक्षणीश्च पूववत** [का श्रौ सू २।७।७] इसके अनुसार प्रोक्षणी पानी में रक्खे हुए पवित्र [दभ] से **सवितुर्व** इ यादि पूर्वोपात्त म त्र बोलता हुआ पहिले आ य का प्रोक्षण करता है अन तर आ य-स ब ध से आ य-युक्त बने हुए इन्ही पवित्रों से वही म त्र बोलता हुआ प्रोक्षणीपानी का प्रोक्षण करता है । इसप्रकार आज्य एव प्रोक्षणी- पवनान तर— **आज्यमवेक्षते तेजोसी ति यजमानो वा** [का श्रौ सू २ ७ —] के अनुसार वह अ व यु अथवा यजमान [दोनो में से कोई भी] **तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि** [हे आ य ! आप तेजोमय हैं शुक्ररूप है अमृतभावापन्न है] यह मन्त्र बोलता हुआ आ यदशन करता है । सूत्रकार ने पक्षा तर का आदर करते हुए **यजमानो वा** भी कह दिया है । वस्तुत शतपथब्राह्मण के मतानुसार यह आज्यावेक्षणक र्म अ व यु को ही करना चाहिए ।

इति—आज्यावेक्षणम्

(आ की २२ क० से २८ क पर्य्य त)

—— ※ ——

ब्राह्मणोक्त—कर्म्मसग्रह—

१ —द्र यसस्कार

२ —पत्नीसन्नहन

३—पत्नीकृत आज्यावेक्षण
४—आज्य-स्थापन
५—आज्य एवं प्रोक्षणी का पवित्रों से उत्पवन
६—अध्वर्यु कृत आज्यावेक्षण

इति पद्धतिप्रकरणम्

—*—

उपपत्तिप्रकरणम्—

१ -द्रव्यसंस्कारोपपत्ति

(भाष्य) स्रुव-जुहू-उपभृत ध्रुवा पुरोडाशपात्री इडापात्री आदि यज्ञियपात्र प्राणदेवताओं के आहुति साधक बनते हुए उनके [देवताओं के] भोजन करने के पात्र हैं। लोकव्यवहार में जिन पात्रों में मनुष्य भोजन करते हैं भोजनपरिवेषण [परोसने] से पहले पात्रों को पानी * से धोकर स्वच्छ कर लिया जाता है अनन्तर इन पात्रों में भोजन परोसा जाता है। भोजनपरिवेषण से पहिले पात्रशुद्धि सर्वथा अपेक्षित है यही कहना है। इसी शुद्धिभाव के लिए प्रकृतयज्ञ में देवताओं के भोजनसाधन-पात्रों का संस्कार करना आवश्यक होजाता है। देवता सौर मण्डल की वस्तु है। इधर साधारण पानी पार्थिव है। इस लौकिक पेय पानी से देवपात्रों का सम्मार्जन करना ठीक नहीं। जिसप्रकार लौकिक मनुष्य और प्राणदेवताओं के स्वरूप में भेद है जैसे इनके भोजनपात्रों के स्वरूप में विभिन्नता है तथैव सम्मार्जनीय पानी में भी भेद होना आवश्यक है। इसी पृथक्करण के लिए पानी के स्थान में यहां कुशा का ग्रहण किया जाता है। सौररश्मिमण्डल में प्रविष्ट पारमेष्ठ्य अम्भ नाम का पवित्र पानी ही वेन कहलाता है। इसी ज्योतिर्मय वेनपानी से कुशा का निर्म्माण होता है जैसा कि पूर्व के दर्भोपत्तिप्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। दर्भ साक्षात् दिव्य पानी है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने— आपो वै कुशा यह कहा है। साथ ही जहां मनुष्योपयोगी पात्रों का सम्मार्जन तूष्णीं किया जाता है वहां प्रकृत यज्ञिय पात्रों का सम्मार्जन अनिशितासि इत्यादि मन्त्र से किया जाता है। इसप्रकार कुशारूप दिव्यपानी एवं दिव्यमन्त्र-बल इन दोनों से सम्मार्जन होने से दिव्यकर्म्म का मनुष्यकर्म्म से सर्वथा पृथक्करण होजाता है ॥१२॥

---

* मरुभूमि में विशेषतः राजपूताने में पानी की कमी के कारण मृत्तिका-रक्षा-[राखड] आदि से ही पात्र पवित्र मान लिए जाते हैं। इस पद्धति की इतनी प्रधानता होगई है कि यदि मार्जन [माँजने] के अनन्तर पात्र धोलिए जाते हैं तो वे सर्वथा अपवित्र मान लिए जाते हैं। उक्त श्रुति के आधार पर हम कह सकते हैं कि यदि पानी पर्य्याप्त मात्रा में मिले तो मार्जन के अनन्तर पात्रों को अवश्य ही धोडालना चाहिए। बिना पानी से धोए पात्रशुद्धि नहीं होती। यदि पानी ही न मिले तो प्रचलित-पद्धति का अनुसरण करना चाहिए जैसाकि पूर्व टिप्पणी में भी स्पष्ट किया जाचुका है।

स माज्जन से पहिले पात्रो को तपाया जाता है । अ तरिक्ष मे बहने वाले वारुण वायु में **आसुरप्राण** या त रहता है । यह वारुण असुर ऐ द्रयज्ञ का विरोधी है । जहा दि यप्राण का सञ्चार होता है वही सहज वर के स ब ध स वह इस दि य न म (दि यकम्म मे युक्त पात्रादि वस्तुआ) में आक्रमण करने लगता है । ञ्धर **अग्नि और म त्रबल** दोनो ही आसुरप्राण के विघातक है । पात्रो में वायु के द्वार आगत प्राण रूप अतएव च मचक्षु से अ श्य इन असुरो का यज्ञोपक्रम में ही नाश करने के लिए म त्रबल युक्त **प्रतपनकम्म** किया जाता है । अ निपरिताप से अवश्य ही अदृष्ट दाष * एव सूक्ष्म कीटाणु नष्ट होजाते ह यह प्र यक्ष सिद्ध है ॥४–५॥

आर भ में बतलाया जाचुका है कि यह स मा जन अलौकिक है । यज्ञ मे ऐसा कोइ भी कम्म नही जो निरथक हो एव जिस का प्राकृतिक स्थिति के साथ स ब ध न हो । यज्ञ से जसा अलौकिक नवीन **दैवा मा** उ पन्न किया जाता है जसा कि पूवप्रकरणो में अनेक बार कहा जाचुका है । ञ्स दि या मा का स्वरूप–निर्म्माण जिन जिन त वो से होता है यज्ञकर्त्ता ऋ ि वजो को उन उन त वा की प्र येक क म में भावना करनी पडती ह । प्रकृत स मा जनक र्म भी उस भावना से रिक्त नही है । एक बार स मा जन स्रुव के मूल से ऊपर तक हाता है दुबारा पृष्ठभाग में ऊपर से नीचे की ओर होता है । ञ्सी उ व–अधोभाव का अङ्गुलि से निर्द्द श करते हुए– **इति–अग्रैरन्तरत इति–अग्रैरन्तरत** यह अभिनय किया गया है । **आगमन** प्र ण या ार है एव **गमन** उदान (अपान) यापार है । शतपथ में उदान श द से सवत्र **अपान** ही अभिप्र त है । प्राण आगतिध र्मा है । स मा जन मे आगति गतिभावा का समावश करता हुआ अ वय्यु भावना के द्वारा स्रुव में प्राणो ान (प्राणा ान) का ही **आधान** करता है । इसी स्र ु से **देवयजन** होने वाला है आहुति से दि या मा का ज म होने वाला है । ऐ ी परिस्थित मे स्रुव–स ब धी प्राणोदान आहुति में प्रविष्ट होता हुआ दि या मा के प्राणोदानो पत्ति का ही कारण बन जाता है । सी रह य को लक्ष्य में रखकर **प्राणोदानावेवैतद्धाति** यह कहा गया है । यान रहे–स्रु वस्थित प्राणोदान से ही दि या मा के शरीर के रोमो का निर्म्माण होने वाला है । रोमावली मे प्राणोदानवत् (एक ञ्धर झुका हुआ एक उधर झुका हुआ यह) परिस्थिति रहती है । दू रे श दो मे–रोम का स्वरूप ठीक प्राणोदान यापार की प्रतिकृति (नकल) है । **प्राकृतिक यज्ञ से उ पन्न रोम प्राणोदानयुक्त है** । इधर स्रु वप्रदत्त आहुत्ति द्र य ही दि या मा के रोमयुक्त शरीर का उपादान बनने वाला है । अत **पुरुषो व यज्ञ** इस सिद्धा त के अनुसार यहा स मा जनकम्म की विशेषप्रक्रिया में प्राणादान का समावश करना परम आवश्यक है । ञ्सी रहस्य को लक्ष्य में रखकर **तस्मा तीवेमानि लोमानि इतीवेमानि** यह क ा गया है ।

जिसप्रकार प्राणोदानरूपा (प्राणापानमयी) सौररश्मिया देवप्राण के लिए उपादेय एव शा त रहती हुई तमोमय आसुरप्राण के विनाश का कारण बनी रहती हैं तथव प्राणोदानयुक्त स्रुव जहा यज्ञकर्त्ता यजमान

---

* यदि किसी पात्र म रजस्वला स्त्री प्रमादवश भोजन कर लेती है तो वह पात्र अशुद्ध होजाता है । इसीप्रकार पङ्क मल मूत्रादि निकृष्ट पदार्थों के सम्ब ध से भी असुरभाव से युक्त बनते हुए पात्र अपवित्र होजाते है । ऐसे अपवित्र पात्रो को आज भी राजपूताने के लोग अग्नि में तपा कर तदन तर ही उनका यवहार में लाते हे । इनक इस यवहार का मूल उक्त श्रौत **प्रतपनकम्म** ही है ।

के लिए अनिशित (शा त–उपकारक यज्ञस्वरूपसाधक) है वहा यजमान के शत्रुओ के लिए वही विनाश का कारण है । स्रुव की "सी स्वाभाविकी शक्ति का निरूपण करते हुए **अनिशितोऽसि सप नक्षित्** यह कहा गया है ।

राजा ग्राज–हवि–ग्रह–भेद से आहुतिद्र यरूप सोम की चार जातिया होती है । प्रकृत यज्ञ (इष्ट) में ज हविद्र य है वह वाजा मक (अन्नसोमा मक) है । अन्नरसरूप यही **ग्राज** य साधक बनता हुआ यज्ञ रूप है । यज्ञरूप इस वाज की यज्ञता स्रुव पर ही अवलम्बित है । अत हम इस स्रव को अवश्य ही **वाज (यज्ञ स्वरूपसमप क)** कहसकते है । यह **वाजरूप स्रव वा नरूप (अन्नरूप) यज्ञ** का दो प्रकार से समि धन (प्रज्ज्वलन) करता है । अग्नि में आहुत करना पहिला समि धन है एव स्वगत प्राणोदान को भूतमय वाज (पुरोडाश) में समाविष्ट करना दूसरा समि धन है । स्रुव के इसी स्वरूपधर्म्म को लक्ष्य में रख कर **ग्राजिन ा वाजे याये समार्ग्मि** यह कहा गया है । **प्राशित्रहरणपात्री** एव **इडापात्री** का प्राण दवताओ स विशेष सम्ब ध नही है । अत नका सम्मा जन तूष्णी (अम त्रक) ही होता है ।।६ ७।।

पहिले अ वय्यु स्रव स्रुचादि पात्रो को तपाता है एव पुन स मा जन करता है । सम्माजनान तर आ नीध्र पुन एक बार गाह्प याग्नि में पात्रों को तपाता है । आग्नीध्रकृत प्रनपन में वज्ञानिक उपपत्ति कुछ भी नही है । केवल लौकिक व्यवहार की समताहष्टि से ही यह पुन प्रतपनकम्म किया जाता है । हम दखते हैं कि लोक में कास्य पित्तलादि (काँसी पीतल आदि) के पात्रो का पहिले अवमशान (खूब रगड कर धाया जाता) किया जाता है । इस क्रिया से जब पात्र सवथा व छ होजाते हैं तो सर्वा त में बिना अवमशान के (बिना घषण के) केवल पानी में डुबोकर पात्र पृथक पृथक् रखदिए जाते हैं– **यथामवश निर्णि य–अन–वर्शमुत्तम परिक्षालयेत्** । ठीक वही स्थिति यहा है । दभ स सम्मा जन करना–अवमर्श (घषण) पूवक पात्रों का निर्णेजन करना है । एव पु अग्नि में तपाना अनवशपूवक पानी से प्रक्षालन करन के स्थान में है ।।८।।

स्रव–जुहू–उपभृत–ध्रुवा आदि पात्रो में से पहिले स्रुव का स मार्जन होता है अन त स्रुचो का सम्मा जन किया जाता है । **स्रुव** श द पु स्त्वभावापन्न होता हुआ **वृषा** है एव **स्रुक्** श द स्त्री व से युक्त होता हुआ **योषा** है । पुरुष के शुक्र में रहने वाला रेत सेक का अधिष्ठाता **पुम्भ्रूण वृषा** कहलाता है एव स्त्री के शोणित में रहने वाला रेतोग्राहक **स्त्रीभ्रूण योषा** नाम से प्रसिद्ध है । **वृषा आग्नेय है** एव **योषा सोम्य है** । दोनो में वृषा का ही प्राथम्य है । वधयज्ञ में ही दखिए ।

वृषारूप अग्नि स्वस्थान में पहिले से प्रतिष्ठित रहता है । अन तर "समें योषारूप सोम (आहुतिद्र य) की आहुति होती है । अग्निरूप वृषा प्रथमज है । भूत योतिर्म्मय विश्व में स्वाय भुव–ब्रह्माग्नि के रूप में सर्वप्रथम **अग्नि** का ही विकास होता है **सवस्याग्रमसृ यत** इस नि चन से ही इसे **अग्रि** कहा जाता है । यह अग्रि ही देवताओ की परोक्षभाषा में **अग्नि** नाम से प्रसिद्ध ह–(देखिए शत ब्रा ६।१।१।११) ।

अपिच अग्नि **अन्नाद** है **भोक्ता** है । सोम **अन्न है भोग्य है** । दोनो में **भोक्ता** प्रधान है **भोग्य** गौण है । साथ ही यह भी सिद्ध विषय है कि एक भोक्ता के लिए अनेक भोग्य पदाथ रहते है । इसी

भोक्ता अग्नि म पुरुष का आ मा सम्पन्न होता है एव भोग्य सोम से स्त्री की स्वरूप निष्पत्ति होती है। अनिप्रधान पुरुष अग्रसर है ए सोमप्रधाना स्त्री पश्चा नुयायिनी ह। सका प्र य न प्रमाण यही है कि जब किसी उ सवादि में १ २ स्त्रिया सम्मिलित होकर जाती है उनके साथ में यदि कोइ बालक (५ वष का लडका) होता है तो वह स्त्रियो के झुण्ड के आगे आगे चलता है। यदि वह क्रीडावश पीछे भी रहजाता है तो स्त्रिया बलात् उस अपने आगे कर लेती हैं। कारण वही प्राकृतिक नियम है। प्रकृति चाहती है कि आ नमय पुरुष अग्रगामी रहे ए सो य स्त्रिया इनके अनुगत ही बनी रहे।

यही परिस्थिति यहा समझिए। **स्रुव एक पुरुष है अनेक स्रुक् स्त्रिया है**। उक्त प्राकृतिक नियम के अनुसार वृषा योषा के नि यासद्ध पूर्वाप य को लक्ष्य में रख कर वृषास्थानीय स्रुव का स माजन पहिले ए योषास्थानीय स्रुक का स मार्जन पीछे ही करना प्राकृतिक नि ययज्ञ की समृद्धि का कारण बनता ह। इसी वृषा योषा मक यज्ञरहस्य को लक्ष्य में रख कर— **स व स्रुवमग्रे सम्माष्टि अथेतरा स्रुच** इ यादि कहा गया है ॥ ६ ॥

गाहप य के पश्चिम भाग में बैठ कर अ व यु उक्त पात्रसम्मा जन क म करता है। स मा जन करत समय अ व यु का इस बात का पू यान रखना चाहिए कि कही सम्मा जन–साधकभूत कुश तृण गाहप यानि मे न गिर जाय। कारण इसका यह ही ह कि यह दभतृण पात्रीनिर्णेजन (पात्री के स्व छ करने का पानी] ह। उधर गाहप याग्नि में पार्थिव प्राणाग्निदेवता विराजमान हैं। उक्त तृणादि का इस देवमूर्त्ति अग्नि में गिर जाना वैसा होगा जैसे भोजनाथ आगत किसी अतिथि का भोजनपात्रो के शुद्ध करने के उपयोग में आए हुए मलिन अशुद्ध पानी से सिञ्चन करना। अत बडी सावधानी से प्राङ मुख रह कर अग्नि से कुछ हट कर ही सम्भार्ज्जनकर्म करना चाहिए॥ १ ॥

तत्तरीय सम्प्र ाय का मत ह कि— यज्ञ में उपयुक्त होने वाली वेदराशि [कुशमुष्टि] यज्ञरूप ह। कुश को वेद नाम स यवहृत करने का कारण यही ह कि पू कथनानुसार यह द **सौर वेनपानी से** उ पन्न हुए हैं। इधर **महोक्थ–महाव्रत–एव पुरुष** की समष्टिरूप यज्ञप्रवत्त क सू य **सैषा त्रय्येव विद्या तपति** [शत १०।५।२।२] के अनुसार गायत्रीमात्रिक वेदमय ह। वेदमय सौर पानी से [वेदावच्छिन्न सौर प्राण से] दभ उ पन्न हुए है अत इन्ह अवश्य ही वेद नाम से यवहृत किया जासकता है। इधर स मा जनकम्म में उपयुक्त होने वाले दभतृण वेद [कुशमुष्टि] रूप यज्ञ के अवयव होने से यज्ञरूप ही है। उ कर में वह वस्तु फेंकी जाती ह जिसका यज्ञ से कोई सम्ब ध नही रहता। ऐसी अवस्था में यज्ञरूप किंवा यज्ञाशरूप इन दभतृणों को उत्कर में डालना इस यज्ञियद्र य को यज्ञसीमा से बाहिर डालना होगा और ऐसा करना यज्ञमर्य्यादा से विरुद्ध होगा। अत [यज्ञाशरूप दभतृ ो को] यज्ञसीमा में रखने के लिए इन्ह आहवनीय अग्नि मे ही डालना चाहिए। गाहप यानि में इनका प्रक्षेप नही किया गया इसलिए तो **यथा यस्माऽअशनमाहरिष्य स्यात् त पात्रनिर्णेजनेनाभिव्युक्षेत्** यह पूर्वोक्त दोष नही रहा एवं आह वनीय में इनका प्रासन [प्रक्षेप] होगया इसलिए यह यज्ञाङ्गभूत यज्ञिय द्र य यज्ञसीमा से बहिभू त नही हुआ।

सूत्रकारने **आहवनीय प्रासनमक** इ याि रूप स सी पच्च का उ लेग्व किया है। जसे पृथिवी-स्थानीय गाहप यानि म पार्थिव प्राणाग्निदवता प्रतिठि रहत है तथव द्य स्थानीय आह नीयाा न म सार-प्राणाग्निदवता प्रति ठत रहते है। एव ये ही प्रधान अतिथि ह। ग हप य दवता घरके है एव सौर दवता प्राघु गक (पाहुने हैं। इह्वा के यजन से तो दि यामा का स्वरूप म पन्न करना है। अत जो दोष गाहप य मे प्रक्षेप का था उस से भी कही अधिक दोष आहवनीय में प्रासन का है। आहवनीयस्थ आगत अतिथिरूप सौर दवता हविद्र य की प्रतीक्षा में बठे है। आप स मा जन साधनभून दभतृणो की आहुात दत ए उह्व पात्री का प्रक्षालित जल पिला रह हैं। क्या ऐसा करना चित होगा? कभी नही। रही यज्ञाशभूत दभ तृणो की यज्ञसीमा से बाहिर निकल की बात। सो इस के लिए स्वतन्त्र समा ान करने की को आवश्यकता नही है। जो वस्तु दवताओ के उपयोग म आती है वही यज्ञिय मानी जाती है। नही तो प्राप्त ह वद्र य के तुषा को क्यो उत्कर मे डाला जाता है? । हवि स पादन के लिए शकट से धान लिया जाता ह। उ नूखल मे मुसलके द्वारा उनके तुषो को पृथक् किया जाता है। तुषो को उ कर म ही डाला जाता है। क्योंकि न का आहुति से स ब ध नही है अतएव इह्व **यज्ञिय** नही माना जासक्ता। यही पारस्थिति इन दभतृणो की है। पात्र स्व छ करने के पश्चात् इन का यज्ञ में को उपयाग नही रहजाता। अत इह्व यज्ञिय-पदाथ नही माना जासकता। ऐसी अवस्था में इह्व यज्ञसीमा से बा ि र उ कर में ही फ क दना चाहिय ॥ ११ ॥

इति—द्रव्यसस्कारोपपत्ति

—*—

२—पत्नीसन्नहनोपपत्ति —

प नीसन्नहकर्म का ता पर्य्य है—**प नी का यज्ञ के साथ योग करना**। यजमानप नी प नी है **प युर्नो यज्ञसयोगे** इस पाणिनीय सिद्धा त के अनुसार यज्ञ के सम्ब ध से ही **प नी** श ब्द निष्पन्न हुआ है। यह प नी श द ही स तथ्य का सूचक है कि इस का यज्ञ मे अवश्य ही सम्ब ध कराया जाय। बिना प नी के यजमान का यज्ञ सवथा अपूण (अधूरा) रहता है। कारण स्पष्ट है। प्राकृतिक नित्य आधिदविक यज्ञ का निरीक्षण कीजिए। यज्ञ के द्वारा सृष्टिरूप प्रजा को उ पन्न करने की इ छा रखने वाले प्रजापात को अपना शरीर **पति-पत्नि** रूप से दो भागो में विभक्त करना पडता है। इन दोनो के मिथुनभाव से ही **विराट्प्रजा** की उ पत्ति होती है जसा कि निम्न लिखित स्मात्त वचन से स्पष्ट है—

> **द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।**
> **अर्द्धेन नारी तस्या स विराजमसृजत प्रभु।**
>
> —मनु १ अ ३२

वय भू प्रजापति वदमूर्ति है। वदत व **ऋक्-साम-यजु** भेद से तीन भागो में विभक्त है। इन तीनो में यजु वास्तव में यज्जू (यत्-जू) है। यद्भाग वाक् है यही अग्नि है। इसी को यज्ञिय-परिभाषा-नुसार **सावयाजुषअग्नि** कहा जाता है। विज्ञानदृष्ट्या यही वागग्नि **स यानि** नाम से प्रसिद्ध है। **जूभाग प्राण है यही वायु है**। यह वाक-प्राण [अग्नि वायु] मूर्ति यज्जू किवा यजुर्वेदमार्त्त स्वयम्भू

प्रजापति ऋक्सामरूप छ दों से नि य छ दित [वष्टित] रहता है । यजु ही स्वय भू प्रजापति का शरीर है । इस यजुम्मय शरीर का यद्रूप वाक [अग्नि] भाग जूरूप प्राण [वायु] के यापार से आंशिकरूप से द्र त होजाता है । अग्नि पर जब वायु का प्रसर [दबाव] होता है तो त काल अग्नि पानी के रूप में परिणत होजाता है जैसा कि **अग्नेराप** इ याद श्र य तर से स्पष्ट है । ग्रीष्मऋतु के अन तर वर्षा का आगमन भी इसी सिद्धा त पर अवलम्बित है । प्रजापति का वाक भाग ही अ श रूप से पानी [पारमेष्ठय सोम] बना है इसी अभिप्राय से— **सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्** । **वागेव साऽसृ यत** [शत ब्रा ६।१।१।६] यह कहा गया है । वा मय शरीर के **अग्नि–सोम** ये दो विभाग ही **पति–प नी हैं** । **अग्नि पुरुष है सोम स्त्री है** जैसा कि पूवप्रकरण में बतलाया जाचुका है । इन दोनो के मिथुनभाव से ही **सूर्य्यरू । विराट् पुरुष** का ज म हुआ है । सौरस व सर में भी यही दाम्पत्यभाव है । स व सर की वस तादि ६ ऋतुओ में तीन ऋतुएँ [वस त–ग्री म–वर्षा] आग्नेय हैं एव तीन ऋतुएँ [शरत्–हेम त–शि रर] सौ य हैं । दोनो के सम वय से सम्व सरयज्ञ का स्वरूप नि पन्न हुआ है एव इसी स व सरयज्ञ से पार्थिव प्रजा की उ पत्ति हुइ है । पार्थिव प्रजा में भी यही मिथुनभाव है । **शुक्र सौम्य ह शोणित आग्न है** । शोणिताग्नि में शुक्रसोम की आहुति होने से ही प्रजो पत्ति होती है । इसप्रकार **स्वायम्भुवयज्ञ सम्वत्सरयज्ञ–आ यात्मिकयज्ञ** तीनो में उक्त दाम्प यभाव विद्यमान है जसा कि परिलेख से स्पष्ट है ।

दाम्पत्यभावपरिलेख —

१ वाक	अग्नि (पुरुष)	}	स्वायम्भवयज्ञ १
२ आप	सोम (स्त्री)		
१ वस त -ग्रीष्म वर्षा	अग्नि (पुरुष)	}	सम्वत्सरयज्ञ २
२ शरत् हेम त शिशिर	सोम (स्त्री)		
१ शोणितम्	अग्नि (पुरुष)	}	अ यात्मयज्ञ ३
२ शुक्रम्	सोम (स्त्री)		



प्रकारा तर से अ नीषोमा मक प्राकृतिक यज्ञ का विचार कीजिए । सम्व सरमण्डल में **सू य और च द्रमा** ये दो ही ग्रहोपग्रह प्रधान हैं । **सू य आ नेय ह च द्रमा सौम्य है** । वि वद्वृत्त के केन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठितहै । यही विषुवमण्डल हमारे खगोल का स्वरूप सम्पादक है । इसी खगोलीय विष्वद्वृत्त से हमारा स्वरूप नि र्माण होता है स व सर को **महासुपर्ण** माना गया है । उत्तरायण दक्षिणायण इस महासुपर्ण के दो पक्ष हैं एव म यस्थ विष्वद्वृत्त आ मा है । पूर्व की ओर मुख करके खड होजाइए । पूवभाग में दृश्य खगोलीय [सूर्य्ययुक्त] वि तत् है एव पश्चिमभाग में अदृश्य खगोलीय [च द्रयुक्त] विष्वत् है । **पूव–खगोल सूर्य्यपुरुष से युक्त बनता हुआ पुरुष है** एव **पश्चिम–खगोल च द्रस्त्री से युक्त होता हुआ स्त्री**

है। दोनो की समष्टिरूप वि वदवृत्तीय पूण खगोल **स स** रूप **यज्ञप्रजा ाति** है। इस म पुरुष का नि र्माण सूर्यप्रधान दृश्य खगोल स होता है एव स्त्री का नि र्माण च द्रप ान अ श्य खगोल स होता है। पुरुष की रीड की हडडी वि वदवृत्त है। परन्तु आधे विषुव का ही रस स में आता है। अतएव चारो ओर वृत्तरूप से रीड का निर्म्माण नही होता। आधा अदृश्य भाग त्री का नि र्माण करता है। दूसरे शब्दो में आधा आकाश पुरुष के अधिकार में आता है एव आधा आकाश स्त्री के अधिकार मे आता है। एक ही स सरा काश पुरुष और स्त्री में विभक्त है अतएव स्त्री को **अर्द्धाङ्गिनी** माना गया है।

पुरुष के शू य अर्द्धाकाश की पूर्त्ति स्त्री से ही होती है। जबतक यज्ञ में स्त्री का सम वय नही होता तबतक यज्ञ का स्वरूप अपूण ही रहता है। **देवो भू त्वा देव भायजेत** यह निश्चित सिद्धा त है। सम्व सर **यज्ञदेव** की प्राप्ति के लिए यज्ञकर्त्ता यजमान को पहिले यज्ञरूप बनना पडगा। यज्ञरूप बनने के लिए पहिले इसे प नी का यज्ञ में योग करना पडेगा। पत्नीसयोग से जब यह पण होजायगा तभी यह उस पर्मेश्वर यज्ञविष्णु के साथ सम्ब ध करने का अधिकारी बन सकेगा। यदि बिना पत्नी के ही यजमान यज्ञकम्म में प्रवृत्त होजायगा तो एक वष के भीतर भीतर इसकी मृत्यु होज यगी। यदि एक दपण आधे भाग मे गरम एव आध में ठण्ढा होजाता है तो इस विषमता से तत्काल दपण के खण्ड खण्ड होजाते हैं। यही अवस्था अप नीक यजमान की हाती है। ऐसी अवस्था में यज्ञ में पत्नी का स योग करना परम आवश्यक होजाता है। सूर्य्योपलक्षित द्यु लोक पिता है च द्रोपलक्षित पृथिवीलोक माता है दोना की समष्टि ही द्यावापृथि य यज्ञ है। पृथिवी पश्चिमार्द्ध [भाग] है द्यु पर्वार्द्ध [भाग] है। द्यु रूप सू य से उ पन्न होने वाला पुरुष यज्ञ का पर्वार्द्ध है एव पृथि युपलक्षित च द्रप्रधाना स्त्री यज्ञ का जघनार्द्ध (पश्चिम का आधा भाग] है। बिना इसके यज्ञ आधा रहता है। इसी रहस्य को लक्ष्य मे रख कर— **अथ। अर्द्धो वा एष आत्मन –य प नी** [तै ब्रा ३।३ ३।४।— **अयज्ञो वा एष योऽपत्नीक** [तै ब्रा २।२ २।६]— **सोऽयमाकाश पत्न्या पूर्य्यते** इ यादि कहा गया है। प नी का यज्ञ में क्यो योग किया जाता है ? इस प्रश्न का यही सक्षि त समाधान है। पुरुष यज्ञाधिकारी है। यज्ञ बिना पत्नी के होता नही। यज्ञ की इस अवश्यकत्त यता को लक्ष्य मे रख कर ही पुरुष के लिए बहुविवाह का विधान शास्त्रसिद्ध मान लिया गया है*।

पत्नी यज्ञ का पश्चिमार्द्ध ह। इधर यजमान का यज्ञ पश्चिम से पव की ओर ही वितत होता हुआ त्रिणाचिकेतस्वग में प्रतिष्ठित होता ह। यदि पत्नी न होगी तो पश्चिम भाग ही न रहेगा। पश्चिम भाग न रहेगा तो प्रति ठा से विरहित यज्ञ किस के आधार पर पव की ओर वितत होगा ?। अत यज्ञवितान के लिए ए यज्ञ की पूणतालक्षणा समृद्धि के लिए यज्ञ में प नी का सयोग करना नितान्त आवश्यक हाजाता है। इसी गुहानिहित रहस्य को लक्ष्य में रखकर **जघनार्द्धो वाऽएष** इ यादि कहा गया ह ॥ १२ ॥

साधारण रूप से प त्नी का योग नही किया जाता अपितु उसे योक्त्र से बा धा जाता है। योक्त्र एक प्रकार का ऐसा दृढ ब धन है जिस में आबद्ध होने के पश्चात् पलायित होजाना अस भवसा होजाता है। जानना

* यदि त्रैवर्णिक प्रजा यज्ञकम्म से पराङ मुख ह तो कदापि इसे दूसरा विवाह नही करना चाहिए।

चाहते हैं आप इस ब धन का रहस्य ? तो सुनिए ! स्त्री सोमप्रधाना होती है । यह पूव में बतलाया जाचुका है । सोम ऋृतत व है । अतएव य सत्यभाग से शू य है । अतएव च ऋतप्रधाना स्त्री का निग्रह सतत अपेक्षित है । स्त्री के सी स्वरूपव म को लक्ष्य में रखकर भारतीय समाजशास्त्रियोंन स्त्रीस्वात त्र्य का पूण निरोध किया है । स्त्री की बाल-युवा-वृद्ध इन तीनों अवस्थाओं में पिता-पति पुत्र की अगला लगाइ । है । ऋतरूप सोम मे आ मप्रति ठा का आभाव है । यह भो य वस्तु है । अत सवदा सरक्षणीय है । इसे निर तर परप्रतिष्ठा अपेक्षित है । प्रति ठासूत्र में रहते रहते भी अपने ऋृतस्वभाव के कारण स्त्री उ छृङ्खल बन जाती है । यदि प्रतिष्ठासूत्र न रहे तो यह स्वतन्त्रा शक्ति विस्फोटन का ही कारण बन जाया करती है ।

ऋतप्रधाना अतएव अनृतरूपा स्त्री * के स अप्रति ठा भाव की रक्षा के लिए दूसरे श दों में स्वत त्रवृत्ति को परत त्र बना कर उसे सीमित करने के लिए ही पत्नीसन्नहनकर्म्म किया जाता है । इस क म के साधनभूत योक्त्रब धन से सौ य यजमानप नी की सौम्यवृत्ति शा त होजाती है एव ऋत के स्थान में इसमें स यभाव का समावश होजाता है अप्रति ठा प्रति ठा के रूप में परिणत होजाती है अनृत अयज्ञि- यभाव स ययज्ञरूप में परिणत होजाता है । यजमान का अर्द्धाकाश परिपूर्ण होजाता है पूर्णयज्ञ की पूर्णसमृद्धि प्राप्त होजाती है । सन्नहनकम्म का यही मौलिक रहस्य है ।

हम यह अनुभव क रहे हैं कि स्त्रीजाति के सम्ब ध में विहित उक्त श्रौत-सिद्धा त व मान भावुक युग के लिए सवथा उद्व गकर ही प्रमाणित होरहा होगा । सामा यदृष्टि से विचार करने पर तो थोडी देर के लिए एक वदभक्त का हृदय भी श्र ति की स सकुचितवृत्ति स क्षु ध होउठेगा । जब कि ईश्वरीयसृष्टि में सामा य- प्राणियों को भी स्वतन्त्र विचरण करने का (ज मसिद्ध) अधिकार प्राप्त है तो सृष्टि के सवसभ्य बुद्धि युक्त मानवसमाज के इस स्त्रीवग के स ब ध में ईश्वराज्ञापत्ररूप इन व ो में किस आधार पर यह अमा नुषिक सिद्धा त लिपिबद्ध हुआ ? सचमुच यह एक जटिल समस्या है ।

समस्या जटिल साथ ही स यता सस्कृति पर कलङ्क लगाने वाली सब कुछ ठीक है । परन्तु शास्त्रप्रमाणका वयम् याय से प्रकृत सिद्धा त के स मुख विवश होकर हमें नतमस्तक होना हीं पडेगा । अब हमें स स ब ध में देखना केवल यही है कि उक्त वदभक्ति हमारी क पना तक ही सीमित है अथवा इस में कुछ त वांश भी है जिस के बल पर वे विरोधियों का साथ ही उन वेदभक्तों का भी जो कि ऐसे सिद्धा तों को देखकर क्षु ध होजाते हैं अ त करण उक्त सिद्धा त की ओर आकर्षित किया जासके । आ ए ! इस स्वत त्रता परतन्त्रता की मौलिकता का विचार कर और तद्द्वारा किसी निश्चित निर्णय पर पहुचने का प्रयास कर । विचा शून्या सामा यदृष्टि कभी कभी हमें धोका दे डालती है । और इस धोके में पडकर मानवीय ऋत-मन कभी कभी स य को अस य समझने की भूल कर बैठता है । कोई आश्चय्य नहीं हम भी कुछ ऐसी ही भूल कर रहे हों ।

(१)-इस मे तो कोई भी सन्देह नहीं है कि सनातनधर्म्म से प्रेम रखने वाला वर्त्तमान युग का सनातनधर्म्मीजगत् प्र यक्ष किंवा अप्र यक्षरूप से धर्म्म क याज से विशुद्ध रूढिवाद

---

* अनृत स्त्री, शुद्र श्वा तानि न प्र क्षत । (श्रुति)।

का ही समर्थक बन रहा है । बाह्याडम्बरभक्त हम सनातनधर्म्मियोंने धर्मादेशों को रूढिवाद के रंग में रञ्जित कर उन्हें अधर्म्म का ही रूप देडाला है यह स्वीकार कर लेने में किसी भी सनातनधर्म्मी को यत्किञ्चित् भी आपत्ति नहीं करनी चाहिए।

(२)–इस में भी कोई सन्देह नहीं कि सनातनधर्म्म के प्रचलित रूढिवादों से घोर शत्रुता रखने वाला वर्त्तमानयुग का समाजसुधारक जगत् प्रयत्न किंवा अप्रयत्नरूप से सुधार के व्याज से विशुद्ध अधर्म्मपथ का ही समर्थक बन रहा है। पाश्चात्याडम्बरभक्त हम सुधारकोंने सुधारमार्ग को पश्चिमी सभ्यता के रंग में रञ्जित कर उसे अधर्म्म का ही रूप दे दिया है यह स्वीकार कर लेने में भी किसी भी सुधारक को आपत्ति नहीं करनी चाहिए।

(३)–यह भी निःसंदिग्ध विषय है कि सनातनधर्म्म के उपदेशकों प्रचारकों रक्षक सन्त महन्तों आचार्य्यों मठाधीशान धर्म्मादेशों के मौलिक रहस्य का प्रतिपादन करने वाले विज्ञानसिद्ध वेदशास्त्र की उपेक्षा करते हुए अतएव धर्म्मरक्षा के लिए सर्वथा व्यर्थ प्रमाणित सम्प्रदायभक्ति को साधनरूप अग्रणी बनाते हुए वर्त्तमानयुग की सुधारक–जनता का परितोष करने में अपने आपको सर्वथा निरर्थक ही प्रमाणित कर लिया है।

(४)–अब हमें यह भी मान ही लेना चाहिए कि सुधारक समाज के उपदेशकों मार्गप्रदर्शकों नेताओंने सुधार के मूलप्राणरूप मौलिकधर्म्म मौलिकसंस्कृति मौलिकसाहित्य की उपेक्षा करते हुए अतएव समाज व्यवस्था–सञ्चालन के लिए सर्वथा व्यर्थ प्रमाणित कल्पनाभक्ति को ही साधनरूप से आगे करते हुए वर्त्तमान युग की धार्म्मिक जनता का परितोष करने में अपने आपको सर्वथा निरर्थक ही सिद्ध कर लिया है।

उक्त प्रयत्न स्थिति ही हमें यह मान लेना के लिए भी बाध्य कर रही है कि वर्त्तमान में भारतवर्ष के जनसमाज को १ धर्म्मप्रेमी सनातनधर्म्मी २–सुधारप्रेमी सुधारक ३ धर्म्मोपदेष्टा धार्म्मिकनेता ४ मार्गप्रदर्शकसमाजनेता इन चार श्रेणियों में विभक्त मान लिया जाय। यद्यपि एक पाचवां राष्ट्रीयसमाज और है । परन्तु प्रचलित प्रगति के अनुसार उसे हम चतुर्थ समाजवर्ग में ही अन्तर्भूत मान सकते हैं। आगे जाकर तो इन चार वर्गों का भी धार्मिकवर्ग सुधारकवर्ग इन दो वर्गों में ही अन्तर्भाव होजाता है।

उक्त दोनों ही वर्ग उद्देश्य की दृष्टि से समानपथ के ही अनुयायी बने हुए है। हम हमारा देश हमारी सभ्यता हमारी संस्कृति सुरक्षित रहे दोनों ही वर्गों को यह उद्देश्य तो सर्वात्मना मान्य है । परन्तु आश्चर्य्य है कि समानोद्देश्यता के रहने पर भी दोनों में परस्पर घोर विरोध देखा जाता है । धार्म्मिक जगत् सुधारक जगत् को सर्वनाश का प्रवर्त्तक बतला रहा है तो सुधारकवर्ग धार्म्मिक वर्ग को उन्नति का अन्यतम प्रतिबन्धक समझ रहा है। आदर्शभक्त किन्तु कर्म्मशून्य धार्मिक जगत् का धर्मप्रसार क्रम क्रमशः शिथिल होता जारहा है एवं कर्म्मपरायण किन्तु आदर्शशून्य सामाजिक जगत् की उच्छृङ्खलता क्रमशः वृद्धिंगत प्रतीत होरही है। इसप्रकार देश की ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति ये दो स्वतन्त्र दलों में विभक्त होकर तीसरी अर्थशक्ति के मूलोच्छेदक का कारण बनती हुई सर्वनाश की ही प्रयोजिका प्रमाणित हो रही है यह जानकर किस भारतीय को क्लेश न होगा।

हुआ क्या ? एव ो क्या रहा है ? । धार्मिक-प्रजा ने परिवर्त्तनशील **देश-काल-पात्र** आदि से स बन्ध रखने वाले तत्सामयिक (अतएव तत्समय के लिए ी उपादेय) आचार यवहारों का ग्रथि ब धन करते हुए उसे भी सामयिक बना डाला। अतीत सभ्यता िा आचार-व्यवहार देशकालादि के परिवर्त्तन से स्मृतिगर्भ में विलीन होते रहे आगे आगे नवीन विकास ज म लेते गए। उधर शाश्वतध म पर बलात्कार से उन सामायिक आचारादि का लेप चढ़ता रहा । परिणाम इसका यह हुआ कि-ध मत व सवथा अ तहित होगया एव प्रधानता रह गई केवल रूढिवाद की। **शाश्वतधम्म आन य मतवाद मात्र बनता हुआ परमार्थसाधन के स्थान में विशुद्ध स्वार्थ का ही पोषक बना रह गया।**

भला मानवीय मन कबतक ध म के इस ताण्डवनृ य को सहन करता रहता ? । परिणाम वही हुआ जो होना चाहिए था। कुछ एक नेताओंने जनता को सावधान किया कि जिसे तुमने **धम्म** समझ रक्खा है वह **याजधम्म है** धम्म की ओट में **रूढिवाद** पनप रहा है। इसी ध म के धोके ने तुह्मारी स्वत त्रता का अपहरण किया है। परिणाम जो कुछ हुआ देश के सामने है। धम्मसुधार आर भ हुआ प्रबलवग से। पर तु धम्म-रहस्यभूत मौलिक साहि य के विरह से इस सुधार ने बाह्य आवरण के साथ साथ गर्भीभूत **मौलिकतत्त्व** पर भी प्रहार करना आर भ कर दिया। और मानना पडेगा कि सुधारकवग की यह एक महा भूल हुई। गले सडे मास के कत्त न (आप्र शन) के साथ साथ विशुद्ध सरक्षक अङ्ग को भी काट लिया गया। इसप्रकार इन्होंने शेषभूता मौलिकता को भी नामशेष में ही परिणत कर दिया।।

प्रकरण अप्रासङ्गिक होता हुआ भी प्रासङ्गिक है । प्रश्न है- **स्त्रीस्वात न्त्र्य** का। वत त्रता का अन यप्र मी सुधारक-समाज उन आदेशों को सहन करने के लिए सन्नद्ध नहीं है जो कि आदेश स्त्रीस्वात य पर प्र यक्षरूप से आक्रमण कर रहे है। यही कारण है कि उन की दृष्टि में- **न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति** यह आदेश पुरुषसमाज की स्वार्थवृत्ति का ही द्योतक बन रहा है। **ऋत-स य** का विवेचन करते हुए यद्यपि पूव में हमने इस द्योतकता की निरथकता सिद्ध करने का प्रयास किया है। तथापि केवल इसी साधन से हम पूर्णरूप से उनका परितोष नहीं कर सकत। अवश्य ही इस साधन की सिद्धि के लिए हमें थोडा और प्रयास करना पडेगा।

जहाँतक हम समझते हैं- **स्वतन्त्र** श द का अक्षराथ है **स्व तन्त्र** (**अपना तन्त्र**)। यह **स्व** क्या है ? और इस **स्व** का **तन्त्र** क्या है ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। पहिले कोशकार की दृष्टि स ही दोनों श दों के अर्थों का विचार कीजिए। **स्वो ज्ञातावात्मनि** (अमर ३।३।२११) के अनुसार ब धुजन और आत्मा इन दोनों को **स्व** कहा जाता है। ज्ञाता आ मा ही **ज्ञातिब धु** * है। अत फलितांश में **आत्मा** ही **स्व** श द का वाच्याथ बन जाता है। श दाथक **स्वन** धातु से (**स्वन श दे-भ्वा प से**) **स्व** श द नि पन्न हुआ है। **स्वनति-इति स्व** यत वा ही **स्व** श द का

---

* **यावद्वित्त तावदा मा** इस सिद्धा त के अनुसार वित्तपय त आ मसत्ता का प्रसार माना गया है। ब धुवग किंवा **ज्ञातिवर्ग** अ तर्वित्त में अ तभू त है। अतएव इन्हें भी **स्व** कहना अ वथ बन जाता है।

निवचन है। आ मा श दप्रवत्तक है दूसरे श दो में आ मा से श द निकलता है अतएव **स्वनति** (**श द करोति श मुपा यति वा**) से अवश्य ही आ मा को **स्व** कहा जासकता है। इसी निवचन स यह भी सिद्ध होगया कि जिसका आ मा श दोपत्ति में असमथ है वह आ मा **स्व** मर्य्यादा से किंवा **स्व-धम्म** स वञ्चित होता हुआ **स्व** न होकर **पर** ही बन जाता है।

आ मा श द उ पन्न करता है किंवा आत्मा से श द निकलता है इसका क्या ता पर्य्य ?। क्या कोइ आ मा ऐसा भी है जो श द उ पन्न करने में असमथ रहता हो ?। हम तो देखते है कि— **आत्मा बुद्धया समे यर्थान् मनो यु क्ते विवक्षया मन कायाग्निमाह य स प्रे रयति मारुतम्** इ यादि **पाणिनीय शिक्षा** सिद्धा त के अनुसार श दोच्चारण की विवक्षा करने वाला आ मा बुद्धि से युक्त होकर अभिल षित अथकामना का मन के साथ योग करता है। आ मकामना से काममय बना हुआ मन सर्वाङ्गशरीर में या त वश्वानर अग्नि (कायाग्नि) में क्षोभ उ पन्न करता है। इस इ छा के अघात से क्षु ध बने हुए अग्नि का क्षोभ प्राणवायु पर आघात करता है। धक्का खाकर वायु **उर -कण्ठ शिर** तीनों में किसी स्थान से टकरा कर कण्ठ ता वादि स्थानो में आकर वर्णरूप धारण कर लेता है। इसप्रकार आ मकामना ही बुद्धि के द्वारा मनोद्वार से शरीराग्निक्षोभ यापारमूलक प्राणवायु को सञ्चारभाव में परिणत कर वर्णरूप में परिणत करती है। **वायु खात् श दस्तत्** यह प्रातिशा य-सिद्धा त भी उक्त सिद्धान्त का ही समथन कर रहा है।

जब कि **श दो पत्ति** किंवा **वर्णोपत्ति** का यह स्वाभाविक नियम है दूसरे श दो में कोइ भी श द जब बिना आ मकामना के विनिगत नही होसकता तो मान ा पडेगा कि **स्वनति स्वन्यते** के अनुसार सभी प्राणियो का आ मा **स्व** है। फिर इस सम्ब ध में यह कहना है कि **जिसका आत्मा श दोपत्ति म असमर्थ है वह स्व न कहला कर पर ही कहलाएगा** क्या मह व रखता है ?। **न ह्यश द मिवास्ति स ं श देन भासत** इ यादि श्रौत स्मात्त सिद्धा तो के अनुसार जब सब का प्र यय (ज्ञान) श दा मक ही है शब्दप्र ण ही जब सब का प्रातिस्विक ध म है तो इस नि य श दविनिगम का अनुयायी आ मा कभी **पर** बन जाय यह सम्भव ही नही।

यदि केवल **स्व पर** भावो का ही विचार किया जाता है तो अवश्य ही इस सम्ब ध में उक्त विप्रतिपत्ति का समावश स भव होजाता है। परन्तु जब **तन्त्र** श द को साथ लेकर विचार किया जायगा तो स्वत एव विप्रतिपत्ति का निराकरण होजायगा। केवल स्व (**आत्मा**) को तो तबतक स्व (**आ मा**) कहा भी नही जासकता जबतक कि वह किसी तन्त्र का अनुगामी नही बन जाता। त त्र को अपना आयतन बना कर ही आ मा श दोपित्ति में समथ होकर स्व कहलाता है। यदि वह त त्र **आ मानुगामी है** तो उस समय उस अपने तन्त्र का अ यक्ष बनता हुआ आ मा **स्वतन्त्र** कहलाएगा। यदि वह तन्त्र आ मस्वरूप को विकृत करने वाला है तो उस दशा में वह तन्त्र **परत त्र** कहलाएगा एव तदनुगत आ मा भी **परत त्र** ही माना जायगा।

स्वत त्र-परत त्र दोनों ही श द आ मवाचक नहीं है अपितु ये श द तो त त्रो के द्योतक हैं। **आ मा को तो न स्वतन्त्र कहा जासकता न परत त्र।** **स रूप** के लिए कसी निश्चितरूप की अगला

नहीं लगाई जासकती। दोनों शब्द तन्त्रों के ही वाचक हैं। आत्मतन्त्र "स्वतन्त्र" कहलाएगा, एवं आत्मविरोधी तन्त्र "परतन्त्र" कहलाएगा। "स्वतन्त्र" में रहने वाला आत्मा ही अपना "स्व" भाव सुरक्षित रख सकेगा। एवं "परतन्त्र" में रहने वाला आत्मा "स्व" को खो बैठेगा। इसप्रकार स्वतन्त्र-परतन्त्र शब्द तन्त्रों के ही वाचक बन जाते हैं। आगे जाकर द्वारन्याय से इन दोनों को आत्मा का भी वाचक मान लिया गया है।

आत्मा चाहे "स्व" तन्त्र में प्रतिष्ठित रहे, अथवा "पर" तन्त्र में, उभयथा वह शब्दोत्पत्ति का प्रवर्त्तक माना जायगा। और शब्दोत्पत्ति के सम्बन्ध से दोनों ही अवस्थाओं में उसे "स्वनति" के अनुसार "स्व" कहा जासकेगा। अन्तर दोनों अवस्थाओं में केवल यही होगा कि "स्व" तन्त्र में प्रतिष्ठित आत्मा की कामना मन का सञ्चालन करेगी, एवं "पर" तन्त्र में प्रतिष्ठित आत्मकामना पर मानस कामना का अधिकार रहेगा। मन की कामना को अपने रंग मे रञ्जित कर शब्दप्रवर्त्तक बनता हुआ यही "स्व" "स्व" कहा जायगा, एवं अपनी कामना को मन के रंग में रञ्जित कर शब्दप्रवर्त्तक बनता हुआ वही "स्व" "पर" कहलाएगा। इसप्रकार तन्त्रभेद से शब्दायमान उस एक ही "स्व" की "स्व"-"पर" ये दो अवस्थाएं होजायगी।

"स्व" (अपने) तन्त्र का अनुयायी वही "स्व" (आत्मा) "स्व" (स्वधर्म्मानुगत) कहलाएगा, एवं "पर" (दूसरे) तन्त्र का अनुगामी वही "स्व" (आत्मा) "पर" (परधर्म्मानुगत) कहलायगा। बस केवल इसी भेद को लक्ष्य में रखकर "शब्दोत्पत्ति में समर्थ आत्मा स्व" एवं "असमर्थ आत्मा पर" कहलाएगा, यह कहा गया है। शब्दोत्पत्ति दोनों अवस्थाओं में होगी। परन्तु "पर" तन्त्रावस्था में उत्पन्न आत्मशब्द परधर्म्म में रंग रहने के कारण "आत्मशब्द" नहीं कहलाएगा। अब यह विचार कीजिए कि वह "स्वतन्त्र-परतन्त्र" कौन हैं, जिन के कारण क्रमिक सम्बन्ध से वह स्व (आत्मा) "स्व" एवं "पर" भावों (आत्मा-अनात्मभावों) में परिणत होजाता है ?।

कोशानुसार पूर्व में "स्व" को आत्मा का वाचक बतलाया गया है। ज्ञाता आत्मा ही "स्व" है। इस ज्ञाता आत्मा का "पर"भाव होगा-"विषय", जो कि आत्मभावना से शून्य होगा। ज्ञाता-ज्ञेय दोनों में ज्ञाता यदि आत्मा का "स्वभाव" है, तो ज्ञेय "परभाव" माना जायगा। चूंकि ज्ञेय आत्मा का ज्ञेय विषय सर्वथा जड ही होता है। जडत्व-वन ही उसे "अनात्म्य" कहा जासकता है। इस दृष्टि से इस अनात्मभाव को हम "परभाव" कहेंगे। कोशकारों ने "पर" शब्द के जो "दूर-अनात्मा-उत्तम" ये तीन अर्थ माने हैं, उनमें से प्रकृत में अनात्मभाव ही अभिप्रेत है-(अमर ३। ३। ३। १६११)। इसी भाव को आगे कर "पर" शब्द शत्रु का भी वाचक माना गया है, एवं "स्व" शब्द बन्धु का वाचक माना गया है। निष्कर्ष यही हुआ कि आत्मा "स्व" है, अनात्मा "पर" है। आत्मा का उपकारक भाव "स्व" है, एवं आत्मा का विरोधी भाव "पर" है। आत्मा और आत्मा का श्रेयोभाव दोनों को "स्व" कहा जायगा। एवं अनात्मा तथा आत्मा का प्रेयोभाव दोनों को "पर" कहा जायगा।

अब "तन्त्र" शब्द के अर्थ पर दृष्टि डालिए। अपेक्षा भेद से "तन्त्र" शब्द सिद्धान्त-परिच्छेद (सीमा)-सूत्रवायु-कुटुम्बकृत्य-उत्तमौषधि-शास्त्रपत्र-वेदशाखा-इतिकर्त्तव्यता-प्रधान-आदि अनेक अर्थों का सूचक है। प्रकृत में तन्त्र शब्द से "प्रधान" ही अभिप्रेत है। प्रकृति को ही प्रधान कहा जाता है। प्रकृतिभाव के अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग भेद से दो विवर्त्त हैं। इनमें पाञ्चभौतिक विश्व बाहिरङ्गप्रकृति है, एवं

विश्वसञ्चालिका प्रकृति अ तरङ्गप्रकृति है । यही विश्व का **आदिकारण** मानी ग है । सी को **प्रधान** कहा जायगा । विश्वक्षेत्र का अधिष्ठाता प्रकृतिरूप यही प्रधानत त्र पुरुष के सहयोग से क्षेत्रज्ञ बना हुआ है । विज्ञानभाषा म यही **विज्ञानात्मा** नाम से एव दर्शनभाषा म यही **बुद्धि** नाम स प्रसिद्ध है । है जैसा कि गीताभा यादि मे पष्ट है ।

प्रधाना प्रकृति ही यज्ञरूप से वितत होकर विश्वविस्तार का कारण बनती है । दूसरे श दों में यही विश्व का वितान करती है अतएव **त यते अनेन सर्वम्** स निवचन के अनुसार प्रकृतिरूप स प्रधान को अवश्य ही **तन्त्र** कहा जासकता है । **स्व पर तन्त्र** न तीनो श का अर्थ क्रमश **आत्मा अनात्मा प्रधान**–रूप से गतार्थ हुआ है । यह अनात्मभाव वही बहिरङ्गप्रकृति है जिससे कि हम विश्व कह सकगे । आत्मरूप **स्व पुरुष** है आदिकरणरूप प्रधान **प्रकृति** है । एव कार्यरूप विश्व अनात्म्य परभाव बनता हुआ **विकृति** है । पहले आधिदविक विश्व में ही तीनो के दर्शन कीजए ।

स्वयम्भू परमेष्ठी सूर्य च पृथि या मक विश्व मे स्वय भू परमे ठी की समष्टि अमृतप्रधान **पुरुषसस्था** है चन्द्रमा पृथिवी दोनो की समष्टिरूप मृत्युप्रधान **विकृतिसस्था** है । म यस्थ अतएव अमृत मृ युमय सू य **प्रकृतिसस्था** है । पुरुषसस्था में अ **यया मा** का विकास है विकृतिसस्था में भौतिक **क्षर** का साम्रा य है एव प्रकृतिसस्था में **अक्षर** की प्रधानता है । अ यय **स्व** है क्षर **पर** है एव अक्षर **त त्र** है । अ ययपुरुष का (**स्व का**) त त्र यही अक्षर है । यदि यही तन्त्र(अक्ष)क्षररूप परभाव का अनुगामी बन जाता है तो यह **स्वतन्त्र** (अ ययतन्त्र) **परतन्त्र** (क्षरतन्त्र) बन जाता है । **अ यया मा का अक्षरतन्त्र के द्वारा क्षर म समाविष्ट रहना स्वतन्त्रता** है एव **अ यया मा का अक्षरत त्र को क्षर का अनुगामी बनाते हुए उसम आसक्त होजाना परतन्त्रता है** ।

उक्त आत्मविवत्त दिग्दर्शन से यह भी सिद्ध होगया कि सू य स्थानीय **प्रधान (अक्षर) स्वत त्र** है । क्योंकि स अक्षर का **तन्त्र (विस्तारभूमि)** अ यय ही है । **स्व (आ मा) है त त्र जिसका** ऐसा केवल **अक्षर** ही होसकता है । यदि यह अक्षर **स्व** को अपना **त त्र** न बना कर **पर** लक्षण **क्षर** को अपना त त्र बना लेता है तो **पर (क्षर) है त त्र जिसका** स निवचन से यही **परतन्त्र** बन जाता है ।

स्थिति अ शत दुर्बो या है । **स्वत त्र–परतन्त्र** श द **आ मा** के वाचक हैं ? अथवा **अनात्मा** के वाचक है ? अथवा प्रधान के सूचक है ? यह तथ्य वास्तव में दुर्बो य है अस्मदादि सामान्य जनो के लिए । अतएव इसका विशेषरूप से स्पष्टीकरण अपेक्षित होजाता है ।

आ मा——— स्व —है	अनात्मा — पर —है	प्रधानम्— त त्रम् —है ।
पुरुष ——— स्व —है	विकृति — पर —है	प्रकृति — तन्त्रम् —है ।
अ यय ——— स्व —है	क्षर —— पर —है	अक्षर[3] — त त्रम् —है ।
स्वय भू परमेष्ठी स्व —है	च द्रमा[2] पृथिवी पर —है	सूर्य — तन्त्रम् —है ।

उक्त तालिका से यह तो स्पष्ट है कि किसी भी रूप से यदि **स्व** का **त त्र** से किंवा **तन्त्र** का **स्व** से सम्ब ध है तब तो **स्वत त्र** श द का आविर्भाव है। और यदि **स्व** का **तन्त्र** के द्वारा **पर** से किंवा **पर** का **त त्र** के द्वारा **स्व** से स ब ध है तो **परत त्र** श द का आविर्भाव है।

इसी के साथ यह भी स्पष्ट होजाता है कि यदि **स्व** का साक्षात् रूप से **तन्त्र** के साथ सम्ब ध है तो इस दशा मे **स्वतन्त्र** श द भी **आ मा** का ही वाचक माना जायगा। एव यदि इसी **स्व** का साक्षात् रूप से **त त्र** से स ब ध न होकर **पर** के द्वारा **तन्त्र** से सम्ब ध है तो स दशा में **परतन्त्र** श द भी आ मा का ही वाचक माना जायगा। ऐसी दशा में **स्वतन्त्र-परतन्त्र** का अथ होगा— **आत्मा स्व तन्त्र - आ मा परतन्त्र** ।

यदि **तन्त्र** का साक्षाद्रूप से **स्व** से सम्ब ध है तो इस दशा में **स्वतन्त्र** श द भी **तन्त्र** का ही वाचक माना जायगा। यदि सी त त्र का साक्षाद्रूप से **स्व** के साथ स ब ध न होकर **पर** के द्वारा **स्व** से सम्ब ध है तो स दशा में **परतन्त्र** श द भी **तन्त्र** का ही वाचक माना जायगा। ए उस दशा में- **स्वत त्र-परतन्त्र** का अथ होगा— **त त्र स्वतन्त्र -त त्र परत त्र** ।

यदि **पर** का **त त्र** के द्वारा **स्व** के साथ अनुकूल [अनुयोगी] सम्ब ध है तो इस दशा में **स्वत त्र** श द भी **पर** का ही वाचक माना जायगा। यदि **पर** का **त त्र** के द्वारा स्व के साथ प्रतिकूल [प्रतियोगी] स ब ध है तो इस दशा में परतन्त्र शब्द भी पर का ही वाचक माना जायगा।

ता पर्य्य यह निकला कि **तन्त्रानुगामी** वही आ मा **स्वत त्र** है एव **परानुगामी** वही आ मा **परत त्र** है। **स्वानुगामी** वही **तन्त्र** **स्वत त्र** है एव **परानुगामी** वही **त त्र** **परत त्र** है। स्वानुगामी [अनुकूलभाव से] वही त त्र **स्वत त्र** है एव स्वानुगामी [प्रतिकूलभाव से] वही त त्र **परतन्त्र** है। आ मा भी स्वात त्र परत त्र कहला सकता है एव त त्र को भी स्वात त्र-परतन्त्र कहा जासकता है एव **पर** भी **स्वातन्त्र** **परत त्र** श दों से यवहृत होसकता है। इसप्रकार **स्व** लक्षण **पुरुष** तन्त्र लक्षण **प्रकृति** एव **पर** लक्षण **विकृति** तीनों सस्थाओं के साथ सम्ब धभेद से **स्वातन्त्र परतन्त्र** दोनों का ही सम वय किया जासकता है।

तीनों विवर्त्तों में से पहिले **आ मस्वात य पारतन्त्य** का ही विचार प्रस्तुत है। यदि यह स्व (**आ मा**) **स्व तन्त्र** का (अपने त त्ररूप **अक्षर** किंवा **प्रकृति** का) अनुगामी बनता हुआ **तन्त्र** के द्वारा (**प्रकृति** के द्वारा) **पर** भाव में (क्षर किंवा **विकृतिभाव** में) अनासक्तरूप से प्रविष्ट है तो इस दशा में (त त्रानुगत बन कर परभाव से युक्त रहने की दशा में) इस त त्रानुगामी **स्व** को **तन्त्रानुगत-य-स्व-(आ मा)** (**त त्र का अनुयायी** **स्व-आ मा**) इस निवचन के अनुसार **स्वत त्र** कहा जायगा। **त त्रानुगत स्व स्वत त्र** ही इस आ मवाचक **स्वतन्त्र** श द का निर्वचन होगा।

मान लीजिए- **स्व** (**आ मा**) त त्रानुगामी (अक्षरानुगामी) नही है। उसने **पर** (**क्षर**) के साथ योग तो त त्र के (अक्षर के) द्वारा ही किया है। पर तु **पर** की आसक्ति के कारण उसका **तन्त्र** (**अक्षर**) **पर**

की प्रतिच्छाया के युक्त होकर अपना तन्त्र भाव (अक्षरधर्म) खोबठा है। तन्त्ररूप अक्षर पररूप क्षर के नश्वरधर्म्मों से युक्त होता हुआ अपनी प्रातिस्विक अक्षरसम्पत्ति से वञ्चित होगया है। क्षररूप पर के नश्वरधर्मों के सम्बन्ध से पहिले तो अक्षररूप तन्त्र इस आत्मा का तन्त्र था। परन्तु आत्मा की विषयासक्ति से आज अक्षर इसका तन्त्र नहीं रहा अपितु अक्षर तन्त्र का आसन क्षरपर ने छीन लिया। और यों आज पर ही इसका तन्त्र बन गया।

पर की आसक्ति [क्षरात्मिका भूतासक्ति] ने यहीं विश्राम नहीं किया। अपितु जैसे परासक्तिने अक्षरतन्त्र को पर बना डाला वैसे ही तदबद्ध उस स्व को भी पररूप में [क्षररूप में] परिणत कर दिया। परिणाम यह हुआ कि जो पर अपने क्षरभाव से जिस स्व का तन्त्र नहीं बन सकता था वह तो उस स्व का का तन्त्र बन गया और स्वयं स्व अपने स्व-भाव से आवृत होकर पर बन गया। परने अक्षर से तन्त्रासन छीन कर अपने आपको तो तन्त्र बना लिया और अपना नश्वर परभाव आत्मा को देखकर [उसे स्व से वञ्चित कर] उसे पर बना डाला। स्व को पर बनाया-एक काम एवं तन्त्र को पर बनाते हुए तन्त्रता स्वयं छीन ली दूसरा काम। स्व बन गया पर एवं पर बन गया तन्त्र। तन्त्र पर बनता हुआ इस तन्त्राकाराकारित क्षर में विलीन होगया अथवा पर बने हुए आत्मा में विलीन होगया।

इसप्रकार तन्त्रानुगत रहता हुआ (अक्षरानुगत रहता हुआ) जो स्व किसी दिन स्वतन्त्र था आज वही इस अकारक-काल्पनिक तन्त्र की कृपा से पर बन कर बनावटी तन्त्र का अनुगामी बन कर परतन्त्र शब्दभाक् बन गया। तन्त्रानुगत -(तन्त्रप्रतिरूपक्षरानुगत) य -पर -(परधर्म्मानुगत स्व -आत्मा) (क्षररूप तन्त्र का अनुयायी अतएव पररूप में परिणत पर आत्मा) इस निर्वचन के अनुसार इसे परतन्त्र कहा गया। पूर्ववत् तन्त्रानुगत -पर -परतन्त्र इस आत्मवाचक परतन्त्र शब्द का निर्वचन होगा।

स्वतन्त्र परतन्त्र शब्दों के स्व (स्वरूप में प्रतिष्ठित आत्मा) एवं पर (पर रूप परिणत म परतन्त्र आत्मा) नामक अवयवों को यदि आत्मवाचक माना जायगा तो स्वतन्त्र परतन्त्र शब्दों के क्रमशः उक्त तन्त्रानुगत -स्व तन्त्रानुगत पर) ही निर्वचन होंगे। यहां आत्मा ही स्व-दशा में रहता हुआ अपना बन्धु कहलाएगा एवं आत्मा ही पराक्रान्त होकर अपना रिपु कहलाएगा जैसा कि आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः इत्यादि गीतासिद्धान्त से स्पष्ट है। सचमुच अनुकूल तन्त्रानुगत वही आत्मा हमारा मित्र बना रहता है एवं प्रतिकूल तन्त्रानुगत वही आत्मा हमारे लिए पर (शत्रु) बन जाता है।

एक दूसरी दृष्टि से भी आत्मवाचक इन दोनों शब्दों का निर्वचन किया जासकता है। आत्मा को विकसित करने वाला भाव आत्मबन्धु कहलाएगा एवं आवृत करने वाला भाव आत्मरिपु कहलाएगा। आत्मबन्धु को हम स्व का स्व (आत्मा का स्वजन किंवा मित्र) कहेंगे एवं आत्मरिपु को स्व का पर (आत्मा का परजन किंवा रिपु) कहेंगे। पर क्षर को अपने गर्भ में रखने वाला तन्त्राक्षर आत्मोदय का कारण बनता हुआ आत्मा का स्व कहलाएगा। एवं तन्त्राक्षर को अपने गर्भ में रखने वाला पर क्षर आत्मपतन का कारण बनता हुआ आत्मा का पर कहलाएगा। इसी दृष्टि से अक्षर-

त त्र आ मा का **स्वतन्त्र** (**अपना हितैषी त त्र**) कहलाएगा एव क्षरत त्र परत त्र (विरोधी त त्र) कहलाएगा । स्व तन्त्रानुगत (अक्षरानुगत) आ मा **स्व त त्रो यस्या मन स आत्मा स्वतन्त्र** — निवचन के अनुसार **स्वत त्र** कहलाएगा । एव पर त त्रानुगत (क्षरानुगत) आ मा **पर त त्रो यस्या मन स आत्मा** स निवचन के अनुसार **परत त्र** कहलाएगा ।

(9) १–त त्रानुगत (अक्षरानुगत)–स्व (आ मा) स्वत त्र -आ मा स्व

२ तन्त्रानुगत (क्षरानुगत) -स्व (आ मा) परत त्र आ मा पर

---

१ स्व (अक्षर) त त्रो यस्य म (आ मा)–स्वत त्र –अक्षर स्व

१ पर (क्षर) त त्रो यस्य स (आ मा) परत त्र –क्षर–पर

आ मपुरुषवाचक **स्वत त्र परत त्र** श दो का विचार उपरत हुआ । अब त त्रवाचक (अक्षर वाचक) श दो के निवचन का विचार कीजिए । वही **अपना (स्व)** कहलाएगा जिस से **स्वरूप–रक्षा** होगी । और उसे ही तो **पराया (पर)** कहा जायगा जो कि **स्वरूपहानि** करता होगा । म यस्थ त त्ररूप **अक्षर** स्वस्वरूप से अविनाशी है । उधर इस के उस ओर **अविनाशी अ यय है** । इस ओर **नाशवान् क्षर** है । यदि अक्षर दोनो की समविभूति से युक्त है तब तो कोइ आपत्ति ही नही है । हा यदि अक्षर क्षर–भाव में आसक्त होजाता है तो यह अपने त त्रभाव (अक्षरभाव) को छोडकर **परभाव में (क्षरभाव म)** परिणत होजाता है । ठीक इस के विपरीत यदि यह **अ ययभाव** का अनुगामी बन जाता है तो इस का त त्र सुरक्षित रह जाता है । अ यययोग में अक्षर का **स्व भाव** सरक्षित रहता है एव क्षरासक्ति में इस का **स्व भाव पर भाव** में परिणत होजाता है । **अक्षरत त्र** के उस ओर **अ ययतन्त्र है** एवं इस ओर **क्षरत त्र** है । स्वय अक्षर अ ययत त्रानुगामी बनता हुआ **स्वरूपधर्म्म** से युक्त बनकर **स्व** है एव क्षरत त्रानुगामी बनता हुआ **परधर्म्म** से युक्त बनकर **पर** है । आ मवत् अक्षर भी इस दृष्टि से **स्व–पर** दो रूप धारण कर सकता है । त त्रानुगत (अ ययानुगत) **स्व** (अक्षर) **स्वत त्र है** । एव तन्त्रानुगत (क्षरानुगत) **पर** (क्षररूप–अक्षर) **परत त्र** है । **त त्रानुगत (क्षरानुगत)–तन्त्र (अक्षर) स्व स्वत त्र — त त्रानुगत (क्षरानुगत) तन्त्र (क्षरा मकोऽक्षर) पर पर-तन्त्र** ही निवचन होंगे । पूववत् ये निवचन त त्ररूप अक्षर को ही **स्व पर** मानकर प्रतिष्ठित हैं ।

अक्षर का ब धु अ यय ही इस का **स्व** कहलाएगा एव क्षर ही इस का **पर** कहलाएगा । इस दृष्टि से अव्ययत त्र **स्व तन्त्र** माना जायगा एव क्षरत त्र **पर त त्र** कहा जायगा । और इस दृष्टि की अपेक्षा से दोनो श दो के निर्वचन होंगे **स्व (अ यय) त त्रो यस्य स अक्षर –स्वा त्र –पर [क्षर] तन्त्रो यस्य स अक्षर परत त्र** यह ।

(२) १—तन्त्रानुगत [अ ययानुगत] तन्त्र [अक्षर] -स्वतन्त्र —अक्षर स्व
२—त त्रानुगत [क्षरानुगत] तन्त्र [अक्षर]—परत त्र —अक्षर —पर

——*——

१—स्व [अव्यय] तन्त्रो यस्य स [अक्षर]—स्वतन्त्र —अव्यय —स्व
२—पर [क्षर] तन्त्रो यस्य स [अक्षर]—परतन्त्र —क्षर —पर

——*——

तीसरा **परभाव** है। इस का भी समन्वय क लीजिए। योगकौशल के अभाव से जहा **स्व पर** दखा गया है वहा **पर** को **स्व** बनता भी देखा गया है। वही नश्वर ससार किसी के लिए (आसक्ति के द्वारा) बन्धन का का ण बना हुआ है तो व ही नश्वर भौतिक पदार्थ किसी उपासक के लिए उपासना के साधन बनते हुए मुक्ति के कारण बन रहे हैं। यदि **पर** का (**क्षर** का) अक्षर के द्वारा अ ययतन्त्र के साथ योग है तो वही **पर** अक्षर (**स्व**) बनता हुआ **स्वतन्त्र** है। यदि इस का वकारकभावो की ओर अभि निवेश है तो अपने **पर** नाम को चरिताथ करता हुआ यही **परतन्त्र** भी बना हुआ है। इस दृष्टि स इन शब्दो का जो निर्वचन होगा उस में **स्व पर** क्षर के वाचक रहेंगे। अव्ययतन्त्रानुगत **पर** (**क्षर**) **स्वतन्त्र** कहलाएगा एव वकारिक प्रपञ्च सक्त क्षर **पर** (**परतन्त्र**) कहलाएगा यही तात्पर्य है। पूर्वोक्त दूसरी दृष्टि का भी यहा समन्वय कर लेना चाहिए जैसा कि निम्न लिखित निवचनो से स्पष्ट है।

(३)—१—तन्त्रानुगत [अ ययानुगत]—पर [क्षर] स्वत त्र —**क्षर** —स्व
२—तन्त्रानुगत [विकारानुगत] पर [क्षर] परतन्त्र —**क्षर** —पर

——O——

१—स्व [अ यय] त त्रो यस्य स [क्षर]—स्वत त्र —अव्यय —स्व
२—पर [विकार] त त्रो यस्य स [क्षर]—परतन्त्र — विकार पर

——O——

उक्त विवचन से यह सिद्ध हो जाता है कि **स्वतन्त्र परतन्त्र** दोनो शब्द **अनुगमभाव से ही** सम्बन्ध रखते हैं। किसी नियत वस्तुत व के लिए ये शब्द नियत नही हैं। **अपितु परिस्थिति क तारतम्य से सभी स्वतन्त्र है** एव सभी परतन्त्र हैं। स्वतन्त्र **आत्मा** भी परतन्त्र बन सकता ह एव परतन्त्र **पर** भी स्वत त्र बन सकता ह। **पुरुष हो प्रकृति हो** अथवा **विकृति** हो स्वस्वरूप से न इन्हे स्वत त्र कहा जासकता एव न परत त्र माना जासकता। पुरुष प्रकृति के सहयोग से यदि स्वत त्र हे तो विकृति के सहयोग से वही परत त्र भी बन सकता है। प्रकृति पुरुष की अनुगामिनी बनती हुइ यदि स्वतन्त्र है तो विकृतिपथ का अनु सरण करती हुइ वही परतन्त्र भी बन सकती है। एवमेव विकृति प्रकृति किंवा पुरुषकी अनुगामिनी बनती हुइ यदि स्वतन्त्र होसकती है तो विकारप्रपञ्च में आसक्त होकर वही परतन्त्र भी बन सकती है। इसी मौलिक परिभाषा के आधार पर हमें **आ यात्मिक जगत् की स्वतन्त्रता परतन्त्रता** का अन्वेषण करना पडगा एव तदाधार को मूल मानकर ही **स्त्रीस्वातन्त्र्य** की मीमासा का समन्वय करना पडेगा।

आधिदविक विश्व मे **स्वयम्भू परमेष्ठी सू य –च द्र–प्रथिवी रूप से पुरुष (आ मा) प्रकृति (प्राण)–विकृति (पशु)** समष्टया मक प्रजापति **विवत्त** का दिग्दशन कराया गया। अब आ यामिक विश्व की इन तीनो सस्थाओ का विचार कीजए। आ मध मो के सू मभावो की ओर जाने की आवश्यकता नही है। केवल उन चार स्थूल भावो का ही विचार प र्या त होगा जिह कि प्राय सवसाधारण जानते है। **आ मा बुद्धि मन शरीर** चारो जाने पहिचाने हुए पदाथ हैं। आ मा को थोडी देर के लिए स्वय भू के अ शरूप अ यक्त ए परमे ठी के अ शरूप महान् से उपलक्षित **पुरुष** समझ लीजिए। सूर्या शरूप बुद्धि को **प्रकृति** च द्राशरूप **मन** एव पृथि याशरूप **शरीर** दोनो की समष्टि को **विकृति** कह दीजिए। **पुरुष अ यय** हुआ **प्रकृति अक्षर हुई एव विकृति क्षर हुई**। अक्षरा मका बुद्धि के उस ओ अ या मक अमृत आ मा है इस ओर क्षरा मक म य मन एव शरीर है। नि नलिखित परिलेख से दोनो सस्थाओ का समतुलन स्पष्ट होजाता है।

१ स्वय भू १ २–परमे ठी	अ यक्त महान्	—आ मा (पुरुष – अ यय –स्व	
२ १–सूर्य	बुद्धि	—प्राणा (प्रकृति अक्षर –त त्र)	—प्रजापति
१–च द्रमा ३ २ पृ ा वी	मन शरीरम्	—पशव (विकृति क्षर —पर)	
अधिदैवतम	अ या मम्		

आधि विक यज्ञ से ही आ यामिक यज्ञ का आविर्भाव हुआ है। आधिदैविक यज्ञ में यजमान कौन ? यजमानप नी कोन ? पहिले यही देखिए। **आ मा सूर्य्यरूपप्रकृति च द्रपृथिवीरूपा विकृति** इन तीनों में आ मा तो **यज्ञवेद** किवा **यज्ञधरातल** है जसा कि **एतदालम्बन श्र ठम् – अधियज्ञोऽहमेवात्र** इ यादि श्रौत–स्मात्त वचनो से स्पष्ट है। **सूर्य इस यज्ञ का यजमान है प्रथिवीयुक्त च द्रमा यजमान की प नी** है। दोनो का मिथुनभाव ही यज्ञ है और यही यज्ञ प्रजो पत्ति का कारण है।

सूर्य्य अग्निमय है एव **च द्रमा सोममय है**। सौर अग्नि का प्रवर्ग्यभाग **ऋत अग्नि है** एव चा द्र सोम का प्रव यभाग **ऋतसोम** है। ऋतसोम का अपना स्थान **उत्तरादिक है** एव ऋताग्नि का अपना स्थान **दक्षिणादिक** है। उत्तरस्थ ऋतसोम निर तर दक्षिण की ओर एव दक्षिणस्थ **ऋताग्नि** निर तर उत्तर

की ओर जाया करता है। ऋता न में ऋतसोम की आहुति होने स ही बस ताादि षडऋतुएँ उ पन्न होती ह। षडऋतुसमष्टि से ही म व मरयज्ञ का स्वरूप नि पन्न हाता है। एव यही अग्नीषामा मक षडऋतुमूर्त्ति सम्व सरयज्ञ पार्थिव प्रजो पत्ति का कार ण बनता है।

यद्यपि पार्थिव प्रजा में सम्व सरमूर्त्ति यज्ञप्रजापति के **अग्नि साम** नामक दोनो भावो का सम वय है। पर तु **वृषासृष्टि (पुरुषसृष्टि)** में सू र्योपलक्षित सम्व सरयज्ञ का अ नित त्र प्रधान रह्ता है एव **योषासृष्टि** (स्त्रीसृष्टि) में च द्रोपलक्षित स व सरयज्ञ का सोमत व प्रधान रहता है। पुरुषसृष्टि वृषा है एव स्त्रीसृष्टि योषा है। **पुरुषनिर्म्माण मे अ नि एव स्त्रीनिर्म्माण मे सोम प्रधान है।** अग्नि–सोम के इन तारतम्यो का पूव–प्रकरणो में यत्र तत्र निश्लेषण किया जाचुका है। अत यहा पुनरुक्ति अनपेक्षित है।

यहा केवल यही जान लेना अल हो । क **अग्नि अन्नाद है भोक्ता है।** एव **सोम अन्न है भोग्य है।** कैसा भो य? **पशुरूप भोग्य नहीं अपितु मित्ररूप भोग्य। यदि अग्नि सोम का भाक्ता है तो सोम अग्नि को आ मप्रतिष्ठा है। सोमसम्ब ध के बिना न अ नि जीवित रह सकता न अग्नि को आधार बनाए बिना सोम अपने स्वरूप को स यभाव म परिणत कर सकता ।** दोना के इसी **सत्यभाव** को लक्ष्य में रखकर एक स्थान पर श्रुति ने कहा है—

अग्निर्जागार तमृच कामय ते अग्निर्जागार तमु सामानि य ति ।
अग्निर्जागार तमय सोम आह तवाहमस्मि सख्य न्योका ॥

—ऋक्स ५।४४।१५)।

अग्नि **बलवान्** अवश्य है। परन्तु इस की बलवत्ता सोम के सहयोग पर ही निभर है। हृदयभाव से बल का विकास होता है। दूसरे शब्दो में बल की विकासभूमि हृदय ही है। **हृदयस्थ उक्थबल स य है** इस स य उक्थ से निकलने वाली स यरश्मिया ही बल है। एक ही स य की सत्य–बल ये दो अवस्था ह। **स य के आधार पर प्रयोग बल का ही होता है।** स य स्वय काम नही करता आल बनमात्र बना रहता है। स यरश्मिरूप बल ही बहिर्जगत् की ओर विकसित होता है। इसी आधार पर– **बल स यादोजीय – बल वाव विज्ञानाद् भूय** इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हैं।

अग्नि बलवान् है। क्योकि पुरुष में **स य अग्नितत्त्व** की प्रधानता है अतएव इसे हम **बलवान्** कहेगे। उधर सोम अबल ।कवा निबल है। कारण स्पष्ट है। सोम ऋतत व है हृदयशून्य है। हृदयशून्य होन से ही तो इसे **ऋत** कहा जाता है। जब हृदय नही तो स यभाव नही। स य नही तो तद्विकासरूप बल नही। क्योकि स्त्री में इस ऋत सोमत व की ही प्रधानता है अतएव इसे **अबला** कहा जायगा।

पुरुष बलवान एव स्त्री अबला। पुरुष स यभावोपत एव स्त्री अनृतभावोपेता (अर्थात् ऋतसोमभावोपेता)। पुरुष आ नेय एव स्त्री सोम्या। पुरुष भोक्ता एव स्त्री भो य। पुरुष प्रतिष्ठा एव स्त्री तदाधारेण प्रतिष्ठिता। पुरुष आलम्बन एव स्त्री आलम्बिता। पुरुष स्वच्छ दरक एव स्त्री परच्छ दानुवर्त्तिनी (पुरुषच्छ दानुवर्त्तिनी)। अग्निरूप अग्नि से युक्त पुरुष अग्रे सर एव सोम–युक्ता स्त्री तत्पश्चाद्गामिनी। यह तो हुई ऐसी दृष्टिया जिन से पुरुप की प्रधानता सिद्ध हो रही है एव स्त्री की गौणता।

अब उस दृष्टि से विचार कीजिए जिस से स्वस्वरूप से **अबला** होते हुए भी स्त्रीवर्गने **उपास्यदेवता** की महती प्रतिष्ठा प्राप्त करली है । **अग्नि बलवान्** है स में तो कोई भी सन्देह नही। **साम अबल** है यह भी निर्विवाद है । अग्नि सत्य है सोम ऋत है यह भी मान लिया गया । परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर हमें विदित होगा कि जिस सोम को हम **अबल** कहते है वह अन्त –अग्राह्य बलघन ही है । एवं जिस अग्नि को हम बलवान् कहते हैं वह **निबल** ही है । अन्तवलवत्ता ही वास्तविक बलवत्ता है और यही सौम्या स्त्री का स्वरूप है । बहिर्वलवत्ता ही अग्निबल है जो कि तत्वत **अबल** ही है । ऐसी स्थिति में निबल को (पुरुष को) बलवान कहना बलवान् को स्त्री को) अबला कहना एक वैसा ही आश्चर्य है जसे कि सामान्य मनुष्यों का स्त्री को पुरुष कहना एवं पुरुष को स्त्री कहना ।

बल की परिभाषा है—सकोच एवं निबल की परिभाषा है—विकास । एक स्थान पर प्रतिष्ठित न रहकर इधर उधर विस्रस्त होपडना ही तो विकास है और इस अस्थिरभाव को ही तो **निबल** कहा जाता है । एक स्थान पर प्रतिष्ठित रहना ही सकोच है। **यही सकोच बल की साक्षात प्रतिमा है** । इसलिए ही निबल मनुष्य हाथ **फला** देता है उधर बलवान् मनुष्य सदा **बद्धमुष्टि** ही बना रहता है । ढीली धोती ढीली कमर हाथ खुले हुए ये सब धर्म्म निबलता के ही द्योतक है । वीर बलवान् योद्धाओं की कमर कसी रहती है । मुट्ठी बाध कर व प्रहार के लिए ही सन्नद्ध रहते हैं । शरीरपर्व यदि सकुञ्चित है दृढावयव हैं तो शरीर सबल है । एवं श्लथ शरीर निबल है । सयत वाणी सबला है एवं स्खलित वाणी निबला है । इन्ही कुछ एक निदर्शनो से यह माना जासकता है कि **संकोच बल की परिभाषा** है एवं **विकास निबल की परिभाषा है** ।

अग्नि विकासधर्म्मा है तो सोम ससोचधर्म्मा है । और इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि **अग्नि निबल है एवं सोम बलघन है** । अब बतलाइए ! **अग्नि–प्रधान पुरुष एवं सोमप्रधाना स्त्री** दोनो मे किसका स्थान ऊचा रहा ?। यदि ऐसा है तो स्त्री का **अबला** क्यों कहा गया ? प्रश्न का उत्तर **असत्** शब्द है । प्राण **सत्** है परन्तु **सामान्य सामान्याभाव** स परिभाषा के अनुसार प्राण में क्योंकि **प्राण** नही रहता अतएव **सदघन भी प्राण** को असत् कह दिया जाता है—(देखिए शत ६।१।१।१।) ।

सोम बलघन है । बल स्वय बलवान कैसे हो सकता है ? । **जिसमे बल रहता है वही तो बलवान् होता हैं** । इसीलिए बलघन सोम को **अबला** कहा गया है । **बलघनात्मक इस अबल सोम को लेकर ही विकासधर्म्मा अग्नि बलवान बनने में समर्थ हुआ है** । जिस दिन बलाभिमानी अग्नि से बलात्मक सोम का आत्यन्तिक निष्काशन होजाता है साथ ही सोमात्मन अवरुद्ध होजाता है उसी क्षण अग्नि अपने शिवभाव को छोडता हुआ विशुद्ध रूद्ररूप में परिणत होकर उत्क्रान्त ही होजाता है ।

पाठक प्रश्न करेंगे कि प्रश्न था **स्त्रीस्वातन्त्र्य का** और यह **शिव रुद्र** भाव बीच में ही कहाँ से समाविष्ट होपड़ा ?। उत्तर में उनके सम्मुख **शिव–शक्ति का** तात्विक स्वरूप ही रखना पडेगा । **अग्निर्वा रुद्र** [शत ५।३।१ ।] के अनुसार **अग्नितत्त्व** को ही **रुद्र** माना गया है । साथ हो यह भी विज्ञानसिद्ध विषय है कि विश्वसहार के एकमात्र अधिष्ठाता **रुद्रदेवता** ही हैं । ये रुद्र जबतक **शक्ति** के साथ समागम

नही करते तबतक रोते ही रहत हैं। इसी आधार पर ब्राह्मणग्रन्थो में रु शब्द का सोऽरोदीत तदरु- द्रस्य रुद्रत्त्वम् (वह रोया यही रुद्र का रुद्रत्व ह अथात् रोने स ही उसका नाम रुद्र हुआ है)— (देखिए शत ६।१।३।११।) यह निवचन हुआ है।

रुद्र रोया क्यो? इसका बडा ही सुन्दर उत्तर देते हुए श्रुतिने कहा है कि रुद्र अग्निमूर्त्ति था। अग्नि स्वभाव से ही अन्नाद (अन्न खाने वाला) होता है। जबतक इसे अन्न मिलता रहता है तबतक तो इसका स्वरूप सुरक्षित रहता है। परन्तु अन्नावरोध पर स्वरूपनाश की आशङ्का से वह रोने लगता है। माता के गर्भ में ९ मास पर्य्यन्त प्रतिष्ठित रहने वाला चित्यानिपिण्डरूप शिशु नही रोता। क्योकि उस अवस्था में उसे मातृनाल के द्वारा अन्नरस मिलता रहता है। परन्तु नियत अवधि के अनन्तर एवयामरुत् के धक्के स गर्भाशय स बाहिर निकल कर भूमिष्ठ होते ही बालक रोने लगता है। स पूर्ण इन्द्रियदेवता काप उठते हैं। वे अपनी चेष्टारूपा कृति से माता आदि को अन्नाहुति के लिए बाध्य करते है। शिशुमुख में गुड मधु आदि के रस का सिञ्चन होता है। तत्काल रुद्रदेवता शान्त होजाते है। (देखिए शत ६। ।१ १)।

यही अवस्था आधिदैविक रुद्र की समझिए। आधिदैविक रुद्र स्वय तो रोए ही परन्तु इन अश्रुओं से उन्होंने एक ऐसी भयानक वस्तु उत्पन्न करदी जिसके कुचक्र में पड जाने से बड बड धीर पुरुष भी रो पडते हैं रोते रहते है मारे मारे फिरते है शान्ति नही मिलती। वह वस्तु है— रजत —(चाँदी रुपय्या- पैसा)। वैदिक विज्ञान सिद्धान्तानुसार रुद्राग्नि की द्रुत अवस्था से ही चादी उत्पन्न हुई है। चादी रुद्र- देवता के साक्षात् अश्रु है। इसीलिए बर्हि में रजतदक्षिणा देने का निषेध हुआ है। रुद्राश्रु रूप रजत- लक्षण इन धातुखण्डोंने किसे नही रुलाया? यह स्पष्ट है। हा तो यह सिद्ध होगया कि रुद्रदेवता साक्षात् अग्नि है। एव इनके इस रोदन को दूर करने का एकमात्र उपाय है-इह सामाहुति प्रदान करना। इस सौम्या शान्ततमा सोमाहुति से रुद्र का घोरभाव विलीन होजाता है तत्स्थाने च शिवातनू का उदय होजाता । सोमसहकार से रुद्र अपनी रुद्रता छोडते हुए शिवस्वरूप म परिणत होजाते है।*

मान लीजिए रुद्र को सोमाहुति न मिले तो क्या परिणाम होगा?। परिणाम होगा यही कि रोते रोते रुद्राग्नि अपना स्वरूप तो खो बैठेंगे और बन जायगे विशुद्ध सोम। अग्नि की उत्क्रान्ति चरम सीमा पर पहुच कर सोमरूप में ही परिणत होजाती है। अग्नि का प्रधान स्थान केन्द्र है। केन्द्र स चारों ओर अग्नि विशकलित होता रहता है। जबतक सोमाहुति होती रहती है तबतक तो यह विशकलनधर्म्म अग्नि के मूल- रूप पर कोई आघात नही कर पाते। परन्तु आहुति बन्द होजाने से विशकलन की चरमावस्था म पहु- चते ही प्रतिष्ठा उखड जायगी। फैलते फैलते फैलाव की चरम सीमा पर पहुचते ही अग्नि का अग्नि व नष्ट होजायगा स्वभाव विलीन होजायगा और रह जायगा ऋतरूप सोमभाव। पानी सोम की ही तो अवस्थान्तर है। और अग्नि ही तो विकास की चरमसीमा पर पहुँच कर सोम बनता है— अग्नेराप ।

यदि कोई मनुष्य रोता रहेगा तो रोते रोते उसका सम्पूर्ण शारीराग्नि पानी बनकर बह जायगा। इधर जब अग्नि नि शेष होजायगा तो शरीर भी ठढा होजायगा। इसी दृष्टि से यह कहा जाता है कि अग्नि अन्ना

* शतपथ प्रथमखण्ड में इस रुद्र विभूति का विशद विवेचन किया जाचुका है।

तृति के अवरोध से स्वय अन्न [सोम] बन जाता है। दूसरी दृष्टि से विए। कोइ मनु य भूखा है। यदि अन्नागमन बन्द होजायगा तो जो शारीराग्न अबतक अन्नाद था वही अन्न बन जायगा। प्राणाग्नि उत्क्रा त होजायगा। शिव शवान्न बन जायगा और यह अन्न उस श्मशानाग्नि [क्र यादाग्नि] की तृ ति का कारण बने ॥। त त्त अ नि की अ तिम अवस्था [सोम न मिलने पर] सोम ही होजाती है यह निश्चित है। बलघन साम को गभ में लेता हुआ बलशू य जो अ नि बलवान् बनता है भोक्ता बनता है वही बलघन सोम के अवरोध से स्वय बलघन बनता हुआ दूसरे बलवानो का अन्न बन जाता है भोक्ता भोग्य बन जाता है शासक शासित बन जाता है।

उपर्यु क्त रु ा नि विवचन का नि क्ष यही निकला कि **अग्नि की बलवत्ता सोमसम्ब ध पर ही निभर है**। साम बलत व है बलघन है। से लेकर ही अग्निमूर्त्ति रुद्र **साम्बसदाशि ।** बने हुए है। क्योकि पुरुष में अग्नित व का प्राधान्य है अतए व पुरुषमात्र को हम **शि ा** कह सकते है। उ र स्त्री में शक्तिघन सोमम व प्रधान है अतएव स्त्रीमात्र को हम **शक्ति** कह सकते है। **शि । शक्ति** के इन या- पक अवतारो को लक्ष्य में रखकर ही हमने **रुद्र-शि । भावों** को अत्र प्रासङ्गिक माना है।

बाह्यदृष्टि को छोडकर पहिले अ तदृ ष्टि से ही शि ।शक्ति का सम वय कीजिए। पु ष शिव क्यो है ? इसका उत्तर ह— **सोम** । पुरुष आग्नेय अवश्य है पर तु इसकी प्रति ठा सोम ही ह। भुक्तान्न की स तम अवस्थारूप **शुक्र** [रेत वीर्य धातु] साक्षात् सोम है। और सवासद्धा तानुसार यह **सौम्यशुक्र** ही पुरुष का **अ तरा मा** है। पुरुष का भौतिक दृश्य शरीर आग्नेय है एव अ तजगत्रूप शुक्र सौम्य है। शुक्रक्षय ही पुरुषनाश का कारण है एव शुक्ररक्षा ही स्थिति का का ण है। इसी आधार पर श्रु ति का— **ब्रह्मचर्य्येण तपसा दे ा मृत्युमपाघ्नत** यह सिद्धा त प्रति ठित ह। इस बलघन सोम्य शुक्र से ही पुरुष बलवान् बना रहता ह।

हा एक रहस्य ओर। शुक्र सोम है सोम बलघन बनता हुआ पूवपरिभाषानुसार स्वय बलप्रयोग में असमथ है। अतएव इस बलघन को अबल किंवा निर्बल कहा जाता है। पुरुषजाति का यह दुर्भाग्य है कि यही अबलसोम (शुक्र) पूर्वकथनानुसार पुरुष का अ तरा मा है। यही कारण है कि पुरुष का बाह्यजगत् (आ नेय शरीर) जहाँ आक्रमण का अनुयायी रहता है वहा इसका अ तजगत् उतना ही शिथिल रहता है। **शरीर बलवान् (आग्नेय) आ मा निबल (साम्य** यही ता पर्य है। शुक्र स्वय निर्बल इसी का रूपा तर मन इसी से सक प का उदय। फलत पुरुष यदि विशेष साधनों के द्वारा शक्ति की उपासना नहीं करता है तो अधिकाश में इसके सक प ।म या ही हो ।ते है।

जब रहस्यमे ही होने लगा तो एक र स्य शेष क्यों छोडा जाय। सम्भव है पुरुष पुरुष के सामुख्य में अपने सक प में सफल होसके। पर तु सौम्या मा पुरुष को इस आ नेयी शक्ति (स्त्री) के साम्मुख्य में तो और भी अधिक दय शा का ही अनुभव करना पडता है। स्त्री सो या है सक प भी शुक्रानुब धी मन से सम्ब ध रखता हुआ सौम्य हैं। **नीम और गिलोय चढी** चरितार्थ होजाता है। बात है सर्वथा स्पष्ट सर्वानुभूत फिर विशेष निस्फोटन क्यो किया जाय ?।

उक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि पुरुष का पाञ्चभौतिक शरीरपि ड तो आ नेय है एव शरीरपिण्ड की प्रतिष्ठारूप शुक्र सौम्य है। अ न क्योकि वृषा होने स पुरुष है एव सोम योषा होने स स्त्री है इसी आधार पर हम कह सकते हे कि **स्त्री ही पुरुष की प्रतिष्ठा** है। साथ ी य भ क लीजए कि जिन्हे हम पुरुष क ते है व आग्नेय शरीर की अपेक्षा पुरुष होते हुए भी वस्तुत अ त प्रात ठारूप शुक्रसोम की द ष्ट से **आ य तर द ष्ट से** स्त्रिया ही है। * **स्त्रिय सतीस्ता उ म पु स आहु** (ऋक्स १।१६४ १५।) यह श्रुति इसी दृष्टि का स्पष्टीकरण कर रही है। आ त का ता पर्य यही है कि ससार में जितने भी पुरुष है व अग्निप्रधान बाह्यशरीर की अपेक्षा से भले ही पुरुष कहलाते हो। परन्तु शुक्रप्रधाना आ मदृष्टि से तो उन्हे **स्त्री** ही कहना चाहिए। **आ मा शरीर** दोनो मे आ मा प्रधान माना जाता है। एव जिस सस्था में जो प्रधान नेता है **तद्वाद याय** से वह सस्था उसी के नाम से यवहृत होती है। जब कि प्रधानभूता आ मदृष्ट्या पुरुषसस्था सौ या है तो से पुरुष न कह कर स्त्री ही कहा जायगा। परन्तु आश्च य है कि अज्ञ मनुष्य **इन स्त्रिया को पुरुष कह रहे है। पुरुष वास्तव मे स्त्री है स्त्री होते हु इन्हे पुरुष कहा जाता है** इस रहस्य को आप्त वाला ही जान सकता है अ था नही— पश्यदक्षण्वा नविचतद ध ।

लीजिए अब आज से आप भी अपने आप को स्त्री समझना आर भ कर दीजए और स्त्रियो को पुरुष जसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। सचमुच श्रुति का उक्त सिद्धा त पुरुषजाति को क्षु ध कर रहा होगा। अवश्य ही इस क्षोभशाति के लिए किसी अ य उपाय का आश्रय लेना पडगा। निराश होने की कोइ बात नही है। एक पुरुष के नाते इस सम्ब ध में आप से अधिक हमें चि ता है। दो उपाय ऐसे है जिन से पुरुषसस्था का अग्नित व प्रधान माना जासकता है एव सोमत व गौण माना जासकता है।

पुरुषो का शरीर आ नेय है यह माना। पर तु इस की प्रति ठा है पानी। **अद्भ्य पृथिवी** इस तत्तिरीय–सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी स्थानीय शरीरपिण्ड का उपादान अपत व ही है। **ऋते भूमिरिय श्रिता** वचन भी यही सिद्ध कर रहा है। इसी दृष्टि से हम कह सकते है कि आ नेय शरीर की प्रतिष्ठा अप त वरूप सोम है। इस दृष्टि का ता पर्य यही है कि शरीरपिण्ड में **प्राण भूत** ये दो विभाग ह। दृश्य भाग तो भूत है एव भूतप्रति ठारूप अदृश्य त व प्राण है। इस आग्नेय भूतभाग की प्रति ठा आ य–(सौम्य) प्राण ही है।

जिस दिन शरीर से यह प्रतिष्ठा लक्षण आ यप्राण नि क्रा त होजाता है शरीर न ट होजाता है। प्राणा मक इसी आ य सोम को **पवित्र ब्रह्मणस्पति अम्भ** आदि नामो से यवहृत किया गया है। **दभ गङ्गा सुवर्ण मृगचर्म्म** आदि की पवित्रता इसी **अम्भ** पर अवलम्बित है। अ भ से ही **गाङ्गेय [गङ्गाजल]** म अशुचिभावनिवर्त्तिका पावनशक्ति यक्त हुइ है। इसी अम्भ के अनुग्रह से दभ (कुशा) के ससग से

---

* **आत्मभावना रश्मिभावना शुक्रभावना** भेद से इस मन्त्र के तीन अथ होते है। इन तीनो की विशद यारया ईशभा य में देखनी चाहिए। (इ उ वि द्वि ए ७८ से १ ८ पय त)।

राद्वप्राणजनित दोषभाव पदार्थों में सक्रान्त नही होपाता। इसी अम्भ के समावश से सुवर्णस्पृष्ट जल×रजस्वला स्त्री के स्पश दोष को हटाने में समथ होता है।

जबतक यह अ भ पानी भूतशरीर की प्रति ठा बना रहता है तबतक शरीर में दूषित कीटाणुओं का समावश नही होने पाता। जिस दिन यह निकल जाता है शरीर सडने लगता है। तप्ततनु में ही इस अ भ की सत्ता हती है। अत ततनु (अग्नित पशून्य शवशरीर मुर्दे) म यह नही रहता। पवित्र अम्भोरूप ब्रह्मण पति के इसी स्वरूपव र्म को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

*** पवित्र ते वितत ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वत ।**
अतप्ततनून तदामो समश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत समाशत ॥
—ऋक्स ९।८३।१।

हा तो तात्पर्य कहने का यही हुआ कि आग्नेय भौतिक शरीरपिण्ड की प्रतिष्ठा **पवित्र** नामक यह आप्यप्राण है। जीवनदशा में भी **असदाचरण मिथ्याभाषण अगम्यागमन अभक्ष्याभक्ष्य अ प्र-श्यास्पृश्य** आदि धम्मविरोधी कर्मों से इस पवित्र आप्यप्राण पर आघात होता है। उसी पतनदशा को लक्ष्य में रखकर लोकभाषा में- **अर ! इस का तो पानी उतर गया** यह किवदन्ती प्रचलित है। सिद्ध है कि पानी भी भूतशरीर की प्रतिष्ठा है।

दूसरा है— **साम्यशुक्र** । शुक्र में भी **भूत प्राण** ये दो विभाग हैं। शुक्र का भूतभाग तो अवश्य ही सौम्य है परन्तु इसका प्रतिष्ठारूप प्राण आग्नेय है। यह एक सामान्य **अनुगम है** कि बाह्य धरातल यदि आग्नेय है तो अन्तर्भाव सौम्य है। यदि बाह्य धरातल सौम्य है तो अन्तर्भाग आग्नेय है। उदाहरण के लिए एक ज्वरात्त रोगी को हो लीजिए। ज्वर का तात्पर्य केवल यही है कि भीतर की गर्म्मी बाह्य शरीर मे फैल

× राजस्थान में यह विज्ञानविधि आजतक प्रचलित है। यदि कोई बालक रजस्वला स्त्री से स्पश कर लेता है तो सुवर्ण से जल का स्पश करा कर उस जल के छींटे दिये जाते हैं। प्रान्तीय भाषा में इन्ह ही— **सोनामानी का छींटा (सुवर्ण स्पृष्ट जल के छींटे) कहा जाता है।**

* सनातनधर्म्मियों के विशेषत रामानुजम प्र त्यभक्तों के हृदयो को कष्ट पहुचाने का हमारा यत् किञ्चित् भी अभिप्राय नही है। परन्तु कहना पड़ता है कि सम्प्रदायावश में पड़कर हमने वेदमन्त्रा के साथ घोर अत्याचार ही किया है। उक्त मन्त्र से तप्त शङ्ख चक्र लगाने की अवैज्ञानिक अवैदिक पद्धति प्रचलित है। अर्थ यह किया जाता है कि जबतक शरीर को तप्त शङ्ख चक्र से दाग नही दिया जाता तबतक शरीर अतप्त रहता है। एव ऐसा अतप्ततनु कभी उत्तम गति नही प्राप्त कर सकता। क्या ही अच्छा हो यदि कोई स जन इस सम्बन्ध में श्रौतप्रमाण के आधार पर साथ ही तदनुगता समन्वयात्मिका विज्ञानदृष्टि से यह प्रमाणित करने का अनुग्रह करे कि शरीर के दाग देने से आत्मा उत्तमगति प्राप्त कर लेता है। हाँ **अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा** यह दूसरी बात है। एव **यदेव विद्यया श्रद्धया उपनिषदा करोति तदेव वीर्य्यवत्तर भवति** यह दूसरा तथ्य है।

जाती है एव शरीर का आ य भाग हृत्स्थान में प्रतिष्ठित होजाता है। इसी से हृत्कम्प [हृदय का धूजना] होने लगता है सर्दी लगने लगती है। यही ज्वर की पूर्वावस्था है। बाहिर गरम हो भीतर ठ ढा हो इसी का नाम वर है। मूलाग्नि का आ यन्तिक उच्छेद नही होता। केवल अभिभव है। इसी अभिभव से अग्नि म द होजाता है। तत्सन्निहित जाठराग्नि [अन्नपरिपाक करने वाला] भी मन्द होजाता है। ऐसी दशा में [ज्वर दशा में] यदि अन्नाहुति दी जायगी तो म द अग्नि उसका परिपाक न कर सकेगा। फलत वह अतप्त अन्न अग्निमात्रा को ओर भी अधिक निबल कर देगा। ज्वर का वेग अधिक बढ जायगा। ठीक इसके विपरीत यदि ज्वरावस्था मे अन्नाहुति का सवथा अवरोध कर दिया जायगा तो हृद्य मूलाग्नि की स्वाभाविक उत्त जना से जाठराग्नि क्रमश प्रवृद्ध होजायगा। काला तर में वह प्रवृद्ध अग्नि उस वरुणरूप शीतसोम को भी बाहिर फैंक देगा। वर शा त होजायगा। इसी आधार पर आयुर्वेदने उपवास [लघन] को ही ज्वर की सवश्रेष्ठा चिकित्सा मानी है। बिना भूख अ धक खाजाने से जाठराग्नि उसका परिपाक नही कर सकता। फलत सोम का वग बढ जाता है वर होजाता है। इसप्रकार अजीर्ण ही वर का उत्त जक बनता है। ज्वर शान्त होने का चिह्न है **स्वेद्** । पसाना निकला कि वर शा त हुआ। जो पानी हृदय में चला गया था आज वह शरीर पर आगया शरीर की ग र्मी हृदय में चली गइ। शरीरताप मिट गया। इस निदशन स सिद्ध है कि बाहिर यदि गर्म्मी है तो भीतर सर्दी। बाहिर यदि सर्दी है तो भीतर गर्म्मी।

प्रकृतिमण्डल में जब शीत र ता है तो हमारा शरीर अग्निमय बना रहता है। सर्दी के दिनों में मुख से बा प निकला करते है। वहा जब गर्मा रहती है तो यहा सर्दी का साम्रा य रहता है। गर्म्मी के दिनो में शरीर पसीनो से तर रहता है। दखिए न। जो ऊपर स बडा सौ य [ठ ढ स्व भाव का] दिखलाइ पडता है उसका अ तजगत् अ य त ही कठोर[आग्नेय] रहता है। एव जो प्र यक्ष में क्रोधी है वह भीतर से खोखला रहता है। रुद्रभगवान् बाहिर से महाभयानक है परन्तु भीतर से सर्वथा **भालेबाबा**। थोड से अनुनय विनय पर वरप्रदान कर दना इनका सहज स्वभाव है। उधर वि णु भगवान् बाहिर से **महाशा त सौम्य**। पर तु भीतर से महाकठोर। किसी का क्या सामथ्य कि घोर परीक्षा के बिना इनसे को वरदान लेसके। विश्वास कीजिए! जो मनुष्य बातो में बडा मीठा है दखने में भोला भाला है वह भयानक है। एव जो प्र यक्ष में स्पष्टवादी है दखने में क्रूर है जिस के श द कटु लगते हैं उसका अ तजगत् निम्मल है। **यही खरे खोटेकी अ यर्थ निकषा (कसौटी) है।**

इस प्राकृतिक कसौटी के आधार पर ही हमें मानना पडेगा कि यदि शुक्र का बाह्य भूतभाग सौम्य है तो उसका प्राणभाग अवश्य ही आग्नेय होगा। शुक्र का निर्म्माण हुआ है ओषधिरूप अन्न से। शारीराग्नि में आहुत अन्न ही रसासृगमांसादि की क्रमधारा से शुक्ररूप मे परिणत हुआ है। ओषधियाँ सौम्या हैं। परन्तु उनके गभ में अग्नि है। **ओष [उष दाहे दाहस्ताप तापोग्नि त धत्ते** ही **ओषधि** श द का निर्वचन है। उसी ओषधि का रूपा तर शुक्र भी अवश्य ही ऐसा होना चाहिए। भूतसौम्यशुक्र की प्रतिष्ठा यही गर्भीभूत आ नेय प्राण है। शुक्रस्थित इसी आग्नेय प्राण को **वृषा** कहा जाता है। यही वृषा शुक्रवषण से [रेत सेक से] प्रजो पत्ति में समथ होता है। जिस पुरुष के शुक्र में वृषाप्राण मूर्च्छित रहता है वह प्रजोत्पत्ति में असमथ है। शुक्र प्रजो पत्ति का कारण नही है अपितु वृषा है। वृषाशू य पुरुष षण्ढ ह निर्वीय्य है। इसी आ नेय वृषा के सम्ब ध से पुरुष अपने को अवश्य ही स्त्री न कह कर पुरुष कह सकता है।

पुरुष मे **शरीर** और **शुक्र** दो विभाग हुए। दोनों क्रमश **आ नेय** एव **सोम्य** है। आगे जाकर पुन प्र यक में **आ नेय-सोम्य** ये दो दो विभाग हुए। इस दृष्टि से पुरुष का उपक्रम भी आ नत न रहा एव उपस हार भी अ नि ही रहा। **शरीर शारीरप्राण शुक्र शुक्रगतप्राण** चारो क्रमश **आ नेय साम्य सोम्य आ नेय** रहे। इधर अग्नि उधर अ नि म य में दोनों सोम। अ नि पुरुष दोनों ओर पुरुष। बतलाइए पुरुषसस्था में आग्नेत व की प्रधानता सिद्ध हु अथवा सोमत व की। इस दृष्टि से हम पुरुष को अवश्य ही अ निप्रधान मानत हुए **पुरुष** ही कहेंगे और स्त्री [सोम] को इस के त त्र म प्रतिष्ठित मानत हुए **परतन्त्र** ही कहेंग।

१-पुरुषसस्था—

(१)-१ शरीरम्——अ नि (पुरुष)—स एवाग्नि
( ) आ यप्रा ——सोम (स्त्री)
(३)-१-शुक्रम्——सोम (स्त्री)
(४)-२ आ नेयप्राण अ नि (पुरुष)-स एवा त

[(२) आ यप्राण और (३) शुक्रम्]—अ निप्रधान -पुरुष - पुरुष

— —*——

शुक्रद्वारा स **स्त्रीसज्ञा** का भाजन बनने वाला पुरुष उक्त प्रथम उपाय स **पुरुष** बन जाता है। दूसरा उपाय है **सम्व त्सरमण्डल**। स व सरमण्डल स ही तो पुरुष का निर्म्माण हुआ है। इसलिए तो **पुरुष** को **यज्ञ** क ा जाता है जिस यज्ञरहस्य का कि पाठक अगले ब्राह्मण में विश निरूपण देखगे। दृश्य अद्ध गोला मक जिस अ न स व सर से पुरुष का शरीर बनता है उस अद्ध स व सर के उत्तर भाग में सोम का एव दक्षिण भाग में अ न का साम्रा य बतला ा है। स व सर का म यवृत्त **विषुवत्** है। इस आ ने वि वत् से तो मेरुदण्ड [रीढ की हड्डी] का निर्म्माण हु आ है। वि वत् से उत्तर के सोम्य सम्व सर से शरीर के उत्तर पार्श्व [बाए भाग] का एव दक्षिण के आ नेय सम्व सर स दक्षिण पार्श्व [दहिने भाग] का नि र्माण हुआ है।

वत्त मानयुग का [क पित] अहिसावादी द्विजातिवर्ग घृणा अवश्य करगा। परन्तु विज्ञानप ानुगामी की दृष्टि में ऐसी घृणा का को मह व नही है। एक मनुष्यशव [मुर्दे] को अपने सामने रख लीजिए और शिखा तस्थान से आरम्भ कर मूलग्रन्थि पर्य्य त ठीक बीच में से उस के दो खण्ड कर डालिए। दोनों दक्षि णोत्तर खण्डो क पर्वो का वि ाकलन कीजिए ए ा उन विश्लेषित पर्वो को पृथक् पृ क रखते जाइए। विश्लेषण प्रक्रिया के अन तर दोनो के **आकार** ए ा **भार** की परस्पर तुलना कीजिए। आपको विदित होगा कि दक्षिणखण्ड के सभी पर्व प्राय उत्तरखण्ड के पर्वो से आकार मे भी बड़े होगे ए ा भार में भी अधिक होगे।

उतर खण्ड के उतर फुप्फुस लीहा [तिल्ली] वृक्क क्लोम हस्त पाद आदि पर्वो की अपेक्षा दक्षिण खण्ड के दक्षिण फुप्फुस यकृत् [जिगर] वृक्क क्लोम हस्त पाद आदि पर्वा के आप आकार तथा भार दोनो म प्रवृद्ध देखगे। ये प्रवृद्ध क्यो ह ? इन शरीरावयवों का ऐसा स्वरूप क्यो हुआ ? इन सब प्रश्नो का सोपपत्तिक समाधान बड विस्तार स आगे के यज्ञो वै पुरुष यादि ब्राह्मण में किया जायगा। प्रकृत में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि शरीर का दाक्षिणभाग उत्तरभाग की अपेक्षा आकार-भार स उभयथा समृद्ध रहता है। कारण सका यही ह कि दक्षिणभाग आग्नेय होने स बलवान् बनता हुआ प्रधान है एवं वामभाग सौम्य होने से निर्बल बनता हुआ गौण ह।

स्थूलपर्वों के अतिरिक्त सूक्ष्म-शक्तिदृष्टि से विचार करने पर भी उत्तर की अपेक्षा दक्षिण भाग को ही आप अधिक शक्तिशाली पाएगे। जो कर्मनिपुणता दक्षिण हाथ से सम्भव है वह वाम से नही। उपनिषत् का इन्द्ररूप चाक्षुषपुरुष भी दक्षिणचक्षु म ही रहता है। अतएव इसे दक्षिणाक्षिपुरुष भी कहा जाता है योऽय दक्षिणेऽक्षन् पुरुष (बृ आ ५।५।४)।

अपनी दैनिक शरीर-चेष्टाओ के अनभव से भी दक्षिणभाग की प्रधानता का प्रत्यक्ष कीजिए। गमन व्यापार में सब से पहिले दहिना पर ही आगे बढता है। आगे की गति म भी दाहने पर की ही अग्रगामिता रहती है चलकर अनुभव कर लीजिए। सीधे बैठकर अथवा खडे होकर आप यह अनुभव करग कि शिरोभाग प्राय वाम पार्श्व की ओर ही अवनत (झुका) रहता है। दहिनी ओर मस्तक झुकाने म आप क्लेश का अनुभव करग। क्योकि दक्षिण भाग भारी है अत उस ओर प्रवणता रखने मे कष्ट होता है। बल-प्रयोग के जितने भी कार्य है सब में दक्षिण हाथ ही प्रधान रहता है। इन्ही सब कारणो को देखते हुए मानना पडगा कि पुरुष का दक्षिणभागस्थ अग्निभाग ही शरीरसस्था में बलवान् एव प्रधान है।

उत्तरभाग सौम्य है सोमप्रधान है। साथ ही य दक्षिणभाग की अपेक्षा निर्बल एव गौण है। दक्षिणभाग जहा प्रत्यक्षरूप से विकसित रहता है वहा वामभाग दक्षिणभाग में अन्वित रहता है। जब आप वक्षस्थल से सटाते हुए दोनो बाहू मिलाकर उन पर दृष्टि डालगे तो आपको विदित होगा कि दहिना बाहु वाम बाहु का आलम्बन बना हुआ है। साथ ही दहिने बाहु का हस्तरूप अग्रभाग बाहिर निकल कर प्रत्यक्ष बन रहा है एव वामबाहु का हस्तरूप अग्रभाग दहिने बाहु के मूल में (कक्षप्रदेश में) छुप रहा है। सीधे खडे होने पर दहिने पर के आधार पर बाया पर अधिक समय पर्यन्त अधर रह सकता है बाए के आधार पर दक्षिण नही। कृष्णभावभङ्गी म दहिने पर को ही आप आश्रयरूप से प्रतिष्ठित देखगे। वामनेत्र में ही चाक्षुषपुरुष की पत्नी प्रतिष्ठित रहती है जोकि इन्द्रपत्नी नाम स प्रसिद्ध है- य उ एव वामनी स उ एव भामिनी के अनसार इस वामा इन्द्रपत्नी को ही भामिनी भी कहा जाता है। इन्ही सब कारणो को देखते हुए कहना पडगा कि वामभागस्थ सोमभाग इस शरीरसस्था में गौण है।

इसी सम्बन्ध में एक बात और। अग्नि विकासधर्मा एव सोम सकोचधर्मा बतलाया गया है। पुरुष का दक्षिणभाग अग्निप्रधान होने से ही विकासवृत्ति का अनयायी है एव वामभाग सामप्रधानता से ही सकोचवृत्ति का अनगामी देखा गया है। सीधे परो आगे बढने में पहिले पूर्वकथनानुसार दक्षिण पैर आगे चलेगा। यदि आप उलटे पैरो लौटगे तो इसी सकोचभाव के कारण पहिले बाया पर पीछे हटेगा। फकने का काम दहिने हाथ से एव किसी वस्तु को लेकर चलते समय वह वस्तु रहेगी वाम हाथ में।

सोम की दिक उत्तर है उत्तर ही ऊ व प्रदेश है। अग्नि की दिक दक्षिण है एव दक्षि ग ही अध प्रदेश माना गया । साथ ही ऊ वप्रदश मे रहने वाला सोम अध प्रदेशस्थ अग्नि को आ ान बनाता हुआ ही प्रति ठत रहता है। जब आप प्रावृत बनकर (आल ीपालथी मारकर) बठगे तो इस ि ाति का स्पष्टीकरण होज यगा। इस मुद्रा में दहिना पर नीचे (आल बनरूप से) रहेगा। वाम पर दहिने के आधार पर प्रतिष्ठित रहेगा। साथ ही दक्षिण पर का अग्रभाग प्र यक्ष रहेगा एव वाम पर का अग्रभाग दक्षिण पर में गभाभूत रहेगा।

जब कि पुरुष शरीर क दोनों भागों में अग्नि की प्रधानता है और अग्नित व ही जब पुरुष है तो **स्त्री पुरुष** दोनों भावों के रहते हुए भी हम पुरुष को स्त्री न कह कर पुरुष ही कहेंगे। इसप्रकार शुक्राधारभूत उपक्रम स्थानीय आग्नेय प्राण की भूताग्निरूप उपसहारस्थानीय शरीर की प्रधानता से दक्षिण पाश्वस्थ अग्नि की प्रधानता से इन दोनो उपायों से पुरुष का पुरुष व सुरक्षित रह जाता है।

रुद्राग्नि से सम्ब ध रखने वाले वृषात व का एव त प्रधान पुरुषवग का विवचन समा त हुआ। अब उस शक्तिघन सोमत व का अ तह ष्टि से विचार कीजिए जो कि योषात व का एव तत्प्रधान स्त्रीवग का आल बन बना हुआ है जो कि **शक्तिघन** अतएव **अशक्ति** श दवा य सोमत व रुद्रपुरुष को शिव बना दता ह।

पूव में यह क ा गया है कि यदि रुद्राग्नि मे सोम की आहुति न हु तो वे काला तर में सोमरूप स्त्रीभाव में परिणत होजायगे। अग्नि विकास की चरमसीमा पर पहु च कर सोम बन जायगा। ठीक यही परिस्थिति सोम के सम्ब ध में समझिए। सोम की स्वरूपरक्षा तभीतक है जबतक कि उस का अग्नि के साथ स ब ध है। जसे अग्नि का प्र ान स्थान के द्र ह एवमेव सोम का याप्तिस्थान प्रधि (परिधि) भाग ही माना गया है।

परिधि में रहने वाला सकोचधर्मा सोम क्रम क्रमश के द्र की ओर आता रहता है। जबतक इसका अग्नि के साथ सम्ब ध होता रहता है तबतक तो इसका सकोच समतुलित रहता है। परन्तु अग्निविरह से यह संकोच की चरम सीमा पर पहुच कर विस्फोटन का कारण बनता हुआ अग्निरूप में ही परिणत होजाता है। जसे विकास का अ तिम परिणाम सकोच है अग्नि का अ तिम परिणाम सोम है एवमेव सकोच का अन्तिम परिणाम विकास है तो सोम का अ तिम परिणाम अग्नि है।

आ नेयी ऋतु (ग्रीष्म ऋतु गर्मी) विकास की चरम सीमा पर पहुँच कर जैसे सौम्य ऋतु (वर्षा और शीतऋतु) रूप में परिणत होजाती है एवमेव शीत ु सकोच की चरमसीमा पर पहुँच कर ग्री म ी का कारण बन जाती है। वलबान् अग्नि का आश्रय लेता हुआ बलघन जो सोम अपनी स्वरूपरक्षा में समर्थ रहता है वही इस की उपेक्षा से स्वय अग्नि बनकर रुद्र बन जाता है रोने लगता है। भोग्य भोक्ता बन गया अब भो य नही। अतएव अब रोदन आवश्यक। इसी से यह भी सिद्ध होजाता है कि शिवतत्त्व का विकास अग्नि एव सोम के सम वय पर ही निभर है। सोम की उपेक्षा कर अग्नि भी रोता रहेगा एव अग्नि की उपेक्षा कर सोम भी रोता रहेगा। अग्नीषोमा मक यज्ञ के उ छिन्न होते ही रुद्र का अवतार होजायगा ससार में प्रलय का दृश्य उपस्तित हो जाय ा जिस का कि पूवरूप आज हमारे सम्मुख है।

बलवन अतएव अबन सोम का स्त्री से स बन्ध है। अद्द य अद्ध खगोनीय चान्द्रसोम ही स्त्री के स्वरूप स पादन का कारण बनता है अतएव स्त्री को सौम्या कहा जाता है। इसी सोमभाव की प्रधानता से न्से अबला कहा जाता है। क ने को अबला अबला है किन्तु वास्तव म अबला शक्तिपुञ्ज है। कारण स्पष्ट है। स्त्री का शरीर सौ य है पर तु आ मा आग्नेय है। जसे पुरुष की प्रतिष्ठा शुक्र है उस ही स्त्री की प्रति ठा शोणित माना गया है। रक्तवर्ण आग्नेय मङ्गलग्रह प्राण से युक्त शा णत साक्षात् आग्न है एव यही स्त्री का अ तजगत् है। यही इस का आ मा (जीवनीयरस) है। दूसरे श दो मे यो समझिए कि स्त्री का भौतक दृश्य शरीर सौ य है एव अ तजगद्रूप शोणित आग्नेय है। शोणितक्षय ही स्त्री के स्वरूपनाश का कारण है एव शोणितरक्षा ही स्थित का कारण है। इस बलवान् शोणितनि से ही अबला सौ या भी स्त्री बलवती ही रहती है।

उसी पूवरहस्य का समन्वय। शोणित अ नि है अ नि बलवान् बनता हुआ पूर्वपरिभाषानुसार बल-प्रयोग में समथ रहता है। अतएव इसे बलवान् किंवा सबल ही कहा जायगा। यह भी पुरुषजाति का ही दुर्भाग्य मानना पडेगा कि यही बलवान् अग्नि (शोणत) पूवकथनानुसार स्त्री का अन्तरा मा बना हुआ है। यही कारण है कि स्त्री का बाह्यजगत् (सौ यशरीर) जहा आक्रमण मे असमथ है वहा उस का अ तजगत् उतना ही अधिक उग्र रहता है। **शरीर निबल (सौम्य) आत्मा सबल (आग्नेय) यही ता पर्य है।** शोणित स्वय बलवान् इसी (अ नितत्व) का रूपा तर मन इसी में स्थिरभाव का उदय तदनुगामी मन का सकल्प भी स्थिर फलत इ ी का सक प अधिकाश में सफल ही होजाता है। इसी आधार पर स मातृवश के लिए— **बुद्धिस्तासा चतुगुणा** यह कहा गया है। कौन अभ्युदयेप्सु बुद्धिरूपिणी इस मातृशक्ति की व दना न करेगा—

या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण सस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नम ॥ (सप्तशती)

सम्भव है स्त्री स्त्री के साम्मुख्य में सजातीयानुब ध के कारण स्त्री का उग्ररूप शा त रहे पर तु दुर्भाग्य का मारा यदि कोइ पुरुष स्त्री की प्रतिस्पर्द्धा में खडा होजायगा अपने अविवक से यदि वह इस के सौ यशरीर के गभ में रहने वाले उग्र अग्नित व पर आघात कर बठेगा तो नारी का स्वरूप उस के सव-नाश का ही कारण बन जायगा। कुशल तभीतक है जबतक कि मातृशक्ति का अन्तजगत् जाग्रत नही होजाता। सौम्या मा पुरुष अभिनिवशवश उस अग्नि को जाग्रत कर निश्चयरूप से इस में आहुत ही होजाता है।

यह ऐतिहासिक स य है कि जब जब मनु य ने मुखतावश आध्यनारी के अ तस्तल पर आक्रमण करने की कुचेष्टा की है तब तब ही उसे सर्वनाश का रसस्वादन करना पडा है। और तो और जगच्चक्र का सञ्चालन करने वाले त्रैलोक्यविजयी **अग्नि वायु इन्द्र** देवताओ तक को इसी **हैमवती उमा** के सम्मुख परास्त होना पडा है। द्रौपदी के अपमान का प्रायश्चित्त भारतवर्ष आजतक नही कर सका है। और अतिशय खेद महा कष्ट महा लज्जा महा अविवक का विषय है कि भारतीय पुरुषवग आज पुन उसी भूल का अनुगमन कर रहे हैं। कोई आश्चर्य नही इसी भूलसुधार के लिए सुधारप्र मियो की ओर से **अवैज्ञानिक अप्राकृतिक**

अतएव **रोगजद्धक स्त्रीसजात यवान्** का ज म हुआ हो और जिस के परिशोध के लिए ही हमें स प्रकृतिसिद्ध तथ्य–सम वय का आश्रय लेना पडा हो।

उक्त **स्त्रीभाव** विवचन से स्पष्ट हुआ कि स्त्री का पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड तो सौ य है एव शरीर–पिण्ड की प्रतिष्ठारूप शोणित आ नय है। सोम योषा होने से स्त्री है एव अग्नि वृषा होने से पुरुष है। क्योकि सोमरूप स्त्री शरीर की प्र ष्ठा अग्निरूप शोणित है अतएव हम कह सकते है कि पुरुष (अग्नि शोणित) ही स्त्री की प्रति ठा है। ी आधार पर यह भी कह लीजिए कि जिन्ह हम **स्त्री** कहते है व सौम्य शरीर की दृष्टि से भले ही स्त्रिया ो पर तु अ त प्रति ठारूप शोणिताग्नि की अपेक्षा से आ मदृष्टि से तो उन्ह **पुरुष** ही कहा जायगा।

एक पक्षपात की बात। पुरुष आ मदृष्टया स्त्री है। पर तु जनसाधारण न स्त्रियो को पुरुष ही कहते हैं। सप्रकार **स्त्रिय सत स्ता उ मे पु स आहु** इ यादि रूप से श्रुतिने पुरुषो को स्प श ों में **स्त्री** कहकर पुरुषजाति का तो अपमान कर डाला। यायप्रा त बात तो यह थी कि जैसे वदमहर्षि ने पुरुषजाति का– **अरे! इन्ह पुरुष कौन कहता है य तो स्त्रिया है** इसप्रकार अपमान कर ाला स ही **पुरुषा स तस्ते उ म स्त्रिय आहु** (इन पुरुषो को स्त्री कहा जाता है) स्त्री के स ब ध में भी यह कहते। पर तु नही कहा। कहत भी क्यो जब कि वे पुरुष के निबल आ मा एव स्त्री के सबल आ मा स परिचित थ। पुरुष अपमान सहन कर सकता ह कि तु स्त्री नही।

जब कि प्रधानभूता आ मदृष्टि से त्रीसस्था आ नेयी ह तो से **स्त्री** न कह कर **पुरुष** ही क ा जायगा। हा तो आज से स्त्रीमात्र अपने आपको पुरुष समझना आर भ कर द। अपना बाना किसे बुरा लगता ह। यदि पुरुषजाति स्त्री की उपाधि के क्षु ध होसकती है और इसी क्षोभ की शाति के लिए यदि वह (पूवप्रदर्शित दो) उपाय निकाल लेती है तो स्त्रीजाति भी पुरुषोपाधि से क्या शा त होने लगी ?। अवश्य ही उन की स्वरूप रक्षा के लिए भी को न कोई उपाय निकालना ही पडगा।

स्त्रियो का शरीर सौ य एव आ मरूप शोणित आग्नेय यह तो ठीक है। और इसी दृष्टि से स्त्रिया पुरुष कहला भी सकती हैं। पर तु निरूपिता पुरुषसस्था की परिभाषा के अनुसार स्त्री के सोम्यशरीर एव आग्नेय शोणित दोनो के भूत–प्राण भेद से दो दो विभाग है। सौ य दृश्यशरीर भूतभाग है इसका आधार प्राण आग्नेय है। प्र यक्षप्रमाण यही है कि पुरुषशरीर अग्नि की कृपा से वकश होता हुआ भी हीनवी य रहता है। जरासी मोड तोड से अस्थिग्रन्थियाँ (जोड) खल जाती हैं। कारण यही है कि इसका शरीर यद्यपि आ नेय होने से सबल है पर तु सका मूलप्रा आ य (सौ य) है। सोम निबल है। अतएव यह प्रबल आघात से पुरुषशरीर को नही बचा सकता।

इधर स्त्री का शरीर सोमानुग्रह से कोमल होता हुआ भी वी ययुक्त है। असाधारण व्याघातों को छोडकर स्त्रीशरीर साधारण व्याघाता की उपेक्षा ही कर देता है। कारण इसका शरीर यद्यपि सोम्य होने से निर्बल है कि तु सका मूलप्राण आग्नेय है। अग्नि बलवान है। यह आघात से स्त्रीशरीर को बचा लेता है। स शरीरप्रति ठा की दृष्टि से स्त्री अपने आभ्य तररूप से आ नेयी बनती हुई पुरुष ही कह–लाएगी।

शोणित का भूतभाग अवश्य ही आग्नेय है। परन्तु शोणित के गर्भ में रहने वाला प्राण सौम्य है। सी सौम्यप्राण को योषा कहा जाता है। पुरुष के सौम्य शुक्र के गर्भ में रहने वाले आग्नेय वृषाप्राण का जब स्त्री के आग्नेय शोणित के गर्भ में रहने वाले सौम्य योषाप्राण के साथ मिथुनसम्बन्ध होता है तभी प्रजोत्पत्ति होती है। इसीसे यह भी स्पष्ट होजाता है कि पुरुष का दूषित शुक्र सन्तान का प्रतिबन्धक है एवं स्त्री का दूषित शोणित सन्तान का प्रतिबन्धक है। दोनों की (शुक्र शोणित की) शुद्धि में ही तद्गत वृषा योषा प्राण शुद्ध रहेंगे एवं इन विशुद्ध **रजोवीर्यों** के मिथुन से ही प्रजातन्तु सुरक्षित रहेगा।

सौम्य शुक्र में रहने वाला आग्नेय प्राण ही **पुम्भ्रूण** है। एवं आग्नेय शोणित में रहने वाला सौम्य प्राण ही **स्त्रीभ्रूण** है। पुम्भ्रूण का पोषक शुक्र है। फलतः शुक्र जितना अधिक प्रवृद्ध होगा पुम्भ्रूण उतना ही अधिक बलिष्ठ होगा। स्त्रीभ्रूण का पोषक शोणित है। फलतः शोणित जितना प्रवृद्ध होगा स्त्रीभ्रूण उतना ही अधिक बलिष्ठ होगा। पुम्भ्रूण पुरुष है आग्नेय है। इसकी समृद्धि एकमात्र शुक्रसमृद्धि पर ही अवलम्बित है। शुक्र सौम्य होने से स्त्री है। इस सौम्या स्त्री की समृद्धि अभ्युत्थान अभ्युदय ही पुरुष की समृद्धि अभ्युत्थान अभ्युदय का अन्यतम कारण है। उधर स्त्रीभ्रूण स्त्री है सौम्य है। इसकी समृद्धि एकमात्र शोणित की समृद्धि पर ही अवलम्बित है। शोणित आग्नेय होने से पुरुष है। स्त्री की समृद्धि अभ्युत्थान अभ्युदय पुरुष की समृद्धि अभ्युत्थान अभ्युदय पर ही अवलम्बित है। यही **दाम्पत्यभाव** का मौलिक रहस्य है। यही **अर्द्धनारीश्वर** का समृद्ध वैभव है और यही वैभव **विश्वशान्ति** की मूल प्रतिष्ठा है।

जिस समय **पुम्भ्रूण स्त्रीभ्रूण** का मिथुनभाव होता है उस समय दोनों में संघर्ष चलता है। जो प्रबल होता है वह दूसरे का निगरण कर उसे अपने रूप में परिणत कर लेता है। मान लीजए पुम्भ्रूण निर्बल है एवं स्त्रीभ्रूण सबल। स्त्रीभ्रूण [जो कि सौम्य होने से स्त्रीसृष्टि का प्रवर्त्तक है] पुम्भ्रूण को आत्मसात् कर लेता है। फलतः ऐसे स्त्रीभ्रूणप्रधान मिथुनभाव से **कन्यासन्तति** होती है। यदि पुम्भ्रूण सबल है तो ठीक इसके विपरीत उक्त प्रक्रिया से **पुत्रसन्तति** होती है। शुक्रप्रवृद्धि में पुम्भ्रूण की वृद्धि है एवं शोणितप्रवृद्धि में स्त्रीभ्रूण की वृद्धि है। शुक्रसमृद्धि पुम्भ्रूण की समृद्धि का कारण बनेगी इच्छा सफल होगी। यदि दोनों सम हैं तो दोनों के ही चिह्न शेष रहते हैं। यही **नपुंसकसृष्टि** है। यदि दोनों में से एक का भी भ्रूण मूर्च्छित है तो दाम्पत्यभाव व्यर्थ ही सिद्ध होता है—

१—आधिक्ये रेतसः पुंसः, कन्यास्यादार्त्तवाधिके।
नपुंसकं तयोः साम्ये यथेच्छा पारमेश्वरी॥ (भावप्रकाश)।
२—पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्रीभवत्यधिके स्त्रियाः।
समेऽपुमान्, पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः॥ (मनु ३।४९)।

उक्त स्त्रीस्वरूप से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि स्त्रीसंस्था के **शरीर आत्मा** ये दोनों विभाग क्रमशः **सौम्य** एवं **आग्नेय** है। आगेजाकर पुनः प्रत्येक के **सौम्य आग्नेय** ये दो विभाग हुए। इस दृष्टि से स्त्री का उपक्रम भी सोमतत्त्व रहा उपसंहार भी सोम ही रहा। **शरीर शारीरप्राण शोणित शोणित**

गतप्राण क्रमश **सौम्य आ नेय आग्नेय सौम्य** रहे। न्धर सोम उधर सोम म य में दोनों अग्नि। सोम ही स्त्री दोनो और स्त्री। वतलाए स्त्री सस्था में सोमत व की प्रधानता सिद्ध हुई अथवा अ नित व की ?। इसी दृष्टि से हम स्त्री को अ नश्य ही सोमप्रधाना मानत हुए **स्त्री** ही क न्गे और पुरुष [अग्नि] को न्स त त्र में प्रतिठित मानते हुए **परतन्त्र** ही क न्गे।

२-स्त्रीसस्था--

(१)-१-शर म्—— सोम (स्त्री)-}य एवादि

(२)-२-आग्नेयप्राण -अग्नि (पुरुष)

(३)-१ शाणितम्——अग्नि (पुरुष) } ——— }-सोमप्रधाना स्त्री— स्त्री

(४)-२-सौ यप्राण -सोम (स्त्री)- }-स एवा त

पुरुष का अपना त त्र अग्नि हे एव स्त्री का अपना तन्त्र सोम है। इस अपने अपने त त्र मे प्रतिठित पुरुष और स्त्री अपने अपने प्रातिस्विक स्वरूप से **स्वत त्र** ह। **इस न्ष्टि से न पुरुष परत त्र है न स्त्री परतन्त्र है**। यदि परतन्त्र है भी तो दोनो ही। म यभाग आ मा कहलाता है और यही म य-भाग जीवन की प्रति ठा माना गया है। आ नेय पुरुष का म यभाग सोमद्वयी है सोमत व स्त्री है यही आग्नेय पुरुष की प्रात ठा है। अ निपुरुष की अपना यह सोमत त्र न्सका अपना त त्र न होकर परत त्र है। पुरुष का अग्नितत्र इस परलक्षण सोमत त्र के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। अत उपक्रमोपसहारस्थानीय अग्नितन्त्र की अपेक्षा से जहा पुरुष को **स्वत त्र (स्व अग्निस्तन्त्र स्वरूपो यस्य)** कहा जायगा वहाँ म य स्थानीय सोमत त्र की अपेक्षा से सी पुरुष को **परत त्र (पर - सोमस्तन्त्र प्रतिष्ठा यस्य)** ही कहा जायगा।

सोम्या स्त्री का म यभाग अग्निद्वयी है अग्नित त्र पुरुष है यही सौम्या स्त्री की प्रतिष्ठा है। सौम्या स्त्री की अपेक्षा यह अ नित त्र न्सका अपना त त्र न होकर प तन्त्र है। स्त्री का सोमतन्त्र इस पर लक्षण अग्नितन्त्र के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव उपक्रमोपसहारस्थानाय सोमत त्र की अपेक्षा से जहाँ स्त्री को **स्वतन्त्र (स्व —सोमस्त त्र स्वरूपो यस्य)** कहा जायगा वहाँ म य स्थानीय अग्नित त्र की अपेक्षा से इसी स्त्री को **परत त्र (पर अग्निस्त त्र प्रतिष्ठा यस्य)** भी कहा जायगा। यहाँतक तो जो स्थान पुरुष का होगा वही स्त्री का रहेगा। यदि पुरुष अपनी सस्था में स्वतन्त्र है तो स्त्री भी अपनी सस्था में स्व त त्र है। यदि स्त्री को म यदृष्टि से परतन्त्र कहा जायगा तो मध्यदृष्टि से पुरुष भी परत त्र ही माना जायगा। अपने अपने धरातल पर प्रतिष्ठित रहते हुए दोनों वर्ग सनातन विश्व के सनातन **मित्र** ही माने जायँगे। दो मित्रों मे कोन छोटा कौन बडा ?। समानशील व्यसन ही मैत्री का उच्च आदर्श माना गया है। और इसी आदर्श को भारतीय महर्षियोंन सवश्र ष्ठ आदर्श माना है— **सहधर्म्म चरताम्** रूप से।

बिना इस समानध र्माचरण के इ दोनो यात्रियो की यात्रा नीरस होजाती है विनोदशून्य रहजाती है यातायाम बन जाती है। यह भी निश्चित है कि इस स्वातन्त्र्य की दृष्टि से स्त्री पुरुष क स न्ध म कौन स्वात न्त्र है कौन परतन्त्र ? इस प्रश्न का भी कोई मह व नही है। क्योकि इस दृष्टि से दोनो को अपनी अपनी आग्नेयी सौम्या सस्था में रहते हु अग्नि-सोमानुबन्धी धर्म्मों के अनुगमन करने का पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त है। वर्त्तमान युग का समानधिकार यदि इस दृष्टि से स्त्रीसमानाधिकार का किंवा स्त्रीस्वातन्त्र्य का पक्षपाती है तो आप उसका आदर करते है। कौन वैज्ञानिक यह न चाहेगा कि पुरुष अपनी अग्निसस्था के अनुकूल स्वतन्त्र रहे एव स्त्री अपनी सोमसस्था के अनुकूल स्वतन्त्र रहे। हा आग्नेय पुरुष का सौम्या स्त्रीसस्था की ओर झुकना एव सौम्या स्त्री का आग्नेयी पुरुषसस्था की ओर झुकना अवश्य ही प्रत्येक वैज्ञानिक की दृष्टि में लाभ के स्थान में हानि का ही कारण सिद्ध होगा। यदि स्त्रीसमानाधिकार के पक्षपातियो के समानाधिकार का- पुरुष अपनी अग्निसस्था के आधार पर जो कुछ कर सकता है करने का अधिकार रखता है एक सौम्या स्त्री भी वह सब कुछ कर सकती है करने का अधिकार रख सकती है। एवमेव स्त्री अपनी सोमसस्था के आधार पर जो कुछ कर सकती है करने का अधिकार रखती है एक आग्नेय पुरुष भी वह सब कुछ कर सकता है करने का अधिकार रखता है यह तात्पर्य है तो कहना पडेगा कि अभी वे प्रकृति के गुप्त रहस्यो से स्त्री-पुरुष के वास्तविक स्वरूप ज्ञान से उनकी प्राकृतिक योग्यता से सर्वथा अपरिचित ही हैं।

दोनो के जिन नियत अधिकारो को एव अधिकारमूला विषमताओ को प्रकृति ने अपने हाथ में रक्खा है वे अधिकार तो त्रिकाल में भी इन समानाधिकार पक्षपातियो से नही बदले जासकते। वृषापुरुष ही रेत सेक का अधिकार रखता है वृषा पुरुष ही श्मश्रु का जन्मसिद्ध अधिकार रखता है वृषापुरुष के शरीर का जैसा सघठन है जैसी रचना है जो ऐन्द्रियक विभाग है वही इस अधिकार सघठन रचना विभाग का अन्यतम अधिकारी है। एवमेव योषा स्त्री का रेतोग्रहणाधिकार श्मश्रु का जन्मत अभाव शरीर का सगठन गर्भाधान आदि जो व्यक्तिक अधिकार हैं पुरुषजाति स्वप्न में भी उनकी कल्पना भी तो नही करसकती।

दूसरी अधिकारमूला विषमता वह है जिसका आविष्कार महर्षियोंने प्रकृतिमूलक इन दोनो के विषम स्वरूपो के आधार पर किया है। स्वतन्त्रप्रज्ञ मानवसमाज इन आविष्कृत विषमताओ की व्यवस्था में अवश्य ही हस्तक्षेप करसकता है। परन्तु यह निश्चित है कि इस हस्तक्षेप से दोनो का उपकार न होकर अपकार ही होता है। समता किंवा समानाधिकार जीवनसत्तोपयिक आहारानद्रादि कुछ एक परिगणित व्यवस्थाओ में ही मान्य है। इस दृष्टि से स्त्री पुरुष तो क्या ससार के प्राणिमात्र समान अधिकार रखते है। परन्तु जिस मौलिक प्राकृतिकधर्म्म ने इन समानाधिकारियो को अयं मनुष्य-इयं स्त्री-अयं बाल-अयं पशु इत्यादिरूप विषमताओ में विशेषभावो में परिणत कर रक्खा है उन विशेषधर्म्मों का एकमात्र अधिकार तत्तद्विशेष प्राणियो में ही प्रतिष्ठित माना जायगा। और विशेषस्वरूप सरक्षक इन विशेषधर्मों को समानाधिकार मर्य्यादा से युक्त करना उन समानाधिकारियो का उन्मत्तप्रलाप ही माना जायगा। साथ ही इस दृष्टि से प्रचलित वर्त्तमानयुग का स्त्रीस्वातन्त्र्यवाद भी प्रलाप के अतिरिक्त और किसी पुरस्कार का पात्र नही समझा जायगा।

जैसाकि अनुपद में ही बतलाया गया है स्व–स्व सस्थानुगत स्वात य पारत य के सम्ब ध में कौन स्वतन्त्र कौन परत त्र है ? यह प्रश्न ही नही उठाया जासकता। इस प्रश्न का आर भ तब होता है जब कि हम स्त्री पुरुष क दा प यभाव का विचार करने के लिए प्रस्तुत होते है। स्त्री पुरुष परतन्त्र रहै अथवा स्वतन्त्र मित्र रहै अथवा और कुछ यह तटस्थ स ब व दा प यभाव से सम्ब ध नही रखता।

साथ ही यह भी निर्विवाद है कि बिना दा प यभाव के न स्त्रीसृष्टि का उदय स भव है न पुरुषसृष्टि का। जबकि दाम्प यभाव ही स्त्रीपुरुषसृ ष्ट का मूलकारण है तो हमें मान ा पढेगा कि स्त्री–पुरुष की स्वत त्रता परत त्रता का वही निर्णय (विज्ञानसिद्ध अतएव) मा य निर्णय कहा जायगा जो कि दा प यभाव का अनुगामी रहेगा। दूसरे श दो में यो कह लीजिए कि दा प यभावकाल में स्त्री–पुरुष दोनो में जो जिस तन्त्र का अनुगामी होगा दाम्प यभाव के फलस्वरूप उन प्रजा मक स्त्री पुरुषो का भी वही तन्त्र माना जायगा फिर वह तन्त्र स्व हो **अथवा पर**।

कम्म का स्वत त्र कर्त्ता वही माना जायगा जो कि कम्म प्रक्रिया में स्वत त्र * रहेगा। उस कर्त्ता का क म सफल हो अथवा नि फल यह दूसरी बात है। प्रजो पत्ति एक फल है। इस फल का साधक कम्म पति नी का दा प यभाव (मिथुनभाव) है। दाम्प यक म ही प्रजो पत्ति का मूलकारण है। यद्यपि यह ठीक है कि इस क म में दोनो का ही सहयोग अपेक्षित है। इसीलिए **दम्पती** श द से **पति प नी** दोना का ग्रहण होता भी है। तथापि स क म का स्वत त्र कर्त्ता प त ही माना जायगा। दाम्प यक म की प्राथमिक प्र रणा पुरुष की ओर से ही होती है ×। **पुरुष एव स्त्रियमनुधावति न स्त्रीपुरुषमनु** यह सावजनीन प्र यय है।

रेतोवषण से ही शुक्रगत आग्नेय प्राण वृषा कहलाया है । कामजनित कम्पना मक क्षोभ ही रेत को स्वस्थान से च्युत करता है अतएव इस रेतोवषक वृषा को **वृषाकपि** — भी क ा गया है । इस प्रथमप्र रणा के कारण हम वृषाप्रधान पुरुष को भी इस दा प यक म का स्वत त्र कर्त्ता कहेंगे । ब वृषा स्वत त्र है तो योषा का पारत य स्वत सिद्ध है। फलत इस दा प य से उ प न पुरुषस तान वृषाप्रधान बनती हुई स्वतन्त्र मानी जायगी एव क यास तान परत त्र कही जायगी। एक दृष्टि।

दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। दो प्रतिद्वन्द्वियों म जो अपने आक्रमण में प्रधान रहेगा वही प्रधान माना जायगा उसे ही स्वत त्र कहा जायगा एव विजय उसी का माना जायगा। पुरुष आ नेय है ए ा स्त्री सौम्या

---

* स्वतन्त्र कर्त्ता (पा सू) क्रियाया स्वात यण विवक्षितोऽर्थ कर्त्ता स्यात् (दीक्षित)।

× [१] 'पश्चाद्वै परीत्य वृषा (पुरुष) योषामधिद्रवति [अनुधावति] तस्यां रेत सिञ्चति' [शत० २।४।४।२३।]।

[२] ''तस्माद स्त्री पु सोपमन्त्रिता निपलाशमिवैव वदति' [शत०३।२।१।२]।

[३] 'तस्मादु स्त्री पु सोपमन्त्रिता आरकादिवैवाग्र ऽह्वयति'' [शत ३।२।१।१९।]।

— 'तद्यत् कम्पयमानो रेतो वर्षति, तस्माद् वृषाकपि '' [गो ब्रा उ ६।।२।]।

है। अन्नान्नादभात्र के कारण दोनो ही प्रतिद्व द्वी है। इन प्रतिद्वद्वियो के पूर्वपरिभाषानुसार यद्यपि चार युग्म मानने चाहिए परन्तु पुरुषशरीर का आधारभूत आ य प्राण पुरुषशरीर में एव स्त्री का आधारभूत आ नेय प्राण स्त्रीशरीर में ही अ तभू त मान लिया जाता है अत चार के स्थान में तीन ही युग्म रह जाते जसाकि परिलेख से स्पष्ट होजाता है—

पुरुष विर्न	स्त्री विर्व
—आग्नेयशरीरम (अ ग्न पुरुष)	१—सोम्य शरीरम्(सोम स्त्री) १-द्व ‍
२—आप्यप्राण (सोम स्त्री)	२ आग्नेयप्राण (अग्नि पुरुष)-२-द्व द्व
१—सौम्य शुक्रम (सोम स्त्री)	१—आग्नेय शोणितम (अग्नि पुरुष)-३ द्व द्व
—आग्नेयप्राण (अग्नि पुरुष)	२—साम्यप्राण (सोम स्त्री) ४-द्व द्व

—*—

१— १-आग्नेय पुरुषशरीरम् (पुरुष)
२ साम्य स्त्रीशरीरम् (स्त्री) } प्रतिद्व द्विनौ (प्रथमद्व द्व)।

—*—

२— १-आप्यप्राण (पुरुषशरीरप्रतिष्ठा) स्त्री
२ आग्नेयप्राण (स्त्रीशरीरप्रतिष्ठा) पुरुष } प्रतिद्व द्विना (द्वितीयद्व द्व)।

—*—

३— १ सौम्य शुक्र (पुरुषप्रतिष्ठा) स्त्री
२ आग्नेय शोणित (स्त्रीप्रतिष्ठा) परुष } प्रतिद्व द्विनौ (तृतीयद्व द्व)।

—*—

४— १ आग्नेयप्राण (वृषा) पुरुष
२ सौम्यप्राण (योषा) स्त्री } प्रतिद्व द्विनौ(चतुर्थद्व द्व)।

★ ★ ★

—*—

१—१—आप्यप्राणगर्भितमाग्ने । शरारम् (सोमाग्निमग परुषशरीरम् पुरुष } प्रातद्वं द्विनौ
२—आग्नेयप्राणगर्भित माम्य शरीरम् (अग्नीषोममग स्त्रीशरीरम् स्त्री } (१ द्व द्व)

— * —

१—माम्य शुक्रम — स्त्री
२—२—आग्नेग शोणितम पुरुष } प्रतिद्वं द्विना (द्वितीययुग्म) ।

— * —

१ आग्नेयो वृषा पुरुष
३—२ साम्या योषा स्त्री } प्रतिद्वं द्विना ततीययुग्म)।

प्र तालिका मे प्रदर्शित तीनो प्रतिद्वन्द्वियो में से कौनसा द्व सवप्रथम आगे बढता है ? आगे बढने वाले उस न्द्व मे किस की ओर स पहिले आक्रमण होता है ? एव अ त मे किस के आक्रमण की प्रधानता रहती है ? पहिले यही देखिए । दा प यभावोपक्रम का मूलाधार दम्पती के स्थूलशरीर है । पुरुषशरीर आग्नेय है स्त्रीशरीर सो य है । अग्नि सोम पर आक्रमण कर रहा है इसका ता प य हुआ पुरुषभाव स्त्री भाव पर आक्रमण कर रहा है । स आक्रमण म पुरुषभाव की ही प्रधानता है । इस प्रथमाक्रमण के अन तर पुरुष के शुक्र का स्त्री के शोणित म सेक होता है । सो यशुक्र आग्नेय–शोणित प आक्रमण कर रहा है । अर्थात् स्त्रीत व पुरुषत व पर आक्रमण कर रहा है । इस आक्रमण मे त्रीभाव की प्रधानता है । शुक्रशोणितरूप इस दूसरे द्व द्वभाव के अन तर सो य शुक्र में रहने वाले आग्नेयप्राणमूर्ति वृषा का आग्नेय शोणित में रहने वाली सौ यप्राणमयी योषा पर आक्रमण होता है । पुरुषभाव का स्त्रीभाव प आक्रमण होता है । यही तीसरा किंवा अ तिम आक्रमण है । इसमे पुरुषभाव की प्रधानता है एव यही अ तिमाक्रमण मिथु मा मक दा प यक म को प्रजोत्पत्ति फलरूप स समन्वित करता है ।

तीनो में स आदि म पुरुषाक्रमण की प्रधानता अ त मे पुरुषाक्रमण की प्रधानता केवल म य में (दोनो ओर के पुरुषभावो से परत त्र बने हुए) स्त्री का आक्रमण । इसीलिए हम पुरुष का स्वतन्त्र कर्त्ता अत व प्रधान कहत है एव स्त्री को परतन्त्र कर्त्तानुगामिनी अतएव गाण कहते है ।

जैसाकि पूर्व में कहा गया है पुरुषवत् स्त्री भी अपनी सोमसस्था मे स्वतन्त्र है । परन्तु स्त्री का यह स्वात य तभी सुरक्षित रह सकेगा जबकि वह किसी पर त त्र को अपना रक्षक बना लेगी । आर्षमहर्षि स्त्री की स्वत त्रता का अपहरण नही करत । अ पतु चाहते व केवल यही हैं कि उनकी स्वत त्रसस्था सोमप्रधान होने से ऋत बनती हुइ अनृत है प्रतिष्ठाशून्य है । अत उन्हे अपने इस अप्रतिष्ठित स्वात य का उपयोग किसी प्रतिष्ठित स य को आधार बना कर ही करना चाहिए । न स्त्री स्वात यमर्हति वाक्य इसी भाव को यक्त कर रहा है । ध माचा यान – स्त्री परत त्र है यह कभी नही कहा है । कहते भी कैसे जबकि पुरुषो की भान्ति स्वतन्त्रता स्त्रियो का भी ज मसिद्ध अधिकार है । उक्त आदशवचन का ता प र्य केवल

न्तना ी है कि स्त्री स्वत त्र रहने याग्य नहीं है । अथात् स्त्री को अपनी स्वत त्रता का उपयोग स्वय न कर किसा अ य क आश्रय म हीं इसका उपयोग करना चाहिए। या क्सी ग ह स म स्त्री अपने स्वात य का उपयोग करने लगगी तो वह सस्था उच्छि न होजायगी। यक्षप्रशवारी ध मराज के– कौनसा घर नष्ट हो जाता है ? यह प्रश्न करन पर व मावतार युधिष्ठिर ने भी– स्त्री पु रुच्च तद्धि गह विन ष्टम् * (महाभारत) जहा स्त्री पुरुष बन जाती है वह घर नष्ट ह यह उत्तर दते हुए उक्त सिद्धा त का ही समथन किया है।

स पूण सम्वत्सर मण्डल की दृष्टि से जब तत्प्रातरूप द पती का विचार किया जाता है तब भी पुरुप की स्वत त्रता एव स्त्री की परतन्त्रता ही सिद्ध होती है। स व सरीय खगाल के सौर दृश्य खगोल स [आधे खगोल से] पुरुषसृष्टि का एव चान्द्र अदृश्य खगोल स [आधे खगोल से] स्त्रासृष्टि का विकास हुआ है और इस दृष्टि से दोनो अपनी अपनी सस्था की अपेक्षा स स्वतन्त्र भी माने जासकत है। पर तु दोनो की समष्टिरूप स व सर स्वय अग्निमूर्त्ति है। अपि अग्निमूर्त्ति स व सर के गभ मे अ नरूप पुरुष एव सोमरूपिणी स्त्री दोनो त व प्रतिष्ठित हैं। अतएव स व सर को आग्न के साथ साथ सोममय भी कहा जासकता है जैसा कि– सम्व सरो व सोमो राजा [कौ ७।१]– सम्व सरो व सोम पितृमान [त ब्रा १।।८।२।) इ यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। तथापि स व सर का मौलिक रूप आग्न ही माना जायगा। इस मौलिक अग्नि को अग्नि न कह कर यजु पुरुष ही कहा गया है। [दखिए शत १ ।५।२।१]। यही तस्य वा एतस्या नराग्निवोपनिषत् के अनुसार वाक नाम से प्रसिद्ध है। आरम्भ में अग्निमूर्त्ति वाक प्रजापति एकाकी ही थे। ये ही आगे जाकर सृ ष्टकामना स अ। नरूप पु ष एव सोमरूप स्त्री इन दो रूपो में परिणत हुए हैं– अर्द्धेन पुरुषाऽभवत् अर्द्धेन नारी [मनु]। स्वय श्र ति ने भी सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात वागेव साऽसृज्यत [शत ६।१।१। ।] कहत हुए वागग्नि को ही आप्य सोम का उ पादक माना है। इन्ही सब प्रमाणो के आधार पर हम वाङ्मय किंवा वाकप्र धान सम्व सरप्रजापति को अग्निप्रधान ही कह सकते है। यही आ मा है। इसी की सवत्र या प्ति है। स व सर की अग्निप्रधानता नि न लिखित वचनो से स्पष्ट प्रमाणित होजाती है–

---

* अनायका विनश्यन्ति नश्यन्ति बहुनायका ।
स्त्रीनायका विनश्यन्ति नश्यन्ति बालनायका ॥

—प्रसिद्धा सूक्ति

जिस सस्थाओ में कोई सञ्चालक नही होता अथवा अनेक सञ्चालक होजाते ह अथवा स्त्री सञ्चालिका बन जाती है अथवा बच्चे सञ्चालक बन जाते हैं व सस्थाए कालान्तर में न ट ही होजाती है । महाभारतीय वचन के उक्त तथ्य के आधार पर ही राजस्थानी भाषा (जयपुर की भाषा) में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि जी घर मे लुगायाँ पागडो बधा लेछ ऊ घर को अदिन ही आनाय छ अर्थात् जिस गृहसस्था मे लोक–सामाजिकी व्यवस्थाओं मे स्त्री का अनुशासन प्रमुख बन जाता है वह गृहस्थसंस्था लोक सामाजिकी मर्यादाओं की दृष्टि से भी एव गृहस्थ व्यवस्था की दृष्टि से भी कालान्तर म विनष्ट ही होजाती है (स्त्रीपु रुच्च तद्धि गेह विनष्टम्) ।

१— सव वै सम्वत्सर " (शत १।६।१।१६।) ।
२— सम्वत्सर एवाग्नि " (शत १ ।४।५।२।) ।
३—"सम्वत्सरो । पिता वैश्वानर प्रजापति ' (शत १५।१।१६।) ।
४—"वाकसम्वत्सर (ताण्ड्य १ ।१ ।२७।) ।
५ –अग्नि सम्वत्सर' (ताण्ड्य १७।१३।१७।) ।

———*———

सम्व सर वागग्नि मूर्ति है इस का अपना प्रधान भाग ही **आग्नेय पुरुष** ह एव गौणभाग ही **सौम्या स्त्री** ह । स दृष्टि स भी पुरुष ही स्वत त्र माना जायगा । **अग्नि अन्नाद** ह एव **सोम अन्न है** इस दृष्टि से भी पुरुष का प्राधा य एव स्वात य सिद्ध होता है । **अग्नि स य** है सोम ऋत बनता हुआ **अनृत** ह । स दृष्टि से भी पुरुष ही प्रधान है। दक्षिणपार्श्वस्थ अग्नि **बलवान्** ह उत्तरपार्श्वस्थ सोम **निबल** है । इस परुष दृष्टि से भी पुरुष का वीर्यशालित्व एव स्त्री का अवीर्यत्व ही सिद्ध होरहा है ।

इन्ही सब प्रकृतिसिद्ध कारणो के आधार पर स्त्री पुरुष के सम्ब ध मे **परतन्त्रता स्वतन्त्रता** भावो का समावश हुआ है । स्त्री को दायविभाग की अधिकारिणी क्यो नही माना गया ? स्त्री को **सामाजिक राजनैतिक** एव **धार्म्मिक** व्यवहारो में पुरुष की भाति पूर्ण स्वात य क्यो नही मिला ? उन की बाल युवा वृद्धावस्थाओ में क्यो **पिता पति पुत्रो** की अगला लगाइ गई ? इन सब प्रश्नो का एकमात्र समाधान **अग्नि सोम** की उक्त मौलिक व्याख्या ही है । स्मृतिशास्त्र को सामयिक अतएव परिवत्तनशील मानने वाले सुधारकब न्धु समझते होग कि स्त्रियो के सम्ब ध मे ऐसे विधान केवल स्मृतिकारा की ही कल्पना है । अपरिवत्तनीय वदशास्त्र का इन से कोइ सम्ब ध नही है । परन्तु हम उन्हे यह विश्वास दिलाते है कि ये स पूर्ण विधान श्रुतिसम्मत अतएव सर्वथा वैज्ञानिक अतएव च **प्रामाणिक** ही हे । विस्तारभय से प्रकृत में व सब श्रौत प्रमाण उद्ध त नही किए जासकत । उदाहरणरूप स कुछ एक निदर्शन ही स तोष के लिए पर्य्याप्त मान लिए जायँगे ।

पुरुषसृष्टि आग्नेयी	सम्वत्सर	स्त्रीसृष्टि साम्या

पुरुष — १–"पुरुषोऽग्नि ' —श १।४।१।६। २–'एतावान् पुरुष यदात्मा प्रजा जाया ' —ता ३।४।३। ३–"यद्वै पुरुषवान् कर्म्म चिकीर्षति, शक्नोति वै तत् कर्त्तुम् ' —श १। ।५।४। ४–"पुरुष शतवीर्य्य —तै ब्रा ३। ।१५। ५– द्विप्रतिष्ठ पुरुष —गो पू ४।२४।	**स्त्री—** १ "उत्तरत आयतना स्त्री" —श ८।४।४।११। २ "अनृत स्त्री —शत १४।१।१।३१। ३ कर्म्म वा इन्द्रिय वीर्य, तदतदुत्सन्न – स्त्रीषु" – श १३।७।२।११ ४ "अवीर्य्या वै स्त्री' —श २।५।२।३६। ५–"पतयो ह्य व स्त्रिग प्रतिष्ठा" —श ६।२।१४।
वृषा— १– इन्द्रो वै वृषा" —शत १।४।१।२३। २–"वृषा हिङ्कार —गो पू ३।२३। ३–"वषा रेत सिञ्चति" —शत २।४।४।१३। ४–दक्षिणतो वै वषा योषामुपशेते" —शत ६।३।१।३ । ५–"समग्निरिध्यते वषा ' —श १।४।१।२६।	**योषा–** १ ' योषा ै सिनीवाली" —श ६।५।१।१ । २ पुरन्धिर्योषा" —तै ३।८।१३।२। ३–'योषा रेतो धत्त —श ७।१।१।४४। ४ "योषा वै पत्नी" —श १।३।१।१ । ५ "न ा योषा कञ्चन हिनस्ति —श ६।३।१।३६।

अग्नि —

१–योे वे रुद्र सोऽग्नि '

—श ५।२।४।१३।

२–'वीर्य्य वा अग्नि '

—तै १।७।२।२।

३–'पुरुषो वा अग्नि

४ 'वषाग्नि '

—शत २।१।१।४।

५–"अग्निर्वै रेतोधा"

—तै १।७।२।३।

सोम —

१–"श्री ैं सोम "

—श ४।१।३।६।

२ पशवो हि सोम '

—शत १।७।२।

३–भद्रा तत् सोम

—ए ५।२३।

४– 'योषा वा आप "

—सोम श ।१।१।४।

५– 'तिरो अह या हि सोमा

—का १८।५।

अन्नाद –

१ अन्नादोऽग्नि '

—शत २।१।४। ८।

२ अग्नि ै देवानामन्नाद '

—तै ३।१।४।१।

३ अग्निरन्नादोऽन्नपति '

—तै ।५।७।३।

४– अग्निमन्नाद वेद, अन्नादो इव भवति

—श० २।२।४।१।

५ "अन्नादा तदग्नि "

—गे ५। ५।

अन्नम्–

१ अन्न पशव '

—ऐ ५।१।

२ "अन्नमु श्री

—श ८।६।२।१।

३ "श्रिया स्त्रिग (समदधात्)

—गो पृ १।३४।

४ अन्न । सोम

—शत ३।६।१।८।

५ 'परमम नाद्य यत् सोम

—का १३।७।

दक्षिणादिक्–

१ दक्षिणामारो० ग्रीष्म ऋतु '

—श ५।४।१।२४।

२ दक्षिणत स ोम्'’

—गो पू ५।१५।

३ 'अग्निना दक्षिणाम्'

—ऐ १।७।

४ दक्षिणादक इ द्रो देवता

—नै ३।११।५।१ ।

५ "दक्षिणा दिशि रुद्रा देवा"

—ए ८।१४।

उत्तरादिक्–

१–उत्तरा ह ै सोमो राजा'

—ऐ १।८।

२ 'एषा ै वरुणस्य दिक'’

—तै ३।८।२ ।४।

३ "यदुत्तरतो वासि सोमो राजाभूतो वासि"

—जै उ ३। १।२।

४ "एषा उ ा शा ता दिक

—त ७।१।३।५।

५ एषा हि दिक स्विष्टकृत

—श ।३।१।२३।

उक्त कुछ एक वचनों को अवधानपूर्वक देखने से विज्ञ पाठक अनुभव करगे कि स्त्री और पुरुष के स्वरूप निर्म्माण में एक बहुत बडा अन तर है । और वही अ तर दोनो के प्राकृतिक स्वरूपो को एकधारा में प्रवाहित नही होने देता । अग्निप्रधान पुरुष जहा अपने स्वाभाविक विकास के कारण सकोचभाव से दूर रहता है वहाँ सोमप्रधाना स्त्री का सकोच स्वाभाविक धम्म बन जाता है। सकोच को मूल में रखन वाले लज्जा शील आदि सद्गुण ही स्त्री के स्वरूप रक्षक बनते हैं। अपने इन्ही स्वाभाविक गुणो के बल से त्री पुरुष की सामयिक उद्दण्डता का शमन किया करती है। समीकरणमूला शान्ति का मूल है दो विरोधी शक्तियों का एकत्र समन्वय। यदि पुरुष की भाात स्त्री भी आग्नेयी बन जायगी तो विस्फोटन होजायगा। यदि पुरुष सौम्य एव स्त्री आग्नेयी बन जायगी तो सस्था उच्छिन्न होजायगी। अग्नि–सोम (उग्रता–शान्ति) का सम न्वय ही दाम्पत्यजीवन की शान्ति तुष्टि पुष्टि का अन्यतम कारण है। स्त्री तभी अपने सौ यरूप में प्रतिष्ठित रह सकती है जबकि उसकी रक्षा का भार पुरुष के कन्धो पर रहता है। पर (पुरुषतन्त्र) त त्र को अपना रक्षक बना कर ही स्त्री अपन स्वरूपभूत साम्यतन्त्र को सुरक्षित रख सकती है।

जिस स्वतन्त्रता परत त्रता के स ब ध में तना विस्तार किया गया उसके सम्बन्ध में अभी यह विदित न होसका कि त वत स्त्री का स्वातन्त्र्य क्या है आर उसकी परतन्त्रता क्या है ?। उस परतन्त्रता का क्या स्वरूप है जो स्त्री का स्वरूप दूषित कर देती है? शास्त्रकार किन अ शो में स्त्री को परतन्त्र देखना चाहते हैं ?।

स्त्री को सवथा अशिक्षित रक्खा जाय पुरुष अपने किसी धार्म्मिक सामाजिक ाजने-तिक कार्य्य मे स्त्री का परामर्श न ले। स्त्री को घर से बाहिर न निकलन दे । स्त्री सदा अपने

मुख को अवगुण्ठन (घूँघट) से ढँका रक्खे। पति श्वसुर देवर आद की आज्ञाओं का पालन करने म कभी पीछे न हटे। यदि स्त्री इन अनुशासनों में कभी भूल कर दे तो पुरुष बर्बरता पूवक उसे मारे पीटे जसा चाहे दण्ड दे यद स्त्रीपारत य का यही अथ है अथवा शास्त्रीय पारत य का यही अथ समझा जारहा है तो हमें कहना पड़ेगा कि ऐसी परत ता का शास्त्र मे तो कहीं ग ध भी नहीं है।

साथ ही— स्त्री अपने कौटुम्बिक धर्म्म की सन्तानपालन की गृहकर्म्मों की सवथा उपेक्षा कर स्कूल कालेजों मे पुरुषसमाज क साथ पश्चिमीशिक्षा की अनुगामिनी बनी रहे। सामाजिक राजनैतिक का यों मे सलग्न रहे। पुरुष (पति) क अनुशासन का कोई मूल्य न समझे। देशाचार–कुलाचार–धर्म्माचार की सवथा उपेक्षा करती रहे वेश भूषा आदि म सर्वथा पश्चिमीदेशों का अनुगमन करे। ल जा–शीलादि का एका तत परि याग कर निलज्ज बनकर पुरुष–समाज म अट्टाट्टहास करती रहे। किसी के नियन्त्रण की अणुमात्र भी अपेक्षा न करे। यदि स्वत त्रता का यही अथ समझा जारहा है तो हमें कहना पड़ेगा कि एसी स्वत ता का भी ग ध शास्त्र मे ता नहीं है।

उक्त परत त्रता एव स्वत त्रता दोनों की व्यवहारशैली मे यद्यपि भेद है पर तु परिणामदृष्टि से दोना सम न है। उक्त परत त्रता में जहा पुरुषो के द्वारा स्त्री पशुभाव में परिणत होरही है वहा उक्त स्वत त्रता में स्त्री स्वय अपनी इ छा से पशु बन रही है। पशुभाव की दृष्टि से दोनो समान है। अपनी इच्छा से जो काम किया जाता है माननीय मन उस पर किसी अ य का निय त्रण सहन नहीं कर सकता। पर तु जो काम दूसरो की इच्छा से विवश होकर किया जाता है उस म परे छा का ही निय त्रण सम्भव है। यही परिस्थिति यहाँ समझिए। परतन्त्रतामूलक पशुभाव में स्त्री पर पुरुषे छा का नियन्त्रण है। यही अनच्छिक पशुभाव है। अतएव इसका अपराध होसकता है। पर तु स्वत त्रतामूलक पशभाव में स्त्री का अपना ही इच्छा–स्वात त्र्य है। यह पशुभाव ऐच्छिक है। अतएव इस का सुधार असम्भव नह तो कठिनतम अवश्य है।

सस्कृति पर चढ हुए दूषित आवरण को हटाकर सस्कृति को बचा लेना सहज है। परन्तु जिसने आवरण के साथ साथ अपनी मूलसस्कृति खोकर उसके स्थान में परसस्कृति प्रतिष्ठित करली वहाँ आप किस का सुधार करेंगे ?। पतित का उद्धार सम्भव है। कि तु पड़ कर जो चकनाचूर होगया वहा किस का सुधार कसा सुधार और कहा का सुधार ?। अपने को सुधारा जासकता है पर तु जो अपना न रहकर सबप्रकार से पराया बन गया उसका सुधार असम्भव है। जबतक हम हम बने रहते है तभीतक हमारा सुधार सम्भव है। जब हम हम ही न रहेंगे तो सुधार किस का होगा ?। इन्हीं कुछ एक तुलनाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रकृत परत त्रता स्वतन्त्रताओ मे परत त्रता चिकित्स्य है पर तु स्वत त्रता (वस्तुत महापरत त्रता) तो अचिकि स्य [लाइलाज] ही है।

यही अब था उन कुप्रथाओ की समझिए जिन्ह जातिभोज ओसरभोज बालविवाह कन्याविक्रय वरविक्रय अन्त्यजों क साथ होनेवाला दुर्व्यवहार आदि नामों से व्यवहृत किया जारहा है। इस में कोइ स देह नही कि ये सभी रूढिवाद विशुद्ध रूढिवाद है। यह भी निर्विवाद है कि इन सब से हम

हमारा समाज हमारा राष्ट्र जीर्ण शीर्ण ही हुआ है। अवश्य ही सुधारप्र मी **सुधारकों** का एव तत्पथप्रदर्शक **सुधारक नेताओं** का यह आवश्यकतम कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे इन सब के विरुद्ध आवाज उठावें। कौन बुद्धिमान् इन भीषण प्रथाओं का अनुमोदन करेगा ?। अवश्य ही हमारा **स्त्रीसमाज** सुशिक्षित होना ही चाहिए। उन के साथ होने वाले बर्बर व्यवहारों का नियन्त्रण करना ही चाहिए। बालविवाहादि का समाज सङ्घटन के द्वारा अवरोध होना ही चाहिए। और हम समझते हैं इसी पवित्र उद्देश्य को लेकर कुछ समय से समाज के कुछ एक प्रज्ञाशील व्यक्तियों ने इस सम्बन्ध में आन्दोलन उठाया भी है। इन के इस आन्दोलन का हृदय से अभिनन्दन करते हुए इस सम्बन्ध में उन के सम्मुख बड़े ही प्रणतभाव से गीताचार्य्य भगवान् वासुदेव कृष्ण की दो सूक्तियां उद्धृत करदेना भी हम अपना आवश्यक कर्त्तव्य मानरहे हैं—

१—न बुद्धिभेद जनयेदज्ञाना कर्म्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्–सर्वकर्म्माणि विद्वान् युक्त समाचरेत् ॥
२—तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते कार्य्याकार्य्य व्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्त कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥

वर्त्तमानयुग का भारतीय समाज अधिकाश में अशिक्षित है यह तो सुधारवादी को भी मान्य है। साथ ही उसे यह भी मानना ही पडेगा कि उसे सुधार इसी अशिक्षित समाज का करना है। अब यदि हमारे ये सुधारकबन्धु समाज मे बुद्धिभेद उत्पन्न कर देते हैं तो वे सुधार के स्थान में बिगाड के ही कारण बन जाते है। रहना इसी समाज में व्यवहार इसी समाज में सुधार इसी समाज का। फलतः सुधारक महानुभावों का यह आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि जिस सुधार को लेकर हम आगे बढे है **देश काल पात्र की** परिस्थिति के अनुकूल ही वह सुधार पनप सकेगा अन्यथा नही। यदि सुधार **लोकसंग्रह** का आत्यन्तिक विरोधी है बुद्धिभेद का अधिष्ठान है तो हमें अपने सुधार को **विषकुम्भ पयोमुखम्** ही बनाना पडेगा। शताब्दियों का कुसंस्कार एक हेला से हटाने का प्रयास करना बुद्धिमानी नही अपितु महामूर्खता ही सिद्ध होगी। एक आवेदन।

बालविवाह बुरा परन्तु इसके पहिले आपको यह अन्वेषण कर लेना पडेगा कि **बाल युवा** की परिभाषा क्या है ?। शीत ग्रीष्म प्रधान देशों के लग्न सम्बन्ध में कौन सी परिभाषा विज्ञानसम्मत है ?। यदि आप स्वय **दिव्यदृष्टि** रखते हैं तबतो कुछ कहना ही नही हैं। यदि आप की दृष्टि विशुद्ध लौकिक है तो उस दशा में इन सब विवादों का निर्णय एकमात्र **शास्त्र प्रमाण** के आधार पर ही करना पडेगा— **तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते**। दूसरा आवेदन। यदि आपका सुधारवाद इन दोनों आवेदनों की उपेक्षा करके आगे बढ रहा है तो हमें कहना पडेगा कि न यह सुधार हमारा है न हमारे समाज का है न राष्ट्र का। अपितु जैसे धर्म्म की ओट में धार्मिकनेता स्वार्थसाधन कर रहे हैं वैसे ही **सुधारकनेता** सुधार की ओट में हमारी मूलसंस्कृति को कुचलने का ही भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। तुलना कीजिए दोषों और **सुधारों** की।

१–स्त्री का अशिक्षित रहना सर्वथा अनुचित किन्तु कालेजों मे पश्चिमी सहशिक्षा इस अशिक्षा से भी कहीं भयङ्कर।

२–पर्दे की प्रथा सवथा अशास्त्रीय किन्तु लज्जा शील शू य अट्टाट्टहास इस से भी कही भयङ्कर ।

३–बालविवाह बुरा कि तु युवतिपरिणय इस से भी कहा भयङ्कर ।

४–जातिभोजन ओसरभोजन (नुक्ता) सर्वथा अहितकर कि तु प्रीतिभोज,गॉर्डनपार्टी, टीपार्टी आदि सवनाश के ही कारण ।

५–अ यजो क साथ दु यवहार अमानुषता कि तु उनके सम्ब ध मे स्पृश्यास्पृश्य खाद्याखाद्य का विवेक न रखना दोनों के ही प्रकृतिसिद्ध वर्णात्मक स्वरूप के सर्वनाश का कारण ।

६–पतियों का असदाचरण सर्वथा ही नि द्य अतएव दण्ड्य, कि तु 'तलाक" प्रथा का अनुमोदन सस्कृति क मूलनाश का ही अ यतम कारण ।

७ रूढिवाद सर्वथा ही त्याज्य, कि तु रूढिवाद क सशोधन के आवेश मे मूलसस्कृति का परित्याग स नाश का ही कारण ।

८–सभी सुधार अपेक्षित, कि तु पश्चिमदेशों की जडभूतानुगता, अतएव आ मसाम्य वञ्चिता भौतिका जीवनपद्धति की गतानुगतिकता (नकल करना) स था अनपेक्षित ।

९–सक्षेपत सुधार करना प्रत्येक सुधारक का उत्तम कर्म, कि तु लोकसग्रह की उपेक्षा करते हुए अपनी स्वार्थलिप्सा के आकर्षण से बुद्धिभेद उत्पन्न करनाज घ य कर्म ।

१ –निष्कर्षत शब्दप्रमाणैकसार सुधार उपादेय कि तु मानसकल्पनैकसार सुधार स था ही हेय ।



स्त्रियों को पूर्णरूपेण शिक्षित होना ही चाहिए । यह ध्रु व सत्य है कि नवमासप य त मातृगर्भस्थित बालकके भावी जीवन का अ यु थान पतन मातृस्वरूप के अभ्युत्थान पतन पर ही अवलम्बित है । पुरुषसमाज की प्रति ठा एकमात्र मातृशक्ति ही है । इस की स्वत त्रता इसका आन द इस की बुद्धि का विकास ही पुरुषसमाज की स्वत त्रता आन न्दि की मूल प्रति ठा है । जिस घर में मातृजाति का अपमान होता है वह घर श्मशान है । कुल का सवनाश है । भूति का उ छेद है स पूर्ण क मकलाप नि फल है ये ह उन दकियानूसी ? पुराणप थी ? भारतीय धर्म्माचार्यों के सहज उद्गार जिन्ह विना दखे सुने ही हमारे सुधारकब धु उन पर कलङ्क

लगाने की भूल किया करते हैं। जिन राजर्षिप्रवर मनु को व स्त्री पारत य का समथक बतलाते हैं उह्ही मनु के द्वारा मातृशक्ति के प्रति कसे आदरभाव अभि यक्त हुए है ? न्स के भि नि नलिा्वत श्लाकों पर हा दृष्टि डालिए।

१-पितृभिर्भ्रातभिश्चैता पतिभिर्देवरैस्तथा।
पू या भूषयित याश्च बहुकल्याणमीप्सुभि ॥
२-यत्र नार्य्यस्तु पूज्य ते रम ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्य ते सर्वास्तत्राफला क्रिया ॥
३-शोचर्ा त जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत् कुलम्।
न शोचर् ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥
४-जामयो यानि गेहानि शप त्यप्रतिपूजिता।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यति सम तत ॥
५-तस्मादेता सदा पू या भूषणा छादनाशनै।
भूतिकामैर्नरैर्नित्ला सत्कारेषूत्सवेषु च ॥
६ स तुष्टो भार्य्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्य्या तथैव च।
यस्मिन्न व कुले नित्य कल्याण तत्र व ध्रुवम् ॥
७-स्त्रिया तु राचमानाया सर्व तद्रोचते कुलम्।
तस्या त्वराचमानाया सर्वमेव न रोचते।
—मनु -३।५५ ५६ ५७ ५८ ५६ ६ ६२।
८-प्रजनार्थ महाभागा पूजार्हा गृहदीप्तय।
स्त्रिय श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ (मनु ६।२६।)।
६-अपत्य धर्म्मकार्य्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वग पितृ णामात्मनश्च ह ॥ (६।२८।)।

जिसे हमारे सुधारक महाभागोंने स्त्री की परत त्रता मान रक्खा है वह पारत य तो वास्तव में उनका स्वात य ही है। किसी याक्ति पर कटुशासन करते हुए उसे ऐसे नियत्रणों में रखना जिस स कि उसका स्वाभाविक विकास अवरुद्ध होजाय वही निय त्रण परत ता कहलाएगा। ठीक इस के विपरीत जो नियन्त्रण मधुर शासन से युक्त है जिस निय त्रण से नियन्त्रित यक्ति के स्वरूप की रक्षा होती है उसका आ मविकास होता है वह प त त्रता तो वास्तव में उस यक्ति की स्वतन्त्रता ही होगी और स्त्रियों के स बध में म वादि धर्म्माचार्य्यों की ओर से स्वतन्त्रतारूपा ऐसी परतन्त्रता का ही विधान हुआ है जिसे कि हम परत त्रता न कह कर रक्षा ही कहेंगे। सौम्य बालक के प्रति पिता का जो निय त्रण है सौम्या स्त्री के प्रति पिता पति पुत्र का वही रक्षा

मक नियन्त्रण ६ । बहिर के शत्रुओं से हमें बचाने के लिए यदि रक्षक सनिक विशेष स्थानों के लिए हमारा नियत्र रखता है तो से हम अपनी **रक्षा** ही करेंगे न कि **परतत्रता**। यही रक्षा हमारे स्वरूप स्वात य की प्रति ठा बनेगी। ता प र्य स्त्री की रक्षा का भार पिता पति आदि जिन व्यक्तियो पर डाला गया है व शासन बुद्धि से रक्षा नहीं करते अपितु **सेवक** बनकर ही रक्षोत्तरदायि व निभात हैं। **पद पद पर पूजाभाव पूण सत्कार पुन मधुर नियत्रण**।

एक चम कार और देखिए। मनु स्त्री के प्राकृतिक स्वरूप से परिचित थ। वे जानते थे कि सौम्य अ तजगत् रखने वाले पुरुष को तो फिर भी कटुशासन में रक्खा जासकता है। पर तु वह सौ या स्त्री जिसका अ तजगत् आग्नेय बनता हुआ उग्र है उस पर कुटुशासन की कथा तो दूर रही **मधुरशासन** भी वमा नही चल सकता जिस में **बलात्कार** की भावना का समावेश स भव बन सके। बलप्रयोग से इह कभी निय त्रण में नही रक्खा जासकता। **पूजनभावयुक्त रक्षाभाव सम्पत्तिसग्रहनियुक्ति न्य शरीरशुद्धि धम्मका र्या भिगमन** आदि आदि **दि य भावों** को म यस्थ बनाकर ही इस मातृशक्ति के अ तजगत् को सुरक्षित रक्खा जासकता है। देखिए! इस सम्बन्ध में राजर्षि मनु क्या कह रहे है-

१—न कश्चिद्योषित शक्त प्रसह्य परिरक्षितुम्।
एतरुपाययोगैस्तु शक्यास्ता परिरक्षितुम ॥
२—अर्थस्य सग्रहे चैना यये चैव नियोजयेत्।
शाचे, धर्म्मेऽ, नपक्त्या च, परिणाह्यस्य वेक्षणे ॥
३—अरक्षिता गृहे रुद्धा पुरुषैराप्तकारिमि ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षयुरता सुरक्षि ा ॥

—मनु ६।१ ११ १२।

अर्थात्– कदापि बलप्रयोग से स्त्री के स्वरूप की रक्षा सम्भव नहीं है। अपितु धनसग्रह ग्रहस्थ यय शौचाचार कुलाचार धर्म्माचार पर्वो सवमङ्गलपरायणता भोजन यवस्था ग्रहस्थपरिग्रह सरक्षण आदि आदि कत्त यनिष्ठाओ क मा यम से ही नारी की स्वरूप रक्षा सम्भव है। पुरुष को यह स्मरण रखना चाहिए कि नारी घर की चारदीवारी मे बलपवक नियन्त्रित कर देने से कदापि सुरक्षित नहीं रह सकती। अपितु इसकी रक्षा तो इस की स्वय की कत्त यानुगता–आत्मनिय त्रणवृत्ति से ही सम्भव है।

समस्त भारतीय शास्त्र पर दृष्टि डाल जाइए। कही भी आपको स्त्री के स व व में परतन्त्र शब्द नही मिलेगा (१) न स्त्री स्वात यमहति (२) अस्वतन्त्रा स्त्रिय कार्य्या या द रूप से केवल यही आदश मिलेगा कि उनको स्वत त्रता का उपयोग स्वत त्र नही रहना चाहिए। अपन स्व स्वत त्रता का व तभी सुरक्षित रख सकती है जब कि किमी रक्षक ो व अपनी प्रतिष्ठा बना लेती है। और अवश्य ही य रक्षात्मक-भाव स्त्री के सहजसिद्ध सौम्य स्वभाव के कारण सवमा य ही माना जायगा।

साथ ही जहा जहा स्त्रीपार य का उल्लेख हुआ है वहा वहा पुरुष का रक्षक ही घोषित किया गया है न कि शासक। उदाहरण के लिए पिता रक्षति कामारे भर्त्ता रक्षति यावने रक्षति स्थाविरे पुत्रा –स्त्रियो रक्ष्या विशेषत जाया रक्षन् हि रक्षति – रक्षेयुस्ता –यत ते रक्षितु भार्य्याम् इ यादि कुछ एक वचन ही प र्याप्त होगे।

पुरुष होने के नाते मनु ने स्त्रियों क लिये ऐसे पक्षपातपूर्ण आदेश दे डाले है इतप्रकार का अनगल प्रलाप करने वाले उन सुधारक–बन्धुओ को हम विश्वास दिलाते हैं कि मनु भी आपके ही समान सुधारक किन्तु वास्तविक सुधारक थ। स्त्रीजाति के पतन का दोष आप आज जिसप्रकार पुरुषजाति के मत्थ मढते है आप के सहयोगी मनु ने भी पुरुष को ही अपराधी ठहराया है। मनुने स्पष्ट श दो में ऐतिहासिक घट नाओ का निद्द श करते हुए यह सिद्ध किया कि जिस समाज में स्त्रीजाति का पतन देखो विश्वास करो! यह पुरुषजाति का ही अपराध है। जिसप्रकार नदी का मधुर जल क्षारसमुद्र के ससग से क्षार बन जाता है एवमेव स्त्री के गुण गुणहीन पुरुष क ससग से दूषित हो होजाते है। ठीक इस क विपरीत पुरुष क सद्गुणो से दुगु णा स्त्री भ सुधर जाती है। अतएव स्त्रीसमाज का अभ्यु थान चाहने वाले पुरुषसमाज को पहिले अपना हीं अभ्युत्थान करना चाहिए। बतलाइए न मलिा ित मनुवचन किसे अपरा ी ठहरा रहे हैं? एव किस के साथ पक्षपात कर रहे हैं?

१–यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री सयुज्येत यथाविधि।
ताहग्गुणा सा भवति समुद्र गेव निम्नगा॥
२–अक्षमाला वसिष्ठेन सयुक्ताऽधमयोनिजा।
शारङ्गी म दपालन जगामाभ्यहणीयताम्॥

---

(१) पिता रक्षति कौमारे, भर्त्ता रक्षति यावन।
रक्षन्ति स्थाविरे पुत्रा न स्त्री स्वात यमर्हति॥
—मनु ६।३।
(२)- अस्वतन्त्रा स्त्रिय कार्य्या पुरुषै स्वैर्दिवानिशम्।
विषयेषु च सज्ज त्य सस्थाप्या आत्मना वशे॥
—मनु ६।२।

३ एताश्चा याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतय ।
उत्कष योषित प्राप्ता स्वै स्वैभन गुणे शुभै ॥
—मनु ६। २।८३। ४।

प्रश्न होसकता है कि पूर्वप्रदर्शित अ नीषोम–विज्ञान के अनुसार जब सौ य स्त्री शक्ति–रूपा है तो स पुरुषरक्षा की क । आवश्यकता है ? । क्या शक्तिरूपा वह स्त्री जो अपने सहयोग से शक्तिशून्य पुरुष को भी शक्तिमा बना दती है अपूण पुरुष को अपने अर्द्धाकाश प्रदान से पूण पुरुष बना देती है वह स्वय अपनी रक्षा नही कर सकती ? प्रश्न साधारण होता हुआ भी कुतूहल–वद्ध क है ।

कुतूहलवृद्धि का कारण है–हमारा–बुद्धिवैभव । याद इस सम्ब ध में थोडी सी भी विचारशक्ति से काम लिया जाता तो उक्त प्रश्न उपस्थित ही नही होता । पहिले विज्ञानदृष्टि से समाधान कीजिए । जो तत्त्व जिस तत्त्व का घन होता है वह स्वय उस घनतत्त्व का उपयोग नहीं कर सकता । उदा रण के लिए मन–प्राण–वागघन अ ययात्मा को ही लीजिए । मन ज्ञानशक्ति है प्राण क्रियाशक्ति है एव वाक् अथशक्ति है । क्योंकि आ मा यय शक्तिघन है अतएव वह स्वय सका उपयोग करने में असमथ है । शक्तिसञ्चार के लिए शक्ति से अतिरिक्त प्रदश ही अपेक्षित है । जब वहा शक्ति के अतिरिक्त कुछ और है ही नही तो उसका प्रसार कहा हो ? । अतएव मन–प्राण–वाङ्मूर्त्ति किंवा ज्ञान क्रिया अथशक्ति–मूर्त्ति अव्यय को अप्राण अमना ही कहा जाता है— अप्राणो ह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात परत पर (मुण्डक) ।

कामना मन का यापार अवश्य है पर तु मन से कामना का उदय तभी स भव है जब कि वह हृदयरूप सीमाभाव को प्रतिष्ठा बनाले । उधर अ ययमन और हृदय एक वस्तुत व है । अतएव मनोघन होते हुए भी उसे निष्काम आप्तकाम अकाम इ यादि नामों से यवहृत किया जाता है । स्वशक्ति का उपयोग स्व म (अपने धरातल में) कदापि नही होसकता यह निश्चित है। होसकता है कब ? जब कि वह शक्ति किसी अ य को प्रति ठा बनाले । विश्वद्रष्टा चक्षु स्वय अपना रूप तबतक देखने में असमर्थ है तबतक कि वह दर्पण को आधार न बनाले । क्या कोइ वैद्य अथवा डॉक्टर अपनी चिकि सा में सफल होसकता है ? । दूस रे के मुकद्दमों की परवी करने वाल लीडर अपने केस में परवी नही कर सकता नही करनी चाहिए ।

बस ठीक यही परिस्थिति यहा समझिए । स्त्री शक्तिघन है । अतएव तबतक यह अपनी शक्ति का सदुपयोग क ापि नही कर सकती जबतक कि किसी शक्तिमान् को यह अपना आश्रय नही बना लेती । शक्तिमान् के द्वारा ही यह शक्ति न विकसित होसकता है । इस से स्वय का भी विकास होगा उधर अशक्त पुरुष भी शक्तिशाली बनता हुआ शिवभाव मे परिणत होजायगा । एक समाधान ।

अब स्थूलदृष्टि से विचार कर लीजिए । मानस वृत्तियों के समीकरण के लिए यह आवश्यक है कि कोश का उपयोग स्वय कोशाधि ठाता न करे । जिसके कोश में जो वस्तु है वह उसका उपयोग न करे यही ता पय्य है । इसी नियम पर चलने से समाज में शा ति वस्ति रह सकती है। कहना न होगा कि इसी उद्द श्य

सिद्धि के लिए वर्ण व्यवस्था व्यवस्थित हुई है। **ब्राह्मण ज्ञान का कोश है क्षत्रिय पराक्रम का कोश है वैश्य सम्पत्तिकोश है शूद्र शिल्पकलानुग सेवाभाव का कोश है**। चारों वर्ण चारों के कोशाध्यक्ष है। **ब्राह्मण का ज्ञान समाज की शान्ति मे आहुत है क्षत्रिय का पराक्रम समाज की तृप्ति में आहुत है वैश्य की सम्पत्ति समाज की तुष्टि मे आहुत है एवं शूद्र का सेवाबल समाज की पुष्टि मे आहुत है**। इन्हें अपनी स्वरूपरक्षा के लिए इस कोश से कुछ भी लेने का अधिकार नहीं है। ले गे अवश्य लेंगे परन्तु आहुति का शेष भाग। इन्हें **यज्ञोच्छिष्ट** से ही स्वरूपरक्षा करने का अधिकार है— **यज्ञशिष्टाशन सन्तु**। एवं ये निधूतकिल्विष रह सकते है। **हम हमारे लिए नहीं अपितु समाज के लिए है** यही **सर्वहुतयज्ञ समाजशान्ति** दूसरे शब्दों में **समाजस्वातन्त्र्य** की मूलप्रतिष्ठा है। पारस्परिक अनुशासन में ही स्वतन्त्रता का बीज प्रतिष्ठित है।

यदि **लुहार सुनार कुम्भकार** आदि अवान्तर सामान्य भी कोशाध्यक्ष अपनी सामग्री को अपना साक्षात् द्रव्य बनालें तो क्या परिणाम होगा ? यह उन्हीं विचारशीलों से प्रष्टव्य है। स्त्री शक्तिघना है। उसे स्वयं सक्षाद्रूप से उसके उपयोग का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। शक्तिघन को यह विवेक रहता ही नहीं कि मेरी शक्ति कहां कब कितनी क्यों कैसे खर्च होरही है ?। यही एक ऐसी विषमता थी जिसे रोकने के लिए ही इसका एक मन्त्री बनाना आवश्यक समझा गया। **वही मन्त्री वही रक्षक वही सैनिक वही उपासक वही पूजक** विश्व में **पुरुष** नाम से व्यवहृत हुआ है।

भावुक जन कहते है—पश्चिमी देशोंने इसलिए उन्नति की है कि **वहां स्त्रियों को पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त है**। सुस्वागतम् ?। आप और आपका भारतवर्ष तो पश्चिम नहीं है। इसका नाम है— **पूर्वदिशा कर्म्मभूमि आर्यावर्त्त—भारतवर्ष**। क्या आप यह चाहते हैं कि **पूर्व पश्चिम बन जाय कर्म्म अकर्म्म बन जाय भारतवर्ष केतुमालवर्ष बन जाय ?**। प्रकृति से ही पूछ देखिए देखें वह इस सम्बन्ध में क्या सम्मति प्रदान करती है ?।

प्रकृति कहती है कि पूर्वदेशों में मै **इन्द्ररूप** से प्रतिष्ठित रहती हूं एवं पश्चिमीदेशों में मेरा **वरुणरूप** प्रधान है। इन्द्रदेवता अग्नि के अनुयायी हैं एवं वरुणदेवता सोम के। अतएव अग्निप्रतिष्ठारूपा दक्षिणादिक् इन्द्र की भी एवं सोमप्रतिष्ठारूप उत्तरादिक् वरुण की भी मान ली जाती है जैसा कि निम्न-लिखित वचनो से स्पष्ट है।

इन्द्र—	**वरुण**
१—अथ यत् पुरस्ताद्भासीन्द्रो राजा [जै० उ० ३।२१।२]।	१ अथ यत् पश्चाद्भासि वरुणो राजा ।
२—अथैनं [इन्द्र] प्राच्याम् ऐ० ८।१४)।	प्रतीची दिक् वरुणोऽधिपति (अथ० ३।२७।३]।
३—प्राचीदिक् अग्निदेवता [तै० २।११।५।१]।	३—प्राचीदिक् सोमो देवता [तै० ३।११।६।२]।
४ दक्षिणादिक् इन्द्रोदेवता [तै० ३।११।५।१]।	४—उत्तरा ह वै सोमो राजा ऐ० ।८]।
५—वृषा वा इन्द्र [कौ० २ ।३।]।	५ एषा वै वरुणस्य दिक् [तै० ३।८।२ ।४]।

* इन्द्रा नीरूप पुरुष पुरुषसृष्टि का एव वरुणसोमरूप स्त्रीसृा ट का आल बन बतलाया गया है। इ द्राग्निप्रधान पूर्वीदेश पुरुषसृा ट की प्रधानता के द्योतक है एव वरुण–सोमप्रधान पश्चिमीदश स्त्रीप्राधा य के सूचक है। इस प्राकृतिक भेद के अनुसार अवश्य ही दोनो के आदशा को भि न भिन्न ही माना जायगा। और यही भेद यह सिद्ध करने के लिए प र्या त होगा कि मारी **प्राणप्रधाना दाम्प य-यवस्था** कभी उनके **भूतप्रधान दाम्प यजी न** स समतुलित नही होसकती।

जाने दिजिए प्राकृतिक कारण को। जिन पाश्चमी देशोने शक्ति न को अरक्षित कर लिया है उन के लिए आज वही शक्ति व सवसहार का ही उपक्रम बन चुका है इस न नसय को कौन स्वीकार नही करेगा? । आ यनारी की स्वरूप प्रतिष्ठा तो इसी में है कि वह अपने आपको स्वत त्र न समझ कर अपनी स्वत त्रता का आधा भाग पुरुष को ही समझे। उधर आ यपुरुष का यह कर्त्त य है कि वह अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग इनके सहयोग से ही करे। दोनो की सदभावना ही हमा दश का अ य य कर सकती है।

सुधारवादी महोदय आवश में पडकर यह भूल जाते है कि हम रूढिवा ो का जो सुधा करना चाहते है वह सुधार वास्तविक सुधार न ी है अपितु यह तो पश्चिमी दशो का विशुद्ध अनुकरणमात्र है। और इस अनु करण की तुलना मे यह नि सकोच क ा जासकता है कि जो अनुकरण जो सुधार जो स्वत त्रता हमारा मूल नाश करने के लिए ही मु ह बाए खडी है हानिकर एव अशास्त्रीय पद की प्र ा के विरुद्ध सुना पडने वाली जिन भी मपातशाओ की ओट में आय्यनारी को आज जो निल जता का पाठ पढाया जारहा है दूषित जाति–भोजो के सुधार के नाम पर पाश्चमानुकरणप्रधान जिन **प्रीतिभोजा** (पार्टियो) का समथन किया जारहा है इन सब अकाण्ड ताण्डवा की तुलन में तो हमारी परत त्रता हमारी दूषित प्रथा ही कही अ छी है। इस लिए कि उन सुधारो से हमारे मूला पर प्र यक्षरूप से ही आक्रमण हारहा ह

अस्तु जिस युग मे ध र्म एक ठेकेदारी की वस्तु बन कर अधम्म प्रसार ही कर रहा हो जहा **नश्यन्ति बहुनायका** आभाणक ही सर्वा मना चरिता र्थ होरहा हो वहाँ के सुधारकबन्धु यदि सुधार के नाम पर बिगाड का प्रसार क तो इसमें उनका को भी दोष नही माना जासकता। देशकाल की परिस्थिति का विचार भी आवश्यक है जिस शासन से हम शासित ह उसकी स य ा का भाव हम पर न पडे यह भी असम्भव है। इन सब त यो को लक्ष्य में रखते हु पारस्परिक वैमनस्य का परि याग कर देश के **विद्वानों** एव **सुधारनेताओं** के सम्मि–लित परामश स कोई ऐसा म यमपथ निकलना ही चाहिए जिससे सामयिक परिस्थिति का भी आदर किया जासके एव साथ ही **पश्चिम पूर्व** के इस भयानक सघष के म य में पडी हुइ अपनी मौलिकता की भी येन केन रूप से रक्षा की जासके। अभी तो यही कहना पडेगा कि **धर्म्मानुयायी धर्म्मनेता** एव **समाज तदनुयायी समाजनेता धर्म्म सुधार** प्रसार के नाते अ र्म्म–बिगाड ही कर रहे हैं। इन पक्तियों के असमथ लेखक के प्रज्ञाकोश में अपनी क्षोभ शा ति के लिए इस के अतिरिक्त और क्या बच रहा ह कि वह दयानिधि से प्राथना करे कि भगवन्!

* इस विषय का विश विवेचन **गीताभाष्यभूमिका** के प्रथमखण्ड में देखना चाहिए।

यथा चेतमि मोह मत्सर मद् श्रा। त समुज्जम्भते ।
तेऽ ग्त दयया दयाघननिभो ! स तारणीयास्त्वया ॥

———*———

उक्त दा प यरहस्यविज्ञान से अब यह सिद्ध हाचुका ह कि आर्य्यावत्त के कारुणिक ऋषियोन स्त्री–जाति के लिए जिन नियमो का विधान किया ह व सब ूसके अ यु थान के ही कारण हैं। स्त्री की ऋतमया अतए । स यशू या सोम्या वृत्ति को लक्ष्य मे रखकर एक स्थान पर तो भगवान् मनुने यहातक कह ाला ह कि—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वासमपि कर्षति ॥

—मनु २। १।४।

माता बाहन दोहिती आाद क साथ भी पुरुष के निर्जन घर म नहीं बैठना चाहिए क्या मनु का उक्त विधान उपहासास्प है? । मुकुलितनयन बन कर विचार कीजिए । पर्दे क विराध की आट म आर्य्यनारी को उद्दामवासनाा सत पाश्चम क प्राङ्गण मे ताण्डवनृ य के लिए खडा करना क्या स्त्रीजाति की उन्नति का माग है ? । खूब सोचिए ! यो यों आप विवकबुद्धि से ूस दुरूह प्रश्न का मनन करते जायगे यो यो आपकी विवकशालिनी बुद्धि चिर तन ऋषियो के पुरातन सिद्धा तो की ओर निश्चयेन आकर्ि त हाती जायगी ।

हा तो प्रकृत में हमें उक्त स दभ से बतलाना यही था कि स्त्री साम्या है ऋतभावापन्ना है । ूस ऋतभाव को प्रतिष्ठित करने के लिए ही रक्षा मक–मर्य्यादासूत्ररूप योक्त्र से प नी का सन्नहन किया जाता है । याक्त्रब धन के इसी प्रथम कारण का निरूपण करती हु श्रुति कहती है—

"योक्त्रेण हि योग्य युञ्जन्ति" * ।

———

*– योक्त्रण हि यो य युञ्जन्ति वचन भारतवष की विज्ञानस मता प्राचीन स्त्री कीपुरातन वशभूषा की ओर भी हमारा यान आकर्षित कर रहा है। अवश्य ही उस युग में भारतीय–आर्य्यनारी का अधावस्त्र वैसा की रहा होगा जिस में सूत्र मयी किंवा रेशम की र ज्जु (डोरी) प्र त रहती ोगी जिसे कि आज की राजस्थानीया–प्रान्तीया–भाषा मे– नाडा कहा जाता है । नाडा निश्चयेन वैदिक युग के योक्त्र–बन्धन का ही प्रतिरूप है । परमसास्कृतिक महा भाग्यशाली राजस्थान में तो आज भी यहाँ की गृहदवियो की सुसास्कृतिककी वेशभूषा में योक्त्ररूप–नाडाबन्धन रुप से सुसमन्वित सुप्रसिद्ध घाघरा नामक अधोवस्त्र ही उपलब्ध होरहा है जिस की ग्रन्थि भी उसी पद्धति से समन्विता है । एतदतिरिक्त रास्ना नामक आभूषण की प्रतिरूपता का भी अत्र समावश हुआ हैं । राजस्थान की नारी का सुप्रासद्ध काञ्ची नामक (कणकती) आभूषण भी वैदिक–युग की– रास्ना ही है ।

अपिच—प नी का नाभ से नीचे का प्रदश अनेक कारणो से अपवित्र माना गया है। नाभि से नीच गर्भाशय में शोणित रहता है। इसी शोणित में शुक्राहुति हाने से प्रजो पत्ति होती है। ऋतुमती त्री के शाणित मे तमोभाव के प्रवत्तक सूय्यविराधी **अत्रिप्राण** की सत्ता रहती है। अतएव ऋतुमती को **आत्रेयी** कहा जाता है। यह आत्र अ मा को मलिन करन वाला प्राण है। अतएव आत्रयी के स्पश का ध मशास्त्र ने सवथा निषध किया है। यही पाहला **अमेध्यभाव** है। गर्भाशय मे शुक्रशोणित क मिथुनभाव में क ममाक्ता भावनावासना से भावित वासित औपपातिक जीवा मा प्रविष्ट होता । पापमयी वासना ही जीव के गर्भाशन में प्रवश का मुख्य कारण है। यही दू ारा **अमेध्यभाव** है। न सब अम यभावो स प नी का नाभि स नाचे का प्रदश अम य माना गया है। अमे यभाव क समावश से **मे ययज्ञ** सदोष बन जाता है। धर केवल प नी का यज्ञ में योग ही नही होता। आपतु म त्र बोलत हुए इस यज्ञाङ्गभूत आ य का दशन करना पडता है। **आ य पृष्ठ** विज्ञान के अनुसार (आ यात्मिक प्राणदवताओ के साथ) आधि-दविक प्राणदे ताओ का सङ्गमन (ग्रन्थिबन्धन) करवाने वाले **आ य** नामक **प्राण** का प्रतिकृतिरूप यह आ य सवथा मे य है। यदि अपने अम यभाव का अवरोध न करती हुइ यजमानप नी म य आ य का अवलोकन कर लेगी तो आ य का म यभाव नष्ट होजायगा। इसी विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए (पत्नी के अमे यभाव का अवरोध करने के लिए) भी योक्त्रब धन किया जाता है। योक्त्र-ब धन की यही दूसरी उपपत्ति है ॥१३॥

प नी के ऊपर ही योक्त्र बाधा जाता है। द्यु लोकाग्नि में सोम की आहुति होने से **श्रद्धा** नाम से प्रसिद्ध **चा द्र पानी** उ पन्न होता है। पज या न में श्रद्धा की आहुति होने से **वृष्टि** का ज म होता है। पार्थिवाग्नि म वृष्टि की आहुति होने स **कापासादि ओषधिया** उ पन्न होती है। जिस कार्पास (कपास) से त तुवाय (जुला ा) ताना बाना लगा कर वस्त्र स पन्न करता है वह वस्त्र उप युक्त पञ्चाग्निविद्याक्रम से वास्तव में **ओपधिरूप** ही है पानी ही ता कपास बना है। कपास ही तो वस्त्ररूप म परिणत हुआ है। पानी में रहने वाला सवरणध र्मा* वाला प्राण ही **वरुण** कहलाता है। ग्रन्थिब धन करना इसी प्राण का स्वरूपध म है। आप जहा कही जसा भी ब धन देखते हैं—वहा सवत्र वरुणप्राण की ही सत्ता है। अतएव वरुण का पाश (ब धन) का आधिष्ठाता माना जाता है। **वरुणपाश सुप्रसिद्ध है**। आपोमय होने से **ओषधिरूप वस्त्र वरुणदवतामय है**। इधर जिस योक्त्ररूप र ज्जु (र स्सी) से सनहन किया जाता है वह भी ब धन की साधिका होने से **वरुणदेवतामयी ही है**। यदि वस्त्रा के ऊप स वारुणी रज्जु का सन्नहन होता है तो यह रज्जु (रज्जुगत वारुणप्राण) शरीराग्नि को किसी प्रकार की पीडा नही पहुचाती। वस्त्र सजातीय है। अत उस पर वारुणी का आक्रमण नही होता। प नी का इसी वरुणाघात से बचाने के लिए वस्त्रो के ऊपर ही योक्त्र-ब धन किया जाता है ॥१४॥

अदि यै रास्नासि यह म त्र बोलते हुए ही सनहनकम्म किया जाता है। पृथिवी का जो भाग सूर्य्य की ओर रहता है दूसरे श दों मे-पृथिवी के जिस भाग पर सो प्रकाशमय प्राणदेवता अविच्छिन्नरूप से आते रहते हैं पृथिवी का वही अहर्भाग **अदिति** कहलाता है। यही अदितिपृथिवी प्राणदेवताओं को अपने गर्भ में रखती हु दूसरे श दा में **वसु रुद्र-आदि य अश्विनीकुमार रूप ३३ सा प्राणदेवताओं** का स्वरूप-सम्पादन करती हु जहा **अदितिर्म्माता** इ यादि रूप से देवताओं की माता कहलाती है वहाँ वही

*— **त वा एत वरण स त वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण ।**

अदिति उक्त प्राणदेवताओं का भोग–साधन बनती हुई प्रकृत ब्राह्मण में देवप नी–नाम से भी यवहृत हु है । पदार्थविद्या में–पति–प नी–पुत्र–पिता स्वसा–दुहिता–आदि सब यवहारों का परस्पर साकर्य है । पिता पुत्र बन जाता है । प नी माता बनजाती है माता प नी बन जाती ह एवं पुत्र पिता बन जाता है । प ार्थविद्या के सी वज्ञानिक रहस्य को लक्ष्य में रखकर वाजश्रुति कहती है—

"स एष पिता पुत्र । यदेषोऽग्निमसृजत तेनषोऽग्ने पिता । यदेतमग्निं समदधात् तेनैतस्याग्नि पिता । यदेष देवानसृजत–तेनष देवाना पिता । यदेत देवा समदधु तनतस्य देवा पितर । उभय हैतद भवति पिता च पुत्रश्च" ।

—शत ब्रा ६ का १। ।२६। इति ।

प्राणदवताओं की समष्टि ही यज्ञ है । अदितिपृ थवी इस यज्ञप्रजापतिरूप यजमान की प नी है । इधर चा द्रगाभता इस अदिति से ही स्त्री की उ पत्ति हो ी है जसा कि पूर्व म बतलाया जाचुका है । यही अदिति की प्रतिकृति है । साक्षात् अदिति है । अत इसके लिए ह र ज्जु ! तुम आदति के लिए रास्ना (मेखला–काञ्ची–कडोर कणकती आदि नामा से लाकभाषा मे प्रसिद्ध) हो यह कहा गया है । जबतक रज्जु र जु है तबतक वह अवश्य ही वरुणभाव स आक्रा त है । यद्यपि वस्त्रों के उपर बाधने स रज्जु का वरुणभाव एकप्रकार से शा त होजाता है फिर भी पर परया तो वरुण का आक्रमण प्रा त हो ही जाता है । इसी विप्रतिपत्ति को म त्रभावना स सवथा विदूर करने के लिए दूसरे श दो में रज्जुगत वरुणभाव की सवथा निवृत्ति के लिए ही इस रज्जु म रास्ना (मेखला) की भावना की जाती है । यह रज्जु रज्जु नहीं अपितु रास्ना है । प नी का आभूषण है । ब धन क स्थान मे यह ता सा दृश्य का ही साधन है–यही ता प य है ॥१५॥

यद्यपि रास्ना की भावना से योक्त्ररूपा रज्जु का वरुणभाव हट गया है । फि भी य द योक्त्र के दक्षिण उत्तर–पाशाग्रा मे ग्रन्थिब धन कर दिया जायगा (दोनों अग्र भागो में गाठ लगादी जायगी तो) पुन यह योक्त्र वरुणभाव से युक्त होजायगा । कारण पूर्व कथनानुसार ग्रन्थिरूप पाशब धन के अविष्ठाता वरुण हो है । अत गाठ सवथा नही लगानी चाहिए ॥१६॥

यदि गाठ नही लगाइ जायगी तो योक्त्र स्वस्थान में अवस्थित (रुका) कसे रहेगा ? इस विप्रतिपत्ति को दूर करने का उपाय है ऊर्ध्व भाग में पाशाग्र को खचित कर दना । जिस क्रम से ऊ व की ओर उद्गूहन किया जाता है वह पद्धतिनिरूपण प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है । विष्णोर्वेष्योऽसि यह म त्र बोलते हुए ही योक्त्र का ऊ व उदगूहन किया जाता है । प नी यज्ञ का पश्चिमार्द्ध भाग है यह बत लाया जाचुका है । बिना प नी के यज्ञ स पन्न नही हाता अत हम इस यजमानप नी को अवश्य ही वि णुरूप यज्ञ की किंवा यज्ञरूप विष्णु की स्वरूप सम्पादिका कर सकते है । इधर ऋतभावापन्ना प नी का योग योक्त्रब धन पर ही निभर है । योक्त्रब धनरूप ऊ व उदगूहन का प्रधान साधन योक्त्र का दक्षिण पाशाग्र ही है जसा कि पद्धति में बतलाया जाचुका है । दक्षिण में अग्निसत्ता (ऋतुयज्ञसमपक ऋताग्नि की सत्ता) रहती है । ऋताग्नि में ऋतसोम की आहुति होने से ऋतुसमष्टिरूप सम्व सरयज्ञ स पन्न होता है । यज्ञ ही विष्णु

है । दक्षिणपाश मे यही दक्षिणस्थ अग्निमूर्त्ति यज्ञवि णु प्रति ठित है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर हे दक्षिणापाश ! आप विष्णुरूप यज्ञ क वेष्टन हो यज्ञ क स्वरूप सम्पादक हो इस म त्र के द्वारा यही भावना रखते हुए उसका (दक्षिणपाशाग्र का) ऊ व की ओर ही उदगृहन किया जाता है ।

अब केवल यह प्रश्न बच जाता है कि जसे यज्ञकर्म मे युक्त यजमान अ य यु –होता उद्गाता ब्रह्मा आदि ऋत्विजों के बैठने के स्थान नियत है तथा इस प नी के बठने का कौनसा नियत स्थान है ? इसी प्रश्न का गोपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है

यायप्रा त बात तो यह है कि यजमानप नी को गाहप यानिकुण्ड के ठीक पश्चिम में पूर्वमुख करके ही बैठना चाहिए था । अर्थात् प नीशाला का नि र्माण गाहप य से पश्चिम म ही होना चाहिए था । कारण स्पष्ट है । प्रकृति मे सूर्य्यरूप आहवनीय पूव में है । पृथिवीरूप गाहप य इससे पश्चिम में है । पश्चिमस्थ भूपिण्ड (अदि युपलक्षित भूपिण्ड) देवताओ की प नी है । पश्चिम में प्रतिष्ठित होती हुई पृथिवी (भूपिण्ड) सू य की ओर (पूव की ओर) चलती हु घूम ही है । पश्चिम से पूव की ओर जाती हुई स व सर का स्वरूप सम्पादन करती हुई अदिति पृथिवी ही सौर प्राणदेवताओ के स व सर–यज्ञ का स्वरूप–स पादन कर ही है । यजमानप नी इसी अदिति पृथिवी के स्थान में है । इध स वधयज्ञ म वेदि के पूवभाग में अव–स्थित चतुरस्र (चौकोर) आहवनीयकुण्ड द्युलोक की प्रतिकृति है एव वेदि से पश्चिमदिक मे अवस्थित वर्तु ल गाहप यकुण्ड अदिति पृथिवी का स्वरूप है । यही स्वरूप यजमानप नी का है । अत इसे स्वस्थानभूत (अदितिस्थानभूत) गाहप य के ठीक पश्चिम में ही बैठना चाहिए । पर तु ऐसा न कर गाहप य से दक्षिण नैर्ऋ तकोण मे ही पत्नीशाला बना जाती है । कारण इसका यही है कि यदि पृथिवी–स्थानी गाहप य के समीप पश्चिम में प नी को बठाया जायगा तो यह प नी परिभ्रमण करती हुई पृथिवी के साथ युक्त होजायगी । पार्थिवगति मे आरूढ होजायगी एव जसे पृथि ी स व सर के भीतर भीतर (परिभ्रमण से) द्युलोक में पहु च जाती है तथव इस की गतिभावना से आकर्षिता यजमानपत्नी भी द्युलोक में चली जायगी। प नी को इसी द्युलोकगमन से बचाने के लिए प्रकृतिसिद्ध स्थान स हटाकर गाहप य से दक्षिण नैर्ऋ तकोण में ही प्रतिष्ठित किया जाता है ॥१ ॥

इति पत्नीसनहनोपपत्ति

३—पत्नीकृताज्यावेक्षणोपपत्ति –

प नी योषाप्राणमयी है इधर आ य रेतोरूप होने से वृषाप्राणमय है । आ य (घृत) दुग्ध का कार्य है । दुग्ध ओषधि क विकार है । ओषधि पानी से उ पन्न हुई है । पानी सोम का विकार है । सोम ह्य साक्षात् रेत है । वही सोम परम्परया आ यरूप म परिणत हुआ है । ऐसी अवस्था में आ य को अवश्य ही रेत कहा जासकता है । भा यारम्भ में यह बतलाया जाचुका है कि प्रजो पत्ति मे स्त्री पुरुष का मिथुनभाव कारण नहीं है अपितु योषा वृषा प्राण का मिथुनभाव ही प्रजो पादक

ह । न प्राणो का सयाग इष्टिसूत्र से भी होसकता है । पुराण मे ऐसे अनेक आख्यान उपल ध होते ह कि **अमुक ऋषि ने अमुक स्त्री की ओर कामवासना से देखा एव निमित्त स स्त्री को गर्भाधान होगया** । यदि आ मा निर्विकार है भाव प्रबल हैं तो ऐसा होना कोई असम्भव न ी है । म य आ मा का र य सक प कभी यथ नही जाता । यह आ यरूपा रेत–आ ुति प्रजा पत्ति का का ण बनने वाला है । इसम यजमानप नी का योषाप्राण भी सयुक्त होना चाहिए । बिना सके यजमान का यज्ञ अ ूरा र ता है । योषाप्राणा मक इसी मिथुनभाव की प्रा त के लिए प नी को रेतोरूप आ य के दर्शन कराए जाते ह ॥१८॥

यदि चक्षु में किसी भी प्रकार का भावदोष एव किट्टमलादि का आवरणदोष रहत ह तो योषाप्राण का आ य में प्रवेश नही होसकता । मेरे चक्षु सवथा निर्दुष्ट है—म निर्दुष्ट चक्षुओं से ही आ य देखती ह **अद्‌ धेन वा चक्षुषा पश्यामि** यह म त्र भाग सी भावना का द्दन्मूल बनाता है । अग्नि ज्वाला ही अग्नि की जिह्वा है । सा थ ही यह भी सिद्ध विषय है कि जबतक अग्नि प्रदीप्त नही होता तबतक प्राण वता प्रदीप्त नही होते । जबतक प्राणदेवता प्रदीप्त नही होते तबतक आहुति साधक नही बनती । आहुति का सफल होना प्राणदवताओ के आगमन पर हीनिभर है । प्राणदवताओ का आगमन प्रदी त(समिद्ध)अग्नि पर ही निभर है । अग्नि की प्रदीप्ति आ याहुति पर हीनभर है । अग्नि को प्रदीप्त कर अग्नि म प्राणदवताओं का प्रतिष्ठित करना आ य का ही काम है । अत हम अवश्य ही आ य को अग्नि का ोभन आह्वान करने वाला **जिह्वा स्थानीय** मानसकत हैं । आहुतिद्र य स ाद या मा का शरीरान माण हागा— त्रप्रयोग सफल होग । य सब क म आ याहुति पर ही निभर हैं । आ य के सी स्वरूपध म मी भावना करत हुए **अग्नेजिह्वास** इ यादि म त्र बोलत हुए ही आ यदर्शन किया जाता है ॥१९॥

इति—पत्नीकृताज्यावेक्षणोपपत्ति

—*—

४ ५ ६ परिशिष्ट कर्म्मानुगता (आज्यस्थापन, आज्यप्रोक्षणी का उत्पवन एव अध्वर्यु कृत आज्यदर्शन) उपपत्ति—

पहिले के क मों में यह बतलाया जाचुका है कि यज्ञिय द्र य के परिपाक के स ब ध मे दो मत हे । गार्हप याग्नि में हविद्र य का परिपाक करना पहिला पक्ष है । एव आहवनीय म परिपाक करना दूसरा पक्ष है । दोनों ही पक्ष श्रुतिसिद्ध है । इन पक्षो में यह नियम अवश्य है कि गार्हप यपक्ष में गार्हप याग्नि म ही एव आहवनीयपक्ष में आहव ीयाग्नि मे ही हवि का परिपाक होता है । यदि प्रकृत यज्ञकर्त्ता यजमान आहवनीय में हविद्र य का परिपाक करता है तो इस पक्ष में दोष आता है । आ य भी एकप्रकार से हविद्र य है । इसका भी आहवनीयपक्ष में यायत आहवनीयाग्नि में ही परिपाक होना चाहिए । ऐसी अवस्था मे यदि पुरोडाशाधिश्रयणकाल में ही आज्य का भी आहवनीयाग्नि में अधिश्रयण होजाता है तो प नी इसका अवेक्षण नही कर सकती । कारण प नी का स्थान गार्हप य है । आ यदर्शन का विधान सी स्थान पर है । यहा से आ यदर्शनार्थ आहवनीय के समीप जाना प्रतिष्ठा स युत होते हुए यज्ञस्वरूप विकृत करना है । प नी

को आ यन्शन कराना आवश्यक है स विचार से आहवनीयाधिश्रयण के बीच में ही अ वय्यु आ य को गाहप य के समीप लाकर प नी को अवक्षण कराने यह भी पद्धति के प्रतकूल है। एव पद्धतिविरुद्ध क म यज्ञस्वरूप का घातक ह। इस विप्रतिपत्ति को हटाने का माग प नी को आ य न दिखलाने पर पर्य्यवसित मान लिया जाय यह भी स भव नही ह। यदि प नी ने आ यावक्षण न किया तो उसका यज्ञ से पृथक्करण होजायगा। इसप्रकार आहवनीयाधिश्रयणपक्ष में न अ वय्यु प नी के समीप आसकता न प नी आहवनीय के समीप जासकती न प नी को आ यदशन से वञ्चित किया जासकता। यदि गा प आधिश्रयण पक्ष ह तब तो किसी प्रकार का दोष नही आसकता। कारण इस पक्ष मे आ याधिश्रयण भी गाहप य मे ही होता ह। ऐसी अवस्था में गाहप य के समीप ही नऋ त कोण म बठी हुइ यजमानप नी के आ यदशन मे किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नही होती। पर तु आहवनीयपक्ष म उक्त विप्रतिपत्ति को दूर करने का क्या उपाय? इसी प्रश्न का समाधान करत हुए श्रुतिने यह उपाय बतलाया है कि आहवनीयाधिश्रयणपक्ष में पुरोडाशाधिश्रयणकाल में आ याधिश्रयण नही करना चाहिए अपितु जब प नी के आ यावक्षण का समय आव उस समय पहिले अग या आज्य का गाह प याग्नि में अधिश्रयण कर लेना चाहिए। जब प नी गाह प यस्थान में ही आ यावक्षण करले तो आहवनीयाधिश्रयणपक्ष की प्राप्तमर्यादा को सु क्षित रखने के लिए पुन (आ यावक्षणान तर) आहवनीयाग्नि में आ याधिश्रयण क लेना चाहिए। अधिश्रयणान तर आ य को देवप्राणयुक्त वेदिमण्डल पर रख देना चाहिए। २ ।२१।२२।२३।२४।

आपोमया सवरसा सवमापोमय जगत् (महाभारत) इस सिद्धा त के अनुसार यह दृश्य-भूतभौतिक-पञ्चपर्वा विश्व * अपने मूल म- अप् तत्त्व को ही प्रतिष्ठित रख रहा है। अर्थात् पाञ्चभौतिक विश्व का मौलिक उपादानद्र य अपत व ही माना गया है जसाकि नि नलिखित मनुवचन से स्पष्ट प्रमाणित है—

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधा प्रजा ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ (मनु १।८।

ऋक्-यजु-साम-नामक मौलिक-ऋषिप्राणा मक अपोरुषेय-त वा मक- वद से कृतरूप अ यक्त प्रजापति अपने ऋक्सामानुगत यजु के- ज् रूप वागभाग से सवप्रथम अप् रूप में ही परिणत होते हैं जो कि यह अपत व स पूर्ण विश्व को व्या त आ त करने के कारण आप नाम से एव अण्डरूप से सम्पूर्ण विश्व का वरण करने से वा (वारि) नाम से प्रसिद्ध हुआ है—। तत आण्ड समवर्त्तत के अनुसार इस अपत व के परिवेष्टन से ही अ यक्त ब्रह्म अण्ड रूप में परिणत हुआ है। इसीलिए उस अ यक्तब्रह्म

* स्वयम्भू परमेष्ठी-सूय-च द्रमा पृथिवी ही क्रमश आकाश-वायु-तेज-जल-मृत नामक पञ्चमहाभूत हैं एव इन पाच पर्वों से ही पञ्चपर्वा विश्व का स्वरूप निम्माण हुआ है जिसका उपादान द्र य अप् तत्त्व ही माना गया है।

— **सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव सा ऽसृज्यत। सेद सर्वमाप्नोत् यदिद किञ्च। तस्मात् आप। सर्वमवृणोत् तस्माद् वा वारि)।** (शत ६।१।१।८।)

का यह पञ्चपर्वा मक आपोमय विश्व **ब्रह्माण्ड** नाम स प्रसिद्ध हुआ है। प्रकृत ब्राह्मण की २५ वी कण्डिका के– **तन्दिम सु पयो हितम्** स रहस्यपूर्ण निगम के द्वारा अपत त्त्व का ही– **नीर क्षीर विवेक** हुआ है।

हसानुगत **नीर–क्षीर विवेक** नामक लौकिक–न्याय लोक में सुप्रसिद्ध है जिस इस लोकप्रसिद्ध याय का मूल आधार **तदप्सु पयो हितम्** (**सा यह घृत पानी म प्रतिष्ठित है**) यही वचन बन रहा है। **नीर आप** (पानी) है एव– **क्षीर आज्य (घृत)** है। इस पाञ्चभौतिक–विश्व के मूलोपादनभूत विश्व की सीमा में विश्व के गर्भ में **नीर** भी है और **क्षीर** भी है। अर्थात् **आप** भी ह और **आज्य** भी है। **पानी** और **दूध** (आ य का मौलिकरूप) दोनो के समिश्रण का नाम ही **विश्व** है।

अपनी आस्थामयी सौम्या पा न–श्रद्धा को **पुराणशास्त्र** के स्वा याय एव श्रवण से ध य–कृत–कृ य करते रहने वाले मानवश्र ष्ठो के लिए यह सुविदित ही है कि पुराण–कथानुसार त्रलोक्य के पालनकर्त्ता भगवान् विष्णु अन त–शेषनाग की सुचिक्कणा–कोमलशय्या पर **क्षीरसमुद्र** में ही शयन कर रहे है। मानवीया प्रज्ञा के अपराध स जब जब भी ध मस्कम्भ (स्तम्भ) विकम्पित होजाता है तो तब तब ही देवताओ की करुणापूर्णा प्राथना पर करुणावरुणालय शेषशायी भगवान् वि णु क्षीरसमुद्र का पार याग कर अशरूपेण अवतीर्ण हुआ क ते ह। कोनसा है वह **क्षीरसमुद्र** जिसमें वि णु शयन कर रहे हैं? स महान् स प्रश्न का समाधान व्यवसायात्मिका जिस नष्ठिकी ज्ञानविज्ञानात्मिका बुद्धि के द्वारा होता है वही त वनिष्ठा बुद्धि– **नीरक्षीरविवेकशालिनीबुद्धि** कहलाइ है एव दो श दो म विवकशालिनी उसी स व बुद्धि से स ब ध रखने वाले— **नीर–क्षीर–विवेक** की ओर हम अपने वदनि ठ पाठको का यान आकर्षित कर रहे है।

स्वायम्भुव अ यक्त त्रयीमर्त्ति प्रजापति के वागभाग से उ पन्न सवत्र या त अण्डस्वरूप सम्पादक **अप् तत्त्व** का ही नाम है— **परमेष्ठी** इसी का नाम है भृ वङ्गिरोमर्त्ति पारमेष्ठ्य विष्णु जिसका भागव त व ही **लक्ष्मी** नाम से प्रसिद्ध हुआ है एव आङ्गिरसतत्त्व ही **सरस्वती** नाम से प्रसिद्ध हुआ है जोकि सरस्वती ही श्री कहलाई है। सरस्वतीरूपा **आङ्गिरसी श्री** एव आम्भृणीरूपा **भार्गवी लक्ष्मी** ये ही दोनो आपोमय पारमेष्ठ्य विष्णु की पत्निया हैं जिनके सम्ब ध में— **श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ** (यजु सहिता) यह प्रसिद्ध है। **सैषा प्राकृत–स्थिति । स्थितस्यैव गतिश्चिन्तनीया नीरक्षीरविवेक बुद्ध्या।**

पारमेष्ठ्य वि णु का **भृगुत व** ही अपनी घनावस्था से **आप** है तरलावस्था से **वायु** है एव विरलावस्था से– **सोम** है। **आपो–वायु सोम –इत्येते भृगव** (श्रुति) के अनुसार इन तीनो त वो की समष्टि का नाम ही भृगु है जिनसे क्रमश **असुर–ग धर्व पितर** नामक तीन पारमेष्ठ्य प्राणात्मक सग अभि यक्त हुए हैं। असुर आपोमय है ग धर्व वाय य हैं एव **पितर सोम्यास** । हैं ग धर्वप्राणात्मक

वाय यत व ही–वह **अन त गेष नाग** – (सपणशील **यज्ञवराह** नामक पारमे ठ्य महान् वायु) है जिस पर पारमष्ठ्य वि णु भगवान् शयन कर रहे ह । पारमेष्ठ्य भार्गव आप ही **नीर** (पानी) है भागव सोम ही **चीर** (दूध) है एव दोनो का विभाजक है म यस्थ भागव शेषनागा मक । ध प्राणा मक वायु । यो पारमे ठ्य **सरस्वान्** नामक महान् समु में **नीर–चीर–वायु** इन तीन त वो की सत्ता सिद्ध हो जाती है । इस त वत्रयी को आधार बनाकर ही हमें **नीरचीरात्मक** विश्व का सम व य दखना है ।

चीरभाव दुग्ध है और सौ य है अर्थात् सोममय है जो कि यह सौम्य चार उस आपोमय समुद्र में घुलमिल रहा है । म य थ वायु ही इस का नीर से पाथक्य करता रहता है एव इमी पाथक्य स इस सोममय चीर में चिदा मा [वि णु] अभि यक्त होते है । चिदा मा की गभभूमि को **मह ब्रह्म** माना गया है जो कि पारमष्ठय पितरप्राणमय सौ य त व ही है एव जिसके **स व–रज–स्तम** नामक तीन ता सुप्रसिद्ध गुण माने गए है एव सूर्य्यानुगत **अहङ्कृतितिभाव** च द्रमानुगत **प्रकृतिभाव** एव भूपिण्डानुगत **आकृतिभाव** ये तीन प्रकृतभाव माने गए हैं । षडभावापन्न यह पारमे ठ्य महदब्रह्म ही विश्व की मूलप्रकृति जननी–माता है जिसमें चिदा मा विष्णु गभधारण करते हैं * । इसी भागव महद्ब्रह्म में चिदा मा क्योकि गभधारण करते है इनके क्योकि **आ य वाय य–सोम्य** नामक तीन महिमा निवत्त हैं अतएव महद्ब्रह्ममूलक प्राणीसग **आप्यजो । (जल क प्राणी)– वाय यजी । वायु क मान ।–पशु पची–कीट–कृमि–प्राणी)** एव **सोम्यजी । (अण्डज उ द्भि ज्ज योनिसग)** नामक तीन प्रकार के ही माने गए है जिसका पूवस दर्भो में यत्र तत्र सक्षेप एव विस्तार से स्पष्टीकरण होगया है ।

चिदात्मा विष्णु जिसमे गभ धारण करगे वहीं चीर की अभि यक्ति होगी ए व यही मूलसूत्र **नीरचीरविवेक** का मूलाधार माना जायगा । बात थोडी समझने जसी है । विश्वप्रजा को हम **वृषासग योषासग** भेद स दो भागो में विभक्त मानग जिनके मूल पारमेठ्य **अङ्गिरा** और **भृगु** ही बने हुए है । भृगु का सक्षि त नाम म **सोम** रख लेते है ए व अङ्गिरा का सक्षिप्त नाम **अग्नि** मान लेत है । **आग्नसृष्टि ही वृषासृष्टि** है एव इ सी का नाम है **पुरुषसृष्टि** । सोमसृष्टि ही **योषासृष्टि** है एव

– पाच भूतो म स मृत जल तेज के नि शेष होजाने पर वायु ही शेष बच रहता है जो प्राणवायु आकाशवत् नि य ही माना गया है । यही भृगु के सम्ब ध से **महान्** कहलाया है [**यथाकाशगतो नि य वायु स त्रगा महान्** गीता] । इस शेषता स ही यह सपणशील प्रचरणवग से घो यमान आसर वारुण अपू त व से विषाक्त बना हुआ पारमे ष्ठ्य वायु **अन तशेषनाग** (सप) कहलाया है जो सोमसम्ब ध से मसृण कोमल भी है ।

*** –मम योनिर्म्महद् ब्रह्म तस्मिन् गभ दधाम्यहम् ।**
सम्भव सर्वभूताना ततो भवति भारत ! ॥ १ ॥
सर्वयोनिषु कौ तेय ! मू य सम्भवति या ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरह बीजप्रद पिता ॥ २ ॥
—गीता

इसी का नाम है– **स्त्रीसृष्टि** । **नर** [पुरुष] **और मादीन** [स्त्री] ये ही प्रमुख दो विश्वसग हैं । **आ नेय पुरुषसग** तथा **सौम्य स्त्रीसग** दोनों ही सग शरी नु धेन आपोमय ही हैं जसा कि— **इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्त** या द छा दो यवचन स स्पष्ट है । वृषा मक पुरुषा का शरीर भी आपोमय ही है ए योषा मका स्त्रियो का शरीर भी आपोमय ही है । कि तु इन दोनों आपोमय शरीरों की मूलप्रकृति पृथक पृथक है । आग्नेय वृषा पुरुष की प्रकृति की मूलप्रतिष्ठा जहा **अग्नि** ही है वहा सौम्या योषा स्त्री की प्रकृति की मलप्रतिष्ठा– **सोम** ही है । अतएव आग्नेयप्रकृतिप्रधाना– वृषा मका–पुरुष की सृष्टि में शरीरानुबन्धेन अपत व के विद्यमान रहने पर भी– सौम्य क्षीर [सोमा मक दूध] की अभि यक्ति नही हाने पाती । इधर सोमप्रकृतिप्रधाना योषा मिका स्त्री की सृष्टि में इस के मलप्रकृति रूप सोमभाव के अनुबन्ध से इस के आपोमय शरीर में क्षीर [दूध] अभिव्यक्त होपन्ता है । और यो पुरुष और स्त्री इन दोनो आपोमय शरीरो म से एक स्थान पर [स्त्री के शरीर में] तो क्षीर अभि यक्त होजाता है ए एक स्थान पर [पुरुष के शरीर में] क्षीर अभिव्यक्त नही होता ।

जहाँ क्षीर अभि यक्त होगा वही चिदा मा गभ धारण करगे वही उसी क्षेत्र म प्रजननधम्म अभि यक्त होसकेगा । अतएव सौम्या क्षीरिणी मातृजाति ही महद्ब्रह्म की अभिव्यक्ति के द्वारा औपपातिक चिदश [जीवा मा] को स्वगभ मे धारण कर इस भातिक स्वरूप भी प्रदान करन में समथ बनती है ए अपने आपोमय शरीर में अपनी मलभूता सौम्या प्रकृति से अनुप्राणित क्षीर स इस प्रजा का पाषण वद्ध न करने में भी समथ बन जाती है । **और यों विश्वम्भर प्रजापति ने सृष्टिप्रक्रिया में—सौम्या–योषा के आपोभाग मे ही– पय [क्षीर–दूध–] हित–प्रतिष्ठित–किया है— तदप्सु पयो हितम्** । **पिता के समतुलन मे माता का स्थान क्यों सर्वोच्च माना गया ?** प्रश्न का भी यही मौलिक रहस्य है । जहा जहा सौम्य–योषा प्रा ण अभि यक्त होगा वही वही उसी उसी आप में अवश्य ही क्षीर अभि यक्त रहेगा । जहा जहा क्षीर अभि यक्त होगा वही वही चिदा मा अभिव्यक्त होगा । यों इस नीर क्षीर विवक के मा यम से ही मानव जीव के **जीवत्त्व** से परिचित होसकेगा सी परिचय से इसे स्वरूपबोध होगा ए । यही स्वरूप

हसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् स क्विसूक्ति के अनुसार ऐसा माना जाता है कि यदि हस नामक पक्षी के सम्मुख पानी और दूध मिलाकर रख दिया जाता है तो हस दूध दूध तो पीजाता है और जल छोड देता है । इसी आधार पर नीरक्षीर न्याय चल पडा है । स भव ह ऐसा भी हो । किन्तु हम तो इस मा यता के प्रति कोइ आस्था नहीं रख रह । ऐसा केवल कवि की क पना का ही साम्रा य माना जायगा । वस्तुग या **तृतीय च हसमाहु** न्स श्रु ति के अनुसार पारमे ष्ठ्य ग घ प्राणा मक वायु का नाम ही **हस** है । हसा मक यह पारमेष्ठ्य वायु ही अपनी म यस्थता से आप रूप नीर का तथा सोमरूप **क्षीर** का विभाजक बना हुआ है । और निश्चयेन इसी मौलिक सत्तासिद्ध कारण के आ ार पर **नीरक्षीर याय** प्रक्रान्त हुआ है । यही पारमेष्ठ्य हॅस नामक वाय यप्राण क्षीर के सहयोग स **भोक्तासुपर्ण** बन कर मातृ गभ में ज म लेता है । अतएव जीवा मा का एक नाम **हस** भी होगया है जसाकि **शरीर रह गया और हॅसा उड गया** इस लौकिक किंवदन्ती से भी स्पष्ट है । नीररूप आपोमय ब्रह्माण्ड में कर्म्मानुसार ज म लेने वाला यह हसरूप भोक्ता सुपर्ण (जीवा मा) महद्ब्रह्मा मक सौम्य क्षीर के त ववाधा मक विभाजन से ही स्वरूपबोध में समथ बना करता है । और यही सका– **नीर क्षीर विवेक** है ।

बोध इसके अ युदय नि श्र यस का कारण बनेगा जिस इस प्रकृतिसिद्ध कारणता के आधार पर ही लोक में **नीरक्षीर याय** प्रक्रा त होपन्ा है। सौ य-क्षीरात्मका पारमे ठ्या **जगन्माता हैम ता उमा भगवती** के अनुग्रह से ही अतिमानी देवताओंने स्वरूप बोध प्रा त किया था जिसका केनोपनिषत् में वि तार स विश्लेषण हुआ है।

उक्त प्रासङ्गिक नीर क्षीर विवक के मा यम से प्रकृत में य ी बतलाना है कि —अपत व में ही प्रकृति ने सौ यासृष्टि [योषासृष्टि] के अनुब ध से वह **पय** [**दूध**] प्रति ठित किया है जिसका उत्तर परिणाम **आ य** [घृत] हा माना गया है दुग्ध का कारणभूत आ य योषारूपा स्त्री का प्रकृ तासन् प्रात ठात व ही माना गया है। यही क्षीरानुगत आ य प्रजननध र्मानुगता प्रजा का मता गार है। आज यज्ञ के द्वारा दवा मा का प्रजनन ी अपेक्षित है वह योषा पर ही अवलम्बित है। अतएव योषाप्राणा मिका यजमानप नी को प्रकृति सिद्ध **तदिदमप्सु पयो हितम्** इस कारणता के के अनुब ध से ही **आ यन्शन (घृतन्शन)** कराया जाता है।

पवित्र से पहिले आ य का प्रोक्षण किया जाता है अन तर आ यमसग स आ ययुक्त बने हुए पवित्र से प्रोक्षणी पानी का पवन होता है। इस प्रोक्षणी–प्रोक्षण का ता पर्य है पानी में पय का आ ान। पानी मे एक प्रकार का जीवनीय रस होता है। इसी जीवनीय रस को लक्ष्य में रखकर **जीवन भुवन वनम्** इ यादि रूप से पानी को **जीवन** कहा जाता है। सी जीवनीय रस को— **यो व शिवतमो रस** (यजु) इ यादि रूप से **शिवतमरस** नाम से यवहृत किया जाता है। दि या मा इस जीवनीय शिवतम रस से युक्त बन इसी अभिप्राय से यह उ पवनक म किया जाता है ॥२५॥

ऋ विक दक्षिणाक्रीत हैं। ऋ विक् यज्ञकर्म्म में अपने मन –प्राण वाङ्मय आ मा का जितना अ श यय करते है उतना भाग दक्षिणा के द्वारा पूण कर दिया जाता है। यदि दक्षिणादान नही होता है तो यजमान के यज्ञा मा (दि या मा) में ऋ विजो का भी आ मा समाविष्ट र जाता है। यही यज्ञ का क्षतभाव (अपूर्णता) है। इस क्षतभाव को दक्षिणा से दूर किया जाता है। दक्षिणाग्रहण से ऋ विग ण यज्ञ में जितने कर्म्म करते है दवताओ स जो आशी मागत है–उन सबका सम्ब ध यजमान के साथ ही होता है। अत अ वर्यु को ही आ यदशन क ना चाहिए। **यजमान आ यदशन करे** प्राचीनों का यह आग्र विज्ञानकोटि से सर्वथा बहिष्कृत अतएव उपेक्ष ीय ही है ॥२६॥

सूर्य स चक्षुरिन्द्रिय का निर्म्माण होता है। सूर्य स यमूर्त्ति है। पुराणने पारमे ठय समुद्रगर्भित ज्यो तिर्म्मय चि मूर्ति (सदा जाग्रत) इसी सौरविष्णु को (यज्ञ को) **स यनारायण** नाम से यवहृत किया है। त्रयीमय **अग्निमूर्त्ति** अतएव **सत्यसूर्** स नि पन्न होने वाले चक्षु में स य की प्रतिष्ठा रहती है। मनु य के समीप चक्षु ही एक ऐसा साधन है जिसके आधार पर यह स यास य के निर्णय पर पहुँच सकता है। जब यजमान यज्ञ में दीक्षा लेता है तो–उसको– **स वै स यमेव वदेत्** यह आदेश दिया जाता है। इस आदेश के अ यवहितोत्तरकाल में ही श्र तिने पूवपक्ष उठाया है कि **मनुष्य होकर स य बोले यह सर्वथा असम्भव है**। क्योकि मनुष्य अनृतसहित है। जब वह स य बोल ही नही सकता तो फिर उसके लिए– **तुम स य बोलो** इस आदेश का क्या मह व रह जाता है?। आगे जाकर इस पूवपक्ष का समाधान करती हुई श्रु ति कहती है कि यज्ञप्रजापति की ओर से पुरुष में चक्षु स य का नि र्माण हुआ है। **यह जैसा देखे वैसा बोले**

बस यहां पर इसकी स यभाषण मर्य्यादा समाप्त होजाती है। यही रहस्य श्रुति-स्मृति के साथ सम्बन्ध रखता है। वद को श्रुति क्यो कहा जाता है? इस प्रश्न के समाधान म वज्ञानिक पाश्चा य विद्वानोन यह कहा कि वदकाल म लेखनकला का अभाव था। उस समय सुन सुन कर ही वेन्म न कण्ठ किए जात थ। स कारण स ब व स ही वद श्रुति नाम स प्रसिद्ध हुआ। हमारे विचार से पश्चा य विद्वानोन श्रुति शब्द के उक्त अथ के स ब ध में बडी ही भूल की है। द्रष्टुर्वाक्य श्रुत श्रातुर्वाक्य स्मृति श्रुति स्मृति का य ी अथ है। जिसने विषय के दर्शन िए है उस की सुनाइ हुइ बात हमारे लिए श्रुति है एव श्रुति के आधार पर मनन करके जिसने श्रुति के उपबृ हितभाव को हमारे स मुख रक्खा है उसका वाक्य हा स्मृति है। द्रष्टा स यचक्षु से दख रहा है। अतएव उसके वाक्य की प्रामाणिकता म किसी प्रकार का स देह नही रह जाता। अतएव द्र टा ऋषिया के वाक्यसग्रहरूप श्रुतिशास्त्र को स्वत प्रमाण माना गया है। स्मृति श्र यनुगामिनी। अत से परत प्रमाण माना गया है। प्रकृत में हमें केवल यही कहना है कि चक्षुरिद्रिय अवश्य ही स यभावोपेत है। इसी आधार पर आखो देखी परशुराम कभी न झुठी होय यह किवद ती प्रचलित है। यह चक्षु स य स याग्नि है। अग्नि वृषा है। यजमानप नी ने अवक्षण स आ य में योषाप्राण का समावश किया था यजमान का प्रतिनिधिरूप अ वर्यु आ य म स याग्निरूप वृषाप्राण का समावेश करता है। एव इन सब के द्वारा योषावृषा मक यज्ञ को समृद्ध बनाता है ॥२ ॥

आज्य तेजोरूप है। आ नवृद्धि करना आज्य का पहिला स्वभाव है। शुक्रवृद्धि करना दूसरा स्वभाव है एव अमृतपोषण करना तीसरा कर्म है। मन-प्राण वाक्-तीनो में वाक शुक्रतत्त्व है। प्राण तेज है। मन अमृत है। घृत से वाङ्मय शुक्र की वृद्धि हाती है। प्राणमय (अन्नमय) शरीराग्नि प्रवृद्ध होता है। एव मनोमय अमृतभाग का पोषण होता है। इसप्रकार य आ य तेज शुक्र-अमृत रूप प्राण-वाक मन का पोषण करता हुआ भूता मा की समृद्धि का कारण बनता है। घृत से ब कर आ म समृद्धि के लिए और दूसरा कोइ उत्कृष्ट साधन नही है। आज्य का वास्तव म यही गुण है। तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि इस स यभावना से भावित होकर आ यदर्शन करने वाला अ व यु अवश्य ही आ य को स यविभूति से युक्त करता हुआ तद्द्वारा दि या मा को स ययुक्त ही बनाता है ॥२८॥

——*——

इति–अनुवादप्रकरणम्
प्रथमकाण्डानुगत तृतीय अध्याय का प्रथम ब्राह्मण एव द्वितीय प्रपाठक का चतुर्थ ब्राह्मण उपरत

——*——

श्री

अथ–प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्
"आज्यब्राह्मणम्"

१६—आज्यग्रहणकर्म्म

१—यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरणम्

(मूल)–पुरुषो वै यज्ञ । पुरुषस्तेन यज्ञ —यदेन पुरुषस्तनुते । एष वै ताय मानो यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते, तस्मात्पुरुषो यज्ञ ॥ १ ॥

तस्येयमेव जुहू इयमुपभृत्, आत्मैव ध्रुवा । तद्वा आत्मन एवेमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्ति । तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञ प्रभवति ॥ ॥

प्राण एव स्रुव । सोऽय प्राण सर्वाण्यङ्गा यनुसञ्चरति । तस्मादु स्रुव सर्वा अनु स्रुच सञ्चरति ॥ ३ ॥

तस्यासावेव द्याजुर्हू अथेदमन्तरिक्षमुपभृत्, इयमेव ध्रुवा । तद्वा अस्या एवेमे सर्वे लोका प्रभवन्ति । तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञ प्रभवति ॥ ४ ॥

अयमेव स्रुवो योऽय पवते । सोऽयमिमान् सर्वान् लोकाननुपवते । तस्मादु स्रुव सर्वा अनु स्रुच सञ्चरति ॥ ५ ॥

२—आज्यगृहणसख्यानियमनप्रकरणम्—

स एष यज्ञस्तायमानो देवेभ्यस्तायते । ऋतुभ्य, छन्दोभ्य । यद्धवि, तद्देवानाम् । यत्सोमो राजा, यत्पुरोडाश, तत्तदादिश्य गृह्णाति अमुष्मै त्वा जुष्ट गृह्णामीति । एवमु हैतेषाम् ॥ ६ ॥

अथ यान्याज्यानि गृह्यन्ते–ऋतुभ्यश्चैव तानि, छन्दोभ्यश्च गृह्यन्ते । तत्तदनादिश्य आज्यस्यैव रूपेण गृहूणाति । स वै चतुर्जुह्वां गृहणाति अष्टौ कृत्व उपभृति ॥ ७ ॥

स यच्चतुर्जुह्वा गृह्णाति–ऋतभ्यस्तद् गृह्णाति प्रयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति । ऋतवो हि प्रयाजा । तत्तद्नादिश्य–आज्यस्येव रूपेण गृह्णाति–अजामिताये । जामि ह कुर्याद्–यद्वस ताय त्वा ग्रीष्माय वेति गह्णीयात् । तस्मादनादिश्य आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥ ८ ॥

अथ यदष्टा कृत्व उपभृति गृह्णाति–छ दोभ्यस्तद् गृह्णाति, अनुया ेभ्यो हि तद् गृह्णाति । छ दामि ह्यनुयाजा । तत्तदनादिश्य–आज्यस्यव रूपेण गृह्णात–अजा मितायै । जामि ह कुर्याद्–यद् गाय यै त्वा त्रिष्टभे त्वेति गह्णीयात् । तस्मादनादिश्य अ ज्यस्यैव रूपेण गह्णाति ॥ ९ ॥

अथ यच्चतध्र नाया गह्णाति–मनस्मै तद् यज्ञाय गह्णाति । त ादनादिश्य–आज्यस्यव रूपेण गह्णाति । कस्मा उ ह्यादिशेत् यत सर्वाभ्य एव देवताभ्योऽवद्यति । तस्मादनादिश्य आज्यस्यैव रूपेण गह्णाति ॥ १ ॥

३—आज्यगृह्णोपपत्तिप्रकरणम् —

यजमान एव जुहूमन, योऽस्मा अरातीयति–स उपभृतमन । अ वै जुहूमनु आद्य उपभृनमनु । अ ाव जुहु, आद्य उपभृत् । स वै चतुर्जुह्वा गृह्णाति, अष्टौ कृत्व उपभृति ॥ ११ ॥

स यच्चतुर्जुह्वा गृह्णात–अत्तारमेवतत्परिमिततर कनीयास करोति । अथ यदष्टा कृत्व उपभृति गृह्णाति–आद्यमेनैतदपरिमिततर भूयास करोति । तद्धि समृद्धम्–यत्रात्ता कनीयान् आद्यो भूयान् ॥ १२ ॥

स वै चतुर्जुह्वा गृन्णान् भूय आज्य गृह्णाति अष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णान्–कनीय आज्य गृह्णाति ॥ ३ ॥

स यच्चतुर्जुह्वा गृह्णान् भूय आज्य गृह्णाति अत्तारमेवैतत् परिमिततर कनीयास कुव स्तस्मिन् वीर्य्य नल दधाति । अथ यदष्टा कृत्व उपभृति गृह्णान् कनीय आज्य गृह्णाति–आद्यमेनतदपरिमितत भूयास कुव स्तमवीर्य्यमबलीयास करोति । तस्मादुत राजाऽपारा विश प्रावसाय, अप्येकवेश्मनैव जिनाति । त्वद्यथा त्वत्कामयते, तथा सचते–एतैनो ह तद्वीर्य्येण–यज्जुह्वा भूय आज्य गृह्णाति । स यज्जुह्वा गृह्णाति–जुह्वैव तज्जुहोति, यदुपभृति गृह्णाति जुह्व व तज्जुहोति ॥ १४ ॥

तदाहु कस्मा उ तहनु पभृति गृह्णीयात् यदुपभृता न जुहोतीति । स यद्धोपभृता जुहुयात् पृथग्घवेमा प्रजा स्यु नैवा ।। स्यात्, नाद्य स्यात् । अथ य ाज्जुह्वै र समानीय जुहोति तस्मादिमा विश क्षत्रियाय बलि हरन्ति । अथ यदुपभृति गृह्णाति-तस्मादु क्षत्रियस्यैव वशे सति वैश्य पशव उपतिष्ठ ते । अथ य ा-ज्जुह्व व समानीय जुहोति तस्माद्यदैव क्षत्रिय कामयते-अथाह वैश्यम् अपि य ो परा निहितम् तदाहरेति त जिनाति । एवद्यथा एवत्कामयते, तथा सचते-एतेनो ह तद्वा ण ।। १५ ।।

तानि वा एतानि छ दोभ्य आज्यानि गृह्य ते । स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति-गाय ग तद् गृह्णाति । अथ यदष्टा कृत्व उपभृति गृह्णाति-त्रिष्टुबजगतीभ्या तद् गृह्णाति । अथ य चतुर् वाया गृह्णाति-अनुष्टभे तद् गृह्णाति । वाग वा अनुष्टुप । वाचो वा इद सर्व प्रभवति । तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञ प्रभवति । इयं वा अनुष्टुप अस्या वा इद सर्व प्रभवति । तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञ प्रभवति ।। १६ ।।

४ — आज्यगृहणपद्धतिप्रकरणम्—

स गृह्णाति **धाम नामासि प्रिय देवानाम्** [१ अ० ३ म०] इति । एतद्वै देवाना प्रियतम धाम-यदा यम् । तस्मादाह-धाम नामासि प्रिय देवानामिति । **अनाधृष्ट देवयजनमसि**-[अ १ म ३१] इति । वज्रो ह्या यम् । तस्मादाह-अनाधृष्ट देवयजनमसीति ।। १७ ।।

स एतेन यजुषा सकृज्जुह्वां गृह्णाति त्रिस्तूष्णीम् । एतनव यजुषा सकृदुपभृति गृह्णाति सप्तकृत्वस्तूष्णीम् । एतनैव यजुषा सकृद् ध्रुवाया गृह्णाति, त्रिस्तूष्णीम् । तदाहु -त्रिस्त्रिरेव यजुषा गृह्णीयात्-त्रिवृद्धि यज्ञ इति । तदु नु सकृत्सकृदेव । वज्रो ह्येव त्रिगृहीत सम्पद्यत ।। १८ ।।

इति-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये प्रथमकाण्डे
तृतीयाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्
आज्यब्राह्मण नामक
उपरतम्

मूलानुवाद—

१—यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरण—

यह यज्ञ (मनुष्ययजमान के द्वारा किया जाने वाला वैध यज्ञ) निश्चयरूप से पुरुष (मनुष्य की ही प्रतिकृति) है । (यह) यज्ञ इसलिए पुरुष (पुरुषस्वरूप-सदृश) है कि जो कि पुरुष (यज्ञकर्त्ता यजमान दक्षिणाक्रीत अध्वर्यु होता उदगाता ब्रह्मा आदि ऋत्विग गण ना कि पुरुष है) इस यज्ञ को वितत करता है (वेदि कुण्ड मन्त्र हवि आदि सा नो से विस्तार-भाव म परिणत करता है) । क्योंकि पुरुष के द्वारा ही यज्ञस्वरूप सम्पन्न होता है इसलिए यज्ञ को पुरुपकृतत्वेन-अवश्य की पुरुष कहा जासकता है । (एक दूसरे कारण से भी यज्ञ को पुरुष कहा जासकता है जो कि कारण पहिले कारण की अपेक्षा प्रमुख है । कण्डिका का उत्तर वाक्य उसी का स्पष्टीकरण कर रहा है) । यह (वैध यज्ञ)-(ऋत्विजादि पुरुषों के द्वारा) वितायमान होता हुआ (गार्हपत्य श्रपणाग्नि आहवनीय वेदि आदि रूप से फैलता हुआ) निश्चयरूप से जितना ही (जितनी लम्बाई के परिमाण से) पुरुष वितत रहता है उतना ही (उतने ही परिमाण से सम्पन्न किया जाता है । (पुरुषपरिणाम-सदृश विस्तारभाव की समता से ही यज्ञ का पुरुष कहना अवश्य बन जाता है) ॥१॥

(यज्ञ की प्रतिज्ञात पुरुषाकारता सिद्ध करती हुई श्रुति कहती है कि)—जुहू इस यज्ञ की यही (दक्षिणभुजा-दहिना हाथ) है उपभृत (इस यज्ञ की) यह (वाम भुजा बाया हाथ) है ध्रुवा (इस यज्ञ का) आत्मा (मध्य अङ्ग धड) ही है । (इसप्रकार जुहू उपभृत ध्रुवा रूप से दक्षिण वाम हस्त एवं मध्याङ्ग-सम्पत्ति-लक्षण पुरुषाकृति-सम्पत्ति से युक्त रहने वाले यज्ञ को अवश्य ही पुरुष (पुरुष का प्रतिकृति पुरुषसदृश) कहा जासकता है यही तात्पर्य है ।

(ध्रुवा नामक यज्ञपात्र आत्मा (मध्याङ्ग) की प्रतिकृति कैसे है ? इस जिज्ञासा का समाधान करती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है कि)—यह प्रत्यक्ष है कि (तद्वा) आत्मा (मध्याङ्गरूप धड) से ही ये (हस्त पाद मस्तकादि) सब अङ्ग (शरीरावयव) उत्पन्न होते है (निकलते है रसप्राप्ति के द्वारा पुष्ट होते रहते है) । इस वैधयज्ञ में आज्यपरिपूर्ण ध्रुवापात्र आत्मस्थानीय है एवं आत्मा से ही अङ्गरूप हस्त-पादादि इतर सम्पूर्ण अङ्ग उत्पन्न होते है रसग्रहण करते है अतएव (यहाँ भी जुहू उपभृत् आदि के द्वारा ध्रुवा से ही घृत ले ले कर) ध्रुवा से ही सम्पूर्ण साङ्गोपाङ्ग वैधयज्ञ-उत्पन्न-सम्पन्न होता है (यज्ञ की प्रतिकर्त्तव्यता पूरी की जाती है । अतः यज्ञस्वरूपसाधकभूत ध्रुवा को इस यज्ञपुरुष का अवश्य ही आत्मा माना जासकता है यही तात्पर्य है) ॥२॥

(पुरुष के शरीर में हस्त-पाद-आत्मा ये तीन स्थूल विभाग उपलब्ध होते है । शिरोभाग से आरम्भ कर मूलग्रन्थि पर्यन्त प्रदेश आत्मा (धड) माना जायगा । दक्षिणहस्त दक्षिण पाद

का एक स्वतन्त्र विभाग एव वामहस्त बामपाद का एक स्वतन्त्र विभाग माना जायगा। इसप्रकार पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर को आत्मा (धड) दक्षिणहस्त (तदुपलक्षित दक्षिणपाद) वामहस्त (तदुपलक्षित वामपाद) इस क्रम से पुरुष को तीन भागों में विभक्त किया जायगा। त्रिविभागात्मक स शरीर मे (शरीर के सम्पूर्ण अवयवों मे) अवारपारीण सञ्चार करने वाला चैतन्यप्राण एक चौथा स्वतन्त्र तत्त्व माना जायगा जिसकी सत्ता से जड-भूत क्रियाशील बनते हुए जीवनीयरस से युक्त रहते है। पुरुषसस्था की इन चार अवान्तर सस्थाओं म से आत्मा (धड) दक्षिणहस्त (पाद) वामहस्त (पाद) इन तीन भौतिक अवयवों की प्रतिरूपता तो क्रमश ध्रुवा जुहू उपभृत् इन तीन यज्ञपात्रों के द्वारा सिद्ध करदी गई। अब शेष चौथा चैतन्यप्राण रह जाता है इसकी प्रतिरूपता बतलाती हुई श्रुति कहती है -

(इस वैधयज्ञ मे उपयुक्त होने वाला) स्रुव नामक यज्ञपात्र प्राण ही है। स्रुवपात्र प्राणस्थानीय क्या माना गया ? प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—

(हम देखते है कि पुरुषशरीर मे केश-लोम एव नखाग्रभागो को छोडकर) यह चैतन्य प्राण (वैश्वानराग्नि) शरीर के सम्पूर्ण अङ्गों (को लक्ष्य बनाकर इन अङ्गों) म विचरता रहता है। (हम देखते है कि इस यज्ञसस्था मे स्रुव नामक यज्ञपात्र जुहू-उपभृत्-ध्रुवा आदि इतर सभी स्रुक्-पात्रों के साथ सम्बन्ध रखता है। इसी आधार पर हम कह सकते है कि आत्मा-बाहुहस्त (एव पाद स्थानीय ध्रुवा-जुहू-उपभृत् आदि स्रुचों म सञ्चरण करने वाला स्रुव अवश्य ही प्राणस्थानीय है) इसीलिए (प्राणस्थानीय होने से ही) तो यह स्रुव-पात्र सब स्रुचा (को लक्ष्य बनाकर सब) मे विचरता है ॥३॥

यह वैधयज्ञ पुरुष की प्रतिकृति किस आधार पर माना गया ? इस प्रश्न का समाधान श्रुतिने पुरुषात्मक आध्यात्मिकयज्ञ के द्वारा किया। पुरुषयज्ञ (आध्यात्मिकयज्ञ) का जैसा स्वरूप है उस म जैसा अवयवसस्थान है पुरुषकर्तृक आधिभौतिक स्वर्गादि-अभीष्ट फलसाधक इस वैधयज्ञ का स्वरूप तथा सस्थान भी वैसा ही है। अत समतुलनन्याय से इस वैधयज्ञ को भी पुरुष कहना न्यायसङ्गत बन जाता है। अब इस सम्बन्ध मे दो प्रासङ्गिक प्रश्न और उपस्थित होते है। पहिला प्रश्न यह है कि जिस पुरुष के आकार के आधार पर वैधयज्ञ का तथाभूत वितान किया जाता है उस पुरुष (आध्यात्मिकयज्ञ) का स्वरूप ही एवविध (यज्ञात्मक) केसे और क्यों बना ? । जिस आधिदैविक जगत (प्रकृति) से पुरुषयज्ञ (आध्यात्मिकयज्ञ) उत्पन्न हुआ है उसे लोक-वेद मे यज्ञ शब्द से व्यवहृत किया गया है। उसे (आधिदैविकजगत् को) यज्ञ किस आधार पर कहा गया ? क्या वहा भी जुहू उपभृत् आदि यज्ञस्वरूपससाधक परिग्रह विद्यमान है ? । यही इस सम्बन्ध म दूसरा प्रश्न है। इन प्रश्नो के समाधान से श्रुति का उद्देश्य केवल यही बतलाना है कि आधिभौतिकयज्ञ (मनुष्यकृत वैधयज्ञ) की प्रतिष्ठा आध्यात्मिकयज्ञ (पुरुषाकाराकयज्ञ) है एव इस आध्यात्मिक यज्ञ की प्रतिष्ठा द्यावापृथिव्यात्मक सम्वत्सरलक्षण आधिदैविक यज्ञ है। मनुष्यकृत-यज्ञ का स्वरूप एवविध क्यों ? इस प्रश्न की उपनिषत् (उपपत्ति-मौलिकरहस्य) आध्यात्मिकयज्ञ है। आध्यात्मिक-यज्ञ (पुरुष) का एवविध

स्वरूप क्यों ? इस प्रश्न की उपनिषत् आधिदैविक प्राकृतिक नित्ययज्ञ है जिस का कि—यद्वै देवा अकुर्वस्तत् करवाणि देवाननुविधा वै मनुष्याः सह यज्ञा प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा इत्यादि श्रौत स्मार्त्त प्रमाणों से समर्थन हुआ है । जब श्रुति ने आधिभौतिक आध्यात्मिक यज्ञ का स्वरूप बतला दिया तो प्रकरणवश श्रुति के लिए यह भी आवश्यक होगया कि वह प्रसङ्गोपात्त तीसरे आधिदैविकयज्ञ का स्वरूप भी बतलावे साथ साथ उनकी भी इनके साथ प्रतिरूपता सिद्ध करे । इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए ४–५ कण्डिकाएँ पाठकों के सम्मुख उपस्थित होरहीं हैं—

उस (आधिदैविकयज्ञ) की यह (बडी दूर दिखलाई देने वाला सौरमण्डलोपलक्षित) द्यौ ही जुहू (दक्षिणहस्तपादका प्रतिरूप) है एवं यह अन्तरिक्ष (द्यावापृथिवी के मध्य का प्रदेश) उपभृत् (बामहस्त का प्रतिरूप) है । यह पृथिवी ही ध्रुवा (आत्मा का प्रतिरूप) है । (पुरुषयज्ञ की प्रतिरूपता सिद्ध करते हुए ध्रुवा की आत्मप्रतिरूपता का समर्थन किया गया था । अतः उसकी भी पुष्टि होनी चाहिए । आत्मा वही माना जायगा जिस से हस्त पादादि सब अङ्ग उत्पन्न होते होंगे । पृथिवी को ध्रुवालक्षण आत्मा तभी कहा जासकेगा जब कि वह अन्तरिक्ष द्युलोकरूप उपभृत् तथा जुहू इन दो अङ्गों की उपपत्ति का कारण बन सकेगा । इसी प्रतिरूपता का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)–

यह यथार्थ है (तद्वा) कि इसी * पृथिवी से सब लोक (पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ आप आदि लोक) उत्पन्न हुए है । (क्योंकि पृथिवी से सब लोक उत्पन्न होते है एवमेव पृथिवी अवश्य ही आत्मरूप ध्रुवा है । क्योंकि ध्रुवा से ही यज्ञस्वरूप की निष्पत्ति होती है) । अतएव (आधिदैविक मण्डल में) पृथिवीरूप ध्रुवा से ही सम्पूर्ण यज्ञ (आधिदैविक सम्वत्सरयज्ञ) उत्पन्न हुआ है ॥ ४ ॥

(स्थूलाङ्गभूत जुहू उपभृत् तथा ध्रुवा की प्रतिरूपता के सम्बन्ध में क्रमशः द्यौ अन्तरिक्ष पृथिवी (भूपिण्ड) इन तीन लोकों के द्वारा आधिदैविक यज्ञ की प्रतिरूपता सिद्ध की गई । अब वह सर्वसञ्चारी चैतन्य प्राण शेष रहा जो कि आधिभौतिक यज्ञ में स्रुवपात्र के रूप से एवं आध्यात्मिक यज्ञ में आलोमभ्य आनखाग्रेभ्य व्याप्त वैश्वानराग्निप्राण के रूप से प्रतिष्ठित है । इसी चैतन्य-प्राण की आधिदैविकयज्ञ मे प्रतिरूपता बतलाती हुई श्रुति कहती है)—

(इस आधिदैविकयज्ञ का) यही स्रुव (चैतन्यप्राण) है जोकि यह (त्रैलोक्य मे) प्रवाहित है (बह रहा है) । (पुरुषयज्ञ की प्रतिरूपता मे प्राण और स्रुव की प्रतिरूपता बतलाई गई थी ।

---

* पाठक सन्देह करेगे कि प्रथम तो पृथिवी से अन्तरिक्षादि लोको की उत्पत्ति मानना ही असङ्गत है । यदि अभ्युपगमवाद से थोडी देर के लिए ऐसा मान भी लिया जाय तब भी पृथिवि से पृथिवी की उत्पत्ति मानना तो कथमपि सुसङ्गत प्रतीत नही होता ? । इस जिज्ञासा का सोपपत्तिक समाधान आगे आने वाले उपपत्ति–प्रकरण में किया जावेगा ।

अत यहा भी उस प्रतिरूता का स्पष्टीकरण होना चाहिए। आधिदैविकयज्ञ सस्था म प्राण वही माना जायगा जो कि जुहू उपभृत् ध्रुवापलक्षित पृथिवी अ तरिक्ष द्युलोका को लक्ष्य बनाकर जिन मे-सञ्चरण करता हागा। इसी प्रतिरूपता का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहता है)—

यह वायु (कश लोम स्थानीय-वनस्पति-ओषधि-धातुवर्ग आदि पिण्डो के आभ्यन्तर भाग को छोडकर एव नखाग्रस्थानीय भूपिण्ड के आभ्यन्तर प्रदेश को छोडकर शेष बचे हुए) इन सब लोको म (त्रिवृत्स्थानीय पृथिवीलोक पञ्चदशस्थानीय अन्तरिक्षलोक एव एकविंशस्थानीय द्युलोक मे जो कि तीनों लोक आधिदैविकी यज्ञसस्था के अङ्गस्थानीय है इह लक्ष्य बना कर इन सब मे वह (वायु) बह रहा है (सञ्चरण कर रहा है) । (क्या कि वायु सब लोकों म सञ्चरण कर रहा है उधर यज्ञप्रक्रिया म स्रुचों म सञ्चार करने वाला ही स्रुव माना गया है इसी अभिप्राय को व्यक्त करती हुई श्रुति कहती है)-अतएव निश्चयरूप से यह स्रुव (त्रैलोक्यसञ्चारी वायु यप्राण) इतर स्रुचों को (जुहू उपभृत् ध्रुवा स्थानीय द्यु अन्तरिक्ष-पृथिवी को लक्ष्य बना कर) इन मे सञ्चरण कर रहा है ॥५॥

(१)—*इति-यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरणम्

—*—

---

* प्रकृत ब्राह्मण में प्रधानरूप से **आज्यग्रहण** की इतिकर्त्तव्यता (पद्धति) का ही निरूपण हुआ है। यज्ञमण्डल में एक नियत स्थान पर आज्य से परिपूर्ण एक नियत पात्र रक्खा रहता है। एक ही स्थान पर सदा स्थिररूप से प्रतिष्ठित रहने वाला वही आज्यपात्र **ध्रुवा** कहलाता है। ध्रुवापात्र एक ही स्थान पर स्थिर क्यो रहता है? इस प्रासङ्गिक प्रश्न समाधान के लिए ही श्रुति को पद्धति प्रदर्शन से पहले यज्ञ का मौलिक स्वरूप बतलाना आवश्यक प्रतीत हुआ। आरम्भ की ५ कण्डिकाओ में श्रुति ने प्रतिरूपविधि से **अधिभूत अध्यात्म अधिदैवत** इन तीन यज्ञ-सस्थाओ का स्वरूप बतलाया। इसी आधार पर पञ्चकण्डिकात्मक प्रकरण को एक स्वतन्त्र प्रकरण मानते हुए हमने इसे **यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरण** नाम दे देना उचित मान लिया है।

आधिभौतिक वधयज्ञ को मध्यस्थ बनाकर यज्ञकर्त्ता यजमान अपने आध्यात्मिक यज्ञ का आधिदैविक यज्ञ के साथ सम्बन्ध कराता है एव यही यज्ञ का मुख्य उद्देश्य है। इस उद्देश्य की सफलता के लिए छन्द तथा ऋतुओ स वष्टित सम्वत्सरमण्डलस्थ प्राणदेवताओ का ही यजन होता है जैसा कि पाठक उपपत्ति प्रकरण में विस्तार से देखेंगे। यज्ञ के उद्देश्य प्राणदेवता ह एव इनकी आधिदैविक यज्ञ से तुलना करते हुए आधिदैविक यज्ञ की प्रतिरूपता का परिज्ञान आवश्यकरूप से अपेक्षित है। अतएव पद्धति से पहले प्रतिरूपरहस्य का दिग्दर्शन कराना प [illegible] और इस दिग्दर्शन का मूलकारण बना **ध्रुवापात्र** । ब्राह्मण ने ध्रुवा से आज्यग्रहण का विधान किया है। ध्रुवा से ही आज्यग्रहण क्यो किया जाय? इस स्वाभाविक तथा प्रासङ्गिक प्रश्न के समाधान के लिए ही प्रथम **यज्ञप्रतिरूप-रहस्य** बतलाना आवश्यक समझा गया है। क्योकि आधिभौतिक यज्ञ का आध्यात्मिकयज्ञ साथ जसे अविच्छिन्न सम्बन्ध है एवमेव आध्यात्मिकयज्ञ का आधिदैविक यज्ञ स साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस समान सम्बन्धदृष्टि से भी प्रसङ्गवश श्रुति को अधिभूत अध्यात्म की प्रतिरूपता के साथ साथ अध्यात्म एव अधिदैवत की प्रतिरूपता भी बतलानी पडी।

२—आज्यगृहणसरयानियमनप्रकरण—

(जसाकि टिप्पणी मे स्पष्ट कर दिया गया है आरम्भ की ५ कण्डिकाओं मे निरूपणीया पद्धति का प्रथम कोई निरूपण न होकर ब्राह्मणग्र थों की स्वाभाविकशैली से सम्ब ध रखने वाला यज्ञप्रतिरूपरहस्य ही प्रतिपादित हुआ है । अब ६ ठी कण्डिका से ही पद्धति प्रदशन का उपक्रम किया जाता है)—

(यज्ञरहस्यवेत्ता अ व यु होता उद्गाता ब्रह्मा आदि विद्वान् ऋत्विजो के द्वारा प्रक्रियानुसार) वितायमान यह यज्ञ (आधिभौतिकयज्ञ) देवताओं ऋतुओं तथा छन्दों के लिए ही वितत किया जाता है । (आहुति द्र या मे से) जो हविद्र य है वह (प्रधान) देवताओं के लिए नियत है जैसे कि आहुतद्र य सोमराजा एवं पुरोडाश है। (तात्पर्य यही है कि सोमवल्ली का रस तथा पुरोडाशलक्षण आहुतिद्र य ये दोनों हविद्र य *प्रधान (आवाप) देवताओं के लिए नियत है । इन्हे नाम ग्रहण पूर्वक ही आहुति दी जाती है इसी अभिप्राय से आगे जाकर श्रुति कहती है)—

क्योंकि × अन्नपुरोडाश अन्नपुरोडाशोपलक्षित वपापुरोडाश एवं सोमरस ये तीन आहुति-द्र य देवताओं के लिए नियत है एवं देवता (प्राणदेवता मूलरूप से ३३ ३ १ होते हुए भी अपने महिमारूप से) सरया म भी अनन्त है साथ ही तत्तद्यज्ञविशेषो मे तत्तद् विशेष देवता ही प्रधान रहते है इसलिए भी) वह (हविद्र य) उन उन देवताओं का (अग्नये त्वा जुष्ट गृह्णामि – अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्ट गृह्णामि –उपयामगृहीतोऽसि वायव इन्द्रवायुभ्यां त्वा जुष्ट गृह्णामि इत्यादि रूप से नाम निर्देशपूर्वक ही) अमुष्मै त्वा जुष्ट गृह्णामि (अमुक देवता के लिए रुचिपूर्वक सेवन योग्य तुम्हारा हविद्र य का ग्रहण करता हू) इत्यादिरूप से नामनिर्देश करके ही (आहुति द्र य का) ग्रहण करते हैं। (इस नामनिर्देशपूर्वक हविग्रहण का कारण यही है कि) देवताओं के सम्ब ध मे (परम्परागत यज्ञपद्धतिग्र थों मे) यही प्रकार (हविग्रहणसाधक मन्त्र पृथक् नाम निर्देशपूर्वक ही पढे हुए है यही आवृत-सम्मत प्रकार) है ।।६।।

---

* यज्ञ मे जिन देवताओं को आहुति दी जाती है वे देवता आवाप प्रयाज अनुयाज भेद से तीन श्रेणियो मे विभक्त हैं। प्रधान प्राणदेवता आवापदेवता कहलाती है प्राणात्मिका मुख्य देवताओं की प्रतिष्ठारूपा वसन्तादि ऋतुएँ प्रयाजदेवता कहलाती है। एवं देवबाहनरूप गायत्र्यादि छन्द अनुयाजदेवता कहलाती है। सोमरस पुरोडाशलक्षण हविद्र्व्य आज्य ये तीन आहुति-द्र य है। तीनों मे सोमरस तथा पुरोडाश तो केवल आवापदेवताओं के लिए नियत है एवं ऋतुछन्दोरूप प्रयाज अनुयाज देवताओं को आज्याहुति दी जाती है।

× इष्टि पशु सोम-भेद से यज्ञसंस्था तीन भागों में विभक्त मानी गई है। इन तीनों में से इष्टि में अन्नपुरोडाश की आहुति होती है। पशुब न्ध में प्रधानरूप से पशुवपा की आहुति होती है। एवं ग्रहयागात्मक सोमयाग में प्रधानरूप से चालीस संख्या में विभक्त ग्र पात्रों मे स्थित सोमरस की आहुति होती है।

(प्र येक यज्ञ म अन्न–पशुवपा–सामरस तीना म से किसी एक ता हवि द्र य की प्रधा नता रहती ही है दूसरा आहात द्र य आ य रहता है। सप्रकार हवि ए । आ य भाग से प्रत्येक यज्ञ म दा आहुति य रहते हैं। इन में मे हवि द्र य का स ब ध तो प्रधान देवता क साथ बतला दिया गया। अब आ य नामक आहुति द्र य की यवस्था करते है)—

[हवि द्र य क अ तरिक्त] ज [दूसरे] आज्यों का ग्रहण किया जाता है उन आ या का ग्रहण [प्रयाजदेवतारूप] ऋतुओं के लिए तथा [अनुयाजदेवतारूप छन्दों के लिए च कारात् स्विष्टकृत्–याग क लिए] किया जाता है। [क्याकि ऋतु छन्द स्विष्टकृत् द ता प्रधान देव ताओं की अपेक्षा गाण है साथ ही य सख्या मे भी परिगणित है इन्ही सब कारणा से अ वर्यु उस [आ य] का [प्रयाजानुयाजादि गाण देवताओं का]–नाम न लेकर आज्यरूप से ही [समष्टिरूप से ही] ग्रहण करता है। [तात्पर्य यही हुआ कि प्रधान देवता क लिए जहा हविग्र हण नामनिर्दे-शपूर्वक होता है वहा प्रयाजानुयाजादि सम्बन्धी आज्य का ग्रहण बिना नामनिर्देश क ही करना चाहिए। ग्रहण सम्ब ध म ख्यातक्रम बतला कर अब ग्रहण–सम्बन्ध म विशेषता बतलाते है]—

वह् (अ वर्यु नियत स्थान पर स्थित आ यपात्रपूर्ण ध्र वा म स्रु व क द्वारा घृत ले लेकर) चार बार तो जुहू मे घृत–ग्रहण करता है एव (उसी स्रु व से) आठ बार करक उपभृत् म ग्रहण करता है ॥७॥

सो जो कि अ वर्यु चार बा करक (स्रु व से) जुहू मे (बिना नाम निर्देश क) आज्य ग्रहण करता है (उसका कारण बतलाते है)। ऋतुओं क लिए (चतुर्वार) आज्यग्रहण करता है। (ऋतुरूप प्रयाजदेवताओं क उद्देश्य से चतुर्ग्र हीत यह) आज्य प्रयाजदेवताओं के लिए ही ग्रहण करता है। (क्याकि) ऋतुएँ ही प्रयाज (देवता) है। उस आज्य का (ऋतुरूप प्रयाज देव-ताओं क नाम निर्देश के बिना ही) * अजामिता क लिए आ यरूप से ही ग्रहण करता है। (वह अ वर्यु + जामि करेगा जो कि यदि वसन्ताय ग्रीष्माय वा इ यादि रूप स (नाम-निर्देशपूर्वक) आज्यग्रहण करेगा। इसलिए (जामि दोष न हो इसलिए) प्रयाज–देवताओं का नामनिर्देश न कर आ य क ही रूप से [प्रयाजदेवताओ के लिए चतुर्वार जुहू मे आज्य] ग्रहण करता है ॥८॥

सो जो कि अ वर्यु आठ बार करक [स्रु व से] उपभृत् में [बिना नाम निर्देश के] आज्य–ग्रहण करता है [इसका कारण बतलाते है छन्दा के लिए [आठ बार करक] आ य ग्रहण करता है । [छ दोरूप अनुयाज–देवताओं के उद्दश्य से अष्टौ कृ व ग्रहीत यह] आ य अनु याज–देवताओं क लिए ही ग्रहण करता है। [क्योंकि] छन्द ही अनुयाज है। उस आ य का [उन छन्दोरूप अनुयाज देवताओं के नाम निर्देश के बिना ही] अजामिता क लिए आज्यरूप से ही ग्रहण करता है।

---

* स यता की रक्षा के लिए।

\+ जामि–अस यता

[वह अ यम्यु] जामिदोष का प्रवत्त क बनेगा जो कि यदि गाय ये या त्रि भे त्वा इ यादि रूप से [नामनिर्देशपूर्वक] आ यग्रहण करेगा। इसलिए [जामिदोष न हो इसलिए] अनुयाज देवताओं का नाम निर्देश न कर आ य क ही रूप से [अनुयाज देवताओं के लिए आठ बार करके उपभृत् म आ य] ग्रहण करता है ॥६॥

[आ यग्रहण के सम्ब ध मे अभी एक बात शेष रह गई। जुहू उपभृत ध्रुवा तीनों को स्रुक् कहा जाता है। इनमे जुहू तथा उपभृत् नाम की स्रुचा क स ब ध मे तो आ यग्रहण की यवस्था बतला दी गई। पर तु अभीतक इस सम्ब ध मे कोई स्पष्टीकरण न हुआ कि तीसरी ध्रुवा नाम की स्रुक मे कहा से लेकर तो आ य भरा जाता है कितनी बार करक भरा जाता है एव नाम निर्देश पूर्वक भरा जाता है अथवा जुहू उपभृत् इन अन्य स्रुचों की भाति बिना नाम निर्देश क आ य ग्रहण होता है ? । क्योंकि ध्रुवा भी स्रुक है अत इतर दोनो स्रुचों के आ यग्रहण की यवस्था के साथ समानप्रकरण क कारण ध्रुवा नाम की स्रुक से सम्ब ध रखने वाली आ यग्रहण—यवस्था का भी स्पष्टीकरण होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त ध्रुवा के सम्ब ध म एक स देह और उपस्थित होता है । पूर्वप्रतिपादित यज्ञप्रतिरूपरहस्य के अनुसार ध्रुवा आ मस्थानीय बनता हुआ सम्पूर्ण यज्ञ की प्रतिष्ठा है । इस सर्वयज्ञसम्पन्नता की दृष्टि से ध्रुवापात्र केवल जुहू—उपभृत् मे क्रमश चतुर्वार अष्टवार गृहीत आ य से सम्ब ध रखने वाले प्रयाज—अनुयाज नामक गौण देवताओं की ही प्रतिष्ठा नहीं है अपितु यज्ञिय अ य आवाप—देवताओं की भी प्रतिष्ठा है। उधर पूर्व मे यह यवस्था हुई है कि प्रधान देवता क लिए तो नामनिर्देश पूर्वक हविग्रहण करना चाहिए एव प्रयाजानुयाज देवताओं के लिए बिना नाम निर्देश क ही आज्यग्रहण करना चाहिए। इधर ध्रुवापात्र गौण तथा मुख्य सब देवताओं की प्रतिष्ठा है। ऐसी दशा म यदि बिना नामनिर्देश क ध्रुवा म घृत डाला जायगा तो प्रधान देवता का सम्ब ध न होगा और यदि नाम निर्देशपूर्वक घृत डाला जायगा तो गौणदेवता का सम्ब ध न होगा। अपेक्षित है दोनों का सम्ब ध क्योंकि दोनों के सम वय से ही यज्ञस्वरूप निष्पन्न होता है एव ध्रुवा सम्पूर्ण यज्ञ की प्रतिष्ठा है। फलत ध्रुवा सम्ब धी आज्यग्रहण के सम्ब ध मे उक्त स देह एक जटिल समस्या बन जाता है। इन्हीं सब विप्रतिपत्तियों का निराकरण करने क लिए ध्रुवा—सम्ब धी आ यग्रहण की यवस्था बतलाई जाती है]—

[आरम्भ से यज्ञ समाप्ति—पर्य त यज्ञिय कर्म्म मे जितना आ य अपेक्षित रहता है अपेक्षित नियत मात्रा से अ य सामग्री—सम्भार के साथ साथ आज्य का भी एकबार ही संग्रह कर लिया जाता है। यज्ञकर्म्मोपयोगी इस आ य को पहिले से ही नियत जिस यज्ञिय पात्र मे नियत स्थान पर कोशरूप से सुरक्षित रख लिया जाता है वह पात्र आज्यस्थाली नाम से प्रसिद्ध है। आहुति के लिए ध्रुवा में भरे हुए आ य का स्रुव से उपयोग होता है। जब जब ध्रुवा में आ य अपेक्षित होता है तब तब कोशस्थानीया उस आ यस्थाली से स ध्रुवापात्र में घृत ले लिया जाता है। जिसप्रकार स्रुव के द्वारा ध्रुवा में से जुहू और उपभृत् में बिना नामनिर्देश के क्रमश

चतुर्वार-आठवा आ यग्रहण होता है उसे आ‍यस्थाली म से ध्रुवा म कितनी बार मे क र आ य भरा जाता है ? एव प्रधानदेवतावत् नामनिर्देश पूर्वक भरा जाता है ? अथवा गौण-देवतावत् बिना नामनिर्देश क ? य दो प्रश्न हमारे सामने आते है । इन्ही का क्रमश समाधान करती हुई श्रुति कहती है]—

जो कि [अ वर्यु जुहू-उपभृत् मे आ‍यस्थाली म से] चार बार करके ध्रुवा मे आज्य-ग्रहण करता ह—[उसका कारण बतलाते है] । उस [आ‍य] को सम्पूर्ण यज्ञ क लिए [चार बार करक आ‍यस्थाली मे से ध्रुवा मे] ग्रहण करता है । [तात्पर्य यही हुआ कि ध्रुवा म आ‍यस्थाली से चार बार करक जो आ यग्रहण किया जाता है इस आ‍यग्रहण का सम्बन्ध न तो प्रधानदेवता के साथ ही है न कवल गौणदेवता के साथ ही । अपितु गौण प्रधान स्विष्टकृत्, आदि सम्पूर्ण देवताओं से युक्त सम्पूर्ण यज्ञ की सिद्धि ही स आज्यग्रहण का मुख्य उद्देश्य है । क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञ इस ग्रहण का उद्देश्य है एव चतुष्टय वा इद सवम् इस निगम क अनुसार यह सवत्त्व चार पर्वो पर निभर है अत बिना नामनिर्देश क कवल चार बार करके ही आ यस्थाली से ध्रुवा म आ‍यग्रहण करना यायसङ्गत बनता है । यही स्पष्ट करते हुए आगे जाकर श्रुति कहती है]—

उस [आ य का देवतादि क नामनिर्देश क बिना आ य क ही रूप से ग्रहण करता है । किस देवता क लिए नामनिर्देश करे जबकि [इस ध्रुवा म] सभी [गौण मुख्य स्विष्टकृदादि] देवताओं क लिए* अवदान (अश विभाग) करता है । (अर्थात् जब ध्रुवा सव की प्रतिष्ठा है तो मानना पडगा कि ध्रुवा मे स्थित आ‍य भी सभी की प्रतिष्ठा है । इस मे नाम वाले एव बिना नाम वाले गौण-मुख्य सभी देवता सयुक्त है । ऐसी दशा मे नाम आग्रह के सम्बन्ध म अधिक से अधिक सर्वाभ्य-सवस्मै कहना ही प र्याप्त है । जब सवस्मै सर्वाभ्य स्वत सिद्ध है तो ग्रहणकाल मे इन प्रयोगों की भी कोई आवश्यकता नही रह जाता । अतएव (सवप्रतिष्ठारूप होने से ही) किसी का नामनिर्देश किए बिना (आ‍यस्थाली में से ध्रुवा में) आ‍य क रूप से ही (चार बार करक आ‍य) ग्रहण करता है ॥१ ॥

— २ इति-आज्यगृहणसख्यानियमनप्रकरणम्



---

*—आ यस्थाली से उपयोगानुसार ध्रुवा से चार बार कर के आ ग्रहण करना ही अवदान है ।

— ६ ठी कण्डिका से आरम्भ कर १ वी कण्डिका प यन्त ५ कण्डिकाओ का एक स्वत त्र प्रकरण मानना चाहिए । इस प्रकरण में प्रधानरूप से आ‍यग्रहण की सख्याओ का ही विचार हुआ है । इस से आगे उपपत्ति प्रकरण चलेगा एव सर्वान्त में पद्धति प्रकरण आएगा पञ्चकण्डिका मक प्रस्तुत प्रकरण में केवल ख्याओ का ही बिचार हुआ है अत इसे आ‍यग्रहण-सख्यानियमनप्रकरण नाम से यवहृत करना उचित मान लिया गया है ।

३—आज्यगृहणोपपत्तिप्रकरणम्—

(प्र प्रकरण मे यह स्पष्ट किया जाचुका है कि जुहू मे स्रुव के द्वारा कर के चार बार एवं उपभृत् म आठ बार आज्यग्रहण किया जाता है। चतुर्जुह्वा अष्टौ कृत्व उपभृति इन चार संख्याओं की क्या उपपत्ति? पट् कण्डिकात्मक प्रकृत प्रकरण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है)

(यज्ञकर्म मे दीक्षित यज्ञफलभोक्ता) यजमान ही जुहू को लक्ष्य बनाता है एवं जो (यजमान का शत्रु) इस यजमान के प्रति (सम्पत्ति आगमन का द्वार अवरुद्ध करता हुआ इसके साथ) शत्रुता करता है वह (शत्रु) उपभृत् का लक्ष्य बनाता है (अर्थात् जुहू म प्रतिष्ठित आज्य यजमान का प्रतिरूप है एवं उपभृत् मे प्रतिष्ठित आज्य यजमान के शत्रु का प्रतिरूप है)। अत्ता (भोक्ता) ही जुहू को लक्ष्य बनाता है एवं आद्य (भोग्य) उपभृत् को लक्ष्य बनाता है। (अर्थात् जुहू स्थित आज्य भोक्ता का प्रतिरूप है एवं उपभृत् म स्थित आज्य भोग्य का प्रतिरूप है)। (दक्षिण बाहु का प्रतिरूप) जुहू अत्ता है एवं (वामबाहु का प्रतिरूप) उपभृत् आद्य है।

(उक्त यजमान-यजमानशत्रु अत्ता-आद्य इन द्वन्द्वों से श्रुति का अभिप्राय यही है कि जुहू को यजमान तथा भोक्ता समझ कर एवं उपभृत् को यजमानशत्रु तथा भोग्य समझ कर ही आज्यग्रहण सम्बन्धिनी संख्याओं के नियतभाव की उपपत्ति पर दृष्टि डालनी चाहिए। क्योंकि यह द्वन्द्व-भाव ही संख्योपपत्ति की मूल प्रतिष्ठा है। यह है-मौलिक परिस्थिति। इस अपने लक्ष्य मे रखता हुआ) वह (अध्वर्यु) नियमितरूप से (वै) चार बार जुहू में आज्यग्रहण करता है एवं आठ बार करके उपभृत् मे (आज्यग्रहण करता है) ॥११॥

सो जो कि (अध्वर्यु) जुहू म चार बार ग्रहण करता है (इस की उपपत्ति बतलाते है)। (जुहू मे चार बार करके आज्यग्रहण करता हुआ अध्वर्यु इस ग्रहणकर्म से) अत्ता (यजमान) को ही अतिशय सीमित और संख्या मे अल्प (छोटा) करता है। (जुहू म आज्य ग्रहण करने के अनन्तर जो कि अध्वर्यु उपभृत् मे आठ बार करके आज्यग्रहण करता है (उसका कारण बतलाते हैं)। (उपभृत् मे आठ बार करके आज्यग्रहण करता हुआ अध्वर्यु इस ग्रहणकर्म से) आद्य (यजमानशत्रु) को ही अतिशय विस्तृत और संख्या म बडा करता है। जहा भोक्ता कम होंगे एवं भोग्यसामग्री प्रचुरमात्रा मे होगी अवश्य ही वह (गृहस्थपरिवार यज्ञकर्म आदि) समृद्ध है (समृद्ध मान जायँगे)। (तात्पर्य यही हुआ कि पूर्वकथनानुसार जुहू का आज्य भोक्ता है एवं उपभृत का आज्य भोग्य है। जहा जिस संस्था म भोक्ता की अपेक्षा भोग्य सामग्री अधिक होती है वहाँ समृद्धि मानी जाती है। इसी समृद्धि का यज्ञकर्म मे समावेश करने के लिए भोक्ता स्थानीय जुहू का आज्यभाग संख्या मे कनीयान् किया जाता है एवं भोग्य उपभृत् का आज्यभाग संख्या मे भूयान् बनाया जाता है। ॥१२॥

[ब्राह्मणग्रन्थो की यह एक नियत शैली है कि जब वे कर्मों का ब्राह्मण (विज्ञान मौलिकरहस्य उपपत्ति) बतलाने का उपक्रम करते है तो आरम्भ में समाधानोपक्रमगर्भित प्रश्नात्मक वाक्यो का प्रयोग करते

है जसा कि— त त्न्प-उपस्प्रशति (श १।१।१)— अथातोऽशनानशनस्यत्र (श १।१।७)— अ ा यद् द्व द्वम् (श ।१।२।२) ‍ यादि प्रश्नाथक वाक्यो स स्पष्ट ह । ‍न वाक्यार्थों की सङ्गति— सो जो कि पानी का उपस्पश करते हैं—(उस की उपपति बतलाते ह) — अब यहा से अशन अनशन की ही (मीमासा की ाती है अब जिस लिए कि द्व द्वभाव है (वह कारण बतलाते है) ‍स रूप से की जायगी। प्रकृत में भी इस स्वाभाविक शली के अनुसार ही अथ यत् चतुजु ह्वा गृह्णाति समाधानोपक्रमगर्भित (उपपत्ति जिज्ञासारूप) यह प्रश्ना ाक वाक्य प्रयुक्त हुआ है। अत इस का अथ— अब जिसलिए कि जुहू मे चार बार ग्रहण करते है (उस का कारण बतलाते है) यह करना पडेगा। अन तर अनुवाद-सङ्गति के लिए उक्त वाक्याथ के आगे जुहू म चार ार ग्रहण करता हुआ अ ाय्यु स वाक्य का स ब ध ऊपर से ओर जोडना पडगा प्रकृत मे इस शली से यही बतलाना है कि कही कही या याताओ न — सो जो कि जुहू से चार बार आज्य ग्रहण करता है अत्ता को ही इस ग्रहण से परिमिततर करता है यह अथ किया है। परतु ऐसा अथ ब्राह्मणशैलो से स था विरुद्ध अतएव उपेक्षणीय ही माना जायगा। प्र यक दशा में उपक्रम वाक्य स्वत त्र माना जायगा एव आ ो के उत्तर प्रकरण की सङ्गति के लिये पूववाक्याथ से आगे तदु यते तत्कारणमीमासा क्रियते ‍ यादि नवीन वाक्यो का समावश करना पडेगा।]

वह (अ ाय्यु) जुहू म चार बार आज्यग्रहण करता हुआ (आठ बार वाले उपभृत् की अपक्षा) मात्रा मे अधिक आ यग्रहण करता है (एव) उपभृत् मे आठ बार करक आज्यग्रहण करता हुआ (चार बार वाले जुहू की अपेक्षा) थोडा आ यग्रहण करता है। (तात्पय्य यही हुआ कि यद्यपि जुहू म स्रुवा से आ य लिया जाता है चार ही बार तथापि जुहू की आ यमात्रा उपभृत् की आ यमात्रा से अधिक होती है जब कि जुहू म उपभृत् की अपेक्षा चार बार कम डाला जाता है। एवमेव उपभृत् म यद्यपि आ य लिया जाता है आठ बार तथापि उपभृत् की आ यमात्रा जुहू की आ यमात्रा से भी कम रहती है जब कि उपभृत् मे जुहू की अपक्षा चार बार अधिक डाला जाता है ॥१३॥

सो जो कि (अ ा यु) जुहू में चार बार ही आ यग्रहण करता हुआ भी (उपभृत् की अपेक्षा) अधिक आ यग्रहण करता है (उस का कारण बतलाते है) । (जुहू म चार बार मे ही उपभृत् की अपेक्षा अधिक आ यग्रहण करता हुआ अ ाय्य) इस भूयोग्रहणकम्म से अत्ता का (चार सख्या से) अतिशय सीमित (एव) अ प करता हुआ (भूयोग्रहण म) इस (अत्ता) म (आद्य की अपेक्षा) वी य (और) बल का आ ान करता है। ता पय्य य निकला कि चार सख्या की ‍ष्टि से जहाँ अत्ता सख्या की अपेक्षा कम है वहा आ य की अधिकता से वीय्य तथा बल मे आद्य की अपेक्षा-अधिक है) ।

सो जो कि [अ ाय्यु] उपभृत् मे आठ बार आ यग्रहण करता हुआ [जुहू की अपेक्षा] थोडा आ य ग्रहण करता है [उस का कारण बतलाते है]। उपभृत् मे आठ बार म जुहू की अपक्षा थोडा आ यग्रहण करता हुआ अ ाय्यु। इस अल्पग्रहण-कम्म से आद्यको [आठ सख्या से] अतिशय विस्तृत [एव] बड बनता हुआ [अ पग्रहण से] इसे [आद्य को] वी य तथा बल मे [अत्ता

की अपेक्षा] शून्य ही बनाता है। [तापर्य यही है कि आठ सख्या से जहा आद्य सख्या तथा आयतन में बडा है वहा मौलिक वीर्यरूप आन्य की अल्पता से अत्ता की अपेक्षा यही वीय तथा बल से शू य है निर्वीर्य है निबल है]। निष्कष यही निकला कि अत्ता सदा आ य पर अप । प्रभुत्त्व प्रतिष्ठित रक्खे आद्य सदा इसक सामने नतमस्तक रहे सी रूपसमृद्धि क लिए अत्ता-स्थानीय जुहू मे अधिकमात्रा से तथा आद्यस्थानीय उपभृत् म अल्पमात्रा से आ य ग्रहण करना प्राकृतिक है।

[एकाकी रहता हुआ भी अत्ता अधिक वीर्य्य बल क सम्ब धसे हीनवी य हीनबल अनेको आद्यों पर कसे अपना प्रभुत्त्व प्रतिष्ठित रखता है? इस सम्ब ध मे प्राकृतिक-नि य वर्णानुगत राजा-प्रजा का उदाहरण उद्धृत करती हुई श्रुति कहती है]—

इसीलिए तो [तस्मादुत-आद्य की अपेक्षा अत्ता के विशष बलवी यवान् होने से ही तो राष्ट्राधिपति एक] सत्ताधीश अपार [असख्य-अगणित-अनगिनती] प्रजा को प्रा त हाकर भी स्वय एक घर से (एकाकी ही उस असख्य-प्रजा को) अपने वश मे कर लेता है। (यही नही अपितु राष्ट्र का आवश्यता क लिए वह राष्ट्रपति सत्ताधीश जब जब जसी जैसी जिस जिस वस्तु की कामना करता है तब तब वैसी वैसी उस उस अभिलषित वस्तु का भी (उस आद्यस्थानीया प्रजा से बल-वी य के प्रभाव से) प्रा त करता रहता है। उसी वीर्य्य से (सत्ताधीश यह सब कुछ रा य-प्रजावभव प्रा त करने मे समथ होता है) जो कि यह अपनी जु (रूप दक्षिण बाहु) मे अधिक आन्य (वी य) ग्रहण करता है। (अपने बाहुबल तथा आत्मवीर्य्य से सत्ताधीश एकाकी रहता हुआ भी असख्यात प्रजायुक्त राष्ट्र पर अपना प्रभुत्त्व बनाए रखता है यही तापर्य्य है)।

वह अध्वर्य्यु जिस आ य को जु मे लेता है उस आन्य की (तो) आहुति जुहू से देता (ही) है (परन्तु) जिस आ य का उपभृत् से ग्रहण करता है [उसकी भी आहुति उपभृत से न देकर] जुहू स ही आहुति देता है। [तापर्य यही हुआ कि आन्यग्रहणकर्म्म प्रथक् प्रथक जुहू उपभृत् म होता है परन्तु आहुति दोनों के आ य की जुहू से ही दी जाती है ॥*॥१४॥

---

*—१९ वी कण्डिका के आगे ब्राह्मणग्र य की जिस प्रतिपा न शैली का स्पष्टीकरण किया गया है पाठक देखगे कि १३ वी १४ वी कण्डिकाओं के प्रारम्भिक वाक्यो से उस शैली का सर्वा मना समथन होरहा है। उत्तरोपक्रमगाभत प्रश्नार्थक वाक्यो का सर्वत्र स यत् — अथ यत् — अ यात इ यादि रूप से आरम्भ होता है। ए ा उत्तरवाक्यो से सम्बद्ध पूर्वावाक्यों का उपक्रम स ो — तद्धि तद्वा एतम् इ या दि रूप से होता है जसाकि १३ वी कण्डिका के आगे के प्रकरण से सम्बद्ध स वै चतुर्जु ह्वा गृह्णन् भूयऽ आन्य गृह्णाति इस सामा य उपक्रमवाक्य से एव १४ वी कण्डिका के उत्तर प्रकरण से अनन्वित स्वतन्त्र अतएव अ यवाक्यसापेक्ष उत्तरापक्रमगर्भित प्रश्नार्थक— स यच्चतुर्जुह्वा गृह्णन् भूय आ य गृह्णाति

(यज्ञपद्धति का यह एक स्वाभाविक नियम रखा जाता है कि जिस पात्र किंवा पात्री म आहुति द्र य लिया जाता है उसी पात्र किंवा पात्री से आहुति दी जाती है। परन्तु पूर्वश्रुति ने ग्रहण बतलाया है उपभृत् मे एव आहुति का विधान किया है जुहू से। इस वषम्य का क्या कारण? इसी वैषम्य का प्रश्न रूप से उपा ान कर अ े म समाधान करती हुई श्रुति कहती है]–

[उपभृत् मे गृहीत आज्य की उपभृत् से आहुति न देकर जुहू से ही आहुति देनी चाहिए इस पूर्व सिद्धान्त क सम्बन्ध मे] कितने एक विद्वान् कहते है कि [तदाहु] यदि [उपभृत् मे गृहीत आज्य की] उपभृत् से आहुति नहीं देते तो फिर क्या [किस प्रयोजन क लिए] उपभृत् में [आज्य] ग्रहण किया जाय? । [प्रश्नकर्त्ता विद्वानो का अभिप्राय यही है कि आहुति देने क लिए ही तो आज्य-ग्रहण का विधान हुआ है। जब उपभृत् स आहुति ही नहीं दीजाती तो इसमे आज्य ग्रहण की ओर क्या आवश्यकता रह जाती है?]।

[श्रुति उत्तर देती है कि] यदि वह [अध्वर्यु] [उपभृत् मे गृहीत आज्य की] उपभृत् से आहुति देगा ता य सम्पूर्ण प्रजाए [अपना स्वाभाविक सघठन ताड कर] स्वतन्त्र बन जायँगी। न अत्ता रहेगा न आद्य [सुरक्षित] रहेगा। [उत्तर का तात्पर्य यही है कि उपभृत् मे गृहीत आज्य एव उपभृत् दोनो आद्यस्थानीय बनते हु प्रजा स्थानीय हैं। जुहू म गृहीत आज्य तथा जुहू दोनों अत्ता स्थानीय बनते हुए सत्ताधीश-स्थानीय है। एसी परिस्थिति म यदि प्रजा स्थानीय उपभृत् से ही प्रजा-स्थानीय आज्य की आहुति दी जायगी तो उपभृदाज्यस्थानीया प्रजा स्वत न्त्र बन जायगी जो कि निरकुश अम र्यादित स्वात न्त्र्य त त्वत पारतन्त्र्य बनता हुआ सत्ताधीश तथा प्रजा दोनों क नाश का ही कारण माना गया है। परन्तु जब उपभृद्गृहीत आज्य की सत्ताधीश-स्थानीय जुहू [क आश्रय] से आहुति दी जाती है तो उपभृदाज्यरूप प्रजावर्ग जुहूरूप सत्ताधीश की रक्षा मे आकर विप्लव से बच जाता है। इसी राष्ट्रीय-एकीकरण क लिए उपभृत् गृहीत आज्य की भी जुहू से ही आहुति देना उचित है। इसी अभिप्राय को अपनी स्वा भाविक शैली से यक्त करती हुई श्रुति कहती है]—

(उपभृत् मे आज्यग्रहण करने के लिए) अनन्तर जिसलिए कि (उपभृत्-गृहीत आज्य को) जुहू मे ही लेकर आहुति देते है (इसका कारण बताते है)। (औपभृत् आज्य को जुहू म

[तत्कारणमुच्यते–इति वाक्यशेष] इस वाक्य से स्पष्ट सिद्ध होरहा है। ब्राह्मणग्रन्थो की इन परिभा- षाओ के न जानने से मक्षिकास्थाने मक्षिकापात न्याय से व्याकरण के बलपर केवल शब्दार्थ के अनु- गमन से वास्तविक अर्थ-समन्वय में बडी भ्रान्ति होजाती है। अत पाठको से इस सम्बन्ध मे साग्रह निवेदन किया जायगा कि अर्थसमन्वय करते हुए व इन परिभाषाओं का भलीभाति स्पष्टीकरण करल।

* जहा कही श्रुति को किसी अन्य के द्वारा प्रश्नात्मक आक्षेपयुक्त पूर्वपक्ष करना होता है वहा सर्वत्र आरम्भ में तदाहु का सन्निवेश रहता है। दूसरे शब्दो में तदाहु वाक्य को सर्वत्र प्रश्नात्मक ही समझना चाहिए। यह भी ब्राह्मणग्रन्थो की एक स्वाभाविक ही शैली है।

लेकर) आहुति देने से ही य प्रजाएँ क्षत्रिय-राजा क लिए बलि (कर) प्रदान करतीं है। (अर्थात् इसीलिए प्रजा राज्य को अनुगामिनी बनी रहती है)।

(अब इस सम्बन्ध म एक प्रश्न और किया जासकता है। वह यही कि यदि ऐसा है तो फिर उपभृत् मे आज्यग्रहण की ही क्या आवश्यकता रह जाती है? । क्यो नही पहिले चार बार जुहू मे लेकर अत्ता त्र की प्राप्ति के लिए आहुति दे दीजाय अनन्तर आद्य को अत्ता क आधीन बनाने क लिए जुहू मे ही आठ बार लेकर [आत्मभाव की रक्षा क लिए] जुहू से ही आहुति दे दी जाय ?। पहिले उपभृत् मे लेना पुन उपभृत् से जुहू मे लेकर आहुति देना स खण्डिड प्राणायाम की अपक्षा तो पहिले से ही जुहू मे हां लेकर क्यों न इतिकत्त यता पूरी करली जाय ? । इसी विप्रतिपत्ति का प्रश्नोत्थानपूर्वक निराकरण करती हुई श्रुति कहती है)—

[जुहू मे चार बार ग्रहण करन क] अनन्तर जिसलिए कि उपभृत् मे [ही आठ बार आज्य] ग्रहण करते है [इसका कारण बतलाते है] । [आद्यलक्षणा प्रजा से सम्बन्ध रखने वाला उपभृत् सम्बन्धी आज्यग्रहण जुहू मे न होकर उपभृत मे हीं होता है] इसलिए ही क्षत्रिय [राजा] क वश मे [रक्षा मे] रहते हुए ही वश्य [प्रजा] के प्रति पशु [स पत्तिवग] उपस्थित होते है । [उत्तर का तात्पर्य यही कि जिसप्रकार राष्ट्रीय प्रजा की रक्षा क लिए भोक्ता की सत्ता अपेक्षित हैं उसीप्रकार भोग्य की सत्ता भी आवश्यक है। राजा यदि प्रजा का सर्वस्य अपने स्वार्थ मे हीं स्वाहा कर जाय उसे स्वतन्त्र रहकर (किन्तु अपनी रक्षा मे) सुसमृद्धि का अवसर न दे तो प्रजा कभी पशुसम्पत्ति (धन कृषि पशु आदि (बहिर्वित्त) मे युक्त न बने । और स दशा मे राजा का राजापना ही सुरक्षित न रहे । अत प्रजाविकास क लिए प्रजासमृद्धि क लिए प्रजा को एकाश से स्वतन्त्र—रखना भी आवश्यक है। उपभृत् जुहू पर रक्खी रहती है जुहू आधार है आश्रय है उपभृत् आधेय है आश्रित है। यही राजा का प्रजा पर रक्षात्मक अनुग्रह है। इस रक्षा म प्रतिष्ठित वश्यरूप प्रजावर्ग स्वतन्त्ररूप स पशुसमृद्धि करने मे समर्थ बने इसी प्रयोजन की सिद्धि क लिए जुहू पर रक्खे हु उपभृत् मे हीं आज्यग्रहण किया जाता है) ।

(इसप्रकार पहिले उपभृत् मे आज्यग्रहण कर अनन्तर औपभृत-आज्य को जुहू मे लेकर ही आहुति क्यों दी जाती है ? इस प्रश्न का एक समाधान तो कण्डिका के आरम्भ म हीं—तस्मादिमा विश क्षत्रियाय बलि हरन्ति या दरूप से दिया जाचुका है। इस उत्तर का तात्पर्य यही है कि प्रजा राजा का बलि (कर) प्रदान करती रहे राजा इस बलिप्राप्ति से और भी अधिक बलवान् बनता हुआ प्रजासमृद्धि मे पूर्ण समर्थ बने। अब इसी प्रश्न का एक दूसरा समाधान करने क लिए श्रुति पुन प्रश्न उठाकर समाधान करती है)—

(जुहू पर रक्खे हुए उपभृत् में आठ बार आज्यग्रहण करने क) अनन्तर जिसलिए कि (औपभृत-आज्य को) जुहू मे लेकर जुहू से ही आहुति देते है (इस की दूसरी उपपत्ति बतलाते है)। क्योंकि औपभृताज्य की उपभृत् से आहुति न होकर जुहू से आहुति होती है अतएव

जिस समय भी क्षत्रियराजा (राष्ट्रहित के लि जिस सम्पत्ति की) कामना करता है कामना के अ यगहितात्तरकाल म ही वह वैश्य (प्रजा] को लक्ष्य बना कर आज्ञा देता है कि वैश्य तुम्हारा जो अ य सुरक्षित (सुगुप्त) पर (परकीय धन) है उस (राष्ट्रहित क लिए) शीघ्र ले आओ। (आज्ञानन्तर वैश्य क द्वारा प्राप्त धन को) वह राजा अपने अधिकार म कर लेना है। इसीप्रकार राजा का (राष्ट्रसञ्चालन-कर्म्म में) जब जसी न वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती रहती है इन्हीं सम्पन्न वैश्यो क द्वारा वैसी वे वस्तुए प्रा त होती रहती है (और इस स्वाभाविक स पत्-प्राप्ति का एकमात्र कारण है) वीर्य्यप्रभाव। (ता प य उत्तर का यही है कि यदि उपभृत् से ही आहुति दी जायगी ता इसका यह अथ होगा कि राजा ने प्रजा को सञ्चित-धन यय क लिए स्वतन्त्रता प्रदान करदी। प्रजाधन ही राजा क राष्ट्र का मुख्य बल है। यदि प्रजाधन पर राष्ट्रपति का नियन्त्रण न होगा तो राजा क राष्ट्र की अथशक्ति नष्ट हाजायगी। और उस परिस्थति मे राजा प्रजा से कामनानुसार राष्ट्रसचालन क लिए सम्पत्ति-सग्रह न कर सकेगा। ठीक इस क विप ीत जब कि औपभृ । य का जुहू क द्वारा ही आहुति हाती है ता इस का यह अ र होता है कि प्रजा क द्वारा सञ्चित धन राजा को रक्षा म जायगा। इसीलिए अब राजा जब भी चाहेगा तभी प्रजा क उस गुप्त (सुरक्षित) धन क द्वारा राष्ट्रकामनाए पूरी करता रहगा। इस दूसरे प्रयोजन की सिद्धि के लिए भा औपभृता य को जुहू म लेकर जुहू से ही आहुति दी जाती है ॥१५॥

(जुहू और उपभृत मे क्रमश ४ - बार करक जा आ यग्रहण हाता है इस क सम्ब ध मे जो कुछ उपपत्ति बतलानी थी बतला दी गई। अब तीसरी ध्रुवा नामकी स्रुक् शेष रह गई जिससे कि स्रुव क द्वारा जुहू उपभृत् मे आ यग्रहण होता है। इस क्रमदृष्टि से यद्यपि अब ध्रुवा-सम्बन्धी आ यग्रहण की उपपत्ति ही अपेक्षित थी। तथापि ध्रुवा पात्र अङ्गभूत इतर दोना स्रुचों (जुहू उपभृत्) की प्रतिष्ठा बनता हुआ सवयज्ञप्रतिष्ठा है। अत ध्रुवा क इस सवभाव को दृढमूल बनाने क उद्देश्य से प्रसङ्गात् पहिले इतर दोनों स्रुचा का भी सिहावलोकन कर लिया जाता है।

यद्यपि छन्दोरूप अनुयाज तथा ऋतुरूप प्रयाज दोनों क लिए क्रमश उपभृत् तथा जुहू मे आ यग्रहण होता है तथापि ध्रुवा सम्बन्ध मे बतलाई जाने वाली उपपत्ति का श्रुति ने प्रधानरूप से छन्द सम्पत्ति के साथ ही सम्ब ध माना है जैस कि निम्न लिखित मूलानुवाद मे मे स्पष्ट होरहा है)।

(आ यस्थाली से चार बार करक ध्रुवा में ध्रुवा से स्रुव क द्वारा चार बार कर क जुहू में एव ध्रुवा से स्रुव क द्वारा द्वारा आठ बार करक उपभृत् मे गृहीत होने वाले) वे ये आ य छन्दों क लिए ही गृहीत होते है -(छन्दों के लिए ही आज्यों का ग्रहण होता है)। सो जो कि जुहू मे चार बार करके (आ य) ग्रहण करता है वह गायत्रीछन्द के लिए हा गहण करता है। जो कि उपभृत् मे आठ बार कर के (आ य) ग्रहण करता है वह त्रिष्टुप तथा जगती छन्दा के ही लिए

ग्रहण करता है । जो कि (आ यस्थाली से ध्र वा मे चार बार कर के आ य) ग्रहण करता है वह अनुष्टुप् छ द के लिए ही ग्रहण क ता है । अनुष्टुप् ही वाक है । वाक् से ही यह (सब भौतिक प्रपञ्च) उत्पन्न हुआ है । इसीलि (वाकप्रातरूप) ध्र वा से ही सम्पूर्ण यज्ञ होता है । अनुष्टुप् (वाक्) ही यह (पृथिवी) है । इसी (पृथिवी) से यह सब (स्ताम्यत्रिलोकीरूप भूतप्रपञ्च) उत्पन्न होता है । इसीलिए (पृथिवी के प्रतिरूप) ध्रुवा से ही यह सम्पूर्ण यज्ञ उत्पन्न हुआ है ॥१६॥

❀–इति–आज्यगृहणोपपत्तिप्रकरणम्

—————※—————

४–पद्धतिप्रकरणम्

किन मे किन से किनके लिए कितनी बार आ य ग्रहण होता है ? पूर्व प्रतिपादित तीन प्रकरणों मे इन्ही प्रश्नो का समाधान हुआ है । अब कैसे आ य ग्रहण करना चाहिए ? पद्धतिरूप यह प्रश्न बच रहता है । आगे की क्रमप्राप्त १ १८ कण्डिकाओं से इस आ यग्रहण पद्धति का ही निरूपण करता हुआ अष्टादश १८) कण्डिकात्मक प्रकरणचतुष्ट्यात्मक आ यग्रहण ब्राह्मण नामक १ काण्डानुगत ३ अ याय का दूसरा (२) तथा द्वितीय प्रपाठक का पञ्चम ब्राह्मण (२।५) समाप्त होता है ।

वह अ वर्यु –– धाम नामासि प्रिय देवानामनाधृष्ट देवयजनमसि (यजु स २ अ ३१ म) यह मन्त्र बोलता हुआ आ यग्रहण करता है । (अथसुविधा क लि मन्त्र को दो भागों मे विभक्त कर पहिले प्रथम विभाग का अर्थ करती हुइ श्रुति कहती है) यह देवताओं का अ यन्त प्रिय स्थान (रमणसाधन) है जो कि आ य है । इसीलिए धाम नामासि प्रिय देवानाम यह कहा गया है । (मन्त्र के द्वितीय भाग का अर्थ करते है) आ य वास्तव मे वज्र है देव–यजन है–(देवताओं की यज्ञ के द्वारा परस्पर सङ्गति कराने वाला है) । इसी अभिप्राय से अना–धृष्ट देवयजमनमसि यह कहा गया है ॥१७॥

वह अध्व यु इस (उक्त) यजु से (म त्र से म त्र बोलता हुआ) जुहू मे एकबार आज्य–ग्रहण करता है तीन बार चुप चाप (ग्रहण करता है) (ता प य यही है कि जुहू म चार बार आ यग्रहण करने का विधान है । न म आरम्भ मे कबार तो म त्र बोलते हुए ग्रहण करना

———

※ जैसा कि मूलानुवादप्रकरण के आर भ में ही बतला दिया गया है ११ से १६ पर्य्य त की ६ कण्डिकाओं में आ यग्रहण की उपपत्ति ही प्रधानरूप से बतलाई गई है । अतएव हमने षट्–कण्डिका मक इस प्रकरण को एक स्वत त्र प्रकरण मानते हुए आ यग्रहणोपपत्तिप्रकरण नाम स व्यवहृत करना ऊचित मान लिया है ।

चाहिए एव तीन बार बिना म त्र बोले चुपचाप ग्रहण करना चाहिए)। उपभृत् म एकबार (तो) सी यजु म (म त्र बोलता हुआ) आ यग्रहण करता है एव सात बार चुपचाप (बिना म त्र प्रयोग क) आ यग्रहण करता है। ध्रुवा मे (आ यस्थाली म स) एक बार तो इसी यजु से (म त्र बोलता हुआ) आ यग्रहण करता है एव तीन ब र चुपचाप (बिना मन्त्रप्रयोग के) आ य ग्रहण करता है ।

इस स त्र ध म कुछ विद्वान् कहते है कि (ध्रुवा जुहू उपभृत् इन तीना म आ यग्रहण करते हुए प्र यक मे) तीन तीन बार यजु से (मन्त्रपूवक) आ यग्रहण करना चाहिए। क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् (नवाक्षरा-विराट्सम्पत्ति स युक्त) है। (आक्षेपगर्भित प्रश्न-कर्त्ता का अभिप्राय यही है कि जब यज्ञ त्रिवृत् है और त्रिवृत् सम्पत्ति विना तीन तीन बार यजु प्रयोग-मन्त्रप्रयोग क स भव नही तो ऐसी दशा मे जुहू-उपभृत्-ध्रुवा तीनों की ४ ८-४ इन ग्रहण-सख्याओं मे से क्रमश ३—३—३ रूप से ता म त्रप्रयोगपूवक आ यग्रहण करना चाहिए एव १-५ १ इस सख्याओ क अनुरूप तृष्णी आ यग्रहण करना चाहिए तभी त्रिवृत्-स पत्ति प्राप्त होसकती है)—

(उक्त पूवपक्ष का तटस्थ रूप से खण्डन-करती हुई सकृत-पक्ष को ही सिद्धा तपक्ष बतलाती हुई श्रु ति कहती है)—इस आ यग्रहणक्र म मे एक एक बार ही म त्रपूवक आ यग्रहण करना चाहिए। इस (सकृत्-सकृत् परिग्रहणकर्म्म) म भी आ य का (समाहाररूप) तीन बार ग्रहण होजाता है। (इसप्रकार सकृत पक्ष म हीं त्रिवृत सम्पत्ति प्राप्त होजाती है ॥१८॥

४—इति—आज्यगृहणपद्धतिप्रकरणम्



प्रथमकाण्डानुगत-तृतीय अध्याय का दूसरा ब्राह्मण समाप्त (१।३।२।)

प्रथमकाण्डानुगत-द्वितीय प्रपाठक का पाँचवा ब्राह्मण समाप्त (१।२।५।)

मूलानुवाद-समाप्त



सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह

जुहू मे स्रुव से चार बार आज्यग्रहण

आ यावेक्षणक म के अन तर आ यग्रहणकर्म्म होता है । आ यस्थाली मे रक्खे हुए आ य को स्रुवा क द्वारा जुहू-उपभृत् मे डालना हीं आ यग्रहणकर्म्म है । इसी कर्म्म की इति कर्त्त यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते है—

स्रुवेणा यग्रहणं चतुर्जुह्वा-' धामनामेति ' सकृ मत्र " इति ।

—का श्रौ सू ।७।६ ।

उक्त सूत्रादेशानुसार अ र्ग्यु — ओं धाम नामासि प्रिय देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि (हे आ य ! आप देवताओ क लिए प्रिय धाम नाम वाले हो आप किसी भी आसुरभाव से धर्षण करने योग्य नही होने वाले देवताओ क देवयजन (देवयजनभूमिस्थानीय) हो —यजु १।६१) यह म त्र बोलता हुआ आ य थाली से स्रुवा को पूर्ण भर कर चार बार जुहू मे आ य डालता है । इस सम्ब ध मे यह स्मरण रखना चाहिए कि उक्त म त्र का प्रयोग प्रथमबार आ य-ग्रहण मे हीं होता है । शेष त न बार बिना मन्त्रो चारण क तूष्णीं हीं आ यग्रहण होता है । ता प य यही हुआ कि अ र्-यु स्रुवा को चार बार पूर्णरूप से आ यस्थाली म से भरेगा । इस मे एक बार तो उक्त म त्र बोलता हुआ जुहू मे डालेगा शेष तीन बार चुपचाप जुहू मे डालेगा ।

उपभृत् से स्रुव से आठ बार आज्यग्रहण

जुहू म स्रुव से पूर्णरूप से चार बार आ यग्रहण करने क अनन्तर उसी मन्त्र से आठ बार कर क अपरिपूर्णरूप से आ यस्थाली मे से स्रुवा क द्वारा आठ बार उपभृत् मे आ य ग्रहण किया जाता है । इसी अभिप्राय से सूत्रकार कहते है—

'अष्टावुपभृत्यल्पीयोऽनुयाजश्चेत्'' (का श्रौ सू २।७।१ ।) ।

यदि दर्शपूर्णमास मे अनुयाज का सम्ब ध है तो आठ बार व रक उपभृत् मे अपूर्ण आठ स्रुवों से आ यग्रहण किया जाता है । प्रकृत इष्टि मे छ दोरूप अनुयाजकर्म्म वैकल्पिक है इस बात को स्पष्ट करने क लिए चेत् कहा गया है । यदि अनुयाजकर्म्म है तब तो आठ बार उपभृत् मे आ यग्रहण होगा अ यथा कवल जुहु मे हीं चार बार आ यग्रहण होगा ।

यद्यष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्-गृह्णाति (तै ब्रा ३।३।५) इस कृष्णब्राह्मणानुसार उपभृत् मे जो आठ बार आज्यग्रहण होता है उस मे चार बार गृहीत आ य का तो ऋतुरूप प्रयाजदेवताओं से सम्ब ध है एव चार बार गृहीत आ य का छ दोरूप अनुयाज-देवताओं से सम्ब ध है । अनुयाजों को पूर्वसूत्रने वैकल्पिक बतलाया है । इस सम्ब ध मे एक

सशाय उपस्थित होता है। यदि प्रकृत ृष्टि म अनुयाज-कम्म का अभाव है अथवा तो पृषदा-यादि द्र या तर से अनुयाजकम्म की इतिकत्त यता पूरी कर ली जाती है तो ऐसी परिस्थिति मे उपभृत् मे आठ बार आ यग्रहण करना अथवा चार बार ? । इस स बन्ध म अपना निर्णय बतलाते हुए सूत्रकार कहते है –

चतुर यत्र प्रतिविभागात्'' (का श्रौ सू २७।११)

यदि प्रकृत इष्टिकम्म मे अनुयाजका अभाव है अथवा तो पृषदाऽयादि अन्य द्र य से अनुयाज कम्म सम्पन्न करना अभीष्ट है तो उस दशा म प्रतिविभाग-मर्य्यादा से उपभृत् मे चार बार ही ग्रहण करना चाहिए। उपभृत्-मे प्रतिष्ठित अतएव औपभृत् नाम से प्रसिद्ध आ य ४-४ क्रम से क्रमश प्रयाज अनुयाज दोनों क लिए विहित है। जब कि औपभृत् आ य उभयार्थ है और अनुयाजक म अपेक्षित नहा है तो ऐसी स्थिति मे केवल प्रयाजकम्म की सिद्धि क लिए चार बार ही आ यग्रहण करना नियमप्राप्त बनता है। इसी सिद्धा त के सम्ब ध मे दृष्टा तरूप से एक दूसरा हेतु बतलाते हुए सूत्रकार कहते है–

पशातिथ्यादर्शनाच्च'' (का श्रौ सू ।६।१२)

पशुब न्ध म तथा आतिथ्येष्टि मे होने वाले अनुयाजकर्म्म की सिद्धि क लिए उपभृत म चार बार ही आ य-ग्रहण देखा जाता है। यदि अनुयाजकम्म वैकल्पिक होता है तो प्रयाज क लिए चार बार ही आ यग्रहण करना चाहिए यही प्रतिविभाग व्यवस्था यायत प्राप्त है। पशुब न्ध के सम्ब ध मे जुह्वा चोपभृति च चतुर्गृहीत गृह्णाति (आप श्रौ ७।१।६) इत्यादि रूप से स्पष्ट ही प्रतिविभाग-मर्य्यादा का समर्थन हुआ है। एवमेव आतिथ्येष्टि क सम्ब ध मे भी सर्वाण्येव चतुर्गृहीता या यानि गृह्णाति न ह्यत्रानुयाजा भवन्ति (शत ब्रा १।३।२६) इत्यादि रूप से इसी पक्ष का समर्थन हुआ है।

अब इस सम्ब न्ध मे ब्राह्मणश्रुति के आधार पर एक नया पूर्वपक्ष उठाते हुए सूत्रकार कहते है—

न, कृत्स्नोपदेशात्' (का श्रौ सू २।७।१३)

उपभृत् मे आठ बार गृहीत आज्यों मे से चतुर्गृहीत आ य तो प्रयाज के लिए है व चतुर्गृहीत आ य अनुयाज के लिए है पूर्व मे जो यह सिद्धान्त बतलाया गया है वह (श्रुति-विरोध से) ठीक नहीं है (न)। क्योंकि— अथ यदष्ट कृत्व उपभृति गृह्णाति अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति (शत ब्रा १।३।२।६) इस श्रुति मे उपभृत् म आठ बार कर के गृहीत सम्पूर्ण आ य का केवल अनुयाजकर्म्म के लिए ही विधान हुआ है। ऐसी स्थिति मे प्रतिविभाग-मर्य्यादा का समर्थन नहीं किया जा सकता। चतुर यत्र प्रतिविभागात् से यह बतलाया गया था कि उपभृत् मे आठ बार गृहीत आज्य मे से आधे का प्रयाज म एव आधे का अनुयाज मे उपयोग है। इस का तात्पर्य यही है कि उपभृत् मे आठ बार ग्रहण तो अनुयाज क लिए ही होता है। परन्तु

जसे प्रयाज क लिए जुहू मे गृहीत आ य का वचन-प्रमाण से उत्तराधार से विनियोग होजाता है एवमेव यहा भी प्रयाज मे उपयाग होजाता है । दूसरा हेतु पश्वातभ्या शनाच्च यह था । स सम्ब ध मे—

"पश्वातभ्यो चनात् ' (का श्रौ सू ।७।१४)

यह समाधान ही प या त हागा । अनुयाजेभ्यो हि तद गृह्णाति (शत ब्रा १।३।२।६) इस श्रुतिवाक्य से सम्पूर्ण औपभृत आ य जब कि अनुयाज क लए है तब जहा पशुब ध म प्रपत्ना या न या नर स अनुयाजेतकत्त व्यता पूरी की जाती है एव आति याति म अनुयाज का ही अभाव है ता उस दशा म वहा उपभृत म अग्रहण प्रा त होने पर वचन से चतुगृहीत आ य का ही विधान समझना चाहिए । पहिल से प्राप्त का ही दर्शन सम्भव है । पश्वादि म क्याकि पहले से प्राप्त नही है अत वहाँ वचन ही मानना उचित है । प्रतिपक्षी का ता पर्य यही है कि जिस पश्वादि दर्शन के आधार पर सिद्धा ती प्रतिविभाग की म र्यादा स्थापित करता हुआ औपभृत आ यग्रहण क सम्ब ध म चतुगृहीत आ यपक्ष स्थापित करना चाहता है । पश्वाद को इस सम्ब ध म उपोद्बलक नही माना जासकता । अपितु यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति अनुयाजेभ्यो हि तद गृह्णाति इस श्रुति से औपभृत आ य उभयार्थ न हो कर अनुयाजार्थ ही मानना यायसङ्गत है ।

प्रतिपक्षी की इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए भाष्यकार अपना यह सिद्धा त स्थापित करते है कि यदष्ट कृत्व उपभृति गृह्णाति प्रयाजानुयाजे यस्तद गृह्णाति (तै ब्रा ३।३।८) इस शाखा तर वचन क आधार पर औपभृत आ य का विधान उभयार्थ ही मानना चाहिए । अनुयाजेभ्यो हि तद गृह्णाति (श ब्रा १।३।२।६) यह वाजसनेय वचन तो प्राप्त अर्थ का अनुवादमात्र है न कि विधान । ऐसी स्थिति म सिद्धा त यही निकलता है कि अनु याजाभाव मे किया अ य द्रव्यानुयाज-युक्त कर्म मे उपभृत् मे चतु गृहीत आ य को ही सिद्धा त पक्ष समझना चाहिए । जु तथा उपभृत् के सम्ब ध मे आ यग्रहण की व्यवस्था कर अब क्रमप्रा त ध्रुवानुगत आ य- व्यवस्था करते हुए सूत्रकार कहते है—

ध्रुवया च जुहूवत्" (का श्रौ सू ।७।१५) ।

ध्रुवा म एव चकारात् उपभृत् म जुहू की भाति एक बार म त्रप्रयोगपूर्वक आ यग्रहण होता है एव तीन बार तूष्णी बिना म त्र प्रयोग क आ य ग्रहण होता है । इसप्रकार अनुया जपक्ष म तो जुहू-उपभृत् ध्रुवा मे तीनो म क्रमश ४-८-४ बार आ य ग्रहण होता है एव अनुयाजाभावपक्ष म तीनों मे क्रमश ४-४ ४ बार आ यग्रहण होता है । दोना ही पक्षों मे एक एक बार म त्र-प्रयोगपूर्वक आ यग्रहण होता है एव शेष तीन बार तू णीं आ यग्रहण होता है एव आ य ग्रहण से सम्ब ध रखने वाले सूत्रानुगतपद्धति क्रम का यही स क्षि त स्पष्टी-करण है ।

इति—सूत्रानुगतपद्धतिसग्रह

—*—

वैज्ञानिक-विवेचना—

(भाष्य) यज्ञेतिकर्त्त यता की उपनिषत् क्या ? स प्रश्न क समाधान क लिए ही पहिला यज्ञ प्रतिरूपरहस्य नामक प्रकरण आर भ होता है इस उपपत्ति-प्रकरण मे प्रथम आ ध्यात्मिकयज्ञ का स्पष्टीकरण हुआ है अन तर आधिदैविकयज्ञ का विश्लेषण हुआ है। उपपत्ति-प्रकरणारम्भ स पहिले हम आज एक बहुत बडा विप्रतिपात्त की ओर पाठकों का यान आकर्षित करना चाहते ह। हमारा वेदशास्त्र विज्ञान का भण्डार ह इस सूक्ति क उच्चारण करते ही वर्त्त मान जगत् प्रश्न-परम्परा हमारे सम्मुख उपस्थित कर देता है। यदि वेद म विज्ञान ह तो क्या उस वैदिक-विज्ञान के आधार पर भारतीय भी वर्त्तमान जगत् के से विवि त्र भौतिक आविष्कार कर सकते है ? । इस प्रश्न का महत्त्व उस समय और भी बढ जाता है जब कि वेदार्थों की व्याख्या करते समय पदे पदे विज्ञान शब्द का पुनरावृत्त न होने लगता है। भारतवर्ष क सर्वो-त्कृष्ट देवयुगकाल म विमानादि भौतिक आविष्कार उक्त प्रश्न का भलीभाति समाधान कर सकते थे इस मे तो कोई स देह नही। एव ऋग्वेदीय कतिपय सूक्त आज भी वाचिकरूप से अपना अतीत अहमाव सुरक्षित रखने मे पूर्ण समर्थ है। साथ ही यह भी ध्रुव स य है कि यदि भार-तीय विद्वानों को पूर्ण स्वात न्त्र्य मिले तो वे आज भी विलु तप्राय वैदिक विज्ञान परम्परा क पुनरु द्धार क द्वारा भौतिक आविष्कारों से अपना अतीत वर्त्त मानकोटि म लासकते ह।

इसप्रकार भौतिक-विज्ञान क आधार पर प्रतिष्ठित विमानादि भौतिक आविष्कारों के सम्ब ध मे अपने त्रिकालज्ञ विदितवेदित य कर्त्त मकर्त्त म यथाकर्त्तु समर्थ महामहर्षियों क यश सारभ को अणुमात्र भी कम न करते हुए इस सम्ब ध म हमे अपना यह म त य स्पष्ट कर ही देना चाहिए कि भारतीय महर्षियो के वैज्ञानिक-जगत् की परिभाषा अपना कोई विशेष ही मह व रखती है। साथ ही यह भी निर्विवाद है कि ऋषियों की उस तात्त्विक वैज्ञानिक-परिभाषा की तुलना मे भौतिक-आविष्कारों से सम्ब ध रखने वाली वैज्ञानिक-परिभाषा कोई विशेष मह व नही रखती यदि इस सम्ब ध म यह भी कह दिया जाय तब भी कोई अतिशयोक्ति न होगी कि ऋषियों का वैदिक विज्ञान प्रधानत जिन तीन श्रेणिया मे विभक्त है उनक अतिरिक्त किसी चौथे (भौतिक आविष्कारानुगत) विज्ञान पर उनकी दृष्टि सदा स नही क समान ही रही है। यही कारण है कि जिस देवयुग मे विमानादि भौतिक आविष्कार विद्यमान थे उस युग म भी वे आविष्कार सवलोक व्यवहार मे नही आसके थे। भौतिक आवि कार माननीय बुद्धि मे जडता का समावेश करते हुए उसमे जहा प्रतिहिंसालक्षण आसुर-भाव का समावेश कर देते है वहा साथ साथ ही इनक अतिशय व्यवहार से मानवसमाज की प्राकृतिक शक्तिया स्वत सिद्ध पौरुष भी ह्रासानुगत ही बनता रहता है। आत्मस्वात न्त्र्य क अ यतम शत्रु य ही भौतिक आविष्कार है। ऋषि इन की इस भीषणता से परिचित थे अतएव इस ओर सदा से उन्होंने उपेक्षावृत्ति को ही प्रधानता दी। फलत इन भौतिक आविष्कारों के आधार पर न तो वैदिक विज्ञान का मह व कम हो किया जासकता न इस सम्ब ध मे वैदिक विज्ञान क सामने आक्षेपात्मक कोई प्रश्न ही उपस्थित करने की धृष्टता की जासकती।

ऋषियो का वदिक-विज्ञान प्रधानत आधिदैविक आध्यात्मिक आधिभौतिक इन तीन श्रेणिया मे विभक्त है। आधिभौतिक विज्ञान ही यज्ञविज्ञान है इसी के आधार पर हमारा गृहस्थाश्रमानुबन्धी कम्मकाण्ड प्रतिष्ठित है। आधिदविक विज्ञान ही ईश्वरविज्ञान है इसी क आधार पर वानप्रस्थाश्रमानुबन्धी उपासनाकाण्ड प्रतिष्ठित है। एव आध्यात्मिक विज्ञान ही जीवविज्ञान है तथा इसी क आधार पर स यासाश्रमानुबन्धी ज्ञानकाण्ड प्रतिष्ठित है। कम्म उपासना ज्ञान ये तीन हा मानवसमाज के परमपुरुषाथ है। इन तीनों का क्रमश मनुष्य की युवा प्रौढ वृद्धावस्थाओं से सम्बन्ध है। अपनी इन तीन अवस्थाओ मे आश्रमविभाग की मर्यादानुसार क्रमश तीनों पुरुषार्थो का अनुगमन करने वाले मनुष्य का इहलोक परलोक नाकसग्रह आदि सभी कुछ गताथ हाजाता है।

यदि और भी सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाता है तो हमे इस निष्कप पर पहुँचना पडता है कि उक्त तीना विज्ञानों का अन्ततोगत्वा यज्ञविज्ञान पर ही पयवसान है। ईश्वर के साथ सालोक्य सामीप्य सायुज्य-सारूप्य रूप से अपने आत्मा को मिला देना ही आधिदैविक विज्ञानानुगत उपासनाकाण्ड का चरम फल है। आत्मप्रपत्तिलक्षणा यह उपासना आत्मा का ईश्वर क साथ यजन कराती हुई यजनलक्षणा यज्ञमर्यादा से ही युक्त है। एवमेव अपने विशुद्ध अपहतपाप्मा जीवात्मा को उस निरुपाधिक विशुद्ध व्यापक आत्मतत्त्व मे समवलयरूप से आहुत कर देना ही आध्यात्मिक विज्ञानानुगत ज्ञानकाण्ड का चरम फल है। आत्मसमवलय-लक्षण यह ज्ञान भी आत्मा का आत्मा क साथ यजन कराता हुआ यजनलक्षण यज्ञमर्यादा से बाहिर नही माना जा सकता। इसप्रकार यज्ञविज्ञान क गर्भ मे इतर दोनों विज्ञानों का भी अन्तर्भाव होरहा है। इसी आधार प * यज्ञन यज्ञमयज त देवा -यज्ञन वाच पदवीयमान इत्यादि मन्त्रवर्णन अन्वथ बन रहे है।

उक्त तीनों विज्ञानों का समष्टयात्मक एक ही नाम है— विश्वविज्ञान। क्योंकि सम्पूर्ण विश्व अध्यात्म अधिदैवत अधिभूत भेद से तीन ही भागा मे विभक्त है। त्रिपर्वात्मक विश्वविज्ञानात्मक इसी समष्टियज्ञ क लिए सवहुत-सवमेध इत्यादि नाम प्रयुक्त है जिस का यत्र तत्र

---

*—यज्ञेन यज्ञमयज त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाक महिमान सचन्त यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवा ॥
—यजु स ३१।१६

यज्ञेन वाच पदवीयमायन्तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधु पुरुत्रा ता सप्त रेभा अभि स नवन्ते ॥
—ऋक् स १०।७१।३

प्रकरण-विशेषों म विस्तार से प्रतिपादन हुआ – है। सर्वहुतयज्ञ क उक्त तीना पर्वो का क्रमश विश्व क स्वयम्भू सूर्य्य पृथिवी इन तीन पर्वो क साथ क्रमिक सम्बन्ध माना गया है।

सहस्रब शा मक महामायावच्छिन्न अश्वत्थवृक्ष क यागमायावच्छिन्न पञ्चपुण्डीरा प्राजाप यब शा मक अतएव पञ्चपर्वा मक विश्व क सुप्रसिद्ध पाचों पर्वो का स्वयम्भू परमेष्ठी सूर्य्य च द्रमा पृथिवी रूप से प्रथमखण्ड मे अनेक बार उपबृ हण किया जाचुका है। इन पाचा विश्वपर्वो का आगे जाकर स्वयम्भू सूर्य्य पृथिवी इन तीन पर्वो म ही विश्राम मान लिया जाता है। इस विश्रान्ति का कारण यही है कि यज्ञस्वरूप सम्पादक देवताओं का परस्पर यजन हारहा है। पाचों क क्रमश ब्रह्मा विष्णु इन्द्र सोम अग्नि ये पाच देवता है। इन म ब्रह्मा स्वतन्त्र रहते है। ये ही—ब्रह्म वै सवस्य प्रथमजम्-ब्रह्म वै सवस्य प्रतिष्ठा (श ब्रा ६ १।) क अनुसार सर्वप्रतिष्ठा है प्रथमज है। विष्णु इन्द्र दोना का एक युग्म है जसा कि विष्णो कर्म्माणि पश्यत यतो व्र तानि पस्पशे। इन्द्रस्य यु य सखा (श्रुति) इत्याद

——तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे।
छन्दासि जज्ञिर तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
तस्मादश्वा अजाय त ये के चोभयादत ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावय ॥
त यज्ञ बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुष जातमग्रत ।
तेन देवा अयज त साध्या ऋषयश्च ये ॥
—यजु स ३१।७८९

'ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तदैक्षत, न वै तपस्यान त्यमस्ति, ह ताह भूते ष्वात्मान जुहवानि, भूतानि चात्मनि इति। तत् सर्वेषु भूतेष्वात्मान हुत्वा भूतानि चात्मनि सर्वेषा भूताना श्रैष्ठ्य, स्वाराज्य, आधिपत्य पर्य्यत्। तथ तद्यजमान सर्व-मधन सर्वान् मेधान् हुत्वा सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्य स्वाराज्यमाधिपत्य पर्य्येति। स वाऽ एष सर्वमेधो दशरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति। दशाक्षरा विराट विराड् कृत्स्नमन्न, कृत्स्नस्यैवा न्नाद्यस्यावरुद्धयै। तस्मिन्नग्नि पराध्र्य चिनोति। परमो वाऽएष यज्ञक्रतूना यत् सर्वमेध। परमेणैवैन परमता गमयति'।

—शत ब्रा १३ का।७ अ १ ब्रा १ क।

म त्रग्रणन से प्रम णित है। एत्र इ द्र–सोम (च द्र) अ नि इन तीना का एक स्वत त्र विभाग है। इसप्रकार १ २–३ इस क्रम से पाचा का तीन ही सस्थाओ क निर्म्माण मे उपयाग होरहा है। प्र थमसस्था के अधिपति ब्रह्मा है इनका स्वयम्भू से सम्ब ध है। द्वितीय सस्था के अधि-पति इ द्रगर्भित विष्णु है इनका सूय्य से सम्ब ध है। एव तृतीय सस्था के अधिपति इ द्र-सोम गर्भि । अ नि है त था इनका सम्ब ध पृ थिवी से है। ब्रह्मा ब्रह्मा है इ द्रगर्भित विष्णु विष्णु है एव इ द्र–सोम गर्भित अग्नि महश है। इसी विश ।विज्ञान के आ धार पर आगमसवस्व (पुराण) ने वैदिक पञ्चदेव वाद के स्थान मे त्रिदेवतावाद को ही प्रधानता दी है।

पुरुषविज्ञान के अनुसार भी सी त्रिपर्व का समथन होरहा है। अ ययपुरुषानुगत आन द अक्षरपुरुषानुगत ब्रह्मा एव क्षरपुरुषानुगत प्राण तीनो के स ब ध से आन द–ब्रह्मा प्राणमय बनने वाला स्वयम्भू ही आ यात्मिकयज्ञ की प्रतिष्ठा है। अ ययानुगत विज्ञानगर्भित मन अक्षरानुगत वि णु गर्भित इ द्र एव क्षरानुगता अन्नगर्भिता वाक इन तीनो के स ब ध से मन इन्द्र वाङ्मय बनने वाला सूर्य्य ही आधिदैविक यज्ञ की प्रतिष्ठा है। अ ययानुगता प्राणगर्भिता वाक अक्षरानुगत इ द्रसोमगभित अग्नि एव क्षरानुगत अ नगर्भित अन्नाद इन तीनो के सम्ब ध से वाक–अ नि–अ नान्मय बनने वाली पृथिवी ही आधिभौतिकयज्ञ की प्रतिष्ठा है। पृथि यनुगत कम्मकाण्डा मक आधिभौतिकयज्ञ स्वगसुख की प्रतिष्ठा है। सूर्य्यानुगत उपासनाकाण्डा मक आधिदैविकयज्ञ अपरामुक्ति की प्रतिष्ठा है। एव स्वयम्भू अनुगत ज्ञानकाण्डा मक आ यात्मिकयज्ञ परामुक्ति की प्रतिष्ठा है। इसप्रकार त्रि सन्या नै देवा के अनुसार त्रि वाद का समथन करने वाला हमारा सवहुतयज्ञ त्रिपर्वा बन कर सवप्रतिष्ठा बनता हुआ इष कामधुक् नाम को सवथव अ वथ कर रहा है।

१—आन द	ब्रह्मा	प्राण	स्वयम्भू	—स्वयम्भू	——सर्वहुतयज्ञ
२—विज्ञानम्	विष्णु	आप	परमेष्ठी *	——सूर्य्य	
३—मन	इन्द्र	वाक्	सूर्य्य		
४—प्राण	सोम	अन्नम्	चन्द्रमा *	——पृथिवी	
५—वाक	अग्नि	अन्नाद	पृथिवी		

१—स्वयम्भू —अध्या मम् (अ या मयज्ञप्रतिष्ठा——ानकाण्डम्)
—सूर्य ——अ िदै यतम् (अधि तयज्ञप्रतिष्ठा— उपासनाकाण्म) }—सप्रहुत
३—पृथिवी ——अधिभूतम् (अधिभूतयज्ञप्रतिष्ठा ——कर्म्मकाण्डम्)

प्राकृतिक यज्ञविज्ञान ही विश्वविज्ञान है एव इसी के आधार पर पुरुषार्थससाधिका वैध यज्ञत्रयी का (ज्ञान–उपास्ति–कर्म्मत्रयी का) महर्षियों के द्वारा आविर्भाव हुआ है । इस मौलिक स्थिति के आधार पर कहा जासकता है कि हमारा वदिक विज्ञान उस नि य यज्ञविज्ञान से ही स बध रखता है जिसके परिज्ञान से एव तदनुकूल वधयज्ञानुष्ठान से आ पनि श्र यस के साथ साथ लोकाभ्युदय सर्वात्मना पुष्पित पल्लवित हो जाता है । प्रकृतिसिद्ध नियमो का अनुगमन करत हुए हम शान्ति तथा लोकसग्रहपूर्वक जीवनयात्रा का निर्वाह करते हुए परत्र सदगात प्रा त कर एकमात्र इसी उद् श्य की सिद्ध के लिए हमारा विज्ञानशास्त्र प्रवृत्त हुआ हुआ है जिस का मूलस्त भ यज्ञविज्ञान ही माना जासकता है । यज्ञकर्म्म ही हमारे विज्ञान का चरमफल है । ऐसी दशा में यज्ञक मातरिक्त भौतिक–आविष्कारो को लेकर हमारे विज्ञानशास्त्र पर किसी प्रकार का प्रतिप्रश्न नही किया जासकता । जब कि केवल यज्ञकर्म्म ही हमारी प्राकृतिक शक्तियो को सुरक्षित रखता हुआ हमारी सब आवश्यकताएँ पूरी क सकता है तो फिर हमें हमारे विज्ञानशास्त्र से उन क्षिक अशान्तिवद्धक सहजशक्ति विनाशक भौतिक आवि कारो के सम्ब ध में प्रश्न करने का कोई अवसर ही नही बच रहता । निवेदन करने का अभिप्राय यही ह कि विज्ञान श द से भौतिक आवि कार प्रकृत विज्ञानकाण्ड में सव ा अनभिप्र त हैं । विज्ञान शब्द की मर्य्यादा यज्ञविज्ञान पर्य्य त ही सीमित समझनी चाहिए जिस के कि गभ में आधिदैविक आध्याि मक आधिभौतिक–विज्ञान प्रतिष्ठित हैं * ।

उक्त दृ िकोण को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें प्रकृत आ यब्राह्मण का सम वय करना है । यज्ञक म की सिद्धि के लिए आ यग्रहण किया जाता है । स सम्ब ध में प्रसङ्गात् यह भी स्पष्ट करलेना चाहिए कि उक्त यज्ञत्रयी मे से प्रकृत मे प्रधान लक्ष्य पृथि यनुगत आधिभौतिक यज्ञ ही है। उपासना से स ब ध रखने वाला सूर्यानुगत आधिदैविक यज्ञ आरण्यकग्रन्थों से सम्ब ध रखता है एव ज्ञान से सम्ब ध रखन वाला स्वायम्भुव आध्यात्मिक यज्ञ उपनिषद् ग्र थों से सम्ब ध रखता है । ब्राह्मण–ग्र थों म प्रधानरूप से कर्म्म से सम्ब ध रखने वाले पृथि यनुगत आधिभौतिक यज्ञ का ही विश्लेषण हुआ है ।

पृथि यनुगत आधिभौतिक यज्ञ में भूपिण्ड पार्थिव शरीर भूमहिमा भेद से तीनों यज्ञो का उपभोग होरहा है । स्वय भूपिण्ड त ा ओषधि वनस्पति लो ठादि अचेतन वर्ग पृथि यनुगत आधिभौतिक यज्ञ से ही सम्ब ध रखते हैं । वैश्वानर–तैजस प्राज्ञा मक ससज्ञ पार्थिवशरीर (अस्मदादि चतनवग) पृथि यनुगत

* शतपथ प्रथमखण्ड के प्रारम्भिक पारिभाषिक सूचनाए नामक स्वतन्त्र स्त भ में भारतीय दृष्टि कोणानुगत विज्ञान श द का विस्तार से निरूपण किया जाचुका है ।

आ यामिक यज्ञ से सम्ब ध रखते है । एव एकविशस्तोमावच्छिन्ना महापृथिवी (भूमहिमा) से सम्ब ध रखने वाले पार्थिव दि यदेवता पृथि यनुगत आधिदैविक यज्ञ से सम्ब ध रखते है । इसप्रकार केवल पार्थिवसस्था से स ब ध रखने वाले क मप्रधान आधिभौतिक यज्ञ म ही भूावर्त्ती पा थव चेतनवग दि य देवग भेद से तीना यज्ञो का उपभोग सिद्ध होरहा है ।

त य यद्यपि अप्रासङ्गिक है । तथापि सका स्पष्टीकरण करके ही ब्राह्मणविज्ञान का सम वय करना चाहिए । विश्व के तीनो पर्वो क स्पष्टीकरण क लिए वद के अपौरुषय ब्राह्मणभाग क विधि आर ण्यक उपनिषत् भेद से तीन काण्ड हमारे सम्मुख उपस्थित हुए हे । ये तीनो काण्ड कर्त्त यभाग का ही प्रद शन कर रह है । शेष ब्रह्म (म त्र) भाग ज्ञ त यभाग से सम्ब ध रखता है । सप्रकार ज्ञात य कर्त्त य भेद स वदशास्त्र ब्रह्म ब्राह्मण रूप से दो भागो में विभक्त होरहा है । वि वविज्ञान का क्या स्वरूप है ? इस प्रश्न का समाधान ब्रह्मवेद (सहितावेद) कर रहा है । एव विश्वविज्ञान के आधार पर हमें क्या करना चाहिए ? कसे करना चाहिए ? इस प्रश्न का समाधान ब्राह्मणवेद (विधि आरण्यक उपनिषद् वेद) कर रहा है । इसप्रकार म त्रब्राह्मणा मक सशाख वदशास्त्र त्रि व के ज्ञात य कर्त य की पूर्त्ति करता हुआ सर्वशास्त्र ही बन रहा है । प्रस्तुत भा य कर्त्त य वदभाग के क मकाण्ड से ही स ब ध रखता है जिसका कि पृथि यनुगत आधिभौतिक यज्ञपर्व से ही स ब ध है। वि या मक ब्राह्मणग्र थो में इति नु अ या मम् इति नु अधिद वतम् इ यादि रूप से जिन अ या मादि विवर्तो का स्पष्टीकरण होरहा है उनका एकमात्र पृथि यनुगत आधिभौतिक यज्ञपर्व से ही सम्ब ध समझना चाहिए ।

नि कष य ी निकला कि वदशास्त्र विज्ञानप्रधान है । विज्ञान से प्र ानत विश्वविज्ञान ही अभि प्र त है। इस विश्वविज्ञान के अ या म अधिदैवत अधिभूत नामक तीन पव है । तीनो पर्वो का क्रमश स्वयम्भूसूर्य-पृथिवी स सम्ब ध है । ये ही तीनों विज्ञान क्रमश ज्ञानकाण्ड उपासनाकाण्ड कर्म्मकाण्ड की प्रति ठाभूमि है । इस विज्ञानत्रयी के ज्ञात य कर्त्त य भेद से दो विवत्त हैं । ज्ञात यत्रयी का स्पष्टीकरण सहिता मक ब्रह्मवेद मे हुआ है एव कर्त्त यत्रयी का निरूपण ब्राह्मणा मक वेद मे हुआ है । नक्ष त्र विज्ञान ग्रहविज्ञान ओषधि वनस्पतिविज्ञान श रविज्ञान आदि आदि अवा तर खण्ड-खण्डा मक समस्त विज्ञानो का ही तीनो विज्ञानों में अ तर्भाव हैं ।

१—अ या म विज्ञानम्—स्वायम्भुवम्—विधि (कर्त्त या मक कर्म्म)

२—अधिदैवतविज्ञानम् सौरम्——आरण्यक (कर्त्त याि मका उपासना)

३—अ धिभूतवि ानम्—पार्थिवम्— उपनिषत् (कर्त या मक ज्ञानम्)

इन तीनो में विशेषता यही है कि स्वायम्भुव अ या मयज्ञ का ईश्वरीययज्ञ सम्ब ध है एव इस के आधार पर सौर आधिदविक विज्ञान प्रति ठित है । साथ ही यही आधिभौतिक विज्ञान की भी प्रति ठा बना हुआ है । दूसरे श दों में ईश्वरा मा का अ या म स्वाय भुव यज्ञ है अधिदैवत सौरयज्ञ है एव अधिभूत पार्थिव यज्ञ हैं । इन तीना म से हमारे वैधयज्ञ का एकमात्र ईश्वरीय पार्थिव आधिभौतिक यज्ञ से ही सम्ब ध है । ईश्वरीय आधिभौतिक यज्ञ क पुरुक वनानुसार भूमहिमा पार्थिवशरीर एव मनु यकृत वधयज्ञ के भेद से तीन

विवत्त होजाते है । यहा भूमहिमालक्षण यज्ञ आधिदावक यज्ञ है एव य ी पार्थिव शरीरलक्षण आ यामिक यज्ञ की प्रतिष्ठा है । जसी स्थिति जो अवयवसस्थान पार्थिव आावदावक यज्ञ का है वसी ही स्थिति वही अवयव सस ान पार्थिव शरीरा मक आ यामिक यज्ञ का है । एव जिस नियम से आध्यात्मक यज्ञ (पुरुषसस्था) का निर्म्माण हुआ है उसी नियम स ऋषियो के द्वारा आधिभौतक लक्षण वैधयज्ञ वा वितान हुआ है । इश्वरीयसस्था में जहा अ या म अधिदैवत की प्रति ठा थी वहा जीवसस्था में अधिदैवत अ याम की की प्रतिष्ठा है ।

१—एकविंशस्तोमावच्छिन्नो भूमहिमा—अधिदैवतया	(पार्थिव)		
२—पार्थिवशरीराणि———————अध्यात्मया	(पार्थिव)	सैषा आधिभौतिक यज्ञत्रयी	
३—पुरुषप्रयत्नसाध्या वैधया ———अधिभूतया	(पार्थिव)		

उक्त स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें प्रकृत ब्राह्मण के **प्रतिरूपरहस्य** का सम वय करना है । **पुरुषो वै यज्ञ** यादि श्रुति यज्ञोद्देश्येन पुरुष का विधान करती हुई यही बतला रही है कि हमारा यह पुरुष (मानव)–प्रय नसा य यज्ञ पुरुष (मानव) की प्रतिकृति ही है । पुरुष इस वधयज्ञ का वितान कर रहा है इसीलिए यज्ञ को पुरुष माना जासकता है । **पुरुष** शब्द स्वय यज्ञस्वरूप का सूचक है । शोणित आग्नेय त व है शुक्र सोम त व है दोनों के यजन का ही नाम यज्ञ है एव यही यज्ञप्रक्रिया पुरुषो पत्ति का प्रधान कारण है । अतएव पुरुष को अवश्य ही यज्ञ कहा जासकता है । यज्ञा मक पुरुष का जो यापार होगा वह भी यज्ञ ही माना जायगा एव इस यज्ञ यापार से जिस क म का स्वरूप स पन्न होगा वह कम्म भी पिता– पुत्रवत् यज्ञ ही कहा जायगा । यज्ञ उस अतिशय का नाम है जो प्रक्रियाविशेषों से उ पन्न होकर यज्ञकर्त्ता के भूता मा की स्वर्गादि प्राप्ति का कारण बनता है । अतएव इस अतिशय (सस्कार) को **दैवात्मा** कहा जाता है । वह दवा मा ही वस्तुत यज्ञ है । इस का उपादान यजमान का क म बनता है । जब कि उपादान– स्थानीय यजमानपिता पुरुष है तो तत् पुत्र स्थानीय अतिशयलक्षण दवा मरूप यज्ञ को भी पुरुष ही कहा जायगा ।

इस के अतिरिक्त हम यह भी दखते हैं कि **पुरुषयज्ञ (मानवशरीर)** का जिस कौशल से वितान हुआ है उसी कौशल से इस वधयज्ञ का वितान हुआ है । वधयज्ञ से पहिले पुरुषयज्ञ का ही विचार कीजिए । **पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड यज्ञसस्थान है । भूता मा यज्ञकर्त्ता यजमान है । आलोमभ्य आन– खाग्र य याप्त वैश्वानराग्नि होता है । श्वासप्रश्वासा मक वायु अ वर्य्यु है । हृदयस्थ प्रज्ञान मन ब्रह्मा है । कण्ठस्थित तेजोनाडी मे प्रतिष्ठित उदानप्राण उदगाता है मूलाधारमण्डल गार्हप यकुण्ड है तत्रस्थ अपानाग्नि गार्हप याग्नि है । जठराग्निमण्डल दक्षिणाग्निकुण्ड है । तत्रस्थ जाठराग्नि दक्षिणाग्नि है । शिरो मण्डल आहवनीयकुण्ड है । तत्रस्थ प्राणाग्नि आहवनी– याग्नि है । कश लोम बर्हि है । अस्थिसमूह समिध है रस द्र य प्रणीता तथा प्रोक्षणी है । अन्न आहुतिद्र य है । दक्षिणभुजा दक्षिणपाद जुहू है । वामभुजा वामपाद उपभृत् है । मध्याङ्ग ध्रुवा है । सर्वाङ्गशरीरसचारी चैत यप्राण सत्र है । कण्ठ से आरम्भ कर मूला धार पर्य्यन्त सम्पूर्ण प्रदेश वेदि है ।** इसप्रकार हमारी पुरुषसस्था यज्ञस्वरूप का सर्वा मना प्रतिरूप ही बन

रही है। ऐसे यज्ञा मक न्स पुरुषाकार के आधार पर ही तदनुरूप ही क्योंकि इस धयज्ञ का विनान होता है अतएव न्स वधयज्ञ को हम अवश्य ही परुष का प्रतिरूप कह सकते है।

पुरुषयज्ञ में दक्षिणभुजा स अन्नाहुति दी जाती है वामभुजा सहयोगिनी बनी रहता है चैत न्यप्राण अन्नरस को सर्वाङ्गशरीर मे पहुँचाता रहता है म याङ्ग स तर स पूर्ण शरीरावयव रसग्रहण के द्वारा पुष्ट होत रहते हैं। ठीक वही काम इस वैधयज्ञ मे जुह्वादि से लिया जाता । अतएव आहुतिराधक जुहू को हम न्स वधयज्ञ की दक्षिणभुजा कह सकते है । उपभृत् जुहू की स योगिनी है अतएव न्से वामभुजा माना जासकता है। ध्रुवा से ही (ध्रुवा स्थित आ य से ही) स पूर्ण यज्ञ स पन्न होता है अतएव इस आ मा (म याङ्ग) माना जासकता है। स्रुवा का स पूर्ण स्रुचों में सञ्चार होता है। अतएव से प्राण कहा जासकता है। न्सप्रकार दक्षिणभु । वामभुजा म याङ्ग सञ्चारीप्राण इन चारो के अनुरूप अपना स्थान रखने वाले जुहू उपभृत् ध्रुवा स्रुव चारो यज्ञपात्र यज्ञ की पुरुषप्रतिरूपता को सर्वा मना अ व ग बना रहे है। नि कषत जसा वितानक्रम आ यामिक यज्ञ का है ठीक वही क्रम स आ धभौतिक यज्ञ का है। यहा एमा क्यो किया गया ? किस आधार पर किया गया ? इ यादि प्रश्नो की उपनिषत् यही आ यामिक यज्ञ (पुरुष-स्वरूप) है। वैधयज्ञ यज्ञ है उधर प्राकृतिक पुरुषयज्ञ भी यज्ञ है। प्रकृतिवद्विकृति कर्त्त या ह आदश है। अतएव यहा वैसा ही करना न्यायसङ्गत है। जब यह वसा ही है ता इसे वह (पुरुष) कहने में कोइ भी आपत्ति नही की जासकती।

पुरुष यजमान) प्रय नसा य होने से तथा पुरुषयज्ञानुरूप वितायमान होने से यह वध आधिभौतिक यज्ञ भी पुरुष ही माना जासकता है उक्त प्रतिरूपता का यही नि कष है । अब इस सम्ब ध में यह प्रश्न बच रहता है कि पुरुषयज्ञ का स्वरूप ही एवविध कसे हुआ ? । दूसरे श दों मे इस प्रश्न का यो भी विश्लेषण किया जासकता है कि आधिभौतिक यज्ञ की उपनिषत् (प्रति ठा-मूलाभित्ति) तो अ या मयज्ञ है परन्तु आध्यात्मिक यज्ञ की उपनिषत् क्या है ? । इस प्रश्न का उत्तर वही पूवप्रतिपादित पार्थिव आधिदविक यज्ञ है । आधिदैविक पार्थिव दि ययज्ञ ही इस आ यामिक पुरुषयज्ञ की प्रति ठा है। भूपिण्ड से आर भकर २१ व स्तोम पय्य त या त महामहिम पार्थिवमण्डल ही यज्ञसस्था है। पार्थिव सर्वप्रजापति (पार्थिव अग्नि) ही यज्ञकर्त्ता यजमान है। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदश में याप्त वैश्वानर अग्नि ही होता है। पञ्च शस्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदेशोपलक्षित अ तरिक्ष मे न्याप्त वायु ही अध्वर्य्यु हैं। चा न्सोमा मक पार्थिव मन ही ब्रह्मा है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न पार्थिवप्रदेशोपलक्षित द्यु लोक में याप्त आदि य ही उदगाता है। भूपिण्ड ही पुराण गाहप यकुण्ड है तत्रस्थ चित्याग्नि ही पुराणगार्हप याग्नि है। त्रिवृत्स्तोमा त पार्थिवमहिमा प्रदेश ही नूतनगार्हत्याकुण्ड है तत्रास्थित पार्थिव घनाग्नि ही नूतनगार्हप याग्नि है। पञ्चदश तोमा त पार्थिवमहिमा प्रदेश ही धिष्ण्याग्निकुण्ड है तत्र थ अष्टविध नाक्षत्रिकाग्नि ही धिष्ण्याग्नि है। एकविंशस्तोमान्त पार्थिवमहिमाप्रदेश ही आहवनीयकुण्ड है तथस्थ सौरग्नि यानि ही आहवनीयाग्नि है। लोकालोकसीमा तानुगत वेन नामक आप ही बर्हि है। अन्तरिक्ष में या त अश्मासोम ही समिध हैं। आ तरीक्ष्य मरीचि नामक आप ही प्रणीता तथा प्रोक्षणी है आषधि सोम तथा चा न्सोम ही आहुतिद्र य है। भूपिण्ड ही हविर्वेदि है। भूमहिमा ही महावेदि है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्यु लोक ही दक्षिणहस्तस्थानीय जुहू है। जुहू (द्यौ) का आधारभूत पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्षलोक ही वामहस्तस्थानीय उपभृत् है। स्वय भूपिण्ड ही म याङ्गस्थानीय ध्रुवा है। त्रैलोक्य

सचारी चत य प्राण थानीय **वाय यप्राण** ही स्तु त है। इसप्रकार पार्थिवमहिमालक्षण स आधिदैविक यज्ञ म भी यज्ञ तिक्त यता ससाधक सामग्री पि ग्रह यथानुरूप यथास्थान यवा थत है। स का क्योंकि ऐसा स्वरूप है अतएव इस से उ पन्न अ यात्मक यज्ञ का भी वसा ही स्वरूप है। एव जसा स्वरूप आ यात्मक यज्ञ का है तदनुरूप ही इस वध आधिभौतिक यज्ञ का वितान किया जाता है।

मूलानुवाद में मे यह स देह किया गया था कि प्रथम तो पृथिवी की त्रलोक्य से उ पत्ति मानना ही असङ्गत है। उस पर भी पृथिवी से प्राणी की उ पत्ति मानना तो कथमपि सङ्गत नही बन सकता। इस स देह की निवृत्ति के लिए ना श दो में पार्थिवसरग का स्वरूप जान लेना भी आवश्य होगा। श्रुतिने जिस पृथिवी को म याङ्गस्थानीय ध्रुवा बतलाया है वह चि याग्नप्रधान भूपिण्ड है जिस पर अस्मदादि पार्थिवी प्रजा सपरिग्रह प्रतिष्ठित है। एव श्रुतिने ध्रु स्थानीय जिस स भूपिण्ड से— **अस्या एवेमे सर्वे लोका प्रभवन्ति** इ यादिरूप से जिस त्रलोक्य की प्रसूत बतलाइ है वह चितेनिधयाग्निप्रधान भूमहिमा है।

अष्टविध त्रिलोकियो मे से पृथिवी से स ब ध रखने वाली त्रिलोकी **स्तोम्यत्रिलोकी** नाम स प्रसिद्ध है। इस की उ पत्ति यथाथ में ध्रुवास्थानीय भूपिण्ड स ही हुइ है। **यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यारि न्द्रेण गर्भिणी** इस श्रौत सिद्धा त के अनुसार भूपिण्ड अग्निगर्भित है। यह भौमाग्नि ही भूम का अधिष्ठाता **प्रजापति** है। इस प्राजाप य भौम अग्नि का **अमृत (चितेनिधेय)** म य (चि य) मे से दो अव-स्थाए सहज-सिद्धा मानी गई है जसा कि— **अर्द्ध ह वै प्रजापतेरात्मनो म यमासीदर्द्धममृतम्** (शत १।२।२) इ यादि वचन स प्रमाणित है। भूपिण्ड म र्याग्निप्रधान है त मय है। इस पिण्ड के के द्र में प्रतिष्ठित रहने वाला अमृताग्नि ही **रसाग्नि** है यही **प्राणाग्नि** है यहा **देवाग्नि** नाम से भी व्यव-हृत हुआ है। सृष्टिकामुक इस रसाग्निलक्षण प्रजापति की कामना स्वय स के रसाग्नि-भाग का ऊ व (के द्र स चारो ओर) प्रसार करती है। भूपिण्डके द्र से चारों ओर वितत होने वाले इस रसाग्नि की **घन तरल-विरल भेद** से तीन अवस्थाए होजाती हैं। जहातक घनरस या त होता है तदवच्छिन्न प्रदश ही **पृथिवी (महिमापृथिवी का पृथिवीलोक)** है। एव तत्र प्रतिष्ठित घनाग्निरस ही **अग्नि** है। जहातक तरल रस या त होता है तदवच्छिन्न प्रदेश ही **अ तरिक्ष (महिमापृथिवी का अ तरिक्षलोक)** है। एव तत्र प्रतिष्ठित तरलाग्नि ही **इस** नामक **वायु** है। जहातक विरलरस व्याप्त होता है तदवच्छिन्न प्रदश ही **द्यौ (महिमापृथिवी का द्युलोक)** है। एव तत्र प्रतिष्ठित विरलाग्नि ही **आदित्य** है। इसप्रकार रसाग्नि के ऊध्व वितान से वही के द्रस्थ अग्नि **अग्नि वायु आदित्य** अपने इन प्रथम-द्वितीय-द्वितीय तृतीय-रूपों से त्रैलोक्य का निर्म्माण करता हुआ **अतिष्ठावा** रूप से त्रलोक्य मे याप्त होरहा है *।

*** आपो वाऽअर्क। तद्यदपां शर आसीत् तत् समहन्यत। सा पृथिव्य-भवत्। तस्यामश्राम्यत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्त्तताग्नि। स त्रेधा-त्मान व्यकुरुत-आदित्य तृतीय वायु तृतीयम्। स एष प्राण (प्राणाग्निः) त्रेधा वि-हित ' इति।**

—शत ब्रा १०।६।१।१२।

सप्रकार ध्रुवा स्थानीय भापण्ड ही अपने हृदयस्थ रसाग्नि के ऊ व वितान के द्वारा अहगणा मक स्तोमो के आधार पर क्रमश **त्रिवृत् (६) पञ्चदश १५) एकविंश (२१)** रूप से तीन सस्थाओं के रूप में **पृथिवी अ तारक्ष द्यौ** का ज मद ता बन कर— **अस्याऽग्वेम सर्वे लोका प्रभवन्ति** इस सिद्धा त का समथन कर रहा है और उक्त स दह का निवत्त क बन रहा है । इस स पूर्ण **उपपत्तिग्रन्थ** का फलिताथ यही निकला कि पार्थिव आधिभौतिक यज्ञ से स ब ध रखने वाले महिमा मक **आधिदैविक यज्ञ** पार्थिवशरीरा मक **आ यात्मिक यज्ञ** एव पुरुषप्रय नसा य **आधिभौतिक (वैध) यज्ञ** तीनो में पूव पू । यज्ञ उत्तर उत्तर यज्ञ की उपनिषत् है । (१ २ ३ ४ ५) ।



पुरुषप्रय नसा य इस वैधयज्ञ म उपयुक्त होने वाले* स्रुव स्रुक पात्र हस्त पाद म याङ्गादि स्थानीय बनते हुए यह प्रमाणित कर रहे हैं कि यह वैधयज्ञ पुरुषविध आ यात्मिक यज्ञ का ही प्रतिरूप है । **आज्य पृष्ठ** विज्ञान के अनुसार प्र येक भौतिक प ार्थ में **पृष्ठ एव आ य** भेद से दो प र्व रहते है । **भूत मत्यपिण्ड पृष्ठ कहलाता है एव जिस जीवनीय प्राणशक्ति से द्वारसघात—(द्वारकूट)–रूप भौतिक परमाणु एकसूत्र मे बद्ध रहते हुए नियत समय पर्य त स्वस्वरूप प्रतिष्ठा सुरक्षित रखने म समथ होते है वह प्राणशक्ति ही आ य नाम से यवहृत हुई है** । जबतक पृष्ठ (पिण्ड) में आज्य (प्राणशक्ति) प्रतिष्ठित रहता है तभीतक पृ ठ की स्वरूपसत्ता है । पाञ्चभौतिक हस्तपादादि श ारावयव पिण्डस्थानीय बनते हुए पृ ठ हैं । इनमें प्रतिष्ठित आग्नेयपा ण (वैश्वानराग्निप्राण) ही इन की प्राणशक्ति है । इधर वरुण से (जलीयत व से) प्रतिमूर्च्छित अग्नित व का ही नाम आज्य (घृत) है । इसी आधार पर **तेजो वै आ य म्** (ता ब्रा १३।१ ।१८) **अग्नेवा एतद्रूप यदा यम्** (तै ब्रा ३।८।१४।२)— **प्राणो वा आ यम्** [तै ब्रा ३ ८।१×।२ ३] यादि निगम प्रतिष्ठित हैं । लोक यवहार मे भी सुप्रसिद्ध है कि **घृत ही हा । पैरों मे जीवनीय शक्ति प्रदान करता है** । यज्ञकम्म से **पुरुषविध दि या मा** उ पन्न किया जाता है । यज्ञ तिकर्त्त यता मे सगृहीत जुहू आदि स्रुक स्रुव तो पृ ठ थानीय हैं एव इन में गृहीत आ य प्राणशक्तिस्थानीय है । इसप्रकार इस आ यग्रहण कर्म्म से भी पुरुषप्रय नसा य इस वैधयज्ञ की पुरुष यज्ञप्रतिरूपता भलीभाति सिद्ध होरही है ।

आ यग्रहण क्या दि या मा के स्वरूप निर्म्माण में उपयुक्त होता है ? यह प्रश्न है । इस के समाधान के लिए ही अगला प्रकरण उपक्रा त हुआ है । पहिले आध्यात्मिकसस्था का विचार की जए । आ यात्मिकसस्था में प्रधानत **आ मा शरीर** ये दो पर्व हैं । एव शरीर **पुर है** आ मा इस शरीरपुर में सुरक्षित रहने वाला **पुरि शेते** निर्वचन से **पुरुष** है । इस शरीरपुर के **आकार** एव वस्तुत त्र मे से दो पर्व है । आयतनरूप

---

* **खादिर स्रुव पर्णमयी जुहू आश्वत्थी उपभृत् वैकङ्कती ध्रुवा एतद्व स्रुचा रूपम्** [तै स ३।५।७] इस वचन के अनुसार स्रुव खदिर [खैर] की लकड़ी का जुहू पर्णमयी पलाश [छीला] की ध्रुवा विकङ्कत का एव उपभृत् अश्व थ [पीपल] की लकड़ी का बनाया जाता है ।

बाह्य आकार ही आकार है जिस कि विज्ञानभाषा में **वयोनाध** कहा जाता है। यह वयोनाध ही+ छन्द है प्रत्येक वस्तुपिण्ड का कोइ न को बाह्य आकार अवश्य रहता है ए। इस बाह्य आकार से आकारत वस्तुत त्र सीमित रहता हुआ सुरक्षित बना रहता है। छन्दोलक्षण वयानाध [आकार] स सुरक्षित व तुत व [भतापण्ड] ही **वय** है। जिसप्रकार उदरसीमा से सीमित अन्न **नय** है एवमेव छन्द सीमारूप उदर में प्रति ठत रहने स ही इस वस्तुत व का वय [अन्न] मान लिया गया है। **वय** स। **वयोनाध** से युक्त रहता है। वय वयानाध के समन्वितरूप का ही नाम **वयुनम्** है। **मवमिन्‌ वयुनम्** इस सिद्धान्त के अनुसार यच्चयावत् भौतिक पदाथ वय [वस्तुत व] वयानाध [बाह्याकार] से युक्त रहत हुए *वयुन ह। वयुन ही आ यामिक सस्था का **शरीर** नामक पहिला पर्व ह।

शरीर के वयोभाग का (भूतभाग का) निर्म्माण शुक्र शोणित से हुआ है। ऋतुस्नाता स्त्री म प्रजननकर्म्मसाधक अग्निप्राण प्रतिष्ठित रहता है। इस ऋतुप्राण के सम्बन्ध स ही रज स्वला को **ऋतुमती** कहा जाता है। अग्नि–सोम की **सत्य ऋत** भेद से दा दा अवस्थाएँ मानी ग हैं। सायतन अग्नि सत्य है सायतन सोम सत्य है। एव निरातन वाय्वात्मक अग्नि–सोम ऋत ह। इन ऋताग्नि–सोमो के पारस्परिक **उद्ग्राभ निग्राभ**–सम्बन्ध स ही **ऋतु** का जन्म होता है इस ऋतु का आग्नेयभाग स्त्री के शोणित में प्रतिष्ठित रहता है एव सौम्यभाग पुरुष के शुक्र मे प्रधानरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इस ऋतुप्राण–समन्वय का ही नाम शुक्र–शोणित का **दाम्पत्य भाव** है। यही दाम्पत्यक म गर्भाधान का बीज है। इसप्रकार वस्तुतत्व–लक्षण वय (शरीर) का निर्म्माण शुक्रशोणित से होता हुआ परम्परया ऋतु स ही होरहा — है। शेष रहता है वयोनाध (बाह्याकार)। इस का निर्म्माण ऋतुसहयोगी गाय याद छन्दो से होता है। गाय यादि छन्द वष्टाप्राण के सहयोग से तत्तच्छरीरावयवो में तत्त आकारविशेष प्रदान करत जाते हे तदनुरूप ही ऋतु के द्वारा पुरावयवों का निर्माण होता जाता है कालान्तर में इस **ऋतु छन्द** के समन्वय से आत्मप्रति ठालक्षण **शरीरपुर** का स्वरूप सम्पन्न होजाता है। **ऋतु छन्दोमय शुक्र शोणित क दाम्पत्यभाव मे कर्म्मभोक्ता औपपातिक जीवात्मा प्रतिष्ठित होजाता है।**

इसप्रकार **आत्मा शरीर** इन दो पर्वों के **आत्मा वस्तुतत्त्व (वय) बाह्याकार (वयोनाध)** भेद से तीन पव होजाते हैं। तीनों में आत्मा प्रधान देवता है इसे ही यज्ञपरिभाषा मे **आत्मापदेवता** कहा गया है। वस्तुतत्व (वय) **ऋतुदेवता** है बाह्याकार **छन्दोदेवता** हैं। पुर का उपक्रम ऋतु से होता है उपसंहार छन्द पर होता है। वस्तुतत्व उपक्रमस्थानीय है इसका ऋतु स म्बन्ध है। इसी उपक्रमलक्षण प्राथम्य के कारण वस्तुतत्वात्मक ऋतु को याज्ञिक परिभाषा में **प्रयाजदेवता** कहा गया है। वस्तु का बाह्याकार ही वस्तु की अवसानभूमि है। इस का छन्द स सम्बन्ध है। इसी उपसंहारलक्षण अन्तभाव के कारण बाह्याकारात्मक छन्द को **अनुयाजदेवता** कहा गया है। इसप्रकार ऋतुरूप **प्रयाजदेवता** तथा छन्दोरूप **अनुयाज**

+–छन्दासि वै वयोनाधा (शत ८।२।२।८)।

***–छन्दोभिर्हीदं सर्वं वयुनं नद्धम्" (शत ८।२।२।८)।**

—–ऋतवः समिद्धा प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओषधीश्च पचन्ति (शत ब्रा १।३।४।७)।

देवता दोनों के सम वय से ही **शरीर** नामक आ त्मिक **पुर** का नि र्माण होता है। दूसरा आवापदवता–स्थानीय आ मा अपने स्वरूप निर्म्माण के लिए अ य द्र य की अपेक्षा रखता है। पृष्ठ ही शरीर है आ य का इसी स स ब ध है। इधर पृष्ठस्वरूप–निर्म्मापक ऋतु एव छन्दोदवता है। फलत सिद्ध होजाता है कि यह आ यग्रहणकम्म ऋतु तथा छ दादवताओं की तृप्ति के लिए ही विहित है। जसा आध्यात्म में है वसा ही तो यहा होना चाहिए होता है।

अ या मवत् अग्निभूत ज से उ पन्न होने वाली देवा मसस्था में भी **आ मा पुर** भेद से दोनो पव अपेक्षित है। मुख्यदवता द ा मम था के आ मस्वरूप का नि र्माण कर ग एव ऋतु-छन्दो लक्षण गौणदेवता आ मपुर का नि र्माण कर गे। अतएव वि ायमान यज्ञ का यही ता पय्य मानना पड़गा कि अनेक इतिकत्त–व्यताओं से वितायमान यह यज्ञ **देवता ऋतु छन्द** इन तीन देवताओं की स भूत् प्राप्ति से ही सम्ब ध रखता है। मुख्यदेव । का एक स्वतन्त्र विभाग है इस के लिए नियत आहुतिद्र य भी स्वत त्र है एव यह **हवि** नाम से प्रसिद्ध है जोकि हाव य **इष्टि पशु सोम** यज्ञ भेद से **अन्नपुरोडाश पशु–वपापुरोडाश वल्लीसोमरस** भेद स त्रेधा विभक्त है। ऋतु छ दोरूप दोनो प्रयाजानुयाजदेवताओं का (जिन से कि पुर का नि र्माण होगा) एक स्वतन्त्र विभाग है इनके लिए आहुतिद्र य भी स्वतन्त्र है एव वही **आ य** नाम से प्रसिद्ध है।

आ मा शरीर यद्यपि दोनो की समष्टि **देवदत्त** है। अर्थात् देवदत्त नाम यद्यपि समष्टि से ही सम्ब ध रखता है। तथापि मानना पडगा कि यह नाम मुख्यत आ मभाग से ही स ब ध रखता है न कि शरीर से। यही कारण कि जब भूता मा प्राप्तसमय पर देह का परि याग कर देता है तो उस समय **देवदत्त आज नहीं रहा** यह लोक यवहार होता है। अवशेष शव शरीर का कोइ नाम नही रहता। दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। एक राजा अपने परिकर (सेवकवग) के साथ कही आतिथ्य स्वीकार करने जाता है। यहा राजा का ही नाम मुख्य रहता है राजा के नामग्रहण का ही यवहार लोकसिद्ध है। सेवकवग का राजा के नाम मे ही अ तर्भाव है। ठीक यही स्थिति यहा समझिए। आ मस्वरूप स पादक मुख्य देवताओं के लिए तो नामग्रहणपूवक हविग्र हण होना चाहिए ए परिकरस्थानीय ऋतु छ दो दवताओं के लिए बिना नामग्रहण के ही आज्यग्रहण करता है यही लोक यवहार है (**एवमु हैतेषाम्**)।

जामि दोष एक महादोष माना गया है। य ानुरूप व्यवहार न करना ही **जामि** दोष है। यह स यता का आग्रह है कि जो जिस स्थान के यो य हो जिस सम्मान का पात्र हो उसे वही स्थान सम्मान दिया जाय। **समदशन** एव **विषमवत्त न** ही इस स यता का अ यतम रक्षक है। आ मदृष्टि से प्राणीमात्र समान हैं पर तु यवहारक्षेत्र में सब विभिन्न म र्यादा के पात्र है। कारण यही है कि समदर्शन का अखण्ड चिदा मा से स ब ध है जोकि आपामर विद्व जन कीटादि प य त सब में एकरसरूप से प्रतिष्ठित है। एव विषमवत्त न का क्षेत्र प्रतिशरीर में भिन्न प्राधानिक स भूत भूता मा है। दोनों के क्षेत्र सवथा विभिन्न है। इसलिए यह आवश्यक है कि यवहारक्षेत्र में जामिदोष (म र्यादा उ लघन लक्षण यवहारदोष अस यता) से बचने के लिए जो जिसके यो य हो उसे उसी स मान का अधिकारी समझा जाय। यहा जुहू उपभृत् ध्रुवा में जो क्रमश ४ ८-४ बार करके आ यग्रहण किया जाता है वह ऋतु तथा छन्दा के लिए ही नियत है। मुख्य

आ मदवता की तुलना में ये दवता अपना अवर–स्थान रखत ह । मुख्य दवताआ की भाात न प रक्र स्थानीय दवताओ के लिए भी यदि नामग्रहणपू क आ यग्रहण किया जायगा तो श्र णम या भिङ्गलक्षण जामिदोष होगा । अत इनके लिए विना नामग्रहण के ही आ यग्रहण करना चाहिए। **अ तारक्षभाजना वै पशव** (त ब्रा ३।२।१।३) के अनुसार पशुप्राण का अ तारक्ष से स ब ध है उधर **ऋतव छ दासि पशव** के अनुसार दवबाहनलक्षण ऋतु छ द भी पशुस्थानीय ही ह । **छतम तरिक्षस्य** (शत ।५। ।६) के अनुसार आ यग्रहण का अ तरिक्षलोक से सम्ब ध है । अतएव आ तारक्ष्य ऋतु छ ों के लिए आ यद्र य का ग्रहण ही अ वथ बनता है ।

जुहू में जो चार बार आ यग्रहण होता है उसका प्रयाजलक्षण ऋतुद ता स स ध है एव उपभृत में जो आठ बार करके आज्यग्रहण किया जाता है उस का अनुयाज लक्षण छन्दादवता से स ब ध है । दोनो मख्य–दवतापेक्षया अवरश्र णि में प्रातष्ठित हाते हुए नामग्रहण की मर्य्यादा स ब हभू त ह । अब शेष रहता है ध्रुवा । ध्रुवा में जो चार बार आज्यग्रहण किया जाता ह उसका उपयोग स पूण यज्ञ की सिद्धि स स ब व रखता है । आ यसम्बन्धिनी सम्पूण इतिकत्त यता ध्रुवा–स्थित आ य से ही पूरी की जाती है । जब यहा मब का अ तर्भाव है तो यहा भी नामग्रहण को अवसर नही मिलसकता । जा वस्तु सबके लिए ह उसमें विशष यक्ति का नामग्रहण असङ्गत है । इसप्रकार आ मा के पुरनि र्माण करने वाले ऋतु छ दो के लिए गृहीत आ य में नामग्रहण का अभाव ही अजामिभाव का रक्षक बन रहा है । (६ ८ ६ १) ।

आ यग्रहण–प्रक्रिया में कुछ विशेषता रक्खी गइ है । और वह विशेषता यही है कि जुहू म ग्रहण होता है चार बार ही परन्तु आ यमात्रा औपभृत् आ य की अपेक्षा अधिक होता है । इधर उपभृत् म सख्या की दृष्टि से जुहू की अपेक्षा ग्रहण तो होता है द्विगुणित (आठबार) परन्तु आ यमात्रा जुहू के आ य की अपेक्षा अ प होती है । इस विशेषता का क्या कारण ? प्रकृत प्रकरण इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान कर रहा है ।

वैदिक–विज्ञान से स ब ध रखने वाली सुप्रसिद्ध **निदानविद्या** ही इस उपपत्ति का मूलाधार है जिस विद्या का गीताविज्ञानभाष्यान्तगत **भक्तियोगपरीक्षा** नामक भूमिका पञ्चमखण्ड के **प्रतिमानानम्र्माण–रहस्य** नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपण हुआ है । **कुछ एक सादृश्या के आधार पर अन्य मे अन्य वस्तु का आरोप करना ही निदान कहलाता है** । जहा लोक यवहार में यवहारक म के सञ्चालन क लिए पदे पदे निदान का आश्रय लिया गया है वहा शास्त्रीय व्यवहार में भी वशेषत वदशास्त्र के ब्राह्मणभाग में भी यज्ञकम्मसिद्धि के लिए अनेक स्थलो में इसका आश्रय लिया गया है । पहिले एक लौकिक उदारण ही लीजिए । **डाक्टर ज्वालाप्रसाद गोविल मोतीलाल शर्म्मा का दहिना हाथ है** यह लौकिक निदान का उदाहरण है । वस्तुग या ज्वालाप्रसाद कभी मोतीलाल का दहिना हाथ नही है पर तु आरोप किया जाता है । इस निदानारोप का मूल यही है कि दहिना हाथ ही क मसिद्धि का मूलद्वार है । क्योकि ज्वालाप्रसाद मोती–लाल के कम्म का अ यतम सहायक है बस इसी कर्म्मसादृश्य के आधार पर उसे निदानविधि से दाहना हाथ मान लिया गया है । अब एक शास्त्रीय उदारहण भी लीजिए । लोक यवहारसञ्चारिणी जग माता लक्ष्मी की प्रतिमा के हाथ में **कमल** का पु प है । यह कमल भूपिण्ड का सूचक है । भूपिण्ड का प्रारम्भिक उपादान **आपो वै पुष्करपणम्** (शत ४।४।२।२) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पु करपत्र है । का वालीकृत

(घनभावयुक्त) अप–त व ही पुष्करपण है । यही उत्तरोत्तर तेज स्नेह के क्रमिक यजन से आप –फेनादि आठ याहुतियो मे परिणित हाता हुआ काला तर में भूपिण्डरूप में परिणत होजाता है । कमलपु प भी उसी अपत व स सम्ब ध रखता है । इसी सादृश्य के आधार पर कमल में भूपिण्ड का आरोप करत हुए इसे भूपि–ण्ड का निदान मान लिया गया है स्वष्ट प्रजापति पद्मासन पर विराजमान रहते हुए पद्मभू नाम से प्रसिद्ध है इस व्यवहार का भी इसी भूनिदान स सम्ब ध है ।

इस निदानविद्या को लक्ष्य में रखत हुए ही हमें जुहू उपभृत् के अ य का विचार करना है । जुहू को हिना हाथ तथा उपभृत् का वाम हाथ बतलाया है । शकुनशास्त्र के अनुसार पुरुष का दक्षिणभाग शुभ है वामभाग अशुभ है । दक्षिणाङ्गस्फुरण शुभसूचना का प्रवत्त क है एव व माङ्गस्फुरण अशुभसूचना का सूचक है । कारण यही ह कि पुरुष अग्निवीर्य्यप्र ान है । पुरुष के दक्षिणाङ्ग में सी आग्नवी य का प्राधा य रहता है एव वामाङ्ग मे निवार्य्य सोम का प्राधा य रहता है जाकि सोम स्त्रीवी य माना गया है । वामभाग स्त्रीवी यप्रधान है इसका स्फुरण पुरुषत व का विरोधी है अतएव इसे अशुभ माना गया है । विधि का वाम (टेढा–प्रतिकूल) होजाना वामभाग से ही समतुलित है । इसी सादृश्य के आधार पर हम कह सकते है कि दक्षिणहस्त–स्थानीय जुहू पुरुषवी य का प्रतिनिधि बनता हुआ यजमानस्थानीय है । एव वामहस्तस्थानीय उपभृत् स्त्रीवीर्य्य का प्रतिनिधि बनता हुआ अशुभसूचक बनता हुआ यजमानशत्रुस्थानीय है । इस वी यसूचना के अतिरिक्त आदान–निरोध–मर्य्यादा से भी यह आरोप समन्वित होरहा है । दक्षिणहस्त कम्म के द्वारा जहा स पत्ति के आगमन का कारण बना हुआ है वहा वामहस्त अकम्म का प्रतिनिधि बनता हुआ निरोध का बन्धु बन रहा है । शत्रु का जो काम (स पत्ति–निरोध) है वही स्थान वामहस्त का है । इसलिए भी दक्षिणहस्त स्थानीय जुहू को यजमान तथा वामहस्त स्थानीय उपभृत् को यजमानशत्रु कहा जासकता है ।

दक्षिणहस्त अग्निवी यप्रधान एव वामहस्त सोमवीर्य्यप्रधान बतलाया गया है । अग्नि अन्नाद (भोक्ता) है सोम आद्य (भोग्य) है । इस दृष्टि से दक्षिणहस्तनीय अग्निप्रधान जुहू को **अन्नाद** माना जासकता है एव वामहस्त स्थानीय सोमप्रधान उपभृत् को **आद्य** कहा जासकता है । इसप्रकार निदानविधि से **जुहू उपभृत् को** क्रमश **यजमान–यजमानशत्रु** तथा **अन्नाद आद्य** मानते हुए चतुर्वार–अष्टवार एव **भूयास कनीयास** का सम वय कीजिए ।

समृद्धि का लक्षण यही है कि भोक्ता सख्या में कम हा ए भोग्य सामग्री सख्या में अधिक हो । इसी समृद्धिभाव की प्राप्ति के लिए भोक्ता–स्थानीय जुहू में चार बार ही आ यग्रहण किया जाता है एव भोग्य–स्थानीय उपभृत् मे आठ बार आज्य ग्रहण किया जाता है । १

यदि भोक्ता की अपेक्षा भोग्यप्रजावग अधिक बलवीर्य्य युक्त है तो वह सख्यानुगता समृद्धि निरथक है । वास्तविक समृद्धि तो उसे ही कहा जायगा जिसमें भोक्ता सख्या में तो कम हों पर तु बल–वी र्य में भोग्य की अपेक्षा भूयान् हो । भोक्ता में इसी बल–वी य–समृद्धि के लिए भोक्ता–स्थानीय जुहू में जहा चार बार ग्रहण करते हुए मात्रावृद्धि की जाती है वहा भो य को निबल निर्वीर्य्य बनाने के लिए भोग्य स्थानीय उपभृत् में आठ बार ग्रहण करते हुए भी मात्राह्रास किया जाता है ।

शारीरिक बल बल है आ मबल वीर्य्य है । भूतबल बल बल है प्राणबल वीर्य्य है । भोग्य प्रजा पर सुशासन सुरक्षित रखने के लिए दोनो शक्तिया शपेक्षित है । हम दखते है कि एक राज्य में राजा एक होता है प्रजा असरय होती है । परन्तु राजा अपने कोशबल से त गा बा वीय्य स एक घर का स्वामी रहता हुआ भी अनेको घरो पर अपना प्रभुत्व प्रतिष्ठित रखता है । अपनी इच्छानुसार यथासमय न्न से अपने उद्देश्य–साधन प्रस्तुत किया करता है । सी बलवीय्य–प्राप्ति के लिए यहा भी कनीयास मर्य्यादा रक्खी गइ है ।

जुहू में गृहीत आज्य की तो जुहू से आहुति होती ही है परन्तु उपभृत् में गृहीत आज्य की भी जुहू से ही अहुति होती है । इसका कारण है– **अन्न अन्नाद की स्वरूप रक्षा** । उपभृत् प्रजा–स्थानीय है । प्रजा का बल ही राजा का बल है । यदि प्रजा को स्वसपत्ति व्यय में स्वतन्त्र कर दिया जायगा तो प्रजा इस मर्य्यादा से अपना स्वरूप ही खो बैठेगी एव प्रजासहयाग से वञ्चित राजा भी राज्यश्री स हाथ ही धो बठगा । राष्ट्र–समृद्धि के लिए दोनो की ही स्वरूपरक्षा अपेक्षित है । धम्मदण्ड जहा राजा को सुरक्षित मर्य्यादित रखता है वहा धर्म्मानुगत राजदण्ड प्रजा को म र्यादित बनाए रखता है । इस पारस्परिक सहयाग से दोनो का स्वरूप सुरक्षित रहता है ।

यदि प्रजावित्त पर अपना अधिकार स्थापित करना ही राजा का एकमात्र लक्ष्य है तब तो प्रजास्था–नीय उपभृत् में आ ययग्रहण की ही आवश्यकता न थी । परन्तु उस दशा मे भी वही परिणाम होता जो अम–र्य्यादा में बतलाया गया है । **प्रजा जबतक स्वतन्त्ररूप से सम्पत्ति–सग्रह म प्रवृत्त नहीं होती तबतक प्रजासमृद्धि असम्भव है । राष्ट्र का वित्तबल पशुबल आदि प्रजास्वातन्त्र्य पर ही निर्भर है ।** क्या एकाकी राजा ये सब काय्य कर सकता है ? असम्भव । **अनुचित नियन्त्रण प्रजासमृद्धि के नाश के ही कारण माने गए है । होना यह चाहिए कि प्रजा को सम्पत्ति सग्रह क सम्बन्ध म पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय साथ ही व्ययसम्बन्ध मे नियन्त्रण लगाया जाय ।** क्षत्र और विट् के इस पारस्परिक सह–योग से ही प्रकृतिसिद्धा वह वर्णाश्रमव्यवस्था सुरक्षित रह सकती है जो राष्ट्रसमृद्धि का अ यतम सूत्र माना गया है ।

एक स्थान पर प्रतिष्ठित ध्रुवा **ब्रह्मबल** है जुहू **क्षत्रबल** है उपभृत् **विडबल** है एव पशुसम्पत्ति **शूद्रभाग** है । प्रयेक राष्ट्र को राष्ट्राभ्युदय के लिए **ज्ञानस्थानीय ब्रह्मबल क्रियास्थानीय क्षत्रबल अर्थ स्थानीय विड्बल** एव **प्रज्ञग्यस्थानीय शूद्रबल** ये चारो बल अपेक्षित है । यह तभी सम्भव है जब कि चारो में परस्पर सहयोग बना रहे । सहयोग तभी सम्भव है जबकि चारो मर्य्यादासूत्र से सञ्चालित रहे । इसी समृद्धिरक्षा के लिए उपभृत् से गृहीत आज्य की भी जुहू से ही आहुति दी जाती है ।

इसप्रकार **राष्ट्रकम्मसमृद्धिपूर्वक स्वसमृद्धि** के लिए यह आज्यग्रहणकम्म क्रमश **गायत्री त्रिष्टुप् जगती अनुष्टुप्** छन्दो से सम्बन्ध रखता है । **सुपर्णाकाण्वेयाख्यानविज्ञान** के अनुसार मूलत सभी छन्द चतुरक्षर ही माने गए हैं । सोमापहरण करने के लिए सवप्रथम चतुरक्षर जगतीछन्द का तृतीय द्युलोक में गमन होता है । वहा तीन चरण खोकर एक चरण से जगती भूतल पर लौट आती है । अन तर चतुरक्षरा त्रिष्टुप सोमापहरण के लिए उत्प्लवन करती है । यह अपना एक चरण खोकर तीन

च णो स वापस लौट आती है । सर्वा त में सामिधेनीबल से युक्त चतुरक्षरा गायत्री सुपर्ण–रूप धारण कर के झपाटा मारती है । फलत सोमापहरण के साथ साथ तत्र थ जगती के तीनो चरण एव त्रिष्ट प का एक चरण लेती हुई गायत्री अपने आपके चारो चरणो से सुरक्षित लाट आती है । आर भ म चतुरक्षरा रहने वाली यह गायत्री ज ाती तथा त्रिष्टुप् के चरणों स अष्टाक्षरा बन जाती है । यक्षरा त्रिष्टुप् इस अष्टाक्षरा गायत्रा म आ मसमर्पण कर एकादशाक्षरा बन जाती है ग ा एकाक्षरा जगती त्रिष्टुप् युक्ता गायत्रा म आ मसमर्पण कर द्वादशाक्षरा बन जाती है । इसप्रकार यद्यपि आज गाय यादि छ द ८ ११ १२ इ यादि अक्षरा से युक्त प्रतीत होर है परन्तु इनका मौलिक स्वरूप चतुरक्षर ही माना गया है जसाक सर्वाणि ह वा छन्दांसि चतुरक्षाणि इ यादि निगम से प्रमाणित है ।

जुहू स्थित चतुर्वारगृहीत आ य चतुरक्षर गायत्री छ द से स ब ध रखता है उपभृत स्थित अष्टवार गृहीत आ य क्रमश चतुरक्षर त्रिष्टुपछ द ए चतुरक्षर जगतीछ द से सम्ब ध रखता है । एव ध्रुवास्थित चतुगृहीत आ य अनुष्टुपछ द से सम्ब ध रखता है । भूपिण्ड त्रिवृतपृथिवी पञ्चदश अन्तरिक्ष एक विश द्युलोक चारो के क्रमश प्रजापति अग्नि मरुत्वानि द्रगर्भित वायु आदि य ये चार आतष्ठाता देवता है। एव चारो के क्रमश अनुष्टुप् गायत्री त्रिष्टुप् जगती ये चार छ द है । चारो का मूल वही भौम वा मय अनुष्टुपछन्द है । अनुष्टुप भूपिण्ड का छ द है भूपिण्ड शुक्रलक्षण वाङ मय है । इसी वागावतान से वषट्कारलक्षणा उस साहस्री का ज म होता है जिसके आधार पर भूमहिमा मक सम्पूर्ण यज्ञ प्रति ठत है । अतएव ततस्थानीय ध्रुवा से ही स पूर्ण यज्ञक म स पन्न होता है । (११ १२ १३ १४ १५ १६) ।

आ यग्रहणपद्धति के सम्ब ध में विशेष वक्त य नही है । जिस चि यपृष्ठ (भूपिण्ड) मे आ य (प्राणशक्ति) परिपूर्णमात्रा से प्रतिष्ठित रहता ह उस चि यपृष्ठ में प्राणदेवता उसीप्रकार अभय बन कर अपने आ यात्मिक यज्ञ की निष्कण्टकता निरापद स पन्न करते है जसे कि वज्र की रक्षा से रक्षित मनुष्य अपने क र्म निरापद बना रहता है । अतएव आ य को वज्र कहा जासकता है । यही वास्तव मे देवयजन भाग है । बाह्य सामग्री म भार उस समय प य त निरर्थक है जबतक कि आ य (प्राणशक्तिलक्षण कर्मसाधक वज्र) का ग्रहण नही कर लिया जाता । अ या म का आ य एव अधिभूतयज्ञ का आ यद्र य दोनो ही यज्ञ स्वरूप की सिद्धि के मुख्य द्वार बने हुए हैं ।

त्र स या नो देव। के अनुसार यह यज्ञ त्रि मर्य्यादा से युक्त है । कितने एक याज्ञिको का कहना था कि इस यज्ञस पात्त सग्रह के लिए जुहू उपभृत् ध्रुवा तीनो में तीन तीन वार मन्त्रप्रयोग होना चाहिए । प तु परमवज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य ऐसा करना इसलिए अनुचित समझते है कि तीनों ग्रहणकर्म्म एक ही यज्ञसिद्धि स सम्ब य रखत हैं । यदि तीन स्थान पर त्रिवृत् सम्पत्ति का सग्रह किया जायगा तो यज्ञकृ स्नता नष्ट होजायगी । इसलिए (यज्ञकृ स्नता सुरक्षित रखने के लिए) एक एक बार ही म त्रप्रयोग होना चाहिए । एसा क ने स यज्ञ कृत्स्नता भी सुरक्षित रहेगी एव तीनो स्थानो की स ख्या के सम वय से त्रिवृत्–सम्पत्ति भी प्रा त होजायगी (१७ १८) ।

प्रथमकाण्डानुगत तृतीय अध्याय का द्वितीय ब्राह्मण
एव द्वितीय प्रपाठक का पञ्चम ब्राह्मण
'आज्यब्राह्मण'
नामक
उपरत

---*---

श्री

अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्ये–द्विब्राह्मणात्मक
इध्म परिधि ब्राह्मणम्



अथ–प्रथमकाण्ड–तृतीयाध्याये तृतीय ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम्
(इध्म–परिधि–ब्राह्मणनुगतञ्च–"इध्मब्राह्मण" नामक प्रथम ब्राह्मणम्)

१



श्री

अथ प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये तृतीय ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम्

द्विब्राह्मणानुगत-"*इध्मब्राह्मणम्*" -प्रथमम्

१



१७—इध्मानुगत कर्म्मसंग्रह —

१ इध्म वेदि-बर्हिष प्रोक्षण, तथा प्रोक्षणीशेषण बर्हिर्मूलोपसेचनम्

(मूल) प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्त । स इध्ममेवाग्रे प्रोक्षति— **कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि**" (२ अ १ म) इति । त मेध्यमेवतदग्नय करोति ॥ १ ॥

अथ वेदिं प्रोक्षति—'**वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामी**' [२ अ १-म०) इति । त मेध्यामेवतद् बर्हिष करोति ॥ २ ॥

अथास्मै बर्हिः प्रयच्छति । तत्पुरस्तादग्रं ध्यामादयति । तत् प्रोक्षति—"**बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि**' [२ अ १ म] इति । त मध्यमेवेतत् स्रुग्भ्य करोति ॥ ३ ॥

अथ या प्रोक्षण्य परिशिष्यन्त, ताभिरोषधीनां मूलान्युपनिनयति—'**अदित्यै व्युन्दनमसि** [२ अ म०) इति । इय वै पृथिवी अदिति तदस्या एवैतदोषधीनां मूलान्युपोनत्ति । ता इमा आर्द्रमूला ओषधय । तस्माद्यद्यपि शुष्काण्यग्राणि भवन्ति-आर्द्राण्येव मूलानि भवन्ति ॥ ४ ॥

२—पवित्रे प्रणीतासु निधाय बर्हिष पुरस्तात् प्रस्तरगृहणम्—

अथ विस्रस्य ग्रंथि पुरस्तात् प्रस्तर गृह्णाति- विष्णोस्तुपोऽसि -(अ० २-२०) इति । यज्ञो वै विष्णु , तस्येयमव शिखा स्तुप । एतामेवास्मिन तद्धाति । पुरस्ताद् गृहणाति । पुरस्ताद्धय स्तुप , तस्मात् पुरस्ताद् गृहणाति ॥ ५ ॥

अथ सन्नहन विस्रसयति । प्रक्लप्त इवास्य स्त्री विजायत इति । तस्मात् सन्नहन विस्रसयति । तद्दक्षिणाया श्रोण्या निदधाति । नीवहैवास्यैषा । दक्षिणत इव हीय नीवि । तस्माद्दक्षिणाया श्रोण्या निदधाति । तत्पुनरभि छादयति । अभि छन्न व हीय नीव । तस्मात्पुनरभि छादयति ॥ ६ ॥

३—वेद्या बर्हिषा त्रिवृत्-स्तरणम्

अथ बर्हि स्तृणाति । अय वै स्तुप प्रस्तर । अथ या यत्राश्वि लोमानि ता यवास्य, यदितर बर्हि ता यवास्मिन्न तद्धाति । तस्मात् बर्हि स्तृणाति ॥ ७ ॥

योषा व वेदि । तामेतद्देवाश्च पर्यासते, ये चेमे ब्राह्मणा शुश्रुवासोऽनूचाना । तेष्वेवैनामेतत् पर्यासीनेष्वनग्ना करोति अनग्नताया एव । तस्माद्बर्हि स्तृणाति ॥ ८ ॥

यावती वै वेदि , तावती पृथिवी ओषधयो बर्हि । तदस्यामेवतत् पृथि यामोषधीदधाति । ता इमा अस्या पृथि यामोषधय प्रतिष्ठिता । तस्मादबर्हिस्तृणाति ॥ ९ ॥

तद्धै बहुल स्तृणीयादित्याहु । यत्र वा अस्यै बहुलतमा ओषधय , तदस्या उपजीवनीयतमम् । तस्माद बहुल स्तृणीयादिति । तद्धै तदाहत्त गर्वाधि । त्रिवृत् स्तृणाति त्रिवृद्धि यज्ञ । अथो अपि प्रबह स्तृणीयात् । स्तृणाति बर्हिरानुषगिति ह्य पिणाभ्य नूक्तम् । अधरमूल स्तृणाति । अधरमूला इव हीमा अस्या पृथि यामोषधय प्रतिष्ठिता । तस्मादधरमूल स्तृणाति ॥ १० ॥

स स्तृणाति ऊर्णाम्रदस त्वा स्तृणामि स्वासस्था देवेभ्य [२ अ २ म] इति । साध्वा देवेभ्य इ यवतदाह-यदाहोर्णाम्रदस त्वेति । स्वासस्था देवेभ्य इति स्वासदां देवेभ्य इत्यवैतदाह ॥ ११ ॥

४—आहवनीयाग्नेरिध्मकाष्ठेन प्रबलीकरणम्

——*——

अथाग्नि कल्पयति। शिरो व यज्ञस्याहवनीय। पूर्वोऽर्द्धो वै शिर-पूर्वार्द्धमवैत-द्यज्ञस्य कल्पयति। उपर्युपरि प्रस्तर धारयन् कल्पयति। अय व स्तुप प्रस्तर। एतमेवा स्मिन तत् प्रतिदधाति। तस्मादुपर्युपरि प्रस्तर धारयन् कल्पयति ॥ १ ॥

५— आहवनीयस्य पश्चिमे, दक्षिणे, उत्तरे च क्रमेण परिधिनिधानम्

——*——

अथ परिधीन् परिदधाति। तत् यत्परिधान् परिदधाति-यत्र व देवा अग्रेऽग्नि होत्राय प्रावृणत तद्धोवाच न वा अहमिदमुत्सहे यद्वो होता स्याम् यद्वो ह य वहेयम्। त्रीन् पूर्वान् प्रावृढवम्। ते प्राधन्विषु तान्न मेऽनुकल्पयत। अथ वा अहमेतदुत्साच्ये-यद्वो हाता स्याम् यद्वो ह य वहेयमित। तथति। तानस्मा एतानवाकल्पयन्-त एते परिधय ॥ १३ ॥

स होवाच वज्रो व तान् वषटकार प्रावृणक। वज्राद्वै वषटकाराद्बिभेमि य मा वज्रो वषटकारो न प्रवृञ्ज्यात्। एतैरेव मा परिधत्त तथा मा वज्रो वषटकारो न प्रव-र्त्स्यतीति। तथति। तमेतै पर्यदधु। तन्न वज्रो वषट्कार प्रावृणक। तद्वमै वतदग्नये नह्यति-यदेतै पारदधानि ॥ १४ ॥

त उ हैत ऊचु-इदमु चेदस्मान् यज्ञ युडक्थ अस्त्वेवास्माकमपि यज्ञे भाग इति ॥ १५ ॥

तथति देवा अब्रुवन्- 'यद्बहिष्परिधि स्क न्दयति तद्युष्मासु हुतम्। अथ यद्व उप र्युपरि होष्यन्ति-तद्वोऽवि यति। अथ यदग्ना होष्यति तद्वो विष्यतीति। स यदग्नौ जुह्वति तदेनानवति अथ यदेनानुपर्युपरि जुह्वति-तदनानवति अथ यद्बहिष्परिधि स्कन्दति-तदतेषु हुतम्। तस्मादु ह नाग इव स्कन्न यात्। इमा वैते पृथवा प्राविशन्। यद्वा इद किञ्च स्कन्दति-अस्यामेव तत्सर्वं प्रतितिष्ठति। १६ ॥

स स्कन्नमभिमृशति–"भुवपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूतानापतये स्वाहा [२ अ० २ म०] इति । एतानि वै तेषामग्नीना नामानि–यद् भुवपति भुवन पति भूताना पति तद् यथा वषट्कृत हुतम्–एवमस्यतेवाग्नषु भवति ॥ १७ ॥

तद्धैक इध्मस्यवतान् पारधीन् परिदधति । तदु तथा न कुर्यात् । अनवक्लृप्ता ह तस्यते भवन्ति–यानिध्मस्य परिदधाति । अभ्याधानाय ह्य वेध्म क्रियते । तस्या हैवतेऽवक्लप्ता भवन्ति यस्यतान यानहरन्ति–परिधय इति । तस्माद यानवाहरय ॥ १८ ॥

ते । पालाशा स्यु । ब्रह्म व पलाश ब्रह्माग्नि अग्नया हि । तस्मात्पालाशा स्यु ॥ १९ ॥

यदि पालाशान् न वि दत्–अथो अपि ाकङ्कता यु । यदि ाकङ्कतान् न वि दत् अथो अपि काष्मयमया स्यु । यदि काष्मर्यमयान् न वि दत् अथो अपि बल्वा स्यु । अथो खादिरा, अथो आदुम्बरा । एते ि वृत्ता यज्ञिया । तस्मादतेषा वत्ताणा भवन्ति ॥ २ ॥

प्रथमकाण्डान्तगत तृतीय–अध्याये तृतीय ब्राह्मणम्
एवं द्वितीय प्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम्
उपरतम

अत्र–द्विब्राह्मणानुगत–प्रथम–इध्मब्राह्मण समाप्तम्
१
समाप्तश्चाय—द्वितीय प्रपाठक
२

श्री

अथ-प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये चतुर्थ ब्राह्मण तृतीय प्रपाठके च प्रथम ब्राह्मणम् द्विब्राह्मणानुगतश्च—परिधिब्राह्मण—नामक द्वितीय ब्राह्मणम्

ते वा आद्रा स्यु । एतद्ध्यैषा जीवम्, एतेन मतेजस एतेन वीयर त । तस्मादाद्रा स्यु ॥ १ ॥

स मध्यममेवाग्र परिधि परिदधाति- गन्धर्वस्त्वा विश्वावसु परिदधातु विश्व स्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित [२ अ २ म०] ति ॥ २ ॥

अथ दक्षिण परिदधाति-' इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित [२ अ ३ म] इत ॥ ३ ॥

अथोत्तर परिदधाति-' मित्रावरुणौ त्वोत्तरत परिधत्ता ध्रुवेण धर्मणा विश्व स्यारिष्ट्य यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित ' [अ ३ म] ति । अग्नयो हि । तस्मादाह-अग्निरिड ईडित इति ॥ ४ ॥

६—आहवनीये समिधाधानम्

अथ सामधमभ्यादधाति । स मध्यममेवाग्र परिधिमुपस्पृशति तनतानग्र समि ध । अथाग्रावभ्यादधाति तनो अग्नि प्रत्यक्ष समि ध ॥ ५ ॥

सोऽभ्यादधाति-"वीतिहोत्र त्वा कवे द्युम त समिधीमहि । अग्ने बृह त- मध्वरे" (२ अ ४ म) इत्येतया गाय या । गायत्रामेवतत् समि ध । सा गायत्री समिद्धान्यानि छ दास समि धे । छ दासि समिद्धानि देवेभ्यो यज्ञ वहन्ति ॥ ६ ॥

अथ या द्वितीया समिधमभ्यादधाति-वस तमेव तया समि ध । स वस त समि द्धोऽ यानृतून् स म ध । ऋतव समिद्धा प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओषधाश्च पचन्ति । सोऽ- भ्यादधाति- समिदसि' (२ अ ५ म) इति । समिद्धि वस त ॥ ७ ॥

अथाभ्याधाय जपति सूयस्त्वा पुरस्ता पातु कस्याश्चिदभिशस्त्य' (अ – ५ म) इति गु त्यै वा अभित परिधयो भवति। अथैतत्सूयमेव पुरस्ताद गोप्तार करोति नत् पुरस्तान्नाष्ट्रा रत्नास्यभ्यवचरानिति। सूर्या हि नाष्ट्राणा रक्षसाम-पह ता ॥ ८ ॥

अथ यामेवामु ततीया समिधमभ्यादधाति–अनुयाजषु ब्राह्मणमेव तया समि धे। स ब्राह्मण समिद्धो देवभ्यो यज्ञ वहति ॥ ६ ॥

७—उदगग्रयोविधृत्योवेद्या निधानम्

———*— — ——

अथ स्तीर्णा वेदिमुपावत्त ते। स न तृण आदाय तिरश्ची निदधाति सवितुर्बाहू स्थ' (२ अ ५ म) इति। अथ वै स्तुप प्रस्तर। अथास्यैत भुजावेव तिरश्ची निदधाति। तस्मादिमे तिरश्च या भ्रवा। क्षत्र वै प्रस्तर विश इतर बर्हि। क्षत्रस्य चव विशश्च विधृत्य। तस्मात्तिरश्ची निदधाति। तस्माद्व व विधृती नाम ॥ १० ॥

८—विधृत्योरुपरि प्रस्तरस्तरणम्

—— ——*—— ——

तत् प्रस्तर स्तृणाति–'ऊर्णाम्रदस त्वा स्तृणामि स्वासस्थ देवेभ्य' (२ अ ५ म) इति। साधु देवेभ्य इत्येवैतदाह–यदाहोर्णाम्रदस त्वेति। स्वासस्थ देवेभ्य इति–स्वासद देवेभ्य इत्येवैतदाह ॥ ११ ॥

६—पाणिद्वयेन प्रस्तराभिनिधानम्

————×————

तमभिनिदधाति–'आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्या सद तु (२ अ० ५ म) इति। एते व त्रया देवा यद्वसवो रुद्रा आदित्या। एते त्वासीदा त्वित्येवैतदाह। अभिनिहित एव स यन पाणिना भवति ॥ १२ ॥

१०—प्रस्तरस्पर्शपूर्वक दक्षिणेन स्रुचा गृहण, प्रस्तरे तत् स्थापनञ्च

————*————

अथ दक्षिणेन जुहू प्रतिगृह्णाति–नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षास्याविशानिति। ब्राह्मणो ह रक्षसामपह ता। तस्मादभिनिहित एव सव्येन पाणिना भवति ॥ १३ ॥

अथ जुहू प्रतिगृह्णाति–'घृताच्यसि जुहूनाम्ना (२ अ ६ म) ति। घृताची हि, जुहूर्हि नाम्ना। सेद प्रियेण धाम्ना प्रिय सद आसीद (२ अ – ६ म) इति। घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना (२ अ ६ म) इत्युपभृतम्। घृताची हि उपभृद्धि नाम्ना। 'सेद प्रियेण धाम्ना प्रिय सद आसीद (२ अ० ६ म) ति। घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना' (२ अ ६ म) इति ध्रुवाम्। घृताची हि, ध्रुवा हि नाम्ना। सेद प्रियेण धाम्ना प्रिय सद आसीद'' (अ ६ म) इति–यद् यद्धनि ॥ १४ ॥

स वा उपरि जुहू सादयति, अध इतरा स्रुच। क्षत्र वै जुहू विश इतरा स्रुच। क्षत्रमेवैतत्–विश उत्तर करोति। तस्मादुपर्यासीन क्षत्रियमधस्तादिमा प्रजा उपासते। तस्मादुपरि जुहू सादयति अध इतरा स्रुच ॥ १५ ॥

११–अभिमर्शनम्

——*——

सोऽभिमृशति–'ध्रुवा असदन्'' (३ अ ६म०) इति। ध्रुवा ह्यसदन्। 'ऋतस्य योनौ'' (३ अ ६ म) इति। यज्ञो वा ऋतस्य योनि यज्ञ ह्यसदन्। 'ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञ पाहि यज्ञपतिम्' (३ अ ६ म) ति। तद्यजमानमाह। पाहि मा यज्ञन्यम्' (३ अ ६ म०) इति। दप्यात्मान यज्ञान्ना तरति। यज्ञो वै विष्णु, तद्यज्ञायैवैतत्सर्व परिददाति गुप्त्यै। तस्मादाह ता विष्णो पाहीति ॥ १६ ॥

प्रथमकाण्डान्तर्गत–तृतीय–अध्याये चतुर्थ ब्राह्मण
एव–तृतीय–प्रपाठके च प्रथम ब्राह्मण
उपरतम्

——*——

द्विब्राह्मणानुगतश्च–द्वितीय–परिधिब्राह्मण समाप्तम्
२

———*———

इति–ब्राह्मणद्वयात्मक–इ म परिधि ब्राह्मणमुपरतम्

———*———

ततीयाध्याय मे तृतीय ब्राह्मण एव द्वितीयप्रपाठक मे षष्ठ ब्राह्मण "इध्मब्राह्मण"

मूलानुवाद—

१ इध्य वेदि तथा बर्हि का प्रोक्षणाशेष से बर्हिमूलोपसिञ्चन—

अ वर्यु (नामक ऋ विक् क्रमश इ प वेदि–बर्हि क प्रोक्षण क लिए) प्राक्षणी (प्रोक्षण क म–क लिए निय अतएव प्राक्षणी नाम से प्रसिद्ध जला) का ग्रहण करता है। (इसे न प्राक्षणी जला से इ म वे –बर्हि, तीनो का प्राक्षण करना है। न म स) यह अ व यु सब से पहिले कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽ नय ना जुष्ट प्राक्षाम (यजु स ।२ हे अ ने आप कृष्णमृग–है आहवनीय नामक खर म प्रतिष्ठित रहने क कारण आप आखरष्ठ हे । एसे आप का य ग्रानुरूप–अ भलषित प्राक्षण करता हू) यह म त्र बालता हुआ इध्म (यज्ञाग्नि–प्रज्ज्वलन क लिए आ हुए लक ी क बधे हुए भारों) का प्रोक्षण करता है। म प्राक्षणक म मे न ध्म–सम्भारा को अ वर्यु अग्निदेवता क लिए सङ्गमनीय भी करता है ॥१॥

मप्राक्षणान तर वेदिरास बर्हिषे जुष्ट प्राक्षाम (यजु स ।१ आप सत्रयज्ञसमृद्धि प्रा ति क कारण वदि नामस प्रसिद्ध है। बर्हिस्तरण क लिए आपका म अभिलपित प्राक्षण करता हू) यह बोलता हुआ वेदि का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षणकम्म से यह अ व यु इस वेदि को बर्हिस्तरणकम्म क लिए ही सङ्गमनीय करता है ॥२॥

वेदिप्राक्षणान तर (बर्हि क प्रोक्ष ण क लि) आ नीध्र नामक ऋ विक् अ व यु क हा थ म बर्हि (कुशामुष्टि) सापता है। (आ नीध्र से समापत बर्हि को हा थ म लेकर) अ व यु उस बर्हि का वे ि पर त्तराग्र सप्रकार स रखता है जिस से कि बर्हि की गाठ पूव की ओर रहे। (इसप्रकार वेदि पर पुरस्तात्–ग्र थिरूप से ब हि प्रतिष्ठित कर) यह अ व यु– बर्हिरसि स्रुग् यस् ना जुष्ट प्रोक्षामि (यजु म ।१–आप वन्द्वि हणकम्म म समथ बनते ए बर्हि नाम स प्रसिद्ध है ऐसे आप का म स्रु चा क लिए अभिलपित प्रोक्षण करता हूँ) यह म त्र बालता हुआ वेदि पर प्र तष्ठित बर्हि का प्राक्षण करता है। इस प्रोक्षणकम्म से यह अ व यु स्रु चों क लिए ही इस ग्राह को सङ्गमनीय करता है * ॥३॥

---

* ध्म (का ठस भार) का उपयोग आ वनीया न में होता है वदि का उपयोग बर्हि तरणक म में हाता है एव बर्हि का उपयोग स्रु क्स्थापनक म में होता है । दूसरे श ा में– म आ वनीय अग्नि में ाले जात है बर्हि ना पर बिछा जाती है एव स्र क्पात्र ब ह पर रक्ख जाते है। इध्म का यज्ञाग्नि स व ि का बा से एव र्हि का स्रु कपा ो से सगमनीय यज्ञानुरूप स ब न्ध होजाय एतन्मात्र इसी प्रयोजन के लिए म वेदि बर्हि का क्रमिक प्रोक्षण होता है। यज्ञमण्डल मे एनीत तीनो ही पात्र अवश्य ह पर तु अभी न में मे यव म का अभाव हैं। पानी में मेध्यगुण भी है। इ ी मे यभाव की नि पत्ति के लिए प्रकृत प्रोक्षण क म विहित है। मे यता एव पात्रता भिन्न भिन्न वस्तुत व है। ऐसी दशा म म य का शुद्ध (पवित्र) अथ मानना ीता त असङ्गत है जसा कि याख्याताओं ने मेधि शुद्धा करोति रूपसे कर दिया है। इस विषय का विशद विवेचन शतपथ–प्रथमखण्ड मे वि तार से किया जाचुका है।

तीनो प्रोक्षण–कर्म्मों क अनन्तर (प्राक्षणपात्र मे) जा प्राक्षणी–जल बच जाते हैं उन से अदि यै व्युन्नमसि (यजु स २।२–हे प्राक्षण जल ! आप प्राथवी क ासञ्चक हैं) यह मन्त्र बोलता हुआ ओषधिया (बर्हि) क मूलों का सिञ्चन करता है । बच पानी को ओषधिया की जडों मे डाल देता है । निश्चयन प्रथिवी अदिति है । इस सिञ्चनकम्म से अध्वर्यु इस प्रथिवी क ओषधिमला को ही आद्र करता है । (इसी सिञ्चनक म स) य ओषधिया मूलभाग से आद्र (उपल ध होतीं) है । इसी सिञ्चनकम्म का यह प्रभाव है कि यद्यपि ओषधिया के अग्र–भाग शुष्क रहते है परन्तु मूलभाग आर्द्र ही रहते है ।।४।।

प्रणीता मे पवित्र स्थापित कर बर्हि के पूर्वभाग स प्रस्तर का ग्रहण—

प्रोक्षणकर्म्मानन्तर यह अध्वर्यु (अपने हाथ से प्रणीतापात्र मे दो कुशा रखकर) वेदि पर पुरस्तात् गाठ लग हुए रक्खे बर्हि (कुशामुष्ट) की गाठ खोल कर– विष्णो स्तुपोऽसि (यजु स २ हे प्रस्तर ! आप विष्णु–यज्ञ–क स्तुप थानीय केशसङ्घातरूप शिखा स्थानीय है ।) यह मन्त्र बोलता हुआ उस बर्हि मे से पूर्व का ओर से (कुशसमूह–लक्षण) प्रस्तर का ग्रहण करता है । विष्णु निश्चयेन यज्ञ है इस यज्ञपुरुष की शिखा यह स्तुप (कुशामङ्घात लक्षण प्रस्तर) ही है । (प्रस्तर ग्रहण करता हुआ अध्वर्यु) स यज्ञपुरुष म इस शिखा को ही प्रतिष्ठित करता है । यह स्तुप (शिखा–आध्यात्मिक यज्ञरूप पुरुष क) पूर्वभाग (शिरोभाग) म ही है अतएव (तत्प्रतिरूप इस अब आधिभातिक यज्ञपुरुष क शिखा–स्थानीय स्तुप का भी) पुरस्तात् ही ग्रहण करता है ।।५।।

(बतलाया गया है कि वेदि पर रक्खे हुए बर्हि सघात का रज्जु की गाठ खोल कर अध्वर्यु उस मे से प्रस्तर का ग्रहण करता है । इस ग्रहणकम्म क अनन्तर प्रस्तर तो ब्रह्मा को सौंप देता है एव जो) सन्नहन (बर्हि के चारों ओर लिपटी हुई बन्धन–रज्जु) है उसे (बर्हि से सर्वथा) प्रथक कर देता है । (सन्नहन को प्रथक क्यों किया जाता है ? इस की उपपत्ति बतलाते है)– यह निश्चित है कि बन्धन के खुल जाने पर ही इस यजमान की स्त्री दशममास म सम्पूर्णावयव सन्तान उत्पन्न करती है । (तात्पर्य यही है कि नीवीबन्धन खोल देने से ही गर्भिणी सुखपूवक प्रसवकम्म करने मे समथ होती है । इधर वेदि योषात्मिका बनती हुए निदानेन स्त्री है एव यह बर्हि रज्जु इस का नीवीबन्धन है । यही दवात्मारूप सन्तान उत्पन्न करने वाली है । उत्पत्ति–कम्म म बन्धन का विस्रसन आवश्यक है) इसीलिए सन्नहन खोलता है । उस सन्नहनरज्जु को वेदि के दहिने श्रोणिभाग पर रख देता है । कारण यही है कि यह रज्जु (निदानेन) इस यजमानपत्नी का नीवीबन्धन ही है । एव लोकव्यवहार मे निवाबन्धन स्त्रिया क दक्षिण–श्रोणि भाग पर ही रहता है । अतएव (तत्प्रतिरूपा वेदि क) दक्षिण श्रोणिभाग मे ही नीवी-बन्धन स्थानीया रज्जु प्रतिष्ठित करता है । दक्षिणश्रोणिभाग पर रक्खी हुई नीवी का बर्हि से आच्छादित कर देता है । कारण इस का यही है कि लोकव्यवहार मे स्त्रियों का नीवीबन्धन वस्त्र से ही आच्छादित रहता है । अतएव (तत्प्रतिरूपा वेदि की) इस नीवीबन्धन स्थानीया रज्जु को आच्छादित कर देता है ।।६।।

—*—

३ वेदि पर बर्हिस्तरणों से त्रिवृत् रूप से आच्छादन—

(प्रस्तरग्रहण–कर्म्म के सम्बन्ध में यह बतलाया गया है कि निदानविधि से प्रस्तर शिखा स्थानीय है। जब कि इस वैधयज्ञ मे पुरुष की प्रतिरूपता के अनुरूप प्रस्तररूप शिखा का ग्रहण आवश्यक माना गया है तो शिखातिरिक्त शिखा से नीचे के केश–लोमों का भी उसी निदानविधि से संग्रह होना चाहिए। इसी उपपत्ति को लक्ष्य में रखती हुई श्रुति कहती है)—सन्नहन–विस्रंसन कर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्यु (वेदि पर धनभाव से त्रिवृत्–मर्यादा से) कुशा बिछाता है (वेदि पर प्रतिष्ठित) यह प्रस्तर (कुशमुष्टि) निश्चयेन (निदानविधि से) स्तुप (केशसंघातलक्षणा शिखा) है। (स्तुप के अतिरिक्त जो सम्पूर्ण वेदि पर कुशा बिछाई जाती है) वह यह इतर बर्हि (प्रस्तर से भिन्न बिछाई जाने वाली कुशा) (निदानविधि से) शिखा के अन्य प्रदेशों में (सर्वाङ्गशरीर में) प्रतिष्ठित लोम (केश–लोम का प्रतिरूप) है। (वेदि पर कुशा बिछाता हुआ अध्वर्यु प्रतिरूप मर्य्यादा से) उन अन्य स्थित केश–लोमों का ही यज्ञ पुरुष पर लगाता है। इसलिए कुशा बिछाता है॥ ॥

(कुशास्तरण की पूर्व उपपत्ति यज्ञपुरुष के केश लोमों से सम्बन्ध रखती है। अब स्वयं वेदि की दृष्टि से दूसरी उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है)—यह वेदि (प्रतिरूप–मर्य्यादा से) योषा (स्त्री) है। इस स्त्री (रूपा वेदि) के ऊपर (हविर्ग्रहण के लिए आए हुए प्राणात्मक) देवता प्रतिष्ठित रहते हैं एवं जो ये प्रयोगरहस्यज्ञ तथा अनुष्ठान करने वाले विद्वान् ब्राह्मण वेदि के समीप प्रतिष्ठित रहते है। (लोकमर्य्यादा में एक स्त्री नग्न शरीर से पुरुषमण्डली में नहीं बैठ सकती अपितु अपना सर्वाङ्गशरीर वस्त्र से वेष्टित कर लज्जाभाव से ही आसीन रहती है। इधर वेदि भी योषा स्थानीया है इस भी यहां उक्त अलौकिक–प्राणदेवताओं एवं लौकिक ऋत्विजों के समीप रहना पड़ता है। इस अनग्नता के लिए अवश्य ही इस पर कुशा बिछानी चाहिए। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है)—इन बैठे हुए देवताओं तथा ऋत्विजों की मण्डली में (प्रतिष्ठित वेदि पर कुशा बिछाता हुआ) अध्वर्यु इस वेदि को अनग्न ही बनाता है। अनग्नता के लिए ही (कुशास्तरण आवश्यक है) इसलिए (भी) कुशा बिछाता है॥८॥

(अब वेदि को प्रतिरूप–मर्य्यादा से पृथिवी मानते हुए इसी दृष्टि से कुशास्तरण की तीसरी उपपत्ति बतलाई जाती है)—

जितनी बड़ी वेदि है उतनी ही बड़ी पृथिवी है। (अर्थात् यह वेदि प्राकृतिक–यज्ञप्रतिष्ठात्मिका–पृथिवी का प्रतिरूप है) ओषधियाँ (प्रतिरूपविधि से यहां) बर्हि है। (जब कि–वेदि–रूपा पृथिवी का यहां सम्बन्ध है तो ओषधियों का भी प्रतिरूप इस पर अवश्य ही प्रतिष्ठित करना चाहिए। वही कार्य्य बर्हिस्तरण से पूर्ण होजाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है)–(बर्हिस्तरण करता हुआ) अध्वर्यु इस पृथिवी पर (पृथिवी स्थानीया वेदि पर) ओषधियां ही प्रतिष्ठित करता है। ये ओषधियां इस पृथिवी में प्रतिष्ठित हैं। तात्पर्य्य इस वाक्य का यही है कि

प्रथिवी का अपना पूण स्वरूप नहीं कहलाता है जिस पर ओषधियां रहती हैं। ओषधियुक्ता प्रथिवी ही समृद्धा मानी गई है। इधर वेदि का निम्माण शुद्ध मिट्टी स हुआ है। आपधियां का उखाड कर कवल मृद्भाग से ही वेद बनाई गई है। ओषधियां का प्रतिष्ठा का उखड जाना प्रथ्वी का निर्वीर्य (ऊसर) बन जाना है। इस निर्वीर्यता को दूर करन क लिए ही ओषधि-प्रतिष्ठा प्रतिष्ठित करने क लिए ही यहां कुशास्तरण आवश्यक है)। इसीलिए अ वर्य्यु कुशास्तरण करता है ॥६॥

(कुशास्तरण अतिशय घन होना चाहिए जिससे वेदिप्रदेश अणुमात्र भी न दीख सके-इसी विशेषता को उप यस्त करती हुई श्रुति कहती है) यज्ञरहस्यवत्ता विद्वानों का आस्तरण क सम्बन्ध मे यह कहना है कि वह अ वर्य्यु घनरूप से ही बर्हि बिछावे। अभिप्राय उन अभिज्ञों का (इस कथन म) यही है कि प्रथिवी क जिस भाग म ओषधियां प्रचुर मात्रा मे होती है प्रथिवी का वह भाग ही अतिशय जीवनप्रद माना गया है। इस बर्हि का आहर्त्ता जो यजमान है वही इस बहुलस्तरणानुबन्धी जीवनप्रदभाग का भोक्ता बनता है जैसाकि— शास्त्रफल प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात् इत्यादि जैमिनिसूत्र से प्रमाणित है। (यदि यजमान यहां अपन यज्ञ म भूमि-स्थानीया वेदि को ओषधि-स्थानीय बर्हि से बहुल आच्छादित कर देगा तो इसके भागधेय का भूप्रदेश प्रचुर ओषधियो स युक्त बनता हुआ इसके लिए उपजीवनीयतम भी यतम बन जायगा यही तात्पर्य है)।

बर्हिस्तरण त्रिवृदरूप से करता है (तीन दर्भमुष्टियों म तीन बार बिछाता है)। कारण यही है कि (त्रिस यप्राणदेवताओं क सम्बन्ध से) यज्ञ त्रिवृत् है। (इस त्रिवृत् लक्षणा यज्ञसम्पत्ति की प्राप्ति के लिए तीन बार कुशास्तरण होना उचित है। (त्रिवृत्स्तरण का अभिप्राय यही है कि) तीन दर्भमुष्टियों से इसप्रकार स्तरण करना चाहिए जिससे तीनों दर्भमुष्टियो के तीनों स्तर एक स्तर रूप से प्रतीत हों। पहिले एक दर्भमुष्टि लेकर उसे वेदि के पूर्व भाग मे दक्षिण अंस से आरम्भ कर उत्तरांस पर्यन्त इसप्रकार वेदि पर बिछाना चाहिए जिससे कि कुशाओं का अग्रभाग तो पूर्व की ओर रहे तथा मूलभाग पश्चिम की ओर रहे। अनन्तर दूसरी दर्भमुष्टि लेकर (पहिले की दर्भमुष्टि से सलग्न) वेदिमध्य भाग मे प्रथममुष्टि से पश्चिम प्रदेश मे इसप्रकार बिछावे जिसस कि पूर्वमुष्टि के पश्चिमस्थ मूलभाग इस द्वितीयमुष्टि क पूर्वस्थित अग्रभागों क नीचे दब जाय। इसीप्रकार तीसरी कुशमुष्टि लेकर (दूसरी दर्भमुष्टि से सलग्न) वेदि के पश्चिमान्त भाग म इसप्रकार बिछावे जिससे कि मध्यमुष्टि क पश्चिमस्थ मूलभाग इस तृतीयमुष्टि के पूर्वस्थित अग्रभागों स आच्छादित होजायें। इसप्रकार वेदि के पूर्व भाग से स्तरण आरम्भ होगा। एवं तीनों स्तरणों म कुश क अग्रभाग पूर्व की ओर रहेगे तथा मूलभाग पश्चिम की ओर रहगा। साथ ही प्रथममुष्टि के मूलभाग म यमुष्टि के अग्रभागों से आच्छादित रहेग एवं म यमुष्टि क मूलभाग तृतीयमुष्टि के अग्रभागों से आच्छादित रहेग। इसी को त्रिवृत्स्तरण कहा जायगा। इस स्तरणकर्म्म का आरम्भ पूर्व से होगा एवं अवसान पश्चिम म होगा। इसी का पश्चादपवर्गपक्ष माना जायगा।

(दूसरा है प्रागपवग पक्ष। पहिले प्रथम दभमुष्टि को वेदि क पश्चिम भाग मे पत्र की आर अग्रभाग रखते हुए तथा पश्चिम की आर मूलभाग रखते हुए बिछाया जाता है। अन तर दूसरी दभमुष्टि बिछाते हु प्रथममुष्टि क अग्रभागों को ऊपर उठा कर नक नीचे दूसरी मुष्टि क मूलभाग दबा दिए जाते है। तृतीय मुष्ट पूव मे बिछाई जाती है। इसक मूलभाग भी मध्यमुष्टि क अग्रभागों के नोचे दबा दिए जाते है। इसप्रकार यह आस्तरण पश्चिम से आरम्भ होकर पूव म समा त होता है। इस पक्ष मे कुशाओं का परस्पर ओतप्रोतभावसा हाजाता है। जिसप्रकार लोक यवहार मे तृण द क छ पर बनाते हुए तृण-पूलकों का परस्पर दाब कर फलाया जाता है वैसे ही यह आस्तरणकम्म है। स्वय ऋषि ने (वेदम त्र न) भी सा पक्ष का समथन किया है। इसी द्वितीय पक्ष को उद्ध त करती हुई श्रुत कहती है)

अथवा प्रवह मर्य्यादा से (एक मुष्टि क अग्रभागों क नीचे दूसरी क मूल दबाते हुए) आस्तरण करना चाहिए। (क्योंकि)- स्तृणीत बहिर नुषक (ऋक् स १म सू ।५ म) परस्पर सम्बद्ध हि अध्वय्यु लोग बिछाते है यह मन्त्र इसी पक्ष का बतला रहा है। (दोनों पक्षो मे मूलभाग अध प्रदेश से युक्त रहै इसीप्रकार से फलाता है। (अर्थात बहि क मूलभाग अग्रभागों क नीच दबना उभयपक्ष मे ग्राह्य है) । इस प्रथिवी पर ओषधियाँ अधरमूलरूप से ही प्रतिष्ठित है। इसलिए (ओपाध-स्थानीय) बहि को (प्रथिवी-स्थानीय वोद पर) अधरमूलरूप स ही फलाता है ॥१ ॥

(७ ८ ६ १ इन चार कण्डिकाओं से बर्हि-स्तरण की उपपत्ति बतलाई गई। अब आगे की १ वीं कण्डिका से आवृत् (पद्धति) बतलाते है) यह अध्वय्यु ऊणम्रदस त्वा स्तृणामि स्वा सस्था देवेभ्य (यजु स ।२-ऊणासूत्र ऊन से बने हुए कामलस्पश कम्बल के समान स्पशवाली बनाने के लिए हे वेन्दिवते । आप पर हि बिछाता हू। आप दवताओं के लिए सुखपूवक बैठने के स न हों) यह म त्र बोलता हुआ बर्हिस्तरण करता है। देवताओं के लिए आप शोभना बनाई जाती है यही कहा गया है जोकि ऊणम्र स त्वा यह कहा गया है। स्वासस्था देवेभ्य इस म त्रभाग से आप दवत ओं के लिए सुखा मिका प्रतिष्ठाभूमि नाइ जारही है यही कहा गया है ॥ ११ ॥

---

४ आहवनायाग्नि का इध्म-काष्ठ से प्रबलीकरण—

वेद्यास्तरणान तर वह अ वय्यु आहवनीयाग्नि को । क्ल त (हविर्दहन समथ) करता है (अग्नि को काष्ठ से चिताता है)। यह आहवनीयाग्नि इस (पुरुषप्रातरूप) यज्ञ का मस्तक (स्था

। इस सम्ब ध में दो विक प है। कितनो ही के मतानुसार तो आहवनायाग्निकुण्ड में प्रतिष्ठित अङ्गारो की भस्म भाड़ कर अग्नि को प्रबल बना देना ग्राह्य है एव कितने एक याज्ञिक ओर का ठ डाल कर अग्नि प्रज्ज्वलित करत हैं। दोनो में इष्टापत्ति है। अग्निका प्रज्ज्वलन ही फलाश में अभिप्र त है। वस्तुतस्तु अगले ब्राह्मण में इस कम्म की इतिक र्व्यता समा त होती है। अत यहाँ काष्ठादि से भस्मापकरण ही अभिप्र त समझना चाहिए।

नीय) है। सर्वाङ्गशरीर मे शिरोभाग पूव (मे) है। इस कम्म से अ ग्न्यु पूवभाग (आहवनीया । नरूप शिरोभाग) को ही प्रबल बनाता है। (शिराभाग से पलान्वत मुखाग्नि ही आहुति का ग्राहक है। इसे ही इस कम्म से प्रदीप्त किया जाना है यही निष्कष है)। आहवनीयाग्नि क ऊपर ऊपर प्रस्तर हाथ मे रखता हुआ ही अग्नि को क्लान्त (प्रबल) बनाता है। यह प्रस्तरस्तुप कशासङ्घातलक्षणा शिखा ही) है। इसी को इस कम्म स इस प्रबली करण म समाविष्ट करता है। (शिखा भी(शिखास्थित ऊ र्वाग्नि भी) इस कम्म स प्रबल बन जाय) इसलिए प्रस्तर का ऊपर ऊपर धारण करता हुआ अ नि को प्रबल बनाता है। *॥ १ ॥

— * —

५—आहवनायकुण्ड के पश्चिम-उत्तर-दक्षिण प्रा त भागो मे पारधियों का स्थापन—

अग्निप्रबलीकरणानन्तर वह अ व यु (आहवनीयकुण्ड क पश्चिम उत्तर तथा दक्षिण के प्रा त भागों मे क्रमश तीन) परिधिया स्थापित करता है। सा जिसालए कि पारधियाँ स्थापित करता है-(उस की उपपत्ति वतलाइ जाती है)। (जिस समय) देवताओं न (प्राणविध पार्थिव आग्नय देवताओं न) जिस (अपन प्राकृतिक भूपण्ड सम्ब धी यज्ञ) म इस आग्न का हौत्रकम्म क लिए वरण किया-(वरण करने की इच्छा अग्नि से प्रकट की) उस समय अग्नि (प्रत्युत्तर मे यह) बोले कि मैं इस कम्म क लिए अपना उ साह नहा दिखला सकता जा क (म) आप का होता बनूँ एव जो कि आप क लिए (पृथिवी म द्युलोक पय्य त लेजान क लिए) हविर्द्र य का (भार) वहन करूँ। (आग्न न हौत्रकम्म म क्या अनु साह प्रकट किया ? इस का कारण बत लाती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है कि)-(अग्नि न अनु साह का कारण बतलाते हुए देवताओ से यही कहा कि)-हे देवताओ ! आपन मेर ही तीन पूवपुरुषों (मत्सजातीय तीन अग्निया) को (होत्रकम्म के लिए) वरण किया था (वरण करना चाहा था) और इसी विभीषिका से वे तीनों अग्नि पलायित होगए थे (अपना स्वरूप खो बैठे थे —)।

(प्रवरणकम्म की बिभीषिका से पलायित तथा स्वरूपत विकृत उन) तीना अग्निया को यदि आप (पुन) वापस (इस यज्ञ मे मेरी सहायता के रूप मे अविकृत बना कर) लौटा सकते है

---

* इसी सिद्धा त के आधार पर लोक में भोजन-व्यवहार के समय कहा जाता है कि अमुक भूदेव चोटी पर हाथ फेरते गए और भोजन करते गए । अवश्य ही भाजनवला म शिखा पर हाथ फेरते रहने से शिरोऽग्नि प्रदीप्त होता रहता है एव अन्नद्र य का आकषण स्थिर बना रहता है।

— ये ही पलायित अ नि यष्टिरूप से एकता द्विता त्रिता नामो से तथा समष्टिरूप से आप्त्या नाम से प्रसिद्ध हैं जिन का विशद वैज्ञानिक विवचन पूव के आप्त्याब्राह्मण में— चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास (शत १२।१।) इत्यादि रूप से किया जाचुका है। अग्नि के मौलिक स्वरूप ज्ञान की दृष्टि से आप्त्या विज्ञान अपना एक विशेष ही स्थान रखता है।

ता म (फिर भी य ाक अञ्चित् आप क) स हात्रकम्म क लि उ साह दिखला सकता हू जोकि (म) आप का होता न उ तथा आप क ह य का हन करन लगजाउ । (अ नि की स स धा (श त) का स्वीकार करते हुए देवताओ न कह दिया कि) ऐसा ही होगा। (तत्काल देव ताओ न) उन (पलायित अ नियो) का इस अ नि क लिए (यन म पुन अ िकृत बनाकर) लाटा लिया। व ही य ती प र िया है। (अर्थात् पलायित तीनो अ नियो क द्वारा यज्ञा नि को समृद्ध बनाने क लिए ही नि निधि से परिधिया स्थापित की जातीं है) ॥१३॥

(तीना पूर्वपुरुषा क यज्ञ म लाट आनेपर हौत्रकम्म में नियुक्त) अ नि यह बोले कि वषट् काररूप वज्र ने ही उन तीनो को पलायित किया था। म (स्वय भी) इस वषट्कार (रूप) वज्र से डर रहा हू कि कही यह वषट्कार वज्र मुझे भी (उन तीनो की भाति इस यज्ञ से) प्रथक् न करदे। (मरी दृष्टि म स व न के भय म वचन का यही सरल उपाय है कि आप लोग) न तीनों (पुन लौट हुए अ नियों) से ही (ताना आर स) घर लीजिए। (न के अङ्गरक्षक बन जाने पर) वषट् कारवज मुझे (यज्ञ से) प्र क न छा सकगा। देवताओ ने कहा—ऐसा ही हागा (तत्काल) देवताओन न तीनों स इसे सीमित कर दिया। परिणामस्वरूप वषट्कारवज्र (इस सीमित सुरक्षित) अग्नि का (यज्ञ से) प्रथक् न छाट सका। (यहा इस वधयज्ञ मे जो अ वर्यु हौत्र कम्म मे नियुक्त आहवनीयाग्नि क तीनों ओर पलायत अग्निया के प्रतिरूप म तीन परिधया स्थापित करता है) इस कम्म से यह इस अ नि के लि (रक्ष ा) वम्म (कवच) ही बाधता है जोकि इन तीनों से परिधान करता है। (हात्रकम्म म नियुक्त आहवनीयाग्नि की स्वरूप रक्षा क लिए ही परिधिया स्थापित की जातीं ह यही ता प य है ॥१४॥

(हौत्रकम्म म नियुक्त अ नि क कहने से पलायित उनतीना अ नयों को अङ्गरक्षक बनाने क लिए देवता जब यज्ञमण्डल मे ले आए तो) वे तोनों कहने लग कि यदि आप हमे इस यज्ञ क म मे नियुक्त करना चाहते है तो इस यज्ञ म (प्रयाजादि अन्य गाण देवताओं की भाति हमारा भाग (भागवेय भी नियत) होना चाहिए ॥१५॥

देवताओं न कहा) ऐसा ही होगा। (प्रतिज्ञानुसार तीनों के लिए भागधेय की यवस्था करते हुए) देवता कहन लगे कि (आहवनीय मे आहुति देते समय) जा आहुतिद्रव्य परिधिया क बाहिर जा गिरगा वह तुम म हुत होगा अर्थात् परिधि से बाहिर स्कन्न य तुह्मारा प्राति स्विक-असाधारण भागवेय समझा जायगा) इसके अतिरिक्त जो आहुतिद्रव्य ऋत्विग्गण तुह्मार (परिधियों के) ऊपर ऊपर डाल दगे वह तुह्मारी (स्वरूपरक्षा) रक्षा का कारण बनेगा। साथ ही ऋत्विक-गण जा य (साक्षात्) अ नि मे हुत करगे वह [भी]-[देवताओं के साथ साथ] तुह्मारी रक्षा करेगा।

(परिधि-स्थानीय पलायित अग्नियों के भागधेय के सम्ब ध मे आरम्भ म उक्त यवस्था हुई थी। एव यद्वै देवा अकुवस्तत् करवाणि यह आदेश है। इसलिए आज भी यज्ञों मे इन अग्नियों के लिए वही यवस्था चली आरही है। इसी यवस्था का उद्धृत करती हुई श्रुति कहती

है कि) । (सा जो कि) यह अ ध्वर्यु आह्वनीयाग्नि मे आहुति देता है यह (द्रव्य) इन परिधि स्थानीय अग्नियों की रक्षा करता है । जा द्रव्य इन परिधिया क ऊपर ऊपर डालता है वह (भी) इन की रक्षा करता है जा द्रव्य परिधियों स बाह् प्रदेश मे नागिरता है वह [इन का प्रातिस्विक भाग बनता हुआ] इनम हुत हाता है ।

स्कन्न–च्युत–आहुतिद्रव्य पलायित अग्नियों क लि प्रातिस्वक आहुति है इस सम्बन्ध म एक यह विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है कि यज्ञविज्ञानानुसार जो यज्ञिय द्रव्य उपयोगक्षेत्र से बाहिर होजाता है वह यज्ञकर्त्ता यजमान क शत्रु का भाग बनता हुआ यजमान क लिए अनिष्ट का ही कारण बनता है । इधर अग्निवृत्ति क लिए गाडा बहुत आहुतद्रव्य बहि प्रदेश म अवश्य गिराया जायगा । इस स्कन्न–दोष का क्या उत्तर ? । इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि]—[क्याकि देवताओंने स्कन्न द्रव्य को अग्नियों का भागधय नियत कर दिया है अत स्कन्न दोष नहीं माना जासकना]—इसीलिए यदि आहुतिद्रव्य बाहिर गिर जाय ता इसमे कोई अपराध [आग] नही [माना जायगा । [पलायित तीनों] अग्नि इसी प्रथिवी मे प्रविष्ट हुए है । [फलत स्कन्न द्रव्य प्रथिवी–प्रदेश पर गिरता हुआ इनकी तप्ति का कारण बनेगा न कि यह द्रव्य शत्रु का भागधेय बनेगा] । जो कुछ यज्ञिय द्रव्य गिरता है वह सब कुछ इसी प्रथिवी मे ही [तो] प्रतिष्ठित होता ह । [अत स्कन्नदोष का प्रकृत मे कोई अवसर नहीं है] ॥ १६ ॥

वह अध्वर्यु – भूपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूताना पतये स्वाहा यजु स २ ७] भूपति के लिए स्वाहा भुवनपति के लिए स्वाहा भूतपति के लिए स्वाहा है] यह मन्त्र बोलता हुआ [उस] स्कन्न [हविग्रहण करते समय परिधि के बहि प्रदेश म गिर हुए आहुत द्रव्य] का स्पश करता है । भूपति आदि ही उन [पलायित अग्निभ्रातर नाम से प्रसिद्ध] तीनों अग्नियों के नाम है । सो जैसे प्रधान देवताओं क लिए वषटकार से युक्त हविद्रव्य हुत होता है इसीप्रकार [उक्त मन्त्रप्रयोगपूवक स्कन्नद्रव्य क स्पश से] इन अग्नियों मे हुत बन जाता है । [तात्पर्य यही है कि–स्वाहाकार च वषट्कार च देवा उपजीवन्ति इस श्रुति क अनु सार स्वाहा वौषट् पूर्विका आहुति का सम्बन्ध देवताओं क साथ माना गया है । तीनो अग्नियो क लिए स्वाहा प्रयोग पूर्वक स्कन्न द्रव्य का स्पश करना इह देवताओं की भाति ही आहुति देते हुए देवकोटि म स्थापित करता है । ॥ १७ ॥

[परिधियाँ किस लकडी की बनाई जायँ ? इस प्रश्न की मीमासा की जाती है] कितन एक याज्ञिक [अग्निसमिन्धन क लिए यज्ञसस्था मे गृहीत] इध्म की [लकडियों से ही] इन परिधियों का परिधान करते है [अर्थात् जो काष्ठसभार आहवनीयाग्नि क समिन्धन क लिए आया है इनके मतानुसार इसी मे से परिधियों क लिए लकडी ले लेनी चाहिए] ।

[इस पक्ष का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि] सो एसा कभी न कर । [अर्थात् इध्मसभारकाष्ठ से परिधियाँ न बनाई जायँ] उस यजमान के लिए य परिधिया [परि

धानलक्षण कर्म्म के लिए] असमर्थ होता है जिह इ मकाष्ठ की बनाया जाता है। केवल अ याधान [अग्निसमि धनाथ आ॰नीय म स्थापनाथ] ही इ म का ग्रहण किया जाता है। [जब इ मकाष्ठ केवल अग्निसमि धनोद्द श्य से ही यज्ञसस्था म सगृहीत है तो इससे दूसरा काम नहीं लिया जासकता। यदि इ मकाष्ठ की परिधिया बनाई जायँगी तो इन से कभी प रि धान लक्षण कर्म्म सिद्ध न होगा]। उसी यजमान क लिए ये परिधिया स्वपरिधानकर्म्म मे समर्थ होतीं है जिस यजमान के लिए ऋत्विकगण अ य काष्ठ की य परिधियां है इस रूप से [स्व-तन्त्ररूप से] ग्रहण करते है। इसलिए [परिधियां क लि] दूसरी ही परिधिया लेनी चाहिए।

वे परिधिया – पलाश की लकडियों की होनी चाहिएँ। पलाश निश्चयेन ब्रह्म [ब्रह्म वीर्य्यप्रधान] है। [इधर] अग्नि [भी] ब्रह्म ब्रह्मवीर्य्यप्रधान] है। य परिधिया [प्रति-रूपम योनि से] आ नेय हीं है। इस सजातीय सम्बन्ध से य पलाश की ही होनी चाहिएँ॥१६॥

यदि पलाश की न मिले तो विकङ्कत का ठ की होनी चाहिए। यदि वकङ्कत सम्भव न हो तो कार्ष्मर्य मी होनी चाहि । यदि कार्ष्मर्य्य न मिल तो बिल्वकाष्ठ की होनी चाहिए। [ये भी न मिले तो] खदिरकाष्ठ की [होनी चाहिए]। [यदि खदिर भी उपलब्ध न हो तो] उदुम्बरकाष्ठ की परिधियाँ [होनीं चाहिए]। य [परिगणित] वृक्ष यज्ञिय है। इसलिए इन वृक्षों [म से किसी एक] की ही परिधिया होतीं है * ॥२ ॥

तृतीय आध्याय मे तृतीय, ब्राह्मण
एव द्वितीय-प्रपाठक मे ६ठा ब्राह्मण
समाप्त
द्विब्राह्मणानुगत—इध्मब्राह्मण यहाँ उपरत

द्वितीय-प्रपाठक-समाप्त

२

+ इन यज्ञिय वृक्षो का विशेष विवरण विवेचना म किया जायगा।

* यद्यपि ब्राह्मणग्र थ की मर्य्यादा के अनुसार यही ब्राह्मण समा त ो जाता है। तथापि प्रकरणसाम्य की दृष्टि से हमने इस स अगले ब्राह्मण का भी इसी ब्राह्मण के सा समावेश कर लिया है। प्रकृत ब्राह्मण की १३ वी कण्डिका से जिस **परिधि परिधान** प्रकरण का आरम्भ हुआ है वह तृतीय प्रपाठकके प्रथम ब्राह्मण की ४ थी कण्डिका पर समा त हुआ है इस के आगे जो कर्म हैं व भी परिशिष्ट स्थानीय बनते हुए हुए इसी से सम्बद्ध है। अत दोनो ब्राह्मणो की एक साथ ही व्याख्या करना उचित मान लिया गया है।

तृतीय—अध्याय मे चतुर्थ ब्राह्मण एव तृतीय प्रपाठक मे प्रथम ब्राह्मण उपक्रान्त द्विब्राह्मणानुगत—'परिधिब्राह्मण'

वे परिधिया आर्द्र [गाले काष्ठ की] होनीं चाहिए । आ भाग ही न [काष्ठों का] जीवन [जीवनलिङ्ग–जीवतरूप] है । इसी आ भाग स य काष्ठ [स्नायवयवों से] कान्तियुक्त बन रहते हैं । इसी आ भाग स य काष्ठ [शुष्ककाष्ठ की अपेक्षा] वीर्य [विशेष प्राणशक्ति से युक्त] बने रहते है । इसलिए परिधिया आर्द्र होनीं चाहिएँ ॥१॥

[परिधिग्रहण क स ब ध मे उपपत्ति जाति स्वरूप पक्षान्तर आदि जो कुछ विशेष बतलाना था बतला दिया गया । अब पद्धति बतलाते है]–वह अ वर्यु सब मे पहले – गन्ध वस्त्वा विश्वावसु परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरसि अग्निरिड ईडित [यजु स ।३–विश्वरक्षा के लिए विश्वावसु नाम का गन्धर्व आप का स्थापित कर । आप यजमान की परिधि है अग्नि है अतएव स्तुत्य है होत्राग्नि के द्वारा इडित स्तुत है] यह मन्त्र बोलता हुआ म य को * परिधि को प्रतिष्ठित करता है । [आहवनीय का पश्चिम भाग ही इस परिधि से युक्त होता है] ॥२॥

पश्चिम परिधि-स्थापनानन्तर— इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित [जु स ।३–विश्वरक्षा के लिए आप इन्द्र की दाहिनी बाहु हैं] यह मन्त्र बोलता हुआ आहवनीय की दक्षिण लेखा पर दूसरा परिधि स्थापित करता है ॥३॥

दक्षिण–परिधि स्थापनानन्तर— मित्रावरुणौ वात्तरत परिदत्ता ध्रुवेण धर्मणा विश्व स्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड इडित [यजु म २।३–ह उत्तरपरिधे ! विश्व की रक्षा के लिये अपने स्थिर धर्म से मित्रावरुण–देवताओं न आपको उत्तरदिशा मे प्रतिष्ठित किया है] यह मन्त्र बोलता हुआ आहवनीय की उत्त लेखा पर तीसरी परिधि स्थापित करता है ॥४॥

---

* यजमान के स्क ध प्रदेश से आर भ कर बाहुप य त इनका लम्बाइ में परिमाण होता है । आकार में मोटी होती हैं एव स्वरूपत गीली होती हैं ।

६–आहवनीयाग्नि में समिध-स्थापन—

[पूर्वब्राह्मण की– अथाग्नि कल्पयति इत्यादि १२ वीं कण्डिका में यह स्पष्ट किया गया है कि आहवनीयाग्नि को हविर्वहन में समर्थ बनाने के लिए यज्ञसम्भार में गृहीत इध्म–सम्भार में से काष्ठ लेकर उससे आहवनीयाङ्गारों का भस्म पृथक कर उसे प्रबल बना दिया जाता है। इस प्रकार इध्मभार से गृहीत जिस समिध (एतन्नामक काष्ठ) से परिधिस्थापन से पूर्व आग्निप्रबलीकरणकर्म्म किया जाता है उसी समिध का अब परिधिस्थापनानन्तर–आहवनीय में प्रक्षेप करना ही–समिधाधानकर्म्म कहलाया है। प्रकृत प्रकरण इसी विषय का स्पष्टीकरण कर रहा है]।

[इस समिध का पूर्वाघार से सम्बन्ध है अतएव इसे– पूर्वाघारसमिधाधानकर्म्म भी कहा जासकता है। आहवनीयकुण्ड की वायव्य दिशा से आरम्भ कर आग्नेय दिशा पर्यन्त अविच्छिन्न धारा से जो होम होता है वही पूर्वाघार कहलाता है। यह पूर्वाघारकर्म्म जिस आग्नेयीदिक समाप्ति पर समाप्त होता है वहीं इस समिध का आधान होता है। इस परिस्थिति का सामने रखते हुए ही प्रकृत प्रकरण का समन्वय करना चाहिए]।

परिधिस्थापनानन्तर वह अध्वर्य्यु [आहवनीयाग्नि के पूर्वाघार समाप्त प्रदेश में] समिध डालता है। [आहवनीयाग्नि में समिध डालने से पहिले] वह अध्वर्य्यु पश्चिमभागस्थित मध्य की परिधि का [हस्तगृहीत समिध से] स्पर्श करता है। इस स्पर्शकर्म्म से अध्वर्य्यु अग्निभ्रातर स्थानीय परिधिरूप अग्नियों का ही पहिले समिन्धन करता है। अनन्तर उस समिध को आहवनीय अग्नि में डालता है। इस उत्तरकर्म्म से यह अध्वर्य्यु अग्नि को साक्षात् रूप से समिद्ध करता है ॥५॥

(अब पद्धति बतलाते है)–वह अध्वर्य्यु (परिधिस्पर्शकर्म्मानन्तर) वीतिहोत्र त्वा कवे द्युमन्त समिधीमहि अग्ने बृहन्तम् अध्वरे (यजु स २।४ यज्ञसमृद्धिप्रवर्तक तथा सर्वज्ञ तेजोराशियुक्त तथा महान् ऐसे हे अग्ने ! इस यज्ञकर्म्म मे मैं आपको इस समिधाधान से प्रदीप्त कर रहा हूं) इस गायत्रीमन्त्र से आहवनीयाग्नि में समिध डालता है। इस समिन्धनकर्म्म से अध्वर्य्यु गायत्री छन्द को ही प्रदीप्त कर रहा है। वह गायत्री (इस कर्म्म से) प्रदीप्त बन कर दूसरे (सहयोगी त्रिष्टुप् जगती अनुष्टुप) छन्दों को प्रदीप्त करता है। (परम्परया) प्रदीप्त छन्द देवताओं के लिए यज्ञ (आहुतिद्रव्य) का (द्युलोक में) वहन करते है ॥६॥

प्रथमसमिधाधानानन्तर जिस दूसरी समिध को अध्वर्य्यु (आहवनीयाग्नि में) डालता है उससे वसन्त-ऋतु को ही प्रदीप्त करता है। (समिन्धनकर्म्म से) वह वसन्त प्रदीप्त होकर अन्य ग्रीष्मादि ऋतुओं को प्रदीप्त करता है। (परम्परया) प्रदीप्त ऋतुएँ प्रजा उत्पन्न करतीं है और ओषधियों का परिपाक करतीं है। (द्वितीय समिधाधान की यही उपपत्ति है। अब पद्धति बतलाते है)–वह अध्वर्य्यु समिदसि (यजु स २।५ हे वसन्त ! आप अग्नि का प्रज्ज्वलित करने के कारण समित् है) यह मन्त्र बोलता हुआ समिधाधान करता है। (वसन्त से क्योंकि अग्नि का समिन्धन आरम्भ होता है) अतः निश्चयेन वसन्त समित् है ॥७॥

इसप्रकार आघारसमिदभ्याधान करके अ यर्यु (आहवनीय की ओर देखता हुआ— सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्य (यजु स ।५ हे आहवनीयाग्ने ! सूर्यदेवता पूर्वदिशा की ओर से (होने वाले) किसी भी (आसुर) हिंसा कर्म्म से आप की रक्षा करें) इस मन्त्र का जप (स्वरसंधानपूर्वक उच्चारण) करता है आहवनीयाग्नि की रक्षा के लिए ही (क्रमश इस के पश्चिम-दक्षिण-उत्तर प्रान्ता में) परिधियां प्रतिष्ठित रहती हैं। (इन तीन परिधियों से तीनों दिशाए तो इस अग्नि के लिए सुरक्षित हाजानी हैं। पूर्वदिशा शेष रहती है)। पूर्व की ओर से (समृद्धिनाशक) नाष्ट्रलोग तथा समृद्धि के अवरोधक राक्षसलोग इस अग्नि को हानि न पहुचा सके इसलिये (इस मन्त्रजपकर्म्म से) पूर्व की ओर से ही सूर्य्य को (इस अग्नि का) रक्षक बनाता है। सूर्य निश्चयेन नाष्ट्रा तथा राक्षसों का नाशक है ॥८॥

(अनुयाजकर्म्म से पहिले अग्नि समिन्धन के लिए एक समिध आहवनीय में और डाली जाती है। क्योंकि समिधाधानप्रकरण चल रहा है अत समान-प्रसङ्ग से उस अ याधान का भी यहाँ विधान बतलाती हुई श्रुति उसकी उपपत्ति बतला देती है)—

जिस तीसरी समिध का अ वर्यु अनुयाजकर्म्म में आधान करता है इस तीसरी समिध से (यज्ञकर्म्मेतिकर्त्तव्यतामञ्चालक) ऋत्विग ब्राह्मण को ही प्रदीप्त करता है। वह ब्राह्मण इस कर्म्म से प्रदीप्त होकर देवताओं के लिए यज्ञ का वहन करता है (समर्थ बनता है) ॥९॥

७-उत्तराग्र दो पवित्रों का वेदि पर स्थापन—

इसप्रकार परिधिपरिधान-समिधाधानादि आहवनीयानुगत कर्म्म करने के अनन्तर वह अ वर्यु (आहवनीय की ओर से) कुशास्तरणयुक्त वेदि की ओर लौट आता है। (वहाँ आकर बर्हि में से) दो पवित्र [दर्भतृण] लेकर इन्हें [वेदि के ऊपर बिछे हुए पश्चिम भागस्थ कुशा समूह पर उत्तर की ओर अग्रभाग करते हुए] सवितुर्बाहूस्थ (यजु स २।५ हे * तृण ! आप सविता के बाहू हैं) यह मन्त्र बोलता हुआ तिर्य्यग्रूप से रखता है। [इन्हें रखने का प्रयोजन बतलाती हुई श्रुति कहती है)-(वेदि पर रक्खा हुआ कुशमुष्टिलक्षण) प्रस्तर स्तुप (शिखा-स्थानीय) है एव अ य बर्हि कुश लोम स्थानीय हैं। अब केवल दोनों भ्रुवा (भौंहों) का प्रतिरूप बच रहता है। इस विधृती-स्थापनकर्म्म से अ व र्यु इसके दोनों भ्रव ही तिर्य्यग्रूप से प्रतिष्ठित करता है। (अर्थात् ये दोनों दर्भतृण भ्रुवा के ही प्रतिरूप हैं। क्योंकि ये तिर्य्यग्रूप से प्रतिष्ठित किए जाते हैं) अतएव ये दोनों भ्रव (आ यात्मिकी पुरुषसंस्था में) तिर्य्यक ही हैं। क्योंकि ये तृण भ्रुव के प्रतिरूप हैं इधर आ यात्मिक यज्ञ में भ्रव तिर्य्यग्रूप से ही प्रतिष्ठित रहते हैं इसलिये भी इन्हें सवधयज्ञ में तिर्यग् रूप से ही प्रतिष्ठित किया जाता है। इसके अतिरिक्त

---

* ये दर्भतृण **विधृती** नाम से प्रसिद्ध हैं।

ति यगरूप स प्रतिष्ठित करने का एक दूसरा यह भी कारण है कि) वेदि पर प्रतिष्ठित प्रस्तर (निदानेन) क्षत्र (शास्ता राजा) है एव निचली हुई इतर बर्हि (निदानेन) विट् (शासित-प्रजा) है। इस प्रस्तररूप क्षत्र तथा बर्हि-रूप विट् दोनो की प्रतिष्ठा के लिए ही (दोनो की स्वरूपरक्षा क लिए पारस्परिक सम्ब ध क लिय ही तिर्यक स्थापन उचित है)। इसलिय इ ह तिर्यग्रूप स ही प्रतिष्ठित करता है। इस (विधरणस्म्म क सम्ब ध) म ही इन तृणो को (यज्ञविज्ञान-परिभाषा मे) विधृती नाम से व्यक्त किया गया है ॥१ ॥

८—विधृती के ऊपर प्रस्तर को फैलाना—

(वेदिस्थित बर्हिस्तरण क ऊपर पश्चिम भाग मे प्रतिष्ठित किय गए उन दोनों विधृती नामक दर्भतृणो पर) वह अ ध्वर्यु- ऊर्णम्रदस वा स्तृणामि स्वासस्थ देवेभ्य (यजु स ।५-देवताओं के लिए सुखपूर्वक बैठने योग्य ऊर्णासूत्र स निर्मित कम्बलवत् मृदुस्पर्श ऐसे आपका-प्रस्तर का-बिछाता हू) यह म त्र बोलता हुआ (उस द र्भमुष्टिलक्षण) प्रस्तर को फैलाता है। आप देवताओं के लिये साधु मृदुस्पर्श हैं यही कहा गया है ताकि ऊर्णम्रदस-त्वा यह कहा गया है। स्वासस्थ देवेभ्य इस म त्रभाग से आप देवताओं के लिये अच्छी बैठक हैं यही कहा गया है ॥११॥

९-दोनो हाथो स प्रस्तर का स्पर्श करना--

म त्रपूर्वक प्रस्तर-स्तरणान तर वह अ ध्व यु- आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्या स न्तु (यजु स ।५ सवनत्रयाधिष्ठाता वसु रुद्र आदित्य देवता आपको प्रस्तर का देवप्रतिष्ठा के लिए सब ओर फैलाव) यह म त्र बोलता आ स्तीर्ण प्रस्तर पर अपने दोनो हाथ रखता है ॥ १२ ॥

---

१ —प्रस्तर का बाए हाथ से स्पर्श किए हुए स्रुचों का दहिन हाथ से ग्रहण तथा प्रस्तर पर स्थापन—

वह अ ध्वर्यु प्रस्तर क साथ अपने वामहस्त का सम्ब ध बनाए हुए ही रखता है (हुआ) ॥१२॥ दहिन हाथ से जुहू का ग्रहण करता है । नाष्ट्रा राक्षसगण (दोनो क मध्य मे) पहिले (ब्राह्मणशरीर क नाष्ट्रा राक्षस नाशक दि यप्राण के सम्ब ध होने से पहिल) प्रविष्ट न हाजाय (इस उद्देश्य से ही प्रस्तर क साथ हस्त सम्ब ध बनाए रखते हुए ही जुहू ग्रहण करता है)। ब्राह्मण निश्चयेन राक्षसा का नाशक है । इसीलिए (करस्पर्श क द्वारा अविच्छिन्नरूप से दि य शक्ति का प्रवेश सुरक्षित रखने के लिए) स य हाथ से स्पर्श बनाए रखता है ॥१३॥

अन तर हा- घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना (यजु स २।६। ह जुहू ! आप (स्वरूप से ता] घृत से परिपूर्ण है (एव नाम से जुहू (आहुति देने वाली) है यह मन्त्र बोलता हुआ दक्षिण

हाथ से आग्नीध्र के द्वारा समर्पित) जुहू का ग्रहण करता है। निश्चयेन जुहू (घृत प्रा न के कारण) घृताची है साथ ही यह नाम से निश्चयन जुहू (आहुति देने वाली) है। (ग्रहणानन्तर वह अ ध्यु) – सेन प्रियेण धाम्ना प्रि । सन आसीन –[यजु स ।६। एवा आप अपने प्रिय नामरूप आज्य के साथ इस प्रस्तर पर िराजिए यह मन्त्र बोलता हुआ इस जुहू को वेदि-स्थित प्रस्तर पर रख देता है। इसके अनन्तर वह अ ध्यु घृ ।च्यस्युपभृन्नाम्ना (यजु स २। । हे उपभृत् आप घृताची हैं नाम से जुहू के उ ।लमो र रह कर आ य लेने से उपभृत है) यह मन्त्र बालता हुआ उपभृत् का ग्रहण करता है। यह सचमुच घृताची है एव सचमुच नाम से उपभृत् है। अनन्तर सेन प्रि ।ण धाम्ना प्रि । सद आसीन (यजु स २। ६) यह मन्त्र बालता हुआ इसे प्रस्तर पर रख देता है। उपभृदग्रहण स्थापनानन्तर वह अ ध्यु घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना (यजु स २।६ ह ध्रुवा ! आप घृताची हैं एव आमरू स एक स्थान पर प्रतिष्ठित रहने के कारण लोक में यथा ।न ध्रुवा नाम से प्रसिद्ध हैं) यह मन्त्र बालता हुआ ध्रुवा का ग्रहण करता है। अनन्तर– सेन प्रियेण धाम्ना प्रिय सन आसीन (यजु स ।६) यह बोलता हुआ इसे प्रस्तर पर रखता है। (इसप्रकार नाम हाथ से प्रस्तर से सम्बन्ध बनाए रखता हुआ अ ध्यु क्रमश आग्नीध्र से अपन दाहिन हा । मे जुहू उपभृत्-ध्रुवा लेता जाता है और वदि क पश्चिम भाग म बिछे हुए प्रस्तरासन पर ह रखता जाता है)। इन तीनों से अतिरिक्त जो पुरोडाशादि हविद्रव्य है उन्हे भी सेन प्रियेण धाम्ना ि य सन आसीन यही मन्त्र बोलता हुआ प्रस्तर पर रखता है–(अन्य ग्रहण) ॥१४॥

[स्रुचों क सादनकर्म्म म विशषता बतलाती हुई श्रुति कहती है] वह अध्वर्यु प्रस्तर क ऊपर तो जुहू रखता है एव अ य [उपभृत्–ध्रुवा] स्रुचा को प्रस्तर से नीच बर्हि पर रखता है। कारण यही है कि [निगमेन] जुहू क्षत्र है एव अ य स्रुक् विट् हैं। [जुहूरूप] क्षत्र को ऊपर तथा उपभृत् ध्रुवारूप विट् को नीचे रखता हुआ] अ ध्यु क्षत्र को ही विट् से श्रेष्ठ ऊँचा बैठने वाला बनाता है। अतएव ऊचे आसन पर बिराजमान क्षत्रिय राजा की नीचे से खड खड प्रजा उपासना किया करती है। इसी प्राकृतिक नियमानुसार जुहू को प्रस्तर क ऊपर रखता है एव अ य स्रुचा का नीच [रखता है] ॥१५॥

११–स्पर्शकर्म्म—

[अनन्तर वह अध्वर्यु– ध्रुवा असमन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञ पाहि यज्ञपतिम् [यजु स २।६–यज्ञ को योनिरूप कर्म्मसमाप्ति पर्यन्त निश्चल रूप से प्रतिष्ठित रहने वाले जो हविद्रव्यादि यहा प्रतिष्ठित हुए हैं हे विष्णो ! आप उनकी रक्षा करें एव यज्ञपति यजमान की रक्षा करें] यह मन्त्र बोलता हुआ आज्यस्थालीस्थ आज्य का जुह्वादिस्थित का एव पुराडाश आदि का उपयोगक्रम स स्पश करता है। इसी कर्म्म का मन्त्र-खण्डरूप से प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है]—

वह अ वर्यु ध्रवा असदन् यह म त्र बोलता हुआ आ यादिका स्पश करता है। य द्र य कम्मसगाप्नि प य न निश्चलरूप से ही प्रतिष्ठित है। (म त्र का अगला भाग है)- ऋतस्य योनो यह। यज्ञ ही ऋत की यानि है। यज्ञ पर ही य जुह्वादि प्रतिष्ठित है। (मन्त्र क अग ला भाग है) वि णो पाहि पाहि यज्ञ पाहि यज्ञ तिम् यह। इस से (यज्ञरक्षा क साथ ही) यज मानरक्षा के लिए प्रा नना की गई है।

अनन्तर- पाहि मा यज्ञ यन (यजु स २।६। यज्ञकम्म को अग्रगामी बनाने वाले मुझ ऋत्विक् की भी रक्षा कर) यह म त्र बोलता हुआ अ यर्यु स्वय अपने शरीर का स्पश करता है। इस कम्म से यह अपने आप को भी यज्ञ से बाहिर नहीं करता है। विष्णु को ही यज्ञ कहते है। यज्ञ की रक्षा म हीं रक्षाथ (इस स्पशक म से) सब को प्रतिष्ठित करता है। इसी अभि प्राय से- हे विष्णो! आ रक्षा कर! यह कहा गया है ॥१ ॥

प्रथमकाण्डानुगत तीसरे अध्याय का चौथा ब्राह्मण एव तीसरे प्रपाठक का पहिला ब्राह्मण उपरत "परिधि-ब्राह्मण" समाप्त द्विब्राह्मणात्मक-इध्म-परिधि ब्राह्मण-उपरत

इति-मूलानुवाद

सूत्रप्रदर्शित-पद्धतिमगृह —

१-इध्म वेदि बर्हिषा प्रोक्षणम्

आ यग्रहण क अन तर वेदिम य से आ यस्थाली लेकर उसे किसी सुरक्षित स्थान मे रख दिया जाता है। अन तर अ निसमि धन क लिए यज्ञसस्था म गृहीत र जु से बँधे हुए इ मभार (काष्ठभार) की ग्र ि खोलता है। ग्र ि खोलने के अन तर प्रोक्षणकम्म क लिए ब्रह्मा से- ब्रह्मन्! इ म प्रोक्षिष्यामि इन श दों म आज्ञा मागता है। ब्रह्मा - ओं प्रोक्ष यज्ञ देवता व य व नाकस्य पृष्ठ यजमानोऽस्तु। सप्त ऋषीणा सुकृता यत्र लोकस्तत्रेम यज्ञ यजमान च धेहि (का श्रौ । ।८) यह चुपचाप बोलता हुआ- ओं प्रोक्ष इन श दों म प्रोक्षणकम्म की आज्ञा देता है। सी अध्वर्यु कृत प्रोक्षणकम्म की इतिकर्त्त यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते है—

'इध्म प्रोक्षति विस्र स्य वेदिं च, बर्हि प्रतिगृह्य वेद्या कृत्वा पुरस्ताद्ग्रथि— कृष्णोऽसि' इति प्रातम त्रम्" (का श्रौ सु २।७।१६)।

स्वस्थान पर प्रति ष्ठत इध्म की ग्रन्थि खोलकर— ओं कृष्णास्याखरेष्ठाऽग्नये त्वा जुष्ट प्राक्षामि यह म त्र बोलता हुआ अ वर्य्यु इध्म का (प्रणीता-पात्रस्थ प्रणीताजल स कुशा के द्वारा) प्रोक्षण करता है इ मप्रोक्षणान तर- ओं वेदिरसि हिषे त्वा जुष्ट प्रा नामि यह मन्त्र बोलता हुआ वेदि का प्रोक्षण करता है। वदि-प्रोक्षणान तर आ नीध्र नामक ऋत्विक् से सापे गए बर्हि नामक कुशा को लेकर इ वा क ऊपर (बर्हिग्रन्थि को पूव की ओर रखता हुआ) रखकर प्रोक्षणकम्म के लिए ब्रह्मा से- ब्रह्मन्' हिं प्रोक्षिष्यामि इन श दों मे आज्ञा मागता है ब्रह्मा- ओं प्रोक्ष यज्ञ दवता वधय व इ यादि म त्रपाठानन्तर ओं प्रोक्ष न श दा मे आज्ञा देता है। इस म त्र से अनुज्ञात अ वर्य्यु ओं बर्हिरसि स्र ग्भ्यस्त्वा जुष्ट प्रोक्षामि यह बोलता हुआ वेदिस्थ बर्हि का प्रोक्षण करता है। अग्नि क अभाव म अवभथेष्टि मे तथा परि-श्रितकम्म मे इ म का प्रोक्षण नहीं होता। एव गृहमधीयकम्म म (का श्रासु ५।६।६।२५) क्योंकि बर्हिस्तरण नहीं होता अत वहा वेदि का प्रोक्षण नही होता। प्रोक्षणकम्म क सम्ब ध मे यह प्रासङ्गिकी विशषता समझनी चाहिए।

—*—

२-प्रोक्षणी शेषण बर्हिमूलोपसेचनम

प्रोक्षणकम्म के अन तर वह अ वर्य्यु प्रोक्षणीपात्र म बाकी बच हुए जल को ओं अग्नि-ये त्युन्नमसि यह मन्त्र बोलता हुआ कुशा के मूल भाग म डाल देता है। यही बतलाते हुए सूत्रकार कहते है—

'शेष मूलेषूपसिञ्चति- अदित्यायुदन मित' (का श्रा सु २।७।१७)

३-पवित्र प्रणीतासु निधाय बर्हिष पुरस्तात प्रस्तरग्रहणम

मूलोपसिञ्चनकम्म क अन तर अपने हाथ से प्रणीता-पात्रस्थ जला म दो दभतृण रखता है। अन तर वेदि पर स्थित बर्हि की गाँठ प्रथक करता है। अन तर बर्हि क पूवभाग से कुशामुष्टि का ग्रहण करता है जो कि कुशामुष्टि प्रस्तर नाम से यवहृत हुई है। बर्हिपूलक से प्रस्तर नामक कुशामुष्टि क ग्रहण के लिए ही क्योंकि ओं विष्णा स्तुपोऽसि यह म त्र विहित है अतएव जहाँ पितृयज्ञ मे प्रस्तर का बर्हि से प्रथक् करण नही होता वहाँ- प्रस्तर उपसबद्ध (का श्री ५।२।२७) इस सिद्धा त क अनुसार पहिले से बद्ध प्रस्तर का ही ग्रहण होजाता है। फलत पितृ यज्ञ में प्रस्तरग्रहणकाल मे म त्र-प्रयोग नहीं होता। प्रस्तरग्रहण की ऐसी इतिकत्त यता का स्पष्टी-करण करते हुए सूत्रकार कहते है—

"पवित्रे निधाय प्रणीतासु, बर्हिर्विस्र स्य पुरस्तात्-प्रस्तरग्रहण- विष्णा ' रिति" (का श्री सू २।७।१८)।

—*—

४–वेद्या बर्हिषा त्रिवृत स्तरणम

प्रस्तरग्रहण क अनन्तर वह अ वर्यु स्वहस्त मे गृहीत प्रस्तर ब्रह्मा को साप देता है। वेदिस्थित बहिपूल क की ब धनरज्जु का वेद की दाहनी श्रोणि पर उसे रखकर अन्य बर्हि–तृणा से ढाक दता है। अन तर– ओं ऊणम्रदस त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्य यह मन्त्र बोलता हुआ वेद पर तीन बार करक प्रागग्र कुश बिछाता है। यही त्रिवृत्–स्तरणकम्म कहलाता है जसा कि सूत्रकार कहते ह—

'ब्रह्मणे प्रदाय सन्नहन विस्रस्य, दक्षिणस्या वदिश्रो ो निदाय अ यरव छाद्य वेदिं स्तृणाति—' ऊर्णम्रदस मित त्रिवृत' का० श्रा० सू २।७।१९)।

अथवा त्रिवृत स्तरण न कर जितने तृणो से वदि इसप्रकार ढक जाय जिससे वेदि का मृण्मय प्रदेश न दिखाइ पड ऐसे घनरूप से स्तरणकम्म करना चाहिय। इसी पक्षा तर का उद्ध त करते हु सूत्रकार कहते हे —

'उपपत्या वा बहुलम् ' का श्रा सू २।७।२०

स्तरण क स ब ध मे यह विशेषता है कि बर्हि क मूलभाग अध रहने चाहिएँ। कहा गया है कि तीन कुशमुष्टिया बिछाइ जातीं हैं। पहिले जो मुष्टि बिछाई जाती है उसक मूलभागों को दूसरी मुष्टि क अग्रभागो से तथा दूसरी क मूलभागों का तीसरी मुष्टि क अग्रभागों से आच्छादित करदेना चाहि । इसप्रकार अधरमूलपद्धति स स्तरणकम्म करना चाहिए। इस विशषताक अतिरिक्त पश्चादपवग रूप स दूसरी विशेषता और होती है। वेदि के पूवभाग से तो स्तरणकम्म का आरम्भ होना चाहिए एव पश्चिम भाग मे अवसान करना चाहिए। यही पश्चादप वगस्तरणा मक एक पक्ष है। अथवा प्रागपवग रूप से भी आच्छादन किया जासकता है। इस पक्ष म पूव–पूव स्तृत बहि क अग्रभागों से पश्चात् स्ती यमाण बर्हि क मूलभागों का आच्छादन करना चाहिए। स्तरणकम्मानुगत इन्हीं तीना विशेषभागो का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते है—

'अधरमूलम्'' पश्चादपवगम्'' 'प्रवृह वा ' (का श्रा सू २।७।२१ २,२३)

— — ❋— — —

५–आहवनीयकल्पनात पूर्व हविषामुद्वासनम

हवि परिपाक क सम्बन्ध मे दो पक्ष माने गए है। गार्हपत्याग्नि मे हवि परिपाक करना– एक पक्ष है। एव आहवनीयाग्नि मे परिपाक करना एक पक्ष है। जो आहवनीय परिपाक का अनु गामी है उस यजमान क यज्ञ म इस स्तरणकम्म क अन तर हविरुद्वासन कर्म्म होना चाहिए। स्तरणकम्म के अन तर ही इ मादि से अग्नि को प्रबल बनाया जाने वाला है। यदि इस कम्म क

पीछे उद्वासनकर्म्म किया जायगा तो हविर्द्रव्य के जलने का भय रहगा। अत अग्नि-प्रज्वलन (जलन) से पूर्व ही उद्वासन कर लेना उचित है। जो गार्हपत्यपक्ष का अनुगामी है वह उद्वासन कब करे ? इसका निर्णय आगे (का २।८।१८) होने वाला है। आहवनीयश्रापी यजमान के यज्ञ मे इसी उद्वासनकर्म्म का सम्बन्ध बतलाते हुए सूत्रकार कहते है—

'अत्रोद्वासनमाहवनीयश्रापिणः' (का श्रौ सू २।७।२४)

——*——

६–सामत्-प्रक्षेपेणाहवनीयस्य समर्थीकरणम्

हविरुद्वासन-कर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्यु इध्मभार म से एक समिध लेकर तथा ब्रह्मा से प्रस्तर लेकर आहवनीयाग्निकुण्ड के ऊपर समीप से प्रस्तर अपने हाथ म रखता हुआ उस समिध के आघात से आहवनीयकुण्ड मे प्रतिष्ठित काष्ठादि का भस्म अलग कर अग्नि को प्रबल बनाता है। इध्म से होने वाला यह समर्थनकर्म्म क्योंकि अग्नि से ही सम्बन्ध रखता है न कि अप् से तथा परिश्रित् से। अतएव अप् मे और परिश्रितों मे यह कर्म्म नहीं होता है। इसी समर्थन-कर्म्म का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते है—

'इध्मान् समिधमादायाहवनीयं कल्पयति
उपर्युपरि प्रस्तरं धारयन्" (का श्रौ सू० २।७।२५।)।

——*——

७–अनुयाजार्थमुल्मुकयोराहवनीयान्निष्काशनम्

अग्निसमर्थीकरण के अनन्तर प्रज्वलित अग्नि में से दो उल्मुक लिए जाते है। छन्दो-देवता से सम्बन्ध रखने वाला अनुयाजकर्म्म वैकल्पिक माना गया है। यदि अनुयाजकर्म्म संगृहीत है तो उसी दशा मे अनुयाज के लिए दो उल्मुक आहवनीय से पृथक् निकाल लिए जाते है। जब अनुयाजकर्म्म का समय आता है तब पुन उन (अन्यत्र स्थापित) उल्मुकों को आहवनीय मे डालकर अनुयाजकर्म्म किया जाता है। क्योंकि आतिथ्येष्टि मे (का श्रौ ८।१।१ के अनुसार) तथा गृहमेधीयादि मे (का श्रौ ५।६।६।२।५ के अनुसार) अनुयाजकर्म्म का अभाव है अतएव वहा उल्मुक निष्काशन भी नहीं होता।

इति–कातीयश्रौतसूत्रे–द्वितीयाध्याये सप्तमी कण्डिका समाप्ता

।७।

——*——

८—आहवनीयस्य पश्चिमे दक्षिणे, उत्तरे, क्रमेण परिधिपरिधानम्

उ मुकनिष्काशन-कम्म क अन तर वह अ ध्यु क्रमश ओ ग धवस्त्वा विश्वावसु आ-इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो - ओं मित्रावरुणो त्वा इन म त्रा का उच्चारण करता हुआ (ब्राह्मणग्र थों म परिगणित पलाशादि किसी) एक यज्ञिय वृक्ष से निर्मित परिमाण मे बाहुमात्र स्वरूप मे गीली जातित पालाश-वैकङ्कत-काष्मर्य्य बै व म से पूव पूव की न मिलने मिलने पर उत्तर को अथवा खादिर ओदुम्बर की तीन परिधियाँ आहवनीयकुण्ड के म यम (पश्चिम) दक्षिण उत्तर प्रा तभागा मे क्रमश प्रतिष्ठित करता है। इसी क्रमिक परिधानकम्म का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते है—

"परिधीन् परिदधाति-आर्द्रान् एकवृक्षीयान् बाहुमात्रान्, पालाशवैकङ्कत काष्मर्य्य-बल्वजान्, पूर्वालाभे उत्तरान् खादिरोदुम्बरा वा, मध्यम-दक्षिणोत्तरान् ग धव ' इति प्रतिम त्रम्' (का श्रा सू २।१।१)।

——*——

९—आहवनीयाग्ना समिधाधानम्

परिधि-परिधानकम्म के अन तर वह अ वय्यु अग्निकल्पाथ पहिले से गृहीत समिधा का पहिले रक्खी हुइ म यम परिधि क साथ स्पश कराक खडा हाकर— वीतिहोत्रम् यह म त्र बोलता हुआ उस समिधा को आहवनीयाग्नि मे डालता है। दूसरी सामधा को परिधि स बिना स्पश कराए ही समिदसि यह म त्र बोलता हुआ आहवनीय मे डालता है। उक्त दोनों प्रक्षेप-क मों का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते है—

'प्रथम परिधि समिधोपस्पृश्य 'वीतिहोत्र'' मित्यादधाति''।
अनुपस्पृश्य द्वितीया ''समिदसी ' ति (का श्रा सू ।१। ३)।

——*——

१ आहवनी यक्षणपूर्वक म त्रस्मरणम्

समिधाधान-कम्म क अन तर वह अ वय्यु आहवनीय अग्नि की आर देखता हुआ ओं सूर्य्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै इस म त्र का सहितापठित स्वरस धानपूवक उच्चारण करता है। इसी कम्म का दिग्दशन कराते हुए सूत्रकार कहते है —

'सूर्यस्त्वे ' ति जपति आहवनीयमीक्षमाणस्तद्वचनात् '।
(का श्रौ सू । ।१४)।

——*——

११—उदगग्रयोर्विधृत्योर्वेद्या निधानम्

मन्त्रस्मरण कम्म क अनन्तर वह अ नग्यु पुन वेदि की ओर लाट आता है। वहा आकार वेदि पर बिछ हुए बर्हि के ऊपर दो पवित्र (दभतण) उत्तराग्र तिय्यगरूप से— ओं— सवितुर्बाहूस्थ यह म— बालता हुआ रखता है। ये दभतण ही विधृति नाम से प्रसिद्ध हैं। निम्न लिखित सूत्र से इसी कम्म का स्पष्टीकरण होरहा है—

आवृत्य वेदि तिरश्ची निदधाति— 'सवितु' रिति"
(का श्रौ सू २।८।५)।

इन दभतृणो के सम्बन्ध मे एक जिज्ञासा शेष रह जाती है। वह यहा कि जिन दो तृणा का निधान हुआ है वे इस वेदि पर बिछ बर्हि म से ही लिए जाय अथवा अन्य दभतण लिए जाय ?। इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते है—

अन्ये वाऽयुक्तत्वात् (का श्रो सू २।८।६)।

इस निधानकम्म के लिए दूसर ही तण लेने चाहिए। क्योंकि वेदि सम्बन्धी बर्हितणों म से इन दोनों का ग्रहण विहित नहीं है। वेदि-तणों का कवल स्तरणकम्म म हीं विनियोग विहित है अत अन्य तृण ही रखने चाहिए। अ यत्र भी पवित्र पशूपाकरण-ग्रहोपस्पश अग्निमन्थनादि मे जहाँ तृण-निधान विहित है सवत्र अन्य तृण ही लेने चाहिए। यही प्रासङ्गिक व्यवस्था बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

अन्यत्रापि तृणार्थे' (का श्रौ सू २।८।७)।

क्योंकि तृणनिधान-प्रसङ्ग से अन्य स्थलों की चर्चा चल पडी। अतएव इस प्रसङ्गदृष्टि से आज्य क सम्बन्ध मे भी विनियोग-मर्य्यादा का स्पष्टीकरण कर दिया जाता है। आज्य मे एक यूपाञ्जन कम्म होता है। यज्ञिय यूप के चारो ओर घृत का सम्बन्ध कराना हीं यूपाञ्जनकम्म है। प्रश्न होता है कि जिस आज्यस्थाली मे प्रयाजनुयाजादि क लिए आज्य लिया जाता है इस यूपाञ्जन-कम्म क लिए भी इसी मे से लिया जाता है अथवा इसकेलिए अन्य आज्य का ग्रहण होता है ? सूत्रकार उत्तर देते हैं—

यूपाञ्जने च सर्पि' (का श्रौ सू २।८।८)।

यूपाञ्जन-साधक घृत अन्य (लौकिक) ही लेना चाहिए। आज्यस्थाली का आज्य इस कम्म म विनियुक्त नहीं है।

ज्योतिष्टोमयज्ञ मे पुरोडाश का इन्द्र-वायु के लिए पयस्या का मित्रावरुण के लिए तथा धान का अश्विनीकुमारों के लिए प्रक्षेप होता है। इसप्रकार प्रक्षेप कम क लिए अपेक्षित

पुराडाशादि प्रा त लिए जायें अथवा लाकिक ? इस सम्ब ध म ऐच्छिक यवस्था बतलाते हुए सूत्रकार कहते है —

'पुरोडाश पयस्या–धानासु चेच्छन्" (का श्रा सू ०।८।६)।

—— * ——

१२–विधृत्योरुपरि प्रस्तरस्तरण, पाणिद्वयन तदभिमशनञ्च

वेदि के ऊपर विधृति–स्थापन कम्म के अन तर वह अध्वय्यु उन तिय गरूप से उदगग्र प्रतिष्ठित दभ–तणा क ऊपर— ओ ऊर्णम्रदस त्वा स्तृणामि स्वासस्थ दवेभ्य यह म त्र बोलता हुआ प्रस्तर (एतन्नामक दभमुष्टि) बिछाता है। प्रस्तर बिछाने क अनन्तर वह अ व यु — आ अत्वा वसवो रु ा आदि या सद तु यह मन्त्र बालता हुआ अपने दोनों हा से वेदि पर फलाए गए उस प्रस्तर को दबाता है। इन्ही स्तरण अभिमशन कम्मों का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कह े है—

'तयो प्रस्तर स्तृणा–' त्यूर्णम्रदस ' मिति (का श्रो सू ।८।१)।

अभिनिदधा– 'त्वा त्वा वसव ' इति (का श्रो सू २।८।११)।

—— * ——

१३ प्रस्तरस्पर्शद्वारा दक्षिणेन स्रुचा ग्रहण, प्रस्तरे स्थापनञ्च।

प्रस्तरस्तरण–स्पश–कम्मान तर वह अ वय्यु अपने दोनों हाथों मे से वाम हाथ तो प्रस्तर पर रक्ख रहता है एव दहिने हाथ म अग्नीध्र नामक ऋत्विक् से क्रमश सौंपे गए जुहू–उपभृत्–ध्रु वा नामक स्रुक्पात्रों को– घृताची इ यादि सहितोक्त तीनों म त्रों का उ चारण करता हुआ प्रस्तर पर पूर्वाग्र स्थापित करता है। इस स्थापनकम्म मे विशेषता यह है कि जुहू को तो प्रस्तर के ऊपर रक्खा जाता है एव उपभृत् तथा ध्रवा को प्रस्तर से नीचे बर्हि पर रक्खा जाता है। ग्रहण स्थापन–वैशिष्टय की इसी इतिक त यता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्र कार कहते है–

'स याशू य जुहू प्रतिगृह्य निदधाति 'घृताची" इति।

— का श्रौ सू ।८।१३।

एवमितरे उत्तराभ्या प्रतिम त्र बर्हिष्युपभृत, ध्रुवा चावकृष्ट ऽनुपूवम्

—का श्रौ सू २।८।१३।

—— * ——

१४–पुरोडाशस्य घृतनाञ्जन कपालानाञ्च घृतेनेषदञ्जनम

स्रुकस्थापन–कम्म क अन तर वह अध्वय्यु वेदिस्थान से गाहप य के समीप आता है। वहा आकर पुरोडाशद्र य पर घृत डालकर उसे ठढा कर पहिले से सम्पन्न पुरोडाशपात्री मे उन्हे

रख कर— यस्ते प्राण पशुषु प्रविष्टो देवाना ि ष्टामनु यो वितस्थे । आत्मन्वान् सोम घृतवान् हि भूत्वाऽग्निं गच्छ स्वर्यजमानाय ि ॰ यह मन्त्र बोलता हुआ पुरोडाशपात्री में प्रतिष्ठित पुरोडाशद्वयी को आज्य से चुपडता है ।

जहा अग्निदेवता का सम्बन्ध है वहा अग्निं गच्छ स्वर्यजमानाय इत्यादि रूप से मन्त्र प्रयोग होगा । एव जहा अन्य देवताओ का सम्बन्ध है वहा अग्नीषोमौ गच्छत स्व – इन्द्राग्नी गच्छ स्वर्यजमानाय इत्यादि रूप से ऊह किया जायगा ।

पुरोडाशाञ्जन के अनन्तर जिस क्रम से कपाल रक्खे गए थे उसी क्रम से उन उन कपालों का वह अध्वर्यु — यानि घर्म्मे कपालान्युप चिन्वन्ति वेधस । पूष्णस्तान्यपि व्रत इन्द्रवायू विमुञ्चताम् यह मन्त्र बोलता हुआ घृत से थोडा थोडा चुपडता है । किन्हीं याज्ञिकों के मत मे कपालाञ्जनकर्म्म तूष्णीं (बिना मन्त्र–प्रयोग के) होता है । दोनों वैकल्पिक पक्ष ि छक है ।

जितने कपाल इस कर्म्म मे गृहीत हैं उनका निधानक्रम से सख्यापूर्वक–प्रथममुद्वासयामि द्वितीय ततीय इत्यादिरूप से ही उद्वासन करना चाहिए । इन्हीं कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते है—

पुरोडाशा अभिघार्य उद्वास्य उपस्तार्णे निधायाऽनक्ति यस्ते प्राण पशुषु प्रविष्टो देवाना विष्टामनु यो वितस्थे । आत्मन्वान् सोम घृतवान् हि भूत्वाग्निं गच्छ स्वर्यजमानाय नि दे" ति ' (का श्रौ सू २।८।१४) ।

यथा देवतम यत् ' (का श्रौ सू २।८।१)।

"प्रत्यनक्ति कपालानि 'यानि घर्म्मे कपाला युप चिन्वन्ति वेधस । पूष्णस्ता यपि व्रत इन्द्रवायू विमुञ्चता" मिति ' (का श्रौ सू ।८।१६।) ।

"तूष्णी वा' (का श्रौ सू ।८।१७।

"सख्ययोद्वासयति' (क श्रौ सू ।८।१८)

—*—

१५ सर्वालम्भनम

उक्त कर्म्मानन्तर वह अध्वर्यु – ओं–प्रियेण धाम्ना प्रिय सद आसीद यह मन्त्र बोलता है । आज्य-पुरोडाशादि हविर्द्रव्यों को वेदिस्थित ध्रुवापात्र के उत्तर प्रदेश मे वेदि पर रखकर– ओं ध्रुवा असदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञ पाहि यज्ञपतिम् इस मन्त्र की आवृत्ति पूर्वक आज्यस्थाली स्थित आज्य का जुहू उपभृत् ध्रुवा स्थित आज्य का पुरोडाशपात्री मे स्थित पुरोडाशद्वयी का उपयोगक्रम से स्पर्श करता है । अनन्तर— ओं पाहि मा यज्ञन्यम् यह

म त्र बोलता हुआ यह अ वर्यु अपने हृ य का स्पश करता है। यही सर्वालम्भनकर्म्म बतलाते हुए सूत्रकार कहते है—

'प्रियेण धाम्ने' ति हृदाषि नेध्या कृ ना नुवा असद' भिति-सर्वाण्यालभते (का श्रा सू २।८।१६ ।

'पाहि मा' मि यात्मानम् (का श्रा सू ।८।२)।

——*——

व्रतोपायनकर्म्म के सम्ब ध मे दो विक प पक्ष माने गए है। द्वितीयपक्ष का अवसर कब है? इसका सम ाान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"अत्र वा व्रतोपायनमत्र वा व्रतोपायनम्' (का श्रो सू २।८ १)।

——*——

इति-कात्यायनश्रौतसूत्रे द्वितीयोऽध्याय

——*——

इति–सूत्रप्रदर्शितपद्धतिसग्रह

——*——

वैज्ञानिकविवेचना—

अथ–प्रोक्षणकर्म्मोपपत्ति -

(भाष्य)- पवित्र वा आप मे या वा आप (शत ब्रा १।१) न ब्राह्मण–श्रुतियों के अनुसार पानी में मे य और पावत्र नामक दो ध म प्रतिष्ठित रहते हे जिन की विशद वज्ञानिक याख्या उसी ब्र ह्मण में की जाचुकी है। इस यज्ञक म मे उपयक्त बर्हि वेदि तथा म तीनो यज्ञसस्था में गृहीत होने से पवित्र तो बन चुके हैं। पर तु अभी इन में उस मे य गुण का अभाव है जिस के स ब ध से ही ये यज्ञ के साथ अ त र्यामस ब ध करने म समथ होसकती है। उस सगमनीय गुण का (स्नेहगुण का) इनमें आधान करने के लिए ही नका प्रोक्षण किया जाता है एव प्रकृान्त प्रोक्षणकर्म्म की यही एकमात्र उपपत्ति है जिसका त मे यमवैतत्क्रनय करोति इन श दो में अभिनय हुआ है।

यज्ञाग्न (आहवनीयाग्नि) के समि धन के लिए जो का ठभार यज्ञसस्था में सग्रहीत होता है उसे इ धे ह वा अ न युरग्निम् स निवचन से इध्म कहा जाता है। वह मका ठ गाग्नि का प्रतिरूप है। मृग्याग्नि ही कृष्णाग्नि कहलाया है अतएव काष्ठप्रसूत स अग्नि को मृग भी कहा जाता है। सौराग्निमण्डल प्राकृतिक नित्य यज्ञमण्डल का आहवनीयाग्निमण्डल है। स में प्रतिष्ठित सौर सावित्राग्नि

(प्राणाग्नि) अग्नीषोमा मक स व सरयज्ञ का स्वरूप–समपक बनता हुआ यज्ञा मक है। म सौर यज्ञाग्नि के ब्रह्मादन प्र ग्य भेद से दो विभाग होजाते है जो सौर अग्नि सू यसस्था की वरूपरता के लिए सदा सौरमण्डल में ही अ तर्याम–सम्ब ध से प्रतिष्ठित रहता है उस–ब्रह्माग्न आ न कहा जाता है एव यह सूर्य का अपना प्रातिस्विक आग्नभाग है। जो सौर अग्नि प्रजापति की कामना स सौरसस्था स पृथक होकर भूगभ में प्रवि ट होता हुआ पृथिवी की ओषधि–वनस्पतियो म (न के वरूप नि र्माण के लिए) प्रवि ष्ट रहता वह प्रव र्याग्नि कहलाता है इसी सौर–प्रव य–यज्ञाग्नि से ही पार्थिवसस्था की स्वरूप नि पत्ति हुइ है। यही पार्थिव अग्नि का प्रवर्ग्याश गायत्र नाम स व्यवहृत होने लगता है।

स्व–सौरसस्था में प्रतिष्ठित वही सावित्राग्न पारमेष्ठ्य दाह्य ब्रह्मणस्पति नामक सोमाहुति से शुक्ल (योतिर्मय) बना रहता हैं जिसे कि हम इस का जाग्रतरूप कह सकते ह। यही शुक्ल तथा प्र यक्षदृष्ट सौर यज्ञाग्नि प्रवग्य–सम्ब ध से जब पाथसस्था में प्रवि ट होजाता है तो इसका शुक्लरूप उत्क्रान्त होजाता है। पारमेष्ठ्य सोम के सम्ब ध के उत्क्रा त होजाने स अपना शुक्लरूप छोडता हुआ यह कृष्णरूप में (अप्र यक्षरूप में) परिणत होजाता है। यही इसका सुप्तरूप है। पार्थिव पदाथा म विशेषत काष्ठादि में अग्नि का यही सुप्त स्वरूप प्रतिष्ठित है। जब अ याग्नि के सम्ब ध स स जगाया जाता है तो यह जग पडता है का ठ प्रज्ज्वलित होजाता है। त काल यह अपने शुक्लरूप में आता हुआ स्वा स्थानभूत द्युलोकोपलक्षित सौर–देवमण्डल में चला जाता है। पार्थिव अग्नि की इसी सुप्त–जाग्रत–अवस्थाद्वयी का स्पष्टीकरण करती हुइ मन्त्रश्रुति कहती है–

"शेषे वनेषु मात्रो स त्वा मर्तास इ धते।
अतन्द्रो ह या वहसि हविष्कृत आदिद्देवेषु राजसि" ॥

ऋक् स ८।६।१५।

सौर यज्ञाग्निवत् क्योकि यह अग्नि प्र यक्ष नही है अपितु मृग्यमाण (खोजने यो य) ह अतएव इसे कृ णमृग कहना अ वथ बनता है। यज्ञभूमि नाम से प्रसिद्ध भारतवष म स्व छन्दरूप से विचरण करने वाले * कृष्णमृग (काले हरिण) में भी इस कृ णमृगाग्नि की ही प्रधानता ह। अतएव यज्ञकर्म्म में यज्ञा न की समृद्धि के लिए कृष्णमृगचर्म्म पर ही हवि पेषणादि क म होता है जसाकि पूवके– अथ कृष्णाजिनमादत्त (शत १।१।४।१) इ याद रूप स कृष्णाजिनब्राह्मण म विस्तार से बतलाया जाचुका है। सौर यज्ञाग्नि ही प्रव य के स ब ध से – पार्थिव पदार्थो मे प्रविष्ट होता हुआ कृष्णमृग नाम स यवहृत होने लगता है इसी रहस्य का निम्नलिखित ब्राह्मण–श्रुति स स्पष्टीक ण हुआ है–

"यज्ञो ह देवेभ्योऽप चक्राम। स कृष्णो भूत्वा चचार।
तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवाव छायाजह्रुः शत १।१।४।१)।
'मृगधर्म्मा वै यज्ञ" (पलायनशील) (ता ब्रा ६ ७।१)

* तस्य (अ ने) एष स्वोलोक यत्– कृष्णाजि नम् (शत ६।४।२।६)।
– इय वै पृथिवी कृष्णाजिनम् (शत ६।४।१।६)। यज्ञो वै कृष्णाजिनम् (शत ६।४।१।६)।

वही मृ यग्नि प्रतिरूपमर्य्यादा से यहा ो आहवनीयखर मे प्रतिष्ठित है एव उस प्राकृतिक यज्ञ मे श्रा वनीयखर स्थानीय सोर मण्डल में प्रतिष्ठित है। अतएव **आहवनीये खरे तिष्ठात** इस निवचन स इसे आखरेष्ठ नाम से भी व्यवहृत किया जासकता है। इसके अतिरिक्त का ठदृष्टि स भी इस नाम का समन्वय किया जासकता है। **आ समन्तात् खरे-कठिने वृक्षे-काष्ठे तिष्ठति** इस निवचन से भी (महीधरभा य) इ मकाष्ठस्थ कृष्णाग्नि को **आखरेष्ठ** कहना अन्वर्थ बनता है। इ म में भूत देव भेद से दो भाग प्रतिष्ठित हैं। भूतभाग काष्ठरूप स प्रत्यक्ष दृष्ट है साथ ही सका दिव्यातिशययुक्त यज्ञ से कोइ सम्बन्ध भी नहीं है। सम्बन्ध अपेक्षित है उस दिव्याग्नि (प्राणाग्नि) का जो इसमें कृष्णरूप से (अप्रत्यक्षरूप से) प्रतिष्ठित र ता हुआ **आखरेष्ठ** बन हा है। वही सङ्गमनीय है। भूतभाग प्राण सम्बन्ध का निरोधक माना गया है। इसके सम्बन्ध से देवप्राण में अमेध्य (असङ्गमनीय) धर्म का समावेश होजाता है। का ठ स्थित कृष्णाग्नि के भूतसंसर्गजनित सी अमेध्यभाव को हटाने के लिए **कृष्णोऽस्या खरेष्ठ** यह मन्त्र बोलते हुए म का प्रोक्षण किया जाता है। जबतक यह प्रोक्षणकर्म्म नहीं कर लिया जाता तबतक इस इ मस्थित कृ णाग्नि का उस ाद यग्नि प्रतिरूप आहवनीयाग्नि के साथ अ तर्य्याम-सम्बन्ध न ी होसकता। एव जबतक पार्थिव अग्नि का दि याग्नि के साथ सम्बन्ध नहीं होजाता तबतक **यज्ञेन पार्थिवयज्ञेन यज्ञमयन्त दिव्याग्निमयजन्त** परिभाषा से सम्बन्ध रखने वाला **पार्थिव आधिभौतिक) दिव्य (आधिदैविक) यजमानाग्नि (आध्यात्मिकाग्नि)** के समन्वय र अपनी स्वरूप स पत्ति निर्भर रखने वाला यज्ञातिशयलक्षण देवा मा उत्पन्न नहीं होसकता। इसके लिए प्रथम पार्थिव-इ मका ठस्थ कृ णाग्नि का दिव्य आहवनीयाग्नि के साथ सम्बन्ध कराना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब कि इ मकाष्ठाग्नि को मेध्य बना लिया जाय। जब इसे प्रोक्षण के द्वारा भूतानुगत अमेध्यधर्म्म से पृथक् कर दिया जाता है तो आहवनीयस्थित देवताओं के लिए यह जुष्ट (सम्बन्धयोग्य) बन जाता है। सी मे य फल का **अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि** इस मन्त्रोत्तरभाग से स्पष्टीकरण होरहा है ॥ १ ॥

वेदि पर बर्हि का आस्तरण होता है। बर्हि (दर्भ) **वेन** नामक उस पानी से उत्पन्न हुआ है जो सौरमण्डल की अन्तिम सीमा में ज्योतिर्म्मयरूप से प्रतिष्ठित है*। पारमेष्ठय पानी का जो भाग सौर-रश्मियों में प्रविष्ट होकर अपने स्वभाविक आसुरभाव को छोडता हुआ याति मय बनता हुआ यज्ञिय बन जाता है उसी वेन नामक यज्ञिय अपत व से दर्भ की उत्पत्ति हुई है जैसाकि पूर्व के **पवित्रे करोति** (शत १।१।३।१) इत्यादि **पवित्रब्राह्मण** में **दर्भोत्पत्तिविज्ञान** बतलाते हुए विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है×। दिव्य

*-अय वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने ।
इममपां सङ्गमे सूर्यस्य शिशुन्न विप्रा मतिभीरिहन्ति ॥
—यजु संहिता ७।१६।

×-"सर्वत इव ह्यय ममुन् । तस्मादु हैव आपो बीभत्साञ्चक्रिरे । ता उपर्युपर्य्योति पप्रुविरे । त इमे दर्भा । ता हैता अनापूयिता आप"।
—शत ब्रा १।१।३।५।

प्राणा मक दर्भ के इस दि यातिशय का वा के साथ तभी सम्ब ध होसकता ह जब कि इध्मकाष्ठवत् पृथिवी का प्रतिकृतिरूपा वेदि के पार्थिव अग्नि को भूतससगजनित अमे यधम्म स पृथक् कर लिया जाय। इस प्रयोजनके लिए (बर्हि स्थित दि य प्राणके साथ वेदिस्थित कृ णाग्नि के स ब ध के लिए) ही इध्मप्रोक्षणानन्तर वेदिका प्रोक्षण किया जाता है। प्रोक्षणमन्त्र है **वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्ट प्रोक्षामि** यह। **यह वेदि है** इस वाक्य स श्रुति का ता प य यही है कि यही यज्ञप्राप्ति का साधन है—। इसी मे तो प्रवर्ग्य यज्ञाग्नि प्रतिष्ठित है। इसे मे य बनाना ही प्रोक्षणक मौलि य है ॥२॥

वेदिप्रोक्षणान तर बर्हि का प्रोक्षण किया जाता है। बर्हि मे भी भूत–प्राण भेद से दो विभाग है। फलत इस वेदिवत सका दि य ग्राह्य अग्नि भी भूतससगजनित अमध्यध म से युक्त है। पवित्र म य सुक्पात्र इस पर तभी रक्खे जासकते है जब कि सका अमे यध म हटा दिया जाय। तदर्थ ही **बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्ट प्रोक्षामि** मन्त्र स बर्हि का प्रोक्षण भी आवश्यक बन जाता है यह दर्भ उस वन पानी का प्रतिरूप है जिस वन पानी क वेष्टन से सम्पूर्ण पार्थिव त्रैलोक्य चारो ओर स वेष्टित होरहा है। पृथिवीरूपा वेदि का बृहणकम्म (वेष्टनक म) वनरूप म पर ही अवलम्बित है। सी बृ णधम्म के कारण वनप्रति-रूप स्थानीय दर्भ को अ श्य ही **बर्हि** कहा जासकता है।

यज्ञ में गृहीत भौतिक पदार्थो मे **भूत–प्राण** भेद से दो दो वस्तुएँ है। दोनो मे भूतभाग अग्राह्य है प्राणभाग ग्राह्य है। भूत अमध्य है तत्ससग से प्राण भी अमे य बना रहता है। इस अमे यभावनिवृत्ति के लिए ही प्रोक्षणकम्म किया जाता है और यही एकमात्र सब प्रोक्षणकर्म्मों की उपपत्ति है। प्रोक्षणकम्म होता है दर्भतृणो के द्वारा–प्रोक्ष णीपात्र मे रक्खे हुए म त्रभूत मे य पानियो स। दर्भतृण पूर्वकथनानुसार स्वय पवित्र है। अतएव इन स प्रोक्षण करना अ र्थ बनता है॥३॥

पर्जन्यदेवता वृष्टि के अधिष्ठाता है। पर्ज य के द्वारा आकाश से मरुत् गर्भ से भूतल की ओर आता हुआ पानी थोडी देरतक तो भूतल पर दिखाइ देता है। परन्तु कुछ ही समय मे वह विलीन होजाता है। इसका विलयन भूतलस्थित ओषधि वनस्पति के मूलो में ही होता है। इसीलिए तो ओषधि वनस्पतियाँ जहा अपने तूलभागो स शुष्क इव प्रतीत होती है वहा इनके मूलभाग गीले रहते है। यह मूलार्द्रता ही इनके जीवन का कारण है। यही कारण है कि एक वृक्ष की जडो को उखाड कर यदि अन्यत्र लगाने की कामना होती है तो उस वृक्ष की जडो को उत्पाटक लोग (**राई बागवान**) मिट्टी सहित उस भाति उखाडते है जिससे उनका मूलार्द्र भाग शुष्क न होजाय। इसप्रकार प्राकृतिक यज्ञ में सिञ्चक पर्जन्यदेवता के द्वारा सींचा हुआ पानी ओषधियो के मूलो में ही प्रतिष्ठित रहता हैं। यह वैधयज्ञ उसी का प्रतिरूप है। **यद्वै देवा अकुर्व स्तत्करवाणि** इस निगम स यहा भी प्रोक्षणीपात्र में बचे जल को बर्हि के मूलो में ही डालना यायप्राप्त है। यह विश्वास करने यो य बात है कि यज्ञकम्म मे जो जो अतिशय उत्पन्न होते हैं उन सबका फलभोक्ता यजमान ही बनता है जसा कि **तद्वै तदाहुत्तयेनाधि** इत्यादि रूप से अनुपद में ही

— **"त–यज्ञ–वेधाम वनि दन्। यत्–नेधा अ वनिन्दन् तत् वदेर्वेदित्त्वम्"।**

—एतरेयब्राह्मण ३।६।

स्पष्ट होने वाला है। यहा जलसेक स जो सिञ्चनक म होता है उसका फल य होता है कि यज्ञकर्त्ता यजमान के उपभोग में आने वाली आषाध–वनस्पतिया सदा उपजीवनीया ही बना रहती हैं। सीलिए कभी यज्ञकर्त्ता यजमान के लिए इन ओषाध–वनस्पतियो (पार्थिव अन्नादि भो यस पत्ति) की कमी नही रहती।

ओषधिमूलो का आद्र बनाना ही इस सिञ्चनकम्म का मुख्य उद् श्य है। हम दखते हैं कि यदि केवल ओषाधयो पर पानी डाला जाता है तो इससे व आद्रमूल तबतक नही बनती जबतक कि उनकी मिट्टी में पानी न डाला जाय। भूप्रदश की आद्रता ही ओषधि–मूलाद्रता का कारण है फलत सिञ्चन क म का प्रधान लक्ष्य भूप्रदेश ही बनता है। एतद्द्वारा पर परया ही आद्रमूला–स पत्ति प्राप्त होती है। अतएव यहा भी पानी डाला तो जाता है बर्हिमलो में। पर तु भावना की जाती है– **अदि यै न्युद–नमसि** यह। **हे शेष जल! आप इस पृथिवी के लिए क्लेदनद्र य है**। म त्रभाग यही बतला रहा है कि गीली मिट्टी ही आद्रमला सम्पत्ति प्राप्ति का कारण है। यही कारण है कि जबतक प र्याप्त वृष्टि नही हाती तबतक भूगभ आद्र नही होता। एव जबतक भूगभ आद्र नही होता तबतक ओषधि–प्ररोहण नही होता। भूगभ की आद्रता ही जीवनरसप्रदात्री है अतएव कृषकवग भूगभ में ही बीजवपन करते हैं ॥४॥

इति–प्रोक्षणकम्मोपपत्ति

—*—

अथ–प्रस्तरगृहणोपपत्ति –

प्रोक्षणकम्म के अन तर कुशमुष्टिलक्षण **प्रस्तर** का ग्रहण किया जाता है। प्राकृतिक यज्ञपुरुष का जैसा स्वरूप आधिदैविकसस्था म है वैसा ही यहा होना चाहिए। यह यज्ञपुरुष अ या म—अधिदैवत भेद से दो श्र णियो में विभक्त है। दोनो में से पहिले आधिदैविक यज्ञपुरुष के स्वरूप का ही विचार कीजिए। ऋताग्नि—ऋतसोमा मक स व सरमण्डल का ही नाम **आधिदैविक यज्ञपुरुष** है। स स व सरयज्ञ के **उत्तरायण दक्षिणायन विष्वदवृत्त** भेद स तीन प्रधान पव हैं। उत्तरायण पव इसके शरीर का उत्तर पाश्व है दक्षिणायन पव दक्षिण पाश्व है एव मध्यस्थ वि वद्वृत्त आ मस्थानीय म याङ्ग(धड)है। स्तोमविज्ञान के अनुसार त्रिवृत्स्तोम से आर भ कर एकविंशस्तोम पर्य्य त (सूर्य्यपर्य्य त) अपनी याप्ति रखने वाल इस स व सर–पुरुष का त्रिवृत्स्थान **पाद** है पञ्चदशस्थान **मध्याङ्ग** है एव एकविंशस्थान **मस्तक** है। तीनों के क्रमश **अग्नि वायु आदि य नामक तीन प्राण** अतिष्ठाता हैं। आदि यप्राणा मक एकविंश स्थानस्थित मस्तक स्थान के ऊ वभाग पर सूर्य्य स्थित हैं जिसे कि यज्ञपरिभाषा में हम **यूप** कहा करते है। यह सूर्य्या मक यूप सोमाहुति स ही स्वस्वरूप से सुरक्षित है। यूप का यूप व सोमाहुति पर ही निभर है। आधिदैविक स व सरयज्ञ के इसी त्रैलोक्य यापक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए वेदभगवान् कहत है—

१—**'अथ ह वाऽएष महासुपर्णो एव–यत् सम्वत्सर। तस्य यान् पुरस्ताद्विषुवत षण्मासानुपर्यन्ति साऽन्यतर पक्ष, अथ यान् षडुपरिस्तात्–साऽन्यतर, आत्मा विषुवान्'।**

—शत १२।२।३।७

२—' आत्मा वै सम्वत्मरस्य विषुवान् अङ्गानि मामा " ।
—शत १ । ।३।६

३—' आत्मा वै मम्वत्सरस्य विषुवान्, अङ्गानि पक्षा' ।
गो ब्रा पू ४।१८

४— 'सम्वत्मरो वै यज्ञ पजापति । तस्यैतद् द्वार यद्मावास्या, चन्द्रमा एव द्वार- पिधान' । (शत ११ १।१।१)

५— पुरुषो वाव सम्वत्सर" (शत १२। ।४।१) ।

६—' सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात् ।
म भूमि सवत स्पृत्वा यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' ॥
—यजु स ३१।१*

उक्त स वत्सरयज्ञपुरुष के मस्तकोवस्थान में प्रतिष्ठित यूपात्मक सूर्य ही इस की— शिखा है। शिखा केशात्मिका-केशगुच्छात्मिका ही होती है। केश-लोमकी उत्पत्ति ओषधि वनस्पतियों से मानी गई है जैसाकि— ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा (बृ आ उप ३।२।१३) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। पारमेष्ठ्य सोम ही ओषधि [१] वनस्पति के स्वरूप का जनक है। अन्तर यही है कि वही सोम चन्द्ररूप से (अग्निगर्भित सोमरूप से)ओषधियों का जनक बनता है एवं वही सोम सूर्यरूप से (सोमगर्भित[२]अग्निरूपसे) वनस्पतियो का उत्पादक बनता है। जब सूर्यात्मक [३] यूप सोमात्मक है सोम ही परम्परयाज केशलोमात्मक है तो हम अवश्य ही सूर्य को इस यज्ञपुरुष की शिखा कह सकते है। इसी शिखात्मक सोमभाव के आगमन

* सहस्र शब्द पूगभावात्मक वर्त्तुल वृत्त का ही सूचक है। क्योकि जो वर्त्तुल होता है उसके केन्द्र से चारो ओर वषट्कारसम्पादिका वेद-लोक-वाक-साहस्रियो का वितान होता है। सम्वत्सरपुरुष त्रिकेन्द्र है अतएव क्रान्तिवृत्तात्मक स वत्सरचक्र त्रिकेन्द्र बनता हुआ दीर्घवृत्त (अण्डवृत्त) माना गया है। अक्ष से विज्ञानचक्षु ही अभिप्रेत है। विज्ञानचक्षु का हृदय से सम्बन्ध है। हृदयस्थ मन पर ही विज्ञान प्रतिष्ठित रहता है। हृदयस्थ विज्ञान से मध्याङ्ग अभिप्रेत है। त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश तीनो क्रमश पाद-मध्य-मस्तक पर्व हैं। त्रिपर्वा यह पुरुष सप्तवितस्तिकाय से तो भूपिण्ड पर खडा है। एवं यही अध्यात्मसंस्था में १ ॥ अङ्गुलात्मक प्रादेशमित प्रदेश में प्रतिष्ठित है। इसी आध्यात्मक दृष्टि से— अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् कहा गया है।

(१)-' त्वमिमा ओषधी सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गा ।
त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्ष त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥
ऋकूस १।९१।२२

(२) ' अग्निर्वै वनस्पति " (कौ ब्रा १ ।६)

(३)- असौ वा अस्य आदित्यो यूप " (ए ब्रा ५।२८) । ' आदित्यो यूप " (तै ब्रा (२ ।५।२) ।

से तदरूप सौर ।द्‍ये द्रप्राण स्वस्वरूप से सुरक्षित है। यदि शिरा मक सोम का (सोमाहुति का) सम्ब ध न र तो त काल सौरसस्था उ छिन्न होजाय।

इसी उक्त-स्वरूपलक्षण आधिदविक यज्ञपुरुष के अनुरुप आ यामिक यज्ञपुरुष का स्वरूप—निर्म्माण हुआ है। सम्व सरयज्ञ के दक्षिण पार्श्व से इस के मेरुदण्ड स आर भ कर हृ य-रेखा प य त दक्षिण पार्श्व का बामपार्श्व से मेरुमण्डल से आर भ कर हृदयरेखाप य त वाम पार्श्व का तथा म याङ्गस्थानीय विषुवप्राण स मेरुदण्ड का निर्म्माण हुआ है। स्तोमविज्ञानानुसार त्रिवृत्-स व सरभाग से पाद भाग का पञ्चदशभाग से म याङ्ग का ८ । एकविंशभाग से शिरोभाग का नि र्माण हुआ है। इसी में सौर-इ द्रप्राण प्रतिष्ठित है जो शिरा तस्थान से निकल कर शिरोबि दु से आर भ कर सू यके द्र प य त वितत (४) महापथ के मागस सूर्य के द्रपय्य त एक निमेषमात्र मे तीन बार आता जाता है (५)। यही प्राणगमनागमन शतायु का प्रव कि माना गया है। सू य स्थत मन प्राणवाङ मय (६) ३६ स्या मक आयु नामक मनोता का आगमन ही

४-अणु प था वितत पुराणो मा स्पृष्टोऽनुवित्तो मयव।
तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद स्वग लोकमित ऊध्व वियुक्ता ॥
तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहु पिङ्गल हरित लोहित च।
एष प था ब्रह्मणा हानुवि ास्तेनेति ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तैजसश्च ॥
—बृ आ ३।४।४।८।९

५ आवि स नि हित गुहाचर नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्।
एजत् प्राणत् निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्य पर विज्ञानाद्वरिष्ठ प्रजानाम् ॥
—मुण्डकोपनिषत् ।२।१।

तस्यैष आदेशो यदेतत् विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीत, यमी ३ इत्यधिदैवतम् (केनोपनिषत् २९)।
त्रिर्नि नमेष परिदिद्विवे।

६-"तदात्मानम वैक्षत, त पोऽतप्यत, तत् प्रामूर्च्छत् तत् षटत्रिशत सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान् मनोमयान्, प्राणमयान्, वाङ मयान्०"।
—शत १।४ प्र १ ब्रा

आयु(७) रक्षाका कारण है। बृहतीप्राण नाम स प्रसिद्ध इस विश्वामित्र आयु प्राण का आगमन इसी प्राणसञ्चालन क्रिया पर निर्भर है। जिस क्षण आ याम्मिक प्राण तथा उस सूर्य केन्द्रस्थ आ यन्तिक प्राण इन दोनो क मध्य में अवसानधर्मा याम्यप्राण का आगमन होजाता ह तत्काल आयु सूत्र विच्छिन्न होजाता है प्राण को उत्पादक दिव्यप्राण का जीवनस्रोत मिलना बन्द होजाता है फलत निधन होजाता ह। इस निधन का अवरोधक प्राणगमनागमनलक्षण वही दिनादिनयज्ञ है जिसे यज्ञपरिभाषा में अहरहयज्ञ (८ कहा गया है।

बतलाया गया ह कि बृहती नामक आयु स्वरूपसमर्पक वह दिव्य सारप्राण शिखान्तस्थानास्थित मार्ग स निकलकर महापथ के द्वारा स्वप्रभव सूर्य्य से स ब ध करता है। वही शिखा तस्थान ब्रह्मरन्ध्र नाम स प्रसिद्ध है। विज्ञानभाषा में इसे ही * विदृतिद्वा (द्वारा) नान्दनद्वा (द्वार) इत्यादि नामो से व्यवहृत किया गया ह। मस्तकस्थ केशो का ऊ व प्र श में भ्रमररूप स एक स्थान पर अवसान होता है। जहा यह अवसानबिन्दु है वही एक सुसूक्ष्म द्वार होता है। य ी द्वार इस विश्वामित्र आयु प्राण के सञ्चार का मार्ग है।

उक्त दिव्य प्राण सार दि यप्राण का प्रवर्ग्यांश है। अतएव सूर्यविरोधी तमोमय आसुरप्राण का इस दि य सौरप्राण क साथ स्वाभाविक विरोध ह। लोहधातु में

७- 'तमिन्द्र उवाच ऋष! प्रियं वै मे धामोपागा । वर त ददामि-इति । स होवाच त्वामेव जानीया, इति। तमि द्र उवाच प्राणो वा अहमस्मि-ऋष! प्राणस्त्व प्राण सर्वाणि भूतानि प्राणो ह्य ष य एष तपति। स एतेन रूपेण सर्वा दिशो विष्टोऽस्मि । तस्य मेऽन्न मित्र दक्षिणम् । 'तद्वैश्वामित्रम् तपन्नेवास्मि इति होवाच। तद्वा इद बृहती-सहस्र सम्पन्नम् । तस्य वा एतस्य बहती सहस्रस्य-सम्पन्नस्य षटत्रिंशतमक्षराणा सहस्राणि (३६) भवन्ति । तावन्ति शतसम्वत्सराह्णा सहस्राणि भवन्ति। परस्तात् प्रज्ञामयो देवतामयो ब्रह्ममयोऽमृतमय सम्भूय देवता अप्येति । तद्योऽह सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम् ।

—ए आ २। १४

८-"अरहर्वाऽएष यज्ञस्तायते, अहरह स तिष्ठते अहरहरनन स्वगस्य लोकस्य गत्यै युड क्ते अ हरहनेनैन स्वर्ग लोक गच्छति"।

—शत ६।४ प्र १ ब्रा १५ क ।

* "स एतमेव सीमान विदार्य्य एतया द्वारा प्रापद्यत। सेषा विदृतिर्नाम द्वा । तदेतन्नान्दनम्' [ऐ० आ २।४।३]।

आसुरप्राण की प्रधानता रहती है। इधर क्षौरकम्म मे लाह क्षुरिका का उपयोग होता है। इस म रहने वाले आसुरप्राण के स्पर्श से उस दि यप्राण को बचाने के लिए ही परम ज्ञानिक म र्षियोंने केशा त स्थान पर शिखाधारण आवश्यक माना है कि शखाधारण आषधम्म के अनगामी भारतीयों की मह ा तथा विज्ञानानुगामिता ही प्रकट कर र ा हे।

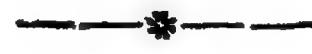
यह तो शिखाधारण का एक प्रासङ्गिक प्रयोजन बतलाया गया। दूसरा प्रयोजन है—प्रतिरूपमर्य्यादा से देवमर्य्यादा का अनुगमन। प्राकृतिक यज्ञपुरुष जब यूपरूप शिखा स युक्त है तो यज्ञमाग का अनुगमन करने वाली तथा यज्ञपुरुष से तदाकारण उ पन्न होने वाली आषप्रजा को भी अपनी अ या मसस्था (शरीर) का वैसा ही बाह्य आकार रखना चाहिए। **देवा भू या देव भाजयत्** का भी यही रहस्य है। आधिदविक यज्ञपुरुष के ओर ओर प तो आ यामिक यज्ञपुरुष में स्प ट हैं। परन्तु यूपस्थानीया शिखा अस्प ष्ट है। अत यूपाकृतिवत् केशा तभाग में स का भी प्रतिरूप—म र्यादा से अवश्य ही समावश होना चाहिए।

शिखा—धारण से जहा आषध र्मानुबन्धिनी यज्ञम र्यादा की रक्षा होती है वहा दि यप्राण—रक्षापूवक विज्ञान भी सुरक्षित तथा पुष्पित प ल्लवित होता है। विज्ञान श द ऋषि की परिभाषा मे आ मानुगत उस नि यविज्ञान का ही सूचक है जिसके परिज्ञान ए अनुष्ठान से इहत्र—अमुत्र अ युदय—नि श्र यस स पत्तिया प्राप्त होती हैं। अतएव जो जातिया शिखा नही रखती अथवा तो जो भारतीय स ताने इस **स्वस्त्ययनकम्म** का मह व न समझती हुइ क पित निर्मी षकामय नग्न सौन्दय्य का मोहकर शिखाधारण को व्यथ का आड बर समझती हैं उनका विज्ञान (बुद्धि) भले ही भौतिक नाशलीलाप्रवत्त क आसरभावा मक विज्ञान मे निपुणता प्रा त करले। परन्तु **नित्य विज्ञानमान द् ब्रह्म** की परिभाषा से तो व सवथा वञ्चित ही रह जाती हैं। जिन्ह यह वञ्चना स्वीकृत है व भले ही शिखा को **शम्म (ल ज्जा)** का कारण समझें। पर तु जो वास्तव में **शर्म्म (सुख)** का मर्म समझने वाले हैं व भारतीय तो अपनी शिखा रक्षा को **जातीयता धम्म विज्ञानवृद्धि** आदि का ही उपादबलक मानग।

वेदशा त्र पर अन य ा न ठा रखने वालो के लिए तो उस दशा में उपपत्ति जिज्ञासा का कोई भी मह व नही रह जाता जबकि— **तस्येयमेव शिखा स्तुप** इ यादि रूप से स्वय श्र ति भगवती शिखाधारण को आवश्यक क मानने का आदश द रही है। प्रस्तुत प्रासङ्गिक चर्चा को हम इसलिए विशेष मह व द रहे हैं कि आज नवशिक्षितो की परि कृतबुद्धि ? के क्षेत्र म **शिखा-सूत्रादि** चिह्नो को लेकर बडा कोलाहल मचा हुआ है। विशेषत शिखा के निष्काशन का तो बहुसख्या में ही अनुगमन होरहा है। हम समझते हैं ऐसी दु प्रवृत्ति आषसस्कृति के अव पतन की ही सूचना दने वाली है। इसलिए हम उन स भ्रा त पुरुषो मे निवेदन करग कि व अपने इस लाभप्रद तथा गौरवपूण चिह्न की रक्षा करने में ही अपना लाभ तथा गौरव समझने का अनुग्रह करेंगे।

आधिदैविक यज्ञपुरुष से आ यात्मिक यज्ञ की स्वरूपान ात्त हुइ है ए आ या मक यज्ञ से इस आधिभौतिक यज्ञपुरुष (पुरुषप्रय नसा य वधयज्ञ) का वितान होरहा ह । जब दानो यज्ञपुरुष शिखा स युक्त है तो प्रतिपद् उह्नी की अनुरूपता स मम्ब ध रखने वाले इस वै यजमें भी शिखा स्थापन होना ही चाहिए । स यज्ञ स जो यज्ञातिशयरूप दवपुरुष (द वा मा) उ पन्न होने वाला है वह शिखा से शू य रहता हुआ । यजाण के विकास से वञ्चित न रह जाय अ एव यहा प्रस्तरग्रहण किया जाता है । प्रस्तर दभमुष्टि है । दभ वनलक्षण सौम्य आपोमय त व है । सोम ही शिखा है जसाकि पूव में बतलाया जाचुका है । इसी सा- श्य स दभमुष्टिरूप प्रस्तर को अवश्य ही शिखा का निदान माना जासकता है । विष्णा स्तुपोऽसि यह प्रस्तर ग्रहण का म त्र है । विष्णु यज्ञपुरुष है । इसके पूवभाग में (शिरोभाग) म ही प्रकृतियज्ञ मे स्तुप शिखा) प्रतिष्ठित है । अत प्रस्तर का ग्रहण भी पुरस्तात् ही होता है ॥४॥

इति प्रस्तरग्रहणोपपत्ति



अथ –सन्नहनविस्र सन स्थापनोपपत्ति —

जो बर्हि वदि पर बिछान के लिए मगृहीत है व **सन्नहन** नामक र जु से बधी रहती है । गाठ खोल कर पहिले तो इस बर्हि सघात से प्रस्तर (स्तुप) ले लिया जाता है । अन तर स सन्न न (ब धनर-जु) का बर्हि सघात से पृथक कर लिया जाता है । यह स्मरण रखने की बात है कि जिस वदि पर बर्हि का आस्त रण होने वाला है वह वृषा स्थानीय देवताओ की (यज्ञपुरुष की) योष (प नी) है । मी के दाम्प यभाव से वा मलक्षण अप य उ पन्न होने वाला है । प्रजननक्रिया में नीवीब धन प्रतिब धक है । ध सन्नहनर जु इस योषा (वेदि) की नीवीस्थानीया है । क्योकि अब प्रजननकम्म होने वाला है अत स ब धन को पृथक करना ही प्रक्रिया सुसङ्गत है ।

ब धन को पृथक् कर इसे वदि के दक्षिण श्रोणिप्रदेश पर रक्खा जाता है । क्योकि यह ब धन प्रति रूपम र्यादा से नीवी है । उधर नीवीब धन लोक यवहार में दक्षिण श्रोण पर ही रहता है साथ ही वह वष्टन वस्त्र से ढँका भी रहता है । क यासन्तान की अपेक्षा पुत्रस तान का (पितृऋण मोचन का दृष्टि स) विशेष मह व माना गया है । दक्षिण भाग अग्निप्रधान बनता हुआ पुरुषप्रधान है वामभाग सोमप्रधान बनता हुआ स्त्रीप्रधान है । अतएव महर्षि चरकादि ने गर्भाधान सस्कारकाल में पति के दक्षिण पर से ही शय्यारूढ होना आवश्यक माना है इधर इस यज्ञ से भी द वा मलक्षण पुरुषविध स तान का ही प्रजनन अपेक्षित है । अत अग्निप्रधान दक्षिणा श्रोणि पर ही सन्नहन रखना उचित है । नीवीब धन शि टम र्यादा के अनुसार ढका रहता है । अत यहा भी उसी म र्यादा का अनुगमन किया जाता है ॥६॥



अथ—बर्हिस्तरणोपपत्ति—

कहा गया है कि इस यज्ञकम्म में गृहीत प्रस्तर शिखा-स्थानीय है । सब शरीरावयवो का प्रतिरूप मर्य्यादा से सग्रह होगया शिखाधारण प्रस्तर से गताथ बन गया । अब ष केश लोम बच रहते हैं जो शिखा

के अ ाभाग मे प्रात ठत रहत हैं। इसी केरा जोमसम्पत्ति के सग्र के लिए यहा प्रातरूप म यादा स बर्हि बिछाई जाती है यही **बर्हिस्तरण** की एक उपपत्ति है ॥ ॥

वेदि को योषा [स्त्री] स्थानीय बतलाया गया है। शि टाचार का यह आग्रह है कि कुलीन स्त्री याद किसी आवश्यक वम्मका य स भद्रपुरुष मण्डली मे बठ तो अपने सर्वाङ्गशरीर को ढाक कर बडे विनय तथा ल जा भाव स ही युक्त रह। यहा वदिरूवा स्त्री प्राकृतिक प्राणदेवताओ तथा यज्ञसञ्चालक ऋत्विजो की मण्डली मे प्रति ठत है। अत आवश्यक है कि उसे न न [निल ज] न रहने दिया जाय। इसलिए भी वदि पर बर्हि बिछाना आवश्यक है। बर्हिस्तरण की यही दूसरी उपपत्ति है ॥८॥

वदि जस निदानेन योषा (स्त्री) है वस निदानेन यह पृथिवी भी योषा ही है। पृथवी के उवर ऊसर भेद से दो विभाग रहते ह। **निऋ ति** नामक दरिद्र वता (**अलक्ष्मी धूमावती अवरोहणी ज्येष्ठा**) के निग्रह स सस्यादि–प्रजनन के अभा य क्षत–विक्षत भूप्र श ऊसर है। एव **राहिणी** नामक भाग्यद ता (**लक्ष्मी कमला**) के अनुग्रह स सस्यादि बहु ा सम भूप्रदश उवर है बहुल–ओषधियुक्त भूप्रदश ही भो यतम माना गया है। जा पृथिवी का प्रदश यहा वदिरूप स ग ीत ह वह स यज्ञकर्त्ता यजमान के लिए बहुल ओषधि–वनस्पतियो स युक्त बनता हुआ ज वनीयतम बने उसी लक्ष्य स उस पर ओषधि वनस्पति के प्रतिरूप बर्हि बिछाए जात ह। यज्ञक म मे यजमान के निमित्त निदानविधि स ऋ विक् जोग जिस स पत्ति का सग्रह करते है अवश्यमव **यावद्वित्त तावदा मा** स ओ ा सिद्धा त के अनुसार वह यजमान की प्रातिस्विक स पत्ति बन जाती है। यही र्हिस्तरण की तीसरी उपपत्ति है ॥९॥

पृथिवी के जिस भाग में जितनी अधिक ओषधिया प्रतिष्ठित रहती है वह भाग उतना ही अधिक उपजाऊ कहलाता है। वही उपजीवनीयतम (भोग्यतम) प्रदेश माना गया है। उस स पत्ति के लिए र्हि उस मात्रा से बिछाइ जाती है जिससे वाद का प्रदश अप्र यक्ष होजाय। ओषधिमूल भूगभ म ही प्रविष्ट रहते हैं। इसी प्राकृतिक स्थिति के समतुलन के लिए बहि के अग्रभागो स द्वितीय तृतीय दभमुष्टि के मूलभागो को दबा दिया जाता है त्रिस य देवताओ के त्रिवृद्यज्ञ की स्वरूप–नि पत्ति के लिए ही स्तरणक म विहित है। उसी त्रि वानुगता यज्ञस पत्ति के लिए तीन बार स्तरण होता है ॥१ ॥

ऊर्णम्रदस वा स्तृणामि स्वासस्था देवेभ्य यह स्तरण–क मसाधक म त्र है। म त्र का भाव यही है कि यद्यपि दभतृण का आस्तरण होता है तथापि भावना ऐसी रखनी चाहिए कि मानो हम वदि पर बैठने वाले प्राणदवताओ के लिए कोमलस्पश से युक्त आसन ही बिछा रह हैं। **अ य को अ य भावना से देखना** यही तो निदान है। एव भावना मक निदान ही तो हमारे क र्मो की श्र ष्ठता का मूलाधार है ॥११॥

इति–बर्हिस्तरणोपपत्ति

अथ–अग्निकल्पोपपत्ति —

कहा गया है कि स व सरा मक यज्ञपुरुष का एकविंशस्तोमा मक द्यु प्र श शिरोभाग है। यहाँ आहवनीयकुण्ड निदानेन इस वधयज्ञ का शिरोभाग है। शिरोभागस्थ मध्यभाग में आहुति–ग्राहक अन्नादाग्नि

प्रतिष्ठित रहता है। तत्स्थान म यहा आहवनीयकुण्ड में प्रतिष्ठित आ वनीयाग्नि है। यदि अग्नि प्रबल रहता है तो आहुत अन्न की आकषण दहन पचनादि क्रिया ठीक ठीक होती । आग्नमान्द्य मे ये क्रियाए निबल रहती हैं। परिणामत पुष्टि तुष्टि तृप्ति बल वीर्यादि का अभाव रहता है। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि शिरोभागोपलक्षित मुखस्थित आहुतिग्राहक आहवनीयाग्नि की आहुतिद्रव्य के आकषणादि के लिए इध्मकाष्ठ से भस्मादि हटा कर प्रबल बना दिया जाय। यज्ञपुरुष का पूर्णस्वरूप शिखा पर्यन्त माना गया है। धर कुशमुष्टिलक्षण प्रस्तर इस वैधयज्ञपुरुष की शिखा है। अत प्रस्तररूप शिखा का आहवनीय के ऊपर सम्बन्ध बनाते हुए पूर्णरूपेण यह प्रबलीकरण किया जाता है॥ ॥

इति–अग्निकल्पोपपत्ति

—————*—————

अथ–परिधिपरिधानोपपत्ति —

जिन तीन परिधियों का आहवनीयकुण्ड के पश्चिम–दक्षिण उत्तरप्रान्त भागो म क्रमश स्थापन होता है उन का विशद वैज्ञानिक विवेचन पूर्व के **आ यविज्ञान** म (शतपथभाष्य–प्रथमखण्ड में) किया जाचुका है। अग्निरहस्यवेत्ता विद्वानोंने अनेकधा विभक्त अग्नि के चार रूपों का प्रत्यक्ष किया। एव इसी आधार पर **चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्र अग्निरास** य अनुगम–वचन प्रतिष्ठित हुआ। उन सब अग्निविवर्तों का उक्त **आ याब्राह्मण** में दिग्दशन कराया जाचुका है। प्रकृत प्रकरण के समन्वय के लिए यह आवश्यक होगा कि पाठक एक बार वह प्रकरण अपने लक्ष्य म ले आव। यहा प्रकरण–सङ्गति के लिए दो शब्दों में उस का सिंहावलोकनमात्र कर दिया जाता है।

पुरुषाग्नि प्राकृताग्नि विराडग्नि सम्वत्सराग्नि इन चार अग्नियो म से चौथा सम्वत्सराग्नि ही इस कथानक का मूलाधार है। इस सम्वत्सराग्नि को ही **भूतानापति** कहा गया है *। इस **भूताना–पति** सम्वत्सराग्नि की ही आगे जाकर चार अवस्थाएँ होजाती हैं जिन के लिए— **चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास** यह कहा गया है। सम्वत्सरचक्र **सौर पार्थिव** भेद से दो भागो म विभक्त है। **पार्थिव सम्वत्सरचक्र गायत्राग्निप्रधान है एव सौर सम्वत्सरचक्र सावित्राग्निप्रधान है**। प्रकृत में केवल पार्थिवाग्निसम्बन्धी पार्थिवसम्वत्सरचक्र के साथ ही अग्नि की अवस्थाचतुष्टयी का सम्बन्ध समझना चाहिए।

भूपिण्ड के गर्भ में प्रतिष्ठित प्राणाग्नि **अन्नादाग्नि** नाम से प्रसिद्ध है। इसी अन्नादाग्नि को रु कहा जाता है। इसी रुद्राग्नि की अहर्गणवितान से आगे जाकर चार अवस्थाए होजाती ह। इन चार पार्थिव सम्वत्सराग्नियों में एक तो पार्थिव यज्ञ के **होता** बनते ह शेष तीन अग्नि **आ या** रूप में परिणत होकर

---

* **"अस्या प्रतिष्ठायां भूतानि च भूताना पति सम्वत्सरायादीक्षन्त। भूताना पतिगृहपतिरासीद् उषा पत्नी। तद्यानि तानि भूतानि–ऋतवस्ते। अथ य स भूताना पति, सम्वत्सर स"** (शत ६।१ अ १।३ ब्रा ६७ क)।

इस अ न की परिधिया बने र त है। पार्थिव प्रजापात अग्नि की गृहपति सम्वसर भेद से दो अवस्थाए होजाती है। गृहपति अग्नि भूपिण्ड में अन्नादरूप स प्रातष्ठित रहता है एव स व सराग्नि पार्थिव स वसर में प्रतिष्ठित रहता है। भूपिण्डस्थ पार्थिव अग्नि की उक्थ अर्क भे से दो अवस्थाए रहती है। भूकेन्द्र मे प्रतिष्ठित अनिरुक्तप्रजापति नाम स प्रसिद्ध हृद्य अग्नि सर्वप्रभव बनाता हुआ उक्थ नाम से प्रसिद्ध है। यही इस यज्ञ का प्रजापति (यजमान) है। पार्थिव उषा इस की पत्नी है। इन्ही दोनो के दाम्पत्यभाव से पार्थिव–प्रजा की उत्पत्ति हुई है। उक्थ से अर्क (रश्मिया) निकला करते है। भूकेन्द्रस्थ उक्थाग्नि की प्राणात्मिका रश्मिया उक्थ से निकल कर बडी दूर पर्यन्त व्याप्त रहती है। जहातक यह अर्काग्नि प्राणाग्नि व्याप्त रहता है वहातक पार्थिवमण्डल की सीमा मानी जाती है जोकि सीमा सामपरिभाषा में रथन्तरसाम नाम स प्रसिद्ध है।

केन्द्रस्थ उक्थ नामक हृद्य गृहपति प्रजापति–अग्नि से अर्करूप में परिणत होने वाले इस प्राणाग्नि की आगे जाकर पार्थिव अग्नि सम्वसराग्नि भेद स दो अवस्थाए होजाती है। भूपिण्डावच्छिन्न वही प्राणाग्नि (अर्काग्नि) पार्थिव अग्नि है एव इसे ही भूपति कहा जाता है। भूमहिमावच्छिन्न वही अर्काग्नि सम्वसराग्नि है एव–उसे ही पूर्व कथनानुसार भूतानापति कहा जाता है। भूमहिमा का वषट्–कारमण्डल स सम्बन्ध है एव अग्नि के सम्बन्ध से इस वषट्कार में ३ अहर्गणो मे स २१ अहर्गण सगृहीत है। भूपिण्ड स आरम्भ कर २१ वे अहर्गणपर्यन्त जो भूमहिमा प्रदेश है वही सम्वसरचक्र है। इस पार्थिव सम्वसरचक्र में ही वह पार्थिव प्राणाग्नि स वसराग्नि प्रतिष्ठित है।

भूतानापति नामक सम्पूर्ण स वसरचक्र में एकरूप मे प्रतिष्ठित अतएव सम्वसरप्रजापति नाम से प्रसिद्ध इस महिमाग्नि के आगे जाकर क्रमश पार्थिव—त्रिवृत् (६) पञ्चदश (१५) एकविंश (२१) स्तोम भेद से तीन भेद होजाते है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्यु प्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानापति भूतानापति नाम स प्रसिद्ध है। यही देवविज्ञानानुसार आदित्य कहलाया है। पञ्चदश—स्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्ष प्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानापति भुवनपति नाम से प्रसिद्ध है। यही देवपरिभाषा मे—वायु कहलाया है। एव त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पृथिवी—प्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानापति भुवपति नाम से प्रसिद्ध है। यही देवपरिभाषा मे अग्नि कहलाया है। इसप्रकार स्तोमभेद से पार्थिव सम्वसरचक्र मे तीन स्थानो में विभक्त होता हुआ एक ही स वसराग्नि तीन रूप धारण कर लेता है। निष्कर्ष यही निकला कि भूपिण्डकेन्द्रस्थ गृहपति अग्नि के उक्थरूप के आधार पर भूपिण्ड त्रिवृत्–पञ्चदश एकविंशस्तोम इन चार प्रदेशो में विभक्त अर्काग्नि के भूपति भुवपति भुवनपति भूतानापति ये चार रूप होजाते है। इन्ही चारो को लक्ष्य में रखकर चतुर्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास यह कहा गया है।

भौमाग्नि ——	[१ भूपति —भूपिण्डावच्छिन्न अर्कविध —अग्नि]	ज्येष्ठभ्राता				
स वसराग्नि ——	२–भुवपति —पृथिव्यवच्छिन्न — —अग्नि	अग्निभ्रातर		पिता–प्रजापतिरूप	गृहपति –उक्थ
	३ भुवनपति —अन्तरिक्षावच्छिन्न – —वायु				
	४–भूतानापति —द्युलोकावच्छिन्न – –आदित्य				

प्रश्न यह है कि अकावध उक्त चारो आग्नयो म स पार्थिव गृहपान यजमान के पार्थिव हर्वियज्ञ—मे होता कौन सा अनि बनता है ? । आ याविज्ञान म एकमात्र इमी प्रश्न का समा ान हुआ है । पार्थिव स्तौम्यत्रलोक म याप्त त्रिनि ा स व सराग्नित्रयी सकम्म म असमथ । योकि सका भूपिण्ड स अन्तर्य्याम स ब ध सुरक्षित नही हने पाता । कारण स का यही है कि—**समुन्मभित पि यमानम्** म मन्त्रवणन के अनुसार भूपिण्ड चारो ओर स अणवसमुद्र से वाष्टत है । इम अपत व के सम्ब ध स तत्रस्थ सम्व सरा ग्नित्रयी का भौमयज्ञवहन मे अ तर्य्याम–सम्ब ध नही होने पाता । आर भ म एकरूप स प्रतिष्ठित तीना सा वत्सरिक प्राण ग्नि इस अपसमुद्र के गभ में चले जात हं । अतएव न का भूपिण्ड स अ त र्याम–स ब ध नही रहता । सम्ब ध रहता है–उस भौम प्राणाग्न का ही जिस **गायत्र–अग्नि** भी कहा जाता है । यही अपने **एात च प्र ति चा गह्** बल स तृतीय द्यु स सोमापहरण म भी समथ होता है एव पार्थिव दवताओ के यज्ञ के **होत्र–कम्म** का भी सञ्चालन करता है ।

सा वसरिक—अग्नित्रयी ने क्यो नही इस कम्म को अपनाया ? इस का उत्तर है—वषटकार । भूपिण्ड की अपनी एक वा मयी सीमा है । वही वाक्सीमा **वषटकार** नाम से प्रसिद्ध है । स भौम–वषटकारसीमा में वही आ न अ तर्याम–सम्ब ध से प्रातष्ठित रह सकता है जो भूमि की प्राातस्विक वस्तु बना रहता है । सम्व सराग्नि का इस वषटकार सीमा से सम्ब व अवश्य रहता है परन्तु यह उस म प्रातष्ठित नही होसकता । इसी प्राकृतिक स्थिात का आख्यानरूप से निरूपण करते हुए श्रुात ने कहा है कि तीन अग्नि पलायित होकर (भाग कर) पानी (अणवसमुद्र) म जा छुपे एव एक आ न (गायत्र) ने **हौत्र कम्म** करना वीकार किया ।

हौत्रकम्म में नियुक्त गायत्राग्नि स स वसराग्नि के सहयोग से सवथा वञ्चित रहता हे तथा सम्व स–राग्नित्रयीयो को पार्थिवयज्ञ का कोइ फल भी नही मिलता यह बात नही हे । जब गायत्रा ा द्यु लोकस्थ देवताओ के समीप हवि लेकर पहु चते हैं——— तो अणव समुद्र में याप्त आप्य आसरप्राण के आक्रमण से यही सम्व सराग्नित्रयी इस की रक्षा करती है । पश्चिम– क्षिण–उत्तर–प्रा तस्थ साम्व सरिक—अग्नित्रयी सीमारूप से इन तीनो ओर से गायत्राग्नि की रक्षा करती है यही स आग्नत्रयी का पार्थिवयज्ञ मे उपभोग है । साथ ही जो हविद्र्व्याश प्रवग्यरूप से सम्व सराग्नत्रयी के गभ म रह जाता है वह इन के लिए आहुतिद्र य बन जाता है सीमारूप से होता अग्नि की स्वरूपरक्षा तथा प्रातफल में उच्छिष्टद्र य का ग्रहण करना ी इन का यज्ञसस्था म उपयुक्त होना है ।

स स ब ध मे एक य विशेषता यान में रखनी चाहिए कि इम पलायित आ याग्नि की **शुद्ध–मलिन** भेद से दो अवस्था होजाती हैं जसाकि आ या विज्ञान मे विस्तार से बतलाया जाचुका है । सम्व सराग्नित्रयी का अणवसमुद्र स सम्ब ध बतलाया गया है । स अणवसमुद्र के आ यभाग मे सम्व सरा–ग्नित्रयी का जो प्रव यभाग प्रविष्ट रहता है वही मलिन आ या है ए ब्रह्मौदना मक स व सराग्नित्रयी ही शुद्ध आ या है । ये ही अग्निरक्षक बनते हुए सीमा है । मलिन आप्यायुक्त अपत व ही भूपिण्ड का

+— 'अतन्द्रो ह य वहसि हविष्कृदादिद वेषु राजसि" । (यजु सहितायाम्)

उ पादक है। स पर पर स प्रव यभूत आ याग्नित्रयी भूपिण्ड में प्रति ठित रहती है। जो हर्विद्र य भूपण्ड पर प्रव य—स ब ध स रह जाता है वह इस मलिन-प्रव य-आ याग्नि की तृप्ति का कारण बनता है। एव द्य लाक में होता-आग्न के द्वारा ले जाया जाता हुआ जो हर्विद्र य प्रव यरूप से स व सरमण्डल म रह जाता है वह तत्रस्थ सीमारूप शुद्ध आ याग्नित्रयी की तृप्ति का कारण बनता है।

य वव हवियज्ञ उक्त प्राकृतिक-पाथव-हर्वियज्ञ का ही प्रतिरूप है। अत जसे वहा सीमारूप से पलयित अग्नित्रयी का स ब ध होरहा है तथव यहा भी प्रतिरूपावधि से उनका सग्रह होता है। वहा की भाात यहा भी प्रव ग्य द्र य का स ब ध होना ही चाहिए। वहा की भाात भूगभस्थ मलिन आ याग्नित्रयी की तृप्ति का यहा भी समावश हो ा ही चाहिए। मी उद्द श्य से देवानन्वविधा व मनुष्या — यद्दै देवा अकुव स्तत् करवाणि इस आदश के अनुगमन क लिए प्राकृतिक आग्नस पत्ति के सग्र के लिए पलायित आ नत्रयी के प्रातरूप में तीन परिधिया का परिधान किया जाता ह। नकी तृ ति के लिए न पर प्रव ग्यरूप स आ यादि डाला जाता है। जो आहुतिद्र य भूपृ ठ पर गिर जाता है वह मालन आ या नि की तृ ति का कारण बनता है। परिधपार ानकम्म की यही सन्ि न उपपत्ति है॥ १३ १४ १५ १६ १७ १८॥

ये परिधिया किस का ठ की बना जाय? इसका उत्तर यज्ञिय-वृक्ष हैं सा व सारक आ या-ग्नित्रयी स व सरयज्ञसीमा के गभ में प्रतिष्ठित है। अत इन का प्रतिरूप का ठ वही बन सकता है जिन म यज्ञातिशय विकासित हो। पलाश विकङ्कत काश्म य बि व खदिर दु बर न वृक्षो म यज्ञातिशय प्रकृ या ही विकासित रहता है अतएव ये यज्ञिय वक्ष मान गए है। इन में से प्रधान पक्ष तो पलाश ग्रहण का ही है। क्योंकि पलाशवक्ष म ब्रह्मवी यस पादक अग्नित्र प्रधानरूप स प्रति ठित रहता है। एव अग्निस पत्तिसग्रह के लिए ही इन परिधियों का ग्रहण होता है। पलाश के समय पर न मिलने से ही विकङ्क अ य का ठो का ग्र ण करना चा ए। पाठको की सुविधा के लिए न याज्ञय वक्षो के नामा तर अत्र उद्ध त कर दिए जात ह॥ १९ २ ॥

१-पलाश —

पलाश किंशुक करक सुपर्णी वातपोत ये सभी श द अ शत समानाथक माने गए हैं। गुणदृष्टि स इसी पलाश के ये नाम प्रसिद्ध है—याज्ञिक ब्रह्मवृक्ष ब्रह्मपा प ब्रह्मापनता पत्र समिद्वर काष्ठ पण त्रिपण त्रिपाक वक्रपुष्प रक्तपुष्प बीजस्नेह कृमि न क्षारश्र ष्ठ इ यादि। नि न-लिखित सग्रहश्लोक पलाश के न्हीं गुणो का स्पष्टीकरण कर रहे है—

> कषायतिक्तकटुक स्निग्धोष्णो दीपन सर॥
> भग्नस धानकृद् वृष्य पलाशो गुणतो मत॥१॥
> त्रिदोषहृत् कृमिघ्नोऽय पलाशो यज्ञपादप॥
> ग्रहण्यर्शो गुल्मगुदरगप्लीहावणे हित॥२॥

रक्तै पीतै सितैर्नीलै पुष्पैरेष चतुर्विध ॥
सर्वे समगुणा उक्ता सितस्तु ज्ञानरद्ध न ॥३॥
पुष्प विपाकमधुर ग्राहिशीतलमूषणम् ॥
कषायतिक्तकटुक वातल चोष्णमिष्यते ॥४॥
एतत् पुष्प कफ पित्त कुष्ठ दाह तृषामपि ॥
वातरक्त रक्तदाष मूत्रकृछ्र च नाशयत् ॥५॥
फल विपाककटुक लघूष्ण रूक्षामिष्यते ॥
शूलकुष्ठभ्रम हार्श कृमिगुल्मोदर हरत् ॥६॥
पामकण्डूतिदद्रू त्वगदोषघ्न वृत्तबीजकम् ॥
फलबीज कटुस्निग्धोष्ण कृमिघ्न कफापहम् ॥७॥
त मूलस्वरसो हन्ति नेत्रच्छायाध्यपुष्पकम् ॥
नूतन प लवश्चास्य कृमि वात च नाशयत् ॥८॥
ग्राही तस्य तु निर्य्यासो हरत् स्वेदातिनिर्गमम् ॥
मुखरोगाश्च कासाश्च ग्रहणी च विनाशयत् ॥९॥ इत्यादि ॥

सस्कृत	राष्ट्रभाषा	बगला	महाराष्ट्री	गुजराती	कर्णाटकी	तलङ्गी	तामिली	उत्कल
पलाश	पलाश ढाकटसू केसू धरा काकरिया	पलास	पलस	खाखिरो	मुत्तुलु	मातुका चट्टू	परशन्	पराशु

२–विकङ्कत —

विकङ्कत वैकङ्कत रावण मधुपर्णी गोपघोण्टा पिण्डार किकरी पूतकिकणी हिमक इत्यादि शब्द समानार्थक हैं। गुणदृष्टि से यही इन नामो स प्रसिद्ध है—यज्ञिय यज्ञवृक्ष ब्रह्मपादप स्रुगदारु स्रुवद्रुम स्रुवावृक्ष सुधावृक्ष पृथुबीज बहुफल मृदुफल ग्रन्थिल दन्तकाष्ठ पादरोहिण याघ्रपात् घृतिकर कण्टकी कण्टकारी कण्टपाद कण्टपत्र स्वादुकण्टक इत्यादि। निम्नलिखित सग्रह-श्लोक विकङ्कत के इन्ही गुणो का दिगदशन करा रहे हैं—

कषायोऽम्लश्च मधुर पाकेऽतिमधुरो लघु ॥
त्रिकङ्कतोऽय नात्युष्णशीतो दीपनपाचन ॥१॥
कफ पित्त रक्तदोषान् नत्रपुष्प च कामलाम् ॥
शोष शोक व्रण दाह लूतामशश्च ह ति स ॥
त्रिकङ्कतफल पक्व मधुर सर्वदोषहृत् ॥२॥

स	रा	ब्रं	म	गु	क	त	उ
शमी	छोकर छिकुर सफे कीकर	शाइ छु वा ला	थोरशामी लघुशामी	खिजडो नानीखिजडी	वती का ग्रान	शामीचेट्ट	शुमी

३—काष्मर्य —

काष्मर्य काष्मरी गम्भारी श्रीपर्णी भद्रपर्णी स्निग्धपर्णी मधुपर्णी कुमुदा मोन्निनी गृष्टि भन्ना सुभद्रा सर्वतोभद्रा गापभद्रा मधुभन्ना महाभन्ना सदाभ । रोहिणी पीतरोहिणी हीरा इ यादि श द समानाथक है। इन में काष्म य श द का विशुद्ध छ ो यस्ता नामक वदिकी भाषा से ही स बध है। गुणदृष्टि स यही इन नामो से यवहृत हुआ है—क्षीरिणी त्रिभारणी मधुरसा मधुम ती सुकला पीतकला कटुकला कृष्णकला कृष्णवृन्ता कृष्णाप अश्वेता गातहा स्थूल चा न्ढत्वचा इ यादि। नि न लिखित सग्रह—श्लोको से का म य के इन्ही गुणो का समथन होरहा है—

गम्भारी मधुरा तिक्ता कषाया कटुका गुरु ॥
दीपनी पाचनी मेध्योष्णावीर्या मदनी तथा ॥१॥
हृद्या ह ति वर दाह शोष शोक तृषा विषम् ॥
आमशूल प्रमेहाशास्रदोष च भ्रम कृमिम् ॥
शीतल मधुर तिक्त गुरुस्निग्ध च तत्फलम् ॥
ब हण ग्राहि मेध्य च वृष्य रसायनम् ॥३॥
ह ति मूत्रविब धश्च वात पित्त तृषा क्षयम् ॥
दाह च रक्तदोष च सतिक्तमधुर फलम् ॥४॥

फलमम्लकषाय तु गुरुस्निग्ध विशुद्धिकृत् ॥
मूत्रद् बुद्धिढ हन्ति गातपि‍ा चय तषाम ॥५॥
रक्तवत रक्तपित्त रक्तदोष च हन्ति तत् ॥
आमवात मूत्रकृच्छ दाह च प्रदर हरत् ॥६॥
कषायतिक्तमधुरा फलमज्जाऽसृजोरुजम ॥
ग्राहिणी वातला ब या वृष्या पित्त कफ हरेत् ॥७॥
कषायतिक्तमधुर पुष्प तस्यास्तु शीतलम ॥
विपाकमधुर ग्राहि वातल रक्तदोषहृत ।८॥
गम्भारीमूलमत्युष्ण मानुषषु हत न तत ॥६॥

स	रा		म	गु	क	त
ग भारी	कुम्भरे ख भारी	गाभारी गाभार	शीवण गभारो	शवन्य	सीवनी	साल्लागुटु ट चन्‍

४–विल्व

बि व श्रीफल शलूष मालूर शाण्डि य श य सामहरीतकि गोहरीतकि कपातन शलाटु महाकपि थ नीलमल्लिक ककट सुनीतक इ यादि श द समाना क है। गुणदृष्टि स यही इन नामों से व्यवहृत हुआ है—शिवेष्ट शिवद्रुम मङ्गल्य अतिमङ्गल समीरसार पूतिगात पीतफल महाफल लक्ष्मीफल सदाफल ग धफल स यफल स यधम्म हृद्यग ध ग धपत्र शलपत्र त्रिशाखापत्र त्रिशिख त्रिदल पत्रश्रेष्ठ कण्टकाढ्य सितानन अधरोरुह इ या । नि न लिखित श्लाक बि व के इन्ही गुणो का समथन कर रहे है—

कफानिलहर तीक्ष्ण स्निग्ध सग्राहि दीपनम् ॥
कटुतिक्तकषायोष्ण बाल बिल्वमुदाहृतम् ॥१॥
तदेव विद्यात् सपक्व मधुरानुरस गुरु ॥
विदाहि विष्टम्भकर दोषकृत् पूतिमारुतम् ॥२॥

स	रा	ग्र	म	गु	क	त	ता
बि न	बेल	वल	वलवृत्त	विलोविलु	बेललु	मारेडीपन्दू बि व	वि अपा भाम

५–खदिर —

खदिर खन्तपत्री प्रमख ककटी गायत्री इ यादि श द समानाथक हे। गुणदृष्टि से यही न नामो से प्रसिद्ध हे—याज्ञिक यज्ञाङ्ग मे य यूप म द तधावन पथिन्म रक्तसार तिक्तसार बहुसार क्षितिक्षम बालपत्र बालपुत्र बालतनय वक्रकण्टक कण्टकी बहुश य सुश य निह्मशल्य निह्माश य कुष्ठारि कुष्ठहत् यादि। नि न लिखित श्लोक खादर–गुणो का ही यशोगान कर रहे हैं—

शीतोष्ण खदिरो द त्य कषायकटुतिस्तक ॥
अरिमेदो विटखदिरे कदर खदिरे सिते ॥१॥
कदरो ह ति कण्डूति कुष्ठ भूतग्रह ज्वरम ॥
मुखरोग पाण्डुरोग रक्तदोष कृमि व्रणम ॥२॥
श्वित्र शोथ चामपित्त प्रमह च विष तथा ॥
मद्योरोग वातकफ नाशयत खदिर सित ॥३॥
सारो व्रण्यो रक्तदोष मुखरोग कफ हरेत ॥
निर्य्यासो मधुरो बल्य खादिर शुक्रवर्द्धन ॥४॥

स	रा	म	गु	क	टै
खदिर	खैर क था पपड़िया खयर	खएरगाछ	खयर पाडराखयर	कोपिन गर पिलीयतत्रि	चरडचेन्द्रगालु तेल्लचएड

६–उदुम्बर —

उदुम्बर उन्म्बर प्रतिष्ठित सुचक्षु न तुफल यदि श समानाथक माने गए है। गुणदृष्टि स य ी न नामो से यवहृत हुआ है –यज्ञिय यज्ञयाग्य यज्ञाङ्ग यज्ञसार यज्ञफल पवित्रक ब्रह्मवृक्ष सोम्य कालस्क ध श्वेतवल्कल शीतल कल शीतफल जनफल सदाफल जन्तुफल अपुष्पफल पुष्पशू य पुष्पहीन पाणिमुख क्षीरवृक्ष हेमदु व हमदुग्धी कृमिकण्टक याद। नि न लिखित श्लोक उदु बर के गुण ही यक्त कर रहे ह—

कषायमधुर शीतो रूक्षो वण उदुम्बर ॥
व्रणापहोऽस्थिसधानगर्भस धानकृद्गुरु ॥१॥
कफपित्तमतीसार योनियोग च ह ित स ॥
कषायशीतल वल्क गर्भ्य दुग्ध व्रणापहम् ॥२॥
आम फल कषायाम्ल मासवृद्धिकर जडम ॥
दोषल रक्तरुकारि दीपन रुचमिष्यते ॥३॥
अतिशीत फल पक्व कषायमधुर जडम ॥
कृमिकृत कफकृद् रुच्य ह ित पि । प्रमेहकम ॥४॥
रक्तरोग क्षुधा मू र्छा दाह शोष श्रम तृषाम ॥
कोमल तत्तृषा रक्तदोष पित्त कफ हरेत ॥५॥
किञ्चित् कोमल स्वादु कषाग शीतल फलम् ॥
ह ित प्रहारज क्लेश वा ित पित्तमसृक्स्र ुतिम् ॥६॥

स	रा	ब	म	गु	क	तै
उदुम्बर	गूलर	यज्ञडुमुर	उम्बर	उम्बरो	अत्ति	नाडुचेट्ट

प्रथमकाण्डान्तर्गत–तृतीय अध्याय का तृतीय ब्राह्मण
एव–द्वितीय ब्राह्मण का षष्ठब्राह्मण उपरत

*

अत्र–इध्मब्राह्मण समाप्त

*

द्वितीय प्रपाठक समाप्त

२

*

प्रथमकाण्डान्तर्गत–तृतीय–अध्याय का चतुर्थ ब्राह्मण एव–तृतीय प्रपाठक का प्रथ । ब्राह्मण उपक्रान्त परिधिब्राह्मण अत्र उपक्रा त तृतीय—प्रपाठक—उपक्रान्तू

३

—*—

उक्त यज्ञिय वृक्षो में स समयप्रा त किसी एक यज्ञिय वृक्ष की जो परिधिया ली जाती है व गीली ोनी है। आर्द्रभाव ही न का जीवनीय रस है यही न्नको प्रातिस्वक स पात्त है। इस स पत्ति–सग्रह की दृष्टि से जहा आद्रभाव अभिप्र त है वहा आ याग्नि के अन्नगर्भित–स्वरूप की दृष्टि स भी आद्र भाव अपेक्षित है। तीनो परिधिया उस आ यानित्रयी की ही प्रतिरूप है जा आपोमय अर्णवसमुद्र मे प्रविष्ट है। अत तत्–सादृश्येन परिधिया आद्र ही ली जाती है। जिसप्रकार आक्रमण–कर्ता के आक्रमण को वीर पुरुष अपन हाथो की परिधि से राक दता है एवमेव य परिधिया आक्रमणरक्षक ही बनी हुइ ह। अतएव लम्बाई मे ये बाहुपारमाण ही बनाइ जाती है॥ ॥

गन्धवस्त्वा इ ादि म त्र से पश्चिम भाग में परिधि रक्खी जाती है। प्राकृतिक यज्ञ में तृतीय त्र स्थानीय सोम की (पारम ष्ठ्य आ य आसुराक्रमण स) रक्षा विश्वावसुप्रमुख एतन्नामक ग धर्वप्राण स ही होरही है। यहा भी पारधि के द्वारा वही रक्षाक म अभिप्र त है। अतएव इस परिावस्थापनलक्षण रक्षाक म मे उसी प्राकृतिक रक्षक की भावना की जाती है। अ तजगद् विज्ञान के अनुसार स पूण विश्व जिसमे कि य जीवनयात्रा का सञ्चालन कर रहा है अपना विश्व है। इस की शान्ति स्वास्ति में ही यज्ञकर्ता यजमान की शान्ति स्वस्ति है। इस रक्षाकर्म स इसी के लिए इसी के भोग्य विश्व को सुरक्षित रहने की भावना यक्त करने के अभिप्र य से– विश्वस्यारिष्ट्य इ यादि कहा गया है ॥२॥

दक्षिणदिशा की ओर से प्राकृतिक हवियज्ञ पर जो आसुर आक्रमण होत रहत है व अग्निसयुक्त इ द्रप्राण से रोके जात ह *। एव भौमदव यवस्था के अनुसार दक्षिणदिशा की ओर से होने वाले मनु यविध इ द्र के द्वारा रोके जाते थ —। अतएव यहा भी दक्षिण परिधिस्थापन से इ द्र के बाहु की भावना से उसी इन्द्ररक्षक की प्राप्ति की जाती ह। इ द्रस्य बाहुरसि इ यादि म त्र का यही ता प र्याथ है ॥३॥

उत्तरादिक की ओर से होने वाले आक्रमण तत्रस्थ मित्रावरु दवताओ स राके जाते है जसा कि– उदीची दिक् मित्रावरुणा देवता (तै ब्रा ३।११।५।२।) इ यादि कृ ण श्रुति से प्रमाणित है।

---

* "दक्षिणा दिक इ द्रो देवता" (श ब्रा ३।११।५।१)

— 'अतो ही द्रस्तिष्ठन् दक्षिणतो नाष्ट्रा रक्षास्यपाध्नन्' (श० १।४।५।३।)।

उद्धी रक्षको की भावना के लिए— **मित्रावरुणा ध्रोत्तरत** इत्यादि मन्त्र बोलते हुए उत्तर की ओर तीसरी पारधि का स्थापन होता है ॥४॥

अथ—समिधाभ्याधानोपपत्ति

अग्निक पात्र पू मे गृहीत समिध आहवनीय में डालना ही **समिधा याधानकर्म** है। समिधा-याधान छन्द तथा **ऋतुदेवता** के साम वन स सम्बन्ध रखता है। अर्थात् यह साम वन छन्द तथा ऋतुओं का ही किया जाता है। बात यह है कि आहवनीय अग्नि म आहुतद्रव्य का इ ी अग्नि स घुला कर ा दवताओं में गमन ाने वाला है। अग्नि आहुति ले जाने वाले है। इधर अग्नि की प्रतिष्ठा छन्द एव ऋतुएँ हे। यदि छन्द—ऋतु समिद्ध है तो ह यता अग्नि भी समिद्ध है। एव सामद्ध अग्नि ही ह यवहनकर्म में समथ है। अत आहुतिक म स पहि ो छन्द—ऋतु का भी समि धन आवश्यक हाजाता है। समि ान होता है—अा न के उद्देश्य स पर तु लक्ष्य है—ऋतु और छन्द। अा नतत्व **सम्व सराग्नत्रयी पार्थिव गायत्राग्नि** भे से चार भागों में विभक्त बतलाया गया ह। तीनों परिधि निदानेन स व सराग्नित्रयी के प्रतिरूप हे ए आहवनीयाग्नि गायत्राग्न का प्रतिरूप है। दानो के समि वन के लिए पहले समिध का परिधि स स्पश कराया जाता है स स तो पारविलक्षणा अग्नत्रयी परोक्षरूप से समिद्ध होजाती है अनन्तर समिध आहवनीय में डा ी जाती है म से इस का प्र यक्षरूप से समिन्धन होजाता है ॥५॥

नीतिहोत्र ना यादि गायत्रीम त्र से ही प्रथम सामध डाली जाती है। इस प्रथम समिध से छन्दों का समिन्धन करता है। उधर छन्द गायत्री प्रमुख है। गायत्रीछन्द ही सब छन्दो का मूल माना गया है। इस एक के समि धन स न्तर सब छन्दों का समि धन होजाता है। अत सव छन्द समि धनोद्देश्य से गायत्री मन्त्र के द्वारा गायत्रीछन्द का समि धन किया जाता है। समाद्धगायत्री न्तर ६ अा छन्दों का समिन्धन कर देती है। एव ये समिद्ध छन्द दवताओं के लिए ह यवहन करने में समथ होजाते हैं।

ता पर्य्य इस समिन्धन का एकमात्र है पार्थिव अा न म दि य तेजोयुक्त अाग्न का समावश। जबतक पार्थिव अग्नि में दि य तेज का आवान नहीं होजाता तबतक यह अा न न तो हविवहनक म मे ही पूण समथ बनता एव न ऐसे विशुद्ध पार्थिव—अाग्नगृहीत वि रा ाद यप्राग्निप्रधान प्राणदवताओं के साथ ही स ब ध होता जसाकि आगे के **सामिधेनी ब्राह्मण** में विस्तार से बतल या जाने वाला है। प्राकृतिक यज्ञ से सौर सावित्राग्नि के द्वारा पार्थिव अा न का समि धन गायत्रीछन्द स ही होती ह। खगोलीय उत्तरस्थ ककवृत्त स आर भ कर दक्षिणस्थ मकरवृत्ता त क्रमश जगती **त्रिष्टुप् पङ्क्ति बृहती अनुष्टुप् उष्णिक गायत्री** ये सात देव छन्द प्रतिष्ठित है। जगती उत्तर भाग की अा तम सीमा पर है एव गायत्री दक्षिण भाग की अ तिम सीमा पर है। उत्तरादिक सूर्यानुगता मानी गइ है। अतएव तत्प्रतिरूप उतदगाता की उदीची ही दिक् मानी जाती है जैसाकि— **उन्नी यदगात्** (शत १३।५।८।२४) से स्पष्ट है। ककवृत्तात्मिका उत्तर-प्रदशोपलक्षि ाा उत्तरदिशा में प्रतिष्ठित सौर तज दक्षिणस्थ गायत्रीछन्द स सम्बन्ध करता हुआ स पूर्ण छन्दों को समिद्ध कर दता है।

अपिच गायत्री अग्नि का छन्द है। इधर **अग्नि सर्वा देवता** के अनुसार स पूर्ण दवता अाग्न की ही अवस्थाविशेष हैं। फलत अग्नि के गायत्रीछन्द का सवछन्दोमय व भलीभांति सिद्ध होजाता है। गायत्री

के समि धन स तच्छन्दस्क पार्थिव अग्नि दि यभाव के समावेश से दि यदेवताओं के लिए ह व वहन मे समथ होजाता है । गायत्रीछन्द ही पार्थिवाग्नि को दि याग्नि के द्वारा समिद्ध करने वाला म यम है । अतएव य छन्द साम धनक म आवश्यक होजता है । नीतिहोत्र गा इ यादि मन्त्रपूव ही यह समि धनक म होता ह । गायत्री के द्वारा हाने वाले इस **समि धनकम्म** स ही अग्नि देवता हौत्रक म में सफल होते है । इस दिव्यतेज के समावेश स **द्यु तिमान्** बन जात है एव पृथिवीस्थान (भूस्थान) से हविग्र हण करते हुए ये अग्निदेव द्युलोक की ओर गमन क त हुए इस द्यु महिमा मे वितत– या त होकर **बृहत्** बन जाते ह । इसप्रकार म त्र ने—समि धनकम्म–जनित सभी अतिशयो का स्पष्टीकरण कर दिया ह ॥६॥

दूसरी समिध से वस त का समि धन किया जाता है । होत्रक म में दीक्षित पार्थिव अग्नि जिस हवि का द्य देवताओं के साथ सम्ब ध कराने वाले है वही हविद्र य देवा मा को उ पन्न करन ला है । पर तु जबतक ऋतुप्राण का अग्नि में समावेश नही होजाता तबतक प्रजनन असम्भव है । **सम्य सराद ऋतव रेता आभृतम्** इस कौषीतकि वचन के अनुसार ऋतुए ही प्रजननकम्म की आध ठात्री है । आ यात्मिक यज्ञ मे भी ऋतुमती–स्त्री ही गर्भाधान योग्या मानी गइ है । फलत ह यवहन के लिए जहा छन्द समि धन आवश्यक ह वहा प्रजनन के लिए ऋतु –समि धन भी आवश्क बन जाता है । इस द्वितीय सामधा याधान स वस त ऋतु का ही समि धन होता है । गायत्री छ दोवत् वस तऋतु तर ग्री मादि पाचो ऋतुओ का मूलाधार है । फलत वस तके समि धन स इतर ऋतुओ का भी समि धन हाजाता है । समिद्ध ऋतुओ स अ न म ऋतुध म का का समावेश होजाता है । एतद्द मीवि छिन्न आ न देवा मप्रजनन मे समथ होजाता है । इमी समि धनोपपत्ति का लक्ष्य में रखकर– **ऋतव समिद्धा प्रजाश्च प्रजनयन्ति** इ यादि कहा गया है एव समिधा या धानकम्म की यही सक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ॥

अथ–मन्त्रजपोपपत्ति

परिविस्थापन के द्वारा तीनो ओर से तो नाष्ट्रा–राक्षसो का अक्रमण राक दिया गया । अब पूव दिशा बच रहती है । पूव दिशा म भगवान् सू य का साम्रा य है सौरतेज से बढ़कर नाष्ट्रा–राक्षसों का नाशक और कोइ दूसरा नही है । आहवनीय के पूव भाग में इस रक्षक दि य–प्राण के स्थापन की भावना से इस ओर मुख करके– **सू यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्य** इ यादि म त्र का जप किया जाता है ॥ ८ ६ ॥

अथ विधृती–स्थापनोपपति

विधती श द विधति का द्विवचना त रूप है जिसका अथ है—**दो विधतियो की समष्टि** । आधिदैविक—विश्व में ए तदरूप विश्वयज्ञ में इन दो विधतियो का क्या स्वरूप है ? इस प्रश्न के समाधान पर ही इस धयज्ञ की कुशामयी दो विधतियो की उपपत्ति समन्वित होसकती है । धारण करने वाली शक्ति ही **विधति** है । अतएव जिस शक्ति ने इस विश्व को धारण कर रक्खा है उसी विशेष–शक्ति को हम— विधति कहेगे ।

अ नीषोमा मक जगत् के अनुसार **प्राणाग्नि** एव तत्र–तदाधारेण प्रतिष्ठित **भूताग्नि** तथा **प्राणसोम** और तदाधारेण प्रतिष्ठित **भूत–सोम** ये दो ही त व पाञ्चभौतिक विश्व के प्रमुख उपादान–कारण माने गए हैं। **शुष्कगुणक अग्नि तथा आर्द्रगुणक साम** –इन दोनों का अ तर्य्यामा मक–यजन ही विश्वयज्ञ का स्वरूप–निर्म्माता बना हुआ है। **वाचारम्भण विकारो नामधेय–मृत्तिके यव स यम्** इत्यादि छान्दोग्य–सिद्धा तानुसार उपादानकारण ही (जिसे कि वैदिक–परिभाषा मे— **आरम्भण** क ा गया* है) स्वकार्य्य की आधारात्मिका धतिलक्षणा **विधृति** [प्रतिष्ठाभूमि] माना गया है। का य का उपादानकारण ही कार्य्य के लिए **प्रभव प्रतिष्ठा** तथा **परायण** है। प्रभव प्रति ठा–परायणा मक उपादानकारणा मक अग्नि सोम–युग्म इसी दृष्टि से **विधृति** मा लिया गया है अग्नीसोमा मक कार्य्यरूप विश्व का। अग्नि और सोम के सम वय सम्ब ध से प्रतिष्ठाा मका यह विधति क्योंकि पर्वा मिका है। अतएव एकवचना त **विधृति** श द द्विवचना त **विधृती** श द म परिणत होगया है।

क्या **ता प य**? । इस ता पर्य्य के स्पष्टीकरण के लिए हम उस **सम्व सरचक्र** को ही लक्ष्य बना लेना पडगा जिसमें अग्नि और सोम के **ऋता मक** तथा **स या मक** दो दो स्वरूप अभि याप्त है। वाय य धरातल में आसम तात् अभि या त **वाय य अग्नि** तथा **वायव्य–सोम** ही **अन्त्यमशरीर ऋतम्** इस लक्षण के अनुसार **ऋताग्निसोमयुग्म** है जिस ऋताग्नि–ऋतसोम के वृषा पोषा मक दा प य स ही **ऋतु** भाव अभिव्यक्त हुआ है एव जिस ऋतुभाव के अभिप्लवानुगत परिप्लव–स्तामों स ही पञ्चर्त्त किंवा षडतु–समष्टि रूप **सम्वत्सर** की अभि यक्ति हु है। **अग्निप्रधान सूर्य्य** एव **सामप्रधान च द्रमा** ही **सहृदय सशरीर स यम्** इस लक्षण के अनुसार **स याग्निसोमयुग्म** है जिस स याग्नि [सूर्य्य] एव स यसाम [च द्रमा]। के वृषा पाषा मक प्राण राय लक्षण दा प य से ही यथापूव सृष्टिधाराए प्रक्रा त हैं।×

तदि थ **वाय य–ऋता निसोमद्वयी** एव **सूर्य्य–च द्रात्मिका स या निसोम द्वयी** से ही **सम्व सर चक्र** का स्वरूप सम्पन्न हुआ है जिसके **काला मक** तथा **यज्ञात्मक** दो विवर्त माने गए है। अग्नि सोम मय वही सम्व सर **यज्ञात्मक सम्व सर** है। एव इन दोनों का भोगकाला मक **समयतत्त्व** ही—**काला मक सम्व सर** है। **कालो यज्ञ समैरयत्** [अथवस कालसूक्त—१६ अ याय] के

—द्वय वा इद न तृतीय–अस्ति–शुष्क चैव आर्द्र श्च। यच्छुष्क—तदाग्नेयम। यदार्द्र—तत्—सौम्यम।

***–कि स्विदासीदधिष्ठान—आरम्भण कतमित्–स्वित् कथासीत्।**
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्म्मा विद्यामोर्णोन् महिमना विश्वचक्षा॥
—ऋक्स १ ।८१।२

×—सूर्य्याचन्द्रमसो धाता यथापूवमकल्पयत्।
दिव च पृथिवी चा तरिक्षमथो स्व ॥
—ऋक्स १ ।१६ ।३।

अनुमार कालात्मक स त मर ही वसोरूप यज्ञात्मक स वत्सर का छन्दोरूप वयोनाधात्मक— **आयतन** है। कालरूप भी **खब्रह्म (आकाशायतन)** मे यज्ञरूप स वत्सर सप्रतिष्ठित है। अग्निरूप सूर्य **अह् काल शुक्लपक्ष–षण्मासा उत्तरायण** न अर्चिर्मागात्मक ज्योतिर्भावो के साक्षी हैं तो चन्द्रमा **रात्रिकाल–कृष्णपक्ष–षण्मासा–दक्षिणायन** न धूममार्गात्मक तमोभावो के साक्षी है। काल यज्ञात्मक–सम्वत्सर चक्ररूप ब्रह्माण्ड के सुप्रसिद्ध को अण्डक । ही वादक परिभाषा में **सूर्यानुगत–एन्द्र–मित्रकपाल** तथा च **न्द्रमानुगत–वारुण** **वरुणकपाल** नाम स प्रसिद्ध है। **अर्द्ध** **ज्योतिष्चक्रात्मक अर्द्ध खगोल ही सौर ऐन्द्र–मित्रकपाल है जिसे— पूर्वकपाल कहा जाता है। एव अर्द्ध खगोल ही–अर्द्ध वारुण–वरुणकपाल है जिसे पश्चिमकपाल** क ा जाता है।

कपाल या मक अण्डकटाहद्वयात्मक–अग्नीषोमात्मक सूर्य–चन्द्रमासमन्वित यज्ञात्मक विश्वमण्डल ही सम्वत्सरप्रजापति के **कालात्मक** त था **यज्ञात्मक** स्वरूपेतिवृत्त का साक्ष ततम स्वरूप–दिग्दर्शन **है**। इस सम्वत्सरमण्डल का मण्डल न–सौर–चन्द्र रश्मियो के तिरश्चीन–भाव स ी अनुप्राणित है जैसाकि— **तिरश्चीनो वितततो रश्मिरेषामध स्विदासीदुपरि स्विदासीत्** यादि म त्रवर्णन स स्पष्ट है–। वतुलवृत्त का स्वरूप वृत्त ी प्रा त्र बिन्दु की वक्रता–कुटिलता स ही स पन्न होता है। इस बिन्दु बिन्दु प्रतिबिन्दु वक्रता–स ही यज्ञात्मक–स त्सरका न– **कुटिलकाण्ड** कहलाया है जिस की यह प्रकृतिसिद्धा कुटिलता किंवा वक्रता सौर–चान्द्र भेदाभिन्न–अग्नि–सोमानुबन्धो दो अण्डकटाहो के अनुबन्ध स स्थूलरूपेण दो भागो में विभक्त होरही है। अर्द्ध –कुटिल–अण्डक ह का साक्षी अ यात्मक सू य है तो अर्द्ध कुटिल–अण्डकटाह का साक्षी सोमात्मक चन्द्रमा है।

ये ही आधिदविक विश्व–प्रजापति के दो सुप्रसिद्ध चक्षु है— **चक्षुपी चन्द्रसू यौं** । सूर्यात्मक अर्द्ध अण्डकटाह ही उस प्रजापति का दक्षिण–चक्षुनु गत–दक्षिण कुटिल भ्रू है एव चन्द्रात्मक अर्द्ध – अण्डकटाह ही उसका वाम–चक्षुरनुगत–वाम–कुटिल भ्रू है । सौर–चान्द्र–भावानुवर्त्ती–अग्नीषोमात्मक–अण्डकटाहद्वय समष्टिरूप–सवथव–वक्रित कुटिल–दोनो भ्रव ही अग्नीषोमात्मक विश्व क दो भ्रू है जिन के प्रतिरूप ही मानवीय आध्यात्मिक यज्ञ (शरीर) के दोना भ्रव–अभिव्यक्त हुए है। दक्षिणभ्रव सौर हैं तो वामभ्रव चान्द्र है । इनके स्वरूप–निर्माण में पावनतम सौर अग्नि तथा पावनतम– **पवित्र** नामक ब्राह्मणस्पत्य सोम ही प्रधान–रहते हैं। अतएव जनन–मरणादि आशौच–प्रसङ्गो म भ्रवो का निराकरण नही किया जाता। अत्र स प्रसङ्ग से यही निवदनीय है कि तिरश्चीन भ्रुव ही मानव की स्वरूप–प्रतिष्ठा के आधार ह। इन के शिथिल होत ही (आखे ब हाते ही) सबकुछ समाप्त है वसे ही जसे कि सौर–चान्द्र अण्डकटाहो के प्रलयकाल में पारमेष्ठ्य–समुद्रमे विलीन होते ही पार्थिव विश्व परिसमाप्त हाजायगा।

— **तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामध स्विदासीदासीदुपरि स्विदासीत् ।**
रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अव तात्प्रयति पुरस्तात ॥
—ऋक्स १ ।१२६।५।

अग्निमय सूर्य तथा सोममय चन्द्रमा दोनो क्रमश द्यौ तथा प्राची के भी मग्राहक बने हुए है। द्यावापृथिवीरूप–सार–चान्द्र–अग्नि–सोमा मक कालचक्र हा कालचक्र के अग्रणी। मम दोनो भ्र ही अ नीषोमा मक विश्व की मूलप्रतिष्ठा है। अतवए अवश्य ही विधृता र ।नामस्ता है ।तस स— विधृती त व का दिग्देशकालस्वरूप-मीमासा –नामक स्वत त्र ।नब व म विधृतीश्च पुण्या * इत्यादि मन्त्र व्याख्यान में विस्तार स विश्लेषण हुआ ह। अ वामका इसी विधृती का प्रातरूप–स पात्त–प्रा त के लिए–यहा–कुशा मिका विधृता स्थापि त की जाती है इत्यलमातविस्तरेण–विधृतितत्वस्वरूप–पेतिवृत्त न।

विधृती उन दो दर्भतृणो का याज्ञिक सज्ञा है जिह्ह वदि पर स्थापित किया जाता ह। यह वधयज्ञ पुरुषावध बतलाया गया है। प्रस्तररूप शिरा का स्थापन हागया आहवनी ।। रूप स शिरोभागादि इतर शरीरावयवो का स्थापन होगया। अब भो शेष ह। इनका थापन और अपेन्ति है। इसा उद्देश्य से विधृती स्थापन होता ह। पुरुषयज्ञसस्था म भोन्हे वक्र रहती है अत निदानेन तद्रूप विधृती भी तिर्यक ही रक्खी जाती है। यही तिर्यगाधान की एक उपपात है। उमी निदानम र्यादा के अनुसार प्रस्तर क्षत्र का प्रति रूप है तो इतर बर्हि विट का प्रातरूप है। नरूपरक्षा के लिए दोनो का निय त्र अपेक्षित है। नियन्त्रण करना म र्यादासूत्र का काम हे। मर्य्यादासूत्र स्वभावत वक्र ह टढा ह उस में सरलता नही है। व क्षमा करना नही जानता। निदानेन विधृतो मर्य्या सूत्र का ही प्रातरूप है। अतएव से ति यक रूप से ही स्थापित किया जाता है। इसी क्षत्र–विट विवरणकर्म्म स स विधृती कहना अ न्थ बनता । विधृती थापन कर्म्म के अन तर जो प्रस्तर बिछाया जाता है उस की उपपत्ति स्पष्ट है ॥१ ११॥

अथ–स्रुक् स्थापनकर्म्मोपपत्ति

विधृती के ऊपर प्रस्तर-स्थापन के अन तर वह अ वर्य्यु प्रस्तर के साथ अपन वामहस्त का सम्ब ध बनाए हुए आग्नीध्र नामक ऋत्विक के हाथ से क्रमश जुहू उपभृत् ध्रुवा नाम के स्रुक्पात्रो को घृता च्यसि इत्यादि म त्र बोलता हुआ ले लेकर सेद प्रियेण धाम्ना इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ इह्ह वदि पर रखता जाता है। यही स्रुकग्रहण-स्थापन कर्म्म है। अनन्तर ध्रुवा असदन् या म त्र बोलता हुआ

* कालेयमङ्गिरादवोऽथर्वा चाधितिष्ठत
इम च लोक परम च लोक, पुण्याश्च लोकान्
"विधृतीश्च पुण्या"
सर्वाल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा काल स इयते परमो नु देव ॥
—अथर्वसहिता १६।५४।५।

स्थापन क्रमानुसार न सब का स्पर्श करता है। स ग्रह स्थापन स्पश क्र म की कोइ विशेष उ पत्ति नही है। म त्रश ार्थ के स ब ध में जो कुछ विशेष वक्त य था वह मूलनुवाद से ही गताथ है ॥ १ १३ १४ १५ १ ॥

प्रथमकाण्डान्तर्गत-तृतीय अध्याय का चतुर्थ ब्राह्मण एव तृतीय प्रपाठक का प्रथम ब्राह्मण उपरत परिधिब्राह्मण-अत्र समाप्त द्विब्राह्मणात्मक "इ म परिधि–ब्राह्मण" समाप्त

श्री

अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये

सामिधेन्यनुवचनब्राह्मणम्

ब्राह्मणचतुष्टयात्मकम्

श्री

अथ-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये--सामिधेनी-ब्राह्मणम्
ब्राह्मणचतुष्टयात्मकम्

अथ–प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम्
तृतीयप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मणम्
(सामिधेनी–ब्राह्मणानुगतञ्च–प्रथम ब्राह्मणम्)

१

---*---

१८—सामिधेन्यनुवचनकर्म्म

(मूल) इ धे ह वा एतदध्वर्यु रिध्मेनाग्निम्–तस्मादिध्मो नाम । समि धे सामिधेनीभिर्होता-तस्मात् सामिधेन्यो नाम ॥ १ ॥

स आह–'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि" इति । अग्नये ह्येतत् समिध्यमानाया वाह ॥ २ ॥

तदु हैक आहु –अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहीति । तदु तथा न ब्रूयात । अहोता वा एष पुरा भवति । यदैनं प्रवृणीते–अथ होता । तस्मादु ब्रूयात् अग्नये समिध्यमानायानुब्रूही त्येव ॥ ३ ॥

आग्नेयीर वाह । स्वयैवैनमेतद् वतया समि धे । गायत्रीर वाह । गायत्र वा अग्नेश्छन्द । स्वेनैवैनमेत छन्दसा समि धे । वीर्य गायत्री ब्रह्म गायत्री वीर्य्येणै–नमेतत्समि धे ॥ ४ ॥

एकादशा वाह । एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप । ब्रह्म गायत्री, क्षत्र त्रिष्टुप । एताभ्यामेनमेतदुभाभ्या वीर्याभ्या समि धे–तस्मादेकादशा वाह ॥ ५ ॥

स वै त्रि प्रथमाम वाह, त्रिरुत्तमाम् । त्रिवृत्प्रायणा हि यज्ञा, त्रिवृदुदयना । तस्मात्–त्रि प्रथमाम वाह, त्रिरुत्तमाम् ।। ६ ।।

ता पञ्चदश सामिधे य सम्पद्य ते । पञ्चदशो वै वज्र वीय वज्र, वीर्यमेवत–त्सामिधेनीरभिसपादयति । तस्मादेतास्वनू यमानासु य द्विष्यात् तमड गुष्ठाभ्यावबाधेत–"इदमहममुमवबाधे" इति । तदेनमेतेन वज्र णावबाधते ।। ७ ।।

पञ्चदश वा अर्धमासस्य रात्रय । अर्द्धमासशो वै सवत्सरो भवन्न ति, तद्रात्रीराप्नोति ।। ८ ।।

पञ्चदशानामु व गायत्रीणा त्रीणि च शतानि षष्टिश्चाक्षराणि । त्रीणि च व शतानि षष्टिश्च सवत्सरस्याहानि । तदहा याप्नोति, तद्ध व सवत्सरमाप्नोति ।। ६ ।।

सप्तदश सामिधनीरिष्टया अनुब्रूयात् । उपाशु तस्य देवताग यजति यस्या इष्टि निर्वपति । द्वादश वै मासा सवत्सरस्य, पञ्च वि । एष एव प्रजापति सप्तदश । सर्व व प्रजापति । तत्सर्वेणैव त काममनपराध राध्नोति यस्मै कामायेष्टिं निवपति । उपाशु देवता यजति । अनिरुक्त वा उपाशु । सव वा अनिरुक्तम् । तत्सर्वेणैव त काममनपराध राध्नोति–यस्मै कामायेष्टि निर्वपति । एष इष्ट रुपचार ।। १ ।।

एकविशतिं सामिधनीरपि दर्शपूर्णमासयोरनुब्रूयादित्याहु । द्वदश ा मासा सव सरस्य, पञ्च वि, त्रयो लोका –तद्विंशति । एष ए वैकविंशो य एष तपति । सैषा गति, एषा प्रतिष्ठा । तदता गतिमेता प्रतिष्ठा ग छति । तस्मादेकविंशतिमनुब्रूयात् ।। ११ ।।

ता हैता गतश्रेरेवानुब्रूयात् । य इच्छेन्न श्र यान् स्यान्न पापीयानिति । यादृशाय हैव स तेऽ वाह –तादृड वा हैव भवति, पापीया वा यस्यैनां विदुष एता अन्वाहु । सो एषा मीमासैव नत्वे ाता अनूच्य ते ।। १२ ।।

त्रिरव प्रथमा त्रिरुत्तमामनवानन्ननुब्र यात् । त्रयो वा इमे लोका तदिमानेवत–ल्लोकान् स तनोति, इमान् लोकान् स्पृणुते । त्रय इमे पुरुषे प्राणा । एतमेवास्मिन्ने–तत्सततम यवच्छिन्न दधाति । एतदनुवचनम ।। १३ ।।

स यावदस्य वश स्यात्–एवमेवानुविवक्षत् । तस्यतस्य परिचक्षा उत साम्यवान्याद् अनवान ननुविवक्षेत्स्त कर्म विवृह्य त । सा परिचक्षा ॥ १४ ॥

स यद्य तन्नोदाशसेत–अप्येककामेवानावान ननुब्रूयात । तदेकैकयवेमाल्लोकान् स तनोति । एकैकयेमॉल्लोकान् स्पृणुते । अथ यत्प्राण दधाति–गायत्री ा प्राण स यत कृत्स्ना गायत्रीम वाह तत् कृत्स्न प्राण दधाति । तस्मादकैकामेवानवानन नुब्रूयात् ॥ १५ ॥

ता ा स तता अ यवच्छिन्ना अवाह । सवत्सरस्यैतदहोरात्राणि सन्तनोति । तानीमानि सम्वत्सरस्याहोरात्राणि स तता य यवच्छिनानि परिप्लव ते । द्विषत उचे ातद् भ्रातृयाय नोपस्थान करोति । उपस्थान ह कुर्याद्–यदस तता अनब्रूयात् । तस्माद्वै स तत अ यवच्छिना अ वाह ॥ १६ ॥

इति–प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम्
तृतीयप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मणम्
[सामिधेनी–ब्राह्मणानुगतञ्च–प्रथम ब्राह्मणम्]

१

—*—

तृतीयोऽध्यायश्चात्र समाप्त,

३

श्री

अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्ये
चतुर्थोऽध्याय
४

— —*—–—

–प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्
तृतीयप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मणम्
[सामिधेनी–ब्राह्मणानुगतञ्च द्वितीय ब्राह्मणम्]
१

————*—— ——

हिड कृत्या वाह । नासामा यज्ञोऽस्तीति वा आहु । न वा अहिड कृत्य साम गीयते । स यद्धिङ्करोति तद्धिङ्कारस्य रूप क्रियते । प्रणवेनैव साम्नो रूपमुपगच्छति ओ ३ म् ओ ३ म् इति । एतेनो हास्यैष मर्व एव मसामा यज्ञो भवति ॥ १ ॥

यद्वेव हिङ्करोति । प्राणो । हिङ्कार । प्राणो हि वै हिङ्कार , तस्माद्–अपिगृह्य नासिक न हिङ्कर्त्तु शक्नोति । वाचा वा ऋचम वाह । वाक च वै प्राणश्च मिथुनम् । तदतत्पुरस्तात् मिथुन पजनन क्रियते सामिधेनीनाम् । तस्माद्वै हिड कृत्या वाह ॥ २ ॥

स वा उपाशु हिङ्करोात । अथ यदुच्चैर्हिड कुर्यान्न अ यतरदेव कुर्यात्, वाचमेव । तस्मादुपाशु हिङ्करोति ॥ ३ ॥

स वा एति च प्रेति चा ाह । गायत्रीमेवैतदर्वाचीं च पराची च युनक्ति । परा यह दवेभ्यो यज्ञ वहति अर्वाची मनुष्यानवति । तस्माद्वा एति च प्रेति चा वाह ॥ ४ ॥

यद्ध वेति च प्रेति चा वाह प्र ति वै प्राण एत्युदान प्राणोदानावेवैतद्धाति। तस्माद्वा एति च प्र ति चा वाह ॥ ५ ॥

यद्वेवेति च प्रेति चा वाह । प्र ति न रेत सि यत एति प्रजायते । प्र ति पशवो वितिष्ठ ते एति समावर्त्त ते । सव वा इदमेति च प्र ति च । तस्माद्वा एति च प्र ति चा वाह ॥ ६ ॥

सोऽ वाह–'प्र वो वाजा अभिद्यव' इति । तन्नु प्रेति भवति । अग्न आयाहि वीतय' इति । तद्ध ति भवति ॥ ७ ॥

तदु हैक आहु –उभय वा एतत् प्र ति सपद्यत इति। तदु तदातिविज्ञा यमिव । प्र वो वाजा अभिद्यव' इति तन्नु प्र ति । 'अग्न आयाहि वीतय' इति तद्ध ति ॥ ८ ॥

सोऽ वाह–'प्र वो वाजा अभिद्यव' इति–तन्न प्र ति भवति । वाजा इति । अन्न वाजा , अ नमेवैतदभ्यनूक्तम् । हविष्म न्त इति । पशवो वै हविष्म त पशूनेवैत-दभ्यनूक्तम् ॥ ९ ॥

घृताच्या इति । विदेघो ह माथवोऽग्निं वैश्वानर मुखे बभार । तस्य गोतमो राहूगण ऋषि पुरोहित आस । तस्मै ह स्माम न्त्रयमाणो न प्रतिशृणोति–ने मेऽग्निर्वै-श्वानरो मुखान्निष्पद्याता इति ॥ १० ॥

तमृग्भिर्ह्वयितु दध्रे–'वीतिहोत्र त्वा कवे द्यु म त समिधीमहि । अग्ने बृह न्त मध्वरे–विदेघ' इति ॥ ११ ॥

स न प्रतिशुश्राव । 'उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राज न्त ईरते । तव ज्योतींष्यर्चयो 'विदेघा २ इति ॥ १२ ॥

स ह नैव प्रतिशश्राव । त त्वा घृतस्नवीमहे इत्येवाभिव्याहरत्–अथास्य घृत कीर्त्तावेवाग्निर्वैश्वानरो मुखादुज्जज्वाल । त न शशाक धारयितुम् । सोऽस्य मुखान्नि-ष्पेदे । स इमा पृथिवीं प्रापाद ॥ १३ ॥

तर्हि विदेघो माथव आस सरस्वत्याम् । स तत एव प्राङ् दह न्नभीयायेमा पृथि-वीम् । त गौतमश्च राहूगणो विदेघश्च माथव पश्चाद्दह न्तम न्वीयतु । स इमा सवा

नदीरतिददाह । सदानीरेत्युत्तराद् गिरेर्निर्धावति ता हैव नातिददाह । ता ह स्म ता पुरा ब्राह्मणा न तरन्ति अनतिदग्धाऽग्निना वैश्वानरेणेति ॥ १४ ॥

तत एतर्हि प्राचीन बन्वो ब्राह्मणा । तद्धात्त्रतरमिवास, स्रावितरमिवास्वदित-मग्निना वैश्वानरेणेति ॥ १५ ॥

तदु हैतहि क्षत्रतरमिव । ब्राह्मणा उ हि नूनमेनद्यज्ञैरसिष्वदन् । सापि जघन्ये नैदाघे समिवेव कोपयति तावत्, शीताऽनातदग्धा ह्यग्निना वैश्वानरेण ॥ १६ ॥

स होवाच विदेघो माथव -क्वाह भवानीति । अत एव ते प्राचीन भुवनमिति होवाच । सैषाप्यतहि कोसलाविदेहाना मर्यादा । ते हि माथवा ॥ १७ ॥

अथ होवाच । गोतमो राहूगण -कथन्नु न आमन्त्र्यमाणो न प्रत्यश्रौषीरिति । स होवाचअग्निर्मे वैश्वानरो मुखेऽभूत् स नेमे मुखान्निष्पद्यात, तस्मान्नो न प्रत्य-श्रौषमिति ॥ १८ ॥

तदु कथमभूदिति । यत्रैव त्व 'घृतस्नवीमहे इत्यभि व्याहार्षी तदेव मे घृतकी-र्त्तावग्निर्वैश्वानरो मुखादुदज्वालीत् तन्नाशक धारायतुम, स मे मुखान्निरपा-दीति ॥ १९ ॥

स यत्सामिधेनीषु घृतवत्-सामिधेनमेव तत् । समेवैन्नं तेनेन्धे, वीर्यमेवास्मिन् दधाति ॥ २ ॥

तदु घृताच्येति । 'देवान्-जिगाती सुम्नयु' इति । यजमानो वै सुम्नयु, स हि देवान् जिगापति स हि देवान् जिघासति । तस्मादाह देवान् जिगाति सुम्नयुरिति । साषाग्नेयी सत्यनिरुक्ता । सर्वं वा अनिरुक्तम सर्वेणैवैतत्प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

'अग्न आयाहि वीतये' इति । तद्व ति भवति । वीतय इति-समन्तिकमिव ह वा इमऽग्र लोका आसु, इत्यु मश्या हैव द्यौरास ॥ २२ ॥

ते देवा अकामय त-कथन्नु न इमे लोका वितरां स्यु, कथन्नु इद वरीय इव स्यादिति । तानेतरेव त्रिभिरक्षरैर्व्यनयन् वीतय इति । त इमे विदूर लोका ततो देवेभ्यो वरीयोऽभवत् । वरीयो ह वा अस्मै भवति यस्मैन्न विदषु एतामन्वा-हुर्वीतय इति ॥ २३ ॥

गृणानो ह यन्तये' इति । यजमानो ह यदाति । गृणानो यजमानाय य ातदाह । नि होता सत्सि बर्हिषि' इात । अग्नि ा होता अय लोको बर्हि । अस्मि- न ातल्लोकेऽग्नि दधाति । सोऽयमस्मि लोकऽाग्नहित । सषममत्र लोकमभ्यनूक्ता इममेतैया लोक जयात-यस्यैं ां विदुष एताम वाहु ।। ४ ।।

तत्वा समिद्भिरङ्गिर' इति । समिद्भिर्ह्येतमङ्गिरस ए धत । अङ्गिर इति । अङ्गिरा उ ह्यग्नि । घृतेन वर्द्धयामसीति । तत्साामधेन पदम । समे ान तेनेन्ध, वायमवास्मि दधाति ।। २५ ।।

बृहच्छोचा यविष्ठय' इात । बहदु ह्य ष शोचति समिद्ध । यविष्ठ्य ति-यविष्ठो ह्यग्नि । तस्मादा -यविष्ठ्य ति । सषा एतमेत्र लोकमभ्यनूक्ता-अ तरिक्षलोकमेव । तस्मादाग्नेयी सत्यनिरुक्ता । आनरुक्तो ह्य ष लोक । एतमेवैतया लोक जयति-यस्यै ा विदुष एताम वाहु ।।२६।।

"स न अवाय्यम्" इात । अदो वै प्रथु-यस्मिन् देवा । एतत् अवाय्यम् यास्मन् दवा । अच्छा देव विवाससि' इति । अ छ देव विवासमि-एतन्नो गमय इत्येवैतदाह ।। ७ ।।

बृहदग्ने सुवीर्यम्' इति । अदो व बहत्-यस्मिन् दवा , एतत् सुवायम् यस्मिन् दवा । सैषा एतमत्र लोकमभ्यनूक्ता-दिवमत्र । एतम ातया लोक जयति-यस्यव विदुष एताम वाहु ।। ८ ।।

सोऽ वाह ईडेन्या नमस्य इति । ईडेन्यो ह्येष, नमस्यो ह्य ष । तिरस्तमासि दशत ' इति । तिर इव ह्य ष तमासि सामद्धो ददृशे । 'समग्निरिध्यते वृषा' इति । स हीध्यते वृषा । 'वृषो अग्नि समिध्यते'—इति स ही यत ।। २६ ।।

अश्वा न देववाहन '—इति अश्वो ह वा एष भूत्वा दवेभ्यो यज्ञ वहति । यद्धै नेति न्वचि—ओमिात तत् । तस्मादाह-'अश्वो न दववाहन' इति ।। ३ ।।

त हविष्मन्त ईडते' —इति । हविष्म तो ह्य त मनुष्या ईडते । तस्मादाह त हविष्म त ईडते' इति ।। ३१ ।।

वृषण त्वा वय वृषन् वृष (षा) ण समिधीमहि' इति । स ह्य नमि धते । **अग्ने दीद्यत बृहद्'** इति । दीदयव ह्य ष बहत् समिद्ध ॥ ३२ ॥

त वा एत वृषण्व त त्रिचम वाह आग्नग्यो वा एता सवा सामिधे यो भवति । इ द्रो वै यज्ञस्य देवता, इ द्रो वृषा । एतन उ ह अस्यैता से द्रा सामिधे यो भवा त । तस्माद् वृषण्व त त्रि म वाह ॥ ३३ ॥

सोऽ गाह- **अग्नि दूत वृणीमहे'** इति । देवाश्च वा असुराश्च उभय प्राजापत्या पस्पृधिरे । तान् स्पर्द्धमानान् गाय य तरा तस्थौ । या वै मा गाय यासीद्-इय व सा प्रथिवी । इय हैव तद तरा तस्था । त उभय एव विदाञ्चक्र - यतरान् वै न इयमुपा वत्स्यति, ते भविष्य ति परेतर भवष्यि ति' इति । तामुभय एरोपम त्रयाञ्चक्रिर । अग्निरेव दवाना दूत आस सहरचा इत्यसुररचसमसुराणाम् । साग्निमेवानुप्र याय । तस्माद वाह 'अग्नि दूत वृणामहे' इति । स हि देवाना दूत आसीत् । **'होतार विश्ववेद सम्'** इति ॥ ३४ ॥

तदु हेकेऽन्वाहु 'होता यो विश्ववेदम ' इति । नेद्-अरमित्यात्मान ब्रवाणीति । तदु तथा न ब्रू याद् । मानुष ह ते यज्ञ कुर्व ति यद्ध व तद् यज्ञस्य य मानुषम्, नेद् यद्ध यज्ञ करवाणीत । तस्माद्यथर्चाऽनूक्तमेवमेवानुब्र याद् होतार विश्ववेदसम्' इत्यव । **'अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्** इात । एष हि यज्ञस्य सुक्रतु यदग्नि । तस्मोदाह अस्य यज्ञस्य सुक्रतुमिति । सेय देवानुपाववत, ततो देवा अभवन् , पराऽसुरा । भवति ह वा आत्मना, परा अस्य सपत्ना भव ति यस्गव विदुष एताम वाहु ॥ ३५ ॥

ता गा अष्टमीमनुब्र यात् । गायत्री वा एषा ानदानेन । अष्टाचरा वै गायत्री । तस्माद अष्टमीमनुब्र यात् ॥ ३६ ॥

तद्धैके पुरस्ताद् धाय्य दधति अ न धाग्ये मुखत दम नाद्य दध्म' इति वद त । तदु तथा न कुर्यात् । अनवक्लृप्ता ह तस्यैषा भवति- य पुरस्ताद्धाग्य दधाति । दशमी वा हि तर्हि एकादशी वा सपद्यते । तस्यो ह एवैषा अवक्लृप्ता भवति यस्गानामष्टमी म गाहु । तस्मादुपरिष्टादेव धाग्ये दध्यात् ॥ ३७ ॥

समिध्यमानो अध्वरे' इात । अध्वरो वै यज्ञ । समिध्यमानो यज्ञ इत्येवैतदाह । **अग्नि पावक ईड्य '** इति । पावको ह्य ष, ईड्यो ह्य ष । **'शोचिष्केशस्तमीमहे'** इति ।

शोच तीव हि एतस्य क्शा समिद्धस्य । समिद्धो अग्न आहुत' इति । अत प्राचीन स ामिध्ममभ्याद्ध्याद् यद् यत्मामध । अपवृड क्त इ्र ह्य तद हाता । यद्वा अ य समिध इध्मस्याातरि यते अतिरक्त तद् । यद्वै यज्ञस्याातरिक्त द्विष त हाश्य तत् भ्रातृव्यमभ्य तिरि्यत । तस्माद् अत प्राचीन सर्वमिध्ममभ्यादध्याद् यद् यत्सामध ॥ ३८ ॥

'देवान् यक्षि स्वध्वर' इति । अध्वरो वै यज्ञ । दवान् याच सुयज्ञिय इत्यवैतदाह । 'त्ा हि ह यवाडसि' इति । एष हि ह यवाड यद्ग्नि । तस्मादाह त्व हि ह्यवाडमीति । 'आजुहोता दुवस्यत । अग्नि प्रयत्यध्वरे । वृणीध्व ह्यवाहनम्' इति । सम्प्र ष्य त्गे ातया आजुहुत च, यजत च यस्म कामाय समैधिढ । तत्कुरुतत्गोतदाह । अग्नि प्रयत्यध्वर' इति । अध्वरो वै यज्ञ । अग्निप्रयात यज्ञ इ य वैतदाह । 'वृणीध्व ह्यवाहनमिति' । एष हि ह यवाहनो यद्ग्नि । तस्मादाह वृणीध्व ह यवाहनमित ॥ ३९ ॥

त वा एत अध्वरग त त्रिचम वाह । दवान् ह वै यज्ञ न यजमानान् सपत्ना असुरा दुधूर्षाञ्चक्रु । त दुधूर्ष त एत्र न शकुधूविंतुम् त पराबभूवु । तस्माद्यज्ञो ऽध्वरो नाम । दुधूषन् ह वा एन सपत्न पराभत्रति यस्गव विदुषोऽध्वरव त त्रिचमन्वाहु । यानद्व व सोम्गेनाध्वरेणेष्टवा जयति, ताव जगति ॥ ४० ॥

इति प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये प्रथम ब्राह्मण
तृतायप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मण
(सामिधेनी ब्राह्मणानुगतञ्च द्वितीय ब्राह्मण)
उपरतम्
२

———*———

श्री

अथ-प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याय द्वितीय ब्राह्मणम्
तृतीयप्रपाठके च चतुर्थ ब्राह्मणम्
(सामिधेनी-ब्राह्मणानुगतञ्च-तृतीय ब्राह्मणम्)
३

अथ निगदानुवचनम् —

एतद्ध व देरा अग्निं गारष्ठ युञ्जन् यद्धोतृत्वे इद नो ह य वह' इति। तमेतन्गारष्ठे युक्त्वोपामदन् वीर्यवान् नै वमास, अल वै त्वमेतस्मा असि' इनि-वीर्ये समादधत। यथ्दमप्येतर्हि ज्ञाताना य गरिष्ठ युञ्जति तमुपमदति-वीयवा नै वमसि अल वै त्वमेतस्मा असीति वीर्ये समादधत। स यद्त ऊर्ध्वम ाह-उपस्तौत्येवैनमेतत्, वायमेवास्मिन् दधाति ॥ १ ॥

'अग्ने महाँ२॥ असि ब्राह्मण भारत' इति। ब्रह्म ह्यग्नि। तस्मादाह-ब्राह्मणेति। भारतेति। एष हि दवेभ्यो ह य भरति तस्माद् भरतोऽग्निरित्याहु। एष उ वा इमा प्रजा प्राणो भूत्वा बिभर्त्ति तस्माद्व ाह-भारतेति ॥ २ ॥

अथ-आर्षेयानुवचनम् —

अथार्षेय प्रवृणीते। ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद् देवेभ्यश्च निवेदयति-'अय महावीर्यो-यो यज्ञ प्रापदित। तस्मादार्षेय प्रवृणीते ॥ ३ ॥

परस्तादर्वाक प्रवृणीते। परस्ताद्ध्यर्वा य प्रजा प्रजाय ते, ज्यायसस्पतय उ चैवैत निह्नुत, इद हि-पितवाग्र, अथ पुत्र, अथ पौत्र तस्मात्परस्तादर्वाक प्रवृणीत ॥ ४ ॥

अथ-निवित्पाठ —

स आर्षेयमुक्त्वाह- देवेद्धो मन्विद्ध' (तै ब्रा ३ ५ ३ १) इति। देवा ह्य तमग्र एध। त मादाह देवेद्ध इति। मनुर्ह्येतमग्र एध। तस्मादाह-मन्विद्ध इति ॥५॥

ऋषिष्टुत ' (३ ५ ३ २) इात ऋषया ह्य तमग्र स्तुवन् । तस्मादाह–ऋषिष्टुत इति ।। ६ ।।

'विप्रानुमदित (३ ५ ३ ३) इति। एते नै निप्रा यन्षय । एते ह्य तम नमदन् । तस्मादाह विप्रानुमदित इति ।। ७ ।।

'कविशस्त ' (३ ५ ३ ४) इति। एते न कनयो यदषय एत ह्य तमशासन्। तस्मादाह–कविशस्त इति ।। ८ ।।

ब्रह्मस शित (३ ५ ३ ५) इति । ब्रह्मसशितो ह्येष । 'घृताहवन ' (३ ५ ३ ६) इति। घृताहवनो ह्येष ।। ९ ।।

'प्रणीर्यज्ञाना र थीरध्वराणाम् (३ ५ २ ७) इति। एतन नै सर्वान् यज्ञान् प्रणयति, ये च पाकयज्ञा ये चेतरे। तस्मादाह–प्रणीयज्ञानामिति ।। १ ।।

रथीरध्वराणामिति। रथो ह वा एष भू ना दवभ्यो यज्ञ नहति। तस्मादाह–रथीरध्वराणामिति ।। ११ ।।

'अतूर्त्तो होता तूर्णिर्ह व्यवाट् (३ ५ ३ ८ इति । न ह्यत रक्षासि तरन्ति। तस्मादाह–अतूर्त्तो होतति। तूर्णिर्ह व्यवाडिति। सन ह्येष पाप्मान तरति। तस्मादाह–तूर्णिह व्यवाडिति ।। १२ ।।

'आस्पात्र जुहूर्देवानाम्' (त ब्रा ३ ५ ३ ९) इति । देवपात्र वा एष यदग्नि । तस्मादग्ना सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति। देवपात्र ह्येष । प्राप्नोति ह वै तस्य पात्रम्–यस्य पात्र प्र प्सति य एवमेतद्वद ।। १३ ।।

चमसो देवपान ' (३ ५ ५ १०) इात। चमसेन ह वा एतेन भूतेन दवा भक्षयन्ति। तस्मादाह–चमसो देवपान इति ।। १४ ।।

'अरा २।। इवाग्ने नेमिर्देवास्त्व परिभूरसि (३ ५ ३ ११) इति। यथारा नेमि सर्वत परिभू एव त्व देवान् सर्वत परिभूरसि–इत्यवैतदाह ।। १५ ।।

अथ देवतावाहनम्—

आवह देवा यजमानाय' (तै ब्रा ३ ५ ३) इति । तद्स्मै यज्ञाय दवानावोढवा आह ॥१॥ 'अग्निमग्न आवह' (३।५।३) इति । तदाग्नेयायाज्य-भागायाग्निमावोढवा आह ॥२॥ 'सोममावह (३ ५ ३) इति । तत्साम्याया य-भागाय सोममावोढवा आह । अग्निमावह' (३ ५ ३) इति । तद्य एष उभयत्रा युत आग्नेय पुरोडाशो भवात ॥३॥ तस्मा आग्नमावोढवा आह ॥४॥ ॥ १६ ॥

अथ यथादेवतम् ॥५॥ देवॉ२॥ आज्यपॉ आवह' (३ ५ ३) इति । तत्प्रयाजा-नुयाजानावोढवा आह । प्रयाजानुयाजा । देवा आ यपा ॥६॥ अग्निर्होत्रायावह (३ ५ ३) इति । तदग्निं होत्रायावोढवा आह ॥७॥ स्वं महिमानमावह (३ ५ ३) इति । तत्स्वं महिमानमावोढवा आह । वाग वा अस्य स्वो महिमा । तद्वाचमावोढवा आह ॥८॥ आ च वह जातवेद सुयजा च यज' (३ ५ ३) इति । तद्या एतद् वता आवोढवा आह ता एतदाह । आ चना वहानुष्ठ्या च यजति, यदाह सुयजा च यजति ॥९॥ १७ ॥

स वै तिष्ठन्न वाह । अ वाह ह्य तद् असा ह्यनुवाक्या तदसावेवैतद् भूत्वाऽ वाह । तस्मात्तिष्ठन्न वाह ॥ १८ ॥

आसीनो या या यजात । इय हि या या, तस्मान्न कश्चन तिष्ठन् याज्या यजति । इय हि या या, तदियमेवैतद् भूत्वा यजति । तस्मादासीनो या या यजति ॥ १९ ॥

इति–प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये द्वितीय ब्राह्मण
तृतीयप्रपाठके च चतुर्थ ब्राह्मण
(सामिधेनी ब्राह्मणानुगतञ्च तृतीय ब्राह्मण)
उपरतम्

३

—–*–—

श्री

अथ–प्रथमकाण्डे चतुर्थाऽध्याय तृतीय ब्राह्मणम्
तृतीयप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्
सामिधेनी–ब्राह्मणानुगतञ्च चतुर्थ ब्राह्मणम्]
४

अथ–शान्तिकर्म—

यो ह वा अग्नि सामिधेनीभि समिद्ध, अतितरां ह वै स इतरस्मादग्नेस्तपति, अनवधृष्यो हि भवति अनवमृश्य ॥ १ ॥

स यथा हैवाग्नि सामिधनीभि समिद्धस्तपति, एव हैव ब्राह्मण साम्धिनीर्विद्वाननुब्रुवस्तपति । अनवधष्यो हि भवति अनवमृश्य ॥ ॥

सोऽवाह–'प्रव' इति । प्राणो वै प्रवान् प्राणमेवैतया समिन्ध । 'अग्न आयाहि वीतये' इति । अपानो वा एतवान् , अपानमेवैतया समिन्ध । 'बृहच्छोचा यविष्ठ्य'–इति । उदानो वै बहच्छोचा उदानमेवैतया समिन्ध ॥ ३॥

'स न पृथु श्रवाय्यम्' इति । श्रोत्र वै पृथु श्रवाय्यम् श्रोत्रेण हीदमुरु पृथु श्रणोति, श्रोत्रमेवैतया समि धे ॥ ४ ॥

'ईडेन्यो नमस्य' इति । वाग वा ईड्या वाग्घीद सर्वमीट्ट । वाचेद सर्वमीडितम् । वाचमेवैतया समिन्धे ॥ ५ ॥

अश्वो न देववाहन ' इति । मनो वै देववाहनम् । मनो हीद मनस्विन भूयिष्ठ वनीवाह्यते । मन एवैतया समिन्ध ॥ ६ ॥

'अग्ने दीद्यत बृहत्' इति । चक्षुर्वै दीदयेव । चक्षुरवैतया समिन्धे ॥ ७ ॥

अग्नि दूत वृणीमहे' इति । य एवाय मध्यम प्राण एतमेवैतया साम ध । सा ह्येषा तस्था प्राणानाम् अतो ह्य य ऊद्ध र्वा प्राणा अतोऽ यऽवाञ्च । अ तस्था ह भवति । अ तस्थामेन म य ते य एवमताम तस्था प्राणाना वेद ॥ ८ ॥

शोचिष्केशस्तमीमहे' इति । शिश्न वै शोचिष्केशम् । शिश्न हीद शिश्निन भूयिष्ठ शोचयति । शिश्नमेवैतया साम ध ॥ ९ ॥

समिद्धो अग्न आहुत'-इति । य एवायमवाङ प्राण एतमेवैतया समि ध । 'आजुह्वोता दुवस्यन -इति । सर्वमात्मान समि धे-आ नखेभ्योऽथो लोमभ्य ॥ १ ॥

स यद्य न प्रथमाया सामिध यामनु याहरेत्, त प्रति ब्रूयात् प्राण वा एत दात्मनाऽग्नावाधा प्राणेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ ११ ॥

यदि द्वितीयस्यामनु याहरेत्, त प्रति ब्रूयात्- अपान वा एतदात्मनोऽग्ना वाधा, अपानेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसि इति । तथा हैव स्यात् ॥ १२ ॥

यदि तृतीयस्यामनु याहरेत् त प्रति ब्रूयात्- उदान वा एतदात्मनोऽग्नावाधा उदानेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १३ ॥

यदि चतुर्थ्यामनु याहरेत्, त प्रति ब्रूयात्-श्रोत्र वा एतदात्मनोऽग्नावाधा, श्रोत्रेणा मन आर्त्तिमारिष्यसि बधिरो भविष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १४ ॥

यदि पञ्चम्यामनु याहरेत्, त प्रति ब्रूयात् वाच वा एतदात्मनोऽग्नावाधा, वाचा मन आर्त्तिमारिष्यसि मूको भविष्य स' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १५ ॥

यदि षष्ठ्यामनु याहरेत् त प्रति ब्रूयात्-'मनो वा एतदात्मनोऽग्नावाधा, मनसात्मन आर्त्तिमारिष्यसि मनोमुषिगृहीतो मोमुघश्चरिष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १६ ॥

यदि सप्तम्यामनु याहरत् त प्रति ब्रूयात्-'चक्षुर्वा एतदात्मनोऽग्नावाधाश्चक्षु षात्मन आर्त्तिमारिष्यस्य धो भविष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १७ ॥

यद्यष्टम्यामनु याहरत् त प्रति ब्रूयात्–'मध्य वा एतत्प्राणमात्मनोऽग्नावाधा मध्येन प्राणेनात्मन आर्त्तिमारिष्यस्युध्माय मरिष्यसि' इति। तथा हैव स्यात् ॥१८॥

यदि नवम्यामनु याहरेत् त प्रति ब्रूयात्– शिश्न वा एतदात्मनोऽग्नावाधा शिश्नेना मन आर्त्तिमारिष्यसि क्लीबो भविष्यसि इति । तथा हैव स्यात् ॥ १९ ॥

यदि दशम्यामनु याहरत त प्रति ब्रूयात– अवाञ्च वा एतत्प्राणमात्मनोऽग्नावाधा, अवाचा प्राणेनात्मन आर्त्तिमारिष्यस्यपिनद्धो मरिष्यसि इति। तथा हैव स्यात ॥ २ ॥

यद्यकादश्यामनु याहरेत त प्रति ब्रयात– सर्वं वा एतदात्मानमग्नावाधा, सर्वेणात्मनार्त्तिमारिष्यसि क्षिप्रेऽमु लोकमेष्यसि इति। तथा हैव स्यात ॥ २१ ॥

स यथा हैवाग्नि सामिधनीभि समिद्धमापद्यार्त्ति यात एव हैव ब्राह्मण सामिधेनार्त्तिमममनुब्रुव तमनु याहृत्यार्त्ति यति ॥ २२ ॥

इति–प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये तृतीय ब्राह्मण
तृतीयप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मण
[सामिधेनी–ब्राह्मणानुगतञ्च–चतुर्थं ब्राह्मण]
उपरतम्

४

इति–ब्राह्मणचतुष्टयात्मक सामिधेनीब्राह्मण उपरतम्

——**——

ब्राह्मणचतुष्टयात्मक-सामिधेनी ब्राह्मण

शतपथब्राह्मण प्रथमकाण्डानुगत तीसरे अध्याय में पाँचवाँ ब्राह्मण, एव तीसरे प्रपाठक मे दूसरा ब्राह्मण

सामिधेनी- ब्राह्मणानुगत- प्रथम- ब्राह्मण

१

---*---

मूलानुवाद

अथ-समिधेन्यनुवचनम्

यह अध्वर्यु (पन्द्रह समित्-काष्ठ के समूहरूप) इध्म से (इस आहवनीय) अग्नि को ही प्रज्वलित करता है। इसीलिए (इन्धन-साधन होने में प्रज्वलन कर्म्मसाधक) इन काष्ठों को [इन्धे-तस्मादिध्म इस निवचन से) इध्म कहा जाता है। होता (एतन्नामक ऋत्विक् **प्र वो बाजा** ' इत्यादि) सामिधेनी ऋचाओं से (आहवनीय अग्नि को) समिद्ध करता है (अतएव समिन्धे तस्मात् सामिधेनी इस निर्वचन से इन ऋचाओं को) **सामिधनी'** नाम से व्यवहृत किया जाता है ॥ १ ॥

यह अध्वर्यु (सामिधेनी ऋचाओं के अनुवचन के लिए होता नामक ऋत्विक् के प्रति प्रैष अनुज्ञा करता हुआ) कहता है— **अग्नये समिध्यमानाय अनब्रूहि''** (हे होत! इध्मकाष्ठ से प्रज्वलित हुए अग्नि के लिए इसे समिद्ध बनाने के लिए जो सामिधेनी ऋचाएँ हैं उनका यथाक्रम अनुवचन करो)। (उक्त प्रैषमन्त्र से वह अध्वर्यु) अग्नि के लिए ही इसे समिद्ध बनाने के लिए कहता है ॥ २ ॥

(उक्त प्रैष के सम्बन्ध मे) कितने एक याज्ञिकोंनें यह कहा है कि— **'अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहि'** (इत्यादिरूप से होतपद का उच्चारण करते हुए) इस रूप से प्रैष करना चाहिए। (अध्वर्यु को चाहिये कि वह) वैसा कभी न करे (प्रैष मन्त्र में **होतरनुब्रूहि'** इत्यादि रूप से होतपद का सन्निवेश न करे)। कारण यही है कि (होतप्रवरणकर्म्म से) पहिले (इस सामिधेनी-अनुवचन के समय अनुवचन करने वाला) यह ऋत्विक् अहोता ही

रहता है। जब (आगे चाकर) इसका वरण होता है तभी यह 'होता' नाम का अधिकारी बनता है। इसलिए (बिना होतृपद का सन्निवेश किए)–'अग्नय समिध्यमानायानुब्रूहि' इसी रूप से प्रैष करना चाहिए॥ ३॥

(अध्वर्यु कृत प्रैष के अनुसार अनुवचनकर्म्म मे नियुक्त) वह ऋत्विक् आग्नेया (अग्निदेवता सम्बन्धिनी) सामिधेनी–ऋचाओं का अनुवचन करता है (अर्थात् इसे आग्नेयी ऋचाओं का ही अनुवचन करना चाहिए। ऐसा करता हुआ यह ऋत्विक्) इस अग्नि को अपने देवता के स्वरूप से युक्त सामिधेनी ऋचा से ही समिद्ध करता है। (अर्थात् आग्नेयी सामि-धेनी–ऋचा से अनुवचन करना सजातीयभाव से ही अग्नि को समिद्ध बनाना है)। (वह ऋत्विक्) गायत्री (गायत्रीछन्दोयुक्त सामिधेनी ऋचा) का अनुवचन करता है। गायत्री अग्नि का छन्द है। (इसका अनुवचन करता हुआ) अग्नि के अपने ही छन्द से इसे समिद्ध बनाता है। गायत्री वीर्यात्मिका है गायत्री ब्रह्म (ब्राह्मणवर्ण) है ऐसी अवस्था मे गायत्री से अनु-वचन करता हुआ ऋत्विक् ब्रह्मवीर्य्य से ही इस अग्नि का समिन्धन करता है। तात्पर्य्य यही हुआ कि छन्द, वीर्य, वर्ण, सम्पत्तियो के आधान के लिए गायत्रीछन्दस्का ऋचाओं से ही अनुवचन करना चाहिए॥ ४॥

(जिन सामिधेनी–ऋचाओं से यह 'सामिधेनी अनुवचनकर्म्म' होता के द्वारा होने वाला है उनके सम्बन्ध में 'अग्नि' देवता तथा 'गायत्रीछन्द' की व्यवस्था बतलाई गई। अब संख्या की व्यवस्था करती हुई श्रुति कहती है)–वह ऋत्विक् (आगे चाकर 'होतृप्रवरणकर्म्म' से 'होता' कहलाने वाला ऋत्विक्) ग्यारह सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन करता है। त्रिष्टुप् (छन्द) ग्यारह अक्षर की है। गायत्री ब्रह्म (ब्राह्मणवर्णात्मिका) है त्रिष्टुप् क्षत्र (क्षत्रिय-वर्णात्मिका) है। (ब्रह्मात्मिका गायत्री-स्वरूप वाली तथा क्षत्रात्मिका त्रिष्टुप् संख्या वाली सामि धेनी ऋचाओं का अनुवचन करता हुआ) यह होता इन दोनों ब्रह्म क्षत्र-वीर्य्यों से युक्त करने के लिए गायत्रीछन्दस्क एवं एकादश संख्याक ऋचाओं का अनुवचन करता है। इसलिए ग्यारह सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन करता है॥ ५॥

(संख्या-व्यवस्था के अनन्तर उच्चारण के सम्बन्ध मे विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है)–वह ऋत्विक् पहिली ऋचा का तीन बार अनुवचन करता है एवं अन्तिम (ग्यारहवीं) ऋचा का तीन बार अनुवचन करता है। कारण इसका यही है कि त्रिसऽत्या हि देवा (तै – ३।३।८) इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक त्रिसत्य प्राणदेवताओं से सम्बन्ध रखने वाले सम्पूर्ण प्राकृतिक आधिदैविक नित्य यज्ञ त्रिवृद् रूप से ही आरम्भ होने वाले हैं तथा त्रिवृद रूप से ही समाप्त होने वाले हैं। इस प्राकृतिक त्रिवृत सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए ही होता तीन बार पहिली ऋचा का तथा तीन बार अन्तिम ऋचा का अनुवचन करता है॥ ६॥

(गायत्रीछन्द क सम्ब ध से अग्नि म ब्रह्मवी य का आधान होता है एकादश सख्या से त्रिष्टुबनुगत क्षत्रवीर्य्य का आधान होता है एव त्रि प्रथमा त्रिरुत्तमा सख्या से त्रिवृद्यज्ञ की त्रिवृत्सम्पत्ति का आधान होता है। इन उपक्रम उपसहार की सख्याओ स पन्द्रह सामिधेनी ऋचा होजाती है। इस पञ्चदश-सख्या का क्या फल? इसी प्रश्न का सख्यानुवचन-पूर्वक समाधान करती हुइ श्रुति कहती है कि) वे सामिधेनी ऋचाए (त्रि प्रथमा त्रिरुत्तमारूप से अनुवचन करने से) प द्रह होजातीं है। वज्र (असुरनाशक प्राणशक या मक शस्त्र पञ्चदश सम्पात्त से युक्त है। वज्र साक्षात् वीर्य (अ त शक्ति) है। (प ह सख्या क द्वारा वह ऋत्विक्) इस आ न मे इसी पञ्चदश वी य का सम्पादन करता है। (पन्द्रह सख्या क प्रभाव स प्र यक सामिधेनी ऋचा वज्ररूप बन जाती है)। अतएव इन सामिधेनी ऋचाओ का अनुवचन करते हुए जिस किसी क साथ (यजमान) द्वेष करे (जो यजमान से शत्रुता रखता हो) उसका **इदमहममु अविद्याशत्रु अमुक वा अवबाध'** यह बालता हुआ अपने हाथ क दोनों अगूठा का जार स मसल डाले। सचमुच इस अभिचारकर्म्म से यह यजमान शत्रु को पीडा पहुचाने मे समथ होजाता है। (ता प य यही हुआ कि सामिधेनी का उच्चारण करना वज्र ही फकना है। जिससमय ऋत्विक इनका अनुवचन करता हो उस समय शत्रु का नाम लेकर **'मै उसे नष्ट करता हू'** यह भावना करता हुआ यजमान यदि दोनो अगुष्ठ मीढ डालना है तो अवश्यमेव शत्रु का अनिष्ट होजाता है। यह अभिचार शक्ति पञ्चदश सख्या से ही इन सामिधेनी ऋचाओ मे प्रविष्ट होती है) ॥ ७ ॥

(पन्द्रहसख्या स वज्रात्मका अभिचारसाधका शक्ति से सामधेनी ऋचाओ को युक्त करना यह पञ्चदश सख्या की एक उपपत्ति है। दूसरी उपपत्ति यह है कि)-अर्द्ध मास की (एक पक्ष की) पन्द्रह रात्रिया होती है। (पञ्चदश-रात्रि समष्टिरूप) एसे अर्द्ध मास से (अर्द्ध मास क आवर्त्त न से) ही सम्वत्सर अपना स्वरूप सम्पन्न करता है। (अर्थात् अर्द्ध मास क ४ आवर्त्त न से ही सम्व सर बन जाता है। फलत अर्द्ध मास की प ह रात्रियॉ सम्पूर्ण सम्व सर रात्रिया की सम्पत्ति का कारण बन जातीं है)। इन प द्रह सख्याओ से (अर्द्धमास की पन्द्रह रात्रिसम्पत्ति के द्वारा आवर्त्तन सम्ब ध से) यह ऋत्विक उन सम्वत्सर-रात्रिया की सम्पत्ति प्रा त कर लेता है। (इस रात्रि सम्पत्ति क लिए भी पञ्चदश सामिधेनिया का अनुवचन होता है यही स पञ्चदश सख्या की दूसरी उपपत्ति है) ॥ ८ ॥

(अपिच सामिधेनी ऋचा गायत्री है पञ्चदशसख्या क सम्ब ध से प द्रह गायत्री होजातीं है। प्र यक गायत्रीम त्र मे २४ अक्षर होते है। फलत) प ह गायत्रीमन्त्रो क (४-४ क अनुपात से) तीन और सौ तथा साठ (३६) अक्षर होजाते है। तीन आर सा एव साठ (६) ही एक सम्वत्सर के दिन होते हैं। (पञ्चदश गायत्री ऋचाओ का अनुवचन करता हुआ ऋत्विक् इन ३६ अहों को (अह सम्पत्ति को) प्राप्त कर लेता है। इसी के द्वारा (अह समुदाय द्वारा अह समुदायात्मक) सम्वत्सर (सम्व सरयज्ञसम्पत्ति) प्राप्त करलेता है ॥ ६ ॥

(क्याकि सामिधेनी सख्या का प्रकरण चल रहा है अत प्रसङ्गप्राप्त काम्यष्टि स सम्बन्ध रखने वाली सामिधेनी ऋचाओ की सख्या क सम्बन्ध मे भी श्रुति व्यवस्था कर रही है। श्रुति जिस इष्टि क सम्बन्ध म सख्या की व्यवस्था करने वाली है स दर्शपूर्णमास की विकृतिभूता काम्याष्टि समझना चाहिए जसा कि **त काममनपराध राध्नोति** इत्यादि स स्पष्ट है। दर्शपूर्णमास म जहा प द्रह सामिधेनीमन्त्र होते है वहा तद विकृतभूता काम्यष्टि म तथा पशुबन्ध म सत्रह सामधेनीमन्त्र होते है जसा कि–**"पञ्चदश सामधेयो दशपूर्णमासयो, सप्तदशेष्टि पशुबन्धनाम्"** (आपस्तम्ब श्रौ सू) इत्यादि सूत्रासद्धान्त स प्रमाणित है। काम्यष्टि के सम्बन्ध म यह विशेषता और समझ लेनी चाहिए कि जहा दशपूर्णमास म आवापदेवता का उच्चै यजन होता है वहा काम्यष्टि क आवापदेवता का उपाशु यजन होता है स प्रासङ्गिक काम्यष्टि सम्बन्धा उपचार सख्या व्यवस्था का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है) –

वह ऋत्विक् इष्टि क सम्बन्ध म (दर्शपूर्णमास की विकृतिभूता काम्यष्टि क लिए) सत्रह सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन (उच्चारण) कर जिस देवता क लिए (अध्वर्यु) इष्टि (काम्यष्टि) का निर्वाप करता है उस [इष्टि] देवता क लिए वह उपाशु [तूष्णी] यजन करता है। [इस प्रकार उपाशु यजन होने वाले इस काम्येष्टिकर्म्म म सत्रह सामधेनियो का अनुवचन करता हुआ ऋत्विक् सत्रह सख्या से कामप्राप्ति अभिलषित फल प्राप्त करने म समर्थ होजाता है कि] एक सम्वत्सर क चत्रादि बारह [तो] महीने होते है एव पाच ऋतुए – होती है। [इन सत्रह पर्वों से] यही [सम्वत्सरयज्ञात्मक] प्रजापति सप्तदश [बन रहा] है। प्रजापति ही सर्व [सर्वात्मक अतएव सर्वकामपूरक] है। [इसप्रकार काम्यष्टि म सत्रह सामिधेनियो का अनुवचन करता हुआ ऋत्विक् समसख्या समतुलिता सर्वात्मिका] प्रजापति या सम्पत्ति का सग्रह करता हुआ सम्पूर्ण [अभिलषित] ही उस काम [अभिलषित] को निरापद समृद्ध करने म [प्राप्त करने म] समर्थ होजाता है जिस [सकल्पित] काम कि प्राप्ति क लिए कि यह इष्टि का निर्वाप करता है।

[काम्यष्टि मे आवापदेवता का उपाशु यजन क्यो होता है इस प्रश्न की उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है कि]-वह ऋत्विक उपाशुरूप से देवता का यजन करता है [इसका कारण यही है कि] अनिरुक्त [शब्द क द्वारा अप्रकट होने योग्य] ही उपाशु है। [उधर] सर्वभाव भी [समष्टि की अपेक्षा से] अनिरुक्त ही है। [ऐसी परिस्थिति मे अनिरुक्त भावात्मक उपाशुभाव से यजन करता हुआ अध्वर्यु] अनिरुक्तात्मक सर्वभावेन उस कामसमृद्धि को प्राप्त करने म समर्थ होजाता है जिस काम क लिए कि यह इष्टि का निर्वाप करता है। यही [सप्तदशसामिधेनियो का अनुवचन तथा प्रधानदेवता का उपाशुयजन ही] इस काम्यष्टि का उपचार [इतिकर्त्तव्यतात्मक विशेषधर्म्म] है ॥ १ ॥

– हेमन्तशिशिरयो समासेन

[दशपूर्णमासेष्टि मे पू र्व म 'ता पञ्चदश सामिधे य सम्पद्य त' इ यादि रूप से प ह सामिधेनियों का विधान बतला गया है। अब इसी सम्बन्ध मे पक्षा तर उद्धृ त करती हुई श्रु ति कहता है]-कितने क याज्ञिक कहते है कि अथवा दशपूर्णमासेष्टि मे २१ सामिधेनी-ऋचाओ का अनुवचन करना चाहिए। [२१ सामिधेनिया के अनुवचन की उपपत्ति वे याज्ञिक यह बतलाते है कि] एक सम्व सर क बारह [तो] महीने होते है पाच ऋतुए होतीं है [त्रिवृत् पञ्चदश एकविंश स्तोम भेदभिन्न] पृथिवी अ तरिक्ष द्यौ य तीन [स्तौम्य पार्थिव] लोक होते है। इन सब क सकलन से सम्व सर क २ पर्व हो जाते है। यही १ वॉ है जोकि यह [खगोलस्थ बृहती छन्द त्रिषवद्वृत्त क मध्य मे स्थिररूप से] तप रहा है। यही [एकविंशसू य यज्ञफलात्मिका] स्वर्लोकात्मिका गति है यही (सवयज्ञ) प्रतिष्ठा है। (जो यजमान अपनी दशपूर्णमासेष्टि मे १ सामिधेनियों का अनुवचन करवाता है) वह १ क द्वारा तत्समतुलित त्रिंशतिपर्वा मक सम्व सर यज्ञ का सग्रह करता हुआ इक्कीसवीं सामिधेनी क द्वारा तत्समतुलिता सूर्य्यात्मिका) इसी गति का इसी प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। इस गति-प्रतिष्ठा-प्राप्ति क लिए २१ सामिधेनिया का ही अनुवचन करना चाहिए ॥११॥

(उक्त पक्ष का खण्डन करती हुई श्रुति कहती है कि) इन १ सामिधेनियाका (उस) भा य हीन यजमान क लिए ही उच्चारण करना चाहिए जो यजमान यह चाहता है कि न तो मेरा अभ्युदय हो न पतन हो। (यजमान अपनी जसी स्थिति मे रहता हुआ यज्ञ करेगा वैसी ही स्थिति म प्रतिष्ठित) यजमान क लिए ही इनी ही सामिधेनिया का अनुवचन करते है एव वह यजमान वैसा ही (उसी पू स्थिति म) रहता है। अथवा तो उस से भी निम्नश्र णि मे चला जाता है जिस यजमान क लिए क ऋत्विक् (२१ सामिधेनी का उपयु क्त गति-प्रतिष्ठा मिका उपपत्ति बतलाते हुए) इन १ सामिधेनियो का अनुवचन करते है। और वास्तव मे (यज्ञपद्धतिया क आधार पर बात तो यह है कि) १ सामिधेनियों क अनुवचन का पक्ष केवल पक्ष ही पक्ष है निष्प्रयाजन-मीमासा ही है वस्तुत २१ का (ऋत्विकलोग) कदापि अनुवचन नहीं करते।

तात्पर्य्य श्रात (याज्ञव क्य) का यही है कि यज्ञकर्म्म किसी अतिशय की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है। श्री (सम्पत्ति) की प्राप्ति क लिए अभ्युदय क लिए एव पूव की सामान्य परिस्थित से उच्च स्थिति मे पहुचने क लिए ही यज्ञ किया जाता है। यह फल तभी सम्भव है जब कि पद्धति प्रदर्शित पञ्चदश सामिधेनियों का ही अनुवचन किया जाय। केवल सख्या क आधार पर सम्पत्ति का समतुलन करते हुए १ सामिधेनी करना अनुचित है। जो यजमान यह चाहे कि मैं श्रीशून्य बना रहू यज्ञ से मेरा कोई विशेष लाभ न हो अथवा जो यह चाह कि न तो मेरा कोई लाभ ही हो न हानि ही हो वह अवश्य ही १ का अनुवचन करवा सकता है। अवश्य ही ऐसे अनुवचन से यजमान जसे का तसा ही बना रहेगा। और बहुत सम्भव है इस सामा य स्थिति से भी गिर जायगा। इसलिए २१ का पक्षा तर कवल मीमासा ही समझनी चाहिए।

श्रुति क अक्षर स्वारस्य से १२ की कण्डिका का उक्त अथ ही समीचीन प्रतीत होता है। कारण यही है कि मा उ एषा मीमासैव न त्वेवैता अनु य ते' बारहवीं कण्डिका क इस उप

सहारवाक्य से यही सिद्ध त निकलता है कि १ का पक्ष याज्ञिकों क कवल का निक विचार ही विचार है। न कभी ऐसा हुआ न होना चाहिए। अवकाश क समय याज्ञिकों म सामिधेनी-संख्या की उपपत्ति क स ब ध मे कभी चर्चा चला होगी। वहा किसी न य क िया होगा कि २१ सामिधेनी क्यों न की जाय ?। स से २१ मध्य की गति प्रातष्ठा प्रा न होजायगी। तत्काल ही कसी वैज्ञानिक याज्ञिक न उपेक्षापूर्वक इस पक्ष का उपहास करते हुए कह दिया होगा कि हा ठीक है जिस यजमान का श्री की अपेक्षा न हा प्रथम तो उस क यज्ञ मे अथवा जो यजमान यह चाहे कि न मेरा अ युदय हो न पतन हो मै जसे का तसा ही बना रहू उस यजमान क लिए अवश्य हा १ का अनुवचन कर सकते है। पर तु यह भी यान रहे कि यजमान का अभ्युदय तो नहीं ही होगा पर तु बहुत स भव है उस का अनिष्ट भी होजाय । उसी सामयिक चर्चा म उपस्थित होने वाले का पनिक १ विश पक्ष का श्र ति ने उसी आक्षेपा मक-उपहासास्पद शब्दों मे इतिवृत्त बतलाते हुए सिद्धा त मे १५ सामिधेनी पक्ष का ही समर्थन किया है। **ता हैता गतश्रेव अनब्रु यात् य इ छेत् न श्रयान् स्यात् न पापीयान्** इति। इस से उपेक्षापूर्वक १ का अफला मक फल बतलाते हुए इस पक्ष का उपहास किया। सर्वान्त म— **सा उ एषा मीमासा एव, न त्वेवैता अनु य ते'** इस वाक्य से इस १ पक्ष का निरसन कर दिया गया। इसी आधार पर हमने १ वीं कण्डिका को पूर्वपक्ष-खण्डन परक माना है। पर तु यारया-ताओ ने १ वीं कण्डिका का **आवकारभद'** म र्यादा परक लगाते हुए इस का यह अर्थ किया है कि—

जिस यजमान की सम्पत्ति नष्ट होगइ हो उस यजमान क यज्ञ म ही सामिधेनियों का अनुवचन करना चाहिए। जो यजमान अ छी स्थिति म है उस क यज्ञ म १ क अनुवचन की कोई आवश्यकता नहीं है। यह अर्थ **'ता हैता गतश्रेवानुब्रु यात्** इस वाक्य का किया है। एव इसके आगे के **'य इ छे न श्र या त्स्यात्, न पापीयान्, यादृशाय है व स ते वाहुस्तादृ हैव भवति'** वाक्य को **पापीयान् वा** से प्रथक् कर उस का यह अर्थ किया है कि— जो यज-मान श्रैष्ठ्य नैकृष्ट्य दोनों नहीं चाहता है उस के लिए यथोपल ध प्रकार से (१५ अथवा १७) सामिधेनी का अनुवचन करते है। आगे जाकर **पापीया वा क वा'** उपलक्षण विधि से **श्र यान्** का ग्रहण करते हुए यह अर्थ किया गया है कि १ सामिधेनी पक्ष म यजमान अच्छी कामना रखता है तो श्रेयान् होता है अ यथा पापीयान् होता है। पाठक देखा कि इस यारया म किस प्रकार श द-म र्यादा की प्रकरणसङ्गति की उपेक्षा हुई है ?। अस्तु जा कुछ हो प्रकृत मे कण्डिका का निष्कर्ष यही निकलता है कि १ का पक्ष कवल मीमासा ही है। ऐसा अनुवचन होता नही और यही सिद्धान्त यह सिद्ध कर रहा है कि २१ का पक्ष पक्षा तर नहीं है अपितु उपेक्षाभाषा के द्वारा खण्डनात्मक ही बन रहा है।

कितने एक यारयाता अ य प्रकार से भी उक्त कण्डिका का समन्वय कर रहे है। और-पूर्वोक्त द्वितीय व्याख्या की अपेक्षा प्रस्तुत याख्या फिर भी यथा कथञ्चित् ठीक मानी जासकती है। व्याख्या का

स्वरूप यहा है कि अधिकारी क भद से सामिधेनियों की सख्या की व्यवस्था है। यह जो २१ का अनुवचन है वह जिस यजमान की स पत्ति नष्ट होगई है उसी यजमान क लिए नियत है। क्या कि प्रतिष्ठारूप २१ से यजमान की उखडी हुई प्रतिष्ठा पुन प्रतिष्ठित होजाती है–**'ता हैता गतश्र रवानब्रूयात्**

जो यजमान न अपना अभ्युदय चाहता है न पतन उस यजमान के लिए उसे उसकी सामा य स्थिति पर रहन क लिए ऋत्विक् लोग पूर्वोक्त पञ्चदश किंवा स तदश का ही अनुवचन करते है– **य इच्छेन्न श्रेया स्या न पापीयान् यान्शाय हैव स तेऽ वाहु तादृड वा हैव भवति'** ।

दोनों पक्षा मे से दूसरे १ व पक्ष मे दोष बतलाती हुई श्रुति कहती है कि १ के पक्ष मे **'श्र यान्** के स्थान म **पतन'** होसकता है। अर्थात् फलप्राप्ति सदि ध है— **पापीया वा** । ऐसी स्थिति म १ क पक्ष का केवल मीमासा [विचार] ही समझना चाहि इसका अनुवचन नहीं करना चाहिए **सा उ एषा मीमासव, न त्वे ता अनु्च्य ते ॥१२॥**

[सख्या क स ब ध मे व्यवस्था कर अब उच्चारण–क्रिया मे विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है] उस ऋत्विक [भावी होता] को पहिली सामिधेनी–ऋच का तथा अ त की सामिधेनी ऋचा का तीन तान बार अनवानन् [अनुच्छ्वास] रूप से ही अनुवचन करना चाहिए। [कहा गया ह कि १ म से १–११ वीं ऋचा का तीन तीन बार बाला जाता ह। इन के उच्चारण म एकस तानभाव ही रहना चाहिए। अर्थात् एक ही श्वास मे–बिना म य म विश्राम किए आरम्भ की ऋचा का त्रि–वार एवमेव अ त की ऋचा का त्रि बार उच्चारण करना चाहिए। स एकश्वासा मक सन्तानभाव का कारण यही है कि] प्राकृतिक नि य आधिदैविक यज्ञ मे [पृथिवी अ तरिक्ष–द्या नामक] तान लाक है। [तीन लोक महिमापृथिवीरूप एक ही लोक के तीन स तत पव है]। [यहा तीनो ऋचाओं का स तत उच्चारण करता हुआ ऋत्विक्] इन्ही तीना लोकों को [यज्ञफलभाक्ता यजमान क लिए प्रातिस्विकरूप से] एकरूप से [अविच्छिन्नरूप से] फलाता है किंवा तीना का परस्पर ग्र थिब धन करता ह एव तीनों को प्रीणित तथा [परस्पर क ब धन से] बलयुक्त बनाता है। अपिच [आ यात्मिक यज्ञमूर्त्ति] पुरुष मे प्राण–व्यान–अपान भेद स तीन प्राण [अ यवि छिन्नरूप से] प्रतिष्ठित है। [इस अनवानन्–क्रिया से वह होता] इन्हा तीना का परस्पर सम्बद्ध [सन्तत] तथा विच्छेदरहित [अ यच्छिन्न] करता है। यही अनुवचन का [नैष्ठ निक] प्रकार ह अर्थात् अनवानन्–रूप से ही अनुवचन करना चाहिए ॥१३॥

(प्रथम तथा अ त की तीन तीन ऋचाए यथास्वर–सुस्पष्ट–स यो ग से एक साथ एक श्वास से बाल देना साधारण काम नहीं है। मान लीजिए होता म स्वरसन्धान का उतना बल नहीं है। एसी दशा म अनुवचन की क्या मर्य्यादा होगी ? इसी विप्रतिपत्ति के सम्बन्ध मे व्यवस्था करती हुइ श्रुति कहती है कि)—(त्तम पक्ष तो यही है कि) इस होता का जहातक वश

चले शक्तिभर इसीप्रकार (पूर्वोक्त अनवाननरूप से एक ही श्वास में) अनुवचन करने का प्रयास करे—(स यावद्ध वशः स्यात् एवमेवानुविवक्षेत)। (यदि ऐसा सम्भव न होसके तो उस स्थिति में शक्ति के अभाव में एक ऋचा के मध्य में विश्राम न लेकर पूरी ऋचा समाप्त होजाने पर ही विश्राम कर सकता है। परन्तु) इस (मध्य विश्रामात्मक) पक्ष की निन्दा ही मानी जाती है। (निन्दा का मूल यही है कि)–अनवानन् (एकश्वास में) बोलने की इच्छा से ऋङ्मन्त्र का उच्चारण करता हुआ होता जब कि मध्य में श्वास का परित्याग कर देता है तो उस दशा में (त्रैलोक्य सन्धानात्मक) यह अनवानन्–अनुवचनकर्म्म (मध्य के विराम से व्यवच्छिन्न होता हुआ) निर्बल ही होजाता है। यही इस पक्ष में परिचक्षा (निर्बलता) है। तात्पर्य इस परिचक्षाभावप्रदर्शन का यही है कि जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होजाय कि अब विश्राम लिए बिना आगे उच्चारण असम्भव है तभी मध्य विराम अपेक्षित है)॥

अथवा उक्त कण्डिका का इस रूप से भी समन्वय किया जासकता है कि अनुवचन करने वाले होता को चाहिए कि उसके श्वास में (जितनी देर ठहरने का) बल है उतनी देर तक ही बोले। श्वास पर बल प्रयोग न करे। वाक्–शक्त्यभाव में यदि होता तीन ऋचाएं एक साथ न बोलकर मध्य में विश्राम ले लेता है तो कोई दोष नहीं है–'**स यावदस्य वशः स्यात्, एवमेवानुविवक्षेत**'।

उक्त पक्ष को अदोषभाक् मानने वालों का प्रतिवाद करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि नहीं ऐसी बात नहीं है। अवश्य ही इस पक्ष की (ऋङ्मध्य विश्राम की) परिचक्षा (निन्दा) ही है। यदि होता एक श्वास में (अनवानन्) बोलने का सङ्कल्प कर (**अनुविवक्षन्**)मध्य में (**साम**) हीं विश्राम कर लेगा [अपान्यात्] तो त्रैलोक्य–सन्तानाथ होने वाला लोकसन्तानाव्यवच्छेदसाधक] यह कर्म्म शिथिल होजायगा– **उत साम्यि अवान्यात् अनवानन्ननुविवक्षन्, तत् कर्म्म विवृह्येत्**'। यही इस विश्रामपक्ष में दोष है। (अतः कभी ऋङ्मध्य में अवसान नहीं होना चाहिए]। उक्त दोनों अर्थों में आगे के प्रकरण की सङ्गति की दृष्टि से दूसरा अर्थ ही अन्वर्थ समझना चाहिए॥१४॥

[प्रश्न उपस्थित होता है कि जब विश्राम लेना दोष है एवं कोई होता अपनी शक्ति से एक श्वास में तीनों का अव्यवच्छिन्न उच्चारण कर नहीं कर सकता तो ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय?। इसी प्रश्न के सम्बन्ध में पत्तान्तर बतलाती हुई श्रुति कहती है कि] वह होता यदि ऐसा करना (अनवानन् रूप से एक श्वास में) अपनी शक्ति के बाहिर समझता है (तो उस दशा में ऋङ्मन्त्र के मध्य में विश्राम न कर (एक एक ऋचा का अनवानन् (एक श्वास में) अनुवचन करे। (अर्थात् ऋङ्मध्य में विश्राम करना दोष है ऋक् के अवसान में दोष नहीं है)। (यदि ऋक के अन्त में विश्राम किया जायगा तो पूर्वोक्ता आधिदैविकी लोकसम्पत्ति तथा आध्यात्मिकी प्राणसम्पत्ति कैसे प्राप्त होगी? प्रश्न का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है) इस एक एक ऋचा से ही वह (क्रमपरम्परया) तीनों लोकों को सन्तत तथा दृढ़ बलवान् बनाने में समर्थ हो जाता है। (तीनों लोक सन्तत होते हुए प्रथक् प्रथक् हैं। ऐसी स्थिति में तीनों के प्रथक प्रथक्

कि तु निरन्तर अनुवचन से लोकस पत्ति प्राप्त होजाती है यही ता पर्य्य है। अब जोकि प्राणा धान करता है-(उसका सम न्वय इसप्रकार हाजाता है कि प्राण अपान यान तीनों आ यात्मिक प्राण आलोमभ्य आनखाग्रे भ्य याप्त एक ही गायत्रीप्राण क तीन पव है। फलत प्राणत्र या मका) गायत्री ही प्राण है। सा नो कि होता एक बार भ ऋङ्म त्ररूप अशेष गायत्री का अनुवचन करता है इससे (प्राणत्रयगर्भित) अशष प्राण का भी आधान करने मे समथ हाजाता है। इसलिए (जब कि एक एक क अनवानन् अनुवचन स लोक प्राण स पत्तियॉ प्राप्त होजातीं है तो) एक एक का अनवानन् रूप से अनुवचन कर (लेना) चाहिए ॥१५॥

(प्रथम प्रथम की तीन सामिधेनियों क सम्बन्ध मे उच्चारण की यवस्था बतलाई गई। अब समष्टिरूप से १५ हों के उच्चारण सम्ब ध मे विशष नियम बतलाती हुइ श्र ति कहती है कि) वह होता इन १५ सामिधेनी ऋचाओं का अ यवच्छिन्नरूप स (नैर तर्य्याबाध से) अनुवचन करता है। (ता पर्य्य यही ह कि इन्हों का उच्चारण क्रमश परम्परया बिना अ य कम्म क समा वेश के निर तर मर्य्यादा से ही हाना चाहिए। कारण इसका यही ह कि य १५ ऋङ्मन्त्र पूवकथ नानुसार सम्व सर क अहोरात्र स्थानीय हैं। स तत अ यवच्छिन्न उच्चारण करता हुआ होता) सम्व सर क अहोरात्र पर्वो को ही स तत तथा अ यवच्छिन्न करता ह। य वे सम्व सर क अहोरात्रपव परस्पर मिलकर स तानपरम्परारूप से ही चक्रवत् पारवर्त्तित होते रहत है। प्रकृति मे अहोरात्रपव सन्तत अ यवच्छिन्नरूप से ही परिप्लवमान है। अत तत्स्थानीया सामिधेनी का भी उसी मर्य्यादा से अनुवचन होना चाहिए। (अब इस स तत अविच्छिन्नभाव का दूसरा कारण बतलाती हुई श्र ति कहती है कि स तत अविच्छिन्नरूप स अनुवचन करता हुआ होता) द्वेष रखने वाले (कृत्रिमशत्रु) क लिए तथा भ्रातृ य क लिए (सहजशत्रु के लिए) इस (अपने भो य स्थानीय सम्व सरचक्र मे) **उपस्थान' (प्रवेशद्वारा)** नहीं करता ह। वह हाता (यजमान के इस भोग्य सम्व सरचक्र मे उभयविध शत्रुओं के लिए) प्रवेशद्वार ही बनाता है जो कि अस ततरूप से सामिधेनियों का अनुवचन करता ह। अत स तत अ यवच्छिन्नरूप से ही अनुवचन करता है (करना चाहिए) ॥१६॥

तीसरे अध्याय मे पॉचवॉ, तथा तीसरे प्रपाठक मे दूसरा ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनीब्राह्मणानुगत प्रथमब्राह्मण अत्र-उपरत

(तीसरा अध्याय समाप्त)

३

शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्यान्तर्गत
चौथा अध्याय आरम्भ
४

—*—

चौथे अध्याय मे पहिला, तथा तीसरे प्रपाठक म तीसरा ब्राह्मण
सामिधेनी–ब्राह्मणानुगत दूसरा ब्राह्मण

गायत्री–छन्दस्क १५ सामिधेनीमन्त्र १५ सख्या प्रथमोत्तम क तीन तीन मन्त्रों का अनवानन् उच्चारण १५ हा का सन्ततरूप से अनुवचन इन से क्रमश **ब्रह्म क्षत्र–सम्वत्सर के अहोरात्रपर्व प्रवेशद्वाररहित चक्राधिपत्य** इन चार सम्पत्तियो की प्राप्ति बतलाई गई। अब उन्हीं सामिधेनियों क सम्बन्ध मे उच्चारणानुगत विशेपधर्म्म का विधान करता हुआ निम्न लिखित प्रकरण उपक्रान्त होता है—

वह होता (सामिधेनी ऋक् का उच्चारण करने से पहले) **'हिंकार'** करक (हिं' शब्द का उच्चारण करके) अनुवचन (ऋक का उच्चारण) करता है। वैज्ञानिक लोगान कहा है कि (कोई भी) यज्ञ असामा (साम रहित) नहीं है। (साथ ही) हिंकार किए बिना साम नहीं गाया जासकता। सो जोकि होता हिङ करता है इस से हिङ्कार का रूप सम्पन्न करता है एव ओ३म् ओ३म् इस प्रणव से ही साम के रूप (रूपसम्पत्ति) को प्राप्त करता है। इस (प्रणवपूवक हिंकारानुगत अनुवचन) से सम्पूर्ण यज्ञ समासा (सामसम्पत्ति से युक्त) होजाता है। प्रत्यक मन्त्र प्रणवपूवक बोला जाता है प्रणव से पहले यहा हि और लगाया जाता है। इस हिंकारात्मक–प्रणवोच्चारण से सामसम्पत्ति गतार्थ बन जाती है। हमारा यज्ञ ससाम बनजाय यही हिकार की एक उपपत्ति है यही तात्पर्य है) ॥१॥

जिस (दूसर) प्रयोजन के लिए कि हिङ्कार करता है– वह बतलाते है) नासिकास्थित श्वास प्रश्वासाधिष्ठाता मुख्य) प्राण निश्चयेन हिङ्कार है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि (कोई भी व्यक्ति) नासारन्ध्रों को अवरुद्ध कर हिकार नहीं करसकता। (जहा हिकार नासाप्राणात्मक होने से प्राण है वहा) ऋड्मन्त्र वाग्रूप उच्चारणापेक्षया वागात्मक है। इसप्रकार हिकार **प्राण'** बना हुआ है एव ऋक् वाक' बनी हुई है इसी वाक् प्राण क मिथुनभाव को लक्ष्य मे रखकर श्रुति कहती है कि–वाक् से ऋक् का अनुवचन करता है एव वाक–प्राण दोनों का (योषा–वृषात्मक)

मिथुन (दाम्प त्यभाव) है। (सप्रकार हिंकारपू र्वक-प्राणपूवक-ऋक का (वाक् का) प्रयोग करता हुआ) होता (इस हिंकार-ऋकरूप प्राण वाक् क मिथुन से) सामिधेनियो क पहले ही मिथुन प्रजनन करता है। इस (प्रजनन सम्पत्ति क) लिए भी हिंकार करक अनुवचन करता है ॥२॥

वह होता उपाशुरूप स म न्दरूप से कि तु गम्भीर वनि से) हिकार करता है। यदि होता (मन्त्रवत्) उच्चस्वर से हिङ्कार करगा तो इस हिंकार को भी दूसरी वाक् ही बना डालेगा (फलत मिथुनसम्पत्ति प्राप्त न हागी) इसालए उपाशु हिकार करता है ॥३॥

वह हाता 'आ तथा 'प्र से युक्त सामिधेनी ऋक् का अनुवचन करता है। [स 'आ' स उपलक्षित एति' तथा 'प्र' से उपलक्षित प्रेति' क समावेश स सामिधेनी ऋग्रूपा] गायत्री को ही यह होता [एति से] अर्वाची [भूलोकानुगामिनी] बनाता है एव [प्रति से] पराची [द्यु लोकानुगामिनी] बनाता है। पराची गायत्री ता देवताओ क लिए यज्ञ [आहुतिद्रव्य] का वहन करती है एव अर्वाची गायत्री मनुष्यों का पालन करती है। [इस उभयाध फलप्राप्ति क लिए ही] एति प्र ति रूप से सामिधेनी का अनुवचन करता है ॥ ॥

[एति प्रति की एक उपपत्ति बतलाई गई। अब दूसरी उपपत्ति बतलाते है] जिस प्रयोजन क लिए कि एति प्रेति-पूवक अनुवचन करता ह-[उसका दूसरा कारण बतलाते हे]-परागगति सूचक] 'प्र' [प्रतिरूप मर्य्यादा से] प्राण है एव [अवाग गतिसूचक] 'आ' उदान है। ['प्र' 'आ' का सम्ब ध करता हुआ] होता [यज्ञातिशयलक्षण भावी यज्ञपुरुष म] 'प्राणोदान' हीं स्थापित करता है। इसलिए भी 'ऐति प्र ति' पूवक अनुवचन करता है ॥४॥

जिसलिए कि 'आ प्र' पूवक अनुवचन करता है [उसकी तीसरी उपपत्ति बतलाते है]। [सिच्यमान रेत क्योंकि सिञ्चन करने वाले से परागगति रखता ह इस साद्दश्य से] प्र' यह रेत का आधान ह [सिक्तरेत गर्भाशय से हमारे अभिमुख आता हुआ सिञ्चन करने वाले से अर्वागगति रखता है इस साद्दश्य से] 'आ' यह उपत्ति है [इस रेत सेक तथा प्रजो पत्ति सम्पत्ति के आधान के लिए भी एति प्रति पूवक अनुवचन किया जाता है]। अपिच-[तृणादिभक्षणाथ पशुओं का जङ्गल म जाना क्योंकि परागगति से सम्ब ध रखता है इस सादृश्य से] 'प्र' यह पशुगमन-स्थानीय है। एव [जाकि सायकाल पशुओं का लौट आना अर्वागगति से सम्ब ध रखता है इस साद्दश्य से] 'आ' यह पशुओं का लौटना है। [इस पशुसमृद्धि के आधान के लिए भी एति प्र ति-पूवक अनुवचन किया जाता है। इसप्रकार एति प्र ति' के सम्ब घ मे चार उपपत्तियाँ बतलाकर अन्त मे एति प्रेतिरूपा गायत्री से उत्पन्न सम्पूर्ण विश्व मे-एति-प्रेति भाव

[आदान-विसगभाव] की याप्ति बतलाती हुइ श्रुति कहती है]-सभी पदाथ-समष्टि याप्रूप से उभयथा आ-[आदान] प्र-[विमर्ग] भावो से ही युक्त है। [इम सवसामा य-सम्पात्त-आदानविसर्गा मिका कम्मसम्पत्ति-क लिए ही] एति-प्रे ति पूवक अनुवचन करता है ॥६॥

[अनुवचन क सम्ब ध म जो कुछ विशेषताए बतलानी थीं बतलादी गइ । दूसरे श दों मे अनुवचनानुगत उपपत्ति-प्रकरण समाप्त हुआ। अब पद्धति-प्रकरण आरम्भ होता है। पद्धति-प्रकरण आरम्भ कर इस से पहिले सामिधेनी-मन्त्रपाठ के सम्ब ध म कुछ विशष बात [ग्र था नुगत] लक्ष्य मे ले आनी चाहिए —

प्रकृत ब्राह्मण की सातवी काण्डका से आर भ कर ४ वी कण्डिकापय त [ब्राह्मणसमाप्ति पय्य त] जिन सामिधेनी-मन्त्रों का याख्या हुई है वे सामिधेनीम त्र तैत्तिरीयब्राह्मण म निम्नलिखित रूप से पठित है—

१-प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृता या ।
दवाञ्जिगातु सुम्नयु ॥
—ऋक्स ३।२७।१ ।

२-अग्न आयाहि वीतये गृणानो ह यदातय ।
नि होता सत्सि बर्हिष ॥
—ऋकस ६।१६।१ ।

३-त त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि ।
बहच्छोचा यविष्ठय ॥
—ऋक्स ६।१६।११ ।

४ स न पृथु श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि ।
बहदग्ने सुवीर्य्यम् ॥
—ऋकस ६।१६।१२ ।

५-ईडे यो नमस्यस्तिरस्तमासि दर्शत ।
समग्निरिध्यते वृषा
—ऋक्स ३।२७।१३ ।

६ वृषो अग्नि समिध्यते अश्वो न देववाहन ।
त हविष्म त ईडते ॥
—ऋक्स ३।२७।१४ ।

७ ग्षण त्वा वय वषन्—ग्षाण सामधीमहि ।
अग्ने दीध त बहत् ।'
—ऋक्स ३।२७।१५ ।

८ अग्नि दूत वणीमहे हातार विश्ववेदमम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥
—ऋकस १।१२।१ ।

९ समिध्यमानो अध्वरे अग्नि पावक ईड्य ।
शोचिष्केशस्तमीमहे ।
ऋक्स ३।२७।४ ।

१ समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षि स्वध्वर ।
त्व हि ह यवाडसि ॥
—ऋकस ५।२८।५ ।

११—आजुहोत *दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे ।
वणीध्व ह यवाहनम् ॥
—ऋकस ५।२— ।
(—तै ब्रा ३।५।२ ।)

उक्त ११ सामिधेनी-मन्त्रा से ही अग्निसमि धनकम्म किया जाता ह। प्रस्तुत शतपथ ब्राह्मण यद्यपि प्रचलित शुक्लयजु सहिता की क्रमिक यारया करता हुआ इसी का ब्राह्मण माना जाता है पर तु आश्चर्य है कि उक्त ग्यारह म त्रों म से यजु सहिता मे केवल "त त्वा समिद्भि " (यजु स ३।३) यह एक ही म त्र उपल ध होता है। शेष १ मन्त्र यजु सहिता मे नहीं है। इसीप्रकार आग जाकर जिन म त्रो का निगदानुवचन, आर्षेयानुवचन तथा निवित्पाठ—कर्म्मा मे उपयोग हुआ है वे निम्न लिखित म त्र भी यजु सहिता मे अनुपल ध है। प्र येक शाखा का एक ब्राह्मण एक आरण्यक तथा एक पानिषत् हाता है। बहुत सम्भव है प्रथम तो प्रस्तुत शतपथ ब्राह्मण माध्यन्दिनीशाखा का न हो अथवा प्रचलित यजु सहिता माध्यन्दिनीशाखा की न हो। अवश्य ही दोनो में से एक पक्ष मीमास्य है। अन्यथा जो मन्त्र स्वय ब्राह्मणग्रन्थ मे पठित है उन का यजु सहिता मे उपल ध न होना कोई अर्थ नहीं रखता। अनुपल ध शेष म त्र ये है—

—— 'व षण' इति ऋकसहितायाम्।
*— 'आजुहोता' इति ऋकसहितायाम्।

"अग्ने महा असि ब्राह्मण भारत (असावमा) दवेद्धो मन्विद्ध ऋषिष्टुतो विप्रानुमदित कविशस्तो ब्रह्मशासतो घृताहन प्रणीयज्ञाना रथीरध्वराणाम्। अतूर्तो होता तूर्णिह यवाट। आस्पात्र जुहूर्देवाना चमसो दवपान । अरा वाग्ने नमिर्देवाम्त्व परिभूरसि॥ आवह दवान् यजमानाय, अग्निम न आवह सोमभाव, अग्निमावह, प्रजापतिमावह अग्नीषोमावावह इन्द्राग्नी आवह, इन्द्रमावह महेन्द्रमावह दवा आज्यपा आवह अग्निं होत्रायावह स्वा महिमानमावह, आचाग्ने दवान् वह सुयजा च यज जातवेद"।

(तै ब्रा ३ का ५ प्र)

उक्त ११ सामिधेनी मन्त्रा मे मे शतपथ मे तो सातव मन्त्र का 'वृषण त्वा वय वृषन् वृषण -समिधीमहि" इसप्रकार ह्रस्वान्त पाठ है एव त ब्रा म 'वृषण' क स्थान मे [ऋक् सहितावत्] 'वृषाण' पाठ है। एवमव आगे की निगदादि मन्त्रसमष्टि क अन्त क- "आचाग्ने देवान् वह सुयजा च यज जातवेद' इस तैत्तिरीय पाठ के स्थान मे शथपथ म 'आच वह जातवेद सुयजा च यज" यही पाठ ह। इसक अतिरिक्त ११ व मन्त्र में तै ब्रा क आजुहोत' के थान म [ऋक् सहितावत] 'आजुहोता यह पाठ ह। इन सब मन्त्रों का विशद वैज्ञानिक विवेचन आगे क विवेचना प्रकरण म किया जायगा। प्रकृत मूलानुवाद-प्रकरण म कवल पद्धति ही बतला दी जाती है।]

वह होता [सवप्रथम] प्र वो वाजा अभिद्यव [इत्यादि] इस सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता है। यह अनुवचनकर्म्म (मन्त्रोपात्त प्र' के सम्बन्ध से परागगतिरूप प्र' इस भाव का सग्राहक हैं। (अनन्तर) अग्नऽआयाहि वीतय (इत्यादि) इस सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता है। यह अनुवचनकर्म्म [मन्त्रोपात्त 'आयाहि' क सम्बन्ध से अर्वागगतिरूप] आ' इस भाव का सग्राहक है। [दोनों मन्त्रों के प्र-आयाहि पदों से यह यज्ञ यज्ञकर्म्मानुगता आदान विसर्गात्मिका स्वाभाविकी सम्पत्ति से युक्त होजाता है यही तात्पर्य है] ॥७॥

क्योंकि 'आयाहि' वीतये' यह वाक्य स्वगस्थ देवताओं की अपेक्षा से परागगति का सूचक बन रहा है अतएव यह भी प्र' भाव का ही समथक माना जायगा इस हेतु को लक्ष्य मे रखते हुए) कितने एक वैज्ञानिकों का कहना है कि उक्त दोनों सामिधेनीमन्त्र 'प्र' भाव को ही सम्पन्न करने वाले है। (इनके उक्त हेतु को अवैज्ञानिक बतलाय हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते है कि -उन वैज्ञानिकों का (दोना को प्र भाव परक बतलाना) यह कथन विज्ञान-के

अतिभाव (विज्ञान क अजीर्णभाव) का ही सूचक है । वस्तुत 'प्र वो वाजा अभिद्यव ' यह प्र भाव का ही तथा 'अग्नऽआयाहि वीतय' यह 'आ' भाव का ही सूचक है । (याज्ञवल्क्य का अभिप्राय यही है कि यज्ञ यजमान कर रहा है । सामिधेनी का अनुवचन यजमान के लिए होरहा है । इस यजमान की अपेक्षा से तो 'आयाहि अर्वाग्गति का ही ग्राहक बन रहा है। ऐसी स्थिति मे 'आयाहि' को प्राकृतिक नि य यज्ञपरक मानना सवथा अवज्ञानिक है ।)॥८॥

(१) (सातवीं कण्डिका मे जिन मन्त्रो क अनुवचन का विधान हुआ है उनके पदो की यारया क ती हुई श्रुति कहती है) यह होता- प्र वो वाजा अभिद्यव ' इस मन्त्र का अनुवचन करता है । (होता का) यह अनुवचनकर्म्म प्र' का सम्पादक बनता है । '१वाजा' इस (वाक्य का ता प-य यही है कि) निश्चयन अन्न का ही नाम 'वाजा है । इससे अन्न क सम्ब ध मे ही कहा गया है । '२ अभिद्यव ' इस (का अथ यही है कि) अद्ध मास (पक्ष) ही का नाम है। इन्हीं क प्रति अनुवचन हुआ है । ३ हविष्म त इस (का अथ यही है कि) पशु ही हविष्म त है । इन्हीं क प्रति अनुवचन हुआ है ॥९॥

('४ घृता या' इस (का अथ है) –

पुराने समय मे (ह) माथव' नाम से प्रसिद्ध विदेघ (विदेह) राजा ने अपने मुख मे वैश्वानर अग्नि को धारण कर लिया । इस राजा का रहूगण का पुत्र अतएव 'राहूगण इस उपनाम से प्रसिद्ध गोतम ऋषि पुरोहित था । उस राजा ने गोतम ऋषि क बुलाने पर इसलिए उत्तर नहीं दिया कि मेरे मुख से वैश्वानर अग्नि (बाहिर) न गिरजाय ॥१ ॥

(जब सामा य लौकिक वाक्य से गोतम ऋषि विदेघ [विदेह] के वा मय अग्नि का सयम तोडने मे समथ न होसके तो उन्होंने अग्नि की स्तुति करते हुए अलौकिक] ऋड मन्त्रों से [मुख

१— वाजयति बलयति इस निवचन से अन्न को वाज कहा गया है ।

२— वस्तो द्योभानु वासरम् इ यादि रूप से द्य श द दिन वाचक है । द्यून् दिवसान् अभिगता इस नि चिन से दिनो के अनुगत रहन वाले शुक्ल—कृ ण पक्षो को अवश्य ही अभिद्यव कहा जासकता है ।

३—क्षीर दधि आज्यादि हवि के उ पादक होने से ही पशुओ को हविष्म त कहा गया है ।

४—- घृता या पद का म त्र में विशेष मह व है । क्योंकि घृत तेजो वै आ यम के अनुसार तेजोलक्षण अग्नि का सजात य है । अतएव यही अ निसमि धन का मुख्य कारण माना गया है । इस पद का एक ऐतिहासिक आख्यान के द्वारा मह व प्रतिपादित हुआ है ।

स्थित अग्नि की स्तुति करते हुए] विदेघ को बुलवाने का निश्चय किया। [गोतम कहने लगे कि] 'वीतिहोत्र त्वा कवे द्युमन्त समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे" (हे कवे! हे अग्ने! यज्ञसमृद्धि स्वरूप ममपक अभिलषित फलपूरक, कान्तियुत एसे आपको इस यज्ञ मे मैं इध्मकाष्ठ से समिन्धन कर रहा हू—यजु स २।४।] [ऋक स ५।२६।३।] इस मन्त्र से अग्नि की स्तुति कर अन्त मे गोतम ने कहा हे विदेघ! ॥११॥

विदेघ ने कोई उत्तर नहीं दिया [मानो कुछ सुना ही नही। पुन अग्नि को स्तुति के द्वारा प्रबल बनाते हुए गोतम ने यह मन्त्र बोला] उदग्ने शुचयस्तव। शुक्रा भ्राजन्त ईरते। तव ज्योतींष्यर्चय [ऋक स ८।४४।१ हे अग्ने! आपकी पवित्र निर्मल-शुभ्रवर्ण की चमकती हुई रश्मियां आपकी ज्योतियो (तेज पुञ्जों) को प्रेरित (समृद्ध) कर रहे हैं)। [इस प्रकार मन्त्रवाक से अग्नि की स्तुति कर प्लुतस्वर से उच्चस्वर से गोतम ने पुन विदेघ का आह्वान करते हुए] यह कहा हे विदेघ ३! ॥१२॥

राजा विदेघ ने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया (अन्त मे राहूगण गोतम के मुख से '* त त्वा घृतस्नवीमहे" केवल यह मन्त्रभाग ही निकला था कि घृत शब्द के उच्चारण से (विदेघ के मुख मे प्रतिष्ठित) वैश्वानर अग्नि प्रबल वेग से प्रज्ज्वलित होपडा। (उस प्रज्ज्वलित अग्नि को) अब विदेघ मुख मे न रख सके। (उन का सयम टूट गया फलत) वैश्वानर अग्नि उनके मुख से बाहिर निकला पडा और इस पृथिवी पर प्राप्त होगया (गिर पड़ा) ॥ १३ ॥

(जिस समय गोतम के मुख से निकले हुए घृत पद के श्रवण से विदेघ का मुखस्थित वैश्वानर अग्नि प्रज्ज्वलित होकर बाहिर गिर पडा था) उस घटना के समय विदेघ माथव सरस्वती (एतन्नामक नदी) के ही समीप थे। (यहा प्रज्ज्वलित अग्नि भूमि पर गिरा) यहीं से क्रमश पूर्व की ओर यह अग्नि इस पृथिवी (के आर्द्र भाग को) जलाता (सुखाता) हुआ आगे बढने लगा। आगे आगे जलभाग को जलाते हुए इस अग्नि के पीछे विदेघ माथव और राहूगण गोतम क्रमश आगे बढने लगे। (पूर्व की ओर वेग से बढते हुए। उस वैश्वानर अग्नि ने (मार्ग मे पडने वाली इतर सब क्षुद्र) नदियों को सुखा डाला। उत्तगिरि से जो 'सदानीरा' नाम की नदी निकलती है केवल इसी को (इस अग्नि ने) नही सुखाया। क्योंकि इस नदी का

*—त त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशम्। देवा आ वीतये वह (ऋक स ५।२६।२।)। हे घृतो पन्न! हे विविध रश्मियुक्त अग्ने! स्वर्ग को पहिचानने वाले आप से हम प्रार्थना करते है कि आप हविभक्षण के लिए (हमारे यज्ञ में स्वर्गलोक से) देवताओं को बुलावो।

ेश्वानर अग्नि क द्वारा शापण नहीं हुआ अतएव यह सदानीरा **'अनतिदग्धा'** मानी गई। (इसीलिए) उस युग से ब्राह्मण लोग इस नदी को पार नहीं करते है। हेतु यही है कि यह ेश्वानर अग्नि से अनदितग्धा है। (इसे पार करना पतित होना समझा गया यही तात्पर्य है) ॥ १४ ॥

इस समय उस (सदानीरानदी) क पूर्व देशों मे बहुत से ब्राह्मण रहते है। वह (भूभाग इस अग्निदहनकर्म्म से) पहिले कृषि के (खती क) सर्वथा अयोग्य था और यज्ञाग्नि फल-प्रदान के अयोग्य था। क्याकि इस से पहिले क्षेत्रस्वरूपसमर्पक तथा यज्ञाग्निफलयोग्यता-धायक) ेश्वानर अग्नि से यह भूभाग अनास्वादित (अनुपभुक्त-असस्पृष्ट) ही था ॥ १५ ॥

(परन्तु ेश्वानर अग्नि क अनुग्रह से) आज वही भूप्रदेश एक उर्वर (उपजाऊ) भूप्रदेश बन रहा है। (एक तो स्वय विदेघ क मुखस्थित ेश्वानर अग्नि से यहा का भूभाग विशुद्ध परिष्कृत निवास याग्य होगया दूसरे) वहा के निवासी याज्ञिक ब्राह्मणोंन यज्ञानुष्ठाना से अग्नि के द्वारा इसे युक्त कर परिष्कृत कर दिया। (अर्थात् यज्ञाग्नियां क द्वारा याज्ञिकांन इस स्थान को अग्नि का स्वाद दिला दिया) वह सदानीरानदी प्रचण्ड ग्रीष्मकाल मे भी एकरूप से प्रवाहित रहती है (उसका जल कभी नहीं सूखता अपितु सदा समानरूप से प्रवाहित रहता है)। साथ ही यह ठढी (भी) रहती है। कारण यही है कि यह नदी (पूर्वकथनानुसार जलशोषक तथा तापप्रवत्तक) ेश्वानर अग्नि से अनतिदग्धा है ॥ १६ ॥

(ेश्वानर अग्नि से भूप्रदेश के अग्र भाग को उत्तरात्तर सुखाते हुए दोनां जब सदानीरा क समीप पहुचे तो) माथव विदेघ ने राहूगण गोतम से परामर्श किया कि (बतलाओ) मै कहा रहू (कहा अपना राज्यतन्त्र स्थापित करू)?। गोतमने उत्तर दिया कि इस सदानीरा से पूर्व पूर्व का जो भूप्रदेश है (वही आप के याग्य है)। यही कारण है कि आज भी यही सदानीरानदी **कोसलविदेह-राजाओं** की सीमा मानी जाती है। ये कोसलविदेह (माथव विदेघ के द्वारा राज्यतन्त्र स्थापित किए जाने से) **'माथव** नाम से ही प्रसिद्ध है ॥ १७ ॥

(प्रासङ्गिक चर्चा बतला कर आख्यान का प्रकृत ब्राह्मणप्रकरण से सम्बन्ध बतलाती हुई श्रुति कहती है कि **'त त्वा घतस्नवीमहे'** इस मन्त्रभाग के बोलन से जब विदेघ का वाक्सयम टूट गया तो) राहूगण गातम ने प्रश्न किया कि आप का अनेक बार आह्वान करने पर भी आपन क्यों नहीं प्रत्युत्तर दिया?। विदेघ ने उत्तर दिया कि उस समय मेरे मुख मे ेश्वानर अग्नि प्रतिष्ठित था। (बोलन से) ेश्वानर अग्नि मुख से निकल न जाय इस लिए मैंन (आपक आमन्त्रण का प्रत्युत्तर नही दिया) ॥ १८ ॥

विदेघ के उक्त उत्तर पर पुन गोतम ने प्रश्न किया कि फिर आप के मुख मे वैश्वानर अग्नि कैसे निकल पडा ? (जिसके निकलने से आप प्रत्युत्तर देने मे समर्थ होसके)। (विदेघने उत्तर दिया कि) जिस समय आपने (तन्त्वा' के अनन्तर) 'घृतस्नवीमहे' से वाक्य का उच्चारण किया उसी समय 'घृत' नाम के सम्बन्ध से मुखस्थित वैश्वानर अग्नि मुख मे प्रज्ज्वलित होपडा। उस प्रबल अग्नि को मैं फिर मुख मे धारण करने में समर्थ न होसका। फलत वह बाहिर आठहरा ॥१६॥

(जिस प्रयोजन के लिए उक्त आख्यान बतलाया गया है उस प्रयोजन का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है)—सो जो कि सामिधेनी मन्त्रों में घृत शब्द युक्त पद है वह अग्नि-सामिन्धन का ही कारण समझना चाहिए। इस घृताच्या पदोच्चारण से होता अग्नि का समिन्धन ही करता है इसमें वीर्य का ही आधान करता है। (तात्पर्य यही हुआ कि—'प्र वो वाजा इत्यादि सामिधेनीमन्त्र का घृताच्या पद अग्निसमिन्धन का ही प्रवर्त्तक है) ॥२०॥—

यही 'घृताच्या' पद की उपपत्ति है। (तद् घृताच्येति) ॥

प्रथम मन्त्र का शेष भाग है- देवाञ्जिगाति सुम्नयु । यह यजमान ही (स्वर्गादि लक्षण सुख की कामना रखने से-'सुम्न सुखं इच्छति' इस निर्वचन से) सुम्नयु' है। यह सुम्नयु यजमान (यज्ञ के द्वारा) इन देवताओं को वश में करने की इच्छा करता है। यह यजमान ही देवताओं को प्राप्त करना चाहता है। (यजमान उन्हें प्राप्त करने मे समर्थ बने) यही व्यक्त करने के लिए देवाञ्जिगाति सुम्नयु' यह कहा है ॥

यह प्रथमा सामिधेनी ऋचा अग्निदेवतायुक्ता बनती हुई अनिरुक्ता (नाम विशेष-ग्रहण-विरहिता) है। सब ही अनिरुक्त है। (इसप्रकार सर्वात्मक अनिरुक्तभाव से युक्ता) अग्निदेवता-मयी इस प्रथमा सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता हुआ होता सर्वसम्पत्ति को मूल में प्रतिष्ठित करता हुआ ही अनुवचनकर्म्म आरम्भ करता है ॥२१॥*॥

इति-प्रथमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—१—

---

*—१—प्रथमा सामिधेनी—

प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मतो घृताच्या। देवाञ्जिगाति सुम्नयु (१)।

हे ऋतुदेवताओ! अन्न अर्द्धमास पशु स्रुक आदि सब मिलकर आप यजमान की सुखसम्पूर्ति के कारण बन रहे है। (इस मन्त्र को अग्निपक्ष में भी लगाया जासकता है जैसाकि पाठक विवेचना मे देखेंगे)।

(२) (प्रथम-सामिधेना-ऋङ्मन्त्र क अनुवचनान्तर क्रमप्राप्त) **'अग्न आयाहि वीतय'** (इत्यादि दूसरी) इसका अनुवचन करता है। यह मन्त्र 'आ' भाग का स्वरूप सग्राहक है। (मन्त्रगत) **वीतये'** पद का तात्पर्य यही है कि-) पहिले (त्रलोक्य सृष्टि से पहिले) पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ तीनों लोक परस्पर एक साथ मिले हुए से एकरूप से ही थे (अर्थात् **'इदमन्तरिक्ष, इयं द्यौ'** इत्यादि रूप से विभक्त न थे)। (उस समय) द्यु लोक हाथ से छूने योग्य जैसा ही था। [समन्तिक होने से सभी समीपतम थे यही वक्तव्य है] ॥ २॥

उन देवदेवताओंने यह कामना की कि हमारे लोक [किंवा हमारी सुरुद्र आदि यात्मिका गण समष्टि के क्रमिक प्रतिष्ठान के लिए ये लोक] किस उपाय से एक दूसरे से पर्याप्त दूर हों एवं कैसे ये विस्तीर्ण बनें। [अर्थात् कैसे तो एक के तीन विभक्त लोक हो एवं कैसे प्रत्येक लोक बृहत् बने] [अपनी इस कामना को सफल बनाने के लिए] देवताओंने **वीतय** इन तीन अक्षरों से ही पृथक्-पृथक् एवं वरीयान् कर दिया [तभी से] ये तीनों लोक [परस्पर एक-दूसरे से साथ ही हम से भी हैं विदूर भी हैं एवं वरीय भी हैं। सप्राज्ञया से यह लोक विस्तीर्ण बन गया। उस यजमान के लिए विस्तीर्णा लोकसम्पत्ति प्रतिष्ठित होजाती है (जिस यजमान के यज्ञ में] **'वीतये'** का उक्त रहस्य जानने वाला होता **वीतय'** पद से युक्त **'अग्न आयाहि वीतये'** इत्यादि सामिधेना-ऋक् का अनुवचन करता है। [**वीतय** पद लोकप्रतिष्ठा का सग्राहक है यही तात्पर्य है] ॥२३॥

'गृणानो हव्यदातये' मन्त्र के इस उत्तर भाग का तात्पर्य यही है कि यजमान ही [देवताओं के निमित्त हविर्दान देने से] **हव्यदाति'** है। **'यजमान के लिए प्रियमाण आप'** यही (इस मन्त्र भाग से) कहा गया है। **"नि होता सत्सि बर्हिषि'** इस अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य यही है कि अग्नि ही होता (हव्यवहनकर्त्ता तथा देवताओं का **आह्वानकर्त्ता**) है यही (पृथिवी) लोक बर्हि (अग्निगर्भित अब्रूप) है। (**'नि होता॰'** इत्यादि के द्वारा यह होता) इसी लोक मे अग्नि प्रतिष्ठित करता है। वह यह अग्नि इस लोक में प्रतिष्ठित है। यह ऋक (ऋग्भाग) इसी [पृथिवी] लोक को लक्ष्य बनाकर उच्चरित हुई है। जिस यजमान का एवंवित होता इसका अनुवचन करता है वह यजमान [होता के इस रहस्य-

ज्ञानानुगत अनुवचन से] इसी [पृथिवी] लोक को जीत लेता है। प्रस्तुत मन्त्रभाग पृथिवी-लोक-सम्पत्ति का ही सम्राहक है यही तात्पर्य है ॥२४॥—॥

इति-द्वितीयसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

--२—

[३] [द्वितीय सामिधेनी ऋङ्मन्त्र के अनुवचनान्तर क्रमप्राप्त '**त त्वा समिद्भिरङ्गिर**' इत्यादि तिसरी सामिधेनी का अनुवचन करता है। इसी के वाक्यों की क्रमशः व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है]- **त त्वा समिद्भिरङ्गिर** इस मन्त्रभाग का तात्पर्य यही है कि [आधिदैविक यज्ञ में] अङ्गिरा नामक प्राणात्मक ऋषियोंने [तथा वैधयज्ञ में अङ्गिरा नामक प्राणीविध ऋषियों ने] समिधाओं से इस अग्नि का समिन्धन किया है। **अङ्गिरा** का अर्थ यही है कि अङ्गिरा ही अग्नि है। अर्थात् यहां अङ्गिरा पद से अग्नि ही-अभिप्रेत है)। "**घृतेन वर्द्धयामसि**" इस मन्त्रभाग का तात्पर्य यही है कि यह सामिधेनी पद (अग्निसमिन्धक घृतयुक्त पद) है। इस अग्नि का समिन्धन ही करता है इस में वीर्य्य का ही आधान करता है। (तात्पर्य यही है कि यह मन्त्रभाग अग्नि के समिन्धन का ही अनुग्राहक है) ॥२५॥

'**बृहच्छोचा यविष्ठ्य**' इस अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य यही है कि यह अग्नि प्रज्वलित होता हुआ स्वरूप से बड़ा बन कर तपता है। '**यविष्ठ्य**' का तात्पर्य यही है कि (नित्य युवा बनता हुआ) यह अग्नि ही यविष्ठ्य है इसी लिए **यविष्ठ्य**' यह कहा गया है। ऋक् (ऋग्भाग) इसी अन्तरिक्ष लोक को लक्ष्य-बनाकर उच्चरित हुई है। इसीलिए यह ऋचा आग्नेयी होने के साथ साथ अनिरुक्ता है। यह अन्तरिक्षलोक अनिरुक्त ही है। जिस यजमान का एवंवित् होता इस ऋचा का अनुवचन करता है वह यजमान (होता के इस रहस्यज्ञानानुगत अनु-

---

+—२—द्वितीया सामिधेनी—

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि [२]

हे अग्ने! देवताओं को हवि प्रदान करने के लिए स्वयमपि हविभक्षण के लिए स्तूयमान आप इस यज्ञ में पधारिए। एवं होता बनकर इस दर्भासन पर विराजिए।

वचन से) इसी अन्तरिक्ष लोक पर विजय प्राप्त कर लेता है। (प्रस्तुत सामिधेनी-मन्त्र अन्तरिक्षलोक-सम्पत्ति का ही सम्पादक है यही तात्पर्य है) ॥२६॥*॥

इति तृतीयसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—३—

(४)-(तृतीय सामिधेनी ऋङ्मन्त्र के अनुवचनान्तर क्रमप्राप्त **स नः पृथु श्रवाय्य०** ' इत्यादि चौथी सामिधेनी का अनुवचन करता है। इसी की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)- **स नः पृथु श्रवाय्यम्** ' इस मन्त्रभाग का यही अर्थ है कि वह द्युलोक (इतर लोकों की अपेक्षा) विस्तीर्ण है फैला हुआ है जिस द्युलोक में कि देवता प्रतिष्ठित हैं। (देवताओं के तत्र निवास करने से ही) वह द्युलोक इतर लोकों की अपेक्षा 'श्रवाय्य' (श्रवण परम्परा में प्रशस्त लोक वेद में प्रशंसनीय) है। **'अच्छा देव विवाससि'** इस मन्त्रभाग से यही कहा गया है कि यह द्युलोक हमें प्राप्त हो ॥ ७॥

बृहदग्ने सुवीर्यम् इस अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य यही है कि वह द्युलोक निश्चयेन विस्तीर्ण है जिसमें कि य (प्राण) देवता प्रतिष्ठित हैं। यह द्युलोक (न वीर्यशाली-ब्रह्म-क्षत्र विड्वीर्य प्रवर्तक देवताओं के निवास करने से) सुवीर्य (शोभनवीर्य) बन रहा है। यह चौथी ऋचा इसी द्युलोक को लक्ष्य में रखकर उच्चरित हुई है। जिस यजमान का अन्वित होता इस ऋचा का अनुवचन करता है वह यजमान (होता के इस रहस्यज्ञानानुगत अनुवचन से) इसी द्युलोक पर विजय प्राप्त कर लेता है। (प्रस्तुत सामिधेनी मन्त्र द्युलोकसम्पत्ति का ही सम्पादक है यही तात्पर्य है) ॥८॥ ×॥

इति-चतुर्थसामिधेनी मन्त्रव्याख्यानम्

—४—

*—तृतीया सामिधेनी त त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य इति। हे आङ्गिरसवंशज अग्ने! यज्ञसम्बन्धी काष्ठ से तथा संस्कृत यज्ञिय आज्य से हम आपको प्रवृद्ध कर रहे हैं। हे तरुणतम! आप बृहत्-रूप से प्रदीप्त बनिए!

×—चतुर्थी सामिधेनी- स नः पृथुश्रवाय्यमच्छा देव विवाससि। बृहदग्ने सुवीर्यम्। हे प्रदीप्त अग्ने! आप विपुल श्रवणीय मात्रावृद्ध शोभनवीर्ययुक्त धन हमारे लिए प्रदान करें।

(५)—(चतुर्थ—सामिधेनी-ऋङ्मन्त्र के अनुवचनान्तर) वह होता (क्रमप्राप्त)— 'ईडे यो नमस्य'' इत्यादि पाचवी सामिधेनी का अनुवचन करता है। (इसी के वाक्यों की क्रमश व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)—यह अग्नि निश्चयन स्तुति करने योग्य है एव नमस्कार करने योग्य है। तिरस्तमासि दर्शन'' इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि यह अग्नि प्रज्वलित होकर अन्धकारपुञ्ज का तिरस्कार करता हुआ ही दिखलाई देता है। समग्निरिध्यते वृषा' इस अन्तिम भाग का यही तात्पर्य है कि यह अग्नि निश्चयन प्रदीप्त रहता है जो कि वृषा (यज्ञफलवर्षक) है ॥*॥

इति पञ्चमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्



(६)—(पञ्चम—सामिधेनी—ऋङ्मन्त्र के अनुवचनान्तर यह होता क्रमप्राप्त— 'वृषो अग्निसमिध्यते'' इत्यादि षष्ठ सामिधेनी ऋङ्मन्त्र का अनुवचन करता है। इसी के वाक्यों की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)— 'वृषो अग्नि समिध्यते' इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि यह अग्नि निश्चयन (सामिधेनी से) प्रदीप्त होता है ॥२६॥

''अश्वो न देव वाहन ' इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि यह अग्नि अश्व बन कर ही (द्युलोकस्थ) देवताओं के लिए (अग्नि में आहुत यज्ञातिशयोत्पादक अतएव (यज्ञ) (नाम से प्रसिद्ध हविद्रव्य) का वहन करता है। (लोकभाषा मे जहा 'न' कार निषेधार्थक माना गया है वहॉ) ऋक्षु म (मन्त्रात्मिका वदिकी भाषा मे पठित) न' कार ओम्' (स्वीकृति) का वाचक है। इसीलिए 'अश्वो न देववाहन यह कहा गया है ॥३ ॥

''त हविष्मन्त ईडते'' इस अन्तिम मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि (चरु पुरोडाशादि हविर्द्रव्यों का सम्पादन करने से) हविष्मन्त (नाम से प्रसिद्ध ऋत्विग् यजमानादि ही इस

*—पञ्चमी सामिधेनी— ईडेन्यो नमस्यस्तिरस्तमासि दर्शत । समग्निरिध्यते वृषा । हे अग्ने आप स्तोतव्य है नमस्य है प्रदीप्त होकर तमोराशि का तिरस्कार कर दिखलाई देने वाले है। आप प्रदीप्त है यज्ञफलवर्षक है ।

अग्नि की (उन हवियों को देवता ओं मे पहुचाने के लिए) स्तुति करते है। इसीलिए—'त हविष्म त ईडते यह कहा गय है ॥३१॥*॥

इति षष्ठसामिधेनी-मन्त्रव्यारयानम्

—६—

(७) (षष्ठ सामिधेनी ऋ मन्त्र क अनुवचनान तर वह होता क्रमप्रा त 'वृषण वा वय वृषण समिधीमहि इत्यादि सातवीं सामिधेनी का अनुवचन करता है। इसी की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)—'वृषण त्वा वय वृषन् वषण समिधीमहि' इस मन्त्र भाग का यही तात्पर्य है कि ऋत्विग्गण अवश्यमेव इस अग्नि को प्रदीप्त करते है। अग्ने दीद्यत बहत् इस अन्तिम मन्त्र भाग का यही तात्पर्य है कि (पूर्व सामिधेनियो से) प्रदीप्त यह अग्नि (अब अधिक मात्रा से) बडा तथा अतिशयरूप से प्रदीप्त बन गया है ॥३ ॥+॥

इति सप्तमसामिधेनी–मन्त्रव्यारयानम्

- ७ -

'ईड यो नमस्य '—'वृषो अग्न समिध्यते '—वृषण त्वा वय वृषन ' इन तीन मन्त्रों म 'वृषन्' शब्द का सम्बन्ध है। अतएव तीनों की समष्टिरूप त्रिच का 'वृषण्वत्त्रिच' कहा गया है। इस वृषण्वन्त त्रिचका एक विशेष फल बतलाती हुई श्रुति कहती है) वह होता (वृषन् शब्द से युक्त तीनमन्त्रों का क्रमिक अनुवचन करता हुआ) वृषण्वन्त त्रिच काही अनुवचन करता है य सब सामिधेनिया आग्नेयीं होतीं हैं (यज्ञाग्नि क समिन्धन क लिए ही आ नयी सामिधेनियों से अनुवचन किया है। पर तु अग्नि जबतक इन्द्र को साथ नहीं लेलेते तबतक इनका समिन्धन

---

* षष्ठी–सामिधेनी–

वृषो अग्नि समि यते अश्वा न देववाहन। त हविष्म त ईडते।

अश्व की भाति देवताओ के लिए हविवहन करने वाला यज्ञफलवषक अग्नि प्रदी त होरहा है। हवि म त ऋत्विक् ऐसे अग्नि की स्तुति कर रहे हैं।

– सप्तमी सामिधेनी—

वृषण त्वा वय वृषन् वृषण समिधीमहि। अग्ने दीद्यत बृहत्।

हे यज्ञकलवषक अग्ने! आहुतिवषक हम ऋत्विग्गण यज्ञाहुतिवषक आपको प्रदीप्त कर रहे हैं। हम ऐसे बृह रूप से प्रदीप्त अग्नि का बृहद्रूप से समन्वित कर रहें हैं।

अपूर्ण रहता है क्योंकि) निश्चयेन इन्द्र ही यज्ञ क देवता (पति) है। साथ ही इन्द्र ही वृषा है। (इसप्रकार वृष न्त त्रिच के अनुवचन से) सब आग्नेयी सामिधेनियां इन्द्रयुक्त भी बन जाती हैं। इसी प्रयोजन क लिए वृषण्वन्त त्रिच का अनुवचन करता है। (अन्य आग्नेया त्रिच से अनुवचन न कर वृषन् पद से युक्त त्रिच से अनुवचन करने का यही प्रयोजन है कि अग्नि-सामिन्धन के साथ साथ यज्ञ म यज्ञपति इन्द्र का भी सम्बन्ध होजाय यही तात्पर्य्य है) ॥२३॥

(सप्तम सामिधेनी ऋड्मन्त्र के अनुवचनानन्तर वह होता '**अग्नि दूत वृणीमहे**' इत्यादि आठवीं सामिधेनी का अनुवचन करता है। इसी मन्त्र की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है कि) "**अग्नि दूत वृणीमहे**" का वह होता अनुवचन करता है इस का तात्पर्य्य यही है कि—

एक बार (प्रजापति की सन्तान होने से) प्राजापत्य (नाम से प्रसिद्ध) देवता और असुर दोनो परस्पर स्पर्द्धा करने लगे। स्पर्द्धा करते हुए इन दानों क बीच मे (समझाता कराने क लिए) गायत्री आखडी हुई (उस समय) मध्य मे खडी होने वाली जो गायत्री थी यही वह (पृथिवी हो) ते दोनों क बीच म खडी हुई (थी)। उन दोनान परस्पर यह सन्धा (शर्त) निश्चित की कि अपन दोनों मे से जिन की ओर यह पृथिवी लोट आएगा वे जीते हुए मान जायगे एव (इसके सम्बन्ध से वञ्चित) दूसरे पराजित समझे जायगे। (यह सन्धा निश्चित कर) उस पृथिवी को देवता तथा असुर दोनों ही अपनी अपनी ओर बुलाने का प्रयास करने लगे। दोनों ने उसक समीप अपने अपने दूत भेजे। (इन मे) **अग्नि** ही देवताओं क दूत थे एव '**सहरक्षा**' नामक असुरों के दूत थे। दोनों म से पृथिवी देवदूत अग्नि की ओर ही लौट आई। इसीलिए **अग्नि दूत वृणीमहे**' यह कहा गया है। वास्तव मे (उक्त पुरावृत्त क अनुसार) अग्नि निश्चयेन देवताओं क दूत थे। मन्त्र का दूसरा भाग है—'**होतार विश्ववेदसम्**' य० ॥ ३४ ॥

कितने एक याज्ञिक कहते है कि ('**होतार विश्ववेदसम्**' के स्थान मे) **होता यो विश्ववेदस**' एसा मन्त्र बोलना चाहिए। (कारण इस परिवर्त्तन का ये याज्ञिक यह बतलाते है कि) हम आत्मा को **अरम्**' न कहे। (तात्पर्य यही है कि '**होतार विश्ववेदस**' के **होतार**' पद मे होता अर यह व्यवच्छेद भी बन रहा है। यह **अर** शब्द निवारणार्थक माना गया है। इस '**अर भावना**' से फल यह निकलेगा कि होता का इस यज्ञसस्था से पृथक्करण होजायगा। इस आशङ्का से बचने का यही उपाय है कि '**होतार**' के स्थान मे **होता यो विश्ववेदस**' इस मन्त्ररूप का ऊह कर लिया जाय)।

(इस मानुषक पानुगत मन्त्र-ऊह-पक्ष का आमूलचूड खण्डन करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते है कि)-होता को चाहिए कि वह नसा (होता यो विश्ववेदस ऐसा) कभी न वोले। (अपनी क पना से श दों की यथे छ मनमानी) उपपत्ति लगाते हुए जो याज्ञिक स्वत -सिद्ध मन्त्रों के स्वरूप मे परिवर्त्तन करते हुए यज्ञेतिकर्त्त यता मे यथे छ परिवर्त्त न करते रहते है) वे यज्ञ मे मानुषभाव का ही समावेश करते है। नह यज्ञ की यद्धि' (समृद्धि का विनाश) है जो कि का पनिक मानुषभाव है हम अपने यज्ञ मे देवसमृद्धि क घातक मानुषभाव का समावेश न कर बठ इसलिए प्र यक दशा में यह आवश्यक है कि नसा ऋचा से (सिद्धम त्र से) कहा गया है वैसा ही होतार विश्ववेदसम् इसी रूप से होता को अनुवचन करना चाहिए।

अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्'' इस मन्त्रभाग का यही ता पय्य है कि यही इस यज्ञ का सुक्रतु (उत्तमरूप से यज्ञकर्म्म का सम्पादन करने वाला) है जो कि अग्नि है। इसीलिए 'अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्' कहा गया है। (म त्र यार्यान बतला कर पूर्वोक्त आख्यान का उपसहार करती हुई श्रुति कहती है कि देवदूत अग्नि के गमन से) वह प्रथिवीं देवताओं की ओर ही लौट आई। परिणामत (निश्चित स धा के अनुसार) देवता जीत गए एव असुर पराजित होगए। वह यजमान अपने आ मा से (शत्रुपक्ष की प्रतिस्पर्द्धा मे) विजय-लाभ करता है एव उसक शत्र पराजित होजाते हैं जिस य मान का एववित् होता अग्नि दूत ' यादि सामिधेनी का अनुवचन करता है। (शत्रुपराजय, एव यजमान का विजय भी इस सामिधेनी-अनुवचन का फल है यही तात्पय्य है)॥ ३५॥+

इति-अष्टमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

— ८ —

(मूलत सामिधेनी मन्त्र ११ बतलाए गए है। इनमे से-'प्र वो वाजा अभिद्यव ' इस प्रथम मन्त्र का तथा ''आजुहोता दुवस्यत०'' इ यादि ग्यारहवें म त्र का तीन तीन बार अनु-

—अष्टमी सामिधेनी—

अग्नि दूत वृणीमहे होतार विश्ववेदसम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ।

मैं उस देवदूत अग्नि का वरण कर रहा हूँ जो देवताओं का आह्वान करने से होता नाम से विश्वसम्पत्ति के परिज्ञान से विश्ववेदस नाम स एव इस यज्ञकर्म्म का श्र ष्ठ सञ्चालक होने मे सुक्रतु नाम से प्रसिद्ध है।

वचना की वृद्धि से ११ क स्थान म १५ अनुवचन होजाते है । यही अनुवचन क सम्बन्ध मे एक पक्ष है । क्रमप्राप्त संख्या के अनुसार **अग्निं दूत वृणीमहे** ' इत्यादि मन्त्र आठवा पडता है । प्रथम-मन्त्र के त्रिरावृत्त उच्चारण से यद्यपि **अग्निं दूत वृणीमहे** ' मन्त्र १ वीं संख्या पर आकर ठहरता है तथापि क्योंकि उस एक ही मन्त्र का त्रिरावृत्त न है अत **अग्नि दूत०** की अष्टमी संख्या की मालिकता सुरक्षित रहजाती है जिसका कि सुरक्षित रहना आवश्यक है ।

दूसरा पक्ष सप्तदश-संख्या से सम्बन्ध रखता है । **दर्शपूर्णमास म १७ सामधेनियों का अनवचन करना चाहिए** इस पक्षान्तर मे संख्याओं की पूर्त्ति क लिए ११ मौलिक मन्त्रों से अतिरिक्त जिन दो मन्त्रों का इन ग्यारहो मे समावेश किया जाता है उन्ह **उपारष्टात्-दधाति** ' इस निवचन से **धाय्या**' कहा जाता है । इन 'धाय्या नामक ऋचाओं का आधान (समावेश) ११ म से कहा करना ? यह विचार प्रस्तुत है । सिद्धान्त **अग्निं दूत वृणीमहे** ' इस मन्त्र क अनन्तर ही इन का अनुवचन होता है । तभी इस मन्त्र का अष्टमत्व सुरक्षित रह सकता है । इसी सिद्धान्त पक्ष को दृष्टि मे रखती हुई **धाय्या ऋचाओं** क उत्तर मे आधान को लक्ष्य बनाती हुई श्रुति कहती है कि)—

अग्नि दूत वृणीमहे०' इत्यादि ऋचा का अष्टमीरूप से (आठवीं मान कर **वृषण त्वा वय वृषन्** ' इत्यादि सातवीं सामिधेनी क अनन्तर ही) अनुवचन करना चाहिए । क्योंकि यह सामिधेनी ऋचा (११ संख्या मे से आठवीं संख्या पर पडती हुई) निदानविधि से गायत्री है । गायत्री अष्टाक्षरा है (गायत्र अग्नि का छन्द है यहा इस सामिधेनी कर्म्म से होता को अग्नि का समिन्धन करना है । ऐसी स्थिति मे जब निदानमर्यादा से यह ऋचा क्रमद्वारा आठवीं बनती हुई गायत्रम पंक्ति से स्वत युक्त होरही है तो अवश्य ही इसे) आठवीं बनाकर ही इस का अनुवचन करना चाहिए । तात्पर्य यही है कि गायत्राग्नि-सम्पत्ति-प्राप्त्यर्थ- **अग्निं दूत** " इत्यादि सामिधेनी का सातवीं सामिधेनी के अनन्तर ही अनुवचन होना चाहिए ॥ ३ ॥

(**अग्नि दूत** ' की अष्ट संख्यानुवचनान्त गायत्रसम्पत्ति मे जो आपत्तिजनक पक्ष है उसको बतलाकर अन्त मे उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन करती हुई श्रुति कहती है कि)-कितने एक याज्ञिक **अग्नि दूत मृणीमहे०** इस आठवीं ऋचा के पहिले (तथा **वृषण त्वा वृषन्** ' इस सातवीं ऋचा के आगे ***पृथु पाजा ० – त सबाध** " इन) दोनों धाय्या ऋचाओं का

---

*- पृथुपाजा अमर्त्यो घृतनिर्णिक् स्वाहुत । अग्निर्यज्ञस्य हव्यवाट् (ऋक्सं ३।२७।५) । त सबाधो यतस्रुच इत्था धिया यज्ञवन्त । आचक्रुरग्निमूतय (ऋक्सं ३।२७।६) ।

का स्थापन करते है। साथ ह। 'अन्न का ही नाम धाग्या' है' [अर्थात् धा या ऋचाए अन्नस्थानीया है क्योंकि अन्न का भी मुख म बाहिर से आधान होता है एव इन दोना ऋचाओं का भी अन्नवत् बाहिर स इन ११ ऋचाओ म आधान होता है। इसी सादृश्य से दोना धाग्या ऋचाओं का अन्नस्थानीय कहा जसकता हे। उधर आठवी ऋचा गायत्रसम्पत्ति से युक्त रहती हुई गायत्रीछ न्दक गायत्र अन्नाग्नि-स्थानीया ह अन्नादाग्नि की मुखस्थानीया ह। ऐसी स्थिति मे इस मुखस्थानीया आठवीं ऋचा से पहिले धाग्या का स्थापन करते हु हम] मुख भाग से ही [अन्नादिग्नि म] अन्न का आधान करते है यह कहते है। अर्थात् अष्मी से पहिले धाग्या-अनुवचन की वे याज्ञिक उक्त उपपत्ति बतलाते है]।

पर तु होता को चाहिए कि वह ऐसा कभी न करे। उस होता के लि वह गायत्री गायत्र सम्पत्तिसग्रह म असमथ रह जाता है जो होता इससे पहिले धा या-ऋचाओ का स्थापन करता है। उस दशा म अग्नि दूत वृणीमहे' इत्यादि ऋचा दशमी तथा एकादशी बन जाती है। अर्थात् आठवी से पहिले दोनों क आधान से आठवीं तो दशमी बन जाती है एव ९ वीं ('समिध्यमानोऽध्वरे०' यह) एकादशमी बन जाती है)।

(तात्पर्य यही है कि जिस अष्म सख्यानुगता गायत्रसम्पत्ति क सम्बन्ध से वे याज्ञिक इसे अन्नाद मानते हुए अन्नरूप से इससे पहिले धा या-ऋचाओं का आधान करना चाहते है उनक मत से तो आठवीं आठवीं न रहकर जब दशमी ही बन जाती है तो उनकी अन्नानानुगता उपपत्ति भी व्यथ होजाती है साथ ही आठवीं को आठवीं रखन स यज्ञ मे जो गायत्रसम्पत्ति मिलती है उसस भी वे वञ्चित रह जाते हैं)।

उसी यजमान के लिए यह आठवी ऋचा अनवक्लृप्ता (गायत्रसम्पत्तिप्रदात्री) बनती है जिस यजमान के (यज्ञ मे) होता इसे अष्मी बनाकर अनुबचन करता है। इसलिए ('अग्नि दूत क गायत्र भाव का सुरक्षित रखने क लिए) इसस आगे- समिध्यमानो अध्वरे - समिद्धो अग्न आहुत ' इन ९ वीं १ वीं ऋचाओं के मध्य मे ही दोनों धाग्या ऋचाओ का स्थापन करना चाहिए ॥३७॥

(अष्टम सामिधेनी ऋड् मन्त्र के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त- 'समिध्यमानो अध्वरे" इत्यादि नवम सामिधेनी-मन्त्र का अनुवचन करता है। इसी की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)-समिध्यमानो अध्वरे" इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि यज्ञ ही निश्च यन अध्वर है। (प्रकृत मन्त्रभाग के द्वारा) हे अग्ने! आप यज्ञ मे प्रदीप्त है', यही कहा

गया है। अग्नि पावक ईड्य " इस मन्त्र भाग का यही तात्पर्य है कि 'यह अग्नि निश्चयेन (अपने दाहक तेजोधर्म्म मे दूषित परमाणुओं का नाशक बनता हुआ) पावक है, ए। (प्राणीमात्र के उपयोग म आता हुआ) यह अग्नि निश्चयेन (प्राणीमात्र स) स्तुत्य है। शोचिष्केशस्तमीमहे' इस अन्तिम मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि (सामिधेना से) प्रदीप्त इस अग्नि के केश (रश्मिस्थानीय रश्मिया) प्रज्वलित से रहते है ॥×॥

इति-नवमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

-९-

(१)—(नवम-सामिधेनीमन्त्र क अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त 'समिद्धो अग्न आहुत' इत्यादि दशम-सामिधेनीमन्त्र का अनुवचन करता है। श्रुति क्रमप्राप्त उसी की व्याख्या करती है)—'समिद्धो अग्न आहुत' इति। (इस अनुवचनकर्म्म से पहिले होने वाले एक विशेषकर्म्म की प्रासङ्गिक इति-कर्त्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है कि)—इस दशमी-सामिधेनी क अनुवचन से पहिले पहिले अग्निसमिन्धनार्थ गृहीत सम्पूर्ण इध्मकाष्ठ अनुयाजार्थ केवल एक समिधा के अतिरिक्त अग्नि म डाल देना चाहिए। (इस अनुवचन से पहिले पहिले ही क्या सर्वे इध्मकाष्ठ का अभ्याधान आवश्यक माना गया? इसका समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) इस 'समिद्धो अग्न आहुत' रूप अनुवचन कर्म्म स होता अग्निसमिन्धन कर्म समाप्त कर लेता है (तभी तो 'समिद्धो अग्न आहुत' कहना अन्वर्थ बनता है। अर्थात् जिस अग्निसमिन्धनकर्म्म क लिए इध्मकाष्ठ का ग्रहण होता है वह कर्म इससे पहिले पहिले समाप्त है। फलत अब इध्म बचाना निरर्थक बन जाता है)। अनुयाजार्थ एक इध्म क अतिरिक्त यदि इध्म बच रहता है तो वह अतिरिक्त (यज्ञकर्म्म से अतिरिक्त-बचा हुआ अधिक) कहलाता है। जो यज्ञ का अतिरिक्त (उपयोग से बचा हुआ उबरा हुआ) भाग है वह यज्ञकर्त्ता यजमान क कृत्रिम तथा सहजशत्रु की समृद्धि का ही कारण बनता है। इसलिए इससे पूर्व पूर्व अनुयाजार्थ एक समिध को छोडकर शेष बचे सम्पूर्ण इध्मकाष्ठ का अग्नि म ही डाल देना चाहिए ॥३८॥

×—नवमीसामिधेनी— समिध्यमानो अध्वरे अग्नि पावक ईड्य। शोचिष्केशस्तमीमहे।

इस यज्ञ में सामिधेनियो से समिद्ध बनता हुआ अग्नि पावक है स्तुत्य है। प्रज्वलित केश (रश्मि) वाले ऐसे अग्नि की हम स्तुति कर रहे है।

दवान् यज्ञिस्वध्वर इस मन्त्रभाग का यही तापर्य्य है कि अध्वर यज्ञ का ही नाम ह (प्रकृतमन्त्र भाग से) हे सुयज्ञिय आप देवताओं का यजन कीजिए" यही कहा गया ह। "त्व हि ह यवाडसि" इस अन्तिम मन्त्र भाग का यही तापर्य्य है कि 'यही अग्नि (देवताओं के लिए द्युलोक म पृथिवी से हवि हिन करने के कारण) ह यवाट कहलाए ह। इसीलिए त्व हि ह यवाडसि' यह कहा गया है ॥*॥

इति-दशमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

-१०-

(११) (दशम-सामिधेनी मन्त्र क अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त "आजुहोता दुवस्यत" इत्यादि एकादश सामिधेनीमन्त्र का अनुवचन करता है। सी की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है – 'आजुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे। वृणीध्वं हव्यवाहनम्' इस सामिधेनी ऋचा से अग्नि को (स्वकर्मप्रवृत्ति के लिए) प्रेरित ही (नियुक्त ही) करता है। 'आजुहोता दुवस्यत' इस मन्त्रभाग मे) हे ऋत्विजो! हवन कीजिए, देवताओं का यजन कीजिए जिस कर्म्म के लिए जिस कामना के लिए अग्नि को होता ने समिद्ध किया है वह कीजिए' यही कहा ह। अग्निं प्रयत्यध्वरे' इस मन्त्रभाग का यही अर्थ है कि अध्वर यह यज्ञ का नामान्तर है। (प्रकृत मन्त्र भाग से) "यज्ञकर्म्म के आरम्भ होने पर अग्नि को यही कहा गया है। 'वृणीध्वं हव्यवाहनम्' इस अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य्य यही है कि यह जो अग्नि है वही हव्यवाहन है। इसलिए 'वृणीध्वं हव्यवाहनम्' यह कहा गया है ॥३६॥×॥

इति एकादशसामिधेनी मन्त्रव्याख्यानम्

-११-

---

*–दशमी सामिधेनी–

समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षि स्वध्वर। त्वं हि हव्यवाडसि

समिधकाष्ठ से युक्त अग्नि समिद्ध होगया है। हे सुयज्ञिय यज्ञाग्ने। आप देवताओं का यजन कीजिए। आप निश्चयेन देवताओं के लिए हवि लेजाने वाले हैं।

× एकादशमी सामिधेनी–

आजुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे। वृणीध्वं हव्यवाहनम्।

हे ऋत्विजो! जिस कर्म के लिए अग्नि का समिन्धन किया था वह आहुतियजनकर्म्म आरम्भ करो। यज्ञ प्रक्रान्त होगया। हव्यवाहन अग्नि का वरण करो।

(समिध्यमानोअध्वरे ' —"समिद्धो अग्न आहुत ' आजुहोता दुवस्यत " इन तीन मन्त्रों मे अध्वर शब्द का सम्बन्ध है। अतएव तीनों मन्त्रों का समष्टिरूप इस त्रिच को अध्वरवन्त त्रिच कहा जाता है। जैसे पूर्व वृषण्वन्त त्रिच का एक विशेषफल बतलाया गया था वैसे ही इस अध्वरवन्त त्रिच का अग्निसमिन्धन के अतिरिक्त एक विशेष फल बतलाती हुई श्रुति कहती है)—वह होता (अध्वर शब्द से युक्त तीन मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ) अध्वरवन्त त्रिच का ही अनुवचन करता है। [इसका फल यही है कि] यज्ञ से यजन करते हुए देवताओं के ऊपर सहजशत्रु असुरोंने हिंसात्मक आक्रमण किया। [परन्तु इस अध्वरन्त त्रिच के प्रभाव से] हिंसात्मक आक्रमण करते हुए भी असुर उनकी हिंसा करने में समर्थ न हो सके। [यही नहीं अध्वरवन्त त्रिच के प्रभाव से] ये उलटे परास्त होगए। (क्योंकि इस यज्ञाभिरूप यज्ञ ने देवताओं को हिंसा से बचा लिया) अतएव यज्ञका नाम अध्वर होगया। उस यजमान के वे हिंसक शत्रु यजमान पर हिंसात्मक आक्रमण करते हुए स्वयमेव परास्त हो जाते हैं जिस यजमान के (यज्ञ मे) एवंवित् होता अध्वरवन्त त्रिच का अनुवचन करते हैं। (शत्रु-आक्रमण निरोधपूर्वक शत्रु पराभव ही इस अध्वरवन्त त्रिचानुवचन का एक विशेष फल है यही तात्पर्य है)॥

अपि च-[अध्वर शब्द सोमयाग मे रूढ है जैसाकि- 'सौम्ये अध्वरे ' इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। इस दर्शपूर्णमास मे सामिधेन्यनुवचनकर्म्म में जब अध्वरवन्त त्रिच का सम्बन्ध करा दिया जाता है तो] सौम्य अध्वर से यजन कर यजमान जितना-जो फल प्राप्त करता है वही फल इसे इस अध्वरशब्दयुक्त दर्शपूर्णमास से मिल जाता है। [यही अध्वरवन्त त्रिच का एक दूसरा महत्त्वपूर्णफल है] ॥४ ॥

इति सामधेन्यनुवचनम्
चौथे अध्याय मे पहिला, तथा तीसरे प्रपाठक मे तीसरा ब्राह्मण समाप्त
सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत द्वितीय ब्राह्मण अत्र उपरत

?

—— * ——

शतपथब्राह्मण प्रथमकाण्डानुगत चौथे अध्याय में दूसरा ब्राह्मण एवं तीसरे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-तृतीय ब्राह्मण

३

अथ-निगदानुवचनम्

देवताओंने [इस सामिधेनी अनुवचन के द्वारा] अग्नि को *गुरुतम कार्य में नियुक्त किया क्योंकि होतृ कर्म में नियुक्त किया [जिस गुरुतमकार्य्य का स्वरूप] हमारा यह हव्य [पृथिवीसे द्युलोक में तत्रास्थ देवताओं के लिए] लेजाओ यह है। इसप्रकार उस अग्नि को ऐसे गुरुतम कार्य में नियुक्त कर देवताओंने इस [अग्नि की प्रशंसा करना आरम्भ किया] आप वीर्य्यवान् हैं। आप (वास्तव में इस हविर्वहनकर्म्म में समर्थ हैं इत्यादिरूप से इसमें वीर्य्याधान करते हुए ही। जैसेकि [लोकव्यवहार में] मनुष्य अपनी जाति में से जिसे किसी गुरुतम कार्य में नियुक्त करते हैं उसको बढावा देते हैं कि आप वीर्य्यवान् हैं आप अमुक काम करने में समर्थ हैं इसप्रकार उसमें वीर्य्याधान करते हुए ही। [तात्पर्य यही है कि लोक में गुरुतम कार्य्य में नियुक्त व्यक्ति का उत्साह बढाने के लिए नियोक्ता लोग जैसे उसकी स्तुति किया करते हैं उसे बढावा देते हैं ठीक वैसा ही यह 'निगदानुवचनकर्म्म' है]। वह ऋत्विक सामिधेनी-अनुवचन के अनन्तर जिन मन्त्रों का उच्चारण करता है उन से वह इस अग्नि को बढावा ही देता है [और इस बढावेसे अग्नि में वीर्य का भी आधान करता है। [यही निगदानुवचनकर्म्म की उपपत्ति है] ॥१॥

[उपपत्ति बतलाकर अब पद्धति बतलाती हुई श्रुति कहती है-]-'अग्ने महा असि ब्राह्मण भारत" इति। अग्नि ही ब्रह्म (ब्राह्मणजाति) है इसी अभिप्राय से 'ब्राह्मण यह कहा गया है। 'भारत सम्बोधन का यही तात्पर्य है कि यही अग्नि [पृथिवीलोक से द्युलोक में तत्रस्थ] देवताओं के लिए हवि का भरण करता है इसलिए 'यह अग्नि भरत है यह प्रसिद्ध है। अपि च प्राणरूप [वैश्वानराग्निप्राणरूप] में परिणत होकर यही सम्पूर्ण पार्थिव प्रजा का

---

* गुरुतम उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य (जिम्मेवरी का कार्य)

भरण पापण करता है सलिए भी 'भारत' यह कहा है। [आधन्तिक देवप्रजा का हवि र द्वारा एव आ या मिक पार्थिव प्रजा का अन्न क द्वारा भरणपोषण करने क कारण अग्नि भारत कहलाया है यही ता प य ह] । आप महान् ह वणा म ब्राह्मणवग बनते हुए सवमून्य ह एव त्रलोक्यप्रजा क पालन मे समथ बनते हुए भारत है आप अवश्य हा स हात्रकम्म को पूरा करगे यही इस निगदानुवचन का ताप्पर्य्य है) ॥२॥

इति—निगदानुवचनम्

अथ -आर्षेयानुवचनम्

(उपमदा मक स्तुतिकम्म मे अनन्तर होतृकत्तृक आर्षेयकम्म की इतिकर्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है) वह होता उक्त स्तुतिकम्म क अनन्तर आर्षेय प्रवरण करता ह । (इस कम्म से यह) होता (इस यजमान का) ऋषिया तथा देवताओ क लिए हा निवेदित करता है यह यजमान (सचमुच) बडा पुरुषार्थी है जो इस यज्ञ (इस महत्कम्म) का प्राप्त कर सका इसी भावना क लिए । (अर्थात् यजमान का यशस्वी बनाने क लिए ही यह कम्म होता है) इसलिए होता आर्षेय–प्रवरण करता है ॥३॥

पूव से इधर की ओर प्रवरण करता है। (कारण यही है कि) पूव का ओर से ही अवाक्-प्रजाएँ उपन्न होतीं है। अपिच इस क्रम से होता पूव के यष्ठ पुरुषा क महत्त्व को सुरक्षित रखता है। यह पिता पहिले है अनन्तर पुत्र है अनन्तर पोत्र है (यही क्रम है)। इसलिए (भी) पहिले से इस आर क क्रम से ही प्रवरण करता है ॥४॥

(जब कोई व्यक्ति किसी महत्काय्य मे प्रवृत्त होता है ता इस से उस क पूव वशजों का कीर्त्तिविस्तार माना जाता है। इसी यशोविस्तार क लिए यजमान के पितामह पिता स्वय का इसी क्रम से--- अमावसौ रूप से आर्षेय प्रवरण होता है। इस प्रवरण का ऋषि से सम्बन्ध है। उस ऋषिपरम्परा से ही प्रवरण होता है जैसा कि आगे आग वाले 'उत्तराधारब्राह्मण' म स्पष्ट होने वाला है।)

इति—आर्षेयानुवचनम्

अथ निवित्पाठ

आर्षेय कह कर वह होता देवेभ्यो मविद्ध यादि रूप से निवित्पाठ करता है। सब से पहिले देवताओं ने हीं स अग्नि को प्र वलित किया था इसी लए– देवेद्ध यह कहा गया है। (देवताओं के अन तर मनुष्यसम्प्र ाय मे) सब से पहिले इस अ नि को मनु ने प्रज्ज्वालत किया था इसीलिए म वद्ध ' यह कहा है ॥५॥

ऋषिष्टुत ' स निवित् का यही ता प य है कि सब से पहिले ऋषियान ही स अग्नि की तुति की थी इसीलिए ऋषिष्टुत यह कहा है ॥६॥

विप्रानुमादत इस निवित् का यही तापय्य है कि य ही निश्चयेन विप्र कहलाए है जो कि ऋ ष हैं। इन ऋषियोंन इस अ न को प्रसन्न किया था अतएव विप्रानुमदित ' यह कहा है ॥७॥

कविशस्त ' इस निवित् का यही तापय्य है कि य ही निश्चयन कवि नाम से प्रासद्ध है जो कि ऋषि है। उहीं ऋषियों ने स अग्नि का (सुप्रसिद्ध यजुरनुगता शस्त्रप्रक्रिया से) शसन किया था अतएव 'कविशस्त ' यह कहा है ॥८॥

ब्रह्मसशित स निवित् का यही तात्पय्य है कि यह अग्नि निश्चयेन ब्रह्म से सुतीक्ष्ण किया गया है। 'घृतहवन इस निवित् का यही ता पय्य है कि [यह अग्नि स्वरूपरक्षा क लिए] घृत का आह्वान करने वाला [घृतप्रिय] है ॥९॥

प्रणीर्यज्ञाना रथीरध्वराणाम्' [इस निवित् के प्रणीयज्ञानाम्' भाग का यही ता पय्य है कि] ऋत्विग् गण इसी अग्नि क द्वारा सम्पू ण यज्ञों को पूण करने मे समथ होते है जो कि पाकयज्ञ है एव जो अ य यज्ञ है। इसीलिए– प्रणीर्यज्ञानाम्' यह कहा है ॥१ ॥

[उक्त निवित् क] 'रथीरध्वराणाम्' इस निवित का यही तात्पय्य कि यह अग्नि र थ बन कर देवताओ के लिए यज्ञ [हवि] का वहन करता है । इसीलिए– रथीरध्वराणाम् यह कहा है ॥११॥

'अतूर्त्तो हाता तूर्णिह यवाट इस निवित का यही ता पय्य है कि इस अग्नि को राक्षस पार नही कर सकते। इसीलिए 'अतूर्त्तो होता' यह कहा गया है। 'तूर्णिर्ह यवाट' का यही ता पय्य है कि यह अग्न स्वय सब पाप्मात्रा को पार करने म समथ है। इसीलिए तूर्णिह यवाट यह कहा ह ॥१२॥

आस्पात्र जुहूर्देवानाम्' नामक निवित् का यही ता पर्य ह कि यह अग्नि (सवदेवताहुति मुख स्थानीय बनता हुआ देवपात्र है। इसीलिए अग्नि म सम्पूर्ण देवताओं क लिए आहुति देते है। क्योंकि यह वास्तव म देवपात्र है। जो अग्नि की स पात्रता को जानता है वह जिस पात्र [भोग्यवस्तु] को प्राप्त करना चाहता है अभीष्ट पात्र को प्राप्त कर लता है ॥१३॥

चमसो देवपान ' इस निवित का यही तात्पर्य है कि चमसरूप मे परिणत हुए ही इस अग्नि से देवता आहुतिद्र य खाते है। इसीलि चमसो देवपान यह कहा है ॥१४॥

'अरा २॥ इवाग्ने नेमिर्देवांस्त्वं परिभूरसि' इस निवित् का यही ता पर्य है कि जिस प्रकार [शकटस्थ] अरों को नेमि चारों ओर स व्याप्त करती है उसीप्रकार [अग्नि] देवताओं क चारों ओर से व्याप्त (घेर रहते) है प्रकृत निवित् से यही कहा है ॥१५॥

इति—निवित्पाठ

———*———

अथ- देवतावाहनम्

(उक्तरूप से निवित्पाठ करने क अन तर देवतावाहनकर्म्म होता है। उसी की इति कर्त्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है)-

'आवह देवान् यजमानाय' इस आवाहन मन्त्र से इस यज्ञ क प्रति अग्नि को देवताओं के आह्वान के लिए ही कहा गया है। 'अग्निमग्न आवह इस मन्त्र से अग्नि को आग्नेय आज्यभाग के प्रति अग्नि को लाने के लिए कहा गया है। सोममावह' इस मन्त्र से अग्नि को सौम्य आज्यभाग के प्रति सोम को लाने के लिए कहा गया है। अग्निमावह' इस मन्त्र से अग्नि को जो कि दर्श-और-पूर्णमास दोनों यज्ञों म अपरिहार्य आग्नेय-पुरोडाश है उस क प्रति अग्नि को लाने के लिए ही कहा गया है ॥१६॥

(दर्शपूर्णमास-दोनों मे जो अग्नि पुरोडाशका देवता है उसके आवाहन के) अनन्तर (निर्वापकाल मे जिस जिस देवता के लिए जिस क्रम से देवता के लिए हविर्निर्वाप हुआ था उसी क्रम से) उस उस देवता का 'अग्नीषोमावावह इत्यादि रूप से आवाहन करना चाहिए।

देवाँ २॥ आज्यपा' इस मन्त्र से (आज्यपान करने वाले) प्रयाज-अनुयाज देवताओं के आह्वान के लिए अग्नि से प्रार्थना करता है। प्रयाज (ऋतु) अनुयाज (छन्द) देवता ही

आ यपा देवता है। "अग्नि होत्रायावह" इस मन्त्र से हौत्रकम्म क लिए अग्नि के आह्वान क लिए अग्नि से प्राथना करता है। "स्व महिमानमावह" इस मन्त्र से अग्नि की अपनी महिमा (साहस्रीरूप) क आह्वान क लिए हो अ नि से प्राथना करता है। वाक् ही इस अ नि की अपनी महिमा (वाङमयी वषट्काररूपा महिमा) है। इसस इस वाक् क आह्वान क लिए ही प्राथना करता है। आ च वह जातवेद सुयजा च यज ' इस मन्त्र से जिन देवताओं क आह्वान की यह प्राथना अभीष्ट है उन्ही क आह्वान क लिए प्राथना करता है हे अग्ने! आप उन (यज्ञिय अभीष्ट) देवताओ को इस यज्ञ मे लाइए एव यथाविधि उन आगत देवताओ का यजन कीजिए यही कहा है जोकि–'सुयजा च यज यह कहा है ॥१७॥

वह होता खडा होकर देवतावाहनकम्म करता है। आवाहनकम्म अनुवचनक म है (देवताह्वानकम्म है)। एव यह (विदूरस्थ) द्युलोक निश्चयेन अनुवाक्या है। अर्थात् द्युलोक पृथिवी पर खडा हुआ सा है। एसी अवस्था मे खडा खडा द्युलोकस्थ देवताओं का आह्वान करता हुआ होता) इस द्युलोकसम्पत्ति–सदृश बनकर ही आह्वान करता है। इसलिए खडा खडा ही देवतावाहन मन्त्रा का उच्चारण करता है ॥१८॥

(खड खड आवाहनकम्म करने मे दोषोद्घाटन करती हुई श्रुति कहती है)–वह ऋत्विक (अध्वर्य्यु) बठकर या या (एतन्नामक ऋचा) का उच्चारण करता है। यही (पृथिवी) याज्या है। (यह बैठी हुइ सी है)। इसीलए कोई भी याज्ञिक खडा खडा या या का उच्चारण नहीं करता। निश्चयेन पृथिवी या या है। (बैठकर या या का उच्चारण करता हुआ) अध्वर्य्यु याज्यारूपा पृथिवी के स्वरूप मे परिणत होकर ही या या का उच्चारण करता है। इसलिए बैठकर या या यजन करता है। (ता पर्य्य यही हुआ कि अनुवाक्या द्युलोक है ए या या भूलोक है। आह्वानकम्म का द्युलोक से सम्ब ध है एव यजनकम्म का भूलोक से सम्ब ध ह। द्युलोक तिष्ठत् है ए भूलोक आसीन है। अत इसी रूप से अनुवाक्या एव या याकम्म होना चाहिए। विरुद्ध करना प्राकृतिक–यज्ञसम्पत्ति से वञ्चित रहना है) ॥१९॥

इति–देवतावाहनम्

चौथे अध्याय मे दूसरा, तथा तीसरे प्रपाठक मे चौथा ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनी ब्राह्मणानुगत–तृतीय ब्राह्मण अत्र उपरत



शतपथब्राह्मणप्रथमकाण्डनुगत चौथ अध्याय मे तृतीय ब्राह्मण एव तीसरे प्रपाठ म चतुर्थ ब्राह्मण सामिधेनी–ब्राह्मणानुगत चतुर्थ ब्राह्मण

—४—

अथ—शान्तिकर्म्म [अभिचारात्मकम्]

जो अग्नि सामधेनी ऋचाओं से समिद्ध होजाता है वह इतर सामान्य प्रज्वलित अग्नियों की अपेक्षा अतिशयरूप से प्रज्वलित रहता है। ऐसा समिद्ध अग्नि धर्षण क तथा स्पर्श क अयोग्य होजाता है। (न इसका कोइ कुछ बिगाड ही सकता न कोइ स्पर्श ही कर सकता क्योकि इसमे मन्त्रविद्युत् का समावेश रहता है यही तात्पर्य्य है) ॥१॥

सो जिसप्रकार सामिधेनी मन्त्रों से यह अग्नि समिद्ध होजाता है वैसे ही वह सामिधेनी मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ ब्राह्मण (होता) भी (प्रखररूप मे) तपने लगता है। (साथ ही मन्त्रपूत समिद्ध अग्नि की भाति मन्त्रप्रयोक्ता यह ब्राह्मण भी धर्षण तथा स्पर्श के अयोग्य बन जाता है ॥ ॥

(जिसप्रकार सामिधेनी मन्त्रों से आहवनीय अग्नि क अङ्ग प्रत्यङ्ग समिद्ध होजाते है एवमेव इनके अनुवचन से अनुवचनकर्त्ता होता क अङ्ग प्रत्यङ्ग भी समिद्ध होजाते है। किस सामिधेना ऋग्भाग से कौन सा अङ्ग समिद्ध होता है ? इसी प्रश्न का क्रमिक समाधान करता हुआ निम्नलिखित प्रकरण आरम्भ होता है)—

वह होता **'प्र वो वाजा'** इत्यादि प्रथमा सामिधेनी–ऋक् का (जिस समय) उच्चारण करता है (उस समय अपने प्राणसमिन्धन की भावना करता है)। प्राण निश्चयन (प्र शब्द से युक्त होता हुआ साथ ही गतिधर्म्मा बनता हुआ) **'प्रवान्'** है। इस प्रथम ऋचा से यह होता अपने **प्राण'** को ही प्रज्वलित करता है।

'अग्न आयाहि वीतये (इसका अनुवचन करता है)। अपान निश्चयन **एतवान्'** (आगमनधर्म्मा) है। इस दूसरी ऋचा से होता अपने **अपान** को ही समिद्ध करता है।

'त त्वा समिद्भि० इत्यादि तृतीय सामिधेनी ऋचा क) **'बृह च्छोचा यविष्ठय** (इसक अनुवचन से उदान का ही समिन्धन करता है)। उदान निश्चियेन बृहच्छोचा (तेजो–

नाडी से सम्बन्ध रखता हुआ अधिक तेजोयुक्त) है । इस ऋग्भाग से होता अपने **'उदान'** को ही समिद्ध करता है ॥३॥

'स न पृथुश्रवाय्यम्' (इसके अनुवचन से श्रोत्र का ही समिन्धन करता है) । श्रोत्र निश्चयेन पृथुश्रवाय्य (विस्तीर्ण श्रवण साधन) है । श्रोत्र से ही विशाल अन्तरिक्ष में व्याप्त शब्द सुनता है । इस ऋक् से होता अपने **श्रोत्र'** को ही समिद्ध करता है ॥४॥

'ईडेन्यो नमस्य' (इसके अनुवचन से वाक् का ही समिन्धन करता है) । वाक् निश्चयेन ईडेन्या (स्तुति करने वाली किंवा स्तुति का साधन किंवा स्तुति करने योग्य) है । वाक् ही इस सम्पूर्ण जगत् की स्तुति (उपादानत्वेन विनान विस्तार) करती है एवं वाक् से ही सम्पूर्ण विश्व ईडित (स्तुत वितत) है । इस ऋचा से होता अपनी वाक् को ही समिद्ध करता है ॥५॥

वृषो अग्नि समिध्यते' इत्यादि ६ ठी ऋचा से) **अश्वो न देववाहन'** (इस ऋग्भाग से मन का ही समिन्धन करता है) । मन ही देववाहन (देवनिर्म्मित इन्द्रियों की आधारभूमि तथा यज्ञिय देवताओं की सङ्कल्प के द्वारा आधारभूमि) है । मन ही मनस्वी पुरुष को (सामान्य पुरुष की अपेक्षा) अतिशयरूप से समृद्ध बनाए रखता है उठाए रखता है उन्नत रखता है । इस ऋग्भाग से होता **मन** को ही समिद्ध करता है ॥ ॥

(**'वृषण त्वा वय वृषन्०** इत्यादि ७ वीं ऋचा के) **'अग्ने दीद्य त बृहत्'** (इस ऋग्भाग से चक्षु का ही समिन्धन करता है) । चक्षु निश्चयेन प्रज्वलित अङ्गार से है इस ऋग्भाग से होता अपने **'चक्षु'** को ही समिद्ध करता है ॥ ७ ॥

'अग्निं दूत वृणीमहे' इस आर्षेयी ऋचा से जो कि इसका मध्यप्राण (**व्यान**) है उसी को समिद्ध करता है । **अग्निं दूत वृणीमहे'** यह सामिधेनी ऋक् प्राणादि पञ्च प्राणों के मध्य में प्रतिष्ठित **व्यानप्राण**-स्थानीया है । इस से अन्य (दिव्य) प्राण (इस के) ऊर्ध्व भाग में प्रतिष्ठित हैं एवं इस से अन्य (पार्थिव) प्राण (इसके) अधो भाग में प्रतिष्ठित है । जो इस प्रकार प्राणों के मध्य में से इस मध्यस्था प्राणदेवता का स्वरूप पहिचान लेता है वह लोक में मध्यस्थ (श्रेष्ठ–मुखिया निर्णायक) बन जाता है ॥ ८ ॥

(**'समिध्यमानो अध्वरे०'** इत्यादि नवमी सामिधेनी के) **'शोचिष्केशस्तमीमहे'** (इस ऋग्भाग से शिश्नेन्द्रिय का ही समिन्धन करता है) शिश्न निश्चयेन शोचिष्केश (अभिल–

ि त कामपूर्ति क अभाव मे अतिशयरूप से सन्तापजनक स्वयमपि सन्तप्त है। शिश्नी (कामी) का शिश्न अतिशयरूप से स- प्त करता है। स ऋगभाव स होता शिश्न को हो समिद्ध करता है ॥ ६ ॥

समिद्धो अग्न आहुत इस ऋचा से जो कि यह अपान्प्राण है उसी का समिद्ध करता है। 'आजुहोता दुवस्यत इस ऋचा से (समष्टिरूप से) स ा ग शरीर को नख–लाम भागों को छाडकर–समिद्ध करता है ॥ १ ॥

(उक्त प्रकार से होता के अवयवों का समिन्धन बतलाया गया। अब उसी समिन्धनक्रम से अभिचारकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाई जाती है)—प्रथम सामिधेनी क अनुवचन करते समय यदि होता क प्रति इस का शत्रु द्वेष–भाव प्रकट करे तो उस समय होता का सामिधेनी अनुवचन क साथ हा- तूने अपना प्राण इस समिद्ध प्राणाग्नि मे डाला है, तू आत्मा क (शरीर के) प्राणाङ्ग से पीडित हागा यह बोल दे *। अवश्यमेव वैसा ही हागा। (अर्थात् शत्रु क प्राण छटपटाने लगगे) ॥ ११ ॥

द्वितीय सामिधेनी क अनुवचन करते समय यदि । तूने अपने अपान को इस समिद्ध अपानाग्नि मे डाला है। तू आत्मा (शरीर) के अपान भाग से दु खी होगा ॥ १२ ॥

तृतीय सा । तू ने उदान को मेर उदानाग्नि म आहुत किया है। तू शरीर के उदान भाग से दु खी होगा ' ॥ १३ ॥

चतुथ सा । तून अपने श्रोत्र को मेरे आत्माग्नि मे आहुत किया है। तुझे श्रोत्रपीडा होगी, तू बहिरा होजायगा ' ॥ १४ ॥

पञ्चमी सा । 'तूने अपनी वाक को मेरे आत्माग्न म आहुत किया है। तुझे वाक–पीडा होगी। तू मूक (गूगा) हाजायगा०' ॥ १५ ॥

षष्ठी सा । तूने अपने मन को मेरे आत्माग्न मे आहुत किया है। तू खोया हुआ सा पागल सा फिरता फिरेगा ॥ १६ ॥

---

* इन अभिचार मन्त्रो का स्वरूप मूलपाठ से गतार्थ है। प्रयोगकाल मे उन्ही का उच्चारण होना चाहिए। यहा केवल अर्थ ही बतलाया गया है।

सप्तमी सा । 'तूने चक्षु को मर आत्माग्नि में आहुत किया है। तुझे चक्षु-पीडा होगी, तू अ धा होजायगा ' ॥ १७ ॥

अष्टमी सा । तूने अपने मध्य प्राण को मेरे आत्माग्नि म आहुत किया है। तुझे अपानप्राणपीडा (मलावरोध) होगी, तू पेट फूल कर मरेगा' ॥ १८ ॥

नवमी सा । तूने अपने शिश्न को मेरे आत्माग्नि म आहुत किया है। तुझे शिश्नपीडा (उपादशादि) होगी तू नपु सक बन जायगा०' ॥ १९ ॥

दशमी सा० । तून अपने अवाङ प्राण को मेरे आत्माग्नि मे आहुत किया है। तू इस प्राण से कष्ट पाएगा। बद्धकोष्ठ होकर तू मरेगा ' ॥ २ ॥

एकादशी सा । तूने अपन सर्वाङ्ग शरीर को मेरे आत्माग्नि मे आहुत किया हे। तुझे सर्वाङ्ग शरीर स दु ख होगा। तू तत्क्षण मर जयगा ॥ २१ ॥

जिसप्रकार सामिधेनियों से प्रसिद्ध अग्नि को प्राप्त होकर मनुष्य दु ख उठाते है एवमेव सामिधेनी के मौलिक रहस्य को जानने वाले विद्वान् होता क अनुवचन करते समय उसका उपहास करने वाले भी (उक्त आर्त्तियाँ) प्राप्त करते है। (इसलिए ऐसे विद्वान का तिरस्कार-उपहासादि नही करना चाहिए) ॥ २ ॥

इति-शान्तिकर्म्म
चौथ अध्याय मे तीसरा तथा तीसरे प्रपाठक मे पाँचवाँ
ब्राह्मण उपरतम्
सामिधेनी ब्राह्मणानुगत चतुर्थ ब्राह्मण
उपरत

४

इति ब्राह्मणचतुष्टयात्मक-सामिधेनी-ब्राह्मण
समाप्त

सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह

सन्दर्भसंगति—

स्रुकस्थापन-कर्म के अनन्तर वह अध्वर्य्यु वेदिस्थान से गार्हपत्य के समीप आता है। वहाँ आकर पुरोडाशान्न्य को आज्य से अक्त करता है। अनन्तर कपालों को घृत से अक्त करता है। अनन्तर उद्वासन करता है। इस कर्म के अनन्तर आज्यपुरोडाशादि हविर्द्रव्यों को वेदिस्थित ध्रुवापात्र के उत्तर भाग में इध्म रखकर जुहू-उपभृत्-ध्रुवा-आज्य पुरोडाशादि का निधानक्रम से स्पर्श करता है। सर्वान्त में अपने आपका स्पर्श करता है। यही सर्वालम्भनकर्म्म' है। इस सर्वालम्भनकर्म्म के अनन्तर सामिधेन्यनुवचनकर्म्म' आरम्भ होता है। इसी की इतिकर्त्तव्यता यहाँ से आरम्भ होती है—

१—वेद्या उत्तरश्रोणिरुत्तरतो होतृषदनं कुशास्तीर्णं संस्थाप्य समिधमादाय सामिधेन्यनुवचनार्थं होतारं प्रेषयत्यध्वर्य्युः ।

सर्वालम्भनकर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्य्यु वेदि के पश्चिम भाग में अथवा वेदि-श्रोणि के उत्तर भाग में होता के बैठने के लिए दर्भासन बिछाता है। आसन बिछाकर '**एहि होत**' इन शब्दों से होता का आमन्त्रण करता है। इस आमन्त्रण से होता आचमन कर * संचरमार्ग से होता हुआ उस दर्भासन पर बैठ जाता है। अनन्तर वह अध्वर्य्यु इध्मकाष्ठ सम्भार में से एक समिध (एतन्नामक काष्ठ) लेकर होता के प्रति—

अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि'' ।

यह प्रेष करता है। अध्वर्य्युकृत प्रेष के अनन्तर होता ब्रह्मा से अनुज्ञा प्राप्त करने के लिए ब्रह्मा के प्रति निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करता है—

ब्रह्मन् ! सामिधेनीरनुवक्ष्यामि'

ब्रह्मा उक्त वाक्य सुनने के अनन्तर पहिले उपांशु रूप से निम्न लिखित मन्त्र का जप करता है –

ओम् प्रजापतेऽनुब्रूहि यज्ञं देवता वर्द्धय त्वं च नाकस्य पृष्ठे यजमानो अस्तु सप्त ऋषीणां सुकृतां यत्र लोकस्तत्रेमं यज्ञं यजमानं च धेहि' ।

*—यज्ञमण्डप में ऋत्विजों के आहवनीय वेदि-गार्हपत्य-दक्षिणाग्नि-कुण्ड आदि के समीप कर्म्मार्थ आने जाने के लिए जो नियत मार्ग बना रहता है वही सञ्चरमार्ग कहलाता है।

उक्त मन्त्र का उपांशु – उच्चारण कर ब्रह्मा निम्नलिखित वाक्य उच्चस्वर से पढता हुआ होता को अनुवचनकर्म्म के लिए अनुज्ञा प्रदान करता है—

'ओ३मनुब्रू३हि' ।

इसप्रकार सामिधेन्यनुवचनकर्म्म के लिए ब्रह्मा से अनुज्ञा मिल जाने पर स्वासन पर प्रतिष्ठित होता अङ्गुलिपर्व के अग्रभागों को मिलाकर अञ्जलि को अपने हृदय से स्पर्श करता हुआ अपने दहिने पैर को वेदि की उत्तरश्रोणि के समीप रखता हुआ अन्तरिक्ष की ओर देखता हुआ निम्नलिखित 'नम क्रन्द' नामक निगद का जप करता है—

आ३म्–नम प्रवक्त्र नम उपवक्त्र नमो द्रष्ट नमोऽनुख्यात्र क' इदमनुवक्ष्यति स इदमनुवक्ष्यति 'क आर्त्विज्य करिष्यति स आर्त्विज्य करिष्यति ऋच प्रपद्य यजु प्रपद्य साम प्रपद्य, ब्रह्म प्रपद्य, नार्त्ता छन्दसो मातर प्रपद्य, भू प्रपद्ये, भुव प्रपद्य, स्व प्रपद्ये भूर्भुव स्व सर्व प्रपद्य' इति ।

उक्त निगदपाठ के अनन्तर यज्ञकर्त्ता यजमान स्फ्य हाथ मे लेकर निम्नलिखित वाक्य से (अनुवचनकर्म्म के लिए) होता को प्रेरणा करता है—

'ओं स त वक्षिव मेऽनब्रूहि ।

इस सम्बन्ध मे सूत्रकार एक विशेष नियम बतलाते हुए कहते है कि 'स्विष्टकृद्याग' नामक कर्म्म के अनुष्ठान से पहिले पहिले इतिकर्त्तव्यता मे पठित ऋड्मन्त्र एव निगदमन्त्रों का कुछ उच्चस्वर से उच्चारण करना चाहिए जिसे कि सामान्यस्वर' भी कहा जाता है। स्विष्टकृत से आरम्भ कर इडाप्राशनकर्म्म पर्य्यन्त सम्पूर्ण मन्त्रों का मध्यम स्वर से उच्चारण करना चाहिए। एव इडा कर्म्म से आरम्भ कर कर्म्म–समाप्ति पर्य्यन्त उच्च स्वर से उच्चारण करना चाहिए।

दूसरी विशेषता है होता के प्रति प्रैष करने के सम्बन्ध मे। कितने ही याज्ञिक पूर्व प्रैष वाक्य के स्थान मे अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहि यह प्रैष करते है। परन्तु वस्तुत ऐसा होना नहीं चाहिए। क्योंकि तदु तथा न ब्रूयात्। अहोता वा एष पुरा भवति (शत १।३।४ ३।) के अनुसार अभी यह ऋत्विक् होतृत्वेन वृत नही हुआ है। इहीं सब विशेषताओं के साथ उक्त इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए आगे के सूत्र हमारे सम्मुख आते है—

— जिह्वोष्ठौ चालयेत् किञ्चिद्देवतागतमानस ।
निजश्रवणयोग्य स्यादुपांशु स जप स्मृत ' ।

१—'होतृषदन कृत्वाऽपरेण वेदिं श्रोण वोत्तरेण इध्मात् समिधमादाय 'अग्नये समि
ध्यमानायानुब्र हि इत्याह (का श्रा० ३।१।१।)।
२—'होतरिति चैके (का श्रा सू ३। ।१।)।
३— प्रथमस्थानेन प्राक स्विष्टकृत (का श्रौ सू० ३।१।३।)।
४—'मध्यमनेडाया' (का श्रौ सू ३।१।४।)।
— शेषमुत्तमेन' (का श्रा सू ३।१।५।)।
६— स त वन्निव मेऽनुब्रूहि' इत्याह यजमान' (का श्रा सू ३।१।६।)।

—*—

उक्त यजमान-प्रैषानन्तर जब होता तीन बार हिङ्कार करके प्र वो वाजा०' इ यादि सामिधेनी-ऋचाओं का उच्चारण करने लगता है उस समय यजमान अपने पाच के अगूठों से भूमि को दबाता हुआ (शत्रु के नाम का समावेश कर) निम्नलिखित अभिचार-वचन का उच्चारण करता है

'इदमह पञ्चदशेन वागवज्र णामुमवबाधे'।

यदि शत्रु के नाम का पता न हो साथ ही शत्रुता का परिज्ञान अवश्य हो तो उस दशा म- इदमह पञ्चदशेन वागवज्र ण द्विष तमवबाधे' यह बोलना चाहिए । यदि कोई शत्रु (कृत्रिम) ही न हो तो (सहजशत्रु नाश क लिए) इदमह पञ्चदशेन वागवज्र ण भ्रात यमवबाधे यह बोलना चाहिए । यदि काम्यष्टि का अभाव है तो १५ सामिधेनियों का यदि काम्येष्टि है तो १७ सामिधेनियों का होता के द्वारा अनुवचन होगा। फलत प्र यक क साथ यजमान को इदमह' इत्यादि बोलते हुए पादाङ्ग ष्ठों स भूमि को दबाना पडगा । ता पर्य्य यही है कि तत्तत् कर्म्मविशेषो मे १५ १७ २१ २४ ३ ६ इ यादि सामिधेनी-ऋचाओं का विशष विधान है। दर्शपूर्णमास म १५ तद्विकृति-भूता काम्येष्टि मे तथा पश्वादि म १८ प्राजापत्यपशुब ध में १ इष्टकाप शुब ध मे २४, पि येष्टि मे ३ उपसद्धोम मे ६ सामिधेनियो का विधान है। इन सामिधेनी-सख्याओं के अनुसार ही उक्त अभिचारम त्र म-क्रमश 'इदमह पञ्चदशेन सप्तदशेन एकविंशेन चतुर्विंशेन तृतीयेन नवमन इस रूप से तत्तद्विशेष सख्याओं का समावेश करते हुए शत्रु का नाम निदित हो तो नाम का समावेश करते हुए नाम अविदित हो तो द्विषन्त पद का और यदि कृत्रिम शत्रु न हो तो भ्रात य पद का सन्निवेश करते हुए सामिधेनी-सख्या-समान उतने ही अभिचार-वाक्यों का प्रयोग करना चाहिए।

हिङ्कारपूर्वक प्रणव सहित सामिधेनी का उच्चारण होता है। स प्रणव का सम्बन्ध मन्त्र क ोनो ओर होता है। जब जब होता सप्रणव सामिधेनी ऋक् का उच्चारण कर ऋग त मे प्रणव का उच्चारण करता ह तब तब ही (प्रतिप्रणव) अ र्यु अ न मे इ म डालता जाता है। दोना क सामिधेनी-ऋङ्मन्त्रोच्चारण क साथ साथ अध्वर्यु का इध्म डालना मकर्म्म है। जितने सामिधेनी मन्त्र होते है उतन हीं इध्म होते है। दश-पूर्णमास मे क्योंकि १५ सामिधेनी ऋङ्-मन्त्र है फलत वहाँ १५ ही का आधान होता है।

"समिद्धो अग्न आहुत ' इस ऋ्ऩ्मन्त्र क उच्चारण से पहिले पहिले यह अ र्यु इससे पहिले म त्र क अन्तिम प्रणवोच्चारण क साथ साथ सम्पूर्ण इध्मकाष्ठ अ नि म डाल देता है। यदि अनुयाजकर्म्म अभीष्ट है तो इन मे स एक इ मकाष्ठ बचा लिया जाता है। तात्पर्य्य यह हुआ कि (काम्यष्टि के अभाव मे) जबकि दश पूर्णमास मे पञ्चदश सामिधेनी अनुवचन विहित हो तो उस दशा मे प्र वो वाजा० इत्यादि ११ तो सामिधेनी म त्र है। एव आद्य त के म त्र तीन तीन बार पढे जाते हैं। इस त्रिरावर्तन से ११ के १५ सामिधेनी म त्र होजाते है।

इस इष्टि म इस इध्मकर्म्म क लिए कुल (अनुयाजपक्ष मे) १८ इ मकाष्ठा का सग्रह होता है इन अठारह इध्मों में से पूर्वोक्त परिधि परिधानकर्म्म क अनन्तर एक समिध का "वीतिहोत्र त्वा कवे द्यु म त समिधीमहि अग्ने बृह तमध्वरे ' [प्रथम परिधि समिधों-परस्पृश्य वीतिहोत्र मित्यादधाति" का श्रा सू २।८।२) इस मन्त्र से परिधि का स्पर्श करते करते हुए अग्नि म आधान होजाता है। अब एक समिध का बिना परिधि का स्पर्श किए 'समिदसि" (अनुपस्पृश्य द्वितीया समिदसी ति" का श्रौ सू २ ८।३) यह म त्र बोलते हुए अ नि मे आधान होजाता है। इसप्रकार १८ मे से २ का प्रयोग तो पारधिकर्म्म समाप्ति पर होने वाले समिधाधानकर्म्म म हीं होजाता है। अब इस समय कुल १६ इ म बच रह ी है।

१६ की व्यवस्था यह है कि प्र वो वाजा०" से आरम्भ कर 'अग्निं दूत वृणीमहे " इस आठव सामिधेनी मन्त्र पर्य्यन्त 'प्र वो वाजा की त्रिरावृत्ति से १ मन्त्र होजाते है। इन दसों का प्रणवोच्चारण के साथ अध्वर्यु क द्वारा आधान होजाता है। आगे तीन म त्र शेष है अन्तिम मन्त्र की त्रिरावृत्ति से ५ म त्र शेष है सामिधेनी ६ शेष है। इन छओं क सम्बन्ध मे यह व्यवस्था हुई है कि पञ्चम त्रसम्बन्धिनी पाचों सामिधेनियों का समिद्ध अग्न आहुत इस १२ वीं सामिधेनी के उच्चारण से पूर्व एव 'समिध्यमानो अध्वरे '

इस ११ वीं सामिधेनी के अन्त में होने वाले प्रणवोच्चारण के साथ ही अग्नि में आधान कर देना चाहिए। जो एक सामिधेनी शेष रहेगी उसका अनुयाजकर्म में उपयोग होगा। इसप्रकार पञ्चदश सामिधेनीपक्ष में १५ इध्म सामिधेनी मन्त्रों के सम्बन्ध से १ अनुयाज सम्बन्ध से दो परिधिकर्मानन्तर होनेवाले अभ्याधानकर्म के सम्बन्ध से १८ इध्मों का ग्रहण होगा एवं इनका विनियोग उक्त प्रकार से होगा।

काम्येष्टि का भी यदि दर्शपूर्णमास में सग्रह है तो सत्रह सामिधेनी मन्त्र होंगे। और उस दशा मे १८ के स्थान मे २० इध्म काष्ठ लिए जायगे। जिन दो मन्त्रों का उपरिष्टात् सग्रह होता है वे **धाय्या** कहलाए है। साथ ही **"समिध्यमानवता समिध्यवता चान्तरेण पृथुपाजावत्यौ धाय्ये दधाति"** (आपस्तम्बश्रौ सू) **'तृतीयस्या सामिधेन्यावावपते प्रागुपोत्तमाया पृथुपाजा अमर्त्य इति द्व धाय्ये इत्युक्त प्रतीयात्'** (आश्वलायन श्रा सू) **समिध्यमानवती समिद्धवता चान्तरेण धाय्या स्यु'** (त स ५।३।४।५।-३।३) इत्यादि के अनुसार इन दोनों धाय्या ऋचाओं का सन्निवेश समिध्यमानपदघटित **समिध्यमानो अध्वरे "** इस मन्त्र के तथा समिद्धपदघटित **समिद्धो अग्न आहुत "** इस मन्त्र के दोनों के मध्य में निधान होता है। क्योंकि ये दोनों धाय्या ऋचाए दोनों के मध्य में सन्निविष्ट रहती हैं अतएव इनकी- **समिध्यमान समिद्धवती'** यह सज्ञा (नाम) मानी गई है।

पूर्वोक्त क्रमानुसार परिधिकर्मोत्तरभावी अभ्याधानकर्मोपयुक्त २ इध्मकाष्ठों तथा ११ मन्त्रों के प्रणव के साथ होने वाले ११ इध्मकाष्ठों के अभ्याधान के अनन्तर ८ इध्मकाष्ठ बच रहते हैं। इनमे से १ तो अनुयाज के लिए रखली जाती है शेष सातों का ११ वीं के अन्तिम प्रणवोच्चारण के साथ अभ्याधान होजाता है। एव यही इस सप्तदश सामिधेनीपक्ष में २० इध्म-काष्ठों का विनियोग है।

अब इस सम्बन्ध मे एक जिज्ञासा बच रहती है। कहा गया है कि ऋगुच्चारणकाल में यजमान दोनों पैरों के अगूठों से भूमि दबाता हुआ— **इदमहम्'** इत्यादि रूप से अभिचार कर्म करता है। उधर श्रुति मे— **'य द्विष्यात् त अङ्गुष्ठाभ्यामवबाधेत इदमहममुमवबाध'** (शत १।३।५।१) इत्यादि रूप से सामान्यत **'अङ्गुष्ठ'** पद उद्धृत हुआ है। इससे पैर के अङ्गुष्ठ का ही ग्रहण किस आधार पर किया गया? इस प्रश्न का समाधान— **पादाभ्या मङ्गुष्ठाभ्यामवबाधेत'** (का ब्रा २।३।३।५) इस काण्वब्राह्मणवचन के अनुसार प्रकृत

सामान्यवचन का विशेष (पान) विधि म सङ्कोच करना न्यायसङ्गत होजाता है। इसी पूर्वोक्ता इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कात्यायन कहते है —

(७)–'अङ्गुष्ठाभ्या चावबाधते पाद्याभ्या वेदमहममुमवबाध इति द्वष्यम्'
(का श्रौ सू ।१।७)।

(८)– अभावे द्विषन्त भ्रातृव्यमिति वा" (का श्रौ सू ३।१८)।

(९)–'यावत् मामिधेनि वेदेदमह तावतिथेन वज्र णाति
(का श्रौ सू ३।१।९)।

(१)–"प्रतिप्रणवमाधानम्' (का श्रौ सू ३।१।१)।

(११)–' समिद्ध इति प्रागत सत्रमिध्मम कनर्जमनुयाजाश्च त
(का श्रौ सू ३।१।११)।

इति—सूत्रानुगतपद्धतिसग्रह

—*—

तीसरे अध्याय मे पाचवाँ, तीसरे प्रपाठकमे
दूसरा ब्राह्मण
सामिधेनी ब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण
१

वैज्ञानिक-विवेचना—

(भाष्य)—यज्ञतिक्त यताओ में **ग्निसमिन्धन** कम्म अपना एक विशेष महत्व रखता है। **अग्निरु वै यज्ञ** इस निगम के अनुसार अग्नितत्व ही यज्ञ कम की मूलप्रतिष्ठा है। आधिदविक आधिभौतिक तथा आध्यात्मक इन त्रेताग्नियों के समन्वय से जो एक अपूव अतिशय उत्पन्न होता है उसे ही **दैवात्मा** कहा जाता है। यह दवात्मा खगोलीय पार्थिव संवत्सर के त्रिणाचिकेत नामक सप्तदशस्तोम स्थान में प्रतिष्ठित होजाता है। इस दैवात्मा के प्राण का रश्मिरूप से यज्ञकर्त्ता यजमान के साथ हृद्ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध रहता है। उधर वह दवात्मा दिव्यलोकस्थ स्वर्गीय प्राणदेवताओ के साथ बद्ध रहता है। यावदायु-भोगपर्य्यन्त इस भूपृष्ठ पर जीवनयात्रा का निर्वाह करता हुआ यजमान जब अपने भौतिक शरीर का परित्याग करता है तो इसका कर्मभोक्ता—**वैश्वानर तैजस प्राज्ञ**—त्रितयमूर्त्ति **भूतात्मा (मानुषात्मा)** उस **दैवात्मा** के आकषण से आकर्षित होता हुआ उस सप्तदशस्तोमात्मक स्वगलोक में चला जाता है। जबतक यज्ञातिशयरूप दवात्मा स्वस्वरूप से सुरक्षित रहता है तबतक मानुषात्मा वहा प्रतिष्ठित रहता है। समय पाकर यज्ञातिशयलक्षण पुण्यसस्कार के क्षीण होजाने से तद्रूप दैवात्मा विलीन होजाता है पुन उस मानुषात्मा को **क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक वसन्ति** के अनुसार उसी जन्म-मरण-प्रवाह में आजाना पडता है। और यही यज्ञकम्म का एक महत्वपूर्ण फल है।

इस यज्ञफलसिद्धि के लिए तीनों अग्नियों का पश्लि परस्पर ग्रन्थिबन्धन अपेक्षित है। **आधिभौतिक अग्नि पार्थिव अग्नि है आध्यात्मिक अग्नि शरीराग्नि है एवं आधिदैनिक अग्नि सौर सावित्राग्नि है**। पार्थिव अग्नि सौर सावित्राग्नि का ही प्रवग्य रूप है। वही सावित्राग्नि प्रवर्ग्य सम्बन्ध से दिव्यसस्था से पृथक होकर अपने दिव्यरूप से वाञ्चत होता हुआ भूगभ में आकर कृष्ण (अप्रत्यक्ष) रूप में परिणत होजाता है। इसी को विज्ञानभाषा म—**कृष्णमृग** कहा गया है। काष्ठादि में यही मृग्य अग्नि सुप्त है जिसका **शेषे वनेषु मात्रो** मन्त्र से स्वरूपोल्लेख होरहा है। काष्ठादि में प्रसुप्त यही आधिभौतिक अग्नि मनुष्य के प्रयास से प्रज्ज्वलित होकर मनुष्यो के लौकिककम्म (पाकाग्निकम्म) सम्पादन करता है जैसाकि—**स त्वा मर्त्तास इन्धते** इस मन्त्रभाग से स्पष्ट है। प्रज्ज्वलित होने के अनन्तर यह भूताग्नि अपने भूतभाग को छोडता हुआ कालान्तर में अपने उसी दिव्यप्राणरूप में परिणत होकर द्युलोक में चला

जाता है। अत-द्रो ह्-य ग्ह्सि ह्विष्कृदादिद्देवेषु राजसि इस मन्त्रोत्तरार्द्ध स इसी स्थिति का प्रात पादन हुआ है।

भूताग्नि प्रज्ज्वलित हाकर काला तर में द्यु लोक में ऽसीप्रकार जाता रहता है। परन्तु इस स्वाभा वक गति से यज्ञकर्म्म का कोई सम्ब य नही है। यज्ञक म में तो वह भूताग्नि ही उपयुक्त माना जायगा जिसमें यही इसी लोक में प्रतिष्ठित रहते हुए दि याग्नि का समावश करा दिया जायगा। भूताग्नि को प्रज्ज्वलित किया जायगा ऽसमें दि यप्राणाग्नि का समावेश कराया जायगा। अनन्तर आहुति के द्वारा यजमान अपने शरीराग्नि का इन दोनो से सम्ब ध करा दगा। परिणाम इसका यह होगा कि अब जो भूताग्नि द्यु लोक में जायगा उसके गभ में द यग्नि रहेगा यजमान का शरीराग्नि रहेगा आहुतिद्र यानुशय रहेगा। ऽन सब के समन्वितरूप का नाम होगा पूर्वोक्त दैवात्मा। यह वहा जायगा इसका यजमान के मानुषा मा से सम्ब ध रहेगा और यही आकषण स्वगफलप्राप्ति का कारण होगा।

भूताग्नि को प्रज्ज्वलित सभी करते हैं। तद्वत् यहा भी अ वर्यु इध्म नामक सामान्य काष्ठप्रक्षेप से इसे प्रज्ज्वलित कर लेता है। स सामा य प्रज्ज्वलनकर्म्म को विज्ञानपरिभाषा में इन्धन कहा गया है। आहवनीयाग्नि प्रतिरूपमर्य्यादा से यद्यपि दिव्याग्नि की प्रतिकृति है। परन्तु यह तभी दि य कहला सकेगा जबकि इसमें किसी विशेष वज्ञानिक प्रक्रिया से द्यु लोकस्थ दवतामय दि य प्राणाग्नि का सम्ब ध करा दिया जायगा। जबतक पार्थिव भूतरूप प्रज्ज्वलित अग्नि का इस दि य-प्राणरूप अग्नि के साथ एकीभावात्मक सम्ब ध नही होजाता तबतक इस आहवनीय इ म अग्नि का एक चूल्हे की सामा य अग्नि से अधिक कोइ विशेष मह व नही है। दि याग्निशून्य ऐसे प्रज्ज्वलित अग्नि में प्राणदेवाकषण की अयोग्यता है। फलत इसमें चाहे लाखों मन घी डाल दीजिए अपरिमित आहुति-द्र य डाल दीजिए अहर्निश स्वाहा स्वाहा करते रहिए साथ ही यज्ञविद्या को जगत् की दृष्टि में मह व शून्य सिद्ध करने का कलङ्क उठाते रहिए कभी ऐसे लौकिक अग्नि से फलसिद्धि नही होसकती। फल तब मिलेगा जब प्राकृतिक प्राणदेवताओं के गभ में आहुतिद्र य का समावश होगा। आहुतिद्र य का देवताओ के गभ में समावश तब होगा जब इस प्रज्ज्व-लित भूताग्नि में दवप्राणाकषक दि याग्नि का एकीभाव होगा। और यह एकीभाव तब सम्भव होगा जबकि ऋषिप्रदिष्ट सुप्रसिद्ध— सामिधे यनुवचन कर्म्म । आश्रय लिया जायगा।

प्रश्न हमारे सामने यही है कि द्यु लोक में प्रतिष्ठित दि यप्राणदेवता प्राणा मक हैं। उधर प्राण की— रूप-रस-ग ध-स्पश-शब्दशून्यत्वे-सति अधाम छदत्त्वमेव प्राणत्वम् यह परिभाषा मानी गई है। एत लक्षण दि यप्राण अस्मदादि के लिए सवथा अतीन्द्रिय बनता हुआ अग्राह्य है। जब वह अग्राह्य है तो उसका इस अग्नि में सम्ब ध कसे कराया जाय? यही एक महती विप्रतिपत्ति है।

उक्त विप्रतिपत्ति का निराकरण स्वरसमन्वय से होरहा है। पृथिवी और सूर्य्य दोनो वस्तुत एक थ जैसाकि पाठक आगे देखगे। पृथिवी सूर्य्य का ही उपग्रह माना गया है। दोनो में परस्पर आधारा-धेयभाव सम्ब ध है। सूर्य्य की प्रवर्ग्यभागात्मिका पृथिवी सौर आकषण-प्रतिष्ठा को आधार बनाकर स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है गौरूप सू य ने ही रश्मिरूप शृङ्ग (सीग) के आधार पर भूभार वहन कर रक्खा है। इस सौर प्राण का ही नाम स्वर है एव पार्थिव भूत का ही नाम यज्ञन है। स्वरप्राण के स ब ध से

ही सौरलोक स्वर्लोक कहलाया है जैसाकि स्वरहेन्द्रा मृत्य (श १। ।२।२।) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। यजुनवाक पार्थिवी है यही अनुष्टुप कहलाता है। स्वरवाक् सौरी (ऐन्द्री) है यही बृहती कहलाई है। जिसप्रकार सूर्योपग्रहभूता पृथिवी सारतत्त्व के बिना स्वरूपरक्षा में असमर्थ है एवमेव सौर स्वर को आधार बनाए बिना पार्थिव व्यञ्जना का भी उच्चारण असम्भव है। *।

वैज्ञानिक महर्षियोंने व्यञ्जनवाक में अनुस्यूत सौर-स्वरतत्त्व की परीक्षा आरम्भ की। परीक्षा से यह सिद्धान्त निकला कि इस अनुष्टुप्-लक्षणा पार्थिवी-वाक् (व्यञ्जनवाक्) में आधार बना हुआ जो स्वर है वह दिव्यतत्त्व (इन्द्र) है। यदि इस दिव्यतत्त्व का (स्वर का) इस यञ्जनवाक के साथ नियमपूर्वक सम्बन्ध जोड दिया जाय तो उस नियमित वाक् से वागनुगत नियमित स्वर के आकर्षण से दिव्यलोकस्थ दिव्यप्राणदेवताओं का आकर्षण सम्भव होजाय। एकमात्र इसी स्वरविज्ञान को मूल बना कर ऋषियोंने दिव्यप्राणों के तत्तद्विशेष-स्वरूपों की परीक्षा आरम्भ की। उन्होंने देखा कि दिव्यलोकस्थ अग्नि इन्द्र वरुण आदि इत्यादि देवप्राण गायत्री त्रिष्टुप आदि विशेष छन्दों (वाकपरिमाणात्मक सीमाभावों) से छन्दित (सीमित) रहते हुए उदात्त-अनुदात्त स्वरितादि तत्तद्विशेष स्वरवीचियों (लहरों) से युक्त हैं। इसी आधार पर उन्होंने व्यञ्जनवाक में उसी नियम से छन्द स्वर सम्पत्ति का समादेश करते हुए यह सिद्ध कर दिया कि यदि अमुक छन्द वाले अमुक स्वर युक्त अमुक मन्त्र का अमुक कर्म्म में अमुक नियम से प्रयोग किया जायगा तो उन छन्द-स्वरों से समतुलित छन्द-स्वर युक्त उन प्राणदेवताओं का यहां भी सम्बन्ध होसकेगा। साथ ही इस सम्बन्ध में उन्होंने यह भी आदेश दिया कि यहां मन्त्रवाक के उच्चारण करते समय यदि मन्त्रप्रयोक्ता छन्द-स्वर-वर्ण आदि में यथाव्यवस्थित नियम के विपरीत अणुमात्र भी स्खलन (असावधानी) कर देगा तो उनकी स्वरूपानुगता-स्वरलहरी-विकृत हो जायगी फलतः उन विकृत स्वर वर्णयुक्त मन्त्रों से उन अविकृत देवताओं का आकर्षण न होसकेगा। साथ ही इष्ट के स्थान में महान् अनिष्ट भी हो-जायगा ×।

तो अब हमारी उस पूर्वोक्त विप्रतिपत्ति का समाधान होगया। हम ऋषि के द्वारा दृष्ट उन मन्त्रों के यथाविधि उच्चारण से उन प्राकृतिक प्राणदेवताओं का अपनी यज्ञसंस्था में अवश्यमेव सम्बन्ध करा सकते हैं। यही तो वेदमन्त्र का मन्त्रत्व है यही तो इनका अपौरुषेयत्व है। विज्ञानवाक का निर्माण कौन कर

---

*-'बीभत्सूना सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
अनुष्टुभमनु चर्चूर्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा ॥"
—ऋ १।१७४।६।

×-'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

सकता है ? । वह तो ऋषियो के अ त करण में स्वत प्रादुभू त होने वाला मङ्गलमय विधि का महतो महीय न् मङ्गलविधान है * । सी मङ्गलमूर्त्ति विधि के स्मरणपूवक हमारा यह सामिधे यनुवचनकम्म आर भ होता है ।

यह सिद्ध होचुका है कि आहवनीयाग्न मे दिव्यप्राणाग्नि का सम्ब ध आवश्यक है । दोनो का एकीभाव ही यज्ञसिद्धि का द्वार है । इस एकीभाव के लिए ही **समि धन** (**समि येकीभावे**) श द प्रयुक्त हुआ है । जिस कर्म्मविशेष स अ वर्यु के द्वारा इद्ध अग्नि समिद्ध बनाया जाता है व ी क मविशेष **सामिधे यनुवचनकम्म** नाम से यवहृत हुआ है । होता नाम का ऋ त्विक उन म त्रो का उच्चारण करता है जिन का छ द गायत्री है **स्वरलहरी अग्निदेवतानुगता है** । उन म त्रो के प्रयोग से अ तरिक्षस्थ स यसहित प्राणाग्निदेवता आकर्षित होकर अवश्यमेव स इद्ध अग्नि में प्रविष्ट होकर इसे **समिद्ध (स के साथ एकीभूत)** कर दत हैं । क्योकि निर्दिष्ट ऋचाओ से स इद्ध का समि धन होता है अतएव इन ऋचाओं को— **समि धे एताभिऋ ग्भ** स ानवचन से **सामिधेनी** कहा गया है । अ वर्यु पाहले इध्म से (सामा य काष्ठ से) **अग्नि को** इद्ध — करता है । अन तर होता सामिधेनी ऋगुच्चारण से दि यप्राणाग्नि के स्थापन द्वारा इस अग्नि को समिद्ध करता है । इसी स ब ध में एक बात का और यान रखना चाहिए । प्राणाग्नि का सम्ब ध अपेक्षित है । **प्राणाग्नि का स्थिरसम्ब ध बिना भूत क नहीं हुआ करता। भूत क आधार पर ही प्राण प्रतिष्ठित होता है भूतद्वार से ही प्राण का आक र्षण होता है ।**

यहा भी अवश्य ही आगत प्राणाग्नि की स्थिरता के लिए भूतसम्ब ध अपेक्षित है । इसी उद्द श्य की पूर्त्ति के लिए जितने सामिधेनी म त्र हैं उतने ही (१५ अथवा १) इ मकाष्ठ लिए जाते हैं । होता मन्त्रोच्चारण कर अ त में प्रणवोच्चारण करता है इस से प्राणाग्नि अग्नि में प्रतिष्ठित होता है अव्यवहितोत्तरकाल में ही अ वर्यु नियत इ म अग्नि में डालता रहता है । इसप्रकार यावत् सामिधेनी समतुलित इ मकाष्ठों का प्रतिप्रणव आधान होता है । कैसा अद्भुत क मकलाप है । उस ओर से म त्रशक्ति के द्वारा होता दि यप्राणाग्नि को स यज्ञसस्था में लाता जाता है इस ओर से अ वर्यु प्रतिप्रणव इध्माधान से भूताग्नि को प्रज्वलित करता जाता है । दोनो का एकीभावा मक समि धन होता जाता है । कम्मसमाप्ति मे दोनो अग्नि मिलकर एक अपूव-समृद्ध यज्ञानुगत रूप ारण कर लेते हैं । **ऐसे समिद्ध अग्नि क प्रति कौन अग्न्युपासक भूसुर नतमस्तक होकर नमन न करेगा ?** ।

अब इस स ब ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि **इ धनकम्म अ व यु ही क्यों करता है ?** **एव स मि धनकम्म होता ही क्यों करता है ?** । इन प्रश्नो की सक्षिप्त उपपत्ति यही है कि प्राकृतिक—

***—युगा तेऽ तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय ।**
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा ॥

— लौकिक-भौ तक-काष्ठ स भूताग्नि का ही धन (प्रज्वल) होता है । अतएव इ धन-(प्रज्वलन)-साधक का ठ भी लोक यवहार में इ धन नाम से प्रसिद्ध होगया है जिसका प्राकृतरूप ही राजस्थान में- इ धन कहलाने लग पडा है ।

सृष्टि में पार्थिव–अग्नि वायु से ही (पङ्खे आदि के झकझने से ही प्रज्ज्वलित होता है। वायु ही प्राकृतिक यज्ञ के वाय्वनुगत यजुर्वेदी अ ध्वर्यु माने गए हैं। अतएव यहां भी तत्प्रतिकृतिरूप यजुर्वेदी अध्वर्यु ही मकर्म करता है। पार्थिव मूलाग्नि ही **इत एव उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन्। प्रभूनयो यथा पथि द्यामङ्गिरसो ययु** इस मन्त्रवर्णन के अनुसार द्युलोकस्थ दिव्याग्नि से मेल कर समिद्ध होते हैं। दूसरे शब्दों में पार्थिव अग्नि ही सम धनक म के सञ्चालक है। ये ही प्राकृतिक यज्ञ के अग्न्यनुगत ऋग्वदी होता माने गए हैं। अतएव यहा भी तत्प्रतिकृतिरूप ऋग्वदी होता ही साम धनकर्म करता है। **यद्वै देवा अकुर्व स्तत् करवाणि** ही इस उपपत्ति का मूल है। और यही **सामिधेन्यनुवचनकर्म** की संक्षिप्त उपपत्ति है जिसका कि प्रकृत ब्राह्मण की प्रथम–कण्डिका में स्पष्टीकरण हुआ है॥ १॥

क्योंकि प्रतिरूपानुगता–मजातीयमर्य्यादा से होता ही समिन्धनक म का अधिकारी है अतः **अग्नय समिध्यमानयानुब्रूहि** इत्यादि रूप से अध्वर्यु इस कर्म के लिए होता को ही प्रेरित करता है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सामिधेनी अनुवचन के अनन्तर इस ऋत्विक का होतृ वन वरण होनेवाला है। इस से पहिले होता के उद्देश्य से इस कर्म में नियुक्त होता हुआ भी यह विधिपूर्वक **होतृ** संज्ञा में परिणत नहीं हुआ है। अतः **होतरनुब्रूहि** इसप्रकार नामनिर्देश पूर्वक प्रैषण न कर उक्त सामान्यरूप (बिना नाम–निर्देश) से ही प्रैष करना चाहिए॥ २ ३॥

इस कर्म से अग्नि का समिन्धनलक्षण एकीभाव सम्बन्ध ही अपेक्षित है। प्राकृतिक जिस देवता की ऋचा के द्वारा आकर्षण करना है वह जाया **अग्नि** छन्द उस का **गायत्री** है साथ ही अग्नि वन व **ब्रह्मवीर्य्य** का प्रवर्त्तक है। देववर्ग में इन्द्र जहां **क्षत्रवीर्य्य** के प्रवर्त्तक हैं विश्वदेव जहां **विड्वीर्य्य** के प्रवर्त्तक हैं एवं पूषाप्राण जहां **शूद्रभाव** का स्वरूपसमर्पक है वहां अग्नि ब्रह्मवीर्य के अधिष्ठाता माने गए हैं। एतद्धर्म्मोपेत अग्नि का उसी ऋचा से आकर्षण सम्भव है जिस का स्वरूप (अर्थापेक्षया) अग्निमय होगा। अर्थात् जिस में अग्निस्वरूप का वर्णन होगा छन्द जिस का गायत्री होगा। इसलिए सामिधेन्यनु–वचनकर्म में **उपयुक्त** सामिधेनी सभी ऋचाएं स्वरूपतः (अर्थतः) आग्नेयी होती हैं एवं छन्दोमर्यादा से इन सब का गायत्री छन्द होता है। इस अपने ही छन्द अपने ही स्वरूप से समतुलित सामिधेनी–ऋचा से अग्नि का समिन्धन तो हो ही जाता है इसके अतिरिक्त इस में समतुलित **ब्रह्मात्मिका गायत्री** से विशेष **शक्ति** (ब्रह्मबल) का भी आधान होजाता है।

गायत्री को ब्रह्म तथा वीर्यरूप बतलाना भी एक विशेष महत्त्व रखता है। पार्थिव हृदयस्थ* प्रजा–पति से (प्रजापति के मुखरूप उक्थ न यबिन्दु से) अग्न्यात्मक पार्थिव अग्नि का तथा अग्निसोमलक्षण गायत्रीछन्द का आविर्भाव हुआ है। अग्नि ब्रह्म है इसका छन्द गायत्री है। स अग्निब्रह्म के सम्बन्ध से

---

* **'प्रजापतिर्वाव ज्येष्ठ। स ह्य तेनाग्र ऽयजयत। प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति। स मुखतस्त्रिवृत निरमिमीत। तमग्निर्देवता न्वसृज्यत, गायत्रीछन्द रथन्तर साम ब्राह्मणो मनुष्याणां, अज पशूना। तस्मात्ते मुख्या मुखतो ह्यसृज्य त'**

—तै स ७।१।१।४।

गायत्रीछ ब्रह्मवीर्य्या मक बना हुआ है। उस के अतिरिक्त इसी गायत्री के द्वारा एति-प्रेति रूप अ यथ वी य के प्रभाव से तृतीय द्य लोकस्थ सोम का अपहरण होता रहता है। यह गायत्री का अपना प्रातिस्विक वीर्य्य है। मन प्राणवाङ् मय आ मा के तीनो धातुओ से क्रमश कारण-सूक्ष्म-स्थूल-शरीरो का आविर्भाव हुआ है। इन तीन पर्वों के स ब ध स तीनो में क्रमश पराक्रम वीर्य्य बल नाम के ध म उपन्न हो जाते हैं। **मनोऽनुग कारणशरीर पराक्रम का अधिष्ठाता है एवं मनुष्य इस का उ ाहरण है। प्राणानुगत सूक्ष्मशरीर वीर्य्य का अधिष्ठाता है एव सिंह इस का उदाहरण है। वागनुगत स्थूल-शरीर बल का अधिष्ठाता है एव हाथी इसका उदाहरण है।**

तीनो श द पृथक पृथक तीन अर्थों के वाचक है। साथ ही तीनों पूव-पूव एक दूसरे से गौरवान्वित है। यही कारण है कि अपने शरीरबल से दो चार सिंहो को कुचलने की शक्ति रखता हुआ भी हाथी वीर्य्यशाली सिंह का आक्रमण नही सह सकता। इधर सिंह के दशनमात्र से कम्पित होपडने वाला मनुष्य पराक्रम के बल पर सिंह को पञ्जर (पिंजरे) मे ब द कर दता है। प्राणाग्नियुता गायत्री प्राणशक्ति से ही द्य लोकस्थ सोमापहरण में समथ होती है। प्राणशक्ति वीर्य्यात्मिका है। अतएव यहा **वी य गायत्री** य कहा गया है ॥ ॥

सामिधेनी ऋचाए आ नेयी हैं गायत्रछ दा हैं। उस से ब्रह्मवीर्य्य का आधान होगया। परन्तु अभी उसमें क्षत्रवीर्य्य के आधान की कमी है जिस के बिना ब्रह्म का कोइ क म समृद्ध नही होसकता। **ब्रह्म अभि ग तामात्र है कर्त्ता तो क्षत्र ही है।** ब्रह्म-क्षत्र का यु म ही क म की समृद्धि का द्वार है (देखिए शत ४।१।२)। आवश्यक है कि **ब्रह्मसम्पत्ति** सग्रह के साथ साथ **क्षत्रसम्पत्ति** का भी यज्ञ में सम्ब ध कराया जाय। इस के लिए क्षत्रानुगता छ द स पत्ति का सम्ब ध अपेक्षित है। **जिसप्रकार अग्नि ब्रह्मवीर्य्यात्मक है तथैव इ द्र क्षत्रवीर्य्या मक है। एवमेव अग्नि का गायत्रीछ द जसे ब्रह्मवीर्य्यात्मक है वैसे× इ द्र का त्रिष्टुप्छ द क्षत्रवीर्य्या मक है।** इस सम्पत्ति का समष्टिरूप से स्वत सग्रह होजाता है। सामिधेनी ऋचाएँ ११ है एव त्रिष्टुप्छ द भी एकादशाक्ष ही है। एक एक अक्षर एक एक मन्त्र से समतुलित है। ११ से त्रि टुप के द्वारा प्रकृ या क्षत्रम र्पा प्रा त होजाती है। परिणामत हमारा भूताग्नि ब्रह्म क्षत्र दोनो वीर्य्यों से समिद्ध बन जाता है। ११ ही सामिधेनी क्यो होती है ? इस प्रश्न की य ी संक्षिप्त उपपत्ति है ॥५॥

जिस यज्ञकर्म्म का यजमान स पादन करने वाला है उस यज्ञ की स्वानुरूपा स पत्ति वही मानी गइ है कि उस में जो भी कर्म्म हो प्राकृतिक यज्ञ के अनुरूप ही हो। इसी को यज्ञपरिभाषा में **रूपसमृद्धि** कहा गया है। प्राकृतिक यज्ञ में सवत्र त्रिवृदभाव की प्रधानता देखी जाती है। पहिले पञ्चपर्वा उस **सर्वहुत** नामक विश्वयज्ञ के स्वरूप पर ही दृष्टि डालिए। महाविश्वयज्ञ की आर भभूमि प्राणा मक स्वयम्भू है।

× 'उरसो बाहुभ्या पञ्चदश निरमिमीत। तमिन्द्रो देवता न्वसृज्यत, त्रिष्टुप् छन्द, बृहत् साम राज यो मनुष्याणा, अवि पशूना तस्मा े वीर्य्यवन्त। वीर्य्याद्ध्यसृज न्त' तै॰ स ७।१।१।४ ५)।

इस का उपक्रम— **वेदा स य सूत्र स य नियति स य** स त्रिवदभाव स नी हुआ है। दूसरा पमे ठीपत्र भी **इट् ऊक् –भाग** सम्ब ध से त्रिवत् ही बन रहा है। सूर्यपत्र भी **यात गौ–रायु** मे स त्रिपत्रा ही है। च द्रमा भी **रेत –श्रद्धा यशो** रूप से इस स पा। स वच्छित न ी है। पृथिवी भी **वाक् गौ–द्यौ** से नि य युक्त है। इसप्रकार पाच पर्वो स पा क क लाने वाले स विश्वयज्ञ का उपक्रम [स्वय भू] पाश्व [परमे ठी] म य [सूर्य] अवरपाश्व [च द्रमा] उपसहार सब कुछ त्रिवत् ही बना हुआ है।

शुक्रविज्ञान की दृष्टि से भी **वाक्–आप –अग्नि** यह अमृता शक्रत्रयी विश्वयज्ञ का उपक्रम बन रही है एव **अग्नि आप –वाक्** यह मर्त्या शक्रत्रयी विश्वयज्ञ का उपसहार बन रही हैं। यज्ञप्रवर्तक यज्ञिय देवता **अग्नि–वायु–आदि य** स पत्ति से युक्त रहते हुए त्रिवृत् बन रहे है। त्रि स य वताओ का यजनरूप प्र येक यज्ञकम्म सा त्रि स पत्ति से युक्त है जिस का इशादि विज्ञानभा यो म विस्तार स निरूपण किया जाचुका है।

वैधयज्ञ मे हाने वाने **दीक्षा सु या उपसत्** के त्रिवृदभ व से भी त्रिवृत् का यज्ञाङ्ग व सिद्ध हार । है। **तीन पर आरम्भ तीन पर समाप्त** यह यज्ञ की आवश्यक सम्पत्ति है। इस स पत्ति का भी हमारे इस सामिधेनीक म में सग्रह होना चाहिए। इसी स पत्तिसग्रह के लिए ११ मन्त्रो में से प्रथम तथा अन्तके म त्रो का तीन बार अनुवचन होता है। आर म का त्र –अनुवचन प्रायणीय–यज्ञस पा । का तथा अन्त का त्र –अनुवचन उदयनीय–यज्ञस प ि का सग्राहक बन रहा है। त्रि –त्रि –अनुवचन की यही सक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ६ ॥

यज्ञानुगता त्रिवृत्सम्पत्ति अपेक्षित थी। इस स पत्ति के साथ साथ उसी सख्यानुगता प्रातरूपता से एक स पत्ति और मिल जाती है। आद्यन्त के त्रि –त्रि अनुवचन स ११ के स्थान में १५ सामिधेनी ऋचाए होजाती है। **इन्द्रा ह यत्र वृत्राय वज्र प्रजहार** [शत १।६।४।१] इत्यादि पूर्वाक्त **दर्भविज्ञान** में यह बतलाया गया है कि शस्त्रबल से आक्रमण करना क्षत्र इन्द्र का काम है। इन्द्र की प्रहारशक्ति [विद्यु छक्ति] ही वज्र है। इस वज्रसम्पत्ति का ग्राहक पञ्चदशसख्याभाव [१५ सख्या] है। कारण यही है कि जैसे प्रजापति के मुख से त्रिवृत्स्तोम ए ।त नु गायत्रीछ द तथा अग्नि का प्रादुर्भाव हुआ है एवमेव प्रजापति के उर तथा बाहुओ से *पञ्चदशस्तोम ए ा तदनु त्रि टुपछन्द तथा इन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ है। अग्निब्रह्म ब्राह्मण है शस्त्र प्रहार करना अभिचार करना इस का धम्म नही क्योकि श्रुति का इसके लिए– **सर्वस्य वा अय ब्राह्मणो मित्र न रा अय कञ्चन हिनस्ति** [शत ४।२ ४।१६] यही आदेश है। इधर शत्रुनाश तथा यज्ञक म पर होने वाले स्वाभाविक असुराक्रमण का निरोध भी अपेक्षित है। यद्यपि एकादशस पत्ति से त्रिष्टुप के द्वारा इन्द्रक्षत्र का सग्रह होज ा है। तथापि प्रजापति के साक्षात् बाहुवी य से स बन्ध रखने वाले पञ्चदशा मक आयुध का सग्रह नही होता। व काम स पन्द्रह सख्या से

***–अथैतानी द्रभक्ती य तरीक्षलोको माध्यन्दिन सवन ग्रीष्म, स्त्रिष्टुप पञ्च–दशस्तोमो बृहत्साम, य च देवगणा समाम्नाता मध्यमे स्थाने याश्च स्त्रिय ।'**
—या नि ७।१ ।१

पूरा होजाता है। यज्ञ ग्नि क्षात्रधर्म्मानुगत आयुध–स पि स यक्त होजाता है। फल यह होता कि न–वज्ररूप सामिधेनियो के अनुवचन कर्म्मरूप वज्रप्रहार करते समय यजमान जिस शत्रु को नष्ट करने की भावना प्रकट करता है अवश्यमेव वह शत्रु नष्ट होजाता है। यही पञ्चदश सख्या की एक उपपत्ति है ॥ ॥

एक पक्ष की १५ रात्रिया होती है। इसी अर्द्ध मास के परिप्लव से आग जाकर स व सरयज्ञ का स्वरूप स पन्न होता है। जिसने एक पक्ष की रात्रियों का सग्रह कर लिया उसने इस अवयव के द्वारा पूरे सम्वत्सर की रात्रियो का सग्रह करते हुए स व सरस पत्ति ही प्राप्त करली। यह सम्व सरयज्ञस पत की प्राप्ति ही पञ्चदशसख्या का दूसरा फल है।

अवयव अवयवी के बिना अपूर्ण है। असमृद्ध है। साथ ही दशपूर्णमास का प्राकृतिक पक्षाग्नि–सोम से सम्बद्ध है अतएव इस सम्व स का अवयव माना जायगा। इस की पूर्णता के लिए समृद्धि के लिए अवयवी का सम्ब ध अपेक्षित है। वह काम भी इस पञ्चदशसख्या से गताथ होजाता है। यही पञ्च श–सख्या की तीसरी उपपत्ति है।

अग्निहोत्र दशपूर्णमास चातुर्मास्य पशुबन्ध ज्योतिष्टोम ये पाचो वैध यज्ञ क्रमश प्राकृतिक–आधिदैविक–नित्य अहोरात्रयज्ञ पक्षयज्ञ ऋतुयज्ञ अयनयज्ञ सम्वत्सरयज्ञ इन पाच यज्ञों के प्रतिरूप है। दशपूर्णमास क्योंकि प्राकृतिक पक्षयज्ञ के प्रतिरूप है पक्ष में १५ सख्या का समावश है। अतएव यहा १५ सख्या के समावश स उस पक्षयज्ञ की अनुरूपता भी प्राप्त होजाती है। यही पञ्चदशसख्या की चौथी उपपत्ति है ॥ ८ ॥

प्रत्येक गायत्रीछन्द के [त्रिपदागायत्री के] तीन तीन पाद होते हैं प्रत्येक पाद में आठ आठ अक्षर होते हैं सम्भूय एक गायत्री के २४ अक्षर होजात हैं। १५ के स ब ध से १५ गायत्रीछन्दस्क सामिधेनी ऋचाओ के प्रत्येक के २४ के अनपात से कुल ३६ अक्षर होजाते हैं। उधर एक स व सरयज्ञ में ३६ ही अह होते हैं। इस पन्द्रह सख्या से स पन्न गायत्री के ३६ अक्षरों से स व सर के ३६ अहोरात्र समतुलित है। इस रूप से साक्षात् ही स वत्सरयज्ञस पत्ति का सग्रह होजाता है। यही पञ्चदश सख्या की पाचवी उपपत्ति है ॥ ९ ॥

यदि दर्शपूर्णमास में काम्येष्टि अपेक्षित है तो उस समय १५ के स्थान में १ सामिधेनिया होती हैं। धाय्या नामक दो ऋक् मन्त्रों का (जोकि समिध्यमानो अध्वरे –समिद्ध अग्न आहुत इन दोनो मन्त्रों के मध्य में पठित होने से समिध्यमान–समिद्धवती नाम से व्यहृत हुए हैं) समावेश और कर लिया जाता है। इस सत्रह सख्या की यही उपपत्ति है कि इस से सर्वकाम (अभीष्टकाम जिसके लिए कि काम्येष्टि की जाती है) पूर्ण होजाता है। सर्वकामपूर्ति का मूलाधार सर्व–प्रजापति

—– अथास्य कर्म्मरसानुप्रदान वृत्रवधा, या च का च बलकृति रिन्द्रकर्म्मैव तत्' (या नि ७।१ ।२)।

है । भूगभस्थ न्य प्रजापति अनिरुक्त है । इसे ही क नाम से यवहृत किया गया है। न्स के द्रस्थ उक्थ अनिरुक्त प्रजापति का वाग्महिमालक्षण वषट्कार के आधार पर आग जाकर पार्थिव-स व सररूप में अकरूप से वितान होता है। वही न्स का सवरूप है उम ही सवप्रजापति कहा गया है जो कि स नाम स यवहृत हुआ है। सर्वात्मक न्स स व मरप्रजापात के याष्ट–समाष्ट–रूप से दो ववत्त ह। यष्टिरूप इस के अवयव ह समष्टिरूप अवयवी हैं । १२ मास ५ ऋतुए स के अवयव हैं। इन की समाष्ट ही म व सर है। न १ अवयवो से यह प्रजापात सप्त श बना हुआ है का येष्ट से कामपूर्त्ति अपेक्षित है। कामपूरक सप्तदशप्रजापति है न्सप्रकार सप्तदश सामधेनी के अनुवचन स उस सप्तदश कामपूरक प्रजापति का सग्रह होजाता है कामपूर्त्ति होजाती है। यही स तदश सख्या की उपपत्ति है।

काम्येष्टि के देवता का उपाशुरूप से यजन होता है। उपाशुभ व अनिरुक्तभाव का ग्राहक है। उधर अनिरुक्तभाव सवरूप का सग्राहक माना गया है। प्र येक श द की यत्किञ्चित् पथतावच्छे कावा छन्न में ही शक्ति मानी गइ है। न्सीलिए प्रत्येक श द नियत अथ का ही वाचक है। यष्टिरूप से ही वस्तुओ का श द के द्वारा निवचन स भव है। परन्तु समष्टि के लिए सव स द के अतिरिक्त और किसी श द का यव ार नही होता। उप शु अनिरुक्त है अनिरुक्त सवभाव है वही सवकाम यहा अपेक्षित हैं। इसीलिए (सवकामसमृद्धि के लिए ही) यहा उपाशु यजन होता है । उपाशुभाव सर्वा मक अनिरुक्तभाव का ही सग्राहक है यही ता प य है। इसके साथ ही श्रुति लोकदृष्टि से यह भी शिक्षा द रही है कि यदि तुम अपने काम्यक म की सिद्धि अपेक्षित तो तत्साधक कम्म का उपाशुरूप से (चुपचाप–बिना किसी स कहे सुने) ही अनुगमन करना चाहिए। लौकिक काम्य क म हो अथवा शास्त्रीय उस का घण्टाघोष करने से क म निरुक्त बनता हुआ अनिरुक्त आत्मप्रजापति की शक्ति से वञ्चित होजाता है। वागि द्रय का प्रजापति मे स बन्ध नही है जसा कि— **स प्रजापतिमनस एवानुवाच । तस्माद्यत् किञ्च प्राजाप य यज्ञ क्रियते उपाश्वेव तत् क्रियते । अह्न्यवाद्धि वाक् प्रजापतय आसीत्** (शत १।४।५।१२।) इ यादि रूप से आग विस्तार से बतलाया जान वाला है। यह विश्वास करने योग्य है कि जो यक्ति अपने कम्म का वागिन्द्रिय से बखान करने लग जात हैं व आत्मसहयोग खोते हुए कम्मसमृद्धि से सवथा वञ्चित ही होजात हैं। **सचमुच प्रदशन ही काय्यसिद्धि का अ यतम शत्रु है।।१ ।।**

दशपूर्णमास के स बन्ध में कितने ही याज्ञिक २१ सामिधेनियो का अनुवचन आवश्यक मानते हैं। इस की उपपत्ति व यह बतलाते है कि १ **मास ५ ऋतुए ३ लोक** इसप्रकार सम्व सरयज्ञ के २ वष हैं। २१ वा स्थय सूय्य है। यही स म त सरयज्ञ की अ तिम गात तथा प्रात ठा है। यदि यहा भी २१ सामिधेनियो का अनुवचन होगा तो २ सख्या स । त सममतुलित उक्त मासा द २ त व सरपर्वो का सग्रह होजायगा एव २१ वी के अनुवचन से सूय्यप्रात ठा प्रा त होजायगी ।।११।।

परमवैज्ञानिक याज्ञवल्क्य उक्त उपपत्ति का उपहास करते हुए कहते है कि जो यजमान सवथा श्रीशू य है अप्रति ठत है उसीके लिए २१ का अनुवचन करना चाहिए। अर्थात् जो ऐसा होगा वही सूय पनी श्री की कामना से २१ का समथन करेगा। भला ऐसा श्रीशून्य यजमान दशपूर्णमास का आरम्भ

ही क्यो क गा ? । सके लिए तो काम्येष्टि ही पर्याप्त होजायगी । काम्येष्टि से जब गत-श्रीभाव का अ जन होसकता है तो फिर उस प्रतिष्ठा के लिए यह महाप्रयास निरर्थक है । साथ ही सामा यस्थिति में रहने वाला यजमान यदि २१ का अनुगमन करेगा तो स से इस में को विशेषता ही आएगी । सूर्य्यप्रति ठा का आकर्षण तो योतिष्टोमयज्ञ पर ही अवलम्बित है । हा यह बहुत सम्भव है कि गतिलक्षणा सूर्य्यस पत्ति की भावना स यजमान अपनी रही सही श्री भी और खो बैठे । इसलिए ऐसी उपपत्ति बतलाकर २१ का पक्ष स्थापन करना केवल विचार ही विचार समझना चाहिए । वस्तुत इनका अनुवचन पद्धति-विरुद्ध है ॥१२॥

मूलनुवाद में बतलाया गया है कि **प्र वो वाजा** इ यादि प्रथम ऋचा का तथा- **आजुह्वोता दुवस्यत** इ यादि अ तिम ऋचा का त्रिरावृत्ति से (तीन तीन बार) उ चारण होता है । इस त्रिरावृत्ति स जहा त्रिवृत् प्राय ीय त्रिवृत्-उदयनीय-यज्ञ की स्वाभाविक त्रिवृत् स पत्ति का सग्रह होजाता है वहा इसी त्रिवृद्भाव से लोकत्रयस तान-स पत्ति तथा प्राणत्रयसन्तान-स पत्ति भी प्राप्त होजाती है । निदानेन यह त्रिरावृत्त त्रिच लोकत्र ी त ा आ यात्मिक-प्राणत्रयी का प्रतिरूप है । प्रकृति में तीनो लोक एक ही पृथिवी-लोक के तीन वितान हैं । वही पार्थिव अग्नि वषट्कारम र्यादा से **त्रिवृत् पञ्चदश एकविंश**-स्तोमरूप से तीन लोकों के वितान का कारण बना हुआ है । एक के ही तीन परस्पर बद्ध वितान है । इसीप्रकार **अपान यान-प्राण** तीनो आ यात्मिक प्राण क्रमश स्तौम्यत्रिलोकी के **पृथिवी अ तरिक्ष-द्यौ**-लोकों के **अग्नि वायु आदित्य** से स ब ध रखत हुए एक ही के तीन स तत परस्परबद्ध-अविच्छिन्नरूप है । जब कि आधि दैविक लोकत्रय तथा आ या मिक प्राणत्रय एक ही के तीन वितान है साथ ही तीनो वैतानिकरूप एक दूसरे से बद्ध तथा वि छेदरहित है तो तत्प्रतिरूपभूता न दोनो आद्य त की त्रिचो में भी उसी स तत अविच्छिन्न सम्पत्ति का समावेश करना ही चाहिए । तभी इस से उनका समतुलन होगा एव तभी उस से समतुलित इन के द्वारा लोक प्राण स पत्तिया प्राप्त होसकगी । एकमात्र इसी प्रयोजन के लिए आद्य त की दोनों त्रिचों का एक ही श्वास में बिना ऋङ्म य में अथ । ऋगन्त में विश्राम लिए उ चारण होता है ॥१३॥

जो याज्ञिक यह कहते हैं कि जब एक श्वास में तीनो का उ चारण नही होसके तो क्या किया जाय ? । अपनी शक्ति से ही तो उ चारण होगा । इसलिए जहा श्वास टूटता हो वही विश्राम लेते हुए स्वशक्त्यनुसार ही अनुवचन कर लेना चाहिए । इस में को दोष नही है । उन याज्ञिकों से हमारा (याज्ञव क्य का) यही कहना है कि अभी व प्राकृतिक यज्ञस्वरूप के परिज्ञान से वञ्चित हैं । उन्हे यह नहीं भुला देना चाहिए कि यज्ञ एक प्राकृतिक कर्म्म है । इस म अपने बुद्धिवाद एव तदनुगता अपनी क पना का को मह व नही है । यदि ऋङ मध्य में विश्राम कर लिया जायगा तो न लोकस पत्ति प्राप्त होगी न प्राणस पत्ति । क्योकि म यविश्राम में इन त्रिचों का उन त्रयीभावों से समतुलन ही नही होगा । अत ऋङ्म य-विश्रामपक्ष को सवथा अवज्ञानिक ही समझना चाहिए ॥१४॥

यदि होता तीनों का एकसाथ एकश्वास म उ चारण न करसके तो कर्म्मेतिकर्त्तव्यता कैस पूरी की जाय ? यह विप्रतिपत्ति उठाई जाती है । ऋङ्म य में विश्राम करना सवथा दोषावह है । ऐसी परिस्थिति में एक एक ऋचा पर विश्राम कर लेने से यथाकथञ्चित् निर्वाह किया जासकता है । तीनो लोक तीनों प्राण एक ही के तीन विवर्त्त बनत हुए भी स्वतन्त्र लोक तथा स्वतन्त्र प्राण हैं । यष्टि-दृष्टि से तीनों पृथक

पृथक भी हैं। इसलिए एक एक पर विश्राम करने से भी काम चल सकता है। परन्तु-श्रृ-्म य में विश्राम करना तो सवथा ही श्रनपेक्षित है।

श्रथवा एकैकानुवचनपक्ष में एक एक ऋचा से भी तीनो लोक स पत्तियो का सग्रह किया जासक्ता है। प्रत्येक सामिधेनी-मन्त्र गायत्रीछन्द के स बध से त्रिपदान्वित है। एक एक प को एक एक लोक का सग्राहक माना जासकता है। तीनो पदो के **अनवानन्** (एकश्वास से) उच्चारण से तीनो लोकसम्पत्तिया प्राप्त होमकर्ता हैं। श्रब प्रश्न बच जाता है-प्राणस धान का। इसका समाधान गायत्री कर रही है। तीन पदों की समष्टि एक गायत्री है। श्राग्नेय-प्राणानुगता गायत्री प्राणात्मिका मानी गई है। एक गायत्री पूर्ण एक प्राण है जिस के गभ में तीन पदो के सम्बन्ध से तीनो प्राण विद्यमान हैं। इस से प्राणत्रयी सम्पत्ति का भी आधान होजाता है। इसप्रकार त न पदों से लोकत्रयी का त्रिपदा कृत्स्ना गायत्री से प्राणत्रयी का सग्रह होजाता है। इसदृष्टि से एक एक पक्ष में लोक-प्राण युग्मो की स तति सम्प्राप्त का सग्रह होजाता है। श्रत इस **एकैकामेवाननवानन्** पक्ष को तो फिर भी माना जासकता है। परन्तु श्रृ म य में विश्राम करना तो सवथा ही दोषावह है ॥१५॥

कहा गया है कि गायत्रीछन्दस्का १५ सामिधेनिया श्रक्षर-सम्बन्ध से सम्वत्सर के श्रहोरात्रो की सग्राहिका बन रही हैं। सम्वत्सर के श्रहोरात्र परस्पर बद्ध से विच्छेदरहित-बन कर ही रात-दिन-**दिन-रात** इस क्रम से चक्रवत् घूमते रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक है कि १५ हो सामिधेनी मन्त्रो को एक साथ परस्पर सम्बद्ध बना कर ही उच्चारण किया जाय। ऐसा न हो कि एक मन्त्र बोल लिया इतस्तत देखने लगे थोडा समय निकल गया इसप्रकार विच्छेदपूवक १५ हो का श्रनुवचन पूरा किया। जब प्रकृति मे श्रहोरात्र विच्छेदरहित हैं तो तत्स्थानीय इन १५ हों का भी विना इधर उधर देखे क्रमबद्ध एक के बाद दूसरी तीसरी स क्रम से स ततरूप से ही उच्चारण करना चाहिए। यदि ऐसा न कर विच्छेद डाला जायगा तो श्रहोरात्र की सन्तत-स पत्ति तो प्राप्त नही ही होगी साथ ही शत्रुप्रवश का श्रवसर श्रौर मिल जायगा। श्रहोरात्रस पत्ति यजमान की श्रपनी भोग्या सम्पत्ति है। इसमें विच्छेद डालना शत्रु को दायादभोक्ता (हिस्सेदार) बनाने का श्रवसर (उपस्थान) देना है। ऐसी छिद्रानुगता भोग्य-स पत्ति शत्रु की दृष्टि में आजाती है। श्रत सामिधेनियो का सन्तत ही श्रनुवचन होना चाहिए ॥१६॥

तीसरे श्रध्याय मे पाँचवाँ, एव तीसरे प्रपाठक मे दूसरा ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण श्रत्र उपरत

—१—

—*—

तीसरा श्रध्याय समाप्त

३

—*—

चतुर्थ अध्याय उपक्रान्त

४

---*---

चौथे अध्याय मे पहिला, एव तीसरे प्रपाठक मे तीसरा ब्राह्मण सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत दूसरा ब्राह्मण

—२—

---*---

आग्नेयी सामिधेनी गायत्रीछन्द ११ मूलसख्या आद्यन्त के मन्त्रो की त्रिरावृत्ति पञ्चदश सख्या कामयष्ट्यनुगता सप्तदश सख्या आद्यन्त के दोनो त्रिचो का एकश्वास मे उच्चारण १५ हो सामिधेनी मन्त्रों का सन्तत-अविच्छिन्न उच्चारण इन विशेषधर्मों से क्रमश अग्नि स्वरूप-प्राप्तिपूर्वक ब्रह्मवीर्य्याधान प्रातिस्विक गायत्रवीर्य्याधान स्वान्वीर्य्याधान प्रायणीयोदयनीयानुगता यज्ञियत्रिवृत्सम्पत्तिसग्रह वज्रसम्पत्ति-रात्रिसम्पत्ति अह सम्पत्ति अनिरुक्तानुगता सर्वसम्पत्तिसग्रह लोक-प्राणसम्पत्तिसग्रह अहोरात्र की अनन्यभोग्यता इन फलो का सोपपत्तिक निरूपण ही पूर्वब्राह्मण के परिगणित विषय है। अब सामिधेनियो के सम्बन्ध में ही सामात्मिका एक विशेषता बतलाते हुए इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण किया जाता है।

जिस प्राकृतिक यज्ञ से सम्पूर्ण प्रजा की उत्पत्ति हुई है वह प्राकृतिक यज्ञ सत्य पर ही प्रतिष्ठित है। इसी सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थो में एक आख्यान आया है—

प्रजापति की सन्तान होने से 'प्राजापत्य' इस उपनाम से प्रसिद्ध देवता और असुर दोनो पिताप्रजापति के दाय (सम्पत्ति) का विभाग कराने की इच्छा से प्रजापति के समीप प्रणतभाव से (देवता) एव अधिकार भावना से (असुर) उपस्थित हुए। प्रजापति के दायादकोश (निजी साञ्चित सम्पत्ति) अपनी सत्य और अनृत नाम की वाङ्मयी सम्पत्ति ही प्रधान थी। प्रजापति ने आधा सत्य, आधा अनृत तो देवताओं मे बाँट दिया एव आधा सत्य तथा आधा अनृत असुरों मे बाट दिया। देवताओंने चाहा कि अपने भाग का आधा अनृत यदि असुर लेलें तत्स्थान मे अपना आधा सत्य अपने को देदें तो बडा अच्छा हो। इसीप्रकार असुरोंने भी यही चाहा कि अपने को जो आधा सत्य मिला है वह देवता लेलें और बदले मे आधा अनृत हमे देद तो बडा अच्छा हो। आगे जाकर ऐसा ही हुआ। फलत देवताओं के दायाद मे सम्पूर्ण सत्य आगया एव असुरों के दायाद मे सम्पूर्ण अनृत आगया।

अपन इस कृत्स्न सत्य को प्राप्त कर देवताओं ने यह निश्चय किया कि अपन यज्ञ कर के इस सत्य का त्रैलोक्य में फलाव। देवताओं ने ऐसा ही किया। जिस यज्ञ के आधार पर देवताओं ने वाक्सत्य का वितान किया था वह वाक् सत्य यही त्रयीविद्या है (शत० ।४।१ ब्रा०)।

उक्त आख्यान की वैज्ञानिक- व्याख्या की ओर न जाते हुए प्रकृत में इस से यही बतलाना है कि सत्य और यज्ञ का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यज्ञ से ही सत्य का वितान होता है एवं सत्य के आधार पर ही यज्ञकर्म्म सम्पादित होता है। यह सत्यतत्त्व श्रुति के शब्दों में ही— ऋक यजु-सामात्मिका त्रयीविद्या ही है। इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि त्रयीवेद ही यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है जिस तत्त्वात्मिका त्रयीविद्या का शब्दात्मक वेदग्रन्थों में निरूपण हुआ है।

ऋक् यजु-साम तीनों तत्त्वों के आधार पर ही प्रजापति यज्ञ करने में समर्थ हुए हैं। ऋक वेद से अग्नितत्त्व का यजु से वायु का तथा साम से आदित्य का आविर्भाव हुआ है। त्रयीवेदोत्पन्न अग्निवाय्वादि देवताओं का परस्पर सङ्गम ही यज्ञ है *।

प्रत्येक वस्तुपिण्ड एक एक स्वतन्त्र यज्ञसंस्था है। इस प्रत्येक यज्ञसंस्था में पद पुनःपदम् भेद से दो दो पद है। स्वयं वस्तुपिण्ड पदम् है एवं वस्तुपिण्ड के केन्द्र से प्राणरूप से निकल कर वस्तुपिण्ड के चारों ओर बड़ी दूर पर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखने वाला बहिर्मण्डल उस वस्तुपिण्ड का पुनःपदम् है। इसी पुनःपद को महिमामण्डल साहस्रीमण्डल वषट्कारमण्डल विश्वरूप आदि नामों से व्यवहृत किया गया है।

प्रत्येक वस्तुपिण्ड को वस्तुपिण्ड वस्तुमहिमामण्डल एवं पिण्ड मण्डलान्तर्गत वस्तुतत्त्व भेद से तीन भागों में विभक्त किया जासकता है। पिण्ड भी कोई सत्तासिद्ध वस्तु नहीं है अपितु आकारमात्र है। मण्डल भी कोई सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं है अपितु आकारमात्र है। जिस का यह पिण्ड है जिस का यह मण्डल है पिण्ड तथा मण्डल में पिण्डायित मण्डलायित वही तत्त्व सत्तासिद्ध पदार्थ है। पिण्डात्मिका सीमा अन्तःसीमा है एवं मण्डलात्मिका सीमा बहिःसीमा है। इन दोनों सीमाओं से पिण्ड मण्डल-गत वस्तुतत्त्व सीमित बना हुआ है। पिण्डसीमा ही जिसे कि हम मूर्त्ति कहेंगे ऋग्वेद है। मण्डलसीमा को ही सामवेद कहा जायगा एवं उस तीसरे सीमित सत्तासिद्ध वस्तुतत्त्व को यजुर्वेद कहा जायगा। इसप्रकार इस त्रयीदृष्टि से प्रत्येक वस्तु मे त्रयीवेद की उपलब्धि होरही है। दूसरे शब्दों में त्रयीविद्या के गर्भ में ही सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों की उपलब्धि होरही है जैसा कि- त्रय्या वाव विद्यायाः सर्वाणि भूतानि (शत० १०।४।२।२२) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित हैं।

ऋग्वेद छन्दोवेद है सामवेद वितानवेद है एवं यजुर्वेद रसवेद है जैसा कि उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकादि में विस्तार से प्रतिपादित है। छन्दो-लक्षण ऋग्वेद मूर्त्ति का निर्म्मापक है। वितानलक्षण सामवेद मूर्त्तिमण्डल-लक्षण बाह्य तेजोमण्डल का स्वरूपसमर्पक है एवं रसलक्षण

*— अग्नि वायु रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृगयजुःसामलक्षणम् (मनु)।

यजुर्वेद मूर्त्तिमण्डलान्तवर्त्ती रसात्मक गतिभाव का प्रवर्त्तक है *। इस तात्त्विक वेदस्वरूप विवेचन से निष्कर्ष यही निकला कि वेदत्रयी के आधार पर जिस यज्ञ की स्वरूप-निष्पत्ति बतलाई गई है उस का प्रधान स्थान बहिर्मण्डलात्मक वितानलक्षण सामवेद ही बन रहा है।

पूर्व में साम का आदित्य से सम्बन्ध बतलाया गया है। पाठकों को सम्भवतः यह भी स्मरण होगा कि हमने पूर्वब्राह्मण के विवेचना-प्रकरण में **स्वरविज्ञान** का स्पष्टीकरण करते हुए यह बतलाया था कि **स्वर का आदित्य से सम्बन्ध है एवं स्वर्लोकस्थ दिव्यप्राणदेवता भी स्वरात्मक ही हैं। इन स्वरात्मक प्राणदेवताओं का परस्पर यजन ही यज्ञ है।** स्वरतत्त्व आदित्यात्मक है, आदित्य सामात्मक है। फलतः **स्वर और साम** की एकरूपता सिद्ध होजाती है। **पिण्डात्मिका ऋक् यदि पद्यस्थानीया है, मध्यस्थित यजु यदि गतिधर्म्म से गद्यस्थानीय है, तो मण्डलात्मक साम इसी वितानात्मक स्वरभाव से गेयात्मक है। वितान ही गान है, गान ही साम है, साम ही तत्तद्वस्तु महिमा-मण्डल की अवसान भूमि है।**

केन्द्र से बाह्य परिधि-पर्य्यन्त वर्तुलवृत्ताकारात्मक सहस्र मण्डल होते हैं। अतएव सामतत्त्व सहस्र-वर्त्मा कहलाया है। इस सहस्रवर्त्मा साम के उस स्वरूप का हमें विचार करना है जिस की सीमा के गर्भ में पार्थिव सम्वत्सरयज्ञ प्रतिष्ठित हैं। इस सम्वत्सरयज्ञ का वितान भूपृष्ठ से आरम्भ कर २१ एकविंशस्तोम पर्यन्त होता है। २१ स्तोमपर्य्यन्त पार्थिव मण्डल ही **रथन्तरसाम** कहलाया है। **त्रिवृदग्नि, पञ्चदशवायु, एकविंश आदित्य** ये मुख्य देवता, **अग्निप्रमुख आठ वसुगण, वायुप्रमुख ११ रूद्रगण, आदित्यप्रमुख १२ आदित्यगण, १ प्रजापति, १ वषट्कार,** ३३ प्राणदेवता यज्ञियदेवता कहलाए हैं —। इन यज्ञिय देवताओं से ही यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। यह यज्ञमण्डलात्मक महिमामण्डल उभयतः—परितः—उसी वितानात्मक साम से परिगृहीत है।

दूसरी दृष्टि से सामव्याप्ति का विचार कीजिए। पार्थिव सामपृष्ठों को **हृद्यपृष्ठ, स्पृश्यपृष्ठ (भूपिण्ड) त्रिवृत्पृष्ठ, पञ्चदशपृष्ठ, सप्तदशपृष्ठ, एकविंशपृष्ठ, पारावतपृष्ठ,** मे से सात भागों में विभक्त किया जासकता है। ये सातों पृष्ठ सामपरिभाषा में क्रमशः **हिंकार, प्रस्ताव, आदि, उद्गीथ, प्रतीहार, उपद्रव, निधन** इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। यदि त्रिवृत् का स्पृश्यपृष्ठ में अन्तर्भाव करलिया जाता है, तो त्रयस्त्रिंशपृष्ठ एक स्वतन्त्र पृष्ठ बन जाता है। उस समय **हृद्यपृष्ठ, त्रिवृदन्त स्पृश्य, दृश्यपृष्ठ, सप्तदशपृष्ठ, एकविंशपृष्ठ, त्रयस्त्रिंशपृष्ठ, पारावतपृष्ठ (अष्टाचत्त्वारिंशत्पृष्ठ)** इस क्रम से सात पृष्ठ

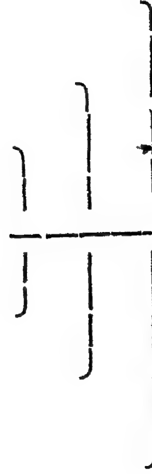
---

* 'ऋग्भ्यो जाता सर्वशो मूर्त्तिमाहुः सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत् सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्' ॥
—तै० ब्रा० ३।१२।६।१२।

— इति स्तुतासो असथा रिशादसो येस्थ त्रयश्च त्रिंशच्च।
मनोर्देवा यज्ञियास" । [८।३ ।२।]।

होजाते है। यदि हृद्यपृष्ठ का भूपृष्ठ म अन्तर्भाव मान लिया जाता है तो त्रिणव के समावेश से सात पृष्ठ होजाते है। इसप्रकार **लोकेषु सप्तविध सामोपासीत** इस अनुगमवचन का तीन प्रकार से समन्वय किया जासकता है।

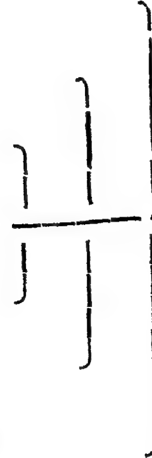
१—हृद्यपृष्ठ (केन्द्र)—हिङ्कार—
२—स्पृश्यपृष्ठ (भूपिण्ड) प्रस्ताव—
३—त्रिवृत्पृष्ठ (६)—आदि
४—पञ्चदशपृष्ठ (१५) उद्गीथ—
५—सप्तदशपृष्ठ (१७) प्रतीहार
६—एकविंशपृष्ठ (२१) उपद्रव—
७—पारावतपृष्ठ (४८)-निधन——



* "इत्थ सप्तविध सामोपासीत"

—*—

१—हृद्यपृष्ठ—(केन्द्र)—हिङ्कार
२—त्रिवृदन्तर्भूपृष्ठ (६)—प्रस्ताव
३—पञ्चदशपृष्ठ (१५)—आदि
४—सप्तदशपृष्ठ (१७)—उद्गीथ
५—एकविंशपृष्ठ (२१)—प्रतीहार
६—त्रयस्त्रिंशपृष्ठ (३३)— उपद्रव
७—अष्टाचत्वारिंशत्पृष्ठ (४८)—निधन



*"इत्थ वा सप्तविध सामोपासीत"

—*—

१—हृत् त्रिवृद तभू पृष्ठ हिङ्कार—
२—पञ्चदशपृष्ठ— प्रस्ताव
३ —सप्तदशपृष्ठ— आदि
४—एकविंशपृष्ठ—उद्गीथ— —*"इत्थ वा सप्तविध सामोपासीत"
५—त्रिणवपृष्ठ—प्रतीहार
६—त्रयस्त्रिंशपृष्ठ— उपद्रव
७—अष्टाचत्त्वारिंशतपृष्ठ निधन

——*——

१—भूपृष्ठ——हिङ्कार—
२— त्रिवृत्पृष्ठ प्रस्ताव
३—पञ्चदशपृष्ठ आदि
४ सप्तदशपृष्ठ उद्गीथ — —*"इत्थ वा सप्तविध सामोपासीत"
५—एकविंशपृष्ठ प्रतीहार
६—त्रिणवपृष्ठ उपद्रव
७—त्रयस्त्रिंशपृष्ठ-निधन—

——*——

उक्त साम विपर्त्तों की विवचना की ओर न जाते हुए प्रकृत मे हमें केवल यही बतलाना है कि सामत व ी प्रकृति यज्ञ की प्रति ठा है। इस साममण्डल की उस उक्थ हृद्य बिदु को जहाँ से प्राणा मक साम का प्राथमिक उदय होता है ऋषियोन **हिङ्कार** नाम से ववहृत किया है। एव तद यवहित प्रदेश में प्रतिष्ठित उपक्रम बि दु को— प्रणव नाम से व्यवहृत किया है। हिङ्कारा मक यही प्रणवसाम स तदश स्थान में **उद्गीथोङ्कार** रूप में परिणत होता है। एव सर्वा त में यही सवरूप में परिणत होता हुआ **सर्वाङ्कार** कहलाया है। इसप्रकार हिङ्कारा मक प्रणवसाम के ग्रहण से स पूण साम गृहीत होजाता है।

अब सक्षेप से सङ्गीतदृष्टि से भी हिङ्कारात्मक साम की मीमासा कर लीजिए। **नाद स्वर श्रुति** श दादि भेद से सङ्गीत के अनेक पर्व माने गए ह। न म **नाद ही सङ्गीत की सबमूलाभित्ति है। ना ब्रह्म क आधार पर ही श्रुति का उत्थान होता ह। श्रुति के द्वारा ही स्वर का आविर्भाव होता ह एव स्वर ही आग जाकर श दाभि यक्ति का जनक बनता है।**

सङ्गीतानुगत-नाद श्रुति स्वर-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

——*——

सामानुगत **हिंकार** के समन्वय प्रसङ्ग में **नाद-श्रुति स्वर** भावो से समा वत उस **सङ्गीत** की स्वरूप-मीमासा का भी हमे दो श दो म यशोगान कर लेना चाहिए जिस इ थभूत **सङ्गीत** को **आ मबुद्धि** से समा ता सवि **मूला निष्ठा** से असस्पृष्ट ही मानते हुए ऋषिप्रज्ञा ने आ मबुद्धिनिष्ठा प्रधान एतद् शीय **ब्राह्मण** के लिए तो सर्वा मना नियन्त्रित ही कर दिया है जसाकि- **तस्माद ब्राह्मणो न नृ येत न गायेत** यादि श्रौत स दम से स्पष्टतमरूपेण प्रमाणित है। इस प्रमाणन का कारण भी स्पष्टतम है। प्रकृति के ता त्विक स्वरूप के परीक्षक वैज्ञानिक महर्षियोने मानवीय मन का एक प्रधान दोष माना है **आग्ला** एव मानवीय शरीर का एक प्रधान दोष माना है **मा य**। एव **गायन नर्त्तन वाद्यात्मक सङ्गीत** मे येन केन रूपेण ये दोनो दोष न्यूनाधिकमात्रा स सन्निविष्ट रहत ही हैं। इन दोनो स-क्रमश मनोऽनुगत-**आ ला** दोष से तो मानवीय **आ मा** की चि तन निदिध्यासन मूला **सवित्** शक्ति अभिभूत होजाती है एव शरीरानुगत **मा य** दोषसे मानवीया बुद्धि का निष्ठानुगत व्यवसाया मक **धृतिगुण** अभिभूत होजाता है। **माल्यदोष** को सङ्गीत के **नृत्यविभाग** में समाविष्ट माना गया है जिस **नृ याङ्ग** का प्रधानरूप के शरीर से ही स ब ध है। एव **आग्लादोष** को सङ्गीत के **गायनविभाग** में समाविष्ट माना गया है जिस **गायनाङ्ग** का प्रधानरूप स मन से ही सम्ब ध माना गया है।

दोनो दोषो के स्वरूप के सम्ब ध में बात कुछ समझने जसी है। प्रकृतिसिद्ध पञ्चपर्वा प्राकृत-विश्व के सुप्रसिद्ध **च द्रमा** से तो मानवीय **मन** का स्वरूप निर्म्माण हुआ है एव **भूपिण्ड (पाञ्चभौतिक-भूपिण्ड)** स मानवीय **शरीर** की स्वरूप-नि पत्ति हुई है। चा द्र मण्डल **सौम्य-ग धर्व-प्राण** की आवासभूमि माना गया है एव पार्थिव मण्डल **अद य प्रथिवी** रूप से आ यप्राणा मक **अ सराप्राण** की आवासभूमि माना गया है। मनोऽनुगत चान्द्र ग धर्वप्राण ही गायन का प्रवर्त्तक है एव शरीरानुगत पार्थिव अ सराप्राण ही नर्त्तन का प्रवर्त्तक है। **हास परिहास आमोद प्रमोद क्रीडा रति** आदि आदि मन -शरीर-निब धन यच्चयावत् कामभोग चा द्र-पार्थिव ग धर्व तथा अप्सरा प्राणो स ही अनुप्राणित माने गए है जसाकि नि न लिखित कतिपय श्रुतिवचनो स स्पष्ट प्रमाणित है—

(१)-मनोविभूतय —

१—असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमा (कौ ब्रा उप ४।७।१)।

२—च द्रमा ग धर्व (यजु स १८।४)-(शत ६।४।४।६।)।

३—रूपमिति ग धर्वा -उपासते (शत १ ।५।२।२।)।

४—योषित्कामा वै गन्धर्वा (शत ३।२।४।३।)।
५—स्त्रीकामा वै गन्धर्वा (ऐ ब्रा १।२७।)।
६—मनो मे, रेतो मे, पुन सम्भूतिर्म्मे तन्मे त्वयि चन्द्रमसि (जै उ ब्रा ३।२७।१४)।
७—गन्धो मे मोदो मे, प्रमोदो म, तन्म युष्मासु गन्धर्वेषु (जै उ ब्रा ३।२५।४।)

(२)–शरीरविभूतय —

१—इय वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा (यजु स ३४।४।) शत १४।१।२।१
२—अद्भ्य पृथिवी (तै उप २।१।)।
३—गन्ध इत्यप्सरस –उपासते (शत १ ।५।२।२ ।)।
४—किन्तु मेऽस्मासु अप्सरस्सु इति ?–हासो मे, क्रीडा मे, मिथुनम्मे (जै उ ३।२५।८।)।
५—गन्धेनैव च रूपेण गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति (शत ६।४।१।४।)।

चान्द्रमनोऽनुगत गन्धर्वप्राण एव पार्थिवशरीरानुगत अप्सराप्राण इन दोनो प्राकृतिक प्राणो के आधार पर सुप्रसिद्ध तुम्बुरु तथा गन्धर्वजायन्नुगत– नारद (पारमेष्ठय आपोमय नार प्रवर्त्तक प्राण) नामक ऋषिप्राणो के समन्वय से ही नृत्य गीत वाद्यात्मक मन शरीरनिबन्धन सङ्गीत का अविर्भाव हुआ है। तुम्बुरु ऋषिप्राण का आद्यक्षर त कार नारद ऋषिप्राण का आद्यक्षर न कार एव ऋषि का आद्यक्षर कार इन तीनों त न र अक्षरो की समष्टि इसी तथ्य के आधार पर सङ्गीतविशारदों के सङ्गीतोपक्रममें माङ्गलिक सस्मरण बन रही है जसाकि त न न-रीम् –त–न न रीम् – (त –तुम्बुरु न नारद र ऋषि — अर्थात् तुम्बुरु नारद नामक सङ्गीतस्वरप्रवर्त्तक ऋषियों का सस्मरण करके ही हम सङ्गीत आरम्भ कर रहे हैं)—इत्यादि से प्रसिद्ध है।

गन्धर्वप्राणात्मक मन के साथ प्रधानरूप से तुम्बुरुप्राण का सम्बन्ध है एव अप्सराप्राणात्मक शरीर के साथ प्रधानरूप से– नारदप्राण का सम्बन्ध है। पाञ्चभौतिक पार्थिव–शरीर के केन्द्र में चित्य (मर्त्य-मूत) चितेनिधेय (अमृत–प्राण) समन्वयात्मक – अमृत मृत्युमय * आग्नेय प्रजापति

---

* अर्द्ध ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्"
—शतपथब्राह्मणे
अमृत चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !" (गीतायाम्)।

प्रतिष्ठित माने गए है जैसाकि— प्रजापतिश्चरति गर्भे अ तरजायमान इत्यादि यजु श्रुति से प्रमाणित है । इस केन्द्रस्थ आ नय-पार्थिव प्रजापति का प्राणमहिमात्मक मण्डल ही वह नादमण्डल है जिस के गर्भ म श्रुति तथा स्वरात्मक-सङ्गीत अभिव्याप्त रहता है जिस स नाद श्रुति-समन्वयात्मक सङ्गीत मे न्द्य प्राजापत्य अग्नि (कायाग्नि) मन वाय यप्राण तदनुप्राणित उदात्त अनुदात्त-स्वरित नामक स्वर (मन्द-मध्य तार नाम की स्वरत्रयी) ए व्यञ्जनात्मिका ध्वनिभावापेता वैखरीवाक् ये भाव समन्वित र त हैं जिनके स्वरूप समन्वय के लिए सङ्गीतशास्त्र के सुप्रसिद्ध इन पद्यो की ओर हो सङ्गीत-प्रेमियो का ध्यान आकर्षित किया जारहा है—

चैत य सर्वभूताना विवृत्त जगदात्मना ॥
नादब्रह्म' तदान दमद्वितीयमुपास्महे ॥१॥
नादोपासनया देवा ब्रह्म विष्णु महेश्वरा ॥
भव त्युपासिता नून यस्मादेते तदात्मका ॥२॥
आत्मा विवक्षमाणोऽय मन प्र रयते मन ॥
देहस्थ वह्निमाहन्ति स प्र रयति मारुतम् ॥३॥
ब्रह्मग्रन्थिस्थित सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन् ॥
नाभि हृत् कण्ठ मूर्द्धा-स्ये-ष्वाविर्भावयते ध्वनिम् ॥४॥
नादोऽति सूक्ष्म सूक्ष्मश्च पुष्टो ऽपुष्टश्च कृत्रिम ॥
इति पञ्चाभिधा धत्ते पञ्चस्थानस्थित क्रमात् ॥
''न -कार प्राण' नामान ' द -कार 'अनल विदु ॥
जात प्राणाग्निसयोगात् तेन नादोऽभिधीयते ॥६॥
व्यवहारे त्वसौ त्रेधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते ॥
कण्ठे मध्यो, मूर्ध्नि तारो, द्विगुणश्चोत्तरोत्तर ॥७॥
शाङ्गदेवविरचिते सङ्गीतरत्नाकरे स्वराध्याय—

ज्ञानजनित-भावना-सस्कारपुञ्जो से तथा कर्मजनित-वासना-सस्कारपुटो से पुञ्जीभूत एव सम्पुटित कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा देही (जीव नामक आत्मा) अपनी सौरी बुद्धि के साथ समन्वित होकर ही मानव की प्रारब्ध-कर्म्मजनिता ऐहलौकिकी जीवनयात्रा का अभिगन्ता बना रहता है । इत्थभूत भोक्तात्मा से समन्विता प्रेरणात्मिका बुद्धि के प्रेरणाबल को अपना आधार बना कर चान्द्र सौम्य प्राणात्मक मानवीय मन इन्द्रियो के माध्यम से भोक्तात्मा के जन्मान्तरीय शुभ अशुभ-सस्कारो के अनुपात से ऐन्द्रियक-भौतिक अर्थों विषयो की कामना करता रहता है जिस इस अर्थकामना (विषयकामना) को हम आत्मा की इच्छा कह सक्ते ह

एव मन की इच्छा कह सकते हैं। वस्तुग या **आ मा** (आ मानुगत सस्कार) बुद्धि (सस्कारप्र रिका बुद्धि) एव **मन** (इन्द्रियमा यम से आ मसस्क रानुगता बौद्धिकी प्र रणा को अभि यक्त करने वाला विषयानुगत मनो यापार) इन तीनो की समन्विताबस्था को ह हम **मानव की इच्छा** कह सकते है । अथवा यो कह लीजिए कि आ मेच्छा पहिले बुद्धि में स क्रान्त होती है बुद्धि के रा वही सास्कारिकी इच्छा मन पर आती है एव मनोद्वार से इस का अनुधावन इन्द्रियो के प्रति होता है।

अपनी त गोक्ता मानसेच्छा का ही परिणाम **श दोपत्ति** माना गया है जिस का नि कष यही है कि आ मबुद्धि से समान्वता अर्थानुगता मानसेच्छा का प्रथम प्रथम उस शारीरिक–अग्नि पर ही आघात हो । है जो प्राणा न पाञ्चभौतिक शरीर में आलोम य आनखाग्र य (केशलोमो को तथा नख के अग्रभागो को छोड कर सर्वाङ्ग शरीर में) परिव्याप्त रहता है एव जिस का– **वैश्वानराग्नि** रूप से उपनिषदो में स्वरूप–निरूपण हुआ है **आ यो द्या भा या पृथिवीम् वैश्वानरो यतते सूर्येण** के अनुसार जस आधिदैविक वैश्वानराग्नि भूकेन्द्र से आरम्भ कर सूर्य पर्य त अभिव्याप्त है तथव तदशभूत यह आ यामिक–वश्वानर–अ नि भी भूकेन्द्रामिका ब्रह्मग्रथि से आर भ कर सू यकेन्द्रा मक ब्रह्मर ध्र पर्यन्त परि या त है। पार्थिव–पञ्चभूतो को अपना अधिष्ठान (याप्तिस्थान) बनाए रखने वाला अतएव अपने या मक रूपों से **भूपति–भुवस्पति भुवनपति**–नामो से प्रसिद्ध रहने वाला यह वश्वानराग्नि प्रचण्डवग से शरीर में धक धक ही कर रहा है जिस के अनुब ध से ही मानव की भौतिकी स्वरूप–सत्ता सुप्रतिष्ठिता रहा करती है।

हम अपने भौतिक शरीर का जहा से भी स्पश करते है से वही से उष्ण (तापधर्म्मा–गरम) उपल ध करते है। प्र यक्षानुभूता यह ऊष्मा (ताप–गर्म्मी) भूतानुगता उसी वश्वानर अ नि की साक्षात् दृष्टि (दशन–साक्षात्कार) है। एवमेव यदि हम अपने दोनो हाथो की दोनो अनामिका–अङ्गुलिया से दोना नासाछिद्र एव दोनो अङ्गुठो स दोनो कर्णछिद्र अवरुद्ध कर लेते हैं तो हमें अपने ही शरीर में उसी प्रकार का एक धक धक श द सुनाई पडता है जसे कि–प्रज्ज्वलित भूताग्नि का श द हम सुना करत है। यही नादा मक श द श्रवण वश्वानर अ न की श्रुति (श्रवणा मक साक्षात्कार) है । यही **अनाहतनाद** (बिना–किसी अ य आघात प्र याघातो के अजस्त्ररूप से प्रक्रा त रहने वाली निनाद– वनि) है। शरीरा मक अध्या मवत् इस पार्थिव ब्रह्माण्ड में भी आधिदविक वश्वानराग्नि का यह– **अनाहतनाद** प्रचण्डरूप से धोधूयामान है जो आ यामिकी योगमाया के आवरणानुग्रह से ही हमें सुनाइ नही पडता । यदि यह मायादुर्ग न होता तो उस प्रचण्ड गर्ज्जना मक महानाद से निमेषमात्र में ही मानव की जीवनलीला समाप्त होजाती। अमुक विशेष योगप्रक्रिया के द्वारा यहाँ के अर्वाचीन दार्शनिकोंन अपने आ यामिक अनाहतनाद को उस महान् आधिदविक अनाहतनाद के साथ समन्वित करने का त वा मक प्रयास किया है जिसका श्रतिसिद्धा आचारनि ठा के आचारा मक प्राङ्गण में यत्किञ्चित् भी तो मह व नही माना जासकता। अनाहतनादा मक वैश्वानर अग्नि के श दायमान इसी **नाद** भाव को तथा स्पर्शानुभव को लक्ष्य बनाते हुए श्र ति ने कहा है—

(१)-यत्रैतत् अस्मिन् शरीरे सम्पर्शेन-उष्णिमान विजानाति तस्यषा श्रुति । यत्रैतत्-कर्णौ-अपिगृह्य निनदमिव नदथुरिव अग्नरिव ज्वलत उपशृणोति तदेतत् दृष्ट च श्रुतञ्च इत्युपासीत् ।

—छान्दाग्योपनिषत् ।१३।८।

(२)-अयमग्निर्वैश्वानर योऽयमन्त पुरुष येनदमन्न पच्यते * यदिदमद्यते । तस्यैष घोषो भवति यमेतत्-कर्णौ अपिधाय शृणोति ।

—बृहदारण्यकोपनिषत् ५।६।१।

आत्मबुद्धि समन्विता मानसेच्छा का प्रथमाघात इसी तथाकथित वैश्वानर-अग्नि पर होता है । इस आघात से प्रत्याहित वैश्वानर अग्नि का आघात तत्रैव व्याप्त-वायव्यप्राण पर होता है। आहित वैश्वानर अग्नि से प्रत्याहत वायव्यप्राण ही आग्नेयप्राण से समन्वित होता हुआ शरीराकाशरूप प्रदेश में ऊर्ध्व उत्क्रान्त होता हुआ शब्दोत्पत्ति का कारण बन जाता है जैसा कि न्याय खात्-शब्दस्तत् इत्यादि प्रातिशाख्य-सिद्धान्त से भी स्पष्ट है। अग्नि ही मरुत् के सहयोग से क्योंकि योनन्यात्मिका वाग्रूप मे परिणत होता रहता है अतएव सिद्ध है कि मानव का शारीरिक वैश्वानराग्नि ही मरुत् के द्वारा अभिव्यक्त मे आकर कण्ठ से बहिर्विनिसृत होता हुआ शब्दमयी वैखरीवाक् (मर्त्या वाक्) रूप में परिणत होता रहता है । अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहे है । यही कारण है कि अधिक शब्दोच्चारण से उच्च स्वर से उच्चारण करने से शरीर प्रकम्पित होपड़ता है मुखं च परिशुष्यति। अशक्ति का अनुभव होने लगता है। यो प्रयत्न में ही हमारा अग्नि ही शब्दोत्पत्ति का मूलप्रवर्त्तक प्रमाणित होरहा है

ब्रह्मग्रन्थि (मूलद्वार) में अपानप्राण प्रतिष्ठित है ब्रह्महृदय (केन्द्र) में व्यानप्राण प्रतिष्ठित है कण्ठ में उदानप्राण प्रतिष्ठित है एवं मूर्द्धोपलक्षित ब्रह्मरन्ध्र में (जो कि नान्दनद्वार नाम से प्रसिद्ध है) एन्द्र-विज्ञानप्राण प्रतिष्ठित है यो ग्रन्थि हृदय-कण्ठ रन्ध्र भेद से वैश्वानराग्नि के चार प्रतिष्ठान बिन्दु होजाते हैं जिन के अनन्तर ही यह अग्नि शब्दरूप में परिणत होकर पाचवें आस्य (मुख) स्थान को अपना अन्तिम अधिष्ठान बनाता है। वैश्वानराग्नि का पूर्वोक्त नाद ही इन पाच स्थानो के भेद से पञ्चधा विभक्त होता हुआ ब्रह्मग्रन्थ्यनुगत अतिसूक्ष्मनाद ब्रह्महृदयानुगत सूक्ष्मनाद कण्ठानुगत-पुष्टनाद ब्रह्मरन्ध्रानुगत अपुष्टनाद एवं आस्यानुगत कृत्रिमनाद (भौतिकनाद जिसे- गूॅज

---

*-अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित ।
प्राणापानसमायुक्त पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
(गीतायाम्)

कहा गया है) इ पाच अवस्थाओं में परिणत होजाता है। पूर्वोद्ध त श्लोकों में स आरम्भ के पाच श्लोकों में सी सम्पूर्ण तथ्य का स्प टीक ण हुआ ह। (१ से ५ प यन्त यारयान)।

छठ श्लोक के द्वारा **नाद** श द का निवचन मक अथसम वय हुआ है जिसका ता प य स्पष्ट है। यद्यपि श दो पत्ति मे **अनल (अग्नि)** के साथ **अनिल वायु)** का भी सहयाग है | यही नही अपितु अनिला मक वायु ही अनला मक श द को बाह्याभि यक्ति के तथा बाह्यानुगति के अनुरूप बनाता है। यदि वायु का सहयोग अग्नि को न मिले तो श दो पत्ति की कथा तो विदूर रही वय अग्नि की स्वरूप स्थिति भी सम्भव नही है। श्वास-प्रश्वासा मक-वायु का सञ्चार ही शारीरिक-अग्नि का स्वरूप-रक्षक माना गया है। सम्भवत इसीलिए **महर्षि शाकायनि** ने **वायु** को ही **अग्नि** सज्ञा प्रदान कर दी है **वायुरग्निरिति शाकायनिन उपासते** (शत १ ।४।५।१।) । यह सब कुछ मान लेने पर भी त वत श द का मौलिक-उपादान व तो अग्नि को ही समर्पित किया जायगा जबकि वायु को तो श द के प्र त निमित्तकारण ही माना जायगा।

श दा मक का य का उपादानकारणभूत यह अनल (अग्नि) **भत** और **प्राण** भेद से द्विधा विभक्त रहता है। भूताग्नि ही **म य-चि याग्न** है जिसका प्रचण्ड ज्वालारूप से हम साक्षात्कार करते रहते हे एव जिससे भोजनपाकादि क म स पन्न हाता है। इस भूताग्नि की मूलप्रतिष्ठारूप सुसूक्ष्माग्नि ही-**अमृत-चितेनिधेयाग्न है**। भूत बिना प्राण को आधार बनाए अनुपपन्न है तो प्राण भूत को अग्रणी बनाए बिना अनभि यक्त है। इस अमृताग्नि को ही कहा जाता है-**प्राण** एव म याग्नि को ही कहा जाता है-**अनल**। इन दोनो अग्नियो के लिए ही क्रमश **नकार-दकार**-सङ्क तित हैं। नकारा मक अर्थात् निषेधा मक-अर्थात्-प्राणा मक-अर्थात् असद्-रूपा गक (सदघना मक)-मौलिक-त वाग्नि ही अपने अ यक्तप्राण रूप से असदभावापन्न-**न** से सगृहीत है। दूसरा भूताग्निरूप अनल प्र यक्ष में विशकलन ध र्मा है। पिण्ड की घनता को विशकलित कर देना रुद्ध को द्रुत कर दना ही इस **रुद्र** मूर्त्ति-भूतानल का स्वरूपधम्म है। एक पिण्ड को खण्ड खण्डरूप में परिणत कर देना ही इसका सहज स्वभाव है। अतएव खण्डनाथक— **दो धातु (दो-अवखण्डने)** से इसके लिए द का सङ्क त हो या है। नकारा-मक प्राणाग्नि तथा दकारा मक भूताग्नि दोनो की समन्वितावस्था ही— **वैश्वानर** है जसा कि पूव में स्पष्ट किया जाचुका है। इसीलिए नकार दकारा मक-श दप्रवत्त क- स वैश्वानराग्नि का साङ्क तिक नाम होगया है- **नाद** जिस इस त य का ही ६ ठे श्लोक से स्पष्टीकरण हुआ है।

आ म बुद्धि-सहकृता मानस छा से प्र याहत वायुसयोग से ब्रह्मग्रन्थि से ऊ वप्र रित-ब्रह्मग्र थ्यनुगता **नाभि हृदय कण्ठ मूर्द्धा आस्य** इन पॉच प्रक्रमो में क्रमश आता हुआ इसी क्रमानुपात से क्रमश **अतिसूक्ष्म-सूक्ष्म- पुष्ट- अपुष्ट- कृत्रिम** इन पाच भावो में परिणत भूत प्राण समष्टि रूप **नादा मक** इ थभत वैश्वानर अग्नि के किंवा तदरूप **नाद** के सामा य स्थूल व्यवहार की अपेक्षा स क्रमश **हृत्प्रक्रम कण्ठप्रक्रम शिर प्रक्रम** ये तीन प्रमुख प्रक्रम मानलिए गए हैं जिन इन तीनो नादप्रक्रमो में उत्तरोत्तर द्विगुणित तार (उच्च)-स्वर क्रम यवस्थित माना गया है। स तम श्लोक में इसी व्यावहारिक तथ्य का स्पष्टीकरण हुआ है।

नाद श्रुति स्वरा मक सङ्गीत के मम्मज्ञ सवश्री म ाभाग शाङ्ग देव विरचित-सुप्रासद्ध सङ्गीतर ना कर * नामक ग्रन्थ में उक्त सप्तश्लोकी से जिस वश्वानरात्मक नादब्रह्म का यशोगान हुआ ह प्राय वही त य थोड शब्दभेद से सुप्रसिद्धा पाणिनीयाशिक्षा के निम्न लिखित पद्यो से स्पष्ट हुआ है जस इस सह समतुलन की दृष्टि स ही शिक्षाशास्त्र के व वचनमात्र अत्र उद्धृत कर दिए जाते ह जिनका अर्थसम वय पूर्वोक्त सन्दभ से ही गताथ बन रहा है ।

१ आत्मा-बुद्ध्या समेत्यर्थान्-मनो युङ क्त विवक्षया ।
मन कायाग्निमाहन्ति स प्र रयति मारुतम् ॥
२ मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्र जनयते स्वरम् ।
प्रात सवनयोग त छन्दो गायत्रमाश्रितम् ॥
३-कण्ठे माध्यन्दिनयुग मध्यम त्रैष्टुभानुगम् ।
तार तार्त्तीयसवन शीषण्य जागतानुगम् ॥
४-सोदीर्णो मूद्ध न्य भिहतो वक्त्रमापद्य मारुत ।
वर्णान् जनयते, तेषा विभाग पञ्चधा स्मृत ॥

—पाणिनीयशिक्षा

उक्त शिक्षासूत्रो के द्वारा यह भी स्पष्ट होरहा है कि नादात्मक वश्वानर अग्नि ही त्रिविध स्वरो का अभि यञ्जक बनता है—वायु के सयोग से । सी प्रसङ्ग मे शिक्षा ने सवनत्रयात्मक तीन छन्दो की ओर भी सङ्क त किया है जो वैदिक-सृष्टिविज्ञान की दृष्टि से अ यन्त ही म वपूर्ण है । भकेन्द्र से निकल कर अपने २१ एकविंशस्थ म िमा मक रथन्तरसाम पय्यन्त अभि या त रहने वाले पार्थिव वैश्वानर-प्राणाग्नि के ही अग्नि वायु आदित्य नामक तीन महिमाविवर्त्त होजाते हैं जो व तीनो महिमाभाव ही पृथिवी के माहमामण्डल में ही भुक्त क्रमश पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ नामक तीन पार्थिव स्तौम्य लोको के अातष्ठाता बने हुए है । आधिदविकी इस पार्थिवी स्तौम्या त्रिलोकी का त्रिवृत्स्तोमात्मक— पृथिवी लोक ही पार्थिवयज्ञ का प्रात सवन है अष्टाक्षर गायत्री छन्द इसका स्व छन्द है अग्नि यहा के शवसोनपात् हैं । इसी प्रात

---

*—मन शरीरनिबन्धन प्राकृत इतिहास को ही प्राकृत मानव के भौतिक जीवन का सवस्व मानते रहने वाले ऐतिहासिको की युगध र्मानुगता मान्यता के अनुपात स नृपातवर श्रीशाङ्ग दव महाभाग इसवीय सन् १२ —१३ के म य में उ पन्न हुए थ । स मान्यता के अनुसार आज स अनुमानत सातसौ वष पूव उपनिबद्ध सङ्गीतर नाकर नामक महत्त्वपूण ग्रन्थ में **१— स्वरा याय २—रागाध्याय ३—प्रकीर्णा याय ४—प्रब धा याय ५—ताला याय ६—वाद्याध्याय —नृ या याय** ये सात अध्याय समा विष्ट हुए हैं । इस मह वपूण सङ्गीतग्रन्थ का एक तो विस्तृत भा य हुआ है त कालीन सङ्गीत मम्मज्ञ विद्वान् के द्वारा । एव इसके अतिरिक्त-श्रीकु भकरणनरेन्द्र कालिनाथ सिंहभपाल नृपतिवर रीमाधि-पति तथा विद्वत्प्रवर श्रीविश्वनाथ आदि रूपेण ६ टीकाएँ हुइ है जिनमें स कतिपय टीकाए ही आज उपल ध ह ।

सवनीय पार्थिव गायत्राग्न से **मन्द्रस्वर** की अभिव्यक्ति हुइ है। पञ्चदशस्तोमात्मक अन्तरिक्षलोक ही पार्थिव यज्ञ का **माध्यन्दिनसवन** है एकादशाक्षर त्रिष्टुप छन्द ही इसका स्व छन्द है वायु यहां के शवसोनपात् हैं। इसी माध्यन्दिनसवनीय आन्तरिक्ष्य त्रैष्टुभ वायु से **मध्यस्वर** की अभिव्यक्ति हुई है। एकविंशस्तोमात्मक द्युलोक की पार्थिवयज्ञ का— **सायसवन** है द्वादशाक्षर जगतीछन्द ही इसका अपना छन्द है आदित्य यहां के शवसोनपात् हैं। इसी सायसवनीय दिव्य जागत आदित्य से— **तारस्वर** की अभिव्यक्ति हुइ है।

जैसा संस्थानक्रम आधिदैविक पार्थिव विश्व में है ठीक वैसा ही संस्थानक्रम मानव की अध्यात्म संस्था में समन्वित है। मानव का सर्वाङ्गशरीर ही उस प्राकृतिक पार्थिवमण्डल का प्रतिरूप है। ब्रह्मग्रन्थि से आरम्भ कर नाभिपर्य्यन्त प्रदेश पृथिवीलोक है इसका पार्थिव— **आग्नेयप्राण** ही **अपानप्राण** है जो कि गायत्रछन्दस्क बनता हुआ प्रातःसवनस्थानीय है। नाभि से हृदयपर्य्यन्त अन्तरिक्षलोक है इसका आन्तरिक्ष्य **वायव्यप्राण** ही **व्यानप्राण** है जो कि त्रैष्टुभछन्दस्क बनता हुआ माध्यन्दिनसवनस्थानीय है। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त प्रदेश ही द्युलोक है इसका दिव्य **ऐन्द्रप्राण** (**आदित्यप्राण**) ही **प्राण** है जो कि जागतछन्दस्क बनता हुआ सायसवनस्थानीय है। इन तीनों स्थानों—लोकों—में व्याप्त वैश्वानर ही **नादात्मक** यह शारीरिक अग्नि ही इन तीन सवनों से क्रमशः **मन्द्र मध्य तार**—स्वरों का अभिव्यञ्जक बनता है। यों **अधिदैवत** तथा **अध्यात्म** किंवा **अण्ड** तथा **पिण्ड** दोनों में सर्वात्मना तथाकथित संस्थानक्रम समतुलित है जैसाकि निम्न लिखित परिलेखों से स्पष्ट है

इति नु—अधिदैवतम्—

भूपिण्ड	एकविंशस्तोमावच्छिन्न —द्युलोक	(२१)—आदित्य	—जगती	—सायसवनम्	——तारस्वर
	पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न — अन्तरिक्षलोक	(१५)—वायु	— त्रिष्टुप	—माध्यन्दिनसवनम्	—मध्यस्वर
	त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न —— पृथिवीलोक	(९)—अग्नि	—गायत्री	—प्रातःसवनम्	—— मन्द्रस्वर

भौतिक —
भूपिण्ड

——*——

इति नु-अ यात्मम्—

शरीरसंस्थिता	
	हृद्यत —ब्रह्मर अपथ्य तमनु द्य लोक—— प्राणाग्निरादि योजागत – (सायसवनम्)–तारस्वर
	नाभे ——हृद्यप य तमनु– अ तरिक्षलाक यानाग्निर्वायुस्त्र टुभ –(मा यान्दनस)–म यस्वर
	ब्रह्मग्र थ —नाभिप य तमनु पृथिवीलोक –अपानाग्निरग्निर्गायत्र (प्रात सवनम्) म द्रस्वर

भौतिक–
शरीरम्

——*——

एक ही नाद इसप्रकार छन्दोभेदानगता सवनत्रयी के भेद से हृदय कण्ठ–शिरो भेदन त्रिधा–विभक्त होजाता है जिस इस त य का ही शाङ्ग देव ने पूर्वा के सप्तम श्लोक के द्वारा ए । पाणिनीय–शिक्षा ने २–३–४ श्लोको के द्वारा स्पष्टीकरण किया है। वश्वानराग्निमूर्त्ति–त्रि प्रक्रमा मक यही नाद आगे चलकर नाडीभेद से अवान्तर २२ (बाईस) मागो में विभक्त होजाता है। नाद के ये अवा तर विभाग श्रुति के द्वारा क्योकि सुने जाते है। अतएव इन अवा तर अवस्थाओं का नाम–सङ्गीतशास्त्र म श्रुति * होगया है। हृद य से ब्रह्मर अ पथ्य त ऋजुभाव से व्याप्ता सुप्रसिद्धा नाडी सुषुम्णा है। इस सुषु णा नाडी से सलग्ना तिरश्चीनभावानुगता २२ नाडिया प्रमुख हैं। इन नाडियो के भेद से ही नादानुगता श्रुति के २२ विभाग होजाते है। हृदय कण्ठ–शिरोभेद से इन २२ श्रुतियो का त्रिधा वितान होजाता है। हृदयानुगत म द्र–नाद से अनुप्राणिता २२ म द्रश्रु तियाँ कण्ठानुगत म यनाद से अनप्राणिता २२ मध्यश्रुतियाँ एव

*–'श्रु श्रवणे चास्य धातो 'क्ति' प्रत्ययसुसङ्गत ।
'श्रुति श द प्रसाध्योऽय शब्दजर्भावसाधन ॥
—मतङ्ग

अ यदपि—श्रवणेन्द्रियग्राह्य वात्–ध्वनिरे श्रुतिर्भवेत् ।
सा चैका द्विविधा ज्ञया स्वरान्तरविभागत ॥
नियत श्रुतिसस्थानो गीय ते सप्त गीतिषु ।
तस्मात् स्वरगता ज्ञेया श्रतय श्रुतिवेदिभि ॥

शिरोऽनगत तारनाद से अनप्राणिता ५ **तारश्रु तयाँ** स भेद स २२ श्रुतियो के भी तीन त्रिक बन जात है जैसाकि अग्रिमपृष्ठानुगत **सङ्गीतसमयसार** नामक ग्र थवचन से स्पष्ट है—

ये श्रुतिया निम्नलिखित नामो से सङ्गीत शास्त्र में प्रसिद्ध हैं—

म द्रनादानुगता श्रु तय द्वाविंशति (२२) १	म यनादानुगता श्रु तय द्वाविंशात (२२) २	तारनादानुगता श्रु तय द्वाविंशति (२२) ३
१—म द्रा	१—नादा ता	१ -इश्वरी
२—अतिम द्रा	२ निष्कला	२ कौमारी
३ घोरा	३—गूढा	३ स्वरावली
४—घोरतरा	४ सक्ला	४ भोगवीर्य्या
५—मण्डना	५—मधुरा	५ मनोरमा
६ सौ या	६—गली	६ सुस्निग्धा
७—सुमना	७—एकाज्ञरा	दि याङ्गा
८—पु करा	८—भङ्कजाती	८ सुललिता
९—शङ्खिनी	९—रसगीती	९ रसगीती
१ —नीला	१ सुरङ्गिका	१ महार्का
११—उ पला	११ पूर्णा	११ मेदिनी
१२—अनुनासिका	१२—अलकारिणी	१२ -राका
१३—घोषावती	१३ ाशिका	१३ लज्जा
१४—नीलनादा	१४ नैणिका	१४ काली
१५—आवत्त नि	१५ त्रिस्थाना	१५ सद्मा
१६—रणदा	१६—सुस्वरा	१६ अतिसद्मा
१७—एकगम्भीरा	१ भागवी (सौ या)	१७ पुष्टा
१८—दीर्घतारा	१८ भाषाङ्गी	१८—सपुष्टिका
१९—नादिनी	१९—वार्त्तिका	९ विस्पष्टा
२ —म द्रजा	२ स पर्णा	२ रोकरी
२१—सुप्रसन्ना	२१ प्रसन्ना	२२ करालो
२२—निनदा	२२ स या यापनिका	२२ विस्फोटा ता

त्रीणि स्थानानि हृत्-कण्ठ-शिरासी-ति समामत ॥
एकैकमपि तेषु स्यात्-द्वाविंशति-त्रिधायुतम् ॥ १ ॥
द्वाविंशतिविधो म द्रो ६ नि मञ्जायते हृाद ।
यथोत्तरमसौ तारो वाणाय मधरोत्तरम् ॥ २ ॥
स एव द्विगुणो मध्य कण्ठस्थान यथाक्रमम् ।
स एव मस्तके तार स्या मध्याद द्विगुण क्रमात् ॥ ३ ॥

—सङ्गीतसमयासरे

अबतक के सन्दर्भ से हमें स निष्कर्ष* पर पहुचना पडा कि सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त वैश्वानराग्नि का धोधूयमान व या मक श द ही–सङ्गीत म– नाद नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सूक्ष्मदृष्टया नाभि–हृदय–कण्ठ शिर–मुख भेद स जहा इस नाद के क्रमश अतिसूक्ष्म –सूक्ष्म –पुष्ट (यक्त) अपुष्ट (अ यक्त) कृत्रिम—ये पाच प्रक्रम हो जात है वहा लोकव्यवहारनुगता थूलदृष्टि से इस नाद के—हृदयानुगत–मन्द्रनाद कण्ठानुगत म यनाद शिरोऽनुगत तारनाद रूपेण तीन प्रक्रम भी प्रसिद्ध है। हृ याद्नुगता प्रमुखा सुषुम्णा नाडी से सल ना त य वर्तिनी २ नाडियो के भेद स इन तीनो नादो– वनियो की अभि यक्तिया भी २२ २२ २२ भेद से त्रिधा वभक्त होजाती ह और यो ६६ श्रुतियाँ होजाती है जिन का पर्यवसान २२ पर ही माना गया है। नाद वनि की श्रवणगोचरा अभि यक्तिया हीं श्रुति नाम का प्रमुख कारण है। इ ी ान कर्षा मक त य को लक्ष्य बना कर कहा गया है कि—

तस्य द्वाविंशतिर्भेदा –श्रवणात् श्रुतयो मता ।
हृद्यूर्ध्वनाडीसलग्ना नाड्यो द्वाविंशतिर्मता ॥ १ ॥
तिरश्च यस्तासु तावत्य श्रुतयो मारुताहते — ।
उच्चोच्चतरतायुक्ता प्रभव त्युत्तरो त्तरम् ॥ २ ॥

---

* वक्तु मि छन् विवक्षमाण आत्मा मन अन्त करण प्रेरयति। तदन्त करण आत्म बुद्धिप्रेरित सद् देहस्थितमोदर्य वह्नि आह ति ताडयन्ति। स वह्नि मारुत वायु प्रेरयति। स पून ब्रह्मग्रन्थिस्थित इदानी तेन वह्निना प्रेरित ऊर्ध्वमार्गेण गच्छन् आघातेन नाभि हृदय कण्ठ मूर्द्ध मुखेषु ध्वनि प्रकटयति–इति निष्कर्ष ।
· ऊर्ध्वनाडी सुषुम्णा। तत्सलग्ना तिरश्च य –तिर्यक्–स्थिता द्वाविंशतयो नाड्य । तासु मरुत्सम्ब धात् ताव त एव– नादा समुत्पद्य ते–उत्तरोत्तर –उच्चोच्चतरता–युक्ता। प्रथमो नाद –हीनतम –म द्रतम । ततोऽन तर –उच्चतर । ततोऽन तर –उच्चतम इत्येवरूपेण नादानुगता श्रुतय प्रवर्तन्ते मौखिक सङ्गीत सङ्गीत प्रवरै गायकै ।

एव कण्ठे तथा शीर्षे श्र तिर्द्वाविंशतिर्म्मता ।
यक्तय कुर्म्महे तासा वीणाद्द्द निदर्शनम् ॥ ३ ॥

अब क्रमप्राप्त उस तीसरे– **स्वरभाव** की ओर सङ्गीत प्रामयो का यान आकर्षित किया जारहा है जिसे हम मौलिक सङ्गीत का **प्राण** ही कहेगे । सङ्गीत मे जो एकप्रकार का सहज– **माधुर्य** है वह इसी **स्वर** की महिमा है । स्वर कस और क्यो माधु य का अभि यञ्जक बन जाता है? प्रश्न का समाधान **स्वरहर्देवा सूय्य** (शतब्राह्मण) इस श्रौत निगम पर ही अवलम्बित है । सृष्टिविद्या–वित् विद्वानो को यह विदित ही है कि पृथिवी को **दधिलोक** माना गया है अ तरिक्ष को **घृतलोक** कहा गया है एव द्युलोक को **मधुलोक** माना गया है । **दही–घी शहद ही दधि–घृत–मधु**–तत्व हैं जिन का क्रमश **पार्थिवाग्नि आ तरिक्ष्य वायु दिव्य आदित्य** इन तीन प्राणदवताओ स सम्ब ध माना गया है । **दधिरसा मक पार्थिव घनाग्नि घृतरसात्मक आ तरिक्ष्य तरल वायु एव मधुरसा मक दिव्य विरलादित्य** इन तीनो पार्थिव–त वो का हम क्रमश सङ्गीत के **नाद–श्रुति–स्वर** इन तीनों भावों से सम्ब ध मान सकत हैं । घनात्मिका मूलप्रति ठा का नाम ही **नाद** है और यही– **दधि हैवास्य लाकस्य रूपम्** के अनुसार सङ्गीत का अग्निप्रधान पार्थिवलोकाश है । **घन नाद पर**– प्रतिष्ठित वाय या–अभि यक्तिया ही– **श्रुति** है और यही –**घृतम तरिक्षस्य रूपम्** के अनुसार सङ्गीत का वायुप्रधान आ तरिक्ष्याश है । घननादा नुगता तरलश्रुतियों के द्वारा अभि यक्त–स तननभावात्मिका–पर परानुप्राणिता वीचिया (तरङ्ग –ऊर्मिया) ही **स्वर** है और यही– **मध्वमुष्य रूपम्** के अनुसार सङ्गीत का आदि यप्रधान दि याश है । आर यों तीनो लोको के **आग्नेय वायव्य आदित्य–रसात्मक– दधि– घृत– मधु**–नामक रसो से ही सङ्गीत के **नाद– श्रुति स्वर– भाव**–समन्वित होरहे है । इसी सम्बन्ध में पुनश्च हमें कुछ और भी समझ लेना है ।

शब्दब्रह्मरहस्यवेत्ता महर्षियोने **परब्रह्म** स अभिन्न **शब्दब्रह्म** के तीन प्रमुख महिमा विवर्त्त माने है जो क्रमश **स्फोट–स्वर–व्यञ्जन**–इन नामो से **शब्दशास्त्र (व्याकरण)** में प्रसिद्ध हें । परब्रह्म के **अव्यय** के साथ शब्दब्रह्म का **स्फोट** समतुलित है । परब्रह्म के– **अक्षर** के साथ शब्दब्रह्म का **स्वर** तथा उस के **क्षर** के साथ इस का **व्यञ्जन** समतुलित है **पर तथा शब्द**–भेदन सृष्टि के दो ही प्रमुख विवर्त्त माने गए है जिस में खण्ड–खण्डात्मक इतर य यावत् अवान्तर सृष्टिविवर्त्त अ तभू त हैं । वस्तुत या **पर** और **शब्द** ये दो स्वत त्र विवर्त्त नही हैं । अपितु एक ही षोडशीप्रजापति का पूर्वरूप जहा– **परब्रह्म** कहलाया है वहा उसी का उत्तररूप **शब्दब्रह्म** कहलाया है । पूर्वरूपता का अर्थ है **विश्वातीत–विवर्त्त** । एव उत्तररूपता का अर्थ है **विश्वविवर्त्त** । विश्वातीतदशा में वही ब्रह्म **परब्रह्म** कहलाया है एव विश्वदशा में वही **शब्दब्रह्म** कहलाया है ।

क्या तात्पर्य ? । तात्पर्य स्पष्ट है । **विश्व** का ही नाम **ससृष्टिलक्षणा सृष्टि** है । यह सृष्टि **आकाश वायु तेज जल मृत्**–रूपेण पञ्चमहाभूतात्मिका है । इन पाचों महाभूतों का मूल सर्वादिभूत वह आकाशभूत ही है जिस का सुसूक्ष्म मात्राभाव ही **शब्दतन्मात्रा** नाम से प्रसिद्ध है । शब्दत मात्रा मक सर्वादिभूत आकाशभूत स उत्पन्न थ के द्वारा स्पर्शत मात्रा मक वायु की अभिव्यक्ति होती है । वायु स रूपत मात्रा

मक जल की एव जल से ग धन मात्रामिका मृत् की अभिव्यक्ति होती ह हुइ हैं हाती रहती है *। तन्मात्रा मामक शब्दादि ग धात इह्वी सूक्ष्मतम अतएव– तत्त्व नाम से प्रामन्न पाचा गुणभूता स पञ्चीकरणप्रक्रिया के द्वारा आगे चलकर पञ्चा मक पाच अणुभूत अभिव्यक्त हाते ह । इन के पञ्चीकरण से पञ्च–पञ्चा मक रेणुभूत अभि यक्त हात हे । इन के पञ्चीकरण स समष्टयात्मक– महाभूता मक जो पञ्च विश्वपुर अभि यक्त होत ह व ही क्रमश आकाशा मा स्वय भूपुर वाय्वा मा परमेष्ठीपुर तेजोमयात्मा सूर्यपुर जलात्मक च द्रपुर तथा मृन्मा मा भूपुर इन नामो स प्रसिद्ध हुए ह जिन इन पाचो विश्वपुरो की किंवा यौगिक महाभूतो की समन्वितावस्था का नाम ही पञ्चपर्वा विश्व है जिसका महर्षि श्वताश्वतरने— पञ्चपर्वामिवाम विश्वप्रकृतिम् (श्व उपनिषत्) यादि रूप से यशोगान किया है ।

पञ्चपर्वा मक उक्त विश्वस्वरूप-- दगदशन से स्वत ही हमें इस त य प पहुच जाना पडा कि विश्व का मूलकारण विश्वातीत परब्रह्म आ मब्रह्म से सवप्रथम अभिव्यक्त होन वाली आकाशात्मिका–शब्दत–मात्रा ही है । यही प्रथमा शब्दतन्मात्रा उत्तरोत्तरभाविनी–रसानुगता–बलग्रन्थिया के ता तम्य से पञ्चपर्वा मक विश्व–स्वरूप में परिणत होरही हे । और यो आमब्रह्म से अभियक्त शब्दब्रह्म ही विश्व का स्वरूप–परिचायक बना हुआ है । इसी आधार पर न ह्यशब्दमिवास्ति (उपनिषत्) यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है । अतएव श और अथ का औत्पत्तिक स ब ध ही माना है भगवान् जैमिनिने — । इसी आधार पर– जपान्सिद्धि यह उपासनात व व्यवस्थित हुआ है । इसी आधार पर शब्दब्रह्मात्मक नि य मन्त्र एव तद्वा य प्राणदेवता मक अथ दोनो अभिन्न बने हुए है । यही मन्त्र का मन्त्रत्व है यही शब्दब्रह्मात्मक वेदशास्त्र की कू स्थनित्यतालक्षणा अपौरुषेयता है । इसी दृष्टि से यह क ा गया है कि— स प्रजापति भूरिति व्याहरत् पृथि यभवत् । अर्थात् आ मप्रजापति ने अपने मुख से स प्रथम भू इस शब्द का ही उच्चारण किया । वही भू शब्द (पृथि यनुगता शब्दतन्मात्रा) भूपिण्डरूप म परिणत होगया । इह्वी कुछ एक निर्दिष्ट तथ्यो के आधार पर हम यह मान लेना पडता है कि सत्सृष्टिलक्षणा विश्वात्मिका सृष्टि में तो शब्दब्रह्म ही प्रमुख है यही ईश्वर का यक्तरूप है जो प ब्रह्मात्मक विवत्त के आधार पर ही प्रतिष्ठित है । जैसा स्वरूप सस्थानक्रम उस परब्रह्म का है ठीक वसा ही किंवा वही सस्थानक्रम विश्वात्मक विश्वरूप शब्दब्रह्म का है । इस षोडशीपरब्रह्म में यदि परात्पर अव्यय अक्षर क्षर–नामक चार पर्व ह तो इस शब्दब्रह्म में ही अर्द्ध माता स्फोट स्वर व्यञ्जन नामक चार ही प्रमुख विवत्त ह । इसी अभेद के आधार पर ऋषि ने कहा है कि—

---

*–तस्माद्वा एतस्मादा मन (परब्रह्मण) आकाश सम्भूत । आकाशाद्वायु । वायोरग्नि । अग्नेराप । अद्भ्य पथिवी (मृत्) ।

—तै उपनिषत्

"*–औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽ यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्" ।

—पूर्वमीमासासूत्र

द्व वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म, पर च यत् ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माधिगच्छति ॥

—उपनिषत्

दृष्टिमूला सृष्टिविद्या के अनुसार पञ्चपर्वा मक-विश्व की स्वरूपमीमासा करते हुए पार्थिवशरीरी-मानव का भूपिण्ड के केन्द्र से ही चलना पडगा । और इस के द्र को आधार बना कर ही म श दब्रह्म के व्यञ्जन-स्वर-स्फोट अद्ध मात्रा-नामक-चारो विवर्त्तो का सम वय दखना होगा । स्वय भूपिण्ड व्यञ्जनात्मक श दब्रह्म है । सोम्य च द्रमा का पार्थिव वित्त में ही अ तर्भाव है । अतएव च द्रमा को पार्थिव-उपग्रह माना गया है । अतएव च भूपिण्ड के अन तर दूसरा स्थान आता है- सूर्य्य का । यह सू य ही स्वरात्मक श दब्रह्म है । तदुत्तर प्रतिष्ठित- परमेष्ठी ही महद्ब्रह्म में गर्भीभूत-चिदा मा वय से आमन्त्र-स्फोटात्मक-श दब्रह्म है । एव सर्वा त का अ क स्वयम्भू ही अद्ध मात्रात्मक-श दब्रह्म है । यो भूकेन्द्र स आरम्भ कर स्वय भू-प य त श दब्रह्म के चारों विवर्त समवित होरहे हैं जैसाकि परिलेख स स्पष्ट है—

१ अ यक्तात्मा स्वयम्भू —— अर्द्धमात्रात्मक शब्दब्रह्म		शब्दब्रह्मात्मक विश्वम्
२ महानात्मा —परमेष्ठी—— स्फोटात्मक शब्दब्रह्म		
३ विज्ञानात्मा सूर्य्य —— स्वरा मक शब्दब्रह्म		
४ भूतात्मात्मा —सच द्रो भूपिण्ड —व्यञ्जनात्मक शब्दब्रह्म		

नादादि के अनुबन्ध से श दब्रह्म की स्वरूपदिशा की उपासना की गइ । पुन प्रकृतमनुसराम । निवदन किया गया है कि श्रुति स अभि यक्त- स्वर ही सङ्गीत का मोलिक माधुर्य्य हैं । तत्प्रसङ्ग से ही यह स्वरोपपत्तिप्रसङ्ग उपक्रा त होपडा है । अब हमे-भूपिण्ड च द्रोपलक्षित अ तरिक्ष एव आदि योपलक्षित सूर्य्य इन तीन विश्वपर्वों को आधार बनाकर ही नादादि के स्वरूप का सम वय करते हुए स्वर के माधुर्य्य को लक्ष्य बनाना है । भूपिण्ड का के द्रस्थ प्राजाप य-वश्वानराग्नि ही नादब्रह्म हैं जैसाकि-पूव में अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है । भूके द्रावच्छिन्न इस आ नय नादब्रह्म की अ तरिक्षानुगता वाय्या-अवस्था ही- श्रुति है । यही आ तरिक्ष्या श्रुति जब विरलावस्था में आकर सौर मण्डल से समा लुत होजाती है तो यही- स्वर कहलाने लगती है । और यों श्रुति का उत्तरभाव ही स्वररूप मे परिणत होजाता है । तदि थ भूपिण्ड अ तरिक्ष सूर्य्य इन तीनो के दधि (घन) घृत[२] (तरल)-मधु (विरल) इन तीन रसों के क्रमिक समन्वय से ही सङ्गीता मक श दब्रह्म नाद श्रुति स्वर इन तीन विवर्त्तभावो मे परिणत होजाता है । पुनरपि इस सम्ब ध में प्रक्रा ता स्वराभि यक्ति के स ब ध मे किञ्चिदिव सम वय अपेक्षित है ।

प्रसिद्ध अ आ ऋ ई उ ऊ स्वरों स भी सभी पाराचत ह एव सप्रासद्ध– क ख ग–घ आदि व्यञ्जनो से भी सभी सुपरिचित हैं। सृष्टिविद्या के अनुमार अकारादि सम्पूर्ण स्वर सूर्य्य से ही अभि यक्त हुए है तो ककारादि सम्पूर्ण यञ्जन भूपिण्ड स हा यक्त हाए ह। यञ्जन पार्थिव ह एव स्वर सौर है यही वक्त य–निष्कर्ष है। पार्थिवी ककारा ाा मका यञ्जनवाक का वज्ञानिक नाम है– अनुष्टुप् एव सौरी अकाराकारामिका स्वरवाक का नाम – बृहती। सौरी–ऐन्द्री बृहतीवाक के अाध पति सौर इन्द्र कहलाए है अतएव यह बृहतीवाक– इन्द्रपत्नी नाम स ही वद मे सुप्रासद्ध हुइ है *। एवमव पार्थिवी–आग्नेयी अनुष्टुपवाक के अधिपात– पार्थिव अग्नि (नादा मक वश्वानराग्न) माने गए हैं जिस लक्ष्य बनाकर ही अग्निर्वाग्भू या मुख प्राविशत् (अग्निर्वैश्वानर एव–अनुष्टुप् वागा मक– यञ्जनरूपेण परिणत सन मुख प्राविशत्) यह कहा गया है।

अग्निगर्भा भूपिण्डात्मिका पृथिवी एव इन्द्रगर्भिणी सूर्य्यात्मिका द्यौ – इन दोनो का परस्पर ग्रहोपग्रहभाव माना ग ा है। भूपिण्ड परम्परया सू य का ही उपग्रह है। सूर्य्यरूप महाग्न का प्रवर्ग्यरूप उपग्रहा मक भूपिण्ड सौर ऐन्द्र आकर्षण के आधार पर ही साम्व सरिक क्रान्तिवृत्त पर परिभ्रममाण बनता हुआ वार्षिकगति का प्रव र्तक बना हुआ है। सौरी ऐन्द्री प्रतिष्ठा को आधार बनाए बिना तदुपग्रहभूत भूपिण्ड क्षणमात्र भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नही रहसकता और ठीक यही स्थिति सौरी बृहती-स्वरवाक तथा पार्थिवी आनुष्टुभा यञ्जनवाक के सम्ब ध में विघटित ह। सौरी बृहती–वाक स अभिन्न स्वरो को आधार बनाए बिना पार्थिव अनुष्टुब–वा मय ककारादि यञ्जन भी स्वस्वरूप में प्रति ठत नही रहसकत। अर्थात् अकारा ि स्वरो को आधार बनाए बिना ककारादि व्यञ्जनो का उच्चारण भी कदाप स भव नही है। क्योकि सौरमण्डल का आधार बनाए बिना भूमण्ड भी तो स्वस्वरूप से प्राता त–आभ यक्त न ी होसकता।

छन्दोविद्या के अनुमार गायत्री उष्णिक अनुष्टुप् बृहती पङ्क्ति त्रिष्टुप जगती इन सात दव छन्दो म स (जाकि सप्त अहोरात्रवृत्त पूर्वापरवृत्त–आदि नामो से भी यवहृत हुए ह) मध्यका स र्वातोऽधिक बृहत् (बडा) छ द हा बृहतीछन्द है। प्रत्येक व तु लवृत्त का म यका वृत्तरूप छ द स्वत ही पार्श्वव्वर्त्ता इतर वृत्तो क समतुलन में बडा ही ता होगा। इसी बृहद्भाव के कारण गोल चक्रा मक (भगोला मक महान् वृत्त का म यस्थ छन्दोवृत्त बृहती नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यही बृहती छन्द विषुवद्वृत्त विषुव आदि नामो से लोक यवहार म प्र सद्ध है जसेकि प्रती यभाषा में इक्वेटर क ा गया है।

---

* वाच देवा उपजीवन्ति विश्वे वाच ग धर्वा पशवो मनुष्या।
वाचीमा विश्वा भुवना यर्पिता सा नो हव जुषता इ द्रपत्नी' ॥
—तै ब्रा ।२ ८।४।

— यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरि द्रेण गर्भिणी। (मन्त्रसहितायाम्)

खगोलीय तथाकथित बृहतीछन्द के केन्द्र मे ही क्योंकि भगवान् सूर्यनारायण स्थिररूप से सुप्रतिष्ठित है * अतएव तत्र प्रतिष्ठित सूर्यदेव भी **बृहत्** नामसे प्रसिद्ध होगए है जैसाकि—**बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्व त पवमाना हरित आविवेश** इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इसी बृहद्भावानुबन्ध से तत्र प्रतिष्ठित सूर्य्य **बृहद्भानु** नाम से भी प्रसिद्ध है।

सप्त वै देवछन्दांसि के अनुसार गायत्र्यादि–जगत्यन्त अहोरात्रवृत्तात्मक (पूर्वापरवृत्तात्मक) खगोलीय सातों छन्द क्रमशः **षडक्षर–सप्ताक्षर अष्टाक्षर नवाक्षर दशाक्षर–एकादशाक्षर द्वादशाक्षर** (६ ७ ८ ६ १० ११ १२ अक्षरात्मक) माने गए हैं जिन के चतुष्पादभाव से क्रमशः २४ २८ ३२ ३६ ४० ४४–४८–ये अक्षर होजाते हैं। इन सातों छन्दों में से पूर्वोक्त मध्य के उस **बृहतीछन्द** की ओर ही हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं प्रक्रान्त स्वरप्रकरण में जिसके **नव (६) मूलाक्षर** हैं तथा **षट्त्रिंशत् (३६) तूलाक्षर** हैं। नवाक्षर इस बृहतीछन्द के केन्द्र में प्रतिष्ठित सूर्य्य का दिव्य मधुरसमय ऐन्द्रप्राण ही वह **बाहत–स्वर तत्त्व** है जिस का अत्र यशोगान किया जारहा है।

नवाक्षर का अर्थ है–नवबिन्दु **अनुगत** प्रस्तार जिसका तात्पर्यार्थ यही है कि सौर बाहत–नवाक्षर (नवबिन्द्वात्मक) स्वर के आधार पर ही पार्थिव आनुष्टुभ व्यञ्जन प्रतिष्ठित हो करते हैं। बाहत–स्वर की ततन मर्यादा (वितानमर्य्यादा फलाव) क्योंकि नव बिन्द्वात्मक है। अतएव उचित था कि नवबिन्द्वात्मक प्रत्येक स्वर की महिमा में ६ ही व्यञ्जन प्रतिष्ठित होजाय। किन्तु ऐसा होता नहीं। कारण यही है कि नवबिन्द्वात्मक प्रत्येक स्वर की उक्थ अर्क भेद से दो अवस्थाएं रहती हैं। **मूलस्वरबिम्ब** का नाम ही **उक्थस्वर** है एवं **तूलस्वररश्मि** ही **अर्कस्वर** है। ६ बिन्दुओं में से ५ वीं ६ठी इन दो बिन्दुओं को स्वयं उक्थस्वर अपना **ब्रह्मौदन (मूलप्रतिष्ठा)** बना लेता है। अतएव इस प्रातिस्वकी बिन्दुद्वयात्मिका ब्रह्मौदन की सीमा में (स्वभोग्या सीमा में) तो **प्रत्यभावापन्न (मध्यभावापन्न)** भोग्य–व्यञ्जनों का प्रवेश निषिद्ध ही बन जाता है। और अत्र शेष रह जाती हैं अर्करूपा (रश्मिरूपा) सात बिन्दुएं। अवश्य ही इन सात स्वरबिन्दुओं में सात प्रवर्ग्य व्यञ्जन प्रतिष्ठित होसकते हैं। इस का निष्कर्ष यही हुआ कि नवबिन्द्वात्मक प्रत्येक बाहत स्वर में सात सात व्यञ्जनों को स्वप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित करने की क्षमता है। **तभी तो सप्त–व्यञ्जनात्मक सप्त लोक (साता लोक) उस एकाक्षरमूर्त्ति स्वरात्मा पर प्रतिष्ठित होरहे हैं।** शब्दब्रह्ममर्यादा में भी अकार उकारादि प्रत्येक स्वरात्मक अक्षर सात सात व्यञ्जनों को निर्भार रूपेण उठा सकता है उठा लेता है। अर्थात् एक स्वर के आधार पर एक साथ सात व्यञ्जनों का अवस्थान सम्भव है। अर्थात् एक स्वर के आधार पर सात व्यञ्जनों का उच्चारण सम्भव है जैसाकि प्रातिशाख्य के

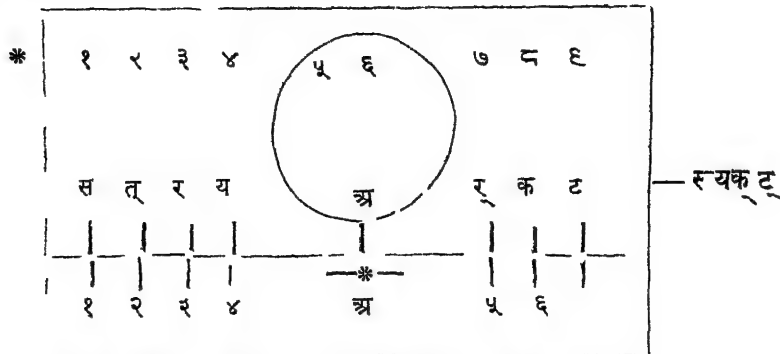
---

* **नैवोदेता–नास्तमेता। मध्ये–एकल–एव स्थाता। सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति।**
—छां० उप०

सुप्रसिद्ध– स्यक्ट इस उदाहरण से स्पष्ट है *। इस शब्द मे आप देखेंगे कि स्वर तो अ नामक केवल एक है—जो दो बिन्दुओं में उक्थरूप से प्रतिष्ठित है जिसके आरम्भ में १—२—३—४—ये चार अर्कात्मिका बिन्दुएं हैं एवं आगे —८—९—ये तीन बिन्दुएं हैं जिन इन पूर्वापर सात बिन्दुओं में क्रमशः स—त्—र—य—र—क्—ट्—ये सात मर्त्य व्यञ्जन प्रतिष्ठित होरहे हैं। अब यदि एक भी व्यञ्जन आप इस शब्द में और समाविष्ट करना चाहेंगे तो आपको अन्य स्वर का ही आश्रय लेना पड़ेगा। क्योंकि सात बिन्दुओं के परिपूर्ण बन जाने पर एकस्वर में स्थानाभाव है अन्य आठवें व्यञ्जन को स्वमहिमा में प्रतिष्ठित करने के लिए। सैषा–स्वरस्य–सन्तनानुगता–सहजस्थिति ।

उक्त स्वरस्वरूप–परिचय के माध्यम से अब हमे यह मान लेना पड़ा कि स्वर और व्यञ्जन इन दोनों में से वितानात्मक–सन्तनन–(फैलाव पसार) की शक्ति नवबिन्द्वात्मक–केवल स्वर में ही है। व्यञ्जन केवल एक बिन्द्वात्मक है। अतएव व्यञ्जनों में– सम्प्रसारणधर्म्म (व्याप्तिधर्म्म) का सर्वथा अभाव है। व्यञ्जन तो उच्चारण के साथ ही एक संस्काररहीन–यथाजात–पार्थिवशरीर मात्र–काम भोगपरायण–प्राकृत मानव की भांति परिसमाप्त है— जायस्व म्रियस्व स प्रकृतिसिद्ध आविर्भाव तिरोभाव धर्म्मानुबन्ध से। पूर्वक्षण में अव्यक्त केवल मध्यक्षण मे व्यक्त पुनः तदुत्तरक्षण में अव्यक्त इन तीन क्षणों में ही मर्त्य पार्थिव–व्यञ्जन का सम्पूर्ण इतिवृत्त परिसमाप्त है जो कि इतिवृत्त व्यञ्जन से अभिन्न क्षरात्मक भूत का किंवा भूतात्मक क्षर का माना गया है ×। क्षरः सर्वाणि भूतानि के अनुसार जो स्वरूप जो धर्म्म भौतिक मर्त्य क्षर का है ठीक वही स्वरूप वही धर्म्म तदभिन्न मर्त्य पार्थिव आनुष्टुभ व्यञ्जन का है।

और स्वर ?। स्वर तो उस अक्षर से समतुलित किंवा अभिन्न है– जो अक्षरत्व– न क्षीयते–निर्वचनानुसार अपने अमृत–मधु–धर्म्म से सर्वथा अक्षर (अक्षयभावापन्न) ही प्रमाणित



× अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत !।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना (गीता)।

– स्वरोऽक्षरम्। सहाद्यैर्व्यञ्जनैः पूर्वैश्चावसितैः ।
—प्रातिशाख्य

होरहा है । अपने मधुमन्–सौर द्रप्राणा मक– सी अक्षरा मक–ध म से यह स्वर क्षरा मक यञ्जनों का आधार बनता हुआ कुछ समय के लिए न्न यञ्जनो को भी मधु यी स्व रूपता अमृतम पात्त प्रदान कर दिया करता है । अक्षराभिन्न न्स अमृत स्व में स तनन की शक्ति है । यह स तनन ही स्थायी सस्कार को अभि यक्त प्रक्रा त रखता है जिस प्रक्रा त को— च ग्णा कहा गया है । जिसप्रका मधु सा मिषा जिह्वा से समन्वित सुप्रसिद्ध **कुक्कुटप्राणी (मुगा) × का गालीकृत (कादाकीचयुक्त)** चञ्चु के द्वारा उप ल ध कृमि कीटादि प्राणियो को उत्कन्च वणा के साथ (फफेड़ फफेड कर) अपना भाग्य बनाए रहता है ठीक इसीप्रकार कुक्कुटस्थानीय * मधुरसा मक सौर आहत द्रप्राण मक-स्वर अप ी स तनन रूपा चञ्चु से पाथव म य यञ्जनो को प्रचण्ड च ग्णा से ही स तत वितत करता हुआ ह अपना भो य बनाता रहता है । अर्थात् स्वरसन्तनन के ारा ही म य यञ्जन भी कुछ दूर प य त नादध्व के अनुगामी बनते र त है और यो एकमात्र मधुरसा मक स्वर के स तननानुग्रह से ही यञ्जन भी सङ्गीत म कुछ समय के लिए मधुरसा मक बन जाया करते ह । सी प्रकृतिसद्धा ऐ द्री स्वर च ग्णा के लिए महर्षिने— **चचू यमाण** जसा मह वपूण श द अभि यक्त किया है अपनी पुराणीप्रज्ञा स जस इस त य का ही नि न लिखित अ य त ही रहस्य पूण म त्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

बीभत्सूना सयुज हममाहुरपा दि याना सख्ये चर तम् ।
अनुष्टुभमनु चचूर्यमाणमिन्द्र निचक्यु कवयो मनीषा ।।

ऋक्स १ १ ४।६।

विस्तारभिया उक्त रहस्यम त्र के ता वक विस्तार में न जाते हुए अभी प्रसङ्गोपात्त म त्र के स बन्ध मे यही जान लेना अल होगा कि —प्र येक म य पार्थिव क्षराक्मक भूत पार्थिवी अनुष्टुप वाक के सम्ब ध स अनुष्टुप वाङ मय ही है । अनुष्टुभा मक पार्थिव क्षरभूतो का प्रतिष्ठा मक आ ार वह अमृत प्रणा मक सौर मधु रसमय आहत अक्षरात्मक द्रप्राण ही है जो चचू यमाणवृत्ति से इन मत्य भी क्षरभूतो को जीवन सत्ता प्रदान करता रहता है । अर्थात् अक्षरा मक अमृते द्र ही क्षरा मक म यभूतो की दिगदेशकालानुगता जीवनसत्ता का ारण बना हुआ है । प्र येक क्षरभूत में प्र येक पार्थिव अनु ुप मे आ ाररूपेण अमृते द्राक्षर भी विद्यमान है जसका मनीषिगण अपनी सा वकी पुराणी प्रज्ञा से अ वषण कर इन म यभूतों मे भी अमृतसम्पत्ति प्रा त करने मे समथ बन जाते है — न्यलमतिपलवितेन दुर्बो यतम मन्त्राथप्रसङ्ग न ।

लौकिक उदाहरण के मा यम से क्षरा मक म यभावापन्न यञ्जन के आ ार बने हुए अक्षरा मक अमृतभावापन्न स्वर की मधु सानुगता मधुरिमा का सम वय कीजिए । **छप्पन भोग छत्तीस यञ्जन**

× कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व (यजु सहि ।।) (विस्तार के लिए दखिए शतप प्रथमखण्ड) ।

*—यह अवधेय है क अ या गोतम सवाद म द्र के कुक्कुटरूप का भी सग्रह हुआ है ।

— इह चेदवेदीदथ सत्यमास्त न चेदिहावेदी महती विनाष्टः ।
भूतेषु भूतेषु विचि त्य धीरा प्र य–अस्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।

—कनोपनिषत् ।

नाम के अभिमाणक से सभी ऐश्वर्य्यशाली सुपरिचित होंगे। भोज्य–चोष्य–लेह्य भेद से चार श्रेणियों मे विभक्त भोज्य पदार्थ पाककर्त्ता के कौशल से तथा परिग्रहात्मक–पदार्थों के वातावरण से जहां सुस्वादु बन जाते हैं वहां पाककर्त्ता के शैथिल्य से साथ ही साधन–परम्परा के दोष से अस्वादु भी बन जाया करते हैं। छप्पन भोगों से समन्वित ३६ सौ व्यञ्जन यों मानवीय मन के लिए स्वादु (मनभावन रुचिकर प्रिय) भी बन जाते हैं एवं अस्वादु–(अप्रिय) भी बन जाते हैं। प्रियभावानुगता रुचि से अनुप्राणित यह स्वाद ही सौर मधु रस है जो प्रत्येक भोज्यादि व्यञ्जन को सुस्वादु (जायकेदार) बना दिया करता है। दधि–घृत–दुग्ध–गोधूम यव शर्करा गुड क्षीर लाप्सिका–अपूप–आदि आदि सभी भोज्य सौर मधु भाग के समीकरण से जहां सुस्वादु बन जाते हैं वहां पाकादि की असावधानी से मधुरस के अभिभव से वे ही व्यञ्जन अस्वादु भी बन जाया करते हैं व्यञ्जनों का वह स्वादुरस ही अमृतात्मक स्वर भाग है जिसके अभिभूत होजाने पर किंवा निकल जाने पर सभी व्यञ्जन गतरस बन जाया करते हैं जिन एवंविध नीरस अस्वादु मधुशून्य– व्यञ्जनों को ही यातयाम कहा गया है —। पेय पानी में अन्तर्य्यामरूप से प्रतिष्ठित वही मधुरस शिवतमरस कहलाया है– यो वः शिवतमो रसः। यही जीवनीय रस माना गया है। यही आयु सूत्र संरक्षक रस माना गया है। क्यों ?।

इसलिए कि सौर-आहत इन्द्रप्राणात्मक मधु ही षट्त्रिंशत्–बृहती (३६) संख्याओं में परिणत होता हुआ अहोरात्र परिप्लवन से मानव के शतायुर्जीवन का आधार बना हुआ है। सौर बृहती छन्द के ३६ अक्षर बतलाए गए हैं। प्रत्येक अक्षर सहस्र भागापन्न है। फलतः सौर रश्मिगत आहत–अक्षरात्मक–जीवनप्रद स्वरात्मक–मधप्राण ३६ सहस्र संख्या मे परिणत होजाता है। ये ही मानव के जीवनीय आयु सूत्र कहलाए हैं। यही आयु प्राण विश्वप्राण का अत्यतम मित्र बनता हुआ– विश्वामित्र नाम से भी प्रसिद्ध है। इसप्रकार दैनदिनीय अन्नयज्ञ (भोजनकर्म्म) से अनुप्राणित भौतिक व्यञ्जनों में पेय पानियों में श्रवण–दर्शन गमन हसन–शयन आदि आदि यच्चयावत् कर्म्मकलापों में हम सौर मधु–रसात्मक– स्वर को परिव्याप्त देखते हैं। मधु–प्राणात्मक स्वर की अभिव्यक्ति से समीकरण से समावेश से जहां ये भौतिक–विवर्त्त मधुर–श्रेय–प्रिय रुचिकर मनभावन बने रहते हैं वहां मधुरसात्मक सौर–स्वर की अभिभूति से विषमता से निर्गमन से वे ही भौतिक–विवर्त्त कटु–अप्रिय–अरुचिकर–मनोविद्विष्ट–उद्वेगकर ही बन जाया करते हैं। जब भोग्यजगत् मानवीय मन को सभी दृष्टियों से अस्वादु–नीरस–यातयाम–प्रतीत होने लगता है तो निश्चयेन उस अवस्था में जीवनसत्ता सदिग्धा बन जाया करती है एवं उसी अवस्था के लिए महर्षि ऐतरेय ने– स यत् करणीयं मन्येत–न कुर्य्यात् यह उद्बोधन प्रदान किया है।

रुदन एक अप्रतीतिकर ग्लानिकर–उद्वेगकर भाव माना गया है। किन्तु–मधु अमृत सौर स्वर–साम के समावेश से रुदन जैसा उद्वेगकर–कटु कर्म्म भी मधुर बन जाया करता है। अतएव लोक में प्रसिद्ध है कि कलावन्त का तो रोना भी गाना ही है सचमुच स्वरसंधान से समन्वित तो रोना भी

———

—यातयाम गतरस पूति–पर्य्युषित च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्य भोजन तामसप्रियम् ॥
—गीता १७।१।

सम् भावात्मक–समीकरण से– सङ्गीत बनता हुआ शान्तिप्रद–सुखप्रद ही बन जाया करता है इस मधु स्वर रसात्मक रुदन से अपने बालभावापन्न सौम्य रस से शिशु का रोदन भी सुखावह बन जाया करता है। लोक में ही क्यों शास्त्रीय दृष्टि से भी स्वरानुगत रुदन का भी उपासनाजगत् में महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। रुरुदु सुस्वरम् – रूपेण प्रसिद्ध गोपीगीत के स्वरात्मक रुदन से कौन उपासक परिचित न होगा ?।

या–सम्पूर्ण त्रैलोक्य के भूत–भौतिक–पदार्थों में कर्म कलापों में शारीरिक–ऐन्द्रियक–चेष्टाकर्म्मों में सर्वत्र–स्वरसामात्मक सौर–मधुरस प्रतिष्ठारूपेण परिव्याप्त है और यही इन सब भौतिक–विवर्त्तों की जीवनसत्ता की प्रतिष्ठा है। जबतक स्वर का अनुग्रह है तभी तक यज्ञनों की स्वरूपसत्ता सुरक्षित है। इसप्रकार सभी दृष्टियों से हम व्यापक स्वरसामात्मक महान्–विश्वसङ्गीत का साक्षात्कार कर सकते हैं करते रहते है। **और स्वरात्मक यही सौर सङ्गीत यज्ञनात्मक विश्व की जीवनसत्ता का प्रमुख आधार बना हुआ है** जिस इस प्रकृतिसिद्ध महासङ्गीत के आधार पर ही सङ्गीत प्रवर्त्तक–तुम्बुरु नारदादि ऋषिप्राणों के द्रष्टा अतएव तुम्बुरु–नारदात्मक–ऋषिप्राणों के नाम से ही लोक में प्रसिद्ध होजाने वाले मानवमहर्षियों की ओर से स्वरसामात्मक–नृत्यगीतवादात्मक–उस सङ्गीत का सङ्कलन हुआ है जिसके नाद श्रुति स्वर ये तीन प्रमुख प्रक्रम बने हुए हैं। जिन तीनों के अन्त के स्वर नामक मधुरिमा–प्रवर्त्तक–आनन्दप्रद–आलापात्मक तत्त्व का ही अबतक विभिन्न दृष्टिकोणों से यशोगान प्रक्रान्त है।

षडज–ऋषभ–गान्धार–मध्यम–पञ्चम–धैवत निषाद (सा रे–ग–म–प ध–नी–) नाम से प्रसिद्ध–लोकसङ्गीत के प्राणप्रतिष्ठारूप ये सुप्रसिद्ध सात–स्वर परमेष्ठ्या सौर–मधु रसात्मक–अमृत–अक्षरात्मक– स्वरसाम से ही क्योंकि अभिव्यक्त हुए है अतएव इन्हें भी स्वर कह दिया जाता है। सहज सुखानुभूति–ही– स्वर का स्वरूप परिचय है। सुखप्रवर्त्तक इस स्वर के सम्बन्ध से ही सौर बृहन्मण्डल स्व –स्वर्ग –आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। स्वर्गलोकात्मक (सुखलोकात्मक) सौर स्वरसाम ही लोक सङ्गीत के सप्तविध–स्वरों का अभिव्यञ्जक है। अतएव षड्जादि भाव भी स्वर नाम से ही प्रसिद्ध होगए है। अपने नवविद्धात्मक–वितान–आतान–प्रस्तार–धर्म्म से–तत्प्रतिरूप सप्तस्वरों में ही वह आलापधर्म्म अभिव्यक्त है जिस आलाप की पारिभाषिक संज्ञा है अनुरणन। सङ्गीताचार्य की सङ्गीतात्मिका शब्द ध्वनि वातावरण में तरङ्गन्यायेन जो एकप्रकार का सुसूक्ष्म शब्दात्मक-कम्पन उत्पन्न कर देती है जिस कम्पन–समुद्र में श्रोताओं का मन निमज्जित होजाया करता है उसी का नाम– अनुरणन है। इसी की लोक अभिधा है समा बँध जाना। मन का साम्य ही यह समा है। साम्यभावात्मक–एकीभावात्मक इस सम् से ही तो यह गीत (गायन) सङ्गीत कहलाया है। गीत (गायन) वही गीत है जिसके मूल में

— इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं" राजन्! कृष्णदर्शनलालसाः॥
—श्रीमद्भागवत १० पू। ३२ अ। १ श्लोक।

स्वरात्मक-सम् भाव प्रतिष्ठित है। सङ्गीत वही सङ्गीत है जो स्वर से अभिन्न है। एवं स्वर वही स्वर है जो परब्रह्म के अक्षर से अभिन्न है *।

सङ्गीतज्ञ के सङ्गीत के हृदयानुगत नाद से उत्थित द्रावशात नाडियों से विनिःसृत २ श्रुतियों के द्वारा ही कण्ठद्वार से सर्वथा विभक्त होकर विनिर्गत उसी भाव का नाम स्वर है जो मधुरस का वर्षण ही कर देता है। सङ्गीताचार्य के व्यञ्जनात्मक वर्ण (बोल) आनन्द के प्रवर्तक नहीं है। अपितु इन व्यञ्जनों का मूलाधार बना हुआ-आलाप-सलाप-मूर्छना-आदि से समन्वित-स्वरसन्धान ही स्वयं सङ्गीतज्ञ के लिए एवं श्रोता के लिए श्रुतिमधुरसम्पन्न आनन्द का (मनस्तुष्टि का) कारण बना करता है। यही कारण है कि उच्चश्रेणि के शास्त्रीय-सङ्गीत में व्यञ्जन न्यूनतम ही रहा करते हैं। अन्त में इति पर्यन्त स्वर का ही सन्तनन रहता है अवश्य ही आज के भूतप्रधान-व्यञ्जनप्रधान जडजीवन के जडीभूत मन के लिए इत्थभूत स्वरप्रधान शास्त्रीय सङ्गीत अञ्जसा सुखावह नहीं बन रहा। आजतो जडताप्रवर्त्तक भौतिक-अनुबन्धों को तदनुप्राणित कव्वालीकृत-नग्न गायन को (नहीं अपितु उन्मादवासनात्मक हीनतम उद्वेग कर विजम्भृणा को) ही सङ्गीत की उपाधि दी जारही है जिसका वस्तुगत्या-सङ्गीत शब्द के स्पर्श से भी सम्बन्ध नहीं है। प्रकृतम इस प्रक्रान्त स्वर प्रसङ्ग से हमें यही बतलाना है कि नादानुगता श्रुति के द्वारा अभिव्यक्त अनुरणनात्मक सर्वथा विभक्त तत्व ही स्वर का सङ्क्षिप्ततम स्वरूप परिचय है। स्वत एव रञ्जयति श्रोतृचित्तम् ही इस स्वर शब्द का निर्वचनात्मक (सङ्गीतानुगत) समन्वय है। स्वर के इसी स्वरूप परिचय को लक्ष्य बनाकर सङ्गीताचार्य्यों ने कहा है—

> श्रुतिभ्यस्तु स्वराः-षडज-र्षभ-गान्धार-मध्यमाः ॥
> पञ्चमो धैवत-श्चाथ निषाद-इति सप्त ते ॥ १ ॥
> (तेषां सञ्ज्ञा -स-रि-ग-म-प-ध नी-त्यपरा मता)
> श्रुत्यन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः ॥
> स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स 'स्वर' उच्यते ॥ २ ॥
> राजदीप्तावस्य धातोः स्व' शब्दपूर्वकस्य च ॥
> स्वयं हि राजते यस्मात्-तस्मात्-'स्वर' इति स्मृतः ॥ ३ ॥

---

* प्रथम मान 'ओङ्कार'-देवन मान 'महादेव' नाद मान 'गोरख', वेद' मान 'ब्रह्मा'। (प्र)
गीत को 'सङ्गीत' मान, सङ्गीत को 'स्वर' मान
स्वर को 'अक्षर' मान ताल लग ता
कहत बैजू बावरे सुनहू गोपाललाल !
दिन मान 'सूरज' रैन मान 'चन्दा'।
—प्रथम मान ओङ्कार—

नासा–कण्ठ–उर–स्तालु–जिह्वा–द ता–स्तथैव च ॥
षडभि सञ्जायते यस्मात् तस्मात् 'षड्ज इति स्मृत ॥ ४ ॥
नाभे समुदितो वायु कण्ठ–शाष समाहत ॥
ग धर्वसुखहेतु स्यात्– गा धार' स्तेन उ यते ॥ ५ ॥
वायु समुत्थितो नाभेहृ दयेषु समाहत ॥
मध्यस्थानोद्भवत्वाच्च 'मध्यम स्तेन कार्त्तित ॥ ६ ॥
वायु समुत्थितो नाभेरोष्ठ–कण्ठ–शिरो–हृ ॥
पञ्चस्थानसमुद्भूत पञ्चम' स्तेन उ यते ॥ ७ ॥
नाभे समुत्थितो वायु कण्ठ–तालु–शिरो–हत ॥
निषोद ति स्वरा सर्वे 'निषाद' स्तेन कथ्यते ॥ ८ ॥
नराणातु मुख य द्वद्दर्पणषु विवर्त्तितम् ॥
प्रतिभा ति स्वरास्तद्वत् श्रुतिष्वेव विवर्त्तिन ॥ ९ ॥
श्रुतय स्वररूपेण परिणाम व्रज ति हि ॥
परिणाम यथा क्षीर दधिरूपेण सर्वथा ॥ १ ॥
षडजादय स्वरा सप्त यज्य ते श्रुतिभि सदा ॥
अ धकारस्थिता यद्वत् प्रदीपेन घटादय ॥ ११ ॥

जसाकि नाद प्रसङ्ग में निवेदन किया गया है हृदयोपलक्षित–उर स्थान–कण्ठस्थान–शिर स्थान नामक तीन भेदो से म द्रनाद–मध्यनाद तारनाद इन त्रिविध नादो से अनुप्राणिता म द्रश्रुति मध्यश्रुति–तार श्रुति–इन तीन श्रुतियो की अभि यक्तिरूप सप्तस्वर ी (प्र येक स्वर भी) म द्रस्वर मध्यस्वर तारस्वर भेदने तीन महिमा भावो में परिणत रहत है जिस इस त्रि व का मूलाधार सवनत्रया मक वह स व सरमण्डल ही माना गया है जिसका मन्द्रस्वरा मक गायत्रीछ दस्क अग्निप्रधान प्रथिवीलोक ही प्रात सवन है । म यस्वरा मक त्रि टुपछ दस्क वायुप्रधान–अ तरिक्षलोक ही मा यन्दिनसवन है । एव तारस्वरा मक–जगतीछ दस्क आदि यप्रधान–द्यु लोक ही सायसवन है जिस इस त्रलोक्यमयी–सच्छ दस्का–सवनत्रयी का प्र येक अह काल में (प्रत्येक दिनमें) भी प्रात –मध्याह्न–साय–रूप से क्रमिक–भोग होरहा है जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

सर्वानुगता त्रयी	म द्रनाद	म यनाद	तारनाद
	म द्रश्र ति	म यश्र ुत	तारश्र ुति
	म द्रस्वर	मध्यस्वर	तारस्वर
आधिदैवतम्	त्रिवृ स्तोम (६)	पञ्चदशस्तोम (१५)	एकविंशस्तोम
	पृथिवी	अन्तरिक्षम्	द्यौ
	आग्न	वायु	आदि य
	गायत्री	त्रिष्टुप्	जगती
	प्रात सवनम्	मा यन्दिनसवनम्	सायसवनम्
आधिभूतम्	प्रातकाल	मध्याह्नकाल	सायकाल
श्र या मम्	उर स्थानम्	कण्ठ स्थानम्	शिर स्थानम्

त्रिस्थान भेद से तीन प्रमुख भागो में विभक्त सप्त स्वर ही सङ्गीतशास्त्र म **शुद्धस्वर** कहलाए है स त शुद्धस्वर ही श्र तियो के तारत य से **बारह्–प्रकार** की अवा तर सायौगिकी–अवस्थाओं में परिणित होजाते हैं। व ही यौगिक स्वर– **विकृतस्वर** कहलाए हैं जिन का भी प्रसङ्गोपत्त तालिकामात्र स नामस्मरण क लिया जाता है—

विकृतस्वर-तालिका

सख्या	नाम	यस्थिति	श्रवस्था
१	च्युतषड्ज	म दासस्थित	द्विश्र तिक
२	श्र युत–षडज	छ दोवतीस्थ	द्विश्र तिक
३	विकृतऋषभ	रतिकास्थित	चतु श्रुतिक
४	साधारणगा धार	वज्रिकास्थित	त्रिश्रुतिक
५	श्र तरगा धार	प्रसारिणीस्थ	चतु श्र तिक
६	युत म यम	प्रातिसस्थित	द्विश्रुतिक
७	श्र युत म यम	मा जनीस्थ	द्विश्र तिक
८	त्रिश्रुति–पञ्चम	स दीपनीस्थ	त्रिश्रुतिक
९	कौशिक–पञ्चम	सन्दीपनीस्थ	चतु श्रुतिक
१	विकृत धैवत	र यासस्थित	चतु श्र तिक
११	कौशिक–निषाद	तीव्रासस्थित	त्रिश्र तिक
१२	काकली निषाद	कुमुद्वतीस्थ	चतु श्र तिक

त-मन्द्र-मध्य तारा-ख्य-स्थानभेदात्-त्रिधा मता ।
ते एव विकृतावस्था द्वादशा प्रतिपादिता ।
तै शुद्धै सप्तभि सार्द्ध भव त्येकोनविंशति ॥ (१६) ॥

अ यदपि किञ्चित् प्रासङ्गिक-स्वर-सम्बन्धे एव—

परब्रह्मानुगत-अर्थों के **आम्भृणीकुल** म जसे वण-जाति छन्द-ऋषि-दवता-आदि-व्यवस्थाए व्यवस्थित है ठीक उसीप्रकार शब्दब्रह्मानुगत **सरस्वतीकुल** मे स भूत इन स्वरो म वण-छन्द-ऋषि-दवता-आदि सभी यवस्थाए व्यवास्थत हैं जिन क वज्ञानिक-स्वरूप-विश्लेषण का अत्र अवसर नही है। पाठको के चि तन मनन सौक य-मात्र के लिए उन अवस्थाओं में से कतिपय अव थाओ का यहा नामस्मरण मात्र ही कर लिया जाता है।

षडज स्वर **(सा)** के **ऋषि वह्नि** हैं ऋषभ **(रि)** के **ब्रह्मा** हैं गान्धार (ग) के **चन्द्रमा** हैं म यम **(म)** के **विष्णु** है। पञ्चम (प) के **नारद** हे धवत और निषाद के **(ध नी के) तुम्बुरु** ह। सातो स्वरो के क्रमश **वह्नि ब्रह्मा सरस्वती श व (महादेव) विष्णु गणपति सूर्य** ये सात— **देवता** ह। सातो के क्रमश —**अनुष्टुप्-गायत्री-त्रिष्टुप् बहती-पङ्क्ति-उष्णिक्-जगती**-ये सात छन्द है।

षड्ज गान्धार म यम (सा ग म) ये तीन स्वर **देवकुल** से समुत्पन्न हैं। **पञ्चम-स्वर (प) पितृकुल** से उत्पन्न है। **ऋषभ और धैवत (रि ध)** ये दो स्वर **ऋषिकुल** से अभिव्यक्त ह। एव **निषाद (नि)** स्वर **असुरकुल** से उत्पन्न है। **षडज मध्यम पञ्चम (सा -म -प)** ये तीन स्वर वणत **ब्राह्मण** है। **ऋषभ और धैवत (रि-ध)** ये दो स्वर **क्षत्रिय** है। **निषाद और गान्धार (नि-ग)** ये दो स्वर **वैश्य** हैं। एव अन्तर काकली * रूप में परिणत ये ही निषाद-गान्धार **शूद्र** है।

षडज (सा) **पद्मवण (रक्तवण)** है ऋषभ (रि) **पिञ्जरवण (ईषत्-पीतवण)** है। गान्धार (ग) **स्वणवण (अतिपीतवण)** है मध्यम (म) **कुन्दवण (श्वेतवण)** है पञ्चम (स) **असितवण श्वेतवण)** है । धैवत (ध) **पीतवण (सामान्य पीतवण)** है । एव निषाद (नि) **कर्बुरवण (विचित्रवण)** है ।

षडजस्वर (सा) वीर एव अद्भुत रसात्मक है ऋषभस्वर **रौद्ररसानुगत है** धवत **(ध)** स्वर **बीभत्स** तथा **भयानक-रसात्मक** है। गान्धार और निषाद (ग-नि) ये दानो स्वर करुणारसानुगत है। मध्यमस्वर **(म) हास्यरसात्मक है** एव पञ्चमस्वर **(प) शृङ्गाररसात्मक है।**

---

*—निषाद षडजस्य यदि श्रुतिद्वय सश्रयेत् षडजस्य द्वितीयश्रुतौ तिष्ठन्-चतु -श्रुतिर्भवति-तदा-**काकली** त्युच्यते। गान्धारस्य म यमस्य श्रुतिद्वय ग्रहणन् चतुश्रुति सन् **अन्तर** इत्युच्यते। तदित्थ-निषाद-गान्धारावव-अनेन प्रकारेण- **काकल्यन्तरस्वरौ** इत्यवधेयम्।

षडजस्वर (सा) की अभि यक्ति जम्बुद्वीप में हुइ है। ऋषभस्वर (र) की शाकद्वीप मे गा धारस्वर (ग) की कुशद्वीप में मध्यमस्वर (म) की क्राञ्चद्वीप में पञ्चमस्वर (प) की शा मलीद्वीप मे वतस्वर (ध) की श्वेतद्वीप में ए निषादस्वर (नि) की अभि यक्ति पुष्करद्वीप में हुइ है।

अयमत्र सगृह —

वह्नि–र्वेधा –शशाङ्कश्च लक्ष्मीका तश्च नारद ॥
ऋषयो दद्दशु पञ्च षडजादीन्तुम्बुरुधनी ॥ १ ॥
वह्नि–ब्र ह्म–सरस्वत्य –शर्व–श्री–गणेश्वरा ॥
सहस्राशु–रिति प्रोक्ता क्रमात् षडजादिदेवता ॥२॥
क्रमादनुष्टुप–गायत्री–त्रिष्टुप–च बहती–तत ॥
पक्ति रुष्णिक च जगती त्याहुश्छ दासि सादिपु ॥३॥
गीवार्णकुलस भूता षडज गा धार–मध्यमा ॥
पञ्चम पितवशोत्थो, रि ध ऋषिकुलोद्भवा ॥४॥
निषादोऽसुरवशोत्थो ॥
ब्राह्मणा स म पञ्चमा ॥५॥
रि–धौ तु क्षत्रिया ज्ञया वैश्यजाता नि गा मतौ ॥
शूद्राव तरकाकल्या ॥
स्वरवर्णास्त्वम क्रमात् ॥६॥
पद्माभ , पिञ्जर स्वर्णवर्ण कु दप्रभोऽसित ॥
पीत कर्व्बुर इत्ये ।
षा ज मभूमिमथ ब्रुवे ॥७॥
जम्बु शाक कुश क्राञ्च शाल्मली श्वेत नामसु ॥
द्वीपेषु पुष्करे चैते जाता षडजाद्य क्रमात् ॥८॥
स री वीरेऽद्भुते रोद्र , धो बीभत्से भयानके ॥
कार्य्यौ ग नी तु करुणे, हास्य शृङ्गारयो र्म पो ॥९॥

स्वरा —	१ ऋषय	२ देवा	३ छन्दांसि	४ कुलानि	५ वर्णजातय	६ वर्णभावा	७ रसभावा	८ अभिव्यक्तिभूमि
प्रथम १–षड्जस्वर (सा)	वह्नि	अग्नि	अनुष्टुप्	देवकुलम्	ब्राह्मण	पद्माभ (रक्तवर्ण)	वीर एव अद्भुतरस	जम्बुद्वीपे
द्वितीय –२ ऋषभस्वर (रे)	ब्रह्मा	विधाता	गायत्री	ऋषिकुलम्	क्षत्रिय	पिञ्जराभ (ईषत्पीतवर्ण)	रौद्ररस	शाकद्वीपे
तृतीय –३ गान्धार स्वर (ग)	चन्द्रमा	सरस्वती	त्रिष्टुप्	देवकुलम्	वैश्य *	स्वर्णाभ (अतिपीतवर्ण)	शान्त	कुशद्वीपे
चतुर्थ –४–मध्यमस्वर (म)	विष्णु	महेन्द्र	बृहती	देवकुलम्	ब्राह्मण	कुन्दाभ (श्वेतवर्ण)	हास्यरस	क्रौञ्चद्वीपे
पञ्चम –५–पञ्चम स्वर (प)	नारद	नारायण	पङ्क्ति	पितृकुलम्	ब्राह्मण	असिताभ (कृष्णवर्ण)	शृङ्गाररस	शाल्मलीद्वीपे
षष्ठ –६–धैवतस्वर (ध)	तुम्बुरु	गणपति	उष्णिक	ऋषिकुलम्	क्षत्रिय	पीताभ (सामान्यपीतवर्ण)	बीभत्स एव भयानकरस	श्वेतद्वीपे
सप्तम –निषादस्वर (नी)	तुम्बुरु	सूर्य	जगती	असुरकुलम्	वैश्य *	कर्बुराभ (विचित्रवर्ण)	करुणरस	पुष्करद्वीपे

*—ननु काकल्यन्तरयोरपि स्वरान्तरयोर्द्वयोः सद्भावात् 'सप्तैव—स्वरा' इति कथं नियम्यते ? । 'नवस्वरा' इति वक्तव्यम् ? इति मतम् । अनाश्रयत्वात्-तयोः स्वरान्तरत्वं नास्ति—विकृतनिषादस्यैव काकलीत्वं, विकृतगान्धारस्यैव अन्तरत्वम् इति सप्तैव स्वराः । तथाचोक्तमभियुक्तैः —

निषादः काकली' सञ्ज्ञो द्विश्रुत्युत्कर्षणाद् भवेत् ॥
गान्धारस्तद्वदेव स्यात् 'अन्तर' स्वरसञ्ज्ञकः ॥१॥
अनाश्रयत्वाद् भेदेन स्वरता नोच्यते तयोः ॥
अतो निषादगान्धारावेतावाप्तैरुदाहृतौ ॥ ॥

—दन्तिल

व्यञ्जन का आधारभूत स्वरतत्त्व सात महिमाभावों मे क्यों और कैसे परिणत होगया ? इस प्रासङ्गिक मह व पूण प्रश्न के स ब ध में भी प्रसङ्गात् किञ्चिदव निवेदन करना आवश्यक है। यह स्पष्ट किया जाचुका है कि स्वर अक्षरतत्त्व का ही नाम है। जैसे अ यय का साङ्केतिक नाम मन है क्षर का साङ्केतिक नाम वाक है एवमेव अक्षर का साङ्केतिक नाम प्राण है। मन–प्राण वाग्–घन अ यय–अक्षर–क्षरा मक–परा पर–समन्वित–षोडशी पुरुषा मक पुरुष ही तो परब्रह्म का कृत्स्न-स्वरूप परिचय है। न थभूत पुरुषा मा के परा पर यथादि चारो महिमाविवर्त्तों को ही तो पूव में क्रमश अर्द्ध मात्रा स्फोट स्वर–व्यञ्जन इन नामो स समन्वित माना गया है। स र्वा मक सवनिरपेक्ष अर्द्ध मात्रा मक–परा पररूप अखण्डधरातल पर प्रतिष्ठित स्फोटा मक–ज्ञानशक्तिघन आ यपुरुष ही अथसृष्टि–का आलम्बनात्मक अधिष्ठानकारण है स्वरा मक–क्रियाश क्तमय अक्षरपुरुष ही अथसृष्टि का निमित्त कारणा मक असमवायिकारण है एव व्यञ्जना मक अथशक्तिमय क्षरपुरुष ही अथसृष्टि का उपादान कारणात्मक समवायिकारण है। इस कारणत्रयीरूप त्रिपुरुषपुरुषा मा से ही श दा मक पाञ्चभौतिक पञ्चपर्वा विश्व की एव पञ्चा मिका विश्वप्रजा की अभि यक्ति हुई है। सैषा स्थिति ।

उक्त मूलस्थिति मे सृष्टिकर्तृ व प्रमुखरूप से उस स्वरा मक अक्षर को ही प्रा त है जो क्रियाशक्तियुत प्राण से गतिशील बना हुआ है। सस्रणध र्मा गतिशील परिवर्त्त नशील–विश्व का प्रमुख कर्त्ता गति प्राणा मक अक्षरत व किंवा तदभिन्न स्वरत व किंवा तद्रूप प्राण त व ही बना हुआ है जसा कि— तथा–अक्षराद्विविधा सोम्य ! भावा प्रजाय न्ते तत्र चैवापियन्ति इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। स्वरा–भिन्न अक्षररूप इस प्राण का ही साङ्केतिक नाम है असत् त व। सद्रूपता ही सद्घन इस प्राणाक्षर की असद् अभिधा का कारण है। यही मौलिक असत् (सद्रूप) प्राणत व अपने सहज प्राणनरूप गतिधम्म से रिषति गच्छति आरिषन् वा इ यादि नि चनानुसार ऋषि नाम से प्रसिद्ध है *।

सृष्टि के मूलप्रवर्त्तक असत्–नामक ऋषिप्राण की एकर्षि द्व्यर्षि त्र्यर्षि सप्तर्षि दशर्षि आदि विविध जातिया है। विरूपास — विविधरूपास–इन ऋषिप्राणो में भूतभौतिकी सृष्टि का प्रमुख आधार वह सप्तर्षि नामक प्राणविशेष ही बना करता है जिस के इन सात अवयवो के ४–२–१ इस क्रम से तीन सस्थान माने गए हैं। ये ही तीनो सस्थान क्रमश चत्त्वार आ मा द्वौ–पक्षौ पुच्छ प्रतिष्ठा रूप से उपवर्णित है। चार प्राणो की समष्टि ही चत्त्वार आत्मा है। दो प्राणो की समष्टि दो पक्ष है एव

---

* असद्वा इदमग्रे आसीत्। तदाहु कि तदसदासीदिति ?, ऋषयो वाव तदग्रे ऽसदासीत्। तदाहु–के ते ऋषय इति ? प्राणा वा ऋषय । ते यत्–अस्मात् सवस्यात् इद मि छ त श्रमेण तपसा अरिषन् तस्मात् ऋषय ।

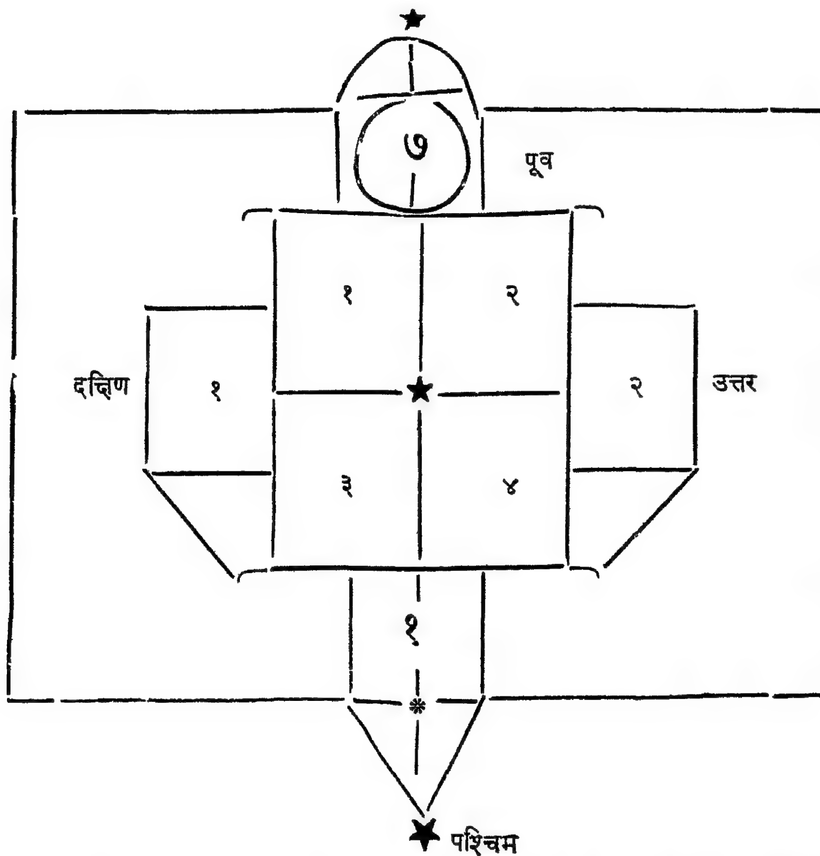
— शत ६।१।१।१।

— विरूपास इद् ऋषयस्त इद् गम्भीरवेपस ।
तेऽङ्गिरस सूनव , तेऽग्ने परिजज्ञिरे ॥

—ऋक्‌स

एक प्राण प्रतिष्ठा मक पुच्छभाव है। प्रत्येक भूतसृष्टि का प्राणा मक–रेखाचित्र बनाइए और उसके इन सात प्राणो को निम्नलिखित रूप से यवस्थित कीजिए। और हा यह यान रखिए कि इन सातो प्राणो का ही नाम **चि यपुरुष** है जिस के म थन से जो ऊ वविनिगत–चितेनिधेय विशुद्ध अमृतभाग है जो कि– **सप्ताना पुरुषणा श्री** कहलाया है वही आठवा (सातों के सा मक अमृतभाग से अभि यक्त–सप्तमूर्त्ति–ऊ वभाग) विभाग है।

'चत्वार आत्मा, द्वा पत्ता पु छ प्रतिष्ठा" इति सप्तपुरुषात्मकश्चित्यप्रजापति —



उक्त परिलेख के मध्य के चार चि यप्राण दक्षिणोत्तर पार्श्वों के दो चि यप्राण पश्चिमानुगत एक चित्यप्राण इन सातो चि यप्राणों की समष्टि का नाम तो **चि यपुरुष** है एव पूर्वानुगत उस अष्टम का नाम– **चितेनिधेय पुरुष** है जिसे– अमृत कहा गया है। यो अमृत–म य–के सम वय से सम्पन्न यह सप्तपुरुषा मक प्राणा मा प्रजाप्रति ही वह छ द है जिसमें इसी अनुपात स क्षरा मक भूत प्रतिष्ठि होते हैं और क्षरभूतो के यथास्थान प्रतिष्ठित होते ही वह अव्यक्त–प्राणपुरुष– यक्तभूतरूप में परिणत होता हुआ– विश्व

नाम धारण कर लेता है। लोकप्रसिद्ध–सञ्चा [साचा–रेखाचित्र–माडल] ही छन्द पुरुष है। एव प्र येक भूतभौतिकी सृष्टि में यही स तत्प्राणामूर्त्ति अन्तरा मक स्वरा मा मूलाधार बना हुआ है।

मनु य को लीजिए। जिसे धड कहा जाता है वही म याङ्ग है और हृदय से ऊपर कण्ठ प य त तथा नीचे ब्रह्मग्रन्थि–प य त स पूर्ण म याङ्ग में चार प्राण प्रतिठित है। क्योंक प्राणचतुष्टय मक न्सी म याङ्ग के आधार पर मस्तक– ाथ पैर आदि इतर सभी शारीरिकपव प्रतिठित रहते है। एतावता ी इस विभागचतुष्टयी को– **चत्वार आत्मा** कह दिया जाता है। दक्षिण हाथ–दक्षिण पाद दोनो की समष्टि एक प्राणा मक दक्षिणपक्ष है वाम हस्त पाद की समष्टि वामपक्ष है। शिरो भाग से आर भ कर ब्रह्मग्रा थ प य त लम्ब–यष्टिवत् वितत सुप्रसिद्ध मेरुदण्ड [रीड की हड्डी] के अ त में प्रतिष्ठिता त्रिकास्थि का प्राण ही पुच्छा मक प्रति ठाप्राण है। यह वही प्राण है जिस की प्रवृत्तिस्थता में ही शरीरयष्टि ऋजुभाव स प्रतिठित रहती है सीधी तनी रहती है। वार्द्धक्य मे जब यह प्रत ठाप्राण मूर्च्छित हाजा ा है तो मरूदण्ड अवनत होजाता है कमर झुक जाती है और उस दशा में कृत्रिम पुच्छप्रति ठा (लकडी छडी) का आश्रय अनिवार्य्य बन जाया करता है। इन सातो प्राणो के अमृतप्रधान रसा मक भाग से ी क्योंकि ऊ वस्थ भाग का नि र्माण होता है अतएव उसे श्री कहा गया है। यही परोक्ष नियमानुसार **शिर** [**मस्तक**] नाम स प्रसिद्ध है।

यही क्रम पशु के शरीर में है यही पक्षी के शरीर में है। यही क्रम की ड़ाम सग में है और यही क्रम उन ओषधि वनस्प यादि में है जिन का एक एक पत्ता भी इन सातो चितियो से समा वत है। किसी भी वृक्ष आषधि के पत्त को सम्मुख रख लीजिए। आप दखगे कि प ो के म य मे एक त तु है वही मेरुदण्ड ह त सल न भाग ही च वार आ मा है। दोनो पाश्व दोनो पक्ष है। मूलभाग वह पु छप्रतिष्ठा प्राण है जिससे पत्ता तना हुआ रहता है एव जिसके मूर्च्छित ोत ही पत्ता मुर्झा जाता है। पार्थिवसृष्टि का सवस्वभूत सम्व सरप्रजापति जब इ थभूत ही है तो तद्गभ में तदश से ही समुद्भूता चर अचर प्रजा इस स तसस्थान–क्रम स कसे वञ्चित रह सकती है?।

म यस्थ वि वदवत्त ही च वार आ मा है षण्मासा मक उत्तरायण उत्तरपक्ष है षण्मासा मक दक्षिणायन दक्षिण पक्ष है के द्रस्थ प्राजापत्या न ही पु छप्रति ठा है। एक पक्षी का जसा आकार है मग्निचिति का लगभग वैसा ही आकार ह। तभी तो सभी का चि य प्राण **हस** [**जीव**] कहलाया है। इसीलिए इस चि यपुरुष का साङ्केतिक नाम होगया है **सुपर्ण**। स व सरा मक महासुपर्ण* ही **साक्षी सुपर्ण** है ए ा तदशभत प्राणी ही **भोक्ता सुपर्ण** है।

---

* **अथ ह वा एष महासुपर्ण एव सम्वत्सर। तस्य या पुरस्तात विषुवत –षण्मासानु पयन्ति सोऽ यतर पक्ष। अथ यान् षडपरिष्टात्–सोऽ यतर। आत्मा विषुवान्।**
–शत १२।२।३।७

जिसप्रकार त्रिपुरुष-पुरुषा मक षोडशी—पुरुषा मा के मन प्राण वा मय त्रिवृ भाव स आ मसर्गा मक विश्व को समष्टि और यष्टिरूप स त्रिपर्वा मक माना गया है * एवमेव अक्षरप्राणा मक स तप्राणा मक—स तपुरुषा मक प्रजापति की तथोक्ता आ मा पक्ष पुच्छ रूपा सात चितयो के अनुब ध स विश्व को समष्ट्या यष्ट्या उभयथा सप्तपर्वा भी कहा जासकता है कहा गया है। उदाहरण के लिए सवप्रथम मानवशरीर को ही लक्ष्य बना ए। मानवशरीर में **शिरोगुहा उरोगुहा उदरगुहा बस्तिगुहा** नामक चार गुहाविवर्त है जिन इनमें (प्रत्येक में) सात सात प्राणो का समन्वय होरहा है जसाकि— **गुहाशया निहिता स त सप्त** — इ यादि वचन से स्पष्ट है। गुहानिहित इन चारो स तको का भी शतपथ प्रथमखण्ड में ही (पृ स ३३९ में) परिलेख के मा यम से दिग्दशन कराया जाचुका है। विश्व म स्वरो का ही सप्तत्व नही है । अपितु अक्षरप्राणा मक—सप्तस्वरो की तथोक्ता सप्तचिति क आधार पर अवस्थित समष्टि—व्यष्टिरूप य चयावत् भूत—भौतिक पदाथ सप्त भावापन्न ही है जिन अगणित सप्तको मे से कुछ एक सप्तको का तालिकारूपेण अत्र नाम दिग्दशन करा दिया जाता है।

१—सप्त प्राण—२ श्रोत्रप्राण २ चक्षु प्राण २ नासाप्राण १—मुखप्राण।

२—सप्त अर्चि—१—काला कराला ३—मनोजवा ४—सुलोहिता ५ सुधूम्रवर्णा ६ स्फुलि-गिनी—७—विश्वरूपा।

३ सप्त होम—१—पाकयज्ञ २—अग्निहोत्र ३—दशपूर्णमास ४—चातुर्मास्य ५—सामयज्ञ ६—महायज्ञ —अनियज्ञ।

४—सप्त लोक—१—सत्यम् २ तप ३—जनत् ४—मह ५ स्व ६—भुव —भू।

५ सप्त अग्निजिह्वा— १—काली कराली ३—रक्तवर्णिका ४—धूम्रपुष्पा ५ धूम्रशीर्षा ६— ज्वलनी ७—जयवती।

६ सप्त अग्नि—१—जिह्वा २—हिरण्या ३—कृष्णा ४ रक्तिका ५ अतिरक्तिका ६—गगना ७ बहुरूपा।

७ सप्त अप्सरा—१ उवशी २ मेनका ३ रम्भा ४—सुकशी ५ तिलोत्तमा ६ मञ्जुघोषा घृताची।

८ सप्त आवरण—१ जल २ अग्नि ३ वायु ४ आकाश ५ अहङ्कार ६ महत्तत्त्व ७ प्रकृति।

---

* शतपथभा य प्रथमखण्ड में इन त्रिपवा का सकलन किया जाचुका है (दखिए। प्रथमखण्ड— पृ स ५११ से ५२ प यन्त।

— **सप्त प्राण प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिष समिध , सप्त होमा ।**
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिता सप्त सप्त ॥
—मुण्डकोपनिषत् २।१।८।

९–सप्त-ऊर्ध्वलोक—१ ब्रह्मलोक २ वकुण्ठ ३ शिवलोक ४ सुरलोक ५ सूर्य्यलोक ६ पितृलोक सिद्धलोक।

१ –सप्त अधोलाक—१ मायालोक २ यमलोक ३ ग धवलोक ४ यत्तलोक ५ किन्नरलोक ६ नागलोक ७–दै यलोक।

११–सप्त ऋषि—१–महर्षि २–ब्रह्मर्षि ३–देवर्षि ४-राजर्षि ५ परमर्षि ६ काण्डर्षि ७–श्रुतर्षि।

१२–सप्त कल्प—१–पार्थिवक प २ कूर्मक प ३ अन तकल्प ४ ब्रह्मक प ५ रुद्रक प ६ श्वेतवाराहकल्प ७ प्रलयकल्प।

१३–सप्त पितर—१ आ यपा २–सोमपा ३ हाविभु क् ४ अग्निष्वात्ता ५ सोमसत् ६ र्हिषत् ७–सुकाली।

१४ सप्त देवपुरो—१ विष्णुपुरी शिवपुरी ३ ब्रह्मपुरी ४ यमपुरी ५ वरुणपुरी ६ अलकापुरी ७ अमरपुरी।

१५–सप्त द्वीप—१ जम्बु २–प्लक्ष ३–शाल्मली ४ कुश ५–क्रौञ्च ६–शाक ७–पुष्कर।

१६–सप्तसमुद्र—१ लवणो २ इक्षुरोद ३ सुरोद ४ घृतोद ५ धिमण्डोद ६ क्षीरोद ७ स्वादूदक्।

१७–सप्त वायु—१ आवह २ प्रवह ३ संवह ४ अनुवह ५ विवह ६ परावह ७ परिवाह।

१८–सप्त पाताल—१ अतल २ वितल ३ सुतल ४ तलातल ५ महातल ६-रसातल ७ पाताल।

१९–सप्तनरक—१-रौरव २ तान ३ विमोहन ४ कृमीश ५ लालाभक्ष ६ अध शिरा ७ अवीचि।

२०–सप्त स्वर्ग—१ अपोदक २ ऋतधामा ३ अपराजित ४ ब्र नस्यविष्टप् ५ अधिद्यौ ६ प्रद्यौ ७ रोचना।

२१–सप्त पर्वत—१-कुलगिरि २ शाखागिरि ३ पादगिरि ४-स्तूपगिरि ५ वर्षपवत ६ विष्कम्भपवत ७ कसरपवत।

२२–सप्त नदी—१ चतुगङ्गम् २ सप्तगङ्गम् ३ नदी ४ महानदी ५ शाखानदी ६ क्षुद्रनदी कुल्या।

२३–सप्त–दश—१ पुरी २ पत्तन ३ महानगर ४ नगर ५ ग्राम ६ खरवट ७-उपनिवेश।

२४–सप्त प्रसिद्ध पर्वत—१ हिमालय २ वि ध्याचल ३ हेमकूट ४ निषध ५ मल्लिमान् ६ पारियात्र ७-ग धमादन।

२५–सप्त धा य—१ गोधूम (गैहू) २ यव (जौ) ३ तिल ४ माष (उड़द) ५ मुग्द (मूंग) ६ अक्षत (चावल) ७ वज्र (बाजरा)।

२६–सप्त राज्याङ्ग—१ सेना दुग ३-मन्त्री ४ कोश ५ देश ६ मित्र ७-स्वामी

२७–सप्त वार—१-रवि सोम ३-मङ्गल ४ बुध ५ बृहस्पति ६ शुक्र ७-शनैश्चर।

२८–सप्त सर (सरोवर)—१-मानसर २-मानसर ३-बिन्दुसर (विष्णुसर) ४ पम्पा-सर ५-गरुडसर ६ रामसर ७-अच्छोदसर।

२९–सप्त देवच्छन्द १-गायत्री २ उष्णिक ३ अनुष्टुप ४ बृहती ५-पंक्ति ६ त्रिष्टुप ७-जगती

३०–सप्त ज्योतिष्टोम–१ अग्निष्टोम २ अत्यग्निष्टोम ३ उक्थ्यस्तोम ४-षोडशीस्तोम ५ अतिरात्रस्तोम ६-बाजपेयस्तोम ७ अप्तोर्यामस्तोम।

३१ सप्त-ऊर्ध्व प्रजातन्तु १ पुत्र २ पिता ३ पितामह ४ प्रपितामह ५ वृद्ध प्रपितामह ६ अतिवृद्धप्रपितामह ७-वृद्धातिवृद्ध प्रपितामह (सापिण्ड्य साप्तपौरुषम्)

३२–सप्त अध प्रजात तु १ पिता २ पुत्र ३ पौत्र ४ प्रपौत्र ५-वृद्धप्रपौत्र ६-अतिवृद्धप्रपौत्र –वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र।

३३–सप्त–सङ्गीतस्वर–१-षड्ज, २ ऋषभ ३ गान्धार, ४-मध्यम ५ पञ्चम ६ धैवत ७–निषाद।

३४–सप्त–स्वरोच्चारण—१ सा २ रे। ३-ग ४–म, ५ प ६ ध, ७–नी।

तदित्थ– **चत्वार आत्मा (४) द्वौ पक्षौ (२) पुच्छं प्रतिष्ठा (१)** रूपेण सप्तात्मक बने हुए सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति (अक्षराभिन्न स्वरात्मक ऋषिप्राण) से वर्णात्मक व्यञ्जन के द्वारा अभिव्यक्त समुद्भूत उत्पन्न इस विश्व में इस सप्तचितिक प्रजापति के अनुबन्ध से सर्वत्र समष्टि व्यष्टि रूप से सप्त महिमा भावों का विस्तार होरहा है। **सप्त पुरुष सप्त ऋषि सप्त अहोरात्रवृत्त सप्त कपाल सप्त कर्ण सप्त चक्र सप्त होता सप्त तन्तु सप्त अदितिपुत्र सप्त मरुद्गण सप्त ऋतु** सप्तप्राणानुगत जिन सप्तकों का पूर्व में संस्मरण हुआ है उनके अतिरिक्त अगणित असंख्य सप्तकों का वेदशास्त्र में यत्र यत्र यज्ञप्रक्रियाओं के भेद से स्वरूप निरूपण हुआ है जिनके विस्तार का अत्र अवसर नहीं है। उनमें से कतिपय सप्तक नामों का संस्मरण ही पर्याप्त होगा वेदस्वाध्याय प्रक्रान्ति के अनुबन्ध से। **सप्तपुरुष** (शत ६।१।१।१)। **सप्त ऋषि** (शत ८।४।३।६।) **सप्तकपाल** (शत २।५।१।१२) **सप्तकर्ण** (तै आ १।७।२।) **सप्तकृत्त्वस्** (तै ब्रा २।३।६।३।) **सप्तगण**(तै ब्रा १।६।२।३।) **सप्तचक्र** (त ब्रा २।२।१।५।) **सप्तचितिक** (शत ६।६।१।१४।) **सप्तत तु** (गो ब्रा १।१।१२।) **सप्ततथ्य** (शत ६।५।३।११।) **सप्तनामा** (तै आ ३।११।६।) **सप्तनिधन** (ज आ २।११।५।) **सप्तपदम्** (ऐ ब्रा ५।१२।१३।) **सप्तपुत्र** (ज उ ब्रा

२।२।३।८) सप्तमुख्य (सा ३।६।१) सप्तरश्मि (त ब्रा २।८।२।७।) सप्तरात्र (गो १।२।६।) सप्तच (शत ६।५ २।१।) सप्तवर्षा (गौ १।३। ।)। सप्त स्वसा (त ब्रा २।४ ६।१।) सप्तहूत (तै ब्रा २।३।११।२। सप्तहोता त ब्रा ३।७।३।) सप्ताह (शत १३। ।७ २।) इ यादि रूप स सवत्रव स त स त मौलिक स्वरप्राणमूर्त्ति अक्षरप्रजापति की याप्ति देखी जासकती है जिस के अनुग्र व स ही सङ्गीतानुगत-नादा मक श्र यनुगत-स्वरो को भी सात ही विवर्त्तभावो में परिणत हो जाना पडता है। नाद वैश्वानर अग्नि ही तो है। नाद ही तो श्र ति के द्वारा स्वर रूप से अभि यक्त हुआ है। वश्वानर चि य अग्नि उसी सप्तमूर्त्ति पुरुषप्रजापति के छ दोरूप आयतन से स तचिरूप में परिणित होकर ही प्राणियो की शारीरिक सस्था का अधिनायक बना हुआ है जसाकि— सप्तचितिकोऽग्नि यादि से स्पष्ट है। सप्तचितिक नादा मक इस वैश्वानरप्राणाग्नि के अनुब ध से ही तो तत्र प्रतिष्ठित मत भी १ रस २ असृक ३ माँस ४ मेद ५ अस्थि ६ मज्जा ७ शुक्र (सप्तधातव) इन सात ही अवयवो मे विभक्त होकर चित है। इस स त अग्नि चिति (प्राणाग्निचिति) म तभूतचिति (धातुचिति) के अतिरिक्त सप्त उपधातु सप्त रस सप्त उपरस स त विष सप्त उपविष आदिरूपेण शरीर में अ या य भी अनेकविध स तचितिया है। और यो मूलस्वरा मक प्राणा मक सप्तपुरुषप्रजापति की सप्तावयवता ही इन यच्चयावत् आ यामिक आधभौतिक आधिदविक स तमहिमाभावो का मूलप्रवत्त क बना हुआ है। नादानुगत श्र या मक स्वर क्यों और कैसे स तभावों में परिणत होगया ? स प्रासङ्गिक प्रश्न का यही साक्षात समाधान है जिस के आधार निम्नलिखित श्र तिवचन ही बने हुए है—

१— 'सप्त ते अग्ने ! समिध । प्राणा । समिध । प्राणा ह्य त अग्निं (भूताग्निं) समि धते । सप्त जिह्वा इति । यान् अमून सप्त पुरुषान् एक पुरुषमकुर्वन तेषामेतदाह । सप्तऽऋषय इति । सप्त हि तऽऋषय आसन् । सप्त धाम प्रियाणि इति । छ दास्यतदाह । छन्दासि वा अस्य (अग्ने) सप्त प्रियाणि धामानि । सप्त होत्रा सप्तधा वा यजन्ति, इति । सप्त ह्य ते होत्रा सप्तधा यजन्ति । सप्त योनिरति । चितिरेतदाह । सप्त सप्त इति सप्तचितिकोऽग्नि । सप्तर्त्तव सम्वत्सर । सम्वत्सरोऽग्नि । यावानग्नि यावत्यस्य मात्रा, तावता एवैनमेतत प्रीणाति' ।

—शतप ब्राह्मण ६।२।३। ४४ ४५

२ सप्तर्च भवति । सप्तचितिकोऽग्नि । सप्तर्त्तव । सप्त दिश । सप्त देवलोका । सप्त स्तोमा । सप्त पृष्ठानि । सप्त छ दांसि । सप्त ग्राम्या पशव । सप्त-आरण्या पशव । सप्त शीर्षन् प्राणा । यतकिञ्च सप्तविध-अधिदेवत, अध्यात्म (अधिभूतच) तदेनेन सर्वमाप्नोति ' ।

—शत ६।४।२।८।

उक्त सप्तक विवेचन से स्पष्ट है कि सर्वाङ्गशरीर मे या त स तावयव स तचितिक नादमूर्त्ति वैश्वानराग्निप्राण ही श्र ति के द्वारा स त-स्वररूप में परिणित होरहा है जिस का सहज नि कष यही है कि मानव

का सन्तचितिक **प्राणाग्नि ही (नाद ही) मरुत्नामक वायु** द्वारा (श्रुति के द्वारा) उर कण्ठ–शिर – इन तीन स्थानों से प्रत्याहत होता हुआ स्वरात्मक ध्वनि के रूप में परिणत होता हुआ बहिर्मण्डल के माध्यम से तत्र व्याप्त सुसूक्ष्म वाक्समुद्र में वीचिरूप से तरङ्गायित बनकर श्रोताओं की कर्णशष्कुलियों में प्रतिष्ठित प्रज्ञानघन पर आघात करता हुआ **कर्णमधु** बनता रहता है और यों हृदयोपलक्षित स्थान में उक्थरूप में पुञ्जीभूत नादात्मा ही श्रुति के द्वारा स्वर रूप में परिणत होता हुआ बाहिर निकला करता है। **क्योंकि नाद श्रुति-स्वर** इन प्रक्रमों के माध्यम से प्राणाग्नि ही भूताग्नि से समन्वित होता हुआ उक्त क्रम से बाहिर निकलता है अतएव अधिक शब्द विनिर्गमन से मानव के शरीरसंस्था और प्राणसंस्था दोनों ही शिथिल होजाती है।

नादात्मक श्रुतिसमन्वित स्वरभावापन्न चितेनिधेयाग्नि से समन्वित इस चित्याग्नि की **सुप्त जाग्रत** भेद से शास्त्र ने दो अवस्था मानी है। रात्रि में सुषुप्तिदशा में (सो जाने पर) चित्याग्नि अन्तर्मुख बन जाता है। यही चित्याग्नि की **सुप्तावस्था** है। सूर्य्योदय के साथ ही (आधिदैविक अग्नि की अभिव्यक्तिरूप जागरण के साथ ही) मानव का शारीरिक अग्नि भी **अग्निर्जागार** रूप से उद्बुद्ध होपड़ता है। सौर अहः–कालपर्य्यन्त (शयन से पूर्व पूर्व) यों अग्नि जागरूक ही बना रहता है। यही इसकी **जाग्रदवस्था** है।

सौरसत्तात्मक अहःकाल सूर्य्योदय से सूर्यास्त पर्य्यन्त **गायत्री त्रिष्टुप् जगती–नामक** तीन छन्दों के अनुपात से–**प्रातः–मध्याह्न साय** भेद से तीन सवनों में विभक्त है जिनका प्रातःसवनादि तीनों सवनों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया जाचुका है। प्रातः ६ से साय ६ पर्य्यन्त ४ ४–४ होरा (घन्टा) के अनुपात से (सामान्य मानानुसार) तीन विभाग कर लीजिए। इन तीनों में सौर पार्थिव सावित्र गायत्र अग्नियों की समन्विता वस्थारूप अग्नि अपनी अहःकालीना जाग्रदवस्था से क्रमशः **मन्द्र–मध्य तार** नाम की तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। ६ से १० पर्य्यन्त का प्रातःकालीन गायत्र छन्दस्क जाग्रदग्नि ही— **प्रातःसवनीय मन्द्राग्नि** है। ११ से २ पर्य्यन्त का मध्याह्नकालीन त्रैष्टुप छन्दस्क जाग्रदग्नि ही **माध्यन्दिनसवनीय मध्याग्नि** है। एवं ३ से ६ पर्य्यन्त का सायंकालीन जगती–छन्दस्क जाग्रदग्नि ही— **सायंसवनीय ताराग्नि है। सामान्य उच्च अत्युच्च** ही **मन्द्र मध्य तार** भाव हैं। और इसी प्राकृतिक स्थिति के तारतम्यानुपात से मानव का अहःकालीन जाग्रदग्नि भी प्रातः मध्याह्न साय रूपेण **मन्द्र मध्य तार** रूपेण तीन ही अवस्थाओं में परिणत रहता है।

मानवशरीर में प्रकृति के प्रातः मध्याह्न साय नामक तीन सवनों के प्रतिरूपात्मक स्थान क्रमशः **उर-कण्ठ शिर** हैं। अतएव शब्दानुगत स्वररहस्यवेत्ताओं ने स्वरात्मक शब्दोच्चारण के सम्बन्ध में यही व्यवस्था की है कि प्रातःसवनीय गायत्र प्रातःकाल में मानव को **उरःस्थान से मन्द्र-स्वर से** ही शब्दोच्चारण करना चाहिए जैसेकि **शार्दूल (सिंहजातिविशेष)** उरःस्थान से ही बोला करता है। माध्यन्दिनसवनीय त्रैष्टुभ–मध्याह्नकाल में मानव को **कण्ठस्थान** से ही बोलना चाहिए जैसेकि **चक्रवाकादि** कण्ठस्थान से ही बोला करते हैं। एवं सायंसवनीय जागत–सायंकाल में मानव को शिरःस्थान से ही **तारस्वर** से बोलना चाहिए जैसे कि **मयूर–हंसादि** शिरःस्थान से ही बोला करते हैं। ऐसा क्यों? का उत्तर **है– प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या — देवाननुविधा वै मनुष्याः** इत्यादि निगम। प्रकृति में नादस्वरात्मक–प्राकृतिक–ध्वनि का यही क्रम है। वैसा ही यहां होना चाहिए।

रात्र में सुप्त अग्नि को यदि प्रातःकाल में जागरण के साथ ही बलात्पूर्वक तारात्मक उच्च-संघर्ष का अनुगामी बना दिया जाता है तो इस अप्राकृतिक-साहस से विविध रोग विशेषतः उरःक्षत होजाता है। रक्त निकलने लग सकता है इस अप्राकृतिक संघर्ष से। अतः आरम्भ में मन्द्र-पुनः थोड़ा उच्च पुनः उच्च इस क्रमिक अनुपात से ही शब्दोच्चारण प्रक्रान्त होना चाहिए। त्रिसवनों के अतिरिक्त भी मानव जब भी कुछ बोलना चाहे उसे इसी स्थानत्रयी के अनुपात से मन्दस्वर से ही शब्दोपक्रम करना चाहिए। तभी अग्नि नादास्थिरता के कारण उत्तरोत्तर-सशक्त प्रभावपूर्ण श्रुतिमधुर एवं स्वरमधुर बन सकता है। आरम्भ में ही तारस्वरात्मक-चीत्कार पद्धति से बोलने लग पड़ने वाला आवेशी मानव न तो अधिक समय पर्यन्त इस शब्दोच्चारणधारा को ही व्यवस्थापूर्वक प्रक्रान्त रख सकता, न ऐसे उत्तेजक उच्चारण में श्रुति स्वर-माधुर्य्य ही अभिव्यक्त होपाता।

न केवल शब्दोच्चारण में ही अपितु कर्मप्रवृत्ति में भी इसी नियम का अनुगमन श्रेयःपथ माना गया है। क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों अभिन्न हैं। अतएव दोनों समान ही नियमधाराओं से समन्वित रहते हैं। इसी आधार पर— **अनारम्भा क्षेमकरा** कहा गया है। आवेशपूर्वक आरम्भ में ही प्रचण्ड वेग से किसी कर्म्म में संलग्न होपड़ने वाले उत्तेजित मानवों के लक्ष्य निष्फल ही प्रमाणित होजाते हैं। **शनैः कन्था शनैः पन्था शनैः पर्वतलङ्घनम्** प्रसिद्ध ही है। इसी आधार पर तो यह लोकसूक्ति व्यवस्थित हुआ है कि— **एक भावुक कार्य्य का आरम्भ करना जहां भलीभांति जानता है वहां वह भावुक कार्य समाप्त करना नहीं जानता। एवं नैष्ठिक मानव जहां आरम्भ करना नहीं जानता वहां कार्य्य का समाप्त करना वह अवश्य ही जानता है।**

उपक्रम में **नादात्मक स्वर**, मध्य में **श्रुत्यात्मक स्वर** एवं अन्त में **स्वरात्मक स्वर** यही क्रम शब्दोच्चारण में प्रशस्त माना गया है, जिन इन तीनों का ही वैदिक नाम है— **हिङ्कार-प्रस्ताव उद्गीथ**। उरःस्थानानुगत नादात्मक (गुञ्जायमान) मन्द्रस्वरात्मक शब्द किंवा ध्वनि ही **हिङ्कार** है। उदाहरण सिंह का वन्यात्मक शब्द है। सिंह और शार्दूल सदा उरःस्थान से ही बोलते हैं अतएव इनका उर और तत्संलग्न उदर प्रदेश शब्दध्वनिकाल में सङ्कुचित होजाता है सिकुड़ जाता है। कण्ठस्थानानुगत-श्रुत्यात्मक [बिना गूंज का सामान्य]—मध्यस्वरात्मक शब्द किंवा ध्वनि ही **प्रस्ताव** है। उदाहरण चक्रवाक की कण्ठानुगता ध्वनि है। एवं शिरःस्थानानुगत-स्वरात्मक [बिना गूंज का उच्च]—तारस्वरात्मक शब्द किंवा ध्वनि ही **उद्गीथ** है जिसे सङ्गीत की लोकभाषा में **टीप** कहा गया है। उदाहरण मयूर की शिरोऽनुगता ध्वनि है, जिसकी प्रक्रान्ति में मयूर का शिरोभाग ही ऊर्ध्व बन कर अवनत होता रहता है। त्रिप्रक्रमात्मक **नाद-श्रुति-स्वर**-भावात्मक **गायत्र-त्रैष्टुभ-जागत** भावानुबन्धी इसी स्वरत्रयी का नियमन करते हुए शब्दशास्त्र के आचार्य्यों ने कहा है—

प्रातः पठेन्नित्यमुरःस्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन ॥
मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसङ्कूजितसन्निभेन ॥१॥
तारं तु विद्यात् सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम् ॥
मयूरहंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरःस्थितेन ॥२॥

—पाणिनीयशिक्षा ३६, ३७।

यह तो हुआ **नाद–श्रु ति स्वर**–भावो का सङ्गीतानुगत तथा उच्चारणानुगत स्वरूप समन्वय का प्रास ङ्गिक दिगदशन । अब ो श ो में परब्रह्मानुगता अथसृष्टि [भूतभातिकी पदाथसृष्टि] के अनुब व स भी **स्वर** की आराधना कर लीजिए। स पूर्ण विश्व की उ पत्ति **श न्त मात्रा** स एव तत्प्रसूता **स्पश रूप– रस ग ध** मात्राओ से ही हु है य पूव म स्पष्ट किया जाचुका हे । इन पाचो ही त मात्राओ का मूलाधारभूत मौलिक **श दतन्मात्रा मक** वह त त्र है क्या ? इस प्रश्न का उत्तर है— **त त्रात्मक ऋक्–यजु साम नामक–अपौरुषेय–वेद** ।

त वा मक वद क **ऋग** भाग स तो वस्तु का **पिण्ड** (**मूर्त्ति**) बनता है **यजुर्भाग** स वस्तु का क्रिया मक **गतिभाव** अभि यक्त हाता है एव **सामभाग** से वस्तु का **मण्डल** अभि यक्त होता है। प्रत्येक भौतिक प ार्थ में **पिण्ड गात मण्डल** ये तीन तीन पवविभाग विज्ञानसि द्ध है। पिण्ड वह भाग है जो अमुक–स्थान–प्रदेश घे ता है एव जिसका हम स्पश ता कर सक्ते है कि तु दश नही सक्त । अतएव इस पिण्ड को **धाम च्छद (स्थानावरोधक जगह रोकने वाला)** कहा जाता है एव यही **स्पृश्यपिण्ड** भी कहलाता है। इस पिण्ड में **जायते अस्ति विपरिणमते वद्धते क्षीयते विनश्यति**–नाम के सुप्रसिद्ध–**षडभावविकारा मक** परिव र्तन प्रक्रा त रहते ह ।

परिव र्तना मक इन विकारभावो का ही नाम **गति** है । प्रत्येक वस्तुपिण्ड के के द्र में प्रातष्ठित उक्थरूप प्राणाग्नि की अकरूपा रश्मिया के द्र स बाहर वस्तुवृत्त के आकार से समतुलित मण्डल बनाती हुइ निकलतीं है। ये रश्मिमण्डल ही पिण्डा मक वस्तु के **मण्डल** है। एव हम वस्तु का जो प्र यक्ष होता है वह वस्तुत पिण्ड का प्र यक्ष न होकर इन मण्डलो में स ही किसी एक मण्डल का ही प्र यक्ष होता है । अतएव इसे **दृश्यमण्डल** कहा गया है जिस का न तो स्पश ही सम्भव है एव जा मण्डल प्राण की प्रधानता से न धाम च्छद ही बनता। **पिण्ड ही स्पृश्य बनता है एव मण्डल ही दृश्य बनता है** । स्पृश्यपिण्ड तथा दृश्यमण्डल इन दोनों के मा यम स अपारपारीणरूप स परिव्याप्त क्षणे–क्षणे परिव र्तमान गतिभाव ही **पिण्ड गति** एव **मण्डल**–रूप या मक त्रिमूर्त्ति ही वस्तु का स पूर्ण इतिवृत्त है । और इन तीनों वस्तुभावो के मूलप्रवत्त क त व ही क्रमश **ऋक् यजु साम** नामक मौलिक त व हैं जसाक निम्न लिखित मन्त्र से स्पष्टतमरूपेण उदघोषित है—

ऋग्भ्यो जाता सवशो मूर्त्तिमाहु सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत ।
स र्व तेज सामरूप ह शश्वत स र्व हीद ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥
—तै ब्रा ।

***—श द स्पर्शश्च रूप च रसो ग धश्च पञ्चम ।**
वेदादेव प्रसूय न्ते प्रसूति गुण कर्म्मत ॥
—मनु १ ।६८।

इस त वा मक वेद का स्वरूप दिगदशन शतपथ थम खण्ड में कराया जाचुका है।

केन्द्रावच्छिन्न ऋङ्मय स्पृश्य–धामच्छद– **वस्तुपिण्ड** ही **नाद तत्त्व है**। पिण्ड मण्डला तवत्ता यजुर्मय **गतिभाव** ही **श्रुतितत्त्व है** एवं पिण्डकेन्द्र से प्राणरश्मिमण्डलरूपेण सहस्रभाव–समन्वित साममय **मण्डल** ही **स्वरतत्त्व है। यों नाद ऋकपिण्ड से श्रुति यजुगति से तथा स्वर साम मण्डल से सर्वात्मना समतुलित है**। अतएव **साम** का एक साङ्केतिक पारिभाषिक नाम रख लिया गया है **स्वरसाम**। **स्वर और साम** अभिन्न तत्त्व है। प्रातिस्विकरूप से वही मण्डल **स्वर** है एवं पिण्ड तथा गति से समन्वित होता हुआ वही स्वर **साम** कहलाने लगता है और यही त्रिमूर्त्ति स्वरसाम गायनात्मक सङ्गीत की प्राणप्रतिष्ठा माना गया है जैसाकि **गीतिषु सामाख्या** इस आर्षवचन से प्रमाणित है। बिना स्वर का शब्द केवल ऋक है अथवा तो यजु है। स्वरसाम के प्रवेश से ही अपने पिण्डात्मक (गद्य पद्यात्मक) स्वरूप से प्राणरूपेण वितत होता हुआ मण्डलरूप में परिणत होता हुआ (फैलता हुआ) साम रूप गान (गायन गीति) रूप में परिणत होता है। अतएव सर्वात्मना सभी दृष्टियों से **सामात्मक स्वर किंवा स्वरात्मक साम ही सङ्गीत की प्राणप्रतिष्ठा बन रहा है** जिस स्वरसाम के **त्रय स्वरसामान** रूप से तीन महिमा विवत्त माने गए हैं जिनका अत्र स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है।

तदित्थं **ग्राम * मूर्च्छना जाति क्रम तान आरोह अवरोह वादी संवादी नाद श्रुति स्वर** आदि आदि अनेक विभूतियों से सुसमन्वित **नृत्य गीत वाद्य** भेद से तीन प्रक्रमों में विभक्त **शास्त्रीय सङ्गीत के नाद श्रुति स्वर** नामक प्रतिष्ठात्मक तीनों स्तम्भों का मूलाधार प्रथम स्थानीय वैश्वानराग्निप्राणमूर्त्ति गुञ्जनभावनिबन्धन जो उपक्रम स्थानीय तत्त्व है वही **वैदिक सामविज्ञान** की परिभाषा में **हिङ्कार** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। **स्वरात्मक साम** ही क्योंकि हृदयोत्थित नादात्मक इस हिङ्कार को वितानभाव में **परिणत करता है** दूसरे शब्दों में सौर मधु रस से समाप्लुत नवबिन्द्वात्मक आहत स्वररूप साम के मण्डलों के वैतानिक रूपों के आधार पर ही (स्वरमधान के आधार पर ही) क्योंकि नादात्मिका **हिं हिं हिं हु हु–ह** इत्यादि अनुकरणात्मिका मन्तननभावात्मिका सङ्गीतोपक्रमस्थानीया ध्वनि का आधार बनता है अतएव कहा और माना जायगा कि **स्वरात्मक साम ही हिङ्कार का प्रवर्त्तक है** इसी आधार पर श्रुति ने कहा है कि—

"नासामा हिङ्-क्रियते"

सामस्वरमण्डलात्मक सामस्वरमण्डलानुगत **हिङ्कार** ही नाद है नाद ही श्रुति का प्रवर्त्तक है एवं श्रुति के द्वारा ही स्वरों की अभिव्यक्ति होती है। एकमात्र इसी समसम्बन्धानुबन्ध से प्रकृत ब्राह्मण के **हिङ्कार** शब्द के पारिभाषिक समन्वय के लिए ही हमें सङ्गीतानुगत– **नाद श्रुति स्वर** नामक तीनों प्रक्रमों का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन कराना पड़ा। क्योंकि नाद–श्रुति स्वर भावों के स्वरूप परिचय के बिना श्रुति का– **हिङ्कार** शब्द कदापि समन्वित नहीं होसकता। अतएव श्रुति के हिङ्कार शब्द–समन्वयानुबन्ध से हमें सत्रितत्त्व का संस्मरण कर लेना पड़ा है।

***–ग्रामः स्वरसमूहः स्यात्, मूर्छनादेः समाश्रयः।**
तौ द्वौ धरातले तत्र स्यात् षड्ज ग्राम आदिमः।
द्वितीयो मध्यमग्रामस्तयोर्लक्षणमुच्यते॥
—इत्यादि

सङ्गीतप्रमियो के मनोऽनुरञ्जन के लिए स्वरग्रामानुगता तालिका अत्र समु ता ह

श्रुति—स्वर—ग्राम—चक्रम्-

श्र तिसरया	श्रुतिनामान	श्रुतिजातय	षड्जग्रामस्वरा	म यमग्रामस्वरा	गा धारग्रामस्वरा
१	तीव्रा	दीप्ता	*	*	नी
२	कुमुद्वती	आयता	*	*	*
३	म दा	मृदु		*	
४	छ दोवती	म या	*	*	सा
५	दयावती	करुणा	*	*	*
६	रञ्जनी	म या	*	*	रे
७	रतिका	मृदु	*	रे	*
८	रौद्री	दीप्ता	*	*	*
९	क्रोधा	आ ता	*	ग	*
१	वाज्रका	दीप्ता	*	*	ग
११	प्रसारिणी	आप्ता	*	*	*
१२	प्रीति	मृदु	*	*	*
१३	मा जनी	मध्या	*	म	म
१४	क्षिति	मृदु	*	*	*
१५	रक्ता	म या	*	*	*
१६	स दीपनी	आ ता	*	प	प
१	आलापिनी	करुणा	*	*	*
१८	मद ती	करुणा	*	*	*
१९	रोहिणी	आ ता	*	*	ध
२	रम्या	म या	*	ध	*
२१	उग्रा	दीप्ता	*	*	*
२२	शोभिनी	म या	*	नी	*

जाति-तालिकेयम्—

१ सख्या	२ जातय	३ मूर्च्छना	४ अंशा	५ न्यासा	६ उपन्यासा	७ षाडवदशिस्वरा	८ औडवद्वाशस्वरा
१	षाड्जी	उत्तरायता	सा रे ग म प ध	सा	ग प	नि	*
२	आर्षभी	शुद्धषड्जा	रे ध नी	[illegible]	रे ध नी	सा	सा प
३	गान्धारी	पौरवी	सा ग म प ती	ग	सा प	रे	रे ध
४	मध्यमा	कलोपनता	से रि म प ध	म	सा रे ग प व	ग	ग नी
५	पञ्चमी	कलापनता	रे प	प	रे प नी	ग	ग नी
६	धैवती	अभिरुदगता	रे ध	ध	रे म ध	प	सा प
७	नैषादी	आभरुदगता	सा ग नी	नी	सा ग नी	प	सा प
८	षड्जकैशिकी	कलोपनता	सा ग प	ग	सा प नी	*	*
९	षडजोदीच्या	अश्वक्रान्ता	सा ध नी	म	सा ा	रे	रे ध
१	षडजमध्यमा	मत्सरीकृता	सा रे ग म प ध नी सा	सा म	सा रे ग म प ध नी	नी	* ग नी
११	गान्धारोदीच्या	पौरवी	सा म	ग	सा ध	रे	*
१२	रक्तगान्धारी	कलोपनता	सा ग म प नी	ग	म	रे	रे ध
१३	कैशिकी	हारणाश्वा	सा ग म प ध नी	ग प नी	सा ग म प ध नी	रे	ध
१४	मध्यमोदीच्या	सौवीरी	प	म	सा ध	*	
१५	कार्मारवी	शुद्धमध्या	रे प ध ना	प	रे प ध नी	*	[illegible]
१६	गान्धारपञ्चमी	हारिणाश्वा	प	ग	रे प	*	*
१७	आन्ध्री	सौवीरी	रे ग प नी	ग	रे ग प नी	सा	*
१८	नन्दयन्ती	हारणाश्वा	प	ग	म प	।	*

इति–सङ्गीतानुगत–नाद–श्रुति–स्वर–स्वरूप–दिग्दर्शनम्

——— ———

प्रकृतमनुसराम । नाद–श्रुति स्वरूपात्मक–पूर्वोक्त प्रासङ्गिक–प्रकरण का उपक्रम करते हुए हमने निवेदन किया था कि नृत्य गीत–वाद्यात्मक **नाद–श्रुति स्वर**–त्रयी के आधार पर सुप्रतिष्ठित भी **नृत्य–गीत वाद्यात्मक** सङ्गीत मानव की अध्यात्मसंस्था में आत्मसंविद–विरोधी **आग्लानदोष** एवं बुद्धिनिष्ठा–विरोधी **मान्द्यदोष** उत्पन्न कर दिया करता है। तत्रैव इन दोनों दोषों के सम्बन्ध में समझने जैसी बात की ओर भी सङ्केत हुआ था (देखिए पृष्ठ स १२१३)। उस **समझने जैसी कुछ बात** के इतिवृत्त के समन्वय के लिए ही हमें सङ्गीत के **नाद श्रुति–स्वर** भावों का दिग्दर्शन उपक्रान्त करना पड़ा। अब प्रतिज्ञात **दोष** स्वरूपों की ओर ही सङ्गीतप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

आग्लान तथा **मान्द्य** नामक सुप्रसिद्ध मानसिक तथा शारीरिक दोषों के स्वरूप समन्वय के लिए हमें **तमसो मा ज्योतिर्गमय** इस सुप्रसिद्ध श्रुतिवचन में पठित **तम** और **ज्योति** इन दो तत्त्वों की ओर श्रद्धानिष्ठ मानवश्रेष्ठों का ध्यान आकर्षित करना पड़ेगा। सृष्टि के मूलभूत **आभू** और **अभ्व** नामक दो तत्त्वों की प्रथमा मौलिक अभिव्यक्ति का नाम ही क्रमशः **रस** और **बल** है। इस **रसतत्त्व** की प्रथमा अभिव्यक्ति एवं **आभूतत्त्व** की द्वितीया अभिव्यक्ति का नाम जहां **जू** है वहां बलतत्त्व की प्रथमा अभिव्यक्ति एवं **अभ्वतत्त्व** की द्वितीया अभिव्यक्ति का नाम ही **यत्** है। इस **जू** तत्त्व की प्रथमा अभिव्यक्ति रसतत्त्व की द्वितीया अभिव्यक्ति एवं आभूतत्त्व की तृतीया अभिव्यक्ति का नाम जहां **तेज** है वहां **यत्** तत्त्व की प्रथमा अभिव्यक्ति बलतत्त्व की द्वितीया अभिव्यक्ति एवं अभ्वतत्त्व की तृतीय अभिव्यक्ति का नाम ही **स्नेह** है। इस **तेजस्तत्त्व** की प्रथमा अभिव्यक्ति **जूतत्त्व** की द्वितीया अभिव्यक्ति **रसतत्त्व** की तृतीया अभिव्यक्ति तथा **आभूतत्त्व** की चतुर्था अभिव्यक्ति का ही नाम जहां लोकप्रसिद्ध **ज्योति** है वहां **स्नेहतत्त्व** की प्रथमा अभिव्यक्ति **यत्तत्त्व** की द्वितीया अभिव्यक्ति **बलतत्त्व** की तृतीया अभिव्यक्ति एवं **अभ्वतत्त्व** की चतुर्थी अभिव्यक्ति का ही नाम लोकप्रसिद्ध **तम** है।

क्या तात्पर्य ?। इस तात्पर्य के समन्वय के लिए हम आपका ध्यान उस एकमेवाद्वितीयलक्षण **विश्वातीत परात्परब्रह्म** की ओर ही आकर्षित करना चाहेंगे जिसका साङ्केतिक नाम है **अनेजदेकम्**। विकम्पनात्मक–प्रातिस्विकलक्षणभावापन्न–आत्यन्तिकरूप से परिवर्त्तनात्मक भाव का है–**एजत्** एवं अविकम्पनात्मक–सदैकरस आत्यन्तिकरूप से अपरिवर्त्तनशीलभाव का नाम है–**अनेजत्**। **स्थितिभाव ही अनेजत् है एवं गतिभाव ही एजत्** है। स्थितिप्रकृतिक–**अनेजत्** तथा गतिप्रकृतिक **एजत्** परस्पराऽत्यन्तविरुद्ध इन दोनों भावों की सत्तासिद्धा एकरूपता का ही नाम है वह विश्वातीत–परात्परब्रह्म जिसका समष्ट्यात्मक नाम माना गया है **अन्ययनपिनद्धम्**। अन्ययनपिनद्धात्मक स्थितिगतिप्रकृतिक–अनेजत्–एजत्–मूर्त्ति इस परात्परब्रह्म का प्रथम मौलिक स्वरूप **आभू** और **अभ्वात्मक** है। आभू अनेजत् है अभ्व एजत् है। ईशोपनिषत् ने इसी स्वरूप का इन शब्दों में माङ्गलिक संस्मरण किया है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

—ईशोपनिषत्

अनेजदेजन्मूर्ति–आभू–अभ्वात्मक इन्ही ब्रह्म का दूसरा विवर्त्त रसबलात्मक है तीसरा विवर्त्त यत् जू–रूपात्मक है चौथा विवर्त्त तेज स्नेहात्मक है एवं पाचवा विवर्त्त ज्योति स्तमोरूप है। प्रत्येक रूप द्विपर्वा है जिन में प्रथम–प्रथम पर्व सर्वत्र सदात्मक है एवं द्वितीय–द्वितीय पर्व असदात्मक है। और यही ज्योति तथा तम के मौलिक–चिरन्तन–इतिवृत्त का अथ से इतिपर्यन्त का महामङ्गलप्रद माङ्गलिक पावन संस्मरण है।

विश्वातीतभावाः			विश्वभावाः			
१	२	३	४	५	६	७
१ अनेजत्	आभू —	रस —	जू —	तेज –	ज्योति	(स्थितिप्रकृतिक सद्भाव अमृतम्
२—एजत	अभ्वम् –	बलम् —	यत —	स्नेहम्	तम —	(गतिप्रकृतिक असद्भाव मृत्यु)

—'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !"

तेजोलक्षण ज्योतिर्भाव का ही नाम है–इन्द्र एवं स्नेहलक्षण तमोभाव का ही नाम है वरुण। इन्द्र ही मित्र नाम से प्रसिद्ध है। अतएव ज्योति स्वरूप इन्द्र तथा तम स्वरूप वरुण इन दोनो की समन्वितावस्था का एक साङ्केतिक नाम होगया है–मित्रावरुणौ जो कि अध्यात्मभाषा में क्रतू दक्षौ नाम से प्रसिद्ध है जैसाकि क्रतूदक्षौ ह वा अस्य मित्रावरुणौ (शत ४।काण्ड) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। उपरि निर्दिष्टा तालिका के विश्वभावों में क्रमप्राप्त चतुर्थ जू और यत इन दोनों की समष्टि ही यजू नामक वयोरूप वह यजु तत्व है जो ऋक् साम नामक वयोनाधात्मक छन्द से छन्दित रहता हुआ त्रयीमय बना हुआ है। ऋकसाम से छान्दत नद्ध सीमित परिवेष्टित जूरूप स्थितिभाव एवं यद्रूप गतिभाव इन दोनों की समष्टिरूप त्रयीमयतत्व का ही नाम स्वयम्भूब्रह्म है जो स्वयमेव-उद्बभौ के अनुसार ही स्वयम्भू कहलाया है। इसी स्वायम्भुव यजु के जू भाग से तेज के द्वारा ज्योति के माध्यम से तो इन्द्रमित्र की अभिव्यक्ति हुई है एवं इसी स्वायम्भुव यजु के यद्भाग से स्नेह के द्वारा तम के माध्यम से वृत्रवरुण की अभिव्यक्ति हुइ है। ज्योति मय इन्द्रमित्र एवं तमोमय वृत्रवरुण दोनों क्रमशः स्वयम्भू

के जू और यत् के ही परिणाम है। वही स्नाय भुवी यजुवाक् साऽपाऽमृनत ग्राच एव लाकान् नागर साऽसृ्यत के अनुसार आपोमयण्डलरूप म परिणत होती हुई परमष्ठी नाम स प्रसिद्ध है जो कि स्वयम्भू का ही प्रथमावतार माना गया है। इस आपोमय पारमष्ठ्य समुद्र म तजोमयी आ नाचात से पुञ्जीभूत प्रदीप्त प्रचण्ड तेजोमय सारसस्थान ही इन्द्रमित्र है एव स्नय पारमष्ठ्य स्नहमयी आप वृत्रवरुण है। और यों परमष्ठी के ही गर्भ मे अपप्रधान स्नेहप्रधान वृत्रवरुण तथा तेज प्रधान इन्द्रमित्र (सूर्य्य) ो वतन्त्र सस्थान अभिव्यक्त होजाते ह।

सावित्राग्निचितिरूप तेजोमय इन्द्र मत्ररूप सूर्य्य को थोडी दर के लिए तटस्थ मानते हुए वृत्रापोमय स्नेहमय वरुणरूप परमेष्ठी को ही लक्ष्य बनाइए।

आपोमय अपप्रधान ऋृतप्रधान (अतएव अमृतभावापन्न) पारमष्ठ्य वरुण की वज्ञानिकान अपरिपक्वावस्था परिपक्वावस्था-भेद से दो अवस्था मा ी ह। अपरिपक्व वरुण जहा विशुद्ध आसुरभाव है वहा परिपक्व वरुण अशत आसुरभावा मक बनता हुआ भी अधिकाश से गन्धव तथा पितृभाव प्रधान ही बन जाता है। ब्रह्माग्नि (स्वायम्भुव तेजालक्षण प्राणाग्नि) क स म्बन्ध स पारमेष्ठ्य वरुण आप तत्व का जो भाग परिपक्व होजाता हैं वही वरुण की उत्तरावस्थारूपा- परिपक्वावस्था कहलाइ है।

भूतमूला-लोकदृष्टि से उस अलौकिकी-प्राणामिका अवस्थाद्वयी का उदाहरण-माध्यम-मात्र ण यो समन्वय किया जासकता है कि चारो ओर स सीमाबद्ध अतएव वायव्यप्राण के सञ्चारधम्म से वञ्चित अतएव च पूति-पङ्कादि-मलीमस-भावों से काकालीकृत सीमित जल का नाम ही वृत्रात्मक वरुण है यही वरुण की अपरिपक्वावस्थामिका पूर्वावस्था है जिस इत्थभूत मलीमम-अवरुद्ध अपरिपक्व निष्कैवल्य वारुण पानी को ही आसुर पानी कहा जायगा एव इसे ही विविध रोगो का विभिन्न दोषो का प्रवत्तक माना जायगा। इसके अतिरिक्त प्रचण्ड प्रवाह स समन्वित अतएव वायव्यप्राण से आलोडित विलोडित अतएव मलीमस भावो से असस्पृष्ट विशुद्ध निम्मल पानी ही दिव्यपानी है जिसमें आग्नेयप्राण* वायव्यप्राण- इन्द्रप्राण आदि अनेक दिव्यप्राणो का समावश रहता ह। अतएव ऐसा गतिधर्म्मा विशुद्ध पानी सवथव स्वास्थ्यकर माना गया है। यही वरुण की परिपक्वावस्थारूपा उत्तरावस्था है। यो लौकिक उदाहरणविधि से उस पारमेष्ठ्य-अलौकिक प्राणात्मक वारुणपानी की भी अपरिपक्व परिपक्व इन दोनो अवस्थाओ का अनुमान लगाया जासक्ता है।

वरुण की अपरिपक्वा पूर्वावस्था का ही नाम है— वरुण एव इसी वरुण की अग्नि-वायु इन्द्र प्राण समन्विता परिपक्वा उत्तरावस्था का ही नाम है- भृगु। परिपाकधम्म का ही नाम भजन है। एव परिपाकात्मक इस भजन-सम्बन्ध से ही वरुणपिता की पूवावस्था से समुद्भूत उत्तरावस्थारूप पुत्रात्मक परिपक्व भाव का नाम होगया है भृगु जैसाकि निम्न लिखित श्रुतिवचनो से विस्पष्टरूपेण प्रमाणित है—

---

*—अपा सघातो, विलयनञ्च तेज सयोगात् (वैशेषिक दशन—कणादसूत्र)।

—— इन्द्रतुरीया ग्रहा गृह्य ते के अनुसार गतिधम्मा वायु में एक चतुर्थांश इन्द्रप्राण भी समाविष्ट रहा करता है।

ता आप सृष्ट्वाऽन्वैक्षत प्रजापति । तासु छायामपश्यत (तमोभागमपश्यत्) । ता आप -श्रान्ता सप्ता स तप्ता -साद्धमेव रेतसा द्वैधमभवन् । तासाम या अ यतरा अतिलवणा (क्षारधर्म्माण ता) (अतएव) अपेया अस्वादा (मधुप्राणशून्या) ता अशा ता आप समुद्र वृत्वा-अतिष्ठन् (ता इमा एव-आप -अपरिपक्वा वरुण त्मिका) । अथ इतरा पया स्वादुत्य शा तास्तत्राभ्यश्राम्यत् अभ्यतपत् समतपत । ताभ्य श्रा ताभ्य तप्ताभ्य स तप्ताभ्य यद्रेत आसीत तत अभ्रज्यत (परिपक्वमभूत । यद्भृज्यत -तस्मात् 'भृगु' समभवत । तद् भृगोर्भृगुत्वम्" ।

—गोपथब्राह्मण-पूर्वभाग १ प्र ३ ब्रा ।

(२)- 'वरुणस्य वै सुषुवाणस्य भर्गाऽपचक्राम । स त्रेधापतत । तद्भृगुरभवत' ।

—ताण्ड्यमहाब्राह्मण १८।९।१।

(३)'-तस्य प्रजापते यद्रेतस प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत । अथ यत द्वितीयमासीत् तद् भृगुरभवत । त वरुणो यगृह्णीत । तस्मात स भृगुर्वारुणि' ।

—ऐतरेयब्राह्मण ३।३४।

आग्नेय-वायव्य-ऐन्द्रप्राण-से समन्वित अतएव परिक्व-भजनशील पारमेष्ठ्य वारुण आप्यतत्त्व का ही नाम- भृगु है उक्त तीनो श्रुतिवचनो का यही निष्कर्षार्थ है । द्वितीया श्रुति में वरुणस्य भर्ग -त्रेधा-अपतत् यह कहा गया है जिस का तात्पर्य यही है कि ध्रुव-(घन)-धत्र-(तरल) धरुण (विरल) नाम की सुप्रसिद्ध तीन अवस्थाओं के कारण यह भृगुतत्त्व तीन अवस्थाओं में परिणत होजाता है जोकि तीनों भार्गवी अवस्थाए ही क्रमश -आप -वायु सोम इन नामो से प्रसिद्ध हुई है जसाकि वायु राप चन्द्रमा (साम) इत्येते भृगव (गो ब्रा पू २।८६ ।) इत्यादि वचन स स्पष्ट है । ये तीनो ही भार्गवतत्त्व वारुण अपतत्त्व के प्रकृतिसिद्ध त्रिवृत्करण से * त्यात्मक त्यात्मक बने हुए हैं मन प्राणवाङ्मय आत्मा के त्रिवृद्भाव की भाति । जिस का तात्पर्य यही निकलता है कि घनावस्थापन्न भार्गव अप्तत्त्व भी आप वायु सोमात्मक है । तरलावस्थापन्न भार्गव वायुतत्त्व भी त्यात्मक है । एव विरलावस्थापन्न भार्गव सोम भी त्यात्मक है । इस त्यात्मकता के अनुबन्ध से ही तीनों सहचारी माने गए हैं । त्यात्मक भार्गव आप्यप्राण का ही नाम असुर है त्यात्मक भार्गव वायव्यप्राण का ही नाम गन्धर्व है एव त्यात्मक भार्गव सौम्यप्राण का ही नाम पितर है । आसुर प्राणात्मक वारुण भार्गव आप्यप्राण ही अ सुसरणशील दिग्भावप्रव कि अप्सराप्राण की अभिव्यक्ति का कारण बना हुआ है । वारुणभार्गव वायव्यप्राण का गन्धर्वप्राण व तो प्रातिस्विकरूपेणैव स्फट है । आत्य अप्सराप्राण

---

* इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति (छा उप ५।९।१।) ।
"त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्" (वेदान्तसूत्र ३।१।२।) ।

का ही साङ्क ातक नाम है— **सुरा** एव वाय य ग धवप्राण से सुराद्वत (अप रपक्व विशुन्द आसुर वारुण आक्रमण स सुराद्वत) पितृप्राणा मक भागवप्राण का ही नाम है— **साम** । और य ी **सुरा** तथा **सोम** नामक उन **वारुणतत्वा** का साक्षात्तम स्वरूप निदशन है जिन इन दोनो त वो के स्वरूप सम वय के लिए ही हम अनेजदजद् मूला भृगुत्रयी समन्विता सृष्टि धारा का म्त्र सस्मरण करना पडा है । पारमष्ठ्य भागव वारुण **सुरा** और **सोम** नामक त वो के आधार पर ही हम उन **आग्ला** तथा **मा य** नामक दोनो सुप्रसिद्ध दोषो की स्वरूपमीमासा करनी है जिन दोना भयानक दोषो न ही सवथैव-तत्त्वसम्मत भी प्रकृतिसिद्ध भी **नाद श्र ति स्वर** जसे दिव्यत वो से समन्वित भी **नृत्य गीत वाद्या मक सङ्गात** को आत्यतिकरूपेण कालालीकृत ही प्रमाणित कर रक्खा है ।

इदमत्र अवधेयम् । **तम** और **ज्योति** नामक जिन दो त वो का पूव म सस्मरण हुआ था (देखिए पृ स १२५३) तत्र य भी स्पष्ट कर दिया गया था कि **वरुण का नाम ही तम है** एव इन्द्र का **नाम ही ज्योति है** । यही सी दृष्टि बिन्दु पर सुरा और सोमके सम्ब ध में भी किञ्चादव अवधेय है । **तमोमय वरुण से जहा सुरा का सम्ब ध माना जायगा वहाॅ ज्योतिम्मय इन्द्र से सोम का सम्ब ध माना जायगा** । अतएव सुरा जहा **वारुणी** कहलाइ है वहा सोम **इन्द्रप्रिय तत्त्व** माना गया है । दनदिनीय भोजनकम्म स अनुप्रा णत अन्न के उदाहरण से ही प्रथम भौतिकी दृष्टि से ही हमे **सुरा** और **सोम** इन दोनो त वो का स्वरूप पारचय प्राप्त कर लेना चाहिए ।

यव गोधूम चणक वञ्ज माष मुद्ग त दुल–(**जो गहू चना बाजरा उद मू ग चावल**) आदि अन्नो की उ पत्ति **पञ्चाग्निविद्या** के अनुसार पानी स ही हुइ है । दि य–सौर लोक के दिव्य तजोमय–सावित्राग्नि में सथप्रथम सोमा मिका **श्रद्धा** की आहुति होती है । तजोमय यह सावित्राग्नि **अग्नि** है स्नेहमयी श्रद्धा **सोम** है । इन दोनो के यजन से ही **अग्नौ सोमाहुतियज्ञ** के अनुसार यज्ञस्वरूपा मक **सोम** नामक अपूवभाव अभिव्यक्त होता है इन दाना आरम्भ ो (उ पादनो) के परस्परोपमद न से । दिव्याग्नि और श्रद्धा के यजना मक उपमद न का ही परिणाम **सोम** है और यही प्रथमाहुति स अनुप्राणत अन्नका प्रथम मौलिक स्वरूप है ।

दिव्यलोक के अन तर दूस ा **आ तारक्ष्य–वायुलोक** है । इस अ तरिक्ष लोक म नमुचि नामक–वर्षाविरोधी जलावरोधक आसुरप्राण क प्रचण्डशत्रु) **मरुत्वान्** नामक **वाय यइन्द्र** स समन्वित **प ज य** * नामक वाय याग्नि प रख्या त है । इस आ तरिक्ष्य **प ज याग्नि** में **सोम** की आहुति होती है । इस दूसरे अग्नि–सोम यजन स जो अग्रिम अपूवभाव उ पन्न होता है उसे ही **वर्षा** (**वृष्टिजल**) कहा गया है ।

वाय य अन्तरिक्षलोक के अन तर **आग्नेय प्रथिवीलोक** का स्थान आता होता है । इस पार्थिव **गायत्राग्नि** में **वर्षा** रूप सोमान्न की आहुति होता है । इसी आहुति से **गायत्राग्नि** एव **वर्षाजल** दोनो

---

* प ज य का ही उत्तररूप **पुरावात** है जिसे हमारे प्रा त म **पुरवाईहवा** कहा जाता है । इसके प्रवाह से ही वृष्टि हुआ करती है । से ही प्रतीच्यभाषा में स भवत मान्सून कहा गया हो ।

के यजना मक सम्मिश्रण स पार्थिव धरातल पर जो अपूवभाव उ पन्न होता है वही सुप्रसिद्ध–यवगोधूमादि **अन्न** नाम से प्रसिद्ध है।

आग चल कर पार्थिव अग्नि के प्रव यभूत पुरुष के शा ीरिक **वश्वानर अ नि में अन्ना मक सोम** की आहुति होती है। पुरुषाग्नि में आहुत न्न सोम का यह अग्नि उसीप्रकार विशकलन क दता है जसकि प्रज्ज्वलित काष्ठाग्नि में हुत–समाहित–काष्ठादि द्र य तेजोमय अतएव विकासधर्म्मा अग्नि से विशकलित होजाया करते है। सकुचितभाव को घनता को विशीर्ण करदना ही अ नि का प्रमुख क म है। इसी विशकलन स पुरुषाग्नि (वश्वानराग्नि) में हुत अन्न विशकलित होजाता है।

अ न में पूव आ ुतिक्रम तारतम्य से–परम्परया **सौर अग्नि श्रद्धा आ तरिक्ष्य पज्ज याग्नि सोम पार्थिव अ नि वर्षाजल पार्थिव मलीमस भूतभाग** आदि आदि **रसा मक** एव **मला मक** अनेक त व समन्वित रहत है। शारीरिक अ नि का प िला काम है–अपन मे आ ुत गृहीत **रस मला मक–** इस अन्न के रसभागो तथा मलभागों को विशकलित कर दना। अग्नि के द्वारा विशकलित होने वाल इन्ही रस मल भागो के क्रमिक विशकलन से भुक्त अन्न की **रस असृक् मास मद अस्थि मज्जा शुक्र** ये सात अवस्थाए होजाती है जिन में उत्तर उत्तर की अवस्थाए पूव पूव अवस्थाओ की अपेक्षा जहा **मल** है वहा पूर्वावस्थाए उत्तरावस्थाओ की अपेक्षा– **रस** है। इन सप्तावध–रस–मला मक–शारीरक धातुओं में इसी अन्न का सातवा अ तिम धातु शुक्रा मक **रेत** है। अतएव श्र ति ने पुरुषा नि में आहुत अन्ना मक सोम के परिणाम का नाम **रेत** (शुक्र) ही मान लिया है।

और आगे चलिए। योषाप्राणा मिका स्त्री के प्रजनन शक्तिमय **आत्तव (शोणित रुधिर)** में धाम छदा भूतसृष्टि का मूलप्रवत्त क वह **अत्रिप्राण** प्रतिष्ठित है जिस के मला मक धाम छद–भूतानु शय की अभि यक्ति प्रतिमास अमुक दिवसो में होती रहती है। वही स्त्री की **ऋतुकालावस्था** कहलाइ है इसी कालावधि में यह ऋतुमती स्त्री **आत्रयीयोषित्** कहलाइ है। सवथव का वालीकृत अतएव निरतिशय मलीमस कि तु अपने धामच्छद भौतक धम्म से प्रजननशक्ति से समन्वित रक्तमिश्रित यह अत्रिप्राण सवथव दि यप्राण का विरोधी बना रहता है जो भतस्पश (शरीरस्पश) मा यममात्र स स्पशकर्त्ता के दि यप्राण को मूर्छित करने की क्षमता रखता है। इसी अत्रित व के आधार पर आत्रेयी ऋतुमती स्त्री अस्पृश्य पृषाप्राणा मक अ यजादिवत् अमुक अवधि पय्य त **अस्पृश्या** ही मान ली गई है*।

*—काक श्वानादि प्राणी अ यज–अ यावसायी मानव ऋतुमती स्त्री आदि से स ब ध रखने वाली अस्पृश्यता का एकमात्र आधार माङ्क मिक व मलीमस–प्राण ही है जिन के आधार पर ही अमुक परिगणित जड–चेतन पदाथ शास्त्र में **अस्पृश्य** मान लिए गए हैं। त वमला स अस्पृश्यता को भले ही प्राणदृष्ट्या आज का भूतविज्ञानवादी समन्वित न कर सके। कि तु भूतमूला–कीटाणु–सक्रमणजनिता प्रचण्ड अस्पृश्यता तो उसकी दृष्टि में भी पदे पदे न केवल मा या ही अपितु आरा या ही बनी हुई है। यत्किञ्चित् स भौतिक मल से आज के भूतवादी की भकुटी तन जाती है और **ग दगी–ग दगी** के ची कार से वह इस **अस्पृश्यता** का घ टाघोष करने लग पडता है जबकि आ यन्तिकरूपेण भूतास्पृश्यवादी यही भूतवैज्ञानिक आज भारतीय शास्त्र की प्राणमूला अतएव रूप–रस–ग ध–स्पश शू या अतएव इन्द्रियातीता सुसूक्ष्मा

आत्रेयी योषत् (स्त्री) के आत्तव में **अग्नितत्त्व** हा प्रधान माना गया ह नस कि पुरुष के शुक्र मे– **साम** प्रधान माना गया है । पुरुष का वह सोमा मक रेतोरूप शुक्र ऋतुस्नाता स्त्री के शोणिताग्न मे आहुत होता है । इसी आहुति म **शुक्रस्थित पुम्भ्रूण** तथा **शोणितस्थित स्त्रीभ्रूण** के अन्न अन्नादा मक पारस्परिक सम्बन्ध से ही प्रजोत्पत्ति हुआ करती है । सप्रकार **श्रद्धा व आप सन्नमन्ते श्रद्धा ता आप** इत्यादि श्रुतियों के अनुसार आपोमयी श्रद्धा किंवा श्रद्धात्मिका आप ही पवक्रमानुसार आत्रयी योषत् के शाणित म गर्भीभूत होकर– प्रजा –स्वरूप म परिणत होता है । स्वलोकानुगत **सोरसावित्राग्नि** अन्तरिक्षलोकानुगत वाय य–**पर्जन्याग्नि** पृथ्वीलोकानुगत पार्थिव **गायत्राग्नि** अध्यात्मलोकानुगत पुरुषशरीरस्थ **वैश्वानराग्नि** एव स्त्री–शोणितस्थ **आत्तवाग्नि** इन पाच अग्नियाम क्रमश **श्रद्धात्मक साम सोमात्मक साम वर्षात्मक सोम अन्नात्मक साम** एव **शुक्रात्मक साम** इन पाच सोमद्रव्यो की आहुति स नी पाचवी आहुती में **पुरुष** नाम का प्रजावर्ग अभिव्यक्त हुआ है जिस इस पञ्चाग्नि आभिव्यक्ति का ही– **इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति** इत्यादि–छान्दोग्योपनिषत् का सुप्रसिद्धा– **पञ्चाग्निविद्या** से स्पष्टीकरण हुआ है जसाकि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है ।

१—द्युलोक ———— सावित्राग्नि —श्रद्धा—सोम (प्रथमाहुति) ।

२—अन्तरिक्षलोक ——–पर्जन्याग्नि – सोम —साम (द्वितीयाहुति) ।

३—भूलोक —— ——–गायत्राग्न —वृष्टि —सोम (तृतीयाहुति) ।

४—अध्यात्मलोक (पुरुष) वैश्वानराग्नि अन्न —सोम (चतुर्था आहुति) ।

५—योषिल्लोक (स्त्री)—–आत्तवाग्नि —शुक्र सोम (पञ्चमी आहुति)* ।

तत्त्वात्मिका–प्रकृतिसिद्धा– अस्पृश्यता के नामश्रवणमात्र से भी अपने काल्पनिक मानवतावाद का सर्वनाश उद्घोषित करने लग पडता है । तत्त्वमूला अस्पृश्यता रही है रहेगी जिस का काल्पनिक मानवतावाद से त्रिकाल में भी उच्छेद सम्भव नहीं है । हा जो इस तत्त्वमूला अस्पृश्यता के उच्छेद में प्रवृत्त हैं उन का प्राणनिबन्धन–सत्त्वानुबन्धी–स्वरूप अवश्य ही कालान्तर म उसी प्रकार उच्छिन्न होजाया करता है जसे कि भौतिकी कीटाणुजनिता–साङ्क्रामिकी अस्पृश्यता की उपेक्षा करने वाला स्वयमेव कालान्तर में रोगाक्रान्त बनता हुआ सम्मानपूर्वक **कीनाशनिकेतन** का अतिथि बन जाया करता है । इसी सम्बन्ध में यह भी अविस्मरणीय है कि शास्त्र की **तत्त्वमूला अस्पृश्यता** जब रूढिवाद–ग्रहग्रस्त बन कर **घृणामूला** बन जाती है किंवा धर्म्म का दम्भ करने वाले म वर्जियो के द्वारा स्वार्थ साधन के लिए बलपूर्वक घृणामूला बनादी जाती है तो उस अवस्था में यही अस्पृश्यता सामाजिक प्रचण्ड द्वेष का ही कारण बन जाया करती है जिस इत्थम्भूता अशास्त्रीया–काल्पनिकी–घोरघोरतमा–घृणामूला अस्पृश्यता ने ही आज भारतीय समाज को विद्वेष की प्रचण्डाग्नि में ही आहुत कर दिया है ।

*–विशेष विस्तार के लिए देखिए ! **छान्दोग्योपनिषत् हिन्दी–विज्ञानभाष्य** का तत्प्रकरण [५ अध्याय के ४ ५ ६ ७ ८ ९–खण्ड] ।

उक्त पञ्चा नविद्या—स दभ स प्रकृत में हमें तीसरे **पार्थिव अग्नि** और **वृष्टिजल** नामक द्वन्द्व की ओर ही पाठकों का यान आकर्षित करना है। पार्थिव अ न और वृष्टिजल दोनों के रासायनिक सम्मिश्रण से ही सुप्रसिद्ध **अन्न** उत्पन्न हुआ है जिस में पार्थिव अग्नि के साथ साथ पृथिवी के मूलभूत—का वालीकृत—धाम छद् मलीमस अत्रिप्राण का एव तदनु ी पञ्चा विविध मलभागो का भी समावश रहता है जिन न सब मलीमस भागो की आश्रयभूमि वह पार्थिव **अप् त** त्र ही है जिसे **वरुण** के स बन्ध में **आसुर भाव** भी कहा जासकता है। एक ओर यदि अन्न में परम्परागत सौर—दिव्य—सावित्रा नप्राण द्रप्राण सौम्यप्रा । आदि आदि दिव्यभाव समाविष्ट है तो दूसरी ओर इसी अन्न में तथाकथित आसुर वा ण—मलीमसभाव भी अनिवार्यरूपेण समन्वित है। और यों यह अन्न दिव्यभावानुबन्ध से रसात्मक एव आसुरभावानुबन्ध से मलात्मक उभयात्मक ही प्रमाणित होरहा है जसा कि पूर्व में भी स्पष्ट किया जाचुका ह।

अन्न में रहने वाले यच्चयावत् आसुर भावो को हम जहा **वरुणानुगत – सुराभाव** कहेंगे वहाँ यच्चयावत् दिव्य—भावो को इन्द्रानुगत **सोमभाव** कहेंगे। इसप्रकार प्रत्येक अन्न में—**वरुणानुबन्धी—मलात्मक—आसुर दोषभाव** तथा **इन्द्रानुबन्धी—रसात्मक दिव्य—गुण भाव** दोनो की स्वरूपसत्ता सिद्ध होजायगी। ये ही दोनों प्रतिद्वन्द्वी भाव **दैवीसम्पत्ति** एव **आसुरीसम्पत्ति** नाम से प्रसिद्ध होंगे। दैवीसम्पत्ति को — **गुण** कहा जायगा एव आसुरीसम्पत्ति को **दोष** कहा जायगा। अतएव **गुणात्मक रसभाव** से अनुप्राणित—**ऐन्द्र—सोमभाव** का अन्न का **गुण** माना जायगा एव दोषात्मक—मलभाव से अनुप्राणित—**वारुण सुराभाव** को **दोष** कहा जायगा और सी प्रकृतिसिद्ध तथ्य के आधार पर **गुणदोषमय सर्व सृष्ण सृजति कौतुकी** इस सूक्ति का समन्वय स भव बन सकेगा। सर्वात्मना वारुण आसुर मलात्मक—सुराभाव को ही आवरणप्रवृत्ति के कारण **तम** कहा जायगा एव ऐन्द्र—य रसात्मक—सोमभाव को ही आवरणनिवृत्ति के कारण— **ज्योति** कहा जायगा और पूर्वप्रतिपादित **तमसो मा ज्योतिर्गमय** इस श्रौत उद्घोष का यही प्राणविज्ञानसम्मत सन्मिलन समन्वय होगा जिसे आधार बनाकर ही अब हमे प्रक्रान्त **आग्ना तथा मा—य** नामक दोना सुप्रसिद्ध उन भयानक दोषो का स मरणमात्र ही कर लेना है जिन उन सुप्रसिद्ध भयानक दोषो ने भी नाद श्रुति स्वरात्मक अत्यन्त कर्णप्रिय मनोविनोदात्मक सङ्गीत जसे अलौकिक तथ्य को भी का वालीकृत प्रमाणित कर दिया है। तदेव श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्!!

वरुणपुत्र भृगु का आसुर तमःप्रधान—वारुणभाग ही सुरा है एव वारुणि भृगु का दिव्य ज्योतिःप्रधान ऐन्द्रभाग ही सोम है। वारुण सुराभाग एव ऐन्द्र सोम भाग दोनो क्रमश मलात्मक एव रसात्मक है यह निष्कर्ष उक्त सन्दर्भ से भलीभाति समन्वित होजाता है। वारुणि होने से (भार्गव होने स) सुरा भी मादकता से समन्वित है तो सोम भी मादकता से अनुप्राणित है। एक मलात्मिका मादकता है तो दूसरी रसात्मिका मादकता है। प्रत्येक अन्न में मलात्मक सुराप्राण भी रहता है एव रसात्मक सोमप्राण भी। अतएव प्रत्येक अन्न शारीरक—अग्नि में आहुत होकर प्राथमिक—परिणामरूप से मादकता ही अभिव्यक्त करता है जिस के सम्बन्ध में वर्त्तमान—भूतविज्ञान की ऐसी मान्यता सुनी गई है कि भोजनद्रव्य के आमाशय में पहुचते ही सम्पूर्ण रक्तप्रवाह आमाशय की ओर ही अनुगत

होजाता है फलत (शारीरिक रक्त प्रवाह के एकतोऽनुगामी बन जाने स ही) भोजन नन्तर तन्द्रा आने लगती है जो निश्रामात्मिका शय्या की अनुगति स आगे जाकर निद्रा के रूप म परिणत होजाया करती है। इस भूतदृष्टि स हमारा कोई विरोध नहीं है। हम तो उस प्राणदृष्टि की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं जो स्वय सुरा और साम नामक दो मौलिक भावों स समन्वित होकर अन्न की मूलप्रतिष्ठा बनी हुई है। तन्द्रा किंवा निद्रा इसी अन्न की मादकता का परिणाम है। अतएव लोक व्यवहार म अन्न को मादक ही माना गया है।

आग्नेयवारुण–सराभाग अपने स जन्मलभाव स एकप्रकार का ऐसा विष है जिसस जीवनीय शक्ति का ह्रास किंवा अभिभव ही सम्भावित है। जबकि सौम्य ऐन्द्र सोमभाग अपने सहज शिवतम रसात्मक–रसभाग स एकप्रकार का वैसा अमृत ही है जिस से जीवनीय शक्ति का सम्वर्द्धन किंवा आप्यायन निश्चित है। अध्यात्मरचना के रचयिता शिल्पी प्रजापतिने मानव के प्रतिरूपात्मक–शरीरशिल्प म कण्ठप्रदेश में एक वैसा यन्त्र लगा दिया है जिस के द्वारा भुक्तान्न का सुरात्मक विषभाग नियन्त्रित होकर रस मल के प्राथमिक विशकलनात्मक–विश्लेषण से अन्नगत अमृतभाग (सोमभाग) स पृथक् होकर परावर्त्तित ही होजाता है। इस गलयन्त्र के अनुग्रह स मानव का जीवनीय प्राण अन्न के विषभाग से सुराभाग से अधिकाश में अपना परित्राण ही कर लेता है जबकि अनुशयरूप से तो विष का अंश भी गलाध करणानुकूल व्यापार का अनुगामी बन ही जाता है और यही शरीरप्रविष्ट विषात्मक सुराभाग जम्भा (जम्भाई–अंगड़ाई)—तन्द्रा–आलस्य–) आदि रूप स अभिव्यक्त होता है। एक व्यक्ति के जभाई लेने का अर्थ है–विषप्राण का मुक्त होकर पुनः बाहिर निकलना। इस सांक्रामिक विषप्राण–से समीपस्थ अन्य व्यक्तियों का भी विषप्राण सङ्काक्षण स जागरूक होपड़ता है जिस जागृति क निरोध के लिए ही जभाई करने वाले के लिए शास्त्र ने अङ्गुलिध्वनि का आदेश दिया है जिस विधान के तात्त्विक स्वरूप के विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं है *। मलात्मक–सुरारूप विष रसात्मक सोमरूप अमृत जीवनविघातक तथा जीवनसंरक्षक इन दोनों का विभाजक कण्ठमध्यस्थ वही माङ्गलिक यन्त्र– प्राशित्रविष नाम स ही वद के ब्राह्मणभाग म प्रसिद्ध हुआ है। अन्नस्थित इन्हीं विष अमृत मय सुरा–सोमात्मक तमोज्योतिर्मय दोष गुणान्वित द्विविरुद्धभावों का लक्ष्य बनाकर ही ऋषिने अन्न को सुरा भी कहा है एव सोम नाम से भी यह अन्न व्यवहृत हुआ है। देखिए!

१— अनृत, पाप्मा, तम, सुरा' (शत ५।१।२।१०।)।

२— अभिमाद्यन्निव हि सुरा पीत्वा वदति' (शत १।६।३।४।)

३—'तस्मात् सुरा पीत्वा रौद्रमना" (शत १२।७।३।२०।)।

---

१ २ ३ १ २ ३

* छिक्का—पतन जम्भासु—जीवो—त्तिष्ठा— ङ्गुलिध्वनि।
गुरुणापि प्रकर्त्तव्या अकुर्वन् ब्रह्महा भवेत्।

—स्मृति

४— यदन्नस्य शमलमासीत्—सा सुरा अभवत्" (तै ब्रा १।३।२।६।)।
५— 'स्फिगीभ्यामेवास्य भामोऽस्रवत् । सा सुराभवत् अन्नस्य रस "
(शत० १२।६।१।७।)।
६—"अपा च वाऽएष ओषधीनाच रस य सुरा' (शत १ ।८।१।४।)।
७— 'अन्न सुरा' (तै ब्रा १।३।३।५।)।
८—"प्रजापतेर्वा एत अ धमी यत्सोमश्च सुरा च' (शत ५।१।१।२ ।)
९—' मत्य वै श्रीज्याति सोम ' (शत ५।१।२।१०।)।
१ –' एष ा सोमो राजा अन्नाद्यम् ' (का ब्रा ९।६।)।
११– 'एतद्वै देव ना परम अन्न यत्सोम ' (त ब्रा १।३।३।२।)।
१२–"एतद्वै परममन्नाद्य, यत्सोम ' (का ब्रा २।३।७।)।
१३ अन ा सोम (शत ३।९।१।८।)।
१४–' प्राण सोम " (शत० ७।१।१।२२।)।
१५– आप सोम सुत " (शत० ७।१।१।२२।)।
१६– 'सोम्या ओषधय ' (शत १२।१।१।२।)।

सुरा और सोम इनदोनो विरुद्ध प्राणो से कृतमूर्ति अन्न की आहुति ही मानव के उस वैश्वानराग्नि को प्रदीप्त उद्दीप्त प्रज्वलित रखती है जिस वैश्वानराग्नि को ही हमन पूव में नाद श्रुति स्वर नामक तीन सङ्गीत

— सुरा वै मलमन्नाना, पाप्मा च मलमु च्यते ।
तस्मात् ब्राह्मण राज न्या, वैश्यश्च न सुरा पिबेत् ॥
—मनु

जा तभ्र शकर मलिनीकरण सकरीकरण भेद से मादकद्र यो का शास्त्र ने त्रिधा वर्गीकरण किया है। वे ही तीनों विभाग क्रमश सुरा–सीधु आसव इन नामो से प्रसिद्ध हैं। ब्राह्मणो मदिरा पीत्त्वा ब्राह्मण्यादेव हीयते के अनुसार सुरा वण की ही उ छेदिका है। भग–चरस–गाँजा अमल सुलफा कोकीन पोसत अकपर्णा आदि मादकद्र य मलिनीकरण हैं एव जर्दा तम्बाकू सिगरेट बीडी आदि मादकद्रव्य सङ्करीकरण हैं। तीनो ही मादकवर्गा में न्यूनाधिकरूपेण जीवनीय रस को न ट अभिभूत करनेवाला विष रहता है। तीना में सवतोऽधिक भयावहा सुरा की पैष्टी–गौडी–माध्वी ये तीन प्रमुख जातिया मानी गइ हैं जिनके प्र येक के अवा तर भेदोपभेद सुराप्रकरणा में उपब हित हैं।

प्रात ठाओं का प्रवत्तक बतलाया ह । यहा सी इष्ट ब दु पर यह भी मम नय करलेना चाहिए कि सङ्गीत का श दा मक यञ्जना मक पार्थि व अनु टुन म यभावापन्न क च त पाद रूप जितना भूतभाग है (सङ्गीत के श दा मक बोल ह) वह भूतभाग ता वश्वानरा न म अन्त याम स ब ध स प्राता टत अन्नके मला मक तमो मय म य-सुराभाग से अनुप्राणित है एव श्र यनुगत रूप जो स्वरभाग (म नमय तानभाग) है वह वश्वान राग्न में प्रतिष्ठित अन्न के रसा मक योति मय अमृत रसा मक सोमभाग स अनुप्रा णत हे । सा यप्राण ी स्वररूप में परिणित हुआ है एव अन्न का भूतभाग ही स्वरानुगत यञ्जना के रूप मे परिणत हुआ है । या सुरा सङ्गीत क श दा मक यञ्जना का तथा सोम सङ्गीत क ताना मक स्वरा की प्रतिष्ठा बन हुए ह- अन्नपरम्परया यहा वक्त यनिष्कष है । सोमरसा मक स्वर त व के सी त य को लक्ष्य बना कर श्र तिने कहा है—

स यदाह स्वरोऽसाति -सोम वा एतदाह । एष ह व सोम -सूर्यो भू वा अमु-
ष्मिंल्लोके स्वरात । तत् यत् स्वरति तस्मात् स्वर । तत् स्वरस्व स्वर वम् ।

—गोपथब्राह्मण पू ५।१४।

गोपथश्रुति ने कहा है कि — सा जा क निसे स्वर कहा है वह इस– सोम को ही कहा है । अर्थात् सोम के अभिप्राय से ही (इस प्रकरण म) स्वर श द प्रयुक्त हुआ है । निश्चयन यह सोम ही सूर्यरूप म परिणत हाकर स्वरमाण है । क्याकि सोम हा सूर्यरूप म परिणत हाकर स्वरभाव से समन्वित होरहा है । अतएव सोम का स्वर कहा गया है ।

क्या ता पर्य ? । ता प य स्पष्ट है । बतलाया गया है कि सोम उस परमेष्ठीलोक की ही वस्तु है जिस पारमे ठ्य–वारुण–भृग्वङ्गिरामय–आपोलोक के गभ म निश्र भी सूय एक बुदबुद से अधिक अपनी कोइ क्षमता न ी रखता । पारमेष्ठ्य वह सोम जहा दाह्य है वहा सौ सावित्राग्नि दाहक है । स्वस्वरूपेण सोम भी कृ ण (नीरूप है एव आकृष्णन रजसा वत्त मान के अनुसार स्वय सूर्य्य किंवा तद्रूप सावित्राग्नि भी कृष्ण (योतिर्विहीन) ही है । इस दाहक कृष्णाग्नि में उस दाह्य कृष्ण सोम की निर तर आहुति होरही है इसीसे सूर्य- अ निहोत्र रूप में परिणत होरहा है—(सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्) । दाह्य सोम दाहक सौर अग्नि में आहुत हाक प्रज्वलित होपडा है और यही सौर प्रकाशा मक-रश्मिमय वह साममण्डल है जिस हमने पूव में स्वरसाम कहा है । पिण्ड की मण्डलरूप म परिणति ही पिण्ड की स्वररूपता है । क्योकि साम ही प्रकाशमण्डला मक स्वररूपता में परिणत हुआ है । अतएव सोम क लिए ही यह कहा जाता है कि हे सोम ! आपने ही योतिरूप से विश्वा धकार को फाड दिया है जैसाकि निम्न लिखित म त्रवर्णा स स्पष्ट प्रमाणित है—

त्वमिमा ओषधी सोम ! विश्वास्त्वमपोऽजनयस्त्व गा ।
त्वमा तत थोव तरिक्ष-त्व ज्योतिषा वि तमो ववथ ॥

—ऋक्स १।६१।२२।

ऐसी है यह **सुरा** और ऐसा है यह **सोम** जो यो—**मलात्मिका दोषपूर्णा मान्कता** तथा **रसा मिका गुणपूर्णा मादकता** स समन्वित होर हैं। सुरा के मला मक दोष की तथा सोम के रसा मक गुण की भूतदृष्ट्या—मृत प्राणी एव जीवित प्राणी के भातिक—शरीरो से तुलना की जासकती है। कथमिति चत्? श्र यताम्! । जब मानव का भूता मा शतायुभाग—कालान तर स भौतिक—शरीर का परि याग कर दता है ता मानवशरीर—**शव** रूप मे परिणत होजाता है। भूता मो क्रा ति के साथ ही शारीरिक भूतो के मलभागो क निर तर विशोधन करते रहने वाला अतएव **पवमान** नाम से प्रसिद्ध जीवनीय रसा मक—पारमेष्ठ्य अमृत सोमप्राण भी उ क्रा त होजाता है। स पवमान सोम के उ क्रा त होते ही भौतिक शरीर का मला मक वारुण—आप्य सुराभाग अमप नरूप से पूणमात्रा से अभि यक्त होपडता है। यही प्रचण्ड ग ध **शव—ग ध (दुग ध)** नाम से प्रसिद्ध है जो दुग ध एक जीवित प्राणी के लिए क्षणमात्र के लिए भी सह्य नही हुआ करती। एकमात्र **क्र यादाग्नि देव** ही इस शवदोष को विलीन करने की क्षमता रखत है। वश्वानराग्निमूर्त्ति भूता मा से जबतक भौतिक शरीर त त रहता है तभीतक यह पवित्र सोम शरीर में अ तर्य्याम सम्ब ध स प्रतिष्ठित रहता है। वश्वानराग्नि की उ क्रा ति के साथ ही यह सोम भी उ क्रा त होजाता है। और यो उस अवस्था में तापशू य अतएव अतप्त—रस शवशरीर से अनिसहध र्मा पवित्र सोम का भी कोई सम्ब ध न ी रह जाता। यह वही पवित्र सोम त व है जिसका गाङ्ग यतोय में समावश हुआ है। अतएव पारमे ठ—पवित्र सोम और पार्थिव गाङ्ग यतोय दोनो अभिन्न मान लिए गए है। जबतक य पावन सोम मानवशरीर में प्रतिष्ठित र ता है तभीतक सुराजानत—मलीमस—भौतिक दुर्गन्धि—क ट मलाद—दोष मानवशरीर को अभिभूत नही कर सकते। सोम के इसी पवित्रधम्म का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि ने कहा है—

पवित्र ते वितत ब्रह्मणस्पते! प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वत ।
अतप्ततनूनतदामो अश्नुते शृतास इद्वह तस्तत् समाशत ॥

—ऋक्स ९।८३।१।

इश्वरीय—आधिदविक प्राणा मक—सुसूक्ष्म विश्व में सुरा मक तमोमय आ य आसुर—वारुणप्राण तथा सोमा मक—ज्योतिम्मय—सौम्य—दि य—ऐन्द्रप्राण इन दोनो प्राणो का कसा और क्या स्वरूप है? नका किस लोकपुर (परमेष्ठीपुर) से स ब ध है? इ यादि मौलिक प्रश्नो के समाधान सम वय के लिए ही **सुरा और सोम** श दो का आधिदैविक चिर तन इतिवृत्त पाठको के स मुख रक्खा गया। अब इन दोनो के आ यात्मिक (मानवीय) सस्थान की ओर ही सञ्जीतप्र मियो का यान आकर्षित किया जारहा है जिसे थाड अवधानपूवक ही लक्ष्य ब ाने का अनुग्रह होना चाहिए।

अध्या मसस्था में **आ मा बुद्धि मन शरीर** नामक चार सुप्रसिद्ध प है जिन इन चारो पर्वों में से **बुद्धि— मन शरीर**—इन तीन पर्वों के प्र व (उ पादक) प्रतिष्ठा (आधार) परायण (लयस्थान) प्रकृति जगत् के क्रमश **सूर्य्य च द्रमा भूपिण्ड** ये तीन पव ही बने हुए हैं। **सौरी बुद्धि चा द्र मन पार्थिव शरीर** मानव के इन तीनो तन्त्रों में यदि बुद्धि का सर्वोपरि स्थित दिग्देशकालातीत **आ मा** नाम के तुरीयपद के साथ स ब ध मान लिया जाता है तो उस दशा में मानव के चारो पव **आ मा बुद्धि** एव

मन शरीर इन दो पृथक्-सस्थानो मे विभक्त होजाते है। **साम** और **सुरा** नामक प्राणो क समन्वय क लिए हम अ याम के **मन** और **शरीर**-नामक दोनो चान्द्र पार्थिव पर्वों को ही लक्ष्य बना लेना है। मन चान्द्र है **चन्द्रमा मन ना जात** – **मनश्चन्द्रे ए लीयते** के अनुसार। पाञ्चभौतिक शरीर का पृथ्वीत्व तो सर्वबोधगम्य है ही।

एष वै सोमो राजा देवानामन्न यच्चन्द्रमा के अनुसार मन का प्रभव चन्द्रमा **सोमात्मक है**। **अद्भ्य पृथिवी** के अनुसार शरी का प्रभव भूपिण्ड अपने मौलिक उपादान से आप प्रधान बनता हुआ **वारुण-सुराप्राणात्मक है**। यो चान्द्रसोममय मन ए । पार्थिव सुरामय शरीर ये दोनो आ यात्मक पर्व ही आध्यात्मिक सोम और सुरात त्र ह निह्न आधिद त्रक सोम और सुरा-प्राणो के प्रतीक नही अपितु साक्षात् **प्रतिरूप** ही माना जायगा।

सोमात्मक मन की शास्त्रने दो विभक्त अवस्थाए मानी ह। यदि ऐन्द्रियक विषयो म आसक्त मन इन्द्रियवशवर्त्ती बनता हुआ फलकामुक ही प्रमाणित होजाता है तो इस अवस्था किंवा दुरवस्था म यह सौम्य मन सौरीबुद्धि के सत्वगुणात्मक- इन्द्र के अनुग्रह से (ज्योति के अनुग्रह स) वञ्चित होता हुआ स्व-योनि स्वरूप से उसीप्रकार आत्मभूत होजाता है जैसेकि कृष्णपक्षीय चन्द्रमा सौर इन्द्रज्योति से वञ्चित होता हुआ कृष्णरूप म परिणत होजाता है। * तमोमय वारुण-सुरात्मक-भौतिक-ऐन्द्रियक विषयो म आसक्त ऐसा ही मन-**भूतात्मा के बन्धन** का कारण माना गया है।

ठीक इसके विपरीत यदि यही सौम्य मन सौरी बुद्धि के इन्द्रप्राण से समन्वित रहता हुआ (बुद्धियोग निष्ठ बनता हुआ) बुद्धि के तेजोमय असङ्गरश्मि स अनुप्राणित होकर विषयो का अनुगमन करता हुआ भी असङ्ग बना रहता है तो ऐसा मन उसी प्रकार ज्योतिर्मय है जैसे कि शुक्लपक्षीय चन्द्रमा सौरज्योतिरिन्द्र के प्रतिफलन से ज्योतिर्मय बना रहता है। ऐसा असङ्ग ज्योतिर्मय-बुद्धियोगान्वित-सत्त्वमन ही **भूतात्मा के बन्धनविमोक** का प्रवर्त्तक माना गया है-। या-सौरीबुद्धि से **युक्त सत्त्वमन** एव सौरीबुद्धि से वियुक्त

---

* चन्द्रमा का चन्द्रिकारूप प्रकाश (ज्योत्स्ना) सौर ज्योतिर्मय-रश्मियों का प्रतिफलन-मात्र ही है। बिना सौर-इन्द्रप्रकाश के चन्द्रमा अपने प्रातिस्विकरूप से घोर कृष्ण ही है जैसाकि- **चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्ण** (शत ब्रा) इत्यादि से स्पष्ट है। प्रतिफलनात्मक इसी सौरज्योतिर्भाव को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा कि —

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।
इत्था चन्द्रमसो गृहे॥

—ऋक्स १।८४।१५।

— न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परन्तप !।
मन एव मनुष्याणा कारण बन्ध-मोक्षयो ॥

—प्राचीनसूक्ति

तमोमन भेद से एक ही मन की दो विभिन्न अवस्थाएं होजाती हैं जिन न दोनों म से स मन का तो बुद्धि क क्षेत्र म ी अन्तर्भाव मान लिया जाता है। फलत मनस्वन मन तमोरूपेणाव शेष रह जाता ह जाक इन्द्रियों के ना यम स शरीरासक्त बनता हुआ तम स हा अभिमूल रहता है। ऐसा सौ य मन ही विषयासक्तरूप प्रचण्डतमोरूप– **आवरण** स सदा ही आवृत रहता है। और सौ य मन के सी आवरणदोष का नाम है पूर्वप्रातजात– **मा य** नामक भयानक दोष।

बुद्धि का सहज गुण माना गया है— **धृति** जिस गुण के कारण ही बुद्धिरूप उक्थ की रश्मिरूपा वृत्तिया **धिय** नाम से प्रास जसाकि—**धियो यो न प्रचोदयात्** से स्प ट है। **स्थिरता** ही धृति का स्वरूप–परिचय है जिस इस वान्की निरतिशया स्थिरता के अनुबन्ध स ही वह बौद्धिक–धतिधम्म– **नितरा स्थिति** रूप स— **निष्ठा** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। व्यवसायात्मिका धतिगुणसमन्विता अतएव निश्चत–निणयात्मका ऐसी **नि ठाबुद्धि** से समन्वित विवकशील सा नक मानव ही **नैष्ठिक** क लाया है। **निष्ठया हि प्रतिष्ठा स्यात** के अनुसार बौद्धिक निष्ठा ही मानव की प्रति ठा का प्रमुख आधार है। बुद्धिका प्रभव सूर्य्य– **म ये एकल एव स्थाता –बृहद्ध–त था—भुवनेष्व त सूर्य्या बृहतीम यूढस्तपति** यादि के अनुसार सौरस वत्सर मण्डल के म यवर्ता **बृ तीछ द** नामक विष्वद– वृत्त के केन्द्र मे सवथा स्थिररूप स ही प्रतिष्ठित है जिस इस स्थिर–सूर्य्य के चारो ओर **क्रान्तिवृत्त** के आधार प तो भूपिण्ड परिक्रमा लगा रहा है एव अपने **दक्षवृत्त** के आ ार च द्रमा भूपिण्ड के चारो ओर पारभ्रममाण ह। सू य क्योंकि स्थितिभावापन्न है अतएव त प्रसूता बुद्धि भी अपने पाति स्वक धर्म्म स स्थिरधम्म की ही प्रयोजिका बनी हुइ है। बुद्धि का यह स्थिरध म ही–**निष्ठा** कहलाया है।

इधर चान्द्र मन नक्षत्राधिपति चन्द्रमा के प्रातक्षण विलक्षण विचक्षण पारवर्त्तित होने से उक्त नि ठारूप–स्थिरध म स प्रकृ यत वञ्चित है। अतएव निष्ठाशून्य अतएव च नितान्त भावुक इस चञ्चल * मन को धतिशून्य ही क ा गया है। इस चाञ्चल्य का ही नाम है— **मा य** जिसके अनुग्रह स मानव सभी क्षेत्रों मे क्षणे तुष्टा क्षणे रुष्टा को ही चरिताथ करता रहता है।

जिस व्यक्ति का मन दुर्भाग्यवश स्थिरधम्म प्रयोजिक– व्यवसायात्मिका–नि ठाबुद्धि के निय त्रण से पृथक होजाता है मनोवशात्ता वह मानव अपने मानस भावो को उसी प्रकार अस्त यस्तरूप से अनगल– रूप से विभिन्न शारीरिक–हस्त–पाद–मुख–नेत्रादि–मुद्राओं स अभि यक्त करता रहता है जो भावभङ्गिमाएं शिष्टजन स प्रदाय म लानिकर ही मानी गइ है। बात बात पर प्रचण्ड अट्टाट्टहास [फूहडपने से मुख– विवर को विदीर्ण कर हा हा ही–ही ओ–हो हो—इत्यादिरूप स प्रचण्डहास] करत रहना **कराघा** करत **रहना** [ताली बजात रहना चुटुकी बजात रहना] **पादाघात** [प र पटक पटक कर धमाधम करते–फट–फट– करत चलना अथवा तो पर रगड रगड कर घिसते हुए चलना] मुखवाद्य [सीटी बजाना मुख से चप चप

---

*–**चञ्चल हि मन कृष्ण ! प्रमाथिबलवद्दृढम्।**
तस्याह निग्रह म य वायोरपि सुदुष्करम् ॥
—गीता।

प टप–भम्–बम् ना म।–आदि अनेक प्रका की वा ा करते ना ा न्तु म नािभन्न प्रकार की भावमा न्या आभि यक्त करते र ना मन प्रानि ना जग ने ात तिविय प्रका के न्तर हा नाव वा भूषा विन्यास–च क मटक आ त्रणभावा ा न गमन करते र ना ादि आ ना ातुक पृ ा सभी थामङ्ग धर्तिगुणावरावी नि ठाग ा ा गा भी यात धी ानम भयानक मानसन्दोष स आभि यक्त ात त है उसी मानसदोष का नाम है मान्य जिसका प्रत्यो ालको म स य नारीवग म ए ा आशािक्षत यथा जात प्राकृत–मानवो म साक्षात् ा क्रिया जासकता है।

मन सामा मक है अतएव स मानस मान्य दोष का हम सामानुब धा न्ध ही कहेंगे। एव अत्रव एक प्रासङ्गि–वशेष तथ्य की ओर पाठको का यान आकर्षित करदना चाहिए। पूव म **तम** आर **याति** का स्वरूप–स नय करत हुए मने सोम को **यातिस्तत्त्व** कहा ह ए सुरा को **तमाभाव** तलाया है। एव तत्रव योति मय सोम का ऐन्द्रत व प्रमाणित क त हुए नस प्रजापति की **गुण**–विभूति तथा तमोमयी सुरा को वारु ात व तलात हुए से प्रजापति की **दोषविभूति** कहा गया है। न ी साम–सुरा मक गुण–दोषों को ात मया **दैवीसम्पत्ति** तया तमोमयी **आसुरी–सम्पत्ति** नामा से यवहृत करत हुए– **गुण पमय सव लक्षण मनति कातुकी** का उद्घोष किया है [देखिए पृ स २६ –]। अत्र प्रकृत म **मा य** दोष का स्वरूपमीमांसा करत हुए हम मा मक मनस्तत्त्व का **भयानकन्दोष** स समन्वित प्रमाणित करने की चेष्टा कर रहे नवाक पूव म न्सी सोम को ऐन्द्री– याति विभूति बतलात हुए मन के स्वरूप–प्रति ठा मक– सी सोम का हमने **महान् गुण** ही प्रमाणित किया था। पूर्वापरविरोधा मक यह कैसा वदतो याघात ? न्सी प्रासङ्गिकी विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए हमें यहा न्स प्रसङ्ग का पुन स्मरण करना पड रहा है।

जसा कि स्पष्ट क्रिया जाचुका है **रसात्मक निवृत्तिप्रधान मन** त था **बलात्मक प्रवृत्तिप्रधान मन** के भे से एक ही मनके **सात्त्विक मन** **तमामन** भे स **शुक्लचन्द्रमा कृष्णचन्द्रमा** की भांति दो स्वरूप होजात हैं जो द्विविध मन **अन्तर्मन** **बाह्यमन** नामा से भी प्रसिद्ध ह एव जिन इन दोनों मनस्त त्रो के लिए ही गीता म क्रमश **सुमना** **उन्मना** भाव अभि यक्त हुए ह। चन्द्रमा के उपरि धरातल पर प्र ष्ठिता सौरी बुद्धि ही इन्द्रप्राणा मका बनती हुई याति मयी ह। जब चान्द्रमन का इस योतिम्मयी सौरा बुद्धि से अ त र्यामा मक ग्रथिबन्धन स ब ध होजाता ह तो वही मन सौर न्द्र से समन्वित होता हुआ यातिर्मय बन जाता है। एव जब योति मयी–ऐन्द्री–बुद्धि के आ यन्तर अनुग्रहा मक याग से वञ्चित होता हुआ मन ऐन्द्रियक विषयो म आसक्त होता हुआ भौतिक पार्थिव तम प्रधान–आ य–वारुण आवरणा मक–सस्कारो से आवृत होजाता है तो वही मन ऐन्द्र–योतिर्भावानुग्रह से वञ्चित होता हुआ तमोभाव में ही परिणत होजाता ह। ए ा विषयासक्त तयोमय मन ही तथाकथित माल्य दोष की प्रसारभूमि मान लिया गया है। न्स स्थिति–विश्लषण क अन तर पूव में मनोमय सोम को यो तिर्मय–गुणभाव बतलाना एव यहा उसी सोमा मक मन को तमोमय–मा य–दोष–मय बतलाना निर्विरोध ही समन्वित होजाता है इतिनु सव सुस्थ प्रक्रान्तस्थमव।

बुद्धिनिबन्धना स्थिरतालक्षणा नि ठा स अनुप्राणित– **धर्म्य** ही मानव के पु षार्थ–कर्म–निबन्धन **पौरुष** की मूलप्रति ठा माना गया है। गन्धर्व–अ सरा–प्राण–निबन्धन–सौम्य–मन स अनुप्राणित नृ यगीत

वाद्यात्मक सङ्गीत निश्चयेन मानव के पौरुष-प्रवर्त्तक धैर्य्य को विकम्पित ही कर देता है। इस धतिविच्युति का ही नाम है— मान्यदोष जो भूतजगत् में सुरा [मद्य शराब] से समतुलित है। तातार्थ या करते रहने वाले पौरुषविहीन षण्ढवर्ग (हिजड़े नर्तक-भाण्ड-आदि) सुरात्मक इसी मान्यदोष से आपाद मस्तक समाकुलित रहते हैं। अतएव आचारनिष्ठात्मक-कर्त्तव्यपथानुगमन तत्त्वचिन्तन मनन आदि आदि धैर्य्यभावानुबन्धन निष्ठापथ तद्वर्ग के लिए दूरतः ही प्रणष्ट बने रहते हैं जो कि धृतमूलक निष्ठापथ ही ब्राह्मण का वर्णानुबन्धी प्रमुख कर्त्तव्य माना गया है। एकमात्र इसी अनुबन्ध से श्रुति ने— तस्माद्ब्राह्मणो न गायेत् न नृत्येत् यह आदेश प्रदान किया है। सुप्रसिद्धा मैत्रायणी श्रुति ने धातगुण विरोधी तथाकथित माल्यदोष का इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—

अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो धैर्य्यमासीत्, अर्द्धं मान्यम्। यद्धैर्य्यं, तत् पुरस्तात् कुरुत। यन्मान्यं तत् पश्चात् पर्य्योहत। यद्धैर्य्यं-सोम सः। ततो ब्राह्मणमसृजत। तस्माद् ब्राह्मणः सर्व एव ब्रह्माभिधीरः। यन्मान्यं सुरा वै सा। ततो राजन्यमसृजत। तस्माज्ज्यायांश्च कनीयांश्च स्नुषा च श्वसुरश्च सुरां पीत्वा विलालपत आसते। मान्यं हि तत्। पाप्मा वै मान्यम्। तस्मात् ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्। पाप्मना-आत्मानं नेत् संसृजा-इति।

—मैत्रायणीश्रुति

यह तो हुआ सोममय-मानसिक माल्यदोष का स्वरूपेतिवृत्ति-समन्वय। अब क्रमप्राप्त उस आग्ला नामक दूसरे भयानक दोष की स्वरूप मीमांसा भी कर लीजिए जिसका वैज्ञानिक महर्षियों ने मानव के भौतिक शरीर के साथ प्रधान सम्बन्ध माना है। जिसप्रकार मन का स्वरूप निर्माण भार्गव सोम से हुआ है, एवमेव शरीर के निर्माण में प्रधान द्रव्य भार्गव वारुण-अप् तत्त्व ही बना हुआ है। मन-सोम्य है तो शरीर आप्य है क्योंकि मन का प्रभव चन्द्रमा सौम्य है, तो शरीर का प्रभव भूपिण्ड आप्य है। समुद्रमभितः पिन्वमानम् * के अनुसार भूपिण्ड रोदसीत्रैलोक्य के सुप्रसिद्ध क्षारभावापन्न अतएव वारुण अतएव च अपेय— अर्णव समुद्र के ही गर्भ में प्रतिष्ठित है जिस अर्णवसमुद्र में परमाणुरूप से व्याप्त पार्थिवपरमाणुओं का सुप्रसिद्ध—एमूषवराह नामक भूवायु से ही संवरण होता रहता है। इसी संवरण एवं आप्ति व्याप्तिधर्म्म से पुञ्जीभूत होजाने वाले वे ही पार्थिव परमाणु आगे चलकर भूपिण्ड रूप में परिणत होजाते हैं। यही वराहभगवान् के द्वारा समुद्र में

---

* **अपां पृष्ठमसि योनिरग्ने समुद्रमभितः पिन्वमानम्।**
वर्द्धमानो महाँ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा पृथस्व॥

—यजुःसं० १३।२।

— **तासामन्या अन्यतरा अतिलवणा-क्षारधर्म्मान्विता अपेया ताः अशान्तरा-आपः-समुद्रं वृत्त्वा- अतिष्ठन्।** (गो० ब्रा० १।३।)—

डूबती हुइ पृथिवी का समुन्‍ार ह जिस इस त य का ही सप्रासद्ध वराहपुराण प ावस्तार से यशागान हुआ है।

मामुन्‍ आप म वायु के प्रवश से तथा आग्नरूप तज सयोग स होने वाली क्रमिक घन्‍ता से ही आप फेन-मृत्-सिकता-शकरा-अश्मा अय हिरण्य-इन आठ पर्वो के तारतम्य स न आठो की ावात साञ्चति स भूपण्ड का स्वरूप-नि र्माण हुआ ह। एव इ थभूत आप्य वारुण-भू पन्‍ड स ही पाञ्चभौतिक-शरीर का नि र्माण हुआ है। अतएव मन नहा चा कहलाता ह वहा शरीर पार्थिव कहलता है। प ूवप्रातपादित सोमत्त्व का नहा प्रधानरूप स साम्य मन म सम्ब व है वहा सुरातत्त्व का इस पार्थिव-आप्य-शरार से ही प्रधान सम्ब ध माना नायगा। मन को यन्‍ि सोम का प्रातरूप माना नायगा ता शर र का सुरा का हा प्रातरूप माना नायगा। आधिन्‍विक जगत मे यदि च न्‍मा सोम एव प्रथिवी सुरा (वारुणा आ या) है तो अ या मनगत् म मन सोम है और शरीर सुरा है। साम्यमन ाद्रया क द्वारा शारीरिक भागा का भोक्ता बना हुआ एकप्रकार से शरोर का भी भाक्ता बना हुआ है। भाक्ता की परिभाषा पुरुष है एव भोग्य की परि भाषा स्त्री है। इसी सामा य अनुब न्‍ध के अनुपान से साम्य भोक्ता मन को यन्‍ि पुरुष कहा नासकता है ता आप्य-भा य -शरार को स्त्रा क्‍हा नासकता है। मन क्याकि सोम का प्रतिरूप है अतएव स म का पुरुष कहा नासकना है। एवमव शरीर सुरा का प्रतिरप है अत एव सुरा को स्त्री कहा जासकता है। इसीलि‍ए तो सुरा श न्‍द क साथ ही लाक म सु दरी (स्त्री) श न्‍द भी समन्वित हापडा है। सुरा का आर सु दरी (स्त्री) का सानान्‍य सम्ब न्‍व है इस समन्वय का यही निष्कष है-'पुमान् वै सोम स्त्री सुरा'(तैत्तिरीय ब्राह्मण-१।३।३।४।)

अहृदय अशरीर अतएव स्वप्रतिष्ठा स वाञ्चत अतएव च परप्रतिष्ठा-सापेक्ष और न्‍सीलिए भोग्यकोटि में समावि त न का ही पारिभाषिक नाम है— ऋतम् । ठीक न्‍सके विपरीत सहृदय-सशरीरी अतएव स्वप्रतिष्ठा मक अतएव च भाक्तृकाि में समाविष्ट त न्‍व का ही नाम है-स न्‍यम् । सत्य ऋतेऽधायि ऋत सत्यऽधाय इस अनुगमश्रति वे अनुसार दानो दोनो म ओतप्रोत है यही ऋतस या- मक सृष्टिमूलभूत-प्रकृतिसिद्ध-दाम्प न्‍य है। मानव का आ मा और बुद्धि नामक दोनो पव उक्त परि- भाषानुसार स यम् है एव अहृदय-अशरीर- ऋतसाम तथा ऋत अप् न्‍त्त्व से समुदभूत मन और शरीर दोनो ऋतम् है। ऋतम् ही अपनी ऋतघनता से अनृतम् है जैसाक सदघनप्राण असत् कहला रहा है। ऋता मक सोम याद पूवकथनानुसार स न्‍य-सौर-बौद्धिक द्र से समन्वित रहता है तो उस अवस्था में तो इस ऋत भी सोम की-स यस्वरूप म पारणात हाजाती है- सत्य वै श्रीर्ज्योति सोम (शत ५।१।२।१ ।)। यदि इस ऋत मन का सौर बौद्धिक-स य के साथ योग न होकर शारी- रिक-आप्य-भौतिक-वारुण-भोगों में ही विलयन है तो उस अवस्था म इस का स ज सौम्य ऋता मक अनृतभाव ही प्रधान बन जाता है। उस अवस्था में तो शारीरक आ न्‍य सुरातत्त्ववत् य मानस-ऋतसोम भी अनृतभावापन्ना सुरा के रूप में ही परिणत होजाता है— अनृत पाप्मा-तम -सुरा (शत ५।१।२।१)।

ऋतसामात्मक चन्द्रमा यान्‌ * ग धव है ता ऋत आपामयी पृथिवी अप्सुसरणशील-त्वात्-अ सरा न मनो गन्धर्व (शत ६।४।१।१ ।)। चन्द्रमा पृथिवी मन शरीर सोम सुरा ग धर्व अ सरा यादि विविध द्व द्वभावो से समन्वित इन मानसिक शारीरक ऋतप्रधान अतएव अनृतभावापन्न भावो के परिणाम है मानसिक शारीरिक कामभोग हास-परिहास आमोद प्रमोद-ग ध सुगन्ध मिथुन क्रीडा आदि निष्ठाविरोधी-भाव जैसा कि नि नलिखित वचनो स स्पष्टतमरूपेण प्रमाणित है—

१—गन्धेनव च रूपेण च-गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति (शत ६। ।१।४।)।

२—योषित्कामा वै गन्धर्वा (शत ३।२।४।३।)।

३—स्त्रीकामा वें ग धर्वा (ऐ ब्रा १। ७।)।

४—सोमो ग धर्वाय (ता ब्रा ।३।६।)।

५—ग धो मे, मोदो मे प्रमोदो मे, त मे युष्मासु (ज उ ३ २५।४।)

६—उपद्रव ग धर्वा-सराभ्य प्राय च्छत् (जै उ ३।१२।१।)।

७—ग धर्वासरमो वै मनुष्यस्य प्रजाया वा प्रजस्तावावेशते। (ता १६।३।२।)।

८—ग ध इ यप्सरस उपासते (शत १ ।५।२।२ ।)।

९—किन्तु तेऽस्मासु प्सरस्सु-इति ? हासो मे क्रीडा मे मिथुनम्म। (ज उ ३। ५।६।)।

आपोमय-वारुणप्राण ही सुरातत्त्व ह आपाम्यी ही पृथिवी ह एव पू प्रदर्शिता-पञ्चाग्नि विद्या के अनुसार आपामय ही शरीर ह। अतएव चान्द्रमन को यदि सोम क । जासकता है तो अवश्य ही पार्थिव शरी को सुरा माना जासकता है माना गया है आगमशास्त्र में। पाञ्चभौतिक शरीर ही योगमायात्मक वह आवरण है जिस के आवरण से आवृत मन बुद्धि आ मा सभी कुछ मोहाविष्ट बनते हुए स्वस्वरूप से उसीप्रकार अभिभूत होजाते हैं जसेकि सुरापी मानव अपना सबकुछ विवक-विस्मृत कर देता है। किमथ कस्य कामाय शरीरमनुस ञ्चरेत् मूला निष्ठादृष्टि पलायित होजाती है एव शेष रहजाता है शारीरिक मदिरा मक-भौतिक-व्यामोहन । पार्थिव रस का एक पारिभाषिक नाम है— इरा । इस इरा रस के सम्बन्ध से ही-पार्थित प्राण- इरामय कहलाया है-(ऐ ब्रा २।१।३।)। अपने वारुण-विमोहक-आसुर धम्म से सचमुच ही तो यह इरारस-मादकगुण से समा वत होरहा है। तभी ता पार्थिव अन्न को सुरा सोमात्मक माना गया है। इस मदभाव के कारण ही इस मादक-पार्थिव-सुरातत्त्व का एक नाम- मदिरा (मदभावप्रवर्त्तिका इरा-रसो-यस्या) भी होगया है। आवरणात्मिका

---

* चन्द्रमा ग धव (शत ६।४।१।६।)। आपो अ सरस (यजु स १८।४१— शत ६।४।१ १)। सोमो राजा न याह तस्या अप्सरसो विश —इति युवतय शोभमाना उपसमेता भवन्ति ता उपदि-शति अङ्गिरसो वेद सोऽयमिति । (शत १३।४।३।८।)।

तमोमयी–निद्रा–तन्द्रा–आलस्य–दीर्घसूत्रता भय–क्रोध आदि आसुरभावों की प्रवर्तिका महामोहमयी इस सुरात्मिका योगमाया से ही तो मानव मोहाविष्ट बने रहते हैं *। **पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्** से स्पष्ट ही तथाकथित वारुणभावों का मदिरात्व समर्थित है।

वारुण पार्थिव क्षारभावापन्न मलीमस पूति भावान्वित अर्णवसमुद्र में अपनी मूलप्रतिष्ठा प्रतिष्ठित रखने वाले तथोपवर्णित सुराभाव से सम्बन्ध रखने वाले शारीरिक–उन्मादों का ही नाम है— **आग्ला** नामक वह महादोष जिस के अभिव्यक्त होजाने पर मानव का शरीर सर्वथा ही स्वस्वरूप प्रतिष्ठा से विकम्पित होजाता है। हर्षक्षयात्मक ग्ल धातु (ग्लै–म्लै–हर्षक्षय–आदि प ७। ७३ सू) ही **आङ्** उपसर्ग से समन्वित होकर **आग्ला** रूप में परिणत हुआ है।

लोकव्यवहार में **स्वस्थता** और **प्रकृतिस्थता** नामक दो शब्द प्रचलित हैं। यद्यपि सर्वसामान्य की दृष्टि में दोनो शब्द अभिन्नार्थक ही बने हुए हैं। किन्तु तत्त्वदृष्ट्या ये दोनो शब्द सर्वथा विभिन्नार्थों के ही संग्राहक बने हुए हैं। मानव की अध्यात्मसंस्था **पुरुष** और **प्रकृति** इन दो विभिन्न तत्त्वों का समन्वय है। आत्मा और सौर इन्द्रानुगत-बुद्धितत्त्व इन दो पर्वों की समष्टि का नाम तो है **मानवीय–पुरुष** तथा मन और शरीर इन दो पर्वों की समष्टि का नाम है— **मानवीय प्रकृति**। **आत्मबुद्धि–समन्वित पुरुषभाव** ही मानव का **स्व** भाव है एवं मन–शरीर समन्वित प्रकृतिभाव ही मानव का **पर** भाव है। **पुरुषरूप–स्व–भाव की स्वस्वरूप में स्वरूपानुगति स्थिति ही मानव की स्वस्थता है एवं प्रकृतिरूप परभाव की स्वस्वरूप में स्थिति ही मानव की प्रकृतिस्थता है**। जो मानव आत्मबुद्धिलक्षण समदर्शन नामक आत्मसाम्य से समदर्शी बना रहता है रागद्वेषवियुक्त ऐसा ही मानव **स्वस्थ** मानव कहलाया है जिस का परिणाम है **आत्मप्रसाद** एवं **बौद्धिका निष्ठा**।

एवमेव जो मानव मन शरीरलक्षण प्रकृतिसिद्ध–विषम–विभक्त–व्यक्तित्वात्मक स्वधर्म्मात्मक आचारधर्म्म का अनुगामी बना रहता है असङ्गरूपेण प्राकृतिक शब्द कर्मों के अनुयायी एसे मानव की प्रकृति ही इसे लोकस्थिति का अनुगामी बनाए रहती है जिस लोकस्थिति का ही नाम है—**तुष्टि से समन्विता पुष्टि**। **आत्मानुगता शान्ति** एवं **बुद्ध्यनुगता तृप्ति** ये दोनो स्वस्थता के किंवा स्वस्थ **पुरुषमानव** के लक्षण है। एवं **मनोऽनुगता तुष्टि** एवं **शरीरानुगता पुष्टि** ये दोनो प्रकृतिस्थता के किंवा पररूप **प्रकृतिमानव** के लक्षण हैं। **पुरुषनिबन्धना–शान्ति–तृप्ति–रूपा स्वस्थता** एवं **प्रकृतिनिबन्धन तुष्टि–पुष्टि–रूपा–प्रकृतिस्थता** इन दोनो धर्म्मों से समन्वित पुरुषश्रेष्ठ ही उस **प्रसादगुण** का अनुगामी बना रहता है जिस प्रसादगुण की अभिव्यक्ति से मानव का आत्मा सद्व शान्तिरूप **सच्चिद्भाव** से बुद्धि निष्ठाधर्म्म से मन **श्रद्धा वात्सल्य–स्नेह–काम–रति–भेद भिन्न** पञ्चविध–प्रकृतिसिद्ध प्रेमाकर्षण से एवं शरीर अनुरूपा भुक्ति से समन्वित रहता है। यही इस की मानवीया अध्यात्मसंस्था का प्रसादगुणात्मक वह सहज **आनन्द** भाव है जिसकी अभिव्यक्ति लोकजीवन में हर्ष उल्लास मङ्गलोत्सव–पर्वादि मङ्गलाचारों के रूप में होती रहती है।

---

* **नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः** । (गीता)
योगमाया हरेश्चैतेत तया सम्मोह्यते जगत् ।। (सप्तशती)

आ य—वारुण—सुरा मक—शरीरानब धन जो भयानक—आसर दोष मानव के पुरुष—प्रकृ यनुगत तथाविध स्वस्थता प्रकृतिस्थता प्रव िक सहज प्रसादगुण को आभभूत कर दता है प्रसादगुण की जिस इस अभिभूति से म नव की आ मानुगता अशान्ति क्षोभरूप म बुद्धयनुगता नि ठा सशयरूप में मनोऽनुगत प्राकृतप्र म भोगासक्तिरूप में ए शरीरानुगता पुष्टि क्षयरूप में पारणत होजाती है लोकजीवनानुगत—स पूण हष—उल्लास स थव क्षीण होजात ह उसी सामुद्र वारुण भयानक दोष का नाम है— आग्ला जिस की तद्दोषयुक्त मानवो में सर्वा मना अभि यक्ति दखी जाती है। जिस अभि यक्ति का प्रचण्ड उदाहरण वह सुरापी आग्ला मानव ही बना हुआ है जिसका सुरानुगत आग्लादोष से सवप्रथम समानानुब ध से शरीर ही विकम्पित होने लगता है। शरीर विक पन के साथ ही मन विकम्पित होपडता है। मन के विका पत होते ही तत्प्राणरूपा इद्रिया निकम्पित होपडती हैं। सभी इद्रिया इस विकम्पनावस्था में प्रकृतिस्थता से पराड मुख होती हुइ अनग न भावो की ही अनुगमामिनी बन जाती ह। शरीर मन न्द्रिय—वर्गों के विकम्पित होते ही मानस प्रज्ञानधरातल पर प्रतिष्ठित रहने वाली बुद्धि खण्ड खण्डरूप में परिणत होजाती है। बुद्धिनाश स अ ततोग वा आ मप्रसाद सवथव अभिभूत होजाता है। और यो स सुराजनित शरीराब धन आ लादोष से मानव की लोकजीवनानुगता सभी हषपर पराए क्रम क्रमश सवथव क्षीण होजाती हैं। इसीलिए तो हषक्षया मक ग्लै धातु से इस दोष का आग्ला नाम रखना अ वथ बन रहा है। क्षय की दृष्टि से इस सुरादोष से कुछ भी तो नहा बचता। आ मा-बुद्धि मन —शरीरा म—पुरुष—प्रकृ या मक—स्वस्थता—प्रकृतिस्थतानुब धी सभी कुछ ता लान—म्लान होजाते है। आड उपसग सी सवविनाश का सूचक है। और आसम तात्—ग्लान रूप आ ला दोष का यही सक्षि त स्वरूपातवृत्त है।

उक्त सोम सुरा स दभ से अब हम इस निष्कष पर पहुचना पडा कि मानव का सौ य मन सोमा मक मा यन्दोष से एव वारुण अतएव वारुणीरूप शरीर-सुरा मक आ लादोष से सम वित है। इन दोनो दोषो को हटाने के लिए ही शास्त्रा मिका—आचारनिष्ठा अभि यक्त हुइ है म र्षियो के द्वारा जिस आचारा मिका निष्ठा के कम्म —भक्ति ज्ञान —नामक तीन प्रसिद्ध त त्र माने गए हैं जिनका कि वदशास्त्र के विध्यात्मक—ब्राह्मणभाग आरण्यकभाग उपनिषद्भाग—इन तीन प्रक्रमों के द्वारा क्रमश स्वरूप—विश्लेषण हुआ है। इस आचारनिष्ठा म मानव का आ मानुगत बुद्धित त्र ही प्रमुख सहयोगी बना रहता है। मन और शरीर उसी सीमापय्यन्त इस आचारनिष्ठा के अनुयायी बने रहते है बने रह सकते हैं जबतक कि बुद्धि के द्वा ा मन —शरीर का निय त्रण रहता है। बुद्धि के नियन्त्रण से पृथक् होत ही मन —शरीर—दोना स्वराचारपरायण बन जाते है। इस स्वैराचारिता स निश्चयेन—मनस्त त्र में काला तर म मा न्द्यदोष अभि यक्त होजाता है एव शरीर में आग्लादोष अभि यक्त होजाता है जोकि इनके स्वरूप में प्रकृ या ही बीजरूप से प्रतिष्ठित है। इन दोषो के अभि यक्त होते ही पुरुषानुगता निष्ठा अभिभूत होजाती है निष्ठा के अभिभूत होते ही आचारधम्म शिथिल होजाता है। शेष रह जाते है— अनाचार।

सङ्गीत के प्रति सर्वा मना आदरभाव रखते हुए भी सङ्गीत के मूलप्रतिष्ठारूप नाद—श्रुति स्वर—जसे महतोमहीयान्—उदात्तभावो के प्रति सर्वा मना आस्था श्रद्धा—रखते हुए भी हमें प्रकृतिविवत्त के तथाकथित मानस सोम तथा शारीरिक सुरा—भावो से अनुप्राणित आ मबुद्धिनिष्ठा के महान् प्रतिद्वन्द्वी मा य और आग्ला—दोषो के सम्ब ध से शरीरानुगत मानसभावानुब धी—गायन एव मनोऽनुगत—शरीरभावानु

ब धी–न र्तन–वादन–समष्ट्या मक–सङ्गीत के प्रति कम से कम आ मबुद्धिन ठ–भारतीय–ब्राह्मण को तो सर्वा मना तटस्थ ही मान लेना पड रहा है । हमारी मा यता का इस दिशा म कोइ मह व नही है। यह तो न महामहर्षियों की स्पष्ट मा यता है जिस की जागरूकता म कोइ भी नाष्टिक ब्राह्मण नत्त न गायन वादना मक अतएव मा य आग्ला षाभि यञ्जक सङ्गीत को अपन स्वा यायनिष्ठा म अ चारनिष्ठा में कोइ प्रश्रय नही दे सकता नही ही दे ना चाहिए–यदि इस– ब्राह्मणेन निष्कारण षडङ्गो वेदोऽ येयो ज्ञेयश्च पर अणुमात्र भी आस्था है तो।

मनोऽनुगत–सोमा मक ऋतभावानुब धी–अतएव अनृत–पा मा–भावानुब धी मानसिक–मा यदोष से नि य समन्वित शरीरानुगत सुरा मक–ऋतभावानुब धी अतएव अनृत पा मा भावानुब धी शारीरिक पूर्वोपवर्णित हृष्त्क्षयकर आ मप्रसाद के विघातक इसी आग्ला ष की प्रकृतिसिद्धा स्वरूप– ति को लक्ष्य बना कर गोपथ—श्रुति ने कहा है—

तस्यात्मन्नधत्त । तेन प्राज्ज्वलयत् । यदात्मन्नाधत्त (तदा मपरित्यक्तमेव) 'आग्ला' अभवत् । तत्–आग्ला भूत्वा सा समुद्र (वारुणसमुद्र –अर्णवसमुद्र –क्षारसमुद्र) प्राविशत् । सा आग्ला–समुद्रमदहत । तस्मात्–समुद्रो दुर्गिरपि वैश्वानरेण ह दग्ध । सा–आग्ला पृथिवीमुदैत । सा पृथिवी यदहत । सा–आग्ला देवान् (पार्थिव देवान्) आगच्छत् । सा देवानहिडत (तिरस्कृतवती) । ते देवा ब्राह्मणमुपाधावन् । स–ब्राह्मण –नैव–अगायत्, न अनृत्यत् '। सैषा–आग्ला–कारुविदा नाम । त वा एत (आग्लया–समन्वित) आग्लाहत सन्त– आग्लागृध इत्याचक्षते–परोक्षेण" ।

—गोपथब्राह्मण पू २ प्र । २१ ब्रा ।

आ मबुद्धिसम्मत सांस्कृतिक–कोश का अ यतम चि तक न ठक ब्राह्मण मन –शरीर–निब धन ग धर्वाप्सराप्राण–समाक्रा त अतएव सोम सुरा मक अतएव च मा एव आ ला दोष स काल्वालीकृत थभूत नत्त न-गायन वाद्या मक सङ्गीत का यदि अनुगमन करता है तो निश्चयेन **त न न-री मृ त न न री मृ रीम् ताक् धिना–धिन् छूम् छूम् छ न न न ता ता थे ई** आदि आदि विभिन्न विभिन्न विचित्र विचित्र भावभङ्गिमाओं से आलोडित—विलोडित हा हा-हू ह ही नी आ आ आ इ-इ आदि विविध मुद्राओ से आपूरित डिड डा डिड डाडा डा डा आदि तन्तु वाद्यों से मुखरित–इ थभूत भाव विभावादि से कृतरूप सङ्गीत से नष्ठिक के भी मन शरीर पि दमान ही बन जाया करते ह जिस पि दमानता से ही काला तर में **स्वरूप–विस्मृति** होजाया करती है । अतएव आ मबुद्धिसम्मत निष्ठा के क्षेत्र में तो कदापि न र्तन गायन वाद्ना मक सङ्गीत जैसे भावुकतापूर्ण मन शरी यामङ्ग को प्रश्रय नही ही मिल सकता नही ही मिलना चाहिए ।

ज्ञान कर्म भक्ति नाम की त्रिविध आचारनिष्ठाओ का क्रमश **आत्मा बुद्धि-मन** न तीन मानवीय–पर्वो के साथ क्रमिक सम्ब ध माना गया है । आ मानुगत चि तन–मनना मक आचार (अनुशीलन) बुद्ध्यनुगत–आचारा मक–आचार (क यिक मा चरण) इन दो क्षेत्रों में तो मनोव्यासङ्ग का प्रवेश सवथा

निषिद्ध ही माना गया है। शेष रह जाता है मनोनिबन्धन भक्तिमार्ग। केवल इस मानसिक भक्तिकाण्ड के अनुबन्ध से ही प्रचण्ड मर्यादासूत्र के नियन्त्रण माध्यम से ही ईशभक्ति से समन्वित शास्त्रीय सङ्गीत का ही अमुक-विशेष पर्वोत्सव एवं यज्ञादि कर्मों के लिए ही अनुमोदन हुआ है। यही कारण है कि भारतीय प्राच्य शास्त्रीय सङ्गीत की प्रमुख आधारभित्ति ईशसम्मरण ही बना हुआ है। और इसी दृष्टि से भारतीय शास्त्रप्राङ्गण में इत्थंभूत शास्त्रीय—सङ्गीत का भी सम्मादर होगया है। **वीणावादनतत्परा भगवती शारदा डमरूवादक भगवान् शङ्कर विश्वसंहारक ताण्डवनृत्य के प्रवर्त्तक महाकालेश्वर वेणुवादक भगवान् नन्दनन्दन तुम्बुरु तान निमग्न गन्धर्वर्षि तुम्बुरु ब्रह्मना —समाप्लुत—गन्धर्वर्षि नारद** आदि आदि प्राणदेवताओं के अनुबन्ध से जिस शास्त्रीय सङ्गीत का (ईशसंस्मरणमात्रानुबन्धेन) जो समादर हुआ है तदतिरिक्त युगधर्म्मानुगत सोम सरात्मक माध्य आग्ला दोष परिपूर्ण आचारपथविरोधी आज की भाषा के अनुसार **धर्म्मनिरपेक्ष** —अकाण्डताण्डवात्मक गायन वादन नर्त्तनादि का तो भारतीय संस्कृत के नैष्ठिक प्राङ्गण में प्रवेश भी निषिद्ध ही है *। इत्थंभूत नर्त्तन गायन व्यासङ्ग को आत्यन्तिकरूपेण ब्राह्मण के लिए निषिद्ध बतलाते हुए उसी गोपथश्रुति ने आगे जाकर यह उद्बोधनसूत्र प्रदान करते हुए संस्कृति के उपासक नैष्ठिक ब्राह्मण का आग्लादोष से परित्राण ही किया है कि—

'स य एष ब्राह्मण गायनो वा नर्त्तनो वा भवति, तमाग्लागृध इत्याचक्षते। तस्मात्— ब्राह्मणो नैव गायेत् न नृत्येत्। मा—आग्लागृध -स्यात्।

—गोपथ पू. २।२१

स्वरभावानुबन्धी मण्डलात्मक साम के प्रसङ्ग से नाद श्रुति स्वरात्मक सङ्गीत की प्रासङ्गिक चर्चा करते हुए लोकसङ्गीतानुगत-**माध्य** तथा **आग्ला**—नामक उन दो दोषों का भी प्रासङ्गिक दिग्दर्शन कराना पड़ा—जिस अशास्त्रीय आज के रेडियो चित्रपट एवं विविध समारोहादि से अनुप्राणित उत्तालतरङ्गायित गायन नर्त्तनादि के अनुग्रह से इन दोनों दोषों से आज भारतीय मानव के मन शरीर तन्त्र सर्वथैव उस सीमापर्य्यन्त आसमन्तात्—परिव्याप्त होगए हैं कि आज उभयदोषात्मक आचारनिष्ठाविरोधी—अतएव संस्कृति के प्रचण्डतम शत्रु—इत्थंभूत **अलग्ल नाच—गान** को ही दुर्भाग्यवश **सांस्कृतिक—आयोजन** कहा और माना जाने लगा है। सचमुच ऐसा सांस्कृतिक अधःपतन तो विगत तीन सहस्र वर्षों के सांस्कृतिक पतन युगों में भी नहीं हुआ था। इस पतन के मर्मस्पर्शी मौलिक दोषों के स्वरूप प्रदर्शन के लिए ही हमें स्वर—साम—मण्डलानुबन्धी—प्रस्तुत हिङ्कार प्रकरण में तथाकथित सन्दर्भ का आश्रय ले लेना पड़ा है आपद्धर्म्मविधयैव। अब पुनः उस **सामात्मक हिङ्कार** की ओर ही सामप्रेमी विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है जिस हिंकार के बिना यज्ञ में **मण्डलात्मिका सामसम्पत्ति** का सग्रह नहीं हो पाता अतएव सामशून्य जो यज्ञ अपूर्ण ही बना रह जाता है।

---

*—देखिए— **भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों की रूप रेखा** नामक सहस्र पृष्ठात्मक स्वतन्त्र निबन्ध।

उक्त सन्दर्भ से पूर्व में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि नादात्मक स्वर ही शब्दाभिव्यक्ति का जनक बनता है (देखिए ! पृष्ठ सं० १२८३)। अब इसी तथ्य के आधार पर हमें संरूप संश्रुति के **हिङ्कार** शब्द का समन्वय करना है कि सङ्गीतज्ञ सङ्गीतकर्मारम्भ से पहिले नादब्रह्म के आधार पर ही सर्वप्रथम **हिं–हिं–हिं** इसप्रकार **स्वरसन्धान** करता है। अनन्तर **अ–आ–आ** इत्यादिरूप से श्रुति का सञ्चालन होता है। यह प्राथमिक **हिं हिं**–किंवा * हू–हू याद्यावारक भाव ही **साम** है। इसी उच्चारण सामतुलन से इस हृद्यसाम को **हिङ्कार** नाम से व्यवहृत कर दिया गया है।

उक्त सामविवेचन से यह सिद्ध होजाता है कि **साम** उस प्राकृतिक यज्ञ की एक आवश्यक सम्पत्ति है। न केवल सम्पत्ति ही अपितु बिना साममण्डल का आधार बनाए यज्ञ का वितान ही असम्भव है। ऐसी स्थिति में आवश्यक है कि उस सप्तमात्रा प्राकृतिक यज्ञ की विधा पर वितायमान इन वैध यज्ञों में भी अवश्य ही **साम** का सम्बन्ध कराया जाय। इसीलिए उद्गाता के द्वारा तत्तद्यज्ञों में सामगान होता है। सदर्शपूर्णमास में सामगान आविहित है। परन्तु सम्बन्ध अवश्य अपेक्षित है। इसी सामसम्बन्ध के लिए यहां **सप्रणव हिंकार** का सम्बन्ध कराया जाता है। सामिधेनी ऋङ्मन्त्र के आरम्भ में **हिं–हिं हिं–ओम्** इसप्रकार सप्रणव–हिङ्कार का समावेश करते हुए अनुवचन से यह यज्ञ भी साम्य अन्तर की भांति सामसम्पत्ति से युक्त होजाता है। क्योंकि सप्रणव हिंकारशब्द उस प्राकृतिक सामतत्व का ही संग्राहक बन रहा है।

हिंकारमात्र से साम की स्वरूप–निष्पत्ति नहीं होती। हिङ्कार तो हृद्यभाव का स्वरूप समर्पकमात्र है जोकि हृद्यभाव अनिरुक्तभाव का ही संग्राहक माना गया है। साम की मूलप्रतिष्ठा जहां **हिंकार** है वहां साम का प्रारम्भिकरूप **प्रणव** है। अतः मानना पड़ेगा कि हृद्यभाव का संग्राहक हिंकार है एवं साम का संग्राहक **ओम्** इत्याकारक प्रणव है। प्रणवोच्चारण से वाक्समुद्र में वर्तुलमण्डल का उदय होजाता है। यही वर्तुलमण्डल साम का प्रातिस्विक रूप है। **अतएव ओम्** को साम का रूप माना जायगा एवं हिंङ्कार को साम का मूल माना जायगा। इसीलिए सप्रणव हिङ्कार को ही यहां सामसम्पत्ति का संग्राहक माना जायगा। यह हिंकारोच्चारण केवल प्रथम सामिधेनी में ही होगा। आगे के चौदह मन्त्रों के उपक्रम–उपसंहार में केवल **ओम्** का ही उच्चारण किया जायगा। सप्रणव हिंकार क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है जिस का कि ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका में स्पष्टीकरण हुआ है ॥१॥

सप्रणव हिङ्कार की एक उपपत्ति बतलाई गई। अब केवल हिंङ्कार की दूसरी उपपत्ति बतलाई जाती है। हिङ्कार का नादात्मक प्राण से सम्बन्ध है। नादप्राण की उत्तानावस्था का ही नाम हिङ्कारात्मक प्राण है। यही हिङ्कारप्राण नासास्थान में प्रतिष्ठित होता हुआ जीवनलक्षण श्वास प्रश्वास का हेतु बनता है। दूसरे शब्दों में–आध्यात्मिक हिङ्कार का स्वरूप नासाप्राण ही है। यही कारण है कि नासाछिद्र बन्द कर लेने पर सानुनासिक हिंङ्कार का उच्चारण असम्भव है। उधर ऋङ्मन्त्र का प्रधान सम्बन्ध वाक् (अनुष्टुब्वाक्) से है। वाग्रूपेण ऋक् का उच्चारण होता है एवं प्राणात्मकेन हिङ्कार का उच्चारण होता है। सामिधेनियों के अनुवचन से दिव्यलोकस्थ प्राणाग्नि का इस यज्ञ में प्रजननरूप आधान करना है। प्रजननकर्म्म योषा-वृषा के दाम्पत्यभाव

---

* इसीलिए सा० छा० ब्राह्मण में हू३म् इस शब्द को भी हिङ्कार माना है। (देखिए सा० छा० ब्रा० ४।८।१)।

पर ही निभर है । न्धर प्राण वृषा है तथा वाक योषा है । हिंङ्कारपूवक म त्राच्चारण करना वाक प्राण का दा प य भाव ही सम्पादन करना है जो कि दि याग्नि का प्रजनयिता है । सी प्रजननस पत्ति के लिए हिङ्कारपूवक अनुवचन किया जाता है । यही हिङ्कार की दूसरी उत्पत्ति है ॥ २ ॥

क्योंकि हिङ्काररूप वृषाप्राण का ऋगरूपा योषा वाक के साथ दा प यभाव भी अभीष्ट है इसीलए तो हिङ्कार का उच्चस्वर से उच्चारण न कर उपाशुरूप से ही उच्चारण किया जाता है । **प्राण स्वय अनिरुक्त है वाक निरुक्ता है** । यदि उच्चस्वर से हिङ्कार का उच्चारण किया जायगा तो निरुक्तभाव मे आता हुआ यह भी निरुक्तवाक रूप में ही परिणत होजायगा । परिणामत अभीसित दा पत्यभाव का स्ग्रह न होसकेगा । उध न्पाशु अनिरुक्तभाव से स ब ध रखता है । अनिरुक्तता प्राण का प्रातिस्विकरूप है । फलत उपाशुरूप से हिङ्कार करना प्राणरूप को सुरक्षित रखते हुए दा पत्यभाव का ही सग्रह करना है । यह भी स्प ट ही है कि गानकाल में हिं–हू इ याद्याकारयुक्त हिङ्कार भीतर ही भीतर गुन गुनाया जाता है । क्योकि इस का नाद से स ब ध है । और नादब्रह्म स्वय हृदयस्थ अनिरुक्तत व है । हिङ्कार का उपाशु उच्चारण क्यो किया जाता है ? इस प्रश्न की यही तीसरी उपपत्ति है ॥३॥

मन्त्रो में पाठत प्र **आ सम् अनु** याद उपसग किसी विशेष प्रयोजन को गभ में रखते है। जब ऋषि को आगमनभाव का सग्र करना होता है तो म त्र में **आ** उपसग का समावश कर दिया जाता है । जिस से पृथिवी से प्रयाण (गमन) बतला ा होता है उस में **प्र** उपसग लगा दिया जाता है । जिस में दोनो लोकों की (पृ द्यु की) वस्तुओ का सङ्गम प्रतिपाद्य हाता है उस म त्र में **सम** उपसग रहता है । जहा वस्तुपृष्ठ का सम्ब ध बतलाना अभीष्ट होता है वहा **अनु** उपसग प्रयुक्त होता है । इसप्रकार महारम्भ महर्षि उपसर्गों के द्वारा तत्तद्विशेषभावो का सग्रह कर लिया करते है । इन उपसर्गों के स ब ध से उन ऋचाओं के भी **प्रवती आवती समवती अनुवती** इ यादि नाम होजात है ।

प्रकृत दशपूर्ण मास में हमें इस पार्थिव भौतिक आङ्गिरस अग्नि में सामिधेनी अनुवचन से दि य प्राणा मक सावित्राग्नि ना आधा करना है । मा थ ही यह भी सिद्ध विषय है कि आगत दिव्याग्नि को यही प्रति ष्ठित नही रखना है । **अपितु** पार्थिवाग्नियुक्त इस दि याग्नि में हविर्द्वारा यजमान के शरीराग्नि का स ब ध करा इसे दवा मारूप में परिणत कर पुन उसी द्युलोक मे भेजना है । इसप्रकार यहा **आदान विसग** नामक दोन क म अपेक्षि ा है । न्स उभयकर्मसिद्धि के लिए यहा आर भ में उन दो ऋचाओ का अनुवचन होता है जिन म आगमन सूचक **आङ्** तथा प्रयाण सूचक **प्र** उपसग का समावश है आर भ में–**प्र आ** उपसग वाली ऋचाओ का अनुवचन क्यो होता है ? इस प्रश्न की उक्त उपपत्ति को लक्ष्य में रख कर ही प्रस्तुत प्रकरण का सम वय करना चाहिए ।

सामिधेनी अनुवचनक म से सावित्राग्नि इस पार्थिव आङ्गिरस अग्नि में प्रतिष्ठित होजाता है यह कहा जाचुका है । क्या हविग्रहण करने के अनन्तर इस सावित्राग्नि का इस सावित्ररूप से ही पुन द्युलोक मे में गमन होता है ? नही । जब सावित्राग्नि पुनरावर्त्तित होगा (वापस लौटेगा) तो उस समय यह सावित्र न रह कर **गायत्र** बन जायगा । गायत्री का स्वरूप पृथिवी और द्यु रस के सयोग से ही नि पन्न हुआ है ।

सूर्यके द्र से निकल कर चारो ओर याप्त होने वाला प्राणा मक सौरतेज **सावित्र** कहलाता है। दूसरे श ो में ब्रह्मौदनभूत सू य का साक्षात् तज ही सावत्री है। यह सोर सावित्र तन भूगभ म प्रवग्य स ब ध मे प्र त ष्ट होजाता है। भूपण्ड **गा** नाम से प्रसिद्ध है। गा भ म प्रतष्ठित हाने स भी य सोर तेज **गायत्री** कहलाया है। इस के अतिरिक्त यही प्रवृक्त सौर तज पार्थिव विव र्त का स्वरूप सम्पादक ह अत **अगायत् सम्पादयत्** इस निवचन से भी इसे गायत्री कहा जाता है। जो यक्ति इस तेज को (गायत्रीछन्दस्क मप्रसिद्ध गायत्री म त्र के द्वारा) अपने अ याम में प्रतिष्ठित कर लेता है उस की काइ क्षत नही हो ी। अत **गाय नमुपासक त्रायते** इस निवचन से भी इस गायत्री कहना अन्वथ बन रहा है जसाकि स यावज्ञान म विस्तार से प्रतिपादित है।

उक्त गायत्री के दो विवर्त हैं। सौर तेज प्रवृक्त हुआ। प्रवृक्त होकर भूगभ में प्रविष्ट हुआ। अ तर्य्याम सम्ब ध के प्रभाव से भूलोक की प्रातिस्विक सम्पत्ति बन कर उ वलोकानुगत बना। य ी पार्थिवगायत्री कहलाइ है इसे हम **भूतगायत्री** भी क सकते हैं। लौकिक अग्नि इसी भूतगायत्री का प्र यक्ष निदशन ह एव यही अ वय्यु के द्वारा यमकाष्ठ से इद्ध किया जाता । हमारे प्रकृत सामिधे यनुवचनक म का इस से को स ब ध नही है।

सौर–सावित्र तज द्युलोक से आकर गोरूप भूलोक से टकराया। यहा से स का प्रतिफलन हुआ। स का भी भू से स ब ध होने के कारण **गायत्री** नाम अवश्य हुआ परन्तु यह गायत्रतज भूलोक की प्रातिस्विक वस्तु नही है। उस प्रवृक्तभाग का जहा भूलोक स अन्तर्य्याम सम्ब ध है वहा स प्रतिफलित गायत्रतेज का भूलोक से ब हर्य्याम सम्ब ध है। **त्रैलोक्य मे जा प्रकाश होरहा है यह प्रतिफलित सोर तेजोमयी गायत्री का ही प्रभाव है। एव यही गायत्रतेज के प्र यक्ष दशन है।**

इस द्वितीय गायत्रतेज के किंवा गायत्री के आगे जाकर दो विवर्त होजाते हैं। प्र तफलनप्रक्रिया का द्व वि य ही इस विवर्त्तद्वयी का मूल है। सौर तेज आकर प्र तफलित हुआ आतप (धूप) का स्वरूप प्रकट होगया। यहा स पुन इस का प्रतिफलन होता है। इस द्वितीय प्रतिफलन स छायामय प्रकाश का आविर्भाव होता है। छाया म जो प्रकाश (आतपशून्य उजेला) है वही उस का द्वितीय रूप है। प्रथमरूप **ज्योति र्मयी गायत्री** कहलाती है एव द्वितीय रूप **छायामयी गयात्री** है। योतिर्मयी गायत्री म आग्नेय तजोमय **देवप्राण** प्रतिष्ठित रहता है एव छायामयी गायत्री म सौ य तजोमय **पितरप्राण** प्रतिष्ठत है। इस छायामयी गायत्री की स्वरूपसम्पत्ति के लिए ही **पितकर्म्म (द्ध)** म दोनो ओध कर दिए जाते हैं।

इसप्रकार एक ही सौर सावित्र तेज के आ ार पर पार्थिव **भूतगायत्री दि यदेवगायत्री दि य पितगायत्री** मे स तीन गा त्रविवर्त्त होजात हैं। तीनो में से प्रकृत म म यस्था देवगायत्री का ही यहा समि धन अपेक्षित है। य दिव्यगायत्री दो प्रकार से **एति प्रात** यु म स युक्त है। सौरमण्डल से सौरतेज आया यही **अ (एति) भाव** है। प्रतिफलन–प्रक्रिया से पुन द्युलोक की ओर गया यही **प्र (प्रेति) भाव** है।

इस स ब ध म एक प्रश्न उपस्थित हाता है। बतलाया गया है कि द्युलोक से आगमनदशा में इसे **सावित्री** कहा जाता है न कि गायत्री। फिर **आगमनात्मक – आ भाव** का तो सावित्री से स ध

सिद्ध हुआ एव **गमनात्मक प्र–प्रभाव** का गायत्री से सम्ब ध सिद्ध हुआ। आता हुआ वही तेज सावित्र है एव जाता हुआ वही तज गायत्री है। **सावित्री एति (आगच्छति) है गायत्री प्रेति है** एव यही प्राकृतिक नियम है। फिर केवल गायत्री के साथ ही **एति प्रति** दोनो भावो का स बध कसे बत लाया गया ?।

विप्रतिपत्ति यथाथ है। अवश्य ही स्थिति के अनुसार आता हुआ सौर तेज सावित्री ही है एव जाता हुआ सौर तज गायत्री ही है। सावित्री सूय्यगत सविता से ही सम्बद्ध है एव गायत्री पृथिवी के सम्ब ध से ही गायत्री कहलाइ है। पर तु दृ ि का अपेक्षा से साथ ही उपयोगम र्यादा की अपेक्षा से हम उस सावित्री को भी गायत्री कहते है। सौरतज हमारे लिए वही **आता हुआ** माना जायगा जो गायत्री के रूप में परिणत रहेगा। उस का आगमन गायत्रीरूप में पारणति के लिए ही हाता है। अत **तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्य** याय से भी उस गाय यथ आगत सावित्र तज को गायत्री कह दिया साता है। और एकमात्र इसी दृष्टि से यहा दोनो के लिए गायत्री श द प्रयक्त होगया है।

वहा से आता हुआ वह सावित्रा मक गायत्रतेज पाथिव मानवप्रजा में बलाधान करता है एव जाता हुआ गायत्रतेज पार्थिव द्रव्यगत रसों का आदान करता हुआ द्य लोकस्था देवप्रजा में बलाधान करता है। वहा से आना और यहा से यज्ञद्र य के साथ गमन करना यह इस का एकप्रकार का एति–प्र तिभाव है। इस एति प्र ति भावा मक गायत्रतज का म त्र के द्वारा यज्ञ में सम्ब ध किया गया। वहा से आते हुए का तदनुरूपा **छ द–देवता स्वरयुक्ता मन्त्रवाक्** स आकषण कर उस का यहा योग करा दिया यही **एति** भाव हुआ। अन तर प्रकृया द्य लोक की ओर जाने वाली गायत्री से इस यज्ञानुगता–यज्ञभक्तिमता हर्विर्युक्ता गायत्री का सम्ब ध होगया। इस परम्परा से उस के साथ इस का द्यु लोक में गमन होगया यही इस का प्र भाव कह–लाया। इसी को हम यज्ञानुगत एति प्र ति भाव कहेंगे।

सम्पूण प्रपञ्च का निष्कष यही हुआ कि प्राकृतिक गायत्रीत ज **एति प्रेति** भाव से यक्त है। उसी के आधान के लिए यहा सामिधे यनुवचनकम्म होता है। अत तदाकषक न म त्रो में भी गायत्री-स्वरूपा नुगता एति–प्र ति का सम्ब ध आवश्यक है। **प्र (प्रयती) आ (आवती)** ऋचाओ का अनुगमन क्यो किया जाता है ? इस प्रश्न की यही सक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ४ ॥

एति–प्रति के अनुवचन से आधिदैविक–गायत्रभाव का समावश हुआ। इसी के द्वारा आध्यात्मिक **एति–प्रेति** भाव का भी सग्र होजाता है। हमारी आ यात्मिक–सस्था में श्वास प्रश्वासा मक **उदान प्राण** ऐति प्र ति भावा मक ही बन रहे हैं। आता हुआ वाय प्राण ही **उदान** है एव जाता हुआ वाय य प्राण ही **प्राण** है। हम इस यज्ञकम्म से हमारे (यजमान के) आ यात्मिक मानुषा मा के स्वगमन के लिए दैवा मा उ पन्न करना है यह दैवा मा हमारा आध्यात्मिक स्वरूप है। उक्त एति प्र ति भाव से इस में एति प्र ति भावा मक उदान तथा प्राण का आधान होजाता है। इसलिए भी एति–प्र ति भावयुक्ता म त्रद्वयी का उच्चारण किया जाता है। और यही एति प्र ति भावा मक अनुवचन की दूसरी उपपत्ति है ॥ ५ ॥

रेत –सेक करने वाले का रेत योषाप्राण (गभाशयगत योनिरू" आ नय प्रा" आत्त व) म आहुत होता हुआ रेत सेक करने वाले की अपेक्षा से प्रेति भाव का अनुग्राहक बन र ा है । एव–वही सिक्त रेत १ मास के अन तर पूर्णावयव बनकर अपयरूप म परिगत हाक एवयामरुत् के प्रयापात म भाम बनता हुआ ऐति भाव का अनुग्राहक बन रहा ह । रेतोद्र य सिञ्चक की दृष्ट से प्रति है एव तोरूप अपय सिञ्चक की दृष्टि से एति है । हम इस यज्ञ म म प्रजननकम्म अपेक्षित है । एव प्राकृतिक प्रजननकम्म एति प्र ति भावा मक है । उस का भी यहा सम्ब ध होजाता है । यही एति प्र ात भावा मक अनुवचन की तीसरी उपपत्ति है ।

जिस यज्ञ स हमें यजमान के आ या मक शारीराग्न के आधार पर दवा मा उ पन्न करना है उस में आ या मक यज्ञपुरुषवत् **आ मा शरी** दोनो भाग अपेक्षित हे । आ मा भोक्ता है शरीर भोग्य है । यही भोग्य शरीर **भोगायतन** भी कहलाया है भोग्य भी क लाया है । आ मावत्त **अ तर्वित्त बहिर्वित्त** भे स दो भागो में विभक्त है । शरीर सका अन्तर्वित्त है एव बाह्य भौतिक परिग्रह बहिर्वित्त है । दोना ा **पशु** नामसे यवहृत हुए है । इस पशुसम्पत्ति के सग्रह के लिए भी एति प्र ात भाव उपयुक्त होरहा है । पशु प्रात ज्ञ्गल में चरने जाते है यही न का प्र ति [ग च्छ ति] भाव है । सायङ्काल ापस लौट आते हैं यही न का प्र ति [आग च्छ ा त] भाव है । इसप्रकार पशुस पत्त भी एति प्रात भावा मका बन रही है आने–जाने वाले पशु चतन हैं । जिस प्राकृातक पशुप्राण म न पशुओ का स्वरूप–निर्म्माण हुआ है वही पशुप्राण अ तर्वित्तलक्षण शरीरा मक पशुभाव का स्वरूप समर्पक माना गया हैं । इस साहश्य स वा मा म पशु–स पत्ति का भी आधान होजाता है एव अ त वत्तलक्षण शर रस पत्त का भी सग्रह होजाता है । य ी एति एति भावा मक अनुवचन की चौथी उपपत्ति है ।

अब बहिर्वित्त–लक्षण बाह्य पशुसम्पत्ति का ाजस कि हम आधभौतिक स पत्ति कहेंगे सग्रह करना शेष रह जाता है । यह काम भी इसी एति प्र ति भाव से गताथ बन रहा है । सम्पूण भत भौतिक पदाथ इसी ऐति–प्र ति भाव से नि य सम्बद्ध हैं । कुछ एक उदाहरण ही इस दिशा म उपादबलक मान लिए जाएँगे । त्रैलोक्य के गभ में प्रतिष्ठित यच्चयावत् भत–भौतिक पदाथ इसी भावद्वयी स नि य आक्रा त हैं जिसका **सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह** (ईश उ) इ यादि रूप से सवत्र प्रयत्न किया जासकता है । सामा य दृष्टि स विचार करने पर हम इस निश्चय पर पहुचा करत ह कि **विश्व** तथा विश्व गभ में प्रतिष्ठित **पदाथ** गतिशील हैं ससरणशील ह । अतएव इस प्रपञ्च को **ससार** कहा जाता है । इसी स्वाभाविकी गति से पदार्थों में अवस्था–परिवर्तन हुआ करता है । इसी क्षणिक परिवर्तन के आधार पर दशनावशेषने **क्षणिक क्षणिकम्** सिद्धा त स्थापित करने का साहस कर लिया है ।

पर तु जब हम अ तद ष्टि से विचार करते हैं ता हमें यह मान लेना पडता है कि इस गतिभाव के गभ में **आगति** भी प्रतीत होरही है **गतिभाव विनाश है ता आगतिभाव सम्भूति है** । दोनो का एक ही बिन्दु में समावश होरहा है । **प्र यक पदाथ पूवरूप से नष्ट होता हुआ ही उत्तररूप से सम्भूत है । बिगडता हुआ ही बन रहा है** । इस–चलाचल–(चल अचल)–भावद्वयी से ही **सर्वमिद चलाचलम्** । इन दोनो में चलभाव (गतिभाव) प्र ति का स्वरूप समपक बन रहा है एव अचलभाव–स्थिात भाव एति भाव का अनुग्राहक बन रहा है ।

आदान विसग की दृष्टि से भी इस एति–प्र ि की याप्ति के दशन किए जासकते है। प्रत्येक पदाथ स उसके स्वरप मात्रा विस्रसनधर्म्मा हृद्यप्रजापति के विस्रसना मक क्षरणधम्म से विस्रस्त होरहे है। सा थ ही **भैषज्ययज्ञ** नामक प्राकृतिक क म के आ ान के द्वारा स निगत भाग की क्षतिपूर्त्ति भी होरही है। प्रतिवस्तु प्र येक क्षण में आदान–विसग दोनो भावो से नि य आक्रा त है। विश्व क्रिया मक है। क्रिया गतितत्व है। प्र येक गति के गभ म **आगति** है एव प्र येक आगति के गभ में **गति** है। सू य की रश्मियो को दखिए। रश्मिया चल ी हे पर तु पीछे हटती हु । **अचश्चरति** के अनुसार **अपानन** करत हुए ही रश्मियो का **प्राणन** होरहा है जसा कि **अस्य प्राणदपानती** इ यादि मन्त्रवणन से स्पष्ट है। हमारी मागगति में एक पर आगे बढता हुआ ही चल रहा है तो द सरा पीछे हटता हुआ ही आगति का भी प्रवत्तक बन रहा है। प्र येक गति मे आगति अनुस्यूत है। चक्षु पटल भी इस प्राणन–अपानन से वञ्चित नही है। माग म चलते हुए दोनो हाथो की गति पर दृष्टि डालिए। यहा भी आप को आगति गति ये दोनो भाव उपल ध होगे। शरीर का रुधिर भी सवत्र सञ्चार करता हुए दोनो का अनुग्राहक बन रहा है। कम्म य विश्व मे कोइ भी पदाथ ऐसा नही हैं जिसमे **एति प्रेति** दोनो भावो का सम्ब ध न हो। यही भौतिक जगत् का प्रातिस्विक धम्म है जो कि इसे गायत्रब्रह्म के अनुग्रह स ही प्राप्त है। इसी आधार पर—**गायत्री वा इद सवम्** (छा उपानषत्) यह निगम प्रतिष्ठित हुआ है। यही आधिभौतिक–सम्पत्ति है। एति–प्र ति–पूवक अनुवचन से सवसाधारण मे सामान्यरूप से या त इस स पत्त का भी सग्रह होजाता है। यही एति प्र ति भावा मक अनुवचन की पाचवी उपपत्ति है ॥६॥

तात्पय्य यही हुआ कि **आधिदविक आध्यात्मिक आधिभौतिक** तीनो के सम वय से **इस अग्नियज्ञ (वैधयज्ञ दशपूणमास)** से दवा मा उ पन्न करना है। इस की स्वरूप–सिद्धि के लिए हमें पाच सम्पत्तिया अपेक्षित हैं। आधि विक स पत्ति पहिली स पत्ति है यजमानाग्निलक्षणा आ यात्मिक स पत्ति दूसरी स पत्ति है बहिर्वित्तलक्षणा बाह्यभौतिक स पत्ति तीसरी स पत्ति है अ तर्वित्तलक्षणा शरीरस पत्ति चौथी सम्पत्ति है एव स्वय यज्ञक म पाचवी स पत्ति है। **एति प्रति** पूवक अनुवचन से पाचो का सग्रह होजाता है। इसीलिए श्रुति ने पाच उपपत्तिया बतलाइ हैं। यही गायत्रानुगत एति–प्र ति भाव की सव याप्ति का सक्षिप्त निदशन है जिसके उपासक सतत **एति प्रेति** भाव से युक्त रहते हुए पूण समृद्ध बने रहते है।

सामिधेनी–कम्म क्यो किया जाता है? सप्रणव हिङ्कारपूवक ही क्यो किया जाता है? ११ १५ १ स या का क्या रहस्य है? अनवानन का क्या रहस्य है? आद्य त के त्रि –त्रि –आवत्त न से क्या प्रयोजन अभिप्र त है? गायत्रीछ द का एव अग्निदेवता का सम्ब ध क्यों अभीष्ट है? **एति** प्र ति पूवक अनुवचन क्यो किया जाता है? इ यादि उन प्रश्नो की जिनका कि बहिरङ्गभाव से सम्ब ध है–क्रमिक उपपत्ति बतलादी गइ। अब यहा से आगे (सप्तती–कण्डिका से) पद्धतिप्रदशनपूवक सामिधेनी म त्रो की या या ही आर भ होती है। वही क्रमश पाठको के सम्मुख उपस्थित होरही हैं।

वेदि के पश्चिम भाग में अथवा वदिश्रोणि के उत्तर भाग में अ व यु के द्वारा बिछाए हुए दर्भासन पर खडा होकर **होता** नाम का ऋत्विक सवप्रथम निम्नलिखित सामिधेनी म त्र का तीन बार उच्चारण करता है—

(१) हिं–हिं–हिं–ओम्' अग्ने वाजा अविद्यनो हविष्म तां घृताच्या ।
देवाञ्जिगाति सुम्नयु –ओम् ॥ (१ ३) ।

हिं–हिं–हिं–ओम् इस सप्रणव हिङ्कार का उच्चार। केवल एकबार प्रथम म त्र के सा न ही किया जाता है। आगे के स पूर्ण म त्र केवल ओम् पू क ही बोले जाते ह। स म त्र को ऋतुपरक भी लगाया जा सकता है एव अग्निपरक भी लग या जासकता है। उभयथा अनित व ही अभिप्र त है। कारण इसका यही है कि अग्नि की स य ऋत भेद से दो अवस्था मानी गइ ह। स याग्न स्वस्थान म प्रातष्ठित रहता हुआ सम्व सरयज्ञ का साक्षी है जि के लिए तद्यत् तत् स यमसो स आदि य (शत ब्राह्मण) यह कहा जाता है। इस सूर्या मक स य (सन्दय–सशरीरी) अग्न (जिसे गायत्रीमात्रिक वदाग्नि भी कहा जाता है) का जो प्रवग्य भाग है वही केन्द्र स पत्ति स वञ्चित होता हुआ ऋत कहलाया है। इस ऋत (वाय य) अग्नि में ऋतसोम की आहुति होती है। ऋताग्नि दक्षिण स उत्तर की ओ जाया करता है ए ऋतसोम उत्तर से दक्षिण की ओर आता हुआ इसम आहुत होता रहता है। म ऋताग्नि तथा ऋतसोम के अ त र्याम नामक चिति (ग्रन्थिब ध) सम्ब ध से दोनों के पूर्वस्वरूपोपद्द न से जो एक तीसरा उभया मक स्वरूप उ प होता है उसे ही ऋतु कहा जाता है। इस ऋतुसमष्टि का ही नाम सम्व सरयज्ञ है। इस प्रकार वही अग्नि ऋतावस्था म आकर सोम के सम्ब ध से ऋतु बनता हुआ यज्ञ की प्रतिष्ठा बन रहा है। अतएव ऋतुपक्ष तथा अग्निपक्ष दोनो का अ ततोग वा अग्निपक्ष में ही पर्य्यवसान सिद्ध होजाता है।

वाज अभिद्यव हविष्मन्त घृताची ये चारो भाव स यज्ञाग्नि के स्वरूप–रक्षक हैं। इन्ही चारो के सम्ब ध से साम्व सरिक यज्ञाग्नि स्वस्वरूप से सुरक्षित रहता ह। वाज सामा यत १ अन्न का वाचक माना गया है। वस्तुत वाज उस त व का नाम है जो अबरूप से सूर्य्य से भी ऊपर आपोमय परमेष्ठी (जन लोक) में प्रतिष्ठित रहता है। पारमे ठय अप त व आप–वायु–सोम भेद से तीन भागो में विभक्त है। इनमें जो अप की सोमावस्था है वही वाज है। गायत्री जिस सोम का अपहरण करती है वह भी सोम है चान्द्रमण्डल में भी सोम है पर तु यह वाज नामक परमेष्ठय सोम अपनी तन्त्रया अवस्था से दोनों से भिन्नधर्म्मा है। इस ब्रह्मवीर्य्य का सग्राहक माना गया है जसाकि–वीर्य्य व वाजा (शत ३।३।४।)। इ यादि स स्पष्ट है। प्राकृतिक नि य हविर्यज्ञ में चान्द्र सोम का सम्ब ध है साम्व सरिक योतिष्टोम में सौररश्मिभुक्त योतिर्मय सोम का सम्ब ध है। एव प्राकृतिक वाजपेययज्ञ में इस ब्रह्मवीर्य्य–प्रवर्त्तक अतएव २ ब्रह्मणस्पति नाम स प्रसिद्ध पवित्र वाज नामक पारमेष्ठय सोम का

१—'अन्न वै वाज' (तां म ब्रा (१३।९।१३)।

२—'पवित्र ते विवत ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वत ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वह तस्तत् समाशत'
—ऋक् स ९।८३।१।

सम्ब ध है। अतएव वाजपेय यज्ञ का एकमात्र अधिकारी ब्राह्मण ही माना गया है —। अतएव इसे बृहस्पतिसत्र भी कहा गया है।

बृहस्पति पूर्वेषामुत्तमो भवति उत्तरषा प्रथम के अनुसार परमेष्ठी नामक पूर्वग्रहों के अन्त में (परमेष्ठी की सीमा पर) वाजपेययज्ञ के प्रवर्तक बृहस्पति प्रतिष्ठित है जो कि सुप्रसिद्ध बृहस्पतिग्रह तथा लुब्धकबन्धु नामक नाक्षत्रिक बृहस्पति से सर्वथा विभिन्न तीसरा पारमेष्ठ्यग्रह माना गया है। सौर इन्द्र सूर्य्य चन्द्रमा पृथिवी नामक उत्तरग्रहों से पहिला है। उस ओर की अन्तिम सीमा में बृहस्पति है एवं इस ओर के उपक्रम में इन्द्र है यही तात्पर्य है। बृहस्पति ब्रह्मात्मक ब्राह्मण की प्रतिष्ठा है एवं सोर इन्द्र क्षत्रात्मक क्षत्रिय की प्रतिष्ठा है। बृहस्पतिवत् इन्द्र के साथ भी वाज का सम्बन्ध होरहा है। क्योंकि दोनों सीमापेक्षया समीप है। अतएव आगे चलकर श्रुतिने वाजपेय का राजन्य को भी अधिकारी मान लिया है *। इसप्रकार वाजपेय का इन्द्र से भी सम्बन्ध अवश्य है परन्तु वस्तुतः वाजपेय ब्रह्मात्मक ही माना जायगा। इसी आधार पर श्रुति का ब्रह्म वै वाजपेय (तै ब्रा १। ।२४।) यह निगम प्रतिष्ठित है। इस वाज के सम्बन्ध से ही पारमेष्ठ्य आग्नेयपशु वाजी कहलाया है। इस वाजी प्राण का जिस अश्वजातिविशेष में प्राधान्य रहता है उस अश्वजाति का भी वाजी कहा जाता है।

प्रकृत में उक्त वाज–स्वरूप दिग्दर्शन से यही बतलाना है कि इसी पारमेष्ठ्य वाजरस की दूसरी अवस्था का नाम ज्योतिर्मय सोम है जिसकी आहुति से ही सौर कृष्णाग्नि ज्योतिर्मय बना हुआ है। तृतीयावस्था चान्द्रसोम है। चौथी अवस्था ओषधियां (गोधूमादि अन्न) है। चान्द्रसोम ही प्रवर्ग्य सम्बन्ध से ओषधियों का स्वरूप सम्पादक बनता है। पशुओं में भी परम्परया वही वाजरस प्रतिष्ठित है। ऋतुएँ (ऋताग्नि) भी इसी वाजरस में परिपुष्ट हैं। वाजरस की इसी व्याप्ति के आधार पर निम्न लिखित निगम प्रतिष्ठित हैं—

१—"वाजो वै पशव" (ए ब्रा ५।८।)।

२—"ओषधय खलु वै वाजा" (तै ब्रा १।३।७।१)।

३—"ऋतवो वै वाजिन" (शत ब्रा २।४।४।२२)।

यह वाजरस सर्वथा अग्नि को समिद्ध करने वाला है। पारमेष्ठ्य वाज ब्रह्माग्नि की ज्योतिर्मय वाज सम्वत्सराग्नि की चान्द्रवाज ओषध्यग्नि की एवं ओषधिवाज शारीराग्नि की प्रदीप्ति

——

— स वा एष ब्राह्मणस्यैव यज्ञ यदनेन बृहस्पतिरयजत। ब्रह्म हि बृहस्पति । ब्रह्म हि ब्राह्मण । (शत ५।१।१।११)।

*– अथो राजन्यस्य (वाजपेय)–यदेनेन–इन्द्रोऽयजत। क्षत्र हीन्द्र क्षत्र राजन्य' (शत ५।१।१।११)।

का कारण बन रहा है। क्योकि वाजरस स आ न समिद्ध रहता है अतएव इस हम अवश्य ही अ नि का स्वरूप–रक्षक कह सकत ह।

दूसरा रक्षक है– **अभिद्यव** । पक्षाग्नि का ी नाम अभिद्यव है। अवयवी की **रक्षा पुष्ट तुष्टि** तृप्ति अवयवो की रक्षादि पर ही निभर है। स ज सरा। न अवयवी है पक्षाग्नि अवयव ह। न अवयवा स ही उस अवयवी की स्वरूप रक्षा होरही है। अत इन **भिद्य** नामक पवा नियो को । हम आ नस्व रूप रक्षक मान सकते है।

हवि से ओषधिरूप **अन्न भौतिक शरीर** दोनो अभिप्र त ह। भौतिक शरीर आयतनरूप स आग्न का रक्षक है एव अन्न आहुतिरूप से अग्नि की रक्षा कर र ा है। **अन्न** एव **भूत** ोनो ही म य होने से पशु है। अतएव श्रुति ने **हविष्मन्त** का पशु अथ किया है।

आ तारक्ष्य वायु म आ य की मात्रा प्रतिष्ठित रहती ह जसा कि **घृतमन्तरिक्षस्य** (शत । ३ २।३।) इ यादि से प्रमाणित है। इसी आ याहुति स आग्न अ िशयरूप म समिद्ध रहता है। आ याहुति दने वाले वायु हैं यही प्राकृतिक यज्ञ के जुहू स्थानीय **घृताची** है। इसप्रकार म त्र म पठित वाजादि चारो श द अग्नि समि धन का भाव ही स्पष्ट कर रह ह। इन चारो रक्षको से युक्त उस दि यानि का यहा आधान ही प्रकृत अनुवचनक्रम से अभिप्र त है। उसके आ धान स स्वगसुगा मी (सुम्नुयु) यजमान यज्ञ के द्वारा दि यदवताओ की स पत्ति प्राप्त करने म समथ होजाता है। इसी सामयिक अथ को लक्ष्य म रख कर म त्र ने कहा है कि—

हे अ ने ! घृताची के द्वारा वाज पक्ष पशु आदि सम्पत्तियाँ (आपको समिद्ध बनाने के लिए) प्रादुर्भूत होता हैं। इनके प्रादुर्भाव से (आपके समिद्ध बन जाने पर) यज्ञकर्त्ता यजमान देवभाव को प्राप्त करन म समर्थ होजाता है।'

उक्त ऋचा में क्योंकि **प्र** उपसग आया है अतएव इसे हम **प्रवती** ऋचा कहगे एव इसे गायत्री के **प्रेति (गच्छति) भाव** का सग्राहक मानगे। इस प्रथम म त्र के त्रिरावृत्तिपूवक अनुवचन करने के अन तर होता निम्न लिखित (मौलिकरूप से दूसरी तथा स ख्या क्रम स चौथी) सामिधेनी का अनु वचन करता है—

(२) ' ओं अग्न आयाहि वीतये गृणानो ह यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि–ओम् (४) इति।

प्राकृतिक दि याग्नि स्वमण्डल से भूलोक की ओर आता है। यहा भलोक ही उसकी प्रति ठा बनता है। इस भलोक को याज्ञिक परिभाषा में **बर्हि** कहा ाता है। पितृपरिभाषा में **आग्नेय सौम्य समशी तोष्ण** भेद से तीन प्रकार के **अन्नपितर** मान गए है। सूर्य्योपलक्षित द्युलोक आग्नेय बनता हुआ **उष्ण** है। च द्रपोलक्षित अ तरिक्ष सौ य होने से **शीत** है। एव भलोक अग्नि सोम के समसम वय से **अनुष्णा शीत** (न उ ण न शीत) है। इस अनुष्णाशीत भलोक का निदान **बर्हि (दर्भ)** माना गया है। कारण

इसका यही है कि पारमेष्ठ्य शीत अपतत्व का जो भाग सौरमण्डल के अग्नि से मिलकर वेन कहलाता है वही अप् अग्नि के समस्म बय से अनुष्णाशीत है। अग्नि के सम्ब ध से पानी का श य हट जाता है ए अपस ब ध स आग्न की उष्णता शा त होजा ी है। ऐसे अनुष्णाशीत वनत व से ही बर्हि (न्भ-डाभ) की उ पत्ति हु है जसाकि पू न में भा य के प्रथमखण्डा तगत दर्भो पत्ति-विज्ञान प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। इसी साहश्य से बर्हि को तत्समानधर्मा भूलोक का प्रतिरूप मान लिया गया है। इसी आधार पर ि ग्निगत पितरों को अग्निष्वात्ता आ तरिक्ष्य सोमगत पितरों को सोमसत् एव अनुष्णाशीत भूलोकस्थ पितरों को बर्हिषत् कहा गया है। यहा इससे यही बतलाना है कि द्युलोक स आने वाले दि याग्नि की प्रतिष्ठाभूमि व भूलोक ही बनता है जिसे निदान-वि ा से बर्हि कहा गया है।

प्रसङ्गत य और यान रखना चाहिए कि पार्थिव अपतत्व तथा दिव्य अग्नितत्त्व दोना के समन्वय से ही पार्थिव-प्रजा की उ पत्ति हुइ है। सौम्य शुक्रभाव अग्नि-गर्भित अपतत्व है एव आ नेय शोणित सोमगर्भित आ न व है। दोनो का दाम्प यभाव ही प्रजास्वरूप का कारण है। इस दृष्टि से प्रजा को भी बर्हि कहा जासकता है। ओषधिया में भी पार्थिव अग्नि वृष्णिजल रूप से दोनो का सम वय है अत इन्ह भी बर्हि कहा जासकता है। चतु पाद पशुओं में भी पार्थिव अन्नरस तथा दि य अग्निरस का समसम वय है। अत इन्ह भी बर्हि क ा जासकता है। इसप्रकार अन्नाग्नि-समन्वित अनु णाशीत त व की दृष्टि से बर्हि श द निदानेन अनेक स्थानों में अभि या त होरहा है *।

द्युलोक से चलकर स बर्हि (भूपृष्ठ) पर आने वाला वह अग्नि अपने साथ प्राणदेवताओं को भी लाता है। अग्नि सर्वा देवता के अनुसार प्रा ाग्नि के गर्भ में ही स पूर्ण दि यदेवता प्रतिष्ठित हैं। इस आह्वानलक्षण सहप्राप्तिसम्ब से भी इस भूलोकस्थ दि य अग्नि को होता कहा जासकता है। साथ ही यह पार्थिव रसो का आदान करता हुआ इससे दवतृप्ति का कारण बनता हुआ हवन साधक बनने से भी यह होता कहा जासकता है। आगत अग्नि का पहिले स्वय का पार्थिव अन्नरस से स ब ध होता है। अनन्तर इस हवि का प्राणदेवताओं से स ब ध होता है। यही उस अग्नि का मुख्य कर्म है। प्रकृत म त्र ने इसी अग्निकर्म का वैधयज्ञ की दृष्टि से स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि—

हे दि याग्न! आप पार्थिव रसरूप हविर्भक्षण के लिए तथा प्राणदेवताओं में इस हवि को पहुचाने के लिए [द्युलोक से भूलोक पर्य्य त] याप्त होते हुए भूलोक मे पधारिए।

---

* १- अय वै लोका (भूलोका) बर्हि' (श १।८ २।११)।
–'प्रजा वै बर्हि'' (तै ब्रा १।६।३।१ ।)।
'ओषधयो वै बर्हि'' (शत०।१।३।३।६।।
– पशवो वै बर्हि (ऐ ब्रा ५।२।७।)।
–''शरद्वै बर्हि' (शत १।३।४।१)।

यहा होता क रूप स इस बर्हि [भूलोक] पर विराजिए [द्युलाक से भूलोक पर्य्य त अग्नि का प्राप्त होना हा इस आविर्भाव पद्द म अग्नि का स्तवन-कर्म्म है)।

'हे दि याग्न ' (होता के सामिधनी कर्म्म स बुलाए जाते हुए) आप यज्ञिय-हवि ग्रहण क लिए, तथा इस हवि को देवताओ म पहु चान के लिए इस यज्ञसस्था मे पधारिए, एव इस कुशासन पर होता बन कर विराजिए ।

उक्त ऋचा म क्योकि आङ् उपसर्ग आया है अतएव से आगती ऋचा क ा जायगा । एव से गायत्री के एति (आगच्छति) भाव का ही सग्राहक माना जायगा। इसप्रकार इन दानो के अनुवचन स होता एति प्र ात भाव का ही सग्रह करने म समथ होजाता है जसाक ब्राह्मण की सातवी काण्डका से स्पष्ट है ॥ ७ ॥

यज्ञातेक ि्यता स सम्ब ध रखन वाले कर्म्मों का वज्ञानिक रहस्य अवश्य होता है। पर तु उसका सम न्वय श्रौत-पद्धतियों निगमानुगमवचन-प्रमाणो के आधार पर ही करना चाहिए। अपनी क पना से चाहे जो उपपत्ति मानते हुए पद्धति के विरुद्ध जाना विज्ञानस मत नही किन्तु अज्ञानस मत ह। व मान युग में तो ऐसे वदवज्ञानिको की कमी है ही ही *। कि तु पुरायुग म भी किसी किसी को विज्ञान का अजीर्ण होजाता था। पद्धति के अनुसार उक्त दोनो मन्त्र प्र-आ के स ब ध से क्रमश स्पष्ट ही यद्यपि पराक—अर्वाक् दोनो भावों के सग्राहक बन रहे है। परन्तु वैज्ञानिक-ब धुओं पद्धति विरुद्ध अपने यक्ति वविमोहन स यह क पना कर डाली कि प्रवो वाजा और अग्न आयाहि दोनो ऋचाएँ गायत्री के प्र ति भाव का ही सग्रह कर रही है। उपपत्ति आप इसकी यह बतला रहे है कि प्र इ यादि तो प्र तिभाव से सम्बद्ध है ही। एव अ न अ स आगमन बतलाया है वह जहा से (द्युलोक से) इसका आगमन होता है व ा के दवताओं की अ पेक्षा ा इसका परा गति रूप प्रयाण ही सिद्ध होता है। सम्भवत इन वज्ञानिको को यह न सूझा कि इस समय उस यजमान के यज्ञ में इन मन्त्रो का प्रयोग होरहा है जिसकी अपेक्षा अग्न आयाहि का अथ अर्वागगतिलक्षण आगमन ही होसकता ह। फलत उक्त मत का भलीभाति अवज्ञानिक व सिद्ध हो जाता है ॥ ८ ॥

पूव में दानो म त्रो का जो वज्ञानिक अथ हुआ है उस श्रु ति अपने श दो में स्पष्ट करती हुइ कहती है कि प्रेति भावात्मिका प्रथमा ऋचा के प्र वो वाजा इस पद का वाज श द अन्न का अभिधायक श द पदों का एव हविष्मन्त श द पशुस पत्त का अनुग्रा क है जसाकि पूव मे स्पष्ट कर ि या गया

---

*- यक्ति वविमोहनात्मिका इ थभूता वदभक्ति का ही यह दु परिणाम है कि आज अपनी मा यताओ के अनुसार युगध र्मानुगता वत्त माना राजनीति समाजनीति सा यवाद आदि आदि के अनुब ध से वद के अनेक क ल्पित अथ किए जारहे हैं जिनका वद के पारिभाषिक सम वय से सस्पश भी नही है ।

है । **वाज अभिद्यव ह्यावष्म त घृताची** इन चारों की एक दूसरी वज्ञानिक य रया का भी सम वय कर लीजए । यज्ञक म स टवा मा उ पन्न करना है यह अनेक बार कहा जाचुका है । उ पन्न प्रजा की समृद्धि जिन भावो स स बद्ध है इन चारो श दो से उन्ही समृद्धियो की प्राप्ति हुई है । **अन्नसम्पत्ति पशुस पत्ति वीर्य्यस पत्ति और भा यशक्ति** ये ही व चार समृद्धिया ह जिन से प्रजा सुसमृद्धा मानी जाती है । **अन्नसम्पत्ति का वाज से पशुसम्पत्ति का हवि म त से ग्रहण हुआ है** । जिसप्रकार त्रिवृत् ९) सरया अग्नित व म समतुलित है स ही पञ्चदशसरया इ द्रत व से समतुलत है । यही इ द्रत व प्राणरूप स भोक्ता बनकर अ या मसस्था में प्रतिष्ठित रहता है । **अभिद्यव श द पद्म** का वाचक है । पद्म १५ सरया का अनुग्राहक है । यह सरया भोक्ता द्रप्रा की अनुग्राहिका है । इसप्रकार परम्परया **अभिद्यव** श द भो यशक्ति का ही सग्राहक बन रहा है । भोक्ता को भोग्य अन्न पशु से स व बनाए रखना वीर्य का काम है । **घृताचा** पद उसी **अग्निवी य (अन्नादवीर्य्य)** का सग्राहक बन रहा है ॥ ६ ॥

म त्र में **घृता या** प है । अग्निसमि धनकम्म में प्रयुक्त होने वाली ऋचा के **घृता या** पद का अ य सब पदो की अपेक्षा विशेष मह व है । श्रु ति ने एक **रातन मानुष ज्ञातवृत्त क द्वारा** * स पद के स्सी मह व का समथन किया है । बहुत स भव है कि कतिपय पाठक अभिनिवशवश इस आख्यान को **मानुषेतिवृत्त** न समझ । पर तु जिन स्प ट श दो में श्रु ति ने **स्थान नाम घटना नदी पवत राजा पुरोहित-ग्राम कृषियोग्य भूमि ब्राह्मणानवास रा यसीमा** आदि भावविशेषा का आख्यान में उ लेख किया है उन्ह सामने रखते हुए प्रस्तुत तिवृत्त क **मानवेतिवृत्तता** में यत्किञ्चत् भी तो स देह नही रह जाता । जिस अपौरुषेयता की रक्षा के लिए हमार कतिपय पाठक मानवतिवृत्त स पराङमख होते है उनका वह भय उस समय दूर होजाता है जबकि व वदापौरुषेय व का वास्त िक ता प य समझ लेत है जिसका कि उपनिषद्वि ज्ञानभाष्यभूमिका-खण्डत्रया मका में महारम्भ से प्रतिपादन हुआ है । अस्तु प्रकृत म स श्रौत आख्यान को विशुद्ध मानवतिवृत्तपरक मानत हुए ही हमें कथानक का सम वय करना है ।

सुप्रसिद्ध स्वय भू ब्रह्मा के मानसपुत्र अतएव स्वाय भुव नाम से प्रसिद्ध **विवस्वान्** नामक आदि य सूर्य्यवश के आदिप्रवत्त क माने गए है । नके **श्रद्धादेव** तथा **यम** नामक दो औरसपुत्र उ पन्न हुए । यही श्रद्धादव भारतवष के प्रथम सम्राट क लाए सा ा ही ये विवस्वान् के पुत्र होने से **वैवस्वत मनु** नाम से भी प्रसिद्ध हुए जसाकि- **मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह । तस्य मनुष्या विश (प्रजा) । तऽइमऽआसत इ यश्रोत्रिया गृहमेधिन उपसमेता भवन्ति** (शत ब्रा १३।३।३।६।) इ यादि वाजिश्रु ति से पमाणित है ।

भारतवष के प्र थम सम्राट श्रद्धादवमनु अवश्य थ परन्तु इनका यहा स्थायी निवास नही हुआ । अपितु ये जीवनपर्य्यन्त अपनी ज मभूमि उत्तर * कुरुक्षेत्र में ही रहे । इनके **इक्ष्वाकु-प्रमुख ९ पुत्र थे** एव **इला**

***-मानवचरित्रानुगता एतिहासिक घटना के द्वारा**

* यह कुरुक्षेत्र उस **प्राचीसरस्वती** के सन्निकट था जिसे आज **बालकशझील** कहा जाता है जो कि आज भी उत्तररूस में प्रवाहित है । भौम-मनुष्यदेवता इसी में **अवभृथस्नान (यज्ञा तस्नान)** करते थ । इसी कुरुक्षेत्र की प्रतिकृति पर भारतवष में भी **कुरुक्षेत्र** यवस्थित हुआ था ।

नाम की एक कन्या थी। इक्ष्वाकु ही अयोध्याप्रान्त सूर्यवंशी प्रथम भारतीय सम्राट यहां के निवासी बने। ये ही अगली पीढ़ियों के मूलपुरुष मान गए। एवं इला से आगे जाकर चन्द्रवंश का विकास हुआ जैसाकि **बहिरङ्गपरीक्षात्मक–गीताभूमिका प्रथमखण्ड के सम्भसङ्गति** नामक प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है।

इसी सूर्यवंश मे उत्पन्न महाराज **निमि** के साथ ही हमारे प्रकृत इतिवृत्त का सम्बन्ध है। आज जो जनकादि विदेहो का स्वतन्त्र राज्य इतिवृत्तो में सुना जाता है किसी समय वे अयोध्या–राज्य में ही अन्तर्भूत थे। विदेहो के पूर्वपुरुष अयोध्या सम्राट के सामन्त राजाओं (कुटुम्बियों) में से थे। दोनो के कुलपुरोहित **महर्षि वसिष्ठ** थे। एकबार विदेहो के पूर्वपुरुष महाराज **निमि** ने यज्ञ करने की इच्छा से कुलपुरोहित वसिष्ठ का आमन्त्रण किया। उस समय वसिष्ठ देवताओं के द्वारा वितत यज्ञ में ऋत्विक बन वृत होकर **स्वर्ग (प्राग् मेरु प्रदेशस्थ भौमस्वर्ग)** जाने वाले थे। देवों के अनुरोध को महत्त्व देते हुए वसिष्ठ स्वर्ग चले गए महाराज निमि को कुलपुरोहित की यह उपेक्षा असह्य हुई। फलतः इन्होंने मर्य्यादा–निरुद्ध उस समय के प्रसिद्ध याज्ञिक रहूगण के पुत्र अतएव **राहूगण** इस उपनाम से प्रसिद्ध **महर्षि गोतम** के सहयोग से अपना यज्ञकर्म्म सम्पन्न करा लिया। थोड़े समय पीछे स्वर्ग से परावर्त्तित होने पर जब वसिष्ठ ने यह सुना कि निमि ने गोतम के पौरोहित्य में यज्ञ सम्पादन कर लिया है तो उन्होंने मर्य्यादाभङ्गनिमित्त निमि को यह शाप दे डाला कि **तुम इसी क्षण इस यज्ञाग्नि से नष्ट होजाओ**। राजा भी पहिले से तो क्रुद्ध थे ही वसिष्ठ के इस शाप से और भी उत्तेजित राजा के मुख से भी यह निकल पड़ा कि **आप का भी नाश हो**। परिणामतः दोनो ही भस्मीभूत होगए।

महर्षि गोतम के सम्मुख ही यह घटना घटित हुई। उस ब्रह्मवेत्ता सर्वसमर्थ ऋषि ने दोनो के भस्म का सञ्चय कर अरणि से अग्निमन्थन आरम्भ किया। मन्थन प्रक्रिया से उत्पन्न यज्ञाग्नि में आहुति देकर दोनों को पुनर्जीवित कर दिया। क्योंकि महाराज निमि का पुनः प्रादुर्भाव **मन्थन** से हुआ अतएव यहां से ये **मथु** नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्हीं को यत्र तत्र **मिथि** नाम से भी व्यवहृत किया गया। इन मथु के पुत्र ही आगे जाकर **विदेह माथव** नाम से प्रसिद्ध हुए।

उक्त घटना की ग्लानि का **विदेह माथव** के ऊपर यह प्रभाव पड़ा कि उन्होंने भविष्य के लिए अन्यत्र चला जाना ही श्रेयस्कर समझा। इस सङ्कल्प को पूरा करने के लिए उन्होंने अपने आध्यात्मिक वैश्वानर अग्नि का वागिन्द्रिय से संयम करते हुए **यह प्रतिज्ञा की कि जहां जिस प्रदेश में हमारा वैश्वानराग्नि वागिन्द्रिय के द्वारा बाहिर निकल जायगा उसी स्थान में हम अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करेंगे**। यह सङ्कल्प कर महाराज माथव वैश्वानर का संयम कर राहूगण गोतम को साथ लेकर चल पड़े। आगे आगे माथव चले जारहे थे पीछे पीछे गोतम अनुगमन कर रहे थे। गोतम ने अनेक बार लौकिक भाषा में विदेघ का सम्बोधन किया उनके इसप्रकार अकस्मात् राज्य छोड़कर आगे बढ़ने के कारण की जिज्ञासा व्यक्त की। परन्तु विदेघ ने अनेक बार प्रश्न करने पर भी उत्तर नहीं दिया। गोतम उनका वाक्संयम न तोड़ सके। विवश होकर गोतम को उस मन्त्रशक्ति का आश्रय लेना पड़ा जिसका फल अन्यथा माना गया है। उन्होंने निश्चय किया कि विदेघ ने किसी विशेष लक्ष्यसिद्धि के लिए ही अपने आध्यात्मिक वैश्वानर अग्नि

का सयम किया है । अतएव इनके "स वश्वानराग्नि को प्रदीप्त किए बिना ये को उत्तर नही देग। अत मन्त्रवाक से इस सयम का तोड ा ही चाहिए । यह निश्चय कर गोतम कहने लग—

"वीतिहोत्र त्वा कवे द्युम न्त समिधीमहि । अग्ने बह तमध्वरे" ।

उक्त मन्त्र से अग्निसमि धन कर स अभिप्राय से कि अब माथव का सयम अवश्य टूट जायगा गोतम ने उच्चस्वर स सम्बोधन करते हुए कहा हे विदेघ ३ । परन्तु काइ परिणाम न नि ला । पुन गोतम न । नलिखित मन्त्र का प्रयोग किया—

उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राज त ईरते । तव ज्योताष्यर्चय " ।

गोतम का यह प्रयास भी व्यथ गया । अन्त में उनके मुख से तीसरे मन्त्र के त न्वा घृतस्नवीमहे इस भ ग का निकलना था कि माथव का सयम टूट गया। चिरकाल से सयत ी व अग्नि घृतपद के स ब ध मात्र से प्रज्ज्वलित होपडा । अब गोतम स अग्निको अपनी आ यात्मिक सस्था में न रख सक । फ त प्रज्ज्वलित अग्नि बाहिर आपडा (माथव बाल पड) । जिस समय यह घटना घटित हुइ उस समय माथव विदेघ सरस्वती नदी के समीप विद्यमान थ । यहा से आर भ कर आगे का सदानीरा –पर्यन्त का सम्पूण भूप्रदेश पि दमान था का वालीकृत था जल से अक्षेत्रवत् था एकप्रकार स जलपूरित बञ्जड ही भूप्र-देश था ।

यहा वाकसयम टूट जाना माथव ने एक दवी सङ्क त समझा और इसीलिए यहा स अपने सकल्पित स्वतन्त्र रा य की आरम्भसीमा मानली । अग्निस्थापन हुआ यज्ञारम्भ हुआ । ओर ओर ब्राह्मणों से भी स्व तन्त्र यज्ञानुष्ठान करवाए गए । इन यज्ञाग्नियों से उस अक्षेत्र भूप्रदश की आर्द्र ता हटाते हुए इस भूप्रदेश को निवास योग्य बनाते हुए माथव आगे बढते गए । यहातक कि स पूण सरस्वतीक्षेत्र को अग्नियज्ञो से सुखाते हुए वे सदानीरा नाम की नदी के तट पर जा पहुच जोकि सदानीरा उत्तरगिरि से निकली है । यही नदी करतोया सदानीरा बाहुदा इत्यादि नामों स प्रसिद्ध है । "सभें एक हाथ जल सदा बना रहता है इसलिए इसे करतोया कहा गया है । इसका पानी घोर ग र्मो मे भी अक्षु ण बना रहता है अतएव इसे सदानीरा कहा गया है । सुप्रसिद्ध स्मृतिकार न्यायमन्त्री लिखित के ज्येष्ठ भ्राता शङ्ख की आज्ञा के बिना फलग्रहण–जनित अपराध के दण्ड के लिए लिखित का बाहु कटवा दिया गया था । अ त में इसी नदी में वरुणाराधन के द्वारा शङ्ख ने कनिष्ठ भ्राता के बाहु की पुन प्राप्ति की थी । इसीलिए इसे बाहुदा कहा गया है । यही नदी लोकभाषा में कुरही नाम से पुकारी जाती है । यही विदहराज्य की पूवसीमा का नि र्माण करने वाली हुइ । बहुत स भव है यह गण्डकी नदी हो जिसका भागीरथी में सङ्गम होता है ।

इस नदी से इस ओर ही क्योंकि यज्ञाग्नि का सम्ब ध हुआ अतएव उसी समय से यह नियम बन गया कि यह नदी यज्ञाग्निस ब धविरह से अशुद्ध है । अत जो "सका तरण करेगा वह–प्रायश्चित्ती माना जायगा जैसा कि– करतोया बिलघनात् इत्यादि से स्पष्ट है । यही नदी कोसलविदेहों की म यसीमा

मानी गई। यही दोनो वंशों के ववाहिक सम्बन्ध का कारण बना। क्षत्रियों का वैवाहिक सम्बन्ध पुरोहितगोत्रों से ही होता है। इस घटना से पहिले दोनो के कुलपुरोहित वसिष्ठ थे। एवं तबतक कोसल विदेहा का वैवाहिक सम्बन्ध अमर्य्यादित था। परन्तु उक्त यज्ञघटना को लेकर जब गोतम ऋषि विदेहा के पुरोहित न गए तो वैवाहिक सम्बन्ध मर्यादित बन गया।

वही विदेह देश आज तिरहुत नाम में परिणत होगया है। उस देश के निवासी यद्यपि आज मैथिल कहलाते हैं। परन्तु वस्तुतः इन्हें मथु राजा के सम्बन्ध से माथव ही कहना चाहिए जैसा कि—ते हि माथवा इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। यदि मथु के स्थान में मथि पाठ है तो मथिल शब्द भी सुसङ्गत माना जासकता है।

यह है—आख्यान का संक्षिप्त स्वरूप। प्रकृत सामिधेनी प्रकरण से इसका यही सम्बन्ध है कि घृत पद से माथव के मुखाग्नि का समिन्धन हुआ था। इस से स्पष्ट है कि घृत पद समिन्धन का अन्यतम कारण है। क्योंकि यहां वही समिन्धन कर्म अभिप्रेत है अतएव घृताच्या कहना अन्वर्थ बनता है। कहा गया है कि घृताच्या पद वीर्य्यभाव का सग्राहक है। इसी अभिप्राय से कहा गया है— वार्य्यमेवास्मिन् दधाति — (२ वीं कण्डिका) १ ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १ २ इन यारह कण्डिकाओं में इतिवृत्तपूर्वक उक्तार्थ का ही स्पष्टीकरण हुआ है॥ (२)॥

प्रथम मन्त्र का शेष भाग है— देवान् जिगाति सुम्नयु यह। इसकी व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है कि आज यह यजमान (मनुष्य होकर) इस यज्ञाग्नि के समिन्धन के प्रभाव से उन दिव्यलोकस्थ प्राणदेवताओं पर विजय प्राप्त करना चाहता है। भला उस दिव्याग्नि प्रभाव का क्या कहना जो एक भूलोक निवासी मनुष्य को देवसम्पत्ति से युक्त करदे। श्रुति इस कथन से अग्नि का ही महत्त्व सूचित कर रही है।

प्रकृत मन्त्र से यद्यपि स्वरूपतः अग्नितत्त्व का ही प्रतिपादन हुआ है जैसा कि पूर्वव्याख्या से स्पष्ट है। परन्तु मन्त्र में कहीं अग्नि का नाम नहीं है। अतएव आग्नरूपाभिका बनती हुई भी यह ऋचा अनिरुक्ता है। सर्वसम्पत् सिद्धि का अन्यतम द्वार अनिरुक्तभाव ही है। क्योंकि अनिरुक्तभाव आनरुक्त सर्वकामपरक प्रजापति का सग्राहक बना हुआ है। अनिरुक्ता सामिधेनी का अनुवचन क्यो किया जाता है? इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है॥२१॥

प्रथम मन्त्र पदों की व्याख्या समाप्त कर अब श्रुति— अग्न आयाहि इत्यादि द्वितीय मन्त्र-पदों की व्याख्या करती है। यह ऋचा आङ् उपसर्ग के सम्बन्ध से गायत्री के अर्वाचीरूप का सग्रह कर रही है यह तो उक्तप्राय ही है। अब उस वीतये पद के रहस्यार्थ पर दृष्टि डालिए जिसके लिए श्रुति ने एक महत्त्वपूर्ण लोकोत्पत्तिविज्ञान उद्धृत किया है।

सुप्रसिद्ध आपोमय परमेष्ठ्य मण्डल ही लोकसम्पात का मूलाधिष्ठान माना गया है। चतुर्मुख ब्रह्मा के आपोमुख से ही लोकसृष्टि हुई है जैसा कि—पूर्व में अपाप्रणयनकर्म्मोपपत्ति में विस्तार से बतलाया जाचुका है। यद्यपि परमेष्ठी से ऊपर का स्वयम्भू लोक प्राणमय माना गया है तथापि— प्राणा वा आप

(ता ब्रा ६ ६।४।) आपो वै प्राण (शत ३।८।२।४।) प्राणो ह्याप (ज उ ३।१ ।६।)– आपामय प्राण (छा उ ६।८।४।) यादि निगमो के अनुसार स्वय भू का वह प्राणत व भी अप–सम्प त्त स वञ्चित नही है। स्वाय भुवी आप प्राणामिका है यही वागा मक प्राण पारमे ठ्य अपत व की प्रथमावस्था है जसाकि– सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् वागेव साऽसृ यत (शत ६।१।१।१ ।) इ यादि से प्रमाणित है। जिसप्रकार स्वय भू का अपत व प्राण माना गया है एवमेव परमेष्ठी का अम्भ सूय्य का मरीची च द्रमा का श्रद्धा एव पृथवी का अपत व मर कहलाया है (ऐ उ १।)। इस दृष्टि से इस अपत व की सव याप्ति तथा सवरूपता भली–भाति सिद्ध होजाती है। अपत व की इसी सव याप्ति को लक्ष्य में रखकर श्रु ति कहती है—

'सर्वाणि ह त्वेव भूतानि, सर्वे देवा एषोऽग्निश्चित । आपो वै सर्वे देवा, सर्वाणि भूतानि। ता हैता आप एवैषोऽग्निश्चित । तस्य ना या एव परिश्रित '

—शत १ ५।४।१४।+

पारमेष्ठ्य आपोमय मण्डल मे अब्रूप भृगु–अङ्गिरा की प्रति ठा मानी ग है। आपो भृ गङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् इस गोपथश्रु ति के अनुसार पारमे ठ्य आप भृगु (स्नेहलक्षण आप) से युक्त है। किंवा यह अपत व ही भृग्वाङ्गरोमय है। भृगुरूप आप के गभ म अङ्गिरारूप अ ऋतरूप स सवत्र प्रतिष्ठित माना गया है। पारमे ठ्य समुद्र इन अ या मक अङ्गिरापुञ्जो से आपूय्यमाण । सवथा गतिशील इन अग्निपुञ्जो को ही धूमकतु कहा गया है। साहस्री–विज्ञानवत्ता महर्षियोन उस अपसमुद्र में अग्निपुञ्जलक्षण ऐसे एक सहस्र धूमकेतु मान हैं *। ये धूमकेतु अपनी अपनी विशेष अवस्थाओ के सम्ब ध में किरण वक्रशिख विशिख ब्रह्मदण्ड द्विशिख त्रिकच तस्कर कोङ्कम तामसकीलक विश्वरूप अरुण गणक इ यादि विशेष नामो मे यवहृत हुए हैं। इन्ही धूमकेतुओ में स कोइ एक केतु हमारी रोदसीत्रिलोकी का ज मदाता बना है।

पारमेष्ठ्य मण्डल में ऋतरूप से या त अग्नि वाला–पुञ्जा मक–प्रवलवग से परिभ्रममाण धूमकेतु–लक्षण अङ्गिरा ही काल पाकर एक स्था पर सञ्चित होने लगता है। यो यो अग्निकण एक नियत बि दु पर सञ्चित होने लगते है या यो पिण्डा मक सत्यभाव का उदय होने लगता है। इसप्रकार काला तर में उस धूमकेतुरूप अ निपुञ्ज के सञ्चित प्रव यरूप से सूय्य नामक सत्य–अग्निपिण्ड स्वतन्त्ररूप से प्रकट

+ "अप्सु त मुञ्च भद्र ते लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिता ।
आपोमया सर्वरसा सर्वमापोमय जगत ॥

—महाभारत

* शतमक त्रिकमेके सहस्रमपरे वद ति केतूनाम् ।
बहुरूपमकमव प्राह मुनिनारद केतुम् ॥

—बृहत्सहिता कतुचाराध्याय ११।५।

हाजाता है। धूमकेतु ही स य का जनक बनता है। क्योंकि स्वय धूमकेतु गतिशील है अतएव तन्पन्न सू य पएड भी स्वस्थान म प्र तािटत रहता हुआ प्रबल वग स अन्यावत्ति परिभ्रममाण हता हुआ परमष्ठी के चारों आर परिक्रमा लगा र ा है।

कपना कर लीजिए अभी सूर्य का प्रादुर्भाव न ी हुआ सवत्र पारम ष्ठ्य समुद्र का ही साम्राज्य है सब ओर पानी ही पानी ह आर इस पानी में कराडो कोस प य त अपनी याप्ति रखते हुए अग्निपुञ्जरूप धूमकेतु ऋतरूप से इतस्तत चक्कर का रहे ह। इनमे से किसी एक धूमकेतु को लक्ष्य बनाकर लोकसृष्टि का सम वय अपेक्षित है। स्वय यह धूमकेतु भी ऋताग्निरूप ही है ए ाजम अपसमुद्र म यह याप्त है वह भी ऋत ही है। इस ऋत समुद्र में प्रति ठत ऋत अग्निपुञ्ज के अलातचक्रवत् घूमने म काला तर म अग्निपुञ्ज का सर्वाग्रभाग इस से प्रवृक्त हागया और स पाथक्य का कारण बना गतिविभेद एव गतिविभेद का कारण बना अ नपुञ्ज का ऋतभाव। या यह अग्निपुञ्ज स य होता ता स का म प्रणरूप अवारपारीणरूप से समानगात से ही युक्त रहता। पर तु ऋतभ व के कारण इसकी प्रा ात्र दु गात म षम्य बना रहता ह एव यही गतिवषम्य ग्रहोपग्रहभाव का जनक बनता है।

यद्यपि जम केद्रभाव के आ ार पर मन गतिसाम्य बतलाया है वहा भा एकदृष्ट से घाटकायन्त्रवत् गातवषम्य बना हुआ है। था प यह ग तवष य केद्र का परि याग नही करता। कवल इसी लक्ष्य स इस गात को **समानगति** मान लिया गया है। सूय्यकन्द्र स सम्पूर्ण सोररश्मया बद्ध ह। स्वस्थान म पारभ्रममाण सुय्य की सभी रश्मया पारभ्रममाणा है। साममण्डल उत्तरात्तर बृहत्प्रदेश स युक्त है। फलत रश्मयो की प्रातबि दुगात साममण्डलो के उच्चावच मस्थानो स विषम बन रहा ह। फिर भी क्योंक प्रत्यक रश्म सू य– केद्र स बद्ध है अतएव रश्मिगति रश्म के किसी पव को सू य स पृथक् न ी होने देती। यही अव था धटिकायन्त्र की है। घटिकायन्त्र (घड़ी) की उस बडी सूची (सुइ) पर दृष्टि डालिए जो १ घण्ट के ६ मिनिटो का पारज्ञान क ता र ी है। घाटका–क द्र स बद्ध सूची चारो ओर की नाट ा–पाराध स लग्न रहती हुइ चारो ओर घूम र ी है। केद्र स परिध प य त का घटिका–प्रदश उत्तरोत्तर बडा है। अत केद्र से आर भ कर घटका परिधि प य त याप्त सूची की प्रातबि दु की गति उत्तरात्तर बृ त् प्र शपारभ्रमण से सम्बन्ध रखरही है। अ तिम बि दु को सब स बडा मण्डल पूरा करना पडता है पूव पूव बि दुओ को क्रमश छाटे मण्डल। यहातक कि केन्द्रबि दु को कुछ भी समय नही लगत क्योंक वहा मण्डल का अभाव है। यदि घटिकायन्त्र में सूची को बद्ध रखने वाला सयभाव (केद्र) न होता ो पारणाम इस बि दुगति–वष य का यह होता कि सूची खण्ड खण्ड रूप म पारणत हाकर घाटकाय त्र से पृथक् ही होजाती। क्योंक उस समय इन विषमगतियो को समभाव में परिणत करन वाला कोइ नियन्तासूत्र नही रहता।

ठीक यही अवस्था हमारे इस सयभावशू य (केद्रराहत) ऋताग्निपुञ्ज (धूमकेतु) की समझिए। ऋताग्निपुञ्ज प्रबल वग स घूम रहा है यह बतलाया जा चुका है। इसकी गति क सम्ब ध में यह यान और रखना चाहिए कि जहा बुधादि अ य ग्रह सूर्य्य के चारो ओर सममण्डल बना रक घूम रह है वहा ये धूमकेतु विषम मण्डल बनाकर ही सू य के चारो ओर घूम रहे हैं। नकी सब से बडी पारक्रमा ३ सहस्र

वर्षों तक में पू ी होती मानी ग ई है । ‍स परिक्रमा के अनुसार ही भूलोकस्था प्रजा को इसका प्र यक्ष हुआ करता है । केन्द्रानरहित धूमकेतु घूमने लगा । स समय ‍समें दो भावों का समवश हुआ ।

उधर तो पारमेष्ठ्य **वराहवायु** के ‍यापार से केन्द्र का नि र्माण आर भ हुआ इधर परिधि स्थानीय अ निपुञ्जखण्ड प्रवर्ग्यभाव से युक्त होने लगे । काला तर में गतिवषम्य स आ नपुञ्ज का सर्वा त का भाग इससे पृ थक होकर अपना नियत स्थान बनाकर घूमने लगा । वही अग्निपुञ्ज–खण्ड आगे जाकर **शनश्चर** नाम से प्रासद्ध हुआ । किसी समय अवश्य ही शनश्चरकक्षा–पर्य्य त ‍स अग्निपुञ्ज की ‍ाप्ति रही होगी । पर तु आज तो अग्निपुञ्जविशेष सूर्य्य और शनश्चर में प र्या प्त अ तर होगया है । शनश्चर के अन तर जो अग्नि–खण्ड प्रवृक्त हुआ वह **बृहस्पति** कहलाया । तीसरा खण्ड प्रवृक्त हुआ । यह आगे जाकर १ ८ अवा तर खण्डो मे परिणित हुआ ।जिन्हे १ ८ **देवसेनाग्रह** कहा जाता है । अ तर चौथा खण्ड प्रवृक्त हुआ वही **मङ्गल** कहा जाता है । मङ्गल के अन तर प्रवृक्त होने वाला खण्ड भी सुप्रसिद्ध **भूपिण्ड** है । स भूपण्ड का सोमनय प्रवृक्त अत्रिभाग ही **च द्रमा** है । आगे का खण्ड **शुक्र** कहलाया । एव सर्वा त का खण्ड **बुध** नाम स प्रासद्ध हुआ ।

इसप्रकार केन्द्रस्थ अ निपुञ्ज (जो कि आज सूर्य्य नाम से प्रसिद्ध है) से ही ये स पूर्ण ग्रहोपग्रह उसी गतिवैषम्य स उ पन्न हुए हैं । सूर्य्यात्मक अग्निपुञ्ज के प्रथम प्रवर्ग्य भाग **सूर्य्यपुत्र** नाम से प्रसिद्ध शनिदव ही माने गए है जिनकी एक माण्डलिक परिक्रमा ३ वर्षों में समा त होती है । सूर्य्य के प्रवर्ग्यांशभूत ये उपग्रह अद्यावधि सूर्य्य के चारो ओर उसी प्रवृक्त स्थान में परिक्रमा लगा रहे है । सूर्य्य के चारो ओर सवप्रथम **बुध** अन तर **शक्र** **अन तर प्रथिवी** पृथिवी के चारो ओर **च द्रमा** अन तर **मङ्गल** अन तर **देवसेना नामक १ ८ ग्रह** अन तर **बृहस्पति** अन तर **शनि** सर्वा त **मे नक्षत्रकक्षा** यही इनका अवस्थानक्रम है । आज भी विधि के इस अलातचक्र की यह परिभ्रमणलीला य ावत् परिक्रा त है । अवश्य ही काला तर में सूर्य्य से और ग्रह उ पन्न होगे जिनका सङ्क त हमें **माठर कपिल दण्ड चण्डांशु** आदि पारिपाश्वकों से मिल रहा है । इस क्रमसे एक दिन स पूर्ण सूर्य्यमात्रा ग्रहनि र्माण मे समा त होजायगी । स्रष्टा प्रजापति के वि नस्त होते ही यज्ञप्रक्रिया का अवसान होजायगा । अ यक्त म ‍ रा यागम सबकुछ सु त बना दगा । पुन नवीन धमकेतु से नवीन सृष्टिक्रम आर भ होगा । इसप्रकार **याथातथ्यतोऽर्थान यदधात् शाश्वतीभ्य समा य धाता यथापूर्वमक पयत्** इ यादि रूप से उपगीयमान विधि का यह विचित्र लीलाचक्र इसीप्रकार चक्रम ण करता रहेगा जिसके लिए **इदमि थमेव** कहने के लिए मानवीय बुद्धि सवथा ही असमथ है । **न विश्वमूर्त्तेर वधार्य्यते वपु** (महाकवि कालिदास)

शनि बृहस्पति देवसेनाग्रह मङ्गल बुध ये उपग्रह ज्योतिर्मय दिखलाइ देते है । अत इन्ह सूर्य्योपग्रह मानना सुसङ्गत बन रहा है । पर तु अनुष्णाशीत भपिण्ड क्योकि ‍योतिर्भाव से वञ्चित है अतएव इसे सूर्य्योपग्रह मानना असङ्गत सा प्रतीत होता है इस असङ्गति का उस समय भलिभाति निराकरण होजाता है जब हम उक्त ग्रहो के स्वरूप का परिचय प्रा त करते हुए वदिक ‍योतिविज्ञान के स्वरूप से अवगत हो जाते हैं ।

स्व ‍योति परज्योति रूप ‍योति अ ‍योति भेद से ‍योतिर्विवर्त्त चार भागो मे विभक्त माना गया है । चारो ओर स्व स्वत प्रकाशित ‍योतर्मण्डल ही **स्व ‍योति** कहलाए है । इन्ह ही परिभाषानुसार

सूर्य्य कहा गया है । खगोलीय योति पुञ्ज क्योकि स्वत प्रकाशित बनता हुआ स्व याात है अतएव से मूर्य्य क ना अ वथ बनता है । खागोलसस्था मे मीप्रकार वत प्रकाशित स्वाती चित्रा लु यक अभिजित् आदि असरय नक्षत्र स्व योतिम्मय बनत हुए मूर्य्य ह । तभी ता स्वाती को सविता क। जाता है — । जो पिण्ड अन्य प्रकाश स प्रकाशित रहत ह उह्न परिभाषानुसार चन्द्रमा कहा जाता है। पार्थिवापग्रहमत सोमपिण्ड क्योकि अ य योत से (* सूय ज्योत से) प्रकाशत है अतएव से चन्द्रमा कहा गया है । इस ही पर याात माना गया है । शनि क आठ उपग्रह बृहस्पात क चार उपग्रह ए मङ्गल के दा उपग्रह भी इसी पर योतर्भाव से चन्द्रमा कहलाए ह ।

तीसरी रूप योति है । से हम पर योति का ही दूसरा रूप कह सकते ह । वीअत य की घनता से जहा सौर योति को चाकाचक्यभाव में परिणत ोने का अवसर मिल जाता ह वहा प्रकाशरश्मियो का उ य होजाता है । पर तु मृदभाव की अधिकता स रश्मिसम्ब ध हाने पर मी जिस से अन्य वस्तुओ को प्रकाशित करने योग्य रश्मियो का प्रसार नही होना अपितु जो अपने स्वरूपमात्र का पारचायक बनती है एसी पर योत को ही रूप याात कहा जाता है । यही परिभाषानुसार पृथिवी नाम स यवहृत हु है । अथवा यो कह लीजिए कि याातर्भाव ही स्वय रूप प्रकाश भेद से दा भागो म विभक्त है । जिन पिण्डो के साथ सूर्य्य की इन दोनों योतियो का स ब ध हाता ह व पर योति कहलाते ह । एव जिनके साथ केवल रूप का सम्ब ध होता है उह्न रूप योति कहा जाता है ।

चौथा विभाग अ योति का है । वायु च लोकस्थ ग धर्वप्राण अष्टविध सोम्यजीव ये सब अ योति है । पारदशक्ताप्रतिब धक आत्रप्राण के अभाव से इनमें रूप–प्रकाशानुगता रश्मियो का प्रति फलन नही होत । अतएव न तो नका रूपप्र यक्ष ही हाता न च द्रमा की भाति इनसे रश्मि प्रसारजनित प्रकाश ही । शनि आदि ोतिम्मय ग्र सूर्य्य से ी उ पन्न ह परन्तु ये स्व योति नहीं है अपितु च द्रभावत् पर ोति हैं । इस योतिरभाव का एकमात्र क रण सूर्य्यस ब ध–वि ुात ही है । सूर्य्य मे अजस्ररूप से सोम धारा आहुत होती रहती है । अतएव सूर्य्य स्व योतम्मय बन रहा है । इससे नियुक्त शनि आदि उस सम्ब ध विच्छे से ही स्वज्याति –सम्पत्ति स वञ्चित होरहे हैं । जा मह व सर्य्य की दृष्टि से शनि आदि का है वही मह व पृथिवी का है । पृथिवी भी एकदृष्टि से पर योति ही है और सका मुरय कारण मृद्भाग की प्रधानता ही है । ऐसी दशा में केवल योति के अभाव स ही इस ग्रहम र्या स पृथक करत हुए उक्त असङ्गति की आशङ्का नही की जासकती ।

— देवस्य त्वा सावतु प्रसवेऽश्विनोबाहुभ्या पुष्णो हस्ताभ्याम् [यजु स०] इत्यादि म त्र म स्वाती के अभिप्राय स ही सवितु ' पद उद्धृ त हुआ है ।

* 'अत्राह गोरम वत नाम त्वष्टुरपी यम् इत्था च मसो गृहे ।' [ऋक्स] तरणिकिरणसङ्गादेष पानीयपिण्डो दिनकरदिशि चञ्च चा द्रकाभिश्चकास्ते [ज्या]

उक्त ग्रहोपग्रहभाव में से प्रकृत में हम पाठकों का ध्यान केवल सूर्य्य तथा **पृथिवी (भूपिण्ड)** की ओर ही आकर्षित करना है। जबतक आत्मपञ्चात्मक सत्य से पृथिवी का उदय नहीं हुआ था तबतक सूर्य्य एक विशाल अलातचक्ररूप में परिणत होता हुआ उस स्थान पर्य्यन्त व्याप्त था जहां कि आज पृथिवी की अन्तिम परिधि है। सूर्य्य जिसे कि द्युलोक कहा जाता है उस समय उसी की व्याप्ति थी। उस समय **पृथिवी-अन्तरिक्ष (सूर्य्य तथा पृथिवी के मध्य का प्रदेश)-द्यौ (सूर्य्य)** इसप्रकार का त्रैलोक्य विभाग न था। आज जो द्युलोक (तदुपलक्षित सूर्य्य) हमारे भूलोक से ५ कोटि क्रोश विदूरस्थान पर स्थित है जिस द्युलोक को आज छूना तो दूर रहा प्रत्यक्ष भी साक्षाद् रूप से (सावित्ररूप से) नहीं किया जासकता वह द्युलोक भूनिर्माण से पहिले (जिस स्थान पर आज भूलोक की अन्तिम परिधि है) इस भूलोकपर्य्यन्त व्याप्त था। उस समय यदि हम होते तो द्युलोक हाथ से छूआ जासकता था। इसी पूर्वावस्थिति का श्रुति ने— **उपस्पृश्या हैव द्यौरास** इन शब्दों में अभिनय किया है ॥२ ॥

जिस अर्थ का पूर्व में हमने अपने शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए यह बतलाया है कि काल पाकर सूर्य्य से भूभाग प्रवृत्त हुआ फलतः त्रैलोक्य का विभाजन हुआ और उस समय अन्य ग्रहों के प्रवर्ग्यभाव से द्युलोक इस भूलोक से विदूर होगया श्रुति अपने शब्दों में उसी भाव का स्पष्टीकरण कर रही है। प्रश्न यह है कि किसने इस अग्निपुञ्ज को प्रवृत्त किया ?। इस प्रश्न का उत्तर इसके अतिरिक्त और क्या होसकता है कि सूर्य्य केन्द्रस्थ काममय प्रजापति की कामना से यज्ञकामुक बने हुए सौर प्राणदेवताओंने ही यह लोकवितान किया। तत्त्वतः भी यही उत्तर समीचीन प्रतीत होता है। सौर-अग्निपुञ्ज अपने गति वैषम्य से ही तो ग्रहों का जनक बना है। यह गतितत्त्व प्राणकला से सम्बन्ध रखता है **प्राजापत्य मन जहां ज्ञानप्रधान है प्राजापत्या वाक् जहां अर्थप्रधाना है वहां मध्यस्थ प्राजापत्य प्राण क्रियाप्रधान माना गया है । क्रिया ही गतिभाग है।** इस हृदय प्राजापत्यगति का अर्करूप से बाह्य वितान होता है एवं इस गति का आगे जाकर अग्निपुञ्जस्थ आग्नेय प्राणदेवताओं से योग होता है। इसी देवगति (प्राणगति) से लोक विभाजन होता है।

इस लोक-विभाजन प्रक्रिया-में हृद्य प्रजापति का मौलिक सहयोग बतलाया गया है। यहां प्रजापति **आलम्बन निमित्त उपादान** भेद से त्रिसंस्थ माना गया है। **अव्ययदृष्ट्या वही आलम्बन है अक्षरदृष्ट्या वही निमित्त है एवं क्षरदृष्ट्या वही उपादान है।** अक्षर ही क्योंकि सृष्टि का निमित्त है अतएव कह सकते हैं कि यहां हृद्य अक्षरप्रजापति ही इस लोकसृष्टि का प्रधान प्रवर्त्तक है। यह हृद्याक्षर **ब्रह्मालक्षणा स्थिति इन्द्रलक्षणा गति तथा विष्णुलक्षणा आगति** इन तीन गतियों से युक्त है। **सर्वतोदिग्गति स्थिति है अर्वाग्गति आगति है परागगति गति है।** इसप्रकार अक्षरात्मिका **स्थिति आगति-गति**-तीनों तत्त्वतः गति ही बन रही हैं। अक्षरमूर्त्ति प्रजापति अपने इसी अक्षरानुगत-गतित्रयरूप गतिभाव से सोमगर्भित अव्ययक्षर के आधार पर लोकवितान में समर्थ हुए हैं। जिस गतिविच्छेद से भूलोक प्रवृत्त हुआ है उस देवगति में (अन्नात्मिका प्राणगति में) स्थितिरूपा गति भी है। अपानदूरूपा गति भी है एवं प्राणदूरूपा गति भी है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है कि— **तानेतरैव त्रिभिरक्षरैर्व्यनयम्** । देवताओं ने स्वप्रतिष्ठारूप हृद्य-प्रजापति के **ब्रह्मा विष्णु इन्द्राक्षर** से सम्बन्ध रखने वाली **स्थिति-गति आगति**-रूपा गतियों से ही लोकनिर्माण किया।

प्राय श्रुति के सभी पदों का सम न्वय होगया । अब वीतय प अवशिष्ट है। श्रुति ने वीतये इन तीन अक्षरो से लोकवितान करना बतलाते हुए एक दूसरे अन्न-अन्नादविधान का भी स्पष्टीकरण किया है। लोकवितान हुआ सौर-देवताओंने तीन अक्षरो स (अक्षरानुगता गायत्रयरूपा गात स) त्रैलोक्य का नि र्माण किया । परन्तु प्रश्न यह है कि देवताओंन य म ार म प्रयास किया क्या ? किस प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर देवताओंने लोकान माण किया ? । श्रुति का वीतय प इसी प्रश्न का उपपत्ति बतला रहा है । वीतय का शब्दार्थ है— खाने क लिए । त प्रजाना ह्यते न्या उपजीवन्ति) के अनुसार पार्थिव रस हा सौर देवप्राण की जीवनयात्रा का कारण मान गए ह । सौरप्रजापात ग्रहानर्म्माण में जहा अपने शरीरपर्वों को विस्रस्त (खच) करत रहते ह त ा वे नके रसो का आदान करत हुए उस विस्रस्त भाग की क्षतिपूर्त्ति भी किया करते है । य ी पारस्परिक अन्न अन्नादभाव है जिसका अ यत्र विस्तार से स्पष्टीकरण हुआ है । यदि भूलोक न बनता तो यहा से त्रैलोक म गायत्र अग्नि के ारा पार्थिव रसा का गमन न होता । फलत द्युलोकस्थ प्र णदेवताओं का विस्रमन तो होजाता । किन्तु विस्रस्त भाग की क्षतिपर्त्ति नही होती हम दख रह हैं कि विस्रसन के साथ साथ क्षतिपूर्त्ति भा होरही है । इस पारस्पारिक आदान-विसर्गात्मक अन्नयज्ञ स ही दोनो का स्वरूप सुरक्षित है । देवताओं की यह अन्नादान प्रक्रिया वी-त-य इन तीन अक्षरो से उपलक्षित पृथ्वी-अन्तरिक्ष-द्यौ इन तानो लोको के रसो स समानरूप से सम्बद्ध है । इसप्रकार वीतये यह यक्षर पद जहा प्रजापात क गतित्रयी के द्वारा लोकत्रयी-निर्माण का रहस्य स्पष्ट कर रहा है वहा यही पद लोकत्रय निर्म्माण की आवश्यक्ता का भी रहस्योद्घाटन कर रहा है ।

अवश्य ही इस रहस्यार्थ को गर्भ में रखने वाले अग्न आयाहि वीतय इस मन्त्रभाग के अनुवचन से यज्ञकर्त्ता यजमान के निवास के लिए लोकसम्पत्ति भी वरीय होजाती है एव अन्नसम्पत्ति भी विपुल होजाती है । हम भी इस म न्त्रपद के रहस्यार्थ के उपसहार से लोकाध्यक्ष तथा अन्नाध्यक्ष उस दिव्याग्नि-देवता से यही प्राथना करते हैं कि हमारे इस भारतलोक क तथा भारतीय-भोगसम्पत्ति के भारतीया को अनन्य भोक्ता बनाने का अनुग्रह करते हुए अपने भारत नाम को चरितार्थ कर हम अग्ने ! महा असि ब्राह्मण भारत यह कहने का अवसर प्रदान कर ॥ ३॥

मन्त्र का म यभाग है गृणानो ह यदातये यह । देवताओंने लोकान्न-सम्पत्तिया प्राप्त कर त्रैलोक्योपलक्षित सम्व सरमण्डल में अपना स्वतन्त्र साम्राज्य स्थापित कर लिया । क्यों ? जानते ह आप ? देवताओंने पहिले आत्म समर्पण किया सर्वस्व बलिदान किया तब कही उह्ह यह वैभव मिला । देवता हमारा भाति अकर्मण्य नही अपितु यजमान हैं यजक म के अनन्य अनुगामी ह । हम भी इस सम्पत्ति के तभी भोक्ता बन सकत हैं जब यजमान बनें अग्निवितान कर हव्यदाता बन कर्म्मठ बन ऋषिप्रदिष्ट सत्रसाधक यज्ञकर्म्म का अनुगमन कर । जो यजमान ऐसे यजमान हैं व ही उक्त सम्पत्ति क भोक्ता बन सकत हैं । अन्यथा तो सब अन्यथा ही है ।

X- अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य, पूर्व देवेभ्यो अमृतस्य नाम ।
यो मा ददाति स इ देव मावत्, अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

मन्त्र का अन्तिम भाग है **नि होता सत्सि बर्हिषि** यह। अग्नि **होता** है वह **बर्हि** पर प्रतिष्ठित है एव बर्हि स निदानेन वश भूलोक ही अभिप्रेत है जैसा कि पूर्व मे समष्टिरूप से मन्त्रार्थ करते हुए सोपपत्तिक बतलाया जाचुका है। इस सामिधेनी का **बर्हि** पद स भूलोक का ही अनुगामी है। अत इसके अनुवचन से यज्ञकर्त्ता यजमान पार्थिव भागधेय का ही अनन्य भोक्ता बन जाता है और यही द्वितीय मन्त्रपदो की सङ्क्षिप्त उपपत्ति है जिसका ब्राह्मण की २२ ३ २४ इन तीन कण्डिकाओं मे स्पष्टीकरण हुआ है ॥२४॥

अग्न आयाहि के अनन्तर वह होता क्रमप्राप्त तीसरी (आवृत्यानुसार पाँचवी) निम्नलिखित सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता है—

**(३) 'ओम्-त त्वा समिद्भिरङ्गिरो घतेन वर्द्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य-ओम्'इति (५) ।**

प्र वा वाजा अभिद्यव इत्यादि प्रथम मन्त्र त्रैलोक्य-व्यापक सम्वत्सराग्नि का समष्टिरूप से सग्राहक है। मन्त्रगत **वाजा** पद त्रिवृत्स्तोमोपलक्षित भूलोक का मन्त्रोपात्त **घता** या पद पञ्चदशस्तोमोपलक्षित **अन्तरिक्ष** का एव मन्त्रगत **अभिद्यव** पद एकविंशस्तोमात्मक द्युलोक का सग्राहक बन रहा है। इसप्रकार प्रथम मन्त्र से समष्ट्यात्मक सम्वत्सर अग्नि का ही समिन्धन हुआ है। इस से आगे के— **अग्न आयाहि वीतये** **त त्वा समिद्भिरङ्गिर** **-स न पृथुश्रवाय्यम्** इन तीन मन्त्रो से क्रमश **पृथिवी** **अन्तरिक्ष** **द्यौ** इन तीनों लोको में प्रतिष्ठित तीनो अग्निपर्वो का समिन्धन हुआ है। **अग्न आयाहि** का **बर्हि** पद **पार्थिवाग्निपर्व** का **त त्वा समिद्भि** का **घतेन** पद **आन्तरिक्ष्याग्नि** का एव **स न पृथुश्रवाय्य** का **पृथु** पद **दिव्याग्निपर्व** का सग्राहक बन रहा है। इसप्रकार इस मन्त्रचतुष्टयी से समष्टि व्यष्टिरूप से उभयथा अग्निदेव का समिन्धन होजाता है इस सङ्गति को लक्ष्य में रखकर ही इस मन्त्रचतुष्टयी के अर्थ का समन्वय करना चाहिए।

अग्न आयाहि से दिव्यलोकस्थ **सावित्राग्निरूप दिव्य अग्नि** का इस **भूलोकोपलक्षित यज्ञाग्नि** में आह्वान किया गया। यहा आते ही यह पृथिवी की वस्तु बनता हुआ **आङ्गिरा** पद का अधिकारी बन गया। **इत एत उदारुहन्** इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार पार्थिव अग्नि ही अङ्गिरा कहलाया है। इसीलिए श्रुति ने इसे (आगमन के अनन्तर) **अङ्गिरा** नाम से व्यवहृत किया है। अग्नि की ही **भृगु** तथा **अङ्गिरारूप** से दो अवस्था मानी गई है। **आगमनदशा मे वही भृगु कहलाया है** एव **गमनदशा मे वही आङ्गिरा कहलाया है**। प्रज्वलित **अग्नि मे जो अग्निज्वाला है वह साक्षात् भृगु है**। अग्नि की अवस्थान्तर भार्गव सोम के जलने का ही नाम ज्वाला है। एव जिस अङ्गिरा पिण्ड से यह ज्वाला निकल रही है वह अङ्गिरोऽग्निमय है जैसा कि— **अर्चिषि भृगु सम्बभूव अङ्गारेभ्यो अङ्गिरा सम्बभूव। अथ यदङ्गारा अवशान्ता पुनरुददीप्यन्त अथ बृहस्पतिरभवत** इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है।

तात्पर्य यही है कि **तेज स्नेह-तत्त्वों के** सम्मिश्रण का ही नाम वस्तुस्वरूप **है। तेज अङ्गिरा है स्नेह भृगु है।** **अग्नि-यम-आदित्य** भेद से **अङ्गिरा** भी तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है।

ए ा आप –वायु –सोम–रूप स भृगु भी तीन अवस्थाओं म परिणत रहता है स्नहलक्षणा भृगुत्रयी परिधि स हृदय की ओर क्रमश (सकुचित होती हुइ) आती रहती है ए ा तजोलक्षणा अङ्गिरात्रयी हृदय से परिाध की ओर क्रमश (विकसित होती हुइ) जाती र ती है । आङ्गरात्रया का अ तम विकास पारधि–सीमा पर पहुँचते ही अर्वा मुख बनकर भृगुत्रयीरूप म परिणत होजाता है । एवमव भृगुत्रयी का अ तिम सकोच हृदयसीमा पर प हुचत ही सहावस्थानाभावप्रवत्तक सघष म परिणत होकर पगा मुख बनता हुआ अङ्गिरात्रयीरूप में पारणत होजाता है । यहा से इस अङ्गिरात्रयी के अङ्गो का * ऊर्ध्व की ओर रसन हाने लगता है अतएव इसे **अङ्गिरा** कहा जाता है । अथवा **अङ्ग स** के सम्ब ध से भी इस पार्थिव अग्नि को **अङ्गिरा** कहना क वय बनता है – । अग्नि ही अङ्गों का स्वरूपरक्षक रस है ।

इस आङ्गरोग्न के भूत प्राण भेद से दो विवत्त ह । प्र यक्ष ष्ट अङ्गाराग्नि भूतलक्षण अङ्गिरोऽग्नि है । एव इस भूताङ्गिरोऽग्नि में प्रतिष्ठारूप स प्र तष्ठित आङ्गराप्राण प्राणलक्ष अङ्गिरोऽग्नि ह । प्राण को ही विज्ञानभाषा मे **ऋषि** कहा गया है । जबतक भूत में प्राण प्रतिष्ठित र ता है तभीतक भूत की स्व रूप–रक्षा होती रहती है । साथ ही जबतक इस प्राण के साथ बाह्य अन्नस पत्ति का सम्ब ध बना रहता है तभीतक यह प्राण **भूतरक्षा–कर्म्म** मे सफल रहता है । **अङ्गिराप्राण क परीक्षक अतएव तत्समय की मर्य्यादा क अनुसार अङ्गिर इस यशोनाम से प्रसिद्ध महर्षिय न अपने वध यज्ञो म समिधाधान (काष्ठाधान) से इसी का समि धन किया है** । इसप्रकार दानो दृष्टियो से— **समिदभिर्ह्वेत–मङ्गिरस–ए धत** यह वाक्य चरिता र्थ होरहा है । **घृतेन वद्ध यामसि** का घृतपद **घृताच्या** की भाति समि धनक म का अन य उपोद्बलक बनता हुआ **सामिधेना** पद बन रहा है । घत ही आग्न का अपना वीर्य्य है । इस पद से समिद्ध अग्नि मे सी वी य का आधान होरहा है ॥२३॥

त्रलोक्या मक स व सर में या त होने स यही **बृहन्** है सवत्र अपन त प से विद्यमान है । सा थ ही हमारा यह आहवनीयाग्नि भी सा मधेनियो से समिद्ध होक महान् बनता हुआ अतिशयरूप से प्रज्ज्वलित होरहा है । अवश्य ही आज यह अग्नि यजमान के शत्रुओ के भी शाक का कारण बन गया है जसाकि आग के **अभिचार–कर्म्म** मं स्पष्ट किया गया है । **यविष्ठ्य** यह इस अग्नि का प्रातिस्विक नाम है । सम्व सराग्नि का पारमेष्ठ्य अमृतसोम स नि य स ब ध है इसी अजस्रसामाहुति के प्रभाव से यह दिव्याग्न सदा समानरूप से प्रज्ज्वलित रहता हुआ **अजर–अमर** तथा **नि ययुवा** बना रहता है । **यविष्ठ्य** से अग्नि के इसी स्वरूप का स्पष्टीकरण हुआ है । क्योंकि प्रकृत ऋचा में **घृतेन** पद है अतएव **घृतम तारक्षस्य** के अनुसार यह ऋचा अ तरिक्ष–लोकसम्पत्ति की ही सग्राहिका बन रही है । इसप्रकार प्रकृत ऋचा निम्न–लिखित रूप से समिद्ध अग्नि की समिद्ध–प्रक्रिया का तिहास बतलाती हुइ सके स्वरूप का ही स्पष्टीकरण कर रही है—

---

*–'तस्मादङ्गिरसोऽधीयान ऊर्ध्वस्तिष्ठति' (गो ब्रा पू १।६।)।
—(देखिये–सा छा ब्रा० ३।२।१)।

हे पार्थिव अङ्गिरो अग्ने ! अङ्गिराप्राण के द्वारा पार्थिवद्रव्यरूप समित् से-तथा आन्तरिक्ष्य घृत से आप समिद्ध हैं। इसी समिध धनकर्म्म से आप त्रैलोक्य में बृहद्रूप से तपते हुए नित्यतरुण बन रहे हैं

हे आहवनीयस्थ समिद्ध अग्ने ! अध्वर्य्यु नामक ऋत्विक काष्ठ, तथा घृताधान से आपके स्वरूप को प्रवृद्ध कर रहा है। हे नित्यतरुण अग्ने ! आप इस समिन्धन कर्म्म से महान् बनते हुए प्रदीप्त बनिए'।

क्योंकि इस ऋचा से **अन्तरिक्ष-लोकसम्पत्ति** का संग्रह हुआ है अतएव यह स्वरूपत अग्निमयी बनती हुई भी अनिरुक्ता है। अन्तरिक्षलोक का आकाश स्वरूप निर्वचन नहीं किया जा सकता। यही अन्तरिक्ष की अनिरुक्तता है। इसप्रकार ऋचा के * घृतेन पद की भांति **अनिरुक्त** भाव भी अनिरुक्त अन्तरिक्ष का संग्राहक बन रहा है। एवं यही तृतीय मन्त्रपद की संक्षिप्त उपपत्ति है ॥२८॥

तथा समिद्धि के अनन्तर होता क्रमप्राप्त चौथी (आवृत्ति के अनुसार छठी) निम्नलिखित सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता है—

(४) 'ओम् स नः पृथुश्रवाय्यमच्छा देव विवाससि।
बृहदग्ने सुवीर्य्यम् ओम्' इति (६)

वैदिक-परिभाषानुसार **इयं अयं इदं** शब्द पृथिवीलोक के, **एष** शब्द अन्तरिक्षलोक का तथा **असौ अदः** इत्यादि शब्द द्युलोक से सम्बद्ध हैं। ब्राह्मणश्रुति में पठित **अच्छ** शब्द उसी पारिभाषिक **द्युलोक** की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। **द्युलोक** एवं तत्रस्थ **दिव्याग्नि** दोनों पृथिव्यन्तरिक्ष की अपेक्षा **पृथु (विस्तीर्ण)** हैं साथ ही स्तुत्य प्राणदेवताओं के निवास से **श्रवणीय** भी है। कौन इस सर्वसुखैकसाधक द्युलोक तथा दिव्याग्नि की गाथाएं सुनना नहीं चाहता ? । अग्नि के इस पृथुश्रवा रूप से कहा यही जाता है कि यह हमारे यज्ञ में समिद्ध होकर यजमान को भी उस श्रवणीय दिव्यलोक का पात्र बनावे।

द्युलोक जहां **श्रवाय्य** है वहां वीर्यशाली-वीर्यप्रवर्त्तक देवताओं के निवास से **सुवीर्य** भी बन रहा है। साथ ही अपने लोक (द्युलोक) के **बृहत्साम** से **बृहत्** भी। प्रस्तुत ऋचा द्युलोक की ही अनुग्राहिका बन रही है जिसके संग्राहक **पृथु, देव, बृहत्** इत्यादि पद बन रहे हैं। **अग्न आयाहि** इत्यादि ऋचा **बर्हिष्मती** है तथा **समिद्भिः** ऋचा **वृद्धिमती** है एवं प्रकृत- **स नः पृथु श्रवाय्यम्**

---

*— **घृतेन** पद तथा अनिरुक्तभाव के अतिरिक्त **वृद्धयामसि** तथा **बृहत्** पद भी इसी अन्तरिक्षलोक के संग्राहक बन रहे हैं। कारण यही है कि यह अन्तरिक्ष पृथिवी की अपेक्षा उत्तरोत्तर वरीयान् तथा बृहत्

ऋचा प्रथुमती है। तीनो की समष्टि लोकत्रयस पत्ति की सग्रा का नती हुइ लकत्रिच नाम स प्रसिद्ध है। प्रकृत सामधेनी–प्रकरण म लाकत्रिच अ तरज तत्रिच-वृषण्वन्तत्रिच मे स तीन त्रिच ह। नमे पाहला लोकत्रिच याष्टरूप स ही त्रलोक्य म या त ाट्या न का समि न्वन कर र ा ह म त्राथ स्प है ॥२७ २८ ॥

उक्त लोक त्रच के अन तर वृषण्व तत्रिच का अनुवचन आर भ होता है। स न प्रथु श्रवा यम् इ याद चोथी ऋचा के अन तर यह होता क्रमप्राप्त पाचवा (आवृ यानुसार मातवी) वृषण्वन्त त्रच की पहिली नि नालखित ऋचा का अनुवचन करता है—

(५)– ओम् ईड यो नमस्यास्तरस्तमास दृशत ।
समग्निरिध्यते वषा ओम् ॥ (७) (१)

ताप जहा अग्नि का प्रातिस्त्रक वम्म म ना गया ह् हा प्रकाश का प्रातस्विक धम्म माना गया है। च द्रमा में कवल न्द्र का स ब ध है अतएव चा द्रमा म प्रकाश ह ताप नही। उ ण जल में केवल अ नि का स ब ध है अतएव इसम ताप है प्रकाश नही। आ न–वरुण का एकत्र सम वय स भव है पर तु वरुण–इ द्र का एकत्र स वास अ भव है। सप्रकार ताप–प्रकाश का भलीभात पाथक्य सिद्ध होजाता है। हम जिस ौर दि या न का समि वन कर र्हे ह मम ताप मी है प्रकाश भी है। इसमें ताप अ नि का ध म है प्रकाश इ द्र का धम्म है। द्र ही वृषा नाम स प्रासद्ध है। वृषेन्द्र के सम वय स ही यह याज्ञ ठ्य अग्नि वृषा (प्रकाशयुक्त) बन रहा ह। इसी वृष द्र क सहयोग मे यह अग्नि अ धकार दूर करने में समथ होरहा है। वृषे द्र यज्ञ का अधिपात माना गया है। जबतक यज्ञ म इन्द्र सम्पत्ति का सग्र नही हाता तबतक यज्ञ अपूण रहता है। उसी वृषे द्र के सग्रह के लिए इ द्रयुक्त होने स वृषा नाम स प्रसिद्ध अग्नि का प्रकृत ऋचा स समि वन हुआ है जो क अ न अलौक्की मन्त्रभाषा से भी स्तुत (वितन होने वाला) ह एव लौकिक भाषा म भी नमस्कार करने या य है। शास्त्रीय क म में भी यह (प्राणरूप से) उपयुक्त ह तथा लौकिक मानवकम्म म भी य (भतरूप से) उपयुक्त है।

ईड यो नमस्य के अनुवचना तर वह होता क्रमप्राप्त ६ ठी (आवृ यानुसार आठवी) वृषण्व तत्रिच की दूसरा नि नलिखित ऋचा का अनुवचन करता है—

(६ — ओम् वृषो अग्नि समिध्यते अश्वो न दववाहन ।
त हविष्म त ईडते ओम् ॥ (८) २)

वृष द्र के सम्बन्ध स वृषा बनता हुआ ी यह अ न अश्व–रूप म परिणत होकर दवताओ के लिए यज्ञ का वहन करने में समथ हाता है। सौरलोक से भूलोक की ओर आनेवाला इ द्रयुक्त ायाग्नि ही अश्वरूप में रिणत होकर वापस लौटता हुआ पार्थिव हवि का द्यु लोकस्थ दवताओ के लिए नक निस्सृतभाग की क्षतिपूर्त्ति के लिए–वहन करता ह। सौर योति [द्रगभित दि याग्नि] अपन सावत्ररूप स भूमि [भूपृ ठ] की ओर आरहा है। जिसप्रकार तरणिकिरण सङ्ग से पानीय पिण्डा मक च द्रमा अद्ध भाग म ी प्रकाशित रहता है एवम यह आगत सौर तज भी भूपृ ठ के सूर्य्योदगनुगत दृश्य अ भूभाग को ही प्रकाशित

करता है शेष अर्द्ध भा अप्रकाशित ही रहता है। इसी दृष्टिकोण स एक ही पृथिवी के दिति अदिति ये दो विवत्त होजाते हे जसा कि **अध्वरन्त त्रिचापपत्ति** में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

भूपण्ड की दाह्य गोचर परिधियों को काटता हुआ आगत सौर प्रकाश वक्रगति मे परिणत होता हुआ साथ ही भच्छाया का स्वरूप समपक बनता हुआ आग निकल जाता है। यदि हम प्रकाश में चलत ह तो हमारी छाया विरुद्ध भाग में पडती है। कारण यही है कि हमारे शरीर से टकरा कर प्रकाशरश्मिया प्रतिफलित होजातीं ह। जैसा आकार छाया का होता है ठीक वसे ही आकार में यद्यपि–प्रकाशरश्मियों का भी प्रतिफलन होता है किन्तु प्रकाशपुञ्ज के द्वारा होने वाले अभिभव से उसका हमें प्रत्यक्ष नही होता। ठीक यही परिस्थिति आगत सौर तेज की समझिए।

सौरप्रकाश भपृष्ठ पर आया गायत्ररूप में परिणत होकर पार्थिवरसरूप हवि को लेता हुआ भ छाया के समतुलन से प्रतिफलित होगया। इस भच्छाया–समतुलता प्रतिफलिता प्रकाशाकृति का सा वत्सरिक तज से अभिभव होजाने से हमें प्रत्यक्ष नही होता। यही प्रतिफलिता प्रकाशाकृति **अश्व** नाम से व्यवहृत हुई हैं। पार्थिव अग्नि इसी नियत स्थिर अश्वाग्निधरातल माग स यजवहन करता है इसी अभिप्राय से— **अश्वो न देववाहन** कहा गया है।

लोक में जन्म जिस (निषेध) अर्थ में **न** कार प्रयुक्त होता है व । मन्त्रमध्य में पठित **नकार** निषेधार्थक न होकर **ओम्** याकारक वाचक भाव से ही स ब ध रखता है *। तभी तो **अश्वो न** का **अश्वो ह् वाऽएष भूत्वा** यह अर्थ हुआ है। तात्पर्य यही है कि **नकार** अभाव का सूचक बनता हुआ अनिरुक्तकोटि में प्रविष्ट है अतएव यह अनिरुक्त प्रजापति का सूचक बन रहा है। प्रजापति (आत्मा) ही तथालक्षणा स्वीकृति के आधार ह। अतएव मध्यस्थ नकार को तद्भावाचक मान लिया गया है। प्रजापति स्वय मध्यस्थ हैं अत मध्यस्थ नकार तथावाचक माना जायगा। यदि ऋगाद्यन्त में न कार पठित है तो उसका निषेध ही अर्थ होगा जसाकि— **न विजानामि यदि वेदमस्मि** इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है॥ २६ ३ ॥

त हविष्मन्त ईडते इस मन्त्रभाग का अर्थ स्पष्ट है। अग्नि की दो प्रकार से उपासना होती है एक **वाचिक उपासना है दूसरी कर्म्मोपासना है**। अग्नि को नमस्कारमात्र कर लेना **नम उक्तिं विधेम** लक्षणा वाचिक उपासना है। भावशुद्धि के अतिरिक्त इस उपासना का अन्य फल नही है। यदि अग्नि को आत्मसात् कर यज्ञकर्म्म के द्वारा विशेष अतिशय प्राप्त करना है तो उस समय केवल वाचिक उपासना से काम नही चल सकता। अपितु उस समय कर्म्मोपासना ही करनी पडेगी अग्निसमिन्धन ही करना होगा इसे तृप्त करने के लिए हवि प्रदान भी करना पडेगा। इस हवि से यह अग्नि द्युलोकपर्य्यन्त वितत होगा जिस इस वितान को ही **स्तुतिकर्म्म** कहा जाता है। वाचिकोपासना की अपेक्षा जहा अग्नि

***–"ओमित्यच प्रतिगर तथेति गाथाया। ओमिति वै देव, तथेति मानुषम्"**

—ऐ ब्रा ७।१६।

नमस्य कहलाया है व । स क र्मोपासना की दृष्टि स न्से **इड्य** कहा गया है । वही प्रकृत म प्रधानरूप से अपेक्षित है । **ह्यनष्म नो ह्य त मनुष्या ईडते** यह मन्त्रभाग अग्निदव का स कर्म्मोपासना का ही स्पष्टीकरण कर रहा है अ र यही प्रकृत मन्त्रभागो की साक्षात उपपत्ति ह ॥ ३१ ॥

वृषो अग्नि समि यते इ याद ६ ठी सामधेनी के अनुवचनान्तर वह होता क्रमप्रा त वी [आवृ यानुसार ६ ी] वृषएव तत्रिच की तीसरी निम्नलिखित ऋचा का अनुवचन करता है—

(७)—'ओम् वृषण त्वा वय वृषण समिधीमहि ।
अग्न दीद्य त बहत् ओम्' इति ॥ (६)-(३)

यज्ञसम्पत्तिवषक यज्ञधिपति वृषा न्द्र स यज्ञसम्पत्तिवषक बनते हुए य वृषा (वृषात्मक) अ निदेव आज (उक्त सामिधेनियो से) पूणरूप से समृद्ध हागए है । द्य लाकस्थ इन्द्र क बृहत् साम सम्बन्ध से बृहत् बन गए है यह भाव प्रकट करता हुआ प्रकृत मन्त्र अग्नि के वृषा मकरूप का ही स्पष्टीकरण कर रहा है ॥ ३२ ॥

उक्तरूप से तीनो मन्त्रो की समष्टि वृषएव त त्रिच बन रही है । इसका एकमात्र फल है—दि याग्नि का यज्ञपति वृषा इन्द्र की स पत्ति से युक्त करना । ३३ वी कण्डिका स इसी फल का स्पष्टीकरण हुआ है ॥ ३३ ॥

वृषएव त त्रिच के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्रा त आठवी [आवृ यानुसार १ वी] निम्न लिखित ऋचा का अनुवचन करता है

(८)—"ओम्-अग्नि दूत वृणीमहे होतार विश्ववेदसम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्-ओम्' ॥ (१०)

मन्त्र का **अग्नि दूत वृणीमहे** वाक्य एक मह वपूर्ण विज्ञान का स्पष्टीकरण कर रहा है । पार्थिव दि याग्नि होता कैसे कहलाया ? इस प्रश्न के समाधान के साथ साथ ब्राह्मणश्रुति ने पृथिवी की दनन्दिनगति का स्पष्टीकरण करते हुए सा वत्सरिकगति का भी विश्लेषण किया है । उसी का सक्षिप्त वैज्ञानिक स्वरूप पाठको के सम्मुख उपस्थित किया जारहा है ।

भौतिक पदार्थों को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखने वाली न्हके जीवन साधक आदा विसर्गा मक यज्ञ क म का नियतकाल पर्य त सञ्चालन करने वा ी अ त शक्ति ही विज्ञानभाषा में **प्राण** नाम से यवहृत हुइ है । **विरूपास इदृऋषयस्त इदुगम्भीरवेपस** [ऋक्स] इस ऋग्वर्णन के अनुसार ये शक्ति रूप प्राण अन त है । प्राणो का आन य ही भतपदार्थों के आन य का का ण हैं । अधामच्छदवर्म्मा इन अन त प्राणों में से प्रकृत में हमें **सोर-पार्थिव** इन दो प्राणो की ओर ही विशेषरूप से पाठको का यान आकर्षित करना है । सूर्य स्व योतिघन है अत व इसका प्राण ज्योतिष्मान् माना गया है । एव रूप योतिर्घना

पृथिवी का प्रातस्विक प्राण कृ ा माना गया है। योतिम्मय प्रकाशित प्राण ही देव नामक दवता है एव तमोमय अप्रकाशित पाथव प्राण ही **असुर** है। **तम असर है एव या ति देवता है।**

यह ठीक है कि आर भ मे स पर्ण भूपिण्ड इसके प्रातिस्विक तमोमय आसुर प्राण स ही युक्त था। जब पृथिवी बनी ही होगी उस समय अवश्य ही असुरो के मुख स **अस्माकमेवेद खलु भुवनम** ये वाक्य निकले होगे। परतु आज तो ऐसा नही ह। आज भूपिण्ड पर असुरो की भाति दि य सौरप्राणा मक दवताओ का भी साम्रा य है। दवताओने ज्ञ वष्णु को आगे कर यज्ञ याज से आधा भप्रदेश अपने अधिकार म करलिया है जिसकाकि पूव के **वेदनिम्मार्णब्राह्मण** में विशदरूप से विवचन किया जाचुका है *। यही क्यो आज ता सम्व सरचक्र की दृष्टि से स पूर्ण भापण्ड दवताओ के ही अधिकार में आगया है। तभी तो दायविभागप्रतिपादिका श्रुति का— **तेनेमा सर्वा पृथिवीमविद त** यह कथन अन्वथ बन रहा है।

भपिण्ड के साथ सौरप्राण का भा सम्ब व होरहा है साथ ही उसका अपना प्राण भी इस पर बल-प्रयोग कर रहा है। पार्थिवप्राण इसे [भूपिण्ड को] अपनी ओर [सू यनिरुद्धदिक् में] ले जाना चाहता है तो सौरप्राण अपने आकषण से इसे अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है। दोनो प्राणो का समानाकषण है। इस समानाकषण से भूपिण्ड आजतक उसी स्थान पर घूम रहा है। इसी स्वाक्षपरिभ्रमण से दनदिनगति का उदय हुआ है। इसी दनदिनगति स अहोरात्र का ज म हुआ है। घूमते हुए भूपिण्ड का सूय्य-प्रकाश की ओर आजाना अह काल का ज म होना है एव सूय्यनिरुद्धदिक में आजाना रात्रिकाल का ज म होना है। अह काल में दवता उस आधे भूपिण्ड पर अपना अधिकार कर लेते है तो रात्रि में उसी अर्द्ध-भाग पर असुर अपना अधिकार जमा लेत है। इसप्रकार अहोरात्ररूप से देवता-असुर दोनो में परस्पर प्रतिस्पर्द्धा चलती रहती है। इसप्रकार इस स्वाक्षपरिभ्रमणमूला दनदिनगति की दृष्टि स भूपिण्ड दोनो का भोग्य वना रहा है।

आगे जाकर साम्व सरिकगति के प्रभाव से भूपिण्ड असुरो के अधिकार से निकलकर केवल देवताओं की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति बन जाता है। **अश्वो न देववाहन** इ यादि मन्त्रोपपत्ति मे यह स्पष्ट किया गया है भूपिण्ड में दिति-अदिति नामक दो भाव उ पन्न होते है। भूकेन्द्र से आर भ कर सूर्यदिग् विरुद्धदिक् की ओर या त तेजोमण्डलाकार से समतुलित भूच्छाया-मण्डल ही दिति है। एव

---

* देवाश्च वाऽअसुराश्च उभये प्राजाप या पस्पृधिरे। ततो देवा अनु यामि-वासु। अथ हासुरा मनिरे 'अस्माकमवेद खलु भुवनमिति'। तद्ध देवा शुश्रुवु विभ ज ते ह वा इमामसुरा पृथिवी, प्र त-तदेष्यामो यत्रमामसुरा विभज ते। के वय तत स्याम यदस्यै न भजमहि इति। ते यज्ञम व विष्णु पुरस्कृत्येयु। तेनेमा सर्वा पृथिवी-मविदन्त। तस्माद्व दिर्नाम। तस्मादाहु-यावती वेदिस्तावती पृथिवी (शत० १।२।-२।१-१२)।

सौरमण्डलानुगत सौर प्राणकलित पार्थिव यातिर्भाग ही अदिति है। भू छाया भी भूपिण्ड से सलग्न है तो भूप्रकाश भी भूपिण्ड से सलग्न है। भूप्रकाशमण्डलमण्डला आत्म यातिर्मय इन्द्रिय प्राण का साम्रा य है। एव भू छायालक्षणा दिति में तपोमय आसुर प्राण प्रतिष्ठित है। दोनों ही प्राण भौम-हृत्प्रजापति से स बध रखते हुए प्राजापत्य है। यह स्थिति है और इसी को ल य में रखते हुए श्रुति ने कहा है—

देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे ।

देवता और असुर दोनों इसी पृथिवी पर खडे होकर स्पर्द्धा करने लगे। दोनों के इस स्पर्द्धालक्षण क्लेश को शा त करने के लिए दोनों के बीच में गायत्री खडी हो गई। यह गायत्री पृथिवी ही है यह कथन अदिति दिति का स्वरूप न जानने वालो के लिए कुशङ्का का प्रवर्त्तक बन रहा है। आख्यानो की रहस्यभाषा से अपरिचित वर्त्तमान युग के कतिपय जिज्ञासु सम्भवत यह कुतर्क उठावेगे कि— **जब देवता और असुर दोनों इसी पृथिवी पर खडे थे तो दोनों के बीच में कौनसी पृथिवी खडी हुई? । यदि यही पृथिवी खडी हुई तो ये दोनो वर्ग किस पर खडे हुए ।** परन्तु जब इन दिति-अदिति का स्वरूप ज्ञान हो जाता है तो कुशङ्का का को अवसर नही रहता। जिस पृथिवी पर देवता-असुर खडे होकर स्पर्द्धा करते हैं—वह भिन्न है एव जो पृथिवी दोनो के म य में खडी होती है—वह पृथिवी भिन्न है।

भूपिण्ड के चित्य-चितेनिधेय भेद से दो विवर्त्त होजाते हैं। म यात्मक भूपिण्ड मर्त्या पृथिवी है यही अस्मदादि की प्रतिष्ठाभूमि है। इसे ही **भूमि** कहा जाता है। इस भूमिलक्षण भूपिण्ड का निर्माण-स्वरूपस्थिति-जिन द्रव्यो से हुई है वे द्रव्य **आप —फेन मृत्-सिकता शर्करा-अश्मा अय-हिरण्य** इन आठ भागों में विभक्त है (द्रष्टव्य शत ६। १। २। ६।)। इन आठ द्रव्यो की क्रमिक चिति से ही भूपिण्ड का स्वरूप निर्माण हुआ है। छन्दोविज्ञान के अनुसार प्रत्येक द्रव्य एक एक अक्षर से समतुलित है। फलत आठ द्रव्यो के स बध से वाक्परिमाणात्मक छन्द के आठ अक्षरो का सग्रह होजाता है। अष्टाक्षरछन्द का ही नाम गायत्री है। इसी छन्द सम्पत्ति के कारण इस अष्ट यात्मक भूपिण्ड को श्रुति ने **गायत्री** कहा है अतएव **या वै सा गायत्री आसीत् इय वै सा पृथिवी** यह कहा गया है। यहा पृथिवी श द चित्य पृथिवी लक्षण **भूपिण्ड** के अभिप्राय से ही प्रयुक्त हुआ है।

दूसरी चितेनिधेया पृथिवी है। भौम आग्नेय प्राण उक्थरूप से भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित रहता हुआ अर्करूप से भूपिण्ड से निकल कर अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाता है। जहातक उस पार्थिव प्राण की व्याप्ति है वहातक **अप्रथयत्** लक्षणा **अमृता पृथिवी** की सत्ता मानी गई है। अमृतापृथिवी के सौरप्राण के सम्ब ध से आगे जाकर **दिति अदिति** रूप से दो विवर्त्त होजाते हैं आगत सौरप्राण भूपिण्ड से टकराकर प्रतिफलित होता हुआ भूछाया से समतुलित अपना जो ज्योतिर्मय मण्डल बनाता है वह अमृता पृथिवी का भाग सौरप्रकाश से अविच्छिन्नरूप से सम्बन्ध रखता हुआ **अदिति** भाग है। एव इस प्रकाशमण्डल से समतुलित भू छाया मण्डल अमृतापृथिवी का सौरप्रकाश से वञ्चित भाग दिति है। अदिति-

भाग में आदित्य (योति मय देवता) प्रतिष्ठित हैं एवं दिति भाग में दैत्य (तमोमय असुर) प्रतिष्ठित हैं। इसप्रकार अमृता पृथिवी के दित अदित भागो में प्रतिष्ठित असुर एवं देवताओ के बीच में म य गायत्री नामक भूपिण्ड प्रतिष्ठित है।

भूपिण्ड के उस ओर (सूर्य की ओर) भूपिण्ड से सलग्न देवमय ज्योतिर्मण्डल है इस ओर (सूर्यावरुद्धदिक की ओर) भूपिण्ड से सलग्न असुरमय तमोमण्डल है एव दोनो के म य मे चित्य भूपिण्ड प्रतिष्ठित है। इसी स्वाभाविक स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

'देवाश्च वा असुराश्च –उभय प्राजापत्या पस्पृधिरे। तान् स्पर्द्धमानान् गायत्री अन्तरा तस्था। या व सा गायत्री–आसीत् इय व सा पृथिवी। इय हैव तद् तरा तस्था"।

उक्त स्थिति को लक्ष्य मे रखते हुए ही आगे की श्रुति का समन्वय कीजिये। दोनो की स्पर्द्धा होरही है। दोनो के म य मे गायत्री (भूपिण्ड) खडी है। दोनो यही चाहते है कि यह गायत्री हमारी ओर आजाय। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए गायत्री के समीप दोनो अपने अपने दूत भेजते हैं। देवताओ के दूत **अग्नि** हे एव असुरो के दूत **सहरक्षा** है। अदितिलक्षण ज्योतिर्मय मण्डल में प्रतिष्ठित ज्योतिर्मय अग्नि **अग्नि** नामक देवदूत है। **रक्ष** का ही नाम **भस्म** है। यह भस्म निदानेन भच्छाया का प्रतिरूप है। दितिलक्षण तमोमय मण्डल में प्रतिष्ठित तमोमय अग्नि ही **सहरक्षा** नामक असुरदूत है। लोक में भी प्रज्वलित अग्निज्वाला को हम अग्नि कहेंगे एव भस्मनिगूढ अग्नि को सहरक्षा कहेंगे। दिव्यप्राण की अपेक्षा आसुरप्राण बलवान् होता है। यही कारण है कि ज्वालाग्नि की अपेक्षा भस्माग्नि अधिक बलवान् होता है।

भूपिण्ड स्वाक्षपरिभ्रमणलक्षणा दैनन्दिनगति का अधिष्ठाता बन रहा है। दोनो प्राणों का समानाकर्षण होरहा है। परिणाम इस प्राथमिक स्थिति का यह होरहा है कि भूपिण्ड अभी किसी ओर नही जारहा। इस का एकत गमन तभी सम्भव होसकता है जब कि दोनो प्राणगतियो में से एक प्राणगति बलवती बन जाय। समानप्राणसघर्ष से तो उसी प्रकार स्थिति का उदय होजाता है जैसे कि समानबल वाले दो मल्लो के आकर्षण से आकर्षित रस्सा पूर्व पश्चिम किसी ओर न जाकर म य में ही स्थिर होजाता है। यह बलाधान सुप्रसिद्ध गतिधर्म्मा सौर–इन्द्र के अनुग्रह पर निर्भर है। सौर इन्द्रप्राण उस अदितिमण्डल के द्वारा आता हुआ तत्रस्थ देवदूत अग्नि में अपनी आकर्षणशक्ति का आधान करता है। इस गति से बलवान् बनता हुआ आग्नेयप्राण आसुर–प्राणगति का आकर्षण शिथिल कर देता है। परिणामत भूपिण्ड असुरो की ओर (पश्चिम की ओर) न जाकर देवताओ की ओर (पूर्व की ओर) आता हुआ सम्वत्सरगतिरूप में परिणत होजाता है। इन्द्र ही भूपिण्ड की सांवत्सरिक गति का मुख्य कारण है। इधर प्राकृतिक दिव्यानि इम वृषेन्द्र से नियुक्त रहता है। **या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत्** के अनुसार बलकृतिलक्षण वृषेन्द्र के सहयोग से ही भूपिण्ड का देवमण्डल की ओर आकर्षण होजाता है। भूपिण्ड स्वाक्षपरिभ्रमण करता हुआ पूर्व की ओर चल पडता है। इसी गतिविज्ञान को लक्ष्य में रखते हुए ऋषि ने कहा है—

यज्ञ इ द्रमवर्द्धयत्, यद् भूमि यवर्तयत् ।
चक्राण ओपश दिवि" ॥ (ऋकस ८।१४।५।)

सा थ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पश्चिमदिगनुगता यह आसरप्राणगति ही भापएन्ड को सूर्य गोलगभ में जाने से रोक रही है । यदि पश्चिमाकषण न होता तो पूर्वाकषण स आकर्षित भापएड स्वस्थान से युत होता हुआ अवश्य ही सूर्यगोलकगभ म विलीन होजाता । पाश्चिमाकषण है इसलिए तो भापएड स्वस्थान (**क्रान्तिवृत्त**) को नही छोडता । पूर्वाकषण प्रबल है इसलिए पश्चिम की ओर सीधा नही चला जाता । क्या पूव की ओर सीधा जाता है ? नही । सी आसुरप्राणाकषण स भूपएन्ड सीधा न जाकर तिर्य्यक जाता है । क्या भापएड सवथा तिर्यक जाता है ? नही । इसी इद्रप्राणाकषण से तिर्यक जाते हुए भूपएड की परिभ्रमण बिन्दु-बिन्दु पूव की ओर आकर्षित होती रही है जिसका **सम्वत्सर** शब्द स स्पष्टीकरण होरहा है ।

शब्द है वास्तव में **सव सर** । पर तु परोक्षप्रिय दवताओं का परोक्षभाषा में यह **सम्वत्सर** ही **सवत्सर** नाम स व्यवहृत हुआ है । भूपिण्ड जिस वृत्त (क्रान्तिवृत्त) पर परिक्रमा (सा व सारकगात) लगा रहा है उसकी बिन्दु बिन्दु कटिल है । गोलवृत्त का निर्माण इसी त्सर भाव से होता है । सर्वत सरभाव (कुटिल भाव) ही सवत्सर है (**त्सर छद्मगता**) । यही सवत्सर है । सवत्सर नाम के सम्बन्ध से यह व्युत्पत्ति होगी कि भूपिण्ड एकत्र (सम्) बसता हुआ (वसन्) कुटिलरूप से पूव की ओर बढ रहा है ।

देवदूत अग्नि के इस इन्द्राकषण सहयोग का फल यह निकला कि सम्पूर्ण भूपिण्ड दवमय लोप लक्षित दिव्य आग्नेय सवत्सर का अनुगामी बन गया । यही दिव्य आग्नेय देवताओं का विजय कहलाया एव तमोमय आसुरप्राणों का पराजय कहलाया । जिधर अग्नि अग्रसर था उसी ओर भापएड अग्रयुन्मुख बना यही निष्कर्ष है । यही स अग्नि का दौत्यकर्म्म है । **इसीलिए यह अग्नि दवताओं का दूत कहलाया है** । जो यजमान देवदूत अग्नि का उक्त गति-रहस्य जानता है साथ ही जिस यजमान का होता अग्नि के इस दूतस्वरूप को जानता है वह अपने यजमान के लिए लोकस पत्ति असपन्न बना देता है । मन्त्र का दूसरा भाग है- **होतार विश्व वेदसम्** यह ॥

इसके सम्बन्ध में कापानकोन एक नई उपपत्ति की कल्पना करते हुए मौलिक उक्त मन्त्र भाग में— **होता यो विश्ववेदसम्** इस परिवर्तन की कामना प्रकट की है । कल्पना का उपहासास्पदरूप यही है कि- **होतार** का **होता अरम्** यह भी छेद सम्भव है । **अर** शब्द **अल** अर्थ का भी बोधक है । सम्पत्ति का आगमन होता है अग्नि के द्वारा । उस सम्बन्ध मे- **अलम्** बोलना सम्पत्ति का ही निरोध करना है । इस **अल-भावात्मक अर** स सम्पत्ति निरोध न होजाय अथवा स्वय होता अग्नि का अलभाव (आगमन-निरोध) न होजाय इसके साथ ही अनुवचन करने वाला होता अपने आप को समाप्त न कर बैठे इसलिए **होतार** के स्थान में **होता यो** इत्यादि रूप स परिवर्तन कर डालना चाहिए ।

उक्त मानुष-कल्पना का श्रुति ने आमूलचूड खण्डन करते हुए कहा है कि यज्ञमन्त्रों में यज्ञ त कर्त्तव्यताओं में अपनी मानुष-कल्पना के द्वारा काल्पनिक उपपत्तिया मानते हुए परिवर्त्तन कर डालना यज्ञ स्वरूप का नाश ही कर लेना है । आज भी तो ऐसे कल्पनारसिकों की कमी नही है । भारतवर्ष के गौरवभूत

नित्ययज्ञाधार पर प्रतिष्ठित वधयज्ञो को वायुशोधक मानने की कपना करते हुए जो महाशय चिरंतन पद्धातयो स विरुद्ध केसर कपूर–गोला आद का आहुतिद्रव्य मानने की धृष्टता कर रहे है क्या व यज्ञकम्म के शत्रु नही ह ? । ऐस ही का पानदो का प्रबोधन करवाती हुइ श्रुत कहती है कि कम्मठ को चाहिए कि वह जसा विहित है वैसा ही करे । अप नी कपना स उसम अणुमात्र भी परिवत्तन न करे । तभी यज्ञ के द्वारा अभीष्टसिद्धि सम्भव है । इसी आदश के साथ फलोपसहार करती हु ३४–३५ कण्डिकाए उपरत हुइ हैं ॥ ३४ ३५ ॥

मूलानुवाद में स्पष्ट कया गया है कि अग्नि दूत इयादि को आठवी मान कर ही अनुवचन करना चाहिए । ऐसा करने स साक्षात् रूप स अष्टाक्षर गायत्रीछद स छन्दित गायत्राग्नि स पत्ति का यज्ञ मे समह होजाता है । जो महानुभाव काम्येष्टि स सबध रखने वाली दो धा या ऋचाओं का समावश इस स पहले करत है साथ ही का पनिक उपपत्ति बतलाते है व गायत्र स पत्ति से विमुख होत है । अत धाय्या–ऋचाओं का समावश इस आठव मत्र स आग ही होना चाहिए ॥ ३ ॥

यदि दशपूर्णमास के साथ का येष्टि भी अपेक्षित है तो उस दशा म १५ क स्थान मे १ ामिधे निया होती ह । इसके लिए २ मत्रो का ऊपर स सम्ब ध किया जाता है एव नके अनुवचन का समय यही माना गया है । (का येष्टि स्ग्रह पक्ष म) अग्नि दूत के अनन्तर पाहो समि यमानो अध्वरे इस ऋचा का अनुवचन होता है अन तर धाय्या नामक दोनो ऋचाओ का अनवचन हाता है । अनन्तर समिद्धो अग्न आहुत इयादि का सर्वात में आजुहोता दुवस्यत का निरावृत्तिपूर्वक अनुवचन होता है जसाक मूलानुवाद में स्पष्ट कर दिया है ।

(केवल दशपूर्णमासपक्ष में १५ सामिधेनी ही विहित है । इस पक्ष में) अग्नि दूत के अनन्तर जिन तीन ऋचाओं का क्रमश अनुवचन होता है उनकी समष्टि अध्वरव तत्रिच नाम स प्रसिद्ध है । समिध्यमाना अ वरे — समिद्धा अग्न आहुत आजुहोता दुवस्यत तीनों मत्रो की समष्टि ही अध्वरवत्तत्रिच है । तीनो मत्रो के सबध मे कोइ विशेष वक्त य नही है । अ वरस पत्तिप्राप्ति ही अ वरवत्त–त्रिचानवचन का मुख्य फल है । इसप्रकार उक्तरूप स इन १५ सामिधेनियो का अनवचन होता है । इस अनवचन से अध्वर्यु क द्वारा रुद्ध अग्नि समिद्ध (दिव्य तेजोयुक्त) बन जाता है यही समिद्ध अग्नि देवयजन की मूलप्रतिष्ठा है ॥ ३८ ३९ ४ ॥

चौथे अध्याय मे पहिला, तथा तीसरे प्रपाठक मे तीसरा ब्राह्मण समाप्त
सामिधेनी–ब्राह्मणानुगत–द्वितीय ब्राह्मण अत्र–उपरत
२

— —*— —

चौथे अध्याय मे दूसरा तथा तीसरे प्रपाठक मे चौथा ब्राह्मण सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत तृतीय-ब्राह्मण

३

अथ-निगदानुवचनकर्म्मोपपत्ति

मन्त्रशक्ति के द्वारा आहवनीय में प्रतिष्ठित इस दिव्याग्नि का यही मुख्य कर्म है कि इस जिस देवता के लिए आहुति डाली जाय उसका विशकलन कर अग्निदेवता स्वलोक की ओर जाते हुए उस देवता तक पहुचाते हुए इस अन्न के सम्बन्ध से यजमान के मानुषात्मा के साथ उस दिव्यप्राण का सम्बन्ध करादे। कैसा महत्त्वपूर्ण तथा शक्तिसापेक्ष कार्य है। सामिद्ध अग्नि आज थोड़े ही समय में इस दुरूह कर्म्म में प्रवृत्त होने वाले हैं। इससे पहिले गुण वीर्य परिचायक निगदपाठ से इस अग्नि को उत्साहबल से युक्त करना ही प्रकृत कर्म्म की मुख्य उपपत्ति है।

लोक में इस वाग्वीर्य्य का हम अद्भुत चमत्कार देखते हैं। कर्णार्जुन का युद्धप्रसङ्ग इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण है। शल्य के अनुत्साहपूर्ण वाक्यों से महावीर भी कर्ण मन्दोत्साह होते देखे गए हैं। कारण यही है कि **अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्** इस सिद्धान्त के अनुसार वागिन्द्रिय अग्निप्रधान है। इसके प्रयोग का फल अवश्य ही शारीराग्नि पर पड़ता है। यदि हमें कोई निरन्तर **कायर** कहता रहे तब भी कालान्तर में हमारा अग्निबल मन्द होजायगा। साथ ही यदि हम स्वयं भी अपने आपको धिक्कृत करते रहेंगे तब भी हमारी वही दशा होगी। इसी आधार पर- **नात्मानमवसादयेत्** आदेश विहित है। ठीक इसके विपरीत यदि हम किसी के प्रति उत्साहवर्द्धक शब्दों का प्रयोग करते रहेंगे साथ ही हम स्वयं भी अपने लिए यदि पौरुषसमर्थक शब्दों का प्रयोग करते रहेंगे तो इस वाक् प्रयोग से तत्समतुलित हमारा शारीराग्नि अवश्य ही वीर्य्यशाली बन जायगा। इसीलिए धर्मशास्त्र ने यह आदेश दिया है कि **न तो हम दूसरों के लिए ही अशुभ वाणी का प्रयोग करना चाहिए न अपने लिए ही अशुभ शब्द बोलने चाहिए।**

कभी कभी यह भी देखा गया है कि मनुष्य को अपनी शक्ति का स्वयं बोध न होने से वह असमर्थ-सा बना रहता है। यदि कोई अन्य व्यक्ति वाग्द्वारा इस प्रबुद्ध करता है तो उसकी सुप्त शक्ति प्रबुद्ध हो-जाती है। भगवान् मारुति इसी सम्बन्ध में प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। वाग्द्वारा यशोकीर्तन से वीर्य्य का आधान होता है और अवश्य होता है यही वक्तव्य है। जब लौकिक वाक् में यह शक्ति है तो उस दिव्यवाक् (मन्त्रवाक्) का क्या कहना जिसका स्वरूप-निर्माण तत्त्वों के अनुरूप हो हुआ है। होतृलक्षण गुरुतम कार्य्य में नियुक्त करने से पहिले अग्नि में उसी स्ववीर्य्यजागृति के लिए साथ ही मन्त्रों के द्वारा और भी शक्ति समावेश के लिए यह **निगदानुवचनकर्म्म** होता है ॥ १ ॥

प्राकृतिक प्राणदेवता नि य वण यवस्था के अनुसार **ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र** भेद से चार भागो मे विभक्त है। **अग्नि ब्राह्मण है इन्द्र क्षत्रिय हैं विश्वेदेव वश्य है एव पार्थिव पूषाप्राण शूद्र** है। ये ही चारो आधि ात्विक दवता क्रमश **ब्रह्म–क्षत्र–विड्वीर्य्यो क एव शूद्रलक्षण पशुभाव के प्रवत्तक माने गए हैं**। पार्थिव प्रजा में जिसमें जिस वण के दवता का प्राधा य रहता है वह उसी वण की प्रजा कहलाती है। यही भारतीय वण व्यव था की प्राकृतता नि यता तथा ज मानुरू ता है जिसका कि विशद वैज्ञानिक विवचन **गीताविज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीयखण्ड कम्मयोगपरीक्षा मक ख विभाग क वण यवस्थाविज्ञान** प्रकरण में हुआ है।

उक्त चारो वर्णों म ब्रह्मवीर्य्यप्रवत्त क ब्राह्मणवण सर्वोत्कृष्ट माना गया है। इसी वण के आधार पर इतर तीनो वण प्रतिष्ठित है यही ब्राह्मणवर्णा मक होता अ निदव का महान् उत्कष है। इसी ब्रह्मवीर्य्य के प्रभाव से ब्राह्मण अग्नि होतृकम्म म समथ हुए हैं। वीर्य्यापेक्षया जहा अग्नि वणत ब्राह्मण हैं वहा क र्मा–पेक्षया ये ही अ नि **भारत** नाम स प्रसिद्ध है। पार्थिव ह य का वहन कर इसके द्वारा द्यु लोकस्थ देवप्रजा का भरण पोषण क ना भी इन्ही का काम है। एव वश्वानराग्निप्राणरूप से पार्थिव प्रजा की अ यात्मसस्था में प्रतिष्ठित होकर अपने स्वाभाविक अ नादध म स अ नाकषण के द्वारा पार्थिव प्रजा का भरण पोषण करना भी इन्ही का काम है। **इसी भरणकम्म से इन्हे भारत कहना अ वथ बन रहा है**। जा त्रलोक्य–प्रजा के भरण–पोषण करने में समथ हैं उनके उत्कष का क्या बखान करें। तभी ता ये होतृ व जैसा गुरुतम काय्य करने में समथ है।

अष्टविध दव यवस्था के अनुसार (जिसका विज्ञानभाष्य–प्रथम–खण्ड में विशद वज्ञानिक विवचन किय जाचुका है) किसी समय इसी भूपृ ठ पर त्रलोक्य यवस्था थी। पृथ्वी–अ तरिक्ष–द्यौ तीनो लोक प्रकृतिवत् यहा भी व्यवस्थित थ जिसे **भौमत्रिलोकी** कहा जाता है। दक्षिणसमुद्र स आर भ कर हिमालय पर्य्यन्त सम्पूण प्रदेश उस समय का पृथिवीलोक था अलतायीगिरि से आरम्भ कर उत्तर समुद्र पर्य्य त सम्पूण प्रदश द्यु लोक था एव हिमालय से आर भ कर अलतायी पवता त मध्य प्रदेश अ तरिक्षलोक था। तीनो के क्रमश **अग्नि इन्द्र वायु शवसोनपात्** देवता थ। इसीलिए तीनो को **अग्निलोक इन्द्रलोक वायुलोक** नामो से भी यत्र–तत्र यवहृत किया गया है।

पृथिवीलोक ही इस अग्निदेवता के सम्ब ध से **भारतवष** कहलाया है। पार्थिव प्रजा से कर ग्रहण कर भौम देवलोक में पहुचाना भी इन्ही भौम अग्नि का काय्य था साथ ही **वामदेव ओङ्कार** आदि अ ना यज्ञो के द्वारा य ा की प्रजा की अत्र यवस्था करना भी इन्ही का काय्य था। इन्ही कर्म्मो से ये **भारत** इस उपाधि–नाम से विभूषित किए गए। इन्ही के इस **भारत** नाम से यह पृथवीलोक **भारतवष** कहलाया। **दौष्य ति भरतादि के सम्ब ध से जो इस देश का नाम–करण बतलाया जाता है वह कवल भरत का यशोगानमात्र है। वस्तुत भारतवष सज्ञा की मूलप्रतिष्ठा भौम भारत नामक अग्निदेव ही है।** इसप्रकार **अधिदैवत अ या म अधिभूत** तीनों पक्षो में उक्त निगदम त्र का सम वय होरहा है जो कि निगदम त्र उपस्तुतिपरक माना गया है। क्यो निगदा–नुवचन किया जाता है? इस प्रश्न की यही सक्षि त उपपत्ति है ॥ २ ॥

अथ-प्राषेयानुवचनोपपत्ति

निगदानुवचनान तर वह होता अमुकस्य पात्र इ यादि रूप स आपयम त्र का ऊह कर आष-यानुवचन करता है। इस का एकमात्र यही प्रयाजन है कि स स इस का महत्त्व ही बतलाया जाता है। ऋषिवंशपर परा ही इस मह व स्यापन का मूल है। इस विषय का वज्ञानिक विवचन पृ न पारब्राह्मण म किया जायगा ॥ ३ ४ ॥

अथ-निवित्पाठ

आर्षेयानुवचनानन्त वह होता निवित्पाठ क ता है। सामिधनी के द्वारा सामिद्ध अग्नि निन भिन्न गुण क र्मादि विशिष्ट धम्मा से युक्त ह उनका यश स्यापन (बखान) करते हुए अ ि नि का अनुग्रह प्रा त करना ही प्रकृत निवित्पाठ का मुख्य उद्द श्य है।

प्रकृति में नि यज्ञ होरहा है इसी नित्ययज्ञ स सृष्टि का स्वरूप सुरक्षित है। भौम मनु यावच दव-ताओंन ही सवप्रथम इस यज्ञरहस्य का स्वरूप पहिचाना। पहिचा कर उन्होंन ही सवप्रथम अरणिम थन नामक प्रक्रिया विशेष स वैध अ नि उ प न कर उसका समि धन किया। इस सामिद्ध वध अग्नि स प्रकृतिवत् यज्ञवितान किया। इसप्रकार इस वधयज्ञकम्म के प्रथमावि कार का श्र य भौम दवताओं को ी मिला । तभी स यह समिद्ध अ नि- देवेद्ध नाम से व्यवहृत हुआ।

भारतवष में स्वप्रथम यज्ञकम्म वितान का श्र य मिला अयो याधिपति महाराज ववस्वत मनु को जिनका प्रातिस्वक नाम था श्रद्धादेवमनु जो कि भारतवष की मानव प्रजा के प्रथम सम्राट थे । तब से देवेद्ध के साथ साथ समिद्ध अग्नि मा नद्ध नाम स भी यहृत होने लग ॥ ५ ॥

ब्राह्मण स प्रदाय ने अपने पूवज महर्षियों की पर परा से अ निवितानलक्षणा अग्निस्तुति का अनुग मन किया। इस ब्राह्मणस प्रदाय की अपेक्षा स साक्षात्कृतधर्म्मा भारतीय महर्षि हो इस अग्नि (अग्नियज्ञ) के प्रथम स्तोता (वितानकर्त्ता) माने गए। अतएव ये अग्नि आगे जाकर ऋषिष्टु त नाम से प्रसिद्ध हुए ॥ ६ ॥

ऋषिप्राणरह यवेत्ता ये महर्षि ही विप्र नाम स प्रसिद्ध है। भौमदेवताओंन जिस अग्नि का सर्वप्रथम समि धन किया तदनुरूप वैवस्वत मनु ने भारतवष मे जिस अ ा न का समि धन किया उस अ ि न का वितान करते हुए भारतीय महर्षियोंन हृदय स इनका अनुमो न किया उन्होंन भा इस (आग्नमय यज्ञ को) सर्वा-भीष्ट फलप्रदाता मानते हुए इस यज्ञकम्म का अनुगमन किया। अतएव अग्निदेव- विप्रानुमदित नाम से भी प्रसिद्ध हुए ॥ ७ ॥

साक्षात्कृतधर्म्मा क्रा ित र्शी महर्षि ही तो कवि है। उन्ह न सुप्रास शस्त्रकम्म के द्वारा इस अग्नि का शंसन किया इसलिए ये आग्नदव कविशस्त नाम से भी प्रसिद्ध हुए। जिस यज्ञकम्म स जिस देवा त्मा का वरूप उ पन्न किया जाता है उस यज्ञकम्म में- शस्त्र स्तोत्र ग्रह नामक तीन कम्म किए जाते हैं।

ऋक् से शस्त्रकम्म होता है साम से स्तोत्र होता है एव यजु से ग्रह होता है। प्रजास्वरूप निम्र्माण म उपादान द्र य उसका अवयव-निम्र्माण एव स्वरूप सम्पत्ति ये तीन क म अपेक्षित हैं। गर्भाशयगत शोणिताग्नि मे शुक्राहुति देना ही ग्रहकम्म है। शुक्रात्मक ग्रह ही प्रजा का उपादान है। सिक्त रेत का अवयवविशेषरूप से काटछांट रूप मे परिणत होना ही शस्त्रकम्म है। १ मासानन्तर स्वरूप निम्र्माण का अवसान होजाना ही स्तोत्रकम्म है। व ही तीनो प्रजनक म इस यज्ञ मे किए जाते हैं जिनका स्वरूप परिचय भा यार भ के उपोदघात प्रकरण में ही कराया जाचुका है। यजुर्वेदी अ वर्यु यजु स जो आहुति देता है वही ग्रहकम्म है। आहुतरूप यह ग्रह ही उपादान है। ऋ वेदी होता ऋक से शसन क ता हुआ शस्त्रकम्म का प्रवत्त क बनता है। सिक्त रेत स्थानीय ग्रह की शस्त्रवत् काटछांट करना इस से उसमें अवयव विशेष स्थापित करना होता का ही काम है। सामवेदी उद्गाता सामगानलक्षण स्तोत्रकम्म से इसे दैना मस्वरूपमें वितत करता है। प्रकृत का निवित्पाठ क्योंकि होता कर रहा है एव शसनकम्म क्योंकि होता का प्रातस्विक कम्म है अतएव यहा अग्नि के लिए- कविशस्त क ा गया ह ॥ ८ ॥

पार्थिव महिमामण्डल म यास इस होतृक र्मा यज्ञ प्राणाग्नि का उत्तरोत्तर सुतीक्ष्णभाव में परिणत होना भूकेद्रस्थ उक्थात्मक ब्रह्माग्नि की ही कृपा का फल है। अग्नित व विकास ध र्मा है। इसी वधम्म से यह उत्तरोत्तर सुतीक्ष्ण (सुसूक्ष्म) बनता जाता है। यही सुतीक्ष्णभाव इसकी ऊ गति का कारण है। यही इसका सशितावस्था में परिणत रहना है। म तीक्ष्णभाव का मूलप्रवत्त क के द्रस्थ प्रजापति-नामक ब्रह्म (एतन्नामक आग्न) ही है। उक्थ से हा तो अर्करूप तीक्ष्णभाव का उदय होता है। इसी ध म की अपेक्षा से ये अग्नि-देव ब्रह्मसशित नाम स भी प्रसिद्ध हैं ॥

घृतमित्युदकनाम के अनुसार घृत शब्द आ य के साथ साथ इस उदक का भी नाम है। भूगभ से वाष्परूप में परिणित होकर आ तारक्ष्य वायुधरातल पर प्रति ष्ठित होने वाला अपत त्व इस अग्निगभ में ही प्रतिष्ठित रहता है। द्युलोक की ओर जाते हुए अग्निदेव ही इस अप की प्र तष्ठा बनते है जैसा कि अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति मरुत सृष्टान्नयन्ति इ यादि ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त आ त-रिक्ष्य घृत भी इसी के आधार पर प्रतिष्ठित रहता है जैसाकि पूव के आ यन्नब्राह्मण के नीरक्षीरविवेक प्रकरण मे विस्तार से स्प ट किया जाचुका है। इसप्रकार आधिदविक सस्था में उदक तथा घृत का आधार बनता हुआ अग्नि घृतवाहन बन रहा है। इस आधिभोतिक वयज्ञ में आहुत आ य का वाहन तत्प्रतिरूप समिद्ध आहवनीयाग्नि बन रहा है। एवमेव आ यात्मिक अग्नि भुक्त घृत का वाहन बन रहा है। जिसका शारीराग्नि प्रदीप्त रहता है वही घृत को पचा सकता है। इसप्रकार तीनो सस्थाओ की दृष्टि से अग्निदेव घृतवाहन बन रहे हैं ॥९॥

पाकयज्ञ अतियज्ञ महायज्ञ शिरोयाग आदि आदि जितने भी यज्ञ हैं उन सबका सञ्चालन अग्नि के द्वारा ही होता है। अग्निरु वै यज्ञ इस परिभाषा के अनुसार अग्नि ही सवयज्ञ-प्रति ठा हैं। आधिदैविक प्राणदेवताओ के साथ आधिभौतिक अग्नि के मा यम द्वारा आ यात्मिक प्राणदेवताओं का मेल करा देना ही तो यज्ञ है। उधर अग्निपुरोगा सर्वे देवा प्रीयन्ताम अग्नि सर्वा देवता के अनुसार अग्नि सवदेवमूर्ति हैं। फलत अग्नि के द्वारा सम्पूर्ण यज्ञों का प्रणयन भलीभाति सिद्ध हो जाता है। ॥१० ॥

यह अग्नि रसरूप मे परिणत होकर ही द्युलोकस्थ दवताओ के लिए यज्ञ का व न करत ह। आग्न क भूत प्राण भेद से दो विवत्त बतलाए गए हं। भूताग्न (चि याग्न) भूपिण्ड म प्रतिष्ठित है यही म याग्नि है। प्राणाग्नि (चितनिधेयाग्नि) भूमहिमा म प्रतिष्ठित है यही अमृताग्नि है। यही अमृताग्नि **रसाग्नि** है। इस रसाग्नि का ही महिमारूप से ऊर्ध्व वितान होता ह। इस वितान की अ ि म सीमा २२ वा अहगण है। यही अन्तिम साम साग्नि की अवसानभूमि है। अतएव इस अन्तिम रसाग्नि—साम को **रथन्तर** साम कहा जाता है। वस्तुत श द है **रसतमसाम**। परन्तु दवताओ की परोक्षभाषा में **रसतम ही रथन्तर** नाम से व्यवहृत हुआ है जसा कि निम्न लिखित ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है—

'रसतम ह वै तद्रथ तरमित्याचक्षत परोक्षम्' (शत० ६। १। २। ३६)।

हमारे ये आग्न दव रसावस्था स ही द्युलोक की ओर गमन क ते ह। अतएव इन्ह (यज्ञवहन-दशा म) **रस** कहा जाता है। रस को ही परोक्ष भाषा में **त वा एत रस स त रथ २ याचक्षते** (गो ब्रा पू २। २ १।) के अनुसार **रथ** कहा गया है। स पूण यज्ञ के ये आग्नदव रथी (रसावस्था स युक्त होकर यज्ञ वहन करन वाले) है ॥११॥

आन्तरिक्ष्य वारुण वाय य धरातल मे उभयत अमूल विचरण करने वाले यज्ञविनाशक आसरप्राण विशेषों का ही नाम राक्षस ह। पर तु द्युलोक मे जात हुए इस अग्नि का ये आन्तारक्ष्य आसुरप्राण सतरण नही कर सकते। यही इस होता अग्नि का **अतूर्त्तभाव है।** इस अतूर्त्तभाव का एकमात्र कारण है—समिद्ध प्राणाग्नि का पूर्वोक्त गतविज्ञानानुसार स व सरमण्डल म एकाधिपत्य। इनका असुर क्या सन्तरण करगे ये स्वय अपने **ऐति प्रेति** बल से असुरो का तरण कर जात ह। ऐसे अग्नि का यज्ञ म जब समिन्धन होगया हो तो फिर यहा भी असुराक्रमण की क्हा स भावना है ॥१२॥

देवता जिस पात्र में आहुतिद्रव्य का अशन करते वह **वषटकार** तथा **अग्नि** भेद स दो प्रकार का माना गया **है। आधारपात्र वाड्मय वषट्कार ह इसी पर सब देवता प्रतिष्ठित हैं।** इस वाड्मय महिमारूप वषटकार के २१ अहगण पर्यन्त प्राणाग्नि की व्याप्ति रहती है। यही प्राणाग्नि यज्ञिय ३३ दवताओ का आहुतिलक्षण पात्ररूप मुखस्थानीय अग्निपात्र है। आधारपात्र जहा वषटकार कहलाया है वहा य अग्निपात्र **आस्पात्र** (**आस्यपात्र मुखरूपपात्र**) नाम स व्यवहृत हुआ है। जो ऐस अग्नि का समिन्धन करता है वह **आस्पात्रता** प्राप्त करता हुआ अभीप्सित भोग्य का सग्राहक बन जाता है ॥१३॥

पार्थिव रसो का सौररश्मिगत प्राणदेवता उसीप्रकार पान किया करते है जस कि भौमदवता इन्द्र की **सग्धि (सहभोज) म+चमस से सोमपान किया करते थे।** आहुतिरस (जिसका कि प्राणदवता पान करते है) इसी प्राणाग्निगर्भ में प्रतिष्ठित रहता है। अतएव इस आग्न को दवताओं का **पानपात्र** कहना अन्वर्थ है ॥१४॥

पूर्व के गतिविज्ञान में बतलाया गया है कि यह प्राणाग्नि सम्पूर्ण सम्व सरचक्र का अधिष्ठाता बन रहा है। रथ के पहिए में **नेमि आरा** भेद स दो विभाग रहत है। नेमि में सब आरे ओतप्रोत रहते ह। यहा भी नेमिस्थानीय अग्नि में सव सरमण्डलान्तवर्त्ती अरास्थानीय सम्पूर्ण देवता ओतप्रोत हैं। प्रकृत निविन्मन्त्र अग्नि की इसी सम्व सर व्याप्ति का बखान कर रहा है ॥१५॥

—*—

+—मद्यपानपात्र **चषक** कहलाता है एव सोमपानपात्र **चमस** कहलाता है। स भवत **चमस** श द ही निरुक्तक्रमानुसार कालान्तर में चमश—बनता हुआ **चम्मच** रूप में परिणत होगया है। एवमेव मद्यपानानुगत चषक पात्र के आधार पर ही मद्य के साथ—**चुस्की** श द समन्वित होगया है।

अथ–देवतावाहनोपपत्ति

सामिधनियो स प्राणाग्नि का समि धन किया गया निगदानुवचन से वीर्य्याधान किया गया एव पूर्वोक्त निवित्पाठ से अग्नि के व्यष्टि–सम ष्ट्यात्मक गुण कर्म्मों–का बखान करत हुए इसम यशोवी य का आ ान किया गया। अब ये अग्नि दवयजनक म लिए सवथा उपयुक्त बन गए है। अतएव आव श्यक है कि अब इन अग्निदव स प्राथना की जाय क प्रकृत इष्टि में जिन जिन देवताओ का यजन अभीष्ट है उन्हे भी आप स यज्ञसस्था में (द्यु लोक से) प्रतिष्ठित कीजए। यही **आह्वानकर्म्म** की सक्षिप्त उपपत्ति है जिमकी इतकत्त यता का १६ १७ इन दो कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है। इस देवता–आवाहन क म में–स्त्र– **महिमानमावह** पद की व्याख्या मह वपूर्ण है। श्रुतिने कहा है कि वाक ही इस अग्नि की अपनी महिमा है। यह वाक् ही **तस्य वा एतस्या नेर्वागेगोपनिषत** के अनुसार अग्नि की मूलप्रतिष्ठा है वागान्तान ही वषट्कारमण्डलरूप महिमामण्डल है। यही आ यामिक अग्निमहिमा है। आधिभौतिक भूतपिण्ड वाङ मय है। वाङ्मय भूतपिण्डो के गभ में अग्नि प्रतिष्ठित रहता है। यहा भूतमयी वाक् भूताग्नि की महिमा बन रही है। आ यामिक अग्नि की महिमा वागिद्रिय लक्षणा वाक ही बन रही है। वाक्त व ही शरीराग्नि का परिचायक है। श दवि यास के आधार पर शरीराग्नि का बलाबल अनुमेय है। इसप्रकार तीना सस्थाओ में वाक ही अग्नि की महिमा बन रही है।

निवित्–म त्र ने अग्नि को **जातवेद** कहा है। यह विशेषण भी मह वपूर्ण है। परिचय रखने वाला ही **जातवेद** है। अधिदैवत में अग्नि ही तद्रूप देवताओ के यथाथ स्वरूप से परिचित हैं। अधिभूत में भूता न ही भूतपिण्ड के स्वरूप–सघठन–लक्षण परिचय से अवगत हैं। एव अ याम में शरीराग्नि ही **वाक्–प्राण–चक्षु** रूप स जातवदा बन रहा है। चक्षु से हम वस्तु पहिचानते हैं वाङ मय भाम से वस्तुओ का परिचय प्राप्त करत है एव प्राणमय कर्म्म से वस्तुस्वरूप का परिचय मिलता है। वागिद्रिय अग्नि से सम्बद्ध है प्राणेद्रिय वायु से सम्बद्ध है एव चक्षुरिद्रिय आदि य से सम्बद्ध है। अग्नि–वायु–आदि य तीनों एक ही अग्नि के तीन विवत्त हैं। फलत आध्यामिक अग्नि का भी जातवद व भलीभाति सिद्ध होजाता है ॥१६ १७॥

अनुवचनकर्म्म खडे खड होता है याज्याकर्म्म बठे बठे होता है। अध्वर्य्यु यजु म त्र से या या करता है एव होता ऋङ म त्र से अनुवाक्या करता है। आह्वान होता है द्यु लोकस्थ देवताओ का। वे हम से विदूर हैं। अतएव अनुवचनकर्म्म खड खडे ही होना चाहिए। क्योंकि निदानविधि से द्यु लोक अनुवाक्या है। यजन होता है–उन प्राणदेवताओ का जो होता के अनुवचन से इस पृथिवी पर प्रतिष्ठित हैं। अत–एव यजनक म बैठ बठ ही होना चाहिए। क्योकि या या निदानेन पृथिवी का ही प्रतिरूप है। १८ १९ ॥

चौथे अध्याय मे दूसरा, तथा तीसरे प्रपाठक मे चौथा ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनी–ब्राह्मणानुगत तृतीय ब्राह्मण अत्र उपरत

—–*—–

चौथे अध्याय मे तीसरा तथा तीसरे प्रपाठक मे पॉचवॉ ब्राह्मण
सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-चतुर्थ ब्राह्मण
—४—

—*—

अथ-शान्तिकर्म्मोपपात्ति

वदरहस्यवित् विद्वान् होता के यथाविधि **सामधे यनुवचन** से **आर्षेय-प्रवरग से निगदानुवचन से निवित्पाठ से** तथा आवाहन के द्वारा **देवप्राणाधान** से आज हमारा यह वध आहवीयाग्नि साधारण लौकिक इद्ध अग्नियो की अपेक्षा अतिशयरूप स **समिद्ध अलोकक अनाक्रमणीय** तथा **अनवमृश्य** बन जाता है। न केवल अग्नि ही अपितु अपने अनुवचनादि कर्म्म से भूताग्नि में प्राणाग्नि का समावश कर उसे यह स्वरूप देने वाला स्वय होता भी अपने शरीराग्नि से तत्समानवर्म्मा बनता हुआ **अनवधृष्य** तथा **अनवमृश्य** ही बन जाता है। जो सामा यबुद्धि म त्रशक्ति के उक्त प्रभाव को न जानता हुआ इस अग्नि को सामा य अग्नि एव अनुवचनकर्त्ता स ब्राह्मण को सामान्य मनुष्य समझने की भ्राति करता हुआ इसका तिरस्कार-अपमान-करने की भूलकर बैठेगा वह निश्चयेन अपना उसीप्रकार सवनाश करा बैठेगा जसे अज्ञ मनु य विद्यु त्-स्पश से अपना नाश करा बैठत हैं। अत ऐस अग्नि तथा ऐस यज्ञिय ब्राह्मण सवथैव प्रणम्य हैं स्तु य हैं ॥१ २॥

अग्निसमि धन के लिए होता जिन सामिधेनियो का अनुवचन करता है उस अनुवचनकर्म्म से ही यद्यपि इसके शारीराग्नि में अतिशय उ पन्न होजाता है। तथापि साक्षात्रूप से मावयव शरीराग्नि समि धन के लिए अनुवचनकाल में तत्तद्विशेष म त्र-भागो के द्वारा तत्तद्विशेष आ यात्मिक पर्वो के समि धन के लिए भावना कर लेता है। किस म त्र से कौनसा आध्यात्मिक पव सामद्ध होता है? प्रस्तुत ब्राह्मण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा **है**।

प्र वो वाजा अभिद्यव इ यादि प्रथम मन्त्र होता के **प्राण** का ही साम धन करता है। **अग्न आयाहि वीतये** स **अपान** का ही समि धन होता है। एव तृतीयमन्त्र के— **बृहच्छोचा यविष्ठ्य** म त्रभाग से **उदान** ही समिद्ध होता है। **उक्थप्राण** नाम से प्रसिद्ध प्रश्वासा मक प्राण की (इन्द्रियप्राण की) **प्राण-अपान** भेद से दो अवस्था हैं। निगच्छत् अवस्था में वही **गमनधर्म्म से** प्राण है आगच्छत् अवस्था में वही **आगमन धर्म्म से अपान है**। **प्राण प्रवान् (गतिधर्म्मा) है अपान एतवान् (आगतिधर्म्मा) है**। प्र उपसगयुक्ता **प्र वो** इ यादि ऋचा से तत्सम ान श्वासावस्थापन्न **प्राण** का एव **आङ** उपसगयुक्ता **अग्न आयाहि** ऋचा से तत्सम प्रश्वासा मक **अपान** का समि धन हुआ है। तेजोनाडी के द्वारा कण्ठदेश में प्रतिष्ठित आयु स्वरूपरक्षक प्राण ही **उदान** है। इस का बृह सामामण्डलस्थ आयु प्रदाता सौर विश्वामित्रप्राण से समतुलन है। अतएव इसे **बृह छोचा** कहना अ वथ बन रहा है। **बृहच्छोचा यविष्ठ्य** से इसीका समि धन हुआ है ॥३॥

स न प्रथुश्रवा यम् म त्रभाग से **श्रोत्रेन्द्रिय** का समि धन हुआ है। त्रलोक्य यापक अतएव म ा पृथु (विस्तीर्ण) वाक्-समुद्र म अ य श दाघात स उ पन्न वीचि ही कर्णश कुली पर प्रति ठित प्रज्ञान मन से स बन्ध (आहत-प्रत्याहत) होती हुइ श दश्रवण का कारण मानी गइ है। इस यापक वाक लहरी के आधार पर श दश्रवण करने के कारण ही श्रोत्र **प्रथुश्रवा य है** ॥४॥

इडेन्यो नमस्य स मन्त्रभाग से वागिन्द्रिय का ही समिन्धन हुआ है। स पूण भौतिक विश्व वाक का ही वितान है। मन प्रा गर्भिता वाक ही आकाश है। आकाशात्मि ा वाक ही बलग्रा थ के तारतम्य से पञ्चमहाभूतरूप में परिणत हु है जसाकि **वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता अथो वागेवेद सवम्** इ यादि निगमो स स्पष्ट है। जिसप्रकार आधदवत म त वात्मिका वाक् से सब वितत है एवमेव अ या म में क्रियात्मिका-शब्दात्मका-वाक स ही सब स्तुत्य है। वाक् ही सवकम्म-वितान की प्रति ठा है जसाकि निम्नलिखित ब्राह्मणश्रुति स प्रमाणित है—

*** सा यत्रय वागासीत् सवमव तत्राक्रियत सर्वं प्राज्ञायत। अथ यत्र मन आसीत नव तत्र किञ्चनाक्रियत न प्राज्ञायत। नो हि मनसा ध्यायत कश्चन-आजानाति (शत० ४।६।७।५।)** ॥५॥

अश्वो न देववाहन इत्यादि मन्त्रभाग स **प्रज्ञान** नामक सर्वेन्द्रिय मन का ही समि धन होता है। प्राणात्मक दवता सोममय मनाधरातल पर ही प्रति ठित रहते है। इसीलिए तो उपवास में मन परितोषक अन्नाशन निषिद्ध माना गया है। प्राणवाहन के अतिरिक्त मनस्वी मनु य का मन इसे काम-सफलता के लिए उठाए फिरता है। मनस्वी का सक प कभी यथ नही जाता। दवप्राण-प्रति ठारूप होन से ही मन अश्वस्थानीय देववाहन है ॥६॥

अग्ने दीद्य त बृहत् इ यादि म त्रभाग से चक्षुरिन्द्रिय का ही समि धन होता है। सर्वाङ्गशरीर में अङ्गारखण्डवत् चक्षु ही प्रदी त है साथ ही बृहत्सामा मक आदि य स उ पन्न होने के कारण बृहत्साम-स पत्ति से युक्त है। चक्षु साम के गभ में अवस्थित वस्तु ही दृष्टि का विषय बनती है। एक विशाल प्रतिमा का स्वरूप तबतक शवसमान ही दिखाइ दता है जबतक कि उसमें दो चक्षुकनीनिकाओं का सम्ब ध नही कर दिया जाता। चक्षु के स ब ध कराते ही पाषाणप्रतिमा प्रज्ज्वलित सी होजाती है उभरसी जाती है। तभी प्रतिमा की बृहत्ता बृहत्तारूप से प्रतीत होती है ॥७॥

अग्नि दूत वृणीमह इ यादि म त्रभाग स यान नामक म यप्राण का समि धन होता है। आ तरिन्द्रिय प्रादेशमित उ थरूप से हृदयस्थ सवप्रति ठा मक अकरूप से सर्वाङ्गशरीर में या त जीवना-धारभूत श्वास प्रश्वासा मक प्राणोदान के उपांशु-अ त र्याम नामक यापारो का सञ्चालक प्राणविशेष ही

*—केवल मानस सक पो से इ छामात्र की च यणा से तबतक किसी कर्म में सफलता नही मिल सकती जबतक कि-**वाङ्मय शारिरीक श्रम तथा वाङमय शब्द** का आश्रय न लिया जाय। **कम्म तथा शब्दाभिनय** से ही सक प काय्यरूप में परिणत होते देखे गए है।

यान है । इस म ऊपर सौरदि यप्राण तथा नीच पार्थिव प्राण है सी के लिए निम्नलिखित उपानषन्चन विहित हैं–

न प्राणेन नापानेन म र्यो जीवति कश्चन ॥
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्न तावुपाश्रिता ॥१॥
ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपान प्रत्यगस्यति ॥
मध्य वामनमासीन सर्वे देवा उपासते ॥२॥

यान से ऊ व स्थित प्राण **प्राण–उदान** भेद से दो स्वरूपो म विभक्त है यान स नाच स्थत अपान **समान अपान** भेद से दो भागो मे विभक्त है । इसप्रकार आ यात्मक प्राण के पाच विवत्त होजात है । इन मे व्यानप्राण म यस्थ है अ त स्थ है । इस अ त स्थ प्राण के सामि धन से आठवी ऋचा भी म यस्था है । इस समि धन से समि धनकर्त्ता अपनी मण्डली में मध्यस्थ बन जाता है ॥८॥

शोचिष्कशस्तमीमहे इ यादि म त्रभाग से शिश्नन्द्रिय का ही समि धन करता हे । कामाग्निमय–ताप लौकिक इतर तापो से कही प्रबल है । इस का बीज शिश्न ही माना गया है । शिश्नोदर–परायण कामभोगासक्त मनुष्य कामप्रतिब ध-दशा में अतिशयरूप स स तप्त रहते ह । इसी साम्य से शिश्न के लिए **शोचिष्केश** पद प्रयुक्त हुआ है ॥९॥

समिद्धो अ न आहुत इ यादि मन्त्रभाग स अपा प्राण (गुदप्राण) का ही सामि धन होता है । एव — **आजुह्वोता दुवस्यत** इ यादि से समष्टिरूप से सर्वाङ्गशरीर का ही समि धन होता है ॥१ ॥

इसप्रकार उक्त समि धन–भावना से होता का सर्वाङ्गशरीर यष्टि–समष्टिरूप से सामद्ध आ नवत् प्रज्ज्वलित होजाता है । यदि होता चाह तो अपमान करने वाले पर उक्त भावना के साथ **प्राण वा एतदा–मनोऽग्नावाधा** यादि रूप स कृत्याप्रयोग कर सकता है जिनका ११ १२ १३ १४ १५ १६ १ १८ १९ २ २१ न ११ कण्डिकाओ में स्पष्टीकरण हुआ है ।

उक्त **समि धनकम्म** तथा **अभिचारकम्म** से बतलाना प्रकृत म यही है कि सामधेनी स सामद्ध अग्नि तथा समि धनकर्त्ता होता दोनो समानध र्मा है अनवधृष्य ह अनवमृश्य है । उनका कभी तिरस्कार नही करना चाहिए । **ऐसे इस महान्–स्तुत्य–नमस्य अग्निदेवता के लिए एव अग्निरहस्यवित् ऐसे ब्राह्मणश्रेष्ठ होता क लिए** निरातशय प्रणतभाव स आस्था श्रद्धा–पूवक ही **हमारी अनेक नम उक्तिया समर्पित है ॥२ ॥**

चौथे अध्याय मे तीसरा, तथा तीसरे प्रपाठक मे पाँचवाँ ब्राह्मण समाप्त

समाप्त चेद ब्राह्मणचतुष्टयात्मक सामिधेनी–ब्राह्मणम्

——*——

श्री

इति—शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—
ब्राह्मणचतुष्टयात्मक-"*सामिधेनीब्राह्मणम्*"
उपरतम्



श्री

अथ-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—
द्विब्राह्मणात्मक-"आघारब्राह्मणम्"



श्री

अथ-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये
द्विब्राह्मणात्मक-"आघारब्राह्मणम्"

अथ चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्
तृतीय-प्रपाठकके च षष्ठ ब्राह्मणम्
(आघारब्राह्मणानुगतञ्च प्रथम ब्राह्मणम्)

१

१६-पूर्वोत्तराघारकर्म्म
आघारयोनिदानम्

(मूल)—त वा एतमग्निं समैधिषत-समिद्धे देवेभ्यो जुहवाम'-इति । तस्मिन्नेते एव प्रथम आहुती जुहोति-मनसे चैव वाचे च । मनश्च ह वै वाक च युजा देवेभ्यो यज्ञ वहत ॥१॥

स यदुपांशु क्रियते त मनो देवेभ्यो यज्ञ वहति । अथ यद्वाचा निरुक्त क्रियते-तद् वाग देवेभ्यो यज्ञ वहति । एतद्वा इद द्वय क्रियते तदेते-एवैतत् सन्तर्पयति । तृप्ते प्रीते देवेभ्यो यज्ञ वहात इति ॥२॥

स्रुवेण तमाघारयति-य मनस आघारयति । वृषा हि मन वृषा हि स्रुव ॥३॥

स्रुचा तमाघारयति य वाचे आघारयति । योषा हि वाक, योषा हि स्रुक् ॥४॥

तूष्णीं तमाघारयति-य मनस आघारयति, न स्वाहेति चन । अनिरुक्त हि मन अनिरुक्त ह्येतत्-यत्तूष्णीम् ॥५॥

मन्त्रेण तमाघारयति—य वाच आघारयति । निरुक्ता हि वाक, निरुक्तो हि मन्त्र ॥६॥

आसीनस्तमाघारयति य मनस आघारयति तिष्ठस्तम् य वाचे। मनश्च ह वै वाक च युजा देवेभ्यो यज्ञ वहत । यतरो वै युजोर्ह्रसीयान् भवति—उपनह वै तस्मै कुर्वन्ति। वाग वै मनसो ह्रसीयसी । अपरिमिततरमिव हि मन , परिमिततरेव हि वाक । तद्वाच एवैतदुपवह करोति । ते सयुजा देवेभ्यो यज्ञ वहत । तस्मात् तिष्ठन् वाच आघारयति ॥७॥

दृया ह वै यज्ञ तन्वाना । तऽसुरराक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रु । त एत— द्दक्षिणत प्रत्युदश्रयन् । उच्छ्रितमिव हि वीयम् । तस्माद्दक्षिणतास्तष्ठन्नाघारयति । स यदुभयत आघारयति—तस्मादिद मनश्च वाक च समानमेव सन्नानेव। शिरो ह वै यज्ञस्यै तयोर यतर आघारयो, मूलम यतर ॥८॥

स्रुवेण तमाघारयति—यो मूल यज्ञस्य । स्रुचा तमाघारयात य शिरो यज्ञ य ॥९॥

तूष्णी तमाघारयति—यो मूल यज्ञस्य । तूष्णीमिव हीद मूलम् , नो ह्यत्र वाग वदति ॥१ ॥

मन्त्रेण तमाघारयति—य शिरो यज्ञस्य । वागवि मन्त्र । शीर्ष्णो हीयमधि वाग वदति ॥११॥

आसीनस्तमाघारयति—यो मूल यज्ञस्य । निषण्णमिव हीद मूलम् । तिष्ठस्त— माघारयति—य शिरो यज्ञस्य । तिष्ठतीव हीद शिर ॥१२॥

अग्निसम्मार्जनम्

स स्रुवेण पूर्वमाघारमाघार्याह— अग्निमग्नीत्सम्मृड्ढि' इति । यथा धुरमध्यूहेदेव तत्—यत्पूर्वमाघारयति । अध्युह्य हि धुर युञ्जन्ति ॥१३॥

अथ सम्म ष्टि युनक्त्यवैनमतद्, युक्तो देवेभ्यो यज्ञ वहादिति । तस्मात् सम्मार्ष्टि। परिक्राम सम्मार्ष्टि । परिक्राम हि योग्य युञ्जन्ति। त्रिस्त्रि सम्मार्ष्टि । त्रिवृद्धि यज्ञ ॥१४॥

स सम्मार्ष्टि-'अग्ने वाजजिद्वाज त्वा सरिष्य त वाजजित×सम्मार्ज्मि' (२ अ ७ म) इति । यज्ञ त्वा वक्ष्य त सम्मार्ज्मि इत्यवैतदाह । अथोपरिष्टात् तूष्णी त्रि । तद्यथा युक्त्वा प्राजत्-प्रे हि वहेति एवमेवैतत्कशयोपक्षिपति-प्र हि देवेभ्यो यज्ञ वहेति । तस्मादुपरिष्टात्तूष्णी त्रि । तद्यदत तरेण कम क्रियते-तस्मादिद मनश्च वाक च ममानमेव सन्नानेव ॥१५॥

इति चतुर्था याये चतुर्थ ब्राह्मण-समाप्तम्
तृतीय-प्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मण-समाप्तम्
आघारब्राह्मणानुगतञ्च प्रथम ब्राह्मणमुपरतम्
१

तृतीयप्रपाठकश्चात्र-समाप्त
३

श्री

अथ-चतुर्थाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम्
चतुर्थप्रपाठके च प्रथम ब्राह्मणम्
आघारब्राह्मणानुगतश्च द्वितीय ब्राह्मणम्
२

२०—उत्तराघारकर्म्म

(मूल)—स स्रुचोत्तरमाघारयिष्यन् पूर्वेण स्रुचावञ्जलिं निदधाति-'नमो देवेभ्य स्वधा पितृभ्य (२ अ ७ म) इति। तद्देवेभ्यश्च वैतत् पितृभ्यश्चार्त्विज्य करिष्यन् निह्नुते। सुयमे मे भूयास्तम्' (२ अ ७ म) इति। स्रुचावादत्ते-सुभरे मे भूयास्तम्। भर्त्तु वा शकेयमित्यवैतदाह। 'अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्य सम्भ्रियासम्' (२ अ ८ म) इति। अविक्षुब्धमद्य देवेभ्यो यज्ञ तनरा-इत्येवैतदाह ॥१॥

'अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषम्' (२ अ ८ म) इति। यज्ञा वै विष्णु तस्मा एवैतन्निह्नुते-मा त्वावक्रमिषमिति। वसुमतीमग्ने ते छायामुपस्थेषम्' (२ अ ८ म) इति। साध्वीमग्न ते छायामुपस्थषमित्यवैतदाह ॥२॥

विष्णोस्थानमसि' (२ अ ८ म०) इति। यज्ञो वै विष्णु तस्येव ह्यत-दन्तिक तिष्ठात, तस्मादाह-विष्णो स्थानमसीति। इत इन्द्रो वीर्यमकृणोत्' (२ अ० ८ म) इति। अतो हीन्द्रस्तिष्ठन् दक्षिणतो नाष्ट्रा रक्षास्यपाहन् तस्मादाह-इत इन्द्रो वीयमकृणोदिति। ऊर्ध्वोऽध्वर आस्थात्' (२ अ ८ म) इति। अध्वरो वै यज्ञ ऊर्ध्वो यज्ञ आस्थादित्यवैतदाह ॥३॥

'अग्ने वेर्होत्र वेर्दूत्यम्' (२ अ ९ म) इति। उभय वा एतदग्निर्देवानाम होता च दूतश्च। तदुभय विद्धि-यद्देवानामसीत्यवैतदाह। 'अवता त्वा द्यावापृथिवी

अव त्व द्यावापृथिवी' (२ अ ६ म) इति । नात्र तिरोहितामवास्ति । स्विष्टकृद्-देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा' (२ अ ६ म) इति । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता, तस्मादाह-इन्द्र आज्येनेति । वाचे वा एतमाघारमाघारयति । इन्द्रो वागित्यु-वा आहु । तस्माद्वेवाह-इन्द्र आज्येनेति ॥४॥

अथामस्पृशय स्त्रुचा पर्येत्य ध्रुवया समनक्ति । शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघार । आत्मा व ध्रुवा । तदा म यवतच्छिर प्रतिदधाति । शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघार । श्रीर्वै शिर । श्रीर्हि वै शिरस्तस्मात् योऽर्द्धस्य श्रेष्ठो भवति असावमुष्यार्द्धस्य शिर इत्याहु ॥५॥

यजमान एव ध्रुवामनु । योऽस्मा अरातीयति स उपभृतमनु । स यद्धोपभृता समञ्ज्याद्-यो यजमानायारातीयति-तस्मिं छ्रिय दध्यात्, तद्यजमान एवैतच्छ्रिय दधाति, तस्माद् ध्रुवया समनक्ति ॥६॥

स समनक्ति-'सञ्ज्योतिषा ज्योति (२ अ ६ म) इति । ज्योतिर्वा इतरस्यामाज्य भवति, ज्योतरितरस्याम । ते ह्यतदुभे ज्योतिषी सङ्गच्छते । तस्मादेवा समनक्ति ॥७॥

अथातो मनसश्चैव वाचश्चाहमद्र उदितम् । मनश्च ह वै वाक चाहमद्र ऊदाते ॥८॥

तद्ध मन उवाच-अहमेव त्व च्छ्रेयोऽस्मि न वै मया त्व किञ्चनानभिगत वदसि । सा य मम त्व कृतानुकरानुवर्त्मासि अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मीति ॥९॥

अथ ह वागुवाच-अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद्वै त्व वेत्थ-अह तद्विज्ञपयामि अह सज्ञपयामीति ॥१०॥

ते प्रजापति प्रात प्रश्नमेयतु । स प्रजापतिमनस एवानूवाच मन एव त्वच्छ्रेय मनसो वै त्व कृतानुकरानुवर्त्मासि, श्रेयसो वै पापीयान् कृतानुकरोऽनुवर्त्मा भवतीति ॥११॥

सा ह वाक परोक्ता विसिष्मिय । तस्यै गर्भ पपात । सा ह वाक् प्रजापतिमुवाच अहव्यवाडेवाह तुभ्य भूयासम या मा परावोच इति । तस्मात् यत्किञ्च प्राजापत्य यज्ञे क्रियते उपांश्वेव तत् क्रियते । अह यवाड्धि वाक् प्रजापतय आसीत् ॥१२॥

तद्धैतद्देवा रेतश्चमन् वा यस्मिन् रा बभ्रु । तद्ध स्म पृच्छन्ति-अत्रैव त्या ३ दिति । ततोऽत्रि सम्बभूव । तस्मादप्यात्रेय्या योषितैनस्वी । एतस्यै हि योषायै वाचो देवताया एते सम्भूता ॥१३॥

इति-प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये पञ्चम ब्राह्मण
चतुर्थप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मण
समाप्तम्
आघारब्राह्मणानुगतश्च द्वितीय ब्राह्मण उपरतम्
२

द्विब्राह्मणात्मकमाघाराब्राह्मणश्चात्रोपरतम्

शतथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे चतुर्थोऽध्यायश्चात्र समाप्त
४

चौथे अध्याय मे चौथा, तथा तथा तीमरे प्रपाठक मे ८ ठा ब्राह्मण आघारब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण

१

१—पूर्वोत्तराघारो की उपपत्ति—

(अनुवाद)—उस (प्रसिद्ध) इस (आह्वनीय) अग्नि को (अग्निसमिन्धनोपयुक्त पूर्वोक्त कर्म्म से उद्दीन * इस उद्देश्य से कि) समिद्ध (सामिधेनी मन्त्रशक्तियुत होने से देव प्राणयुक्त) अग्नि मे देवताओं के लिए हम आहुति देते है समिद्ध कर लिया। (अर्थात् देवाहुति के योग्य बनाने के लिए ही पूर्वोक्त सामिधेन्यनुवचनकर्म्म के द्वारा आह्वनीय अग्नि का समिन्धन हुआ है। इस कर्म्म से यह अग्नि देवाहुति-ग्रहण-योग्य बन गया है)। (यजमानादि के द्वारा समिद्ध) इस आह्वनीय अग्नि मे अध्वर्य्यु नामक ऋत्विक मन के लिए और वाक के लिए इन्हीं दो आहुतियों का हवन करता है। मन तथा वाक दोनो से सयुक्त होकर (मिथुनभाव मे परिणत होकर द्यु लोकस्थ प्राणात्मक) देवताओं के लि (पृथिवीलोक से यज्ञ-यज्ञातिशयोत्पादक आहुतिप्राण) का वहन करते है (लेजाते है)। (अर्थात् आह्वनीय मे हुत आहुतियों का प्राणरूप से द्यु लोक मे मनोवाक के द्वारा ही गमनलक्षण ऊर्ध्व वितान होता है। अत देवाहुति से पहिले आहुतिप्रापक मनोवाक के लिए दो आहुतियाँ देना आवश्यक है)॥ १॥

अध्वर्य्यु के द्वारा जो तूष्णीं (आहुतिकर्म्म) किया जाता है इस उपांशुकर्म्म से मन देवताओं के लिए यज्ञ (आहुति) का वहन करता है। जो कि वाक्-पूर्वक (उच्चारण-पूर्वक) निरुक्त (प्रकट) भाव से (आहुतिकर्म्म) किया जाता है इस निरुक्तकर्म्म से वाकतत्त्व देवताओं के लिए यज्ञ का वहन करता है। (अर्थात् मन अनिरुक्त होने से उपांशु है अतएव मन के लिए तूष्णीं आहुति दी जाती है क्योंकि तूष्णींभाव अनिरुक्तभाव है। वाक् निरुक्ता है अतएव वाक् के लिए उच्चारणपूर्वक आहुति दी जाती है क्योकि उच्चारणभाव निरुक्तभाव है)। इसप्रकार

---

*—समिन्धनकर्म्म में यज्ञफलभोक्ता यजमान के आत्मा (हृदय) का योग होता है अध्वर्य्यु नामक ऋत्विक इध्माधान करता है ब्रह्मा नामक ऋत्विक होता को सामिधेन्यनुवचन की अनुज्ञा प्रदान करता है एव होता नामक ऋत्विक् सामिधेनी-ऋचाओं के अनुवचन से अग्नि समिन्धन करता है। इसप्रकार यजमान अध्वर्य्यु ब्रह्मा होता चारो के व्यापार से अग्निसमिन्धन कर्म्मोतकर्त्तव्यता सम्पन्न होती है। इसी अभिप्राय से समिन्धिषत यह बहुवचन प्रयुक्त हुआ है।

उपाशु तथा उच्चारणभाव क द्वारा अ य्यु हीं दोनों मनोवाक-भावो की सम्पत्ति सम्पन्न करता है इन दानों आहुतिया से यह मनोवागभावों को ही तृप्त करता है । (प्रयोजन इस तृप्तिकम्म का यही है कि आहुतिद्वय स) तृ त मन और वाक देवताओ क लिए यज्ञ का वहन कर ।। ।।

(वे दोनों आहुतिया क्रमश **'पूर्वाघार, उत्तराघार'** नाम से प्रसिद्ध है । पूर्वाघाराहुति मनस्तप्ति से सम्ब ध रखती है एव उत्तराघाराहुति वाक्तृप्ति से सम्ब ध रखती है । स्रुवपात्र पुरुष की प्रतिकृति है उधर मन भी पुरुष है। अतएव पूर्वाघाराहुति स्रुवपात्र से होती है । स्रुकूपात्र स्त्री की प्रकृति है उधर वाक भी स्त्री है। अतएव उत्तराघाराहुति स्रुकूपात्र से होती है। वृषा-योषात्मक इसी मिथुनभाव का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)— स्रुव नामक पात्र क द्वारा उस आघाराहुति (पूर्वाघाराहुति) का सम्पादन करता है जिसे कि मनस्तप्ति क लिए करता है। क्योंकि मन वृषा (पुरुषप्रकृति) है उधर स्रुवपात्र भी वृषास्थानीय ही है ।। ३ ।।

स्रुकूपात्र के द्वारा उस आघाराहुति (उत्तराघारा त) का सम्पादन करता है जिसे कि वाकतृप्ति के लिए करता है। क्याक वाक याषा (स्त्रीप्रतिकृति) है उधर स्रुकूपात्र भी योषा स्थानीय है ।। ४ ।।

तूष्णीं उस आघाराहुति (पूवाघाराहु त) का सम्पादन करता है जिसे कि मनस्तप्ति क लिए करता है (साथ ही इस कम्म मे) स्वाहा' इसका भी उच्चारण नहीं करता है। (ता प य्य कहने का यह है कि म त्र हुतिकाल में म त्र की समाप्ति पर आहुति देते समय **'स्वाहा'** श द का उच्चारण स्वभावसिद्ध अभ्याससिद्ध है। कहीं ऐसा न हो कि मनस्तप्ति क लिए विहित पूर्वाघार में अभ्यासवश स्वाहा का उच्चारण हाजाय। इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के निरो ध के लिए ही श्रुति को **न स्वाहेति चन** इत्याद रूप से आदेश देना प ा है)। मन अनिरुक्त (इद यावच्छिन्न होने से अप्रत्यक्ष-अप्रकट) है। वह भी अनिरुक्त ही भाव है जो कि तूष्णीं (चुपचाप) है। इसलिए मानसाघार तूष्णीं ही हाना चाहिए) ।। ५ ।।

म त्रो चारणपूर्वक उस आघाराहुति (उ त्तराघाराहुति) का सम्पादन करता है जिसे कि वाक्तृप्ति के लिए करता है। वाक् निश्चयेन निरुक्ता (प्रकटभावापन्ना है । वह भी निरुक्त ही भाव है जो कि मन्त्र (मन्त्रोच्चारण) है । (इसलिए वागाघार मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही होना चाहिए ।। ६ ।।

बैठा बैठा उस आघाराहुति (पूर्वाघाराहुति) का सम्पादन करता है जिसे कि मनस्तप्ति के लिए करता है। खडा खडा उस आघाराहुति (उत्तराघाराहुति) का सम्पादन करता है जिसे

कि वाक्तृप्ति के लिए करता है। (मनोऽनुगत पूर्वाघार बैठ बैठ एवं वागनुगत उत्तराघार खड़े खड़े क्या होता है ? इस प्रश्न की उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है)—(पूर्वकथनानुसार) मन और वाक दोनों (अश्वयुग्मवत्) मिलकर देवताओं के लिए [रथरूप] यज्ञ का वहन करते हैं। [रथ में जुड़े हुए दो अश्वों में से] जो अश्व नाटा होता है लोक में रथवाहक सारथि उसके लिए उपवह करते हैं। (वाक और मन दोनों इस यज्ञरथ के वहन करने वाले दो अश्व हैं परन्तु) मनोरूप अश्व की अपेक्षा वाग्रूप अश्व नाटा है। क्योंकि मन अपरिमित [विशाल] सा है और वाक परिमित [सङ्कुचित] सी है। [खड़ा खड़ा वागनुगत उत्तराघार करता हुआ] अध्वर्यु वाक् से ही उपवह का सम्बन्ध कराता है*। [इस उपवह से वाक् मन से समतुलित होजाती है फलत] दोनों समानरूप से यज्ञरथ में जुड़कर सरलतया यज्ञरथ का वहन करने में समर्थ होजाते हैं। एकमात्र इस [समतुलनभावावाप्ति के] लिए ही वागनुगत उत्तराघार को खड़े खड़े सम्पादन करता है। समान वहनप्रदेश सम्पत्ति-आप्ति के लिए ही वागनुगत आघार तिष्ठन् विहित है यही निष्कर्ष है ॥ ७ ॥

[आहवनीयकुण्ड के दक्षिणभाग में खड़े होकर वागनुगत उत्तराघारकर्म किया जाता है। खड़े होकर साथ ही दक्षिणदिशा में उत्तराघार करने का एक कारण और बतलाती हुई श्रुति कहती है]—देवदेवताओं ने यज्ञ का वितान किया। [यज्ञवितान करते हुए] वे देवदेवता [दक्षिण दिक्स्थ] असुर-राक्षसों की आक्रमणाशङ्का से भयत्रस्त होगए। [इस भय से त्राण पाने के लिए देवदेवता लोग आहवनीय के दक्षिण भाग में [सावधान होकर असुरों की प्रतिस्पर्द्धा में] खड़े हो गए। [शत्रुभय तभीतक भयरूप से बना रहता है जबतक हम प्रत्युत्तर देने में असमर्थ रहते हैं। जब हम आततायी के सम्मुख सन्नीभूत होकर प्रत्याक्रमण के लिए खड़े होजाते हैं तो शत्रु शान्त हो जाता है। भौमदेवताओं ने स्ववितान-यज्ञमण्डल की दक्षिण दिशा में अग्नि देव को खड़ा कर भौम असुराक्रमण से त्राण पाया था। एवं प्राकृतिक प्राणदेवताओं के नित्य प्राकृतिक यज्ञ में अग्नियुत इन्द्रप्राण के द्वारा आसुरप्राण का निरोध होता रहता है। प्रकृति के अनुसार भौम देवताओं ने किया तदनुसार ही हम अपने इस वैधयज्ञ में करना चाहिए जैसाकि 'देवाननुविधा वै मनुष्याः' इत्यादि निगम से स्पष्ट है। दक्षिणदिक्स्थ आसुरप्राणनिरोध के लि

---

* यदि रथवाहन करने वाले दो घोड़ों में से एक अश्व दूसरे से नाटा होता है तो इसे उस दीर्घकाय अश्व की ऊंचाई से समतुलित करने के लिए इसके स्कन्ध प्रदेश में अपेक्षित परिमाणयुक्त एक काष्ठ वस्त्रादियुक्त स्थूलपीठ बांध दिया जाता है। इससे दोनों की ऊंचाई समतुलित होजाती है। यही स्थूलपीठ वैदिकपरिभाषा में उपवह कहलाया है।

ही दक्षिण की आर खड होकर वागनुगत उत्तराघारकम्म किया जाता है]। वीय्य खडा हुआ सा है। [बैठने मे शरीरबल म द-सा रहता ह। खड होजाने पर बल उदबुद्ध हो जाता ह]। इसलिए दक्षिण की ओर ख हेकर ही उत्तराधार का सम्पादन करता ह। असुराक्रमणनिरोधक वीय्यभाव की प्राप्ति के लिए ही खड हाकर आघारकम्म किया जाता ह यही उपपत्ति-निष्कष ह।

(मन क लिए विहित पूव घार आहवनीय से उत्तर बैठ कर सम्पादित होता है वाक् क लिए उत्तराघार आहवनीय से दक्षिण खड होकर सम्पादित होता है। आहुति प्राप्ति-स्थान-लक्षण आहवनीयाग्नि समान है आहुतिप्रदानस्थान उत्तर-दक्षिण भेद से नाना भिन्न-है। उधर मन आर वाक दोनों आहुति प्रापकत्त्वेन समान है एव स्वस्वरूप से भिन्न भिन्न है। इसी साम्यसिद्धि क लिए समानाग्नि मे उभयाघाराहुति होती है। प्रदेशत्त्वेन दोनों नाना है अतएव दक्षिणोत्तर प्रदेश मे आसीन तथा तिष्ठद रूप से आहुति दी जाती है। मनोवाक क इसी समानत्त्व एव नानात्त्व धम्म क साथ समतुलन बतलाती हुई श्रुति कहती है)—वह अ वयु जोकि (आहवनीय अग्नि मे आहवनीय अग्नि से) दक्षिणोत्तर (तिष्ठन् आसीन रूप से) आधार करता है इसीलए यह मन तथा वाक का युग्म समान रहता हुआ भी नाना—वत् है ॥

(वागनुगत) उत्तराघार तथा (मनाऽनुगत) पूर्वाघार दोनोमे से एक (वागनुगत उत्तर) आघार (इस दृश्य मनक्षण) यज्ञ (पुरुष) का मस्तक (शिर की प्रतिकृति) है एव एक (मनाऽनुगत पूव) आघार (इस) यज्ञ का मूल (मूलस्थान की प्रतिकृति है) ॥ ॥

स्रुवपात्र के द्वारा उस (मनोऽनुगत पूव) (आघार का सम्पादन करता है जोकि यज्ञ का मूल है। स्रुकपात्र के द्वारा उस (वागनुगत उत्तर) आघार का सम्पादन करता है जो कि यज्ञ का मस्तक है ॥६॥

तूष्णीं उस (मनोनुऽगत पूव) आधार का सम्पादन करता है जोकि यज्ञ का मूल है। मूलतत्त्व (हृदयस्थान) तूष्णी (अनिरुक्त) वत् है। यहा वाग्व्यापार अवरुद्ध है ॥१ ॥

मन्त्रोच्चारण क द्वारा उस (वागनुगत उत्तर) आघार का सम्पादन करता है जोकि यज्ञ का मस्तक है। मन्त्रोच्चारण व्यापार वाग्व्यापारयुक्त है (वाङ्मय है)। मस्तक (तत्रस्थ मुखानुगता वागिन्द्रिय) के द्वारा ही वागुच्चारण होता है ॥११॥

बैठा बैठा उस (मनोऽनुगत पूव) आधार का सम्पादन करता है जो कि यज्ञ का मूल है। मूलतत्त्व बैठा हुआ-सा ही है। खड खड उस (वागनुगत उत्तर) आघार का सम्पादन

करता है जोकि यज्ञ का मस्तक ह। (शरीर प्रदेश म) म नक ख ा हआ–मा ही है। (ता पर्य यही है कि पूर्वाघार मूलस्थानीय है एव इसका मन से सम्ब ध है। तथा उत्तराघार मस्तक–स्थानीय है एव इसका वाक् से सम्ब ध है। मूलतत्त्व अनिरुक्त आसानवत् ह अतएव तत्–सम्पादक पूर्वाघार अनिरुक्त आसान भाव क द्वारा सम्पन्न किया जाता है। शिरोभाग निरुक्त तिष्ठद्वत् है अतएव तत्सम्पादक उत्तराघार समन्त्रक–तिष्ठदभाव के द्वारा सम्पन्न किया जाता है ॥१२॥

२–अग्निसम्मार्जन—

वह अ वर्यु (आहवनीय अ नि मे तूष्णीं) पूर्वाघार का सम्पादन करक (आग्नीध्र नामक ऋत्विक् को) प्र ष करता है कि— **हे अग्नीत्! (आग्नीध !) (अब तुम आह वनाय) अग्नि का सम्माजन करो।** जिसप्रकार (रथवाहक बल के स्क धप्रदेश मे) जूडा डालते हैं उसीप्रकार का यह कम्म है जाकि पूर्वाघार का सम्पादन करना ह। स्क ध प्रदेश म पहिले जूडा डालकर ही पीछ चम्मपाश से बाधते ह। (ता पर्य यही हुआ कि रथवहन करने वाले वृषभा को पहिले रथ धुर के नीचे लाकर उनके स्क ध प्रदेश म धुर (जडा) डाला जाता है। अन तर नियत चम्मपाश से उनक ग्रावास्थानों को बॉध दिया जाता है। यहा आहवनीय अग्नि ही यज्ञरथ वहन करने वाला वृषभ है। पूर्वाघार करना इसक स्क ध–प्रदेश पर जूडा डालना है एव सम्माजन करना पाशब धन से युक्त करना है। क्याकि पूर्वाघार धुर स्थापन स्थानीय है एव धुरस्थापन स मानवरूप पाशब धन स पहिले होता है अतएव यहॉ भी पूर्वाघारकम्म सम्माजनकम्म से पहिल किया जाता है अन तर अग्निसम्माजन क लिए आग्नीध्र को आदेश दिया जाता है। पूर्वाघार स्क ध प्रदेश म धुरस्थापन स्थानीय है यह बतला कर अब सम्माजन कम्म का पाशब धन स्थानीय बतलाती हुइ श्रुति कहती है) ॥ ३॥

वह आग्नीध्र (नामक ऋत्विक् अ वर्यु क प्रैषानुसार) आहवनीय अग्नि का * सम्मा–जन करता है। इस सम्माजनकम्म से यह आग्नीध्र (वृषभ–स्थानीय धुर युक्त इस आहवनीय) अग्नि को (पाशब धन से) ही (यज्ञरथ में) युक्त करता है। (यज्ञरथ मे पाशब धन से)

*—आहवनीय अ निकुण्ड के पश्चिम दक्षिण उत्तर न तीन प्रा तभागो म प्रतिष्ठित तीन इ मका ठ ही परिधिया हैं। पहिले परिधि स्थापनानुसार इन तीनो परिधियो से सलग्न अग्नि का त्रिरावृत्त सम्माजन किया जाता है अन तर आहवनीय अ नि का ऊपर स तीन बार तूष्णी स माजन किया जाता है। यही आ नीध्रकृत समाजन हे जसाकि सूत्रप्रदर्शित पद्धतिसग्रह में स्प ट किया जान वाला है।

युक्त होकर यह (आह्वनीय) अग्न देवताओं के लिए यज्ञव ा का वहन कर (सम्माजनकम्म की यही उपपत्ति है) । इसीलिए स माजन करता है यज्ञ त्रिवृत् (त्रिवृदभावावेत) है (इस यज्ञानुगता त्रिवृतसम्पत्ति प्राप्ति क ाल ही) त्रिरस्त्र सम्माजन किया ज ता है ॥१ ॥

[सम्माजन कम्म क्यों कया जाता है ? इस प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान किया गया। अब पद्धतिक्रम बतलाती हुई श्रुति कहती ह]–वह आ नीध्र – **हे अग्ने ! यज्ञ ाधनभूत हविलक्षण अन्न पर अपना आधकार रखने से वाजाजत् नाम से प्रसिद्ध हविलक्षण यज्ञसाधन एसे वाजा अन का देवताओ के लिए द्यु लोक म व न करने वाले आपका मैं सम्माजन करता हूँ इस अनुरूप अर्थ से युक्त] अग्ने वाजजिद्वाज** [यजु स २।७।] यह म त्र बालता हुआ [तीनों परिधियों का त्रिरावृत्तरूप से) सम्माजन करता ह । [ता पर्य यही है कि तीना परिधिया का प्रत्यक का उक्त म त्रोच्चारण के द्वारा तीन तीन बार सम्माजन करता है। फलत परिधिसम्माजन ६ बार हाजाता ह। यही सम त्रिवृदभाव तीन का त्रिगुणितभाव ह] । (म त्र का ता पर्याथ बतलाती हुई श्रुति कहती है— **अग्ने वाजजि- द्वाज** ' इ यादि से] **यज्ञ वहन करने वाल यज्ञिय आपका सम्माजन करता हू** यही कहा गया ह । (हविरन्न यज्ञसाधक हान स यन है अतएव **वा ा सरिष्य त**' का ता प य **'यज्ञ सरिष्य तम** ही होता ह । वह अग्नि इस यज्ञा मक हवि का वहन करता ह अतएव इसके लिए **'यज्ञिय त्वा सम्मार्मि** यह कहा जासकता ह] ।

[समन्त्रक त्रिरावृत्तरूप से परिधि सम्माजन करने क अनन्तर वह आग्नीध्र] उपर से आह्वनीय अग्नि का तूष्णी (अमन्त्रक] तीन बार सम्माजन करता है। उपरिष्टात् आह्व नीय अग्नि का तूष्णीं सम्माजन क्यों किया जाता है ? इसकी उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है]—सो जिसप्रकार [रथ मे बैलों को] जात कर (कशाताडनादि से उन्ह) चल चल ! भार वहन कर ! इसप्रकार गमन क लिए प्रेरित करते है एवमेव [उपरिष्टात् सम्माजन- रूप] कशाघात से इस अग्नि को—चलिए ! चलिए !! देवताओं क लिए यज्ञवहन कीजए !!! इसप्रकार प्रेरित ही करता ह । ता पर्य्य यही है कि—पूर्वाघार तो स्क ध प्रदेश मे जूडा डालने के स्थान मे है एवं त्रिस्त्रि सम्माजन पाशबन्धन स्थानीय है। पाशब धन के अनन्तर सारथि वृषभयुग्म को ग त्यारूढ बनाने क लिए चलो चलो इत्यादि श ब्द प्रयाग के द्वारा कशाघात करता है । इस उद्देश्य की सिद्धि क लिए उपरिष्टात् आह्वनीय अग्नि म त्रि सम्माजन ह ता ह ।

(अब एक प्रश्न शेष रहजाता है। स्रुवाघारलक्षण पूर्वाघार तथा स्रुगाघारलक्षण उत्तराधार दोनों कर्म्मों क म य म उक्त सम्माजनकम्म क्यों किया जाता है ? इसी प्रश्न की

उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है)—सो जो कि आग्नीध्र पूर्वोत्तराघार के मध्य में यह सम्मार्जन करता है इसीलिए मन तथा वाक् दोनों समान रहते हुए नाना हैं। [दोनों आघार साथ करना दोनों को समान बनाना है एवं दोनों के मध्य में सम्मार्जनकर्म्म करना दोनों समानों को नानावत् बनाना है यही तात्पर्य्य है॥१८॥

चौथे अध्याय मे चौथा, तथा तीसरे प्रपाठक मे ६ ठा ब्राह्मण समाप्त

आघारब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण समाप्त

—१—

———*———

चौथे अध्याय मे पञ्चम तथा चौथे प्रपाठक मे प्रथम ब्राह्मण

आघारब्राह्मणानुगत द्वितीय ब्राह्मण

—२—

———*———

उत्तराघारेतिकर्त्तव्यता

(पूर्व ब्राह्मण में स्रुवपात्र के द्वारा सम्पन्न होने वाले मनोऽनुगत पूर्वाघार-कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता एवं पूर्वोत्तराघार के मध्य में होने वाले अग्निसम्मार्जनकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाई गई। अब क्रमप्राप्त स्रुक्पात्र के द्वारा सम्पन्न होने वाले वागनुगत उत्तराघार-कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाई जाती है)—स्रुक्पात्र (जुहू तथा उपभृत्) से उत्तराघार कर्म्म सम्पादन करने वाला अध्वर्य्यु (उत्तराघारकर्म्म से पहिले) जुहू तथा उपभृत् इन दोनों स्रुक्पात्रों के पूर्वभाग में (जिस मुख्य भाग से आहुति दी जाने वाली है उस मुख्य भाग की ओर) (देवताओं के लिए नमस्कार है पितरों के लिए स्वधा है' इस अर्थ से युक्त **नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः** (।) यह मन्त्र बोलता हुआ अञ्जलिस्थापन करता है (दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम करता है)। इस अञ्जलिनिधान कर्म्म से वह अध्वर्य्यु (देवताओं तथा पितरों के लिए क्रमशः नमः तथा स्वधा करता हुआ) आर्त्विज्यकर्म्म करना चाहता हुआ देवताओं तथा पितरों से अपने आप को छिपाता है। (तात्पर्य्य यही है कि देवपत्रक में आर्त्विज्यकर्म्म है। यह एक महान् कर्म्म है दिव्यकर्म्म है। इधर अध्वर्य्यु असत्यसंहित एक मनुष्य है सामान्य व्यक्ति है। सामान्य

न्यक्ति दि न्यन्न्सग का यजन करावे यह असङ्गत-सा है। पर तु करना पडता है। अपने इसी असम्य दित अपराध क लिए पहिले से ही क्षमा माग लेना आवश्यक है। इसी उद्देश्य की सद्धि के लिए उ ाराघाररूप आ ाय से पहिले ही अ वर्यु स्रुक्पात्रा क पूर्वभाग मे खडा होकर प्रणाम कर लेता है)।

(अञ्जलिनि ानानन्तर वह) अ वर्यु – **सुयम मे भूयास्तम्' हे जुहू, तथा उप भृत् नामक स्रुकपात्रो! आप दोनों मरे इस यज्ञार्थ गृहीत आ य के लिए आज्य के-अ छी प्रकार से धारण करने वाले बनें"** ।७) यह मन्त्र बोलता हुआ (दक्षिण हस्त मे जुहू उपभृत् नामक दोनो) स्रुक्पात्रा का ग्रहण करता है। **'आप दोनों मेर लिए-आ य का-उत्तम प्रकार से धारण करने वाले बानए, साथ ही आप दोनो पात्रों को मै अपने हाथ मे भलीभाात धारण करन योग्य ब ू"** म त्र भाग से यही कहा है।

(आगे का म त्र है)— **अस्कन्नमद्य देवेभ्य आ य सम्भ्रियासम्" ("आज इस यज्ञा-नुष्ठान काल मे दवताओ को लिए आप दोनो पात्रों मे स्थित इस आज्य को मै उस प्रकार से रख रहा हू जिससे यह भूमि पर न गिरता हुआ अस्कन्न-प्रतिष्ठित-बना रहे'** ।८)। **अनु ध रूप से आज मै दवताओ क लिए यज्ञ का वितान करने मे समर्थ बनूँ"** मन्त्र भाग से यही कहा गया है (जुहूपभृत्-पात्रों म गृहीत आ य सव ा स्थिर रहना चाहिए। तभी यज्ञवितानसिद्धि है। यदि हस्तकम्पनादिरूपा असावधानी से पात्रस्थित घृत कम्पित होजा-यगा तो वह उछट कर भमि पर गिर पडगा। परिणाम मे यज्ञ तान वि छिन्न होजायगी आ याहुति से उ पन्न होने वाले दैवा मा का स्वरूप विकृत होजायगा। इस स्कन्नभय से त्राण पाने के लिए ही उक्त म त्रशक्ति का आश्रय लिया गया है)॥१॥

(आगे का मन्त्रभाग है)— **'अडि घृणा विष्णो मा त्वावक्रमिषम्" (हे यज्ञमूर्त्ति विष्णो! मैं अपने पैरो से आपका अतिक्रमण न करू** २।८)। यज्ञ निश्चयेन विष्णु है। (इस मन्त्र भाग से) उसी यज्ञा मक विष्णु के लिए अपना अपराध शमन करवाता है जो-कि-**'मैं आपका अतिक्रमण न करूँ"** यह कहता है। (ता पर्य्य यही है कि आ यपूर्ण दोनों स्रुक्पात्रों का लेकर इस अ वर्यु को वागनुगत उत्तर आधार के लिए आहवनीय कुण्ड से दक्षिण दिशा की ओर आना पडता है। यह दक्षिणागमन आहवनीयरूप यज्ञमूर्त्ति विष्णु का अतिक्रमण रूप निरादर है। मन्त्रप्रार्थना के द्वारा इस दोष के लिए ही विष्णु से क्षमा प्रार्थना करता है)।

(आगे का मन्त्रभाग है)— **वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेषम्'** (हे आहवनीयाग्ने ! आप की छाया से युक्त सम्पत्तियुक्ता भूमि क समाप मे प्रतिष्ठित होरहा हूं' २।–) हे अग्ने ! आप की श्रेष्ठ (छत्र) छाया म मे प्रतिष्ठित होने जारहा हू" म त्रभाग स यही कहा है कि। दक्षिणादिक् याम्यादिक् है प्राणनाशिनी दिक् है । यहा आकर हा अ वर्य्यु को उत्तराधारकर्म्म करना है । दक्षिणादिगनुगत इस या यभाव की निवृत्ति क लिए ही मन्त्रशक्ति क द्वारा यह भावना की जाती है—कि म याम्यादिक म नहा जारहा अपितु अग्नि की छायारूप यज्ञस पत्तियुक्ता भूमि का आश्रय ले रहा हूँ) ।। ।।

(आगे का म त्र भाग है)— **विष्णो स्थानमसि'** (हे दक्षिण भूप्रदेश ! आप यज्ञ-मूर्त्ति विष्णु का आवासभूमि ह' ।–) यज्ञ (यज्ञात्मक आहवनीय अग्नि) विष्णुमूर्ति है । (दक्षिण प्रदेश म उत्तराधार क लिए खडा होता हुआ) अ वर्य्यु यज्ञात्मक विष्णु के समीप हा खडा होता है इसी अभिप्राय से **'आप विष्णु क स्थान है'** यह कहा गया ह । (तात्पर्य यही है कि आहवनीय अग्निरूप यज्ञप्रदेश से दक्षिण का प्रदेश वस्तुत असुर राक्षसा का प्रदेश है । यहीं खड होकर अ वर्य्यु को उत्तराधारकर्म्म करना ह । मन्त्रशक्ति क द्वारा इस प्रदेश की आसुरभावना हटान क लिए साथ ही आहवनीय यज्ञसामी य स इस प्रदेश म देवभावना स्थापित करने के लिए ही ऐसा कहना आवश्यक माना गया ह) ।

(मन्त्र का अगला भाग है)— **इत इन्द्रो वार्यमकृणोत्'** (' आहवनीयाग्नि से दक्षिणस्थ प्रदेश से ही इन्द्र ने दक्षिणस्थ असुर राक्षसों का निरोधात्मक पुरुषार्थ किया है' ।–) । दक्षिण दिशा मे खड होकर ही इन्द्र ने दक्षिण की की ओर से आक्रमण करने वाल असुर-राक्षसा का सहार किया था इसी अभिप्राय से **'यहा से इन्द्र न वीर्य (पुरुषार्थ) किया** यह कहा गया है । (तात्पर्य यही है कि जिस दक्षिण प्रदेश म खड होकर अध्वर्यु उत्तराधार कर्म्म करने वाला है वह प्रदेश यज्ञमूर्त्ति विष्णु के स ब ध से तो यज्ञियप्रदेश बन ही रहा है साथ ही यज्ञपति इन्द्रप्राण के सम्ब ध से साक्षाद्रूप से भी यह यज्ञभूमि बन रहा है । मन्त्रशक्ति के द्वारा उसी ऐ सम्पत्ति की भावना की गई ह ।

(म त्र का अगला भाग ह)— **'ऊर्ध्वोऽध्वर आस्थात्'** (दक्षिणस्थ इन्द्र क द्वारा सुरक्षित यह यज्ञ द्यु लोकपर्य्यन्त प्रतिष्ठित-वितत होगया ।–) । **यज्ञ ऊर्ध्वस्थान म प्रतिष्ठित होगया** मन्त्रभाग से यही कहा गया है । (तात्पर्य यही है कि जिस दक्षिण प्रदेश को भयावह समझा जाता है वह तो यज्ञाग्निलक्षण विष्णु के स ब ध से तथा यज्ञाधिपति इन्द्र के

सम्बन्ध से यज्ञस्वरूपसमर्थक बन रहा है। इन्द्ररक्षा से रक्षित होकर ही देवताओं का प्राकृतिक यज्ञ भूलोक से चलकर द्युलोक में प्रतिष्ठित हुआ है। मन्त्र के द्वारा उसी ऊर्ध्व प्रतिष्ठा की भावना की गई है) ॥३॥

(आगे का मन्त्रभाग है।)— "अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यम" [हे आहवनीयाग्ने ! आप अपने होत्रकर्म्म से परिचय प्राप्त कीजिए, एवं अपने देवदूतत्व से परिचय प्राप्त किजिए" २।६) ये अग्नि देवताओं के होता भी है दूत भी है दोनों है। 'जो कि आप देवताओं के होता तथा दूत दोनों है अपने इस उत्तरदायित्व को अपने ध्यान मे लाइए" मन्त्रभाग से यही कहा गया है। (हुत आज्याहुति) को द्युलोकस्थ प्राणदेवताओं में पहुचाने से ये अग्नि देवताओं के होता है। साथ ही दिव्य देवताओं को आहवनीय मे प्रतिष्ठित कर उनका पार्थिव देवताओं से सम्बन्ध कराने के कारण ये ही आग्नेन देवताओं के दूत भी है। प्रकृत आज्याहुति से दोनों सम्पत्तियां अभीष्ट है। मन्त्र के द्वारा उन्ही की भावना की गई है)।

(मन्त्र का अगला भाग है)—'अव द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी' [आज्याहुति लेकर भूलोक से द्युलोक जाते हुए आप की द्यावापृथिवी रक्षा करे, एवं आप स्वयं भी द्यावापृथिवी की रक्षा करे २।६।] । इस मन्त्र भाग मे कुछ भी अस्पष्ट नही है [अर्थात् मन्त्रार्थ स्पष्ट है] ॥

(मन्त्र का अगला भाग है) 'स्विष्टकृद् देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा' ('आज्यरूप हविर्द्रव्य से युक्त इन्द्र देवताओं के लिए स्विष्टकृत्—भलीभांति इष्टसाधक-बन गए २।६।) । इन्द्र यज्ञ के देवता है। इसी अभिप्राय से इन्द्र आज्य से (युक्त होकर स्विष्टकृत् बन गए)' यह कहा गया है। इस उत्तराघार का सम्पादन अध्वर्यु वाक् के लिए ही करता है। वैज्ञानिकोंने इन्द्र का वाक् कहा है। इसलिए भी इन्द्र आज्य से' यह कहा है। (तात्पर्य यही है कि प्रकृत मन्त्र भाग से स्रुक्पात्र के द्वारा आहवनीय में मे उत्तराघार डाला जाता है। यह आघार वाक् के लिए है। परन्तु मन्त्र के द्वारा नामनिर्देश इन्द्र का हुआ है। कारण यही है कि यज्ञ के देवता हैं। इस यज्ञाधिपतित्त्वेन भी वागर्थविहिता आज्याहुति के लिए— 'इन्द्र आज्येन' यह कह दिया गया है। साथ ही इन्द्र ही वाक् है एवं वाक् के लिए ही उत्तराघार है अतएव इन्द्र आज्येन कहना अन्वर्थ बन जाता है) ॥४॥

('अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितं सम्मार्ज्मि' (२।७ यह) मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र ऋत्विक् अध्वर्यु के द्वारा पूर्वाघाराहुति होने के अनन्तर अग्निसम्मार्जन करता है।

अनन्तर आहवनीय से उत्तर प्रतिष्ठित अध्वर्यु जुहू एवं उपभृत् को अपने आगे रखकर इनके मुख स्थानीय पूर्व भाग की ओर **नमो देवेभ्य, स्वधा पितृभ्य** (। ।) यह मन्त्र बोलता हुआ प्रणाम करता है। प्रणामानन्तर-**'सुयम मे भूयास्त अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्य सम्भ्रियासम्'** (३।८।) यह मन्त्र बोलता हुआ स्रुक्पात्रों का ग्रहण करता है। ग्रहणानन्तर उत्तराघारकर्म्म के लिए दक्षिणप्रदेश में आता हुआ— **अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषम्** यह मन्त्रोच्चारण कर अतिक्रमण-जनित अपराध का निह्नव करता है। अपराध के निह्नवानन्तर— **वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेष विष्णो स्थानमसि'** यह मन्त्र बोलता हुआ आहुति देने के लिए नियत स्थान पर खड़ा होजाता है।

सर्वान्त में— **इत इन्द्रो वीर्य्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वर आस्थात्। अग्ने वेर्होत्र वेर्दूत्यमवत्ता द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी। स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा'** यह मन्त्र बोलता हुआ आहवनीयाग्नि मे उत्तराघाराहुति हुत कर देता है। इसप्रकार यहां आकर उत्तराघारकर्म्म समाप्त होता है। १ २ ३ ४ इन चार कण्डिकाओं में इसी कर्म की इतिकर्त्तव्यता का प्रतिपादन हुआ है जिस का सुविधा के लिए एकत्र सकलन कर दिया गया है। उत्तराघाराहुतिकर्म्मानन्तर क्या होता है? आगे का ब्राह्मणप्रकरण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है)—

(उपभृत् नामक स्रुक्पात्र पर जुहू नामक स्रुक्पात्र रक्खा रहता है। आहुति देते समय उपभृत् से जुहू को पृथक् कर लिया जाता है। इसी सम्बन्ध में विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है) उत्तराघार होमानन्तर वह अध्वर्यु उपभृत तथा जुहू नामक दोनों स्रुक्पात्रों का परस्पर स्पर्श न कराता हुआ दोनों को पृथक् पृथक् रखता (हुआ ही आहवनीय अग्नि के दक्षिण भाग से) वापस (आहवनीय अग्नि के पूर्वभाग में) लौट कर (यहाँ रक्खे हुए ध्रुवपात्र से उस जुहू को मिलाता है। (क्यों मिलाता है? इस की उपपत्ति बतलाते हैं)—वागनुगत यह उत्तराघारहोम (पूर्वकथनानुसार) यज्ञ का मस्तक है एवं ध्रुवापात्र आत्मा है। (जुहू को ध्रुवा से मिलाता हुआ अध्वर्यु) आत्मा में ही (धड़ में ही) शिरोभाग प्रतिष्ठित करता है। उत्तराघारहोम इस यज्ञ का शिर है (आत्मा का अमृताग्निलक्षण) श्रीभाग (सार भाग) ही श्री है। शिरोभाग निश्चयेन श्री है अतएव जो (जिस) भाग का श्रेष्ठ होता है (उसके लिए लोक में) **वह अमुक भाग का शिर है** यह कहा जाता है। इसीलिए शिर वास्तव में श्री का रूप है। जुहू को आत्मा से मिलाना आत्मा को इस शिरोरूप श्रीभाग से ही युक्त करना है यही तात्पर्य है) ॥५॥

यज्ञकर्त्ता यजमान ध्रुवापात्र को लक्ष्य बना रहा है (यजमान ध्रुवास्थानीय है)। एवं जो इस यजमान के लिए शत्रुता करता है वह उपभृत् को लक्ष्य बना रहा है (अर्थात् उपभृत्

यजमान के शत्रु का प्रतिकृति है)। (ऐसी स्थिति में) यदि वह अध्वर्यु उपभृत्पात्र से ध्रुवा का सम्बन्ध करा देगा तो वह यजमान के लिए शत्रुता करता है उस यजमानशत्रु में श्री का स्थापन कर देगा। (ऐसा न कर) अध्वर्यु (जुहू के सम्बन्ध से) यजमान में ही श्री का स्थापन करता है। इसीलिए (जुहू को ही ध्रुवा से मिलाता है ॥६॥

(जुहू को ध्रुवा से मिलाने की उपपत्ति बतला कर अब पद्धति बतलाते हैं) यह अध्वर्यु **सञ्ज्योतिषा ज्योति' (ध्रुवास्थित आज्यरूप ज्योति के साथ जुहूस्थित आज्यरूप ज्योति मिल जाय २ ६)** यह मन्त्र बोलता हुआ जुहू को ध्रुवा से मिलाता है। (ध्रुवा तथा जुहू दोनों यज्ञ पात्रों में से) एक (ध्रुवा) पात्र में स्थित आज्य (भी) निश्चयेन ज्योति है एवं एक (जुहू) में स्थित आज्य (भी) ज्योति है। (जुहू का ध्रुवा से सम्बन्ध कराने पर) ये दोनों आज्यज्योतियां परस्पर मिल जाती है। इसीलिए पूर्वोक्तरूप से समञ्जन करता है ॥७॥

(उत्तराघार एन्द्र बनता हुआ वागनुगत है एवं पूर्वाघार मनोऽनुगत बनता हुआ प्राजापत्य है। वागनुगत उत्तराघार समन्त्रक होता है एवं मनोऽनुगत पूर्वाघार उपांशु होता है। प्राजापत्य पूर्वाघार क्यों होता है? इसकी वैज्ञानिक आख्यानके द्वारा उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है कि) अब यहां से मन तथा वाक् इन दोनों के (अहमहमिका लक्षण) अहंभद्र (पारस्परिक उत्कर्ष स्थापन) के सम्बन्ध में कहा जाता है। मन और वाक् दोनों अपने अपने उत्कर्ष के सम्बन्ध में विवाद करने लगते है ॥८॥

(इस पारस्परिक) विवाद–प्रसङ्ग में मन कहने लगा कि (हे वाक्!) मैं हीं तुझ से श्रेष्ठ उत्कृष्ट हूं। (इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि) तू ऐसा कुछ भी नहीं बोलती (बोलसकती) जो मुझसे अधिगत न हुआ हो। (अर्थात् मेरे संकल्पितभाव का तू अनुवादमात्र ही कर सकती है)। जो कि तू (वाक) मेरी कृतानुकरा (मानसिक संकल्प का अनुवाद मात्र करने वाली) है अतएव मेरे पीछे पीछे चलने वाली (अनुवर्त्मा) है। अतः मैं हीं तुझसे श्रेष्ठ हूं ॥९॥

(मन के इस तर्क को सुनकर वाक कहने लगी (हे मन!) मैं ही तुझसे श्रेष्ठ हूं। (इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि) जो कुछ तू (अपनी भावना के साम्राज्य में) जानता है (संकल्प करता है) उसे मैं हीं (दूसरों को) जनाती हूं सम्यग्रूप से बोध कराती हूँ। (इसलिए मैं हीं तुझ से श्रेष्ठ हूं) ॥१०॥

(मन और वाक् का यह पारस्परिक विवाद दोनों से जब किसी निर्णय पर न पहुंचा तो) दोनों अपने अपने प्रश्न के निश्चयात्मक निर्णय के लिए प्रजापति के समीप पहुंचे। प्रजापति

ने (दोनों की युक्ति तक सनकर) मन की श्र ष्ठता क पक्ष म हीं अपना सम्मति प्रकट का। (और निणय किया कि हे वाक !) मन हीं तेरी अपेक्षा श्रेष्ठ (अतएव उत्कृष्ट) है। तू मन क द्वारा कृत(सकल्पित मनोभाव) का अनुकरण करन वाली है मन क पीछ पीछ हा अनुधावन करन वाली है। (लाकिक दृष्टि से भी यह सिद्ध विषय है कि) निम्न श्रेणि का व्यक्ति ही अपन से श्रेष्ठ व्यक्ति क किए का अनुकरण करता है एव उसक निदिष्ट पथ पर चलता है ॥११॥

(इसप्रकार प्रजापति क मुख स) पराजित कही जाती हुई वह वाक् विस्मिता बनकर उपशून्या (मदगलिता) बन गई सका अभिमान चूर चर होगया। [प्रजापति से निणय का प्रतिशोध लेती हुई] वह वाक प्रजापति से कहने लगी कि [आज से] मैं तुह्मार लिए ह यवहन करने वाली न बनूँ [नहीं बनूगी] जिस मुझको कि आपने [आज मन की प्रतिस्पर्द्धा म] पराजित कहा है। [क्योंकि वाक ने प्रजापति क लिए अहव्यवाट बनने का निश्चय कर लिया था] अतएव यज्ञकम्म म [प्रजापति सम्बन्धी] जो भी प्राजापत्य कम्म किया जाता है वह उपाशु ही होता है। क्योंकि वाक् प्रजापति क लिए अहव्यवाहना थी। [तात्पय्य आख्यान का यही हुआ कि मनोऽनुगत पूर्वाघार प्राजापत्य कम्म है यहा वाक्-व्यापार अवरुद्ध है। अतएव पूर्वाघार उपाशु हा किया जाता है ॥१२।

[प्रजापति क निणय से वाक का गभपात होगया रेतस्खलन होगया। वह स्खलित वाग्रेत कहा गया ? इस सम्बन्ध मे एक वैज्ञानिक तत्त्व का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है कि]— देवताओंन [वाक् क] उस रेतोभाग [स्खलित-वागरेत] को चम्म मे [गर्भाशयरूप चम्मपात्र म] अथवा जिस किसी भी (अनुरूप) पात्र मे रख दिया (इसप्रकार चम्म किंवा अन्य किसी इस अनुरूप पात्र म स्खलित वाग्रेत का प्रतिष्ठित कर) देवता परस्पर पूछते हैं कि चर्म्म तथा अनुरूप अन्य पात्र मे रक्खा गया वागरेत किस अवस्था म परिणत होगया ? (देवताओं क 'अत्रैव स्यात्' इस विचार स ही कालान्तर म) चम्म तथा पात्रस्थ उस वाग्रेत से अत्रि' उत्पन्न होगया। क्योकि गर्भाशय मे स्थित वाग्रेत से ही अत्रि का प्रादुर्भाव हुआ अतएव सुतगर्भा रजस्वला स्त्री 'आत्रेयी' नाम से व्यवहृत की जाती है। ऐसी (आत्रेयी) स्त्री से (काम स्पर्शादि लक्षण) सम्पक रखने वाला पुरुप पातकी बन जाता है। स्त्रीरूपात्मिका इस वाग देवता से ही सम्पूण गर्भो की स्वरूप निष्पत्ति हुई है (होती है) ॥१३॥

चौथे अध्याय मे पॉचवॉ, तथा चौथे प्रपाठक मे पहिला
ब्राह्मण समाप्त

आघारब्राह्मणानुगत- द्वितीय ब्राह्मण उपरत

—२—

———*——

द्विब्राह्मणात्मक—'आघारब्राह्मण' समाप्त

———*———

इति—मूलानुवाद

शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्यान्तगत-प्रथम काण्डानुगत
चतुथ-अध्याय-अत्र उपरत

—४—

———*———

सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह —

सामिधेनी कर्म्मसमाप्ति के अनन्तर पूर्वोत्तराघार कर्म्म विहित है। **समिद्ध इति प्रागत सर्वामिध्ममेकवर्जमनुयाजाश्चेत्**" [का श्रौ सू ३।१।११] इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सामिधेन्यनुवचन-कर्म्मानन्तर अनुयाजकरण-पक्ष में एक इध्मकाष्ठ बचा कर शेष सम्पूर्ण इध्म-काष्ठ आहवनीयाग्नि में डाल दिए जाते हैं एवं यही सामिधेनी कर्म्म का अन्तिम समाप्ति है। इस सामिधेन्यनुवचनकर्म्म के अनन्तर कुशानिर्म्मित अग्निप्रदीपक व्यजनस्थानापन्न वेद (कुशा) से आहवनीयाग्नि का तीन बार प्रज्ज्वलन कर आज्यस्थाली से ध्रुवापात्र में घृत लेकर इस स्रुव से तूष्णीं आहवनीयाग्नि के उत्तर प्रदेश में दक्षिणजानु को नमाकर बैठता हुआ आहवनीयाग्नि के उत्तर प्रदेश में पूर्व की ओर झुकती हुई पूर्वाघाराहुति देता है आहुति देते समय अपने मन ही मन में— **'ओ प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये न मम'** यह ध्यान करना आवश्यक है। क्योंकि यह पूर्व घाराहुति मनोऽनुगता बनती हुई प्राजापत्या है। तूष्णीं पूर्वाघाराहुति के अनन्तर वह अध्वर्यु **स्फ्य** तथा **इध्मसन्नहन'** इन दोनों को आग्नीध्र नामक ऋत्विक् को सौंपता हुआ उसके प्रति— **'अग्निमग्नीत् समृद्धि"** यह प्रैष करता है। [हे आग्नीध्र ! क्योंकि इस अग्नि में द्योतिलक्षण उत्तराघार की समन्त्रक आहुति होने वाली है अतएव आहवनीय अग्नि को भस्मरहित कर प्रज्ज्वलित करो यही तात्पर्य है। अग्नि का प्रज्ज्वलित करना ही अग्निसम्मार्जन कर्म्म है। अध्वर्यु कृत पूर्वाघार के अनन्तर क्योंकि यही कर्म्म होता है अतः अध्वर्यु इसी के लिए पूर्वाघारमाघार्य प्रैष करता है। पूर्वाघारकर्म्म की इसी इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

अनुवचनान्ते वेदेनाहवनीयं त्रिरुपवाज्य, स्रुवेण पूर्वाघारमाघार्य-आह "अग्निमग्नीत् समृढ्ढी"ति' (का श्रौ सू ३।१।१२)।

बतलाया गया है कि पूर्वाघारकर्म्मानन्तर स्फ्य तथा इध्मसन्नहनतृण दोनों को आग्नीध्र के हाथ में सौंपता हुआ अध्वर्यु उसे अग्नि सम्मार्जनकर्म्म के लिए प्रेरित करता है। अध्वर्यु के द्वारा प्रेरित आग्नीध्र अध्वर्यु के द्वारा प्रदत्त इध्मसन्नहनतृणसमूह से पूर्व की ओर से घूम कर **'अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितं सम्मार्ज्मि'** यह मन्त्र बोलता हुआ दक्षिण-परिधि का सम्मार्जन करता है। एक बार उक्त मन्त्र से तथा दो बार तूष्णीं इसप्रकार दक्षिण परिधि का तीन बार सम्मार्जन करता है। अनन्तर उसी मन्त्र से एक बार पश्चिम परिधि का दो बार तूष्णीं इस प्रकार तीन बार सम्मार्जन करता है। अनन्तर उसी मन्त्र से एक बार उत्तर

परिधि का त था न्ग नार तूष्णीं इसप्रकार तीन बार सम्माजन करता है । इसप्रकार पश्चिम दक्षिण उत्तरस्थ तीन परिधियों का एक क बार मन्त्र से दो–दो बार तूष्णी सम्भूय ६ नार सम्मानन करता है । इसी इध्मसम्माजनकम्म की न्तिकत्त यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते है—

'इध्मस नहनरनुपरिधि सम्माष्टि—"अग्नेवाजजि' दिग त्रिस्त्रि परिक्रामम्" (का श्रो सू ३।१।१३ ।]

सम त्रक परि त्रिसम्माजनान्तर उत्तरस्थान मे खडा होकर नह आग्नीध्र बिना मन्त्र प्रयोग क आहवनीय अग्नि का तीन बार सम्माजन कर । है जैसा कि **तूष्णीमुपरि** ' (का श्रौ सू ३।१।१४) सूत्र से प्रमाणित है ।

इसप्रकार जब आ नीध्र त्रिस्त्रिवार सम त्रक परिधित्रयसम्माजनकम्म तथा त्रिवार तू णी आहवनीयाग्निसम्मानन कर लता है तो अन तर वह अ वर्यु **'ओं नमो देवेभ्य ओं स्वधा पितृभ्य "** यह बालना हु आ जुहू त था उपभृत् नामक स्र कपात्रा क पूवभाग म अञ्जलि–पुट रखता है (प्रणाम करता है) । देवता तथा पित भेद से दो बार अञ्जलिपुटस्थापन होता है । इन मे प्रथम देवानुगत अञ्जलिपुट स्थापन पूव म होता है क्योंकि पूर्वादिक देवताओं की है । एव दूसरी अञ्जलि दक्षिण मे होती है क्योंकि दक्षिणादिक् पितरा की है । **'स स्रु चोत्तरमाघारमाघारयिष्यन् पूर्वेण स्र चावञ्जलिं निदधाति"** (शत १।४।४।१) क अनुसार अञ्जलिस्था–पनकम्म उत्तराघारकम्म से सम्बद्ध ह । इस से यही निष्कष निकलता है कि जिस यज्ञ–कम्म मे उत्तराघारकम्म अभीष्ट है वहीं अञ्जलिस्थापन कम्म होता है । एव जहा उत्तराघारकम्म अविविक्षित है वहा अञ्जलिस्थापन भी अविविक्षित है । इसी अञ्जलिनिधानकम्म की इतिकत्त–व्यता बतलाते हुए सूत्रकारने कहा है—

'अपरमाहवनायादञ्जलिं करोति नमो दवेभ्य ' – स्वधा पितृभ्य '–इति दक्षिणत उत्तानम्" [का श्रो म ३।१।१५।]

देवताओं के लिए पुटाञ्जलि की जाती है उस समय अध्वर्यु यज्ञोपवती रहता है एव पितरों क लिए स व्यभाव मे परिणत होकर पुटाञ्जलि करता है । इस के अनन्तर ही देवकम्मा–त्मक उत्तर धार के लिए जुहूपभृत् का ग्रहण होने वाला है । इस से पूवकृत पित–सम्बन्धी पुटा–ञ्जलि क यव च्छेद के लिए अ वर्यु आचमन करता है । पुन यज्ञोपवीतीभाव मे आकर पहिले आचमन करता है । अनन्तर— **सुयमे मे भूयास्तमस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्य साभ्रयासम्'** यह मन्त्र बोलता हुआ अपने दहिने हाथ मे आ यपूण जुहूपभृत् को लेकर—

"अदि प्रणा त्रिष्णो मा गाऽवक्रामषम" यह मन्त्र बोलता हुआ आघारस्थान प्रदेशरूप आहवनीय के दक्षिण भाग मे आजाता है। सभी होमकर्म्मो के लिए अध्वर्यु पारधि के पश्चिम भाग से नियत सञ्चर मार्ग के द्वारा गमन करता है। साथ ही यागप्रदेश मे सञ्चरमार्ग से पहिले वामपाद से गमन आरम्भ करता है एवं यागानन्तर वापस लौटता हुआ पाहले दक्षिण पाद से आगमन आरम्भ करता है। इसप्रकार आहवनीय के दक्षिण भाग मे पहुंच कर यह अध्वर्यु—"वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेष विष्णो स्थानमसि" यह मन्त्र बोलता हुआ आहुति देने के लिए सावधानी से खडा होजाता है। निम्न लिखित मन्त्र उत्तराघारसम्बन्धिनी इसी इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

"अप उपस्पृश्य 'सुयम म' इति जुहूपभृतावादायोत्तरो जुहू कृत्वा दक्षिणाऽतिक्राम त्यड घ्रणा विष्ण" त्निति' (का ३।१।१६)।

'परिधीनपरेण सञ्चरो होष्यत" (का ३।१।१७)।

'स यनेतो दक्षिणनामुत" (का ३।१।१८)।

'वसुमती" मि त्यवस्थाय" (का ।१।१६।]।

इति कात्यायनश्रौतसूत्रे तृतीयाध्याये प्रथमा कण्डिका (३।१)

नियत सञ्चारमार्ग से आहवनीयाग्नि के दक्षिण भाग मे आकर खडा होकर यह अध्वर्यु—'इत इन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वाऽध्वर आस्थात्। अग्न वेर्होत्र वेदू त्यमवता त्वा द्यावापृथिवीऽअव त्वा द्यावापृथिवी स्विष्टकृद् वेभ्य इन्द्रऽआज्यन हाविषाभूत् स्वाहा' यह मन्त्र बोलता हुआ स्वाहा त मे जुहूस्थित आज्य की जुहू से आहवनीयाग्नि मे आहुति देता है। यही उत्तराघाराहुति है जिसका निम्न लिखित सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

'इत इन्द्र इति जुहोत्युत्तराघारम्' [का श्रौ सू ३।२।१।]

उत्तराघार सम्पादनानन्तर वह अध्वर्यु आहुतिसाधक जुहू का उपभृत् से न मिलाता हुआ ही वापस उस स्थान से पश्चिम की ओर लौट आता है। वहा आकर नियत स्थान पर रक्खे हुए आज्यपूर्ण ध्रुवापात्र मे जुहूस्थित शेष आज्य को सञ्ज्योतिषा ज्योतिर्गच्छताम् यह मन्त्र बोलता हुआ डाल देता है। यही उत्तराघारकर्म्म की अन्तिम इतिकर्त्तव्यता है जिस का निम्न लिखित सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

'आघारासस्पर्शयन् स्रुचावेत्य जुह्वा ध्रुवा समनक्ति- सञ्ज्योतिषे" ति' [का श्रौ सू ३।२।।]।

इति—सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह

—— * ——

वैज्ञानिविवेचना—

१ – आघारकर्म्मोपपत्ति

(भाष्य) पूर्वब्राह्मण मे प्रतिपादित सामिधेन्यनुवचनकर्म्म से आहवनीय इद्ध अग्नि का होता के द्वारा समिन्धन होगया है। इस समिन्धनकर्म से यह आहवनीय लौकिक इद्ध अग्नि समिद्ध बनता हुआ अलौकिक दिव्याग्नि बन गया है। आहुतिलक्षण यज्ञकर्म्म से यजमान के आध्यात्मिक देवताओं का आधिदैविक प्राणदेवताओं के साथ ग्रन्थि-बन्धन-सम्बन्ध अभीष्ट है। आहुतिद्रव्य में **यावद्वित्त तावदात्मा** सिद्धान्त के अनुसार यजमान का मन प्राणवाङ्मय आत्मा प्रविष्ट है। आहुतिप्रविष्ट यजमानात्मा दिव्य-देवप्राणयुक्त आहवनीय अग्नि के द्वारा दिव्यदेवताओं के साथ अवश्य ही युक्त होजाता है। इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए आहवनीयाग्नि का सामिधेन्यनुवचन से समिन्धन किया जाता है। बिना दिव्य प्राणाग्नि प्रवेश के आहवनीय अग्नि लौकिकाग्निवत् सामान्य अग्नि है। इसमें आहुति देना लौकिक भूताग्नि में ही आहुति देना है। एवं ऐसे आहुतकर्म्म से दिव्यलोकप्राप्तिफलरूप यज्ञातिशय की प्राप्ति असम्भव है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक होजाता है कि आहुति-कर्म से पहिले इस लौकिक अग्नि को किसी वैज्ञानिक प्रक्रियाविशेष से दिव्यप्राणाग्नि से युक्त कर दिव्याग्नि बना लिया जाय। यही वैज्ञानिक-प्रक्रिया सुप्रसिद्ध **सामिधेन्यनुवचनकर्म्म** है जिसका पूर्वविवेचना-प्रकरण में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाचुका है। उस कर्म से आहवनीय अग्नि दिव्यदेवप्राणयुक्त बन जाता है। अब इसमें जो आहुति दी जायगी वह अवश्य ही द्युलोकस्थ देवताओं की भाग्या बनेगी। एवं आहुति के द्वारा आहुतिद्रव्य में प्रविष्ट यजमान का आत्मा भी अवश्य ही दिव्यभाव-प्राप्ति का अधिकारी बन जायगा। पूर्वब्राह्मणोक्त सामिधेन्यनुवचन-कर्म्म की इसी उक्त उपपत्ति का सिंहावलोकन न्यायेन स्मरण कराती हुई श्रुति कहती है—

'तं वा एतमग्निं समैन्धिषत (सामिधेन्यनुवचनकर्मणा समैन्धिषत) 'समिद्धे देवेभ्यो जुहवाम इति'

सामिधेन्यनुवचनकर्म्म से आज यह आहवनीय अग्नि दिव्यप्राणयुक्त बनता हुआ देवाहुति ग्रहण-योग्य बन गया है। अब इस में अग्नि नामक ध्रुवक नियत ऋग्दिदेवता [**आग्नेयदेवता प्रधानदेवता**] के लिए आहुति प्रदान करेगा। परन्तु इस प्रधानाहुतिरूप प्रधानदेवतायाग से पहिले इस समिद्ध अग्नि में **पूर्वाघार उत्तराघार** नाम की दो मुख्य आहुतियां और दी जाती हैं। इनमें **पूर्वाघाराहुति से मन** की **स्वरूप-निष्पत्ति होती है एवं उत्तराघाराहुति से वाक की स्वरूप निष्पत्ति होती है**। मनो-वाक के स्वरूप-निष्पादन की प्रकृत यज्ञ-कर्म्म में आवश्यकता क्यों हुई? अगला प्रकरण इसी प्रश्न की वैज्ञानिक उपपत्ति बतलाने के लिए प्रवृत्त होरहा है।

चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री-सम्पत् से युक्त-चतुर्विंशत [२४] स्तोमावच्छिन्न पृथिवीलोक चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप-सम्पत् से युक्त चतुश्चत्वारिंशत् (४४) स्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्ष-लोक एवं अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगतीसम्पत् से युक्त-अष्टाचत्वारिंशत् (४८) स्तोमावच्छिन्न

द्यलाक इन तीनो लोको की समष्टिरूपा भूकेन्द्र स आर म कर पारागतपृष्ठा ना ४८ व अ गण पय्य त या ता शाकरसामानुगता त्रलोक्यरूपा अमृतलक्षण वाकशुक्रानुगता द्य लोका मिका वाङ्मयी महा-पृ त्रिवी ही पार्थिव जगत् का तीसरा वित्त है।

त्रयस्त्रिंशत् (३३) अहर्गणात्मक द्य लाक द्वात्रिंश [२] अहर्गणा मक अन्तरिक्षलोक एव एकादश [११] अगणा मक पृथिवीलोक इन तीना लोको की समष्टिरूपा भूकेन्द्र से आर म कर आ यपृष्ठा ता ३३ व अहगण पय्य त या ता वरूपसामानुगता त्रलोक्यरूपा अमृत लक्षण-आप शुक्रानुगता अ तरिक्षलोका मका आपोमयी पृथिवी ही पाथिव जगत् का दूसरा विव र्त है।

एकविंश [२] अहर्गणा मक द्य लाक पञ्चदश [१५) अहर्गणा मक अ तरिक्षलोक एव त्रिवृत [९] अहर्गणा मक पृथिवीलोक इन तीनो लोको की समष्टिरूपा भूकेन्द्र से आरम्भ कर आ नेयपृष्ठा ता २१ व अहगण प यन्त या ता रथन्त सामानुगता त्रलाक्यरूपा अमृतलक्षण अग्नि शुक्रानुगता पृथिवीलोकात्मका अग्निमयी (आ नसोममयी) पृथिवी ही पार्थिवजगत् का पाहला विवर्त है।

अष्टाचत्वारिंशत्(४८) स्तोमावच्छिन्ना वाङ्मया पृथिवी विश्वम्भरा कहलाई है त्रयस्त्रिंशत् [३३] स्तोमावच्छिन्ना आपोमयी पृथिवी सागराम्बरा कहलाई है एव कविंश (१) स्तोमावा च्छिन्ना अग्निमया पृथिवी अदिति कहलाई है त्रलोक्या मिका अदिति पृथिवी पृथिवीलोक है त्रैलोक्या मिका सागराम्बरा पृथिवी अ तरिक्षलोक है एव त्रलोक्या मिका विश्व भरा पृथिवी द्य लोक है। इस त्रैलाक्य-त्रिलोकीरूपा नवलोकात्मिका महिमा पृथिवी का वितान भूपिण्ड के केन्द्र से हुआ है। भूकेन्द्रावच्छिन्न भूपिण्ड भू है एव त्रलाक्यत्रिलोकीरूप महिमामण्डल पृथिवी है। इस महिमा-पृथिवी के पृथवी-लोकस्थानीय एकविंशस्तोमावच्छिन्न अदिति नामक त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश भेद स त्रैलोकक्या मक पार्थिव वि र्त का ही प्रकृतयज्ञ क म से सम्ब ध है जसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

पार्थिवविवर्त्तपरिलेख —

(३)	(९)—३—नागतस्तोम (४८) द्यौ (३) (८)—२ त्र ष्टुभस्तोम (४ —अन्तरिक्षम् (३) (७)—१—गायत्रस्तोम (२४) पृथिवी	३ वाङ मयी पृथिवी [शाक्वरसाम]	विश्वम्भरा पृथिवी द्यौ
(२)	(६)—३—त्रयस्त्रिंशत्स्तोम (३३) द्यौ (२) (५)—२ द्वाविंशस्तोम २२) अन्तरिक्षम् (२) (४) १—एकादशस्तोम (११) पृथिवी (२)	—२आपोमयी पृथिवी [वैरूपसाम]	—सागराम्बरा पृथिवी अन्तरिक्षम्
(१)	(३)—३ एकविंशस्तोम (२१) द्यौ (१) ( )— —पञ्चदशस्तोम (१५) अन्तरिक्षम् (१) (१)—१ त्रिवृत्स्तोम (९) पृथिवी (१)	—१अग्निमयी पृथिवी [रथन्तरसाम	अदिति पृथिवी पृथिवी

उक्त तीनो—पार्थिव विवर्त्तों में से रथन्तरसामानुगत अदितिलक्षण प्रथम पार्थिव विवर्त्त की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। भकेन्द्र से आरम्भ कर २१ व अहर्गण पर्यन्त व्याप्त अग्नि शुक्र के आधार पर क्रमश **त्रिवृत्** [९] **पञ्चदश** [१५] **एकविंश** [२१] ये तीन अयुग्मस्तोम प्रतिष्ठित हैं। इन तीनो अयुग्मस्तोमो में क्रमश **अग्नि वायु इन्द्र** ये तीन प्राणदेवता प्रतिष्ठित है। तीनो के विभतिभाव आगे जाकर ८ ११ १२ क्रम से ३१ सख्या में परिणत होजाते हैं २ साध्य प्राणो के सकलन से अदिति के गर्भ में ३३ प्राणदेवदेवताओ की सत्ता सिद्ध होजाती है। ये ही यज्ञिय देवदेवता कहलाए है। आहवनीयाग्निसमिन्धनकर्म्म से इन्ही यज्ञिय प्राणदेवताओ का सग्रह हुआ है।

ये ३३ सों यज्ञिय देवता स्वय प्राणात्मक हैं। **मन** तथा वाक ये दोनो तत्त्व इन प्राणात्मक दोनो की मूलप्रतिष्ठा हैं। जिसप्रकार एक पात्र में जल भरा रहता है एवमेव मनोमय वाग्रूप पात्र में प्राणरूप देवता प्रतिष्ठित हैं। **मनोवाग्रूपपात्र वयोनाध ह छन्द है। प्राणरूप देवता वय है। एव वय—वयोनाध की समष्टि ही वयुनम् है।** यही—मन प्राण वाङमयी देवसम्पत् है जिनका प्रकृत इष्टिकर्म्म के द्वारा यज्ञकर्त्ता यजमान अपने **मन प्राण वाङ्मय आत्मा** के साथ योग करना चाहता है।

भकेन्द्र में प्रजापति प्रतिष्ठित है यही **हृद्य अन्तर्य्यामी अनिरुक्त प्रजापति** कहलाया है। यही प्रजापति भूपिण्ड **प्रथिवी** भेद—भिन्न **पार्थिवजगत्** की मूलप्रतिष्ठा है। इस हृद्य प्रजापति की **प्राण वाग्गर्भित मनोमय अनिरुक्त प्रजापति मनो वाग्गर्भित प्राणमय उद्गीथप्रजापति एव मन प्राणगर्भित वाङमय सर्वप्रजापति** इस रूप से तीन अवस्था होजाती हैं। भकेन्द्र में आत्मप्रजापति की

प्राण तथा वाक ये दोनो कलाए उन्मुग्ध रहती ह मन कला उदबुद्ध रहती है। अतएव **"नुप्रतिष्ठ यदजिर जविष्ठ तन्मे मन शिवसकल्पमस्तु** (यजु स ३४।६) "त्यादि रूप म मन को भी हृत्प्रतिष्ठ मान लिया जाता है।

हृत्पृष्ठ से आर भ कर १ व अहगण प यन्त आ नेय प्राण का प्राधा य रहता है। इमम भी १ वा अहगण मुख्य माना गया है। कारण यही है कि ३३ अहगणा मक सागराम्बरा लक्षण पार्थिव विवर्त के १६–१६ भेद स दो विवत्त होजाते हैं। हृत्पृष्ठ से आरम्भ कर १६ प यन्त अग्नितत्व का त था १८ से आर भ कर ३३ प य त [१८ से २ प यन्त भास्वरसोम का तथा २८ से ३३ पर्यन्त दिक्सोम का इसप्रकार द्वि वध] सोम का साम्राज्य रहता है। इन आ न सोम–मण्डलो क केन्द्र वा अहगण पडता है। १ से नीच नीचे अग्नि है स ऊपर–ऊप सोम है। १ व स्थान में दानो का समन्वय होता है अतएव स तदशस्थान **आहवनीय** कहलाया है। सोमाहुति के स ब व से प्र ज्वलित अग्नि २१ व अहगण प य त याप्त होजाता है। अतएव भकेद्र से २ पर्यन्त अग्नीषोमा मक यज्ञ की याप्ति मानली गइ है। वक्तव्य यही है कि हृत्पृष्ठ से १ पर्यन्त आ मप्रजापात की **प्राणकला** का प्राधान्य है जिस की विकासभूमि स्वय १ वा अहर्गण है। मन तथा वाक दोनों यहा उ मुग्ध ह प्राण उद्बुद्ध है। यही दूसरा **प्राणप्रधान उद्गीथप्रजापति**–विवर्त है।

हृत्पृष्ठ से आर भ कर २१ प यन्त याप्त रथन्तरसामसीमावच्छिन्न मण्डल में **वागग्नि** का प्राधा य है। यहा मन तथा प्राण दोनो उन्मुग्ध है एव आत्मप्रजापति की वाककला उदबुद्ध है। यही मन प्राण–वागर्गर्भित **वाङमय सर्वप्रजापति** है। यही यज्ञमण्डल की अन्तिम सीमा है। इसी के गभ में अग्नीषो–मा मक यज्ञ तथा यज्ञिय ३३ दवता प्रतिष्ठित हैं। रथन्तसीमा यज्ञ की परिधि है उपसहारस्थान है उद्चस्थान है। भूकेद्र यज्ञ का उपक्रम स्थान है। भूकेन्द्रावच्छिन्न प्राणवागर्भित मनोमय **अनिरुक्तप्रजापति** तथा रथन्तरलक्षण परिध्यवच्छिन्न मन प्राणगर्भित वाङ्मय **सर्वप्रजापति** दोनों के म य में आग्नेय–सौम्य–प्राणोभयमूर्त्ति मनोवागगर्भित यज्ञात्मक **उद्गीथ–प्रजापति** प्रतिष्ठित है। इसी स्थिति का यो भी अभिनय किया जासकता है कि यज्ञमण्डल का इस ओर का आधार मन है उस ओर का आधार वाक है एव म य में प्राणमय यज्ञ किंवा प्राणात्मक यज्ञिय देवता प्रतिष्ठित हैं। प्राकृतिक यज्ञ से सम्ब ध रखने वाली पार्थिव द्रव्याहुति मनोवाक् के द्वारा ही प्राणा मक यज्ञिय दववग की तृप्ति का कारण बनती है। इसप्रकार नि य प्राकृतिक यज्ञ में **भूकेन्द्र यज्ञमण्डलकेन्द्र यज्ञपरिधि** भेद से **मन प्राण वाक्** तीनों द्वारा प्राजापत्या आत्मकलाओ का उपभोग होरहा है जसा कि परिलेख से गताथ है—

३—एकविंशस्तोमावच्छिन्न रथ तरसाम—[२१] मन प्राणगर्भितवाङ्मय **सर्वप्रजापति**

२—स तदशस्तोमाव च्छिन्न मण्डल-हृदयम्–[१] मनोवागर्गर्भित प्राणमय **उद्गीथप्रजापति**

१—भूकेन्द्र —[*] प्राणवागगर्भितो मनोमय **अनिरुक्तप्रजापति**

——**——

३—सवप्रजापतिर्वा॰ मय —वाक्
२—उद्गीथप्रजापति प्राणमय प्राण } मन प्राणवाङ्मया यज्ञिया देवा
१—आनरुक्तप्रजापातमनोमय — मन

———*———

हृदयावच्छिन्न मन —अनिरुक्तम्
म यावच्छिन्न प्राण —निरुक्तानिरुक्त } पार्थिवयज्ञ प्राकृतिको नि य
परि यवा छन्ना वाक—निरुक्ता

———*———

मन प्राणवाङ्मय उक्त लक्षण प्राकृतिक **नि य देवयज्ञ** के आधार पर ही ब्राह्मणग्रन्थोक्त पुरुषप्रय नसा य **मानुष वैध यज्ञ** का वितान हुआ है। प्राकृतिक यज्ञ में मन तथा वाक के आधार पर भी प्राणा मक यज्ञिय दवताओ म पार्थिव रसाहुति भुक्त होती है। अतएव— **यद्वै देवा अकुर्वस्तत्करवाणि** निगमानुसार इस वध–मानुषयज्ञ में भी (यज्ञा मक–आहवनीयाग्नि में भी) मन –प्राण–वाक तीनो कलाओ का सम वय आवश्यकरूप से अपेक्षित होजाता है। बिना तीनों के सम वय के आहवनीय समिद्धाग्नि प्राजाप यस पत् स सवथा वञ्चित है। एव बिना प्राजाप यस पत् के यज्ञसम्पत्सिद्धि अस भव है।

मन प्राणवा मय प्राकृतिक यज्ञ की विधा पर ही वितत इस यज्ञ में देवयजन स पहिले मन प्राणवाक सम्पत्ति अपेक्षित है यही नि कष है। इसी सम्ब ध में एक रहस्य का विश्लेषण और। अधिदैवत का अधि भूत के द्वारा यजमान के आ यामिक यज्ञा मा का प्राकृातक उक्त लक्षण आधिदैविक यज्ञा मा से सम्ब ध कर दना ही यज्ञनिष्कष है। अधिद्वतयज्ञ पूवकथनानुसार स्वस्वरूप से मन प्राणवाङ मय है एवमेव अ या मयज्ञ भी स्वस्वरूप से मन प्राणवाङ मय है। शेष रह जाता है वितायमान आहवनीयाग्निलक्षण अधिभूतयज्ञ। इसे जबतक मन प्राणवा मय नही बना दिया जाता तबतक इस का मा यम नि फल है। अधिभूतयज्ञ उसी अवस्था में मन प्राणवाङ मय अध्या मयज्ञ [यजमाना मा] का मन प्राणवाङ मय अधिदवत यज्ञ से सम्ब ध करा सकता है दूसरे श दो में अधिभूतयज्ञलक्षण आहवनीय अग्नि में प्रद्त्त आहुति का तभी अधि–द्वत यज्ञा मक दि य देवताओ के साथ सम्ब ध होसकता है जब कि इस आहवनीयाग्निरूप अधिभूतयज्ञ को भी किसी वैज्ञानिक–प्रक्रिया–विशेष से मन प्राणवाङ मय बना दिया जाय। इस के मन प्राणवाङ मय बनाने से आहुतिद्र य के द्वारा आ यामिक यज्ञ के मन –प्राण –वाक पव इस अधिभूतयज्ञ म अ तर्य्याम सम्ब ध स प्रविष्ट होजायग। आहुति का अधिदत से सम्ब ध होना अनिवाय्य होगा। इसप्रकार अधिभूतयज्ञ के द्वारा परम्परया यजमाना मा का दि यातिशय से अन्तर्य्याम सम्ब ध होजायगा।

अब इस सम्ब ध में दो कत्त य हमारे सामने उपस्थित होते हैं। आधिभौतिक लक्षण इस आहवनी याग्नि में मन प्राणवाक का सम्ब ध करा देना एक कत्त य है। एव इस मन प्राणवाङ मय आधिभौतिक यज्ञ

के साथ आ यामिक यज्ञ [यजमाना मा] के मन –प्राण–वाक पर्वों का मम्बन्ध करा दना म । कत्त य है । पाहले कत्त य की पूर्त्ति होता तथा अध्वर्यु पर निभर है तथा इस दस कत्त य की पूर्ति अध्वर्यु हाता उद्गाता ब्रह्मा इन च रो ऋविजो पर निभर हैं । भूके द्र से २१ पय्यन्त वितत वाक्त व क्रमश त्रिवृद व छिन्न [६] अग्निमय पार्थिव ऋग्वद पञ्चदशावा छिन्न [१५] वायुमय यजुर्वे एकविंशावा छिन्न [२१] आदि यमय सामवद इन तीन अग्निवदो के सम्ब ध से पद्या मका वाक गद्यामिका वाक गया मका वाक के भेद स तीन स्वरूपो म परिणत होरहा है । पद्यामिका वाक् ऋक है गद्या मका वाक यजु है एव गेया मका वाक् साम है

पद्या मका ऋग्वाक का स पादन होता नामक ऋ विक करता है यही स का शस्त्रकम्म नामक हौत्रकम्म कहलाया है । गद्या मका यजुर्वाक् का स पादन अ यर्यु नामक ऋत्विक करता है । यही स का ग्रहकम्म नामक आ व य्यव कम्म कहलाया है । गया मका सामवाक् का सम्पादन उद्गाता नामक ऋ विक करता है य ी स का स्तात्रकम्म नामक अ द्गात्रकम्म क लाया है । इस– प्रकार शस्त्रकर्म्माधिष्ठाता ऋग्वदी होता के शास्त्रकम्म से ग्रहक र्माधिष्ठाता यजुर्वदी अ व यु क ग्रहकम्म स तथा स्तोत्रक र्माधिष्ठाता सामवदी उदगाता के स्तात्रकम्म स यजमाना मा के त्रिविध वाकपवा का इस आधिभौतिक यज्ञ के वाकपर्वों के साथ स ब ध होजाता है । त्रिी ब्रह्मा नामक ऋ वक अपने ब्राह्म यापार से यजमाना मा के मन पर्व का स पादन करता है । शेष रहता है प्राण पव । अ व यु कृत याज्याकम्म से [आहुतिकम से] स प्राणपर्व का आधान होजाता है । सप्रकार अ वर्युकृत प्राण यापार होता– अ वर्यु–उद्गाता–कृत वाग यापार तथा ब्रह्माकृत मना यापार तीनो यापारो स आधिभौतिक यज्ञ के साथ यजमाना मा के तीनो आ मपर्वों का स ब ध होजाता है । और यो प्रथम कत्त य की पूर्त्ति होजाती है ।

१ ब्रह्मा—मनस्त वस पा क —ब्राह्मक मणा	[मन] ३		}	वर्तिष्य यजमाना मकत्रयमावना मन प्राणवाङ् मयाना—आधि भौतिकयज्ञो मन्द्र ब्र
२—अ यर्यु –प्रा त वसम्पादक —या याकम्मणा	[प्राण] २			
३—उद् ाता—सामवाकस पादक स्तोत्रकम्मणा [वाक]	}	[वाक] १		
४—अ वर्यु —यजुर्वाकस पादक —ग्रहक मणा [वाक]				
५—हाता—ऋग्वाकस पादक – शस्त्रकम्मणा [वाक]				

आधिभौतिक यज्ञाग्नि में मन प्राण वाक स पत्ति का समावश आवश्यक है । पूर्वोत्तराधारकम्म से प ने होता नामक ऋ विक के द्वारा सामिधन्यनुवचन–क म हाता है जसा कि प्रकरणारम्भ में स्पष्ट किया जाचुका है । लौकिक भूता न में म नशक्ति स युक्त ध्म याधान के द्वारा द य प्राणत व का आधान करना ही इस सामिधे यनुवचनक म का एकमात्र फल है । इसप्रकार होतृकत्तक सामिधेनी–कम्म से यह अधिभूत यज्ञ प्राणस पत्ति से युक्त होजाता है । इस प्राणस पत्ति का मनावाक स स ब ध सूचित करने के लिए ही प्रकृत आधारब्राह्मण के आर भ म प्रथम प्रथम— त वा ए ामग्नि समें धिषत । समिद्ध देवेभ्यो जु नाम (शत १।४।४।१।) यह कहा गया है । स सिंहावलोकन स श्रु ति सङ्क त कर रही है कि आधिभौतिक

यज्ञाग्नि में पव के सामिधेनी क म स प्राणपव का तो आधान होगया। अब पवात्तराघारक मद्वयी से इस प्राणा मक आहवनीयाग्नियज्ञ म मनो वाक पवा का आधान बतलाया जाता है। होतृकृत प्राणाधानलक्षण सामिधे यनु वचन–कर्म्मान त अ वर्यु नामक ऋ विक स्रु वपात्र से पर्वाघारक म का तथा स्र कपात्रद्वयी से उत्तराघार क म का स पादन करता है। पूर्वाघार मन पव का सग्राहक है एव उत्तराघार वाक पव का सग्राहक है। इसप्रकार समि धन–कम्म से प्राणयुक्त पर्वाघारकम्म से मनोयुक्त एव उत्तराघार से वागयुक्त स भूय तीनो कर्म्मों से मन प्राण–वाङमय बनता हुआ आहवनीयाग्निलक्षण आधिभौतिक यज्ञ आ यामिक–यज्ञलक्षण यजमाना मा के मन प्राण–वाक पर्वों मे (आहुति के द्वारा) युक्त होता हुआ आधभौतिक यज्ञाग्निपर्वों से स बद्ध आधिदविक यज्ञ के मन –प्राण वाक पर्वों से अ त र्यामा मक सम वय सम्ब ध प्रा त कर लेता है।

केन्द्राव च्छिन्न मन पव (प्राणवागगर्भित मनोमय अनिरुक्त प्रजापात) हृदयाव छेदन पवमावी है एव रथ तरसामावच्छिन्न वाक–पव (मन प्राणगर्भित वाङ मय निरुक्त प्रजापति) परि यवच्छेदेन उत्तरभावी है। मन सम्पत्ति से म ब ध रखने वाला आघार पवभावी है एव वाकसम्पत्ति से सम्ब ध रखने वाला आघार उत्तरभावी है। इस पव त ग त्तरभाव से ही यज्ञाग्नि में पवभावी मन पव का तथा उत्तरभावी वाकपव का आधान होरहा है। मनोऽनुगत आघार पर्वाघार क्यो कहलाया ? वागनुगत आघार उत्तराघार क्यो कहलाया ? पर्वाघार पहिले एव उत्तराघार पीछे क्यो किया जाता है ? समि धनान तर पर्वोत्त राघारकम्मद्वयी क्यो आवश्यक है ? इसके द्वा । मनोवाक स पत्तिसग्रह यो अपेक्षित है ? इ यादि आघारक म–सम्ब धी प्रश्नो की इसी उक्त उपपत्ति का प्र थम कण्डिकाशेष में स्पष्टीकरण हुआ है।

१— अग्नि समैं धिषत' —प्राणसग्रह —सामिधे यनुवचनकर्म्मणा।

२—' मनसे चैव —मन सग्रह —पूर्वाघारकर्म्मणा।

३—"वाचे च" —वाकसग्रह —उत्तराघारकर्म्मणा।

१



पर्वाघारकम्म उपाशुरूप से किया जाता है एव उत्तराघारक म वागुच्चारण [म त्रोच्चारण] पूर्वक किया जाता है। हृदयस्थ पूवभावी मन उपाशु है। मन का स्वरूप हृदयाव छेदेन सवथा अ यक्त है। अतएव न तो हृदयावच्छिन्न मन का ही पराङ मुख इन्द्रियो से साक्षात्कार किया जासकता एव न मानस यापार [भावना वासना मक मानस सक प] का ही अ य यक्ति के द्वारा प्र यक्ष किया जासकना। यही मन का उपाशुधम्म व है। क्योंकि मन उपाशु है अतएव तत्–सम्पत्तिसग्राहक पर्वाघारक म की इतिकत्त यता का भी उपाशु ही सम्पादन होना चाहिए। इस समानधम्म के सम्ब ध से उपाशुरूपेण कृत पूर्वाघारकर्म्म से आहवनीयाग्नि में अवश्यमेव मन पर्व का आधान होजाता है एव यह आहित मन उपाशुरूप से ही द्यु लोकस्थ प्राणदवो के लिए आहुति द्रव्यप्रापक बन जाता है। रथ तरसामामिका परिधिस्था उत्तरभाविनी वाक् निरुक्ता है। वाक

का स्वरूप सर्वथा व्यक्त है। अतएव वाग्व्यापार का अन्य इन्द्रिय [श्रोत्रेन्द्रिय] से भी प्रत्यक्ष होजाता है एवं अन्य व्यक्ति भी इसका साक्षात्कार कर लेते है। इन्द्रियनागातिरिक्त पञ्चभूतरूप से भी वाग्तत्त्व प्रत्यक्ष का विषय बनता हुआ व्यक्त बन रहा है।

क्योंकि वाक् निरुक्ता है अतएव तत्सम्पत्तिसग्राहक कर्म की इतिकर्तव्यता भी वागुच्चारणपूर्वक ही सम्पादित होती है इस समानधर्म्म के सम्बन्ध से वाग्रूपेण कृत उत्तराघारकर्म्म से आहवनीयाग्नि में अवश्य मेव वाक्पर्व का आधान होजाता है एवं यह आहित वाक् वाग्रूप से [वषट्काररूप से] ही द्युलोकस्थ प्राण देवताओं के लिए आहुतिद्रव्य प्रापक बन जाती है। इसप्रकार उपांशुरूप से पूर्वाघार तथा वाग्रूप से उत्तराघार करता हुआ भी अध्वर्यु आहवनीयाग्नि में मनोवाक् पर्वो का ही आधान कर रहा है। इन दोनों क्रमिक आघारों से आधिभौतिक यज्ञ के मनोवाक्पर्व तत होजाते है [सर्वाङ्गीण बन जाते है।] सर्वाङ्गीण बनकर ये दोनों पर्व प्राणात्मक यज्ञाग्नि के आधारपात्र [वर्त्तनी] बनते हुए निश्चयेन द्युलोकस्थ प्राणदेवों के लिए आहुतिप्रापक बन जाते है। तात्पर्य्य उपपत्ति का यही है कि देवताप्ति का साधन आहुतिप्राप्ति है एवं आहुतिप्राप्ति का साधन मनोवाक्पर्वों की सर्वाङ्गीणलक्षणा व्याप्ति है। इस तत्तिभावप्राप्ति के लिए भी आघारद्वयानुष्ठान आवश्यक है। मनोवाक् पर्व कम किस रूप से प्राणदेवों के लिए यज्ञवहन करते है? प्रकृत द्वितीय कण्डिका से इसी प्रश्न का मोपपत्तिक समाधान हुआ है ॥ २ ॥

काममय विश्व में **पुरुष** तथा **स्त्री** इन दोनों का संयोग अपेक्षित है। यद्यपि पुरुष भी काममय है स्त्री भी काममयी ही है तथापि प्रधानता पुरुष की ही मानी गई है। पुरुष स्व तन्त्र में प्रतिष्ठित है एवं स्त्री **पुरुषतन्त्र** की अनुगामिनी है। पुरुषकाम ही स्त्रीकाम है। दूसरे शब्दों में स्त्री कृतानुकरा है अनुगामिनी है। इसी प्राकृतिक नियमानुसार कामनामय मन को हम पुरुष कह सकते हैं एवं कामनामय मन के सकल्पानुसार स्वव्यापार के सञ्चालन में समर्थ होने वाली वाक् को स्त्री कहा जासकता है। पुरुषानुगत प्राण **वृषा** कहलाया है स्त्र्यनुगत प्राण **योषा** कहलाया है। अनुधावन करने वाला पुरुषप्राण ही वृषा है एवं जिस के प्रति वृषाप्राण का अनुधावन होता है वही योषा है। इस दृष्टि से भी मन वृषा है एवं वाक् योषा है। वाक् का मन की ओर अनुधावन नहीं है अपितु सकल्परूप से मन ही वाक् की ओर अनुधावन करता है।

इसप्रकार कामनामय बन वाक्तन्त्रसञ्चालक बन अनुधावक बन हृदयावच्छिन्न मन का वृषाप्राणात्मक पुरुषत्व भलीभांति सिद्ध होजाता है। एवं कामनानुगत बन परिच्छिन्ना वाक् का योषाप्राणात्मक स्त्रीत्व सर्वात्मना सिद्ध होजाता है। उधर आहुतिपात्रों में स्रुवपात्र पुल्लिङ्ग बन वृषप्राणात्मक काममय मन से समतुलित जुहू उपभृत् नामक स्रुक्पात्रद्वयी स्त्रीलिङ्ग बन योषाप्राणात्मिका कामनुगता वाक् से समतुलित है। मनोऽनुगत पूर्वाघार मन सम्बन्ध से वृषा है अतएव पूर्वाघाराहुति वृषात्मक स्रुव से ही होती है। वागनुगत उत्तराघार वाक् के सम्बन्ध से योषा है अतएव उत्तराघाराहुति योषात्मिका स्रुक्पात्रद्वयी से ही होती है। पूर्वोत्तराघारकर्म का क्रमश स्रुव एवं स्रुक् से क्यों सम्पादन होता है? इस प्रश्न की यही सक्षिप्त उपपत्ति है जिसका कि तृतीय चतुर्थ-कण्डिकाओं से स्पष्टीकरण हुआ है ॥ ३ ४ ॥

पूर्वाघार मनोऽनुगत है उत्तराघार वागनुगत है यह कहा जाचुका है। प्राणगर्भित मनोमय अनिरुक्त प्रजापति हृद्य है। यहा से यद्यपि — **पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू** (कठोपनिषत ४।१।) इत्यादि

श्रौत सिद्धा त के अनुसार वाकत व का ऊ व ितान अवश्य होता है तथापि यह स्वय मनोमय हृद्य अनिरुक्तभाव तो वाकपथातीत ही है। इसी मनोऽनुरूपता की सिद्धि के लिए मनोऽनुगत पूर्वाघार तूष्णी ही किया जाता है। पाशु ही अनिरुक्त है। अनिरुक्तता ही मन का स्वाभा वक ध भ है। **स्वाहा** यह वाग्निव ि का प्र यक्ष अभिनय है जसाकि आगे के आख्यान स स्पष्ट होने वाला है हृद्य मनोमय प्रजापति के लिए पराङमुख वाक अह यवाहना है। अतएव मन सम्पत्तिसग्राहक पूर्वाघारकम्म में वागनुगत स्वाहा का उच्चारण निषिद्ध है। वाकत त्र का मन प्राणगर्भित वाङ मय सवलक्षण निरुक्त प्रजापति से सम्ब ध है। यह त व स्वस्वरूप स (आकाशरूप से) भी प्रकट है स्ववितानात्मक पञ्चमहाभूतात्मक अथप्रप च की दृष्टि से भी प्रकट है एव वागद्रियरूप से भी यक्त है। प्र यक्षद्द पा चभौतिक पदाथ वाङ मय है इनके गभ में **हित** नामक क्रियाप्रवत्त क **प्राणतत्त्व** प्रतिष्ठित है सर्वालम्बन ससूक्ष्म **काममय मन है**। क्योकि वाकत व यक्तलक्षण है घर उत्तराघार वाकस पत्तिसग्रह के लिए विहित है। अतएव वागनुगत उत्तराघारक म म त्रोच्चारण —लक्षण यक्तभाव से ही सम्पन्न होता है। मनोऽनुगत पूर्वाघार का तू णी रूपेण तथा वागनुगत उत्तराघार का मन्त्र रूपेण स पादन करना भी मतावाकपवा का ही सग्रह करना है यही उपपत्ति—निष्कष है जिस का कि पाचवी तथा छठी काण्डकाओ स स्पष्टीकरण हुआ है ॥ ५ ६ ॥

भूके द्रावच्छिन्न मनोमय अनिरुक्त प्रजापति **अ यतिष्ठद्दशागुलम्** (यजु स ३१।१) सिद्धा तानुसार प्रादेशमित (१ ॥ अ गुलमित) प्राणरूप स हृदय में प्रतिष्ठित है। स बठे हुए मनोमय प्रजापति के आधार पर ही इ द्रा विष्णू की अ नगता प्रतिस्पर्द्धा से वाकसाहस्री का उ व वितान होता है। उ ववितता यह वाकसाहस्री के द्र में प्रति ठत (आसीन) मनोमय प्रजापति की अपेक्षा खडी हुइ सी है। मनस्त व हृदय में आसीनवत् है वाकत व हृदय से परिधि पय्य त ति ठन्वत् है। मनोवाक पर्वो की इस स्वाभाविकी स्थिति को लक्ष्य में रख कर ी मनोऽनुगत पू घार आसीन ब कर (बठ कर) किया जाता है एव वागनुगत उत्तराघार तिष्ठन्रूप से (खड होकर) किया जाता है। इसप्रकार आसीन ति ठन्रूप से कृत पूव उत्तराघार के द्वारा भी आसीन मनस्त व एव ति ठन् वाकत व का आहवनीय यज्ञा न में आधान होजाता है। पूर्वाघार आसीन रूप से तथा उत्तराघार ति ठन्रूप से क्यों किया जाता है? इस प्रश्न की यही सक्षिप्त उपपत्ति है।

वागनुगत उत्तराघार ति ठन् क्यो किया जाता है? इस प्रश्न की एक दूसरी भी उपपत्ति है। जहातक यज्ञात्मिका वाकसाहस्री यास रहती है वहातक रथ तरसाम की याप्ति मानी गई है जैसा कि प्रकरणा भ में स्पष्ट किया जाचुका है। भूके द्र में प्रतिष्ठित वाङ मय अग्नित व **रसाग्नि** नाम से प्रसिद्ध है। इस वाङ मय रसाग्नि का त्रिवृत् प चदश एकविंश स्तोमरूप से क्रमश **अग्नि वायु आदि यरूप** से ऊ व वितान हुआ है जैसा कि न न लिखित ब्राह्मणश्रु ति से प्रमाणित है—

तस्य श्रा तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्त्तताग्नि । स त्रेधात्मान यकुरुत आदित्य तृतीय वायु तृतीयम् । स एष प्राणस्त्रेधा विहित ।

—शत १ ।४।७।२ ३ ।

रसा मक वाङ मय अग्नि के ऊ व वितान—सम्ब ध से ही एकविंस्तोमावच्छिन्न यज्ञा नलक्षण पार्थिव साम (अग्निसाम) **रसतमसाम** कहलाया है। यह रसतमसाम ही परोक्षप्रिय देवताओ की परोक्षभाषा में

रथ नरसाम कहलाया है जसा कि— **रसतम ह् वै तन्थन्तरमि याचक्षते पराक्षम्** (शत ६। २।३६।) इ यादि श्रुति स प्रमाणित है। भूकेन्द्र स २१ व अह्गण प यन्त या त मनोनागगर्भित प्राणमय यज्ञ भी इसी रसतम अग्नि के स बन्ध से **रथ (देवरथ)** कहलाया है प्रदत्त आहुतिद्र य के द्वारा यजमान इस रसतमा मक यज्ञरथ मे प्रतिष्ठित होकर त्र लोक की ओर गमन करता है। स रथ के वहन करने वाले (प्राणा मक यज्ञ का भूकेन्द्र से रथ तरसाम की पारधिपय्य त वितान करन वाले) मन वाक नाम के दो अश्व माने गए है। इह्वा दोनो के द्वारा यज्ञा मक अ निरसरूप रथ का वहन होता है।

यज्ञरथ में नियुक्त न दोनो मनो—वाक) अश्वा में मनो-लक्षण अश्व अपरिमित है एव वागलक्षण अश्व पारमित है। दिगदशकालानवच्छिन्न काममय मन इसी अपरिमित भा व के सम्ब ध से **कामसमुद्र** कहलाया है। **मनो वै बृहत्** (ता ब्रा ७।६।१) **मनो वै समुद्र** (।५।२।५२।) **अनन्त वै मन** (शत १४।६।१।११।) इ यादि श्रुतिया मन के सी असीमभाव का समथन कर रही हैं। मन —प्रति ष्ठारूप हृदय स्वय अन त है तदनुगत मन भी अन त है। इसकी अपेक्षा वाकत व दिगदेशकालावच्छिन्न बनता हुआ परिमिततर है सीमित है। अर्थात्मिका वाक (भौतिक पदाथ) भी परिमित हैं च-ट त प आदि लक्षणा श दात्मिका वाक भी सीमित है। सप्रकार यज्ञरथवाहक दोना अश्वो में एक (मन) आकार प्रकार में बडा है तो दूसरा (वाक) अपेक्षाकृत ह्रसीयान् है।

यदि ऐसे विषमाकार अश्व रथ का वहन करते हैं तो वहनकम्म भयाक्रान्त बना रहता है। आवश्यक है कि मनोरूप अश्वपरिमाण को समतुलित करने के लिए वागरूप अश्वपारमाण में आकारवृद्धि की जाय। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही वागनुगत उत्तराघार खडे खड किया जाता है। जिसप्रकार लोक में नाटे अश्व को दीघकाय अश्व से समतुलित करने के लिए ने अश्व के स्क ध प्र श में स्थूल काष्ठपीठ लगा दिया जाता है ठीक उसी लौकि कम्म के अनुरूप यहा ति ठन्भाव का आश्रय लिया जाता है। खड होकर उत्त राघार करना वागश्व को मनोरूप अश्व के समानाकार से ही समतुलित करना है। तिष्ठन्नुत्तराघार की यही दूसरी उपपत्ति है। इन दोनों उपपत्तियों का ही सातवी कण्डिका से स्पष्टीकरण हुआ है॥ ॥

पूर्वाघार का स पादन आहवनीयाग्नि के उत्तर भू प्रदेश में बठ कर प्र वलित समिद्ध आहवनीयाग्नि के उत्तराग्निभाग में होता है एव उत्तराघार का स पादन आहवनीयाग्नि के दक्षिण भूप्रदेश में खड होकर प्रज्ज्वलित समिद्ध आहवनीयाग्नि के क्षिणाग्नि में होता है जसा कि सूत्रानुगतपद्धतिसम में स्पष्ट किया जाचुका है। इन दोनो आघारो के स ब ध में एक अनुक्त उपपत्ति का प्रासङ्गिक सम वय और कर लेना चाहिए। पूर्वाघार का मन से तथा उत्तराघार का वाक से स ब ध है। **भावनामय मन देवप्राण की प्रतिष्ठा है ए वासनात्मिका वाक पितप्राण की प्रतिष्ठा है।** इसी आधार पर **पितरो वाक्यमिच्छन्ति भावमिच्छन्ति देवता** यह सूक्ति प्रतिष्ठित है। **मनोऽनुगत देवप्राण आग्नेय है एव वागनुगत पितप्राण सौम्य है। रथन्तरसामात्मक यज्ञमण्डल के पूर्वार्द्ध भाग मे अग्नितत्त्व का प्राधान्य हैं एव उत्तरार्द्ध मे सोमतत्त्व का साम्रा य है।** मण्डलकेन्द्रभूत मध्यस्थ सप्तदश स्थान में दोन का समन्वय होता है जैसा कि प्रथमकण्डिका विवेचन में स्पष्ट किया जाचुका है। क्योंकि मनोऽनुगत आग्नेय देवताओं का पूर्वार्द्ध से स ब ध है अतएव मनोऽनुगत आघार पहिले किया जाता है अतएव च यह आघार **पूर्वाघार** कहलाया है। एवमेव वागनुगत सौम्य पितरो का उत्तरार्द्ध से सम्बन्ध है अतएव वागनुगत आघार पीछे किया जाता हैं अत

एवञ्च यह आधार **उत्तराधार** कहलाया है। उत्तरादिक् दवताओं की है अतएव दवानुगत पूर्वाधार आहव नीय के उत्तर भूप्रदश में बठ कर आहवनीयाग्नि के उत्तर भाग में सम्पन्न होता है। एव दक्षिणादिक पितरो की है अतएव पि यनुगत उत्तराधार आहवनीय के दक्षिण भूप्रदेश में खड होकर आहवनीयाग्नि के दक्षिण भाग में स पन्न होता है। दोनो आधारो से अग्नीषोमा मक पूण यज्ञमण्डल का संग्रह हो जाता है।

उत्तराधार का सम्पादन दक्षिण में खड खडे होता है इस सम्ब ध में एक उपपत्ति और बतलाइ जाती है। भौमस्वग यवस्था मक देवयुग में जब जब भी भौमदवता वध यज्ञकम्म का वितान करते थे तब तब ही दक्षिण अफ्रिका में निवास करने वाले भौम मनुष्यविध असुर दक्षिणभूप्रदेश * से आकर यज्ञ पर आक्रमण किया करते थ। दक्षिणादगनुगत इस असुराक्रमण से त्राण पाने के लिए देवताओने दक्षिण सीमा पर खडा पहिरा नियुक्त कर दिया था। इन्ही भौम दवताओसे भारतीय द्विजातिवगने यज्ञविद्या प्राप्त की। फलत **देवा-ननुविधा व मनुष्या** इस नियम के अनुसार इन्होन भी अपने यज्ञ में दक्षिणदिगनुगत कम्म को खड खड ही करना अ वश्य माना।

ऐतिह्य कारणातिरिक्त तिष्ठन् रूपेण उत्तराधार करने की वज्ञानिक उपपत्ति भी है एव वही प्रधान है। भूपिण्ड का उत्तर प्रदश **ज्योतिम्मय स्कम्भ** के वितान से देवप्राणप्रधान है। उत्तरानुगत स्कम्भप्रदशोपल क्षित स व सरचक्र ही वताओ की दवयजनभूमि है यज्ञवितान प्रदेश है। **अ नि वायु आदि य च द्र मादि** प्राणा मक ि य ऋ विजों के हौत्रादि कर्म्मों से इस देवयजनभूमि में स व सरयज्ञ का वितान होता रहता है। भूपिण्ड का दक्षिणप्रदेश तमोमयी शनैश्चरकक्षा के सम्ब ध से असुरप्राण प्रधान है। इस दक्षिणादग नुगत असुरप्राण का उत्तरानुगत प्राणदेवयज्ञभूमि पर सतत आक्रमण होता रहता है। साथ ही दक्षिणस्थ अग्नि सहयोगी योतिम्मय इ द्र के सम्ब ध से यह आक्रमण यथ भी हाता रहता है। सम्व सरयज्ञोपलक्षित दवमण ल इसप्रकार ति ठन्रूपेण उपस्थित इ द्र के द्वारा असुराक्रमण से बचा रहता है।

प्राकृतिक यज्ञ में दक्षिण-दिशा में यज्ञरक्षक इ द्र खड रहते हैं इस स्थिति का उत्तरायणकालसे हा सम्ब ध है। दक्षिणगोल में उत्तरायण होता है एव उत्तरगोल मं दक्षिणायन होता है। उत्तरायणकालोपक्रम में सूय्य दक्षिण परमक्रान्ति से उत्तर की ओर अपना रुख कर लेता है। सूय्य इ द्रप्राणा मक है। इसका उत्तर की ओर अपना रुख करना ही खडा होना है। यही देवयजनकालोपक्रम है। सौर इ द्रप्राण के सम्ब ध से दक्षिणगोलस्थ असुरप्राण का आक्रमण यथ चला जाता है फलत उत्तरायणानुगत दि व्ययज्ञ निर्विघ्न स प न होजाता है।

वैधयज्ञ प्रकृत में इस दक्षिणस्थ असुरप्राण के समावश से त्राण पाने के लिए ही यज्ञवेदि प्रथम तो प्राक्प्रवणा बनाइ जाती है अथवा तो उदकप्रवणा बनाई जाती है जसा कि पूव के वदिब्राह्मण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। क्योकि प्रकृतिवत् स मानुष यज्ञाग्नि में भी दक्षिणस्थ असुरप्राणाक्रमण स्वाभाविक है अतएव इस ओर खडे होकर ही उत्तराधार किया जाता है। खडा होना वीर्योत्कष का ही सूचक है।

---

* जहा आज **स्वेज** नहर है पुरायुग में यहा भूप्र श था। इसी माग से असुरत्रिलकी में रहने वाले भौम असुर भौम दवताओ के यज्ञ पर आक्रमण किया करते थ।

उच्छ्रितमिव हि वीर्य्यम् श्रुति का यह वाक्य बडा मह व रखता है। लोकदृष्टि से भी इस सिद्धा त का अपूव मह व है। आलस्यनिमग्न शयालु मनु यो का स्वाभाविक वीर्य्य काला तर में मूर्च्छित होजाता है उ साह म द होजाता है एव **निरालस उत्तिष्ठन् पुरुषार्थी ही वीर्य्यसम्पत्ति स युक्त रहता ह। सेना** इसका प्र यक्ष उदाहरण है। **प्र येक सैनिक को यह आदेश मिलता ह कि वह अ यन्त रक्षाकम्म म तन कर ही खडा रहे।** तन कर खड रहने स मेरुदण्ड का मस्तिष्क की ओर लम्बन होजाता है हृदयावच्छिन्न ऊ व अध वितत नाडिया ऋतुभाव में पारगत होती हुई रक्ताग्नि के सञ्चार से वीर्य वती बन जाती ह। इस प्रकार उच्छ्रितभाव प्र येक दशा मे वी र्याधायक बना रहता है। सनिक तन कर चलते ह तन कर रक्षास्थानो में पहिरा देते हैं। सचमुच शरीरयष्टि का यह तनाव उक्त श्रौतसिद्धा त * के अनुसार वीर्य्य का ही प्रवत्त क है जिसे हमने भुला दिया है। यहा वही सनिकानुगत रक्षाकम्म अभीष्ट है। रक्षाकम्म वीर्य्यसापेक्ष है वीर्य्यसञ्चार उच्छ्रितभावानुगति पर ही निभर है। अतएव वागनुगत उत्तराघार तिष्ठन्रूपेणैव किया जाता है। तिष्ठन्रूप से तथा आ याहुति से अतिशयरूपेण प्रज्ज्वलित आहवनीयाग्नि से उभयथा दक्षिणस्थ असुराक्रमण का भय निवृत्त होजाता है **तस्माद्दक्षिणतस्तिष्ठन्नाघारयति** ।

आहवनीयाग्नि एक है इसी में दोनो आघाराहुतिया हुत होती है। इसप्रकार आहवनीयाग्नि वन दोनो आघाराहुतियो का प्रदश समान है। साथ ही काल स्थिति एव अग्निप्रदश की अपेक्षा से दोनो आहुतियों का परस्पर पाथक्य है। पूर्वाघाराहुति पहले दी जाती है उत्तरप्रदेश में बैठ कर दी जाती है आहवनीयाग्नि के उत्तरभाग में दी जाती है। उत्तराघाराहुति पीछे दी जाती है दक्षिणप्रदश में खडे होकर दी जाती है आहवनीयाग्नि के दक्षिण भाग में दी जाती है। इसप्रकार आहवनीयाग्नि वन जहा दोनो समान ह वहा दक्षिणोत्तरप्रदेशादिरूपेण दोनो भिन्न भिन्न है। इन **समान** तथा **नाना** दोनो भावो के सग्रह के लिए ही ऐसा किया जाता है। कारण यही है कि पूर्वाघारानुगत मन पव का तथा उत्तराघारानुगत वाकपव का दोनो का स्वरूपावस्थान समान रहता हुआ पृथक् पृथक ही है।

मन तथा वाक का समान व इसी से सिद्ध है कि बलग्रन्थितारतम्य से रसबलसममात्रावच्छिन्न उसी मन में जब बलमात्रा का यतकिञ्चित् उद्रेक होता है तो वही मन प्राण रूप में परिणत होजाता है। बलमात्रा के पूर्णोद्रेक से वही मन वागरूप म परिणत होजाता है। इसी आधार पर तो हृदयावच्छिन्न मनोमय अनिरुक्त प्रजापति को पूव में प्राण वागगर्भित बतलाया गया है। मानस प्र यय में भी परावागनुगता उपांशुवाक का अवश्यमेव समावेश रहता है जसा कि **न सोऽस्ति प्र ययो लोके य श दानुगमादृते** इ यादि हरि-

---

* **उच्छ्रितमिव हि वीर्य्यम्** के अनुसार रक्षादि तथा पुरुषाथसाधनादि कर्म्मों के अनुगामी को तनकर ही खडा रहना चाहिए तन कर ही चलते-फिरते रहना चाहिए। इस ऋषिसम्मता जीवनीया-आचार पद्धति को भावुकतापूर्णा पद्मानाम-मृद्वी-शिथिलता से जहाँ हमने विस्मृत कर दिया हैं वहाँ आज की प्रतीच्य-रक्षा पद्धति में सैनिक सिपाही इसी तनन पद्धति के अनुगामी बने हुए है जो पद्धति प्रती यभाषा में सम्भवत **अटे शन्** नाम से प्रसिद्ध है।

सिद्धा त – से प्रमाणित है। प्र येक मानस यापार (सक प) में उपांशुवाक निहित है। एवमेव प्र येक वाग यापार (श दप्रयोग) में मानसज्ञान आधार बन रहा है। इसी ज्ञानीय प्रश्न्द्र से वर्णविभागानुगता अथनि पत्ति होती है। मन स वञ्चिता वाग अल ल ाग है स्खलितवाक है निरथकवाक है अवाक् रूपा वाक है। विशुद्ध मानस व्यापार म उपाशुवाक् के समन्वय से तथा विशुद्ध वाग् यापर में आलम्बन व न मन के सम वय से दोनों का समान व [समानक्षेत्राश्रय व] भलीभाति सिद्ध हो जाता है। इसी समानता–सपत्तिसग्रह के लिए समानक्षेत्ररूप एक ही आहवनीयाग्नि म मनोऽनुगत पूर्वाघार की तथा वागनुगत उत्तराघार की दोनो को आहुति जाती है। यदि मनोवाक् समान हैं तो दोनो के लिए दो आघार क्यो किए जाते है? इस प्रश्न का निराकरण दोनो का स्वरूपभेद [जातिभेद] है। मन हृदयावच्छिन्न अनिरुक्त त व है तो वाक् परि यवच्छिन्न निरुक्त त व है। एक [मन] अनद्धा है देवप्राणानुगत है। एक [वाक] अद्धा है पितृप्राणानुगत है। इस जातिभेद से दोनो समानक्षेत्रानुगामी रहते हुए भी विभिन्न स्थानानुगत हैं पूर्वापरभावानुगत है। इसी नाना–म पत्तिसग्रह के लिए विभिन्न स्थानानुगतिरूप उत्तर दक्षिण प्रदेश म दो आघ राहुतिया दी जाती हैं– **तस्मात्दि मनश्च वाक च समाममेव सन्नानेव** ।

आघारद्वय से सम्ब ध रखने वाली सभी उपपत्तियो का सक्षेप से दिग्दशन करा दिया गया। अब पूर्वोक्त स्रुव–स्रु गादि-युक्त उपपत्तियों का एक दूसरे दृष्टिकोण से सम वय किया जाता है। प्रत्येक वस्तु के **'मूल–तूल** भेद से दो विवत्त होते है। अनिरुक्त हृद्यभाव ही मूलस्थान है निरुक्त दृश्य पिण्ड ही तूलस्थान है। मूलस्थान मन प्रधान होने स **हृदय** है तूलस्थान वाकप्रधान होने स **शिर** नाम से यवहृत हुआ है। यज्ञ हृदयावच्छिन्न मनोऽनुगत पूर्वाघार हृद्य मन के सम्ब ध से इस यज्ञाग्निलक्षण पुरुष का मूल है एव परिध्यवच्छिन्न वागनुगत उत्तराघार परिधि अवच्छिन्ना वाक के सम्ब ध से यज्ञ का शिर है। पूर्वाघार मूलस्थान की प्रतिकृति है तो उत्तराघार तूलस्थानलक्षण शिर की प्रतिकृति है ॥८॥

स्रुवपात्र से पूर्वाघार के द्वारा यज्ञपुरुष के मू न का सम्पादन होता है एव स्रुकपात्रद्वयी से उत्तराघार के द्वारा शिरोभाग का सम्पादन होता है। यज्ञमूलानुगत पूर्वाघार तूष्णी इसलिए होता है कि हृदयाव छिन्न अनिरुक्त मनोलक्षण मूलभाग के साथ पराङ्मुखा वाक का सम्ब ध नहीं है। यज्ञशिरोऽनुगत उत्तराघार म त्रो च्चारणपूवक इसलिए होता है कि परि यवच्छिन्न निरुक्त वागलक्षण शिरोभाग ही वाकप्रयोग [श दप्रयोग] का आधार है। यज्ञमूलानुगत पूर्वाघार बैठें बठे इसलिए किया जाता है कि हृद्य मनोमय मूल भाग स्व अनिरुक्त भाव से बैठा हुआ सा ही है। यज्ञशिरोऽनुगत उत्तराघार खडे खडे इसलिए किया जाता है कि वाङ मय शिरोभाग स्व निरुक्तभाव से शरीरसस्था में खड हुआ सा ही है। इसप्रकार तूष्णीं म त्रेण आसीन ति ठन् इन यापारो से मनोवाक् पर्वों की अनुरूपता ही प्राप्त की जाती है ॥९ १ ११ १२ ॥

— न सोऽ ति प्रत्ययो यो लोके य शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञान सर्व श देन भासते ॥

—भर्तृहरि –वाक्यपदी–

२—अग्निसम्मार्ज्जनकर्म्मोपपत्ति

आहवनीयाग्नि के उत्तरभूप्रदेश में बठकर स्रुवपात्र स तूष्णी आहवनीयाग्नि के उत्तराग्न-प्रदश में मनोऽनुगत पूर्वाघार का स पादान किया जाता है। इस कम्म के अनन्तर आग्नसम्माजन क म होता है जो आ नीध्र नामक ऋत्विक से स ब न्ध रखता है। समानमेव सन्नानेन इस उक्त सिद्धा त के अनुसार मन स पत्ति भी वागगर्भिता बनती हुइ उभया मिका है एव वाक सम्पत्ति भी मनोगर्भिता बनत हु उभया मिका है। मनोवाक का आहवनीयाग्नि में योग करना यज्ञरथ में मनोवाग रूप अश्वों का ही योग करना है। लोक म रथ को सज्जीभूत करने के लिए पहिले रथ के धुर [जूड] को ऊ चा कर उसे अश्व किंवा वृषभयुग्म के क धो पर डाला जाता है अनन्तर चम्मब धन स उन दोनों अश्वों की ग्रीवा को रथ के धुर से दृढ़ता स बाध दिया जाता है जिस से कि अश्वयुग्म रथधुर से पृथक् न होजाय। इसप्रकार अश्वयोग में स्क धप्रदेशों के साथ रथधुर का योग तथा च मपाश स ग्रीवाब धन ये दो क म अपेक्षित है। इन्ही दोनो कर्म्मों की सिद्धि के लिए यहाँ पूर्वाघार तथा तदन तर आग्नस माजनकम्म होता है। मनोऽनुगत पूर्वाघार वाग्गर्भित नता हुआ पूवकथनानुसार मनोवागरूप दोनों अश्वो का सग्राहक बन रहा है। पूर्वाघार करना दोनो अश्वो के साथ रथ धुर का ही योग करना है॥ १३॥

अन तर होने वाला अग्निसम्माजनकम्म चम्मपाश-ब धन स्थानीय है। सम्माजनकम्म घूम-घूम कर होता है यह पद्धति में स्पष्ट किया जाचुका है। आ वनीयाग्नि की तीनो परिधियो से सम्ब ध रखने वाले परि धित्रय से सलग्न अग्नियों का इध्मसन्नहन नामक तृ णसमुदाय से भस्मादि अपाकरण के द्वारा प्रज्ज्वलन करना ही अग्निसम्माजनक म है। स्क धप्रदेश के साथ रथधुर का योग तो एक स्थान से ही होजाता है। परन्तु ग्रीवा-नुगत चम्मपाश ब धन के लिए सारथी को अश्वो के इतस्तत घूमना पड़ता है। इस परिक्रमा से ही चम्म-पाश का ठीक ठीक योग होता है। क्योंकि यह सम्माजनकम्म पाशब धन स्थानीय है अतएव इस की इतिकर्त्त यता ब धनानुगता अनुरूपसम्पत्ति प्राप्ति के लिए परिक्रमणरूप से ही पूरी की जाती है। क हा गया है कि तीन परि धियो का प्रत्येक का तीन तीन बार स मा जन होता है। इस त्रिस्त्रिवार विहित स माजनक म में एक-एक बार तो म त्रप्रयोग होता है ए व दो दो बार तूष्णी परिधिसम्माजन होता है। सम्भूय ६ बार परिधि स मा जन होजाता है। ६ सख्या त्रिवृत्स्तोम की सग्राहिका है। यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा अग्नित त्र ही माना गया है जसा कि- अग्निर्वै यज्ञ [शत ५।२।३।६।] इ यादि श्रु ति से प्रमाणित है। अग्नि वायु-आदि या मक यज्ञमण्डल त वत अ न्या मक ही है। अग्नि ही पञ्चदशस्तोमप्रदश में जाकर तरलरूप में आता हुआ वायु कहलाने लगता है एव अग्नि ही एकविंशस्तोमप्रदेश में मुक्त होकर विरलावस्था में परिणत होता हुआ आदि य कहलाने लगता है। इसी आधार पर अग्नि सर्वा देवता [ताण्ड्यम ब्रा ६।४।५।] यह निगम प्रतिष्ठित है। इस अग्नि का अपना प्र देश भूकेन्द्र से आर भ कर ६ वें अहर्गण पर्य्य त यास नव अहर्गणा मक त्रिवृत् तोमप्रदेश ही है। इसी अनिभुक्ति से तथा तत्प्रति ठारूप त्रिवृत्स्तोम के सम्ब ध स अग्नियज्ञ त्रिवृत [नवपर्वा मक] मान लिया गया है। व ही अग्नियज्ञस पत् इस अग्निसम्मा जन-कम्म स अपेक्षित है। अतएव त्रिवृद्रूप स ही परिधित्रयानुगत आ नसर्म्मा जनक म होता है॥ १४॥

परि यनुगत अग्निस मा जन के अन तर स्वय आहवनीय अग्नि का ऊपर से तीन बार तूष्णी स मा जन और किया है। रथयुग का अश्वयु म के स्क ध प्रदेश के साथ योग कराने के अन तर चम्मपाश से ग्रीवा-

बन्धन किया जाता है। इन तीनों कर्म्मों से जब रथ सज्जीभूत होजाता है तो अनन्तर सारथी स्वस्थान में बैठ कर कशाघात करता हुआ प्रेहि [चल चल] वह [रथ का वहन कर] इत्यादि प्रेरणात्मक वाक्यों का प्रयोग करता है रथ चल पडता है। उपरिष्टात् होने वाला तूष्णी भावात्मक यह त्रिवारात्मक आहवनीयाग्नि-सम्मार्जन कशाघातानुगत प्रेरणाकर्म्म के सग्रह के लिए ही विहित है।

पहले पूर्वाघार अनन्तर उत्तराघार दोनो आघारकर्मों के मध्य में अग्निसम्मार्जनकर्म। पूर्वाघारकर्म्म धुरयोगस्थानीय परिधिसम्मार्जनकर्म्म चर्म्मपाशबन्धनस्थानीय एवं आहवनीयाग्निसम्मार्जनकर्म कशाघातानुगत प्रेरणाकर्म्म-स्थानीय। अब इस सम्बन्ध में केवल यही प्रश्न बच जाता है कि दोनो आघारो के मध्य में अग्निसम्मार्जनकर्म्म क्यो किया जाता है? । इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि पूर्वाघार मनःस्थानीय है एवं उत्तराघार वाकस्थानीय है। दोनो यद्यपि युग्मभाव से समान हैं तथापि स्वरूप से दोनो पृथक पृथक है। इस पार्थक्य-सम्पत्ति सग्रह के लिए ही मनोऽनुगत पूर्वाघार तथा वागनुगत उत्तराघार दोनो के मध्य में अग्निसम्मार्जनकर्म्म किया जाता है। यही अग्निसम्मार्जन कर्म्म की सङ्क्षिप्त उपपत्ति है जिसका ब्राह्मण की १३ १४ १५ इन तीन कण्डिकाओ से स्पष्टीकरण हुआ है ॥ १५ ॥

पूर्वाघारकर्म्मसमाप्त

चौथे अध्याय मे चौथा, तथा तीसरे प्रपाठक मे ६ ठा ब्राह्मण समाप्त

तीसरा प्रपाठक समाप्त

—३—

——*——

चौथे अध्याय मे पॉचवॉ एव चौथे प्रपाठक मे पहिला ब्राह्मण उपक्रान्त द्विब्राह्मणानुगत–द्वितीय ब्राह्मण

—२—

३—उत्तराघारकम्मेतिकर्त्तव्यतोपपत्ति

दक्षिणदिशा से उत्तरदिशा की ओर अपनी गति रखने वाला ऋताग्नि तथा उत्तराशा से दक्षिणादिशा की ओर अपनी गति रखने वाला ऋतसाम दोनो का परस्पर अन्तर्य्याम–सम्ब ध होता है। ऋताग्नि ऋतसोम के स ब ध से अग्निसोममयी वस तादि ष ऋतुओ का प्रादुर्भाव होता है। ष ऋतु से ही प्राकृतिक नि य सम्व सरयज्ञ की स्वरूपनि पत्ति होती है। स व सरयज्ञ का स्वरूप–निर्म्माण ऋतुसम वय पर ही निभर है ऋतुस्वरूपाविर्भाव ऋताग्नि–सोम-समन्वय पर ही निभर है। एव यह सम–वय गतिधर्म्मा वायु पर ही निभर है। न स्वय अ न में गति है न सोम म गति है। गतिधर्म्मा है–एकमात्र वायु। इस वायु के यापार से ही सूय से प्रवृक्त दक्षिणस्थ अ नि उतर की ओर जाता है एव च द्रमा से प्रवृक्त उत्तरस्थ सोम दाक्षिण की ओर आता है। सप्रकार वायु के यापार से ही दोनो ऋतभावो का सम वय होता है एव इसी सम वय स अ नसोममय ऋतुभाव का ज म होता है। यही वायु–त व इस प्राकृति ऋतुयज्ञ (ऋतु मण्डिलक्षण सम्व सरयज्ञ) का स्वरूप सम्पादक हैं जिसका गतिधर्म्मा त वा मक यजुर्वेद से ही सम्ब ध है। यजुम्मूर्त्ति वायु ही क्योकि ऋतुस्वरूप का सम्पादन करते हुए आग्नषोमा–मक सम्व सरयज्ञ के (पर परया) स्वरूपाधाता हैं अतएव इनका यह कम्म ऋतुसम्ब व स किंवा ऋता–ग्नि सोम-सम्ब ध मे आर्त्वि य कहलाया है। ऋत का सम य कर दना ही आर्त्वि य कम्म है। इसी ऋता मक ऋतुसम्ब ध से वायु ऋ विक कहलाए हैं। आग्नेय सौम्य देवताओ का सगमनलक्षण यजन कराने से ही इस वायु नामक प्राकृतिक अ वर्य्यु का यह क म याया कहलाया है। इसप्रकार प्राकृतिक ऋताग्निसोममय आग्नेय सौम्य दवताओं का आर्त्वि यकम्म तत्सम देवमूर्त्ति यजुरा मक वायुदवता के द्वारा ही सञ्चालित है।

उत्तराघारकम्म एकप्रकार का आर्त्वि यकम्म ही है सी से अग्नीषोमा मक व ध यज्ञ की स्वरूप नि पत्ति होने वाली है। इस दवसम्मिश्रण (अग्नि सोम सम्मिश्रण) लक्षण आर्त्वि यकम्म का स पादन यजुर्वेदी अ वर्य्यु करता है। दववग की अपेक्षा मनु यवग निम्नश्र णि में प्रतिष्ठित है। उच्चश्रणिस्थ दो महापुरुषो का सम्ब ध एक निम्नश्र णि का याक्त नही करा सकता। यदि कराता है तो यह उसकी धृष्टता है। आज मनुष्य अ व यु को अग या इसी धृष्टता का अनुगमन करना पड रहा है। उत्तराघार के द्वारा यह आज दो दवताओ का आर्त्वि य करने वाला है। अपने अगतिकगतिक इस धष्टतादोष से बचने के लिए ही उत्तराघारलक्षण आर्त्वि यकम्म से पहिले ही देवता तथा पितरों को नम एव स्वधारूप से यह प्राथना कर लेता है कि यद्यपि मै एक मनु य हू निम्नश्र णि में प्रति ष्ठत हू आप दवता हैं द्यु लोक म प्रतिष्ठित हैं। ऐसी स्थिति में आपके सगमनरूप यजन की मुझमें योग्यता नही है। तथापि

आपके ही अनुग्र स म आर्वि-यक म करने जारहा हू । धष्टता—निवृ यनुगत इस उद्द श्य की सिद्धि के लिए ही उत्तराघार से पहिले जुहू उपभृत् को रख कर इनके पूवभाग में **अञ्जलिनिधान** किया जाता है। **आ नेयप्राण दवता है एव सौम्यप्राण पितर है**। यज्ञ में इन्ही दोनो का सङ्गमन अपेक्षित है। इसी अभिप्राय से— **नमो देवे य –[ऋताग्नय] स्वधा पित य [ऋतसोमाय]** यह कहा गया है। अञ्जलि पुटनिधान की इसी उपपत्ति को लक्ष्य में रखकर श्रुत ने कहा है— **तद् वेभ्यश्चैवतत्पितृभ्यश्चार्त्विज्य करिष्यन् निह्नुते ।**

अपराधनिवृत्यन तर आ यपूर्ण जुहूपभृत् को अपने दक्षिण हाथ में उठाता है साथ हो मन्त्रशक्ति के द्वारा इस आ य को अ कन्न बनाने की भावना करता है। ता पर्य इस अस्कन्नभावना का यही है कि यदि आहवनीय के दक्षिण भाग की ओर आज पूर्ण स्रुपात्रद्वयी को उत्तराघार के लिए ले जात हुए जुहू से आ यमात्रा भू म पर गिर जायगी तो यज्ञ की अविच्छिन्ना धारा टूट जायगी। जुहू-स्थित आ य दवयज्ञ वितान के लिए ही नियत है। इस आ य का कम्पित होजाना यज्ञपुरुष का ही कम्पित होजाना है एव नीचे ि जाना यज्ञस तान का ही विच्छिन्न होजाना है। साथ ही यह भूमिष्ठ आ यभाग शत्रुसमृद्धि का भी कारण बन जाता है। क्योंकि **यद्व यज्ञस्यातिरिक्त तद्भ्रात व्यम्** इस निगम के अनुसार यज्ञोपयोग से बहिभू त यज्ञिय द्र य यज्ञकर्त्ता यजमान के शत्रु का ही पोषक माना या है। इन सब यज्ञस्वरूपविघातक क पन वि युति आदि दोषो से बचने के लिए अ वर्यु को बडी सावधानी से ही आ यपूर्ण स्रुक को दक्षिण की ओर ले जाना चाहिए। जिससे न तो आ य म क पन ही हो एव न आज्यमात्रा भूमि पर ही गिरे। दक्षिणभाग असुरप्राणाक्रा त है। अतएव इस आ यरक्षा के लिए ही यह विशेष विधान हुआ है ॥ १ ॥

उत्तराघार के लिए नियत सञ्चरभाग से अ वर्यु को यज्ञा मक आहवनीयाग्नि के दक्षिण भप्रदेश की ओर आना पडता है। आहवनीयाग्नि साक्षात् यज्ञपुरुष है विष्णु है। इसका अतिक्रमण करना भी एकप्रकार की धष्टता ही है। साथ ही यज्ञ से अपने आपको पृथक करना भी है। दक्षिणभाग अयज्ञिय है यहाँ आना यज्ञसम्ब ध को तोडना है पूव से दक्षिण की ओर आ ना इसका अतिक्रमण करना है। इन दोनो दोषो से बचने के लिए **अह्निघ्रणा विष्णो मा त्वाऽवक्रमिषम्** म त्र बोलता हुआ ही दक्षिण की ओर गमन करता है। म त्र का भाव यही है कि मैं अवज्ञा से यज्ञ का अतिक्रमण नही कर रहा अपितु यज्ञस्वरूपनिर्म्माण के लिए ही मुझे अग या दक्षिण की ओर जाना पडता है ।

उत्तरभाग सौरज्योति के सम्ब ध से योतिर्मय है एव दक्षिणभाग असुरप्राण के सम्ब ध से छायामय है। छायामय आसुर भूप्रदेश यजस्वरूप का विघातक है। आज उत्तराघार के लिए अ वर्यु को अग या इस प्रदेश में आना पड रहा है। इस छायामय आसुरभाव की निवृत्ति के लिए ही **वसुमतीमग्ने ते छायामुप स्थेषम्** इस मन्त्रबल का आश्रय लिया जाता है। प्रदेश छायामय अवश्य है परन्तु यही छायामय प्र श उत्तराघार के द्वारा अग्नि सम्ब धी वसु (स पत्) का प्रापक है यज्ञसाधक है। हम आसुरप्रदेशा मक छायामय भाग में नही जारहे अपितु आहवनीयाग्नि लक्षण यज्ञमण्डल की ही छत्रच्छाया में (आश्रय में) जारहे हैं। अत्रगमन से ही यज्ञसिद्धिलक्षणा सम्पत् की प्राप्ति होगी। इस कथन से असुरभाव का निराकरण करता है एव वसुभाव का स्थापन करता है ॥ २ ॥

छायामय असुरभाव की आयतिक निवृत्ति के लिए ही आग जाकर— विष्णो स्थानमसि म मन्त्रभाग का उच्चारण विहित है। कौन कहता है कि यह भूप्रदेश आसुर है ? । यह तो यज्ञमूर्त्ति विष्णु का आवास स्थान है। वहा खडे होना तो यज्ञसान्नि य में ही स्थित होना है। यह वही स्थान है जहा पर वज्र ने कर सौर इ द्र दक्षिणस्थ आसुरप्राण का विनाश किया करत ह। यह वही सुरक्षित स्थान है जहा प रक्षे हुए इन्द्र की रक्षा में देवताओं । स त सरयज्ञ स त सर त्रिलोकी म वितत हुआ है इसप्रकार यज्ञामन्त्र अतएव विष्णुरूप आहवनीयाग्निज्वाला की सीमा के सान्निध्य से एव दाक्षिणस्थ इन्द्रप्राण क समावश स य नियत दक्षिण भूप्रदेश सवथा निरुपद्रव यनिय एव यज्ञस्वरूपसम्पादक ही बन रहा है। इत इन्द्रो वीर्यमकृणोत इ यादि मन्त्रभाग दक्षिणभूप्रदेश की स महत्ता का ही सग्राहक बन रहा है ॥३॥

आहुतिकाल उपस्थित होगया है। अतएव आहुतिग्राहक आहवनीयाग्नि में आहुत का उत्त दायित्व डालने के अभिप्राय से कहा जाता है कि हे आहवनीयाग्ने ! आप ही इस यज्ञ के होता ह एव आप ही इस यज्ञ क दूत है। हुत आयद्र य का स्वसीमा में प्रतिष्ठित प्राणदवताओं म आवान करना भी आप ही का काम है आहुतिद्रव्य-ग्रहण के लिए द्युलोकस्थ दवताओं का यहा आह्वान करना भी आप ही का काम है एव गृहीताऽऽहुति दवताओं के द्वारा यजमाना मा को द्युलोकस्थ देवप्राणाकषण से युक्त करना भी आप का ही काम है। आहुति देना मात्र मेरा काम शेष सम्पूर्ण उत्तरदायि व आप पर निभर यही नि कष है। आहुतिग्रहण करने के अनन्तर समिद्ध आहवनीयाग्नि— अतन्द्रो हव्य वहसि हविष्कृत आदिद्देवेषु राजसि [ऋक् स ८६ ।१५।] इ यादि मन्त्रवणन के अनुसार प्राणरूप से इस आहुतद्रव्य को गर्भीभूत बना कर अग्नि ही इस पृथिवीलोक से द्युलोक में ले जाते हैं। द्यावापृथिवीरूप वाङ मय वषट्कार सीमा से सुरक्षित हो कर ही यह आग्नेयप्राण ऊर्ध्वगमन करता है। साथ ही यही आग्नतत्व इसी यज्ञ के द्वारा द्यावापृथिवी का भी स्वरूपरक्षक बन रहा है। आत्मा शरीर का रक्षक है तो शरीर आत्मा का रक्षक है। अग्नि आत्मा है द्यावापृथिवी शरीर है। दोनों परस्पर एक दूसरे के स्वरूपरक्षक बन रहे ह। प्रदत्त-आहुति अग्नि के द्वारा निर्विघ्न पृथिवी से द्युलोक की ओर चली जाय अवता वा द्यावा इ यादि मन्त्रभाग का यही निष्कष है।

सर्वान्त में— स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा इस मन्त्रशेष का उच्चारण कर स्वाहा के साथ जुहू से उत्तराघार-आहुति दे दी जाती है। आहुति दी जाती है—यद्यपि आहवनीयाग्नि में ही तथापि लक्ष्य है इस आहुति का द्युलोक की अवाप्ति। एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्युलोक में इन्द्र का साम्राज्य है। भूकेन्द्र से २१ पर्यन्त वितत यज्ञ के अन्त में इन्द्र प्रतिष्ठित हैं अतएव इन्हें यज्ञपति कहा जाता है। यज्ञपति की तुष्टि ही यज्ञस्वरूप की निष्पत्ति का अन्तमम द्वार है। अतएव वायुद्वश्येन कृत उत्तराघार का इन्द्र से सम्बन्ध मान लिया गया है। इसके अतिरिक्त यही इन्द्र एक दूसरे दृष्टिकोण से वाक्तत्व का भी सग्राहक बन रहा है। वागिन्द्रियलक्षण वाकतत्व (शब्दपञ्ज) की मूल-प्रतिष्ठा कायाग्नियुक्त आध्यात्मिक वायु है। वायुः खात् शब्दस्तत् इत्यादि प्रातिशाख्य-सिद्धान्त के अनुसार वायु ही शब्दात्मिका वाक का प्रवर्त्तक है।

यदि वाक में केवल वायु का ही समावेश होता तब तो पशुवागवत् मानुषीवाक में केवल अविच्छिन्ना ध्वनि ही उपलब्ध होती। मानुषीवाक् में वर्ण शब्द-पद वाक्यादि की भी व्यवस्थित विभक्तिया हैं। यह

विभक्तिभाव ही वाक् का विभक्तिकरणलक्षण व्याकरण है एव ज्ञानमूर्ति प्राज्ञ इन्द्र ही इस व्याकरण के प्रवर्त्तक है। इसप्रकार वायुसन् इन्द्र का भी वाक्तत्व में समावेश सिद्ध होजाता है। अतएव वाक् को इन्द्र माना जासकता है। अधिदैवत में वाक् आकाश है यही इन्द्र है। इन्द्रात्मक आकाश (वाक) ही बलग्रथितारतम्य से पञ्चमहाभूतरूप में परिणित हुआ है। इन्द्र ज्योति का अधिष्ठाता है एव ज्योति ही इन्द्र है। वाक् (शब्द) व्यापार इसी इन्द्र के द्वारा ज्योति (ज्ञान) का उद्बोधक बनता है। पञ्चप्रकान्त के अनुसार सौरमण्डल वाङ्मय है यही इन्द्र प्रतिष्ठित है। इसप्रकार अनेक दृष्टियो से वाक तथा इन्द्र का अविनाभाव सिद्ध होरहा है। इसी आधार पर— इन्द्रो वागि याहु यह निगम प्रतिष्ठित है। अतएव वागनुगत उत्तराघाराहुति साधक मन्त्र में इन्द्र को उद्देश्य मान लिया गया है ॥ ४ ॥

पूर्वब्राह्मण में यह स्पष्ट किया गया है कि पूर्वाधार इस यज्ञपुरुष का मूलस्थानीय हृदय है एव उत्तराधार तूलस्थानीय शिरोभाग है। अब शेष आत्मभाग (चत्वार आत्मा से सङ्केतित मध्याङ्ग शरीर) रह जाता है। जिसप्रकार आत्मभाग (धड)–स्थ [उदरस्थ] रस से सम्पूर्ण आत्यामिक यज्ञ का पोषण होता है एवमेव रसात्मक आज्य से परिपूर्ण ध्रुवापात्र के रस [आज्य] से सम्पूर्ण वध यज्ञ की इतिकर्त्तव्यता पूरी होती है। इसी समानता से ध्रुवापात्र को इस यज्ञ–पुरुष का आत्मा कहा गया है। बिना शिर के आत्मा [धड] अपूर्ण है मध्य है। इसकी इस अपूर्णता को दूर करने के लिए ही उत्तराधारानन्तर जुहू में शेष बचे आज्य का [जुहू को उपभृत् से पृथक रखते हुए] ध्रुवा के साथ योग कराया जाता है। उत्तराधारशेषाश शिर स्थानीय है ध्रुवा आत्मस्थानीय है। शेषाश का ध्रुवा से योग कराना आत्मा [धड] में शिरोभाग स्थापित करते हुए यज्ञ पुरुष को पूर्णाङ्ग ही बनाना है।

चत्वार आत्मा द्वौ पक्षौ पुच्छ प्रतिष्ठा [शत ६।१।१।६।] इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार चार मध्य प्राणों से धड [मध्याङ्ग] का एक मध्यप्राण से दक्षिणहस्तपादरूप दक्षिणपक्ष का एक मध्यप्राण से वामहस्तपादरूप वामपक्ष का एव एक मध्यप्राण से मेरुदण्डमूलानुगता प्रतिष्ठात्मिका त्रिकास्थि से सम्बद्ध प्रतिष्ठाभाव का निर्म्माण होता है। इसप्रकार सप्तपुरुष–पुरुषात्मक चित्याग्नि से शिरो–विरहित शेष सम्पूर्ण शरीर की चिति होती है। इन सातो मध्य पुरुषो [प्राणो] का ऊर्ध्व विदूहन होता है। सातो के मन्थन से समुद्भूत दधिमन्थनोत्थ आज्य–स्थानीय सारभाग ही श्री भाग है। यही सप्त अमृतप्राणात्मक श्रीभाग मस्तक का स्वरूप निर्म्मापक बनता है। इसी श्री के सम्बन्ध से मस्तकप्रदेश शिर कहलाया है। सम्पूर्ण शरीर में इसी श्री के सम्बन्ध से शिरोभाग श्रेष्ठ माना गया है। इसी आधार पर जिस लोकसस्था में जो श्रेष्ठ [मुखिया] नेता है वही उस सस्था का शिर कहलाया है। आत्मरूप मध्यभाग [ध्रुवा] में इसी शिरोरूप श्रीभाग (उत्तराधार–शेषाशरूप आज्यभाग) को प्रतिष्ठित किया जाता है। यही समञ्जन की दूसरी उपपत्ति है ॥ ५ ॥

समञ्जनकर्म्म के सम्बन्ध में एक प्रश्न शेष रह जाता है। जुहू को उपभृत् से पृथक् रखते हुए ही क्यो जुहूस्थित आज्य का ध्रुवा से सम्बन्ध कराया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर उपभृत् के नैदानिक स्वरूप से सम्बन्ध रखता है। ध्रुवापात्र निदानेन यज्ञकर्त्ता यजमान की प्रतिकृति है एव उपभृत्पात्र निदानेन यजमान के शत्रु की प्रतिकृति है। इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन पूर्व में किया जाचुका है। उपभृत् यजमान के शत्रु का नैदानिकरूप है। ऐसी अवस्था में यदि जुहू के साथ उपभृत् का सम्बन्ध रखते हुए यजमानस्थानीय

ध्रुवा से आज्य समञ्जन कराया जायगा तो यजमान के शत्रु में भी श्री का स्थापन हो जायगा। केवल यजमान ही श्री से युक्त रहे इस उद्देश्य से केवल जुहू से ही (उपभृत् को जुहू से सर्वथा पृथक रखते हुए ही) समञ्जनकर्म्म किया जाता है ॥ ६ ॥

ध्रुवापात्र आत्मस्थानीय है एवं जुहूस्थित आज्यशेषांश शिरःस्थानीय है इस कथन से समञ्जनकर्म्म की आध्यात्मिक-यज्ञानुगता उपपत्ति का स्पष्टीकरण हुआ। अब समञ्जन-मन्त्रार्थ के द्वारा आधिदैविकयज्ञानुगता उपपत्ति का स्पष्टीकरण किया जाता है। **तस्यासावेव द्यौर्जुहूः। अथेमन्तरिक्षमुपभृत्। इयमेव ध्रुवा। तद्वाऽअस्या एवेमे सर्वे लोकाः प्रभवन्ति। तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति** (शत० १।३।२।४।) इत्यादि श्रुति के अनुसार आधिदैविक (त्रैलोक्यात्मक) प्राकृतिक यज्ञ की दृष्टि से निदानेन जुहूपात्र द्युलोकस्थानीय है एवं ध्रुवापात्र पृथिवीस्थानीय है। यज्ञ के द्वारा पार्थिव आङ्गिरस प्राणदेवताओं का तथा द्युलोकस्थ सौर सावित्र प्राणदेवताओं का ही परस्पर सम्बन्ध अपेक्षित है। इस सम्बन्ध का अधिष्ठाता मध्यस्थ वह अन्तरिक्ष ही है जिस में घृतात्मक तेजोरस व्याप्त रहता है।

घृतमन्तरिक्षस्य (शत० ७।५।१।३।) के अनुसार अन्तरिक्ष आज्यरस से परिपूर्ण है। इसी आज्यरस से ध्रुवारूप पृथिवीलोक में प्रतिष्ठित अङ्गिराज्योति-(रूपज्योति)-र्मय पार्थिवदेवताओं का तथा जुहूरूप द्युलोक में प्रतिष्ठित सावित्रज्योति-(स्वद्योत)-र्मय दिव्य देवताओं का परस्पर सम्बन्ध होरहा है। जुहूस्थित आज्य का ध्रुवास्थित आज्य से सम्बन्ध कराना द्युलोकस्थ ज्योतिर्मय देवताओं का पार्थिव ज्योतिर्म्मय देवताओं के साथ सम्बन्ध कराते हुए देवसङ्गमनलक्षण यज्ञस्वरूप का ही सम्पादन करना है। इसी आधिदैविक-उपपत्ति को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है- **ते ह्य तदुभे ज्योतिषी सङ्गच्छेते। तस्मादेव समनक्ति ॥ ॥**

पूर्वाघार मनःसम्पत्ति का सङ्ग्राहक है एवं उत्तराघार वाक्सम्पत्ति का सङ्ग्राहक है। मनोऽनुगत पूर्वाघार तूष्णीं (उपांशुरूपेण) किया जाता है एवं वागनुगत उत्तराघार मन्त्रपूर्वक (निरुक्तरूपेण) किया जाता है। तूष्णीं मन्त्रेण की उपपत्तियां पूर्व में बतलाई जाचुकी हैं। अब मनोऽनुगत पूर्वाघार से सम्बन्ध रखने वाले तूष्णीभाव की एक अन्य उपपत्ति बतलाने के लिए साथ ही प्रसङ्गोपात्त वाङ्मय अत्रिप्राण के स्वरूप-विश्लेषण के लिए एक वैज्ञानिक आख्यान उपस्थित होरहा है।

मन और वाक् दोनों में अहंभद्र को लेकर विवाद चल पड़ा। वाक् कहने लगी-मैं बड़ी हूँ। मन कहने लगा मैं बड़ा हूँ। वागपेक्षया अपना श्रेष्ठत्त्व स्थापित करता हुआ मन कहने लगा कि मेरे सङ्कल्पित-भावित-अर्थों के अनुरूप ही तुझे चलना पड़ता है। मनोऽपेक्षया अपना श्रेष्ठत्त्व स्थापित करती हुई वाक् कहने लगी कि तेरे सङ्कल्प को मैं ही बाह्यरूप प्रदान करती हूँ। दोनों अपने इस विवाद को लेकर प्रजापति की सेवा में उपस्थित हुए। प्रजापति ने मन का पक्ष ग्रहण करते हुए यही निर्णय किया कि तुम दोनों में मन ही श्रेष्ठ है। प्रजापति के इस निर्णय से वाक् का दर्पदलन होगया, उसका अभिमान विदीर्ण होगया। परिणामतः इस अपमान से खिन्न होने वाली वाक् ने यह कह डाला कि हे प्रजापते! आपने मुझे मन से छोटा बतलाया है, अतएव आज से मैं आपके लिए हविर्द्रव्य का वहन नहीं करूंगी।

उक्त आख्यान से मन तथा वाक् के स्वाभाविक स्वरूपों का ही विश्लेषण हुआ है। प्राणवाग्गर्भित मनोमय प्रजापति हृदय में प्रतिष्ठित है। यही स– **आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।** इत्यादि शिक्षा–सिद्धान्त के अनुसार वायु के सहयोग से वर्णात्मिका (शब्दात्मिका) वैखरीवाक् का उद्गम होता है जैसाकि पूर्व के सामिधेनी–ब्राह्मण में हिङ्कारानुगत **नाद–श्रुति–स्वरूप–विश्लेषणात्मक सन्दर्भ** में विस्तार से बतलाया जाचुका है। मानस ज्ञान ही इस वर्णवाक् का आधार बनता है। मानस ज्ञान के अनुरूप ही वर्णस्वरूप की निष्पत्ति होती है। फलत मन इसका जनक है वाक् इसकी पुत्री है। यही कारण है कि सुषुप्त्यवस्था में जब मन विज्ञानात्मा (बुद्धि) के साथ मिल कर पुरीतति नाडी में चला जाता है तो वाग्व्यापार अवरुद्ध होजाता है। मन को आलम्बन बनाए बिना वाग्व्यापार असम्भव है। उधर मन बिना वाक् के (अनुष्टुप–वागलक्षणा वैखरीवाक् के) सहयोग के बिना भी (परावाक् के सहयोग से) स्वव्यापार (सङ्कल्प) सञ्चालन में समर्थ होजाता है।

इन्हीं कतिपय कारणों से निश्चित है कि मन–वाक् इन दोनों में वागपेक्षया मन ही ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ है। **प्रजापति ने यह निर्णय किया** इस कथन का यही तात्पर्य है कि मन की श्रेष्ठता का कारण उसका हृदयावच्छिन्न प्राजापत्य धर्म ही है। **परिधि हृदय** दोनों में हृदय ही परिधि का मूलाधार एवं प्रथम प्रवर्त्तक है। **तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा** * के अनुसार हृदयावच्छिन्न मनोमय अनिरुक्तप्रजापति ही वाङ्मय बहिर्मण्डल का प्रवर्त्तक तथा आधार है। अनुष्टुप् वाक् का हृदय से बाहिर की ओर ही विकास होता है। वाक् की बहिर्गति है। फलत हृदयावच्छिन्न मनोमय प्रजापति को वाग्व्यापार से कभी हृदय नहीं मिल सकता। कैसा महत्त्वपूर्ण समन्वय है। हमारा जितना भी वाग्व्यापार है वह सब केवल बाह्य प्रपञ्च का ही उपोद्बलक है। कभी शब्दजाल से आत्मतुष्टि सम्भव नहीं है। क्योंकि पराङ्मुख शब्द की अन्तर्मुख हृदय प्रजापति की ओर गति ही नहीं है।

नेति नेति ही उसकी वास्तविक उपनिषत् है । लोकदृष्टि से भी जो व्यक्ति अपने कर्म्म का वाक् के द्वारा बखान करते रहते हैं निश्चयेन उनका कर्म आत्मसम्पत्ति से सर्वथा ही वञ्चित होजाता है। ऐसा कर्म्म निर्बल है। **सबल–सार्थक–वही कर्म्म माना जायगा जो आत्मशक्ति से युक्त रहेगा। एवं आत्मशक्ति से वही कर्म्म युक्त रहेगा जिसमें वाग्व्यापार का अधिकाधिक अभाव रहेगा। वाग्व्यापारसङ्कोच से मनोबल अधिकाधिक जितना ही प्रवृद्ध बनेगा कर्म्म में उतनी ही अधिक बलवृद्धि होगी। अतएव कर्म्मसिद्धि के लिए अपने कर्म्म को सुदृढ़–सफल–सत्य बनाने के लिए बिना उसका बखान किए चुपचाप ही कर्म्म का अनुगमन करना चाहिए। यही कर्म्मसिद्धि का अन्यतम द्वार है।**

*** प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते**
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।
—यजुःसंहिता

पूर्वाधार मनोऽनुगत है यहा वाग्व्यापार प्रक्रया अवरुद्ध है। अतवए मनोऽनुतग पूव धार उपाशु ही किया जाता है। न केवल मनोनुगत पूर्वाधार ही अपितु यज्ञ में जितने भी प्राजाप य क म विहित हैं सब इसी सिद्धा त के आधार पर उपाशु ही किए जात है ॥८६१ ११ १२॥

हृदयावच्छिन्न मनोमय प्रजापति के लिए वाक् क्यो अह यावाट् बनी ? यह एक म वपूर्ण प्रश्न है। श्रुति ने इसका समाधान यह किया है कि प्रजापति क निर्णय से वाक् का गर्भपात हो गया। अपमानिता वाक् ने आवेश मे आकर यह निश्चय कर डाला कि मैं प्रजापति क लिए ह यवहन नही करू गी। वाक के गर्भ का क्या स्वरूप ? अपमान का क्या स्वरूप ? इन प्रश्नो के समाधान के लिए सुप्रसिद्ध धाम च्छद अत्रिप्राण की ओर ही पाठको का यान आकर्षित किया जाता ह। ऋक्–साम–त वो स नि ययुक्त यत् लक्षण तिमान् प्राण से अनुगृहीता जू लक्षणा स या वाक ही य चयावत् वागविवर्त्तों की जननी है। इसी वाक् से– सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव साऽसृ यत (शत ६।१।१।१) इ यादि श्रौत सिद्धा त के अनुसार आपोमय परमेष्ठी का प्रादुर्भाव होता है। स परमष्ठी म उष्ण शीत अनुष्णाशीत–भेद से अङ्गिरा (उष्ण) भृगु (शीत) एव अत्रि (अनुष्णाशीत) इन तीन मनोता नामक त वो का प्रादुर्भाव होता है। इनमे उष्ण अङ्गिरा देवसृष्टि का शीत भृगु पितृसृष्टि का एव अनुष्णाशीत अत्रि भूतसृष्टि का प्रव र्त्तक बनता है। भूतसृष्टि धाम छदा है स्थाना-वरोधिनी है (जगह रोकती है)। यह धामच्छदधर्म्म उसी अत्रि का धर्म्म है। यही वाक का गर्भ है। इसी गर्भ से यह वाक हृदय की ओर न जाकर बहिर्म्मण्डल की ओर अनुगत होती है।

मन–प्राण वा मय आ मा में मन ज्ञाना मक बनता हुआ अधाम छ है प्राण क्रिया मक बनता हुआ अधामच्छद है। पर तु वाक अर्थात्मिका बनती हुई धामच्छदा है। अपने अर्थधर्म्म से वाक् में तमोगुण का प्राधा य होजाता है। यह तमोभाग ही अत्रिभाग है जो कि वाक् का प्रातिस्वक वीर्य्य माना गया है। इसी अत्रिलक्षण तमोभाग के समावेश से भूतसर्ग प्रवृत्त हुआ है। ऋतुमती स्त्री में वाग्रेतोलक्षण इसी धामच्छद अत्रिप्राण का समावेश रहता है। अतएव ऋतुमती स्त्री आत्रेयी कहलाइ है। अत्रिभाग तमोगुण प्रधान है मलीमस है अतएव रजस्वला स्त्री अस च्छू वत् अस्पृश्या मानी गई है। श्रुति कहती है कि जो आत्रेयी स्त्री का स्पर्श करता ह वह पापाभिभूत होजाता है। चम्मन् श द प्राणीलक्षण चेतन भूतसर्ग के लिए प्रयुक्त हुआ है ए व यस्मिन् वा वाक्य प्राणलक्षण अचेतन भूतसर्ग के लिये प्रयुक्त हुआ है। चेतन भूत ए व अचेतन भूत भूता मक उभयविध धामच्छदसर्ग वाग–गर्भरूप अत्रि से ही समुदभूत है। प्रकृत में इस अत्रि–मीमासा से यही नि कर्ष निकलता है कि धामच्छद अत्रि के सम्ब ध से वाकत व अर्थप्रधान बनता हुआ बहिर्मु ख ही बन जाता है। अर्थातीत हृद्यभाव की ओर इसका अनुगमन अवरुद्ध होजाता है। इसी अर्थमात्रा से इसका आ मधर्म्मानुगत स्वाभाविक विकास अ ारुद्ध होरहा है। यही

इसका अपमानित होना है। अपमानलक्षणा अथगरिमा ही इसे प्राजापत्यानुगति से वञ्चित किए हुए है। वाक् का प्रजापति की ओर अनुगमन क्यों नहीं होता इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥१३॥

(उत्तराघारकर्म्मसमाप्त)

चौथे अध्याय मे पॉचवॉ, तथा चौथे प्रपाठक मे प्रथम ब्राह्मण समाप्त

द्विब्राह्मणात्मक–'आघारब्राह्मण' समाप्त

चौथा अध्याय समाप्त

४



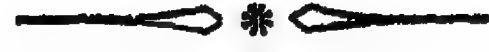
श्री

इति–शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—

प्रथमकाण्डे

चतुर्थोऽध्याय समाप्त

४



श्री

अथ -शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये

प्रथमकाण्डे

पचमोऽध्यायः

५



श्री

शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्यान्तर्गत -प्रथमकाण्डे

पञ्चमोऽध्यायः

— ५ —

अथ-प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये प्रथम ब्राह्मण
चतुर्थप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मण
उपक्रान्तम्
"प्रवरब्राह्मणम्"

२१—प्रवरणकर्म्म

१ प्रवरायाश्रवणम्

(मूल)—स वै प्रवरायाश्रावयति । तद् यत् प्रवरायाश्रावयति-यज्ञो वा आश्रावणम् यज्ञमभि याहृत्याथ होतार प्रवृणै-इति । तस्मात्प्रवरायाश्रावयति ॥ १ ॥

स इध्मसन्नहना येवाभिपद्य-आश्रावयति । स यद् ह अनारभ्य यज्ञमध्वर्यु राश्रावयेद्-वेपनो वा ह स्याद् अ या वाऽऽत्तिमाच्छेंत् ॥ ॥

तद्धैके वेदे स्तीर्णायै बर्हिरभिपद्याश्रावयति, इध्मस्य वा शकलमपच्छिद्याभिपद्याश्रावयति-'इद वै किञ्चिद् यज्ञस्य इद यज्ञमभिपद्याश्रावयाम' इति वदन्त । तदु तथा न कुर्यात् । एतद् वै किञ्चिद् यज्ञस्य-यैरिध्म सन्नद्धो भवति अग्निं सम्मार्ष्टि । तद्वेव खलु यज्ञमभिपद्याश्रावयति तस्मादिध्मसन्नहना येवाभिपद्याश्रावयेत ॥ २ ॥

२—होतृप्रवरणम्

स आश्रा य–य एव देवाना होता, समेवाग्र प्रवृणीते अग्निमेव । तद् अग्नय चैवेतद् देवेभ्यश्च निह्नुते । यदहाऽग्नि प्रवृणीते–तद् अग्नये निह्नुते अथ यो देवाना होता, तमग्रे प्रवृणीते तद् देवेभ्यो निह्नुते ॥ ४ ॥

स आह–'अग्निर्देवा दै यो होता इति । अग्निर्हि देवाना होता, तस्मादाह–'अग्निर्देवो दै यो होते ति । तद् अग्नय चैवैतद् देवेभ्यश्च निह्नुते । यदहाग्र ऽग्निमाह–तदग्नये निह्नुत । अथ यो देवाना होता–,तमग्र आह–त देवेभ्यो निह्नुते ॥ ५ ॥

'देवान्यक्षद्विद्वाश्चिकित्वान्' इति । एष वै देवाननु विद्वान्–यदग्नि । स एनाननु विद्वान्–यदग्नि । स एनाननु विद्वान् अनुष्ठ्या यक्षद्–इत्येवैतदाह ॥ ६ ॥

मनुष्वद् भरतवद् इति । मनुर्ह वा अग्र यज्ञनेज तदनकृत्येमा प्रजा यजन्त, तस्मादाह–मनुष्वदिति । मनोयज्ञ –इत्यु वा आहु तस्माद्व वाह–मनष्वदिति ॥ ७ ॥

भरतवदिति एष हि देवेभ्यो ह य भरति तस्याद्भरतोऽग्निरित्याहु । एष उ वा इमा प्रजा प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्माद्व वाह–भरतवदिति ॥ ८ ॥

३—आर्षेयप्रवरणम्—

अथार्षेय प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनम्–एदद् देवेभ्यश्च निवेदयति–'अय महावीर्यो यो यज्ञ प्रापद्' इति, तस्मादार्षेय प्रवृणीते ॥ ९ ॥

परस्तादर्वाक प्रवृणीते । परस्ताद्धि अर्वाच्य प्रजा प्रजायन्ते, ज्यायसस्पतय उ चैवैतन्निह्नुते । इद हि–पितैवाग्र अथ पुत्र अथ पौत्र । तस्मात्परस्तादर्वाक प्रवृणीते ॥ १ ॥

४–अग्नि–ब्राह्मणा नुग्रह–कर्म—

स आर्षेयमुक्त्वा आह–'ब्रह्मण्वद्' इति । ब्रह्म ह्यग्नि, तस्मादाह–ब्रह्मण्वदिति । 'आ च वक्षद्' इति । तथा एवैतद् देवता आवोढवा आह, ता एवैतदाह–आ च वक्षदिति ॥ ११ ॥

ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितार इति। एते वै ब्राह्मणा यज्ञस्य प्राविताराे यऽनूचाना। एते ह्येन त न्वते एत एन जनयन्ति। तदु तेभ्यो निह्नुते। तस्मादाह ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्राविातार इति॥ १२॥

५-मानुषहोतृवरणकर्म—

'असौ मानुष'-इति तदिम मानुष होतार प्रवृणीते। अहोता हैष पुरा अथतर्हि होता॥ १३॥

६-स्वस्त्ययनजप

स प्रवृतो होता जपति देवता उपधावति। यथानष्ठ्या देवेभ्यो हव्य वहेद् यथा न ह्वलेद् एव देवता उपधावति॥ १४॥

तत्र जपति **एतत्त्वा देव सवितर्वृणत** इति तत्सवितार प्रसवायोपधावति। स हि देवाना प्रसविता। **अग्नि होत्राय** इति। तदग्नय चैवैतद् देवेभ्यश्च निह्नुते। यद् हाग्रेऽग्निमाह—तद् अग्नय निह्नुते। अथ यो देवाना होता-तमग्र आह तदु देवेभ्यो निह्नुते॥ १५॥

'सह पित्रा वैश्वानरेण' इति। सव सरो वै पिता वैश्वानर प्रजापति। तत्सम्व त्सरायैव एतत्प्रजापतये निह्नुते॥ **अग्ने पूषन बृहस्पते प्र च वद प्र च यज'** इति। अनुवक्ष्यन् वा एतद् यक्ष्यन् भवति तदेताभ्य एवतद् देवताभ्यो निह्नुते- **यूयमनुब्रूत यूय यजत'** इति॥१६॥

वसूना रातौ स्याम्, रुद्राणाम् उर्व्याम् स्वादित्या अदितये स्यामानेहस इति। एते वै त्रयो देवाः—यद् वसवो रुद्रा आदित्या। एतेषामभिगुप्ता स्याम—इत्य वैतदाह॥१७॥

'जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासम्' इति। जुष्टमद्य देवेभ्योऽनूच्यासमित्यवैतदाह। तद्धि समृद्ध-यो जुष्ट देवेभ्योऽनुब्रवत्॥१८॥

जुष्टा ब्रह्मभ्य इति। जुष्टामद्य ब्राह्मणभ्योऽनूच्यासमित्यवैतदाह। तद्धि समृद्ध यो जुष्ट ब्राह्मणेभ्योऽनुब्रवत्॥१९॥

'जुष्टा नराशसाय इति। प्रजा वै नर। तत्सर्वाभ्य प्रजाभ्य आह। तद्धि समृद्धम्। यश्च वेद यश्च न साध्ववोचत्-साध्वन्ववोचद्-इत्येव विसृज्यते **'यदद्य। होतृवर्ये जिह्म चक्षु परापतत् अग्निष्टत् पुनराभ्रियाज्जातवेदा विचर्षणि'** इति। यथा यानग्रेऽग्नीन् होत्राय प्रावृणत-त प्राधन्वन्, एव यन्मेऽत्र प्रवरणामायि, त मे पुनराप्यायय इत्य वैतदाह। तथा हास्यैतत्पुनराप्यायते॥२०॥

७–सम्मर्शनकर्म्म—

अथाध्वयु चाग्नीत्र च समृशति । मनो वा अध्वयु वाग् होता । त मनश्चै तद् वाच च स दधाति ॥२१॥

तत्र जपति– षण् मोर्वीरहसस्पान्तु—अग्निश्च पृथिवी च आपश्च वाजश्च अहश्च रात्रिश्च' इति । एता मा देवता आर्त्तिगोपायन्तु इत्य तदाह । तस्यो ह न ह्वलास्ति–यमेता देवता आर्त्तिगोपायेयु ॥२२॥

८–उपावर्त्तनकर्म्म—

अथ होतृषदनमुपावर्त्तते । स हातृषदनादक तृण निरस्यति– निरस्त परावसु' इति । परावसुह वै नामासुराणा होता स तमे तद् होतृषदनाद् निरस्यति ॥२३॥

अथ होतृषदने उपविशति इदमहमर्वावसो सदने सीदामि' इति । अर्वावसु वै नाम देवाना होता तस्यै तत सदने सीदति ॥२४॥

तत्र जपति– विश्वकर्म्मस्तनूपा असि । मा मोदोषिष्टम् मा मा हिंसिष्टम्, एष वा लोक इति । उदड एजात । अ तरा वा एतद्–आहवनीय च गार्हपत्य चास्ते । तदु ताभ्या निह्नुते मा–मोदोषिष्टम् मा मा हिंसिष्टम् इति । तथा हैनमेतौ न हिंस्त ॥२५॥

९–अग्नीक्षणकर्म्म—

अथाग्निमीक्षमाणा जपति विश्वेदेवा शास्तन मा यथेह होता वृतो मनवै यन्नि षद्य । प्र मे ब्रूत भागधेय यथा वो येन यथा हव्यमा वो वहानि (ऋ स १ ५२ १) इति । यथा येभ्य पक्व स्यात् तान् ब्रूयात ,– अनु मा शास्त यथा वऽ आहरिष्यामि यथा व परिवेक्ष्यामि' इति । एवमे तद् देवेषु प्रशासनमिच्छते–अनु मा शास्त –यथा वोनुष्ठया वषट् कुर्याम् , अनुष्ठयः ह य दद्येयम् इति । तस्मादेव जपात ॥२६॥

इति–प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये प्रथम ब्राह्मण
चतुर्थप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मण
उपरतम्
प्रवरब्राह्मणात्मकम्



मूलानुवाद—

पाँचवे अध्याय मे पहिला, तथा चौथे प्रपाठक मे दूसरा ब्राह्मण उपक्रान्त

'प्रवरब्राह्मण"

२१—प्रवरणकर्म्म

१—आश्रावणकर्म्म—

(अनुवाद)–(आहवनीयाग्नि मे ब्राह्मणानुगत सूत्रप्रदर्शित पद्धात क्रमानुसार पूर्वोत्तराघारद्वय सम्पान्न के अन तर)वह (अ य्यु नामकऋत्विक प्रवरकम्म क लिए ('होता नामक ऋत्विक् के वरण के लिए ओ श्रावय'' इ यादिरूप से) आश्रावण करता है। सो जो कि वह अ वर्यु होता के वरण के लिए आश्रावण करता है (उस आश्रावणकम्म की उपपात्त यही है कि) यह आश्रावण (यज्ञस्वरूपसम्पादक होने से) यज्ञ ही है। यज्ञ का आश्रय लेकर (ही) मै होता का वरण करूँ इसीलिए प्रवरकम्म के लिए आश्रावण करता है ॥ (१) ॥

वह अध्व यु इध्मसन्नहनों (यज्ञियकाष्ठसम्भार क बाधने क तृणसमूहों) का ही लेकर आश्रावण करता है। वह अ वर्यु यदि यज्ञ (यज्ञ की वस्तु) को न लेकर आश्रावण करेगा तो वह निश्चयेन प्रथम तो कम्पित होजायगा अथवा तो (पतनान्लिक्षण) अ य किसी पीडा का भागी बनेगा (इसलिए इ मसन्नहनरूप यज्ञ से सम्ब व करके ही आश्रावण करना चाहिए) ॥(२)॥

कितने एक याज्ञिक वेदि पर बिछे बर्हि को लेकर अथवा इध्मकाष्ठ की वल्कल को इ म से प्रथक कर उसे हाथ मे लेकर आश्रावण करते हैं और ऐसा करत हुए (वे अपने इस बर्हि अथवा इ मवल्कल–ग्रहण की उपपत्ति यह बतलाते है कि) यह बर्हि अथवा इध्मवल्कल यज्ञ का ही कुछ भाग (यज्ञावयव होने से यज्ञरूप ही) है। हम इस यज्ञ को आश्रय बना कर ही आश्रावण करें। (भगवान् याज्ञवल्क्य इस सम्ब ध मे अपना निर्णय प्रकट करते हुए कहते है कि)– आश्रावणकर्म्म ऐसे (बर्हि अथवा इ मवल्कल लेकर) न करे। ये ही यज्ञ के निश्चयन कुछ (भाग) है जिन (तृणसमूहों) से काष्ठभार बाधा जाता है जिन से अग्निसम्मार्जनकम्म करते हैं। (ऐसी दशा मे इन इध्मसन्नहनों का ग्रहण करने से ही) निश्चयेन यज्ञ को आश्रय बनाकर आश्रावण करता है (आश्रावण करने मे समथ होजाता है) अत इध्मसन्नहनों को आश्रय बना–

कर ही आश्रावण करना चाहिए। (तात्पर्य यही है कि जो प्रयोजन बर्हि अथवा इध्मसन्नहन-ग्रहण का है वह प्रयोजन जब इध्मसन्नहन से गतार्थ होजाता है साथ ही इध्मसन्नहनग्रहण जब पद्धति से अनुगृहीत है तो ऐसी दशा में इध्मसन्नहनों को आश्रय न बनाकर बर्हि अथवा इध्मसन्नहन को आश्रय बना कर आश्रावण करना यथ तथा पद्धतिविरुद्ध है) ।।(३)।।

४—दि य होता (प्राणाग्नि) का वरण—

(इसप्रकार इ मसन्नहनों का ग्रहण कर **'ओ श्रावय** इस रूप से) वह अ व यु आश्रावण कर (अन तर) जो कि देवताओं (प्राणदेवताओं) का होता है सबसे पहिले उसी अग्नि का वरण करता है। (सवप्रथम **अग्नि** नामक दि य होता का वरण करता हुआ यह अ वर्यु) अपने इस अग्निवरणकर्म्म से अ नि के लिए एव देवताओं क लिए ही (अपने आपका) निह्नव (अपराध क लिए क्षमायाचना) करता है। जो कि सवप्रथम अग्नि को अपना लक्ष्य बनाता है (अग्नि का वरण करता है) इससे (तो) अग्नि क प्रति किए गए अपराध का शमन करता है एव जो देवताओं का होता है उसे सवप्रथम अपना लक्ष्य बनाता है इससे देवताओं के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है। (तात्पर्य यही है कि जिस दि य अग्नि का अ वर्यु सवप्रथम वरण करता है वह स्वस्वरूप से अग्नि है एव दि य देवताओं का होता बनता हुआ सवदेवमूर्त्ति भी है। इसक वरण से अग्नि का प्रातिस्विक अग्निस्वरूप स भी निह्नव होजाता है एव होतृरूप से सवदेवस्वरूप से भी निह्नव होजाता है। इसप्रकार एक ही अग्नि के वरण से **अग्नि** तथा **देवता** दोनो से निह्नव होजाता है) ।।(४)।।

(उपपत्ति बतलाकर अब पद्धति बतलाते है)-वह अध्वर्यु-* **"अग्निर्देवो दैव्यो होता** (हे अग्ने ! आप देवता-द्युलोकस्थ दि य तत्त्व-है साथ ही आप दि य देवताओं के दि य सम्व सरयज्ञ क होता है) यह म त्र बोलता है। अग्निदेवता निश्चयेन होता हैं इसीलिए **अग्निर्देवो द यो होता** यह कहा गया है। इस (मन्त्रभाग) से अग्नि के प्रति तथा देवता क प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। जो कि सवप्रथम अग्नि का वरण क ता है इससे तो अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है एव जो देवताओं का होता है उसक सवप्रथम वरण से देवताओं के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है ।।(५)।।

---

* **अग्निर्देवो दै यो होता देवान् यक्षद्विद्वाँश्चिकित्वान् मनुष्वद्भरतवत्"**

—इति निगदम त्र ।

(आगे का म त्रभाग है)-"देवान् यत्तद्विद्वांश्चिकि त्वान् (हे अ ने ! अपने हौत्रकर्म्म के प्रभाव से आप दि्य प्राणदेवताओं को भलीभाति पहिचानते हैं इसी स्वरूपज्ञान के आधार पर आप देवताओं का यजन करने मे समर्थ हुए है।) य निश्चयन दि्यप्राण देवताओं क ज्ञाता है जो कि अग्नि है। वे अग्नि इन दि्य देवताओं को जानते हुए इनका यथाविधि यजन करें (म त्रभाग से) यही कहा गया है ॥६॥

(आगे का मन्त्रभाग है)- मनुष्वद्भरतवत् (हे अ ने ! मनु की भाँति तथा भरत की भाति अपने होत्रकर्म्म से हमारे इस यज्ञ को सुसम्पन्न बना२) । मनु ने ही सवप्रथम यज्ञ के द्वारा (दि यप्राणों का पार्थिवप्राणो के साथ) यजन किया था । उस मानवयज्ञ को आधार बनाकर (अनुकरण कर क) ही ये (वर्त्तमान) प्रजाएँ यज्ञानुष्ठान करतीं है। इसीं अभिप्राय से मनुष्वत् कहा है। अपिच (यज्ञसम्प्रदाय मे यज्ञ क लिए यज्ञवेत्ता) यह मनु का यज्ञ है यह कहा करते है। इस अभिप्राय से भी 'मनुष्वत् यह कहा गया है। (तात्पर्य्य यही हुआ कि यह यज्ञ मनुकृत यज्ञ की प्रतिकृति है इस अभिप्राय से तथा यह यज्ञ उस प्रसिद्ध मनुयज्ञ की भाति महत्त्वपूर्ण है इस अभिप्राय से 'मनुष्वत् कहना सुसङ्गत बन जाता है) ॥(७)॥

(उक्त म त्रभाग मे) 'भरतवत् यह पठित है। (इसका तात्पर्य्य यही है कि) यह (अग्नि) ही (दिव्यलोकस्थ प्राणा मक) देवताओं के लिए (भूलोक से) ह्य लेजाते है। इसी ह य धारण धर्म्म से (अग्नि के सम्ब ध मे वैज्ञानिक लोग) 'यह अग्नि भरत है यह कहा करते हैं। अपिच यही (प्राणविध अग्नि) प्राणरूप मे परिणत होकर इन पार्थिव प्रजाओं का भरण पोषण करता है इसलिए भी भरतवत् यह कहा गया है। (तात्पर्य्य यही है कि देवताओं क लिए हविर्वहन करने से भी ये अग्नि भरत है एव मानवप्रजावग का प्राणरूप से भरण पोषण करने से कहना अन्वर्थ बनता है) ॥८॥

३—आर्षेयप्रवरण (यजमानवरण)

[दि्यहोतृप्रवरणात्मक होतृप्रवरणकर्म्म के] अनन्तर वह अध्वर्यु [ऋषिवंशपरम्परा से सम्ब ध रखने वाले ऋषिवंशज अतएव] 'आर्षेय [ऋषिवंशसम्बन्धी उस यजमान] का वरण करता है। [अर्थात् दैवहोतृवरणानन्तर ऋषिवंशज मनुष्य यजमान का वरण करता है] । मनुष्य-यजमानप्रवरणरूप आर्षेयप्रवरणकर्म्म से वह अध्वर्यु ऋषियों तथा देवताओं के प्रति ही इस [यजमान] को निवेदित करता है कि [वास्तव में] यह [यजमान] बड़ा पुरुषार्थी है जो कि यज्ञ को [यज्ञसम्पादन के लिए] प्राप्त [प्रवृत्त] हुआ है। इसी प्रयोजन के लिए आर्षेयवरण [यजमान वरण] करता है ॥[६]॥

पर (पूर्वपीढी) से अवर (उत्तरपीढी) की ओर आर्षेय का वरण करता है। (अर्थात प्रथम-पीढी से आरम्भकर उत्तर पीढी पर्य्यन्त याप्त यजमान के वंशजों का यशोगान करता है। (पर से अवर की ओर प्रवरण करने का कारण यही है कि)—पर से अवर की ओर ही सन्तानक्रम चलता है। (इसप्रकार परपुरुषों से अवरपुरुष पर्य्यन्त नामग्रहण) द्वारा (वह अध्वर्यु) उन वंशजों के प्रति किए गए (यजमान के) अपराध का ही शमन करता है। यह लोकप्रसिद्ध है-कि (वंश-परम्परा में) पहिले पिता (का स्थान) है अनन्तर पुत्र (का स्थान) है अनन्तर पौत्र (का स्थान) है। इसीलिए (स्वाभाविक प्राकृतिक सन्तानक्रम के आधार पर ही) पर से अवर की ओर वरण करता है॥* (१)॥

४—अग्नि, तथा ब्राह्मणों की अनुग्रहप्राप्ति—

(इसप्रकार यजमान-सम्बन्धी वंशजों के नामोल्लेखात्मक) आर्षेय का उच्चारण करने के अनन्तर वह अध्वर्यु '**ब्रह्मण्वत्** (हे अग्ने! आप प्रतिष्ठात्मक ब्रह्म से समतुलित हैं) यह मन्त्रभाग बोलता है। (यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा होने से) यह अग्नि **ब्रह्म** है। [किंवा इस यज्ञकर्म्म में प्रतिष्ठात्मक ब्रह्म निश्चयेन अग्नि है।] इसी अभिप्राय से **ब्रह्मण्वत्** कहा है [आगे का मन्त्रभाग है]—**"आ च वक्षत्"** [ऐसे ब्रह्मलक्षण हे अग्ने! आप यज्ञिय देवताओं का आह्वान करने वाले हैं]। जिन देवताओं को इस अग्नि के द्वारा इस यज्ञ में बुलाने के लिए कहा गया है प्रकृत—**आ च वक्षत्'** इस मन्त्रभाग से उन्हीं की ओर सङ्केत हुआ है॥ [१]॥

[आगे का मन्त्रभाग है]—'**ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितार** ' [ये ब्राह्मण-ऋत्विक् इस यज्ञ के स्वरूप सम्पादक हैं]। ये ब्राह्मण निश्चयेन यज्ञ के सञ्चालक तथा रक्षक हैं जो-कि त्रयीविद्या का **ग्रह, शस्त्र एवं स्तोत्र रूप** से अनुवचन करने वाले हैं ये ही ऋत्विग् ब्राह्मण इस यज्ञ को [वितानाग्निरूप से] वितत करते हैं ये ही अनूचान ब्राह्मण (आहुति के द्वारा) इस यज्ञ (यज्ञातिशयरूप दैवात्मा) को उत्पन्न करते हैं (**ये ब्राह्मणा** इत्यादि मन्त्रोच्चारण के द्वारा) इन्हीं अनूचान ऋत्विग् ब्राह्मणों के प्रति [अज्ञानतावश] किए गए अपराध का शमन करता है। इसी अभिप्राय से **ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितार** 'यह कहा गया है॥ [१२]॥

[इसप्रकार **अमुवदमुवत** रूप से पहले अध्वर्यु आर्षेय वरण करता है अनन्तर '**ब्रह्मण्वदा च वक्षत्** रूप से अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है अनन्तर--'**ब्राह्मणा**

---

* 'अमुवदमुवत् इति।

अस्य यज्ञस्य प्राविता इस म त्र से ऋत्विग्ब्राह्मणा के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है]।

५—मानुष होता का वरण—

[अन तर]— **असा मानुष** इस म त्रपाठ के द्वारा मनुष्य होता का वरण करता है। इस वरणकर्म्म से पहिले पहिले अत्रतक] यह [आज होतृत्त्वेन वृत यह मनुष्य] अहोता ही था आज उक्त म त्रपाठरूप वरण से ही यह होता बना है ॥ [१३] ॥

६—स्वस्त्ययनजप—

[अ वर्य्यु के द्वारा होने वाले **असा मानुष'** इस मन्त्रपाठा मक वरणकर्म्म से होतृत्त्वेन । प्रवृत यह होता [वरणकर्म्मान तर स्वस्त्ययनलक्षण म त्रों का] जप [उ चारणलक्षण पारायण] करता है। [इस जपकर्म्म से यह होता] प्राणदेवताओं का ही आश्रय ग्रहण करता है। जिसप्रकार या याकर्म्मकाल मे वषट्कर्त्त यप्राणदेवता का लक्ष्य बना कर यथाविधि उनके लिए वषट्कार करने मे समथ होसके देवताओं के लिए यथाविधि ह य वहन करने मे समथ होसके कोई काम पद्धति के विरुद्ध न होजाय इसी प्रयोजन के लिए जप क द्वारा यह होता देवता का आश्रय लेता है। [ता पर्य्य यही है कि अपने होत्रकर्म्म को निर्वि न स्वतिभावपूवक पूरा करने के लिए जप के द्वारा देव बल प्राप्त करना हीं स्वस्त्ययनजप की उपपत्ति है] ॥ [१४] ॥

स्वस्त्ययनजप की उपपत्ति बतला कर अब पद्धति बतलाते है]—वह होता वहाँ [उस प्रक्रान्त वरणकर्म्मकाल में निम्न लिखित म त्र का] जप करता है— **'एत त्वा दव सवितवृण ते"** [हे सविता देवते! मुझ मानुष होता के वरण याज से अ व यु लोग आप ही का वरण कर रहे है]। इस मन्त्रजप से होता सविता की ओर ही उनकी अनुज्ञा के लिए अनुधावन करता है—अभिमुख होता है। वही [सविता ही] देवताओं का [देवताओं के यज्ञा मक कर्म्म का] प्रेरयिता है। [ता प-य यही है कि अ व यु ने जो मेरा वरण किया है उसका उत्तरदायि व उस प्राणात्मक सविता देवता पर ही है जिसके अनुग्रह से मै अपने हौत्रकर्म्म मे सफल बन सकूगा]। [आगे का म त्र भाग है]—**"अग्नि होत्राय"** [अ वयु लोग हौत्रकर्म्म के लिए अग्नि का ही वरण करते है]। इस म त्रजप से यह मानुष होता अग्नि के प्रति तथा अग्निमय प्राणदेवों के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। जो कि सवप्रथम यह अग्नि को होत्रकर्म्म का लक्ष्य बनाता है, इससे तो अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है। एव साथ ही जो अग्नि देवताओं का होता है उसे प्रथम लक्ष्य बनाता है इससे देवताओं के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है ॥ [१५] ॥

आगे का मन्त्रभाग है)— **सह पित्रा वैश्वानरेण** (वे ऋत्विक् पिता वैश्वानर से युक्त अग्नि का वरण करते हैं) पिता वैश्वानर निश्चयेन (सवनत्रयात्मक यज्ञमूर्त्ति) सम्वत्सर है जो कि (सम्वत्सर) प्रजापति है। अत ('सह पित्रा वैश्वानरेण इस मन्त्रजप के द्वारा) यह होता सम्वत्सरप्रजापति के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है (आगे का मन्त्रभाग है)— '**अग्ने पूषन् बृहस्पते प्र च वद, प्र च यज** (हे अग्ने ! हे पूषन् ! हे बृहस्पते ! आप ही प्रवचन कीजिए आप ही यजन कीजिए)। वह होता **अनुवाक्या** नामक ऋचाओं का उच्चारण करेगा एवं इस अनुवचनकर्म्मपूर्वक '**याज्या** नामक ऋचाओं से देवताओं का यजन करेगा। जिन देवताओं के लिए यह **अनुवचन** तथा **यजन** करने वाला है उक्त मन्त्रजप के द्वारा) वह होता उन देवताओं के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। (मन्त्रद्वारा अपना उत्तरदायित्व हटाता हुआ यही भाव व्यक्त कर रहा है कि) हे देवताओ ! आप ही अनुवचन कीजिए एवं आप-ही याज्या कीजिए। (अर्थात् मैं अनुवचन यजन नहीं कर रहा अपितु देवता ही यह कर्म्म मुझ से करवा रहे हैं) ॥ (१६) ॥

(आगे का मन्त्रभाग है)— **वसूना रातौ स्याम, रुद्राणामुर्व्यायां स्वादित्या अदितये स्यामनेहस"** (हम इस स्वस्त्ययनजपलक्षण कर्म्म से वसुदेवताओं की सम्पत्ति मे प्रतिष्ठित हों आदित्यदेवता हमारे लिए सुप्रतिष्ठात्मक बन त्रिदेवाधारभूता अदिति के लिए हम निर्दोष बन रहें)। निश्चयेन (सम्वत्सर त्रिलोकी मे) ये तीन ही (मुख्य प्रतिष्ठावा) देव हैं जो कि वसु-रुद्र आदित्य (नाम से प्रसिद्ध) हैं। हम (यज्ञद्वारा सम्वत्सर सम्पत्ति को प्राप्त करते हुए) इन्हीं तीनों की रक्षा मे प्रतिष्ठित रहें मन्त्र से यही कहा गया है ॥(१७)॥

(आगे का मन्त्रभाग है)— **जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासम्'** (हम इस यज्ञकर्म्म मे देवताओं के लिए उनके लिए सेवनीय-अनुकूल-वाक् का प्रयोग करें) आज हम देवताओं के लिए शोभनवाणी बोलने मे असमर्थ हों मन्त्र से यही कहा गया है। वही [यज्ञ के लिए] समृद्ध [समृद्धिप्राप्ति का कारण] है जो कि देवताओं के लिए [होता] शोभन प्रिय वाणी का उच्चारण करता है ॥ [१८] ॥

[आगे का मन्त्रभाग है]— **जुष्टां ब्रह्मभ्य"** [यज्ञ मे उपस्थित ऋत्विजादि ब्राह्मणवर्ग के लिए मै प्रियवाणी का प्रयोग करू]। मै ब्राह्मणों के लिए शास्त्रानुमोदित अनुद्वेगकरी प्रियभाषा का प्रयोग करू मन्त्र से यही कहा गया है। वही समृद्ध है जो कि ब्राह्मणों के लिए प्रियवाणी बोलता है ॥ [१९] ॥

[आगे का म न्त्रभाग है]—' जुष्टा नराशसाय ' [यज्ञ मे दशकरूपेण उपस्थित इतर द्वि-जाति प्रजागण क लिए मै प्रिय वाणी बोलू] । नर निश्चयेन प्रजा है । मन्त्रभाग से सवसा धारण सम्पूर्ण प्रजा के लिए [प्रिय भाषण करने क लिए ही] कहा गया है । वही समृद्ध है [जिस कम्म को लक्ष्य बनाकर] जो इस कम्म को जानता [देखता] ह जो नही जानता [देखता] है सभी बडा साधुकम्म है बड़ा साधु कम्म ह इस प्रियभाषा का प्रयोग किया करते है । [सभी जिस कम्म की प्रशसा करें वही कम्म वास्तव मे समृद्ध माना जाता है यही ता पर्य्य है] । [सर्वा त मे निम्न लिखित ऋङ म त्र का जप करता है]—

यद्य होतवर्ये जिह्म चक्षु परापतत् ।
अग्निष्टत् पुनराभ्रियाज्जातवेदा विचषाण ॥ '

आज इस होतृवरणकम्म मे जिस किसी को भी कुटिल दृष्टि पड गई है-[जिस कुटिल दृष्टि से होतृकम्म का स्वरूप विकृत हो गया है]-जातवेदा विचषणि अग्निदेवता उस का पुन राधान कर दें । [मन्त्रता पर्य्य का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है] जिसप्रकार जिन [तीन आप्त्या नामक] अग्नियों का पहिले वरण किया था वे [भय से] पलायित होगए थे इसीप्रकार इस होतवरणकम्म म मेरा जो कुछ [यज्ञसम्पद्भाग कुटिलदृष्टि निक्षेप स] पलायित होगया है हे अग्ने ! आप उस की पुन क्षतिपूर्त्ति कर दिजिए म न्त्र क द्वारा यही कहा गया है । इसप्रकार सम्भावनात्मक उक्त म न्त्रप्रयोग के द्वारा अवश्यमेव इस का वह क्षतभाग पुन आप्यायित होजाता है ॥ [२] ॥

७ सम्मशन (स्पश) कम्म-

[उक्त म न्त्र परम्पराजप क] अन न्तर वह होता अध्वर्यु तथा आग्नीध्र का स्पश करता है । अ व यु [निदानेन] मन है एव होता [निदानेन] वाक है । [आ नीध्र निदानेन प्राणा मक है] । एसी स्थिति म मनरूप अध्वयु तथा प्राणरूप आग्नीध्र का स्पश करता हुआ] मन तथा वाक् [प्राण-का भी] का परस्पर स धान [मेल] करता है ॥ [२१] ॥

[मन प्राण वाक्-सधानात्मक स्पशकर्म्मान तर वह होता पुन अ वारब्ध] जपकम्म का अनुगमन करता है । [जपमन्त्र है] षण्मोर्वीरंहसस्पा तु आग्नश्च पृथिवी च, आपश्च, वाज-श्च अहश्च, रात्रिश्च' [अग्नि पृथिवी जल अन्न दिन रात महत्त्वशाली य ६ ओं देवता मेरी दुरिष्भाव स रक्षा कर] । ये ६ ओ देवता आपत्तियों से मेरी रक्षा कर मन्त्रभाग से यही कहा गया है उस यक्ति क लिए आपत्ति की अणुमात्र भी आशङ्का नहीं है जिस की ये अ यादि ६ ओं देवता आपत्तिओं से रक्षा करते रहते है ॥[२२]॥

८–उपावर्त्तनकर्म्म—

[उक्त मन्त्रजपानन्तर जपस्थान से] वह होता होतृषदन [स्वस्थान] की ओर लौट आता है। वहां आकर होतृषदन से एक दर्भतृण लेकर–'**निरस्त परावसु**'' (परावसु नामक असुर यज्ञ से निकल गया) यह मन्त्र बोलता हुआ [उस तृण को दक्षिण की ओर] फेंक देता है। परावसु नामक [असुरवंशज व्यक्ति] असुरों का होता था। [तृणनिरसन व्याज से] वह होता इसे ही होतृषदन से बाहिर निकालता है ॥[२३]॥

तृणनिरसनानन्तर वह होता होतृषदनस्थान मे–"**इदमहमर्वावसो सदने सीदामि**'' [मैं अर्वावसु के स्थान में बैठता हूं] यह मन्त्र बोलता हुआ बैठता है। अर्वावसु नामक [देववंशज व्यक्ति] देवताओं का होता था। [आज] होता उसी के स्थान मे बैठता है ॥ [२४] ॥

(होतृषदन–स्थान पर बैठ कर वह होता निम्न लिखित) मन्त्र का जप करता है— '**विश्वकर्म्मस्तनूपा असि**' (हे विश्वकर्म्मन्! आप शरीर की रक्षा करने वाले हैं)। अनन्तर **मा मोदोषिष्ट, मा मा हिंसिष्ट एष वा लोक**' (हे गार्हपत्याग्ने! आहवनीयाग्ने! आप मेरे शरीर को अतिशयरूप से ताप न पहुंचाइए आप मेरी हिंसा न कीजिए क्योंकि यह आपका लोक है। मैंने जब इसीका आश्रय लिया है तो भला उस दशा में आप क्यों मुझे त्रास देंगे) इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ स्वस्थानरूप होतृषसदनस्थान से उत्तर की ओर मुख करता हुआ थोड़ा सा चलता है। इसप्रकार यह होता आहवनीय तथा गार्हपत्य दोनों के मध्यस्थान मे प्रतिष्ठित है। अतः मन्त्रजप के द्वारा इन दोनों के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। इससे ये दोनों इसे पीड़ा नहीं पहुँचाते ॥ (२५) ॥

९—अग्निदर्शनकर्म्म—

(ईषदुत्तरतश्चलना) नन्तर वह होता आहवनीयाग्नि की ओर देखता हुआ निम्नलिखित मन्त्र का जप करता है—

> '**विश्वेदेवाः शास्तन मा यथेह होता वृतो मनवै यन्निषद्य।**
> **प्र मे ब्रूत भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यमा वो वहानि ॥**
> –ऋक्सं० १०।५२।१।

हे विश्वेदेवो! आप मुझे आज्ञा दीजिए कि जिसप्रकार इस यज्ञ मे होता बनता हुआ–होतृत्त्वेन वृत होता हुआ–यहां प्रतिष्ठित होकर आपका यजन करूं। साथ ही मुझे उन देवभागों

को बतला ए कि मै यथानियत मार्ग से आपके लिए पहुचा सकू । (लोकन्याय से मन्त्र तात्पर्य का समन्वय करती हुई श्रुति कहती है कि) लोक मे जिन अतिथियो के लिए पाचक के द्वारा पक्व (अन्न) होता है सम्पन्न होजाने पर पाचक उन भोजन करने वालों से पूछता है कि भोजन सम्पन्न है आज्ञा दीजिए आपके लिए ले आऊँ परोस दू । ठीक इसी लोकमर्य्यादा के अनुसार यह होता (हव्यप्रदाता के सम्बन्ध मे हव्यग्राहक) देवताओ की (इस रूप से) आज्ञा (ही) चाहता है कि—आज्ञा दीजिए मै आपके लिए यथाविधि वषट्कार करू विधिपूर्वक हवि का वहन करू । इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उक्तरूप से मन्त्रजप करता है ।।२६।।

इति–स्वस्त्ययनजप

पॉचवे अध्याय मे पहिला, तथा चौथे प्रपाठक मे दूसरा ब्राह्मण समाप्त

"प्रवरणब्राह्मण" अत्र उपरत

मूलानुवाद समाप्त

—–*—–

सूत्रानुगतपद्धतिमगूर —

आहवनायाग्न क न्दिण भूप्रदेश म खड होकर आहवनीयाग्नि ज्ञाला मे सम त्रक वागनुगत उत्तराधार करने के अन तर (जुहूस्थित आ य की अविच्छिन्न धारारूप से आहुति देने के अन तर) यह अध्वर्यु आहवनीय से पश्चिम भाग मे लौट आता है। वहाँ आकर उपभृत् से असस्पृष्ट जुहू के आ शेष का ध्रुवापात्रस्थ आ य से सम्ब ध करा देता है यह इतिकर्त्त यता पूवसूत्र से (३।८ ।) प्रतिपादित हुई है। अब क्रमप्राप्त सूत्रानुगत आगे की इतिकर्त्त यता बत लाई जाती है। जुहूस्थित आ यशेष का ध्रुवास्थित आज्य के साथ समञ्जन कराने क अनन्तर दूसर श दों मे पूर्वोत्तराघारद्वय की इतिकर्त्त यता समा त करने क अन तर वह अध्व यु उपभृत् जुहू, नाम के दोनों स्रु कपात्रों का स्वस्थान म (उनक लिए पहले से नियत स्थान मे) रख देता है। इसप्रकार स्रु कपात्रद्वयी क यथास्थान रखने क अन तर वह अध्वर्यु होता से उत्तरभाग के द्वारा निकल कर उत्करकुण्ड के पश्चिम भाग की ओर पूर्वाभिमुख खडा होकर इध्मसन्नहनों (काष्ठ बाधने के दर्भतृणों) को अपने हाथ म लेता हुआ ' **ओ श्रावय** इस निगदमन्त्र का उ चारण करता है।

ऋषिवंशसम्ब धी अतएव **आर्षेय** कहलाने वाले यज्ञकर्त्ता यजमान क वश का कीर्त्त न करने के उद्देश्य से हा **ओ श्रावय** मन्त्र का उच्चारण होता है। इसका ता पर्य यही निकलता है कि हे आ नीध्र ! अव तुम यजमान की दि य देवताओं के प्रति सुनवाई करो। अध्वर्यु के मुख से निकलते हुए **'ओ श्रावय'** लक्षण **'आश्रावण'** की सफलता सूचित करता हुआ आग्नीध्र नामक ऋत्विक् अ वर्यु से उत्तर दक्षिणाभिमुख ख ा हुआ स्फ्य तथा इध्मसन्नहनतृण हाथ मे लेकर बोलता है— **'अस्तु श्रौषट'** । अ वर्यु कृत ओ श्रावय कर्म्म **आश्रावण'** कर्म्म है एव आग्नीध्रकृत अस्तु श्रौषट् कर्म्म **प्रत्याश्रावण'** कर्म्म है। यह आश्रावण तथा प्र याश्रावण कर्म्म यज्ञसम्ब ध को प्रक्रा त रखने के लिए इध्मस नहनों को हा र म लिए ही करना चाहिए। कितने एक याज्ञिक यज्ञसम्ब ध की प्रक्रान्ति के लिए वेदि पर बिछे दर्भतृण को अथवा इध्म की व कल को उखाड उसे हाथ म ले कर आश्रावण प्र याश्रावण करते है जिस पक्ष का कि शात पथीश्रु ति ने खण्डन किया है। इसप्रकार प्रवरणकर्म्म मे सवत्र अध्वर्यु आश्रावण करता है आग्नीध्र प्र याश्रावण करता है। कर्काचार्य्य का इस सम्ब ध मे यह स्पष्टीकरण और है कि इध्मस नहनग्रहण केवल होतृवरण सम्ब धी आश्रावण प्रत्याश्रावण कर्म्म मे ही होता है। आश्रा वण प्र याश्रावण की इसी इतिकर्त्त यता का निम्न लिखित सूत्रचतुष्टयी से स्पष्टीकरण हुआ है—

(१) 'नि ग्रायध्मस नहना यादा यो श्रानय त्याह (क श्रौ सू ३।२।३।)।

(२)— अस्तु श्रौषडित्यग्नीत्" का ३।२।४।)।

(३)—'वेदिबर्हिर मशकलमापच्छिद्यैक" (का ३।२।५।)।

(४)—'एत सर्वत्राऽऽश्रुत प्र याश्रुतेषु' (का ३।२।६।)।

आश्रावण प्र याश्रावण कर्म्मान तर वह अ न्यु २ मसन्नहनतृणों को अपन हाथ मे रखता हुआ ही दि याग्निलक्षण होता का अपने स यज्ञ म 'अग्निर्देवो दै यो होता देवान् यक्षद्विद्वाश्चिकित्वान्मनुष्वद्भरतवत्' इस निगन्मन्त्र का उच्चारण करता हुआ वरण करता है। इस प्रकार सवप्रथम दि याग्नि का ही वरण किया जाता है जिस वरणकर्म्म का नि न लिखित सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

'अथ प्रवृणीते ऽग्निर्देवो दै यो होता देवा यक्षद्विद्वाश्चिकित्वान् मनुष्वद्भरतवत्"
(का ३।२।७।) इति।

दि याग्नि का सप्रकार होतृत्त्वेन वरण करने के अन तर आर्षेय यजमान का नामग्रहण पूवक वरण करता है। यजमान के सम्ब ध से ही त्रिसस्थ य आर्षेय 'यजमानार्षेय' कहलाए है। पर से इस ओर 'गोतमवत्–भरवत्–अङ्गिरोवत्' इ यादि रूप से– कश्यपवत् अवत्सारवत् नैध्रुवत्' इ यादि रूप से –भृगुवत् यवनवत अप्नवानवत इ यादि रूप से गौतम, कश्यप, भृगु भरद्वाजादि यजमान गोत्रानुसार यजमान के तीनों वशजा का निगन्म त्रामकत्त्वेन उच्चारण करता है। अथवा यजमानकुल मे जितन भी मन्त्रद्रष्टा प्रवरा याय मे उपवर्णित है उन सब का नाम लिया जासकता है। किसी का म त्रकृत एक ऋषि है वही एक प्रवर कहलाया है। किसी के दो मन्त्रकृत है किसी क तीन है किसी के चार किसी क पाच है। वे क्रमश एकप्रवर द्विप्रवर त्रि प्रवर चतुष्प्रवर, पञ्चप्रवर कहलाए हैं। जिसके जितने प्रवर है उन सब का भी वरण करना पक्षा तर है यही ता प य है। दोनों पक्षों क सम्बन्ध मे निष्कष यही है कि आर्षेय प्रवरण म आर्षेय वृणीते यह कह कर भगवान आपस्तम्ब ने कहा है –एक वृणीत द्वौ वृणीते त्रीन् वृणीते, न चतुरो वृणीते न पञ्चातिवृणीते (आप श्रौ २।१६।८।)। यदि सूत्रगत त्रि पक्ष को विधिपरक मान लिया जाता है तो तीन का ही वरण यायप्राप्त होता है एव यही का यायन का प्रथम पक्ष है। यदि आर्षेय वृणीते से विधि–परक माना जाता है तो सभी मन्त्र–द्रष्टाओं का वरण प्राप्त होजाना है एव यही का यायन का उत्तरपक्ष है।

अभिषिक्त क्षत्रिय [राजा] अनभिषिक्त क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीनों में वरणकर्म्मानुगता इति- कर्त्तव्यता कुछ विशेषता रखती है। यदि अभिषिक्त क्षत्रिय यज्ञ कर रहा है तो अध्वर्यु उस क्षत्रिय राजा के कुलपुरोहित के आर्षेयों का भी वरण कर सकता है अथवा राजा के आर्षेयों का भी वरण कर सकता है। यदि अनभिषिक्त सामान्य क्षत्रिय का तथा वैश्य का यज्ञ है तो उस अवस्था में प्रत्येक दशा में इन के कुल पुरोहितों के आर्षेयों का ही वरण होता है। एक पक्ष यह भी है कि—ब्राह्मण अभिषिक्त क्षत्रिय राजा अनिभिषिक्त सामान्य क्षत्रिय-वैश्य सबका मनुवत इस निगद मन्त्र के द्वारा भी आर्षेयवरण किया जासकता है। निम्न लिखित सूत्रपञ्चक से भी आर्षेय-वरणकर्म्म का स्पष्टीकरण हुआ है-

(१)— अमुवदमुव' दिति यजमानार्षेयाण्याह परस्तादर्वाञ्चि त्रीणि

(का ३।२।७।)।

(२)—'यावन्तो वा मन्त्रकृत (का ३।२।८।)।

(३)—'पुरोहितार्षेयाणि वा (का ३।२।९।)।

(४)— क्षत्रिय वैश्ययोश्च नित्यम' (का ३।२।११।)।

(५)—'मनुव दिति वा सर्वेषाम्' (का ३।२।१२।)।

उक्त प्रकार से आर्षेयोच्चारणानन्तर यह अध्वर्यु ब्रह्मण्वदा च वक्षद् ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितार इस निगदशेषमन्त्र का उच्चारण करता है। अनन्तर— मुक्तरक्त— शर्म्मा होता मानुष ' (असौ मानुष ') यह बोलता है। यह उच्चारण मानुष होता का ही वरण साधक है। मानुष होता का उच्चस्वर से नाम बोलना एक पक्ष है धीरे से (उपांशुरूप से) नामोच्चारण करना पक्षान्तर है। इसप्रकार मानुष होतृवरणानन्तर वह होता (मानुष होता) एतत्त्वा देव सवित वृणीते इत्यादि [शतपथब्राह्मणोक्त स्वस्त्ययनजप करने के अनन्तर] अध्वर्यु तथा आग्नीध्र दोनों के स्कन्ध * प्रदेश का स्पर्श करता है। स्पर्शानन्तर अध्वर्यु तथा आग्नीध्र दोनो यथा-स्थान बैठ जाते हैं। इसी इतिकर्त्तव्यता का उल्लेख करतेहुए सूत्रकार कहते है—

(१)— ब्रह्मण्वदा च वक्षद् ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्राविताऽरोऽसौ मानुष ' इति होतृनामग्रहणम् (का ३।२।१३।)।

(२)— उपांशु वा' (का ३।२।१४।)।

(३)- सम्मृष्य उपविशत ' (का ३।२।१५।)।

इति सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह

———*———

* असेऽध्वर्यु मन्वारभेत-पार्श्वस्थेन पाणिना आग्नीध्रमङ्कदेशेन

—आ श्रौ सू १।३।७।५।७६।

वैज्ञानिक-विवेचना —

—आश्रावणकर्म्मोपपत्ति —

(भाष्य)–उत्तराघार–क र्मान तर जुहू थत आ यशेष का अ वास्थत आ य से समञ्जन कराया जाता है अन तर जुहू उपभृत् नामक दोनों स्रुकपात्रों को यथास्थान रख दिया जाता है। इस क म के अन तर वरणक म आर म होने वाला है। जिन दभतृणसमूहा से यज्ञिय म (काष्ठ) बाँधे जाते हैं वह तणसमष्टि **इ म-सन्नहन** नाम से यहृत हुई है। इसे अपने हाथ में लेकर ही अ वर्यु तथा आ नीध्र नामक ऋ विक आश्रावण–क म की इतिकत यता पूरी करते है। पहले अ वर्यु **ओ श्रावय** इस निगदम त्र का उच्चारण करता है अन तर आ नीध्र **अस्तु श्रोषट** इस निगदम त्र का उच्चारण करता है यही प्र याश्रावणानुगत आश्रावणकम्म की इतिक त यता है जसा कि सूत्रानुगत पद्धतिप्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है। ब्राह्मण की २ ३ न तीन कण्डिकाओं में उपपत्ति प्रदशनपूवक इस आश्रावणक म का ही प्रतिपादन हुआ है।

वरणकम्म से पहिले आश्रावण क्यो किया जा ा है ? सी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करती हुइ श्र ति कहती है **यह आश्रावण कम निश्चयन यज्ञ है** । वरणक म से वृत ऋ विजो के द्वारा यज्ञ तिकत यता का ही सम्पादन अभीष्ट है। दूसरे शब्दो में वरणकम्म एकप्रकार का यज्ञाधिकार (यज्ञ तिकत व्यता–निर्वाहा-धिकार)–प्र ान है। इस यज्ञाधिकार प्रदानलक्षण वरणकम्म के उपक्रम में प्राकृतिक यज्ञ का स ब ध अपेक्षित है। इसी उद्द श्य की पूर्त्ति के लिए आश्रावणा मक यज्ञ का वरणकम्म से पहिले अनुगमन किया जाता है। **ओ श्रावय** इस निगदमन्त्र का ता प य यही है कि जिसका आज हम इस यज्ञ में वरण करना चाहते हैं उसे प्राकृतिक देवता स्वीकार करल। **इसे हम आपके यजनरूप यज्ञकम्म के लिए आज होता बना रहे है** यही आश्रावण का नि कष है। आङ्गिरस पार्थिव प्राण–देवताओ का आहुति–द्रव्य के द्वारा सावित्र द्यु लोकस्थ प्राण–देवताओ के साथ अ त र्याम–स ब ा मक यजन करना ही यज्ञ है। आश्रावणकम्म से दि य प्राणदेवताओं की दृष्टि क्योकि इस यज्ञकम्म की ओर होजाती है एतावता ही दवप्राणाकषकरूप आश्रावण को यज्ञ कहा जासकता है। इसप्रकार आश्रावणकम्म करना दि यप्राणा मक यज्ञ का ही अनुगमन करना है। जिसकी स्वरूप–नि पत्ति के लिए वरणकम्म अभीष्ट है आश्रावणकम्म से वह लक्षीभूत वन जाता है। अतएव वरण से पहिले आश्रावणकर्म्म आवश्यक बन जाता है॥ १॥

जिन दभतणसमूहों से (दभर ज्जु से) यज्ञिय इध्म का ठ बाँधे जाते है वे **इध्मसन्नहन** (लकडी बाँधने की दभर ज) नाम से व्यवहृत हुए हैं। वेदि पर जो तण आदि गिर पड़ते हैं उह इसी दभरज्जु से हटाया जाता है। म रभ ज्जु को हाथ में लेकर ही अध्व यु आश्रावणक म करता है। यह आश्रावणकर्म्म मसन्नहन हा थ में लेकर क्यों किया जाता है? सी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करती हुई श्र ति कहती है कि यदि वह अ वर्यु यज्ञा मक इस इ मसन्नहन को आल बन बनाए बिना आश्रावण करेगा तो सकी अ या मसस्था कम्पित होजायगी अथवा और किसी विपत्ति का से सामना करना पडेगा ।

द्यु लोकस्थ प्राण देवताओं का आकषणा मक आश्रावण–क म यज्ञ है जैसा कि पूव कण्डिका में स्पष्ट किया जाचुका है। **यज्ञात्मक आश्रावणकर्म्म यज्ञ को आलम्बन बना कर ही करना चाहिए**

स कथन से श्रु ति मसन्न न को भी यज्ञा मक बतला रही है। ताप य स कथन का यही है कि यज्ञत व श्र या म अधिभूत-अधिदवत भेद स तीन भागो में विभक्त है । सारसम्य सरार्ग छिन्न सा यत्रा न पारमे ष्ठ्यसोमा मक द्यु लाकोपलक्षित यज्ञ आधिदैविक यज्ञ है । पार्थिवसम्य सराग-छिन्न आङ्गिरसाग्नि चा सोमा मक भूलोकोपलक्षित यज्ञ आधिभौतिक यज्ञ है। एव वश्वानराग्नि त था अन्नसोमा मक शरीर य न ही आ यात्मिक यज्ञ है । आ श्रावणकम्म द्यु देवताकर्षक नता हुआ आधिदैविकयज्ञ है आश्रावणकर्त्ता अ वर्य्य आ यात्मिक यज्ञ है। एव दभ्मसन्नहन निदानेन आधिभौतिक यज्ञ है । साथ ही व शुयज्ञा मक पारमेष्ठ्य अपत व के योषित मय भाग स उ पन्न होन के कारण दभ साक्षादरूप स भी पार्थिव यज्ञ है। इधर अद य प्रथिवी सिद्धा तानुसार अपत्त व स उ पन्न पार्थिवयज्ञ अन्ना मक [वना मक] दभ का सजातीय भी है।

जबतक अ या मयज्ञ इस ओर के पार्थिव [आधिभौतिक] एव उस ओर क दि य [आधिदैविक] यज्ञ दोनो से अनुगहीत रहता है तभीतक सका स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है । दोनो में भी पार्थिवशरीर प्रधाना अ या मसस्था की प्रधान प्रति ठा आधिभौतिक पार्थिव यज्ञ हो है। इस प्रति ठा के निकल जाने से ही निधनावस्था का आगमन होता है प्रति ठाव युत स ही स पर अ या य विपत्तिया आक्रमण कर ी है। जब पार्थिवी यज्ञप्रतिष्ठा उ छिन्न होजाती है तो केवल द्यु लोकाकषण का प्रा ा य ह जाता है। द्यु लोकाकषण का प्राधा य ही पार्थिवप्रति ठा छे का कार ा है। यावदायुर्भोगप य त उभयानुग्र प्रा त के लिए ही द्यु लोक स्थानीय आहवनीय तथा भूलोकस्थानीय गार्हप य दोनो के म य मे खड होकर अप उपस्पर्श [आचमन] कम्म किया जाता है जसा क— अन्तरेणाहवनीयञ्च गार्हप यञ्च प्राङ तिष्ठन्नप उपस्पृशति [शत १।१।१।१] इ यादि रूप से विस्तार स बतलाया जाचुका है। ठीक वही प्रयोजन यहा अपेक्षित है। यदि अ वर्य्यु पार्थिव यज्ञ को आल बन बनाए बिना द्यु लोकानुगत आधिदैविक यज्ञ-सग्राहक आश्रावणक म करेगा तो विशुद्ध दि ययज्ञ के प्राधा य से सकी पार्थिवी यज्ञप्रति ठा पर आघात होगा । फलत प्रति ठावि युत होजायगी अथवा तो अ य किसी विपत्ति का अनुगमन करना पडगा। इस आपत्ति से बचने के लिए आश्रावणकम्म करत समय [आधिदैविक यज्ञस पत्ति सग्रह करते समय] पार्थिवी प्रतिष्ठा को आलम्बन बनाना आवश्यक होजाता है। इसी उद्द श्य से दभसन्नहन को [पार्थिव यज्ञिय द्र य को] हाथ मे में लेकर ही आश्रावणक म किया जाता है ॥ ॥

इय [पृथिवी] वै वेदि [शत ।३।१। ।।] इस श्रु ति के अनुसार आधिभौतिक यज्ञ की प्रति ठा [वितान थान] पृथिवी ही है एव यही स यज्ञ की वादि है। प्रकृत यज्ञ में जो वदि बनाई गई है वह निदानेन पृथिवी स्थानीया है और य ी स यज्ञ की प्रति ठा है। वदि पर बिछे हुए दभतृण ओषधि वनस्पति स्थानीय है जिन्ह यज्ञ समतुलन की दृि ट स वह्निरूप शरीर के लोम [ओषधि] केश [वनस्पति] भी हा गया है। अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए तथा सामि नीकक म-स पादन के लि ए जो इ मभार (काष्ठभार) लाया जाता है वह निदानेन अग्नि है। शेषे वनेषु मात्रा स ा मत्तास इन्धत (ऋकस ८।६ ।१५।) या ि म त्रश्रु ति के अनुसार का ठ मे अग्नि सुप्त है। यही मृ यमाण अग्नि है जिसे अग्रयत्न स ब ध स कृष्ण-मृग कहा जाता है। वदि और इ मका ठ दानो पार्थिव (आधिभौतिक) ज्ञ मक हैं। आश्रावणकम्म म पार्थिवी प्रति ठा हो अभिप्रेत है। अतएव प्रथम तो वदि पर बिछे दभतृण

को लेकर ही आ ावण करना चाहिए अ वा मग्नण्ड को लेकर आश्रावणकम्म करना चाहिए। वदतृण स ान्नात् रूप स एव मस ड स पर परया प थिवी प्रति ठा प्रा त होजाती है स उपपत्ति को आगे करते हुए कितने एक सा प्र ायिक आश्रावणक म में वदिस्थित दभतृण अथवा मग्नण्डग्रहण का समथन क रह हे।

भगवान् याज्ञवल्क्य की दृष्टि मे व तृ ग अ वा मग्नण्ड दोनो मे स किसी को भी लेकर आ ावणक म करना विज्ञान–विरुद्ध है। कारण स्पष्ट है। य ठीक है कि व तृण तथा यखण्ड दोनो ही पार्थिव–प्रति ठा मक है। पर तु ये दोनों अ य क म में विनियुक्त ह। वादतृण को लेना एक दृष्टि स पृथिवी की ओषधि वन पति का पृ वी (वाद) से पृथक कर उस ऊसर बनाना है। इस के अ तरिक्त व ि थित दभतृ ग सुषदा भव के अनुसार देवताओं का प्रात ठा मक आसन है। से उठाना आगत देवताओं को प्रति ठा से वि युत करना है। ऐसी दशा में वादतृण ग्रहण करना सवथा ही अनुचित ठहरता है। इ मका ठ इ धन–साम धन क म के लिए नियत है। सका खण्ड लेना समि धनक म को अपूण बनाना है। फलत मग्नण ग्रहण भी अवव बन जाता है याज्ञव क्य उन सा प्रदायिकों से प्रश्न करत हे कि जिन दभतृणो स मग्न बाधा जाता ह क्या व मसन्नहन य ज्ञय नही हे ? । क्या इनमें पार्थिव–प्रति ठा न ी है ? । जब कि न दभतृणो से यज्ञा मक म बाधा जाता है इन स आ नस माजनकम्म होता हे आगत तृणाि निरमना मक अ या य भी अनेक पाराशष्ट क म होत है तो न की यज्ञरूपता क्या स दह र जाता है ? । अत जो यसन्न नतृण ऐसे ऐ प रशिष्ट क मा के लि ही नियत है सा ही वदतृण तथा इ मशकल का ग्र ण अनु चत है तो प्र यक दशा में मसन्नहन ग्रहणपू क ही आश्रावणक म करना चाहिए ॥३॥

इत्याश्रावणकम्मोपपत्ति

१

२–दिव्याग्निप्रवरणकम्मोपपत्ति —

चतु ग ( ) से आर भ कर द वी कण्डिका–पय्य त पाँच कण्डिकाओं में प्राकृतिक दिव्य प्राणाग्नि के वरण की मापपत्तिक तिक ियता का ही स्पष्टीक ण हुआ है। ि ययज्ञ में होतृ वन वृत प्राणाग्नि के क्या क्या ध म है ? प्रतिपाद्य उपपत्ति प्रकरण मे इसी प्रश्न का समाधान हुआ है। जिन नमन्नहनलक्षण दर्भतृण–समूहो से यज्ञिय का ठ–सम्भार बाधा जाता है पू कि थनानुसार उन्हे हाथ मे लेकर वह अ वर्यु — ओ श्रावय इस निग म त्र का उ चारण करता हुआ आश्रावण कम्म करता है। अ वर्यु के स आश्रावण–कम्म के अन तर आ नीध्र नामक ऋ िवक अस्तु श्रौषट् स निग म त्रो चारण स प्रत्याश्रावण कम्म करता है। अ वर्यु कत्त क स आश्रावण त था आ नीध्रकत्त क प्रत्याश्रावण–क म के अन तर अ व यु उन इध्मसन्नहनतृणो को अपने हा में रखता हुआ ही— अ निर्देवो दैव्यो होता देवान् यक्षद्विद्वाश्चिकित्वान् मनुष्वद्भरतवत् स निदगम त्र का उ चारण करता हुआ दि याग्नि का ही अपने स ध यज्ञ में होतृ पा व ग करना है जो कि अ वर्यु कतृ क क म होतप्रवरणकम्म क लाया है।

यज्ञक म में होनेवाले हौत्र–कम्म की इतिक र्तव्यता जिस ऋ वदी ऋ त्विक के द्वारा स पन्न होती है वही **होता** कहलाया है। होत्रक मैतिक र्तव्यता–लक्षण आधिकारप्रदान के लिए होने वाला अ वर्यु कर्त्त क कम्म ही **होतप्रवरणकम्म** है। स मानुष होतृप्रवरण–कम्म से पहिले दि याग्नि का सम्ब ध कराना क्यों आवश्यक समझा गया ? दूसरे श दों में दिव्याग्निवरण क्यों अपेक्षित है ? इसी प्रश्न का सापपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि स वरणकम्म स दवताओं के होता अग्नि से तथा प्राणदवताओं स अपनी धृष्टता का ही निराकरण किया जाता है। ता पर्य्य यही है कि प्राकृतिक सा त्सरिक अ नीषोमा मर यज्ञ ही वास्तविक यज्ञ है। इस यज्ञ का होतृ व पार्थिव–प्राणाग्नि पर ही अवलम्बित है। पार्थिव प्राणाग्नि के **एति–प्रेति** लक्षण गमनागमन यापार से ही पारमेष्ठ्यसोम का अपहरण होता है। सुपर्णा मक इस गायत्राग्नि से अपहृत सोम ही पार्थिव आग्नेय ३३ प्राणदेवताओं के यज्ञ का स्वरूप–स पादक बनता है। इस यज्ञस्वरूप–नि मत्त के अतिरिक्त द्यु लोकस्थ सौर–सावित्र–दवप्राण का पार्थिव प्राणाग्नि के साथ सम्ब ध कराना भी उक्त–लक्षण गायत्राग्नि का ही कर्म्म है। इस दवाह्वान–लक्षण देवयजन (**देवाना सङ्गमन**) क म से भी ये अग्नि **होता** कहलाए हैं।

यजमान का यह वधयज्ञ प्राकृतिक यज्ञ नहा है अपितु उसकी प्रतिकृति है। ठीक उसी के अनुरूप इसका वितान हुआ है। अतएव आवश्यक है कि जसा जो कुछ वहा होरहा है यहा भी ठीक वसा ही किया जाय। प्राकृतिक होता–अग्नि का स वध यज्ञ में नियुक्त करना अशक्य है। अग या मानुष होता का ही वरण किया जाता है। जो मह वपूर्ण कम्म (हौत्रक म) प्राणाग्नि का है आज वसा दि य कम्म एक मनुष्य करना चाहता है। जो दवयज्ञलक्षण आह्वानक म प्राणाग्नि का है वह आज एक मनु य करना चाहता है। क्या **अनृतसहित पाप्माओं से युक्त मरणधर्म्मा मनु य (ऋत्विक) स यसहित विधूतपाप्मा अजर–अमृत–धर्म्मा प्राणाग्नि** के द्वारा होने योग्य हौत्रकम्म में सफलता प्रा त करसकता है ? नहीं भी और हा भी। नहीं इसलिए कि वह अमृतलक्षण है यह मरणध र्मा है। वह प्राणप्रधान है यह भूतप्रधान है। हा इसलिए कि म त्रशक्ति के द्वारा अ व यु इस मरणध र्मा मनुष्य में भी प्राणाग्नि के अनुग्रह की भावना कर लेता है। फलत यह मनुष्य रहता हुआ भी प्राणाग्न्यनुग्रह से तत्सम कम्म में समथ होजाता है। उसी अनुग्रह की प्राप्ति के लिए दूसरे श दो में— **हम लोग इस यज्ञ मे होतृत्त्वेन आप ही का वरण कर रहे है आप ही क शक्ति–समावेश से यह मानुष होता आप के द्वारा होने योग्य इस हौत्रकम्म मे प्रवृत्त होरहा है** इस भावना के द्वारा वैध यज्ञ में होतृ वेन गृहीत मनुष्य–होता में प्राणाग्नि–धम्म के समावश के लिए ही सवप्रथम म त्रशक्ति के द्वारा प्राणाग्नि का वरण करना आवश्यक समझा गया है।

यदि ऐसा न किया जाता तो क्या अनिष्ट होता ? उत्तर स्पष्ट है। बिना प्राणाग्निसम्ब ध के देवता तथा अग्नि दोनों के प्रति इस मनुष्य होता की धृष्टता ही नहीं होती अपितु प्राणाग्नि–सम्ब धाभाव में प्राणाग्निकर्त्त क हौत्रकम्म में भी अनेक वि न उपस्थित होजाते। विघ्नो की ही क्या कथा उस दशा में तो यह इस कम्म में सफल होना तो दूर रहा अपितु यह अपना अनिष्ट ही करा बठता और फलस्वरूप यज्ञ सर्वथा विकृत होता हुआ प्रकृतिविरुद्ध बनता हुआ अभ्युदय–लक्षणा इष्टप्रवृत्ति के स्थान में प्र यवाय–लक्षणा अनि टप्रवृत्ति का ही कारण बन जाता। **जैसा प्रकृति मे हो रहा है वैसा ही यहा होना चाहिए तभी यज्ञ की रूपसमृद्धि है** यही यज्ञानुगता मूल–प्रतिष्ठा है।

अत्र इस सम्ब ध में एक प्रश्न और बच र ता है । यज्ञ मे प्राणाग्नि तथा अ य यज्ञिय देवगण दोनो का स ब ध होता है । फलत इस प्राकृतिक वरणकम्म में दोनो का अनुग्र अपेक्षित हे । यहा केवल प्राणाग्नि का तो वरण होजाता है पर तु देवानुग्रह के लिए कुछ नही किया जाता । ऐसी दशा में प्राणाग्नि से अपराध–क्षमा न होजाने पर भी दववग से अपराव क्षमापन नही होता । इस विप्रतिपत्ति के निराकरण का क्या उपाय ? । श्रुति उत्तर देती है कि केवल प्राणाग्नि के वरण स ही प्राणाग्नि तथा देववग दोनो का अनुग्रह प्रा त होजाता है । अग्निर्देवो दै यो होत इ यादि म त्र से होने वाले वरणक म में पहले अग्निर्देव इत्यादि रूप से अग्नि का ग्रहण है । इस से तो प्राणाग्नि का अनुग्रह प्रा त होजाता है । ए ।— द यो होता इस अग्निध म से देववग का ग्रहण होजाता है । देवदूत प्राणाग्नि दववग स अविनाभूत है । केवल अग्नि कहने स अवश्य ही दववग का ग्रहण नही होता । पर तु देवताओ का जो होता ह ऐसे अग्नि का मै वरण करता हू इस कथन स होता–प्राणाग्नि के स ब धी देववग का ग्रहण भी पर परया स्वत सिद्ध है ।

यद्यपि म त्रभाग स्पष्टाथ है । तथापि इस स ब ध में यह जान लेना आवश्यक होगा कि अग्नि सर्वा देवता सिद्धा त के अनुसा प्राणाग्नि ही अपनी घन–तरल विरलावस्थाओ से त्रयस्त्रिशद्विध (३३) बनता हुआ सवदवमूर्त्ति बन रहा है । अतएव इसे अवश्यमेव देव (सवदेवमय कहा जासकता है । अग्निर्देव मन्त्रभाग से अग्नि के इसी दवधम्म का स्पष्टीकरण होरहा है । यह अग्नि अपने अवस्था भेदो से जहा सवदेवमूर्ति है वहा अपने पार्थिव गायत्ररूप स यही द्युलोकस्थ दवताओ के यजन का भी निमित्त बना हुआ है जो कि यजनक म है दवह्वान ही इस प्राणाग्नि का दूसरा ध म है जिसका द यो होता उस म त्रभाग से स्पष्टीकरण हुआ है । ३ ५ कण्डिका द्वयी की यही सक्षिप्त उपपत्ति ॥ ४ ॥

देवान् यक्षद्विद्वाश्चिकित्त्वान् यह म त्र का अगला भाग है । यह अग्नि देवताओ के स्वरूप को जानने वाले हैं इनके सूक्ष्म रूप को पहिचानने वाले हे एव प्राण दवताओ का परस्पर य न करने वाले है । भले बुरे (सत् असत्) का परिज्ञान करने वाला सदसद्विवकी विद्वान् कहलाया एव मौलिक स्वरूपपरिज्ञाता चिकित्त्वान क लाया है । अ यात्मपरिभाषानुसार भौतिकत त्र का परिज्ञाता विद्वान् है एव प्राणत त्रों का परिज्ञाता चिकित्त्वान् है । लोकपरिभाषानुसार शास्त्रिक ज्ञानाधिष्ठाता विद्वान् है एव व्यवहारनिष्ठ चिकित्त्वान् है । सामा यरूपेण परिज्ञाता विद्वान् है एव विशेषरूपेण परिज्ञाता चिकित्त्वान है [देखिए ऋक स म । १६४ सू । ६ म सायणभा य] । प्राणाग्नि पार्थिव विवत्त का विद्वान भी है और चिकि वान् भी । अपने भौतिकरूप से ये उभयलोक के विद्वान् हैं वयुनानि विद्वान । एव अपने प्राणरूप से ये पर्थिव दि यदेवताओ के प्राणस्वरूप के विशेष परिज्ञाता बनते हुए चिकि वान भी है । यज्ञकम्म में उभयविध देवताओ का भूतो के आधार पर यजन होता है । फलत अपने वैधयज्ञ मे भी वही सफलता प्राप्त कर सकना है वही ठीक ठीक [अनु ष्या] यजन कर सकता है जो भूतों का विद्वान् तथा प्राणो का चिकि वान् है । यजमान के स यज्ञ म प्राणाग्नि के इही दोनो धमा का समावेश कर प्राणाग्नि के अनुग्रह से यजसफलतासिद्धि के लिए देवानयक्षत् इ यादि कहा गया है ॥ ६ ।

मनुष्वद्भरतवत यह म त्र का अगला भाग है । सूर्य्यकेन्द्रावच्छिन्न इन्द्रप्राणा मक बृहती स पत्ति से युक्त अ यय के श्वोवसीयस नामक शाश्वत मन से अनुगहीत सृ ट लय कालप्रवत्तक प्राणत व ही आवि

दविक मनु है। यही सा व सारक प्राणा न के सहयोग स आधिदविक स व मरयज्ञ के वरूप समपक बन रहे ह। न ावा छिन्न प्रज्ञाप्राणमूर्ति आयु स्वरूपा ष्ठाता प्राणा मक मनोऽनुगृहीत प्राणतत्त्व ही आ या मिक मनु है। ये ही शारीर प्राणा न के सहयोग स आ या मक यज्ञ के स्वरूप समपक है। वेद धम लोक प्रजा नाम की सृष्टि चतुष्टयी क यवस्थाक आदिब्रह्मा भगवान स्वयम्भू आ भौतिक (ऐतिहासिक) मनु हैं [थे]। इन्होने ही प्राकृतिक यज्ञ स्थिति के अनुसार सवप्रथम वधयज्ञ का अनु ठा किया है [था]। इसप्रकार अधिदवत–अ या म अधिभूत तीनो द टया स त्रिविध मनु ही यज्ञ क प्रवत्तक हैं। अतएव ज्ञिक म प्रदाय में यह यज्ञ मनु का है [मनोयज्ञऽइ यु वाऽआहु] यह प्रसिद्ध है।

जिसप्रकार धनु श द उभयलिङ्गा मक [नपु सलिङ्ग त था पु ल्लिङ्गा मक] है एवमेव उकारा त मनु श द पुलिङ्ग है एव सकारा त मन श द नपु सकलिङ्ग है। मनु या व रूप सा त मनु श द स स बध रखत है एव मानवा द श द उकारा त स ब धी हे। प्रकृत में सा त मनु श द का ही ग्रहण हुआ है। फलत मनुष्वत् का ता प य निकलता है मनुरिव। जिसप्रकार मनु ने यजन किया था एवमेव य प्राणाग्नि भी होता बन कर इस यज्ञ में दवता का यजन करे मनु वत् म त्र भाग का यही एक ता प य है। यदि मनुष्वत् का मनुरिव विग्रह न कर मनारिव यह विग्रह किया जाता है तो इसका ता प य यह निकलता है क जसे मनु के यज्ञ मे होता बनकर अ निने देवताओं का यजन किया था तथव इस यज्ञ मे भी वे अग्नि होता बनकर देवताओ का यजन कर। मनुह वाऽअग्र यज्ञ नेजे इससे मनुरिव विग्रहानसार प्रथमाथ अपे क्षत है। एव मनोयज्ञ ऽइ यु वा आहु इससे मनोरिव विग्रहानुसार द्वितीयाथ अभिप्र त है। प्रथमाथ से आधिभौतिक मनु का स्पष्टीकरण हुआ है। एव द्वितीयाथ से आध्यात्मिक मनुयुक्त आधिदविक मनु का स्पष्टीकरण हुआ है। हृदयभावावच्छिन्न उक्थभाव मनु है परि यवच्छिन्न अकभाव (रश्मिभाव) प्राणाग्नि ह। उक्थाक का क्योकि स्थानभद से पार्थक्य है अतएव मनु को पृथक तथा अग्नि को पृथक् त व मान लिया गया है। एव सी दृष्टि से मनारिव का सम वय होजाता है। त वत उक्थार्क अभिन्न है। इस दृष्टि से उक्थ मनु और अर्क अग्नि दोनो अभिन्न हैं। इसी आधार पर— एतमेके वद यग्नि मनुम ये * (मनु १२।१२३) यह कहा जाता है। हृदयावच्छिन्न उक्थलक्षण मनु से युक्त तद्रूप अतएव तदभिन्न अतएव तद्रूप प्राणाग्नि ही यज्ञ के स्वरूप सम्पादक है मनुष्वत का यही ता पर्या य है ॥ ७ ॥

म त्र का अ तिम भाग भरतवत् है। इत प्रदाना ह्येते (देवा उपजीवन्ति) (ऐ ब्रा २। ।) इ यादि ऐतरेयश्रु ति के अनुसार द्यु लोका मक स व सरमण्डल में प्रतिष्ठित सोर दिव्य देवताओ का जो प्रव य भाग पार्थिव सग म विसस्त [सिच] होता रहता है पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि नामक प्राणाग्नि के

* एतमेके वद त्यग्निं, मनुम ये प्रजापतिम् ॥
इन्द्रमेक परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम् ॥
—मनु

द्वारा वह विस्रस्त भाग वहा से जाकर उस विस्रस्त भाग की पूर्त्ति किया करता है। इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठा यारुहन् द्यामङ्गिरसो ययु इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार भूलोक से निकलकर द्युलोक की ओर जाता हुआ अङ्गिरोऽग्नि ही देवद्रव्य पूर्त्ति का कारण बनता है अमुत प्रदानाद्धीद समुत्तिष्ठति [ऐ ब्रा २।१।२।] के अनुसार वहा से [द्युलोक से] देवप्राण का प्रवर्ग्यरूप से निरन्तर आगमन भी होता रहता है जिससे प्रजा का स्वरूप निर्म्माण होता है। एव प्रत्यक्षथनानसा अङ्गिरा के द्वारा पार्थिव प्रवर्ग्य भाग जाता भी रहता है। इसी पारस्परिक अन्न-अन्नाद लक्षण आदान प्रदान प्रक्रिया का नाम यज्ञ है। इस प्राकृतिक यज्ञ में द्युलोकस्थ देवताओं के लिए पार्थिव हविद्रव्य का लेजाना एकमात्र पार्थिव प्राणाग्नि पर ही अवलम्बित है। इसीलिए उक्त — एष हि देवेभ्यो हव्य भरति निवचन से भरत कहना अन्वर्थ बनता हैं। भूपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाले हविर्यज्ञ [प्राकृतिकयज्ञ] से पार्थिव प्रजा का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। इस पार्थिव प्रजा मे भौम प्रवर्ग्य अग्नि प्रतिष्ठित रहता है जिसे प्रश्नोपनिषत् की परिभाषा मे प्राणाग्नि भी कहा जाता है। प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुर [शरीरे] जाग्रति [प्रश्नोपनिषत ४।३।] के अनुसार अपान समान व्यान उदान प्राण भेद भिन्न पञ्चधा विभक्त प्राणाग्नि ही इस शरीरसस्था [अध्यात्मसस्था] में सदा जागते रहते है। इस प्राणाग्नि के द्वारा ही प्रजा का भरण पोषण होता है। जिस दिन प्राणाग्नि शरीर से उत्क्रान्त हो जाता है अन्नादानलक्षण अहरहर्यज्ञ [भूतयज्ञ] बन्द हो जाता है तत्क्षण भूतात्मा उत्क्रान्त हो जाता है।

उक्त अध्यात्मसस्था की दृष्टि से भी वैश्वानर लक्षण इस अग्नि को भरत कहना अन्वर्थ बनता है। जिस युग [देवयुग] में इसी पृथिवी पर भौम देवव्यवस्था थी उस युग में जैसे भौम-स्वर्ग के शासनसोपान [अतिष्ठाता अधिष्ठाता] देवता इन्द्र थे अन्तरिक्ष के शासनसोपात् वायु थे एवमेव स्वयम्भू मनु सम्राट् से शासित इस पृथिवी के शासनसोपात् अग्निदेवता थे। पार्थिव प्रजा से कर ग्रहण कर देवताओं के प्रति उसे पहुचाना पार्थिव प्रजा की वामदेवादि के सहयोग से भरण-पोषण व्यवस्था करना इन्ही भौम अग्निदेवता (मनुष्यदेवता) का कार्य्य था। इस आधिभौतिक (ऐतिहासिक) दृष्टि से भी अग्नि को भरत कहना अन्वर्थ बनता है। इसी भरण-पोषण धर्म्म से ये अग्नि भरत किंवा भारत कहलाए है। इन्हीं के सम्बन्ध से यह पवित्र देश भारतवर्ष कहलाया है। जिसप्रकार उक्त तीनों यज्ञ सस्थाओं का सञ्चालन भरताग्नि से हुआ है एवमेव हमारे इस वैधयज्ञ की इतिकर्त्तव्यता भी उसी भरताग्नि से सम्पन्न हो इसी भावना को लिए भरतवत् कहा गया है ॥ ८ ॥

इति-दिव्याग्निवरणकर्म्मोपपत्ति

?

३—आर्षेयप्रवरणकर्म्मोपपत्ति —

अग्निर्देवो दैव्यो होता इत्यादि मन्त्रपाठ के द्वारा अपने स वैध यज्ञ में प्राकृतिक दैव्य प्राणाग्नि की भावना करना ही अग्नि का होतृ वन वरण करना है जिस का ४ थी से ८ वी काण्डका पर्यन्त ५ काण्ड काओं में स्पष्टीकरण हुआ है। अब क्रमप्राप्त आर्षेयप्रवरणकर्म्म की उपपत्ति का दिग्दर्शन कराया जाता है। यज्ञकर्त्ता यजमान के वंशगौरव का कीर्त्तन ही आर्षेयवरणकर्म्म है। इस वरण से यज्ञाधिकार योग्यता का ही समर्थन हुआ है। यज्ञकर्म लौकिक कर्म नहीं है अपितु वैदिक दिव्य कर्म है। लौकिक कर्म्म का अधिकार जहां मनुष्यमात्र को है वहां वैदिक यज्ञ तप दान कर्म्मत्रयी का अधिकार एकमात्र द्विजाति प्रजा को ही है जिसके वीर्य्य में जन्मत ऋषिप्राण तथा देवप्राण प्रतिष्ठित रहता है। यह वैध वैदिक यज्ञकर्म्म प्राकृतिक नित्य दिव्य यज्ञ की विधि पर ही वितत होता है जैसा कि अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है। प्राकृतिक यज्ञ ही सम्वत्सरयज्ञ है जैसा कि इसी ब्राह्मण की १६ वीं कण्डिका में स्पष्ट होने वाला है। सम्वत्सरयज्ञ का अदितिमण्डल से सम्बन्ध है।

इस अदितिमण्डल के गर्भ में त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्ना अग्निप्रधाना पृथिवी पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न वायुप्रधान अन्तरिक्ष एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न इन्द्रप्रधान द्युलोक ये तीनों त्रैलोक्य प्रतिष्ठित हैं जैसा कि— अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्र (ऋक्‌ स १।८९।१०।) इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। अदितिगर्भ में प्रतिष्ठित अग्निप्रमुख पार्थिव ८ वसुदेवता वायुप्रमुख आन्तरिक्ष्य ११ रुद्रदेवता इन्द्रप्रमुख दिव्य १२ आदित्य देवता नासत्य दस्र नामक २ साध्य देवता सम्भूय ३३ प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं ये ही ३३ देवता आदित्यावच्छिन्न सम्वत्सरयज्ञ के स्वरूप सम्पादक हैं। अतएव— येस्थ त्रयश्च त्रिंशश्च मनोर्देवा यज्ञियास (ऋक्‌ स ८।३०।२।) इत्यादि श्रुति के अनुसार ये ही देवता यज्ञिय देवता कहलाए हैं। इस सम्वत्सरयज्ञ में प्रातःकाल मध्याह्न सायङ्काल भेद से तीन सवन हैं। वसुदेवतानुगत प्रातःकाल प्रातःसवन है रुद्रदेवतानुगत मध्याह्न माध्यन्दिनसवन है एवं आदित्यदेवतानुगत सायंकाल सायंसवन है। रात्रिगत पूषाप्राण इस सवनत्रयात्मक सम्वत्सर यज्ञमण्डल की सीमा से बहिर्भूत है।

मानवप्रजा में से जिसके वीर्य्य में जन्मत प्रातः सवनीय देवता प्रतिष्ठित रहते हैं वह वर्णत ब्राह्मण है। जिसके वीर्य्य में माध्यन्दिनसवनीय देवता प्रतिष्ठित रहते हैं वह वर्णत क्षत्रिय है। एवं सायंसवनीयदेवयुक्त प्रजा वर्णत वैश्य है। रात्रिगत पूषाप्राणप्रधान प्रजावर्ग शूद्र है। स्त्रीप्रजा का भी इसी पूषाप्राण से सम्बन्ध है। इसप्रकार प्रकृत्या ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य यह द्विजातिप्रजा तो यज्ञसीमा के अन्तर्गत है। एवं स्त्री तथा शूद्र दोनों प्रजावर्ग यज्ञसीमा से बहिर्भूत है। इसी आधार पर भगवान् व्यास का— स्त्री शूद्र द्विजबन्धूना त्रयी न श्रुतिगोचरा यह वर्णधर्म का सिद्धान्त स्थापित हुआ है। प्राकृतिक नित्य अपौरुषेय तत्त्वात्मक वेद की प्रतिकृतिरूप वेदशास्त्र एवं तत्त्वात्मक वेद पर प्रतिष्ठित नित्ययज्ञ की प्रतिकृतिरूप वैदिक यज्ञकर्म्म दोनों का एकमात्र द्विजाति मनुष्यप्रजा को ही अधिकार क्यों है? इस प्रश्न का यही सङ्क्षिप्त उत्तर है।

यदि कोई व्यक्ति कर्म्मणा वर्णाभिमान रखता हुआ यज्ञ में प्रवृत्त होना चाहता है जैसी कि उच्छृङ्खलता आजकल देखी सुनी जारही है तो यह उस का व्यामोह है अनधिकारचेष्टा ही नहीं है अपितु अभ्युदय

के स्थान में सर्वनाश का आमन्त्रण है। यज्ञकर्म में वही दीक्षित होसकता है जो जन्मना द्विजाति है जिस के पिता पितामह प्रपितामहादि जन्मना द्विजाति है जिस के वीर्य्य में उक्त लक्षण वर्णानुगत देवप्राण के साथ साथ गोत्रसूत्रप्रवर्त्तक ऋषिप्राणों का परम्परया समावेश है। ऐसा ऋषिवंशज अतएव **आर्षेय** कहलाने योग्य **देवप्राणयुक्त वर्णगत द्विजाति** ही यज्ञ में अधिकृत है। एवं हमारा प्रस्तुत **आर्षेयप्रवरणकर्म्म** इसी अधिकार मर्यादा का विश्लेषण कर रहा है। यजमान वर्णगत द्विजाति है इस का ऋषिवंश से सम्बन्ध है यज्ञप्रवृत्ति से पहले यह स्पष्ट होजाना अनिवार्य्य है। बिना ऋषि तथा देवप्राणसम्बन्धस्थापन के यजमान यज्ञ में अनधिकृत है। अतएव दिव्य होतृवरणकर्म के अनन्तर तथा मानुष होतृवरणकर्म्म से पूर्व यजमान के इन दोनों वर्ण धर्मों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। एकमात्र इसी उद्देश्य से **आर्षेयप्रवरण** कर्म्म विहित है। जो महानुभाव शास्त्ररहस्यानभिज्ञता से कर्मणा वर्णों की व्यवस्था करते हुए एकहेलया मनुष्यमात्र को यज्ञ का अधिकारी बनाते हुए उनका अनिष्ट कर रहे हैं हम उनसे पूँछते हैं कि वे **आर्षेयकर्म्म** में किन गोत्रऋषियों का उच्चारण करावेंगे? जब कि जन्मना शूद्र ऋषिगोत्र से सर्वथा बहिर्भूत है। उस समय वे— **ऋषिभ्यश्चैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयति** इस श्रुति का कैसे समन्वय करेंगे? यह उन्हीं वेदभक्तों से पूछना चाहिए।

ऋषि तथा देवप्राण दोनों का वीर्य्य से सम्बन्ध है न कि कर्म्म से। जन्मतः ऋषि एवं देवप्राण का सम्बन्ध वीर्य्य में ही रहना चाहिए। वही द्विजाति है वही यज्ञाधिकारी है। इस जन्मानुगत वीर्य्यभाव (वर्णभाव) का स्पष्टीकरण करने के लिए ही कहा गया है— **अथ महावीर्य्यो यो यज्ञं प्रापत्**। इसी वीर्य्यस्थापनद्वारा यजमान का यज्ञाधिकारत्व स्पष्ट करने के लिए आर्षेयवरण होता है। एवं यही इस कर्म की संक्षिप्त उपपत्ति है— **तस्मादार्षेयं प्रवृणीते** ॥ ६ ॥

उपपत्त्यनन्तर वरण विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है कि सृष्टिक्रम के अनुरोध से **पितामह पिता पुत्र** इन क्रम से ही ऋषिवंश परम्परा का उल्लेख होना चाहिए। इस सृष्टिमर्य्यादा के संरक्षण के अतिरिक्त स्वयं यज्ञकर्म्म की दृष्टि से भी **परस्तात् अर्वाक्** ही वरण होना चाहिए। देवामलक्षणा दिव्यप्रजोत्पत्ति ही यज्ञकर्म का प्रधान लक्ष्य है। एवं उत्पत्तिक्रमानुगत प्रकृतिसिद्ध सापिण्ड्य* सम्बन्धानुबन्ध से **पितामह पिता पुत्र पौत्र** यही क्रम है। अतः इस प्रजोत्पादक यज्ञकर्म्म में भी आर्षेयवरण करते समय पहिले यजमान के पितामह का अनन्तर पिता का एवं सर्वान्त में पुत्रस्थानीय यजमान का ही नाम उल्लेख करना आवश्यक तथा क्रमसङ्गत है— **तस्मात् परस्तादर्वाक प्रवृणीते** ॥ ७ ॥

इति—आर्षेयप्रवरणकर्म्मोपपत्तिः

३

—*—

*—पितामहाद्यनुगत इस सापिण्ड्य सम्बन्ध के सुविशद वैज्ञानिक विवेचन के लिए देखिए **खण्डचतुष्टयात्मक श्राद्धविज्ञान** ग्रन्थ का— **सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्** नामक तृतीय खण्ड।

४—अग्नि-ब्राह्मणानुगृहप्राप्तिकर्म्मोपपत्ति —

ऋषिवंशप्रसूत तथा ज मना (वर्णत) द्विजाति यह यजमान यज्ञ का अधिकारी अवश्य है पर तु इस का यह अधिकार तबतक कार्यरूप में परिणत नही होसकता जबतक कि स के इस यज्ञमण्डल मे आ नीयाग्निकुण्ड में दि य प्राणदेवताओं का सम्ब ध नही होजाता। यह देवाह्वानक म एकमात्र ब्रह्मजी य प्रवृत्त क प्राणाग्नि तथा तद्वी यप्रधान ऋत्विग् ब्राह्मण के अनुग्रह स योग पर ही निर्भर है दि याग्निवरण से अग्नि देवता यज्ञमण्डल में पधार अवश्य आते है परन्तु प्रकृति के नियत सूत्र के आधार पर न का देवाह्वान-कर्म्म तो वैज्ञानिक अनूचान उन ब्राह्मणो के सहयोग पर ही अवलम्बित है जो उस परोक्ष प्राकृतिक सूत्रलक्षण आधार का म त्रा मक **स्तोत्र शस्त्र ग्रह** आदि क र्मों के द्वारा सग्रह करने की शक्ति रखते है। **अग्निर्दैवो दैव्यो होता** इत्यादि पूर्वोक्त निगदमन्त्र से आगत अग्नि का होतृ वन वरण कर लिया यज्ञफलभोक्ता यजमान के वंशाख्यापन लक्षण आर्षेयवरण स इसे यज्ञाधिकारी भी सिद्ध कर दिया गया। अब आगत तथा वृत अग्नि के देवाह्वानलक्षण अनुग्रह की तथा यज्ञस्वरूपसमर्पक ब्राह्मणो के अनुग्रह की अपेक्षा है। इसी उभयोद्देश्य की सिद्धि के लिए आर्षेयप्रवरणान तर तथा मानुष होतृवरण से पहिले- ब्रह्मण्वदा च वक्षत् ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्राविताार इस निगदम त्र का पाठ किया जाता है जिस का श दार्थ मूलानुवाद से ही गतार्थ है ॥११ १२॥

इति—अग्नि ब्राह्मणानुगृहप्राप्तिकर्म्मोपपत्ति -

४

——*——

५—मानुषहोतृवरणोपपत्ति —

प्राणविध सम्व सरयज्ञ में **होता अध्वर्य्यु उद्गाता ब्रह्मा यजमान** आदि भी **प्राणविध** ही हैं। इस प्राणविध प्राकृतिक यज्ञ की विधा पर ही वितायमान स प्राणोविध मानुष-यज्ञ में ऋत्विक यजमानादि यज्ञस्वरूपसग्राहक **प्राणोविध** ही हैं। द्यावापृथि य प्राणा मक स व सर-प्रजापति (यजमान) के अनुरूप अपनी प नी के यज्ञसयोग से पृथिवीरूप बना हुआ एव स्वस्वरूप से द्यु स्थानीय बना हुआ यजमान प्राणविध यजमान है। **प्राणविध अग्नि वायु आदित्य चन्द्रमा** इन **होता अध्वर्य्यु उद्गाता ब्रह्मा** नामक ऋत्विजो के अनुरूप **प्राणोविध अग्न्यनुगृहीत ऋग्वेद का ज्ञाता ब्राह्मण होता है। प्राणोविध वाय्वनुगृहीत यजुर्वेद का अनूचान ब्राह्मण अध्वर्य्यु है। प्राणोविध आदित्यानुगृहीत सामवेद का अनूचान ब्राह्मण उद्गाता है।** एव **प्राणोविध चन्द्रमानुगृहीत अथर्ववेद का तथा अथर्वगर्भिता त्रयीविद्या का परिज्ञाता ब्राह्मण ब्रह्मा है** जो ऋग्वेदी ब्राह्मण यहा **होत्र-कर्म्म** के लिए नियत हुआ है प्राणाग्न के वरणान तर उसका वरण होना भी आवश्यक है। इस वरणक म से पहिले यह ब्राह्मण **अहोता** है अतएव अभी यह देवाह्वान कर्म्म में अनधिकृत है। इस अधिकार-प्रदान के लिए ही अधिकारप्रदानस्थानीय वरणकर्म्म किया जाता है। इसप्रका ब्राह्मणोक्त **आश्रावण दिव्याग्निवरण आर्षेयवरण अग्नि-ब्राह्मणानुग्रह-सम्पादन** इन क र्मों के क्रमानु ठान के अन तर वह अ व यु- **असौ मानुष** -इस

निगदमन्त्र का पाठ करता हुआ हौत्रक म के लिए आगत मानुष होता का वरण करता है। यही प्राकृतिक होता (अ नि) का प्रतिनिधि है ॥ १३ ॥

इति–मानुषहोतृवरणोपपत्ति —

५

—*—

६–स्वस्त्ययनजपोपपत्ति —

अ वर्य्यु प्रयुक्त **असौ मानुष** इस निगदम त्र से हौत्रकम्म के लिए वृत होता आज वास्तव में **होता** बन गया है। इसी क्षण से इस पर उस सम्पूर्ण उत्तरदायि व का भार आगया है जो **हौत्रकम्म** स सम्ब ध रखता है। अपने इसी उत्तरदायि व को सफल बनाने की कामना स होता **स्वस्त्ययनजप** करता है जिस का एकमात्र ता प य यही है कि प्राकृतिक स वत्सरयज्ञ के सञ्चालक जिन प्राणदेवताओं के अनुग्रह स मनु य अपने शास्त्रीय क र्मों म सफलता प्रा त करने में समर्थ होते है उन प्राणदेवताओ का म त्रशक्ति के द्वारा अनुग्रह प्रा त करना। जिसप्रकार लोकाधिकारारूढ अधिकारी अधिकारप्राप्त होत ही अधिकारसिद्ध क र्मों को अपने लक्ष्य मे ले आता है ठीक उसीप्रकार वरणकम्म स होत्राधिकार प्रा त करत ही होता उन प्राणदेवताओं की ओर अनुगत होजाता है जिन का कि इसे भवि य में आह्वान करना है। प्रत्येक का र्य में नियुक्त होने से पहिले यह आवश्यक है कि उस कार्य्य की स पूर्ण रूपरेखा का चित्रण अपने अ तजगत् में रचित कर लिया जाय। ऐसा करने से भवि य में त्रुटि होने की स भावना नही रहती। जो व्यक्ति बिना अधिकारमर्य्यादा कम्ममर्य्यादा का नियमन किए हठात् कम्म मे प्रवृत्त होजात हैं अवश्य ही अपने स्वाभाविक अनृतभाव स व प्रमाद कर बठते हैं। जिन देवताओं का आह्वान करना है जिनके लिए वषट्कार करना है जिन के लिए हवि प्रदान करना है उन सब प्राणदेवताओ के उन सब कम्मकलापो को वरणान तर ही लक्ष्य में ले आने के लिए स्व यनजप क म विहित है। यही इस क म की लोकनीति–स मता सद्धि ता उपपत्ति है जिस का १४ वी कण्डिका में स्प टीकरण हुआ है ॥ १४ ॥

१५ वी कण्डिका से आर भ कर २६ वी कण्डिका प य त (ब्राह्मणसमाप्ति प यन्त) स्वस्त्ययन–क म से सम्ब ध रखने वाले म त्रो की सोपपत्तिक व्याख्या हुई है। उसी का क्रमश दि दशन कराया जाता है। सवप्रथम वृत होता **एतत्त्वा देवसवितर्वृणते** यह म त्र बोलता है। इस के द्वारा होता सविता की ही अनुज्ञा प्रा त करता है। यह ठीक है कि म त्रशक्ति के द्वारा प्राकृतिक **होता अग्नि** का अनुग्रह प्रा त करता हुआ यह **मनुष्य–होता** तत्तत्प्राणदेवताओ के आह्वान मे सम र्थ होजाता है। पर तु इस आह्वानकर्म की मूलप्रति ठा स विता देवता ही है। सौरमण्डल को अपने गर्भ म रखने वाले आपामय परमे ठी के चारो ओर **बृहस्पति ब्रह्मणस्पति वरुण सविता** आदि कतिपय उपग्रह उसी प्रकार परिक्रमा लगा रहे है जैसे कि पृथि यादि उपग्रह सूर्यग्रह के चारों ओर। उन पारमेष्ठ्य उपग्रहों में से **सविता** नामक उपग्रह का मुख्य कम्म है–**प्रेरणाबल प्रदान करना**। सौर–त्रिलोकी में जिन प्राणदेवताओ के जो भी कम्म हैं उन सब का प्र रक यही सविता प्राण है। अतएव इसे **देवताओं का प्रसविता (प्रेरयिता)** क ा गया है। इस पारमे

व्य सविता की प्र रणा का सवप्रथम सू य मे ही श्रा मन हाता है अतएव सू य को भी यत्र तत्र **सविता** नाम मे व्यवहृत कर दिया गया ह । सूय्य के द्वारा ही सौरत्रिलोकी म प्रतिष्ठित प्रजा मे सविताप्राण के प्र रणा बल का आगमन ाता है ाजस का आधार है– **बुद्धिचेत्र** ।

सविता का बृहस्पति से स ब ध है । क्योंकि **बृहस्पति पूर्वेषामुत्तमो भवति द्र उत्तरपा प्रथम** इस निगम के अनुसार सूय्य से पूव लोको म सर्वा त मे बृहस्पति प्रतिष्ठित है एव उत्तरलोको में सर्वार भ म इन्द्र (सौर मघवा) प्रतिष्ठित है । **इ न्‍ से ऊपर बृहस्पति * है तदुपरि ब्रह्मणस्पति है व इसके ऊपर सविता है** । सविताप्राण का (अकरूप स) आगमन **पवित्रधर्म्मा ब्रह्मणस्पति** तथा **वचस्य प्रवत्तक बृहस्पति** न दोनो पारमेष्ठ्य उपग्रहो स साश्लिष्ट होकर ही (सौर इ द्रमण्डल म) होता है । वागाधपति बृहस्पति ही अपने **राजपय** नामक **सत्र** क म स बुद्धि मे उस ब्रह्मवी य का आधान करत है जो ब्रह्मवीर्य्य सावताप्राणात्मिका प्र रणा स श्रा मज्ञानाविकास का प्रवत्त क बनता है । इसी समसम्ब ध से सविता को **धी** का प्रवत्त क मान लिया गया है जसा कि– **तत्सावतु रेण्य धियो यो न प्रचोदयात** इ यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है ।

ता पय्य ही है कि तत्तत् प्राणदेवताओ का यज्ञक म में प्रवृत्त होना सावताप्राण के प्र रणा बल पर ही अवलम्बित है । जबतक यह होता अपने आ या मक सविताप्राण में आधिदविक सविताप्राण का बल प्रा त नही कर लेता तबतक अ या मदेवानुगत आधिदविक प्राणब धनलक्षण स यज्ञक म में वह आधिदविक प्राणदेवताओं का अनुग्रह प्राप्त नही कर सकता । इसी सविताप्राणानुग्रह प्राप्ति के लिए सब से पहिले इसे म त्र के द्वारा यही भावना करनी पडती है कि **हे सविता देवता ! देवाह्वान लक्षण हौत्रकम्म के लिए मेरे याज से अ । यु वस्तुत आप का ही वरण कर रहे है** ।

इसप्रकार सवप्रथम सविता का अनुग्रह प्रा त कर अन तर– **अग्नि होत्राय** इस म त्र से अग्नि तथा अग्निमय ३३ यज्ञिय देवताओ का अनुग्रह प्राप्त करता है । हौत्रकम्म का उत्तरदायि व अग्नि पर ही है यह अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है । साथ ही– **तदग्नये चैतेन्‍ वेभ्यश्च** इ यादि कण्डिकाशेष का स्पष्टी करण भी पूव से गताथ है–(देखिए प्रकृ त ब्रा की ४ कण्डिका) ॥ १५ ॥

आधिभौतिक साधनो के द्वारा आ यात्मिक यज्ञ का जिस आधिदैविक यज्ञ से सम्ब ध अपेक्षित है वह **सम्वत्सर** नाम स प्रसिद्ध है । सम्व सरयज्ञ ही **सहयज्ञा प्रजा सष्ट्वा** ॥ इ यादि के अनुसार चतुद श– भूतसर्गात्मिका प्रजा का प्रजनयिता (उ पादक) है । स व सर का प्रवग्य रेतोभाग पार्थिव योनि में आहुत होता है । इसी द्यावापृथि यस्स के । प य से प्रजो पत्ति हुइ है । अत अवश्य ही सम्व सर को **पिता** कहा जासक्ता है । **दक्षिणस्थ ऋत अग्नि** तथा **उत्तरस्थ ऋत सोम** दोनो के उद्ग्राभ निग्राभ से **ऋतु** का स्वरूप नि पन्न होता है । ऋतुसमष्टि ही स व सर है । प्र येक वस्तु स्वानुरूप ऋतुप्राण को लेकर ही प्रादुभू त होती है । इस दृष्टि स भी ऋतुसमष्टिरूप स व सर को **पिता** कहा जासकता है जो कि सम्व सर अपने तीन सवनो से **वैश्वानर** बन रहा है ।

---

* यह **बृहस्पति** सुप्रसिद्ध **सौर** उपग्रह **भूत** बृहस्पति से सवथा भिन्न है ।

भूपिण्ड के अग्निपृष्ठ से सल न त्रिवृत्स्ताम प्रात सवन है यही स्तोमत्रिलोकीरूप सम्व सर का प्रथिवीलाक है यही पहिला विश्व है इसी मे घनावस्थानपन्न अग्नि (अग्नि) नामक नर (नायक) प्रतिष्ठित है। त्रिवृत पृष्ठ से सल न पञ्चदशस्तोम माध्यन्दिनसवन है यही सम्व सर का अ तरिक्षलोक है यही दूसरा विश्व है इसी म तरलावस्थापन्न अग्नि (वायु) नामक नर प्रतिष्ठित है। पञ्च शपृष्ठ से सल न एकविंशस्तोम सायसवन है यही सम्व सर का द्यु लोक है यही तीसरा विश्व है, इसी मे विरलावस्थापन्न अ नि (आदि य नामक नर प्रतिष्ठित है। सम्व सर के त्रिवृत् पञ्चदश एकविंश स्थानीय प्रथिवी अन्तरिक्ष द्यौ नामक तीन विश्वों क अग्नि वायु आदि य नामक तीनो नरों के पारस्परिक यज्ञ सम्बन्ध से सम्व सर त्रिलोकी मे याप्त विराट हिरण्यगर्भ सवज्ञ नामक तीन अपूव भावा का उदय हाता है।

त्रिवृदग्नि मे पञ्चदश वायु एकविंश आदि य दोनो की आहुति से अग्निप्रधान त्रिमूर्त्ति जिस भाव का ज म होता है वही विराट् है। पञ्चदश वायु मे त्रिवृदग्नि एकविंश आदि य दोना की आहुति से उ पन्न वायुप्रधान त्रिमूर्त्ति तत्त्व ही हिरण्यगर्भ है। एकविंश आदि य मे त्रिवृदग्नि पञ्चदश वायु दोना की आहुति से उ पन्न आदि यप्रधान त्रिमूर्त्तितत्त्व ही सवज्ञ है। तीनों क अग्नि वायु आदि य प्राधान्य सूचित करने क लिए जहा विराट हिरण्य-गभ-सवज्ञ य तीन प्रथक प्रथक् नाम है वहा तीनों का समष्टया मक एक नाम वैश्वानर है। विश्वभ्यो नरभ्यो जातो वैश्वानर इस निवचन से तीनों त्रिमूर्त्तियों का वैश्वानरत्त्व गताथ है। अतएव विराट्-हिर-ण्यभ-सवज्ञमूर्त्ति सम्व सर को श्रुति ने- सम्वसरो वै पिता वैश्वानर कह दिया है। यज्ञ क द्वारा यह वैश्वानरसम्पत्ति प्राप्त य है। केवल अ नि क अनुग्रह से ऐसा सम्भव नहीं है। अपितु वहा अ नि का वह यापक स्वरूप अपेक्षित है जो सम्व सररूप से किवा वैश्वानररूप से त्रैलोक्य मे याप्त है। इसी भावना क लिए- अ नि होत्राय सह पिता वैश्वानरेण इस मन्त्र का जप किया जाता है।

पृथिवी	अ तरिक्षम्	द्यौ
त्रिवृत्	पञ्चदश	एकविंश
(९)	(१५)	(२१)
प्रात सवनम्	मा यन्दिनसवनम्	सायसवनम्
घनाग्नि	तरलाग्नि	विरलाग्नि
(अग्नि)	(वायु)	(आदि य)

अग्नि १–वायु अदि यय	अग्निप्रधानस्त्रिमू त्तविराट्— श्वानर	सम्वत्सरो श्वानर
वायु २–आग्नि आदि य	वायुप्रधानास्त्रमूत्तिर्हिरण्यगभ वैश्वानर	
आदि य ३ अग्नि वायु	आदि यप्र ानस्त्रिमूर्त्ति रण्यगभ वैश्वानर	

स्वस् ययनजप–म त्र का अगला भाग— **अग्ने ! पूषन् ! बृहस्पते ! प्र च वद प्र च यज । अनुवचन और यजनकम्म मे पाथिव अग्नि पार्थिव भूत एव वाक** ये तीनो साधन अपेक्षित हैं। पाथिव भूतभाग यजनक म का अनुगामी है वागभाग अनुवचनकम्म का अनुगामी है। जिस अग्नि का वरण किया जाता है वह द्यावापृथिवी में या त वश्वानरलक्षण प्राणाग्नि था एव प्रस्तुत म त्र में पठित अग्नि भूपिण्डलक्षणा पृथिवी से सम्ब ध रखने वाला भूताग्नि है। इस भूताग्नि का पोषण जिस पार्थिव प्राण से होता है वह **पूषा** नाम से प्रसिद्ध है। **शू न्सृष्टिप्रवत्त क अद तक पूषाप्राण रेवती–नक्षत्रा मक पूषाप्राण आदि यलक्षण पूषाप्राण** तीनो में से प्रकृतम त्र के **पूषा** श य से अदन्त पार्थिव पूषाप्राण ही अभिप्र त है। **वाक्–गो द्यौ** ये तीन पृथिवी के **मनोता** माने गए हैं। इन तीनो में पार्थिवी वाक् का बृहस्पति से सम्ब ध है जिस बाहस्प या वाक से पार्थिव वषट्कार का स्वरूप–निर्म्माण होता है। पार्थिवी गो का आग्न से सम्ब ध है जिस से— **गौर्वा अग्निहोत्रम्** के अनुसार पार्थिव आ नहोत्रयज्ञ सम्पन्न होता है। एव पार्थिव द्यौ मनोता का पूषा से सम्ब ध है। इन तीनों पार्थिव त वों के सम वय से ही पार्थिव यज्ञ के **या या तथा अनुवाक्या–**क म सम्पन्न होते हैं। म त्र के द्वारा उन्ही तीनो का सग्रह किया जाता है ॥१६॥

स्वस्ययनजपम त्र का अगला भाग है– **वसूना रातौ स्याम रुद्राणामु र्याया स्वदित्या अदितये स्यामनेहस** । पार्थिवयज्ञ के **पाकयज्ञ वितानयज्ञ** भेद से दो विवत्त हैं। **स्मात्त गृह्ययज्ञ पाकयज्ञ है। एव श्रौत त्रे ताग्नियज्ञ वितानयज्ञ है**। पार्थिव गार्हप याग्नि का वसुदेवता से आन्तरिक्ष्य धिष्ण्याग्नि

का रुद्रदेवता से तथा दि य आहवनीयाग्नि का आदि यदेवता से सम्ब ध है। दवत्रयी से अनुगृहीता अग्नित्रयी का वितान (पृथिवी से द्यु लोक प र्य त फलाव) ही वितानयज्ञ है। इन तीनों गणदेवताओं के सग्रह स प्राकृतिक वितानयज्ञ की स पत्ति का सग्रह होजाता है। प्रकृत म त्र से उसी वितानस पत्ति का सग्रह किया जाता है। पार्थिव **अन्नसम्पत्ति पशुसम्पत्ति** तथा **द्र यसम्पत्ति** तीनो की समष्टि **राति** है। जिसे **दौलत** कहा जाता है उसी के लिए वद में 'राति' श द प्रयुक्त हुआ है। यह राति **अन्न पशु द्र य** भेद से त्रिधा विभक्त है। एव तीनों पार्थिव वसुदेवता से सम्बद्ध है। अतएव सम्पत्ति का **वसु** भी कहा जाता है। **भूता मक पार्थिव अग्नि ही वसु है यही पार्थिवी सम्पत्ति है।** इसी अभिप्राय से **वसूना रातौ स्याम** कहा गया है। नि न लिखित म त्र सी **वसु—अग्नि** के स्वरूप का स्प ीकरण कर रहा है—

> **अग्नि त म ये यो वसुरस्त य या त धेनव ।**
> **अस्तम र्व त आशवोऽस्त नित्यासो वाजिन इष स्तोतृभ्य आभर ॥**
>
> —ऋक स ५।३।१।

रुद्रदेवता अ तरिक्ष के अधिष्ठाता है। अ तरिक्ष उरु है विशाल है जसा कि **उ र्व तरिक्षमन्वेमि** इ यादि ब्राह्मण श्र ति से प्रमाणित है। रुद्रदेवताओं की आवासभूमि यह अ तरिक्ष भी उरु है एव— **असख्याता सहस्राणि ये रुद्रा** इ यादि यजुम त्रवर्णनानुसार इस उरु अ तरिक्ष मे रहने वाले अधिदेवता (रुद्र) भी आन यलक्षण उरु भाव से युक्त हैं। अन्न—पशु—द्र यादि पार्थिव स पत्तियाँ सङ्कोचधर्म्मा है जबतक इस पार्थिवसम्पत्ति के भोक्ता में आन्तरिक्ष्य उरुभाव (विशालता—उदाराशयता) नही आजाती तबतक पार्थिवसम्पत्ति मोह का ही कारण बनी रहती है। अतएव **पार्थि व वसु—राति** के साथ साथ ही आ तरिक्ष्य रुद्र का **उरुभा व** भी आवश्यकरूप से अपेक्षित है। **रुद्राणामुर्व्याम्** से उसी भूमाभाव की प्राप्ति अभी—प्सित है।

रुद्रनिवासा मक अन्तरिक्ष के इस ओर वसुनिवासा मक त्रिवृ स्तोमावच्छिन्ना पृथिवी है एव उस ओर आदि यनिवासात्मक द्यु लोक है। मध्यस्थ अ तरिक्ष की प्रति ठा पृथिवी तथा द्यु लोक ही है। अतएव अ त—रिक्ष को उभयत [द्यावापृथिवी से] परिच्छिन्न माना गया है जसा कि— **अमलमुभयत परिच्छिन्नम्** इ यादि ब्राह्मणश्र ति से प्रमाणित हैं। यज्ञकर्त्ता यजमान अपनी स्वाभाविक [प्रकृतिदत्त] प्रतिष्ठा में याव दायुर्भोगपर्य्य त प्रतिष्ठित रहता हुआ यज्ञ के द्वारा अ तरिक्ष में जाता हुआ स्वर्गोपलक्षिता द्यु प्रतिष्ठा में प्रति ष्ठित होना चाहता है जो कि द्यु प्रतिष्ठा तदधिदेवता—स ब ध से **आदि यप्रतिष्ठा** कहलाई है। शेष म त्रभाग से इसी **आदि यप्रतिष्ठा** का सग्रह हुआ है। **रातिप्रवर्त्तक वसु भूमाप्रवर्त्तक रुद्र** एव **प्रतिष्ठाप्रवर्त्तक आदित्य** तीनों देवता त्रैलोक्य यापिनी अदिति के गर्भ में प्रतिष्ठित है *। **अदितये स्यामनेहस** इस म त्र भाग से सर्वा त में उसी देवमाता अदिति का अनुग्रह प्राप्त किया जाता है ॥१७॥

---

* **अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरि दम !।**
आदित्या, वसवो रुद्रा, अश्विनौ च पर तप ! ॥
—वाल्मीकिरामायणे

स्वस्ययनजपम त्र का अगला भाग है— **जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासम्** । होत्रकम्म की सफलता के लिए जिन जिन देवताओं का अनुग्रह अपेक्षित था पूवम त्रभागों के जप से होताने वह प्राप्त कर लिया । अब यह स्वय अपने उस आध्यात्मिक वाङ्मय दवता के अनुग्रह की कामना कर रहा है जिस की प्राप्ति से सबकुछ सफल है एव जिस के अभाव में सबकुछ यथ है । अनुवचनकर्म्म से सम्ब ध रखने वाले जिन दवताओं के लिए होता अनुवाक्या करता है यदि उन मन्त्रों के उच्चारण में अक्षर–पद वाक्य आदि का उच्चारण–सौष्ठव माधुय्य है तो यथानुरूप उच्चरित म त्र अपनी **उदात्त अनुदात्त स्व रित आदि स्वरमर्य्यादा** से तथा गायत्री त्रिष्टुप जगती आदि **छन्दोमर्य्यादा** से तत्तत्स्वर छन्दोमय प्राकृतिक प्राणदवताओं से समतुलित होते हुए त द्वतावाहन में समथ होजाते हैं । ऐसी देवाकर्षिणी शोभना यवस्थिता अनुद्व गकरी म त्रावाक् ही प्राणदेवताओं के लिए आकर्षण की वस्तु बनती हुई जुष्टावाक कहलाई है । यदि म त्रोच्चारण में **स्वर स्वरता है स्वरदोष है उ चारणदोष है स्खलनदोष** हैं तो इस की स तानधारा विच्छिन्न है । ऐसी विच्छिन्ना म त्रवाक कभी दवाकषणकम्म में सफल नही होसकती । लोक में भी सब कुछ साधन सामग्रियो के विद्यमान रहने पर भी केवल अपनी उद्वगभावापन्ना अ यवस्थिता वाक से सबकुछ यथ होजाता है । अतएव इतर सब साधनों की अपेक्षा उस अपने वाक् साधन का सौष्ठव प्र येक दशा में अपेक्षित है जिस के अनुग्रह से सभी साधन प्राप्त होजाते हे एव काय्य भी समृद्ध बन जाता है । अतएव— **तद्धि समृद्धम्, यो जुष्ट देवेभ्योऽनुब्रवत्** इ यादि रूप स जुष्टा–वाक को ही यज्ञ की प्रधान समृद्धि माना गया है ॥१८॥

मन्त्राधीन देवता हैं अतएव म त्रवाक का सौष्ठव सवप्रथम अपेक्षित है । **मन्त्र ब्राह्मणों के आधीन** है अतएव ब्राह्मणो का अनुग्रह भी आवश्यकरूप से अपेक्षित है । **त वात्मिका वैज्ञानिकी वाक का रहस्य जानने वाले मन्त्रवित् ब्राह्मण भूदेव** हैं । इन के प्रति भी सदा अनुद्वगकरी–जुष्टावाक का ही प्रयोग करना चाहिए । विशेषत उस वदिक यज्ञकम्म [यज्ञकम्म से उपलक्षित तप तथा दानकर्म्म में भी] में तो यह सावधानी रखनी ही चाहिए कि कही किसी भी ब्राह्मण के लिए उद्व गकरी वाक का प्रयोग तो नही होगया । ब्राह्मण की अप्रसन्नता यज्ञस्वरूप के विघात के लिए पर्य्याप्त है एव ब्राह्मण की प्रसन्नता यज्ञस्वरूपसमृद्धिके लिए पर्य्याप्त है । उन यज्ञक र्मों की मीमासा कीजिए जिन में यजमानलोग ब्राह्मणों का अपमान कर दिया करते हैं । उन दानकर्म्मों के कुफलो का अ वषण कीजिए जिन में मदा ध दानदाता अप मान पुरस्सर दान करते हुए अपना सवनाश करा रहे है । उन अविवेकियों की उस जघ यवृत्ति का भी अ वे षण करना न भूलिए जो केवल धन को ही बुद्धिमत्ता का जनक समझते हुए ब्राह्मणवर्गों का अपमान कर अपने भविष्य को अप्रतक्यतम से ही अभिभूत करते जारहे है । हमारा अपना तो ऐसा आ म–विश्वास है कि भारतवष की वत्तमान दीनदशा के अ या य कारणो में से **ब्राह्मणबल की सुषुप्ति** तथा **ब्राह्मणवर्णों का अपमान** भी एक मुख्य का ण है । **तद्धि समृद्ध यो जुष्ट ब्राह्मणेभ्योऽनुब्रवात्** इ यादि श्रौतादेश भी इसी कारण का स्पष्टीकरण कर रहा है । **जुष्टा ब्रह्मभ्य** यह म त्रभाग इसी ब्राह्मणानुग्रह–प्राप्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है ॥१६॥

अगला म त्रभाग है— **जुष्ट नाराशसाय** । **ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र इन चारों वर्णों** मे ब्राह्मणवर्ण इतर तीनो वर्णों का मूलप्रभव है ब्रह्मस्थानीय हैं । ब्रह्म एकाकी सृष्टि करने में असमथ

होता हुआ अपने तप से इतर वर्णों को उ पन्न करता है—[देखिए शत ब्रा १४ का । ४ अ । २ ब्रा । २३ क ।] । ब्रह्म सर्वादित व है अतएव वह सृष्टिम र्यादा से सम्ब ध रखने वाले प्रजासग से वहिर्भू त है । ब्रह्ममूलक ब्राह्मणवर्ण प्रजा का (ध मसूत्र मे) सञ्चालक है क्षत्रिय वश्य–शूद्रवर्ण प्रजावग है । इस सत्रसामा य प्रजावग के लिए ही वदभाषा में **नर** शव्द प्रयुक्त हुआ है । **ब्राह्मण नर (मनुष्य) नहीं है अपितु देवता (भूदेव) है** । सामा य प्रजावग से इस का पाथक्य बतलाने के लिए साथ ही इसे ब्रह्मा मक बतलाने के लिए पूव (१६] कण्डिका में— **जुष्टा बृह्मभ्य** कहा गया है । अत्र प्रस्तुत कण्डिका में ब्राह्मणातिरिक्त स पूण प्रजावग के लिए जुष्टा वाक के प्रयो ा का विधान हुआ है । प्र येक क म में सभी के शुभसक प अपेक्षित हैं । वही क म समृद्ध माना गया है जिस को देखने वाले न देखने वाले सभी एकस्वर से साधुवाद दिया करते हैं । ता पय्य लोकसग्रहदृष्टि से भी सभी की शुभ कामनाएँ अपेक्षित हैं । इस के लिए सभी के प्रति जुष्टावाक का प्रयोग होना चाहिए ।

अगला म त्रभाग है **यदद्य होतृवर्ये जिह्म चक्षु परापतत् अग्निष्टत् पुनराभ्रिया जातवेदा विचषणि** । होता यद्यपि यथाशक्ति प्राणदेवताओ का तत्सम ब्राह्मणो का एव प्रजावग का सभी का अनु ग्रह भी प्राप्त कर लेता है । मन्त्रप्रयोग भी यथाविधि ही करता है । इसप्रकार अपनी ज्ञातदशा में यह अपने हौत्रकम्म में कोई त्रुटि नही करता । तथापि ससार में समालोचकों की कमी नही है । सवश्र ष्ठ निर्दोष कर्म्मों की भी आलोचना करने वाले मिल ही जाते है । होसकता है लौकिक कर्म्मों का इस दृष्टिदोष से कुछ न बिगडता हो । परन्तु वैदिक कम्म अवश्य ही इस दृष्टिदोष से भी विकृत होसक्ते हैं । दृष्टिसूत्र के द्वारा वह कुत्सित–भावना यज्ञवातावरण में यदि प्रवश कर जाती है तो उसीप्रकार यज्ञस्वरूप विकृत हो जाता है जस कि आगन्तुक तृणादि से स्वच्छ भी घर मलिन होजाता है । होता का यह भी एक कत्त य होजाता है कि ऐसे दुष्ट समालोचकों की दुष्टदृष्टि से दोष से दोषयुक्त बने हुए यज्ञकम्म को निदु ष्ट बनाने के लिए अग्नि से प्राथना कर ले । हम नही जानते कि किस के दृष्टिदोष से कम्मस्वरूप विकृत हुआ । परन्तु सव कुछ जानने वाले अतएव **जातवेदा** नाम से प्रसिद्ध अ नि अवश्य ही उसे जानते हैं । व अवश्य ही हमारी भावना से प्र ित होकर उस दृष्टिदोष को हटा कर पुन यज्ञत्रुटि का स धान करने की क्षमता रखते है ॥ २ ॥

जातवेदा विचषणि यहाँतक स्वस्त्ययनजप करने के अनन्तर वह होता अ व यु तथा आग्नीध्र नामक ऋ विजो का स्पश करता है । **वस्तुत अध्वर्य्यु प्राण यापार का उद्गाता तथा होता दोनों वाग्यापार के एव ब्रह्मा मनो यापार के प्रवर्त्तक माने गए है** । परन्तु यहाँ स्थितिभाव को लक्ष्य बना कर श्रुति ने अ वर्य्यु को **मन** मान लिया है । मन उक्थरूप से हृदय में प्रतिष्ठित रहता है । **दूरङ्गमञ्जोतिषा ज्योतिरेक तन्मे मन शिवसक पमस्तु** यादि म त्र के द्वारा मन का जो विदूर गमन बतलाया गया है वस्तुत वह वाङ मय सस्कारों का ही गमन समझना चाहिए । कारण स्प ट है । मन पर बुद्धि प्रतिष्ठित रहती है । बुद्धिस्थ प्रज्ञा मक प्राण ही चित् का अनुग्राहक है । जबतक मन है तभीतक बुद्धि है । जबतक बुद्धि है तभीतक चित् है । जबतक चित् है तभीतक जीवनसत्ता है । फलत मन के विदूरगमन का सस्कारा मक परिभ्रमण पर ही विश्राम मानना पड़ता है । जिसप्रकार मन स्वस्थान में स्थित रहता है एवमेव अ वर्य्यु का यापार स्वस्थान (पृथिवी) से ही सम्ब ध रखता है । उधर होता का अनुवचनकम्म द्य लोकानुगत रहता है । **इसी सादृश्य से निदानेन अध्वर्य्यु को मन तथा होता को वाक मान लिया जाता है** । बिना मन के

वागव्यापार प्रतिष्ठाशून्य है। उसी मन प्रतिष्ठाप्राप्ति के लिए यह होता मन स्थानीय अध्व यु का स्पश करता है। मनोवाक का परस्पर आ थबन्धन ही इस स्पश का अन य फल है ॥ २१ ॥

स्पशकर्म्मान तर यह होता **षण्मार्वीरंहसस्पा तु–अग्निश्च पृथिवी च आपश्च वाजश्च अहश्च रात्रिश्च** इस मन्त्र का जप करता है। **अहोरात्रवाद** सिद्धा त के अनुसार अह स स ब ध रखने वाला **सौर आग्नेय त व** तथा रात्रि स स ब ध रखने वाला **चान्द्र सौम्य त व** ये दो ही सवसृष्टि के उपादान हैं। इन दो के तीन विवर्त्तों का ही यहा स्प टीकरण हुआ है। **अह का अग्नि से सम्बन्ध है रात्रि का पृथिवी से सम्बन्ध है। अह का वाज से सम्ब ध है रात्रि का आप से सम्ब ध है।** **अग्नि पृथिवी जल** तीनो प्रसिद्ध है। **वाज** प्रकृत में **प्राण** का वाचक है। **एष उ एव बिभ्रद्वाज** (ऐ आ २।२।१।) इस श्रुत के अनुसार **भूतशरीर को धारण करने वाला विधर्त्ता प्र ण ही वाज है**। अन्ना दान के द्वारा ही इस की शरीर म प्रति ठा रहती है। अतएव (वाजप्रवत्तक वेन) अन्न को भी वाज कह दिया जाता है। **यथाग्निगर्भा पृथिवी** सिद्धा तानुसार जहातक पृथिवी है वहातक अग्नि है। पार्थिव प्रजा के लिए सवत्र पृथिवी एव तदभिन्न अग्नि की याप्ति है। पानी का भी कही अभाव नही है **सर्वमापोमय जगत्**। वाजात्मक प्राण भी— **ने द्राहते पवत धाम किञ्चन** के अनुसार सव यापक है। अहोरात्र की सवव्याप्ति तो स्प ट ही है। इन ६ ओ की इसी सव याप्ति को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने इन्हें उर्वी कहा है। जिस के लिए ये ६ ओ पव अनुकूल रहते है वह कभी किसी भी प्रकार का कष्ट नही पासकता। होता इसी दवषटकानुग्रहप्राप्ति की कामना करता है ॥ २२ ॥

स्वस्त्ययनजपकर्म्म समाप्ति के अन तर होता अपने लिए नियत **होतृषदन** नामक अपने बैठने के स्थान की ओर लौट आता है। यहा आकर अपने दर्भासन से एक तृण निकाल कर फकता हुआ होता— **निरस्त परावसु** मन्त्र बालता है। जिस की उपपत्ति श्रुति ने यह बतलाई है कि **परावसु** नामक असुर असुरों का **होता** था। तृणनि कासन याज से उसी को इस देवयज्ञमण्डल से बाहिर फैंका जाता है। ऐतिहासिक त य की दृष्टि से बहुत सम्भव हो भौम देवताओ की भाति असुरों ने भी यज्ञ किया हो एव उनके किसी यज्ञ में **परावसु** नामक **असुरब्राह्मण** होता बना हो। पर तु तत्वदृ ष्ट्या वह तमोमयप्राण जोकि अपने स्वाभाविक आसुरभाव से वयज्ञ से सम्ब ध रखने वाले वसु (सम्पत्ति) को यज्ञमण्डल से पराग करने वाला है **परावसु** है। इसी के लिए **सहरक्षा** श द प्रयुक्त हुआ है जैसा कि– **सहरक्षा ह्यसुररक्षसा दूत आस** इ यादि रूप से पूव के **हिङ्कारब्राह्मण** में विस्तार से बतलाया जाचुका है। दिव्यप्राणाग्नि देवदवताओं के होता हैं। इन्ही के लिए **अग्निं दूत वृणीमहे होतार विश्ववेदसम्** इत्यादि कहा गया है। **अग्नि त मन्ये वसु** इ यादि के अनुसार वसु (स पत्त) के प्रवत्तक ये अग्नि ही **अर्वावसु** नामक देवदवताओं के होता है। दोनो ही प्राणा मक दूत अ तरिक्ष्य वायु में व्याप्त रहते है। फलत यज्ञमण्डल में दोनों का सम्बन्ध अनिवार्य है। दोनों में **परावसु** का सम्ब ध यज्ञविघातक है। म त्रशक्ति के द्वारा तृणनिदानेन उसे तो निकाल बाहिर कर दिया जाता है एव– **इदमहमर्वावसो सदने सीदामि** यह म त्र बोलता हुआ स्वयज्ञ में केवल **अर्वावसु** नामक दिव्याग्नि होता के सम्ब ध को दृढमूल बनाता है। २३ २४ कण्डिकाओं में इसी उपपत्ति का पष्टीकरण हुआ है ॥ २३ २४ ॥

सप्रकार होतृषदनस्थान मे बठने के अनन्तर होता बोलता है– **विश्वकर्म्मस्तनूपा असि मा मोदो पिष्ट मा मा हिंसिष्मेप वा लोक** । इस म त्र का उ चारण करता हुआ होता उत्तर की ओर थोडा सा चलता सा है । होतृषदनस्थान गाहप य तथा आहवनीय दोनो द्यावापृथि य अग्नियों के म यम में पडता है । दोनो अग्नि दि‍्यानि है विशेषत आहवनीय तो समि धन से आज समिद्ध बन कर आतशयरूप से ही शक्तिमान् बन गया है । अवश्य ही बिना इनकी अनुग्रहप्रा‍ित के त म यस्थ होता का अनिष्ट होमकता है । अतएव होता स्तुति के द्वारा इन का अनुग्रह प्रा‍त करता है ॥ २५ ॥

अन तर आहवनीयाग्नि की ओर देखता हुआ— **विश्वेदेवा शास्तन** इत्यादि म त्र बोलता है जिस का स्पष्टीकरण मूलानुवाद से ही गताथ है ॥ २६ ॥

इति–विवेचनाप्रकरणम

इति–होतृप्रवरब्राह्मण समाप्तम् ।
इति प्रथमकाण्डे–पञ्चमाध्याये प्रथम ब्राह्मण
चतुर्थप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मण
"प्रवरब्राह्मण" नामकमुपरतम्

———**———

श्री

इति-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—

प्रथमकाण्डे

पञ्चमाध्याये--प्रवरब्राह्मणम्



श्री

अथ--शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये

प्रथमकाण्डे

पचमाध्याये--"स्रुग्ब्राह्मणम्"

(वृष्टिविज्ञानात्मकम्)

---*---

॥ श्री ॥

अथ-प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये द्वितीय ब्राह्मण
चतुर्थप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मण
उपक्रान्तम्
"स्रुगब्राह्मणम्"

२२ - स्रुगादापन आश्रावण-प्रत्याश्रावणञ्च



१-स्रुगादापननिगद —

(मूल)-'अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम्' इति । अग्निरिद होता वेत्तु इत्यवैतदाह । अग्नेहोत्रमिति । तस्यो हि होत्रम् । 'वेत्तु प्रवित्रम्' इति । यज्ञो वै पावित्रम् । वेत्तु यज्ञमित्येवैतदाह । साधु ते यजमान ! देवता' इति । साधु ते यजमान देवता-यस्य ते अग्निर्होता इत्यवैतदाह । 'घृतवतीमध्वर्यो ! स्रुचमास्यस्व' इति । तदध्वर्युं प्रमौति । स यदेकामिवाह ॥ १ ॥

यजमान एव जुहूमनु, योऽस्मा अरातीयति-स उपभृतमनु । सयद् द्वे इव ब्रूयाद् यजमानाय द्विष त भ्रातृ य प्रत्युद्यामिन कुर्यात् । अत्त्वैव जुहूमनु आद्य उपभृतमनु । स यद् द्व इव ब्रूयाद-अत्र आद्य प्रत्युद्यामिन कुर्यात् । तस्मादेकामिवैवाह ॥ २ ॥

'देवयुव विश्ववाराम्' इति । उपस्तौ यत्रैनामेतद् महयत्यव यदाह, देवयुव विश्ववा रामिति । ईडामहै देवाँ ३ ॥ 'ईडेन्यान् नमस्यामनमस्यान यजाम यज्ञियान्' इति । ईडामहै तान् देवान्-य ईडे या, नमस्याम तान्-ये नमस्या , यजाम यज्ञियान्-इति । मनुष्या वा ईडे या , पितरा नमस्या देवा यज्ञिया ॥ ३ ॥

या वै प्रजा यज्ञ अन ाभक्ता –पराभूता व ता । एवमेतैतद् या इमा प्रजा अप राभूता –ता यज्ञ आभजति । मनुष्यान् अनु पशव, देवान् अनु वयास्याषधयो वनस्पतयो यदिद किञ्च–एवमु तत्सव यज्ञ आभक्तम् ॥ ४ ॥

ता वा एताऽनव याहृतयो भवन्ति । नवेमे पुरुषे प्राणा एतावास्मिन् एतद् दधाति । तस्मान्नव याहृतयो भवन्ति ॥ ५ ॥

२–आश्रावण–प्रत्याश्रावण–निगद —

यज्ञो ह दवेभ्योऽपचक्राम । त देवा अबम व्रय त 'आ न शृणु उप न आवर्तस्व' इति । स अस्तु तथा' इत्यव देवानुपावर्त । तेनोपावृत्त न देवा अयज त । तेनेष्टवा एतद् अभवन् यदिद देवा ॥ ६ ॥

स यदाश्रावयति यज्ञमेवैतदनुम व्रयते आ न शृणु, उप न आवतस्व इति । अथ यत्प्रत्याश्रावयति यज्ञ एवैतदुपावर्तते 'अस्तु तथा' इति । तेनोपावृत्तेन रेतसा भूतेन ऋत्विज सम्प्रदाय चरन्ति, यजमानेन परोन्नम् । यथा पूर्णपात्रण सम्प्रदाय चरेयु एवमनेन ऋत्विज सम्प्रदाय चरन्ति । तद्वाचैवेतत् सम्प्रदाय चरन्ति वाग हि यज्ञ, वाग उ हि रेत, तद्तेन तत् सम्प्रदाय चरन्ति ॥ ७ ॥

स अनुब्रूहि' इत्यनोक्त्वा अध्वर्युर्नाप याहरेत् नो एव होताप याहरेत । आश्रा वयति अध्वर्यु तदग्नीध यज्ञ उपावतते ॥ ८ ॥

सोऽग्नी नाप याहरेत् आ प्रत्याश्रावणात् । प्रत्याश्रावय यग्नीत् तत् पुनरध्वर्यु यज्ञ उपावर्तते ॥ ९ ॥

सोऽध्वर्युर्नाप याहरेत आ 'यज' इति वक्तो । यजत्यवाध्वर्युहोत्रे यज्ञ सम्प्रय छति ॥ १० ॥

स होता नाप याहरेत्–आ वषटकारात् । त वषटकारेणाग्नावेव योनौ रेतोभूत सिञ्चति । अग्निर्वै योनियज्ञस्य स तत प्रजायते–इति नु हवियज्ञे । अथ सौम्यऽध्वरे ॥ ११ ॥

स ग्रह गृहीत्वाध्वर्युर्नाप याहरेद आ उपाकरणाद् । उपाव ध्वम् इत्येवाध्वर्यु रुद्गातृभ्यो यज्ञ सम्प्रयच्छति ॥ १२ ॥

त उद्गातारो नाप याहरेयु आ उत्तमाया । एषोत्तमा इत्येवोद्गातारो होत्रे यज्ञ सम्प्रय छति ॥ १३ ॥

स होता नाप याहरेत् आ वषटकारात् । त वषटकारणाग्नावेव योना रेतोभूत सिञ्चति । अग्निर्वै योनियज्ञस्य स तत प्रजायते ॥१४॥

स यद् न सोऽा याहरेत् य यज्ञ उपावर्तते, यथा पूर्णपात्र परासिञ्चेद् एव ह स यजमान परासिञ्चेत् । स यत्र हैवमृत्विज सविदाना यज्ञन चरति सर्वमेव तत्र क्ल्पते, न मुह्यति । तस्मादवमेव यज्ञो भर्त य ॥ १५ ॥

ता वा एता पञ्च याहृतयो भवन्ति 'ओ श्रावय' 'अस्तु श्रौषड', 'यज', ये यजामहे 'वाषट' इति । पाड क्तो यज्ञ पाङ्क्त पशु पञ्चऽर्त्तव सवत्सरस्य । एषका यज्ञस्य मात्रा एषा सम्पत् ॥१६॥

तासा सप्तदशाक्षराणि । सप्तदशो वै प्रजापति । प्रजापतिर्यज्ञ । एषैका यज्ञस्य मात्रा एषा सम्पत् ॥१७॥

ओ श्रावय' इति वै देवा पुरोवात ससृजिर । 'अस्तु श्रौषट' इति अभ्राणि समप्लावयन् । 'यज इति विद्युतम् । ये यजामहे' इति स्तनयित्नुम । वषट्कारेणैव प्रावर्षन् ॥१८॥

स याद वृष्टिकाम स्यात् , यदीष्ट्या वा यजत,–दशपूर्णमासयावैव ब्रूयाद् 'वृष्टि-कामो वा अस्मि' इति । तत्रो अध्वयु ब्रयात् पुरावात च विद्युत च मनसा ध्याय इति । 'अभ्राणि मनसा ध्याय इति अग्नीधम । स्तनयित्नु च वर्ष च मनसा ध्याय इति होतारम् । 'सर्वाण्येतानि मनसा ध्याय' इति ब्रह्माणम् । वर्षति हैव तत्र–यत्रा ऋत्विज सविदाना यज्ञन चरति ॥१ ॥

'ओ श्रावय इति व देवा विराजमभ्याजुहुवु । अस्तु श्रौषड' इति वत्समुपावा-सृजन् । यज' इति उदनयन् । ये यजमाहे' इति उपासीदन् । वषटकारेणैव विराज-मधुहत । इय वै विराट, अस्यै वा एष दोह । एव ह वा अस्मै इय विराट सर्वान् कामान् दुहे–य एवमेत विराजो दोह वेद ॥२ ॥

इति–प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये द्वितीय ब्राह्मण
चतुथप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मण
उपरत–"स्रुग्ब्राह्मण" नामकम्

मूलानुवाद –
पॉचवे अध्याय मे दूसरा, एव चौथे प्रपाठक मे तीसरा ब्राह्मण
"स्रुगब्राह्मण"

१—स्रु गादापननिगद –

(पूव क प्रवरब्राह्मण मे अ वर्यु के द्वारा होने वाल यजमान दि य अग्नि एव मानुष होता क वरणकम्म की इतिकत्त व्यता बतलाई गई है। अब प्रकृत स गब्राह्मण मे स्रु गादापन-कम्म का स्पष्टीकरण किया जाता है। कहा गया है कि अध्वर्यु क द्वारा होतृत्त्वेन व्रत होता नामक ऋत्विक् अपने होत्रकम्म की निर्वि न-परिसमाप्ति क लिए स्वस्थान-होतृषदन म प्रतिष्ठित होकर—'एतत् त्वा देव सवितर्वृणते इत्यादि म त्रजप लक्षण स्वस्त्ययनजप कम्म करता है। इस कम्म क अन तर ही स्रु ग दापनकम्म विहित है जिसकी इतिकत्त यता क्रमप्रा त आरम्भ करती हुई श्रु ति कहती है)—

(स्वस्त्ययनम त्रजप क अन तर होता नामक ऋत्विक)— अग्निर्होता व ग्नेर्होत्रम्' (प्राणाग्निलक्षण दि य होता इस अनुष्ठय अपने होत्रकम्म को जाने) यह म त्र बोलता है। इस (अनुष्ठय कम्म) को दि याग्निरूप यह होता जान मन्त्रभाग से यही कहा है। 'अग्नि-होत्रम् इस म त्रभाग का यही ता पय्य है कि यह होत्रकम्म निश्चयेन अग्नि का ही है। (अन तर) 'वत्तु प्रावित्रम्' (वह दि याग्निरूप होता यज्ञ को जाने) यह म त्रभाग बोलता है प्रावित्र निश्चयेन—('प्रकर्षण अवति' इस यु पत्ति से) यह यज्ञ है। (इस म त्रभाग स) होता रक्षक यज्ञ को जाने यही कहा है। (अन तर) साधु ते यजमान ! दे ता' (हे यजमान ! जिस तुह्मारा होता दि य अग्नि है वह तुह्मारा देवता तुह्मारा लिए-कम्मसिद्धि क लिए साधु-योग्य है) यह म त्रोच्चारण करता है। मन्त्र से यही कहा गया है। (अन तर) घृतवतीमध्वर्यो ! स्रु चमास्यस्व' (हे अ वर्यु ! आप घृतपूर्णा स्रु च का ग्रहण कीजिए) यह म त्रोच्चारण करता है। (इस मन्त्र के द्वारा होता) अ वर्यु का (स्रु गादापनकम्म क लिए प्र रित करता है। सो जो कि होता (अध्वर्यु को जुहू उपभृत, इन दोनो मे से) केवल जु क लिए प्र रित करता है (उस की उपपत्ति बतलाते है) ॥१॥

यजमान ही जुहू को लक्ष्य बनाता है (एव) जो इस (यजमान क लिए) शत्रुता करता है वह (यजमान का शत्रु) उपभृत् को लक्ष्य बनाता है (अर्थात् जुहू निदानेन यजमान की तथा

उप त ्मक शत्रु की प्रतिकृति है) । (एसी स्थिति मे) यदि वह होता (अ ग्यु को) दो (जुहू उपभृ। दोना) स्रुचो क लिए प्रेरित करेगा तो यजमान क लिए द्वष करने वाले शत्रु को यजमान की प्रतिस्पर्द्धी म खडा कर देगा (अर्थात् द्वपी शत्रु का बलप्रदान करने वाला सिद्ध होगा अत एक ही जुहू क लिए प्र रित करना उचित है) ।

(अब इसी की एक दूसरी उपपत्ति और बतलाते है)—अत्ता (भोक्ता) ही जुहू को लक्ष्य बनाता है एव आद्य (भो य) उपभृत् का लक्ष्य बनाता है । (अर्थात् जुहू निदानेन अत्ता की तथा उपभृत् आद्य की प्रतिकृति है) [एसी स्थिति म] यदि वह होता दो स्रुचों क लिए प्रेरित करेगा तो अत्ता क लिए आद्य को प्रतिस्पर्द्धालु बनावेगा । [अर्थात् भोक्ता भा य की तुलना मे भा य को सबल बनावेगा । ऐसा न हो इसलि] एक ही रूप से [एक स्रुच के लि] म त्र बालता है ॥२॥

[अन तर] देवयुव विश्ववाराम्' [देवताओ क सहयोग की इच्छा रखने वाली तथा सम्पूर्ण देवताओ से वरणीय एसी जुहू क लिए म अ न यु को प्रेरित करता हू] यह म त्रो- च्चारण करता है । वह होता इस जुहू की प्रशसा ही करता है बढाता ही देता है जो कि— देवयुव विश्ववाराम् यह कहता है । [अन तर] इडामहै देवा ३॥ ईड यान् नमस्याम नम- स्यान् यजाम यज्ञियान् [स्तुति करन यो य मनुष्यो का मै स्तुति करता हू नमस्कार करन यो य पितरों को मै नमस्कार करता हू एव यजन मे भाग लेने वाले-आहुति ग्रहण करने वाले अतएव यज्ञिय कहलाने वाले देवताओ का मै यजन करता हू] यह म त्रो च्चारण करता है । मनुष्य निश्चयन स्तुति करन योग्य है पितर नमस्य है एव देवता यज्ञिय है ॥३॥

जो प्रजाएँ यज्ञ म भागरहित है [जिनका यज्ञ म भाग नही है] वे प्रजाएँ निश्चयेन पराजित हुई है । इसीप्रकार [ठीक इसक विपरीत] जो प्रजाए अपराजित है उन्हीं को यज्ञ मे समाविष्ट करता है [अर्थात् प्राकृतिक यज्ञ मे जिन प्रजाओने भाग नही लिया वे परास्त हुई एव जिन्होंने यज्ञ म भाग लिया व विजयिनी हुई । प्रकृत यज्ञ म उन विजयिनी प्रजाओ का ही समावेश किया जाता है] । मनुष्य को लक्षित कर पशुप्रजा देवताओं का लक्षित कर पक्षी ओष धिया वनस्पतिया तथा [जिन का सृष्टिकर्म म उपयोग है वह] वह सबकुछ यज्ञ मे समाविष्ट है ॥ [४] ॥

इसप्रकार [पूर्व-कथनानुसार स्रु गादापनकर्म्म से सम्ब घ रखने वाले स्रु गादापननिगद] मन्त्र की ६ याज्ञतया [वाक्य] हा जाती है *। पुरुष [आ यात्मिकयज्ञ] मे नो [मात शीपण्य गो अवाङ्प्राण सम्भूय ६] प्राण है। [नव यान्त्यात्मक इस स्रु गादापनमन्त्र से] वह होता अपने इस वध आधभातिक यज्ञ मे इन्ही ६ प्राणा को स्थापित करता है। इसी [नवप्राणाधानस पत्ति क लिए] स्रु गादानमन्त्र की ६ याह्नतया होती है ॥ [५] ॥

स्रु गादापननिगदसमाप्त

—१—

२—आश्रावण प्रत्याश्रावणनिगद—

'अग्निर्होता वे वग्नेर्होत्रम् ' इत्यादि नवयान्त्यात्मक होत्रकर्तृक स्रु गादापन कर्म्म के अन तर अध्वर्यु होता उदगाता ब्रह्मा इन चारा ऋत्विजों क सहयोग से आश्रावण-प्रत्याश्रावण कर्म्मेतिकर्त्त यता सम्पन्न हाती है। एक दूसर ऋत्विक् का एक दूसर ऋत्विक् के प्रति यज्ञस्वरूप की महिमा का वणन बखान ही आश्रावण प्र याश्रवण कर्म कहलाया है। यह कर्म्म किया क्यों जाता है ? इस प्रश्न क उत्तर मे प्रथम एक वैज्ञानिक आख्यान उद्धृत होरहा है जिस-का तात्त्विक विश्लेषण विवेचना प्रकरण मे हागा। मौलिक उपपत्ति से सम्ब ध रखने वाले उसी वैज्ञानिक आख्यान का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है]—[किसी युग मे] यज्ञ देवताओ को छाडकर चला गया। [लोका तर मे पलायित उस] यज्ञ को देवताओंन बड़ अनुनय विनय के साथ बुलाना आरम्भ किया कि [हे यज्ञदेव !] तुम हमारी सुनो [मानो] हमारी ओर लौट आओ। [देवदेवताओं की अनुनय विनय युक्त वाणी से प्रभावित होकर लोका तर मे गया हुआ] वह यज्ञ वैसा ही हो [यह स्वीकृति-वचन] कहता हुआ देवा की ओर लौट आया। समीप लौटे हुए उस यज्ञ से देवोंन अपना यागकर्म्म स पन्न किया [यज्ञेतिकर्त्त यता पूरी की]। इस यज्ञ से यजन कर

---

* १—' अग्निर्होता'' । ६— दवयुव विश्ववाराम्' ।
२— वेत्वग्नेर्होत्रम । ७— ईडामहै देवाँ ३॥ ईडे यान्' ।
३—''वेत्तु प्रावित्रम'' । ८— 'नमस्याम नमस्यान्'' ।
४—''साधु ते यजान ! देवता ' । ९—''यजाम यज्ञियान्'' ।
५—''घृतवतीमध्वर्यो ! स्रु चमास्यस्य ।

इति-स्रु गादापननिगद याहृतय [९]

क [न्यिदेवता] व बन गग जो कि [आज उन का] यह देवस्वरूप [त्रलोक्या मक सम्वत्सरमण्डल म प्रतिष्ठित] है। [अर्थात् देवदेवताआन अनुनय विनय क द्वारा वापस लाटे हुए यज्ञकम्म स ही अपना देवत्त्व सुरक्षित रक्खा यज्ञ ही देवा का देवत्त्व बना ॥[६]॥

सो जो कि अ व यु [नामक ऋत्विक् 'ओश्रावय' इ यादि रूप से] आश्रावण कम्म करता है [अपने इस आश्रावणक म से प्राकृतिक देवदेवताओं की भाति] यज्ञ को ही अनुनय विनय स बुलाता है कि आप हमारी सुनो हमारी ओर लाट आओ। [ता प य अ वय्यु कृत आश्रावण-कम्म लोका तर मे गत यागस्वरूप सम्पादक यज्ञ को स्व वधयज्ञ म वापस बुलाने क लिए ही विहित है]। [अ वय्यु कृत आश्रावण क अन तर आ नीध्र नामक ऋत्विक- 'अस्तु श्रौषट' इ या कारक जो प्र याश्रावणकम्म करता है उस प्र याश्रावणक म से वह पलायित यज्ञ जैसा ही हो इस स्वीकृति क साथ लौट आता है। [ता प-य आ नीध्रकृत प्र याश्रावणकम्म यज्ञ के स्वीकृात पूवक वापस लौट आने क स्थान म ही विहित है]। [सप्रकार अ वयु कृत आश्रावण एव आ नी-ध्रकृत प्र या ावण से समीप आए हुए यज्ञ क बल से यजमान का [इस यन वरूपसम्पादानकम्म म] परोक्ष रखते हुए ऋत्विक् लोग सम्प्रदाय का अनुगमन करते है—[परस्पर एक दूसरे क प्रति योग्य इतिकर्त्त यता का विभाजन करते हुए यज्ञतिकत्त यता पूण करते है]। [ता पय्य आश्रावण प्र याश्रावणरूप वाङ्मय निगदकम्म से यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न हाता है। इस मे चारा ऋात्त्वजों का क्रमश सहयोग रहता है। कवल यजमान इस निगदकम्म मे भाग नहीं लेता] जिसप्रकार [लाक मे किसी बृहत्पात्र को पूण करने क लिए समवेत अनक] यक्ति अपने आग आग की याक्तया को जलपूण घट पात्र सौंपते हुए बृहत्पात्र पूण कर देते है त वैव इस पारस्परिक प्रदान कम्म से इस यज्ञ के द्वा । वे ऋत्विक् सम्प्रदाय का अनुगमन करते है। (यहाँ पारस्परिक सम्प्र-दान किसी भातिक द्र य का नही होता अपितु कवल वाक्प्रयोग लक्षण निगदम त्र-प्रयोग से ही सम्प्रदायानुगमन होता है। इसी अभिप्राय को अ यक्त करती हुई श्रुति कहती है कि) इस वाक् (वाङमय निगदम त्रप्रयोग) क द्वारा ही सम्प्रदान पूवक ऋत्विक् लोग अनुष्ठान करते है। वाक् ही यज्ञ है आर वाक ही निश्चयन यज्ञका रेत है। अत वाक् के द्वारा ही स प्रदानपूवक यज्ञानुष्ठान करते है॥ (७)॥

(आश्रावण प्र याश्रावण कम्म के पारिस्परिक सम्प्र ान से सभी ऋत्विजा का यवस्थितरूप स शा त अनुद्विग्न वृत्ति मे रहना आवश्यक है। इस निगदकम्म मे उतना ही कुछ वालना है जितने का निगदकम्म से सम्बध है। प्रस्तुतानुपयोगिनी लौकिकवार्त्ता अत्र सवथा निषिद्ध है। इसी विशेषादेश का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुात कहती है कि) वह अ वर्यु (अपने मुख स होता

नामक ऋत्विक से प्रति अनुवाक्या क लिए प्रैष करता हुआ) क्वल 'अनुब्रु हि' [अनुवचन करो] इतना भर कह कर अप्रासङ्गिक आर कुछ न बोले । नाही होता ही ओर कुछ अप्रासङ्गिक उच्चारण करे । [क्याक अ वर्य्यु कृत प्र ष से अनुवचन द्वारा होता मे भी वागरूप यज्ञ का समावेश होजाता है] । [अन तर] अ वयु [आ नीध्र को लक्ष्य बनाकर 'ओश्रावय' इ यादिरू से] आश्रावण करता है । इस आश्रावण स यज्ञ आ नीध्र क समीप लौट आता है [आग्नीध्र यज्ञस तान से युक्त हा- जाता है] ॥[८]॥

क्याकि अ वर्य्यु कृत आश्र वण से आग्नीध्र म यज्ञसम्पत् का समावेश होग्या है अतएव जबतक आग्नीध्र [अस्तु श्रौषट इ यादिरूप से] प्रत्याश्रावण न करले तबतक यह निष्प्रयोजन कुछ न बाले । [अ वर्य्यु कृत आश्रावण क अन तर ही अ य निष्प्रयोजन वाक का सयम करता हुआ] आग्नीध्र [अस्तु श्रौषट रूप स अ व यु क प्रति] प्र याश्रावण करता है । [आ नीध्रकृत] इस प्र याश्रावणकम्म अ व्यु कृत आश्रावणकम्म का ही समाधान है ॥ [९] ॥

[आग्नीध्रकृत प्र याश्रावण से यज्ञस पत् से युक्त हुआ] वह अ व यु जबतक [होता क प्रति] 'यज' [यजन करा] इस निगद का प्र ष न करले तबतक अ य कुछ निष्प्रयोजन न बोले । अपने 'यज' इस प्रैष से ही अ व यु होता क लिए यज्ञसम्पत् समपित कर देता है [फलस्वरूप यहा आकर हाता भी यज्ञ स पत् से युक्त होजाता है] ॥[१]॥

[अ वयु कृत 'यज' निगद क द्वारा यज्ञसम्पत् से युक्त होता हुआ] वह होता जबतक 'वौषट' निगद का उच्चारण न करले तबतक अ य कुछ अप्रस्तुत न बोले । [होता के मुख से वौषट सुनने के साथ ही] वषट्कार क द्वारा आहवनीयाग्नि नलक्षणा योनि मे उस [नियत यज्ञिय] हवि द्रव्यरूप रेत की आहुति दे देता है । अग्नि निश्चयेन यज्ञ की योनि है । इसी मे [रेतोभूत हवि प्रदान से] यज्ञ [दैवा मलक्षण स्वगप्रापक यज्ञातिशय] उ पन्न होता है । हवियज्ञ के सम्ब व मे वाक्सयम की [ऋत्विजानुगना] यही [उक्त] यवस्था है । अब [प्रसङ्गोपात्त] सोमयाग मे [होने वाली वाकसयम यवस्था क स ब ध मे भी कह देते है] ॥[११]॥

(सोमयाग में) वह अध्वर्यु (सोमरस से परिपूर्ण काष्ठमय) ग्रह (सोमपात्र) का ग्रहण कर जबतक उद्गातालोग स्तोत्रपावलक्षण उपाकरणकम्म न करल तबतक अप्रस्तुत कुछ न बोल । (ग्रहपात्र ग्रहणानन्तर उद्गाताओं के प्रति अध्वर्यु 'उपावर्त्तध्वम्' (समीप लौट आइए) इस वा क्याच्चारणमात्र से यज्ञसम्पत् उद्गाताओं क लिए समपित कर देता है । [फलस्वरूप उद्गातालोग यज्ञसम्पत् से युक्त होजाते है) ॥ [१] ॥

(अ न युक्त उपाग धिम' निग- से यज्ञसम्पत् स युक्त होजानेवाले) य उद्गाता लोग जबतक (अपनी स्तोत्रियाओ मे से) अ-तिम स्तोत्रया का उद्गान न करल तबतक अप्रस्तुत कुछ न बोल । (स्तोत्रिया की समा यन तर उदगातालोग अ-त मे होता को लक्ष्य बनाकर **'एषोत्तमा** यह अ-तिम स्तोत्रिया है— स निगद का उच्चारण करते है । श्रुति कहती है कि) उद्गातालोग) **एषोत्तमा** -स उच्चारण से ही होता क लिए यज्ञसम्पत् समर्पित कर देते है—(फलस्वरूप होता भी यज्ञसम्त् से युक्त होजाता है) ॥ (१३) ॥

(उदगातृकत्‌ क स्तोत्रियोद्गानकम्म की अ-तिम स्तोत्रिया से सम्ब-ध रखने वाले **एषोत्तमा'** -स निगद से यज्ञसपत् से युक्त होजाने वाला) वह होता जबतक यह **वाषट्** रूप से वषट्कार न करले तबतक अप्रस्तुत कुछ न बाले । (होतृकत्‌ क वषट्कारान तर वषट्कार के साथ ही) अ वय्यु वपट्कार क द्वारा आहवनीयाग्निलक्षण योनि मे उस (नियत ग्रह नामक सोमरूप) रेत की आहुति दे देता है । अग्नि निश्चयेन यज्ञ की योनि है । इसी म (रेतोभूता सोमाहुति से) यज्ञ (यज्ञातिशय जिस क आकषण से यजमान मानुषा मक एहलौकिक आयुर्भोगानन्तर त्रिणाचि कतस्वग मे प्रतिष्ठित होगा) उ पन्न होता है । (सोमयाग क सम्ब ध मे वाक्सयमकम्म की यहा प्रासङ्गिकी मीमासा है) ॥(१४)॥

(आश्रावण प्र-याश्रावण निगदकम्म मे यदि ऋत्विक् लाग अप्रस्तुतवाक् का उच्चारण करद तो क्या अनिष्ट हो ? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) यदि वह ऋत्विक अप्रस्तुतवाक् का उच्चारण कर देगा तो (वह परम्परया) जिस यज्ञसम्पत् को प्राप्त करता है (अप्र- स्तुत वागुच्चारण से उस यज्ञसन्तान का वि-छेदक बनता हुआ वह होता) उसीप्रकार यजमान को यज्ञसम्पत् से प्रथक् कर देगा जैसे कि (स्वल्पपात्रों से बृहत्तपात्र को परिपूण करने वाले यक्ति असावधानी से) उस पूणपात्र को रिक्त कर देते है (रख देते है) । (ता-पय्य लौकिक कम्म जैसे अ यवृत्ति से अपूण रह जाता है एवमेव अप्रस्तुत वागुच्चारण से यज्ञकर्म्म स्वसन्तानधारा खोता हुआ अपूण रह जायगा एव यही अप्रस्तुत वागुच्चारण से महान् अनिष्ट होगा) । (ठीक इसके विप- रीत) जिस यजमान के यज्ञ क [आश्रावण-प-याश्रावण निगदम्म मे] ऋत्विक लोग [अप्रस्तुतवाक् का सयम करते हुए] परस्पर एक दूसरे के प्रति यज्ञसम्पत् समर्पित करते हुए निगदकम्म का अनु गमन करते है उस कम्म मे सभी कुछ [यज्ञसम्पत्तिया] सम्पन्न होजातीं है इस सावधानी से कोई भी ऋत्विक् अपने लक्ष्य से च्युत नही होता । इसलिए [ऋत्विजों को चाहिए कि] वे इसप्रकार [विहित नियमानुसार] ही [यज्ञतिकर्त्तव्यता पूरी करते हुए] यज्ञ को पुष्ट [परिपूण] कर ॥ [१५] ॥

[प्रस्तुत निगद कर्म मे पॉच याहृतियॉ होतीं है। इस पञ्चसख्या की मालिक उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है]—[इस आश्रावण-प्र याश्रावण कर्म म] निश्चयन य [निम्न लिखित] पाच याहृतियॉ होतीं है—'ओ श्रावय — अ तु श्रौषट— यज — ये यजामहे'– 'वौषट ।

[प्राकृतिक सम्व सरयज्ञ सम्व सरयज्ञाधारेण वितायमान प्राकृतिक पार्थिव यज्ञ य दोनों] यज्ञ पञ्चावयव हैं [यज्ञ से उ पन्न] पशु [भी] पञ्चावयव है [प्राकृतिक] सम्व सर [यज्ञ] की [भी] पॉच [ही] ऋतुएॅ है। यही [पञ्चावयवयता ही] इस यज्ञ की एक सीमित [प्राकृतिक] सम्पत ह। [इसी प्राकृतिक सम्पत् सग्रह क लिए यहा पाच याहृतिया विहित है] ॥[१६]॥

उन पाचा याहृतियों क अक्षर १ होते है। इस सप्तदश सख्या की पपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है कि उन पाच याहृतियों के (ओ श्रा व य अ स्तु श्रो षट य ज ये य जा म हे वौ षट्–इस क्रम से) सत्रह अक्षर है। प्रजापति निश्चयन सत्रह [सख्या से समतुलित सप्तदशा वयव] है। प्रजापति [ही] यज्ञ है। यह [भी] इस यज्ञ की एक [प्राकृतिक] सीमा है यह [भी स यज्ञ की] सम्पत् है। [इसप्रकार पञ्च याहृतियो के सप्तदश अक्षरो से सप्तदश लक्षणा प्राजाप य सम्पत् भी प्राप्त होजाती ०] ॥ [१] ॥

(उक्त पाच प्राकृतिक याहृतियों म प्राकृतिक साम्व सरिक प्राणदेवताओं क द्वारा वृष्टिकर्म भी सञ्चालित है। फलत इस वैध मानुष यज्ञ मे भी यदि यजमान वृष्टिकामना रखता है तो उस की एक विशेष पद्धति के अनुगमन से यह कामना भी पूरी होसक्ती है। सी प्राकृतिक विशेप–पद्धात का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)–(प्राणलक्षण) देवदेवताओंने 'ओश्रावय' इस याहृति शे (वृष्टिप्रवर्त्तक) 'पुरोवात (पुरवाई हवा–मा सून)' पन्न की। अस्तु श्रोषट से (आकाश) बद्लों से व्याप्त कर दिया। 'यज इस याहृति से बिजली उत्पन्न की। ये यजामहे इस याहृति से 'कडक' उ पन्न की। एव–'वौष स याहृति से पानी बरसा दिया। (इसप्रकार पाच याहृतियों क सम वय से वृष्टिकर्म पूरा कर दिया एत्र करते रहते है ॥ [१८] ।

यह यजमान यदि वृष्टि की कामना रखता हो वही यजमान फला तरसाधनभूता सौरी आदि इष्टि से यजन करने वाला हो तो उसे [इष्टिप्रकृतिभता इस] दर्शपूर्णमासेष्टि से ही [ऋत्विजों से] यह कह देना चाहिए कि मैं वृष्टि की इच्छा रखता हू। इस वृष्टिकर्म मे उस यजमान को अध्वर्यु से तो यह कहना चाहिए कि तुम अपने मानस सकल्प से पुरोवात और विद्युत् का यान करो। आग्नीध्र नामक ऋत्विक् से यह कहना चाहिए कि तुम मन

से बद्दलों का यान करो। होता नामक ऋत्विक् से यह कहना चाहिए कि तुम स्तनयित्नु और पानी का यान करो। ब्रह्मा नामक [त्रैविद्य] ऋत्विक् से यह कहना चाहिए कि आप पुरोवातादि सब का मन से ध्यान कीजिए। अवश्य ही [यजमान के] उस यज्ञ मे पानी बरसता है जिस यज्ञ मे (उक्त) ऋत्विक् अपने (उक्त सकल्पा के समन्वय से–पञ्च याहृतिलक्षण–यज्ञ मे) एकम य होकर अनुष्ठान करते है ॥ [१६] ॥

अपने प्राकृतिक पार्थिव यज्ञ मे प्राणदेवता पञ्च या यात्मक इसी प्रत्याश्रावण कम्म से अपनी सम्पूर्ण यज्ञकामनाए विराडगारूपा इसी पृथिवी से दोहा करता है। इसी एक ओर प्रासङ्गिक फल का विश्लेषण करती हुइ श्रुति कहती है कि) 'ओश्रावय इस याहृति से देव–देवताओने विराट (गारूपधरः पृथिवी) का आह्वान किया। 'अस्तु श्रौषट् इस याहृति से [स्तनपानाथ] व स को पाश से मुक्त किया। यज' इस याहृति से व स को प्रथक् किया। ये यजामहे' इस याहृति से [दोहनाथ ऊध–थन] क समीप बठ गए। एव– ौषट् इस वषट्कारात्मिका याहृति से ही उस विराट का दोहन कर लिया। यह पृथिवी ही निश्चयेन विराट है। इसी का यह [उक्त लक्षण] दोह है। [जिसप्रकार प्राकृतिक प्राणदेवता इस विराट्–रूपधरा गोरूपधरा–पृथिवी के दोहन से अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ पूरी किया करते है] उसीप्रकार यह विराड्गौ इस यजमान क लिए वे सम्पूर्ण कामनाए प्रदान कर देतीं है जो विराट्गौ के उक्तलक्षण प्राकृतिक दोह का रहस्य जानता है ॥ [२] ॥

आश्रावण-प्रत्याश्रावण-निगद-समाप्त

—२—

पाँचवे अ याय मे दूसरा, तथा चौथे प्रपाठक मे तीसरा "स गब्राह्मण" समाप्त

मूलानुवाद-समाप्त

—*—

सूत्रानुगतपद्धतिसगृह —

१, २ — स्रु गापादन, तथा आश्रावणकर्म्म

वरणकर्म्म की समाप्ति क अन तर होता नामक ऋत्विक अध्वर्यु और अग्नीध्र क असदेश म स्पश करता है। इस होतकर्तृक सम्मशन [स्पश] कर्म्मान तर अ व यु और आ नीध्र दोना यथास्थान बैठ जाते है जसा कि— सम्मृष्टा उपविशत' (का श्रौ सू ३।२।१५) इत्यादि सूत्र व्याख्यान म स्पष्ट कर दिया गया है। सूत्रानुगता स पद्धति क अन तर क्रमप्रा त 'स्रु गादापनकर्म्म की इतिकर्त्त यता आरम्भ होती है। अ यत्र जहा तूष्णी बिना म त्रप्रयोग क स्रु गादापनकर्म्म होता है वहा प्रकृत ऋषि मे म त्रोच्चारणपूवक ही स्रु गादापन विहित है। वरणकर्म्म से वृत होता 'अग्निर्होता वेत्वग्नर्होत्रम्' इ यादि म त्रलक्षण स्रु गादापननिगद का पाठ करता है। इधर होता मन्त्रपाठ आरम्भ करता है उधर अ व यु जुहू उपभृत् नामक स्रुक् का ग्रहण करता है। यही समन्त्रक स्रु गादापनकर्म्म है। होतृकर्तृक निगदम त्र क— अग्निर्होता वे वग्नेर्होत्र वेत्तु पावित्र साधु देवता—योऽग्नि होतारमवृथा घृतवतामध्वर्यो स्रु चमा स्यस्व देवयुव विश्वावारामीडामहै देवाँ ३॥ ईड यान्नमस्याम नमस्यान् यजाम यज्ञियान् इस स्वरूप के उच्चारण मे भी थोडी विशेषता है। आरम्भ स यजमानदेवता पर्य त तो होता उपाशु म दस्वरपूवक उच्चारण करता है। योऽग्नि से आरम्भ कर यजाम यज्ञियान् पर्य त उच्चस्वर से उच्चारण करता है। जिस समय होता के मुख से घत ातीमध्वर्यो ! स्रु चमास्यस्व' उच्चरित होता है उसी समय [एत म त्रभागोच्चारणकाल मे ही] अध्वर्यु स्रुक् का ग्रहण करता है होतृकर्तृक निगदपाठकाल मे अ व यु क द्वारा स्रुक् -ग्रहण ही स्रु गादापनकर्म्म है यही निष्कष है।

भगवान् कात्यायन कहते है कि स्रु गादापनकर्म्म प्रयाजकर्म्म के समीप ही विहित है। अतएव मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही स्रु गादापनकर्म्म करना चाहिए। होता क द्वारा प्रयुक्त निगदम त्र के घत ातीम' भाग क उच्चरित होने पर अध्वर्यु जुहू उपभृत् नामक स्रु चा का ग्रहण कर हवि यों से पूव परिधियों मे पश्चिमभाग से वामपाद से वेदि क दक्षिण पाश्व मे जोकि—'यजति ादेश माना गया है जाकर ईशानाभिमुख खडा होजाता है। यहा खडा होकर वह ओ श्रावय यह याहृति [अग्नीध्र क प्रति] बोलता है। प्र युत्तर में आग्नीध्र अस्तु श्रौषट इस याहृति का प्रयोग करता है। अन तर पुन अध्वर्यु होता को लक्ष्य बना कर समिधो यज इस याहृति का उच्चारण करता है। प्र युत्तर मे होता – य यजामहे इस याहृति का उ चारण करता है। सर्वा त में अ व यु जु को प्राडमुख बनाता हुआ ाौषट इस वषट्कारा मका याहृति के

उ-चारण क सा थ सा थ जुहूस्थित आ य मे ततीयाश की आहुति दे देता है। स्रु गादापन तथा आ ावण प्र या श्रवण कर्म्म की सो इतिकत्त यता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते है

(१)—अग्निर्होतेति स्रुगादापन प्रयाजपु सन्निधे । (का श्रौ सु ६।२।१३।)

(२)—घतवतीमित्युक्त स्रुचावादाय अतिक्रम्य आश्रा य आह— समिधो यजेति । (का श्रौ० सू ३।२।१७।)

इति-सूत्रानुगतपद्धतिमगूह

— —*— —

वैज्ञानिक विवेचना—

१—स्रुगादापनकर्म्मोपपत्ति

(भाष्य) अ नयु कृत व ाक म से वृत होता स्वर यणजप कर्म्मानन्तर **अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम** इ यादि ब्राह्मणपठित स्रुगादापननिगद का पाठ क ता है। वरणक म से वृत यह मनु यहोता अपने स्वाभाविक औ पत्तिक सहजसिद्ध अनृतभाव स प्रज्ञापराध का सहज पात्र है । असावधानी कर बैठना मनु य वन इसका स्वभाव है। यज्ञक म सा प्राकृतिक क म है जिसम होजानेवाली थोडी भी असावधानी यज्ञस्वरूप को निवृत्त कर दती है फलस्वरूप इष्टजनक भी यह यज्ञ अनिष्टजनक बन सक्ता है इस अनिष्टजनकताप्रवत्त क मानुपदोष के नि करण के लिए यह मनु य होता अपन होत्रक म का उत्तरदायि व म त्रशक्ति के द्वारा प्राकृतिक प्राणा मक दि यग्निलक्षण दि यहोता को समर्पित करता हुआ उसे ही लक्ष्य बनाता हुआ कहता है कि—
मैं इस यज्ञ का होता नही हू । होता तो दि याग्नि हैं। जो वास्तविक होता है वे ही अपने इस होत्रकर्म्म की इतिकत्त यता का यान रक्खे। मुझसे जो असावधानी होगी वह उन्हीं की असावधानी मानी जायगी ।

लौकिक कर्म्म हो अथवा वादक (शास्त्रीय) कर्म दोनो के लिए प्र रणाबल हमें प्राकृतिक प्राण-देवताओं से ही मिलता है । होता है सबकुछ प्राणदेवताओ की प्र रणा से ही हम करते सब कुछ है—प्राकृतिक बल—प्र रणा से ही । पर तु योगमाया के ब धन से अह ताभिमान हमें होता रहता है। हम यह मान बैठते हैं कि हम ही सबकुछ कर रहे हैं जबकि त वत— **तृणस्य कुब्जीकरणेऽप्यशक्ता** सिद्धा तानुसार उन प्राकृतिक शक्तियो के आगे हमारी स्वतन्त्र सत्ता का कुछ भी तो मूल्य नही है। **केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथानियुक्तोऽस्मि तथा करोमि** के अनुसार हृदयावच्छिन्न दिव्यप्राणशक्तिघन अ त र्यामी की प्र रणा से ही हमारा सम्पूर्ण क मकलाप सञ्चालित है । जो यक्ति अपने कर्म्मों में हृदय थ दवप्राणमूर्त्ति इस अ त र्यामी को साक्षी बनाए रहता है निश्चयेन इस आध्यात्मिक भावनामात्र से उसका कर्म्म मानुषभाव से पृथक रहता हुआ सफल होजाता है। यही भारतीय भक्तिकाण्ड का सुप्रसिद्ध **आ मसमप ण** लक्षण **भक्तियोग** है जिसके अनुगामी भक्त सदा निद्व द्व ही बने रहते हैं ।

ठीक इसके विपरीत अन्तर्यामी की दूसरे शब्दों में दिव्यप्राणशक्तियों की उपेक्षा कर जो मनुष्य अपने बल का अभिमान करते हुए कर्मों में प्रवृत्त होते हैं अवश्यमेव उनसे प्रज्ञापराध होपडता है। फलस्वरूप उनका कर्म अपूर्ण रहता हुआ अनिष्टजनक ही बन जाता है। सम्भव है लौकिक कर्मों में मनुष्य अपनी शक्ति के भरोसे पर भी यथाकथञ्चित् सफलता प्राप्त करले। परन्तु उन वैदिक-कर्मों की सफलता तो जिनका विधान एकमात्र प्राकृतिक फलों को लक्ष्य लेकर ही हुआ है-उन प्राकृतिक प्राणदेवताओं के प्रति आत्मसमर्पण से ही सम्भव है। लौकिक कर्मों में जहां बाह्य इन्द्रियवर्ग काम देदता है वहां अलौकिक वैदिक परोक्ष कर्मों मे हमारी बाह्यदृष्टि अवरुद्ध है। अतएव इनके सम्बन्ध में हमारा शक्त्यभिमान सर्वथा निरर्थक ही सिद्ध होजाता है। अतएव आवश्यक है कि हम अपने यज्ञात्मक वैदिक कर्म्मों का भार प्राकृतिक प्राणदेवताओं पर ही डालें। अवश्य ही इस आत्मसमर्पण से हमारा दिव्य कर्म बिना किसी विघ्न-बाधा के साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न होजायगा। एकमात्र इस भावना को व्यक्त करने के लिए ही भावना के द्वारा स्वाभिमान-निराकरण पूर्वक देवानुग्रह की प्राप्ति के लिये ही होता कहता है कि- **होता अग्नि ही अपने हौत्रकर्म्म को जाने।** इसी भावना का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है- **अग्निरिद् होता वेत्तु इत्येतदाह।**

मन्त्र का अगला भाग है— **वेत्तु प्रावित्रम्।** अनुष्ठेय हौत्रकर्म्म की सफलता से ही यज्ञस्वरूपसिद्धि सम्भव है। अतः प्रथम अनुष्ठेयकर्म्म की सफलता अभीष्ट है। इसीके लिए **अग्निर्होता वेत्वग्नेर्होत्रम्** यह कहा गया है। अनुष्ठेय हौत्रकर्मानन्तर दूसरा लक्ष्य यज्ञ है। इसके लिए भी उसी प्राणाग्निदेव को साक्षी बनाना आवश्यक है। अवश्य ही यज्ञ जैसे पवित्र कर्म्म का उत्तरदायित्व भी अग्नि अवश्य ही ग्रहण कर लेंगे। निन्द्य-पातकजनक असत्कर्म जहां दिव्यप्राण मर्यादा से बहिष्कृत है वहाँ **पुण्यातिशयजनक श्रेष्ठ सत्कर्म्म [यज्ञ तपो दानादि शास्त्रीयकर्म्म एवं इष्ट आपूर्त्त दत्तादि लौकिक कर्म्म]** दिव्यप्राणमर्य्यादा के अन्तर्भूत माने गये हैं। पवित्रतम प्राणदेवता सजातीय पवित्रतम कर्मों के ही साक्षी बना करते हैं। आसुर अपवित्र कर्मों के लिए जहां असुर-मलिन प्राणों से प्रेरणाबल मिलता है वहां दिव्य-पवित्र-कर्म्मों के लिए दिव्य-पवित्र-प्राणों से प्रेरणा उपलब्ध होती है। उस यज्ञ से अन्य और कौन-सा कर्म्म अतिशयरूपेण दिव्य एवं पवित्र कर्म्म होगा जिसके आधार पर प्रजापति का पवित्रतम सृष्टिकर्म्म प्रतिष्ठित है प्रजापति की प्रजा का जीवन सुरक्षित है। इष्टकामधुक् यज्ञ अपने प्रधान दो अवयवों से अन्य पवित्र कर्म्मों की तुलना में विशेषरूप से पवित्र बना हुआ है।

अग्नि और सोम दोनों तत्त्वों के रासायनिक सम्मिश्रण से उत्पन्न उभयात्मक अपूर्वभाव ही **यज्ञ** हैं। अग्नि की पवित्रता लोक में भी प्रत्यक्ष है। दूषित मलिन-अशुचि-भावों को नष्ट कर देना अग्नि का मुख्य काम है। इसी आधार पर तो पात्रादि की अशुचि अग्नितापसे लोक में दूर की जाती है। जबतक शरीर में अग्निदेवता **परमया जूया बज्वलीति** (प्रज्वलित रहते हैं) तभीतक अध्यात्मसंस्था (आत्मयुक्त शरीर) पवित्र रहता है। अग्निदेव के उत्क्रान्त होते ही आसुर जलीय वारुणप्राण का प्रभुत्व होजाता है फलस्वरूप शवशरीर सर्वथा अशुचि पूतिगन्ध से ही युक्त होजाता है। अग्नि का यह पावकधर्म्म दाह्यसोमाहुति पर ही निर्भर है। जबतक दाह्यसोम दाहक अग्नि में आहुत होता रहता है तभीतक अन्नादाग्नि-प्रज्वलित रहता है। अतएव पवित्रधर्म का मूलप्रवर्त्तक पारमेष्ठ्य **अम्भ** नामक सोमतत्त्व ही माना गया है जिसका कि **पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते** इत्यादि ऋङ्मन्त्र से विश्लेषण हुआ है।

पवित्र अग्नि एव अग्निस्वरूपरक्षक पवित्र ब्रह्मणस्पति अम्भ नामक पारमेष्ठ्य सोम इन दोनो पवित्र त वो के समन्वितरूप का ही नाम पूर्वकथनानुसार यज्ञ है। जिसका स्वरूप विश्व के सर्वश्रेष्ठ दो पवित्र त वो के सम्मिश्रण से निष्पन्न हुआ हो उस (यज्ञ को) हम अन्य पवित्र त वो की अपेक्षा अवश्य ही अतिशयरूप से पवित्र कह सकते हैं। इसीलिये तो श्रेष्ठकर्मा की परिगणना मे इसे— यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म्म इत्यादि रूपसे श्रेष्ठतम बतलाया जाता है। यज्ञ की यही अग्नि–सोममयी–उभयधर्मात्मिका अतिशय पवित्रता सूचित करने के लिए श्रुति ने इसे प्रावित्र [प्रकर्षेण अवति] कहा है। प्रावित्र शब्द से यद्यपि प्रकृत मे रक्षात्मक ही अभिप्रेत है। तथापि रक्षात्मक यह यज्ञकर्म्म क्योंकि पवित्रतम है अतएव प्रसङ्गोपात्त परम्परया प्रावित्र से यज्ञ के पवित्रतम धर्म का भी विश्लेषण कर दिया गया है।

अग्नीषोमात्मक यज्ञ की अग्निसोमात्मिका पवित्रता ही रक्षाकर्म्म का प्रधान निमित्त बनती है। एकमात्र इसी आधार पर प्रावित्र से पवित्रतम रूप फलितार्थ भी निकाला जासकता है। प्रकृष्ट रक्षात्मक धर्म तो यज्ञ का स्पष्ट ही है। आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक तीनो ही संस्थाओ की रक्षा अग्नीषोमात्मक यज्ञ पर ही निर्भर है। अन्नादानात्मक यज्ञ आध्यात्मिक संस्था का रक्षक है आदानविसर्ग–क्रियात्मक यज्ञ आधिभौतिक संस्था का रक्षक है एवं पारमेष्ठ्य सोमाहुत्यात्मक यज्ञ आधिदैविक सौरसंस्था का स्वरूपरक्षक है। सर्वरक्षा ही यज्ञ का अन्यरक्षकापेक्षया प्रकृष्ट रक्षाधर्म है–अतएव यह प्रावित्र है। प्रावित्रयज्ञ का यथानुरूप स्वरूप ज्ञान ही हौत्रकर्म की सफलता का मूल है। अतएव अनुष्ठेय अग्निकर्म्मात्मक होत्रकर्म्म के परिज्ञान के साथ–साथ– वेत्तु प्रावित्रम् से यज्ञकर्म की ओर भी दिव्याग्नि का ध्यान आकर्षित किया गया है। यज्ञकर्मानुगता इसी भावना का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है यज्ञो वै प्रावित्रम्। वेत्तु यज्ञमित्येवैतदाह। उभय–वाक्य निष्कर्ष यही है कि मेरा (मानुष होता का) होत्रकर्म्म तथा तद्द्वारा सम्पन्न होने वाला यज्ञकर्म्म दोनों के प्राणाग्निदेव साक्षी बने रहें। उन्हीं से इन दोनों की सफलता के लिए प्रेरणाबल मिलता रहे।

मन्त्र का अगला भाग है– साधु ते यजमान देवता (योऽग्निं होतारमवृथा)। देवबलानुग्रह–प्राप्त्यनन्तर होता को यह दृढ आत्मविश्वास होजाता है कि अब निश्चयेन यजमान का यज्ञकर्म्म निर्विघ्न सुसम्पन्न होजायगा। अपने इसी आत्मभाव को वह यजमान के प्रति इन शब्दों में प्रकट कर रहा है कि–हे यजमान! तुमने किसी सामान्य व्यक्ति का हौत्रकर्म के लिए वरण नही किया है। अपितु मेरे व्याज से तुमने उस दिव्यप्राणाग्नि का ही हौत्रकर्म के लिए वरण किया है जिसके अनुग्रह प्राप्त होजाने पर अवश्यमेव यज्ञकर्म सफल होजाया करता है। तुमने जिस अग्निदेवता का आश्रय लिया है तुह्मारे वह अग्निदेवता इस हौत्रकर्म्म के लिए साधु हैं पूर्ण समर्थ है। यह तुह्मारा सौभाग्य है कि अग्नि जैसे श्रेष्ठ देवता का तुह्म सहयोग मिल रहा है। स्वाभाविकी यज्ञपद्धति के साथ–साथ ही इस विश्लेषण से श्रुति संकेतरूपेण हमे यह लोकशिक्षा भी दे रही है कि हमें अपने लौकिक कर्मों में उन्ही सहयोगियो का सहयोग लेना चाहिये जो स्वयं भी उस कर्म में रुचि रखते हों साथ ही उनमें उसे सफल बनाने की योग्यता भी हो। वैसे योग्य–प्रामाणिक–समर्थ–सहयोगियो के लिए लोक मे भी यही सूक्ति व्यवहृत हुई है कि अब उनका कार्य्य अवश्य सफल होजायगा क्योंकि अमुक योग्य प्रामाणिक व्यक्ति ने उसका भार उठा लिया है।

प्रकृत मे होता– **साधु ते** इत्यादि म त्र के द्वारा यजमान की क र्मनि ठा को ही प्र र णाबल प्रदान कर रहा है। यजनान का आ मविश्वास भी तो यज्ञ की सफलता के अ या य कारणो मे से क अ यतम कारण है। इसी भावना का स्पष्टीकरण करती हुइ श्र ति कहती है— **साधु ते यजमान देवता यस्य तऽ ग्नर्होता इ यवैतदाह** ।

म त्र का अगला भाग है– **घतवतीमध्वर्यो स्र चमास्यस्व** यह वाक्य अ व यु को लक्ष्य बना कर कहा जाता है। अग्नि के अनुग्रह–प्राप्ति का अर्थ है–अग्निदेवता का यज्ञ भूमि में प्रविष्ट होजाना । **हात्र कम्म को आप लक्ष्य बनाए यज्ञ को लक्ष्य बनाए यजमान ! अब तुम्हारा यह काय सफल हुआ समझो जहाँ अग्नि जसे हाता ने अनुग्रह कर दिया** इस भावना को व्यक्त करने वाले निगदम त्रभाग स अवश्यमव प्राणाग्नि यज्ञमण्डल में प्रविष्ट होजाते है। आगत अग्निदेव की पारच र्या उसी व्यवहारम र्यादा का भाति आवश्यक है जसकि आगत स मा य अतिथि का अर्घ्यदानादि से सम्मान किया करते हैं। अग्निदव की पारतृप्ति से स ब ध रखने वाली आ याहुति है। यह आहुतिक र्म अ वर्य्यु से स ब ध रखता है। अतएव अनुग्रह प्राप्त्यनन्तर होता का यह भी आवश्यक कत य होजाता है कि वह आगत स मा य अतिथि के स्वागत से स ब ध रखने वाले आ याहुतिक म की ओर आहुतिप्रदाता अ व यु का यान आकर्षित कर दे। एकमात्र इसी अभिप्राय से **अ वर्यो ! आप घृतवती स्रुक् का ग्रहण कर (क्याकि आहुतिग्राहक अग्निदेव पधार आए है)** यह प्र रणा मक म त्र भाग प्रयुक्त हुआ है जिसका ता प य **तदध्वर्य्यु प्रसौति** इस ब्राह्मणवचन से स्पष्ट हुआ है।

पद्धातप्रकरण मे यह कहा जाचुका है कि होता के मुख से **घृतवतीम्** याहति के उच्चरित होत ही अ वर्य्यु जुहू उपभृत नामक दोनो स्र चो को आहुति के लिए हाथ में ले लेता है । ग्रहण होता है जुहू उपभृत् दोनो का। पर तु होता के द्वारा ग्रहण की प्र रणा होती है केवल एक (जुहू) स्रुक की ही। ऐसा क्यों ? । जब पद्धति मे दोनो का ग्रहण विहित है तो मन्त्रभाग में भी **घृतवत्यौ स्र चौ** इ यादि रूप से द्विवचन का ही प्रयोग होना चाहिए था। इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुइ श्र ति कहती है कि– (१) निदानविद्या के अनुसार जुहू नामक स्रुक यजमा स्थानीया है एव उपभृत् नामक स्र क यजमान के शत्रु की प्रतिकृति है। इसके अतिरिक्त जुहू अत्ता की प्रतिकृति है तो उपभृत् आद्य (भो य) की । ऐसी स्थिति में यदि होता **जुहूपभृतावास्यस्व** इत्यादि रूप से द्विवचन का प्रयोग करेगा तो यजमान का शत्रु यजमान के लिए प्रतिस्पर्द्धा करनेवाला बन जायगा। इसके अतिरिक्त भो य स पत्ति भी भोक्ता यजमान के लिए प्रतिकूल बन जायगी।

भावना मिका यज्ञप्रक्रियाओ का फलाफल एकमात्र भावना पर ही अवलम्बित है। एव इन भावनाओं के मूलाधार उसीप्रकार आधिभौतिक यज्ञिय द्र य है जैसे कि उपासनाकाण्ड में उपास्य की प्राप्ति के लिए उपास्य के यत्किंचित् समधर्म्मों स समतुलित आधिभौतिक पदार्थों में आहार्य्यारोपविधा से उपास्य की क पना कर ली जाती है। इसी आहार्य्यारोपविधा के आधार पर उपभृत् को शत्रुभावना से एव भोग्यभावना से युक्त समझा जाता है। जुहू को यजमान की भावना से तथा भोक्ता की भावना से युक्त मानलिया जाता है। उपभृत् को जुहू की तुलना मे रखना शत्रु को समान बलशाली ही बनाना है भो य को प्रतिकूल ही बनाना है। यह भावना यजमान के लिए अनिष्टकर ही बनती है। अत एकवचन का ही प्रयोग किया जाता

है। ग्रहण होता है दोनों का प्र रणा िलती है एक के ग्रहण की। यही– **असत्य ग्मनि स्थित्वा तत सत्य समीहते** * लक्षणा आहा यरोपमूला प्र ययालम्बनता है जिसका गीताविज्ञानभा या तगत तृतीय खण्ड के व विभागा मक **उपासनोत्तरखण्ड के– उपासनाभेदनिर्वचन** नामक प्रकरण में विस्तार से निश्लेषण हुआ है। इसी भावना को यक्त करती हुइ श्रु ति कहती है– **तस्मादेकामिवै राह** ॥ २ ॥

मन्त्र का अगला भाग है— **देवयुवा विश्ववाराम** । **अध्यात्मस्थित प्राणदेवताओं का आधि-भौतिक तत्सम पदार्थों क मा यम से आधिदैविक प्राणदेवताओ क साथ चितिलक्षण अ तर्याम सम्ब ध करा देना हीं यज्ञ का फलिताथ है** । होतृकतृ क निगदपाठ स प्राणाग्नि का यज्ञमण्डल में समावेश तो होगया है। पर तु अभीतक इनका यजमान के आ यात्मिक प्राणदेवताओ के साथ ग्रन्थि बन्धन सम्ब ध नही हुआ है। यह काम म यस्था आधिभौतिकी आ याहुति पूरा करती है। जुहू नामक स्रु कपात्री भी आधिभौतिक पदार्थ है एव आहुति के लिए जुहू में प्रतिष्ठित आ यमात्रा भी आधिभौतिक ही है। इन दोनो पर यजमान की भूता मसत्ता आक्रान्त है जिस विज्ञानगता आ मसत्ता के लिए ही **यावद्वित्त तावदात्मा** यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। नि कर्षत आ यपूर्णा जुहू में यजमान के प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। उधर आहवनीय कु ड थ समिद्ध अग्नि में द्यु लोक से आगत आधिदैविक प्राणाग्नि प्रतिष्ठित हैं। इनमें आ याहुति होती है। परिणाम यह होता है कि आ यानुगत यजमान के प्राणदेवताओ का आ याहुति के द्वारा आहवनीयस्थ प्राणाग्नि के साथ ग्र थिब धन होजाता है। इसप्रकार आ यपूर्ण जुहू यजमान के आ यात्मिक प्राणो का प्राकृतिक प्राणदेवताओ के साथ योग कराने वाली बन रही है। यही **देवयुग** रूप पहिला धर्म्म है। य ययावत् (३३) प्राणदेवताओ के द्वारा यह जुहू (आ य के सम्ब ध से) वरणीया है। सभी प्राणदेव इसकी इच्छा रखते हैं। देवप्रिया देवयुवा जुहू वास्तव में यज्ञकर्त्ताओ के लिए स्तु या है प्रशसनीया है। मन्त्रभाग के द्वारा जुहू के उक्त दोनो धर्म्मों का ही विश्लेषण हुआ है साथ ही उस की स्तुति एव प्रशसा हुई है। सवत्र चैतन्य का साक्षात्कार करने वाली ऋषिदृष्टि के लिए जुहू की स्तुति प्रशसा अवश्यमेव त व विज्ञान-सम्मत ह।

मन्त्र का अगला भाग है **ईडामहै देवाँ ३॥ ईडेयान् नमस्याम नमस्यान् यजाम यज्ञियान्** । योतिर्मय त व ही देवता है। यह योतिर्भाग पृथिवी अ तरिक्ष द्यौ इन तीन लोको के भेद से तीन स्थानो में विभक्त होता हुआ विभिन्न तीन नाम रूप गुण–कर्म्मों में परिणत होरहा है। तीनों म मूलत व द्युलोकस्थ सौरप्राणमूर्त्ति देवत व ही ह। सौर योतिर्भाग (प्रकाश) सर्वप्रथम अ तरिक्ष–लोकोपलक्षित सौम्य चान्द्रपिण्ड मे भुक्त होता है। चान्द्रमसी योति वस्तुगत्या प्रवृक्त सौरी योति ही है। तृतीय स्थान पृथिवीलोक है। यहाँ आकर भूतभाग के आ यन्तिक आवरण से सौर योति का स्व योतिर्भाग तथा चान्द्र–योति का परज्योतिर्भाग दोनों अभिभूत होजाते है। अतएव पार्थिव योति केवल रूप योति कहलाइ है। रूपज्योति में [पार्थिवी योति में] उस पार्थिव प्राणाग्नि का समावेश है जोकि– **वैश्वानर** नाम से

---

* **उपाया शिक्षमाणाना बालानामुपलालना ।**
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत सत्य समीहते ॥
—भर्तृहरि

प्रसिद्ध ह जिसे कि यजु सहिताने विराटपुरुष कहा है। एव जिस स कि पुरुष अश्व–गौ–अवि–अज न पाच याज्ञय पशुओं का स्वरूप नि र्माण हुआ ह जो कि पुरुष (मनु य) पशु में अपनी पूण मात्रा से विकसित है। यही वश्वानराग्नि भूताभिमन से अप्रत्यक्ष है मृग्यमाण है। अतएव कृष्णोऽस्याखरेष्ठ इत्यादि रूप से इस पार्थिव अ नि का कृ णमृग नाम से यवहृत किया जाता ह।

उक्त कृष्णमृगाग्नि की सहयोगिनी रूपज्योति दूसरे श दो में पार्थिवप्राणा नियुक्त दि यप्रवृत्त योतिर्भाग ही पार्थिवदवता है। आ तरिक्ष्य चा द्रसामावच्छिन्न विशुद्ध योतिम्मय भाग आ तरिक्ष्य दवता हे । एव सौर मण्डलस्थ (सम्व सरमण्डलस्थ) सावित्राग्नियुक्त योतिर्भाग दिव्य देवता हैं। दि यदेवताओं से यज्ञ तपो दान लक्षण विद्यासमुच्चित् प्रवृत्तिकर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। आन्तरिक्ष्य चा द्रदेवताओं से इष्ट–आपूर्त्त–दत्त लक्षण विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। ए पार्थि देवताओ से लोकिक– यवहारिक यथाजात कर्म्मों की प्रवृत्ति होती है। पार्थि योतर्भाग मानवसग की आ तरिक्ष्य चान्द्रज्योतिर्भाग पितृसग की एव दि य ज्योतिर्भाग वसग की मूलप्रतिष्ठा है । मनुष्य पितर देव तीन प्रजा है रूप–पर–स्व–तीन योतिया है एव पृथिवी अ तरिक्ष्य द्यो तीन लोक हैं।

इसप्रकार एक ही दिव्य योति त्रि प्रजासग त्रिज्योति सग त्रिलोकसगरूप में परिणत हो रही है। द्यु लोकावच्छिन्न देवता यज्ञिय है अ तरिक्षलोकावच्छिन्न पितर नमस्य है एव पार्थिवलोकाव च्छिन्न मनुष्य ईडेन्य है। द्यु लोकस्थ देवता न तो केवल स्तुति प्रशसा से ही अनुग्रह करते न केवल नमस्कार से ही उन्ह (सा प्रदायिक भक्तिमाग की भाति) तुष्ट किया जासकता। अपितु त वाधार पर प्रतिष्ठित वध यज्ञ पक्रिया से आहुति के द्वारा ही उन्ह प्रसन्न किया जासकता है। दि यप्राणदेवताओं का आ यात्मिक प्राणदेव ताओं से सम्ब ध होजाने से दि यप्राणशक्तियो की प्राप्ति होजाती है। यही उनका अनुग्रह है। यह अनुग्रह केवल स्तुति नम कार से नही मिल सकता। अपितु इसके लिए ता यज्ञकर्म्म का ही अनुगमन करना अनिवार्य होगा। अतएव इन दि य देवताओं को हम यज्ञिय कह सकते हैं।

वाङ्मय आन्तरिक्ष्य पितर– पितरो वाक्यमि छन्ति के अनुसार केवल नमस्कार से भी तुष्ट किए जासकते हैं। अतएव ह नमस्य कहा जासकता है। वागविकृतिरूप भूतमय मनु य केवल नमस्कार से ही प्रसन्न नही होते। अपितु इन्ह प्रसन्न करने का अन्यतम साधन है– स्तुति । तत्प्रशसा से यश ख्यापन से लोकैषणा के कीर्त्तन से धीरे से धीरे मनुष्य के अ तजगत् को भी स्खलित किया जासकता है। अतएव इन्ह ईडे य कहा जासकता है। प्रकृत यज्ञक म में हमें यजनीय यज्ञिय देवताओ के अतिरिक्त पितरो की भी सहानुभूति अपेक्षित है उन ऋ विक द्शक मनुष्यो का सहयोग भी अपेक्षित है जिनके अन्त -बाह्य सहयोग से यज्ञियदवताओं का यजनक म साङ्गोपाङ्ग पूण होगा। इसी त्रिविध प्राकृतिक प्रजासर्ग के अनुग्रह प्राप्त करने के लिये ईडामहे ईडे यान् इ यादि म त्रप्रयोग विहित है।

	पृथिवी	अग्नि	रूप-योति	मनुष्या	ईड या	तान् ईडामहै
२	अ तरिक्ष	सोम	पर योति	पितर	नमस्या	तान् नमस्याम
३	द्यौ	इ द्र	स्वज्योति	देवा	यज्ञिया	तान्-यजाम

दूसरी दृष्टि से देवत्रयी का सम-वय कीजिए उपासनाकाण्ड से स ब ध रखने वाले आधिदविक सगुण इष्टदेवता [अग्नि विष्णु इ द्र आदि अतिष्ठाता दवता] एव माता पिता आचाय्य ये तीन आधिभौतिक मगुण पू-य मनु य दवता इडे-यरग से सम्ब-ध रखत है । उपास्यदवता स्तुतिभावा मक आ मसमपण से तुष्ट होजात ह इसी लक्ष्य से इह्न ईडे-य कहा जासकता है। माता पिता-आचा य इन तीन से भिन्न ज्येष्ठ भ्राता समाज के शिष्ट पुरुष सम्मा-य विद्वान् इ यादि पू-य वग नमस्कारमात्र से तुष्ट किए जासकते हैं । अतएव इह्न नमस्य कहा जासकता है। आधिदविक विव-र्ग में स्वष्टदेवता से भिन्न देववर्ग नमस्य माना जासकता है। तीसरा विभाग यज्ञिय देवताओं का है जो कि अधिभूत अधिदवत उभयत्र समान हैं। ऋतु छन्द आदि वयोनाधा मक देवपशु [देववाहन] लक्षण देवताओं का भी यज्ञिय विभाग में ही अ-तर्भाव है। तीनों श्रेणियों का ही प्रकृत में येन केन रूपेण अनुग्रह अपेक्षित है। अत तीनों का सस्मरण आवश्यक मान लिया गया है ॥ ॥

यजनीय देवताओं से सम्ब-ध रखने वाला यज्ञ एक वैसा मह-वपूर्ण साधन है जिसके अनुगमन से त्रैलोक्य की चर-अचर स पत्ति प्राप्त की जासकती हैं। त्रलोक्य में जो कुछ यज्ञिय पदाथ है उन सब का यज्ञकर्त्ता के साथ भी य-वन सम्ब ध होजाता है। जो पदाथ किंवा जो प्राणी यज्ञ के दि यभाग में भाग नही लेते अथवा तो प्रकृ या जिनके स्वरूप-निम्र्माण में दिव्ययज्ञमात्रा का सहयोग नही होता व पदाथ और व प्राणी अपने स्वरूप से भी मुकुलित [बुद्धिशू य] रह जाते है साथ ही यज्ञ में अ वाभक्त प्रजा के यवहारों में भी उनका विशेष उपयोग नही होता। मनुष्य यदि यज्ञिय है तो किंपुरुष अयज्ञिय है। एवमेव अश्व गौ अवि अज चारो यज्ञियप्रजाओं के अनुकूल क्रमश गौर गवय उष्ट्र शरभ ये चार अयज्ञिय प्रजा हैं। एवमेव बङ्गा बगधा चेरपादा यह प्रजात्रयी भी प्रजा ह तिस्रो अ-यायमियु के अनुसार पराभता है यज्ञ ऽनन्वाभक्ता है। माषादि ओषधियाँ अयज्ञिय है। इन अयज्ञिय अतएव पराभत पदार्थों के अतिरिक्त जितने भी स्थिर चर यज्ञिय पदाथ है उक्त सगत्रयी से उन सब का ग्रह ा होजाता है। इसप्रकार ईडेन्य मानवसर्ग से अश्वादि यज्ञिय पशुओं का यज्ञिय देवसग से कपिञ्जलादि पक्षियों का ब्रीहि यवादि ओषधियों का पलाश काष्मर्य्यादि वनस्पतियों का और और भी जितने यज्ञिय पदाथ बच रहते हैं उन सब का ग्रहण होजाता है। इसप्रकार जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्य निगमानुसार यच्च यावत् यज्ञिय पदार्थों का यज्ञ से ग्रहण होजाता है। फलत यज्ञ का इष्टकामधुक्त्व सर्वामना चरिताथ होजाता

है । यही यज्ञ का वह महतोमहीयान् श्र ष्ठतम क म व है जिसे लक्ष्य बनाते हुए या ज्ञक लोग इस में प्रवृत्त हुआ करते है । जिह्वोन यज्ञ का अनुगमन किया उह्व सब कुछ मिल भी गया साथ ही उन का पराभव भी नही हुआ । जिह्वोन यज्ञ का तिरस्कार किया उनकी सत्ता ही उ छिन्न होगइ ॥ ४ ॥

यज्ञपद्धति में विहित प्र येक आधिभौतिक कम्म स यजमान के मानुषा मा में कोइ न को यज्ञातिशय उ पन्न किया जाता है । यज्ञकम्मसमाप्ति से वह यज्ञातिशय सर्वाङ्गीण बनता हुआ यजमान के मानुषा मा के साथ अ तर्य्याम–सम्ब ध करता हुआ उसे आधिदाविक फलानुगामी बनाता है । यही यज्ञातिशय दवा मा कहलाया है जिस का स्वरूप विश्लेषण पूर्वब्राह्मणों में अनकधा होचुका है । तत्तत् क मविशेषो से इस यज्ञातिशय लक्षण दवा मा में तत्तत् शरीर हस्तपादादि अवयव ही स्थापित किए जाते हैं । प्रश्न होता है कि नव याहु या मक इस स्रु गादापनकम्म से [जिन नौ याहुतियों का मूलानुवाद में भी उ लेख किया जाचुका है] दवा मा में कौन से शरीरावयव स्थापित किए जाते हें ? । वो कण्डिका इसी प्रश्न का समाधान कर रही है । हमारा अ या मसस्था के पाञ्चभौतिक शरीरभाग में ऊ व अवाञ्च भेद से सौर पार्थिव दो जाति के प्राण प्रति ठत हैं । सौर प्राण का के द्र ब्रह्मर ध्र है एव पार्थिव अपान प्राण का के द्र ब्रह्मग्र थ है । ब्रह्मर ध्र में प्रति ठत सौर प्राण उक्थात्वस्थापन्न है । सके अर्करूप जो सात अवा तर प्राण निकलत हे व ही साकञ्ज [साथ रहने वाले] सप्तशीषण्य प्राण कहलाए हैं । दो श्रोत्रप्राण दो चक्षुप्राण दो नासाप्राण एक मुखप्राण इसप्रकार सातो में ६ प्राण तो यमजप्राण हैं जोडले हैं एव सातवा मुखप्राण एकाकी है * । इसीप्रकार ब्रह्मग्रथि में प्रति ठत पार्थिव अपानप्राण उक्थ है । इस से निकलने वाले अर्का मक प्राण दो भागो मे विभक्त हैं । ये ही क्रमश उपस्थप्राण गुदप्राण नामक अवाञ्चप्राण है — । स भय दो के अवा तर नौ प्राण होजात है । स्रु गादापन निगद में पठित नो याहुतियो से निगदम क्रमागानुगता सख्या स पत् के समतुलन से दवा मा में सप्तशीषण्य सौर प्राण एव दो अवाञ्च पार्थिवप्राण इन नौ प्राणों का ही आधान होता है । क्यो नो याहुतिया होती हैं ? प्रश्न की यही सक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ५ ॥

इति–स्रु गादापनकम्मोपपत्ति —

**

---

* साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकज षडिद्यमा ऋषयो देवजा ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्र रेज ते विकृतानि रूपश ॥
—ऋक स १।१६४।१५।

— सप्तशीर्षण्या (प्राणा) द्वाववाञ्चौ [ऐ ब्रा १।३।६।]

२—आश्रावण प्रत्याश्रावण कर्म्मोपपत्ति

होतृकर्तृक स्रु गादापनकर्म्म के अन तर अ व यु आ नीध्र होता ब्रह्मा आदि ऋ त्जो के सह-योग से आश्रावण प्र याश्रावण–कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता स पन्न होती है। एक वज्ञानिकी आख्यायिका के द्वारा इसी क म की उपपत्ति का (६ ठी कण्डिका से) स्पष्टीकरण हुआ है। **वस त–ग्रीष्म–वर्षा–शरत्–हेम तशिशिर–(हेम तशिशिरयो समासेन)** न पाच ऋतुओ का स्वरूप अ नीषोमा मक माना गया है। अ नि और सोम के उदग्राभ–निग्राभ (चढाव–उतार) से ही पञ्चर्तु का स्वरू स पन्न हुआ है। अग्नीषोममयी पाचो ऋतुओ की समष्टि ही स व सर है यही वह यज्ञ है जिसके द्वारा सूर्य्यकेन्द्रस्थ हिरण्यगभ–प्रजापति रोदसी–त्रलोक्य में पर्ति ठत चर–अचर प्रजा का वरूप–नि माण किया करते हैं। इस प्राजाप या अ नीषोममयी यज्ञमात्रा का प्रजासग में प्रतिक्षण विस्र सन हुआ करता है। प्रजा के स्वरूप–निर्म्माण में साम्व सरिक अग्नि सोम मात्राओ का उपादान–कारणता के म ब व स ख होना अनिवार्य्य है। यही यज्ञभाव विस्र सन कहलाया है। इसी विस्र सन का लक्ष्य में बनाकर यह क जासकता है कि **सौरमण्डलस्थ दि यदेवताओं का अ नीषोममय यज्ञ सौरमण्डल से अपक्रा त होगया** । ता पर्य्य पार्थिव प्रजासग के नि र्माण के लिए सौर देवयज्ञ की अपक्रान्ति स्वाभ विक है।

यह यज्ञापक्रान्ति **नियतापक्रान्ति अनियतापक्रान्ति** भेद से दो भागो मे विभक्त मानी जासकती है। सौरसम्व सरमण्डलावच्छिन्न योतिर्भाग ही अ नीषोमा मक यज्ञ है। प्र यक्षदृष्ट सौर प्रकाश ही इस यज्ञ का बाह्य शरीर है। दाहक अग्नि में दाह्य पारमे ठ्य साम आहुत होरहा है। इसी सोमाहुति प्रक्रिया से इस उभया मक यज्ञ का स्वरूप स पन्न हुआ है। सी यज्ञ से (सोमाहुति से) **ज्योतिषा वितमो रथ** इ यादि ऋग्वर्णनानुसार प्रकाश का ज म हुआ है। प्रकाश में अग्नि सोम दोनो का सम वय है अतएव अवश्य ही सौर प्रकाश–मण्डल को यज्ञ कहा जासकता है। य सौर योतिर्भाग सवत्र (लोकालोक प य त) या त रहता हुआ हमारे भूपिण्ड की ओर भी आर है। भूपिण्ड के वि क भ (यास) की उभय परिधियो से सम्ब ध रखने वाला सौर योतिर्भाग ही प्रकृत में यज्ञ श द से यवहृत हुआ है। भूपिण्ड की परि ध को काटकर यह यज्ञ (प्रकाश) भूपिण्ड से आगे निकल जाता है।

इसी सौर प्रकाश के वि छेद से **सहिकय** नामक छायामय–तमोमय **राहू** का ज म हुआ है। **भूपिण्ड की ओर सौरमण्डल से नियतरूप से आकर अपना नियताकार बनाने वाले यज्ञ की अपक्रा त ही नियतापक्रान्ति मानी जायगी**। यज्ञ के इस नियतापक्रा तरूप का ही नाम **ब्रह्मौदन** है जिससे किसी भी पार्थिव पदार्थ की उ पत्ति स भव नही है। इसी नियतापक्रान्त यज्ञ से स व सर का स्वरूप नि पन्न हुआ है जिसकी कि छान्दो यादि उपनिषदो में **अश्व** रूप से स्तुति हुई है। सौर प्रकाश आता है भूपिण्ड से टकराकर पुनरावर्त्तित होजाता है [वापस लौट जाता है]। दूसरे श दों में–यज्ञ आता है भूपिण्ड से सस्पृष्ट होकर वापस लौट जाता है। वापस लौटे हुए प्रकाश का लक्षण इस यज्ञ का आकार भूच्छाया [राहू] से ही समतुलित है। सूचीमुख राहू के आकार से समतुलित भूपृ ठ से सू य प य त या त [वापस लौटकर या त होने वाला] सौर प्रकाश ही वह **अश्व** है जिसका **उषा** मस्तक माना गया है। इस नियतापक्रान्ति से सम्बद्ध पुनगमन से स ब ध रखने वाला यज्ञा मक अश्व किवा अश्वा मक यज्ञ प्रकृत आख्यान में अभिप्र त नही है। अपितु यहा अनियतापक्रा ति से सम्ब ध रखने वाले यज्ञ का ही ग्रहण हुआ है।

नियतापक्रा त–पुनगत–स्थिर–ब्रह्मौदनलक्षण [सूय्य के स्वभोग्य–लक्षण] स व सरयज्ञ से यज्ञमात्रा का विस्र सन होता रहता है जिसका तापो सग से प्र यक्ष किया जासकता है। सूय्य अस्त होजाता है। फिर भी हवा में ग र्मी बनी रहती है। यह गर्म्मी [अग्नि जिसके गभ में अ नि स्वरूपरक्षक सोम भी प्रति ठित है] विस्रस्ता वह यजमात्रा है जिसे प्रवग्य (उच्छिष्ट) कहा गया है। उच्छिष्टात् जज्ञिरे–सर्वम् इस आथवण–सिद्धा तानुसार इस विस्रस्त प्रवग्य भाग से ही पार्थिव–प्रजा की स्वरूप–नि पत्ति होती है। पार्थि चा द्र परिभ्रमण के अनुसार तत्तत् ऋतु विशेषो में प्रवृक्त तत्तयज्ञमात्राओ के प्रव यभाग से ही तत्तद्विशेष पार्थिव पदाथ उ पन्न हुआ करते हैं। जो प्रवग्यभाग तत्तद्विशेषभावोत्पत्ति मे तत्तत्समयविशेषों स सम्ब ध रखता है वही उस सौरयज्ञ की अनियतापक्रा ति है। एव प्रकृत आख्यायिका मे अनि यतापक्रान्तिलक्षण इसी प्रवग्ययज्ञ का ग्रहण हुआ है।

क पना कीजिए यदि प्राकृतिक सौर सम्व सरयज्ञ की सम्पूण मात्रा पार्थिवप्रजासग में ही उपयुक्त होजाय तो स व सरमण्डल एव उसमें रहने वाले योतिम्मय–दि य देवताओ की क्या दशा हो ? । क पना यही उत्तर देगी कि केवल विस्र सन से तो एक दिन वह समय भी आसकता है कि स व सर का ही उ छेद होजाय। मानना पडेगा कि अवश्य ही विस्रस्तभाग की क्षतपूर्त्ति भी उसी अनुपात से होती रहती है। यदि सौर पदाथ पार्थिवसग के नि र्माण में खच होते रहते हैं तो— इत प्रदाना ह्य ते—(देवा उपजीव न्ति) इ यादि श्रौत सिद्धा तानुसार पार्थिव पदार्थों के विस्रस्त भाग के गमन से वह कमी पूरी भी होती रहती है। यदि पृथिवी उसे खाती है तो वह भी पृथिवी को खाता हता है। परस्परानुगत यह आदान–प्रदान अन्नान्नादभाव ही तो उभयलोक स्थि ा सवलोक प्रति ठा बन रहा है।

सौरदेवताओं के स्वरूपरक्षक यज्ञ की प्रवग्य के द्वारा अपक्रा त अवश्य होती रहती है। पर तु सृष्टि नियमानुसार अपक्रा त यज्ञ वापस भी लौट जाया करता है। यो मा ददाति स इ देवमावत् सिद्धान्ता नुसार जो हमें देता है वही अन्त में हमें खा भी जाता है। प्राणा निरूप होता प्राणवायुलक्षण अध्व र्यु आदि यप्राणा मक उद्गाता चा द्रसोमात्मक ब्रह्मा इ यादि प्राकृतिक देवा मक ऋ विजो के या पार से अपक्रा त यज्ञ पुन स्वप्रभव देवमण्डल की ओर लौट आता है। इसीमे देवस्वरूप रक्षा होरही है। यज्ञपुनगमन ही देवताओं का देवत्व है। इसप्रकार स्वस्वरूपस्थिति के लिए ऋ विजों के सहयोग से सम्व सर भुक्त प्राणदेवता पृथिवी की ओर अपक्रा त यज्ञ को वापस बुला लिया करते हैं। पुनरागत उस यज्ञ से यजन कर वे अपना देवत्व सुरक्षित रखने में समथ होजाते हैं। प्रकृत आख्यान प्राकृतिक यज्ञ के इस प्राकृतिक गमनागमनभाव का ही स्पष्टीकरण कर रहा है ॥६॥

प्रकृत वैध यज्ञ का वितान उस प्राकृतिक नि य यज्ञ की विधा पर ही हुआ है। जैसा जो कुछ वहाँ होरहा है वैसा वही सबकुछ यहाँ क पित है जैसाकि— देवानानु विधा वै मनुष्या यद्दै देवा अकुर्व स्तत् करवाणि इ यादि निगम वचनो से प्रमाणित है। जिसप्रकार सौरमण्डलस्थ देवसर्ग की अपेक्षा से यज्ञमात्रा पृथिवी की ओर अपक्रा त होरही है एवमेव हम पार्थिव प्रजाओं की अपेक्षा से यज्ञमात्रा सौर मण्डल की ओर अपक्रा त होरही है। जसे उन्ह अपने स्वरूप नि र्माण–रक्षा के लिए इस अपक्रा त पार्थिव यज्ञ की अपेक्षा है एवमेव हमें यजमान के देवप्राणमय दैवा मा के स्वरूप निर्म्माण रक्षा के लिए अपक्रान्त

सोरयज्ञ की अपेक्षा है। **ओश्रावय** यादि म त्रवाक के द्वारा मनु यविध ऋ त्विक उस अपक्रा त दि य यज्ञसम्पत् का स्व वैध भौतिक यज्ञ में समावश करने के लिए ही आश्रावण प्र याश्रावणकम्म करत हैं। अवश्य ही इस म त्रवाक् से अपक्रा त दि ययज्ञमात्रा का इस और यज्ञ में समावश होजाता है।

क्योंकि **ओश्रावय** इ यादि लक्षण जिन याहुतियो का यहा प्रयोग होता है उन से प्राकृतिक दि य यज्ञ ही लक्ष्य बन रहा है। आ नीध्र को लक्ष्य बनाकर अ वर्य्यु के मुख से निकलत हुए **आश्रावय** का ता प य है **देवताओं क लिए यज्ञ सुनाओ**। अर्थात् देवता इस यज्ञ को ओर लक्ष्य द ऐसी भावना करो। आ नीध्र **स्तुश्राषट** से यही यक्त कर रहा है कि **हा देवताओंने सुन लिया**। जिसका ता पर्य्य यही है कि देवताओ का [दवा मक अपक्रा त यज्ञ का] यहा पुनरागमन होगया। सप्रकार **ओश्रावय** याकारक **आश्रावण** द यदवा मक यज्ञ का आह्वान कर रहा है एव **अस्तु श्रौषट** इ याकारक **प्रया श्रावणकम्म** उसका आगमन सूचित कर रहा है।

फलितार्थ यही निकलता है कि आश्रावण–प्र याश्रावण–क म अपक्रा त दिव्ययज्ञ की प्राप्ति के लिए ही विहित है। म त्रभावना के द्वारा आगत भावा मक देवप्राणमय यज्ञ ही इस वैधयज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है। उसी प्राकृतिक दि ययज्ञबल के आधार पर यजमान का यह वध यज्ञ यज्ञातिशयरूप दवा स पत्ति प्राप्त करने मे समथ होता है। ऋ त्विक सहायक बनते है। ऋ विग भी तभी इस प्रासिक म में सहायक बन सकते हैं जब कि वे इस उपावृत्त यज्ञरत को अपनी भावना में प्रतिष्ठित कर लेत है। ऋ विजो की भावना ही तो मुख्य है। यजमान तो स पूर्ण उत्तरदायि व इन्ही पर डाल देता है। अतएव यज्ञस पत्–सग्रहमूलक आश्रावण–प्र याश्रावणकम्म में यजमान का समावश करना अनावश्यक है। ऋ विजो की भावना के द्वारा प्रा त यज्ञ की स्वरूप दृढता के लिए बडे सयम से स प्रदायपूर्वक आश्रावण प्र याश्रावण–क म का अनुगमन करते है। स व सरप्रजापति स्वय इस आश्रावण–प्र याश्रावण–कम्म में परोक्ष रहते हैं। तदवयवभूत तद्रस से प रपुष्ट अ यादि देवता ही इस क म की इतिकर्त्त यता पूरी करते है। अत प्रजापतिस्थानीय यजमान भी यहाँ (इस कर्म्म में) परोक्ष ही रहता है। अग्न्यादि के प्रतिनिधि ऋ विक ही इस कम्म का अनुगमन करते हैं। जसा वहा होरहा है वैसा ही यहा होता है। इसी समीक्रिया की ओर हमारा यान आकर्षित कहत हुए श्र ति ने कहा है— **तेनोपावृत्तेन रेतसाभतेनऽर्त्विज सम्प्रदाय चरति यजमानेम परोक्षम्।**

ऋ विजों के भावना मक मानस जगत् में अपक्रा त दि य यज्ञस पत् का समावेश होगया। द्य लोकस्थ महामहनीय देवप्राणमूर्त्ति यज्ञभगवान् का आगमन होगया। अब यह आवश्यक है कि अपने इस भावनात्मक दि ययज्ञ के वितान के लिए ऋ विगगण पारस्परिक सहयोग के वाक सम्प्रदान के द्वारा वाकत व का आश्रय ल। भावना मक मनोगर्भित प्राणत व ही यज्ञ का प्रातिस्विक स्वरूप है। यह **मनोगर्भित प्राणयज्ञ भवा–त्मिका वाक् के आधार पर ही प्रतिष्ठित रहता है। इस ओर मन है उस ओर वाक् है मध्य मे दोनों से परिगृहीत प्राण है। प्राण यज्ञ है मनोवाक यज्ञाधार हैं। अतएव मनोवाक् को यज्ञ की वर्त्तनी कहा जाता है।**

इस ओर ऋ विजो की भावना (मन) है उस ओर म त्रप्रयोग (वाक) है। दोनो से मध्यस्थ प्राणा मक यज्ञ भलीभाति परिगृहीत होजाता है। यद्यपि यज्ञ का मौलिक स्वरूप प्राण ही है त थापि एक विशेष

हेतु से वाक को भी यज्ञ का मौलक स्वरूप मान लिया जाता है। वह विशेष हेतु यही है क प्राण बिना मनो–वाक के नही रहता। उधर वाक स मन –प्राण–वाक ीनो का ग्रहण होजाता है जमकि वाक–श दनिवचन स सुप्रमाणित है। उ अ अच स ही तो वाक् श द निष्पन्न हुआ है। उकार प्राग का ए। अकार मन का वाचक है। उकार अकार (प्राण मन) की स्वस्वरूपरक्षा के लए कामना करने वाला त वविशष ही अच् सूचित हुआ है। इसप्रकार वाच् (वाक) स तीनो का सग्रह हो जाता है।

मनोगर्भित प्राणा मक यज्ञ अपने केवल मनोमय प्राणरूप से तबतक यापार करने में असमथ बना रहता है तबतक कि वह भूतमयी वाक को भी अपनी वत्त नी नही बना लेता है। भूत ही प्राण यापार का आलम्बन बनता है। भताधारेणैव प्राण स्वबल के प्रयोग म समथ होता है। अतएव श्र ति ने मनो–गर्भित प्राणा मक यज्ञ का रेत (बलप्रयोगसाधन) भी वाक को ही माना है एव यज्ञस्वरूप भी वा मय ही माना है। यज्ञस्वरूपम पादिका वाक में आधिभौतिक म यभाग आधिदै क अमृतभाग दोनो का समावश है। म र्यावाक का आधार अमृतावाक् है। अमृतवाक का ही वितान होता है। इसी वितान से भूतयज्ञ भूलो से द्यु लोकपय्य त पृष्ठ से र न्तरसाम पय्यन्त वितत होता है।

लौकिकी वाक अमृतवागगर्भिता म र्या वाक है। लौकिक यवहार स्ञ्चालन इसी वाक से होता है। अलौकिकी वाक म यवागगर्भिता अमृतावाक है। वदिककम्मसञ्चालन इसी वाक से होता है। मर्त्या वाक् से यज्ञनामिका अनुष्टुब्वाक समतुलित है। अमृतवाक से उदात्त अनुदात्तादि स्वरात्मिका बृहती वाक् समतुलित है। अतएव र्वा की म त्रवाक में त वानुगत स्वरो के अनुसार ही उदात्तादि स्वरों का सन्निवेश हुआ है। यह स्वरवाक ही क्योंकि सामामिका बनती हु यज्ञवितान का कारण बनती है इसलिए भी वाक को ही यज्ञ कहना अ वथ बनता है। वाकत व के इसी यज्ञस्वरूपप्रतिष्ठात्मक भाव को लक्ष्य बनाकर श्र तिने कहा है— वाक हि यज्ञ वागु रत ।

दवाह्वानलक्षणा ओश्रावये यादिस्वरूपा म त्रवाक के द्वारा आज ऋ विजो को अपक्षा त यज्ञस पत् का सम्पादन करना है। प्राकृतिक सम्व सरयज्ञ के सत्रह अवयव माने गए हैं। अग्निरु वै यज्ञ स निगम–वचन के अनुसार सोमगर्भित अ नि ही यज्ञ है जसा कि पूव में स्पष्ट किया जाचुका है। भूके द्र से आरम्भकर भूमहिमा के ७ वे अहगणप य त यह यज्ञाग्नि याप्त है। सत्रहवा स्थान ही आहवनीयकुण्ड माना गया है। इसमें प्रतिष्ठित प्राणाग्नि में १ से ३३ पर्य्यन्त या त रहने वाले सोम की आहुति होती है। यज्ञाग्नि प्रज्ज्वलित होपडता है। प्र वलित होकर यज्ञ यज्ञाग्नि २१ वे अहगणपय्यन्त व्याप्त होजाता है। २१ पर्य्य त या त यज्ञाग्न के ६ १५ २१ ये तीन विक्रम मान लिये जाते ह।

त्रिवृत् (६) स्तोमा मक प्रथम विक्रम पार्थिव है पञ्चदश (१५) स्तोमा मक द्वितीय विक्रम आ त–रिक्ष्य है ए । एकविश (२१) स्तोमा मक तृतीय विक्रम दि य है। यज्ञ ही वि णु है। यही त्रिविक्रम विष्णु है। वक्त य यही है कि यज्ञा नि यद्यपि आहुति के स ब ध से २१ पर्य्य त (सूर्य पय्य त क्योंकि— एक–विशो वा इत आदि य इ यादि श्र ति के अनुसार सूय्यसत्ता भूपिण्ड से २१ वें अहगण पर ही मानी गई है) या त होजाता है तथापि इसका मौलिक स्वरूप १७ वे अहगण पय्यन्त ही व्याप्त माना गया है।

स त शस्तोमावि छिन्न यज्ञा नि के १ अहगण ही १७ अवयव है। ये १ हों वा मय अवयव बिना किसी वि छेद के पर पर एकरूपवत् स तत है।

स तदशावयवो के अवि छिन्न स तानभाव से स बद्ध यज्ञा न का ही यहा सग्रह अपे क्षित है। अतएव आवश्यक है कि तस्तत दृष्टिपात न करते हुए अ य अप्रस्तुत वाक का प्रयोग न करते हुए केवल म त्र वाक्–लक्षण आश्रावण अ याश्रावण–कम्म का ही अवधानपूर्वक एक दूसरे के प्रति यज्ञमात्रा समर्पित करते हुए यज्ञ के १ अवयवो का अवि छि न रूप से स पादन किया जाय। अविच्छिन्न स तान पर परा से सम्ब ध रखने वा ा स तदशावयव ाद ययज्ञ अवि छि न भावा मक स पादन पर परा से उसी– प्रकार परिपूर्ण—समृद्ध—सफल—बन जाता है जैसे कि अवि छिन्न स प्रदान से पूर्णपात्र जलपरिपूर्ण होजाता है।

भगवान् शङ्कर के लिए सतत् जलधारा अपेक्षित है। इस क म को सतत अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए शिवप्रतिमा के सा नि य में पाश्व अथवा उ वप्र श में एक पाषाणमय जलकोश (हौज) बना दिया जाता है। स मलित १ –५ य क्ति श्रद्धाभाव से उसे भ दिया करते है। दसो यक्ति कूप प्रदश से जलकोश प य त नियामतरूप से खड होजाते है। एव केवा मृद्घटो को लक्ष्य म रखते हुए त मयता से जल भरना आरम्भ कर देत है। एक दूसरे को क्रमवा अवि छि नरूप से घट सोपता जाता है। जलकोश परिपूर्ण होजाता है। पारस्परिक अविच्छिन्न स प्रदान का यह एक लौकिक मह वपूर्ण उदाहरण है। अथवा तो– **यथा पूर्णपात्र परासिञ्चेत** का यह ता प य भी लगाया जासकता है क जलपूर्ण पात्र का निरथक प्रदेश मे जसे डालना है वसे ही अप्रस्तुत वाक से यज्ञ की परिपूर्णता न ट करनी है। सिद्ध का य को बिगाड देना और आश्रावण प्र याश्रावण–कम्म में अप्रस्तुत वाणी का प्रयोग करना समतुलित है। तद्वत् ही यहा भी यज्ञकोश–परिपूरिका स तदशमात्राओ का अवि छिन्नरूप से ही अनुगमन करना चाहिए यही फलिताथ है॥ ७॥

८ ६ १ ११ इन चार कण्डिकाओ में उसी अवि छिन्न वाकसयमानुगत पारस्परिक सम्प्रदान–कम्म की इतिकत्त यता का स्पष्टीकरण हुआ है। १२ १३ १४ इन तीन कण्डिकाओ में सोमयाग से सम्ब ध रखने वाले वाकसयम का प्रासङ्गिक निरूपण हुआ है। १५ हवी कण्डिका में उस दोष का विश्लेषण हुआ है जो स प्रदानधाराविच्छे से एव अप्रस्तुत वाकप्रयोग से हुआ करता है। असावधानी करने से जसे घट विनष्टि पादभ्रष्टता आदि दोषो के कारण जलकोश अपूर्ण रह जाता है एवमेव यदि पारस्परिक सम्प्रदान में ऋ विक् लोग अ यमनस्कता अ य सामयिक वाक का प्रयोग कर डालगे तो यज्ञ–स तान विच्छिन्न होजायगी। फलत यज्ञस्वरूप न केवल साङ्गोपाङ्ग ही न बनेगा अपितु यजमान का महान् अनिष्ट भी होजायगा। अतएव इस अव्यव छि ना—सम्प्रदानपर परा का सावधानी से ही अनुगमन करना चाहिए।

यह अवधानता केवल आश्रावण–प्र याश्रावण कम्म के िए ही आवश्यक हो यह बात नही है। अपितु पुरुषाथलक्षण यज्ञकम्म से स ब ध रखने वाले और और भी जो क वथक म हैं उन सबका भी यथाविधि अन यमनस्कता से ही अनुगमन करना चाहिए। सकेतविधि से हमें हमारे लौकिक कम्मों के सम्ब ध में भी श्रुति यही आदेश दे रही है कि यदि हमें कोइ काम करना है उसे सर्वा मना सफल बना देना है तो अन यभाव से उसी को लक्ष्य में रखना चाहिए। हम अपने प्रज्ञापराध से मनोराज्य की चञ्चलता के

अनुग्रह स सकल्पित कर्म्म के साथ माथ ही अ या य सक प भी किया नरत है। यही वह यवधानदोष है जिसके कारण प्रथमसकल्पित अनुगमनीय कर्म्म में अपेक्षित वागरेत (बा) नही रहने पाता। फलत अधि काश में हम निराश ही होना पडता है। जो काम एकबार लक्ष्य पर चढा लिया पाहले अन यमनस्कता के साथ यच्चयावत् अप्रस्तुत भावो का परित्याग करत हुए–उसी मे जुट जाना चाहिए। अ यव च्छेदमूला साथ ही पारस्परिक सम्प्रदानात्मक सहयोगमूला एकम यभावात्मिका (सत्रिदाना) एवमी अन य मनस्कता ही कर्म्मसिद्धि का अ यतमद्वार है जिसका– एवमेव यज्ञा भर्त्त य यात् आदेश से विश्लेषण हुआ है ॥ १५ ॥ (८६१ १११ १३१४१)

आश्रावण–प्र याश्रावण–कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले निगदमन्त्र की पाच व्याहृतिया है। वर्ण स्वर पद वाक्य भेद स श दात्मिका वाक के चार विवर्त्त मान गए है जसाकि– चत्वार वाक परिमता पदानि* इत्यादि ऐतरेयश्रुति से प्रमाणित है। इ ही चारो वागविव र्त्तों के लिए वद मे क्रमश क्षर (वर्ण) अक्षर [स्वर] व्याहृति [पद] पुरुष [वाक्य] ये श द यहृत हुए ह। व याकरण–स प्रदाय में जिसके लिए अखण्डवाक्यस्फोट वाक्य यवहृत हुआ है वही वैदिक अव्यय पुरुष ह। प्र येक वाक्य मे वर्ण स्वर पद तीनो विवर्त्तों का समावश रहता है ऐसा को भी उच्चारण नही जिसे वाक्य न माना जासकता हो। ऐसा कोइ भी वाक्य नही जिसमें वर्ण–स्वर–पद का सम वय न हो। यदि किसी यक्ति के क्या देवदत्त यहा है ? नही है स प्रश्नोत्तर में हम केवल न इस एक अक्ष का प्रयोग करते है तो यहा भी एकाक्षरवाक्य विद्यमान है। न कार में भी वर्ण स्वर पद अ तर्निगूढ है अतएव उनकी प्रतीति नही होती। प्रतीत हो रही है–उस चौथी वखरी वाक की ही जिसका हम प्रयोग किया करते है— तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति । चारो विवर्त्तों में पद विवर्त्त ही व्याहृति है। प्रकृत निग म त्र के क्योकि पाच पद हैं अतएव इन्ह याहृति नाम से यहृत करना अ वथ बनता है यही वक्त य है।

दि य यज्ञ अग्निमय है एव— तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपानषन (शत १ ।५। ।१।) इ यादि श्रौत–सिद्धा तानुसार यह अग्नित व वाड्मय है। वाङ्मय अग्निलक्षण यज्ञ के स्वरूप–नि र्माण के लिए पञ्च याहृ यात्मक निगदम त्र का प्रयोग हुआ है। प्रश्न स्वभाविक है कि उस प्राकृतिक वाड्मय यज्ञ के स्वरूप–सग्रह के लिए पञ्चव्याहृ यात्मक ही वाड मय म त्र क्यों विहित हुआ ? । प्रश्न का अनेक दृष्टिको ।। से सम वय किया जासकता है।

(१) पहिले आध्यात्मिकयज्ञ की दृष्टि से ही सम वय कीजिए। अ या मसस्था की उ पत्ति अधिदैव तगर्भित आधभूत से हुइ है। अधिदवत–लक्षण सवहुतयज्ञ ही स पूर्ण विश्व की मूलप्रति ठा है। विश्व जनक यह यज्ञ प्राण आप वाक अन्न अन्नाद भेद से पञ्चपर्वा है। पञ्चपर्वा इस आधिदैविक–यज्ञ से उ प न आधभौतिक विश्वयज्ञ के स्वयम्भू (अवकाश) परमेष्ठी (वायु) सू य [तेज] चन्द्रमा (जल) पृथिवी ये पाच महापव हैं। इसप्रकार जनक सवहुत यज्ञवत् तज्ज य विश्वयज्ञ की भी पञ्च वयता

*—च वारि वाक परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण ।
गुहात्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति ॥
—ऐतरेयारण्यक

पुस्टतमा है । न्स पञ्चावयव विश्वयज्ञ (आधिभौतिकयज्ञ) से समु पन्न अ या मसंस्था के आत्मा शरीर इन्द्रियवग ये तीन विवत्त हे । आत्मा मूलाधार ह यही ब्रह्मस य ह । न्सके अ यक्त महान् विज्ञान प्रज्ञान भूता मा ये पाच ही विवत्त है । शरीर भतस य है । इसके पृथि यादि पाचो पव प्रसिद्ध ही है । इन्द्रियवग देसत्य है । इसके भी वाक् प्राण–चक्षु–श्रोत्र मन ये पाच ही विवत्त क है । इस प्रकार अधिदवतयज्ञ अधिभूतयज्ञ ग्र उभययज्ञ से स पन्न अ या मयज्ञ के आ मा–शरीर–इन्द्रिय तीनो विवत्त सभी प्रक्र या पान्क्त (पञ्चावय) बने हुए हैं । प्रकृतिवद्विकृति क त या याय से इस वैध यज्ञ में भी वही प्राकृतिक–यज्ञपाङ क्तता अभिप्र त है । इस आ यामिक दृष्टि से भी आश्रावण–प्र याश्रावण–कम्म में पाच व्याहृतियो का प्रयाग करना अ वथ बन रहा है ।

(२) दूसरी दृष्टि स पान्क्तता का सम वय कीजिए । प्रस्तुत यज्ञ सोमयाग का अङ्ग है । सोमयाग का स्तौ य त्रिलोकी से स ब ध है । पार्थिव स्तौ य त्रिलोकी के त्रिवृत् पञ्चदश एकविंश त्रिणव त्रयस्त्रिंश [६ १५ २१ २७ ३३] ये पाच स्तोम माने गए हैं । पाचों में क्रमश अग्नि वायु आदित्य भास्वरसोम दिक्सोम ये पाच देवता प्रतिष्ठित हैं । इन्ही से क्रमश वाक (अग्नि) प्राण (वायु) चक्षु [आदि य] मन [भास्वरसोम] श्रोत्र [दिक्सोम] इन पाच आ यामिक इन्द्रियदवताओं का स्वरूप–नि र्माण हुआ है । पाचो स्तौ य देवत ओ में आरम्भ के तीन देवता [अग्नि–वायु आदित्य] अग्निप्रधान है । एक ही अग्नि की ध्रुव धत्र–धरुण [घन–तरल–विरल] अवस्थाएँ क्रमश अग्नि वाय आदि य है । अ त के दो देवताओं की [दिक्सोम भास्वरसोम की] सोमता स्पष्ट ही है । फलत पाचो का अग्नि एव सोम में प यवसान सिद्ध होजाता है । अग्निसोम का समन्वितरूप ही यज्ञ है । इसके एवविध पाच अवान्तर विवत्त हैं इस पान्क्त सोमयाग के अङ्गभूत (अतएव प्राक्सौमिक नाम से प्रसिद्ध) प्रकृत के इस इष्टियज्ञ में भी अङ्गी सोमयाग के पाङ क्तधम्म का सम्बन्ध अपेक्षित होजाता है । एव पञ्च याहृति के सम्ब न्ध से वह अपेक्षा भी सफल होरही है ।

(३) तीसरे दृष्टिकोण से सम वय कीजिए । यज्ञ को पूव में वाङमय बतलाया गया है । वाङ्मय यज्ञ का रेत वाकत व ही है । भकेन्द्र से आरम्भ कर महिमा प य त इस वाग्र त के अवा तर ३३ विवत्त हो जाते हैं जो कि त्रयस्त्रिंशत्तत्वो य त्रितन्निरे इ यादि म त्रवर्णानुसार त तुदेवता कहलाए हैं । इन ३३ अहर्गणात्मक त तुदेवताओं में ३ अहर्गणा मक तीन दवता (ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र) हृद्य ह । शेष ३ रह जाते है । इन के ६–६ के स्तूप से पाच विभाग हाजाते है । ३३ सो का के द्र अ नीषोम का विभाजक १७ वाँ अहर्गण है । ये ही ६ विभाग है । इसप्रकार एक ही वाक् के गौरूप १ विवर्तों के पहिले ३ –३ गौ के सक्लन से ३३ सूक्ष्म विभाग होते हैं अ त में ६ स्थूल विभाग मान लिए जाते है । यह उसी वाकृत व का षट्कारण–लक्षण वषट्कार है ।

वाक् का षट्कार ही वषट्कार है । वषट्कारमण्डल ही वाक का प्रातिस्विक स्वरूप है । इसका ३३ वाँ अहर्गण ही अग्नीषोमा मक पार्थिव यज्ञ की अन्तिम सीमा है । इस वौषट् रूप वषटकारयज्ञ (वागयज्ञ) की अन्तिम सीमा के (३३ के) गर्भ में क्रमश २७ २१–१७ १५ ६ ये पाच पव प्रतिष्ठित है । छठा स्वय ३३ वा हैं । यज्ञसम्पत् का इस ६ ठे वषटकारपव से ही स ब ध है जिस के गभ में पाच पव प्रतिष्ठित हैं । यज्ञ के इन पाचों पर्वों के सग्रह के लिए भी पाच व्याहृतियो का ग्रहण अ वथ बन रहा है ।

ओ श्रावय से त्रिवृत् (६) का अस्तु श्रोषट से पञ्चदश (१५) का यज से सप्तदश (१७) वा य यजामहे से एकविंश का वौषट से सप्तविंश (७) का एव समष्टिरूप ६ ठे वषटकार लक्षण त्रयस्त्रिंश (३३) का ग्रहण होजाता है। इसप्रकार अनेक दृष्टियो से यज्ञ की पाङ्क्तता का समथन किया जासकता है। पाङ क्त यज्ञ स उ पन्न पशुसर्ग भी पुरुष अश्व गा अवि अज भेद स पाच विवत्ता में ही विभक्त है। ङ क्तसोमयाग स सम्ब ध रखने वाले स व सरयज्ञ का स्वरूप भी वसन्त ग्रीष्म वर्षा शरत् हेम त भेद से पञ्चपर्वा ही बना हुआ है। अहोरात्र पक्ष ऋत अयन सम्व सर भेद से भी सम्व सरयज्ञ की पाङ क्तता स्पष्ट है। इसी पाङ क्तता के आधार पर अग्निहोत्र (अहोरात्र) दशपूर्णमास (पक्ष) चातुर्म्मास्य (ऋतु) पशुब ध (अयन) ग्रहयाग (सम्व सर) सप्रकार वध मानुष यज्ञ के भी पाच पव प्रतिष्ठित हैं। प्राकृतिक यज्ञ की इसी पाङ क्त–सम्पत् की प्राप्ति के लिए प्रकृत क म सम्पादक निगदम त्र में पाच याहुतियो का समावश हुआ है ॥ १६ ॥

सवसाधक यज्ञ ही प्रजापति है। प्रजापतिरेवेद सव यदिद किञ्च इस निगम के अनुसार यज्ञा मक प्रजापति ही अपने विवस्त भाग से सब कुछ बना हुआ है। इस प्रजापति के स्थिति भेद से अनिरुक्त उद्गीथ सव ये तीन विवत्त होजाते है। पिण्ड और पिण्डमहिमा प्र येक वस्तु में ये दो मुख्य पव माने हैं। पिण्ड स्पृश्य है एव पिण्डमहिमा दृश्य है। पिण्ड–क द्रावच्छिन्न त व अनिरुक्त प्रजापति है महिमा–के द्रावच्छिन्न त व उदगीथ प्रजापति है। एव महिमामण्डल की रथ तरसामात्मिका उरूच नाम्नी अ तम परिधि से सम्ब ध रखने वाला तत्त्व सवप्रजापति है। पिण्डाधारेण प्रतिष्ठित महिमा मण्डल वही पूवपरिचित वषटकारमण्डल है जिस के ३३ अहगण बतलाए गए हैं। वही यह भी स्प ट किया गया है कि ३ ३ गौ का एक एक अहगण होता है। फलत १ गौ के ३ ३ के बिभाग से (६ ६ में ही) ३३ अहगण पूर्ण होजात हैं १ गौ शेष रह जाती है। यही अ तिम चौतीसवा सवप्राजा प यस्थान माना गया है। इसी के लिए चतुस्त्रिंश प्रजापति कहा जाता है।

जिस कम्म म यज्ञ कन रूपेण ३४ सख्या का समावेश होजायगा वह कम्म सख्या–समतुलनमात्र से सवप्राजाप य सम्पात्त से युक्त होजायगा। जिस कम्म मे सवथा उपांशुभाव का समावेश होगा वहाँ तत्–सम अनिरुक्त हृद्य (पिण्डक द्रावच्छिन्न) प्रजापति का अनुग्रह प्राप्त होजायगा। एव जिस कम्म मे सप्तदश (१७) सख्या का सम वय होगा वहाँ स्वत एव तत् समतुलित उद्गीथप्रजापति की अग्नियज्ञसम्पत का ग्रहण होजायगा।

३३ अहगणा मक महिमामण्डल का के द्र १७ वा अहगण है। यही सत्रहवाँ अहगण उस नवाहयज्ञ की उपक्रमभमि है जिसे पुराणपरिभाषानुसार श्वेतद्वीप निवासी स यनारायण विष्णु कहा जाता है। १७ से आर भ कर २५ व अहगण पर्य्य त ६ अहगणों की याप्ति से जो योतिम्मय अपूव यज्ञ प्रतिष्ठित है वही नवाहयज्ञ कहलाया है। इस नवाहयज्ञ का केन्द्र २१ वाँ अहगण है। यही भगवान् सूय्यनारायण प्रतिष्ठित हैं। इन्ही के सम्ब ध से ये यज्ञा मक विष्णु स यनारायण कहलाए हैं जो पूवप्रतिपादित त्रिविक्रम वि णु से पृथक त व है। तद्यत तत स यमसौ स आदि य के अनुसार सू य स य की प्रतिमा है। आपो मय पारमेष्ठय समुद्र के गभ में प्रतिष्ठित रहने के कारण येही नारायण है। प्रतिमास की पूर्णिमा तिथि में त वज्ञ उपासक व्रतप्रक्रिया के द्वारा इसी त व को आ मसात् किया करत है।

१७ १- ५ य तीन अहगण क्रमश ब्रह्मविष्प् त्रिष्गुविष्प इ द्रविष्प कहलाए हैं। यही त्रिविष्टपस्वग है जिसका अ यत्र विशदीकरण हुआ है। तीनों में से १७ व का पार्थिव उस यज्ञविष्णु [त्रिविक्रम वामनवि णु] से स न्ब ध है जिसकी स पत् प्रकृत यज्ञ में अपेक्षित है। इसकी आ तम सीमा क्योकि १ वा अहगण है अतएव ईसे सप्तदशो वै प्रजापति इ यादि रूप से सप्तदश नाम से यवहृत किया जाता है। भपृष्ठ से आ रम्भ कर सत्रहव अहगण पय्य त या त १७ अवयवों से हो स यज्ञप्रजापति का स्वरूप नि र्माण हुआ है। पाच याहृतियों से जहा यह उदगीथ नामक स तदशप्रजापति पञ्चावयव है व ा अहगणा मक १ अवयवो से यह सप्तदशावयव भी बन रहा है। पञ्चावयव स तदश ाशिरूप इसी यज्ञा मा का व्याहृति के सप्तदश अक्षरो से सग्रह होजाता है । यही पञ्च याहृतिसमष्टि के १७ अक्षरो की मौलिक उपपत्ति है जिसका नि न ालखित स्मा विचन भी स्प टीकरण कर रहा है—

चतुर्भिश्च———चतुर्भिश्च———द्वाभ्या—पञ्चाभरेव च।

१ २ ३ ४———१ २ ३ ४————१ २—१ ३ ४ ५

[ओ श्रा व य]——[अ स्तु श्रौ पट ———[य ज] [य य जा म हे]

[१ ३ ४]——[५ ६ ७ ८]————[९ १] ११ १ १३ १४ १५]

१——————२ ——— ——————३————४

हूयते च पुनर्द्वाभ्या—— **तस्मै यज्ञात्मने नम ॥**

उदगीथप्रजापतये

[१६ १७]

[वौ षट]

१६ १७

अत्र १७ कण्डिका—उपरता

———*———

अथ—वृष्टिविज्ञानम्—

स तदशस्तोमा मक आहवनीय प्रदेश ही जिसे हमने ब्रह्मविष्प् कहा है नाचिकेत आ नेय स्वग कहलाया है। सुप्रसिद्ध स्व र्यानि का जिसका नचिकेता के द्वारा प्रश्न हुआ है एव यम के द्वारा ष्टकाचिति रूप से समाधान हुआ है सी सप्तदशस्थान स स न्ब ध है । प्राक्सौमिक पवयज्ञ ममष्टिलक्षण सोमयाग से उ पन्न स्वगप्रापक दैवा मा इसी सप्तदश स्थान में प्रति ठत होता है। दूसर श दो म दशपूर्णमासे व्यनुगत सोमयागापर्प यायक योति टोम से प्राप्तव्य स्वग सप्तदशस्तोमावां छन्न यही नाचिकेत स्व । है जिसके लिए क ा गया है दशपूर्णमासा या स्वगकामो यजेत योतिष्टोमेन स्वगकामो यजेत । पञ्चावयवा स न शकलात्मिका स्वर्ग्याग्निलक्षणा प्राजाप यस पत्ति इस द टको से आ दविक सम्पात्त मानी जासकती है जिस की आधिभौतिक शरीर के निधनानन्तर प्राप्ति होती है।

मानवीय मन परोक्षफलाकर्षण की अपेक्षा प्रत्यक्ष भौतिक फलाकर्षण की ओर विशेषरूप से आकर्षित रहता है। उस ी बाह्यदृष्टि पहिले ऐहलौकिक फलकामना की ही अपेक्षा रखती है। जब उसे किसी कर्म के प्रति यह विश्वास होजाता है कि मुझे अमुक कर्म से प्रत्यक्ष में भी इसी जीवन में भी कोई भौतिक फल मिल सकता है तो वह उस कर्म में अपेक्षाबुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होजाता है। यही क्यो आधिभौतिक साधन सापेक्ष से स पन्न कर्मकाण्ड का तो अधिकारी भी वही माना गया है जिसकी प्राथमिक लक्ष्यभूमि आधिभौतिक ही बनती है। उच्चपीठिका में प्रतिष्ठित जो उच्चाधिकारी केवल परोक्ष आधिदैविक लक्ष्य प्राप्ति के लिए कर्म्म में प्रवृत्त रहते हैं उनका व कर्म तो **उपासना** अथवा **ज्ञानयोग** ही बन जाता है। प्रवृत्तिलक्षण कर्मकाण्ड (यज्ञकाण्ड) का सामान्य अधिकारी तो प्रत्येक दशा में भौतिक ऐहलौकिक फल की अवश्यमेव कामना करेगा। प्रकृत आश्रावण प्रत्याश्रावण कर्म्म के उस प्रत्यक्ष भौतिकफल का ही १८ १६ २ इन तीन कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है। तात्पर्य वैदिक यज्ञकर्म केवल पारलौकिक आधिदैविक स्वर्गादि फलों के ही जनक नहीं हैं अपितु परोक्षफल के साथ साथ इनसे प्रत्यक्ष भौतिक योग क्षेम सवाहक वर्षादिफल भी प्राप्त होजाते है।

इन प्रत्यक्ष फलों को हम **ज्योतिश्चक्र [खगोल–आकाश]** एव **भुवनकोश [भूगोल पृथिवी]** भेद से दो भागों में विभक्त कर सकते है। **हमारी यच्चयावत् भौगोलिक पार्थिव कामनाओं की प्रतिष्ठा ऋतु अनुकूला वर्षा ही है। निकामे निकामे न पर्जन्यो वर्षतु** इत्यादि यजुर्मन्त्रवर्णनानुसार समय समय पर पर्जन्य देवता के अनुग्रह [व्यापार] से होने वाली वर्षा ही ओषधि वनस्पति के उत्पादन के द्वारा पार्थिव योग क्षेम का सचालन कर रही है **हमारी समस्त ऐहलौकिक कामनाओं का एव पार्थिव भौगोलिक कामनाओं का केन्द्रीकरण अन्न बल पर ही अवलम्बित है**। एव स की मूलप्रतिष्ठा खगोलीया वर्षा ही है।

वर्षा प्रकृति का प्रथम प्रत्यक्ष अनुग्रह है एव पार्थिव ओषधि वनस्पति जल पशु–वित्तादि द्वितीयानुग्रह है। प्रथमानुग्रह [वर्षा] के आधार पर ही द्वितीयानुग्रह प्रतिष्ठित है। १७ १८ इन दो कण्डिकाओं में पहिले खगोलीय प्रथमानुग्रह का एव २ वी कण्डिका में द्वितीय भौगोलिक पार्थिव अनुग्रह का ही विश्लेषण करती हुई श्रुति भ्रान्त जनों की उस भ्रान्ति का आमूलचूड खण्डन कर रही है जिस भ्रान्ति में पड कर व भ्रान्त मनुष्य यह कहते सुने गए हैं कि **शास्त्रीय कर्म्मकाण्ड यज्ञकर्म्म तो मरने के पश्चात् ही फल देते है। हमारा पहिला लक्ष्य अन्न वस्त्र है। यह चिन्ता शास्त्रीय कर्म्मकाण्ड से निवृत्त नहीं होसकती।** अवश्य ही भारतीय यज्ञकाण्ड न केवल पारलौकिक परोक्ष फलों का ही प्रवर्तक है अपितु परोक्षातिशय के साथ साथ प्राकृतिक रहस्यपूर्ण वैज्ञानिक–शिक्षणापूर्वक आधिभौतिकी **समस्त प्रत्यक्ष कामनाएँ भी इसी यज्ञकाण्ड से सम्पन्न की जासकतीं हैं**। यही तो यज्ञ के– **इष्टकामधुक** विशेषण का फलितार्थ है जिसे न समझकर अर्द्धदग्ध भ्रान्त जन शास्त्रानुगत भारतीय वैदिक कर्म्मकाण्ड की उपेक्षा से अपना सर्वनाश ही करा रहे हैं।

पुरोवात अभ्र विद्युत् स्तनयित्नु इन चारो सहयोगियों के एकत्र समन्वय से ही **वर्षाकर्म्म** की प्रवृत्ति मानी गई है। सुप्रसिद्ध **पुरवाई हवा ही पुरोवात** है। प्रत्यक्ष दृष्ट **धूम–ज्योति–सलिल–**

मरुत् (बाष्प अ नि पानी वातवायु) की समष्टिरूप बद्दल अभ्र है। प्रयक्षदृष्ट चाकचक्य विद्युत् है एव प्र यक्ष श्रु त ग जन तजन ही स्तनयि नु है। सवप्रथम पुरोवात का सञ्चार होता है। पुरोवात के सञ्चार से इतस्तत श्रृतभाव [खण्डभाव] से बिखरे हुए अभ्रखण्डो का नियताकाशप्रदेश में एकत्र सम वय होजाता है। अभ्रघनता से समु पन्न वायु अ नि जलीय घषण से विद्यु त् उ पन्न होजाती है साथ ही ग जन त जनलक्षण स्तनयि नु भी। इस सम्पूण सामग्री स भार के समवत होत ही— तड तड प्रति वनि के साथ वर्षा होने लगती है प्राकृतिक प्राणदवताओं के प्राकृतिक सम्व सरयज्ञ से सम्ब ध रखने वाले आश्रावण प्र याश्र वणकम्म की— ओ श्रावय रूपा प्रथमा याहृति का फल पुरावात है। अस्तु श्रौषट् याहृति से अभ्र का सम्ब ध है। यज से विद्यु त् का ये यजामहे से स्तनयि नु का एव तड तड प्रति वनिपूर्विका वर्षा का वाषट् इस पाचवीं याहृति से सम्ब ध है। इसप्रकार प्राकृतिक प्राणदवता पञ्चा या मक इसी आश्रावण–प्र याश्रावणकम्म से वर्षा के प्रव क बन रहे हैं जिस वर्षा के ता विक स्वरूप का नि न लिखित श दो में दि दशन करा देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा।

भारतीय वदिक वज्ञान के स ब ध में सबसे बडी विप्रतिपत्ति य ी है कि उसका अनेक रहस्यपू ण परिभाषाओं से ही विशेष सम्ब ध है। बिना उन्ह अवगत किए केवल अक्षराथ के आधार पर तत्तद्द शा— निकप्रकरण शू य से निरथक से क पित से एव कहानी से ही प्रतीत होने लगते हैं। साथ ही दूसरी जटिलता यह भी है कि परोक्षप्रिय ऋ षयों की परोक्षाभाषा [वदभाषा] के अनुग्रह से किसी भी विज्ञान का किसी एक ही प्रकरण में क्रमबद्ध निरूपण न ी मिलता। जबतक समस्त व राशि का म थन न ी कर लिया जाता तबतक किसी भी विज्ञानसिद्धा त का यथानुरूप सम वय स भव नही बन सकता। जिस वृष्टिविद्या के स ब ध में प्रकृत में कुछ निव न करना है उसके लिए भी ये ही जटिलताए विद्यमान हैं। प्रकृत ब्राह्मण की ओ श्रावयेति देवा पुरोवात ससृजिरे इ यादरूपा १ वी कण्डिका में वृष्टिविज्ञान का निरूपण तो हुआ है। परन्तु यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि केवल इ कण्डिकामात्र से अ शत भी तो वृष्टिविज्ञान का विश्लेषण नही होर ा। देवता पुरोवात अभ्र विद्युत् स्तनयि नु वाषट् आदि किसी भी त व का तो यहा विश्लेषण न ी हुआ। अवश्य ही इन त वों के स्वरूप–परिज्ञान के लिए एक– बार हमें उन स पूण वदिक स्थल विशेषो की ओर अपना यान आकर्षित कर ी लेना पडेगा जिनमें तत्तत्प्रकरणस दभ की अपेक्षा से तत्तत् विशेष भावो का स्पष्टीकरण हुआ है। प्रसङ्गोपात्त वृ ष्ट वज्ञान से स ब ध रखने वाला प्रस्तुत प्रकरण पाठको के लिए विशेषरूप से अनुरञ्जन का साधन बनेगा सी आशा के साथ सक्षेप से तत्सम्ब ध में कुछ निवदन कर देने का साहस किं ा दुस्साहस कर लिया जाता है।

वृष्टिविद्या क स ब ध में ए ही त ववाद का अनेक दृष्टियो से सम वय हुआ है। उन विभिन्न दृष्टिकोणो में से प्रकृत में छा दोग्य–उपनिषत् से सम्ब ध रखने वाले पञ्चाग्निविद्यानुगत दृष्टिकोण का ही विशेष स ब ध मानना पडेगा। छान्दो य उपनिषत् में यह स्पष्ट किया गया है कि वृष्टि का मूल त व श्रद्धातत्त्व है। य ी श्रद्धात व आगे जाकर सोमरूप में परिणत होता हुआ वृष्टिरूप में परिणत होता है यही एक औपनिषद दृष्टिकोण है।

दूसरा दृष्टिकोण यह है कि विद्यानिरपेक्ष इष्ट आपूर्त द त्त नामक सत्कम्मा क अनुयायी जीवा मा निधनान तर कृष्णमाग के अनुगामी बनते हैं। पहिले वे शरीर छाया मक

धूमाद्व मण्डल में जाते है। य॰ा स रात्रि मे रात्रि स कृष्णपक्ष मे कृष्णपक्ष से दक्षिणायन मासषट्कमण्डल म मासो क द्वारा पितृलोक मे पितृलोक से आकाश [पितयाण] मे आकाश से चन्द्रलण्डल मे पहुचते है। वहा यावत्सत्कर्म्मातिशयप य त पितस्वगसुख-भोगान तर पुन उसी माग से लौट आते है। चन्द्रमण्डल से आकाश मे आकाश से वायुमण्डल में आकर वायुरूप मे परिणत होजाते है। वायु से धूम (वाष्प) रूप मे धूम स अभ्ररूप मे परिणत होते है। अभ्रावस्था से मेघावस्था मे परिणत होते है। मेघ से वृष्टिजलरूप मे परिणत होकर जीवात्मा व्रीहि यव ओषधि बनस्पति तिल माष आदि किसी एक भातिक पार्थिव द्रव्यरूप मे परिणत होजाते है। पार्थिव अन्न ही जल क द्वारा जीवत्माओं का बाह्य शरीर बनता है। इस अन्न की पुरुषाग्नि मे आहुति होती है। इस यज्ञ के द्वारा अन्नगत प्राणात्मा (आपपातिक जीवा मा) शुक्र क द्वारा स्त्री क गर्भाशय मे प्रतिष्ठन शोणिताग्न मे आहुत होकर यथाक्रम्म यथाविध भौतिक शरीर धारण कर लेता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार जीवात्मा हीं वृष्टि का धूमावस्था के द्वारा प्रधान निमित्त बन रहा है जिस इस दृष्टिकोण का निम्नलिखित शब्दों मे स्पष्टीकरण हुआ है—

'अथ य इमे ग्रामे-इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति। धूमाद्रात्रिं। रात्रेरपरपक्ष अपरपक्षाद्यान् षड दक्षिणाति मासास्तान्। एते सम्वत्सरमभिप्राप्नुवन्ति। मासेभ्य पितृलोक पितृलोकादाकाश, आकाशाच्चन्द्रमसम्। एष सोमो राजा। तद् वा नामन्नम्। त देवा भक्षयन्ति। (इति-जीवात्मन -आरोहणम्)'। (अथात अवरोहणम्) — तस्मिन् यावत् सम्पातमुषित्वाऽथतमवाध्वान पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्। आकाशाद्वायु, वायुभूत्वा धूमो भवति, धूमोभूत्वाऽभ्र भवति, अभ्र भूत्वा मघो भवति मेघो भूत्वा प्रवषति। त इह व्रीहि-यवा ओषधि वनस्पतय तिल माषा इति जायन्ते। अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतर यो यो ह्यन्नमत्ति, यो रेत सिञ्चन्ति, तद्भूय एव भवति"।

+—छान्दोग्योपनिषत् ५ प्र।१ ख।३४५६ क।

द्युलोकस्थ श्रद्धातत्त्व सोम के द्वारा वृष्टिरूप मे परिणत होता है इस प्रथम दृष्टिकोण से एव अवरोहणक्रम मे जीवात्मा वृष्टिरूप मे परिणत होता है इस द्वितीय दृष्टिकोण से हमें इसी निष्कर्ष पर पहुचना पड रहा है कि द्युलोकस्थ खगोलीय तत्त्वविशेष ही वृष्टि का जनक है। अब उक्त दोनो दृष्टिकोणो से सवथा विभिन्न एक तीसरे दृष्टिकोण को लक्ष्य बनाइए। जिसप्रकार द्युलोकाधिष्ठाता सूर्य से रश्मियों के द्वारा सौर सावित्राग्नि (आदित्याग्नि) अजस्ररूप स भूलोक की ओर आता रहता है एवमेव भूलोका-

× इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन चतु खण्डात्मक श्राद्धविज्ञान के-'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' नामक चतुर्थ खण्ड मे देखना चाहिए।

धिष्ठाता पार्थिव आङ्गिरोऽग्नि अपने प्राणरूप से भूपिण्ड से निकल कर अजस्ररूप से द्युलोक की ओर जाया करता है। द्युलोक से आते हुए आदित्याग्नि से जहां सुप्रसिद्ध- **आदित्यानामयनम्** नामक यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होरहा है वहां भू से जाते हुए अङ्गिरोऽग्नि से सुप्रसिद्ध **अङ्गिरसामयनम्** यज्ञ सम्पन्न हो-रहा है। भूलोक से निकला हुआ प्राणात्मक अङ्गिरोऽग्नि तो द्युलोक की ओर जा ही रहा है। साथ ही द्युलोक से भूपृष्ठ पर आकर आदित्याग्नि भी प्रतिफलित होकर **अश्व** रूप में परिणत होता हुआ द्युलोक की ओर ही जारहा है। दोनों के इसी संगमन से उक्त दोनों अयनसत्रों का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। सुप्रसिद्ध अङ्गिरा तथा आदित्य की स्पर्द्धा का स्पष्टीकरण करने वाले आख्यान ने इसी सत्रविज्ञान का प्रतिपादन किया है *।

वक्तव्य यही है कि पार्थिव अग्नि (प्राणात्मक अङ्गिरोऽग्नि) भूपिण्ड से निकल कर वाङ्मय स्तोमों के आधार पर अग्निप्लवरूप से एवं पृष्ठरूप से निरन्तर द्युलोक की ओर जाया करता है। स्तोमसम्बन्धेन अङ्गिरोऽग्नि का यह द्यु-गमनमार्ग सर्वथा नियत है। अङ्गिरोऽग्नि के इसी द्युलोकगमन का स्पष्टीकरण करती हुए मन्त्र श्रुति कहती है —

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन्।
प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः॥

—अथर्वसं० १८।१।६१।१

भूपृष्ठ पर व्याप्त जलमात्रा बाष्परूप में परिणत होकर द्युलोक की ओर जाते हुए आङ्गिरोऽग्निगर्भ में प्रतिष्ठित होजाती है। अग्निगमन के साथ साथ बाष्परूप से परिणता पार्थिवी जलमात्रा भी अन्तरिक्ष में चली जाती है। अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित मरुत् नामक वायुविशेष के धरातल पर वह जलमात्रा गर्भीभूत बन जाती है। **यही पार्थिवजल का गर्भधारण है।** जबतक सौररश्मियां तीव्र नहीं बन जाती तबतक वह पार्थिव जलमात्रा उसी वायुगर्भ में प्रतिष्ठित रहती है। जब (आत्यन्तिक ग्रीष्मकालोपलक्षित निदाघकालावसान में) सौररश्मियां अपने निम्नभाव में परिणत होजाती हैं तत्काल वायुधरातलस्थ पानी भूपिण्ड पर गिर पड़ता है।

इसप्रकार पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि के द्वारा मरुद्धरातल में अवस्थित पानी ही कालान्तर में पृथिवी पर बरस पड़ता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार **पार्थिव जल ही द्युलोक में जाकर वृष्टि का कारण बन रहा है।** हम समझते हैं वृष्टि केवल भूपिण्ड में ही होती है। परन्तु यथार्थ में परिस्थिति तो यह है कि **भू-द्यु दोनों ही लोकों में समानरूप से वृष्टि होरही है।** अन्तर केवल यही है कि **द्युलोक में पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि वृष्टि के प्रवर्तक हैं एवं भूलोक में आन्तरिक्ष्य पर्जन्य-देवता वृष्टि**

***- आदित्याश्च ह वाऽअङ्गिरसश्च उभये प्राजापत्या अस्पर्द्धन्त वयं पूर्वे स्वर्गं लोकमेष्यामो वयं पूर्वेऽइति। (शत० १२।२।१।६)-"एतदादित्यानामयनम् एतदङ्गिरसमयनम्" (शत० ४।५।१।१६,२)।**

क प्रार्त्तक है। यहाँ से गहा गया हुआ पानी यहा बरसता है पज य क द्वारा। ग्न यहा से ाहा पानी बरसता है पार्थिव अङ्गिरोऽग्न क द्वारा। पार्थि ावृष्टि मे पार्थिव अहगण निमित्त बनते हैं एव दि यवृष्टि में सौर अहगण निमित्त बनते है। निम्नलिखित म त्रश्रु तिया इसी दृष्टिकोण का समथन कर रही है

(१) 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति मरुत सृष्टा नयन्ति।
यदा खलु वा असावादि यो यङ राश्मभि पर्य्यावर्त्तते अथ वर्षति'।
-तै स का।४प्र।१ अा।२क।

(२) समानमतदुदकमु चेत्यव चाहभि ।
भूमिं पज या जिवन्ति दि ा जि त्यग्नय ॥
—ऋकस १।१६४।५१

एक अ य दृष्टिकोण का भी सम वय कीजिए। भगवान् मनु कहते हैं कि द्विजातियों का यज्ञक म ही वृष्टि का मूल है। आहवनीयाग्नि में यथाविधि जो आहुति दी जाती है वह द्य लोकस्थ आदि य में पहुंच जाती है। पार्थिव आहुतिग्राहक आदि यदेवता प्रतिदान [बदले] में वृष्टि करते है वृष्टि से अन्न उ पन्न होता है अन्न से प्रजो पत्ति होती है। इसप्रकार यज्ञाहुति ही परम्परया वृष्टिप्रवर्त्तिका बन रही है। देखिए!

अग्नौ प्रास्ताहुति सम्यक–आदित्यमुपतिष्ठत।
आदित्याज्जायते वृष्टि—वृष्टेरन्न तत प्रजा ॥
—मनु ३।७६

एक पाँचवाँ दृष्टिकोण और लीजिए। अक्षर से ब्रह्म [क्षर] का विकास होता है ब्रह्म से कर्म्म उत्पन्न होता है कर्म्म से यज्ञ उ पन्न होता है यज्ञ से पज य उ पन्न होता है। पज य से वृष्टि के द्वारा अन्न उ पन्न होता है एव अ न से भतसृष्टि होती है। यहा अक्षर को ही वृष्टि का मूलाधार माना जा रहा है। देखिए!

अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्ज यादन्नसम्भव ।
यज्ञाद्भवति पर्ज यो यज्ञ कर्म्मसमुद्भव ॥
कर्म्म ब्रह्मोद्भ नि द्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भ म्।
तस्मात्सर्वगत ब्रह्म नित्य यज्ञ प्रतिष्ठितम् ॥
—गीता ३।१४ १५।

यद्यपि उक्त दृष्टिकोणों की विवचना शैली में [साथ ही द्यावा पृथवी–रूप से] अ शत सिद्धा त में भी भेद प्रतीत होरहा है तथापि वस्तुग या सभी दृष्टिकोणों का निर्विरोध सम वय किया जासकता है। जैसा कि आरम्भ में निवदन किया गया है प्रथम दृष्टिकोण का प्रस्तुत ब्राह्मणप्रकरण के साथ विशेष सम्बन्ध है।

अतएव उसी को आधार बनाकर यहा वृष्टिविद्या का दिग र्शन करा । समीचीन माना जायगा। छा दो यश्र ति ने जिस पञ्चा। नविद्या के आधार पर अपसग के द्वारा पुरुषसग का प्रतिपादन किया है उस का वैज्ञानिक त व उसी की भाषा में स्पष्ट है। अरुणपुत्र अतएव **आरुणेय** इस उपनाम से प्रसिद्ध **श्वेतकतु** अपनी ता विक जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिए तत्समय की सुप्रसिद्धा कुरुपञ्चालों की **ाद्व पर्षन्** [**परिषत्**] में उपस्थित होते हैं। प्रारम्भिक योग्यता की परीक्षा के लिए पषत् के मा य विद्वान् जैबिलि श्वतकेतु से प्रश्न करते हैं कि कुमार ! क्या तुम्ह तु हारे पिता [अरुण] ने त वज्ञान के शिक्षण से युक्त कर दिया है ?। कुमार श्वत केतु उत्तर में यो ही **हाँ भगवन** ! कहते हैं योंही जबिलि उन के सम्मुख प्रश्नपरम्परा रख बैठते हैं। जैबिलि के द्वारा श्वतकेतु से होने वाली प्रश्नपर परा का पाचवा प्रश्न है— **वेथ यथा पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुष वचसो भव ति** —जानते हो तो बताओ ! **पाचवी आहुति मे अपृत व कैसे पुरुषस्वरूप मे परिणत होजाता है** ?। श्वेतकेतु समाधान करने में असमथ रह जाते है। फलत स्वय जैबिलि की ओर से ही पाचों प्रश्नों का ता विक विश्लेषण होता है।

सुप्रसिद्ध **वेदा तसूत्र** [यासस्रूत्र] के ततीया याय के आरम्भ से आ मगति विषयक सिद्धा तो का कतिपय सत्रो से प्रतिपादन हुआ है। वहा का प्रारम्भिक सूत्र है— **तद तरप्रतिपत्तौ रहति सम्परिष्वक्त प्रश्ननिरूपणाभ्याम्** (या सू ।१।१)। जीवा मा पाञ्चभौतिक म य अनि य शरीर से पृथक् अमृत नि य तत्त्व है जब पूवस दभ से (प्रतिपादिता अ यायद्वयी से) यह सिद्ध होजाता है—[तद **तरप्रतिपत्तौ**] तो यह भी स्वत एव सिद्ध होजाता है कि म य स्थूलशरीर के छूट जाने पर जीवा मा लोका तर में गमन करता है—(रहति)। **क्या विशुद्ध आ मा का लोका तर मे गमन होता ह** ? प्रश्न का **नेति** रूप से समा धान करते हुए भगवान बा रायण कहते हैं कि **ािशुद्ध आ मत ा का गमन असम्भ । है**। अतएव मानना पडता है कि **जी ा मा सूक्ष्म भूतों से वेष्टित होकर ही [आति ाहिक सूक्ष्मशरीर धारण करके ही] लोका तर मे गमन करता ह** [सम्परिष्वक्तो भूतसूक्ष्मै –गच्छति]।

प्रमाण के लिए जैबिलि और श्वेतकेतु में होने वाली प्रश्नोत्तर–परम्परा ही पर्य्याप्त है। वहा पुरुष–सग के सम्ब ध म जो प्रश्नोत्तर हुए है उनसे यह प्रमाणित होता ह कि **जीवा मा भूतसूक्ष्मों से सम्प–रिष्वक्त होकर ही लोका तरों** में गमन करता है–(**प्रश्ननिरूपणाभ्याम्**)। *–प्रश्न निरूपण का ता पर्य्य यही है कि **अवरोह (उत्पत्ति)** क्रम में अपत व से ही पुरुष की उत्पत्ति हुइ है। यदि **आरोहक्रम** में अपृत व का पुनर्गमन न माना जायगा तो एक न एक दिन वह नि शेष ही होजायगी। फलत निर्म्माणक्रम अवरुद्ध होजायगा। उधर **स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्य –धाता यथापूव मकल्पयत्** इ यादि श्रु तिप्रामाण्यानुसार सृष्टिक्रम शाश्वत माना गया है। इसकी यह शाश्वतता तभी अक्षुण्ण बनी रह सकती है जब कि **जीवावरोहणवत् जीवारोहण मे भी अप तत्त्व का गमन माना जाय**। इसी

---

* **तदन्तरेत्यादिकसूत्रमेतद्–ब्रूह्येतदर्थं यदि वेत्थ किञ्चित्।**
स प्राह जीव करणावसासे सवेष्टितो गच्छति भूतसूक्ष्मै ॥
—प्राचीनसूक्ति

आधार पर– ता एव ह्युपपत्त इत्यादि के अनुसार मानना पडता है कि जीवा मा भूतसूक्ष्मै सम्परिष्क्त एव लोकान्तरे गच्छति ।

जीवात्मगतिप्रतिपादक इस सूत्रसन्दर्भ का विशद वैज्ञानिक विवेचन श्राद्धविज्ञानान्तगत आत्मविज्ञानोपनिषत् नामक प्रथमखण्ड मे देखना चाहिए।

अग्निहोत्रयज्ञ से समतुलित उस पञ्चाग्निविद्यात्मक अग्निकर्म्म से ही पुरुषसृष्टि का आविर्भाव हुआ है। हमारे वैध (मनुष्ययजमानकृत) अग्निहोत्र में अग्नि समिध अङ्गार विस्फुलिङ्ग हविर्द्रव्य इत्यादि भौतिक साधनो का समन्वय रहता है। इन सब भौतिक साधनो का अन्नादलक्षण अग्नि अन्नलक्षण सोम इन दो साधनो में अन्तर्भाव माना जायगा। क्योकि प्राकृतिक नित्याग्निहोत्र में ये दो साधन ही मुख्य माने गए है। रोदसीत्रैलोक्यविधाता – नवोदेता नास्तमेता मध्य एकल एव स्थाता बृहद्ध तस्थो भुवनेष्वन्त पवमानो हरित आविवेश — सूर्य्यो बृहतीम यूढस्तपति इत्यादि वचनों के अनुसार रोदसी–ब्रह्माण्ड के केन्द्र विषुवद्वृत्त नामक बृहतीछन्द में प्रतिष्ठित सूर्य्यदेवता सावित्राग्निमय है। अग्निदेवता ये निरन्तर उसीप्रकार अन्नादान की इच्छा किया करते है जसे कि हमारा शरीराग्नि स्वाकरूपा बुभुक्षा के उपशम के लिए साय प्रात अन्न (भोजन) की इच्छा किया करता है। इस स्वाभाविकी अन्नादानेच्छा से ही यह अन्नमत्तीति निर्वचन से अन्नाद कहलाया है।

कल्पना कीजिए उस ब्रह्माण्ड– व्यापक सौर अग्नि के महामहनीय प्रवृद्धतम अन्नादभाव की जिसकी महिमा के गर्भ में असख्य अस्मदादि प्राणियो के अन्नाद प्रतिष्ठित है जो कि अपने स्वरूप आयतन की पूर्त्ति के लिए प्रतिदिन साय प्रात अन्नादान की बुभुक्षा बनी रहती है। अवश्य ही यह मानना पडेगा कि जिसने ब्रह्माण्ड के प्रति अपने आप को अन्नात्मकरूपेन समर्पित कर दिया है हमारे रोदसी–ब्रह्माण्ड में भी बृहदायतन कोई न कोई अन्न निरन्तर इस विभ्राट् की बृहती बुभुक्षा शान्त करता रहता है। उस महदन्नाहुति का ही यह प्रभाव है कि आरम्भ से आज पर्य्यन्त सृष्टिनिर्म्माण प्रक्रिया मे अपनी मात्राओं का समर्पण करता हुआ भी सूर्य्य स्वशरीर से अक्षुण्णवत् बना हुआ है। जिस उस महदन्न की इस सौर सावित्राग्नि में निरन्तर आहुति होती रहती है जिस अन्नाहुति से आ कृष्णेन रजसावर्त्तमानो निवेशयन्नमृत मर्त्यं च इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार जो सौरसावित्राग्नि स्वस्वरूप से कृष्ण रहता हुआ भी ज्योतिर्म्मय बना हुआ है वही सौराग्नि का अन्न उस महामहिम पारमेष्ठ्य मण्डल में रहने वाला भागव स्नेहतत्त्व है जिस परमेष्ठी मण्डल के सामने सूर्य्य एक बुद्बुद् के सदृश अपना महत्त्व रखता है।

यही पारमेष्ठ्य अन्नसोम ब्रह्मणस्पति कहलाया है जिसका मौलिक स्वरूप अबलक्षण श्रद्धातत्त्व ही माना गया है। इसी श्रद्धात्मिका सोमाहुति से सूर्य्य प्रज्ज्वलित है। सौरप्राणाग्नि अग्नि है सूर्य्यात्मक भूतपिण्ड अङ्गार है। सूर्य्य से प्रवर्ग्यसम्बन्ध के द्वारा इतस्तत विनिसृत धूम्र लोहित हरित आग्नेयपुञ्ज विस्फुलिङ्ग है अस्मदादि समस्त प्राणीवर्ग समित् है पारमेष्ठ्य सोम हविर्द्रव्य है। इन सब के समन्वय से ही प्राकृतिक नित्य अग्निहोत्र सञ्चालित है जिसके आधार पर ही रोदसी–ब्रह्माण्ड की जीवनसत्ता अवलम्बित है। इसी प्राकृतिक सूर्य्याग्निहोत्रविधा के आधार पर मानुष उस अग्निहोत्रविधा का आविष्कार हुआ है जिस का याज्ञिक ब्राह्मण साय प्रात अनुगमन किया करते हैं। अग्निहोत्र के इसी रहस्यात्मक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम् । तद्यदेतस्या अग्रऽआहुतेरुदैत् तस्मात् सूर्योऽग्निहोत्रम् । म यत सायमस्तमिते जुहोति य इद तस्मिन्निह सति जुहवानि–इति । अथ यत् प्रात–रनुदिते जुहोति य इद तस्मिन्निह सति जुहवानि–इति । तस्माद्वै सूर्यो ग्निहोत्रम् ।'

—शत ब्रा ।२।१।१ ।

उक्त सूर्याग्निहोत्र में अग्निहोत्रसाधक **अग्नि अङ्गारादि** जिन साधनों का उल्लेख किया गया है व सब आग्न सोम इन दो तत्त्वों पर ही विश्रान्त है । **अग्नि धूम सामत् अङ्गार विस्फुलिङ्ग** इन का तो अग्नि में अन्तर्भाव है शेष सोममात्र रह जाता है । अतएव अवश्य ही इस अनेकसाधनानुगत भी यज्ञ का **अग्नौ सोमाहुतियज्ञ** यह लक्षण किया जासकता है । पञ्चाग्निविद्या का तात्पर्य यही है कि एक ही यज्ञ स्थानभेद स पाच सस्थाओं में विभक्त होरहा है । **सौरसस्था आधिदैविकी है पार्थिवसस्था आधिभौतिकी है पुरुषसस्था आ यात्मिकी है । आधिदैविकसस्था का २ विधाओं से आधिभौतिकसस्था का १ विधा से एव आ यात्मिकसस्था का विधाओं से स ब ध है ।** । कारण स सख्या–विप य का यही है कि आधिदैविक तथा आ यात्मिक यज्ञों के दाम्पत्यभाव स जहा अ य प ययज्ञ (प्रजा) उत्पन्न होता है वहा आधिभौतिक पाषाण लोष्टादि यज्ञों स अन्य यज्ञ उत्पन्न नही होता । सकेतावधा से यही रहस्य सूचित करने के लिए आधिदैविक आ यात्मिक यज्ञों के लिए २ २ विधाओं का एव म यस्थ आधिभौतिक यज्ञ के लिए एक ही विधा का स्पष्टीकरण हुआ है । **तीनों क पाच अवयवयज्ञों का ही पञ्चाग्निविद्या क द्वारा विश्लेपण हुआ है ।**

उक्त पञ्चावयव यज्ञ द्यावापृथि य है । द्यावापृथि य यज्ञ के **प्राणलक्षण यज्ञ प्राणीलक्षण यज्ञ** भे सें दो विवर्त्त माने जासकते हैं । प्राकृतिक प्राणों के सम वय स स ब ध रखने वाला द्यावापृथि य यज्ञ **प्राणलक्षणयज्ञ** कहलाएगा एव प्राकृतिक अस्मदादि प्राणियो के सम वय स स ब ध रखने वाला द्यावा–पृथि य यज्ञ **प्राणीलक्षणयज्ञ** माना जाएगा । प्राणलक्षण यज्ञ क प्राणी अन्तरिक्ष द्यौ ये तीन **पर्व हैं । प्राणीलक्षण यज्ञ क पुरुष योषा [स्त्री] ये दो पर्व है । द्युलोकाधिष्ठाता अह कालीन दृश्य अर्द्धाकाशानुगत सौर आग्नेय प्राण से पुरुषसृष्टि का आविर्भाव हुआ है । एवं भूलोकाधिष्ठाता [जिसम आन्तरिक्ष्य प्राणवायु का भी सम वय है] रात्रिकालीन अदृश्य अर्द्धाकाशानुगत चान्द्र सौम्यप्राण से योषा सृष्टि का आविर्भाव हुआ है । द्युलक्षण पिता एवं पृथिवी रूपिणी माता से जैसे प्राणीविध यज्ञ सम्पन्न हुआ है एवमेव द्यु रसानुगत पुरुष (पिता) एव पृथिवी रसानुगता योषा (माता) के दाम्प य से प्राणीविध यज्ञ सम्पन्न होता है ।** योषा पृथिवी की प्रतिकृति है एव पुरुष द्युलोक की प्रतिकृति है । अतएव इस प्राणीविध यज्ञ को भी द्यावापृथि य ही माना जायगा । प्राणविध द्यावापृथि य यज्ञ में पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ तीनों का सवथा पार्थक्य है । इधर प्राणीविध द्यावापृथि य यज्ञ मे अन्तरिक्ष का पृथिवी—प्रतिकृतिरूपा योषा के गर्भाशयरूप आन्तरिक्ष्य आकाश में ही अन्तर्भाव होरहा है । अतएव जहा प्राणविध द्यावापृथि य यज्ञ की तीन सस्था होती है वहा प्राणीविध द्यावापृथि य यज्ञ की **पुरुष योषारूप** से दो ही सस्थाएं रह जाती है । स भूय ३—२ क्रम से द्यावापृथि य यज्ञ की पाच सस्था होजाती हैं जिनका कि पञ्चाग्निविद्या के द्वारा क्रमिक विश्लेषण हुआ है । एव जिस विश्लेषण की **द्यु अन्तरिक्ष पृथिवी पुरुष योषा** ये पाच पृथक पृथक विधा हैं ।

(१) सवप्रथम क्रमप्रा त द्यु विधा का ही सम वय कीजिए। द्य लोक अग्नि है आदि य समित् है रश्मिया धूम है अह काल अर्चि है च द्रमा अङ्गार है नक्षत्र विस्फुलिङ्ग है द्र ये ठ देवदेवता स्वव्यापार से द्यु लोकाग्नि में श्रद्धा रूप हविद्र य की आहुति देते है। आहुत श्रद्धात व और आहुतिग्राहक अग्नितत्व दोनो के अ तर्याम (चिति) स ब धा मक रासायनिक उस सम्मिश्रण से—जिसम दो के याग से दोनो के पूवस्वरूपोपमद न के द्वारा तीसरा अपूवभाव उ पन्न होजाता है — सोम नामक त वा तर उ पन्न होता है। श्रद्धात व का रूपा तर यही सोम आ तरिद्य यज्ञ में आहुतिद्र य बनने वाला है। सोमो पत्ति ही इस द्य यज्ञ का प्रधान फल है।

द्यु लोक लाक है तत्र प्रतिष्ठित सौरप्राणाग्नि (सावित्राग्नि) लोकी है। सूय्यपिण्ड भूताग्नि है पिण्ड के द्र को आल बन बनाकर सौर द्य लोक की अ तिम सीमा में व्या त रहने वाला प्राणाग्नि ही देवाग्नि है। लोक–लोकी का अभेद मान कर ही यहा— असौ वाव लोको गोतम। अग्नि यह कह दिया गया है।

भूताग्नि पिण्डरूप आदि य (सूय्यपिण्ड) प्रज्ज्वलित सा दिखाइ देता है। इसीमे आग्नेय बा पलक्षण धूम का उदय होता है। इसी समि धन से सूय्यपिण्ड समित् माना गया है।

जिसप्रकार प्रज्ज्वलित समित् (काष्ठ) से धूम निकला करता है एवमेव प्रज्ज्वलित सूय्यपिण्डा मक समित् को गभ बनाकर इसमे चारो ओर रश्मियो का वितान होता है। रश्मिया आग्नेय बाष्प की प्रतिकृ तियाँ हैं। अतएव इह्ह अवश्य ही धूम कहा जासकता है।

जिसप्रकार धूम से युक्त समित् से निकलने वाली अग्निज्ज्वाला से चतुर्दिक् में (चहु ओर) प्रकाश होजाता है एवमेव रश्मियुक्त सूय्य से निकलने वाली रश्मियों के सहस्रधा–वितान से स पूर्ण त्रैलोक्य प्रकाशित होपडता है। प्रकाश ही अर्चि [ज्वाला] है। यहा प्रकाशा मक अह ही अर्चि है।

जबतक ज्वाला [अर्चि] बनी रहती है तबतक समित् अङ्गाररूप में परिणत नही होता। ज्वाला के शा त होजाने पर ही अङ्गार की अभि यक्ति होती है। तापलक्षणा वह ज्वाला यहा अहर्लक्षणा अर्चि [प्रकाश] है। जबतक यह रहती है तबतक च द्रमा प्रकाशित नही होता [अभिव्यक्ति नही होती अपितु अभिभव रहता है]। अह के अ तर्लीन होजाने पर च द्रमा उसी प्रकार अभिव्यक्त होजाता है जसेकि ज्वालोपशम पर अङ्गार अभि यक्त होजाता है। इसी सादृश्य से च द्रमा अङ्गार माना जासकता है। च द्रमा सोममय है। सोममय च द्रमा की उ पत्ति इसी दि य आदित्ययज्ञ से हुइ है। इसलिए भी च द्रमा को आदित्ययज्ञ का अवयव माना जासकता है। च द्रमा का प्रकाशधम्म भी सौरप्रकाश का ही प्रव र्यरूप है। प्रतिफलित सोर प्रकाश ही चा द्र योति का जनक बनता है जसा कि— इ था च द्रमसो गृहे – तरणिकिरणासङ्गादेष पानीयपिण्ड –दिनक दिशिचञ्चच्चद्रिकाभिश्चकास्ते इ यादि वचनों से स्पष्ट है। इसलिए भी च द्रमा को अवश्यमव आदि ययज्ञावयव माना जासकता है।

च द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि इ यादि म त्रवणानुसार च द्रमा अप्पिण्ड है। नक्षत्र अपत व के ही प्रवग्यरूप हैं अतएव इह्ह — उडु [पानीयपिण्ड] नाम से व्यवहृत किया जाता है। नाक्षत्रिक आप्यप्राण जहा गणा मक है वहाँ चा द्रमस आप्यप्राण प्रतिष्ठावा है। अवयव एव अवयवी का

जो स ब ध है वही च द्रमा और नक्षत्रों का स ब ध है। अ नि वायु आ त्य च द्रमा इन चा ो प्रतिष्ठावा दवताओ के क्रमश वसु रुद्र आदित्य नक्षत्र ये चार गणदवता कहलाए है। जिसप्रकार अङ्गी अङ्गार से अङ्गा मक विस्फलिङ्ग विनिगत हैं एवमेव अङ्गी आ य च द्रमा से अङ्गा मक आ य नाक्षत्रिक तज का विकास हुआ है। अतएव नक्षत्रो को अवश्य ी अङ्गार-चन्द्रमापेक्षया विस्फुलिङ्ग कहा जासक्ता है।

पार्थिव आ त रक्ष्य दि य इन तीनो में क्रमश अग्नि वायु इ द्र इन तीन प्रतिष्ठावा देवताओ का प्रभु व है। अतए पार्थि । दे ताओं को आग्नेय आ तरिक्ष्य देवताओ को वाय य ए । दि य दे देवताओं को ऐन्द्र कहा जासकता है। उक्त दिव्ययज्ञसस्था में ये ऐ द्रदेवता ही ऋ त्विक् हैं सूर्यके द्रस्थ हिरण्यगभ-प्रजापति ही स यज्ञ के यजमान हैं। दि य-ऐन्द्रदवताओं के द्व रा श्रद्धात व की सावित्राग्नि में आहुति होरही है। इसप्रकार तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ दे ा से यहा ऐन्द्र दिव्य दवता ही गृहीत है।

अब शेष रह जाता है केवल श्रद्धा त व। पूवब्राह्मण-भाष्यो में अनेकधा श्रद्धा के ता विक स्वरूप का विश्लेषण किया जाचुका है। अत व पिष्टपेषण अनावश्यक है। प्रकरणसङ्गति के लिए यह जान लेनामात्र ही पर्य्याप्त होगा क पारम ष्ठ्य अपत वानुगत चा द्रसोम से सम्ब ध रखने वाला श्रत् [स य] को धारण करने वाला मनोऽनुगत स्नेहत व ही श्रद्धा है। श्रद्धा रेतो यश इन तीन चा द्र मनोताओं का क्रमश वाङ्मय शरीर * शुक्र मन इन तीन आ या मिक पर्वो स स ब ध है। तीनो ही प्राकृतिक अनुग्रह हैं। जिन के मन शुक्र तथा शरीर म चा द्र-श्रद्धा रेत यश का प्रकृ या समावश रहता है व ही श्रद्धालु रेतोधा एव यशस्वी होते हैं।

मनोमयी श्रद्धा पितृप्राण की शुक्रमय रेत मानव-प्राण की ए वा ङ्मय यश वषटकार के सम्ब ध से देवप्राण की प्रतिष्ठा बनता है। श्रद्धातत्त्वानुगत पितकम्म इस श्रद्धातत्त्व क सम्ब ध से ही श्राद्ध कहलाया है। श्रद्धा वा आप [तै ब्रा ३।२।४।१]-के अनुसार श्रद्धा वास्तव में आपोमय त वविशेष ही है जिसका उपल ध भा यों में त वदृष्ट्या सम वय नही हुआ है। अपतत्त्व श्रद्धा का प्रथम रूप है ए ा सोमत व श्रद्धा का उत्तररूप है। तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति [ईशोपनिषत्] आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् [गोपथ ब्राह्मण] इ यादि श्रु तियों के अनुसार भृगुलक्षण स्नेहतत्त्व एव अङ्गिरालक्षण तेज दोनो ही आप है। अतएव आपोमयी श्रद्धा के लिए- तेज एव श्रद्धा [शत ११ ३।१।१।] यह भी कह दिया जाता है।

जबतक आपोमयी श्रद्धा परमे ठी में भुक्त है तबतक यह श्रद्धा है। आदि यानि में हुत होते ही आग्नि यानि तथा श्रद्धारस दोनो के सम वय स पूवस्वरूपोपमर्द द्वारा श्रद्धा सोम रूप में परिणत होजाती है। आपोमयी श्रद्धा में आ नप्राण की प्रधानता रहती है। परन्तु तद्रूपा तरभूत सोम आप्यप्राण से सर्वथा

---

* 'यश शरीरे भव मे दयालु'—कविकुलगुरु।

बहि कृत है । य विशुद्ध दवा न बन जाता है। यही द्यु लोकोपलक्षित–आधिदैविक यज्ञसस्था के द्य –पर्वा–मक प्रथमपव का सङ्क्षि त निदशन है जिसका नि न लिखित श्रति से स्पष्टीकरण होरहा है

द्या (१) असा वाव लोको गोतम ! अग्नि । तस्य आदित्य एव समित् रश्मयो धूम , अहरर्चि च द्रमा अङ्गारा , नक्षत्राणि ि स्फुलिङ्गा । तस्मि नतस्मिन्नग्नौ देवा श्रद्धा जुह्वात। तस्या आहुते सोमो राजा सम्भवति" । (दि यज्ञ)

※ ※ ※ ※ ※

[२]—दूसरा आधि विक यज्ञपव अ तरिक्ष से स ब ध रखता है । जिसप्रकार पृथिवी का अतिष्ठावा यथाग्निगर्भा पृथिवी के अनुसार **अग्नि** है द्य लोकातिष्ठावा **आदित्य** [**इ द्र**] है एवमेव अ तरिक्ष के अतिष्ठावा **वायुदेवता** माने गए हैं । स वायुत व के अनेक विवर्त्त हैं । उनमें से **सोमतत्त्व का अनुयोगी एव वृत्रतत्त्वका प्रतियोगी** आप्यप्राणानुगत वायुविशेष ही प्रकृत की अपसृष्टि में अभिप्र त है । वही आ तरिक्ष्य वायुविशेष **पज य** कहलाया है । यही उस द्यु लोकानुगत सोम को अपने गर्भ में रखने के कारण **अग्नि** [**आप्याग्नि**] कहलाया है । आ य आ न के स ब ध स ही इसे– **पज यो वा अग्नि** [शत १४। ६।१।१३] इत्यादि रूप से अ न कया गया है । वर्षा से प हले जो सनसनाता हुआ **पूववायु** [**पुरवाई हवा**] प्रवाहित होता है वही **पज य** कहलाया है । सी आभप्राय से पज य का **क्र दतीव हि पज य** [शत ६। ।३।२] यह लक्षण किया गया है ।

अष्टमूर्त्ति शिवत व पारभाषा में यही पज य **भव** नाम स यवहृत हुआ है । पज य ही वृष्टि के द्वारा सवप्रपञ्च का प्रभव बनता है । अतएव **पज याद्वीद सव भवति** के अनुसार अवश्य ही इसे **भव** कहा जासकता है [दखिए शत ६।१।३।१५] । आप्य अग्निलक्षण वाय य त वा मक पज य के उक्त वस्तुस्वरूपा मक श्रौत निरूपण क विद्यमान रहते भी यदि स का **पज यो नाम वृष्ट्यु पकरणाभिमानी देवताविशेष** [**शाङ्करभाष्य**] यह अथ किया जाता है तो आश्चर्य इसलिए नही होता कि देश का त वविज्ञान गत तीन सहस्राब्दियो से सवथा स्मृतिगभ में ही विलीन रहा है । आ यप्राणा मक वायु [पजन्य] वृष्टि का उपकरण भी है प्राणधम्म वेन इसे देवता भी कहा जासकता है । पर तु यह **अभिमानि यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम** वाला अभिमानी देवता तो नही है जसा कि–शतपथभा य प्रथमवष के **अष्टविधदेवताविज्ञान** प्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है । अभिमानी देवता का स ब ध एकमात्र उपासनाकाण्ड से ही माना गया है । कर्म्मकाण्डा–नुगत देवता का तो विशुद्ध त ववाद से ही सम्ब ध है ।

जिसप्रकार द्य लोकोपलक्षित आदि याग्नि प्राणाविध था एवमेव यह आ तरिक्ष्य आ यप्राणाग्नि [पज न्य] भी प्राणविध होने से देवाग्नि ही माना जयगा । **क्र दनधर्म्मा प्र यक्षानुभूत पुरोवात इसी पर्ज य का भौतिकरूप माना जायगा** । यही भूतवायु प्राणा मक पज यवायु का उत्त जक बनता है अतएव इसे पज याग्नि की समित् माना जासकता है ।

पजन्याग्नि भूतवायु आ तरिक्ष्य अपत्त्व अग्निस ब ध न उ पन्न **वाष्प** [**धूम**] इन के सम वय से ही **अभ्र** का स्वरूप स पन्न होता है । इन उपकरणो में **वाष्प** ही प्रधान है । अतएव तद्वाद याय से

अभ्र को **धूमात्मक** कह देना अ वथ बन जाता है। यह बा प ऋतरूप से अ तरिक्ष में सवत्र याप्त है। पज यानुगत समिध स्थानीय **भौतिक वायु [मा सून]** के यापार से ही त तत ऋतरूप से बिखरे हुए बा प एकत्र पूञ्जीभूत होते हैं। **वही वाष्पपुञ्ज अभ्र कहलाया है जिस की उत्तरावस्था मेघ कहलाई है।** क्योकि समित् से धूम का निगम होता है इधर समि लक्षण भूतवायु ही वा पपुञ्ज का जनक [सग्राहक] है। इसलिए भी अभ्र को धूम कहा जासकता है।

आ तारक्ष्य योत विद्युत् है। यही पर्ज यानि की अर्चि [प्रकाश] है। अतएय अवश्य ही विद्युत् को आ तरिक्ष्यानि वा ारूप अर्चि कहा जासकता है। **वज्र अङ्गार है ग जन त जन निस्फुलिङ्ग है** जसाकि आगे विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

एवाविध पज यानि म आ तरिक्ष्य वाय य देवताओ के द्वारा सोम की आहुति होती है। **पज याग्नि सोम दोना क रासायनिक साम्मश्रण से ही वृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ है।** यही आधिदविक यज्ञ की दूसरी विधा है जिस का कि नि न लिखित श दो म पष्टीकरण हुआ है।

अ तरिक्षम (२) **पज नो वा ा गातम! अग्नि । तस्य वायुरेव समित् अभ्र धूम विद्युदर्चि अशनिरङ्गारा ह्रादनयो विस्फुलिङ्गा । तस्मि नेतस्मि नग्ना देवा सोम राजान जुह्वति। तस्या आहुतेवर्ष सम्भवति" (आ तरिक्ष्ययज्ञ)।**

*   *   *   *

[३]—**पिण्डात्मिका [भूतात्मिका] प्रथिवी भूमि कहलाई है एव महिमात्मिका [प्राणा त्मिका] प्रथिवी प्रथिवी कहलाई है।** भूपिण्ड के आधार पर वितत प्राणाग्नि ही प्रकृत में **प्रथिवी** श द स गृहीत है। यही प्राणाग्नि पार्थिव भौतिक यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा बनता है। यही भौतिक यज्ञ की योनि है जिस के लिए—**अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य** यह कहा जाता है।

भूपिण्डानुगत प्राणाग्नि भूकेन्द्र से निकल कर १७ वे अहगण पय्य त या त रहता है जसा कि पूर्व के—**सप्तदशो वै प्रजापति** यादि निगद याख्यान में स्प कर दिया गया है। सद तश अहगणा मक आग्नेय मण्डल ही वह पार्थिव स व सर है जिस का सौर सावित्रप्राणाग्निमण्डलरूप दि य स व सर के साथ १७ वें अहगण में अतिमान होरहा है। सप्तदशवि दु ही उभयसम्व सर की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। यह सम्व सरमण्डल वाङ्मय है। वाकत व ही भूतविवत्त का जनक क्षर त व है। अतएव प्राणाग्नि जहा **देवाग्नि** कहा जा सकता है वहा वागग्निरूप स व सर को **भूताग्नि** कहा जासकता है। इसी पवसमतुलन से स व सर- मण्डल इस पार्थिव प्राणाग्नियज्ञ की समित् माना जासकता है।

परमाकाश पुराणाकाश शरीराकाश दहराकाश [दभ्राकाश] इत्यादि भेदा से आकाश के अनेक विवत्त माने गए है। **स्वायम्भुव परमे योमन् ही परमाकाश है। सौरमण्डल [सौररोदसीत्रैलोक्य] से सम्ब ध रखने वाला अणवसमुद्रावच्छिन्न आकाश ही पुराणाकाश है। शरीर एव दहराकाश आ या त्मिक आकाश है। पुराणाकाशलक्षण सौरी त्रिलोकी मे पार्थिवाकाशलक्षण सम्व सरमण्डल प्रतिष्ठित**

है। सम्वसर के **अग्यामक कालामक वयोनाधामक** भेद से तीन विवत्त हैं। अ्यामक सवसर तो समित् है। कालामक सवसर भातिसिद्ध बनता हुआ यवहार की प्रति ठा बन रहा है। वयोनाधामक सम्र सर ही पार्थिव आकाश है। वाकपरिमाणामिका सत्र सरमण्डलसीमा ही वयोनाधामक सवसर है। ही योमामक सम्वसर कहलाया है जसा कि—"**योमा हि सम्र सर** [शत ८।४।१।११] यादि वचन से प्रमाणित है। भूपृष्ठपर प्रतिष्ठित अस्मदादि पार्थिव प्रजावग जिस आकाश का साक्षात्कार किया करते है वह यही **पार्थिवाकाश है** जिस का वाह्य स्वरूप पार्थिवानि से उथित बाप से ही निपन्न हुआ है। सी बाप के सम्बध से आकाश को प्रकृत भूतयज्ञ का **धूम** माना जासकता है।

सौ दिव्याग्नि योतिम्मय है। वही **यज्ञो ह देवेभ्यो अपचकाम। स कृष्णो भूत्वा चचार** इत्यादि सिद्धातानुसार प्रवग्य के सम्बध से पार्थिवजगत् में भुक्त होता हुआ कृष्णरूप में परिणत होरहा है। अह काल में पार्थिवसस्था जहा सौर योतिष्मान् सावित्राग्नि से अनुगृहीत रहता है वहा रात्रि में पार्थिव कृ णाग्नि का स्वाभाविक विकास रहता है। अतएव कृ णभावामिका तमोमयी रात्रि ही इस पार्थिव यज्ञानि की **अर्चि** मानी गई है। अग्नि के अनुरूप ही तो अर्चि होती है। पार्थिव अग्नि यदि कृष्ण है तो तद्विकासामिका कृष्णा रात्रि भी अवश्य ही **कृष्णाग्नि की कृष्णार्चि है**।

रात्रिरूपीणि अर्चि जबतक रहती है तबतक दिशाओ का बोध नही होता। रात्रि के अवसान पर ही दिशाए परिज्ञात होती हैं। अर्चि के अवशात होने से ही तो **अङ्गार** का जम होता है। इसी समतुलन से दिशाओ को अङ्गार माना जा सकता है। अङ्गार अवयवी है तो विस्फुलिङ्ग अवयव हैं अनेक हैं सर्वतो यात है। **सवत इव हीमा अवान्तरदिश** (शत २।६।१।११) के अनुसार सभी प्रात अवातर दिशाए है। इसी समतुलन से अवयवामिका अवातर दिशाओ को **विस्फुलिङ्ग** माना जासकता है।

उक्त परिग्रहो से युक्त पार्थिव अग्नि में पार्थिय आग्नेय देवताओ के द्वारा वृष्टि की आहुति होती है। पार्थिव मृण्मय भूताग्नियुक्त **प्राणाग्नि** तथा **आ तरिक्ष्य वृष्टि** (जल) दोनो के रासायनिक सम्मिश्रण से **व्रीहि—यवादि लक्षण अन्न** उपन्न होता है। यही मयस्थ आधिभौतिक पार्थिव यज्ञ की मात्र एक विधा है जिसका यो विश्लेषण हुआ है—

पृथिवी (३)— पृथिवी वाव गौतम ! अग्निः। तस्या सम्वत्सर एव समित्, आकाशो धूम, रात्रिरर्चि, दिशोऽङ्गारा अवा तरदिशो विस्फुलिङ्गा। तस्मिन्ने तस्मिन्नग्नौ दवा वष जुह्वति। तस्या आहुतेरन्न सम्भवति"।

(पार्थिवयज्ञ)।

* * * *

(४)—द्विविध आधिदविक यज्ञ तथा एकक आधिभौतिक पार्थिव यज्ञ के उक्त स्वरूप—विश्लेषण के अनतर आधिदैविक आधिभौतिक यज्ञ से कृतरूप आध्यामिक यज्ञ के **वृषालक्षण पुरुषयज्ञ—विवत्त** का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है कि हे गौतम ! पुरुष निश्चयेन (इस आ यामिक यज्ञ का) अग्नि है।

यहा पुरुष श द से वह आ यात्मिक षडङ्ग वैश्वानर अग्नि ही अभिप्र त है जो सम्पूर्ण प्राणीवर्ग की प्रतिष्ठा बना हुआ है । एव जिसका अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिना देहमाश्रित । प्राणापानसमायुक्त (गीता १५।१४।) इ यादि रूप से विश्लेषण हुआ है । पञ्चाग्निविद्योपक्रम में यह स्पष्ट किया गया है कि यह यज्ञ प्राणयज्ञ प्राणीयज्ञ भेद से दो भागों में विभक्त है । पार्थिव प्राण अपान है आ तरिक्ष्य प्राण यान है दि यप्राण प्राण है । दि यप्राणलक्षण प्राण पार्थिव अपानलक्षण प्राण इन दोनों प्राणापानों से मध्यस्थ यानलक्षण आन्तरिक्ष्य प्राण का उसीप्रकार ग्रहण होजाता है जैसे कि द्यवापृथिवी श द से द्यु-पृथिवी के म यस्थ आ तरिक्ष का त मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते याय से ग्रहण होजाता है ।

पार्थिव अपानाग्नि पार्थिव नर (नायक-अ यक्ष) है आ तरिक्ष्य वाय याग्नि आन्तरिक्ष्य नर है दि य प्राणाग्नि दि य नर है । पृथिवी अ तरिक्ष द्यो तीनों लोकों क अपाना मक अग्नि याना मक वायु प्राणात्मक आदि य तीनों नरों क पारस्परिक अन्तर्य्याम सम्ब ध से उत्पन्न होने वाला केश लोम नखाग्र भागों को छोडकर (आ लोम य आ नखाग्रेभ्य) सर्वाङ्ग शरीर में याप्त रहने वाला तापधर्म्मा आध्या मिक अग्नि ही वैश्वानर कहलाया है । इस की आ यात्मिक-षडङ्गता को लक्ष्य में रखकर ही श्रुति ने कहा है षडविधो वै पुरुष (वैश्वानर) षडङ्ग (ऐत ब्रा २।२६।) ।

वश्वानरलक्षण आ यात्मिक षडङ्ग अग्नि में क्योंकि त्रैलोक्याग्नि का समावेश है अतएव इसके लिये- वैश्वानरो व सर्वे अ नय (शत ६।२।१।३५) यह कहा जाता है । शरीर मे मस्तक भाग द्युलोक है नाभि पर्य्य त भाग अ तरिक्ष है गुद-माभ्यन्तर भाग पृथवी लोक है और यही आध्यात्मिक त्रैलोक्य है । इन तीन लोका मक तीन पुरो की समष्टिरूप शरीरपुर में सीमित रहने से ही— स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत् पुरुष (शत १ ।६।१।१) यह लक्षण किया जाता है । महद्योनि के भेद से प्र येक अ या मसस्था [प्राणिशरीर] का वैश्वानर पृथक्-पृथक शरीराकारो में विभक्त होता हुआ पृथग्व र्मा बना हुआ है जैसा कि— एष वै पृथगव र्मा वैश्वानर [शत ब्रा १ ।६।१।७] इ यादि वचन से प्रमाणित है । एषविध सर्वाग्नि [लोकत्रयाग्नि] लक्षण इस आ यात्मिक अग्नि के उक्त वैश्वानर-पुरुष-भावों का ही निम्न लिखित वचनों से स्पष्टीकरण होरहा है—

(१)— 'स य स वैश्वानर -इमे स लोका: । इयमेव पृथिवी विश्व अग्निर्नर । अ तरिक्षमेव विश्व वायुर्नर । द्यौरेव विश्व, आदित्यो नर । (विश्वेभ्यो नरेभ्यो जातोऽग्निर्वैश्वानर)' (शत ६।३।१।३) ।

(२)—' इमे वै लोका पू । अयमेव पुरुष , योऽय पवते । सोऽस्या पुरि शेते, तस्मात् पुरुष " (शत १३।६।२।१) ।

(३)— प्राण एष स पुरि शेते । त पुरि शेते-इति पुरिशय सन्त प्राण 'पुरुष' इत्याचक्षते (परोक्षम् । परोक्षप्रिया इव हि देवा , प्रत्यक्षद्विष ")—गो ब्रा०पू १।३६।

पाञ्चभौतिक शरीर चि या नमय है भूताग्निमय है। यही वाङ मय अ नि है। यही शा ीरपरि च्छिन्न वश्वानर नामक पुरुषाग्नि की समित् है। इसी शर रपुरुषरूप वागग्नि [शरीर] से यह समि्न र ता है। श्वासप्रश्वासा मक प्राण ही न्स समि्न शारीराग्न स अन्नस्वरूप से निव ने वाला धूम है। जिह्वोपलन्नित वया मक श द ही [वैखरीवाक ही] इस की अर्चि है। आदि यप्राणा मक चक्षु ही अ धकार मे अङ्गारवत् प्रतीयमान [जस स्थिति का पशुओ की आखो में रात्र मे प्रयन्न किय जासकता है] चक्षु ही अङ्गार है। वागनिविकारभूत श दश्रु ति का अधि ठाता श्रोत्र ही विस्फालङ्ग है। ऐसे इस आ यामिक पुरुषा नि में आध्यामिक इन्द्रियदेवताओ के द्वारा वर्षाविकारभूत अन्नलक्षण हावद्र य की आहुति होती है। भुक्तान्न रस-मल के क्रमिक विशकलन स क्रमश **रस असृक् मास मेद अस्थि मज्जा** न वातुरूपा में परिणत होता हुआ अन्ततोग वा **रेतोरूप** में परिणत होजाता है। यही आ यामिक यज्ञ की प्रथमा वि ा है जिस का निम्न लिखित श दो में स्पष्टीकरण हुआ है।

पुरुष (वृषा)–४–'पुरुषो वाव गौतम ! अग्नि । तस्य वागेव समित्, प्राणो धूम जिह्वा अर्चि, चक्षुरङ्गारा, श्रोत्र विस्फुलिङ्गा । तस्मि नेतस्मि नग्ना देवा अ न जुह्वति । तस्या आहुते रेत सम्भवति' (वृषायज्ञ) ।

* * * *

(५)—आ या मकयज्ञ का दूसरा पर्व है—**योषा-यज्ञ**। वृषाप्राण जहा **पुरुषसग** की प्रति ठा है वहा योषाप्राण **स्त्रीसग** की प्रति ठा बनता है। वृषाप्राण **आग्नेय है योषाप्राण साम्य है। आग्नेय वृषा का दृश्य सौर अर्द्धाकाश से सम्ब ध है।** एव सौ या योषा का अदृश्य चा द्र अर्द्धाकाश से स ब ध है। योषाप्राणा मिका स्त्री के शोणित मे प्रतिष्ठित आ नत व ही योषा-यज्ञ की मूलप्रति ठा है। गर्भाशयगत शोणित में प्रतिष्ठित माङ्गलिक [मङ्गलग्रहप्राणा मक] आ नेयप्राण ही इस यज्ञ का आहुतिग्राहक अग्नि है। इस योषाग्नि का उत्त जक उपस्थ ही समित् है उपस्थ-समित् के सयोग से उ पन्न योषाग्नि-क्षोभ ही धूम है। अ तस्थ रक्तवर्ण-कन्दल योनि है यही अर्चि है। इ यादि लक्षण स योषाग्नि मे पुरुषशरीरस्थ प्राणदेवताओ के द्वारा रेत की आहुति होती है। यही हुत रेत का ा तर में गर्भरूप में परिणत होजाता है। पञ्चपर्वा मक यज्ञ के इसी अ तिम आ यामिक यज्ञप र्व का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

<u>स्त्री (योषा)–५–</u> 'योषा वाव गौतम ! अग्नि । तस्या उपस्थ एव समित् । यदुपम त्रयते, स धूम । योनिरर्चि । यद त करोति, तेऽङ्गारा । अभिन दा विस्फुलिङ्गा । तस्मि नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति । तस्या आहुतेर्गर्भ सम्भवति'' । छा दोग्योपनिषत ५ प्र ।४,५,६,७,८ खण्ड। ।

* * *

उक्त **पञ्चाग्निविद्या** —त्मक पञ्चपर्वा मक यज्ञ का नि कष यही हुआ कि **द्युलाकोपलक्षित आदि यानि अ तरिक्षलोकोपलक्षित वाय य पज यानि भूलोकोपलक्षित पार्थिव अग्नि पुरुषा मक वृत्ता लक्षण वश्वानराग्नि [शरीराग्नि] योषाप्राणा मक रक्ताग्नि** इन पाच अा नयो मे क्रमश **श्रद्धा सोम वृष्टि अ न रेत** इन पाच हावद्र यो की आहुति हाती है । वही श्रद्धालक्षण **आप** (अप्तत्व) उत्तरोत्तर प्रति ष्ठत अ ग्नि स ब ध में **सोम वृष्टि–अ न–रेतोरूप** मे परिगित हेता हुआ अ तिम पा त्रवा रेतो आहुति से **पुरुषस्वरूप (गभस्वरूप)** का आर भक [उपादान] बन हा है । इसीलिए यह निश्चयेन कहा जासकता है कि –

इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति'

१–१–(१) **द्यौ** — आदित्य (असौलोक)—श्रद्धा	} —आधिदैविकयज्ञ	} —प्राणयज्ञ	पञ्चयज्ञ
२–२ ( ) अ तरिक्षम्—वायु (पज य)——सोम			
३–३–(१) पृथिवी— अग्नि (पृथिवी) ——वृष्टि]– आधिभौतिकयज्ञ			
४–१–(१) वृषा —वश्वानर (पुरुष)——अ नम्	} —आ यात्मिकयज्ञ]—प्राणयज्ञ		
५ २–( ) योषा——माङ्गलिक (योषा) — —रेत			

पञ्चाग्निविद्या मक पञ्चयज्ञ के द्वितीय यज्ञपव को [पज ययज्ञ को] सोमाहुत के द्वारा वृष्टि का प्रवत्त क बतलाया गया है जो कि– **अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति** यादि पूर्वाक्त तृतीय–दृष्टिकोण से सवथा विरूद्ध पडता है । **पार्थिव अग्नि पार्थिवपानी को बाष्परूप मे परिणत कर आ तरिक्ष्य वायु धरातल में सञ्चित कर देता है अग्नि के द्वारा वायु क गभ मे सञ्चित वही पार्थिव पानी का कला तर म बरस पडता है** । यह कथन अवश्यमेव उक्त पज ययज्ञमीमासा का प्रतिद्व द्वी प्रतीत होरहा है ।

श्रद्धा सोमरूप मे सोम पज याग्नि मे आहुत होक वृष्टिरूप मे परिणित होता है । अवश्यमेव यह सिद्धा त तृतीय–दृष्टिकोण मे याघात उ पन्न कर रहा है । कौनसा सिद्धा त प्रामाणिक माना जाय ? जबकि दोनो ही श्रु ति–स मत सिद्धा त है ? आर्षस प्रदाय उत्तर दती है—**जहा श्रौत सिद्धा ता मे ही परस्पर विरोध प्रतीत होता हो वहाँ दोनों ही प्रमाण हैं** । इसलिए कि यह विरोध केवल स्थूलदृष्टि से ही सम्ब ध रखता है । त वदृष्टि के आधार पर जब सम न्वय किया जाता है तो विरोध का सवथा उ मूलन होजाता है । केवल निरूपणीया शैली के भेद से विरोध की प्रतीमात्र ही होती है । वस्तुत विरोध है नही । **सृष्टिक्रमारम्भ विज्ञानदृष्टि से जहा पज ययज्ञानुगत वृष्टिसिद्धा त प्रामाणिक है वहाँ स्थितिक्रमानुगता विज्ञानदृष्टि से अग्निर्वा इ यादि तृतीय दृष्टिकोण सुसमन्वित है ।**

सष्टक्रम से म न व रखने वाली पञ्चाग्निविद्या में अधिदैवत अधिभूत अ या मरूप से जिस पञ्चपवा मक यज्ञ का विश्लेषण हुआ है उसीका एतरेय आरण्यक में उक्थविद्या के रूप से उपब्र हण हुआ है। वहा योषा मक पाचव प र्व को छोड दिया गया है। केवल आर भ के प्राणयज्ञा मक प्र वी अ तरिक्ष द्यौ इन तीन पर्वों का ए चौथ पुरुष पव का सग्रह करते हुए पुरुषयज्ञ[प्राणीयज्ञ] में तीनो प्राणयज्ञो का सम वय बतलाया गया है-[दखिये-ऐत आ २ आ । १ आ २ ख]। इसी उक्तविद्या का आग जाकर ततीय खण्ड म रेतस सृष्टिरूप से जो विश्लेषण हुआ है वह अपना एक स्वत त्र ही दृष्टिकोण रख रहा है। वहा दसरे ही क्रम से सृष्टियज्ञ का विश्लेषण हुआ है। देखिए।

'अथातो रेतम सृष्टि—प्रजापते रेतो देवा, देवाना रेतो वष वषस्य रेत ओषधय ओषधीना रेतोऽ न अन्नस्य रेतो रेत, रेतसो रेत प्रजा प्रजाना रेतो हृदय हृदयस्य रेतो मन, मनसो रेतो वाक, वाचो रेत कर्म्म। तदिद कर्म्म कृतमय पुरुषो ब्रह्मणो लोक'—(ऐत आ । १ अ । ३ ख)।

उक्त सम्पूर्ण दृष्टिकोणो के वज्ञानिक-सम वय के आधार पर हमें इस नि कष पर पहुँचना पडता है कि-पार्थिव स याग्नि आ नरिक्ष्य स य वायु दि य स ये द्र पज य ऋत वायु सोम सू यरश्मिया पुरोवात अभ्र विद्यु त स्तयित नु आदि आदि उ पादन निमित्त कारणों के सम वय से ही वृष्टि होती है। नि म लिखित श्रौत स्मात्त वचन वृष्टि के उक्त कारणो का ही समथन कर रहे हैं—

१—'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति'—अग्नि -सत्यम्—पार्थिवाग्नि
२—'वायुर्वै वृष्टया ईशे ———— वायु - सत्यम्—वाय याग्नि
३—'आदित्याज्जायते वृष्टि'——— आदित्य -सत्यम्—सावित्राग्नि
४—पार्ज य वर्षासु यजते'——— पज य -ऋतम्—आप्याग्नि
५—सोमाहुतेर्वर्षं सम्भवति'——— -सोम ऋतम्- -च द्रसोम
६—'रश्मिभिवष समदधात्——— रश्मय सत्यम्—प्राणाग्नि
७—'पुरोवात ससृजिरे' —— — पुरोवात ऋतम् वातवायु
८- 'अभ्राद् वृष्टि' ——अभ्रम् ऋतमत्यम् अग्नि वाग्वादित्यपर्ज यादिसघात
९- 'वृष्टिर्नै याज्या विद्यु देव' — विद्यु त् ऋतसत्यम् -ज्योतिरग्न
१ - स्तनयित्नुर्घोषो वसज्यत'— स्तनयित्नु -सत्यम शब्दाग्नि

ऋक्सहिता तर्गत अस्य वामीयसूक्त के तीन म त्रों का वृष्टिविद्या के साथ विशेष सम्ब ध है। इसके अतिरिक्त कृष्णयजुसहिता का कारीरिष्टि प्रकरण भी अ शत वृष्टिविद्या पर प्रकाश डाल रहा है। एवमेव शतपथ-गोपथ-ताण्ड्यादि ब्राह्मणों के छा दोग्य-बृहदारण्यक दि उपनिषदों के तत्तद्विशेष

स्थलों में भी प्रकीर्णकरूप से इस विद्या का स्पष्टीकरण हुआ है। वेदशास्त्रप्रतिपादित सभी विद्याओं के तत्त्व विज्ञानों के सम्बन्ध में यही एक ऐसी विप्रतिपत्ति है जिसके कारण उन विद्याओं का हम भलीभाँति तबतक समन्वय नहीं करपाते जबतक कि उन प्रकीर्णक-प्रकरणों का एकत्र समन्वय नहीं कर लिया जाता। यह समन्वय निश्चयेन महासमारम्भ सापेक्ष है। अनन्यनिष्ठा से सम्पूर्ण वेदशास्त्र को जबतक लक्ष्य नहीं बना लिया जाता तबतक उन प्रकीर्णक विषयों का सग्रह असम्भव है। एवं जबतक उनका सग्रह नहीं होजाता तबतक तद्विद्याओं का आनुपूर्वी से परिज्ञान असम्भव है।

अवश्य ही उक्त जटिलता के निराकरण के सम्बन्ध में पुरायुग में रहस्य निगद गाथा कुम्ब्या आदि से स्वतन्त्र ग्रन्थ रहे होंगे जिनमें उन प्रकीर्णक भावों का विद्याओं का एकत्र सग्रह रहा होगा। परन्तु दुर्भाग्य से आज तो वे रहस्यात्मक परिभाषाग्रन्थ हमारे दृष्टिपथ से सर्वथा विस्मृत होचुके हैं। यही वेदार्थ की एक बसी महती जटिलता है जिसका निराकरण दो चार व्यक्तियों के स्वल्पज्ञान से कथमपि सम्भव नहीं। होना यह चाहिए कि बहुसंख्या में योग्य विद्वान् उपलब्ध मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र-ग्रन्थों के तत्तत् विद्या प्रतिपादक तत्तन्निगदों का पृथक् पृथक् रूप से सग्रह करें। सबका एकत्र सग्रह करते हुए उनका समन्वय करें। इत्यभूत महाआरम्भ प्रयास से अवश्य ही इस दिशा में उक्त जटिलता दूर की जासकती है।

उदाहरण के लिए वृष्टिविद्या को ही लीजिए। अस्यवामीयसूक्त के ५२ मन्त्रों में से केवल ३ मन्त्र ऐसे हैं जिनसे वृष्टिविद्या के कुछ एक सिद्धान्तों का विश्लेषण हुआ है। वे तीनों मन्त्र भी एक साथ पठित नहीं हैं। अपितु तीनों का क्रमशः ३६, ४७, ५१ यह संख्या क्रम है। यही स्थिति अन्य स्थलों की है। यही वह जटिलता है जिसके निग्रह से प्रकृत ब्राह्मण के प्रत्येक प्रकरण में हमें अनावश्यक विस्तारदोष पुनरुक्तिदोष का का विवश होकर अनुगमन करना पड़ रहा है। परिणाम-स्वरूप पाठकों के लिए हमारा यह अव्यवस्थित प्रयास सुविधा के स्थान में जटिलता का ही जनक बनता जा रहा है। इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से इससे अधिक क्या निवेदन कर सकते हैं कि जबतक देश के विद्वान् सम्मिलितरूप से उक्त पद्धति के अनुसार वेदार्थ का समन्वय नहीं कर लेंगे तबतक एक दो व्यक्तियों की स्वल्प शक्ति मात्र के आधार पर इस दिशा में सफलता प्राप्त कर लेना तो असम्भव ही होगा।

हमारे ये अव्यवस्थित प्रकरण तो केवल यही पुरुषार्थ करसकते हैं कि जिनकी दृष्टि में भारतीय शास्त्र केवल शब्दजाल है वे यह अनुभव करने लगें कि वेदशास्त्र एक विज्ञानशास्त्र है एवं उसमें प्रतिपादित विद्याएं प्राकृतिक नित्यविज्ञानों का ही विश्लेषण कर रही हैं। जिन कतिपय प्रतीच्य विद्वानों की बाह्यदृष्टि में भारतीय शास्त्र अधिक से अधिक आत्मज्ञान का समर्थक है तदनुयायी उच्छिष्टभोगी अर्वाचीन जो प्राच्य विद्वान् अपनी निधि के वास्तविक स्वरूपज्ञान से वञ्चित रहते हुए इसके प्रति न केवल उदासीन ही हैं अपितु इसका उपहास करना भी जिनके जीवन का एक प्रधान पुरुषार्थ बना हुआ है अवश्य ही उनकी भ्रान्ति का ये अव्यवस्थित प्रकरण भी सर्वात्मना नहीं तो अंशतः तो निराकरण कर ही सकेंगे। एकमात्र इसी लक्ष्य से जानबूझ कर ही इस पद्धति का अनुगमन करना हमने श्रेयःपथ समझा है। जिन्हें वस्तुगत्या वेदविद्या का रहस्यज्ञान प्राप्त करना है उनसे तो हम यही निवेदन करेंगे कि वे त्वचिरण कण्डु मिटाने वाले हमारे इन प्रस्तुत प्रयासों को एक ओर रखते हुए आनुपूर्वी से स्वयं मूलग्रन्थों को ही अपने स्वाध्याय का विषय बनाएं। इस प्रासङ्गिक निवेदन के साथ ही वृष्टिविद्या के प्रकीर्णक अंशों का दिग्दर्शन कराने वाले निम्नलिखित ऋड् मन्त्र पाठकों के सम्मुख उपस्थित होरहे हैं-

१—सप्तार्द्ध गभा भुवनस्य रेतो विष्णोत ठ ति प्रदिशा विधर्म्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चित परिभुव परिभवति विश्वत ॥
—ऋक्स १।१।६४।३६।

२—कृष्ण नियान हरय सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृ त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ।
—ऋक्स १।१। ४।४७

३—समानमेतदुदकमु चैत्यव चाहाभ ।
भूमि पज या जि न्ति दि जि न त्यग्नय ॥
—ऋक्स १।१।६४।५१

थोडी देर के लिए य मान लीजिए कि आकाशस्थ मेघो स भापिण्ड पर जो पानी बरसता है वह वस्तुत पृथिवी की ही दन है । अग्निगभ भपिण्ड के केन्द्र से अङ्गिरोऽग्नि (प्राणाग्नि) द्य लोक (आकाश) की ओर निरन्तर जाया करता है यह प्रकरण के प्रार भ में स्प ट किया जाचुका है । **आग्नर्वा इतो वृष्टि मुदीरयति** सिद्धा त इसी तथ्य का स्प टीकरण कर रहा है । इसप्रकार **पार्थिव जलमात्रा (समुद्र नद नदियाँ कूप वापी तडाग ओषधि वनस्पित पार्थिव प्राणीशरीर आदि आदि मे रहने वाली जलमात्रा)** ऊपर की ओर जाते हुए आङ्गिरोऽग्नि के सम्बन्ध से वा परूप में परिणत होकर ऊपर की ओर जाया करती है । सप्रकार पार्थिव अग्नि पार्थिव जलमात्रा को द्य लोक की ओर लेजाने में एक निमित्त बना हुआ है ।

दूसरा निमित्त **है— वायु** । पार्थिव मृण्मय परमाणुओ का गुरुत्वाकर्षण भपिण्ड के जिस नियमित ऊ व प्रदेश प य त व्याप्त रहता है वहातक तो पार्थिव अग्नि ही पार्थिव जलमात्रा को ऊपर खेंच लेजाता है । ज्यो ज्यो जलमात्रा ऊपर चढने लगती है त्यो त्यों वह पार्थिव गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होती जाती है । पार्थिवाकर्षण से विमुक्ता यही जलमात्रा **बाष्प** है । उधर आन्तरिक्ष्य वायु भी एक प्रकार का बा प ही है । आगे जाकर जलमात्रा के ऊ र्वगमन का प्रेरक यही **बा प—वायु** बनता है । पृथिवी से द्य लोक पर्य्यन्त सप्तविध सूर्य्यनाडिया वितत है । यही **महापथ** कहलाया है । नाडीरूप इसी महापथ से सौर पदार्थों का प्रव र्यभाग पृथिवी में एव पार्थिव पदार्थों का प्रव यभाग सू य में मुक्त होता रहता है । यह नाडीमार्ग उभय प्रजापतियों के विस्र त भाग की पारस्परिक आदान प्रादान के द्वारा पूर्त्ति किया करता है । **सौरपदार्थ पार्थिवपदार्थ** दोनो हीं गतिशून्य है । न का गमनागमन होता है नाडीमार्ग से ही परन्तु निमित्त बनता **है— वायु** । **सदागति मातरिश्वा** नामक वायु ही अपने गतिध म से दोनो का सवाहक बनता है । दूसरे शब्दों में वायु—धरातल पर प्रतिष्ठित होकर ही जलमात्रा नाडीमार्ग से द्य लोक की ओर जाती है ।

तीसरा निमित्त **है— सूर्य्यरश्मियाँ** । सूर्य्यरश्मिया पार्थिव त वो का निर तर आदान किया करती हैं । इस आ ानधर्म्म से ही सू यसस्था में मुक्त **इन्द्र धाता—भग पूषा** आदि १२ सौर प्राण **आदत्ते आददाना**

— इ यादि निवचनों से आदि य कहलाए है । सवरसादान व ही आदि य का आदि यत्त्व * है । आदि यरश्मिया ही नाडी ह । नाड़ी रूप रश्मिया भूपृ ठ पर सल न होती हैं । अपने स्वाभाविक स यधम्म के कारण अन्तध र्मा मक जलादि की भाति न्तस्तत न जाकर ये रश्मिया उसी नियत माग से वापस द्यु लोक की ओर लौट जाती है । आता हुआ रश्म्यवच्छिन्न सौरतेज जहा सावित्री कहलाया है वहाँ प्रतिफलित साथ ही पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि स समवेत यही सारतेज गायत्री कहलाया है । प्रतिफलित इस गायत्रतेज मे पार्थिव अग्नि आ तारिक्ष्य वायु पार्थिवरसमात्रा तीनो प्रतिष्ठित होजाते है । अतएव कहा जासकता है कि पार्थिवाग्नियुक्त वायु के सयोग से रश्मिरूप नाडीमाग के द्वारा पार्थिव जलमात्रा द्यु लोक की ओर जारही है । सौ दृष्टि से रश्मि की अपेक्षया आदित्याज्जायते वृष्टि कहा जासकता है । पार्थिवा ग्न्यपेक्षया अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति कहा जासकता है । ए आन्तरिक्ष्य वाय्वपेक्षया— वायुर्वै वृष्ट्या ईशे यह कहा जासकता है । तीनो ही वचन तत्तदपेक्षया सम न्वित है । नाडी (रश्मि) एव अग्निप्राणयुक्त वायु से स बद्ध इसी वृष्टिविज्ञान का स्पष्टीकरण करत हुए हमारा + भौतिक विज्ञानशास्त्र कहता है— नाड्यो वायुसयोगादारोहणम् (अपाम्) । नो नापीडनात् सयुक्तसयोगाच्च (वशेषिक दशन ५।२।५ ६ सू) ।

नाड्यो वायुसयोगात् आरोहित पार्थिव जल स सम्ब ध रखने वाली वृष्टिविद्या के गमन स्थिति वषण ये तीन अधिकरण माने जासकत है । यहा से पानी जाकर वहाँ पहुँचा यही पहिला गमन- अधिकरण है जिसे गर्भाधानकाल भी कहा जासकता है । वहाँ पहु च कर पानी नियत समय पर्य्यन्त न्तरिक्षस्थ वायुधरातल पर ठहर गया यही दूसरा स्थित्यधिकरण है जिसे दोहदकाल भी कहा जा सकता है । नियत समयानन्तर पानी पुन बरस पडता है यही तीसरा वषणाधिकरण है जिसे प्रसव काल भी कहा जासकता है । इसप्रकार गभ दोहद प्रसव भेद से यह वृष्टिक म त्रिपर्वा बन रहा है । पूर्वोद्धृता ऋङ्मन्त्रत्रयी स वृष्टिक म के इन्ही तीनो पर्वो का स्पष्टीकरण हुआ है जिसके तात्त्विक समन्वय के लिए खगोल से स ब ध रखने वाली कुछ एक ब्राह्मपरिभाषाओ का ही स्पष्टीकरण अपेक्षित होगा ।

सदा सवदा ही पार्थिवाग्नि रश्मिया ऊपर की ओर जाती रहती हैं । वायु भी सदा ही प्रवाहित है । फलस्वरूप पार्थिवरस—मात्राओं का भी सदा ही ऊर्ध्वगमन सिद्ध है । और इसी दृष्टि से यह भी कहा जासकता

——इन्द्रो धाता भग पूषा मित्रोऽथ वरुणोऽर्यमा ।
अ शु विवस्वान् त्वष्टा च सविता विष्णुरेव च ॥

* 'स प्राणमग्नेरादत्त रूपमेव वायोरादत्त चित्तमेव पुरुषस्यादत्त, चक्षुरेव पशूनामादत्त भामेव च द्रमस आदत्त । तद्यदादत्त-तस्मादादित्य '।

—शत ब्रा ११।८।४।७ ८ ६ १ ११।

+ भारतीय विज्ञान अधिदैवत अ या म अधिभूत भेद से तीन भागों मे विभक्त माना गया है । वेदान्तदशन सांख्यदशन वैशेषिकदशन तीनों से क्रमश तीनों विभागों का स्पष्टी करण हुआ है जैसाकि गीताविज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीय खण्ड क आत्मपरीक्षा नामक क भाग मे विस्तार से वैज्ञानिक विवेचन हुआ है ।

है कि जैस जलमात्रा का गमन निर तर होता रहता है एवमेव द्यु लोक से उसका आगमन भी निर तर ही होता रहता है। इस नि य गमनागमन–लक्षण वृष्टियज्ञ से ही **अहरहर्यज्ञ** नामक **भष यज्ञ** का स्वरूप नि र्माण हुआ है। प्रकृत में हम विचार उस **वृश्चिकम्म** का करना है जिस का षड ऋतुमूर्त्ति सम्व सर (वर्ष) के एक ऋतुविशेष (वर्षाऋतु) में ही भोग हुआ करता है। वर्षाऋतु में द्यु लोकस्थ मेघों से जो जल बरसता है उसी के स ब ध में यह जानना है कि कब तो यह पानी भ एड से ऊपर गया ? कहा प्रतिष्ठित हुआ ? कबतक प्रतिष्ठित रहा ? एव कब बरस पडा ?। ता प य यही है कि **हमे सुप्रसिद्ध वर्षाऋतु स सम्ब ध रखने वाले वर्षाजल के ही गर्भ–दोहद–प्रसव भावों की मीमासा अपेक्षित है।**

चतुर्मासा मक शीतकाल गर्भकाल चतुर्मासा मक ग्रीष्मकाल दोहदकाल एव चतुर्म्मासा त्मक वर्षाकाल प्रसवकाल माना गया है। मागशीष से आरम्भ कर फाल्गुन प यन्त पार्थिव जलमात्रा का द्यु लोक म गर्भाधान होता है। चैत्र से आरम्भ कर आषाढ पर्य्य त गर्भ का पोषण होता है। एव श्रावण से आरम्भ कर कार्त्तिक पर्य्य त वर्षा की प्रसूति होती है। खगोलीय अन रोहिणी अलक्ष्मी निऋ ति आदि नामो स प्रसिद्ध वृश्चिकराशि म भुक्त **ज्येष्ठा** नक्षत्र का मागशीष की अमावस्या से सम्ब ध है। ज्येष्ठानक्षत्रानुगता मागशीष कृ णामावस्या ही गर्भकाल का उपक्रम माना गया है। एवमेव ज्येष्ठमास की पूर्णिमा के साथ भी **ज्येष्ठा–नक्षत्र** का सम्ब ध है। यही पूर्णिमा प्रसवकाल का उपक्रम माना गया है।

इस सम्ब ध में वृष्टिविद्याचा र्यों के जो परीक्षण हुए हैं नाक्षत्रिक स्थिति के तारतम्य से वे सभी प्रामाणिक हैं। **मूलनक्षत्र** के उत्तरार्द्ध में जब सूर्य्य का भोग रहता है तो गर्भकाल आर भ होता है। एव **आर्द्रानक्षत्रभुक्त सूर्य्य** प्रसवकाल का उपक्रम बनता है। सूर्य्य की मूलनक्षत्रभुक्ति पौष मास में एव आर्द्रा नक्षत्रभुक्ति आषाढ मास में होती है। इस दृष्टिकोण से **पौष गर्भ** का **और आषाढ प्रसव का** उपक्रम बन जाता है।

एक अ य दृष्टिकोण के अनुसार **सूर्य्यदाक्षिणायनानुगत पात गर्भ का एव सूर्य्योत्तरायणानुगत पात प्रसव का उपक्रम है। मूल पूर्वाषाढ उत्तराषाढ अभिजित् श्रवण धनिष्ठा शतभिषक् पूर्वभाद्रपद उत्तरभाद्रपद रेवती अश्विनी भरणी** ये १२ नक्षत्र **चान्द्रसोम** के सहयोगी बनते हुए गर्भ के उत्त जक बनते हैं। **आर्द्रा पुनर्वसु पुष्य अश्लेषा मघा पूर्वफल्गुनी उत्तरफल्गुनी हस्त चित्रा स्वाती विशाखा** ये ११ नक्षत्र **सौर अग्नि** के सहयोगी बनत हुए प्रसव के प्रवर्त्तक बनत हैं। **चान्द्रचार** जहाँ गर्भ की मूलप्रतिष्ठा है वहा **सूर्य्याचार** प्रसव की मूलप्रति ठा माना गया है। स्नेहगुणक सकोचधर्म्मा चान्द्रसोम पार्थिव जलमात्रा का जहा सव ण कर उसे स्थितिभाव प्रदान करता है वहाँ तेजोगुणक विकासधर्म्मा सौर अग्नि जलमात्रा को द्रु त बनाता है। नि न लिखित आप्तवचन इसी सिद्धा त का स्पष्टी करण कर रहा है—

पौषे मूलभरण्य त च द्रचारेण गर्भति।
आर्द्रादितो विशाखा ते सूर्य्यचारेण वर्षति॥

—श्रीगुरुप्रणीत–कादम्बिनी (वृष्टिविद्या)

नियत नाक्षत्रिक काल में भूप्रदेश से जिस दिन जलमात्रा सू यरश्मि वायु एवं अ नि के सयोग से उतका त होती है उस दिन से आर भ कर ठीक ६ महीना १५ दिन [कुल १६५ दिन] प य त वह जल मात्र द्यु लोक में प्रतिष्ठित रहती है। ठीक १६६ व दिन उस का प्रसव होजाता है पानी बरस पडता है। अत एव इस १६५ दिना मक गभस्थितिकाल के लिए **सप्तार्द्ध गर्भा** कहा जासकता है। **सातव महीने का आधा अर्थात् १५ दिन आर पूरे ६ मास कुल १६६ दिन** सप्तार्द्ध गर्भा का यही नि कष है। इस स ब ध में कुछ विशेषधम्म और जान लेने चाहिए। जिस दिन गर्भाधान होता है उस दिन यदि पूवदिशा में गर्भाधान है तो १६६ व दिन पश्चिमदिशा से मेघ वृष्टि करत है। यदि पश्चिम में गर्भाधान होगा तो पूव की ओर से वृष्टि होगी। एवमेव दक्षिणदिशामें गभ है तो उत्तर से उत्तरमे गभ में है तो दक्षिणसे वृष्टि होगी। यदि दिन में गर्भाधान है तो रात्रि में यदि रात्रि में गर्भाधान है तो दिन में वृष्टि होगी।

इसप्रकार गर्भाधानानुगता दिक्-काल से सवथा विपरीत दिक्-काल में गभ का प्रसव होगा। इस वध य का कारण स्पष्ट है। ६॥ मास के अन तर दृश्यस्थिति के अनुसार आकाशप्रदश में विपय्यय होजाता है। नि कष यही है कि जिस दिन जिस पक्ष दिशा में गर्भाधान होता है ६॥ मास के अन तर भी आकाश क उसी प्रदश-कालमें गभस्थिति रहती है। तथापि पार्थिवपरिभ्रमणानुगत उत्तर दक्षिणायन भेद से विभिन्न बनी हुई हमारी दृष्टि विप यय का कारण बन जाती है। यो समझिए कि शुक्लपक्ष में गर्भाधान हुआ। ठीक ६॥ मासान तर पानी तो उसी आकाशप्रदेश में रहेगा जिस प्रदेश में ६॥ मास पूव पृथिवी से गया था। पर तु अयन भेद से आकाश का वही प्रदेश जो ६॥ मास पूव शुक्लपक्ष का अनुगामी था ६॥ मासान तर कृ णपक्षानुगामी बन जायगा। यही यवस्था अहोरात्र पूव-पश्चिमादि दिशाओं के सम्ब ध में समझिए। प्रदेश विव र्मी [विभिन्न] नही है कि तु परिभ्रमणानुगता दृष्टि का विभेद ही दिक्काल के भेद का कारण है।

जिस दिन गर्भाधान होता है उस दिन द्यु लोक में विशेष परिस्थिति उ पन्न होजाती है। वही निमित्त गर्भाधान का परिचायक बनता है। **शीतवायु श्वेतअभ्र विद्युत् गजन** आदि ही गर्भाधान के परिचायक हैं। इन परिचय-चिह्नों का परिज्ञान प्राप्त कीजिए दिक देश काल-आदि को ठीक ठीक लक्ष्य बना लीजिए। अमुक दिन से ठीक १६ वें दिन अमुक पक्ष अमुक दिन अमुक रात्रि अमुक दिशा मे अमुक मात्रा से अवश्यमेव पानी बरसेगा। इस सम्ब ध में यह यान रखिए कि यदि **गभपातक निरोधक शनि-मगल-याम्यादि-प्रतिब धक** सूय्य और च द्रमा के म यम आजायगे तो परिस्थिति के अनुसार काला तर में [जोकि काल गणितानुसार सर्वथा यवस्थित है] प्रथम तो गर्भपात होजायगा। अथवा तो वह जल घनीभूत होकर पाषाण बन जायगा। फलत १६६ व दिन वृष्टि नही होगी। यदि गभपात होगया तबतो कोई बात शेष रह ही नही जाती। यदि गभपात नही गभनिरोध है तो काला तर में करकापात होगा। वही जमा हुआ पानी करका [ओले] पात है।

इसप्रकार **गर्भाधानभाव गर्भपात गभनिरोध** आदि निमित्तो का स यक परिज्ञान प्राप्त करके वृष्टि का जो समय बतलाया जायगा वह प्रकृति का अटल विधान माना जायगा जिस की उपेक्षा कर ब्राह्मणों ने अपना सवस्व ही खोदिया है। ब्राह्मचर्चा समाप्त हुई अब म त्रा र्थ की ओर पाठको का यान आकर्षित किया जाता है। **सप्तार्द्ध गर्भा** इ यादि म त्र का अक्षरार्थ है- **लोकसग के रेतोभूत गभ सप्तार्द्ध गर्भा रूप से विष्णु (आकाश) के विभिन्न दिक् प्रदेश से प्रतिष्ठित होते हैं। वे अबृगभ वीभावों तथा मान सभावों से विपश्चिद्भाव से सवत्र याप्त होजाते है।**

वेद लोक देव धर्म्म इन चार प्राकृतिक सर्गों की प्रवृत्ति क्रमश प्राणमुख आपोमुख गाडमुख अन्नगर्भित अ ना मुख इन चार मुखो से मानी गइ है। प्राणादि प्रकृतिया ब्रह्म के चार मुख है। ह्री से सृष्टिचतुष्टयी का विकास हुआ है। लाका ह्यप्सु प्रतिष्ठिता सत्यमापोमय जगत्- याद के अनुसार अप्तत्व ही लोकसृष्टि का मूलप्रवत्तक माना गया है। यही लोकसग का आर भक है। अतएव जीवन भुवन वनम् रूपसे आप को भुवन (लोक) नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। अप्तत्व भुवन का आर भक है अतएव इसे अवश्य ही भुवनस्य रेत कहा जासकता है। पार्थिव भुवन की रेतोभूता जलमात्रा अ न-वायुसहयोगिनी सूर्य्यरश्मियो के द्वारा आरोहित होती है। आरोहता उ वगता जलमात्रा सौररश्मियो में ६।। महीना गर्भाभूता रहती है। गर्भाभूता जलमात्रा उत्तराकाश म प्रतिष्ठित रहती है। आकाश परमेष्ठी है पर मेष्ठी विष्णु है इस आकाश की अ तिम सीमा योमा कहलाइ है यही विष्णुपद नाम से यवहृत हुआ है। अ तिम सीमा ध्रुवप्रदेश है यही नाकस्थ विष्णुमण्डल है। उत्तरध्रुवानुगत नाकस्थ वि णुपद ही आकाश का उ चतम स्थान माना गया है। सी वि णुपद के लिए क ा जाता है—

तद्विष्णो परम पद सदा पश्यन्ति सूरय ।
दवीव चक्षुराततम् ॥

—ऋक्स १।२२।२ ।

जिसप्रकार च द्रमा अक्षवृत्त के आधार पर भपिण्ड के चारो ओर घमता है भू ि ण्ड क्रा तिवृत्त के आधार पर सूर्य्यपिण्ड के चारो ओर सूर्य्यपिण्ड अयनवृत्त के आधार पर परमे ठी के चारा ओर परमष्ठी प्राणवृत्त के आधार पर स्वय भ के चारों ओर परिक्रमा लगाता रहता है एवमेव उत्तरध्रुव नाकस्थ वि णुपद के चारो ओर परिक्रमा लगाया क ता है। ध्रुव की यह परिक्रमा २५ [प चीसहजार] वर्षा में समा त होती है। जिसप्रकार विषुवद्वृत्तीय पृष्ठीक द्र ध्रुव ह एवमेव क्रा तिवृत्तीय पृष्ठीके द्र यही कदम्ब [विष्णुपद] है। ध्रुव विषुवद्वृत्त का क द्र ह तो क म्ब क्रा तिवृत्त का क द्र है। विषुवद्वृत्त और क्रान्तिवृत्त म २४ अ श का अ तर है। वही अ तर ध्रुव और कद बमूर्ति नाकस्थ विष्णु का है। ४ अ श के यामाद्ध से ४८ अश क पारसर का जो उत्तराकाशानुगत प्रदेश है वही वि णुपद है सके के द्र में प्रति ठित पारमे ठ्य प्राण ही —जो अपने प्राणध म से सवथा अमू ि है—वि णु हैं। इस विष्णु का प्रदेश ही उत्तराकाश प्रदेश है। यही उत्क्रा त जलमात्रा गर्भभित रहती ह। जसा कि बतलाया गया है भपरिभ्रमण के कारण सप्ताद्ध गर्भा रश्मिया किवा तद्र पा आप —गर्भाधान स्थिति के ठीक विप र्यय से बरसती है। इसी विप यय भाव का— प्रदिशा विधर्म्मणि वाक्य से स्प टीकरण हुआ है।

गर्भाधान होता है च द्रमा के सहयोग स प्रसव होता है सू य क सहयोग स जैसा कि— च द्रचारेण गर्भति सूर्य्यचारेण वर्षति रूप से पूव में स्पष्ट किया जाचुका है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चा ये कि च द्रमा के द्वारा गर्भाधान होता है एक ही दिन मे पर तु सू र्यानुगत प्रसव काल १३ दिवसा मे विभक्त है। म त्रोपात्त मनसा श द च द्रचारानुगत गर्भाधान का सूचक है एव धीतिभि सूर्यचारानु त प्रसवक म का सूचक ह। कारण स्प है। चा द्रसोम मनोमय है एव सौर अ न धीलक्षण है। मन का च द्रमा से एव बुद्धिका सूर से स ब ध है। मनसा [चान्द्रसोमेन] धाय्यमाण गर्भ

धीतियों [साररश्मियो] क चार से ही ता प्रसूत हाता ह । श्रुति का त्रिपश्चित श द अतिशयरूपेण रह यपर है। त्रिपरीता किंवा त्रिदक् चिति ही इस श द से सूचित होरही है। विपरीते –त्रिदिग्भागे चयनम् चित् यषा ते गर्भा ही त्रिपश्चित का रहस्याथ ह ।

वि पूत्रक पश् ही त्रिपश्चित का मौलिक आधार है। सख्या–सकेत–विज्ञानानुसार प कार १ सख्या का सूचक है श कार ५ सख्या का सूचक है। पश् का अथ होता ह १५ सख्या। अङ्काना वामतो गति के अनुसार १ ५ (१५) की वामस्थिति के क्रमसे ५ १ (५१) नि कष निकलता है। वह यहा अभिप्र त है नही। अभिप्र त है १५ ही। यही भाव त्रि से सूचित होरहा है। पश्–भाव– (१५ सख्या) त्रिरुद्ध (१५) कुर्य्यात् ५१ स्थ ने १५ विद्यात् यही रहस्याथ त्रिपश से सूचित हुआ है। ता प य यही निकलता है कि जिस नक्षत्र में आकाश प्रदेश मे गर्भाधान होता है जलमात्रा की चिति (सञ्चय) होती है उस नक्षत्र के १५ व नक्षत्र में उस गर्भीभूत जल की वृष्टि होती है। सप्रकार १५ नक्षत्रभाव से ही जल की चिति हाती है। अतएव गर्भीभूता आपोमयी रश्मियो को अवश्य ही त्रिपाश्वत कहा जासकता है। यदि म ान्नक्षत्र में मनसा (चन्द्रचारेण) गर्भाधान है तो आर्द्रानक्षत्र मे (जो कि मू से १५ वा नक्षत्र है)–धीतिभ [सू यचारेण] उस गभ की प्रसूति होजायगी जसा कि पौषे मूलभर एय तम् यादिरूप से पूत्र म स्पष्ट किया जाचुका है। इसप्रकार सप्ताद्धगर्भा यादि मन्त्र गभस्थिति का स्वरूप बतलाता हुआ च न्द्रचारानुगत गर्भाधान सूर्यचारानुगत प्रसवकर्म्म दोनो का भी स्पष्टी–करण कर रहा है। अत्र क्रमप्रा त कृष्ण नियान हरय सुपर्णा यादि म त्र की ओर पाठको का यान आकर्षित किया जाता है।

म त्राथ के स ब ध मे विशेष वक्तव्य नही है। पार्थिव जल किस क द्वारा किस माग से कहाँ जाता है? कहाँ से क्य किस क द्वारा बरसता है? इ यादि प्रश्नो के पूर्वोक्त समाधानो का ही–कृष्ण नियानम् इ यादि म त्र से स्पष्टीकरण हुआ है। शुक्लमाग उत्तरायण कहलाया है कृष्णमाग दक्षि–णायन कहलाया है। कृष्णमाग का पार्थिव कृष्णवर्ण मृ याग्नि से सम्ब ध है शुक्लमाग का सौर शुक्लवर्ण सावित्राग्नि से सम्ब ध है। ऊपर का अथ है उत्तर एव नीचे का अथ है–दक्षिण। दक्षिणदिशा भूपिण्ड की आयासभू म है उत्तरदिशा सूर्य्य की आयासभूमि है। अतएव सौर इन्द्र का उत्तर से सम्ब ध माना गया है। दक्षिणभाग पृथिवी का अपना स्थान है यह पार्थिव कृ णाग्नि के सम्बन्ध से कृष्ण है। यही अ र प्रदश है। यही– कृ ण यानम् है। इसके निम्नभाव का ही नि से सङ्केत हुआ है। फलत कृष्ण नि यानम् का अ र्थ होता है—दक्षिणस्या अधोऽवस्थिता प्रथिवी। इसी को लक्ष्य बनाकर उत्तरमागस्थ किंवा शुक्लप ानुगामिनी सू य की रश्मिया अपने स्वाभाविक हरण लक्षण आ ानधर्म्म से ज –हरय (हरन्ति आहरन्ति) कहलाई है वहा अग्निलक्षणा सुवर्णचित के सम्ब ध से इन्द्र सुपर्णा कहा गया है। पूव मे बतलाया गया है कि सू य से आगत साक्षात् सौरतेज सावित्री है पिण्ड से टकरा कर प्रतिफलित होने वाला सौर तेज गायत्री है। यह गायत्रतेज ही सुपर्ण है जिसके गभ मे— नाड्यो वायुसयोगादारोहणम् सिद्धा तानुस र पार्थिवी जलमात्रा प्रतिष्ठित रहती है। एत च प्रेति चान्वाह ही इस गायत्र सुपर्ण का तात्विक इतिवृत्त है जिसका पूव के सामिधेनी ब्राह्मण में विशद वैज्ञानिक विवेचन किया जाचुका है। आगमनावस्था में सू यरश्मिया केवल र मिया है गमनदशा (गायत्री–

दशा) में ही ये जल का आहरण करती है तभी इनकी **सुपणता** अ वथ बनती है। अतएव गमनावस्थापन्ना गायत्रतेजोमयी सूर्य्यरश्मियों को ही **हरय सुपर्णा** कहा जायगा। ये रश्मिया निम्न-(दक्षिण) भागस्थ कृष्णयान (भूपिण्ड) को लक्ष्य बनाकर (भूपिण्ड से सश्लिष्ट होकर] तत्रस्था जलमात्रा को अपने गभ में धारण करती हुइ द्य लोक की ओर प्रातफलित होजाती हैं। **कृष्ण नियान हरय सुपर्णा अपो वसाना न्दिमुत्पतन्ति** यह मन्त्रपूर्वाद्ध पार्थिव जलमात्रा की इस गर्भाधानावस्था का ही विश्लषेण कर रहा है।

आप वायु सोम तीनो भागवत व ऋत कहलाए है। **ऋतमेव परमेष्ठी** इस आथवण सिद्धा त के अनुसार आपोमय परमेष्ठी ही ऋत है न्सी को पूवमन्त्रप्रकरण में **विष्णुपद** कहा गया है। यह पारमेष्ठ्य अपत व **घन तरल विरल** भेद से **आप वायु सोम** इन तीन अवस्थाओ में परिणत रहता है। **घनावस्थाप न अप्तत्त्व का आसुर वारुणप्राण से तरलावस्थाप न वायुतत्त्व का सोमरक्षक ग धवप्राण से एव विरलावस्थाप न सोमतत्त्व का सौम्य पितृप्राण से सम्ब ध माना गया है।** यही सोमत व वि णुका स्वरूप समपक माना गया है। अतएव इनका यत्र तत्र **सोमवशी** रूप से उपवणन उपल ध ोता है। **सोमसम्ब ध स उत्तर स्थान विष्णुपद है अप सम्ब ध से यही उत्तरस्थान वारुण भी है।** ऋत अबूरूपतालक्षणा ऋत सोमा मकता ही उत्तरस्थान की **ऋतसदनता** है जिसका निम्नलिखित रूप से विश्लेषण हुआ है—

वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनीस्थो वरुणस्य ऋतसद यसि।
वरुणस्य ऋतसदनमसि वरुणस्य ऋतसदनमासीद ॥

यजु स ४।४६।

दाक्षणस्थ भूपिण्ड से सूर्यरश्मि ों के द्वारा द्य लोक में गर्भीभूत जलमात्रा कब वापस भूलोक में बरसती है? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि वे **अबूगभमय सुपण [रश्मिया] जब ऋतसदन से [उत्तरदिशा से] परा त्तित होतीं है [दक्षिणायन का अनुगमन करती है) आदित्-अ या हितोत्तरकाल मे हीं घृत [जल] से पृथिवी काल्वालीकृत होजाती है जलमयी बन जाती है।** यही गभ की प्रसूति है। क्रमप्राप्त— **समानमेतदुदकम्** इ यादि तृतीय म त्र का विश्लेषण पूव में किया ही जाचुका है। इसप्रकार यह ऋड् म त्रत्रयी वृष्टिविद्या का अ शत स्पष्टीकरण करने में सफल होरही है।

यह तो हुइ श्रुतिचर्चा। अब दो श दों में पुराणचर्चा का भी सम वय इसलिए कर लेना चाहिए कि तथाकथित भ्रा तो की दृष्टि में **पुराण** आज एक निरथक शास्त्र बन रहा है। जिन त वविज्ञानो का वद शास्त्र में प्रकीर्णकरूप स विश्लेषण हुआ है पुराणने बड़ी ही प्रसादभाषा में एकत्र उनका सम वय कर दिया है। तभी तो **इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपबृ हयेत्** कथन चरिताथ होरहा है। अधिक विस्तार में न जाकर वृष्टिविद्या से सम्ब ध रखने वाले कुछ एक वचनमात्र ही यहा उद्ध त कर दिये जाते हैं—

१–अष्टमासधृत गर्भं भास्करस्य गभस्तिभि ।
रस सवसमुद्राणा द्यो प्रसूते रसायनम ॥

— ल्मीकिरामायणे

–विवस्वानष्टभिर्म्मासैरादायापो रसात्मिका ।
वर्षत्यम्बु ततश्चान्न-म नादमखिलं जगत् * ॥
३–आदत्त रश्मिभिर्यत्तु क्षितिसंस्थो रसो रवि ।
तमुत्सृजति भूतानां पुष्ट्यर्थ सस्यवृद्धये ॥
४ सरित् समुद्र स्तथाप प्राणिसम्भवा ।
चतु प्रकारा भगवानाद । सविताशुभि ॥
५–विवस्वानशुभिस्तीक्ष्णैरादाय जगतीजलम ।
सोम पुष्णाति सोमस्तु वायुनाडीमयैर्दिवम ॥
६–जलैर्विक्षिप्यतेऽभ्र षु धूमाग्न्यनिलमूर्त्तिषु ।
अभ्रस्था प्रपतन्त्यापो वायुना समुदीरता ॥ इत्यादि
– ब्रह्मपुराणे

बुद्धिग या भाषा से सम्ब ध रखने वाले पूर्वप्रतिपादित वृष्टिविज्ञान का तत्तिरीयसंहिता में भी [कारीरि ष्टिप्रकरण में] दि दर्शन कराया गया है जिसका नि कर्ष यही ह कि अग्नि सोम सूर्य्य मित्र वरुण अर्य्यमा पज न्यादि प्राकृतिक दवताओ के समन्वय स ही वृष्टिकर्म्म सञ्चालित है। यदि राष्ट्र में अनावृष्टि जनित दु काल की सम्भावना हो तो वैज्ञानिक ब्राह्मणो को उस कारीरी इ ष्ट का ही अनु ठान करना चाहिए जिस में वृष्ट्यधि ठाता उक्त प्राणदवताओ के आधिभौतिक द्र यों के मा यम से अनुग्रहप्रा ति का विश्लेषण हुआ है । प्रकरण आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता जारहा ह । अतएव तै स का वह स्थल यहा उ् धृतमात्र कर दिया जाता है । अवश्य ही उद्ध त प्रकरण वैज्ञानिक का यान वृष्टिविद्या के मह वपूर्ण विश्लेषण की ओर आकार्षित करेगा ।

प्राच्यङ्गम् (१)– मारुतमसि मरुतामोजोऽपा धारा भिन्धि (१)॥ रमयत मरुत श्येनमायिन मनोजवस वृषण सुवृक्ति । येन शर्ध उग्रमवसृष्टमेति तदश्विना परिधत्त स्वस्ति (२)॥ पुरोवातो वर्षन् जि वरावृत् स्वाहा (३)॥ वातावद्वर्षन्नुग्ररावृत् स्वाहा (४)॥ स्तनयन् वर्षन् भीमरावृत् स्वाहा (५)॥ अनश यवस्फूर्जन् दिद्युद्वर्षन् त्वेषरावृत् स्वाहा (६)॥ अतिरात्र वर्षन् पर्तिरावत् स्वाहा (७)॥ बहु हायमवृषादिति श्रुतरावृत् स्वाहा (८)॥ आतपति वर्षन् विराडावृत् स्वाहा (९) अवस्फूर्जन् दिद्युद्वर्षन् भूतरावत् स्वाहा

* 'सर्वमिदमन्नम्, सर्वमिदमन्नाद । द्वय वा इद न तृतीय–अस्ति अत्ता (अन्नाद), चैव–आद्य (अन्न) च" । (श्रुति)।

(१) ॥ मा दा वाशा शु ध्यूरजिरा ज्योतिष्मतीस्तमस्वरीस्द ती सुफना । ममत्रभृत सुराष्ट्रा र्ग्ह मावत (११) ॥ ष्णो अश्वस्य स दानमसि वृ ष्ट्यै त्वोपनह्यामि (१२)" ॥
—त० स ।४।७।–

प्राच्यङ्गम न्त्र याख्यानम्–(१)–' मारुतमसि मरुतामाज इति कृष्ण वास कृष्ण तूष परिधत्त । एतद्वै वृष्ट्यै रूपम् । सरूप एव भूत्वा पज य वर्षयात (१) ॥ रमयत मरुत श्येनमायिनम्–इति –पश्चाद्वात प्रतिमीवति । पुरोवातमेव जनयति वर्षस्यावरुद्ध्यै (२) ॥ वातनामानि जुहोति । 'वायु ै वृष्ट्या ईशे" । वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति । स बावास्मै पज य वर्षयात (३) ॥ अष्टा जुहोति । चतस्रो वै दिश चतस्रोऽन्तरदिश । दिग्भ्य एव वृष्टिं सम्प्र यावयति (४) ॥ कृष्णाजिने सयाति हविरेवाकः । अ तर्वेदि सयाति अवरुद्ध्य (५) ॥ यतीनामद्यमानाना शीर्षाणि परापतन् । ते खजूरा अभवन् । तेषां रस ऊर्ध्वोऽपतत् तानि करीराण्यभवन् । सौम्यानि । करीराणि । सौम्या खलु वा आहुतिर्दिवो वृष्टि यावयति (६) ॥ यत् करीराणि भवति–सौम्यमेवाहुत्या दिवो वृष्टिमवरु धे । मधुषा सयाति । अपों वा एष ओषधीना रस –य मधु । अद्भ्य एवाषधीभ्यो वर्षति । अथो अद्भ्य एवाषधीभ्यो वृष्टि निनयति । मा दा वाशा इति सयाति । नामधेयैरेना अच्छति । अथो यथा ब्रूयात् असावेहीति, एवमेनैना नामधेयै रा यावयति (७) ॥ वृष्णो अश्वस्य स दानमसि । वृष्ट्यै त्वोपनह्याम, इत्याह वषा वा अश्व वृषा पज न्य । कृष्ण इव खल ौ भूत्वा वर्षति । रूपेणैनैन समर्धयति–वर्षस्याव रुद्ध्यै (८) ॥–तै स० २।४।६।

उत्तराङ्गम्–(२) देवा वस या अग्ने सोम सूर्य्य (१) ॥ देवा शर्म्मण्या मित्राव–रुणायमन् (२) ॥ देवा –सपीतयोऽपानपादाशुहेमन् (३) ॥ उद्नो दत्तोदधिं भि त दिव पर्ज याद तरिक्षात् पृथि यास्ततो नो वृष्ट्यावत (४) ॥ दिवा चित्तम कृण्व ति पर्ज येनो दवाहेन पृथिवी यद् यु द ति (५) ॥ आ य नर सुदानवो ददाशुषे दिव कोशमचु–च्युवु विपर्ज या सृज ति रोदसी अनु ध वना य ति वृष्टय (६) ॥ उदीरयथा मरुत समुद्रतो यूय वृष्टि वर्षयथा पुरीषिण , न वो दस्रो उपदस्यति धेन । , शुभ यातामनु अवृत्सत (७) ॥ सृजा वृष्टि दि । , आद्भि समुद पृण, अ जा असि प्रथमजा, बलमसि समुद्रियम् (८) ॥ उन्नम्भय पृथिवी भि द्धीद दि य नम उद्नो दि यस्य नो देहीशानो

विसृजान्तिम् (९) ॥ ये देवा दिवभागा ये ऽ तरिक्षभागा य पृथिवीभागाः, त इम यज्ञ-मत्र तु त इद क्षत्रमानिश तु त इद क्षत्रमनुविश तु (१०) ॥

तै स २।४।८।

उत्तराङ्गम त्र्व्याख्यानम् (३)– 'देवा वस या देवा शर्म्मण्या, देवा सपीतय इत्याबध्नाति। देवताभिरेवा वह वृष्टिमि छाति। यदि वर्षेत्तावत्येव होत यम्। यदि न वर्षत् श्वोभूते हावर्नि पित्। अहोरात्र ो मित्रावरुणौ। अहोरात्राभ्या खलु वै पर्जन्यो वर्षति। नक्त वा हि दि ा ा वर्षति। मित्रवरुणावेव स्वेन भागधेयेनोपधावति। तावेवास्मै अहोरात्राभ्या पज य वर्षयत। अग्नये धामच्छदे पुरोडाशमष्टाकपाल नि पित्, मारुत मप्तकपाल सार्यमेककपालम्। अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुत सृष्टा नय-ति यदा खल वा असावादित्यो यड रश्मिभि पर्य्यावर्त्तते, अथ वर्षति। धामच्छदि ा खलु ो भूत्वा वर्षति। एता ौ देवता वृष्ट्या ईशते। ता एव स्वेन भागधेयेनोपधावति। ता एवास्मै पर्ज य र्षयन्ति।

उता ।षिष्यन् र्षत्येव। सजा वृष्टि दि।, आद्भि समुद्र पृण इ याह। इमा-श्चैवामूश्चाप ममद्धयति। अथो आभिरेवामूरच्छैति। ऊ जा असि प्रथमजा, बलमसि समुद्रय, इत्याह। यथा यजुरे ातत्। उन्नम्भय पृथिवी इति र्षाह्वा जुहोति। एषा वा ओषधीना वृष्टिवनि । तयै ा वृष्टिमा यावयति। ये द ा दिवि भागा-इति कृष्णाजिनम-वधूनोति। इम एवास्मै लोका प्रीता अभीष्टा भवन्ति'।

-तै० स २।४।१ ।

तैत्तिरीय-सहिता के चार अनुवाकों मे सम्ब ध रखने वाले म त्रभाग से सुप्रसिद्ध कारीरीष्टि की इतिक र्व्यता का ही स्पष्टीकरण हुआ है। कर्म्मेतिकर्त यता के साथ साथ न्क्त इष्टिप्रकरण में वृष्टि स सम्ब ध रखने वाले आधिदैविक विज्ञान का भी अ शत विश्लेषण हुआ है । मारुतमसि० यहा से इसका उपक्रम है। एव अभीष्टा भव ति पर अवसान है। उपक्रमवाक्य यह सूचित कर रहा है कि आ तरिक्ष्य मरुद्देवता [वायुदेवता] ही वृष्टिकर्म्म के प्रधान निमित्त हैं। यद्यपि अग्नि सूर्य्य विद्युत् स्तनयित्नु सोम मेघ आदि सभी निमित्त बनते ह । पर तु इन सब प्राणों का सम ाय एकमात्र गतिध र्मा वायु के सञ्चार पर ही निर्भर है। अतएव वायु को ही प्रधान निमित्त माना जासकता है । अतएव प्रा यज्ञमन्त्र यारयानश्रुति में वायुर्वै वृष्ट्या ईशे इ यादिरूप से वायु को ही वृष्टि का प्रधान प्रवर्त्तक बतलाया गया है। इसी श्रौत सिद्धा त के आ नम्नलिखित वचन प्रतिष्ठित हुए हैं—

सूर्गे दक्षिणगोलस्थे तप्ताद्धेरबुत्थिति ॥
तत्तोग वायुना क्षिप्त दशे दशे प्रवर्षति ॥१॥
न सूर्यो न च नक्षत्र न चन्द्रस्तत्र कारणम् ॥
वायुनैनोद्धृत तोय ापुरे । प्र ार्षति ॥२॥
—श्रीगुरुप्रणीता कादम्बिनी

इष्टि है भौतिक द्र यो पर ए ा मनोयोग है आधिदैविक प्राण देवताओ के साथ यही स पूर्ण मन्त्रभाग का तात्त्विक नि कर्ष है। कारीरी इष्टि में काला वस्त्र पहिना जाता है जिसके चारो कने गहर काले होते हैं। यही वस्त्र कृष्णतूष–कृष्ण वास कहलाया है। यह कृष्णवस्त्र धामच्छद मेघ कृष्ण जल एव कृष्णमरुत् इत्यादि का प्रतिनिधि माना गया है। यही वृष्टि का स्वरूप है। मेघ इसी रूप म परिणत होकर बरसता है । इसीप्रकार कारीर सौम्यप्राण का सग्राहक है। वातहोम अष्टविध नाक्षत्रिक सप–वायु का सग्राहक है। पार्थिव अग्नि धामच्छद है। वसु स त्र धेन वह अमृश्नावयव है। आ त रिक्ष्य मरुत् सप्तावयव है सूर्य्य एकल एव स्थाता। वृष्टिक म में तीनो का सहयोग अपेक्षित है।

अतएव कारीरी इष्टि में धामच्छद् अग्नि मरुत्वान् वायु सार इ तीना के लिए क्रमश अष्टाकपाल सप्तकपाल एककपाल पुराडाश का निर्वाप होता है। तीनो देवताओ का उपयोग स्पष्ट है। पार्थिव अग्नि जलमात्रा ऊपर फकता है आन्तरिक्ष्य मरुत्वान् उसे अपने गभ मे रखता है एव सूर्य्य रश्मियो से बरसा देते है। अग्निर्वा इतो वृष्टिमून्नीरयति इ यादि से इसी उपयोग का स्पष्टीकरण हुआ है।

ये देवा दिवि भागा (ऐन्द्रा) येऽन्तरिक्षभागा (वायव्या) ये प्रथिवीभागा (आग्नेया) के अनुसार तीनो ही इस वृष्टियज्ञ [कारीरीष्टि] के स्वरूप स पादक हैं। अवश्य ही तत्तत् प्राणदेवतानुरूप कृष्णवास करीर पुरोडाशादि तत्तत् भौतिक द्र यो के मा यमसे तत्तत्प्राणदेवताओं के द्वारा अभीष्टसिद्धि [वर्षा] होजाती है। इम एवास्मै लोका प्रीता अभीष्टा भवन्ति इस उपसहार वाक्य से इसी कर्म्मसिद्धि का समथन हुआ है।

यज्ञप्रक्रियाओ से क्या स भव नहीं? आवश्यकता है रहस्यज्ञानपूर्वक उनके अनुगमन की। प्राकृतिक प्राण देवताओं के प्रकृतिविरुद्ध होजाने से ही अनावृष्टि अतिवृष्टि-जनित दुष्काल जनपद विद्–ध्वसिनी करकापात उल्कापात आग्नेय–वारुण ऐन्द्र–वायव्यादि भूकम्प आदि विघ्न उपस्थित हुआ करते हैं। मानवसमाज प्राकृतिक विश्व का अवयव है। इसके प्रकृतिविरुद्ध गमन से ही अवयवीरूप प्राकृतिक विश्व के प्राकृतिक विधानों मे अ यवस्था का समावेश स्वत सिद्ध है। इसप्रकार प्रकृतिविरुद्ध आचरण करते हुए हम स्वय ही उक्त वि नो के प्रव क बनते हैं। व मान युग के मान वसमाज की इसी विकृति से आज पदे पदे हमें इन विघ्नो का आक्रमण सहना पड र ा है। ऋषिप्रदिष्ट चिकित्सामार्ग (यज्ञ) आज के शिक्षित समाज के लिए जहा उपहास की वस्तु बन रहा है वहा प्रकृति को अधिकाधिक सक्षु ध करने

वाले अभक्ष्य भक्षण अगम्यागमन अस्पृश्य स्पर्शन देव-द्विज-गुरु शुश्रूषापरि याग स च्छा-स्त्रनि दा मलिनीकरण सकरीकरण जातभ्रंशकर आदि पातक आतपातक-महापातक निन्द्य असत्कर्म्मों मे प्रवृत्ति मर्य्यादोल्लघन कल्पित साम्यवाद की घोषणा सर्वोपरि दुराग्रह आदि आदि अधर्म्मपथ ग्राह्य बने हुए हैं। स्मरण रखिए जबतक प्रकृति का अनुग्रह प्राप्त नही कर लिया जायगा तबतक एक दो चार दस नहीं सहस्रों आ दोलनो से भी जिनके मूल मे घातक व्यक्ति प्रतिष्ठा का मोह प्रतिष्ठित है—मानव समाज सु स्थर नही बन सकेगा। इस के लिए तो प्राकृतिक विश्व की सुस्थिरता ही प्रधान साधन होगा। एव इस साधन के लिए प्राकृतिक नियम-सघातलक्षण शाश्वत सनातनधर्म्म पथ ही एकमात्र श्रेय प था माना जायगा। भ्रा त मानवसमाज के अ युदय के लिए उसी प्रशस्त पथ की भावना करते हुए बुद्धिगम्याभाषा से सम्ब ध रखने वाला वृष्टिविज्ञान-प्रकरण उपरत होता है एव सहजभाषानुगामी प्रकरण का सक्षिप्त निरूपण उपक्रा त होता है।

एक वष में यो तो वस तादि ६ ऋतुए [मौसम] मानी गइ है पर तु ग्री म वर्षा शीत इन तीन स्थूल ऋतुओ का तो सर्वसाधारण को भी बोध है ही। इन्ही तीनो को लक्ष्य बनाकर कहा जाता है त्रयो वाऽ ऋतव सम्व सरस्य [शत ३।४।४।१]। सहजभाषा में ये ही तीनों क्रमश गर्मी बरसात सर्दी इन नामो से प्रसिद्ध हैं। इन तीनो मौसमो के प्रत्येक के ४ ४ महीने होजाते हैं। इस ओर चतुर्मासात्मिका गर्मी है उस ओर चतुर्मासात्मिका सर्दी है म यमें चतुर्मासात्मिका बरसात है। बरसात दोनो के म य में है। और ऐसा एक लौकिक याय [यवहार] है कि म यस्थ पदाथ का इधर-उधर रहने वाले दोनो पार्श्ववर्त्ती पदार्थों से ग्रहण होजाता * है। अतएव कहा जासक्ता है कि एक वष में केवल गर्मी एव सर्दी ये दो ही मौसम है। बरसात का ग्रहण इन दोनो के ग्रहण से ही चरिताथ है।

इसी यवहार के आधार पर पूरे वर्ष में ग्रीष्मकाल शीतकाल ये दो ही मौसम मान लिए जाते हैं। ग्री मकाल उष्णकाल है इसी का अपभ्रंश उन्हालू है। एव शीतकाल का अपभ्रंश श्यालू है। वर्ष में ये दो ही कृषि [फसल] होती हैं। यदि और भी सूक्ष्म विचार किया जाता है तो हमें इस त य पर पहुचना पडता है कि वस्तुत गर्मी ही सम्पूर्ण वष की मूलप्रतिष्ठा है। कारण स्पष्ट है। पृथिवी पर रहने वालो के लिए पार्थिवी ऋतुओं को ही प्रधानता दी जायगी। एव अग्निभू स्थान - यथाग्नि गर्भा पृथिवी इ यादि वचनों के अनुसार पृथिवी में अग्नित व की ही प्रधानता है। अतएव मानना पडेगा कि पार्थिव प्रजा से स ब ध रखने वाली ऋतुओ में पार्थिव अग्नि की ही प्रधानता है। अग्नि की ह्रास वृद्धि से ही पार्थिव २ ३ ५ ६ ७ आदि विभिन्न ऋतुओं की अभि यक्ति होती है।

जिसे हम शीत कहते हैं वही विज्ञानभाषा में सोम त व है। इस सोमत व के भास्वरसोम दिक्सोम भेद से दो विवर्त माने गए हैं। प्र यक्षदृष्ट आ तरिक्ष्य च द्रमा ही भास्वरसोम है। यही सहृदय सशरीर-स यम् परिभाषानुसार केन्द्रानुगत पिण्डावच्छिन्न चा द्रभास्वर [योतिर्मय चमकीला] सोम

* त म यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते। (लौकिकन्याय)

अवश्य ही **सत्यसोम** माना जासकता है। विशाल अ तरिक्ष में वायुसमुद्र या त है। स बा पात्रस्थापन्न वायुसमुद्र में व्याप्त नीरूप प्राणात्मक सोमत व ही दूसरा **दिक्सोम है**। **अहृदयमशरीरं ऋतम** इस परिभाषा के अनुसार केन्द्र पिण्डभाव से वञ्चित प्राणात्मक इस आ तरिक्ष्य दिक्सोम को अवश्यमेव **ऋत सोम** कहा जासकता है। भास्वरसोम [चन्द्रमा] जहा अपने **सकेन्द्रपिण्ड-भाव** से **प्रत्यक्ष है** वहा दिक्सोम अपने **अकेन्द्र अशरीर भाव** से अप्रत्यक्ष है। स पूण खगोल में एकरूप से यह **ऋतसोम** व्याप्त है जिसका **ओस के पानी** से भलीभाति अनुमान लगाया जासकता है।

सूर्य्यसत्तात्मक दिन में एवं सूर्य्याभावात्मका रात्रि में सदासवदा यद्यपि आ तरिक्ष्य ऋतसोम अजस्ररूप स भूपिण्ड की ओर प्रवाहित होता रहता है। तथापि पृथिवी में इस की भुक्ति रात्रि में ही होता है। दिन में सौररश्मिगत सोमप्रिय इन्द्रप्राण इसे अपना अन्न बना लेता है। रात्रि में जो ओस का पानी यत्र तत्र सवत्र उपलब्ध होता है वह सूर्य्योदय से पूव पूव ही अपनी सत्ता पृथिवी पर रखता है। उदित सूर्य से रश्मिया से अपना गभ बना लेता है। प्रत्यक्षदृष्ट यह ओस का पानी आ तरिक्ष्य प्राणात्मक दिक्सोम का ही पार्थिव भौतिक जलमिश्रित भौतिकरूप है।

तात्पर्य्य-कहने का यही है कि आ तरिक्ष्य वायु में ऋतसोममात्रा प्रतिष्ठित रहती है। **भूपिण्ड** एवं **सूर्य्यपिण्ड** दोनो से ही आत्मनमात्रा प्रव यरूप से निकल कर आ तरिक्ष्य वायुधरातल मे उसी ऋतभाव से परिव्याप्त रहती है। आकाश म यदि **चन्द्रमा स यसोमपिण्ड** है तो पूवलक्षणानुसार **सूर्य स याग्निपिण्ड है**। स याग्निमय सूर्य्यपिण्ड के केन्द्र स **सहस्रधा-महिमान सहस्रम** रूप से चारो ओर सब ओर निनि सृत रश्मियो में से प्रतिक्षण अग्निमात्रा प्रवर्ग्यरूप से निकलती रहती है। वही गर्मी तो सूर्य्यास्त होजाने पर भी वायु में प्रवाहित होती हुई हमें उपलब्ध होती है। यह वाय याग्नि भी पूवलक्षणानुसार **ऋताग्नि ही कह** लाया है।

क्या आ तरिक्ष्य स यसोमात्मक चन्द्रपिण्ड से उसी प्रव य के द्वारा सोममात्रा निकलकर वायु में या त नहीं होती? **होती है और अवश्य होती है**। चन्द्रमा से निकल कर अ तरिक्ष में या त होने वाली सोममात्रा ही तो पार्थिव-भुक्ति के द्वारा **ओषधियों का पोषण करती है**। एवमेव सूर्य से निकलकर अ तरिक्ष में व्याप्त रहने वाली अग्निमात्रा ही तो पार्थिवभुक्ति के द्वारा **वनस्पतियों का पोषण करती है**। क्या ओष-धियो में अग्निमात्रा एव क्या वनस्पतियो में सोममात्रा नहा रहती?, रहती है और अवश्य रहती है। दोनो में दोनो की भुक्ति है। केवल स्थिति में तारत य है। **अग्निमात्रागर्भिता सोमामात्रा जहा ओषधियों का निर्म्माण करती है वहा सोममात्रागर्भिता अग्निमात्रा से वनस्पतियों का स्वरूप-निर्म्माण होता है**। दूसरे श दो म-**ओषधियों मे चान्द्र साम्य प्राण की एव वनस्पतियों मे सौर-आग्नेयप्राण की प्रधानता है**। **चन्द्रमा सूर्य्य** दोनो क्रमश **स यसोम सत्याग्निपिण्ड है**।

स यसोमपिण्डात्मक चन्द्रमा से विनिगत **वाय य ऋतसोम** की सजातीयभावानुबन्ध से सौम्य उत्तराकाश में प्रधानता रहती है एव स याग्निपिण्डात्मक सूर्य्य से विनिगत **वाय्य ऋताग्नि** की आग्नेय दक्षिणाकाश में प्रधानता रहती है। **ऋताग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर निरन्तर जाया करता है तो ऋतसोम उत्तर से दक्षिण की ओर निरन्तर आया करता है**। दक्षिण से उत्तर की ओर जाने वाले

ऋतागिन में उत्तर से दक्षिण की ओर ओर आने वाले ऋतसोम की आहुति होना अनिवा य है। इसी आहुति से ऋताग्नि–ऋतसोम के रासायनिक सम्मिश्रणा मक याग–स ब ध स अ त र्याम स ब ध से ही उस उभया मक अपूर्वभाव का ज म होता है जिसे ऋताग्निसोम के स ब ध से ही **ऋतु** कहा जाता है।

इसप्रकार यद्यपि **ऋतु मे अग्नि–सोम दोनों का ही समन्वय है**। तथापि एक विशेष दृष्टिकोण के अनुरोध से हम इसे अग्निप्रधान ही कहेंगे। सौर प्रवर्ग्याग्नि से युक्त पार्थिव अग्नि की ही ह्रासवृद्धि होती है। ऋतसोम की ह्रास–वृद्धि अस्वाभाविक है। प्रतिसञ्चर (लय) अवस्था में अग्नि अवश्य अन्न (सोम) रूप मे परिणत होजायगा पर तु **यथाकाशगतो नि य वायु सवत्रगो महान्** सिद्धान्तानुसार नि याकाशानुगत नि यवाय य ऋतसोम अपने प्राणरूप से सदा अक्षुण्ण ही बना रहेगा। सोम के इसी नि यधम्म को लक्ष्य में रखते हुए वज्ञानिकोन इस की ह्रास वृद्धि नही मानी है। **अन ना येति किञ्चन — ऋते भूमिरय श्रिता** इ यादि आथवणसिद्धान्तानुसार यापक स यपिण्डाधारभूत ऋतसोम की प्रतीयमाना ह्रास–वृद्धि वस्तुत पार्थिव ऋताग्नि की ह ह्रास–वृद्धि है। सोम स्वस्वरूप से एकरस ही है। अतएव वस तादि षडऋतुओ के निवचन मे–**अग्निकणा वसन्ता भवन्ति अतिशयन पदार्थान् गृह्णाति अतिशयेन उरू अ निकणा शीर्णा भवन्ति हीनता गता भवन्ति पुन पुनरतिशयेन शीर्णा भवन्ति** इ यादिरूप से अ नकणो का ही **उदग्राम–निग्राभ** (चढा उतार) बतलाया जाता है। त वत ऋतानि ही वोद्ग्राभ से ष –ऋतुरूप म परिणत होता है। सी आधार हर श्र ति का सिद्धा त यवस्थित हुआ है कि— **अग्नया ना ऋतव –ऋतवो हैते यदेताश्चितय –अ निचितय** –(शत ६।२।१।३६)।

प्रकृतमनुसराम । पार्थिव अग्नि भी सौर अग्निवत् स य ऋत भेद से दो भागो में विभक्त है। भूके द्र स बद्ध पार्थिव वह अङ्गिरोऽग्नि जो नियतपथ से सवथा ऋजुभाव से **अश्वो न देववाहन** यादि मन्त्रवर्णनानुसार अश्वस्वरूप में परिणत होता हुआ द्यु लोक की ओर जाया करता है स याग्नि है। इस स याग्नि से पार्थिवनिवर्षा का कोई उपकार नही होता प्र युत अपकार ही होता है। जाता हुआ यह सत्याग्नि तो हव्यवाहन है पार्थिव रसमात्राओ को स्वगभ में प्रति ठत कर द्यु लोकस्थ सावित्रप्राणाग्निमय सौर देवताओं में आहुति देने वाला है पृथिवी के पानी को द्यु लोक में बरसाने वाला है। इसी स या न के लिए— **अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति** इ या द कहा गया है। दूसरा है—**ऋतलक्षण पार्थिव अग्नि**। भूप्रदेश से सवत्र उ मा (गर्मी) निकलती रहती है। कूपादि गर्तों (गड्ढों) मे स ऊ मा का प्र यक्ष किया जासकता है। इसका कोई नियत पथ नही है। अपितु अनियाभतरूप से (ऋतरूप से) यह सब ओर से निकला करती है। ऋतधर्म्मा उ मा मक यह पार्थिव ऋताग्नि ही अ तरिक्ष्य पानी के आकषण का कारण बनता है। **जबतक यह ऊष्मा चरमसीमा पर नहीं पहु च जाती तबतक पानी नहीं बरस सकता**।

भूपिण्ड से स याग्नि के द्वारा द्युलोक में पहु चने वाली जलमात्रा सूर्यरश्मि यवच्छिन्न वायुधरातल पर प्रतिष्ठित रहती है। इस आ तरिक्ष्य जलमात्रा में आ तरिक्ष्य ऋत दिकसोम का समावश होता है। श्रद्धा का रूपान्तर यह सोम ही उस जलमात्रा का पोषण करता है आ तरिक्ष्य पज य वायु पार्थिव ऋताग्नि–लक्षणा ऊ मा से उ पन्न धूमा मक बा प सौर तेजोमय प्रवृक्त योतिर्भाव अ तरिक्षयुक्त पार्थिव जलमात्रा इन सब **(वायु धूम ज्योति सलिल)** त वो के सम वय स अ तरिक्ष में जो अपूर्व भौतिक पदाथ

उ पन्न होता है वही अभ्र कहलाया है। * अप्-(जल) को अपने गभ में रखने के कारण ही धूम-योति-सलिल-मरुता-समवय लक्षण वह अप् भाव अभ्र कहलाया है। अभ्र केवल अभ्र है जलधारण करने वाला मात्र है। इस से वृष्ट नहीं होती। वृष्टि होती है मेघ स।

जलकोशा मक बद्दल अभ्र है एव जलवषक बद्दल अपने मेहन धम्म स मेघ है। जबतक बद्दल मे अश्मासोमा मक वृत्रप्राण के सहयोगी वृष्ट्यवरोधक नमुचि (न मुञ्चति जलम्) प्राण का प्राधा य रहता है तबतक वह बद्दल अभ्र कहलाता है। य परावर्तित सूय्यरश्मि ग सौर इ द्रत व के वज्र है। इस दिव्य इ द्र क वज्रप्रहार से [रश्मिगत आग्नेयप्राण के समावेश स] तथा पार्थिव ऊष्मा नुगत वासव इ द्र क यापार से [पार्थिवी ऊष्मा क समावेश से] जब अवरोधक नमुचिप्राण का ग्रथिव धन टूट जाता है तभी वह अभ्र मेघ रूप में परिणत होकर वृष्टि करता है। इसप्रकार द्युलोकस्थ मघवे द्र भूलोकस्थ वासवे द्र के वज्रप्रहार से नमुचि असुर का जब शिर-छेद हो जाता ह तभी वृष्टि होती ह। नि न लिखित म त्र इसी रहस्य का विश्लेषण कर रहा है—

(१)-- अपा फनेन नमुचे शिर इ द्रोदव य ।
विश्वा यदजय स्पृध ॥"
—ऋक्स० ८।१४।१३।

(१)—'इ द्रश्च वा नमुचिश्चासुर समदधात न ना नक्ता न दिवाहन नार्द्रेण न शुष्केणेति। तस्य युष्टायामनुदित आदि यऽपा फेनेन शिरोऽछिनत्"॥
— ताण्ड्यमहाब्रा १२।८।८।

पार्थिवी ऊष्मा नीचे स ऊपर जारही है। ऊपर अ तरिक्ष में वायुधरातल में अभ्रा मक वारिदला (बद्दलों) में जल भरा हुआ है। जब पार्थिव-ऊष्मा वहा पहु च रही है तो इसके रु ामक रुद्धद्रवण-धम्म से अभ्रस्थ जल बरस क्यो नही पडता? यह एक प्रश्न है। वैज्ञानिक समाधान करते हैं कि यह ठीक है कि पार्थिव अग्नि (ऊष्मा) ऊपर जारहा है। पर तु साथ साथ ही आ तरिक्ष्य दिक्सोम पृथिवी की ओर आ भी तो रहा है। जितनी मात्रा में ऊ मा [गर्मी] ऊप जाती है उतनी ही मात्रा से सोम भी [सर्दी] नीचे आ रहा है। सममात्रा से आने वाले सोम के सम्ब ध से त मात्रासमतुलित पार्थिव अग्नि का द्रवण-धम्म शा त होजाता है। फलस्वरूप आ तरिक्ष्य अभ्र मेघस्वरूप मे परिणत नही होने पाते अतएव वृष्टि नही होती।

आवश्यक यह है कि आते हुए शीतगुणक आ तरिक्ष्य ऋतसोम के तथा जाते हुए पार्थिव अग्नि में मध्यावरण का समावश होना चाहिए जो आ तरिक्ष्य सोमबल को अपने ऊपर अवरुद्ध करदे। उस अवस्था में पार्थिव-ऊष्माबल एक तो सोमावरोध से प्रबल होजायगा दूसरे म यावरणजनित सकोच से ी उसे बल मिलेगा। परिणाम स्वरूप उभयबल के समावेश से अपने चरम उ कर्ष पर पहु चती हुइ यह ऊष्मा अवश्य ही सौर इ द्र के सहयोग से अभ्र को मेघरूप में परिणत कर देगी अग्नेराप सिद्धा त चरितार्थ हो जायगा फलत पानी भतल पर बरस पडेगा।

---

* धूम-ज्योति-सलिल-मरुता-सन्निपात क मेघ (अभ्र)।
—कालिदासो मेघदूते

समाधान सामयिक है। परन्तु उस म यावरण का ज मदाता कौन बने ? प्रश्न का उत्तर एकमात्र पाठकों का सुपरिचित पज य वायु ही है। पालन पूरणा ।क प्र धातु (पालनपूरणयो जु प से) से अ थवा तो सेचनार्थक प्रषु धातु (प्रपु सेचने–भ्वा प से से प्रत्य श द न पन्न हुआ है। पज य उस वर्षक वायुविशेष का नाम है जिस का स्वरूप आ यप्राणा मक सौररश्मिगर्भित इन्द्र से सम्पन्न हुआ है। अतएव इ द्र को भी पज न्य कहा जासकता है । पर्षति–सिञ्चति मेघसञ्चयद्वारा वृष्टि त्पादाति से मेघसञ्चय क द्वारा जल बरसाने वाला इ द्रप्राणगर्भित पुरोवात आप्य–वायुविशेष ही पज न्य है। पर्जन्यो मेघश दे ऽपि ध्वनदम्बुद–श दयो (विश्वकाश)– पजन्या रसद दे द्रा (अमर) इ यादि कोशवचन भी इसी नि चय का समथन कर रहे हैं । ऋकसहिता के ५ मण्डला तगत दशम त्रा मक अ छावद सूक्त में पज य के इसी वज्ञानिक स्वरूप का विश्लेषण हुआ है। वहा बतलाया गया है कि पुरवाई हवा का चलना वषणानुकूल गजन–तजन वृष्टिपात आदि सभी वृष्टिकम्म इसी पज य पर अवलम्बित हैं। जिस समय अपने ग जन–तज्जन के साथ प ज न्यदवता नभोमण्डल म मेघरूप से या त होते हुए वृष्ट्य मुख बनत है उस समय स पूण पाथिव चर–अचर–प्रजावग में एक प्रकार का उ लास छाजाता है । देखिए—

यत् पज य कनिक्रदत् स्तनयन् हसि दुष्कृत ।
प्रतीद वि श्व मोदते यत्किञ्च पृथि यामधि ॥

—ऋक्स ५।८३।६।

यस्य व्रते पृथिवी नन्नमीति तस्य व्रत शफव ज्जभु रीति ।
यस्य व त ओषधीर्विश्वरूपा स न पर्ज य महि शर्म्म यच्छ ॥

—ऋकस ५।८३।५।

सुप्रसिद्ध इ द्रधनुष की उ पत्ति का प्रधाननिमित्त भी यही पर्जन्यवायु है। वृष्टि से पहिले अथवा तो पीछे आकाश में सप्तवर्णा मक धनुष का प्र यक्ष किया जाता है। स तवर्ण (रङ्ग) का कारण एकमात्र वे * सू यरश्मियाँ ही है जिन के प्रतिफलन से वायुगर्भित आपोमय धनुष्यधरातल स तवर्णा मक बन जाता है। वीध्र धरातल से सस्पृष्ट रश्मियो का उसीप्रकार वक्रीभाव होजाती है जसे कि–पानी में साधी भी प्रविष्ट लकडी अन्नगर्भ में वक्रित प्रतीत होने लगती है जिसका त्रिभुजाकर–दपणखण्ड में भी प्र यक्ष किया जासकता है। यही

* जिस सूर्य्यरश्म्यनुगत सप्तवर्ण विज्ञान परिज्ञान का प्र थम श्रे य भारतीय महर्षियो को मिलना चाहिए था शास्त्रानुशीलन परि यागलक्षण हमारे आलस्य ने यह श्रे य आज सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन को मिल रहा है। कहा जाता है न्यूटन ने ही परीक्षा के द्वारा पहिले पहिल यह प्रमाणित किया कि सौरप्रकाश में अनेक रङ्गों का सम वय है जब कि सप्तवर्णविज्ञान–ऋ वेदीय अहोरात्र विज्ञान मे न्यूटन से लाखों वष पहिले पूर्णरूप से परीक्षित एव प्रमाणित बन चुका था–कालाय तस्मै नम ।

वक्रप्रक्रिया लम्बन नाम से यवहृत हुइ है। ल बन से रश्मिभक्त सप्तनऐकत्रसमष्टिरूप श्वेतवर्ण का विशकलन होजाता है एम के–सात पव होजाते हैं। और यही स तवर्णप्रतीति का मूलकारण है। पज य– आप्य–वायुधरातल इसी रश्मि ल बन से सप्तवर्णा मक इन्द्रधनुष का जनक बनता है। रश्मिभुक्त प्राण ही इन्द्र है। इसी सम्बन्ध से य धनुष तन्नाम से यवहृत हुआ है। पज या मक इन्द्रधनुष त्रुटित–रश्मिभागात्मक बनता हुआ आ मविरोधी है। अतएव उद्यन्त–अस्तयान्त–आदि सू या की भांति — इन्द्रधनुषदर्शन का भी निषेध हुआ है।¹ धनुष के पजन्या मक इसी तात्विक स्वरूप का विश्लेषण करते हुए श्रुति ने कहा है—

माया वा मित्रावरुणा दिवि श्रिता सूर्यो योतिश्चरति चित्रमायुधम्।
तमभ्रेण वृष्टया गूहथो दिवि पज य द्रप्सा मधुमन्त ईरते॥

—ऋक्स ५।६३।४।

वृष्टि से पहिले जो आप्य वायु प्रवाहित होता है वही पुरोवात वायु पज य है। यही प्रत यभाषा में मा सून कहलाया है। यही पजन्यवायु– वायुर्वै वृष्ट्या ईशे के अनुसार जलवर्षक माना गया है। पज यवायु करता क्या है? इस प्रश्न का उत्तर है–मेघत्रयी की प्रवृत्ति। वायुप्र रणा से विनिगत धूम [बा प] आन्तरिक्ष्य सलिलमात्रा एव रश्मिगत तेजोमात्रा लेकर घनभाव में परिणत होजाता है। ऐसे घन–धूम जबतक त्रिस्तरा मक नहीं बन जाते तबतक वृष्टि नहीं होसकती। सब से ऊपर का मेघावरण आन्तरिक्ष्य शीतधर्म्मा सोमागमन का निरोधक बनता है। म य का स्तर उपरिस्थित स्तर की स्क भनी ब ता है। सर्वाध स्तर [अभ्र] जिस में जलमात्रा भरी हुइ है–पार्थिव उ मा से युत होता हुआ पजन्य की नोदना से बरस पडता है। पज य का सञ्चार होता है—यज्ञाग्नि के द्वारा– यज्ञाद्भवति पज य । पार्थिव अग्निजनित धूम ही तो पजन्या मक मेघ का जनक बनता है। इसीलिए तो पज य वि णुरूप से भी उपस्तुत है। (देखिए महाभारत–१।६५।४४)। यज्ञाग्नि के द्वारा उ पन्न इसी पज यविज्ञान को लक्ष्य बना कर श्रुति कहती है—

'तपोजा' इति। अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्र, अभ्राद्वृष्टिः।
अग्नेर्वा एता जायन्ते। तस्मादाह 'तपोजा' इति॥

—शत० ब्रा ५।३।५।१७।

उक्त पज य विज्ञान को लक्ष्य में रखते हुए ही ब्राह्मण की १८ वी कण्डिका का समन्वय कीजिए। पज य के द्वारा उ पन्न मेघस्तरों से सोम का निरोध होजाता है। फलस्वरूप पार्थिवी ऊ मा को प्रबुद्ध होने का

---

¹ — नेक्षेतोद्य तमादित्य नास्त यान्त कदाचन।
नोपसृष्ट, न वारिस्थ, न मध्यनभसो गतम॥

अवसर मिल ाता है । ग्री म ऋतु निदाघात्मक प्रद्वग्नानुग्रह से भी पार्थिवाग्नि अपत्राकृत प्रबल रहता है । आतशयेन उरुभावापन्ना यह **क्ष्मा (उमस)** ही तो वर्षा की जननी बनती है जिसका श्र य पर परया पज य को ही प्रा त है । **आश्रानय** इ याकारक दवप्राण (आ नय प्राण) के सम्ब धरूप आह्वान स पुरोवात (पज य) का प्रादुर्भाव होगया । **अरुश्रापद्** लक्षण टवप्रारास ब ध स पज य- यापार के द्वारा धूम-जानत अभ्रस्तरो से आकाश छागया । अब आग चलकर वर्षा स पाहले **विद्यु त** ए **स्तनयित्नु** य दो धम्म और उ पन्न होते ह ।

पुरोवात के द्वारा आकाश मे समा नावित अभ्रो के पारस्परिक सघष से ही **विद्यु त्** (**योति**) **ओर स्तनयि नु** (**श ब्दध्वनि**) उ न्न होा है । अ ातने प्र यम ान विद्यत् का रक्खा है एव द्वित य स्थान स्तनाय नु का माना है । प ता कमात्र कारण दृश्या थात ह है । हमें पहिले-विद्यु त् की ही प्रतीति होती है अन तर श द ननि सुा प ा है । वत ास्थात यह है क पाहला स्थान स्तनयि नु (वनि) का है ए सरा विद्यु त् का है । प्र यक्ष म ल्गाए । एक रजक सरोवर के इस छोर पर खडा हुआ शिला पर वस्त्र फटकारता है । म ध्य म क्रिया का सरोवर के उस छोर पर खड हुए साक्षात्कार कर र हैं । फटकार के साथ ही नि का आर्ा ीन हाता है । यह ान सत्रयम ज ना हे । पर तु प्रतीति ननि की होती है सघष [फटकार] के कुछ काल पीछे । वायु के सहयोग से सघा ानत आग्न ापार के द्वा पन्न श द-सरोवर प्रदश मे ा त आ यवायु-वीचयो [लह ो] के आधार पर प्रतिष्ठित होकर ही श्रोत्रेन्द्रिय पर आता है । यही इसके आगमन-विल ब का कारण है । जलकणमिश्रित वायु से आग्नमयी श द वनि अवरुद्धवी र्या बन जाती है । एवमत्र भुशुण्डी [तोप] छूटने पर पहिले चमक दिखलाइ पडती है अन न्त श द सुना जाता है । विद्यु त् म तीव्रगति है । श ब्द वायुस्त म्भण से म दगति है । अतएव पहिले भी उ पन्न किंवा साथ भी उ पन्न विद्य त् तत्काल प्रतीत होजाती है । ठीक यही स्थिति यहा समझिए । दृश्यस्थिति कुछ भी हो वस्तुस्थिति यही है कि पहिले सघष से श ब्द [स्तनयि नु] एव अन तर योत [विद्य त्] उ पन्न होती है ।

पूव में मेघ के तीन स्तर बतलाए गए हैं । यह त्रि व स्थूल मान है । वस्तुत आकाशस्थ स तमरुत्-तरो के कार ण मेघ के भी सात ही स्तर हात है । म य-म यस्थ वायुस्तरो के निगमन से ही मेघस्तरों का परस्पर सघष होता है इसी सघष स विद्य त् उ पन्न होती है इसी सघर्ष से **वायु खात् श ब्दस्तत्** यादि प्रातशाख्य-सिद्धा तानुसार स्तनाय नु (श द-गज्जन) उत्पन्न होती है । मधस्तरो का उच्चावच जसा आकार होता है तत्सघष स उ पन्न विद्य त् स्तनयि नु की भी तत्सदृश ही उच्चावच आकृतिया हती है । ऊ ध्वस्तरसघष से उ पन्न विद्य त्- तनयि नु अधोऽवस्थित मेघस्तरावरण से दृष्टि श्रुत का विषय नही बनती । उन का अध स्तर-प्रदेशा म ही विलयन होजाता है । अधोऽवस्थित तीन स्तरो के पारस्परिक सघष से उ पन्न विद्य त् और स्तनयि नु का ही प्र यक्ष एव श्रवण हुआ करता है । सर्वोपरिस्थ स्तर म यस्थ स्तर पर पडता है सघष होपडता है । इस म यम सघष से उ पन्न विद्यु त् और स्तनयि नु की प्राय एकसाथ ही प्रतीति हाती है । साथ ही सर्वाध स्थित तृतीय मेघस्तरावरण के कारण इस विद्यु त् का पृष्ठ पर पात भी नही होता । यदि सघष आ यन्तिक होा है तो यह भी गिर पडती है । पर तु सर्वाध स्थित मेघस्तर के सघष से जो विद्य त् उ पन्न होती है वह अवश्यमेव भूगभ में आ ठहरती है ।

सघष स उ पन्न योतिर्भाग सघष के तारत य से उसी प्रकार कभी कभी नक्ष उल्का आदि की भी उ पत्ति होजाया करती है जसे कि आ तरिद्य एकोन–पञ्चाशत् (४६) मरुतो के पारस्परिक सघष स नक्ष उ का धिष्ण्या तारा ये चार प्रकार के योति पुञ्ज उ प हात रहते हैं । गागलविज्ञान के अनुसार जसे भूगभ में पूव पश्चिम उत्तर दाक्षण–शान नऋ त आ नेय वाय यादि दिक प्रतिदिक से क्षार मधुर तिक्तादि जलस्रोत प्रवाहित रहते है एवमेव आकाश में दिक् प्रतिदिक भेद से तीव्रवग के साथ वायु तर प्रवाा त ह । क पना कीजिए एक वायुस्तर तीव्र वग से पूव स पश्चिम की ओर जारहा है तो दूसरा उसी वग से पश्चिम स पूव की ओर । यदि दोनो का गमनागमन भाग विभिन्न है तो शान्ति है । यदि दोनो के प्रा तभागो का भी स्पश होजायगा तो सघष से योति उ पन्न होजायगी । यत्किञ्चित् स पकमात्र स उ पन्न यही क्षुद्र योति तारा है । यदि सघष में बलाधिक्य है तो योत प्रवृद्ध है । यही सामा य योति धिष्ण्या है । यदि दोनो के प्रा तभाग एक दूसरे से आक्रा त दिब] होजाते है तो अतिशयरूपेण प्रवृद्धा ाला उ पन्न होजाती है । साथ ही प्रा तभागाक्रान्ति के अनुपात से बडी दूर प य त वह प्रकाशपुञ्ज जाता हुआ प्रतीत होता है जिस का आकार पुच्छसम माना गया है । यही उल्का है । यदि दुर्भा य से दोनों वायु तरों के भाग अभिन्न होजाते है तो दोनो का सर्वा मना सघष होपडता है । स से भयानक प्रति वनि के साथ जो योति पुञ्ज पृथक् होकर अपने आ यतिक वग स भूपृ ठ पर आकार ठहरता है वही वज्र कहलाया है । यही अध प्रदशस्थ वायुस्तर मार्गावरोध होने से भूपिण्ड की ओर अनुगत होता हुआ क दरा भूगर्त्तादि में प्रविष्ट होकर तदवच्छिन्न भूप्रदेश को क पित कर दता है । यही सुप्रसिद्ध आ नेय वारुण [आ य] ऐ [ग्रह] वाय य चतुर्विध भूक पो में से चौथा वाय य भूकम्प कहलाया है । पुरोवात अभ्र विद्युत स्तनयि नु वर्षा इस क्रम से वृष्टिकम्म में [जलवषक मेघा में] न पाचो का रहना अनिवा य है । त्रि स्तर ही इस पञ्चावयवात्मिका मेघ सत्ता का कारण है । ऐसा मेघ निश्चयेन कृष्णवर्ण होता है । क्यों कि ऊ व–स्तरो के आवरण से सौर प्रकाश आ यतिकरूप म अवरुद्ध होजाता है । इसी आ ार पर श्रु ति ने कहा है– धामच्छदिव खलु वै भू वा वषति (त स ७।४।१ – कृष्णो भवति । एतद्वै वृष्ट्यै रूपम् – (तै स २ १।८।) । पारमेष्ठ्य आ यप्राण अ सरामय है आप्य वाय य प्राण ग धव है । अतएव वर्षाऋतु कामभाव की प्रति ठा मानी गइ है । ग धवप्राण के सम्ब ध से सङ्गीत की भी मूलप्रति ठा यही है । वर्षा हि–सव ऋतव के अनुसार यही स व सर की भी प्रति ठा है । भारतीय लोकसगीतों * में भी वर्षा का यही स्वरूप उपवर्णित है जिसका कृ णपज य विद्यु त् स्तनयि नु आदि रूप से अबतक निश्लेषण हुआ है । यही प्रासङ्गिक वृष्टिविज्ञान है जिसका प्रकृत आश्रावण–प्र याश्रावण कर्म्म के साथ निम्नलिखित रूप से सम वय किया जारहा है ।

*–आयो अब वरषा रुत । (ध्रु व) ।
ओ (उ) त्कट कान्ति नरेस (श) ।
अम्भोधर नग प्रमत्त कामी जन सब हरषत ।
चमकत दामिनी पताक डका भयो अशनी ख ।
कृष्ण बरण मधुर मेघ गगन भरयो मम तात (आयो०) ।

बतलाया गया है कि अभ्रसमा लावन के अन तर यज — ये यजामहे " याकाराकारता यजना नुगति ए । यजनप्रवृत्तियों से क्रमश विद्युत्—स्तनयित्नु उ प न होजाती ह । सर्वा त में वौषट् इ याकारक यजनक र्मार भ के साथ साथ ही पानी बरसने लगता है । इसप्रकार प्राकृतिक यज्ञ के प्राणविध ऋत्विजो (प्राणदेवताओ) के प च याहु या मक पञ्च क र्मों से वृष्टिकम्म सञ्चालित है । जिस यजमान को वृष्टि अपेक्षित हो वह सत्या स पत् से समतुलित **आश्रावय अस्तु श्रौषट् – यज – ये यजामहे – वाषट** इन पाच याहुतियो के प्रयोगकाल में ऋ वजा को क्रमश **पुरोवात – अभ्र – विद्यु त् – स्तनयि नु – वर्षाकम्म** इन पाच अधि विक वृष्टिक र्मावयवो के मानस सक प के लिए प्र रित करे । निश्चयेन इस भावनामात्र से वृष्टि होगी— **वर्षति हैव तत्र—यत्रमृत्विज सविदाना यज्ञेन चर्रा त** । और— **यज्ञाद्भवति पज य** वचन चरिताथ होगा । ब्राह्मण की १८ १९ इन दो कण्डिकाओ मे का यक मलक्षणा वृष्टि के द्वारा सक्षि त भाषा में इसी वृष्टिविद्या का दिग्दशन कराया गया है ॥ १८ १९ ॥

इति वृष्टिविज्ञानम



आश्रावण प्र या श्रावण कम्म वह मह वपूर्ण क ि है जिससे आधिदैविक–आधिभौतिक–अ यामिक तीनो कामनाओ को परिपूर्ण किया जासकता है । स व सरयज्ञमम्पि आधि विकफल है इसके समष्टि यष्टया मक दो विवत्त है । **अहोरात्र–पक्ष ऋतु अयन सम्व सर** ये पाच एक स व सर की पाच यष्टिया है । स्वय **सम्व सर** और उसकी मूलप्रति ठारूप **सप्तदशप्रजापति** दोनो समष्टया मक स व सर है । पञ्च याहुतियों से यष्टया मिका सम्व सरस पत्ति का पञ्च याहुतियो के सत्रह अक्षरो से समष्टया मिका सम्वत्सर सम्पत्ति का सग्रह करते हुए ऋ वगण पञ्च याहु या मक आश्रावण–प्रया श्रावण कम्म स यजमान के मानुषयज्ञ को आधि दैविक स पत्ति से युक्त कर दते हैं जिसका १६ १७ इन दो कण्डिकाओ में विश्लेषण हुआ है । अङ्गभूत नव याहु या मक **स्वगाकार कम्म** से दैवा मा में नव आ यामिक प्राणाधान के द्वारा आ यामिक स पत्ति का सग्रह कर लिया जाता है जिसका ५ वी कण्डिका म उ लेख हुआ है । शेष रह जाता है–आधिभौतिक इष्ट फल ।

आधिभौतिक इष्ट फल की प्रा त **द्या (आकाश)** और **पृथिवी** इन दो विवर्तों से होती है । आकाशोपलक्षित पज यदेवता समय पर वृष्टि करत रहें **(निकामे निकामे न प र्ज यो वर्षतु)** यही आका शा मक आधिभौतिक ऊ व पर्व का अनुग्रह है । ब्राह्मण की १८ १९ इन दा कण्डकाओ में इसी अनुग्रह का स्पष्टीकरण हुआ है । प्रस्तुत २ वी कण्डिका में पृथि यनुगत आधिभौतिक अध पव के इष्टफल का दिग्दर्शन कराती हुई ही श्रु ति कहती है कि जिसप्रकार **ओश्रावय** आदि पाच याहुतियो से प्राणदवता पुरोवातादि के द्वारा वृष्टिकम्म का सञ्चालन कर रहे हैं एवमेव इन्ही याहुतियों से (याहु या मक देवाह्वान—प्रदान आदान लक्षण यज्ञ से) व विराड्गौरूपधरा पृथिवी का दोहन किया करते है ।

दोहनक म म ग का मामीय प धे वस को (पावसने के लिए) गो । । । मगुग । । । के साथ सम्ब राना ब च को ह त ७ दो नपात्र कर दोह के लिए गाद्ध । । । । । । । ये पाच प ह । पाचो ना यो का क्रमश इन पाचो दा नक म पत्रा स फ नक । । । । । ।। यज्ञ **अग्नि ही गिर ट गा ह** । इ ीस पा व आ न त्र मञ्चालित हे जसा कि द्वितीयकाण । आ । । त्र- **ब्राह्मणविज्ञान** म विस्तार स बतलाया जा वाला ह । पा थव प्राणाग्नि के ६-२ । र । ी निव ी हो जात है जैसा कि पूव प्रकरणो मे विस्तार स बतलाया जाचुका है । त्रिवृत् र । । । पा । । । । गाहप य है यह एकक्ल है । पञ्च शस्तोमानुगत आ तरिक्ष (पार्थिव ही) गा । । । हे । गटा । नाक्षत्रिक सपप्राण के म ब ध स यह अष्टकल ह । एकविंशस्तोमानुगत दि य [पार्थिव ही) आ । आ । ी है यह एकक्ल है । सप्रकार तोमा मका महापृथवी के पृथिवी—अन्तरिक्ष गोरूप । । । । । । । के भेद से पार्थिव गौरूप अ न के १ ८ मे स पव हो जात है । य ी दशाक ि ा न है ।

दशाक्षर विराट छ द से समतुलित हान स ही गोरूप पार्थिव अग्नि विराट क ाया है । इसीके स ब ध स च य [भूत] अ ाग्य भूपिण्ड **विराड गा** कहलाया है । विराड गा का व स मा ारश्वा नामक वह भूवायु जा अपने ग ा त एव स रणवम स **सप्तराड** नाम स प्रसिद्ध हो । ह । ी स [वायु] के स ब ध स ग गोक प्राणद । विराड ो का ा करने मे सम ा हए ह । वायु के द्वारा ही पार्थिव रसमात्राओ का दोहन । । । य ी । । । का दो ह जिम जाक दभावा क आ । प्रयाश्रावण-क म करने वा । क । पा व कामनाए प । होजाती है ।।५ ।।

पाँचवे अध्याय मे दूसरा, एव चौथ प्रपाठक मे तीसरा ब्राह्मण उपरतम्

श्री

अथ–शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये

प्रथमकाण्डे

त्रिब्राह्मणात्मक-"प्रयाजब्राह्मणम्"

—— *——

[क्रमानुगता पृष्ठसंख्या १४७५]

श्री

विशेष-सूचना—

हमारी शारीरिक-अस्वस्थता के कारण कम्पोजीटरो की असावधानी से आगे पृष्ठसख्या के समावेश में भूल होगई है। फलस्वरूप क्रमप्राप्त १४७४ इस पृष्ठ सख्या से आगे १४७५ यह क्रम न रहकर ११७ से उपक्रा त होकर आगे अवसान पर १७६ सख्या लग गई है। पाठको को इस क्रम यत्यास का सशोधन करते हुए इस प्रक्रा त पञ्चमाध्यायानुगत तृतीय ब्राह्मण, तथा चतुथप्रपाठकानुगत चतुर्थब्राह्मण की ११७ से १७६ की सख्या का '१४७५ से १५४२ पय्य त' इस क्रम से सशोधन कर लेना चाहिए। केवल सख्या म हा त्रुाट हुई हैं। विषय आनुपूर्वी से क्रमबद्ध ही है।

विनीत—

सम्पादक



(१)—प्रतृणपाठ (अर्थावबोधानुगत)

अथ प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये तृतीये चतुर्थप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्
अथ त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे प्रथमं ब्राह्मणम्

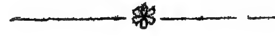
१—प्रयाजबन्धु

ऋतवो ह वै प्रयाजाः । तस्मात् पञ्च भवन्ति, पञ्च हि ऋतवः ॥ (१) ॥ देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे—एतस्मिन् यज्ञे प्रजापतौ पितरि सम्वत्सरे—'अस्माकमयं भविष्यति, अस्माकमयं भविष्यति' इति ॥ (२) ॥ ततो देवा अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः, त एतान् प्रयाजान् ददृशुः, तैरयजन्त । तैर्ऋतून् सम्वत्सरं प्राजयन्, ऋतुभ्यः सम्वत्सरात् सपत्नानन्तरायन् तस्मात् प्रजयाः । प्रजया' ह वै नामैतत्—यत् 'प्रयाजा' इति । तथो एवैष एतैर्ऋतून् सम्वत्सरं प्रजयति ऋतुभ्यः सम्वत्सरात् सपत्नानन्तरेति, तस्मात् प्रयाजैर्यजते ॥ (३) ॥

ते वा आज्यहविषोभवन्ति । वज्रो वा आज्यम् । एतेन वै देवा वज्रेणाज्येन ऋतून् सम्वत्सरं प्रजयति, ऋतुभ्यः, सम्वत्सरात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मादाज्यहविषो भवन्ति ॥ (४) ॥ एतद्वै सम्वत्सरस्य स्वं पयः—यत् 'आज्यम्' । तत् स्वेनैवैनमेतत् पयसा देवाः स्व्यकुर्वत । तथो एवैनमेष एतत् स्वेनैव पयसा स्वीकुरुते । तस्मादाज्यहविषो भवन्ति ॥ (५) ॥

स यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयेत्, तत एव नापक्रमेत् । सङ्ग्रामो वा एष सन्निधीयते—यः प्रयाजैर्यजते । यतरो वै सयत्तयोः पराजयेत, अप वै स क्रामति, अभितरां वै जयन् क्रामति । तस्मादभितरामभितरामेव क्रामेत्, अभितरामभितरामाहुतीर्जुहुयात् ॥ (६) ॥ तदु तथा न कुर्यात् । यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयेत्—तत एव

नापक्रामेत् । यत्रो एव समिद्धतम मन्येत-तदाहुतीजुहूयात् । समिद्धहोमेन ह्येव समिद्धा आहुतय ॥ (७) ॥



२—उत्तर प्रैष

स आश्राव्य आह-"समिधो यज' इति । तद् वसन्त समिद्ध । स वसन्त समिद्धो अन्यान् ऋतून् समिन्धे । ऋतव समिद्धा प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओषधीश्च पचन्ति । तद्वेव खलु सर्वानृतून् निराह । अथ "यज, यज" इत्येव उत्तरानाह-अजामितायै । जामि ह कुर्यात्-यत् "तनूनपात यज, इडो यज' इति ब्रूयात् । तस्मात्-'यज, यज' इत्येवोत्तरानाह ॥ (८) ॥



३—प्रयाजब्राह्मणम्

स वै 'समिधो' (१) यजति । वसन्तो वै समित् । वसन्तमेव तद्देवा अवृञ्जत, वसन्तात् सपत्नान् अन्तरायन् । वसन्तमु-एवैष एतद् वृङ्क्त वसन्तात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात् समिधो यजति । ॥ (९) ॥ अथ 'तनूनपात' (२) यजति । ग्रीष्मो वै तनूनपात्-ग्रीष्मो हि आसा प्रजाना तनूस्तपति । ग्रीष्ममेव तद्देवा अवृञ्जत, ग्रीष्मात् सपत्नान् अन्तरेति । दस्मात्तनूनपात यजति ॥ (१) ॥ अथ 'इडो (३) यजति । वर्षा वा इड । इति हि वर्षा इड -यदिद क्षुद्र सरीसृप ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक्त भवति-तद् वर्षा ईडितमिवान्नमिच्छमान चरति, तस्माद् वर्षा इड । वर्षा एव तद् देवा अवृञ्जत, वर्षाभ्य सपत्नान् अन्तरायन् । वर्षा उ एवैष एतद् वृङ्क्त, वर्षाभ्य सपत्नान् अन्तरेति । तस्मादिडो यजति ॥ (११) ॥ अथ 'बर्हि' (४) यजति । शरद्वै बर्हिः । इति हि शरद् बर्हि -या इमा ओषधयो ग्रीष्महेमन्ताभ्या नित्यक्ता भवन्ति, ता वर्षा वर्द्धन्ते; ता शरदि बर्हिषो रूप प्रस्तीर्णा शेरे-तस्मात् शरत् बर्हि । शरदमेव तद्देवा अवृञ्जत, शरद सपत्नान् अन्तरेति । तस्माद् बर्हियजति ॥ (१२) ॥ अथ 'स्वाहा-स्वाहा' (५) इति यजति । अन्तो वै यज्ञस्य स्वाहाकार । अन्त ऋतूना हेमन्त -वसन्ताद्धि परार्द्ध्य ।

अन्तेनैव तदन्त देवा अवृञ्जत, अन्तेन अन्तात् सपत्नान् अन्तरायन् । अन्तेनो एवैष एतद् अन्त वृङ्क्ते, अन्तेन अन्तात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात् स्वाहा स्वाहेति यजति ॥ (१३) ॥ तद्वा एतद् वसन्त एव हेमन्तात् पुनरसु, एतस्माद्धर्तुषु पुनर्भवति । पुनर्ह वा अस्मिन् लोके भवति, य एवमेतद् वेद ॥ (१४) ॥

स वै 'व्यन्तु, वेतु' इति यजति–अजामितायै । जामि ह कुर्यात्–यद् 'व्यन्तु, व्यन्तु' इति वैव यजेत् 'वेतु, वेतु' इति वा । 'व्यन्तु'–इति वै योषा, 'वेतु'–इति वृषा मिथुनमवैतत् प्रजनन क्रियते । तस्माद्–'व्यन्तु, वेतु' इति यजति ॥ (१५) ॥

अथ चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि । प्रजा वै बर्हि, रेत आज्यम् । तत् प्रजास्वेवैतद् रेत सिच्यते । तेन रेतसा सिक्तेन इमा प्रजा पुनरभ्यावृत्त प्रजायते । तस्मात् चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि ॥ (१६) सङ्ग्रामो वा एष सन्निधीयते–य प्रयाजैर्यजते । यतर वै सयत्तयोमित्रमागच्छति, स जयति । तदेतत्-उपभृतोऽधि जुहू मित्रमागच्छति, तेन प्रजयति । तस्मात् चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि ॥ (१७) ॥ यजमान एव जुहूमनु, योऽस्मा अरातीयति–स उपभृतमनु । यजमानायैवैतद् द्विषन्त भ्रातृव्य बलिं हारयति । अत्तैव जुहूमनु, आद्य उपभृतमनु । अत्त्र एवैतद् आद्य बलि हारयति । तस्मात् चतुर्थे प्रयाज समानयति ॥ (१८) ॥ स वा अनवमृशन् समानयति । स यद्ध अवमृशेत यजमान द्विषता भ्रातृव्येण अवमृशेत् अत्तारमाद्येन अवमृशेत् । तस्मादनवमृशन् समानयति ॥ (१९) ॥ अथ उत्तरा जुहूमध्यूहति । यजमानमेवैतद् द्विषति भ्रातृव्येऽध्यूहति अत्तारमाद्येऽध्यूहति । तस्मादुत्तरा जुहूमध्यूहति ॥ (२०) ॥

देवा ह वा ऊचु–हन्त विजितमेवानु सर्व यज्ञ सस्थापयाम, यदि नोऽसुररक्ष–सन्यासजेयु–'सस्थिते एव नो यज्ञ स्यात्' इति ॥ (२१) ॥ त उत्तमे प्रयाज स्वाहा–कारेणैव सर्व यज्ञ समस्थापयन् । 'स्वाहाग्निम्' इति तदाग्नेयमाज्यभाग समस्थापयन् । 'स्वाहा सोमम्' इति तत् सौम्यमाज्यभाग समस्थापयन् । 'स्वाहाग्निम्' इति–तद्य एष उभयत्राच्युत आग्नेय पुरोडाशो भवति–त समस्थापयन् ॥ (२२) ॥ अथ यथादेवतम् । 'स्वाहा देवा आज्यपा' इति–तत् प्रयाजानुयाजान् समस्थापयन् । प्रयाजानुयाजा वै देवा आज्यपा । "जुषाणा अग्निराज्यस्य वेतु" (तै ब्रा ३।५।६।२) इति तदग्नि

स्विष्टकृत समस्थापयन् । अग्निर्हि स्विष्टकृत् । म एषोऽप्येतर्हि तथैव यज्ञ सतिष्ठते—यथैन देवा समस्थापयन् । तस्मादुत्तमे प्रयाज स्वाहा स्वाहेति यजति—यावन्ति हवींषि भवन्ति । विजितमेवैतत्—अनु सर्व यज्ञ सस्थापयति । तस्माद् यदत ऊर्ध्व विलोम यज्ञे क्रियेत—न तदाद्रियेत 'सस्थितो मे यज्ञ' इति ह विद्यात् । स ह एष यज्ञो यातयामे-वास—यथा वषट्कृतम्, हुतम्, स्वाहाकृतम् ॥ (२३) ॥ ते देवा अकामयन्त—'कथ न्विम यज्ञ पुनराप्याययेम, अयातयामान कुर्याम, तेन अयातयाम्ना प्रचरेम' इति ॥ (२४) ॥ स यत् जुह्वामाज्य परिशिष्टमासीत्—तेन यज्ञ समस्थापयन् —तेनैव यथापूर्व हवींष्यभ्य-घारयन्, पुनरेवैतानि तदाप्याययन्, अयातयामान्यकुर्वन् । अयातयाम ह्याज्यम् । तस्मादुत्तम प्रयाज इष्ट्वा यथापूर्व हवींष्यभिघारयति, पुनरेवैनानि तदाप्याययति, अया तयामानि करोति । अयातयाम ह्याज्यम् । तस्माद् यस्य कस्य च हविषोऽवद्यति—पुनरेव तदभिघारयति, स्विष्टकृत एव तत् पुनराप्याययति, अयातयाम करोति । अथ यदा स्विष्टकृतेऽवद्यति—न तत पुनरभिघारयति । नो हि तत कञ्चन हविषोऽग्नावाहुति होष्यन् भवति ॥ (२५) ॥

इति पञ्चमा याये तृतीय चतुर्थप्रपाठके च चतुर्थब्राह्मणम्

(१।५।३)—(१।४।४)

इति—त्रिब्राह्मणा मके प्रयाजब्राह्मणे प्रथम ब्राह्मणम्

१

अथ प्रमथकाण्ड पञ्चमाध्याये चतुथ चतुर्थप्राठके च पञ्चम ब्राह्मणम्

अथ त्रिब्राह्मणा मके प्रयाजब्राह्मणे द्वितीय ब्राह्मणम

——❀——

४—प्रयाजावृत (पद्धति)

स व 'समिधो' (१) यजति । प्राणा वै समिध, प्राणानेवैतत् समि धे । प्राणैर्ह्य य पुरुष समिद्ध । तस्मादभिमृशेति ब्रूयात्—यद्यु पतापी स्यात् । स यद्यु ष्ण स्यात्—एव तावत् शसेत, समिद्धो हि तावद् भवति । यद्यु शीत स्यात्—नाशसेत । तत् प्राणानेव अस्मिन् एतद् दधाति । तस्मात् समिधो यजति ॥ (१) ॥ अथ 'तनूनपात' (२) यजति । रेतो वै तनूनपात् । रेत एवैतत् सिञ्चति । तस्मात् तनूनपात यजति ॥ (२) ॥ अथ 'इडो' (३) यजति । प्रजा वा इड । यदा वै रेत सिक्त प्रजायते—अथ तत्

ईडितमिव अन्न इच्छमान चरति तत् प्रैव एतत् जनयति—तस्मादिडो यजति ॥ (३) ॥ अथ 'बर्हि' (५) यजति । भूमा वै बर्हि । भूमानमेवैतत् प्रजनयात । तस्माद् बर्हिर्यजति ॥ (४) ॥ अथ 'स्वाहा, स्वाहा' (५) इति यजति । हेमन्तो वा ऋतूना स्वाहाकार । हेमन्तो हीमा प्रजा स्व वशमुपनयते । तस्माद्ध मन् म्लाय त्योषधय , प्र वनस्पतीना पलाशानि मुच्यते, प्रतितरामिव वयासि भवन्ति, अधस्तरामिव वयासि पतन्ति । विप-तितलोमेव पाप पुरुषो भवति–हेमन्तो हीमा प्रजा स्व वशमुपनयते । स्वी ह वै तमर्द्धं कुरुते श्रियेऽन्नाद्याय–यस्मिन्नर्द्धे भवति–य एवमेतद्वेद ॥ (५) ॥

५–प्रयाजानुमन्त्रणम्

देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे । ते दण्डैर्धनुर्भिर्न व्यजयन्त । ते ह अविजयमाना ऊचु –'हन्त वाच्येव ब्रह्मन् विजिगीषामहै, स यो नो वाच व्याहृता मिथुनेन न अनुनिक्रामात्–स सर्व पराजयातै, अथ सर्वमितरे जयान्' इति । 'तथा' इति देवा अब्रुवन् । ते देवा इन्द्रमब्रुवन् 'व्याहर' इति ॥ (६) ॥ स इन्द्रोऽब्रवीत्–'एको मम' इति । अथ 'अस्माकमेका' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनेन अविन्दन् । मिथुनं हि–एकश्च, एका च ॥ (७) ॥ 'द्वौ मम' इति इन्द्रोऽब्रवीत् । अथ 'अस्माक द्वे' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनमेव अविन्दन् । मिथुन हि–द्वौ च, द्वे च ॥ (८) ॥ 'त्रयो मम' इति इन्द्रोऽब्रवीत् । अथ 'अस्माक तिस्र' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मि-थुनमेवाविन्दन् । मिथुन हि–त्रयश्च, तिस्रश्च ॥ (९) ॥ 'चत्वारो मम' इति इन्द्रोऽब्र-वीत् । अथ 'अस्माक चतस्र' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनमेवाविन्दन् । मिथुन हि–चत्वारश्च, चतस्रश्च ॥ (१) ॥ 'पञ्च मम' इतीन्द्रोऽब्रवीत् । तत इतरे मिथुन नाविन्दन् । नो ह्यत ऊर्ध्व मिथुनमस्ति । पञ्च पञ्च–इति ह्येवैतदुभय भवति । ततोऽसुरा सर्व पराजयन्त, सर्वस्माद् देवा असुरानजयन् , सर्वस्मात् समत्नानसुरान् निरभजन् ॥ (११) ॥

तस्मात् प्रथमे प्रयाजे इष्टे ब्रूयात्–'एको मम' इति । 'एका तस्य, यमह द्वेष्मि' इति । यद्यु न द्विष्यात्–'योऽस्मान् द्वेष्टि, य च वय द्विष्म –इति ब्रूयात् ॥(१२)॥ 'द्वौ मम' इति द्वितीये प्रयाजे —'द्वे तस्य—योऽस्मान् द्वेष्टि, य च वय द्विष्म ' इति ॥(१३)॥

'त्रयो मम' इति तृतीये प्रयाजे—'तिस्रस्तस्य—योऽस्मान् द्वेष्टि, य च वय द्विष्म' इति ॥(१४)॥ चत्वारो मम' इति चतुर्थे प्रयाजे 'चतस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि, य च वय द्विष्म' इति ॥ १५)॥ 'पञ्च मम' इति पञ्चमे प्रयाज 'न तस्य किञ्चन-योऽस्मान् द्वेष्टि, य च वय द्विष्म' इति । स पञ्च पञ्चेत्येव भवन् पराभवति । तथास्य सव सवृङ क्ते—सर्वस्मात् सपत्नान् निर्भजति—य एवमेतद्वेद ॥(१६)॥

इति पञ्चमाध्याये चतुथ चतुथप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्

—(१।५।४)—(१।५।४)—

(पञ्चमाध्यायश्च समाप्त)

इति-त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे द्वितीय ब्राह्मणम्

—?—

अथ प्रथमकाण्डे षष्ठाध्याये प्रथम चतुथप्रपाठक च षष्ठ ब्राह्मणम्

अथ त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मणे तृतीय ब्राह्मणम्

(षष्ठाध्याय प्रारम्भ)

६—प्रयाजानामिष्टौ प्राथम्यम्

ऋतवो ह वै देवेषु यज्ञे भागमीषिरे—आ नो यज्ञ भजत, मा नो यज्ञादन्तर्गत, अस्त्वेव नोऽपि यज्ञे भाग—इति ॥(१)॥ तद्वै देवा न जज्ञु । त ऋतवो देवेष्वजानत्सु असुरानुपावर्तन्त—अप्रियान् देवाना द्विषतो भ्रातृव्यान् ॥(२)॥ ते हैतामेधतुमेधाञ्चक्रिरे यामेषामेतामनुशृण्वन्ति । कृषन्ती ह स्मैव पूर्वे वपन्तो यन्ति, लुनन्तोऽपरे मृणन्त, शश्वद्धैभ्योऽकृष्टपच्या एवौषधय पेचिरे ॥ (३) ॥ तद्वै देवानामाग आस । 'कनीय इन्न्वतो द्विषन्, द्विषतेऽरातीयति किमु एतावन्मात्रमुपजानीत—यथेदमितोऽन्यथाऽसदिति ॥ (४) ॥ ते होचु—'ऋतूनेवानुमन्त्रयामहै'—इति । 'केन' इति । 'प्रथमानवैनान् यज्ञे यजाम' इति ॥ (५) ॥ स हाग्निरुवाच—'अथ यन्मा पुरा प्रथमं यजथ, क्वाहं भवानि' इति । 'न त्वमायतनात् च्यावयाम' इति । ते यदृतूनभिह्वयमाना अथाग्निमायतनात्—नाच्यावयन्, तस्मादग्निरच्युत । न ह वा आयतनाच्च्यवते यस्मिन्नायतने भवति य एवमेतमग्निमच्युत वेद ॥ (६) ॥ ते देवा अग्निमब्रुवन्—'परेहि एनांस्त्वमेवानुमन्त्रयस्व' इति । स हेत्याग्निरुवाच—'ऋतव ! अविद वै वो देवेषु यज्ञे भाग' मिति । 'कथ नोऽविद' इति । 'प्रथमानेव वो यज्ञे यक्ष्यन्ति' इति ॥ (७) ॥ त ऋतवोऽग्निमब्रुवन्—'आ वय त्वामस्मासु भजाम—यो नो देवेषु यज्ञे भागमविद'

इति । स एषोऽग्निरृतुष्वाभक्त –"समिधोऽग्ने"—"तनूनपादग्ने"–"इडोऽग्ने"–"बर्हिरग्ने"–'स्वाहाग्निम्' (तै० ब्रा ३।५।५।) इति । आभक्तो ह वै तस्या पुण्यकृत्याया भवति, यामस्य समानो ब्रुवाण करोति, अग्निमते ह वा अस्मा अग्निमन्त ऋतव ओषधी पच तीद सर्वम्–य एव मेतमाग्नमृतुष्वाभक्त वेद ॥ (८) ॥

तदाहु 'यद् उत्तमान् प्रयाजा नावाहयन्ति–अथ कस्मादेनान् प्रथमान् यजन्ति' इति । उत्तमान् ह्येनान् यज्ञ ऽवाकल्पयन्–प्रथमान् वो यजाम–इत्यब्रुवन् । तस्मादुत्तमानावाहयन्ति, प्रथमान यजन्ति' ॥ (६) ॥

चतुर्थेन वै प्रयाजन देवा यज्ञमाप्नुयन, त पञ्चमेन समस्थापयन् । अथ यदूर्ध्वमसस्थित यज्ञस्य–स्वर्गमेव तेन लोक समाश्नुवत ॥ (१३) ॥ ते स्वर्ग लोक यन्तोऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रु । तेऽग्नि पुरस्तादकुर्वत–रक्षोहण रक्षसामपहन्तारम् । अग्निं मध्यतोऽकुवत रक्षोहण रक्षसामपहन्तारम् । अग्निं पश्चादकुर्वत–रक्षोहण रक्षसामपहन्तारम् ॥ (११) ॥ स यद्येनान पुरस्तादसुररक्षसान्यासिसङक्षन्–अग्निरेव तान्यपाहन–रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि पश्चादासिसङक्षन्–अग्नरेव तान्यपाहन्–रक्षोहा रक्षमामपहन्ता । अत एता सर्वतोऽग्निभिगुप्यमाना स्वर्ग लोक समाश्नुवत ॥ (१२) ॥ तथो एवैष एतच्चतुर्थेन प्रयाजेन यज्ञमाप्नोति, त पञ्चमेन सम्स्थापयति । अथ यदत ऊर्ध्वमसस्थित यज्ञस्य–स्वगमेव तेन लोक समश्नुते ॥ (१३ ॥ स यदाग्नेयमाज्यभाग यजति–अग्निमेतत् पुरस्तात् कुरुते रक्षोहण रक्षसामपहन्तारम् । अथ यदाग्नेयः पुराडाशो भवति–अग्निमेतन्मध्यत कुरुते–रक्षोहण रक्षसामपहन्तारम् । अथ यदग्नि स्विष्टकत यजति–अग्निमेतत् पश्चात् कुरुते–रक्षोहण रक्षसामपहन्तारम् । ॥ (१४) ॥ स यद्येन पुरस्तादसुररक्षसान्यासिसङक्षन्ति–अग्निरेव तान्यपहन्ति–रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि मध्यत आसिसङक्षन्ति अग्निरेव तान्यपहन्ति–रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि पश्चादासिसङक्षन्ति–अग्निरेव तान्यपहन्ति–रक्षोहा रक्षसाम पहन्ता । स एन सर्वतोऽग्निभिगुप्यमान स्वर्ग लोक समश्नुते ॥ (१५) ॥

७–अभिचार

स यद्येन पुरस्ताद् यज्ञस्य अनुव्याहरत्–त प्रति ब्रूयात्–'मुख्यामार्त्तिमारिष्यति–अन्धो वा, बधिरो वा भविष्यसि' इति । एता वै मुख्या आर्त्तयः । तथा हैव स्यात् ॥ (१६) ॥ यदि मध्यतो यज्ञस्य अनुव्याहरेत्–त प्रति ब्रूयात्–'अप्रजा, अपशुर्भ-

विष्यसि' इति । प्रजा ै पशवो मध्यम् । तथा हैव स्यात् ॥ (१७) ॥ यद्यन्ततो यज्ञस्य अनुव्याहरेत–त प्रति ब्रूयात–'अप्रतिष्ठितो दरिद्र क्षिप्र ऽमु लोकमेष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् । तस्मादु ह नानुव्याहारीव स्यात । उत ह्य ।वित्परो भवति ॥ (१८) ॥

८–फलश्रुति

सम्वत्सर ह ै प्रयाजैर्नयन जयति । स ह वेनैन जयति–योऽस्य द्वाराणि वेद । क हि स तैगृ्है कुर्यात्–यानन्तरतो न यवविद्यात–यथा यथास्य ते भवन्ति । तस्य वसन्त एव द्वार, हेमन्तो द्वारम् । त वा एत सम्वत्सर स्वर्ग लोक प्रपद्यते । सर्व ै सम्वत्सर, सर्व वा अक्षय्यम् । एतेनो हास्याक्षय्य सुकृत भवति, अक्षय्यो लोक ॥ (१९) ॥

९–परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्श

तदाहु—'किंदेवत्या याज्यानि' इति। 'प्राजापत्यानि' इति ह ब्रूयात । अनिरुक्तो ै प्रजापति अनिरुक्तान्याज्यानि । तानि हैतानि यजमानदेवत्या येव । यजमानो ह्य व स्वे यज्ञे प्रजापति–एतेन ह्युक्ता ऋत्विजस्तन्वते, त जनयन्ति ॥ (२०) ॥ स आज्यस्य उपस्तीर्य, द्विर्हविषोऽवदाय, अथोपरिष्टात्–आज्यस्य अभिघारयति । सैषा आज्येन मिश्राहुतिर्हूयते । यजमानेन है।षैतन्मिश्रा हूयते । यदि ह वा अपि दूरे सन यजते, यद्यन्तिके–यथा हैवान्ते सत इष्ट स्यात, ए ा है।ा विदुष इष्ट भवति । यद्यु हापि बह्विव पाप करोति—नो हैव बहिर्द्धा यज्ञाद्भवति य एवमेतद्वेद ॥ (२१) ॥

इति षष्ठाध्याये प्रथम चतुथप्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम्

—(१।६।१।)—(१।४।६।)—

(चतुथप्रपाठकश्च समाप्त)

इति त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे तृतीय ब्राह्मणम्

—३—

समाप्तञ्चेद त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मणम्

इति–प्रकरणपाठ

———— ❀ ————

–(२)अथमत्र–मूलानुवादे प्रासङ्गिकसग्रह —

प्रस्तुत प्रयाज कर्म्म का ब्राह्मणग्रन्थ के तीन ब्राह्मणों में सोपपत्तिक निरूपण हुआ है। अतएव समानप्रकरणानुबन्ध से हमने तीन ब्राह्मणों का एकत्र समन्वित रूप से समावेश करना

आवश्यक माना है । तीनों ब्राह्मणों में प्रयाज-कर्म का ही विश्लेषण हुआ है अतएव तीनों की समष्टि को एक ब्राह्मण मानते हुए हमने इसे—'प्रयाजब्राह्मण' इस एक नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ मान लिया है ।

त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण के प्रथम द्वितीय तृतीय ब्राह्मणों में क्रमशः ३ २ ४ इतने अवान्तर प्रकरणों का समावेश हुआ है । तीनों ब्राह्मणों की कण्डिका सख्या क्रमशः (१)—२५ ( )—१६ (३)— १ है । सम्भूय त्रिब्राह्मणात्मक इस प्रयाज ब्राह्मण में ६ अवान्तर प्रकरण तथा ६२ कण्डिका हो जाती है । इस प्रासङ्गिक सग्रह को लक्ष्य मे रखते हुए ही प्रस्तुत मूलानुवाद का समन्वय करना चाहिये ।

१	(१)-१-प्रयाजबन्धु	१ क	५ क	(५ क)	—त्रिप्रकरणात्मक २५ कण्डिकात्मक प्रथम प्रयाजब्राह्मणम् १
	(२)-२ उत्तरप्रैष	६ क	८ क	(३ क)	
	(३) ३-प्रयाजब्राह्मणम्	९ क	२५ क	(१७ क)	
❀					
२	(१)-४-प्रयाजावृत्	१ क	५ क	(५ क)	—द्विप्रकरणात्मक १६ कण्डिकात्मक द्वितीय प्रयाजब्राह्मणम् २
	(२)-५ प्रयानुमन्त्रणम्	६ क	१६ क	(११ क)	
❀					
३	(१ -६-प्रयाजानामिष्टौ प्राथम्यम्	१क	१५क	(१५क)	—चतु प्रकरणात्मक २१ कण्डिकात्मक तृतीय प्रयाजब्राह्मणम् ३
	(२)-७ अभिचार	१६ क	१८ क	(३ क)	
	(३) ८ फलश्रुति	१९ क		(१ क)	
	(४)-९ परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्श	२ क	२१क	(२क)	

त्रिब्राह्मणात्मक ९ अवान्तरप्रकरणात्मक ६२ कण्डिकात्मक

प्रयाजब्राह्मणम्

(३)–मूलानुवाद —

(१)—पॉचवे अध्याय में तीसरा (३) चौथे प्रपाठक में चौथा (४) (१।५।३)-(१।४।४)—

(२)—पॉचवें अध्याय में चौथा (४) चौथे प्रपाठक में पाचवा(५)-(१।५।४)-(१।४।५)—

(३)—छठे अध्याय मे पहिला (१) चौथे प्रपाठक मे छठा (६) (१।६।१) (१।४।६)—

तीन ब्राह्मणों की समष्टिरूप—"प्रयाजब्राह्मण"

(प्रथमकाण्डानुगत क्रम से २२ २३ २४ व ब्राह्मण)

———— ❀ ————

प्रथमकाण्ड म पाचव अध्याय में तीसरा चौथे प्रपाठक म चौथा ब्राह्मण

(१-५-३)—(१-४-४)

(१—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त प्रथम ब्राह्मण)

१—प्रयाजब धु (प्रयाजों की मौलिक उपपत्ति)

पूव के स्रु गादापनब्राह्मण में स्रु गादापन-निगदम त्र के पाठानन्तर जिस आश्रावण प्रत्याश्रावणकम्म की उपपत्ति बतलाई गई है उसका पञ्चप्रयाज याग से सम्ब ध है। आवाप-कर्म्म से पहिले पञ्चप्रयाज नामक कम्मविशेष विहित है जैसाकि सूत्रानुगत पद्धतिप्रकरण म स्पष्ट किया जाने वाला है। ओ श्रावय इ यादि याहृतियों के पारस्परिक सम्प्रदानपूवक विहित-पञ्चधा विभक्त आ याहुतकम्म ही पञ्चप्रयाज कर्म्म है। आ प्र कर्म्मेतिकर्त्त यता बतलाते हुए पूवब्राह्मणान्तर्गत सूत्रानुगत पद्धतिसग्रह-परिच्छेद में यह स्पष्ट किया गया था कि हातृकतृ व 'अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम् इ यादि नव याहृत्या मक स्रु गादापननिगदपाठ के अवसर पर हात के मुख से जिस समय- घृतवती मध्वर्यो स्रु चमास्यस्व इस चौथी व्याहृति का उच्चारण होत है उसके घृतवतीम् पदोच्चारण के साथ साथ ही अध्वयु जुहू उपभृत् का ग्रहण कर लेता है स्रु गादापन-कम्म समाप्त्यनन्तर अध्वयु आग्नीध्र के प्रति ओ श्रावय व्याहृति का आग्नीध्र अध्वयु के प्रति अस्तुश्रौषट् याहृति का अध्वयु होता के प्रति यज याहृति का एवं होत अध्वयु के प्रति ये यजामहे याहृति का उच्चारण करता है। सर्वा त में होता के मुख से वौषट इस पॉचवीं याहृति का उच्चारण होते ही अध्वयु जुहू-स्थित आज्यभाग का समिद्ध आहवनी-याग्नि में आहुति दे देता है यही आ० प्र कर्म्म है (देखिये पृ स १४८ स्रु गादापन ब्राह्मण-) वस्तुत आ प्र कम्म का तात्पर्य है पञ्च याहृतियों का पारस्परिक सम्प्रदानपूर्वक उच्चारण करना। आहुति देना तो प्रयाजकम्म है जो इ ही पाँच याहृतियों के पञ्चावर्त्तन से पाँच बार होता है जिसकी सोमपत्तिक इतिकर्त्त यता प्रकृत के त्रिब्राह्मणा मक प्रयाजब्राह्मण में प्रतिपादित हुई है। पूर्वब्राह्मण म वस्तुत स्रु गादापनकम्म की ही सोपपत्तिक इतिकर्त्तव्यता का निरूपण हुआ है। अतएव वह ब्राह्मणभाष्य इसी नाम से (स्रु गादापनब्राह्मण नाम से) ही व्यवहृत किया गया है।

क्योंकि इस कर्म्म का घृतवतीम् इत्यादि चौथी व्याहृति के साथ ही ओ श्रावय इत्यादि लक्षण व्याहृतिरूप (पञ्चप्रयाज कर्म्म का) उपक्रम हो जाता है अतएव वहीं श्रुति ने इस पञ्च-व्याहृति से सम्बन्ध रखने वाला उपपत्ति का स्पष्टीकरण कर दिया है। तत्त्वत आ प्र कर्म्मो-पपत्ति से सम्बन्ध रखने वाले स्रु गादापनब्राह्मण म प्रतिपादित वह प्रकरण प्रकृत के प्रयाजब्राह्मण से ही सम्बन्ध रखता है। और इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि पूर्वब्राह्मण की- अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम् -१-५-२-१ इस प्रथम कण्डिका से आरम्भ कर- ता वा एता नव व्याहृतयो भवन्ति १-५-२-५ इस पाचवीं कण्डिका पर्य्यन्त पञ्चकण्डिकात्मक ब्राह्मणभाग ही वस्तुत स्रु गादापनब्राह्मण है। आगे की यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम १-५-२-६ इस ६ ठी कण्डिका से ही प्रयाजब्राह्मण आरम्भ हो जाता है। यहा से ६ ठी कण्डिका से आरम्भ कर त्रिब्राह्मणात्मक प्रकृत प्रयाजब्राह्मण के तृतीय ब्राह्मण की स आज्यस्थापस्तीय १ ६ १ २१ इस इक्कीसवीं कण्डिका पर्य्यन्त सम्पूर्ण ब्राह्मण भाग प्रयाजब्राह्मण है। प्रयाजकर्म्म जिन ओश्रावय इत्यादि आश्रावण-प्रत्याश्रावणात्मिका व्याहृतियों से सम्पन्न होता है उन व्याहृतियों से सम्बन्ध रखने वाले पारस्परिक सम्प्रदान की व्याहृतियों की पञ्च संख्या की सप्तदश अक्षरों की काम्य फलों की उपपत्तिमात्र पूर्वब्राह्मण म प्रतिपादित हुई है। अब प्रकृत प्रकरण में ओश्रावय आदि से सम्पन्न होने वाले प्रयाजकर्म्म का ही उपपत्ति बतलाई जाती है। अतएव प्रस्तुत प्रकरण- प्रयाजबन्धु नाम से व्यवहृत हुआ है। इसी प्रकरणसङ्गति को लक्ष्य म रखते हुए अक्षरार्थ का समन्वय करना चाहिए।

(स्रु गादापन कर्म्मानन्तर- ओ श्रावय इत्यादि व्याहृतियों के द्वारा आवापकर्म्म से पहिले पॉच प्रयाज होते है। प्रयाज पॉच क्यों होते है ? इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहता है)—(ये पाच) प्रयाज निश्चय से (पाच) ऋतुएँ हैं (अर्थात् पञ्चप्रयाज पाच ऋतुओं के प्रतीक है) । इसीलिये (यहॉ) पॉच प्रयाज होते है (किये जाते हैं) । निश्चयेन ऋतुएँ पाच है । तात्पर्य्य यही हुआ कि प्रयाजकर्म्म ऋतुकर्म्म है । ऋतुएँ क्योंकि पॉच है अतएव तद्रूप प्रयाजों का पाच होना स्वाभाविक ही है) ।। ।। (दूसरा प्रश्न प्रयाज कर्म्म के सम्बन्ध में यह उपस्थित होता है कि प्रकृत इष्टिकर्म्म म ऋतुलक्षण प्रयाजों का यजन किया ही क्यों जाता है ? इसी प्रश्न का एक वैज्ञानिक आख्यान के द्वारा समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—(एक ही प्रजापति की सन्तान होने से) प्राजापत्य (नाम से प्रसिद्ध) देव (देवदेवता) और असुर (असुरदेवता) दोनों (ही) पिता प्रजापतिरूप यज्ञात्मक संवत्सर को लक्ष्य बना कर (निमित्त बना कर)— यह हमारा ही होगा यह हमारा ही होगा इस प्रकार स्पर्द्धा करने लगे। (तात्पर्य्य सम्वत्सरप्रजापतिरूप यज्ञसम्पत् के लिए दोनों में प्रतिस्पर्द्धा चलने लगी दोनों इस पर अपना स्वत्त्व प्रतिष्ठित करने के लिए परस्पर झगडने लगे) ।। (२) ।। (अतिमानी असुरों ने स्पर्द्धा तो अवश्य की प्राजापत्य यज्ञसम्पत्ति के भोग की तो कामना अवश्य की परन्तु जिस प्राण-वाग् व्यापारलक्षण अर्चन-तप-श्रम से वह कामना सफल हुआ करती है उसका अनुगमन उन्होंने नहीं किया। उधर) देवों न (अपनी स्वाभाविक कर्म्म-प्रवणता से) अर्चन (लक्षण तपोरूप

प्राणव्यापार अन्तर्व्यापार एव) श्रम (लक्षण वागव्यापार-बहिर्व्यापार तत्त्वत आत्मबल एव शरीरबल) का अनुगमन करते हुए (यज्ञसम्पत् प्राप्ति के उपाय का अन्वेषण करते हुए) विचरने लगे। (कालान्तर में इस अर्चन श्रम के फलस्वरूप) उन्होंने (देवदेवताओं ने) (यज्ञसम्पत्-जयसाधनभूत) इन (आगे बतलाए जाने वाले) प्रयाजों को देख लिया (प्राप्त कर लिया)। इन (प्राप्त प्रयाजों) से (देवदेवताओं नें सम्वत्सरयज्ञप्रजापति का) यजन किया (यज्ञ के साथ प्रयाज कर्म्म का सम्बन्ध करा दिया) इन (पाच प्रयाजों) से (देवदेवताओं ने सम्वत्सरावयवभूत पाँच ऋतुओं को (एव पाच ऋतुओं के द्वारा ही पञ्चर्त्तु समष्टिरूप) सम्वत्सर को जीत लिया। (इस प्रयाजकर्म्मबल से ही) देवदेवताओं ने (सम्वत्सर के अवयवभूत पाचों) ऋतु पर्वों से (एव समष्ट्यात्मक) सम्वत्सर (रूप यज्ञमण्डल) से (क्योंकि अपने सहज) शत्रुओं (असुरों) को निकाल बाहिर किया अतएव (असुरपराजयपूर्वक स्वजयलाभ के कारण ही) ये (पाँच कर्म्म) प्रजय (जयप्राप्ति के साधन) कहलाए। यह प्रजया ही नाम (परोक्षप्रियदेवताओं की परोक्षभाषा म यज्ञसम्प्रदाय में) प्रयाजा नाम से प्रसिद्ध हुआ। (तात्पर्य्य आख्यान का यही हुआ कि देवता और असुर दोना सम्वत्सरयज्ञ-सम्पत्ति प्राप्त करना चाहते थे। देवताओं ने देखा कि बिना अवयवसम्पत्ति की प्राप्ति के अवयवी-सम्पत्ति प्राप्त नहीं की जा सकती। फलस्वरूप उन्होंने पहिले अवयव स्वरूपा ऋतुसम्पत्ति प्राप्त की। इसी के बल से आगे जाकर सम्पूर्ण सम्वत्सर पर उनका अधिकार होगया। इस प्रकार ऋतुयजन ही देवताओं के जय का कारण बना। अतएव ऋतुकर्म्म अवश्य ही प्रजय कहा जासकता है। प्रजयरूप ऋतुकर्म्म ही परोक्षभाषा मे प्रयाज कहलाया)। (वैधयज्ञ में प्रवृत्त यजमान के लिए भी यह आवश्यक है कि वह भी उसी प्राकृतिक नियमानुसार पहिले अवयवसम्पत्ति ही प्राप्त करे। इसी अभिप्राय से आगे जाकर श्रुति कहती है) उसी प्रकार (जैसे प्राकृतिक प्राणलक्षण देवदेवताओं ने किया था) यह यजमान (भी अपने इन) पाँच प्रयाजों से (यज्ञातिशयलक्षण दैवात्मा के लिए) ऋतुओं को एव (ऋतुद्वारा ऋतुसमष्टिरूप) सम्वत्सर को अपने अधिकार में करता है (इस प्राप्ताधिकार बल पर) ऋतुओं और सम्वत्सर से अपने शत्रुओं को बाहिर निकाल देता है। इसीलिए (ऋतुसम्पत्तिपूर्वक सम्वत्सरसम्पत्ति की प्राप्ति के लिए ही) यह प्रयाजों से (ऋतुओं का) यजन करता है (प्रयाज कर्म्म करता है)। प्रयाज कर्म्म क्यों किया जाता है? इस प्रश्न का यही बन्धु (तात्पर्य्य-उपपत्ति-समाधान) है ॥१॥

(आवाप-प्रधान-देवता के लिए जहाँ पुरोडाशाहुति विहित है वहाँ ऋतुरूप प्रयाज देवताओं के लिए आज्यहवि-घृताहुति-विहित है। प्रयाजों के लिए आज्यहवि क्यों होती है? इसी प्रासङ्गिक प्रश्न की उपपत्ति बतलाने के अभिप्राय से श्रुति कहती है)—वे (पाचों प्रयाज) निश्चयेन आज्यहवि वाले होते हैं (पाँचों के लिए घृताहुति का विधान हुआ है। कारण इसका यही है कि) (यह) आज्य निश्चयेन वज्र (शत्रुनाशक अमोघ शास्त्र) है। आज्यरूप इसी वज्र से निश्चयेन देवदेवताओं नें (असुरों का सहार करते हुए) पाँचों ऋतुओं (एवं तद्द्वारा) सम्वत्सर को जीत लिया (था) (इसी जयलाभ के बल पर उन्होंनें) ऋतुओं और सम्वत्सर से शत्रुओं को निकाल बाहिर किया (था)। उसी प्रकार (प्राकृतिक

यज्ञवत) यह यजमान (भी) आज्यरूप इसी व्रज से ऋतु और सम्व सर जीत लेता है (लेगा) ऋतु और सम्वसर से शत्रुओ को निकाल देता है (देगा)। (क्योंकि आज्य शत्रुविनाशक वज्र है वही कर्म्म शत्रुनाशपूवक जयलाभ-ही यहा अभी सत है।) अतएव (ये प्रयाज) आज्यहवि- वाले हाते हैं। (प्रयाजों के लिए क्यो आ याहुात होती है ? प्रश्न की यही उपपत्ति है)॥ ४॥ (आज्यहवि का एक कारण तो शत्रुपराभव है। अब एक दसरा कारण और बतलाती हुई श्रुति कहती है)—यह जो आज्य है वह निश्चयन सम्वसरयज्ञ का अपना रस सार भाग है (प्रातिस्विक रेत-बल है)। (प्रयाजों क लिए आ तरिद्य आ यतत्त्व की आहुति देते हुए) देव- देवताओन उस सम्व सर प्रजापति को अपने आपक सारभाग से ही युक्त बनाया। तथैव (आज्यहवि करता हुआ) यह यजमान (भी) सम्व मर क अपने सारभाग से ही उसे अपनाता है। इसलिए (भी ये) प्रयाज आ यहवि वाले होते है। ता पर्य्य शत्रुविनाश पहिला फल है सम्वसर को अपने ही सार भाग से युक्त कर उसे समृद्ध करना तद्द्वारा स्वयज्ञ को समृद्ध करना आज्यहविष्करण का द्वितीय फल है। यही प्रयाजानुगता आ यहवि का ब धु उपपात्त-है) ॥५॥

(प्रयाजकर्म्म आश्रावणपूवक आरम्भ होता है यह कहा जा चुका है। इस सम्ब ध में यह नियम है कि जिस यज्ञभूमप्रदेश पर खडा हुआ अ वयु आग्नीध्र के प्रति-प्रयाजकर्म्म के लिए ओ श्रावय इस याहृति का उच्चारण करता है वहाँ से पीछ नहीं हटना चाहिए। ऐसा आदेश क्यों दिया गया ? इसी प्रश्न की उपपत्ति बतलाने के अभिप्राय से आदेश-विश्लेषण पूवक श्रुति कहती है)—वह अ वयु जिस (नियत) प्रदेश म ही खडा ह कर प्रयाजों के लिए आश्रावण करे उस प्रदेश से पीछे न हटे। (कारण यही है कि) जो अध्वयु प्रयाजों स (ऋतुओं का) यजन करता है वह (यजमान के शत्रुओं के साथ) युद्ध ही ठानता है। दो याद्धाओं म से जो याद्धा पराजित हो जाता है वह निश्चयेन मैदान छोड भागता है। दूसरा जीतने वाला योद्धा आगे बढ़ता जाता है। (प्रयाजकर्म्म सग्रामकर्म्म है अध्वयु योद्धा को जयलाभ करना है। आगे बढ़ना हीं जय का सूचक है) अतएव (अध्वयु को चाहिए कि) वह आगे आगे ही बढे आगे आगे ही आहुति प्रदान करे। (प्रयाजकर्म्म से सम्ब ध रखने वाले अपक्रमणनिषेध अभि- क्रमण विधान का यही ब धु है। एव यही प्रयाजकर्म्म का ब धु—उपपत्ति—है जिसका ६ कण्डिकाओं में विश्लेषण हुआ है) ॥ ६ ॥ (परम वैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य की दृष्टि में पीछे न हटना तो ठीक है। पर तु आहुति के साथ साथ आगे आगे बढ़ना अनुचित है। अतएव- तस्मादभितरामभितरामेव क्रामेत् पक्ष उनकी दृष्टि में विज्ञानविरुद्ध है। इसी पक्ष का खण्डन करते हुए याज्ञल्क्य कहते है कि) वह अध्वयु वैसा न करे (आगे आगे बढ बढ कर आहुति न दे)। 'जिस प्रदेश में खडा होकर अध्वयु प्रयाजों के लिए आश्रावण करे वहाँ से पीछे न हटे (इतना अ श तो विज्ञानसम्मत है परन्तु—थोडा थोडा आगे बढता हुआ आहुति दे यह अ श अवैज्ञानिक है। शत्रुनाश ही तो अभिप्रे त है। वह यहाँ उस आहुति पर निर्भर है जो आहुति समिद्ध अग्नि मे हुत होकर समिद्ध बनती है। यदि आगे-आगे बढना अनिवार्य मान लिया जायगा और उन अग्रप्रदेशों म अग्नि समिद्ध न मिलेगा तो उस असमिद्ध (अप्रज्ज्वलित) अग्नि

में हुत आहुति भी असमिद्ध रहती हुई निरथक बन जायगी । अतएव उत्तराक्रमण का आग्रह निरथक साथ ही अभीष्टफल का विघातक भी होग । अतएव होना यह चाहिए कि) वह अध्वयु (आहवनीयाग्नि के) जिस प्रदेश में अग्नि को समिद्ध देखे वहीं आहुति दे (चाहे उस समिद्धाग्निप्रदेश के लिए भले ही आगे आक्रमण न करना पडे । क्योंकि) समिद्धहोम (समिद्धाग्नि मे आहुतिद्र य डालने से) ही आहुतिया समिद्ध मानीं गई है ॥ ७ ॥

इति—प्रयाजब धु (१)

——❀——

२—उत्तरप्रै ष

(सर्वप्रथम अध्वयु आग्नीध्र के प्रति- ओ श्रावय यह प्रै ष (अनज्ञा)करता है । इस प्रै ष से आग्नीध्र अध्वयु के प्रति अस्तु श्रौषट यह कहता है । अन तर पुन अध्वयु होता के प्रति 'यज -याज्याम त्र का अनुवचन करो यह प्रै ष करता है । जिस जिस प्रयाज का यजन होता है उस उस प्रयाज के लिए अध्वयु को ओ श्रावय ओ श्रावय इ यादि रूप से आग्नीध्र के प्रात एव— यज — यज इत्यादि रूप से होता के प्रति प्रै ष करना पडता है । इस दृष्टि से आग्नीध्र के प्रति होने वाले ओ श्रावय रूप प्रैषों को पूवप्रष कहा जायगा एव उत्तरभावी होता के प्रति हाने वाले यज रूप प्रैषों को उत्तरप्रै ष कहा जायगा । प्रस्तुत सातवीं कण्डिका मे यज लक्षण उन उत्तरप्रैषों का ही विश्लेषण हुआ है । श्रुति कहती है)—

वह (अ वयु आग्नीध्र के प्रति ओ श्रावय इस रूप से) आश्रावण कर (आग्नीध्र से- अस्तु श्रौषट् इ याकारक प्र युत्तर प्राप्त करने के अनन्तर होता नामक ऋत्विक के प्रति त्तरप्रैष करता हुआ) कहता है— समिधो यज (हे ह त ! समिद्वती देवता के याग के लिए याज्या पाठ करो) । (समिधो यज इस) उत्तरप्रैष से अध्वयु वस त ऋतु को ही समिद्ध प्रज्वलित-करता है (उत्तरप्रै ष कम्म से ऋतुएँ प्रदीप्त हो पड़ती है यही ता पर्य्य है । अध्वयु कृत उत्तरप्रैषात्मक समिधो यज इस समि धनकम्म से न कवल वसन्त को ही अपितु तद्द्वा । सम्पूर्ण-पाँचों- ऋतुओं को समिद्ध कर देता है । क्योंकि वसन्त ही शेप ऋतुओं की मूलजननी है जसा कि विवेचना प्रकरण में स्पष्ट किया जाने वाला है । इसी तात्पर्य्यार्थ का प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है)-(अध्वयु कृत उत्तरप्रैष से) समिद्ध वह वसन्त अ य (चारों) ऋतुओं को समिद्ध कर देता है । (वस तसमि धन के द्वारा परम्परया क्रमश समिद्ध पाचों ऋतुएँ प्रजा उत्पन्न करतीं हैं ओषधि (वनस्पतियों को भी) परिपक्व करतीं हैं । (वसन्तसमि धनरूप) जिस कारण से वसन्त स्वय समिद्ध होता हुआ परम्परया अ य ऋतुसमि धन का भी कारण बन जाता है) एता वता ही (केवल वसन्त समि धन हीं) अन्य सब ऋतुओं (के समिन्धन का स्पष्टीकरण कर) रहा है । तात्पय्य केवल वसन्त समि धन हीं शेष ऋतुसमिन्धन के लिए पर्य्याप्त है) । (जिस प्रकार वस तयागात्मक समिद्याग में- समिधो यज इत्यादि रूप से ऋतु नाम का उल्लेख होता है

तद्वत् इतर ग्रीष्मादि यागात्मक तनूनपात् यागाग्नि में— तनूनपात यज —इत्यादि रूप से नामनिर्देश स्वतः प्राप्त है। उसी का एक विशेष हेतु से निराकरण करती हुई श्रुति कहती है)—वह अध्वर्यु (बसन्त के आगे की—ग्रीष्मादि) ऋतुओं को (तनूनपात यज इडो–यज–इत्यादि रूप से नाम निर्देश न कर केवल) यज–यज इस प्रकार नाम निर्देश के बिना ही कहता है। (जब क्रमप्राप्त नामनिर्देश होना न्यायप्राप्त है तो नामग्रहण पूर्वक उत्तर ऋतुओं के लिए उत्तरप्रैष क्यों नहीं किया जाता? प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) अजामिता के लिए (ही यज रूप से ही) उत्तर ऋतुओं को कहता है (ऋतुओं के लिए उत्तरप्रैष करता है)। जामि (पुनरुक्त-दोष) करेगा यदि वह अध्वर्यु – तनूनपात यज – इडो यज यह कहेगा तो। तात्पर्य्य जब समिद् नाम निर्देश से ही इतर ऋतुओं का समिन्धन हो जाता है तो दुबारा ऋतुओं का नाम निर्देश करना पुनरुक्ति होगी जो वेदभाषा में जामि दोष कहलाया है) इसलिए वह (नाम निर्देश किए—बिना केवल) यज–यज इसी रूप से उत्तर ऋतुओं को कहता है ॥ ८ ॥

इति–उत्तरप्रैष (२)

—— ——

३ प्रयाजब्राह्मण—

ऋतुयागात्मक पञ्च प्रयाजों से सम्बन्ध रखने वाली उपपत्तिका १ कण्डिका से ८ कण्डिका पर्य्यन्त ८ कण्डिकाओं के द्वारा स्पष्टीकरण कर ९ कण्डिका से २५ वीं कण्डिकापर्य्यन्त ब्राह्मण समाप्ति पर्य्यन्त १७ कण्डिकाओं के द्वारा प्रयाजयागेतिकर्त्तव्यता लक्षणा पद्धति का प्रयाजयागानुष्ठान क्रम से निरूपण करती हुई श्रुति कहती है)—

(१) वह (अध्वर्यु नामक ऋत्विक के– समिधो अग्न आजस्य व्यन्तु वौषट् इस समिद्देवताक याज्यामन्त्र के बोलने पर उसके– वाषट उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में जुहूस्थित आज्य की आहुति के द्वारा) समिद्याग (वसन्तयजन) करता है। सामत् निश्चयेन वसन्त है। (प्राकृतिक समिद्याग से) देवदेवताओं ने वसन्त को ही (असुराधिकार से पृथक किया (था) एवं वसन्त से (अपने शत्रु असुर) सपत्नों को निकाल बाहिर किया (था)। इसी प्रकार (प्राकृतिक समिद्याग की विधा पर प्रतिष्ठित याज्यामन्त्रशक्तियुक्त इस अपने वैध समिद्याग के बल पर) यह अध्वर्यु (यजमान के लिए) वसन्त को ही (यजमान के शत्रुओं के अधिकार से) पृथक करता है एवं (यजमान के) शत्रुओं को निकाल बाहिर करता है। वैधयज्ञ से उत्पन्न यज्ञातिशय लक्षण यजमान के दैवात्मा के स्वर्गात्मक सम्वत्सरयज्ञफल के प्रथम वसन्त पर्व पर यजमान के शत्रु का अधिकार न रहे केवल दैवात्मा ही उसका अन्यतम भोक्ता बने) इसीलिए (अध्वर्यु) समिद्याग करता है ॥ ९ ॥

(२) समिद्याग करने के अनन्तर वह (अध्वर्यु होता के– तनूनपादग्न आजस्य वेतु वौषट इस तानूनपाद्देवताक याज्यामन्त्र के बोलने पर उसके वौषट उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के

समिद्ध प्रदेश में जुहूस्थित आज्याहुति के द्वारा) तनूनपाद्याग (ग्रीष्मयजन) करता है । तनूनपात् निश्चयेन ग्रीष्म है । ग्रीष्म ही इन (पार्थिव) प्रजाओं के शरीरों को तपाता है (अतएव तनूनपात् अवश्य ही ग्रीष्म है) । (प्राकृतिक तनूनपाद्याग से) देवदेवताओं न ग्रीष्म का ही (असुराधिकार से) पृथक् किया (था) एव ग्रीष्म से (असुर) सपत्नों को निकाल बाहिर किया था—(शेष ६ कण्डिकावत्) ।। १ ।।

(३) तनूनपाद्यागानन्तर वह (अध्वयु होता के— इडो अग्न आज्यस्य यन्तु वौषट इस इट् देवताका याज्या मन्त्रोच्चारण करने पर उसके वाषट उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाग्नि म आज्याहुति के द्वारा) इड् याग (वर्षायजन) करता है । इड निश्चयेन वषा है । इड इसलिए वर्षा है कि पृथिवी पर रेगते हुए जो ये छोटे छोटे कृकलास गोधा लटें-आदि जन्तु गर्मी और सर्दी के आक्रमण से अतिशयरूप से क्षीणकाय हो जाते है वे सब क्षुद्र सरीसृप वर्षा के आते ही जीवन धारण करते हुए से-पुष्ट से होते हुए अन्नादान की इच्छा करते हुए (बडे उल्लास के साथ) इतस्तत विचरने लगते है । (इस प्रत्यक्ष-दृष्ट इडन्न भाव से अवश्य ही वर्षा को इट अन्नात्मक-कहा जा सकता है । (शेष ६ कण्डिकावत्) ।। ११ ।।

(४) इड-यागानन्तर वह (अध्वयु होता के- बर्हिरग्न आजस्य वेतु वौषट इस बर्हिर्देवताक याज्यामन्त्रोच्चारण के अनन्तर उसके वौषट उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाग्नि म आज्याहुति के द्वारा) बर्हिर्याग (शरद्यजन) करता है । बर्हि निश्चयेन शरत् है । बर्हि इसलिए शरत् है कि जो ये ओषधियाँ गर्मी-सर्दी से मुर्झा जातीं है वे ओषधिया वर्षा-के आगमन पर (पुन) प्रवृद्ध हो जातीं हैं । (वर्षा में प्रवृद्ध) वे (ही) ओषधियाँ शरदृतु में फैले हुए बिखरे हुए दर्भतृणों की भाति शीर्ण हो जाती हैं । इस स्तरण-शीर्ण भाव के साधर्म्य से शरत् (अवश्यमेव) बर्हि है । (शेष कण्डिकावत्) ।। १२ ।।

(५)-बर्हिर्यागानन्तर वह (अध्वय होता के स्वाहाऽग्नि स्वाहा सोम स्वाहाग्नि स्वाहा देवाँ आज्यपान स्वाहाग्नि होत्रा जुषाणा अग्न आज्यस्य यन्तु वौषट इस स्वाहा हेमन्त देवताक याज्यामन्त्रोच्चारण के अनन्तर उसके वौषट् उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाग्नि में आज्याहुति के द्वारा) स्वाहा स्वाहायाग-(हेमन्त यजन) करता है । स्वाहा कार यज्ञ का अन्त (अन्तिम पर्व) है । (उधर पाँच) ऋतुओं का हेमन्त ही अन्त (अन्तिम पव) है । हेमन्त वसन्त से पराद्धय-परले भाग-अन्तिम भाग पर है । इसीलिए इसे ऋतुओं का अन्त कहा जा सकता है । (अपने प्राकृतिक स्वाहायाग से) देवदेवताओं नें (यज्ञ के) अन्त (अन्तिम पर्व रूप हेमन्त) को (असुराधिकार से) पृथक कर लिया (था) अ तद्द्वारा (स्वाहायाग के द्वारा) अन्त से (हेमन्त से) सपत्नों को निकाल बाहिर किया (था) । (तथैव शेषं स्पष्टम्) ।। १३ ।।

(हेमन्त ऋतुओं का अन्तिम पर्व है उधर स्वाहा भी यज्ञ का अन्तिम पर्व ही है । इस स्वाहान्त से ऋतु-अन्त हेमन्त पर अधिकार तो हो जाता है परन्तु अन्तभावना यजमान के ऐह लौकिक जीवन के लिए प्रशस्त नहीं मानी जा सकती। इस अन्तयाग स्वाहायाग-लक्षण हेमन्त

यनन से यज्ञा तलक्षण स्वर्गावाप्ति ही सम्भव है। अपेक्षित यह है कि यज्ञ कर्त्ता यजमान यावदायुर्भोगपर्य्यन्त ऐह लौकिक सुख का भोग करता हुआ अनन्तर देवामाकर्षण से स्वर्ग प्राप्त करे। अनन्तर पुन पुण्ययोनि म जन्मधारण करे। क्या स्वाहायाग से ऐसा भी सम्भव है ?। प्रत्युत म तो अपने अन्तभाव से हेमन्तयाग केवल तात्त्विक स्वर्गावाप्ति का समर्थक बना हुआ है। इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि यद्यपि यह ठीक है कि हेम त अन्तभाव का प्रवर्त्तक है। तथापि यह भी सिद्ध विषय है कि) हेम त से ही वसन्त पुन प्राण धारण करता है हेमन्त से ही वसन्त पुन उत्पन्न होता है। जो याज्ञिक हेम त के इस पुन प्राणा धान के रहस्य को जानता है वह अवश्यमेव (यावदायुर्भोगपर्य्यन्त जीवित रहता हुआ एहलौकिक सुख का भी भोग कर लेता है एव स्वर्गफल के भोगान तर) इस लोक म भी (पुण्ययोन म) जन्म लेता है (जैसे कि हेमन्त के अन तर वसन्त जन्म लया करता है)। (तात्पर्य-यही है कि हेमन्त अवसानात्मक बनता हुआ भी जीवनोपयिक वसन्तोपक्रम का निमित्त है। इस भावना से अन्तभावनात्मक हेमन्तयाग जनित अनिष्ट भावना की निवृत्ति हो जाती है) ॥ १४ ॥

अयमत्र सग्रह —

१—समिद्याग —— समित्	(वसन्त)		
२—तनूनपाद्याग — तनूनपात्	(ग्रीष्म)		
३—इडयाग —— इट	(वर्षा)	—पञ्चप्रयाजा पञ्चर्त्तव	
४—बर्हिर्याग —— बर्हि	(शरत्)		
५—स्वाहायाग —— स्वाहा	(हेमन्त)		

(स वै समिधो यजति इत्यादि ६ कण्डिका से आरम्भ कर अथ स्वाहा स्वाहा यजति इत्यादि १४ वीं कण्डिकापर्य्यन्त ब्राह्मणभाग से पञ्च प्रयाजों की इतिकर्त्तव्यता का विश्लेषण किया गया। आगे के शेष ब्राह्मणभाग से पञ्च प्रयाजों की इतिकर्त्तव्यता का विश्लेषण किया गया। अब आगे के शेष ब्राह्मणभाग में प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक उन विशेषताओं का स्पष्टीकरण किया जाता है जिनके सम्बन्ध से प्रयाजयाग परोक्ष-अदृष्ट-फलों का जनक बनता है। होता के द्वारा प्रयुक्त याज्या मन्त्रों के अन्त में-१-२-३-४ ५-इन पाचों मन्त्रों के अन्त म-क्रमश १-व्यन्तु २ वेतु ३ व्यन्तु ४-वेतु ५-व्यन्तु इस प्रकार व्यन्तु वेतु पदों का सन्निवेश रहता है। यह विपर्य्यय क्यों जबकि पञ्चर्तु यागात्मक पञ्चप्रयाजयाग ऋतुसमानत्वेन एव प्रयाजसमान त्वेन समान है। या तो पाँचा याज्यामन्त्रों म वेतु-वेतु का ही समावेश होना चाहिए अथवा तो पाचों म व्यन्तु-व्यन्तु का ही समावेश रहना चाहिए। स्थिति प्रदर्शनपूर्वक इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है)—वह (अध्वर्यु होता के द्वारा याज्यामन्त्रों के क्रमिक) व्यन्तु वेतु इस (क्रम से उच्चरित होने पर ही) समिद्यागादि करता है (यजन करता है)

अजामिता के लिए ही। सिद्ध को पुन सिद्ध करना उक्त को पुन कहना हीं जामि दोष है। इस पुनरुक्त दोष की निवृत्ति के लिए न्य तु- य तु अथवा वेतु वेतु रूप से यजन न कर य तु-वेतु इस रूप से यजन किया जाता है यही तात्पर्य है। इसी तात्पर्य को स्पष्ट करती हुई श्रुति कहती है कि) वह अध्वयु (अपने इस यज्ञ मे) जामि (पुनरुक्तदोष का समावेश) करेगा यदि वह न्य तु यन्त-रूप से यजन करेगा अथवा तो वेत वेतु रूप से यजन करेगा। (जामि दोषनिवृत्ति के साथ साथ इस न्य तु वेतु विपर्य्यय का एक प्रासाङ्गिक फल और भी है। यज्ञ स नैत्रामा का प्रजनन अपेक्षित है प्रजनन कम्म योषात्मक स्त्री-भ्रूण एव वृषात्मक-पु भ्रूण दोनों के दाम्पत्य भाव पर निभर है। न्य तु इस बहुवचनान्त पद से वेतु इस एकवचनान्त पद से प्रजननसाधक-योषावृषात्मक वह मिथुनभाव भी प्राप्त हो जाता है। तस्मान्नैकस्य पुरुषस्य बह्व्यो जाया भवा त इत्यादि श्रुति क अनुसार योषात्मिका स्त्री बहुत्त्वधम्म से एव वृषात्मक पुरुष एकत्त्व से युक्त है। फलत न्यन्तु से सत्यानिदान-सम्पत्द्वारा योषा का तथा वेतु से वृषा का सग्रह हो जाता है। इसी प्रासङ्गिक फल का दिगदशन कराती हुई श्रुति कहता है)— न्य तु यह (बहुवचनान्तपद अपने बहुत्त्वधम्म से) निश्चयेन योषा (की प्रतिकृति बनता हुआ योषाप्राण का सग्राहक) है वेतु यह (एकवचनान्त पद अपने एकत्त्वधम्म से) निश्चयेन वृषा (की प्रतिकृति बनता हुआ वृषाप्राण का सग्राहक) है। (यन्तु-वेतु रूप से किए जाने वाले प्रयाजयाग से योषा वृषा के) मिथुनभाव से ही प्रजनन किया जाता है (प्रजननसम्पत्ति प्राप्त की जाती है)। इसलिए (अजामिता क लिए एव मिथुनभाव प्राप्ति के लिए दूसरे शब्दों मे पुनरुक्तदोष निवृत्ति के लिए एव प्रज न-सम्पत्ति के सग्रह के लिए वह अध्वयु) न्य तु-वेतु इस (विपर्य्यय क्रम) से (ही) यजन करता है (करना चाहिए)॥ १५॥

(पञ्चर्त्तु के भेद से पॉच प्रयाज बतलाए गए है। इन म से शरद्यागात्मक बर्हिर्नामक चौथे प्रयाज की इतिकर्त्तव्यता म एक विशेष धम्म का अनुगमन किया जाता है। यदुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत् तै ब्रा ३।३।६ इत्यादि कृष्णश्रुति के अनुसार जुहू की आधारभूता उपभृत् नाम की स्रुक् मे जो आज्य लिया जाता है उस से ऋतुरूप प्रयाजकर्म्म तथा छन्दोरूप अनुयाजकम्म दोनों की इतिकर्त्तव्यता पूरी की जाती है। पूव के २ प्रपाठकके ४ ब्राह्मण में भी यह स्पष्ट किया गया है कि आज्यग्रहण ऋतु और छन्दोरूप प्रयाजानुयाजों के लिए ही होता है अथ या याज्यानि गृह्णते ऋतुभ्यश्चैव तानि छन्दोभ्यश्च गृह्यन्ते — शत १।२ प्र ।४ ब्रा ।७ क । वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि ध्रुवा पात्र में आठ बार करके उपभृत् में चार बार कर के जुहू में आज्यग्रहण होता है। चतुर्वार गृहीत जुहूस्थित आज्य प्रयाजकर्म्म का एव अष्टवार गृहीत उपभृतस्थ आज्य अनुयाजकम्म का सम्पादक बनता है। जुहूस्थित आज्य से क्रमश समित् तनूनपात्-इट लक्षण वसन्त ग्रीष्म-वर्षा इन तीन ऋतुदेवताओं का यजन तो बिना उपभृदाज्य से सम्बन्ध कराए केवल जुहूस्थित आज्य से ही कर लिया जाता है। चौथे बर्हिलक्षण शरद्याग के समय जुहू का उपभृत् से सम्बन्ध कराना आवश्यक माना गया है। तीसरे प्रयाज के समाप्त होने पर जुहू म उपभृदाज्य लेकर ही चौथा प्रयाज होता है। ऐसा क्यों किया जाता है? इसी प्रश्न का स्थिति-प्रदशनपूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—

तृतीय प्रयाजयाग के समाप्त्यनन्तर वह अध्वयु चौथे बर्हि नामक प्रयाज कर्म्म में (जुहू में उपभृत् से) आज्य ग्रहण करता है। बर्हि निश्चयेन (उत्तरोत्तर बृंहणधर्म्म से) प्रजा है आज्य रेत (वीर्य्य) है। (बर्हिर्यागात्मक जुहू में उपभृत् से आज्य लेता हुआ) अध्वयु बर्हिरूप प्रजाओं में ही आज्यरूप रेत का सिञ्चन करता है (वीर्य्याधान करता है)। इस सिक्त रेत से (ही) प्रजाएँ पुनः पुनः जन्म लिया करतीं हैं। इसीलिए चौथे बर्हि नामक प्रयाज में (जुहू में उपभृत् से) आज्य लेता है। (तात्पर्य्य वस्तुतः यह है कि प्रयाजकर्म्म के लिए जुहू से पांच आहुतियां दी जातीं हैं। अवश्य ही पांच आहुतियों के लिए जुहूस्थित आज्यमात्रा अपर्य्याप्त है। अतएव प्रयाज कर्म्म के मध्य में एक बार उपभृत् से आज्य लेना आवश्यक हो जाता है। कब लेना? यह प्रश्न है। वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा ते देवा ऋतवः – शरत्–हेमन्त–शिशिर ते पितरः शत० २।१।१।३।१ इत्यादि श्रुति के अनुसार अग्निप्राणप्रधाना अतएव देवदेवतात्मका वसन्त ग्रीष्म वर्षा इन तीन ऋतुओं का एक स्वतन्त्र आग्नेय विभाग है। एवं सोमप्राणप्रधाना अतएव पितृदेवतात्मका–शरत्–हेमन्त शिशिर इन तीन ऋतुओं का एक स्वतन्त्र सौम्य विभाग है। ऐसी स्थिति में वसन्त–ग्रीष्म–वर्षानुगत समित् तनूनपात–इट् इन तीन प्रयाजों का तो आविच्छिन्नरूप से बिना उपभृत् से दुबारा आज्य लिए ही यजन करना प्रकृतिसम्मत हो जाता है। चौथे प्रयाज से विजातीय बर्हि नाम की सौम्य ऋतु का उपक्रम होता है। अतएव इसी में आज्यग्रहण करना सुसङ्गत बनता है। इसके साथ ही निदान भाव से प्रजाओं में रेत सेक भी हो जाता है जो कि द्वन्द्वात्मप्रजनन में अपनी प्रधानता रख रहा है। इसीलिए चतुर्थप्रयाज में ही आज्यसमानयन किया गया है जैसाकि विवेचना प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है)॥ १६ ॥

(चतुर्थप्रयाज में आज्यग्रहण करना ऋतुस्वरूपानुगत बनता हुआ प्रकृत्यनुगत है प्रजाओं में रेत का आधान करता है इन दो अतिशयों के अतिरिक्त इसका यहां ग्रहण का एक फल और भी स्वतः सिद्ध है। इसीका विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)—जो अध्वयु इन पांच प्रयाजों से (ऋतुओं का) यजन करता है वह (पूर्वाख्यानानुसार सम्वत्सरमण्डल में प्रविष्ट शत्रुओं को पराजित करने के लिये) सङ्ग्राम ही ठान रहा है। दो दलों के सङ्ग्रामाभिमुख होने पर जिस एक दल को मित्रसेना का सहयोग प्राप्त हो जाता है वह जीत जाता है। (ठीक इसी के अनुरूप यह आज्य ग्रहणकर्म्म है)। इस आज्यग्रहणकर्म्म से जुहू को उपभृदात्मरूप मित्र मिल जाता है। (जुहूस्थित आज्य वह सेनादल हैं जिसे असुरपराभव करना है। उपभृत् स्थित आज्य वह मित्रसेना है जिसके सहयोग मिलने पर असुरपराभव निश्चित है) इसी मित्रसेना–सहयोग प्राप्ति के लिये (भी) चौथे बर्हि नामक प्रयाज में ही आज्यसमानयन करता है। १७॥

(प्रयाजकर्म्म वह सङ्ग्राम कर्म्म है जिसके द्वारा यजमान के स्वर्ग फलभोक्ता देवात्मा के भोग्य सम्वत्सर में से असुरों को पराजित करना है। शत्रु को निर्बल बनाना ही शत्रुपराभव का मूल–कारण है। मित्रसेना की सहयोगप्राप्ति स्वस्थानस्थिति आदि अन्यान्य कारणों में से शत्रुपराभव का एक यह भी अन्यतम कारण माना गया है कि शत्रुसेना में भेदनीति डालते हुये उसे अपनी सेना मे मिला लेना। उसके बल को अपना भोग्य बना लेने से अवश्य ही वह निर्बल हो जायगा।

इसी एक और प्रयोजन का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)—यजमान जुहू को लक्ष्य बना रहा है। यजमान के लिये जो शत्रुता करता है वह (यजमान के शत्रुदल) उपभृत् को लक्ष्य बना रहा है। (अर्थात् जुहूस्थित आ य निदानेन यजमान का सै यदल है (उपभृत् से जुहू मे आज्य लेता हुआ (अध्वयु द्वेष करने वाले शत्रु (सेनादल को यजमान के लिये ही बलिरूप से आकर्षित करता है (शत्रुबल का यजमान बल म समावेश कराता हुआ यजमान को सशक्त बना रहा है) । अपिच (एक प्रयोजन यह भी है कि)—जुहू अत्ताभाव का एव उपभृत् आद्यभाव को लक्ष्य बना रही है। (उपभृत् से जुहू म आज्यग्रहण करता हुआ) अ वयु भोक्ता यजमान के लिये भोग्य सामग्री पहुचा रहा है । (इसप्रकार प्रकृत्यनुगत ऋतुभाव प्रजावर्ग मे वीर्य्याधान मित्रसेनाप्राप्ति शत्रुदल की मित्ररूप म परिणति भोग्यसम्पत्प्राप्ति इ यादि अनेक दृष्टियों से चोथे प्रयाज में ही आज्यग्रहण करना अ वर्थ बनता है) तस्माच्चतुर्थे प्रयाजे समानयति ॥१८॥

(उपभृत् और तत्रस्थ आज्य निदानेन शत्रुसै यदल है यह कहा गया है। साथ ही इस आज्य के समानयन का यह भी फल बतलाया गया है कि शत्रुसै यदल को भेदनीति के द्वारा यह अपना बलि बना लेता है । भेद ीत से सम्ब ध रखने वाला यह प्रकार तभी सफल होता है जबकि सै यदल के सम्पर्क मे न जाकर तटस्थ रहते हुये अपने स्थान में रहते हुए प्रथक् रहते हुये ही परोक्षरूप से उस अपने दल में मिलाया जाय । निकटसम्पर्क म जाना शत्रुदल मे फँसना है। और सम्भवत ऐसा करना कभी क ी पराजय का कारण भी बन जाता है। इसलिये) वह अ वयु । जुहू में उपभृत् से आज्यग्रहण करने की कामना रख । हुआ) जुहू को उपभृत् से प्रथक् रखता हुआ ही आ यसमानयन करता है । यदि वह अध्वयु जुहू को उपभृत् से मिला देगा (स्पर्श कराता हुआ आज्यग्रहण करेगा) तो (अपने इस अवमर्शन से) वह शत्रु के साथ यजमान को मिला देगा (शत्रुसेना में अपनी सेना का बल डाल देने वाला बनता हुआ इष्टसाधन के स्थान में अनिष्ट करा बैठेगा) । (इसके अतिरिक्त इसी अवमर्शन से) यह अध्वयु अत्ता (भोक्ता) को आद्य से मिला देगा (भोक्ता को भोग्य के आधीन कर देगा जबकि भोग्य का भोक्ता के आधीन रहना समृद्धि का कारण माना गया है । ऐसा न हो) इसलिये अनवमृशम् (जुहू का उपभृत् से स्पर्श न करता हुआ) ही आ यग्रहण करता है (करना चाहिये) ॥१९॥

(उपभृत् के साथ स्पर्श न कराते हुये जुहू में जब उपभृत् से आज्य ले लिया जाता है तो जुहू को किस स्थिति में रक्खा जाय ? यह जिज्ञासा इसलिये होती है कि जुहू उपभृत् दोनों स्रुक् सामा यत्त्वेन सहयोगिनी मानीं गई हैं। क्या जुहू को उपभृत् से अध प्रदेश में अध्वर्यु-हाथ में लिये रहे ? । श्रुति कहती है नहीं। अपितु) आज्यग्रहणान तर (अथ) वह अध्वर्यु गृहीताज्या उस जुहू को उपभृत् के ऊपर (उपभृत् से न मिलता हुआ) थामे रहता है (उपभृत् से ऊर्ध्व-प्रदेश में ही जुहू को हाथ में लिए रहना चाहिये) । (जुहू को उत्तरा रूप से रखता हुआ) अध्वयु यजमानशत्रु की समुपस्थिति में यजमान को ऊँचा ही रखता है। अत्ता को आद्य की समुपस्थिति में ऊँचा ही रखता है। तात्पर्य्य जुहू निदानेन यजमान है भोक्ता है। उपभृत् यजमानशत्रु है आद्य है। ऐसी स्थिति में जुहू को उपभृत् से नीचे रखना यजमान को भोक्ता को यजमानशत्रु

के भोग्य क नीचे रखना होगा जो महा अनिष्टकर है । ऐसा न हो अपितु यजमान अपने शत्रु से ऊँचा रहे भोक्ता भोग्य के ऊपर रहे)— तस्मादुत्तरा जुहूमध्यूहति ॥ ॥

(१५ वीं कण्डिका से आरम्भकर २ वीं कण्डिका पर्य्यन्त ६ कण्डिकात्मक ब्राह्मण भाग में प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली य तु-वेतु चतुर्थप्रयाज म अ। यसमानयन अनवमर्श-पूर्वक समानयन आ यगह्णान्तर जुहू का उत्तर अ यूहन आदि विशेषताओं का सोपपत्तिक निरूपण किया गया। अब स्वा॰ायागा मक हेम तयाग नामक पाचवें प्रयाज से सम्बन्ध रखने वाली विशेषता का एक ऐतिहासिक आख्यान के द्वारा विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)—(भौम स्वर्गानवासी मनुष्यविध भौमदेवताओं न प्रयाजों से सम्व सरमण्डल-प्रतिकृतिरूपा भौम-त्रिलोकी पर अपना अधिकार कर लिया। देवता जीत गए असुर पराजित होगए। इस विजय प्राप्ति के अव्यवहितोत्तर काल में ही) उन देवदेवताओंनें परस्पर की मन्त्रणा से निश्चय कर अपना यह मन्तव्य प्रकट किया कि क्या ही अच्छा हो (इ त) यदि अपने (प्रयाजयागद्वारा) विजित (अपने अधिकार मे आए हुए यज्ञ) को लक्ष्य बनाकर (इस प्रयाजयाग के साथ ही) सम्पूर्ण यज्ञकर्म्म पूरा कर डालें। (ऐसा करने से यहीं यज्ञ को सर्वात्मना पूर्ण करने से फल यह होगा कि) यदि इसके अनन्तर (यज्ञपूर्णतासिद्ध्यनन्तर) असुर राक्षस अपने (यज्ञ) पर आक्रमण करेंगे (विघ्न डालेंगे) तब भी अपना यह यज्ञ पूर्ण ही बना रह जायगा । इसी निश्चय के अनुसार ॥ २१ ॥—

उन देवदेवताओंने पाँचवें प्रयाजानुष्ठान में स्वाहा कार से ही सम्पूर्ण यज्ञ पूरा कर लिया। स्वाहा अग्निम् इससे आग्नेय आज्यभाग को पूरा कर लिया। स्वाहा अग्निम् इससे सो जो कि उभयत्र अच्युत आग्नेय पुरोडाश होता है—(विहित है) उसे पूरा कर लिया ॥४ ॥-

(पौर्णमासेष्टि किंवा दर्शेष्टि के अनुरूप जो यजनीय देवता विहित है उनका उसी) देवता-क्रमानुसार यजन कर लिया। स्वाहा देवा आ यपा इससे प्रयाजानुयाज-देवताओं को पूरा कर लिया। प्रयाजानुयाज देवता ही (ऋतुछन्द ही) तो (आज्याहुति के कारण) आ यपा (घृतपान करने वाले) हैं। जुषाणोऽग्निरा यस्य वेतु इससे स्विष्टकृत् अग्नि को पूरा कर लिया। अग्नि ही स्विष्टकृत् है— अग्निर्हि स्विष्टकृत् ॥ (आख्यान का विशदीकरण ता विवेचना प्रकरण से ही सम्बन्ध रखता है। प्रकरणसङ्गति के लिए प्रकृत में इस सम्बन्ध में यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि प्राकृतिक नित्य यज्ञ के आधार पर वितायमान वैधयज्ञ का अनुगमन सवप्रथम भौमस्वर्ग निवासी भौम-मनुष्यविध-देवताओंनें किया था। उनके यज्ञ कर्म्म पर मनुष्यविध असुर समय समय पर आक्रमण किया करते थे। कभी कभी इन असुराक्रमणों से भौमदेवताओं का यह यज्ञ कर्म्म अधूरा ही रह जात था। इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लि ए देवताओंन जिस तात्कालिक प्रणाली का आविष्कार किया उसी का आख्यानद्वारा स्पष्टीकरण हुआ है। प्रयाजयागान्त में उस प्रणाली के अनुगमन से उनका यज्ञ एक प्रकार से इसलिए पूर्ण-हो गया कि कृत्स्न यज्ञ में जिन जिन देवताओं का यजन अपेक्षित हैं उन सबका स्वाहाकारात्मक पञ्चम प्रयाज कर्म्म में अनुक्लृप्त है। अतएव स्वाहान्त पञ्चम प्रयाज पूर्णयज्ञ का प्रतिनिधि बन रहा है। मान लीजिए

कोई ऐसा अप्रत्याशित विघ्न उपस्थित होगया जिससे प्रयाजानन्तर यजमान अ य यज्ञेतिकत्त-
-यता पूरी न कर सका। क्या ऐसी स्थित मे उसका प्रयाजा त कर्म्म यथ चला जायगा ?
पूर्णयज्ञ के द्वारा जो अतिशय इसे मिलने वाला था क्या उससे यह सवथा वञ्चित रह जायगा ?।
श्रुति कहती है—नहीं। पञ्चम प्रयाज मे जिस इतिकत्त-यता का अनुगमन किया जाता है उसी
से अशत इसे वह यज्ञातिशय प्राप्त होजाता है जिसके लिए इसे प्रयाजानन्तर अ या य शेष
कर्म्म और करने पडते है। आसुर विघ्नो से सत्रस्त भौमदेवता भी तो इसी प्रणाली से प्रय जान्त
कर्म्म से ही यज्ञेतिकत्त-यता पूण बना लेते थे)—

ठीक उसी प्रकार (प्रयाजान्त में विहित भौमस्वर्गीय मनुष्यविध देवताओं के द्वारा आवि-
ष्कृत उसी प्रणाली-पद्धति-से (अपने प्रयाजान्त में अनुगमन से) आज भी (यजमान का) यह
(इष्टिलक्षण वध) यज्ञ उसी प्रकार (तथैव) पूण हो जाता है जैसे कि (जिस पद्धति क अनुगमन
से) इस यज्ञ को (अपूण भी यज्ञ का) भौमदेवताओ न पूर्ण कर लिया था। (यही स्वाहाकारा त
अतिम पॉचव-प्रयाज से सम्ब ध रखने वाली पूव प्रतिज्ञाता विशेषता है। स्वाहात्मिका पद्धति से
सम्ब ध रखने वाली उस उक्त विशेषता के अनुगमन स प्रयाजा त मे ही यजमान का यह अकृत्स्न
भी यज्ञ कृत्स्न बन जाता है) इसीलिए (अकृत्स्न भी यज्ञ की मध्य में ही-प्रयाजा त म ही-
कृत्स्नता सम्पादन के लिए) वह अध्वयु पाचव प्रयाज म स्वाहा-स्वाहा पूवक जितनी भी हवि
होतीं हैं उन सब का यजन करता है। (यज्ञपूर्णताप्रवत्त क अ ान्य सभी सम्प्राप्त देवताओं क
लिए आहुति देता हुआ तद्द्वारा सवसग्रह करता हुआ हेम तयाग का यजन करता है। इस
(वाहा स्वाहात्मिका सवदेवयजनात्मिका पञ्चम प्रायाजाहुति के प्रभाव) से वह अध्वयु पञ्च-
प्रयाजयाग से) विजित यज्ञसम्पत्ति को लक्ष्य बनाता हुआ सम्पूण यज्ञ पूरा कर लेता है—
तदनु सर्वं यज्ञ सस्थापयति ॥

(यह नियम है कि जबतक यज्ञेतिकत्त-यता पूर्ण नहीं हो जाती तबतक गमनागमन-
भाषण स्पर्श-आदि के सम्ब ध म विशेष नियमों का अनुगमन करना पड़ता है जैसा कि—
अनवमृशन्त्समानयति — न वै सर्वेण सवेदत् इत्या द आदेशों मे स्पष्ट है। यज्ञ के पूर्ण
होजाने पर इन नियम-ब धनों की कोई आवश्यकता नहीं रहती। स्वाहाकारात्मक अ त्तम प्रयाज
यागान तर यज्ञ पूर्ण होजाता है। अतएव इससे आगे जो भी शेष कर्म्म बच रहते हैं उन के
सम्बन्ध में नियम-ब धन का विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। उस अवस्था में यदि किसी किसी
नियम का उल्लघन हो जायगा तब भी कोई अनिष्ट न होगा यही तात्पर्य्य है। इसी का विश्लेषण
करती हुई श्रुति कहती है)-(प्रयाजान्त कर्म्म यज्ञपूणताप्रवत्त क है नियमानुगमन तत्पूर्णता-
पर्य्यन्त ही अपेक्षित है) इसालए इससे आगे (प्रया कर्म्मानन्तर होने वाले कर्म्मों में) ऋत्विक
(किंवा यजमान) यदि (अपने स्वाभाविक अनृतभाव से) कुछ विलोम (असावधानी) कर
बैठे तो उसे विशेष महत्त्व नहीं देना चाहिए। उसे तो (प्रयाजान तर) यह समझ लेना चाहिए
कि मेरा यह यज्ञ कर्म्म (तो प्रयाजयाग से ही) पूरा हो गया— सस्थितो यज्ञ इति ह विद्यात्'।

(स्वाहाकृत एव वषट्कृत यज्ञ जैसे यातयाम-गतरस बन जाता है तद्वत् प्रयाजलक्षण यह इष्टिकम्म किंवा इष्टियज्ञान्तभुक्त प्रयाजकम्म भी वाषट-स्वाहा-सम्ब ध से यातयाम बन जाता है। वौपटकार वाङमण्डल के अवसान क सूचक है। एवमेव स्वाहाकार भी स्व वाचमाह निर्वचना नुमार वाङ्मय यज्ञ के अवसान का ही सूचक बन रहा है जैसाकि विवेचना प्रकरण म विस्तार से बतलाया जाने वाला है। वागरस का वाङ्मय वषटकार से वाङ्मय स्वाहाकार से निगमन हो जाता है। यहा वाङमय यज्ञ का रसशून्य बन जाना है। ऐसा नीरस यज्ञ ह गतरस बनता हुआ यातयाम कहलाया है। वषट् स्वाहा से अपक्रान्त द्यु लोक की ओर गत-वाङ्मय-वागग्निमय यज्ञरस यज्ञपूर्णता समाप्ति क अनन्तर पुन यजमानात्मा मे प्रविष्ट हो जाय इस पुन रसप्रवेश से यातयाम यज्ञ पुन यजमानात्मा में प्रविस्ट होजाय इस पुन रसप्रवेश से यातयाम यज्ञ पुन अयातयाम—वागग्निपरिपूर्ण बन जाय इन प्रयोजन के लिए एक स्विष्टकृद्याग नाम का कम्मविशेष विहित है। वागग्नि ही शेषाहुति से तृप्त होकर यज्ञ को स्विष्ट रसयुक्त-बनाते है। अतएव इन्हें- स्विष्टकृत् कहा जाता है। अतएव तदाहुतिकम्म स्विष्टकृद्याग कहलाया है। पञ्च प्रयाजकम्म से सम्ब ध रखने वाली वौषट् स्वाहा याहुतियों से आज प्रस्तुत यज्ञ भी यातयाम बन रहा है। स्वष्कृद्याग होता है—यज्ञान्त में। ऐसी दशा म इस की वर्त्तमान यातयामता के निराकरण का क्या उपाय ? इसी प्रश्न का ऐतिह्य कारणानुगत स्थिति-प्रदर्शनपूर्वक समाधान करती हुइ श्रुति कहती है)—

जिस प्रकार वषट्कृत हुत स्वाहाकृत हुत (वौषट स्वाहा पूवक दी जाने वाली आहुति से युक्त कर्म्म यातायाम बन जाता है इसी प्रकार वाषट-स्वाहापूर्वक आ हुति होने से प्रयाजान्त से संस्थित होने वाला) यह यज्ञ यातयाम ही रह गया (यज्ञ का वागरस द्यु लोक की ओर चला गया) ॥२३॥

(इस प्रकार प्रयाजान्त में संस्थित-पूर्ण होने वाले यज्ञ को वौषट स्वाहाकार के सम्बन्ध से यातयाम बना देख कर) उन भौम देवताओं न यह कामना प्रकट की (विचार विमश किया) कि अपन कैसे इस (नीरस) यज्ञ को पुन आप्यायित (रस से परिपूर्ण) करे ? (रस समावेश के द्वारा कैसे किस पद्धति से इसे अयातयाम बनावें ? एव अयातयाम बने हुए यज्ञ से कैसे जीवन-यात्रा का निर्वाह करे ? ॥२४॥

अपनी उक्त कामनाओं को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिये यातयाम यज्ञ को अयातयाम बनाने के लिये उन देव ाओं ने यह किया कि) सो प्रयाजाहुति के अनन्तर जो आज्यमात्रा जुहू में बची रह गई थी जिस जुहूस्थित आज्य (आज्याहुति) से देवताओं नें (प्रयाजयाग के द्वारा) यज्ञ पूर्ण किया था उसी (आहुत्यनन्तर बाकी बचे हुये तच्छेष) आज्य से ही यथापूव (आरम्भ प्रयाज विहित आहुतियों की भाति तत्तद्देवताओं के लिए) आज्य हवियों का आघार करते हुए (यातयाम बने हुए उन वाङ्मय देवों को) पुन आप्यायित कर दिया अयातयाम बना दिया। आज्य (वागग्नि रसात्मक होने से) अवश्य ही अयातयाम रसपूर्ण होने स स्वयमपि अयातयाम

(अन्य यातयामों में भी रसप्रदान करता हुआ उन्हें भी अयातयाम बनाने वाला) है। (इसप्रकार भौम देवताओं नें परिशिष्ट अयातयाम-आ याहुति से यातयाम यज्ञ का पुन अयातयाम बना लिया। देवयज्ञवत् यजमान का प्रस्तुत प्रयाजान्त यज्ञ भी वौषट् स्वाहा द्वारा हुत होने से आज यातयाम बन गया) इसालिये (इसे पुन अयातयाम बनाने के लिये ही) उत्तम (पाचवा) प्रयाजयाग करके (करने के अनन्तर हुतशेष आज्य से) यथापूव हवियों का आघार करता है। इस आघार कर्म्म से यह देवताओं को पुन आप्यायित अयातयाम करता है। आज्य (पूर्व कथनानुसार) अवश्य ही अयातयाम है- अयातयाम ह्याज्यम् ॥ (शेष आज्याघार स यातयाम यज्ञ आप्यायित होता हुआ अयातयाम बन जाता है) अतएव (यज्ञपद्धति म यह नियम बन गया है कि) जिस किसा भी देवता के लिये (देवात्मक यज्ञकर्म्म क लिए) ऋत्विक् हवि का विभाजन करता है (प्रदान करता है) उसके सम्बन्ध से तच्छेष के पुन स्विष्टकृत (एतन्नामक अग्नि-विशेष) के लिये अभिघार करता है । (इस अभिघार से) वह उस यज्ञ को पुन आप्यायित अयातयाम बनाता है। यदि स्विष्टकृदग्नि क लिए (अयातयामसम्पत् प्राप्त्यथ) हवि का विभाजन पहिले से ही कर देता है (तो उस अवस्था म) पुनरभिघार अनावश्यक है । (तात्पर्य्य इस कथन का यही है कि-कृत्स्न इष्टिकर्म्म में तो पहिले से ही स्विष्टकृदग्नि के लिए भाग नियत रहता है। अत उसकी समाप्ति पर पुनरभिघार नहीं होता। अभिघार तो वहा आवश्यक है जहाँ पहिले से स्विष्टकृदग्न के लिए अवदान विहित नहीं है। प्रकृत स्थल ऐसा ही है। अत यहा अवश्य ही अभिघार अपेक्षित है । जहा पहिले से अवदान नियत है वहाँ आहुतिकर्म्म समाप्त्यनन्तर) अग्नि में और किसी हवि की आहुति की अपेक्षा नहीं रखता है। (अपेक्षा नहीं रह जाती)-
नो हि तत काञ्चन हविषोऽग्नावाहुतिं होष्यन् भवति ॥२५॥

इति-प्रयाजब्राह्मणम् (३)

❀

पाचव अध्याय में तीसरा चौथे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण समाप्त

(१।५।३।)—(१।४।४)

(१—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में प्रथम ब्राह्मण समाप्त)

—१—

प्रथमकाण्ड में पाचवे अध्याय में चौथा चौथे प्रपाठक में पाँचवाँ ब्राह्मण

(१।५।४)—(१।४।५)

(२—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त द्वितीय ब्राह्मण)

४—प्रयाजावृत् (पद्धति)

प्रकृत ब्राह्मण में प्रयाजावृत् (पद्धति) और प्रयाजानुमन्त्रण इन दो प्रकरणों का समावेश हुआ है जिन्हें पूवब्राह्मणोक्त तान प्रकरणों (१ प्रयाजबन्धु २ उत्तरप्रैष ३-प्रयाजब्राह्मण, इन तीन प्रकरणों) की दृष्टि से-४ ५ वें प्रकरण माना जा सकता है। इनमें चौथे प्रस्तुत प्रयाजावृत

प्रकरण मे प्रकारान्तर से उस क्रमिक पद्धति का ही निरूपण हुआ है जिसका पूर्वब्राह्मण के प्रयाज ब्राह्मण नामक तृतीय प्रकरण की ८ वीं कण्डिका से १४ वीं कण्डिका पर्य्यन्त ७ कण्डिकाओं में विभिन्न दृष्टिकोण से प्रतिपादन हुआ है । उस पूवपद्दातप्रकरण म बतलाई गई उपपत्ति का प्रधान लक्ष्य आधिदैविक सम्व सरमण्डल था । एव प्रकृत प्रकरण मे बतलाई जाने वाली उपपत्ति का प्रधानत आध्यात्मिक प्रपञ्च से सम्ब ध है । पद्धत्यश उभयत्र समान है केवल उपपत्तिप्रदशन मे विभिन्नता है । इस विभिन्नता को लक्ष्य बनाकर ही निम्न लिखित श्रुति-प्रकरण का समन्वय करना चाहिय—(सैषा प्रकरणसङ्गति)।

(१)—वह (अध्वयु नामक ऋत्विक होताक- सामद्धो अ न आज्यस्य यन्तु वौषट इस समिद्देवताक या याम त्र के उच्चारण करने पर उसक वाषट उच्चारण क साथ आहवनी याग्नि के * समिद्ध-प्रज्वलित-भाग म जुहूस्थित आ याहुति क द्वारा क्रमप्राप्त पहिले (समिधा-समित् नामक प्रथम प्रयाज) का यजन करता है (समिद्याग सम्पादन करता है) । (समिद्याग क्यो किया जाता है ? प्रश्न की आ या मक उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है कि स्रुगादापनकम्म से दैवा मा म जिन ६ आ यात्मिक प्राणों का आधान हुआ है — दैवा मप्रतिष्ठत उन प्राणों क समि धन के लिए ही -आ यात्मिक-प्राणसमि धन के लिए ही-यह समिद्याग विहित है । इसी प्राणसमि धन कम्म का अपने श दों म स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है)— समिधाएँ निश्चयेन प्राण है । (इस समिद्यागकम्म से प्रथमप्रयाज से) वह अध्वयु (दैवा मा के आ यात्मिक नौ) प्राणों को ही प्र वलित-जीवनीयरस से युक्त-करता है । (समिद्ध) प्राणा से ही यह पुरुष (शरीरपुराधिष्ठाता आलोमभ्य आनखाग्रेभ्य सर्वाङ्गशरीर मे याप्त शरीराभि मानी चितेनिधेयाग्निमूर्त्ति प्राणात्मा-कर्म्मात्मा) समिद्ध है । (क्योंकि समिद्याग से यजमानात्मा के प्राणों का समिन्धन होता है अतएव इस समिद्याग से आग्नेय ताप भी एक विशेष प्रक्रिया से हटाया जा सकता है यही इस समिद्याग का काम्यफल माना गया है । प्राणसमि धन की कमी से ही प्राणाग्नि के द्र से विच्युत हो जाता है । प्राणाग्नि के के से विच्युत होकर शरीराभिमुख बन जाने का ही नाम उपताप है उपताप की चरमावस्था ही उष्णता लक्षण स ताप- वर दाह- है । यदि इस समय यजमान उपतापी है यजमान को वर है ता समिद्याग के द्वारा वह हटाया जा सकता है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है)-(क्योंकि पुरुषाग्नि प्राणों से समिद्ध रहता है इधर समिद्याग प्राणसमि धक है) इसलिए वह अ वयु (होता के द्वारा प्रयुक्त समिद्वताक याज्यामन्त्र के साथ होने वाले अपने समिद्याग कर्म्मानुष्ठान काल में यजमान से यह प्रैष करे (कहे) कि हे यजमान ! तुम (समिद्द्वारा अपने प्राण-समि धन का धान करते हुए) अपन शरीर को स्पर्श करा यदि यजमान उपतापी हो तब । (अर्थात् उतपातदशा में ही यजमान का

---

* समिद्धहोमेन ह्येव समिद्धा (समृद्धा वा) आहुतय —शत ७।५।३।७।

— 'ता वाऽएता नव याहुतयो (स्रुगादापननिगदमन्त्रस्य) भवन्ति नवेमे पु षे प्राणा । एतानेवा-स्मिन् (यज्ञातिशयलक्षणे दैवा मनि) एतत् (स्रुगादापनकम्मणा) दधाति —शत १।५।२।५।

स्पर्श करना चाहिए)। (साथ ही स्वय अध्वयु भी यही भावना करे इसी अध्वयुकृत भावना को स्पष्ट करती हुई श्रुति कहती है)—यदि वह यजमान ज्वरार्त्त हो तो अ वयु भी यही आशसन ध्यान करे)। (क्योंकि इस मेरे सामद्याग से प्राणसमि धन द्वारा यजमान का ताप शान्त हो)। (अ वयु के इस आशसन से साथ ही अपनी भी भावना से) वह यजमान (अवश्यमेव) समिद्ध हो जाता है। प्राण समिद्ध होते हुए केन्द्राभिमुख बनते हुए बाह्यतापशान्ति के कारण बन जाते हैं)। यदि यजमान शीत (तापरहित स्वस्थ) है तो (उस दशा में न तो यजमान अपना स्पर्श ही करे एव न अध्वयु आशसन ही करे। (इस प्रत्यक्ष इष्ट फल से भी हमें इसी निष्कष पर पहुचना पडता है कि समिध अवश्यमेव आध्यात्मिक प्राणों को सामद्ध करतीं हैं) अतएव (कहा जा सकता है कि) अपने इस सामद्याग से (अध्वयु यजमानात्मा मे (स्थित) प्राणों का ही समि धन करता है । (पूव ब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्व सर के प्रथम बस त पवसाम धन के साथ साथ) आध्यात्मिक प्राणसमि धन-फलप्राप्ति के लिए (भी) यह समिद्याग करता है ॥१॥

(२)—वह (अध्वयु समिद्याग के) अनन्तर (होता के- तनूनपादग्न आज्यस्य वेतु वौषट इस तनूनपाद्देवताक या यामन्त्र के उ चारण करने पर उसके वौषट् उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में आ याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त दूसरे) तनूनपात् (नामक प्रयाज) का यजन करता है। तनूनपात् निश्चय से रेत (वीर्य्य-शुक्र) है (क्योंकि सप्तम धातुभूत रेत ही शरीर को न गिरने देता हुआ तनूनपात् है) । (इस तनूनपाद्याग से) वह अध्वर्यु (दैवात्मा में प्रजननधर्म्म के समावेश के लिए) रेतसेक ही करता है । (पूर्व ब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्व सर क द्वितीय ग्रीष्म पर्वसमि धन के-साथ साथ) आध्यात्मिक रेत सक प्राप्ति के लिए (भी) यह तनूनपाद्याग का अनुष्ठान करता है ॥२॥

(३)—वह (अध्वयु तननपाद्याग के) अन तर (होता के इडो अग्न आज्यस्य यन्तु वौषट इस इडदेवताक या यामन्त्र के उच्चारण करने के अन तर उसके वौषट् उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में आज्याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त तीसरे) इट् (नामक प्रयाज) का यजन करता है। इट निश्चयेन प्रजा है। जिस समय-(नवमसानन्तर एवयावरुत' नामक प्रसववायु की नोदना से नवमास पूर्व योषाग्नि में वृषा द्वारा) सिक्त रेत (प्रजारूप से) उत्पन्न होता है (भूमिष्ठ बनता है) उत्पत्ति के अ यवहितोत्तरक्षण से ही वह (उत्पन्न प्रजा) (अन्नकामना से) इडमयी-(अन्नमयी) सी बन कर अन्न की इच्छा करती हुई विचरने लगती है (उत्पत्त्यनन्तर ही अ न की ओर प्रवृत्त हो जाती है)—(तनूपाद्याग के द्वारा सिक्त रेत का प्रजारूप से प्रजनन अपेक्षित है प्रजनन उत्तरभावी साथ ही इट्-अन्न-अभिमुख है। अतएव अ नेच्छात्मक इस उत्तरभावी प्रजननकर्म्म के लिए ही तनपाद्यागानन्तर इड्-याग आवश्यक है। पूर्वब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्वत्सर के तृतीय वर्षापर्व समि धन के साथ उत्तरभावी अध्यात्मिक इस प्रजनन फल को ही लक्ष्य बना कर श्रुति कहती है कि) इस (इड्याग से) यह

अध्वर्य्यु (दिव्य प्रजा को) ही उत्पन्न करता है। इसीलिए (प्रजोत्पत्ति के लिए) इड्याग करता है ॥४॥

(४)—वह (अध्वर्य्यु इड्याग के) अनन्तर (होता के— बर्हिरग्न आज्यस्य वेतु वौषट् इस बर्हिर्देवताक याज्या मन्त्र के उच्चारण करने पर उनके वौषट् उच्चारण के साथ आह्वनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश मे आज्याहुति के द्वारा क्रम प्राप्त चौथे) बर्हि (नामक प्रयाज) का यजन करता है। बर्हि निश्चयेन भूमा (बहुत्वसम्पत्ति से युक्त) है। (बर्हि—दर्भ—का भूमाभाव इसके संख्या—बहुत्त्व पर एवं बृंहणधर्म्म पर ही अवलम्बित है)। उत्पन्न प्रजा की भूमा प्रजावृद्धिरूप से भी अभीष्ट है एवं प्रत्येक प्रजा के बहुयशाभाव से भी अपेक्षित है। इड्याग से प्रजा उत्पन्न की गई है। अब अपेक्षित उभयविध भूमा-भाव का भी उत्पन्न प्रजा में आधान होना चाहिए। बर्हि भूमाधर्म्म से युक्त है। (पूर्वब्राह्मण मे प्रतिपादित आधिदैविक सम्वत्सर के चतुर्थ शरत्-पर्व समिन्धन के साथ साथ) आध्यात्मिक इस भूमाभाव फल प्राप्ति के लिए (भी) यह अध्वर्य्यु बर्हि का यजन करता है ॥४॥

(५)-वह (अध्वर्य्यु बर्हियोग के) अनन्तर (होता के— स्वाहाग्निम् स्वाहा सोमम् स्वाहाग्निम् स्वाहा देवाँ आज्यपान् स्वाहाग्निं होत्रा जुषाणा अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट इस स्वाहा देवताक याज्यमान्त्र के उच्चारण करने पर उसके वौषट् उच्चारण के साथ आह्वनीयाग्नि के समृद्ध-प्रदेश में आज्याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त पाचवे) स्वाहा स्वाहा (नामक प्रयाज) का यजन करता है। (वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत-हेमन्त इन) पाच ऋतुओं का निश्चयेन हेमन्त स्वाहाकार (अन्तिम पर्व) है। (अपने स्वाभाविक कटुस्पर्श से) हेमन्त ही इस (पार्थिव प्रजावर्ग को अपने वश में कर लेता है । इसीलिए (हेमन्ताक्रमण से स्वविकास-लक्षण स्वातन्त्र्य से ही) हेमन्त ऋतु मे ओषधियाँ म्लान (मुकुलित) होजातीं हैं वनस्पतियों के पत्ते झड़ जाते हैं पक्षिगण अतिशयरूपेण क्षीणकाय बन जाते हैं क्षीणकाय बनते हुए निर्जीव से बनकर आकाश से तथा अपने घोंसलों से ये (पक्षी) पट-पट नीचे गिरने लगते हैं पुरुष-समुदाय मुण्डित केशपुरुष की भाँति हतश्री बन जाता है-(प्रतीत होने लगता है)। इसप्रकार (इन प्रत्यक्षदृष्ट स्थितियों के आधार पर यह कहा जासकता है कि) हेमन्त सम्पूर्ण पार्थिव प्रजावर्ग को अपने अधिकार मे कर लेता है (किए हुए है)। जिसप्रकार एक समर्थ-बलवान् योग्य व्यक्ति अपने वर्ग पर अधिकार करता हुआ वर्ग के द्वारा श्री-वित्तसम्पत्ति एवं अन्नाद्य-अन्नसम्पत्ति का अन्यतम भोक्ता बन जाता है एवमेव हेमन्तयागकर्त्ता भी अपने समाज का नेता बनता हुआ श्री-और अन्नाद्य का अन्यतम भोक्ता बन जाता है। हेमन्तयाग के इसी फल का अपने शब्दों में अभिनय करती हुई श्रुति कहती है)—वह यजमान जिस श्रद्ध (समाज) में रहता है उस श्रद्ध की श्री और अन्नाद्य के लिए स्वीकृत कर लेता है (उस समाज को अपने वश में कर तद्द्वारा अभीष्ट श्री अन्नाद्य प्राप्त करने मे समर्थ होजाता है) जो कि यजमान (साथ ही यजमानदत्त दक्षिणा से परिगृहीत प्रयाजकर्त्ता अध्वर्य्यु भी)

हेमन्त के (उक्त लक्षण) सर्वाधिप य को जान लेता है। (हेम तयाग का आ यात्मिक फल सर्वाधिकारभावप्राप्ति ही है यही ता पर्य्य है) ॥५॥

इति–प्रयाजावृत (पद्धति)–(४)

———*———

प्रयाजानुमन्त्रण

प्रस्तुत प्रयाजकर्म्म मे एक प्रयाजानुम त्रण नामक कर्म्म–विशेष यजमान को करना पड़ता है। पॉच प्रयाजों के लिए होतृकतृ क पाच आ या म त्र है जिनका पूव क प्रयाजावृत प्रकरण मे स्पष्टीकरण किया जाचुका है। पाच या ाम त्र प्रयाजम त्र है। जिस समय १–२–३–४–५–क्रम से होता पॉच या यामन्त्रों का उ चारण करता है उस समय प्र येक या यामन्त्र की समाप्ति पर यजमान भी एक एक निगदमन्त्र का उच्चारण करता है। यजमान इस मन्त्रपाठ से प्रयाज का अपने दवा मा के साथ सम्ब ध कराता है। अतएव यजमानकतृ क ये मन्त्र प्रयाजानुमन्त्रण कहलाए है। उन पाचों प्रयाजानुम त्रण–म त्रों का स्वरूप निम्नलिखित है—

(१)–होता– समिद्धो अग्न आ यय य तु वापट् –यजमान – इद समिद्भ्यो न मम। एको मम एका तस्य यमह द्वेष्मि योऽस्मान् द्वेष्टि यच वय द्विष्म । त्विषिमान् भूयासम् (समिदनुमन्त्रणम्—१)।

(२)–होता तनूनपादग्न आ यस्य वेतु वौषट् यजमान इद तनूनपाते न मम। द्वौ मम द्वे तस्य य च वय । अपचितिमान् भूयासम् (तनूनपादनुमन्त्रणम्—२)।

(३) होता इडोअग्न आ यस्य वेतु वौषट यजमान इदमिड्भ्यो न मम। त्रयो मम तिस्रस्तस्य–य च वय । यशस्वी भूयासम् (इडनुम त्रणम्—३)।

(४) होता बर्हिरग्न आ यस्य वेतु वौषट् यजमान इद बर्हिषे न मम। चत्वारो मम चतस्रस्तस्य य च वय । ब्रह्मवर्चसी भूयासम् (बर्हिरनुम त्रणम्–४)।

(५)–होता–स्वाहाग्निं स्वाहा सोम स्वा यन्तु वौषट् यजमान–इदमग्नये सोमाय अग्नये न मम । पञ्च मम न तस्य किञ्चन–य च वय । अन्नादो भूयासम् (स्वाहानु-म त्रणम्—५)।

अबतक के ब्राह्मणभाग में होतृकतृ क प्रयाजमन्त्रों का एव अध्वर्य्यु कर्तृ क आहुति–कर्म्म से सम्ब ध रखने वालीं अ या य विशेषताओं का पद्धति–प्रदर्शन–पुरस्सर निरूपण होचुका है। पर तु अबतक यजमानकतृ क प्रयाजानुमन्त्रण म त्रों की उपपत्ति नहीं बतलाई गई है। प्रकृत शेष ब्राह्मणभाग म उस प्रयाजानुम त्रण की ही पद्धतिप्रदर्शन–पूवक उपपत्ति बतलाई जारही है। इस उपपत्ति से सम्बन्ध रखने वाला एक आख्यान सवप्रथम उद्धृत करती हुई श्रुति कहती है—

देवदेवता और असुर दोना प्राजापत्य (प्रजापति की सन्तान) परस्पर स्पर्द्धा (युद्ध) करने लगे । (दोनों ही) दण्ड तथा धनुषों से (एक दूसरे पर) विजय प्राप्त न कर सके (भौतिक शस्त्रबल से युद्ध का निश्चित परिणाम न निकल सका) । (अपने आयुधयुक्त युद्धक्रम से) विजय लाभ न करते हुए दोनों ने यह निश्चय किया कि अरे भाई (हन्त भला अच्छा तो) अपने वागरूप ब्रह्म के माध्यम से ही जीतने की इच्छा करें (शास्त्रार्थ के द्वारा युद्ध का निर्णय करें) । (इस मन्त्रात्मिका वाक के युद्ध मे वाचिक युद्ध में) अपने दोनों में से जो भी-(एक दूसरे द्वारा) प्रयुक्त वाक का मिथुनभाव से अनुक्रमण द्वारा (युग्म द्वारा) अनुगत न करेगा वह हार जायगा दूसरा (मिथुनभावानुगत दल) विजेता माना जायगा दोनों ने सधा (शर्त) मान ली (तथेति) । (प्रस्तुत वागयुद्ध मे इन्द्र को ही योग्य अधिकारी मान कर) देवदेवताओं ने इन्द्र से कहा कि (हमारी ओर से देवमण्डली की ओर से) आप ही वाक-शस्त्र का प्रयोग करें ।।६।।

(देवप्रेरणानमत) इन्द्र (ही वाग युद्ध का प्रारम्भ करते हुए असुरों को लक्ष्य बनाकर) बोले-'**एको मम** (हमारा एक है) । '**अस्माकमेका**' (हमारी एक है) यह (प्रत्युत्तर मे) असुर बोले । इस प्रथम (वाङमय) स्पर्द्धा कम्म से (प्रतिज्ञात सधा-सार) देवदेवता असुर, दोनों ने मिथुनसम्पत्ति प्राप्त कर ली । यह मिथुन ही तो है जो एक और एका है । (योषा वृषात्मक स्त्री-पुम्भाव का समन्वित रूप ही मिथुनभाव है । पुम्वाचक एक से वृषात्मक पुम्भाव का एवं स्त्रीवाचक एका से योषात्मक स्त्रीभाव का सग्रह हो रहा है । दोनों के सग्रह से मिथुन-भाव गतार्थ बन रहा है यही तात्पर्य है) ।।७।।

(प्रथम मिथुनावाप्त्यनन्तर) '**द्वौ मम**' यह इन्द्र बोले एवं प्रत्युत्तर में '**अस्माक द्वे**' यह असुर बोले । इस कम्म से (भी दोनों ने) मिथुन सम्पत्ति प्राप्त कर ली । यह मिथुन ही तो है जो द्वौ (पुम्वाचक शब्द) एवं द्वे (स्त्रीवाचक शब्द) है ।।८।।

(द्वितीय मिथुनावाप्त्यनन्तर) '**त्रयो मम**' यह इन्द्र बोले एवं प्रत्युत्तर में '**अस्माक तिस्र.**' यह असुर बोले । इस कम्म से (भी दोनों ने) मिथुन सम्पत्ति प्राप्त कर ली । यह मिथुन ही तो है जो कि त्रय और तिस्र है ।।९।।

(तृतीय मिथुनावाप्त्यनन्तर) '**चत्वारो मम**' यह इन्द्र बोले एवं प्रत्युत्तर में '**अस्माक चतस्र**' यह असुर बोले । इस कर्म्म से (भी दोनों ने) मिथुन सम्पत्ति प्राप्त कर ली । यह मिथुन ही तो है जो कि- चत्वार और चतस्र है ।।१०।।

(चतुर्थ मिथुनावाप्त्यनन्तर) '**पञ्च मम**' यह इन्द्र बोले । (इन्द्र के इस वाङ्मय पञ्च पर्व के प्रत्युत्तर के लिए) असुर कोई साधन प्राप्त न कर सके । (क्योंकि चत्वार चतस्र' से आगे-स्त्री-पुल्लिङ्ग भेदक लिङ्ग का ही अभाव है । अतएव) इससे आगे मिथुन का अभाव है । आगे तो-स्त्री-पुम्भाव दोनों के लिए) पञ्च पञ्च इस समान शब्द का ही प्रयोग होता है । (बस

यहा आकर पूव प्रतिज्ञात सधा के अनुसार इन्द्रप्रयुक्त पञ्च के मिथुन की पूर्त्ति करने म असमथ रहते हुए) असुर अपना सवस्व (पहिले के चार मिथुन भाव भी) हार गए। उधर देवदेवताओं न (मिथुन मर्यादानुगमन से) असुरों का भी सवस्व जीत लिया। सम्पूर्ण मिथुनों से (तद्रूप प्रयाजकर्म्मों से) सपत्न असुरों को भागरहित बना दिया ॥११॥

(क्योंकि प्राकृतिक प्राणयज्ञ म देवासुर स्पर्द्धा में मिथुनभाव के द्वारा देवदेवता असुरों क पराभव मे समथ हुए है। अतएव इस पञ्चप्रयाज कर्म्म में भी प्रयाजानुम त्रण-मन्त्रों में क्रमश एक एका इत्यादि मिथुन भावात्मक पदों का समावेश कराता हुआ मिथुनसम्पत्ति ऋतुपञ्चात्मिका पाङ्क यज्ञ सम्पत्ति-पर अपना अन य अधिकार जमा लेता है। यही अनुम त्रण-म त्रों की एव तत् पठित- एक -एका आदि मिथुनभावा की मौलिक उपपत्ति है जिसका वैज्ञानिक विश्लेषण तत्प्रकरणानुगत विवेचना-प्रकरण म किया जायगा। प्राकृतिक मिथुनभाव के आधार पर प्रतिष्ठित इसी प्रयाजानुम त्रणकर्म्म की इतिकर्त्त यता बतलाती हुई श्रुति कहती है)—

इसलिए (पूर्वोक्त मिथुनभावावाप्ति के लिए) उस यजमान को प्रथम प्रयाज समाप्त होने पर यह (प्रयाजानुम त्रणम त्र) बोलना चाहिए कि- एको ममे येका तस्य यमह द्वेष्मि (एक मेरा है, एक उनकी है जिससे म द्वेष करता हूँ ❀। यदि यजमान किसी को अपना यक्तिगत शत्रु नहीं मानता है यक्तिगत द्वेष नहीं करता है तो उस अवस्था में (यमह द्वेष्मि न बोल कर) — योऽस्मान् द्वेष्टि य च वय द्विष्म (जो हम से द्वेष रखता है जिसके प्रति हम सहज वैर रखते है) यह बोलना चाहिए (इस १२ वीं कण्डिका के अनुवाद से ही १३ १४ १५ कण्डिकाओं का एव सोलहवीं कण्डिका के पूवसमतुलित भाग का अनुवाद गतार्थ बन रहा है ॥ १३ १४ १५ ॥

वह यजमानशत्रु (पाचव प्रयाज में यजमान के द्वारा प्रयुक्त— पञ्च मम-न तस्य-किञ्चन योऽस्मान् द्वेष्टि य च वय द्विष्म इस प्रयाजानुम त्रण-म त्र के द्वारा) केवल पञ्च पञ्च करता हुआ ही रह जाता है। उसे मिथुनसम्पत्ति उपल ध ही नहीं होती)। परिणाम स्वरूप वह यजमान अपने शत्रुवग का सब कुछ छीन लेता है सवसम्पत्ति से सपत्नो को भागरहित (वञ्चित) कर देता है जो यजमान प्रयाजानुमन्त्रण से सम्ब ध रखने वाले मिथुन विज्ञान को जानता हुआ तत्प्रयोग करता है ॥१६॥

इति-प्रयाजानुमन्त्रणम् (५)



पाँचव अध्याय में चौथा, चौथे प्रपाठक में पाचवा ब्राह्मण समाप्त
२—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त द्वितीय ब्राह्मण समाप्त
(पाँचवा अध्याय समाप्त)



❀ जिसके साथ द्वेष हो उस का- कामशत्रु -क्रोधशत्रु लोभशत्रु -लोकैषणात्मक शत्रु इत्यादिरूप से उस शत्रु के नाम का सन्निवेश कर देना चाहिए।

(छठा अध्याय प्रारम्भ)

प्रथमकाण्ड म छठे अध्याय म पहिला चौथे प्रपाठक में छठा ब्राह्मण

(१।६।१)—(१।४।६)

(३—त्रिब्राह्मणा० क प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त तृतीय ब्राह्मण)

६—प्रयाजों का इष्टि मे प्राथम्य

त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण के पूर्वोपात्त प्रथम ब्राह्मण में (१।५।३) आरम्भ के ऋतवो ह वै प्रयाजा ०इत्यादिरूप पञ्च-पञ्चकण्डिकात्मक भाग क द्वारा प्रयाजबन्धु (प्रयाजकर्म्मोपपत्ति) का प्रतिपादन हुआ है। वहा यह स्पष्ट किया गया है कि यह पञ्च प्रयाजयाग सम्वत्सर में भुक्त स तादि पाच ऋतुओ पर यजमाना मा का अधिकार प्रतिष्ठित करने के लिए ही किया जाता है। वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि देवता और असुरों की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा म देवताओं ने अपने विजय का साधन पॉच प्रयाजों को ही बनाया। इन पाच प्रयाजों से (पञ्चप्रयाजयाग स) वे पञ्चर्त्त की समष्टिरूप सम्वत्सर सम्पत् पर अपना अधिकार करने में समथ होगए। इस उक्त उपपत्ति से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रयाजकर्म्म वस्तुत ऋतुकर्म्म है। ऋतुओं का यजन ही प्रयाजयजन है। अब इस सम्बन्ध मे य० जिज्ञासा होती है कि सम्वत्सरयज्ञ म—जिसमें साम्वत्सरिक प्राणविध देवदेवताओं के भाग नियत है—ऋतुओं का (ऋतुदेवताओं का) क्या भाग है ?। दूसरी जिज्ञासा का अग्नि से सम्बन्ध है। समिद्ध आहवनीयाग्नि में इन ऋतुरूप प्रयाज-देवताओं के लिए आज्याहुति विहित है। यह समिद्ध अग्नि साम्वत्सरिक दिव्याग्नि का प्रतिरूप है। अतएव सिद्ध होजाता है कि प्राकृतिक पञ्चर्त्त ओं का भी (अ य देवदेवताओं की भाति) अग्निदेव के साथ अवश्य ही कोई न कोई घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह अग्निसम्बन्ध भी प्रकृत में विजिज्ञास्य बन रहा है। इस अग्निसम्बन्ध जिज्ञासा का यों भी अभिनय किया जा सकता है कि ऋतुरूप पञ्च प्रयाजों के लिए होता की ओर से जो पॉच याज्यामन्त्र प्रयुक्त होते हैं उन पाँचों ही मन्त्रों में समिद्धो अग्न आज्यस्य व्यन्तु —तनूनपादग्न आज्यस्य वेतु ' इत्यादिरूप से अग्नि' का समावेश है। जबकि पाँचों मन्त्रों से सम्बन्ध रखने वाली पॉचों प्रयाजाहुतियॉ क्रमश समित् तनूनपात् इट बर्हि स्वाहा इन पॉच प्रयाज-ऋतु-देवताओं के लिए ही विहित हैं तो तद्देवताक याज्यामन्त्रों में अग्नि पद का समावेश क्यों हुआ ? क्यों- प्रयाजयागात्मक आज्य में अग्नि को भी भागहर माना गया ?। तीसरी जिज्ञासा का प्रयाज-प्राथम्य से सम्बन्ध है। प्रधानदेवतायाग ही इष्टिकर्म्म' है। इस इष्टिकर्म्म में ऋतुओं की तृप्ति के लिए तो प्रयाज कर्म्म विहित है एव छन्दों की तृप्ति के लिए अनुयाज कर्म्म विहित है। इन दोनों में प्रयाज कर्म्म प्रधानदेवता-यागलक्षण इष्टिकर्म्म से पहिले होता है अनुयाजकर्म्म इष्टिकर्म्म से पीछे। यह जिज्ञासा भी स्वाभाविक है कि प्रयाजकर्म्म का इष्टिकर्म्म में प्राथम्य क्यों है ?। इन तीनों जिज्ञासाओं का प्राकृतिक आधिदैविक ऋतुयज्ञ से ही सम्बन्ध है तद्विज्ञान ही इस जिज्ञासात्रयी का तात्त्विक समाधान है। प्रस्तुत-ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका से आरम्भ कर १५ वीं

कण्डिका पर्य्यन्त इसी जिज्ञासा त्रयी का सोपपात्तिक विश्लेषण हुआ है । अतएव पञ्चदशकण्डि-का मक इस ब्राह्मण भाग का एक स्वत त्र प्रकरण माना जासकता है जिसे हमन— प्रयाजा का इष्टि म प्राथम्य नामकरण अन्वथ माना है । १६ वीं कण्डिका से आरम्भ कर १८ वी कण्डिका पर्य्यन्त तीन कण्डिकाओं म अभिचार कर्म्म का निरूपण हुआ है यही प्रकृत ब्राह्मण का कण्डिकात्रयात्मक द्वितीय करण है । १९ वी कण्डिका म फलश्रुति का विश्लेपण हुआ है यही एक कण्डिकात्मक तृतीय प्रकरण माना गया है। १९ २ न दो कण्डिकाओं म प्रयाज कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले परिशिष्ट आ य देवतादि प्रश्ना का विमश हुआ है यही प्रस्तुत ब्राह्मण का परिशिष्ट प्रश्नोत्तरविमश नामक अ तिम प्रकरण है । सम्भूय २१ कण्डिकात्मक प्रकृत तृतीय प्रयाजब्राह्मण म ४ अवान्तर प्रकरण होजाते है जिन्हे पूवब्राह्मण-द्वयी म प्रतिपादित ५ प्रकरणों का क्रमिक सख्या के अनुरोध से क्रमश ६ ७ ८ ९ वें प्रकरण माना जासकता है। इस प्रकरणसङ्गति को लक्ष्य बना कर ही प्रकृत ब्राह्मणानुवाद का सम वय करना चाहिए— (सैषा प्रकरणसङ्गात)

(प्रयाजयाग ऋतुयाग है इसका प्राकृतिक सम्वत्सराग्नियज्ञ म एक विशेष प्रथम स्थान है इसी आधिदैविक तत्त्व का एक वज्ञानिक आख्यान के द्वारा विश्लेषण करती हुइ श्रति कहती है)—(वसन्तादि पाचों याज्ञिक) ऋतुओं ने (प्राणविध) देवताओं क साथ यज्ञ (सम्वत्सराग्निलक्षण सोमगभित योतिष्टोमयज्ञ) म (अपना भी) भाग चाहा (अर्थात् जिस प्रकार देव देवताओं का यज्ञाग्नि में भाग है एवमेव ऋतुओ न भी उसके भागीदार बनने की देवन्वताओ से कामना प्रकट का । अपनी इसी कामना को प्रकट करते हुए ऋतुओं न देवदेवताओ से अनुरोध किया कि) आप लोग इस यज्ञ मे हम भी भागा (हिस्सेदार) बनाइये ! हम इस यज्ञ (भाग) से वञ्चित न कीजिए ! (हम चाहते है कि आप लो ों की भा ति) इस यज्ञ में हमारा भी भाग रहे ॥ १ ॥

(जिसप्रकार किसी आगन्तुक सम्पत्ति-भोक्ता सम्पद्विभाग कामुक के आ जाने से उसके विभाग माँगने पर स्वाभाविक वित्तलोभ क आकषण से लोक में सम्पत्ति का प्रथमभोक्ता आगन्तुक की उस न्यायप्राप्त भाग की उपेक्षा कर देता है सुनी अनसुनी कर देता है ठीक इसी लौकिक वित्त-स्थिति के अनुसार ऋतुओं के द्वारा यज्ञभाग मागने पर) देवताओं नें ऋतुओं की उस (यायप्राप्त मॉग-कामना को) न पहिचाना—सुन कर भी ऐसी उपेक्षावृत्ति दिखलाई जैसे उन्होंने कुछ सुना-जाना हीं न हो)। देवताओं की उपेक्षावृत्ति का ऋतुओं की न्यायप्राप्त मॉग ठुकरा देने का वही परिणाम हुआ जो आज भी प्रत्यक्ष में देखा सुना जाता है । यदि किसी को अपना यायप्राप्त अधिकार माँगने से भी नहीं मिलता जो वस्तुतः बिना मॉगे भी मिल जाना चाहिए तो उस अवस्था में माँगने वाले का आत्मा विद्रोही बन कर उस वित्तभोगी-भोगरोगी के प्रति द्वन्द्वी-शत्रुदल मे जा मिलता है । यही ऋतुओं नें किया । इसी प्राकृतिक धर्म्म का विश्लेषण करती हुई श्रति कहती है) प्राणविध देवदेवताओं के इसप्रकार (अपनी माँग के) न जानने पर (उपेक्षा करने पर) वे ऋतुएँ (उत्पन्न स्वाभाविक आत्मविद्रोह क कारण) देवदेवताओं के सहज शत्रु भ्रातृव्य असुरों की ओर लौट आई असुरदल में समाविष्ट हो गई) ॥२॥

(अपने शत्रु की समृद्धि सुन सुन कर विपक्षीदल को अन्तर्वेदना का स्वाभाविक अनुभव हुआ करता है। यदि किसी से बदला लेना हो तो ~से चाहिए कि वह उसके शत्रुदल में मिल जाय। और उससे मिल कर उसके उस समृद्धिकर्म्म म अपना सहयोग देकर उस समृद्धि को ओर भी अधिक समृद्ध बनावे जिस समृद्धि को सुनने मात्र से विपक्षी दल की वेदना वृद्धिंगत हो जाती है। ऋतुओं नें इसी पथ का आश्रय लिया। असुरमण्डल की ओर आगत) ऋतुओं ने (असुरों के लिए) उस समृद्धि को (ओर भी अधिक) समृद्ध करना आरम्भ किया जिस (असुरसमृद्धि) को देवता सुना करते है (सुन कर ~यथित हुआ करते हैं)। (ऋतुओं के द्वारा असुरों की पूवसमृद्धि में क्या विशे ता उपन्न हो गई ? प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि)—जिस परायुग में इन असुरों के पूर्वज (ऋतुओं के अनुकूल सहयोग न मिलने से) जिस समय (मोसम मे) हल जोत थे (हल जोत कर) बीज डालते थ (इस प्रकार हल जोत कर बीज डाल कर बडे परिश्रम से थोडा बहुत अन्न उपन्न कर यनकनरूपेण बडे कष्ट से अपना निर्वाह करते थे उन्ही असुरा के) वशज (अपरे)—इन ऋतुओ के अनुग्रह से आज उसी मोसम में) कुछ तो धान काट रहे है कुछ कटे हुए धानों को बैल आदि से खुदवा रहे हैं। इस प्रकार (ऋतुओं के अनुग्रह से आज) उन-आसुर प्रदेशों में बिना ही हल जोते पुन पुन ओषधि ॉ पक रहीं है। (तात्पय्य ऋतु-अनुग्रह से पहिले जिन इन असुरो के पूवजों को जिस मौसम में हल जोत कर बडे कष्ट से अन्न उपन्न करना पडता था आज उनके वशज असुर ऋतुओं के अनुग्रह से उस मौसम में तो धान का सग्रह कर लेते हैं। साथ ही इन्हें हल जोतने का भी कष्ट नहीं उठाना पड़ता। ऋतु-अनुग्रह से बिना हल जोते ही इनके देश में पर्य्याप्त अन्नसम्पत्ति उत्पन्न होती रहती है। यही वह प्रभूत समृद्धि है जिसे सुन सुन कर देवता व्यथित हो सकते है ॥ ३ ॥

(देवदेवताओं के समीप भी कर्णाकर्णिद्वारा ये समाचार पहुचे। वही हुआ जो होना चाहिए था)। असुरसमृद्धि सुन कर देवदेवताओं का बड़ा पश्चात्ताप (आग) हुआ। (इन्होंनें प्रज्ञापराध-जनित इस पश्चात्ताप को इन श दों में प्रकट किया कि)—हमारे इस (ऋतुओं को उनके यायप्राप्त भाग न देने के) कारण (ही) आज शत्रुदल-(असुरलोग) अपने शत्रुदल (देवदल) के प्रति (स्पर्द्धापूर्वक) शत्रुता करना चाहता है (अर्थात् हम से उपेक्षित ऋतुओं के बल से ही समृद्ध बन कर आज वे असुर यहाँ तक समथ हो गए कि वे-खुल्लमखुल्ला हम से युद्ध करने के लिए सन्नद्ध हैं। आज असुरों का यह साहस हो गया है कि वे प्र यज्ञ में हम से शत्रुता रखते हुए भी नहीं डर रहे। वास्तव में) ऐसा हो जाना बहुत ही कमी है—(कनीय इन्नु लज्जा की बात है)। ऋतुओं के अनुग्रह से आज असुर बलवान् बन गए है। अतएव प्र यज्ञ में इनसे मुटभेड करना तो ओर भी पश्चात्ताप का कारण होगा। अतएव अब तो) आप सब (मिलकर) वैसा कोइ (अप्रत्यक्ष सहज) उपाय निकालिए जिससे असुर लोग अपनी इस (वर्त्तमान समृद्ध स्थिति से विपरीत (असमृद्ध-निबल) अवस्था में (स्वत एव) पहुँच जाय ॥ ४ ॥

(सभी यह जानते थे कि ऋतुओं को उनका न्यायप्राप्त भाग न मिलने से वे असुरों में जा मिलीं परिणामस्वरूप असुर समृद्ध होगए। अब उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से निबल बनाने का भी यही उपाय हो सकता है कि जैसे बने तसे ऋतुओं को वापस लौटा लिया जाय । परामर्श के द्वारा यह निश्चय कर) देवदेवता (अपना मत य प्रगट करते हुए) कहने लगे कि अपन (इस सकट से बचने के लिए असुरदल मे पहुच जाने वालीं) ऋतुओं को ही निमन्त्रित कर (आदर-पूवक ऋतुओं को ही वापस बुलाना चाहिए। उपाय निकल आया। परन्तु किस साधन से (किस प्रलोभन से) उन्हें बुलाया जाय ? यह समस्या आपड़ी। समस्या का कारण यही था कि ऋतुए देवताओं से तिरस्कृत होकर ही गई थीं। उन्हें अपने प्रिय यज्ञ में भाग नहीं मिला था । आज भी वे लौट सकतीं है। परन्तु प्रलोभन ऐसा होना चाहिए जो पूवप्रलोभन से भी विशिष्ट हो । वह यही हो सकता है कि जिस यज्ञभाग की उन्हे कामना थी स्वाभाविक प्रलोभन था उसका प्रथम भागहर ऋतुओं को ही बनाया जाय। अवश्यमेव इस विशिष्ट प्रलोभनाकषण से वे वापस लौट आएगी। इसी तात्पर्य्याथ का दिग्दशन कराती हुई श्रुति कहती है कि)—अपन इन ऋतुओं का इस यज्ञ में सर्वप्रथम ही यजन कर (अर्थात् पहिला भाग इन्हें ही दिया जाय—आपको प्रथमभाग मिलेगा यही सन्देश ऋतुओं के पास भेजा जाय। विश्वास है इस साधन से अवश्य वे हमारी ओर आजायँगी) ॥५॥

(देवमण्डल में वे अग्निदेव भी समुपस्थित थे जिन्हें यज्ञ में देवतालोग सब से पहिला भागहर मानते आरहे है। ऋतुयाग से भी पहिले अग्नि का ही प्रथम यजन होता आया है । जब अग्नि ने यह निणय सुना कि ऋतुलक्षण प्रयाजों का ये लोग प्रथम यजन करने वाले है तो उन्हें अपने प्रथमाधिकार की चिन्ता हुई। इसी चिन्ता को व्यक्त करते हुए) अग्निदेव बोल पडे कि—(हे देवदेवताओं !) आपने जो कि पहिले (प्रयाजयाग से भी पहिले) मेरा यजन किया है (पहिला भागहर बनाया है) वह मैं (यज्ञ में) कहां प्रतिष्ठित रहूँगा (अग्नि को भय यह हुआ कि मुझे इन्होंने यज्ञ का प्रथमभाग पहिले से दे दिया है। आज ये ऋतुओं को भी प्रथम भाग देना चाहते है। कहीं ऐसा न हो कि मेरा भाग छीन कर ऋतुओं को दे दिया जाय। यदि कहीं ऐसा हो गया तो मेरी प्रतिष्ठा ही उच्छिन्न हो जायगी। देवताओं नें अग्निदेव की इस चिन्ता को हटाते हुए आश्वासन दिया कि) अग्निदेव ! (आप चिन्ता न करें) हम आपको अपने आयतन (प्रथमभागलक्षण प्रतिष्ठास्थान) से कभी न गिरावेंगे । (देवताओं का यह आश्वासन अवश्य ही सुरक्षित रहता है। अग्निदेव का प्रथमभाग अक्षुण्ण ही बना रहता है । इसी स्थिति का दिग्दशन कराती हुई श्रुति कहती है कि) उन देवदेवताओं नें (प्रथमभाग प्रलोभन-साधन से) ऋतुओं को बुलाते हुए (भी उन्हें प्रथमभाग देते हुए भी) क्योंकि अग्निदेव को अपने उनके आयतन से (प्रथमभाग से) च्युत नहीं किया अतएव (तब से, इसी अच्युत-भाव से) वे अग्निदेव अच्युत नाम से ही प्रसिद्ध होगए। (जिनके लिए उभयत्राच्युत आग्नेय पुरोडाश विहित है)। वह याज्ञिक भी अपने उस आयतन से कभी च्युत नहीं होता है जिस आयतन में वह प्रतिष्ठित रहता है, जोकि इस अच्युत अग्नि को (अग्नि के इस अच्युत धर्म को) जानता है ॥६॥

(देवताओंनें अग्नि का न वामायतनाच्च्यावयाम इत्यादिरूप से वाचिक सन्तोष तो करा दिया परन्तु इस से समस्या अधिक क्लिष्ट बन गई। प्रथमयजन कर्म्म एकबार ही सम्भव है। ऋतुओं का प्रथमयजन कर लिया जाय अथवा तो अग्नि का प्रथम यजन कर लिया जाय। अग्नियजन हो चुका है। यदि इन्हें इसी स्थान पर प्रतिष्ठित रखना है तब तो ऋतुओं का प्रथमयजन असम्भव हो जाता है। यदि ऋतुओ का प्रथमयजन किया जाता है तो अग्नि के प्रथम भाग के अपहरण के अतिरिक्त अन्य उपाय का अभाव है। फलस्वरूप अग्निदेव के साथ की गई प्रतिज्ञा का निर्वाह असम्भव हो जाता है। इस जटिल अवस्था के निराकरण के लिए देवदेवताओं के ध्यान मे एक उपाय आया। उन्होंनें यह निश्चय किया कि प्रथमयजन का प्रलोभन प्रथम भागहर अग्नि के द्वारा ही ऋतुओं के समीप पहुँचाना चाहिए। परिणाम यह होगा कि ऋतुदेवता अग्निदेवता को प्रथम यजनरूप प्रिय भाग का लाने वाला समझ कर इनसे अवश्य ही यह कहेंगे कि जब आप अपना प्रथम यजन उपेक्ष्य मान कर हमें प्रथम भागहर बनाने का त्याग कर रहे है तो हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम अपने इस प्रथम यजन से आपको पृथक् न करें अपितु आपका भी अपने प्रथम यजन कर्म्म मे ही समावेश करलें। इस प्रकार ऋतुदेवताओं का भी प्रथम यजन हो जायगा साथ ही ऋतुयाग में समाविष्ट होने से अग्निदेव का प्रथम यजन भी सुरक्षित रह जायगा। इसी भाव का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—)

(उक्त मन्त्रणा के द्वारा उक्त निश्चय कर) देवदेवताओंनें अग्निदेव से कहा कि (हे अग्निदेव!) जाइए (और) आप ही उन (असुरप्रविष्ट) ऋतुओं को निमन्त्रित कीजिए। (प्रेरणानुसार अपने स्वाभाविक आह्वानलक्षण हौत्र धर्म्म की अपेक्षा से) अग्निदेव (वहाँ पहुँचे वहां) पहुँच कर (उन ऋतुओं से) अग्नि कहने लगे कि हे ऋतुदेवताओ! मैंने देवताओं के यज्ञ के प्रति आपका भाग जान लिया है (अर्थात् देवताओं के इस निश्चय की मैं आपको सूचना देने आया हूं कि वे अपने यज्ञ में आपको प्रथम भागहर बनाने के लिए सन्नद्ध है)। (ऋतुदेवताओं का पहिले अपमान हो चुका था। अतएव वे तबतक सन्तुष्ट नही होने वाले थे जब तक कि उनके सामने पहिले यज्ञभाग से बढ कर कोई प्रिय साधन देवताओं की ओर से देने का निश्चय नहीं हो जाय। उन्होंने सोचा कि यदि वे केवल यज्ञभाग ही देना चाहते हैं तब तो अपन लौटेंगे नहीं। हां यदि वे प्रथम भागहर बनाना निश्चित कर चुके है तो अपना मान सुरक्षित रह सकता है फलत मानपूर्वक ही वहां लौटना भी श्रेयस्कर बन सकता है। साथ ही भागविभक्ति के समय वे यह भी देख चुके थे कि प्रथमभाग अग्निदेव को मिल चुका है। वे ही अग्निदेव अपना भाग छोड़कर उसे हमें देने आए होंगे इसकी कोई सम्भावना है नहीं। और बिना प्रथमभाग के अपन लौटेंगे नहीं। इसी आशङ्का के स्पष्टीकरण के लिए अग्निदेव के द्वारा निमन्त्रित ऋतुदेवता अग्निदेव से पूँछने लगे कि हे अग्निदेव! देवताओं के यज्ञ के प्रति) आपने कैसे (हमारा भाग) जान लिया (अर्थात् देवताओंने हमें पहिले के समान केवल भागहर बनाना ही निश्चित किया है अथवा वे हम प्रथम भागहर बनाने के लिए सन्नद्ध हैं?। ऋतुदेवताओं की इच्छानुसार देवसंकल्प का स्पष्टीकरण करते हुए अग्निदेव कहने

लगे कि हे ऋतुदेवताओ ! देवदेवता अपने) यज्ञ म आपका सवप्रथम ही यजन करगे (आपका प्रथमभागहर बनाने का ही देवताओं न निश्चय किया है) ॥७॥

(जब अग्निदेव क द्वारा ऋतुदेवताओं को यह विदित हो गया कि अपने मा न्वदेवता उस प्रथमभाग का अधिकारी बनाना चाहते हैं जो यज्ञ कम्म म कवल उभयत्रा युत प्रधानभूत अग्निदेव के लिए ही विहित है और वही प्रथमभागहर अग्निदेव यह जानते हुए भी कि जो प्रथम भाग मेरा प्रातिस्विक धन है उसे देवमण्डलोपकार क लिए मुझे ऋतुदेवताओं को बिना किसी सकोच क सौंप देना चाहिए तो उन ऋतुदेवताओं का हृदय अग्निदेव क इस अपूर्व याग के प्रति कृतज्ञता से आप्लावित हो गया । प्र युपकार की भावना से इन्होंन भी यह निश्चय कर लिया कि जिसने अपने लिए अपना स्वत्त्व छोड दिया उसे कभी अपन प्रथक् न करगे । फलत अपन नियम पूवप्राप्त प्रथम भाग से युक्त रहते हुए अग्निदेव प्रसन्न हो जायँगे प्रत्युपकार भी हो जायगा साथ ही जिन देवताओंन सकटापन्न स्थिति जानते हुए भी प्रथमभाग अपने लिए नियत कर दिया उनकी अग्निदेव के प्रति की गई- न त्वामायतना च्चावयाम इस प्रतिज्ञा का भी रक्षा हो जायगी । यह निश्चय कर ऋतुओंन अपने प्रथम भाग म अग्निदेव का भी समावेश कर लिया । इसी स्थिति का ऋतुओं के साथ अग्नि का घनिष्ठ सम्ब ध है इस स्थिति का उपपादन करती हुई श्रुति कहती है)—

(निमन्त्रण देने वाले प्रथम भागहर अग्निदेव के उक्त याग से प्रभावित होकर प्रत्युपकार मे अग्निदेव के प्रातिस्विक प्रथम भागाधिकार को सुरक्षित रखने की कामना से) उन ऋतुओनें अग्निदेव से कहा कि (हे अग्निदेव ! आपके इस उपकार के बदले) हम आपका हमारे में (हमारे प्रथमभाग मे) भागहर बनाते है जो कि आपने देवताओं के यज्ञ के प्रति हमारे लिए (अपना अधिकार छोडते हुए) भाग (प्रथमभाग) जाना (अपने प्रथम भाग का हमारे लिए स्वीकार कर अपनी उदारता का याग का परिचय दिया) । (क्योंकि देवदेवताओं के सम्व सरयज्ञ में प्रथमभाग लेने वाले ऋतुदेवताओं की ओर से अग्निदेव भी समाविष्ट हुए थे अतएव तभी से) य अग्निदेव (दिव्यप्राणाग्नि) ऋतुओं में समाविष्ट है (ऋतुओं से अग्निप्राण का सम न्वय प्राकृतिक है इसी सहज सम्ब ध को लक्ष्य में रखकर प्रयाजदेवताक आहुति कम्म में प्रत्येक प्रयाजयाग के साथ अग्नि का भी यजन होता है । अतएव च प्रयाजदेवताक याज्या मन्त्रों में)— समिधोऽग्ने तनूनपादग्ने इडोऽग्ने बर्हिरग्ने स्वाहाग्निम् (इत्यादिरूप से अग्निपद का समावेश हुआ है) । वह (यज्ञातिशयरूप फलभोक्ता यजमान प्रयाजकर्म्मेतिकर्त्तव्यतापूरक ऋत्विक्) उस पुण्यकर्म्म में निश्चयेन भागहर बन जाता है जिस पुण्यकर्म्म में वह (पुण्यकर्म्म सूचक के प्रति प्रवर्त्तक के प्रति सयोजक के प्रति) समान करता हुआ (उसे भी संयुक्त करता हुआ) तत् पुण्यकर्म्मानुष्ठान करता है । (प्रयाजकर्म्मानुगत अग्निसमावेश से) अग्निप्राणयुक्त बने हुए उस (पुण्यकर्म्मा) के लिए अग्निप्राणयुक्ता (ही अतएव समृद्ध हीं) ऋतुएँ उन सम्पूर्ण ओषधियों का परिपाक करतीं हैं जो कि (उक्त विज्ञान परिचय के आधार पर) ऋतुओं में अग्नि को समाविष्ट जानता है ॥८॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

(पूर्वप्रकरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रयाजदेवताओं का यजन पहिले होता है। इस निष्कष के सम्बन्ध में एक पूवपक्ष उपस्थित किया जा सकता है। पूव के होतृप्रकरण ब्राह्मण में (१।४।२) वरणाथक मन्त्रा की व्याख्या करते हुये श्रुति ने देवाह्वानकर्म्म का क्रमिक विश्लेषण किया है। वहां आह्वान का जो क्रम बतलाया गया है उसम प्रयाजदेवताओं का अन्तिम स्थान पड़ता है जैसाकि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

"आवह देवान् यजमानायेति, तदस्मै यज्ञाय देवानावोढवाऽआह। अग्निमग्नऽआवहेति, तदाग्नेयाज्यभागायाग्निमावोढवाऽआह। सोममावहेति, तत् सौम्यायाज्यभागाय सोममावोढवाऽआह। अग्निमावहेति, तद्यऽएषऽउभयत्राच्युतऽआग्नेय पुराडाशो भवति, तस्माऽअग्निमावोढवाऽआह। अथ यथादेवतम्। देवाँ २॥ ऽआज्यपा २॥ आवहेति, तत् प्रयाजानुयाजानावोढवाऽआह। प्रयाजुनायाजा वै देवाऽआज्यपा"—

—शत १।४।२।१६ १७,।

(उक्त देवता-आवाहनश्रुति से स्पष्ट है कि आज्यपा प्रयाज देवताओं का आवाहन सब के अन्त म विहित है। श्रौत पद्धति मे यह भी नियम विहित है कि जिस देवता का जिस क्रम से आवाहन विहित है उसी क्रम से तद्देवता का यजन विहित है। सर्वत्र देवावाहन क्रम से ही देवयाग विहित है। देखते है प्रकृत प्रयाज कर्म्म में इस समान पद्धति-नियम का इसलिए उल्लघन हुआ है कि प्रयाजों का आवाहन तो विहित है सब के अन्त में कि तु यजन हुआ है सब से पहिले। प्रयाजयाग के सम्बन्ध म यह व्यक्तिक्रम क्यों ? क्यों नहीं इनका भी यजन नियमानुसार आवाहन क्रम से अन्त में ही किया जाता ? इसी पूर्वपक्ष का अपने शब्दों में निरूपण करती हुई आगे जाकर उत्थित पूर्वपक्ष का समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—

प्रयाजयाग के विहित आवाहनक्रम से विपरीत ह ने वाले प्रथम यजन कर्म्म के सम्बन्ध में (वैज्ञानिक) कहते हैं (यह पूवपक्ष उठाते हैं विप्रतिपत्ति उपस्थित करते हैं- तदाहु कि) जब कि प्रयाजों को-(हविर्विभाग ानुसार विहित नियम के आधार पर) उत्तम रूप से (अन्त में देव-देवता) आहूत करते हैं (आवाहन जब कि इनका सर्वान्त में होता है) तो ऐसी स्थिति में (आवाहन क्रम से विपरीत) किस कारण (क्यों) इनका प्रथम रूप से (देवदेवता) यजन करते हैं (यजन सर्वप्रथम क्यों किया जाता है ?) । (उत्तर स्पष्ट है-अपने प्राकृतिक सम्वत्सर) यज्ञ में (प्राणविध) देवदेवताओं नें इन (प्रयाजों) को उत्तमरूप से ही (अन्तिमरूप से ही यद्यपि) स्थापित किया (था), (तथापि उसी समय उन) देवदेवताओं नें (अग्निदेव के द्वारा इनके लिए यह भी निश्चय कर दिया था कि) हम तुम्हारा यजन तुम्हें प्रथम मान कर ही करेंगे। (इस विशेष विधान के आधार पर ही सामान्य विधान की उपेक्षा करते हुये देवदेवताओं नें आवाहन किया इनका यद्यपि अन्त में ही परन्तु यजन किया सर्वप्रथम। प्राकृतिक यज्ञ में प्रयाज-कल्पना अन्तिम

है यजन प्रथम है । उसी प्राकृतिक यज्ञविद्या पर प्रस्तुत वैध मानुष यज्ञ का वितान हुआ है । अत यहां भी उसी प्राकृतिक नियम का अनुगमन करना आवश्यक हो जाता है) अतएव (प्राकृतिक नियमानुरोधेनैव) ऋत्विक लोग (अपने इस इष्टिकर्म्म में भी इन प्रयाजों का उत्तमरूप से तो आवाहन करते है एवं प्रथमरूप से यजन करते है ॥६॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

(प्रयाजयाग के सम्बन्ध में एक विषय और विजिज्ञास्य रह जाता है । समित् तनूनपात् इट बर्हि स्वाहा ये पाच याहुतियाँ नाम क्रमश वसन्त ग्रीष्म वर्षा शरत् हेमन्त इन पाँच ऋतुओं से सम्बन्ध रखतीं हैं । सम्वत्सरयज्ञ की पवरूपा वसन्तादि पाचों ऋतुओं का सम्वत्सराग्नि से सम्बन्ध है जैसाकि ब्राह्मणारम्भ की ८ कण्डिकाओं से स्पष्ट कर दिया गया है । इसी आधार पर यह मान लेना अविप्रतिपन्न बन जाता है कि ऋतुओं का यजन अग्निपूर्वक ही होता है । परन्तु स्वाहालक्षण पञ्चम प्रयाजयाग के सम्बन्ध में एक नवीन विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है । आरम्भ के चार प्रयाजों में जहां ऋतुलक्षण प्रयाजों के साथ समिद्धा अग्न आज्यस्य व्यन्तु - तनूनपादग्न आजस्य वेतु - इडो अग्न आज्यस्य व्यन्तु बर्हिरग्न आजस्य वेतु - इस रूप से केवल अग्नि का सम्बन्ध बिहित है वैसे पाचवें हेमन्तऋतुलक्षण स्वाहायाग में केवल अग्नि का ही सम्बन्ध विहित नहीं है । अपितु पूर्वप्रयाजचतुष्टयी की भाति अग्नि के सम्बन्ध के अतिरिक्त-इस प्रयाजयाग में-आज्यभाग प्रधान स्विष्टकृत् इन तीन अग्नियागों का सम्बन्ध और किया जाता है। दूसरे शब्दों में आज्यभाग ग्राहक अग्नि प्रधानभाग ग्राहक अग्नि स्विष्टकृद्भागग्राहक अग्नि इन तीन अग्नियों का आदि मध्य अवसान में यजन और किया जाता है। यदि सामान्य सम्वत्सराग्निवत् इस विशेषाग्नित्रयी का भी ऋतुओं के साथ सम्बन्ध है तब तो ऋतुलक्षण पाँचों ही प्रयाजों में-प्रत्येक में-इन तीनों विशेषाग्नियागों का अनुष्ठान होना चाहिये। यदि ऋतुओं के साथ सम्बन्ध नहीं है तो किसी भी प्रयाजकर्म्म में इनका यजन नहीं होना चाहिये । स्थिति यह है कि आरम्भ के चार प्रयाजों में तो केवल सामान्य अग्नि का ही यजन किया जाता है । किन्तु पञ्चम प्रयाज में सामान्य अग्नियजन के अतिरिक्त विशेषाग्नित्रयी का यजन और किया जाता है जबकि ऋतुसामान्यत्त्वेन पञ्चम प्रयाज में इनका यजन विप्रतिपन्न बना हुआ है । स्वाहालक्षण हेमन्त प्रयाजयाग से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र में प्रयाज तथा सामान्य अग्नि दोनों के यजन के अतिरिक्त तीन विशेषाग्नियों के यजन का भी समावेश हुआ है । मन्त्रभाग निम्न लिखित है—

"स्वाहाग्निं, स्वाहा सोम, स्वाहाग्निं, स्वाहा देवाँ आज्यपान्,
स्वाहाग्निं होत्रा जुषाण, अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्"
—शत० १।५।४।२२, ३।

उक्त याज्यामन्त्र के पाँच विभाग स्पष्ट हैं । (१) स्वाहाग्नि स्वाहा सोमम् यह एक विभाग है । इससे आग्नेय आज्यभाग तथासौम्य आज्यभाग इन दो आज्यभागों का सम्बन्ध है । सोम

गर्भित अग्नि ही आज्यभागदेवता है । इसी का प्रथम यजन होता है। (२) स्वाहाग्निम्-यह द्वितीय विभाग है। उभयत्राच्युत आग्नेय पुरोडाशानुगत प्रधान देवता ही इस विभाग से गृहीत है यही दूसरा प्रधानयाग है। (३) स्वाहा देवा आज्यपान् यह तीसरा विभाग है। आज्यपा स्वाहा लक्षण प्रयाज (हेमन्त) देवता के लिए ही यह तृतीय विभाग नियत है। (४) स्वाहाग्निं होत्रा जुषाण यह चौथा विभाग है। स्विष्टकृदग्नि का ही इससे यजन होता है। (५) अग्न आजस्य य तु वाषट् यह पाँचवा विभाग है । पूर्व ऋतु सामान्य सम्वत्सराग्नि का ही इससे यजन होता है। आज्यभागयागानुगत विशेष आग्नि आदि में विहित है प्रधानभागयागानुगत विशेष अग्नि (उभयत्राच्युत अग्नि) मध्य में विहित है स्विष्टकृद्यागानुगत विशेष अग्नि अन्त में विहित है। इस प्रकार स्वाहात्मक पञ्चम प्रयाजयाग के आदि-मध्य अवसान में क्रमश आज्यभागयाग प्रधान याग स्विष्टकृद्याग ये तीन विशेषाग्नियाग पूर्व के चार प्रयाजापेक्षया विशेषरूपेण विहित है। इनकी इसी पूर्वोपात्त वैतानिक आख्यान के द्वारा उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है)—

(अपने प्राकृतिक इष्टिकर्म्म में होने वाले पञ्च प्रयाजयाग के) चौथे (शरदृतुरूप बर्हि-र्नामक) प्रयाज से देवदेवताओं ने निश्चय से यज्ञ (यज्ञातिशयरूपा यज्ञसम्पत्) प्राप्त कर लिया-(एव चौथे प्रयाज से प्राप्त) उस (यज्ञ) को पाचवे (हेमन्त ऋतुरूप स्वाहात्मक) प्रयाज से प्रतिष्ठित-पूर्ण कर लिया। (इस प्रयाजकर्म्म के) अनन्तर होने वाला आज्यभागादिरूप जो यज्ञ का शेष (इतिकर्त्तव्यता) बच रहा उस (के अनुष्ठान) से देवदेवता स्वर्गलोक को प्राप्त हो गये ॥१ ॥

प्रयाजकर्म्मातिरिक्त आज्यभागादि लक्षण शेष यज्ञानुष्ठान के बल से स्वर्गलोक (की ओर) जाते हुए देवदेवतालोग (अन्तरिक्ष में अमूल उभयत परिच्छिन्न रूप से विचरने वाले आप्य-प्राणात्मक, यज्ञविरोधी) असुर राक्षसों के निरोध (सकल्प) से डर गए (उन्हें भय हुआ कि ये दुष्ट कहीं हमारे स्वर्गगमन में बाधा न खड़ी करदें। इस भय से त्राण पाने के लिए) उन देव-देवताओं ने असुर राक्षसों को मारने वाले एव मार भगाने वाले अग्नि को (ही स्वर्गप्राप्तिसाधक आज्यभागातिशय के) पूर्व में (पहिले) प्रतिष्ठित किया उसी को मध्य में उसीको अन्त में प्रतिष्ठित कर दिया। (अर्थात् आन्तरिक्ष्य असुराक्रमण से अपने स्वर्गसाधक यज्ञातिशय को निर्विघ्न स्वर्गप्राप्ति का हेतु बनाने के लिए उन्होंने यज्ञातिशय के आदि-मध्य-अवसान तीनों स्थानों में आप्यप्राणोच्छेदक आग्नेयप्राण प्रतिष्ठित कर दिया) ॥११॥

(देवदेवताओं के द्वारा त्रिः स्थानों में नियुक्त अग्नि के प्रभाव से इन का स्वर्गगमन निर्विघ्न पूर्ण होगया। क्यों कि) यदि इन देवदेवताओं का उन असुर राक्षसों नें पूर्व की ओर से निरोध करना चाहा विघ्न डालना चाहा तो तत्रस्थ अग्नि नें तत्रस्थ असुरों को मार भगाया। यदि मध्य की ओर से निरोध करना चाहा तो तत्रस्थ अग्निने तत्रस्थ असुरों को मार भगाया। यदि पीछे की ओर से निरोध करना चाहा तो तत्रस्थ अग्नि ने तत्रस्थ असुरों को मार भगाया। (इस प्रकार तीन स्थानों में रक्षक रूप से नियुक्त तीनों) अग्नियों से सर्वात्मना सुरक्षित रहते हुए देवदेवताओं नें निर्विघ्न स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया ॥१२॥

(प्राकृतिक यज्ञ में पृथिवी से द्यु लोक की ओर जाते हुए पार्थिव प्राणदेवताओं के प्रयाजातिशय पर आन्तरिक्ष्य असुरों का आक्रमण होता रहता है । परन्तु त्रि स्थान स्थित अग्नेयप्राण के सम्बन्ध से उन का वह आक्रमण व्यर्थ सिद्ध होजाता है । इसी प्राकृतिक यज्ञविधा के आधार पर भौमदेवताओंने अपने वधयज्ञ के पञ्चप्रयाजकर्म्म में-पाचवे प्रयाज मे-उसी प्राकृतिक आग्नत्रयी सम्पत्-की प्राप्ति के लिए तीन विशेषाग्निकर्मों का समावेश किया था तदद्वारा अपने देवात्मरूप से वे निरापद स्वर्ग पहुचन म समथ हुए थे । उसी भौमदेवानुगता यज्ञविधा के आधारपर इस यजमान का यह वैध इष्टिकर्म्म विहित हुआ है । इसे भी अपने देवात्माकर्षणद्वारा स्वर्ग म जाना है । जाते समय आन्तरिक्ष्य असुरराक्षसों का आक्रमण जहा अनिवार्य्य है वहीं इस आक्रमण को रोकना भी आवश्यक है । उसी आक्रमण-निरोध के लिए निरापद स्वर्गावाप्ति के लिए भौमदेवानुगत यज्ञवत् अपने इस यज्ञ में भी पॉचवे प्रयाज कर्म्म के-आदि-मध्य-अवसान में विशेषाग्नित्रयी का यजन करता है । इस यजन से रक्षक अग्नित्रयी का अनुग्रह प्राप्त होजाता है । फलस्वरूप यह भी देववत् निरापदरूप से स्वर्गफलभोक्ता बन जाता है । पाचवें प्रयाज के आदि-मध्य-अवसान-मे अग्नित्रयी का यजन क्यों किया जाता है ? विप्रतिपत्ति का यही समाधान है जिस का श्रुति के अक्षरों मे यों विश्लेषण हुआ है)—

(जिसप्रकार प्राकृतिक नित्य यज्ञ में अग्नित्रयी का सहयोग होरहा है तदनु जिसप्रकार भौम मनुष्य देवताओ ने अपने चतुथ प्रयाज समाप्त्यनन्तर पाचवे प्रयाज के आदि मध्य अवसान में अग्नित्रयी का यजन किया था तत्द्वारा निरापद रूप से स्वर्ग प्राप्त किया था) ठीक इसी प्रकार (तथोऽएव) यह यजमान भी अपने इस चौथे प्रयाज से (तो स्वर्गसाधक) यज्ञ प्राप्त करता है उसे पॉचवें प्रयाज से प्रतिष्ठित करता है इस के अनन्तर जो आज्यभागादिरूप यज्ञ का शेष बच रहता है उस से स्वर्गलोक ही प्राप्त करता है ॥१३॥

सो जो कि (पञ्चम प्रयाज के आदि मे- स्वाहाग्नि -रूप से यजमान केप्रतिनिधिरूप) अध्वर्य्यु आग्नेय-आज्यभाग का यजन करता है (इस से अपने स्वर्ग जाते हुए यज्ञातिशय के) पूर्वभाग की ओर से राक्षसों के मारने वाले मार भगाने वाले अग्नि को ही (नियुक्त) करता है। (अग्नेय-आज्यभाग के) अनन्तर (इसी पञ्चम प्रयाज कर्म्म के मध्य में) जो (उभयत्राच्युत प्रधान अग्नि के लिए) जो आग्नेय पुरोडाश (का भागहर) बन जाता है (उस का स्वाहाग्निम् रूप से यजन करता है) । इस कर्म्म से (इस यज्ञातिशय के) मध्यभाग को ओर से ही अग्नि को नियत करता है । (मध्यम अग्नि यजन के) अनन्तर जो कि अध्वर्य्यु (प्रयाजान्त में— स्वाहाग्निं होत्रा जुषाण इत्यादि रूप से) स्विष्टकृत् अग्नि का यजन (स्विष्टकृद्भाग) करता है इस कर्म्म से (इस यज्ञातिशय के) पश्चिम भाग की ओर से ही अग्नि को नियुक्त करता है (जो कि) अग्नि रक्षोहणः —(राक्षसों को निर्जीव बनाने वाला मारने वाला) एव रक्षसामपहन्ता (राक्षसों का मार भगाने वाला यज्ञमण्डलसीमा से बहिष्कृत करने वाला) है ॥१४॥

(प्रयाजकर्म्म से स्वर्गलोक की ओर जाते हुए) इस यजमान के (स्वर्गसाधक) यज्ञातिशय के पूर्वभाग से यदि असुर राक्षसों को मार भगाते हैं । यदि मध्य भाग से आक्रमण करते है

तत्रस्थ अग्नि तत्रस्था को मार भगाते है। यदि पश्चिमभाग से आक्रमण करते हैं तो तत्रस्थ अग्नि तत्रस्थो को मार भगाते है। इस प्रकार वह (यज्ञातिशयरूप-स्वर्गसाधक) दैवात्मा तीनों अग्नियों से सुरक्षित निरापद बनता हुआ स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है (प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है) ॥१५॥

इति—प्रयाजानामिष्टौ प्राथम्यम्

——— ६ ———

७—अभिचार (कृत्याप्रयोग)

(प्रयाज कर्म्म के द्वारा यज्ञातिशय उत्पन्न भी आज ही हो जायगा वह सप्तदश स्वर्गस्थान में भी आज ही प्रतिष्ठित हो जायगा। परन्तु यज्ञकर्त्ता यजमान का वह मानुषात्मा-भूतात्मा जो स्वर्गगत यज्ञातिशयरूप दैवात्माकर्षण से आकर्षित है-अपने ऐहलौकिक प्रारब्धकर्म्मक्षयानन्तर (जिस प्रारब्ध कर्म्म से इसे वर्त्तमान शरीर मिला है) ही (मृत्यु के अनन्तर ही) दैवात्माकर्षण के द्वारा स्वर्गफल का भोक्ता बनेगा स्वर्ग पहुचेगा। इसीलिए तो स्वर्गफल आमुष्मिक (पारलौकिक) माना गया है अतएव तो यह अदृष्टफल (परोक्षफल) कहलाया है। त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण से पहिले प्रतिपादित स्रुग्ब्राह्मण के आश्रावण-प्रत्याश्रावण कर्म्म विज्ञान में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मानवीय मन परोक्षफलापेक्षया ऐहिक प्रत्यक्ष फलों की ओर विशेषरूप से आकर्षित रहता है (देखिए-पृ स १२५ वृष्टिविज्ञान प्रकरण)। अवश्य ही प्रकृत अग्नित्रय-यजन का भी परोक्ष-स्वर्गफलातिरिक्त कोई प्रत्यक्ष भी फल होना चाहिए। उस प्रत्यक्ष फल को तात्कालिक कालान्तरभावी भेद से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। भोजन किया और तृप्ति हो गई यह ऐहलौकिक तात्कालिक फल माना जायगा। भोजन किया भुक्त द्रव्य क्रमश रस असृक्-मांस-मेद-अस्थि मज्जा शुक्र-ओज मनोरूप में परिणत हुआ यही ऐहलौकिक कालान्तरभावी फल माना जायगा। ब्राह्मण की प्रकृत १६ १७ १८ इन तीन कण्डिकाओं में तो तात्कालिक फल का विश्लेषण हुआ है जिसे कृत्यासम्बन्ध से अभिचारात्मक फल मानते हुए तात्त्विक कालान्तर भावी फल से हमने प्रथक् कर दिया है वही अभिचार नामक ७ वाँ प्रकरण है। एवं १९ वीं कण्डिका में कालान्तरभावी अतएव स्थिर धर्म्मात्मक ऐहलौकिक फल का विश्लेषण हुआ है। अतएव तत्कण्डिकात्मक प्रकरण फलश्रुति नामक ८ वा प्रकरण मान लिया है। इन दोनों ऐहलौकिक फलों में से सूचीकटाहन्यायेन पहिले अभिचारात्मक तात्कालिक-प्रथम ऐहलौकिक फल का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)—

(जिस समय आज्यभागानुगत प्रथम अग्नि का यजन हो रहा हो और उस समय यदि कोई यजमान का शत्रु यजमान के प्रति निन्दाभाव प्रकट करे अथवा तो कुछ निन्द्य वचन बोल पड़े इसके अतिरिक्त यजमान का अपने किसी शत्रु के द्वारा पहिले से कहे गये निन्दावचनों

का प्रतिशोध लेना हो तो उसे चाहिए कि वह उस शत्रु को लक्ष्य बना कर उसक नामग्रहण पूवक— मुर्त्यामार्त्तिमारिष्यसि —अ धो वा बधिरो वा भविष्यसि —हे शत्रु तू मुख्य पीड़ा प्राप्त करेगा या तो अ धा हो जायगा या बहिरा हो जायगा यह बचन बोलदे। इसी प्रकार दूसरे तीसरे अग्नियजन में भी यह अभिचारवाक्य द्वारा अपने शत्रु का अनिष्ट कर सकता है। इन्हीं तीनों अभिचारों का अपने शब्दों में दिगदशन कराती हुई श्रुति कहती है)

(इस प्रयाजकम्म म) यदि इस (यजमान) के प्रति वह (यजमानशत्रु अथवा और कोई-ईर्ष्यालु-निन्दक) यज्ञारम्भ में (आज्यभागानुगत प्रथमाग्नियाग काल में निन्दावचन का प्रयोग करे तो (यजमान) उस (निन्दक) के प्रति (यह) बोले कि तू मुख्य पीड़ा प्राप्त करेगा अ धा हो जायगा अथवा तो बहिरा बन जायगा। वास्तव में (शारीरिक कष्टों म) ये ही (दोनों) मुख्य पीडा हैं। (यजमान के उक्त कथन मात्र से) वैसा ही अवश्य हो जायगा शत्रु अ धा हो जायगा अथवा बहिरा हो जायगा यही प्रथम अभिचारात्मक तात्कालिक फल है) ॥१६॥

यदि इसके प्रति वह यज्ञमध्य में (उभयत्राच्युत द्वितीयाग्नियागकाल म) अनुचित कहे तो (यजमान) उसक प्रति (यह) बोले कि तू प्रजाशून्य पशुशून्य हो जायगा। प्रजाएँ और पशु निश्चयरूप से मध्य (रूप) हैं। (यजमान के उक्त कथन से) वैसा ही निश्चयेन हो जायगा (निन्दक की प्रजा पशुसम्पत्ति नष्ट हो जायगी। यही द्वितीय अभिचारात्मक तात्कालिक फल है) ॥१७॥

यदि इसके प्रति वह यज्ञान्त में (स्विष्टकृत अग्निरूप तृतीयाग्नियाग काल में) अनुचित कहे तो (यजमान) उसके प्रति (यह) बोले कि तू प्रतिष्ठा रहित एव निर्धन बनता हुआ शीघ्र ही उस (यम) लोक को प्राप्त होगा (मर जायगा)। (यजमान के ऐसा कहने से) वह (निन्दक) वैसा ही अवश्य हो जायगा (अपयशपूर्वक दरिद्री बनता हुआ शीघ्र मर जायगा। यही तृतीय अभिचारात्मक तात्कालिक फल माना जायगा। इस प्रकार आज्यभागयाग प्रधानयाग स्विष्टकृद्याग तीनों से सम्ब ध रखने वाले प्रथम-मध्यम-अन्तिम-अग्नियों के यजन से शत्रुविनाशक दृष्ट-प्रत्यक्ष-तात्कालिक-ऐहलौकिक फल भी प्राप्त किया जा सकता है। श्रुति ने तात्कालिक फल तो बतला दिया। परन्तु वह यह नहीं चाहती कि यज्ञरहस्य को न जानकर ऐसी भूलें करने वाले अज्ञ जन भी यों अपना नाश करालें। उनके अभ्युदय को लक्ष्य में रखते हुए उनको सावधान करती हुई श्रुति कहती है कि उन यज्ञरहस्यानभिज्ञों को यह जान लेना चाहिए कि यज्ञ कोई सामान्य लौकिक कम्म नहीं है। अपितु यह प्राकृतिक समिद्ध उस प्राणाग्नि को अपनी प्रतिष्ठा बनाता है जिसके प्रति साथ ही इस यज्ञाग्नियुक्त यजमान के प्रति जान-अनजान में थोड़ी भी उपेक्षा निन्दा उपहास करने से सवनाश निश्चित है।) अतएव उन निन्दकों को चाहिए कि वे भूल कर भी (हास परिहास में भी यज्ञ तथा यज्ञानुष्ठानकर्त्ता) यजमान के प्रति अनुव्याहारी (अनुचित बोलने वाले) न बनें— नानुव्याहारीव स्यात्'।

(अभिचार कर्म्म कोई उत्तम कर्म्म नही है । लोकसंग्रहात्मक सर्व-अभ्युदयकारक अतएव श्रेष्ठतम यज्ञ जैसे सात्त्विक कर्म्म मे अपने व्यक्तिगत द्वेष के बदले की भावना रखना भी यज्ञ-स्वरूप मे तमोगुण का आधान करना है । अतएव उत्तम पक्ष तो यही है कि यज्ञकर्त्ता भी ऐसे अभिचार का अनुगमन न करे । रही बात-इष्टफल की । इस सम्बन्ध में यही उत्तर पर्याप्त होगा कि यज्ञकर्त्ता सामान्य मनुष्य मनुष्य नहीं है अपितु प्रकृति की साक्षात् प्रतिमा है । जिस प्रकार प्रकृति से विरुद्ध जाने वाला अपने ही दोष से दण्डित हो जाता है तथव यजमान से शत्रुता रखने वाले भी स्वत एव प्रकृतिद्वारा ही दण्डित हो जाते हैं । समयातिक्रम अवश्य हो सकता है । पर तु दण्ड अवश्य मिल जाता है । दण्डव्यवस्था की अनिवार्य्यता तो ऐसी है कि जो यजमान नहीं है अपितु केवल इस रहस्य को जानता भर है यदि उस केवल एववित् के प्रति भी कोई शत्रुता रखता है तो वे भी नष्ट हो जाते है । एववित् भी उस फल को प्राप्त कर लेता है । फिर यजमान को तो कोई आशङ्का रहनी ही नहीं चाहिए । फलत उसे यह भार प्रकृति पर ही छोड देना चाहिए । यज्ञनिन्दकों के-तस्मादु ह नानुव्याहारीव स्यात् इस सामयिक आदेश-चेतावनी के साथ साथ यज्ञकर्त्ताओं क प्रति भी उन्हे सात्त्विक भावारूढ बने रहने के लिए अभिचारकर्म्मप्रवृत्ति से बचते रहने के लिए सङ्केत करता हुई श्रुति कहती है कि)—(यज्ञकर्त्ता ही क्या) इस रहस्य को जानने वाला भी पर (उत्कृष्ट शत्रुपराभवकर्त्ता) बन जाता है (अत जबकि केवल जानने वाले क शत्रु भी नष्ट हो जाते है तो यजमान के साथ कौन शत्रुता कर सकता है । यदि कोई करेगा भी तो प्रकृति स्वय उसे दण्ड दे देगी) उत ह्येववित् परो भवति ।

अथवा उक्त वाक्य का यह भी अथ किया जा सकता है कि जिस प्रकार यज्ञकर्त्ता के शत्रु यज्ञकर्त्ता के अभिचार प्रयोग से नष्ट हो जाते है एवमेव इस अग्निरहस्यात्मक प्रयाजकर्म्म को जानन वाले विद्वाना के भी शत्रु नष्ट हो जाते है । दोनों में पूर्वार्थ ही समीचीन प्रतीत होता है ॥१८॥

इति—अभिचार

—————o—————

८—फलश्रुति

(बतलाया गया है कि, तात्कालिक इष्ट फल के अतिरिक्त कालान्तरभावी इष्ट फल भी यज्ञ से सम्भव है । दोनों ऐहिक फलों के सम्बन्ध में यह भी जान लेना चाहिए कि तात्कालिक फल जहाँ यजमानप्रयत्न-सापेक्ष है वहाँ कालान्तरभावी फल आमुष्मिक स्वर्गफल की भाति स्वत एव प्राप्त हो जाता है । अतएव इस फल का तात्कालिक फलापेक्षया विशेष महत्त्व माना जायगा । अतएवच ऐसा ही फल फलश्रुति' रूप से सग्राह्य माना जा सकेगा । इसी स्वाभाविक प्राकृतिक स्वत प्राप्त इष्ट फल का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)—

(वसन्त-ग्रीष्मर्त्तु-सग्राहक समित्-तनूनपात् आदि पाच) प्रयाजयागों से (ऋतुमण्डल म प्रविष्ट असुरों को) जीतता हुआ यजमान (परम्परया ऋतुसम्बन्ध से) निश्चयन (ऋतुसमष्टिरूप) सम्वत्सर को ही जीतता (अधिकार प्रतिष्ठित करता) है। (यह भी निश्चित है कि) वही (विजेता) इस सम्वत्सर का जय करता है (जीतता है) जो सम्वत्सर (रूप दुग) के द्वारा को जानता है। (अर्थात द्वार परिज्ञान पूवक ही दुगप्रवेश द्वारा जयलाभ सम्भव है)। वह (जयेच्छु) उन घरों से-दुर्गों-से क्या लाभ उठा सकेगा (जिसके अन्तर्द्वारा को वह उस रूप से भलीभाँति न जान लेगा जैसे कि वे इसक उपयाग मे आते हैं। (ठीक इसी प्रकार जिन प्रयाजों के द्वारभूत प्रथम-अन्तिम प्रयाजों के तात्त्विकरूप को जो नहीं जानता वे प्रयाज जिस प्रकार के वे इस यजमान के उपकारक होते है उनके तात्त्विक प्रकारों को प्रधान द्वारभूत प्रयाजों को नहीं जानता वह क्या फल प्राप्त कर सकता है-कुछ नहीं। (अतएव सम्वत्सर दुर्ग द्वारका परिज्ञान आवश्यक है)। (सम्वत्सर दुग का) वसन्त ही (प्रवेश द्वार है हेमन्त हो (निर्गमन) द्वार है। (दोनों के स्वरूपज्ञान पूर्वक प्रयाजयजन करने वाला) यजमान स द्वारयुक्त सम्वत्सररूप स्वर्गलोक को प्राप्त हो जाता है। सम्वत्सर सवरूप है। सवभाव ही अक्षय्यभाव है। प्रयाज-यजन कर्त्ता का सुकृत (कम्म) अक्षय्य होता है लोक भी अक्षय्य होता है। (तात्पर्य्य कहने का यही है कि सम्वत्सर सम्पत्तिसग्राहक प्रयाजकर्म्म से स्थायी सम्पत् प्राप्त होती है वह लोकप्रतिष्ठा से युक्त हो जाता है और यही प्रयाजकम्म का कालान्तरभावी प्राकृतिक स्थायी फल है)॥ १६ ॥

इति-फलश्रुति



६-परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्श

(प्रयाजकर्म्म को यज्ञपूर्णताप्रवर्त्तक एव तद्द्वारा यजमानात्मा का स्वर्गप्रापक बतलाया गया है। प्रश्न स्वाभाविक है कि प्रयाजकम्म में ऐसी क्या विशेषता है जिससे क्रत्वर्थस्थानीय भी प्रयाज जैसा अङ्गकम्म पुरुषार्थकम्मवत् स्वर्गप्राप्ति का कारण बन जाता है?। प्रयाजकर्म्म में जो आज्याहुति विहित है प्रत्यक्ष म उस आज्य में भी हम ऐसा कोई अतिशय उपलब्ध नहीं कर रहे जो स्वर्गप्रापक बन जाय। इसी प्रश्न का यों भी उत्थान किया जा सकता है कि सर्वत्र सभी कर्म्मों म आहुतिद्रव्य ही स्व स्व देवप्राणानुसार तत्तत् विशेष यज्ञातिशयों का जनक बनता है। जिस देवप्राण से आहुतिद्रव्य युक्त रहता है आहवनीयाग्नि म हुत तद्देवप्राणमयी आहुति तद्देवप्राणातिशय यज्ञ में प्रतिष्ठित करने का कारण बनती है। क्या प्रयाजकर्म्म के लिए नियत आज्याहुति का कोई वह विशिष्ट देवता है जो स्वर्गप्राप्ति का निमित्त बन सकता है?। प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया जायगा। वास्तव में केवल आज्यदेवता ही प्रयाज जैसे अङ्ग कर्म्म को भी स्वर्गप्रापक बनाने में समर्थ हो रहा है। उस आज्यदेवता का स्वरूप क्या है? जिसके द्वारा-प्रयाजकर्म्म स्वर्गप्रापक बन रहा है? यही प्रश्न की अन्य उत्थानिका है जिसका निम्नलिखित रूप से विश्लेषण हुआ है)।

(प्रयाजकर्म्म में सगृहीत) आ-याहुति के सम्ब-ध म वैज्ञानिक लोग प्रश्न उपस्थित करते हैं—(तदाहु) कि—य (प्रयाजार्थ जूहू उपभृत् में गृहीत) आज्य किंदेव-य है ? (इनका कौनसा देवता है ?)—(प्रश्न हुआ ही क्या जबकि ऋतुदेवता पहिले से ही स्पष्ट किए जा चुके हैं यह प्रासङ्गिक प्रतिप्रश्न-प्रश्न पर प्रश्न और उपस्थित होता है । इस प्रतिप्रश्न का उत्तर वही होता है जो श्रुति को अभीष्ट है । यह ठीक है कि आ-याहुति होती है ऋतुदेवताओं के लिए ही । अतएव यह समझना भी अनुचित नहीं है कि आज्य के देवता ऋतुदेवता हैं । परन्तु यह समझना केवल समझना ही है । आ-यग्रहणपद्धति में किसी भी देवता क नाम का उ-लेख नहीं हुआ है । नामोल्लेख सम्भव भी कैसे हो जबकि प्रयाजकर्म्म का उद्देश्य ऋतुद्वारा सम्वत्सर प्रजापति से सम्ब ध रखने वाली सम्वत्सरात्मिका स्वगसम्पत् है । यदि ऋतुओं का नाम लिया जाता है तो समष्ट्यात्मक सम्व-सर का ग्रहण नहीं होता । यदि सम्व-सर का नाम ले दिया जाता है तो ऋतुओं का यष्टिरूप से यजन नहीं होता । अपेक्षित यह है कि—आज्यद्वारा ऋतुओं का भी यजन हो जाय साथ ही इसी कर्म्म से ऋतुसमष्टिरूपा सम्व सरसम्पत्ति भी प्राप्त हो जाय । इसका उपाय है-आज्य का ग्रहण हो-उपांशुरूप से बिना किसी देवता का नाम लिए एव आज्या हुति हो ऋतुनामपूर्वक । उपांशुग्रहण से आ-यद्वारा प्राजाप-यसम्पत्ति इसीलिए मिल जायगी कि सम्वत्सरमण्डलके-द्र मे प्रतिष्ठित प्रजापति अनिरुक्त है । अनिरुक्तभाव ही उपांशुभाव है । इस उपांशुभावद्वारा तत्समतुलित अनिरुक्ता प्राजाप-यसम्पत् प्राप्त हो जाती है यजनकर्म्मानुगत या-यामन्त्रों मे- समिद्धो अग्न आ-यस्य -यन्तु इ-यादि रूप से ऋतुनामोच्चारणपूर्वक आहुति देने से उद्देश्यभूत ऋतुओं का यजन सफल हो जाता है । -सीलिए आज्यग्रहण उपांशु रूप से * एव आज्याहुति नामग्रहपूर्विका ही विहित हुई हैं । बिना नाम ग्रहण के चुपचाप जुहूपभृत्त में आज्यग्रहण करना ही इस प्रश्न का भी समर्थक बन रहा है कि आ-य का देवता कौन है ? किस देवता के उद्देश्य से आ-यग्रहण हुआ है ?—साथ ही यही नामग्रहणाभावात्मक तूष्णींभाव-अनिरुक्तभाव-इस प्रश्न का उत्तर भी दे रहा है कि यह आज्य प्रजापतिदेवताक है । इसी स्थिति का सकेतविधा से स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कह रही है)—(ये आज्य) प्राजापत्य हैं यही कहना चाहिए । अर्थात् आज्य किंदेवत्य है ? प्रश्न का प्राजापत्य है यही उत्तर हो सकता है) । क्योंकि प्रजापति निश्चयेन अनिरुक्त है । उधर आ-य भी (तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति रूप से) अनिरुक्त ही हैं—"अनिरुक्तो हि प्रजापति अनिरुक्तान्याज्यानि ।

(आज्य प्राजापत्य है एतावता ही ये-इनकी आहुति-यजमान के स्वर्गप्राप्ति के साधक कैसे बन गए ? यह प्रश्न उपस्थित होता है । इसी का समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—(अपने अनिरुक्तभाव से प्राजापत्य बने हुए) वे ये आज्य यजमानदेवत्य ही हैं । (अर्थात् यज्ञकर्ता यजमान भी 'प्रजापति सम्ब-ध से इन आज्यों का देवता बन जाता है । क्योंकि जैसे सम्वत्सरयज्ञमण्डल का अधिष्ठता नभ्यभाव (हृदयतत्त्व-सम्वत्ससरमण्डलापेक्षया प्रजापति है । एवमेव) यह यजमान

*—'अथ यान्याज्यानि गृह्णन्ते ऋतुभ्यश्चैव तानि छन्दोभ्यश्च गृह्य-ते तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति (शत २ प्र । ५ ब्रा । ७ कण्डिका) ।

भी निश्चयेन अपने इस यज्ञ में (स्वयज्ञापेक्षया उसका प्रवर्त्तक बनने से) प्रजापति है। (जिस प्रकार सम्व सर प्रजापति की हृद्यकामना से अग्नि वाय्वाद्यादि ऋत्विक् प्राकृतिक नि य यज्ञ का वितान करते है एवमेव इस यज्ञ में भी इस यजमान से उक्त (प्रेरित) होकर ही होता अध्वयु आदि ऋत्विक्-(ग्रह-शस्त्र-स्तोत्रादि स्वकर्म्मा क द्वारा) यज्ञ वितत करते है (इस वितान से यजमान के) उस (दैवात्मा) को उपन्न करते हैं । (इसप्रकार जिन प्रेरणाओं धर्म्मों से वह अपने यज्ञ म प्रजाति बन रहा है सब प्रेरणा धर्म्मों का प्रवतक बनता हुआ यजमान भी अपने यज्ञ में अवश्य ही प्रजापति माना जा सकता है। एव इसीलिए प्राजाप य आ यों को यजमानदेव य माना जा सकता है) ॥२ ॥

(प्रजाप व आ य क्या यजमान के स्वगगमन का कारण बन जाता है ? प्रश्न का परोक्षरूप से यद्यपि पूर्वकण्डिका से समाधान हो जाता है। तथापि जैसा चाहिए वैसा स्पष्टीकरण अभी नहीं हुआ। इसी यत् किञ्चित्-अस्वारस्य का स्पष्टीकरण करती हुई पद्धयश प्रदर्शन पूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—वह अ वयु आ य का *उपस्तरण कर (पुरोडाशस्थापनप्रदेश को आ य से पहिले आज्य से युक्त कर अन तर नियत) हवि के दो अवदान कर (आस्तृत आ य पर हविरवदान रख अन तर पुन ऊपर से उस द्विरवत्त) हवि पर आ याभिघार करता है (ऊपर से घृत ढारता है) । (इस प्रकार उभयत आ यसम्ब ध से युक्त) यह आहुति आज्य से (सर्वा मना नीचे ऊपर दोनों ओर से) सश्लिष्ट होकर (मिलकर ही) अध्वर्यु के द्वारा (आहवनीयाग्निके समिद्ध-प्रज्वलित प्रदेश-मे) आहुत होती है (यह है आ याहुति का स्वरूप जिसम दोनों ओर से आ य का सम्ब ध हो रहा है) ।

अध्वय के द्वारा आ यमिता आहुति यजमानमिश्रिता बन कर ही (अग्नि में) आहुत होती है । (तात्पर्य्य यही हुआ कि आ याहुति प्राजापत्या बनती हुई स्वर्गाधिष्ठाता प्रजापति से युक्त होती है । आज्य यजमानात्मक है यजमान का प्राण आ य में समाविष्ट है साथ ही यजमान अपने यज्ञ की अपेक्षा से प्रजापति भी है। आ य एक प्रकार से यजमानात्मा है। इस प्रकार आ य परम्परया यजमानात्मा-लक्षण प्रजापति से युक्त होता हुआ स्वर्गावाप्ति का अनुगामी बन जाता है। और अज्याहुति के द्वारा कैसे यजमान स्वग पहुच जाता है ? किंवा आ याहुति कैसे स्वर्ग प्रापिका बन जाती है ? किवा प्रयाज जैसे क्रत्वर्थ-अङ्ग कर्म्म से स्वगप्राप्ति कैसे सम्भव है ? इत्यादि परिशिष्ट प्रश्नों का सम्यग्रूपेण विमर्श हो जाता है) ।

(अब इसी आ याहुति के सम्ब ध में एक प्रासङ्गिक फल बतलाकर श्रुति इस प्रयाजप्रकरण को समाप्त कर रही है । आज्य साक्षात् यजमान है। आज्य का हवि के साथ युक्त हो जाना यजमान का हवि के साथ किंवा यज्ञ के साथ युक्त हो जाना है। अतएव इस अपने आज्य स्वरूपानुगत प्राजापत्यस्वरूप को जानने वाले यजमान के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि वह आहुतिकाल में ऋत्विजों के पास रहे ही रहे। क्यों कि आज्यसान्निध्य से ही यजमानसान्निध्य

*उपस्तरण-शय्या-बिछायत-बिस्तर

गतार्थ बन रहा है। इसके अतिरिक्त यदि एववित् यजमान से स्वाभाविक मानुषभाव के द्वारा कोई असत्कर्म्म भी हो जाता है तो भी वह यज्ञसीमा से बाहिर नहीं होता। क्योंकि अपने आज्यरूप से उसकी यजसीमानुगति अक्षुण्ण है। इसी भाव का-प्रासङ्गिक फल का-अपने शब्दों में अभिनय करती हुई श्रुति कहती है)—

यदि उस यजमान के दूर चले जाने पर ऋत्विक् यजन करता है अथवा समीप रहने पर यजन करता है करे कोई अन्तर नहीं होता कोई हानि नहीं होती। अपितु जिस प्रकार यजमान के समीप रहने पर (सानिध्य से-ऋत्विक के द्वारा यजमान के लिए यज्ञ कर्म्म) इष्ट-इष्टजनक-सफल-बनता है एवमेय एववित्-(आज्यरहस्यवित्) उस यजमान के विदूर रहने पर भी ऋत्विक -द्वारा कृत वह यज्ञ इष्ट ही बन जाता ह। साथ ही भले ही वह) स्वाभाविक मानुषदोषवश) अनेक त्रुटियाँ करता है (करै) परन्तु निश्यचयेन (त्रुटि करता हुआ भी) वह यज्ञसीमा से बाहिर नहीं जाता जो कि आज्य के इस प्राजापत्यानुगत स्वस्वरूप को जानता है ॥२१॥

इति—परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्श

——— ६ ———

छठे अध्याय में पहिला चौथे प्रपाठक मे छठा ब्राह्मण

(१।६।१)—(१।४।६।)

चतुथ प्रपाठक समाप्त

३ त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त तृतीय ब्राह्मण समाप्त

३

(मूलानुवाद समाप्त)

त्रिब्राह्मणात्मक 'प्रयाजब्राह्मण' समाप्त

क्रमप्राप्त—२२-२३-२४ ब्राह्मण समाप्त

ओंतत्सद्ब्रह्मणे नमः

श्री

(४)-सूत्रानुगतपद्धातिसग्रह —

सन्दभसङ्गति —

त्रिब्राह्मणा‍ामक प्रयाजब्राह्मण से पहिले स्रुगब्राह्मण का स्थान है। उसमें १ स्रुगादापनकम्म २ आश्रावण प्रत्याश्रावणकम्म इन दो कम्मों की इतिकर्त्तव्यता का निरूपण हुआ है। तदन तर प्रकृत के त्रिब्राह्मणा‍ामक प्रयाजब्राह्मण में प्रयाजकम्म की सोपपत्तिक इतिकर्त्तव्यता का विश्लेषण हुआ है। इस दृष्टि से १-स्रुगादापन २ आ प्र ३-प्रयाज इन तीनो को हम पृथक पृथक तीन कर्म्म मान सकते हैं। वस्तुस्थिति वास्तव में ऐसी है कि स्रुगादापन और आ प्र इन दोनों कम्मों का भी प्रयाजकम्म में हीं अन्तर्भाव मानना चाहिए। क्योंकि अग्निर्होता वेऽग्नेर्होत्रम् इत्यादि नवव्याहृत्यात्मक निगदमन्त्रपाठात्मक होतृकृत स्रुगादापन कर्म्म के घृतवतीमध्वर्यो ! स्रुचमास्यस्व इन पाचवी व्याहृति के घृतवतीम् इस पदोच्चारण के साथ ही अध्वर्यु जुहू-उपभृत् का ग्रहण कर लेता है। होता के घृतवतीम् पदोच्चारण के साथ अध्वर्यु का जुहूपभृत् ग्रहण करना ही वस्तुत स्रुगादापन कम्म है। जुहूपभृत् स्रुक है। इनका समन्त्रक ग्रहण ही स्रुगादापन है।

स्रुगादापन (जुहूपभत्ग्रहण) होता है समिद्धाग्नि मे आज्याहुति देने के लिए जिस आज्याहुति कर्म को प्रयाजकर्म्म कहा गया है। आज्याहुति के प्रदान मे अध्वर्यु आग्नीध्र होता इन ऋत्विजा की पारस्परिक मन्त्रप्रयोग से संवित् होती है। यज्ञस्वरूप को अ‍ययच्छेदरूप से वितत करने वाला अ‍यवच्छिन्न अप्रस्तुत वागव्यापाररहित मन्त्र व्याहृति का प्रयोग ही संवित् है। इस संवित्कर्म्म के साधक ओ श्रावय -अस्तु श्रौषट यज ये यजामहे - वौषट् ये पाञ्च निगदमन्त्र किंवा एक ही निगदमन्त्र की पाँच व्याहृतियाँ हैं। इन पाँचों व्याहृतियो के द्वारा यज्ञकर्म्म में ऐकमत्य (संविदाना) बन कर ही आज्याहुतिरूप प्रयाजकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता पूरी की जाती है। ऐकमत्यभावात्मिका संवित् की प्राप्ति का साधक मन्त्र का उच्चारण ही आश्रावण-प्रत्याश्रावण कम्म है जिसका तात्पर्यार्थ यही है कि निकट भविष्य में ही जिस आज्याहुति से प्रयाजकर्म्म होने वाला है उसके लिए त्र लोकस्थ प्राणदेवता यहाँ आ जाय एव आज्याहुति का ग्रहण कर प्रयाजकर्म्म को सफल बनाव।

इस प्रकार स्रुगादापनवत् यह आश्रावण-प्रत्याश्रावण कर्म्म भी कोई स्वतन्त्र कर्म्म नहीं है अपितु यह भी प्रयाजकम्म का ही परम्परया पूरक बना हुआ है। क्योंकि आ प्र कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले निगदमन्त्र की यज व्याहृति का समिधो यज इस रूप से प्रयाज के लिए एव यजामहे-समिद्धो अग्न आज्यस्य व्यन्तु इस रूप से प्रयाज के लिए वौषट का आज्याहुति के लिए ही विनियोग हुआ है। इससे स्पष्ट है कि आ प्र कम्म प्रयाज का ही साधक है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि पूर्वब्राह्मण में विहित स्रुगादापन आ प्र दोनो कोई स्वतन्त्र कर्म्म नहीं हैं अपितु दोनों प्रयाजकर्म्म के स्वरूपसम्पादक बनते हुए प्रयाजाङ्ग बन कर प्रयाजकर्म्म में ही अन्तर्भूत हैं। अतएव यह स्वीकार करने में भी अब कोई

आपत्ति नहीं उठाई जा सकती कि पूवपठित स्रु गादापन ब्राह्मण का भी त्रिब्राह्मणात्मक प्रकृत प्रयाजब्राह्मण में ही अ तर्भाव है। फलत यह कहना भी सुसङ्गत माना जा सकता है कि प्रयाजब्राह्मण त्रिब्राह्मणा मक की नहीं है अपितु स्वकर्म्माङ्गभूत स्रु गादापन सम वय से यह चतुर्ब्राह्मणा मक ही है।

उक्त स्थिति को सामने रखते हुए यह भी नि सकोच कहा जा सकता है कि का यायनश्रौतसूत्र के– अ निर्होतेति स्रु गादापनम् *—३।२।१६ इ यादि सूत्र से आर भ कर सर्वा वोत्तमेनोपायि वात् –३।३।६। इ यादि सूत्रप य त १८ सूत्रों में प्रयाजकर्म की इतिकर्त्त यता का ही विश्लेषण हुआ है। यही कारण है कि पूव के स्रु गादापन ब्राह्मणभा य में हमने सूत्रानुगत जिस पद्धति सग्र का दिगदशन कराया है उसे जान बूझ क अपूर्ण छोड़ दिया है— (देखिए सू प स पृ स १२७ १२८)। वहा जिन दो सूत्रों से इतिकर्त्त यता का दिगदशन कराया गया है उसका वस्तुत प्रयाजकर्म्म से ही सम्ब ध है। अतएव उचित है कि प्रयाजब्राह्मण के मूलानुवाद के अन तर क्रमप्राप्त सूत्रानुगत पद्धतिसग्रह नामक प्रकृत परि छेद में उस उक्त सूत्रद्वया मक पद्धतिसग्रह का सग्रह करते हुए ही यहाँ सूत्रानुगत इतिकर्त्त यता का सामूहिकरूप से विश्लेषण किया जाय। इस स दर्भसङ्गति को लक्ष्य बना कर ही पाठक नि नलिखित प्रयाजावृत् (सूत्रानुगता प्रयाजकर्म्म पद्धति) का सम वय करगे यही आरम्भिक निवदन है।

स वै प्रवरायाश्रावयति (शत १।५।) से आर भ कर– अथाग्निमीक्षमाणो जपति (शत १।५। ६।) यहाँ तक २६ कण्डिकाओं में (२६ कण्डिका मक होतृप्रवरब्राह्मण नामक ब्राह्मण में) होतृ वरण कर्म्म का सोपपत्तिक–निरूपण हुआ है जिसका प्रस्तुत शतपथभा य के पञ्चम वष के–६ व पृष्ठ से आरम्भ कर ११ वें पृष्ठ पय्य त ५ पृष्ठों में सोपपत्तित प्रतिपादन हुआ है। सूत्रक्रमानुसार ि धाये मसन्न– ह्नात् –का० श्रौ ३।२।३।–इस सूत्र से आर भ कर– स मृष्टा उपविशत ३।२।१५। इस सूत्रपय्य त १३ सूत्रों में होतृवरणकर्म्म की इतिकर्त्त यता का विश्लेषण हुआ है–(देखिए पृ स ८१ से ८४ प य त)। हृतृवरणकर्मेतिकर्त्त यता–विश्लेषक उक्त त्रयोदशसूत्र स दर्भात्मक सूत्रप्रकरण के अ तिम स मृष्टा उपविशत इस सूत्र को प्रकरणसङ्गतिसग्राहक मान कर ही हमें प्रयाजकर्मेतिकर्त्त यता प्रतिपादक १६ सूत्रसन्दर्भा मक सूत्रप्रकरण का सम वय करना है।

स्रु गादापन आश्रावण नामक दो कर्म्मों को अपना अङ्गकर्म्म बनाने वाले प्रयाजकर्म्म से पहिले अध्वर्यु आदि ऋ विजोंने विहित पद्धति के अनुसार यथानुसार वरणकर्म्म का अनुगमन कर लिया है। वरणकर्म्मान तर वृत होता अपनी प्राणाग्नि–सम्पत् को मनो–वाक से युक्त करने के लिए मनोरूप अ वयु के तथा वाग्रूप आग्नीध्र के अशप्रदेश का स्पश करता है *। स्पर्शकर्म्मान तर × षणमोवीरहसस्पान्तु

*– अथा वयु चाग्नीध्र च सम्मृशति (होता)। मनो वाऽअ वयु वाग्घोता। त मनश्चैवैतद्वाच च स दधाति –शत १ ५ १।२१।

×—इस सम्ब ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि स्पशकर्म्मान तर होताके द्वारा प्रयुक्त स्वर यथनजप की इतिकर्त्त यता का का यायन श्रौतसूत्र में उ लेख नहीं हुआ है जब कि स्वय शतपथ में वह विहित है। षणमोवीं रंहसस्पा तु से आर भ कर येन पथा हव्यमावो वहानि यहा तक की होतृकर्तृक इतिकर्त्त व्यता सूत्र में क्यों उद्धृत नहीं हुई? इस प्रश्न का उत्तर अज्ञात है। श्रुतिविहित होने से अनुगमन सका अवश्य ही किया जाता है।

इ यादि लक्षण स्वस्त्ययनजप कम्म करता है (१ ८ पृ) । स्वस्ययनजपक मसमा यन तर हो ाषदन नामक स्वस्थान की और लौट कर सम त्रक तृणनिरसन करता हुआ यथास्थान बैठ जाता है—(१ ६ पृ) । बैठने के अन तर देवस्तुति करता है (११ पृ) । इधर होता तो अपनी यह इतिकत्त व्यता पूरी करता है उधर होता के द्वारा स्वास प्रदेश से स्पृष्ट अ वयु आ नीध्र दोनों स्पर्शान तर–अपने अपने स्थानो में बैठ जाते हैं । इसप्रकार अवा तरक मसग्रहा मक वरणकर्म्म समा त किया जाता है जिस का— सम्मृ य उपवि शत इस (३।२।१५) इस सूत्र से उपसहार हुआ है । अन तर क्या होता है ? दूसरे श दों में वरणक र्मा न तर ऋ विक लोग प्रकृत पूर्णमासेष्टिकम्म के किस अवा तर क वथ कम्म का अनुगम करते है ? इसी प्रश्न का समाधान करता हुआ—प्रयाजकर्म्मेतिकत्त या मक निम्न लिखित सूत्रानुग पद्धतिसग्रहप्रकरण पद्धति प्र मियों के सम्मुख उपस्थित होरहा है ।

वरणकर्म्मान तर ऋतुदेवताओ का यजन होता है । यही ऋतुयजन प्रयाजकम्म कहलाया है । प्रयाजकम्म में विहित आज्याहुति के ग्रहण के लिए प्राणदेवतओं का अग्नि के द्वारा इस यज्ञ में सम्ब ध अपेक्षित है । तदर्थ ही होता के द्वारा वरणकर्म्मान तर स्रुगादापनक भ एव अ य ऋ विक् सहयोग पे आश्रावण–प्र याश्रावण कम्म विहित है । इतिकत्त व्यता का प्रकार यह है कि —

होतृषदन नामक स्वस्थान पर बैठकर आहवनीयाग्नि की ओर दृष्टिपात करता हुआ होता– विश्वेदेवा शास्त न मा यथेह इ यादि वरणकर्म्माङ्गभूत म त्रजप करने के अनन्तर उपांशु–उच्चस्वर की नियत मर्य्यादा से नि न लिखित स्रुगादापननिगद का पाठ करता है—

ओम् अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्र वेत्तु पावित्र साधु ते यजमानदेवता (इत्युच्चै) योऽग्नि होतारमवृथा (इ युपाशु) घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्व देवयुवं विश्ववारामीडामहै देवाँ २॥ ईडे यान्–नमस्याम नमस्यान् यजाम यज्ञियान् (इत्युच्चैः) । शत १।५।३।१–३।–।

जिस समय होता उक्त म त्र का पाठ करता है और उस के मुख से–म त्र का घृतवतीम् पद निकलता है उसी समय पदो चारण के अ यवहितोत्तरकाल में ही स्वस्थान में स्थित अ वयु जुहू–उपभृत नामक स्रुचों का ग्रहण करता है । यही स का समन्त्रक स्रुगादापन (स्रुगादान) कर्म्म है । प्रयाजकर्म्म समन्त्रक है स्रुगादापन तदङ्ग है तत्सन्निहित में विहित है अतएव प्रयाजों में विहित स्रुगादापन अग्निर्होता इत्यादि मन्त्रोच्चारण पूर्वक ही होना न्यायप्रा त है । हाँ जहाँ प्रयाजाभाव है वहाँ तूष्णीं ही स्रुक् का आदान होता है । इसी विशेषता का साथ ही समन्त्रक स्रुगादापन का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार ने कहा है—

(१)— 'अग्निर्होतेति स्रुगादापन प्रयाजेषु, समिधे " । (३।२।१६।) ।

* * * * *

इसप्रकार होता के 'घृतवतीम्' पदो चारण करने के अ यवहितोत्तरकाल में अध्वर्यु–जुहू–उपभृत्– लेकर हविर्ष्यों से पूव, एव अग्निपरिधियों से पश्चिम की ओर नियत सञ्चर नामक मार्ग से अपने वामपाद को आगे करता हुआ वेदि के दक्षिण पाश्व में आहवनीय के समीप बने हुए यजति स्थान में पहुँचता है । वहाँ

पहुँच कर ईशानाभिमुख खड़ा होकर आ नीध्र नामक ऋ्विक को लक्ष्य बना कर कहता है— ओ श्रावय । उत्तर में स्वस्थान में स्थित आग्नीध्र अ वयु को लक्ष्य बनाकर कहता है– अस्तु श्रौषट् । अन तर तत्रैव ईशानाभिमुख खडा हुआ अ वयु –होता को लक्ष्य बनाकर कहता है– समिधो यज । समिधो यज रूप से होता के प्रति प्रैष कर इधर अ वयु तो जुहू को उपभृत् पर से पूव की ओर–आहवनीयाग्नि की ओर उतार कर आहुति के लिए सन्नद्ध होता है उधर होता अ वयु से प्र षित होकर समिद् वताक नि न लिखित या या म त्र का स्वस्थान से उ चारण करता है—

'ओं–ये ३ यजामहे (१) समिधः, समिधो अग्न आ यस्य य तु ३ वौ ३ षट इति ।

होता के उक्त या याम त्रो चारण की अ तिम वौ ३ षट् इस याहुति के साथ वह अ वयु –जुहूस्थित आ य के तृतीयाश की आहवनीयाग्नि के अतिशय रूप से प्र वलित भाग में (समिद्धतमे) जुहू से आहुति दे देता है । यही प्रथम प्रयाजकर्म्म है । इसी क्रम से शेष चारो प्रयाजों की आहुति होती है । इसप्रकार यथा क्रम पञ्च प्रयाजों का समिद्धतम अग्नि में अनुष्ठान होता है । अ तर केवल यही है कि प्रथम प्रयाज में होता के प्रति वस त ऋतुरूप समिद् वता का जैसे समिधो यज इ यादि रूप से नाम ग्रहण होता है वसे ग्रीष्म–वर्षा शरत्–हेम त ऋतुरूप तननपात् इट –वर्हि–स्वाहा –नामक शेष चार प्रयाजों में होने वाले प्रैष में नामो चारण कर केवल यज यज रूप से ही होता के प्रति प्रैष होता है । इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जिस समय होता ये यजामहे समिध इ यादि बोल चुकता है अव्यवहित क्षण में ही यजमान निम्न लिखित यागम त्र बोलता है—

इति समिद्भ्यो न मम । एको मम, एका तस्य–यमह द्व ष्मि । (यदि न द्विष्यात् तदा तु) यो स्मान् द्व ष्टि, यञ्च वय द्विष्म (इत्येव ब्रूयात्) । त्विषिमान् भूयासम्" इति ।

ता पर्य यह निकला कि उधर होता याज्यामन्त्र बोल चुकता है उसके मुख से वौ ३ षट निकलता है इधर यजमान उक्त यागम त्र बोलना आरम्भ कर देता है । होता के वषटकार के पश्चात् यजमान के त्यागमन्त्र के बोलते समय ही अध्वयु आहुति देता है । इधर अ वयु होता के वौषट् उ चारणानन्तर अग्नि में आहुति देता है उधर होता याज्यामन्त्रोच्चारणाव्यवहितोत्तरकाल में स्वशान्त्यर्थ निम्न लिखित म त्रोच्चारण करता हुआ अपने हृदयस्थान का स्पर्श करता है यही क्रम शेष चारों प्रयाजों में समझना चाहिए—

"वषटकार ! मा म आयु प्रमोषीर्वागोज सहौजो मयि—
प्राणापानौ पातम्" (इति होता पठति याज्यान तरम्) इति ।।

नामग्रहणानुगत–वस तरूप समित्–नामक प्रथम प्रयाजकर्म्म की इसी इतिक त्यता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(२)-घृतवतीमित्युक्त स्रुचावादाय, अतिक्रम्य आश्रा य आह-
'समिधो यजे'ति । पञ्चप्रयाजा त्समिद्वतमे (जुहुयात्)'' ॥ (३।२।१७)

(३)-''यज यजेति शेषम्' (३।२।१८) ।

अब पञ्च प्रयाजो से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक उन विशेषताओं का सूत्रकार दिग्दर्शन करा रहे हैं जिनका ब्राह्मण भाग में स्पष्टीकरण हुआ है । जिस पूर्वोक्त स्थान पर खड़ा होकर अ वयु प्रयाजकर्म्म (आहुतिकर्म्म) करता है उसे उसी स्थान पर खडे रहना चाहिए । अविचाली भाव से ही प्रयाजाहुति देनी चाहिये । अथवा इसी सम्बन्ध में एक दूसरा पक्ष यह भी है कि प्रतिप्रयाज याग में आहवनीय के सम्मुख पूर्व पूर्वस्थान से अतिक्रमण कर आगे आगे बढते हुए आहुति देनी चाहिए । इसप्रकार यद्यपि सूत्रकार ने दोनों पक्ष उद्धृत कर दिये हैं । तथापि श्रुति के- तद्द यथा न कुर्यात् । यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयेत् तत एव नापक्रामेत् (शत १।५।४।७) इस सिद्धान्त के अनुसार अनाक्रमणात्मक प्रथम पक्ष ही सिद्धान्त पक्ष समझना चाहिए ।

बसन्त ग्रीष्म वर्षारूप समित् तनुनपात् बर्हि इन तीन प्रयाजों के लिए तो जुहू में पहिले से ध्रुवा द्वारा चतुर्वार गृहीत आज्य की ही आहुति देनी चाहिए । परन्तु शरत् रूप चौथे बर्हि नामक प्रयाज का अनुष्ठान करने से पहिले जुहू में उपभृत् से आज्य ग्रहण और करना चाहिए । क्योंकि ध्रुवा से उपभृत् में अष्टौ कृत्व (आठ बार करके) जो आज्य ग्रहण होता है उस गृहीत आज्य की मात्रा में से अर्द्ध भाग तो अनुयाजो के लिए विहित माना गया है एव अर्द्ध मात्रा का प्रयाजकर्म्म के लिए आदेश हुआ है । अतएव जुहू में उपभृत् से प्रयाजकर्म्मार्थ आधे आज्य का ही ग्रहण करना चाहिए । इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आज्यग्रहण करते समय कहीं जुहू का उपभृत् से स्पर्श न हो जाय । अनवमृशन् (दोनों का स्पर्श न करते हुए दोनों को पृथक् रखते हुए) ही चतुर्थ प्रयाज में आज्यग्रहण विहित है जिसकी उपपत्ति मन्त्रानुवाद में बतलाई जा चुकी है ।

अब इस आज्यसमानयन-कर्म्म के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित होता है । प्रकृत पूर्णमासेष्टि 'प्रकृतियाग' है । एव इसके आधार पर वितत आग्रायणादि अन्य इष्टियाँ विकृतियाग है । प्रकृतिवद्विकृति कर्त्तव्या इस मीमांसा-सिद्धान्तानुसार कुछ प्रातिस्विक विशेष इतिकर्त्तव्यताओं को छोड़कर इन विकृतिभूता इष्टियों में प्रकृतिवत् ही अनुगमन किया गया है । उदाहरण के लिए प्रसङ्गोपात्त प्रयाजकर्म्म को ही लीजिए । जिसप्रकार प्रयाजकर्म्म प्रकृतिभूता प्रकृत की पूर्णमासेष्टि विहित है एवमेव विकृतिभूता अन्य इष्टियों में भी प्रयाजकर्म्म सगृहीत माना गया है । हाँ दोनों प्रयाजों की सख्या में अवश्य ही विभेद है । प्रकृति इष्टि (पूर्णमासेष्टि) में जहाँ पाच प्रयाज विहित हैं वहाँ अन्य विकृति-इष्टियों में ११ प्रयाज माने गए हैं । किसी विकृति में ६ प्रयाज हैं तो किसी में ११ प्रयाज हैं । विकृति इष्टियों से सम्बन्ध रखने वाले इस प्रयाज साथ ही प्रयाजसख्यानुरूप ही अनुयाग सख्यावृद्धि के आधार पर ही आज्यसमानयन कर्म्म के सम्बन्ध में यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित होता है कि जहाँ प्रयाजानुयाजवृद्धि है वहाँ आज्यसमानयन की क्या व्यवस्था होगी ?।

प्रश्न का ता प य स्पष्ट है। आदेश यह है कि चौथे प्रयाज में ही आज्य ग्रहण करना चाहिए। जहाँ ६ अथवा ११ प्रयाजानुयाज हैं वहाँ आरम्भ के तीन प्रयाज कर्मानन्तर चौथे में ग्रहण कर लिया जयगा और यहातक तो चतुर्थे समानयति आदेश का यथावत् [पञ्चप्रयाजयपक्षवत्] पालन होजायगा। परन्तु ६ पक्ष में ५ प्रयाज ११ पक्ष में ७ प्रयाज शेष रह जाते ह। चतुथ प्रयाज में गृहीत आज्यमात्रा से ही शेष ५ अथवा ७ प्रयाजों की इतिकर्त्तव्यता पूर्ति असम्भव है। तदर्थं पुन आ यग्रहण आवश्यक रूप से अपेक्षित है। ऐसी स्थिति में यदि चतुर्थानन्तर अपेक्षावश आगे के प्रयाजों में आज्यग्रहण किया जाता है तो—चतुर्थे समानयति नियम का याघात होता है। यदि इस नियम की रक्षा के लिए आगे ग्रहण नही किया जाता तो इतिकर्त्त यता पूरी नहीं होती। इसी प्रासङ्गिक विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते है कि—

प्रयाजवृद्धि—पक्ष में भी चतुथ चतुथ की आवृत्ति कर लेनी चाहिए। तात्पय सूत्रकार का यही है कि मान लीजिए किसी विकृति—इष्टि में ९ प्रयाज हैं। वहाँ यह व्यवस्था होगी कि आरम्भ के १ २ ३ प्रयाजो की इतिकर्त्तव्यता तो पूवगृहीत जुहूस्थित आज्य से पञ्चप्रयाज पक्षवत् पूरी कर दी जायगी। ४ थे प्रयाज में भी पञ्चप्रयाजपक्षवत् आज्यग्रहण कर चतुर्थे समानयति का पालन कर लिया जायगा। इस चतुथप्रयाजोपक्रम में गृहीत आज्य से ४ ५ ६ इन तीन प्रयाजों की इतिकर्त्त यता पूरी हो जायगी। अब ७ ८ ९ इन तीन प्रयाजों के लिए आज्य की अपेक्षा होगी। इसके लिए सातव प्रयाजोपक्रम में [६ ठे प्रयाज की समाप्ति के अनन्तर] दुबारा आज्य ग्रहण होगा जो कि चतुर्थाच्चतुर्थे भाव से चौथा ही पडेगा। चौथे प्रयाज से सातवाँ प्रयाज चौथा पड़ेगा अतएव सातवें में आज्य समानयन करते से चतुर्थे समानयति नियम का भी पालन हो जायगा इतिकर्त्त यता भी पूरी ही जायगी। यही चतुर्थात् चतुर्थे नियम एकादश प्रयाज पक्ष में काम देगा। ११ प्रयाज पक्ष में आरम्भके १ २ ३ की इतिकर्त्त यता पूव गृहीत आज्य से गताथ है। ४ थे में पञ्चप्रयाज पक्षवत् आज्य ग्रहण है। इस चौथे से चौथा सातवाँ से चौथा १ वा हैं। अत यहा सप्तम और दशमें में आज्यग्रहण से चतुर्थे समानयति का पालन होजायगा। इसप्रकार नव प्रयाज पक्ष में चतुर्थाच्चतुर्थे (सप्तमे) रूप से पञ्चप्रयाज पक्षापेक्षया एक बार अधिक आज्य ग्रहण होगा। एव एकादश प्रयाज पक्ष में चतुर्थाच्चतुर्थे (सप्तमे) पुनश्चतुर्थात् (सप्तमात्) चतुर्थे (शमे) रूप से पञ्चप्रयाजापेक्षया दो बार अधिक आ य ग्रहण होगा। यही व्यवस्था नवैकादशानुयाजों में मा य होगी जिस प्रासङ्गिक यवस्था का नि न लिखित तालिका से स्पष्टीकरण होरहा है—

प्रकृति इष्टि—

पञ्चप्रयाजा —
- १—वस तयागा मक —प्रथमप्रयाज —गृहीताज्येनाहुति
- २ ग्री मयागा मक —द्वितीयप्रयाज —
- ३—प्रावृड्यागा मक —तृतीयप्रयाज —
- ४—शरद्यागा मक —चतुथप्रयाज —
- ५ हेमन्तयागा मक —पञ्चमप्रयाजः—

विकृति-इष्टि — (नवप्रयाजात्मिका)	विकृति-इष्टि — (एकादशप्रयाजात्मिका)
१—गृहीताज्येनाहुतिः	१—गृहीता येनाहुति
२—	२—
३—	३—
(१)—४—चतुर्थे समानयति	(१)—४—चतुर्थे समानयति
(२)—५—गृहीताज्येनाहुति	(२)—५—गृहीताज्येनाहुति
(३)—६—	(३)—६—
(४)—७—चतुर्थां चतुर्थे समानयति	(१)-( )—७—चतुर्थां चतुर्थे समानयति
८—गृहीताज्येनाहुति	(२)—— —गृहीता येनाहुति
९—	(३)——९—
	(४)—— १ —चतुर्थां चतुर्थे समानयति
	११—गृहीताज्येनाहुति

प्रयाजकर्म्म से सम्ब ध रखने वाली सभी विशेषताओं का स्पष्टीकरण करा दिया गया। अब इस ब ध में केवल आहुत विशेषता और शेष रह जाती है। आहुति कैसे देनी चाहिए? आहुति देते समय जुहू-उपभृत् का सम्ब ध कसा रहना चाहिए? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि अध्वर्यु को चाहिए कि उपभृत् के ऊपर रक्खी हुई जुहू को उपभृत् को मुखभाग की ओर से सावधानी से उतार उसे जुहू को प्राचीमुख रहता हुआ प्रथमाहुति प्रदान करे। प्रथम आहुति के अन तर उसी पद्धति से उपभृत् के ऊपर जुहू रख दे। अन तर उसी पूर्वक्रम से उपभृत् से उतार कर द्वितीयाहुतिप्रदान करे। इस प्रकार पाँचों प्रयाजाहुतियों में ही जुहू को उपभृत् र रख रख कर उतार उतार कर आहुति-कर्म्मेतिकर्त्तव्यता पूरी करे। केवल प्रयाजकर्म्म में ही यह-अभ्यूहन अपहरणकर्म आवश्यक हो यह बात नहीं है। अपितु होममात्र में इसी नियम की याप्ति समझनी चाहिए एवमेव सर्वहोम में आहुति देनी चाहिए। निम्न लिखित सूत्र प्रयाजकर्म्म से सम्ब ध रखने वाली इ हीं विशेषताओं का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

(४)— प्र वस्तिष्ठन् (२।२।१९)।
(५)— पूव पूव वाऽभिक्रामन् (२।२।२)।
(६)— उपभृता जुह्वामानयति अनवमृशन् चतुथम्' (३।२।२१)।
(७)— एव प्रबृद्धौ (३।२।२२)।
(८)— अनुयाजेषु च (३।२।२३)।
(९)— उत्तरा जुह्वमभ्युह्य प्राचीमवह्य जुहोति (३।२।२४)
(१)— एव सवत्र (३।२ २५)।

इति—का यायनश्रौतसूत्रे तृतीयाध्याये द्वितीया कण्डिका समाप्ता

जिस प्रकार एव सर्वत्र (३।२।२५) सूत्रादेशानुसार जुहू उपभृत् का * अध्यूहन होममात्र में समानरूप से विहित है एवमेव जुहू उपभृत् का नाभिदघ्न प्रदेश में धारण भी होममात्र के लिए ही निहित समझना चाहिए। ता प र्य कहने का यही है कि आहुति के लिए गृहीत उपभृत् युक्त-आ यूपरिपूर्ण जुहू को नाभिसमानप्रदेश में ही रखना चाहिए। एव होममात्र में इसी नियम का अनुगमन करना चाहिए।

जिस समय होता ये यजामहे समिध समिधो अग्न आ यस्य यन्तु वौषट इ यादि याज्या बोल चुकता है अन न्तर ही होता यागमन्त्र का उ चारण करता है यह पूव में कहा जाचुका है। यजमानकृत यही कम्म प्रयाजानुम त्रण कम्म कहलाया है। सूत्रकार कहते हैं कि प्रथम प्रयाजानुम न्त्रण में एको मम एका तस्य योऽस्मान् द्व ष्टि यञ्च वय द्विष्म इस वाक्य का समावेश करना चाहिए। एवमेव आगे के शेष चार प्रयाजकर्म्मो से सम्ब न्ध रखने वाले तीन प्रयाजानुम न्त्रण-म न्त्रों में (२ ३ ४ में) क्रमश यथासख्य द्वौ मम तस्य त्रयो मम-तिस्रस्तस्य च वारो मम चतस्रस्तस्य इस रूप से मिथुन युग्म भावों का समावेश करना चाहिए। सर्वा त के पाँचवें प्रयाजानुम न्त्रण में (युग्मोत्तर के स्थान में- पञ्च मम न तस्य किञ्चन योऽस्मान् द्व ष्टि इ यादिरूप से) न तस्य किञ्चन इस वाक्य का सन्निवश करना चाहिए। इसके अतिरिक्त पाचो प्रयाजो से सम्बन्ध रखने वाले यजमानकतृ क पाचों प्रयाजानुम न्त्रण म न्त्रों के अ त में क्रमश त्विषिमान् अपचितिमान् यशस्वी ब्रह्मवर्चसी अन्नाद (भूयासम्) इन व्याहृतियों का सम्ब ध और कर देना चाहिए। जुहूपभृत्-धारणानुगत नियमविशेष का तथा प्रयाजानुम न्त्रण म त्र से सम्ब ध रखने वाली इसी विशेषता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(११)— नाभिदेशे धारणम् (३।३।१)।

(१२)— प्रयाजानुमन्त्रण-- मेको ममका तस्य योऽस्मान् द्व ष्टि यञ्च वय द्विष्म इति। (३।३।२)।

(१३)— एव मिथुनैर्यथास ख्यम् (३।३।३)।

(१४)— न तस्य किञ्चनेति पञ्चमे (३।३।४)।

(१५)— त्विषिमान्, अपचितिमान् यशस्वी ब्रह्मवर्चसी अन्नाद इति च (३।३।५)।

पञ्च प्रयाजकर्म्म की इतिकत्त व्यता जिन याज्यामन्त्रों से सम्पन्न होती है उनके उ च्चारण के अन न्तर यजमान अपनी ओर से प्रयाजसख्यानुसार म त्रो च्चारण करता है। यजमानकृत यही कम्म प्रयाजानुम न्त्रण कहलाया है। इस क म के सम्ब ध में पूव के १३ व सूत्र के द्वारा यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि पाँचों प्रयाजानुम त्रण-मन्त्रो में से आर भ के चार मन्त्रों में क्रमश १) एक एका (२) द्वौ द्वे - (३)- त्रय -तिस्र -(४)- च वार चतस्र —इन चार मिथुनभावों का समावश होता है। पाँचवें अनुमन्त्रण में केवल पञ्च मम न तस्य किञ्चन योऽस्मान् द्वेष्टि इ यादि का समावेश होता है। ता पर्य्य यही है कि चार म न्त्र मिथुनसम्पत्ति से युक्त हैं पाचवा मिथुनभाव से वञ्चित है। जिस प्रकार नवैकादश प्रयाजपक्ष में आज्यसमानयन की विप्रतिपति हुई थी एवमेव नवैकादश प्रयाजपक्ष में यजमानकतृ क

*—अध्युह्य—अध्यूहन—उपभृत उपरि निधानम्।

अवहृत्य—अवहरण—उत्तारणम्।

प्रयाजानुम त्रण म त्रो से सम्ब ध रखने वाले उक्त मिथुनभावों के स ब ध में भी वही विप्रतिपति उपस्थित हो रही है । जिसप्रकार नवैकादश प्रयाजानुयाजपक्ष में वृद्धिक्रमानुसार आज्यग्रहण द्वि–त्रिरावृत कर लिया जाता है क्या तत्पक्षानुगत प्रयाजानुम त्रण म त्रों में भी उक्त मिथुनभावों का पुनरावत्त न होगा ? इसी प्रासङ्गिक विप्रतिपति का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

आगन्तुक प्रयाजा का चतुथ पञ्चम प्रयाज से जो ध र्म प्रा त है उसी धम्म के साथ सम्ब ध समझना चाहिए। क्योंकि आग तुक प्रयाजों का चतुथ पञ्चम प्रयाज के धम्म से ही विधान हुआ है। सूत्र का ता प र्याथ स्पष्ट है। मान लीजिए विकृति में ६ प्रयाज हैं । इन ६ प्रयाजों में ४ था प्रयाज चतुर्थात् चतुर्थे या य से प्रथम प्रयाज बन रहा है ७वाँ प्रयाज उसी चतुर्थात् चतुथ से चतुथ बन रहा है शेष ८ ६ प्रयाज चतुर्थात् पञ्चम याय से पञ्चम प्रयाज बन रहा है। ऐसी स्थिति में १ २ ३ आर ५ के इन तीन प्रयाजानुम त्रण मन्त्रो में तो प्रकृतिवत् पञ्चप्रयाजपक्षवत्) एक एका द्वौ द्वे — त्रय — तिस्र —इन मिथुनो का समावेश होगा ही । आगे के ४ ५ ६ न तीन प्रयाजानुम त्रण म त्रों में भी इ ही तीनों मिथुनभावों का समावेश होगा। क्योकि सातवा प्रयाज चौथा है तदपेक्षया ४ ५ ६ ठे प्रयाज १ २ ३ प्रयाज है ७वा क्योक चौथा प्रयाज है। अतएव तत्प्रयाजानुम त्रण म त्र में च वार —चतस्र का समावेश होगा । ८ ६ इन दो प्रयाजानुम त्रणमन्त्रों में पञ्च मम न तस्य किञ्चन इ यादि का समावेश होगा यदि एकादशप्रयाजपक्ष है तो आरम्भ के १ २ ३ प्रयाजों में म य के ४ ५ ६ प्रयाजों में अ त के ७ ८ ६ प्रयाजो में पञ्चप्रयाजानुगत आरम्भ के २ ३ प्रयाजानुम त्रणवत् तीनों यु मों का सम्ब ध होगा। क्योंकि ४ था प्रयाज १ है तदपेक्षया ५–६ दोनो २ ३ रे प्रयाज हैं। सप्तम प्रयाज की १ अपेक्षा १ है तदपेक्षया ८ ६ दोनो २–३ रे है। १ वाँ प्रयाज सप्तमापेक्षया चौथा है ११ वाँ प्रयाज पाँचवाँ है। इसप्रकार चतुर्थपञ्चमाभ्याम् याय से नवैकादशप्रयाजानुगत प्रयाजानुमन्त्रण म त्रों में भी पञ्चप्रयाजानुम त्रणम त्रवत् मिथुनसम्पत्ति की अनुरूपता का समावेश हो जाता है। निम्न लिखित तालिका से उक्त सम्ब ध–क्रम का भलीभाँति स्पष्टकरण हो जाता है—

पञ्चप्रयाजपक्ष–प्रयाजानुम त्रणम त्रा इ त्थम्—

(१)— एको मम एका तस्य योऽस्मान् ।
(२)— द्वौ मम द्व तस्य–योऽस्मान् ।
(३)— त्रयो मम तिस्रस्तस्य योऽस्मान् ।
(४)— च वारो मम चतस्रस्तस्य योऽस्मात् ।
(५)— पञ्च मम न तस्य किञ्चन योऽस्मान् ।

नवप्रयाजपक्षे–इत्थम्



१— एको मम
२— द्वौ मम
३— त्रयो मम

(१) ४— एको मम
(२) ५— द्वौ मम
(३) ६— त्रयो मम

(४) ७— चत्वारो मम

(५)—— { ८— पञ्च मम
९— पञ्च मम }



एकादशप्रयाजपक्ष–इत्थम्

१— एको मम
२— द्वौ मम
३— 'त्रयो मम

(१) ४— एको मम
(२) ५— द्वौ मम
(३) ६— त्रयो मम

(१) (४) ७— एको मम
(२)——८— द्वौ मम
(३)——९— त्रयो मम

(४)— -१ — चत्वारो मम
(५)—-११— पञ्च मम

उक्त क्रमानुसार चतुथ–पञ्चम–प्राजधर्म्मों का आगन्तुक प्रयाजों से सम्बन्ध मानते हुए अनुमन्त्रणसम्पत्ति की अनुरूपता प्राप्त करना एक पक्ष है। अब इसी सम्पत्ति के सम्बन्ध में एक दूसरा प्रकार बतलाया जाता है। चतुर्थ पञ्चम प्रयाज नहीं अपितु प्रथम चतुर्थ प्रयाज से आगन्तुक प्रयाजों में जो धर्म्म प्राप्त है उस के द्वारा भी मिथुनसम्पत्ति की अनुरूपता प्राप्त की जासकती है। प्रथम प्रयाज बहुदेवत्य है अतएव आगन्तुक प्रयाजों में जो बहुदेवत्य प्रयाज होगा उस के साथ प्रथम प्रयाज के धर्म्म का सम्बन्ध होगा। चतुर्थ प्रयाज एकदेवत्य है अतएव आगन्तुक प्रयाजों में जो प्रयाज एकदेवत्य होगा उस के साथ चतुर्थ प्रयाज के धर्म्म का सम्बन्ध होगा।

अब इसी सम्बन्ध में एक तीसरा पक्ष बतलाया जाता है जो कि सूत्रकार की दृष्टि में सिद्धान्तपक्ष है। 'चतुर्थे समानयति' इस श्रौत आदेशानुसार आज्यसमानयनकर्म्म में नवैकादशप्रयाजपक्ष में चतुर्थाचतुर्थे न्याय का समाश्रय ठीक बन जाता है। किन्तु प्रयाजानुमन्त्रण–मन्त्रों के सम्बन्ध में वैसा कोई श्रौत विधान नहीं

है। अपितु यहाँ तो आगन्तूनाम तेऽभिनिवेश (समावेश)—पू मी ५।२।१६—इस मीमांसा-सिद्धान्तानुसार आगन्तुक ६-७-८-६ १ -११-प्रयाजों का सम्बन्ध अन्तिम (पञ्चम) प्रयाजधर्म्म से ही नाप्राप्त है। अतएव उचित यही है कि नवप्रयाजपक्ष हो अथवा तो एकादशप्रयाजपक्ष। उभयत्र आरम्भ के ४ प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्रों में पञ्चप्रयाजपक्षवत् चारों युग्मों का समावेश कर आगे के शेष मन्त्रों में पञ्च पञ्च का ही समावेश करना चाहिए। निम्न लिखित सूत्र अनुमन्त्रणसम्बन्धी उक्त तीनों पक्षों का दिग्दर्शन कराते हुए अन्तिम पक्ष को ही सिद्धान्त पक्ष मान रहे हैं—

प्रथमपक्ष (१६)— आगन्तूना चतुर्थ-पञ्चमाभ्यां स्थानात् । (३।३।६)।

द्वितीयपक्ष (१७)— प्रथम-चतुर्थाभ्यां वा यथालिङ्गम् । (३।३।)

सिद्धान्तपक्ष (१८)— सर्वा वा-उत्तमेन (पञ्चमेन) उपायित्वात् (३।३।८)।

पञ्चप्रयाजों में से प्रथम प्रयाज की इतिकर्त्तव्यता आरम्भ में बतलाई जा चुकी है। प्रकृत में इन पाँचों प्रयाजों से सम्बन्ध रखने वाले आश्रावण-प्रत्याश्रावणादि याज्ञतिमन्त्रों का होतृकर्त्तृक याज्यामन्त्रों का तथा-यजमानकर्तृक प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्रों का एकत्र सग्रह कर दिया जाता है जिनका पूर्वप्रतिपादिता प्रथमप्रयाजेतिकर्त्तव्यता के साथ समान समन्वय कर लेना चाहिए—

२—द्वितीय प्रयाज —

अध्वर्युराह-आग्नीध्रं प्रति— ओ श्रावय इति।

आग्नीध्र आह-अध्वर्युं प्रति— अस्तु श्रौषट् इति।

अध्वर्युराह—होतारं प्रति— यज इति।

ततश्च होता पठति—ये यजामहे तनूनपादम् आज्यस्य वे ३ तु वौ षट ।

पाठानन्तरश्च होता- वषट्कार मा म आयु प्रमोषीर्वागोजः सहौजो
मयि प्राणापानौ पातम् इति पठन् आत्मानमालभ्य उपस्पृशति ॥

यजमानश्च—— ——इद तनूनपाते न मम। द्वौ मम द्वे तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि य च वय द्विष्म अपचितिमान् भूयासम् इति पठति। *

अध्वर्युश्च—— ——यजमानोक्तमन्त्रपाठकाले होतुर्याज्यामन्त्रपठितवौषडन्ते समिद्धाग्नौ जुहोति।
सैषा द्वितीयप्रयाजेतिकर्त्तव्यता *।

---

* शतपथब्राह्मण में द्वितीय प्रयाज के सम्बन्ध में यद्यपि अथ तनूनपातं यजति (शत १।५।३।१) इत्यादि रूप से केवल तनूनपात् का ही विधान हुआ है। तथापि शाखान्तर से सम्बन्ध रखने वाली पद्धतियों के अनुसार इस सम्बन्ध में विशेषता रखने वाली विशेषता का भी तदनुसार ही अनुगमन करना आवश्यक माना गया है। राजन्यात्रिबध्र्यश्ववसिष्ठवैश्यशुनकाना कण्वकश्यपसङ्कृतीना नाराशंसो द्वितीयः प्रयाज, तनूपादन्ये-

तृतीय प्रयज —

अ वयु राह आ नीध्र प्रति— ओ श्रावय इति ।

आ नीध्र आह–अ वयु प्रति— अस्तु श्रौषट् इति ।

अध्वयु राह–होतार प्रति— यज इति ।

ततश्च–होता पठति— ये यजामहे–इडो अग्न आ यस्य न्यतु वौषट्

पाठान तरञ्च होता—वषटक्वार मा म आयु प्रमोर्षीर्वागोज सहौजो मयि प्राणापानो पातम् इति पठ ना मानमालभ्योपस्पृशति ।

यजमानश्च———— इदमिड्भ्यो न मम । त्रयो मम तिस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि य च वय द्विष्म –यशस्वी भूयासम् इति पठति ।

अ वयु श्च———— यजमानोक्तम त्रपाठकाले होतुर्या याम त्रपठितवौषड ते समिद्धा नौ जुहोति । सषा तृतीयप्रयाजेतिकत्त यता ।

४—चतुर्थ प्रयाज —

अ वयु रा य समानयति । आ यसमानयनानन्तर—

अध्वयु राह–आग्नीध्र प्रति— ओ श्रावय इति ।

षान् (का श्रौ ३।३।८सू वृ —वसिष्ठशुनकाना नाराशसः अत्रीणा चैके (का श्रौ १६।६ ८६) इत्यादि कात्यायन के सिद्धा तानुसार— नराशसो अग्न आ यस्य वे विति द्वितीयो वसिष्ठशुनकाना–अत्रिब्रध्र्यश्व नां कण्वसङ्कृतीकां राजन्यानां प्रजाकामानाञ्च (साङ्खा श्रौ १ ७।३) इ यादि साङ्खायन के सिद्धान्ता नुसार – तान्येतान्येकादशाप्रीसूक्तानि । तेषा वासिष्ठ –आत्रेय बाध्र्यश्व–गा र्समद–मिति नाराशसवन्ति मैधा तिथं–दर्घतमस–प्रै षिक मित्युभयवन्ति अतोऽन्यानि तनूनपा वन्ति ' (या नि ८।२७) इ यादि निरुक्तसिद्धा तानुसार — नराशंसो द्वितीय प्रयाजो वसिष्ठशुनकाना तनूनपादितरेषा गोत्राणाम् (आपस्तम्ब श्रौ सू १) इ यादि आपस्तम्ब के सिद्धान्तानुसार तनूनपात्–प्रयाज के सम्ब ध में विकल्प पक्ष का अनुगमन आवश्यक होरहा है । भगवान् आश्वलायन ने तो इस सम्ब ध में ओर भी बिशेषताओं का स्पष्टीकरण किया है (देखिए आ श्रौ १ २।१) । प्रकृत में वक्तव्य केवल यही है कि यदि यजमान का उक्त वसिष्ठ–शुनक अत्रि–आदि गोत्र है तो उस के या यामन्त्र में—'नराशंसो अग्न आ यस्य वेतु वौषट इसप्रकार तनूनपात् के स्थान में 'नराशस' का समावेश होगा । साथ ही प्रयाजानुमन्त्रण–म त्र में भी— इद तनूनपाते न मम के स्थान में— 'इदं नराशंसाय, न मम' का सन्निवेश होगा ।

आग्नीध्र आह-अ वयु प्रति— अस्तु श्रौषट इति।

अ वयु राह होतार प्रति— यज इति।

ततश्च-होता पठति— —ये यजामहे-बर्हिरग्न आग्यस्य वेतु वौषट्।

पाठान तरञ्च होता—— वषट् कार मा म आयु प्रमोषीर्वागोज सहौजो मयि प्राणापानो पातम् इति पठ ना मानमाल योपस्पृशति।

यजमानश्च———— इद् बर्हिषे न मम। चत्वारो मम चतस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वाष्ट य ञ्च वय द्विष्म। ब्रह्मवचसी भूयासम् इति पठति।

अ वयु श्च————यजमानोक्तम त्रपाठकाले होतुर्या यामन्त्रपठितवौषड ते समिद्धा नौ जुहोति। सैषा चतुथप्रयाजेतिकत्त व्यता।

५—पञ्चमप्रयाज

इस प्रयाज के सम्ब ध में विशेष इतिकत्त यताओं का अनुगमन करना पड़ता है जैसा कि मूलानुवाद में स्पष्ट किया जाचुका है। चतुथ प्रयाज क म के अन तर आ नीध्र को लक्ष्य बनाकर अ वयु कहता है—'आ श्रावय। प्रत्युत्तर में अ वयु को लक्ष्य बनाता हुआ आ नीध्र कहता है— अस्तु श्रौषट्'। अन तर अ वयु होता को लक्ष्य बनाता हुआ कहता है— यज। होता उत्तर में निम्न लिखित–या याम त्र का उच्चारण करता है—

ये यजामहे-स्वाहाग्नि स्वाहा सोम, स्वाहाग्नि स्वाहा सोम अग्नीषोमौ स्वाहाग्नीषोमौ, स्वाहा देवा आज्यपा जुषाणा अग्न आ यस्य यन्तु वौषट्' इति।

होता के उक्त या यामन्त्र पाठोत्तर यजमान निम्न लिखित प्रयाजानुम त्रणमन्त्र का पाठ करता है—

इदमग्नये सोमाय अग्नये सोमाय अग्नीषोमाभ्या अग्नीषोमाभ्यां देवेभ्य आज्यपेभ्य अग्नये स्विष्टकृते न मम। पञ्च मम न तस्य किञ्चन योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वय द्विष्मः। अ नादो भूयासम् इति। ।

जिस समय होता के मुख से उक्त या यामन्त्र की अन्तिम वौषट्' इस व्याहृति का उच्चारण होता है और यजमान उक्त प्रयाजानुमन्त्रणम त्रपाठ आरम्भ करता है अध्वर्यु जुहूस्थित आज्य की समिद्ध अग्नि में आज्याहुति दे देता है। यही पाँचवें प्रयाज की इतिकत्त यता का स्पष्टीकरण है। 'अग्निर्होतेति स गादापन्नं प्रयाजेषु सन्निधे —१—(३।२।१६) इस सूत्र से आरम्भ कर- सर्वान् वोत्तमेनोपायित्वात्'' १८ (३।३।८) इस सूत्रपर्य्यन्त १८ सूत्रों से इसी प्रयाजकर्म्मेतिकत यता का स्पष्टीकरण हुआ है। इस कर्म्म के अनन्तर आज्याभिघारकर्म्म विहित है जिस का सोपपत्तिक निरूपण अगले ब्राह्मण में होने वाला है।

इति—सूत्रानुगतपद्धतिसग्रहः
